दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

Karl Marx

पूंजीवादी उत्पादन का आलोचनात्मक
विश्लेषण

खण्ड

१

अनुवादक ओमप्रकाश संगल

संपादक मदन लाल मधु

КАРЛ МАРКС

КАПИТАЛ

т. I

На языке хинди

प्रकाशक की ओर से

कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खण्ड का प्रस्तुत हिन्दी संस्करण अंग्रेजी में १८८७ में प्रकाशित और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा सम्पादित संस्करण के अनुसार तैयार किया गया है।

केवल स्वयं एंगेल्स द्वारा चौथे जर्मन संस्करण (१८९०) में किये गये परिवर्त्तनों को १८८७ के अंग्रेजी संस्करण और प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में शामिल किया गया है। ये परिवर्त्तन जहां किये गये हैं, वहां उनकी ओर संकेत कर दिया गया है। मूल पाठ के साथ लेखक के फुटनोटों में उद्धृत रचनाओं के नामों की फिर से तुलना करने पर कुछ भूलों का सुधारा गया।

पुस्तक के आरंभ में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित जर्मन, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी संस्करणों की भूमिकाएं दी गयी हैं। पुस्तक के अंत में उद्धृत पुस्तकों की सूची और नामावली प्रकाशित की गई है।

विषय-सूची

भाग १

माल और मुद्रा

भाग २

मुद्रा का पूंजी में रूपान्तरण

भाग ३

निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ४

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ५

निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ६

मजदूरी

भाग ७

पूजी का सचय

भाग ८

तथाकथित आदिम संचय

सर्वहारा के निडर, निष्ठावान, उदार नेता, अपने
अविस्मरणीय मित्र

विल्हेल्म वोल्फ

को,

जिनका जन्म २१ जून १८०९ को
तारनाऊ में और मृत्यु ९ मई १८६४
को मानचेस्टर में हुई, समर्पित

पहले जर्मन संस्करण की भूमिका

यह रचना, जिसका प्रथम खण्ड मैं अब जनता के सामने पेश कर रहा हूं, मेरी पुस्तिका *"Zur Kritik der Politischen Oekonomie"* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') की ही एक अगली कड़ी है। वह पुस्तिका १८५९ में प्रकाशित हुई थी। इस काम के पहले हिस्से और उसकी बाद की कड़ी के बीच समय का जो इतना बड़ा अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण अनेक वर्ष लम्बी मेरी बीमारी है, जिससे मेरे काम में बार-बार बाधा पड़ती रही।

उस पुरानी रचना का सार-तत्त्व इस पुस्तक के पहले तीन अध्यायों में संक्षेप में दे दिया गया है। यह केवल संदर्भ और पूर्णता की दृष्टि से ही नहीं किया गया है। विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण सुधारा गया है। उस पुरानी किताब में बहुत सी बातों की तरफ इशारा भर किया गया था, पर इस पुस्तक में जहां तक परिस्थितियों ने इसकी इजाजत दी है, उनपर अधिक पूर्णता के साथ विचार किया गया है। इसके विपरीत, उस किताब में जिन बातों पर पूर्णता के साथ विचार किया गया था, इस ग्रंथ में उनको छुआ भर गया है। मूल्य और मुद्रा के सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बंधित हिस्से अब अलबत्ता बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं। किन्तु जिस पाठक ने उस पुरानी किताब को पढ़ा है, वह पायेगा कि पहले अध्याय के फुटनोटों में इन सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बंध रखने वाली बहुत सी नयी सामग्री का हवाला दे दिया गया है।

यह नियम सभी विज्ञानों पर लागू होता है कि विषय प्रवेश सदा कठिन होता है। इसलिये पहले अध्याय को और विशेषकर उस अंश को, जिसमें मालों का विश्लेषण किया गया है, समझने में सबसे अधिक कठिनाई होगी। उस हिस्से को, जिसमें मूल्य के सार तथा मूल्य के परिमाण की अधिक विशेष रूप से चर्चा की गयी है, मैंने जहां तक सम्भव हुआ है, सरल बना दिया है।[1] मूल्य-रूप, जिसकी पूरी तरह विकसित शकल मुद्रा-रूप है, बहुत ही सीधी और सरल चीज है। फिर भी मानव-मस्तिष्क को उसकी तह तक पहुंचने का प्रयत्न करते हुए

---

[1] यह इसलिये और भी आवश्यक था कि शुल्ज़े-डेलिच के मत का खण्डन करने के लिये लिखी गयी फ़ेर्डिनंड लसाल की रचना के उस हिस्से में भी, जिसमें वह इन विषयों की मेरी व्याख्या का "बौद्धिक सार-तत्त्व" देने का दावा करता है, महत्त्वपूर्ण गलतियां मौजूद हैं। यदि फ़ेर्डिनंड लसाल ने अपनी आर्थिक रचनाओं की समस्त साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाएं, जैसे कि पूंजी के ऐतिहासिक स्वरूप तथा उत्पादन की परिस्थितियों और उत्पादन की प्रणाली के बीच पाये जाने वाले सम्बंध से ताल्लुक रखने वाली स्थापनाएं इत्यादि, और यहां तक कि वह शब्दावली भी, जिसे मैंने रचा है, मेरी रचनाओं से मेरा उल्लेख किये बिना ही अक्षरशः उठा ली है, तो स्पष्ट है कि उन्होंने प्रचार के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। अलबत्ता इन स्थापनाओं का उन्होंने जिस तरह विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और उनको जिस तरह लागू किया है, मैं उसका जिक्र नहीं कर रहा हूं। उससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है।

२,००० वष से ज्यादा हो गये ह, पर बेसूद। लेकिन, दूसरी तरफ, उससे कहीं अधिक जटिल और सश्लिष्ट रूपो का विश्लेपण करने में लोग सफलता के कम से कम काफी नजदीक पहुच गये ह। इसका क्या कारण है? यही कि एक सजीव इकाई के रूप में शरीर का अध्ययन करना उस शरीर के जीवकोषो के अध्ययन से ज्यादा आसान होता है। इसके अलावा, आर्थिक रूपो का विश्लेपण करने में न तो सूक्ष्मदशक यत्रो से कोई मदद मिल सकती है और न ही रासायनिक प्रतिकमको से। दोनो का स्थान तत्त्व-अपकषण की शक्ति को लेना होगा। लेकिन पूजीवादी समाज में श्रम की पैदावार का माल रूप—या माल का मूल्य-रूप—आर्थिक जीवकोष रूप होता है। सतही नजर रखने वाले पाठक को लगेगा कि इन रूपो का विश्लेपण करना फिजूल ही बहुत छोटी छोटी चीजो में माथा खपाना है। बेशक, यह छोटी छोटी चीजो में माथा खपाने वाली बात है, पर यह सूक्ष्मदर्शी शरीर-रचना विज्ञान के माथा खपाने के समान ही है।

अतएव, मूल्य रूप वाले एक हिस्से को छोडकर इस पुस्तक पर कठिन होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। पर जाहिर है, म ऐसे पाठक को मानकर चलता हू, जो एक नयी चीज सीखने को और इसलिये खुद अपने दिमाग से सोचने को तयार है।

भौतिक विज्ञान का विशेषज्ञ या तो भौतिक घटनाओ का उस समय पयवेक्षण करता है, जब वे अपने सबसे प्रतिनिधि रूप में होती ह और जब वे विघ्नकारी प्रभावो से अधिकतम मुक्त होती ह, और या वह जहा कहीं सम्भव होता है, ऐसी परिस्थितियो में खुद प्रयोग करके देखता हे, जहा घटना का सामान्य रूप सुनिश्चित होता है। इस रचना में मुझे उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली और इस प्रणाली से सम्बद्ध उत्पादन और विनिमय की परिस्थितियो का अध्ययन करना है। अभी तक इनकी मूल भूमि इगलैण्ड है। यही कारण है कि अपने सद्धान्तिक विचारो का प्रतिपादन करते हुए मने इगलैण्ड को मुख्य उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया है। कितु यदि जमन पाठक इगलण्ड के औद्योगिक तथा खेतिहर मजदूरो की हालत को देखकर अपने कधे झटक देगा या बडे आशावादी ढग से अपने दिल को यह दिलासा देगा कि खर, जमनी में कम से कम इतनी खराब हालत नहीं है, तो मुझे उससे साफ साफ कह देना पडेगा कि "De te fabula narratur! ("दपण में यह आप ही की सूरत है!")

असल में सवाल यह नहीं है कि पूजीवादी उत्पादन के स्वाभाविक नियमो के परिणामस्वरूप जो सामाजिक विरोध पदा होते हें, वे बहुत या कम बढे ह। सवाल यहा खुद इन नियमो का और इन प्रवत्तियो का है, जो कठोर आवश्यकता के साथ कुछ अनिवाय नतीजे पैदा कर रहे ह। औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश कम विकसित देश के सामने केवल उसके भविष्य का चित्र अकित कर देता है।

लेकिन इसके अलावा एक बात और भी है। जमन लोगो के यहा जहा जहा पूजीवादी उत्पादन पूरी तरह देशी चीज बन गया है (उदाहरण के लिये, उन कारखानो में, जिनको सचमुच फक्टरिया कहा जा सकता है), वहा हालत इगलण्ड से भी खराब है, क्योकि वहा फक्टरी-कानूनो का सतुलन नहीं है। बाकी तमाम क्षेत्रो में, योरपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अन्य सब देशो की तरह, हमें भी न सिफ पूजीवादी उत्पादन के विकास के कष्ट ही सहन करने पड रहे ह, बल्कि इस विकास की अपूणता से पदा होने वाली तकलीफें भी सहन करनी पड रही ह। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ विरासत में मिली हुई बुराइयो की बडी तादाद भी हमारे ऊपर सितम ढा रही है। ये बुराइया उत्पादन की उन प्राचीन प्रणालियो के निष्क्रिय रूप से अभी तक बचे रहने के फलस्वरूप पैदा होती ह, जिनके साथ अनेक सामाजिक

[illegible]

2 Uhr Nachts. 16 Aug. 1867

Dear Fred,

Eben den letzten Bogen (49) des Buchs fertig corrigirt. Der Anhang – Werthform – kleingedruckt, umfasst 1¼ Bogen. Vorrede ditto gestern corrigirt zurückgeschickt. Also dieser Band ist fertig. Blos Dir verdanke ich es, dass dies möglich war! Ohne Deine Aufopferung für mich könnte ich unmöglich die ungeheuren Arbeiten zu den 3 Bänden machen. I embrace you, full of thanks!

Beiliegend 2 Bogen Reinabzug.

Die 15 £ mit bestem Dank erhalten.

Salut, mein lieber, theurer Freund! Dein K. Marx

१६ अगस्त १८६७ को मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखे गये एक पत्र की अनुलिपि
(चित्र मे आकार छोटा कर दिया गया है)

१६ अगस्त १८६७, दो बजे रात

प्रिय फ्रेड,

किताब के आखिरी फर्मे (४९ वें फर्मे) को शुद्ध करके मैंने अभी अभी काम समाप्त किया है। परिशिष्ट – मूल्य का रूप – छोटे टाइप मे – सवा फर्मे में आया है।

भूमिका को भी शुद्ध करके मैंने कल वापिस भेज दिया था। सो यह खण्ड समाप्त हो गया है। उसे समाप्त करना सम्भव हुआ, इसका श्रेय एकमात्र तुमको है। तुमने मेरे लिये जो आत्मत्याग किया है, उसके अभाव मे मैं तीन खण्डो के लिये इतनी जबर्दस्त मेहनत सम्भवत हरगिज़ न कर पाता। कृतज्ञता से ओत-प्रोत होकर मैं तुम्हारा आलिंगन करता हू!

दो फर्मे इस खत के साथ रख रहा हू, जिनका प्रूफ मै देख चुका हू।

१५ पौंड मिल गये थे, धन्यवाद।

नमस्कार, मेरे प्रिय, स्नेही मित्र!

तुम्हारा

कार्ल मार्क्स

एव राजनीतिक असगतिया अनिवार्य रूप से जुडी हुई है। हम न केवल जीवित, बल्कि मृत चीजो से भी पीडित है। Le mort saisit le vif! (मुर्दे जिन्दो के लिये बोझा बने हुए है!)

इगलण्ड की तुलना में जर्मनी और बाकी पश्चिमी योरप में सामाजिक आकडे बहुत ही खराब ढग से इकट्ठा किये जाते है। लेकिन वे नकाब को इतना जरूर उठा देते है कि उसके पीछे छिपे हुए मेदूसा के खौफनाक चेहरे की हमें एक झलक जरूर मिल जाती है। यदि इगलण्ड की तरह हमारी सरकारें और ससदें भी समय-समय पर आर्थिक हालत की जाच करने के लिये आयोग नियुक्त करतीं, यदि सत्य का पता लगाने के लिये इन आयोगो के हाथ में भी उतने ही पूर्ण अधिकार होते और यदि इस काम के लिये हमारे देशो में भी इगलण्ड के फैक्टरी इस्पेक्टरो, सार्वजनिक स्वास्थ्य की डाक्टरी रिपोर्टें तयार करने वाले कर्मचारियो और स्त्रियो तथा बच्चो के शोषण और घरो तथा खाद्य पदार्थों की स्थिति की जाच करने वाले आयोगो के सदस्यो जसे योग्य और पक्षपात तथा व्यक्तियो का खयाल करने की भावना से मुक्त लोगो को पाना सम्भव होता, तो हम अपने घर की हालत देखकर भयभीत हो उठते। पसियस ने एक जादू की टोपी ओढ ली थी, ताकि वह जिन दानवो का शिकार करने के लिये निकला था, वे उसे देख न पावें। हमने अपनी आखें और कान जादू की टोपी से इसलिये ढक लिये है कि हम यह सोचकर अपना दिल खुश कर सकें कि दुनिया में दानव है ही नहीं।

इस मामले में अपने को धोखा नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार अठारहवीं सदी में अमरीका के स्वातन्त्र्य-युद्ध ने मध्य वर्ग को जागृत करने के लिये घटा बजाया था, उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में अमरीका के गृह-युद्ध ने योरप के मजदूर-वर्ग के जागरण का घण्टा बजाया है। इगलण्ड में सामाजिक इन्तशार को बढते हुए कोई भी देख सकता है। जब वह एक खास बिन्दु पर पहुच जायेगा, तो उसकी योरपीय महाद्वीप में अनिवार्य रूप से प्रतिक्रिया होगी। वहा खुद मजदूर वर्ग के विकास के अनुसार यह इन्तशार अधिक पाशविक या अधिक मानवीय रूप धारण करेगा। इसलिये, अधिक ऊचे उद्देश्यो को यदि अलग रख दिया जाये, तो भी इस समय जो वर्ग शासक वर्ग है, उनके अपने अति महत्वपूर्ण स्वार्थ यह तकाजा कर रहे है कि मजदूर-वर्ग के स्वतत्र विकास के रास्ते से कानूनी ढग से जितनी रुकावटें हटायी जा सकती है, वे फौरन हटा दी जायें। इस तथा अन्य कारणो से भी मैंने इस ग्रथ में इगलण्ड के फैक्टरी-कानूनो के इतिहास, उनके विस्तृत वर्णन तथा उनके परिणामो को इतना अधिक स्थान दिया है। हरेक कौम दूसरी कौमो से सीख सकती है और उसे सीखना चाहिये। और जब कोई समाज अपनी गति के स्वाभाविक नियमो का पता लगाने के लिये सही रास्ते पर चल पडता है, – और इस रचना का अन्तिम उद्देश्य आधुनिक समाज की गति के आर्थिक नियम को खोलकर रख देना ही है, – तब भी अपने साधारण विकास की उत्तरोत्तर अवस्थाओ में सामने आने वाली रुकावटो को वह न तो हिम्मत के साथ छलाग मारकर पार कर सकता है और न ही कानून बनाकर उन्हे रास्ते से हटा सकता है। लेकिन वह प्रसव की पीडा को कम कर सकता है और उसकी अवधि को छोटा कर सकता है।

एक सम्भव गलतफहमी से बचने के लिये दो शब्द कह दिये जायें। मैंने पूजीपति और जमींदार को बहुत सुहावने रगो में कदापि चित्रित नहीं किया है। लेकिन यहा व्यक्तियो की चर्चा केवल उसी हद तक की गयी है, जिस हद तक कि वे किन्हीं आर्थिक पारिभाषिक शब्दो के साकार रूप या किन्हीं खास वर्गीय सम्बधो और वर्गीय हितो के मूर्त रूप बन गये है। मेरे दृष्टिकोण के अनुसार, समाज की आर्थिक गठन का विकास प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया

है, इसलिये और किसी भी दृष्टिकोण की अपेक्षा मेरा दृष्टिकोण व्यक्ति पर उन सम्बधो की कम जिम्मेदारी डालेगा, जिनका वह सामाजिक दृष्टि से सदा दास बना रहता है, भले ही उसने मनोगत दृष्टि से अपने को उनसे चाहे जितना ऊपर उठा लिया हो।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वतत्र वैज्ञानिक खोज को केवल अन्य सभी क्षेत्रो में सामने आने वाले शत्रुओ का ही सामना नहीं करना पडता। यहा उसे जिस विशेष प्रकार की सामग्री की छान-बीन करनी पडती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि मानव हृदय के सबसे हिंसक, नीच और घृणित आवेग – निजी स्वार्थ की राक्षसी प्रवृत्तिया – उसके शत्रुओ के रूप में मैदान में उतर पडते है। उदाहरण के लिये, इगलण्ड के सगठित ईसाई धर्म की यदि ३६ में से ३८ धाराओ पर भी हमला हो, तो वह उसे ज्यादा जल्दी माफ कर देगा, लेकिन उसकी आमदनी के ३६ वें हिस्से पर चोट होने से वह ऐसा नहीं करेगा। आजकल मौजूदा सम्पति सम्बधों की आलोचना के मुकाबले में तो खुद अनीश्वरवाद भी culpa levis (क्षम्य पाप) है। फिर भी एक बात में स्पष्ट रूप से प्रगति हुई है। मै, मिसाल के लिये, यहा उस सरकारी प्रकाशन का हवाला देता हू, जो पिछले चन्द सप्ताहो में ही निकला है। उसका नाम है *"Correspondence with Her Majesty's Missions Abroad, regarding Industrial Questions and Trades' Unions"* ('औद्योगिक प्रश्नो और ट्रेड-यूनियनो के विषय में महारानी के विदेश स्थित दूत-मण्डलो के साथ पत्र-व्यवहार')। इस प्रकाशन में विदेशी इलाको में तैनात अग्रेज रानी के प्रतिनिधियो ने यह साफ साफ कहा है कि जर्मनी में, फ्रास में, – और सक्षेप में कहा जाय, तो योरपीय महाद्वीप के सभी सभ्य देशो में, – पूजी और श्रम के मौजूदा सम्बधो में मूलभूत परिवर्तन इगलण्ड की भाति स्पष्ट और अनिवार्य है। इसके साथ-साथ, अटलाण्टिक महासागर के उस पार, अमरीका के उप-राष्ट्रपति मि० वेड ने सार्वजनिक सभाओ में एलान किया है कि दास प्रथा का अन्त कर देने के बाद अब अगला काम पूजी के और भूमि पर निजी स्वामित्व के सम्बधो को मौलिक रूप से बदल देना है। ये समय के चिह्न है, जिनको पादरियो के न तो लाल और न काले चोगे छिपा सकते है। उनका यह अर्थ नहीं है कि कल कोई अलौकिक चमत्कार हो जायेगा। उनसे यह प्रकट होता है कि खुद शासक वर्गों के भीतर अब यह पूर्वाभास पैदा होने लगा है कि मौजूदा समाज कोई ठोस स्फटिक नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा सघटन है, जो बदल सकता है और बराबर बदल रहा है।

इस रचना के दूसरे खण्ड में पूजी के परिचलन की प्रक्रिया का[1] (दूसरी पुस्तक में) और पूजी अपने विकास के दौरान में जो विविध रूप धारण करती है, उनका (तीसरी पुस्तक में) विवेचन किया जायेगा और तीसरे तथा अन्तिम खण्ड (चौथी पुस्तक) में सिद्धान्तो के इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा।

मै वैज्ञानिक आलोचना पर आधारित प्रत्येक मत का स्वागत करता हू। जहा तक तथाकथित लोकमत के पूर्वग्रहो का सम्बध है, जिनके लिये मैने कभी कोई रिआयत नहीं की, पहले की तरह आज भी उस महान फ्लोरेंसवासी का यह सिद्धान्त ही मेरा भी सिद्धान्त है कि 'Segui il tuo corso, e lascia dir le genti! ("तुम अपनी राह पर चलते चलो, लोग कुछ भी कहें, कहने दो!")

लन्दन, २५ जुलाई १८६७।

कार्ल मार्क्स

[1] पृ० ६३४ पर लेखक ने बताया है कि इस मद मे वह किन किन चीजो को शामिल करता है।

दूसरे जर्मन संस्करण का परिशिष्ट

मुझे, सबसे पहले, प्रथम संस्करण के पाठकों को यह बताना चाहिये कि दूसरे संस्करण में क्या-क्या परिवर्तन किये गये हैं। इसपर पहली नजर डालते ही एक तो यह बात साफ हो जाती है कि पुस्तक की व्यवस्था अब अधिक सुस्पष्ट हो गयी है। जो नये फुटनोट जोड़े गये हैं, उनके आगे हर जगह लिख दिया गया है कि ये दूसरे संस्करण के फुटनोट हैं। मूल पाठ के बारे में निम्नलिखित बातें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

पहले अध्याय के अनुभाग १ में उन समीकरणों के विश्लेषण से, जिनके द्वारा प्रत्येक विनिमय मूल्य अभिव्यक्त किया जाता है, मूल्य की व्युत्पत्ति का विवेचन पहले से अधिक वैज्ञानिक कड़ाई के साथ किया गया है, इसी प्रकार, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल द्वारा मूल्य के परिमाण के निर्धारित होने और मूल्य के सार के आपसी सम्बंध की तरफ़ जहां पहले संस्करण में इशारा भर किया गया था, वहां अब उसपर ख़ास ज़ोर दिया गया है। पहले अध्याय के अनुभाग ३ ('मूल्य का रूप') को एकदम नये सिरे से दुहराया गया है, यह और कुछ नहीं तो इसलिये ज़रूरी हो गया था कि पहले संस्करण में इस विषय का दो जगहों पर विवेचन हो गया था।—यहां प्रसंगवश यह भी बता दूं कि यह दोहरा विवेचन मेरे मित्र, हैनोवर के डाक्टर एल० कुगेलमान के कारण हुआ था। १८६७ के वसंत में मैं उनके यहां गया हुआ था। उसी वक्त हैम्बर्ग से किताब के पहले प्रूफ़ आ गये और डा० कुगेलमान ने मुझे इस बात का कायल कर दिया कि अधिकतर पाठकों के लिये मूल्य के रूप की एक और अधिक शिक्षकोचित व्याख्या की आवश्यकता है।—पहले अध्याय का अंतिम अनुभाग— 'मालों की जड़-पूजा इत्यादि'—बहुत कुछ बदल दिया गया है। तीसरे अध्याय के अनुभाग १ ('मूल्य की माप') को बहुत ध्यानपूर्वक दुहरा दिया गया है, क्योंकि पहले संस्करण में इस अनुभाग की तरफ़ लापरवाही बरती गयी थी और पाठक को बर्लिन से १८५९ में प्रकाशित *"Zur Kritik der Politischen Oekonomie"*, Berlin, 1859, में दी गयी व्याख्या का हवाला भर दे दिया गया था। सातवें अध्याय को, ख़ासकर उसके दूसरे हिस्से को (अंग्रेज़ी और हिंदी संस्करणों के नौवें अध्याय के अनुभाग २ को), बहुत हद तक फिर से लिख डाला गया है।

पुस्तक के पाठ में जो बहुत से आंशिक परिवर्तन किये गये हैं, उन सब की चर्चा करना समय का अपव्यय करना होगा, क्योंकि बहुधा वे विशुद्ध शैलीगत परिवर्तन हैं। ऐसे परिवर्तन पूरी किताब में मिलेंगे। फिर भी अब, पेरिस से निकलने वाले फ्रांसीसी अनुवाद को दुहराने पर, मुझे लगता है कि जर्मन भाषा के मूल पाठ के कई हिस्से ऐसे हैं, जिनको सम्भवतया बहुत मुकम्मल ढंग से नये सिरे से ढालने की आवश्यकता है, कई अन्य हिस्सों का बहुत काफ़ी शैलीगत सम्पादन करने की ज़रूरत है और कुछ और हिस्सों को काफ़ी मेहनत के साथ समय

समय पर हो जाने वाली भूलो से साफ करना आवश्यक है। लेकिन इसके लिये समय नहीं था। कारण कि पहले सस्करण के खत्म होने और दूसरे सस्करण की छपाई के जनवरी १८७२ में आरम्भ होने की सूचना मुझे १८७१ के शरद में मिली। तब मैं दूसरे जरूरी कामो में फसा हुआ था।

"Das Kapital" ('पूजी') को जर्मन मजदूर-वर्ग के व्यापक क्षेत्रो में जितनी जल्दी आदर प्राप्त हुआ, वही मेरी मेहनत का सबसे बडा इनाम है। आर्थिक मामलो में पूजीवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाले वियेना के एक कारखानेदार हेर मायेर ने फ्रासीसी जर्मन युद्ध के दौरान में प्रकाशित एक पुस्तिका में इस विचार का बहुत ठीक-ठीक प्रतिपादन किया था कि सैद्धान्तिक विचार विनिमय करने की महान क्षमता, जो जर्मन लोगो की पुश्तनी सम्पत्ति समझी जाती थी, अब जर्मनी के शिक्षित कहलाने वाले वर्गों में लगभग पूर्णतया गायब हो गयी है, किन्तु, इसके विपरीत, जर्मन मजदूर-वर्ग में वह क्षमता अपने पुनरुत्थान का उत्सव मना रही है।

जर्मनी में इस समय तक अर्थशास्त्र एक विदेशी विज्ञान जैसा था। गुस्ताव फोन गुलीह् ने अपनी पुस्तक 'व्यापार और उद्योग का ऐतिहासिक वर्णन' इत्यादि[1] में और खासकर उसके १८३० में प्रकाशित पहले दो खण्डो में उन ऐतिहासिक परिस्थितियो पर विस्तारपूर्वक विचार किया है, जो जर्मनी में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के विकास में बाधक हुईं और इसलिये जिनके कारण उस देश में आधुनिक पूजीवादी समाज का विकास नहीं हो पाया। इस प्रकार, वहा वह मिट्टी ही नहीं थी, जिसमें अर्थशास्त्र का पौधा उगता है। इस विज्ञान को बने-बनाये तैयार माल के रूप में इगलैण्ड और फ्रास से मगाना पडा, और उसके जर्मन प्रोफेसर स्कूली लडके बनकर रह गये। उनके हाथो में विदेशी वास्तविकता की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति कठमुल्लो के सूत्रो का सग्रह बन गयी, जिनकी व्याख्या वे अपने इर्द-गिर्द की टुट-पुजिया दुनिया के रग में रगकर करते थे और इसीलिये उनकी वे गलत व्याख्या करते थे। वैज्ञानिक नपुसकता की भावना, जो बहुत दबाने पर भी पूरी तरह कभी नहीं दबती, और यह परेशान करने वाला अहसास कि हम एक ऐसे विषय में हाथ लगा रहे हैं, जो हमारे लिये वास्तव में एक पराया विषय है,—इनको या तो साहित्यिक एव ऐतिहासिक पाडित्य प्रदर्शन के नीचे छिपा दिया जाता था, या इनपर तथाकथित "कामेराल" विज्ञानों—अर्थात अनेक विषयो की उस पचमेल, सतही और अपूर्ण जानकारी—से उधार मागकर लायी हुई कुछ बाहरी सामग्री का पर्दा डाल दिया जाता था, जिसकी वैतरणी को जर्मन नौकरशाही का सदस्य बनने की इच्छा रखने वाले हर निराश उम्मीदवार को पार करना पडता है, लेकिन इस तरह भी यह भावना और यह अहसास पूरी तरह नहीं छिप पाते थे।

१८४८ से जर्मनी में पूजीवादी उत्पादन का बहुत तेजी से विकास हुआ है, और इस वक्त तो वह सट्टेबाजी और धोखेधडी के रूप में पूरी जवानी पर है। लेकिन हमारे पेशेवर अर्थशास्त्रियो पर भाग्य ने अब भी दया नहीं की है। जिस समय वे लोग अर्थशास्त्र का वस्तुगत अध्ययन कर सकते थे, उस समय जर्मनी में आधुनिक आर्थिक परिस्थितिया वास्तव में मौजूद नहीं थीं। और जब ये परिस्थितिया वहा पैदा हुईं, तो ऐसी हालत में कि पूजीवादी क्षितिज

[1] Geschichtliche Darstellung des Handels der Gewerbe und des Ackerbaus, & c von Gustav von Gülich 5 vols Jena 1830 45

की सीमाओं के भीतर रहते हुए उनकी वास्तविक एवं निष्पक्ष छानबीन करना असम्भव हो गया। जिस हद तक अर्थशास्त्र इस क्षितिज की सीमाओं के भीतर रहता है, अर्थात जिस हद तक पूंजीवादी व्यवस्था को सामाजिक उत्पादन के विकास की एक अस्थायी ऐतिहासिक मंजिल नहीं, बल्कि उसका एकदम अंतिम स्वरूप समझा जाता है, उस हद तक अर्थशास्त्र केवल उसी समय तक विज्ञान बना रह सकता है, जब तक कि वर्ग-संघर्ष सुषुप्तावस्था में है या जब तक कि वह केवल इक्की दुक्की और अलग थलग घटनाओं के रूप में प्रकट होता है।

हम इंगलैण्ड को लें। उसका अर्थशास्त्र उस काल का है, जब वर्ग संघर्ष का विकास नहीं हुआ था। उसके अंतिम महान प्रतिनिधि–रिकार्डो– ने आखिर में जाकर वर्ग हितों के विरोध को, मजदूरी और मुनाफे तथा मुनाफे और लगान के विरोध को सचेतन ढंग से अपनी खोज का प्रस्थान बिंदु बनाया और अपने भोलेपन में यह समझा कि यह विरोध प्रकृति का एक सामाजिक नियम है। किंतु इस प्रकार प्रारम्भ करके पूंजीवादी अर्थशास्त्र का विज्ञान उस सीमा पर पहुंच गया था, जिसे लांघना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। रिकार्डो के जीवन काल में ही और उनके विरोध के तौर पर सिस्मोंदी ने इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना की[1]।

इसके बाद जो काल आया, अर्थात् १८२० से १८३० तक, वह इंगलैण्ड में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक छानबीन के लिये उल्लेखनीय था। यह रिकार्डो के सिद्धांत को अति-सरल बनाने की चेष्टा में उसे भोंडे ढंग से पेश करने और उसका विस्तार करने और साथ ही पुराने मत के साथ इस सिद्धांत के संघर्ष का भी काल था। बड़े शानदार दंगल हुए। उनमें जो कुछ हुआ, उसकी योरपीय महाद्वीप में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि शास्त्रार्थ का अधिकतर भाग पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों, जब-तब प्रकाशित साहित्य तथा पुस्तिकाओं में बिखरा हुआ है। इस शास्त्रार्थ के तटस्थ एवं पूर्व ग्रह रहित स्वरूप का कारण–हालांकि कुछ खास-खास मौकों पर रिकार्डो का सिद्धांत तभी से पूंजीवादी अर्थतंत्र पर हमला करने के हथियार का काम देने लगा था–उस समय की परिस्थितियां थीं। एक ओर तो आधुनिक उद्योग खुद उस समय केवल अपने बचपन से निकल रहा था, जिसका प्रमाण यह है कि १८२५ के अर्थ संकट से उसके आधुनिक जीवन के नियतकालिक चक्र का पहली बार श्रीगणेश हुआ था। दूसरी ओर, इस समय पूंजी और श्रम का वर्ग संघर्ष पृष्ठभूमि में पड़ गया था,–और उसे पीछे धकेलकर राजनीतिक दृष्टि से एक तरफ पवित्र गुट (Holy Alliance) के इर्द गिर्द एकत्रित सरकारों तथा सामंती अभिजात वर्ग और दूसरी तरफ पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में साधारण जनता का झगड़ा सामने आ गया था और आर्थिक दृष्टि से औद्योगिक पूंजी तथा अभिजात-वर्गीय भू-सम्पत्ति का झगड़ा सामने आ गया था। यह दूसरा झगड़ा फ्रांस में छोटी और बड़ी भू-सम्पत्ति के झगड़े से छिप गया था, और इंगलैण्ड में वह अनाज-सम्बंधी कानूनों के बाद खुल्लमखुल्ला शुरू हो गया था। इस समय का इंगलैण्ड का अर्थशास्त्र सम्बंधी साहित्य उस तूफानी प्रगति की याद दिलाता है, जो फ्रांस में डा० क्वेज़नें की मृत्यु के बाद हुई थी, मगर उसी तरह, जैसे अक्तूबर की अल्पकालीन गरमी वसंत की याद दिलाती है। १८३० में निर्णायक संकट आ पहुंचा।

फ्रांस और इंगलैण्ड में पूंजीपति-वर्ग ने राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया था। उस समय से ही वर्ग संघर्ष व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से अधिकाधिक बेलाग

[1] देखिये मेरी रचना *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* पृ० ३९।

और डरावना रूप धारण करता गया। इसने वैज्ञानिक पूजीवादी अथशास्त्र की मौत की घण्टी बजा दी। उस वक्त से ही सवाल यह नहीं रह गया कि अमुक प्रमेय सही है या नहीं, बल्कि सवाल यह हो गया कि वह पूजी के लिये हितकर है या हानिकारक, उपयोगी है या अनुपयोगी, राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक है या नहीं। तटस्थ भाव से छान बीन करने वालो की जगह किराये के पहलवानो ने ले ली, सच्ची वज्ञानिक खोज का स्थान पूजी के समर्थको के, अपने को अपराधी समझने वाले, अ त करण तथा बुरे उद्देश्य ने ग्रहण कर लिया। इसके बावजूद लोगा का ध्यान जबर्दस्ती अपनी ओर खींच लेने वाली उन पुस्तिकाओ का भी यदि वैज्ञानिक नही, तो ऐतिहासिक महत्त्व जरूर है, जिनसे कोबडेन और ब्राइट नामक कारखानेदारो के नेतृत्व में चलने वाली अनाज-कानून विरोधी लीग ने दुनिया को पाट दिया था। उनका ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए है कि उनमें अभिजात वर्गीय भूस्वामियो का खण्डन किया गया था। लेकिन उसके बाद से स्वतन्त्र व्यापार के कानूनो ने, जिनका उदघाटन सर रोबर्ट पील ने किया था, घटिया किस्म के अर्थशास्त्र के इस आखिरी काटे को भी निकाल दिया है।

१८४८-४९ में योरपीय महाद्वीप में जो क्रान्ति हुई, उसकी प्रतिक्रिया इगलण्ड में भी हुई। जो लोग अब भी वज्ञानिक होने का थोडा-बहुत दावा करते थे और महज शासक वर्गो के जर खरीद दाशनिको तथा मुसाहबो से कुछ अधिक बनना चाहते थे, उन्होने पूजी के अथशास्त्र का सवहारा के उन दावो के साथ ताल-मेल बैठाने की कोशिश की, जिनकी अब अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इससे एक छिछला समन्वयवाद आरम्भ हुआ, जिसके सबसे अच्छे प्रतिनिधि जान स्टुअर्ट मिल है। इस प्रकार पूजीवादी अर्थशास्त्र ने अपने दिवालियापन की घोषणा कर दी थी। महान रूसी विद्वान एव आलोचक नि० चेर्नीशेव्स्की ने अपनी रचना 'मिल के अनुसार अथशास्त्र की रूपरेखा' में एक महान मस्तिष्क की सहायता से इस घटना पर एक अधिकारी के रूप में प्रकाश डाला है।

इसलिये, जमनी में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली उस वक्त सामने आयी, जब उसका परस्पर विरोधी स्वरूप इगलण्ड और फ्रास में पहले ही वर्गो के भीषण सघष में प्रकट हो चुका था। इसके अलावा, इसी बीच जमन सवहारा-वग ने जमन पूजीपति वग की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट वग-चेतना प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार, जब आखिर वह घडी आयी कि जमनी में अथशास्त्र का पूजीवादी विज्ञान सम्भव प्रतीत होने लगा, ठीक उसी समय वह वास्तव में फिर असम्भव हो गया था।

ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र के पूजीवादी विज्ञान के प्रोफेसर दो दलो में बट गये। एक दल, जिसमें व्यावहारिक ढग के, हर चीज से चौकस व्यवसायी लोग थे, बास्तियात के झण्डे के नीचे इकट्ठा हो गया, जो कि घटिया किस्म के अथशास्त्र का सबसे ज्यादा सतही और इसलिये सबसे ज्यादा अधिकारी प्रतिनिधि है। दूसरा दल, जिसे अपने विज्ञान की प्रोफेसराना प्रतिष्ठा का गव था, जान स्टुअट मिल का अनुसरण करते हुए ऐसी चीजो में समझौता कराने की कोशिश करने लगा, जिनमें कभी समझौता नहीं हो सकता। जिस तरह पूजीवादी अथशास्त्र के अभ्युदय के काल में जर्मन लोग महज स्कूली लडके, नक्काल, पिछलग्गू और थोक व्यापार करने वाली विदेशी कम्पनियो का अपने देश में फुटकर ढग से और फेरी लगाकर माल बेचने वाले मनिहार बनकर रह गये थे, ठीक वही हाल उनका अब पूजीवादी अथशास्त्र के पतन के काल में हुआ।

अतएव, जमन समाज का ऐतिहासिक विकास जिस विशेष ढग से हुआ है, वह उस देश में पूंजीवादी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के सृजनात्मक कार्य की तो इजाज़त नहीं देता, पर उस अर्थशास्त्र की आलोचना करने की छूट दे देता है। जिस हद तक यह आलोचना किसी वग का प्रतिनिधित्व करती है, उस हद तक वह केवल उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकती है, जिसको इतिहास में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का तख्ता उलट देने और सभी वर्गों को अंतिम रूप से मिटा देने का काम मिला है,—अर्थात उस हद तक वह केवल सर्वहारा वग का ही प्रतिनिधित्व कर सकती है।

जमन पूजीपति वग के पडित और अपडित प्रवक्ताओ ने शुरू में 'पूजी' (*"Das Kapital"*)-को ख़ामोशी के ज़रिये मार डालने की कोशिश की। वे मेरी पहले वाली रचनाओ के साथ ऐसा ही कर चुके थे। पर ज्यो ही उन्होने यह देखा कि यह चाल अब समय की परिस्थितियो से मेल नहीं खाती, त्यों ही उन्होंने मेरी किताब की आलोचना करने के बहाने "पूजीवादी मस्तिष्क को शात करने" के नुसख़े लिखने शुरू कर दिये। लेकिन मजदूरो के अख़बारो के रूप में उनको अपने से शक्तिशाली विरोधियो का सामना करना पडा,—मिसाल के लिये, *"Volksstaat"* में जोजेफ दीतसगेन के लेखो को देखिये,—और उन का वे आज तक जवाब नहीं दे पाये ह[1]।

"Das Kapital" का एक बहुत अच्छा रूसी अनुवाद १८७२ के वसत में प्रकाशित हुआ था। ३,००० प्रतियो का यह सस्करण लगभग समाप्त भी हो गया है। कियेव विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर एन० ज़ीबेर ने १८७१ में ही अपनी रचना 'डेविड रिकार्डो का मूल्य का और पूजी का सिद्धात' में मूल्य, मुद्रा और पूजी के मेरे सिद्धात का ज़िक्र किया था और कहा था कि जहा तक उसके सार का सम्बध है, यह सिद्धात स्मिथ और रिकार्डो की सीख का आवश्यक निष्कष है। इस सुदर रचना को पढने पर जो बात पश्चिमी योरप के पाठको को आश्चय में डाल देती है, वह यह है कि विशुद्ध सद्धान्तिक प्रश्नो पर लेखक का बहुत ही सुसगत और दढ़ अधिकार है।

---

[1] जमनी के घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र के चिकनी चुपडी बाते करने वाले बकवासिया ने मेरी पुस्तक की शैली की निदा की है। *Das Kapital* के साहित्यिक दोषा का जितना अहसास मुझे है, उससे ज्यादा किसी को नही हो सकता। फिर भी म इन महानुभावो के तथा उनको पढने वाली जनता के लाभ और मनोरजन के लिये इस सम्बध मे एक अंग्रेजी तथा एक रूसी समालाचना को उद्धत करूगा। *Saturday Review* ने, जो मेरे विचारा का सदा विरोधी रहा है, पहले सस्करण की आलोचना करते हुए लिखा था "विषय को जिस ढग से पश किया गया है, वह नीरस से नीरस आर्थिक प्रश्नो मे भी एक अनोखा आकषण पदा कर देता है।" 'सेंत पीतमबुग जनल' ('साक्त पतेरबुग स्किये वेदोमोस्ती') ने अपने २० अप्रैल १८७२ के अक म लिखा है "एक-दो बहुत ही ख़ास हिस्सा का छोडकर विषय को पेश करने का ढग ऐसा है कि वह सामान्य पाठक की भी समझ म आ जाता है, खूब साफ हा जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत जटिल हाने हुए भी असाधारण रूप से सजीव हा उठता है। इस दृष्टि से लखक अधिकतर जमन विद्वाना से बिल्कुल भिन्न है, जा अपनी पुस्तकें ऐसी नीरस और दुरूह भाषा मे लिखत ह कि साधारण इनमाना के सिर तो उनम टकराकर ही टूट जात ह।"

"Das Kapltal" में प्रयोग की गयी पद्धत्ति के बारे में जो तरह-तरह की परस्पर विरोधी धारणाए लोगो ने बना ली हैं, उनसे मालूम होता है कि इस पद्धत्ति को लोगो ने बहुत कम समझा है।

चुनाचे पेरिस की *"Revue Positiviste"* ने मेरी इसलिये भत्सना की है कि एक तरफ तो म अर्थशास्त्र का अतिभौतिक ढग से विवेचन करता हू और दूसरी तरफ – जरा सोचिये तो! – मैं भविष्य के बावर्चीखानो के लिये नुसखे (शायद कोतवादी नुसखे?) लिखने के बजाय केवल वास्तविक तथ्यो के आलोचनात्मक विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता हू। जहा तक अतिभूतवाद की शिकायत है, उसके जवाब में प्रोफेसर जीबेर ने यह लिखा है कि "जहा तक वास्तविक सिद्धान्त के विवेचन का सम्बध है, मार्क्स की पद्धत्ति पूरी अग्रेजी धारा की निगमन-पद्धत्ति है, और इस धारा में वे तमाम गुण और अवगुण मौजूद ह, जो सर्वोत्तम सैद्धान्तिक अथशास्त्रियो में पाये जाते ह।" एम० ब्लोक ने *"Les Theoriciens du Socialisme en Allemagne Extrait du Journal des Economistes, Juillet et Août 1872"* में यह आविष्कार किया है कि मेरी पद्धत्ति विश्लेषणात्मक है, और लिखा है कि "Par cet ouvrage M Marx se classe parmi les esprits analitiques les plus eminents ("इस रचना द्वारा श्रीमान मार्क्स ने सबसे प्रमुख विश्लेषणकारी प्रतिभाओ की पक्ति में स्थान प्राप्त कर लिया है")। जर्मन पत्रिकाए, जाहिर है, "हेगेलवादी ढग से बाल की खाल निकालने" के खिलाफ चीख रही हैं। सेण्ट पीतर्सबुग के 'योरपियन-मेसजर' नामक पत्र ने एक लेख में *"Das Kapital"* की केवल पद्धत्ति की ही चर्चा की है (मई का अक, १८७२, पृ० ४२७-४३६)। उसको मेरा खोज का तरीका तो अतियथायवादी लगता है, लेकिन विषय को पेश करने का मेरा ढग, उसकी दृष्टि से, दुर्भाग्यवश जमन-द्वद्ववादी है। उसने लिखा है "यदि हम विषय को पेश करने के बाहरी ढग के आधार पर अपना मत कायम करें, तो पहली दृष्टि में लगेगा कि मार्क्स भाववादी दार्शनिको में भी सबसे अधिक भाववादी है, और यहा हम इस शब्द का प्रयोग उसके जमन अथ में, यानी बुरे अथ में, कर रहे ह। लेकिन असल में वह आर्थिक आलोचना के क्षेत्र में अपने समस्त पूवगामियो से कहीं अधिक यथाथवादी है। उसे किसी भी अर्थ में भाववादी नहीं कहा जा सकता।" म इस लेखक को उत्तर देने का इससे अच्छा कोई ढग नहीं सोच सकता कि खुद उसकी आलोचना के कुछ उद्धरणो की सहायता लू, हो सकता है कि रूसी लेख जिनकी पहुच के बाहर है, मेरे कुछ ऐसे पाठको को भी उसमें दिलचस्पी हो।

१८५९ में बलिन से प्रकाशित मेरी पुस्तक 'अथशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका का एक ऐसा उद्धरण (पृ० चार-सात) देने के बाद, जिसमें मने अपनी पद्धत्ति के भौतिकवादी आधार की चर्चा की है, इस लेखक ने आगे लिखा है "मार्क्स के लिये जिस एक बात का महत्त्व है, वह यह है कि जिन घटनाओ की छान-बीन में वह किसी वक्त लगा हुआ हो, उनके नियम का पता लगाया जाय। और उसके लिये केवल उस नियम का ही महत्त्व नहीं है, जिसके द्वारा इन घटनाओ का उस हद तक नियमन होता है, जिस हद तक कि उनका कोई निश्चित स्वरूप होता है और जिस हद तक कि उनके बीच किसी खास ऐतिहासिक काल के भीतर पारस्परिक सम्बध होता है। मार्क्स के लिये इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण नियम है घटनाओ के परिवर्तन का, उनके विकास का, अर्थात उनके एक रूप से दूसरे रूप में बदलने का, सम्बधो के एक क्रम से दूसरे क्रम में परिवर्तित होने का। इस नियम का पता लगा लेने के बाद वह विस्तार के साथ इस बात की खोज करता है कि यह नियम सामाजिक जीवन में किन किन रूपों

में प्रकट होता है। इसके परिणामस्वरूप मार्क्स को केवल एक ही बात की चिन्ता रहती है, वह यह कि कड़ी वैज्ञानिक खोज के द्वारा सामाजिक परिस्थितियों की एक के बाद दूसरी आने वाली अलग अलग निश्चित व्यवस्थाओं की आवश्यकता सिद्ध करके दिखा दी जाये और अधिक से अधिक निष्पक्ष भाव से उन तथ्यों की स्थापना की जाये, जो मार्क्स के लिये बुनियादी प्रस्थान बिंदुओं का काम करते हैं। इसके लिये बस इतना बहुत काफी है, यदि यह वर्तमान व्यवस्था की आवश्यकता सिद्ध करने के साथ-साथ उस नयी व्यवस्था की आवश्यकता भी सिद्ध कर दे, जिसमें कि वर्तमान व्यवस्था को अनिवार्य रूप से बदल जाना है। और यह परिवर्तन हर हालत में होता है, चाहे लोग इसमें विश्वास करें या न करें और चाहे वे इसके बारे में सजग हों या न हों। मार्क्स सामाजिक प्रगति को प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में पेश करता है, जो ऐसे नियमों के अनुसार चलती है, जो न केवल मनुष्य की इच्छा, चेतना और समझ-बूझ से स्वतंत्र होते हैं, बल्कि, इसके विपरीत, जो इस इच्छा, चेतना और समझ-बूझ को निर्धारित करते हैं... यदि सभ्यता के इतिहास में चेतन तत्त्व की भूमिका इतनी गौण है, तो यह बात स्वतः स्पष्ट है कि जिस आलोचनात्मक खोज की विषय-वस्तु सभ्यता है, वह अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा चेतना के किसी भी रूप पर अथवा चेतना के किसी भी परिणाम पर कम ही आधारित हो सकती है। तात्पर्य यह है कि यहां विचार नहीं, बल्कि केवल भौतिक घटना ही प्रस्थान बिंदु का काम कर सकती है। इस प्रकार की खोज किसी तथ्य का मुकाबला और तुलना विचारों से नहीं करेगी, बल्कि वह एक तथ्य का मुकाबला और तुलना किसी दूसरे तथ्य से करने तक ही अपने को सीमित रखेगी। इस खोज के लिये महत्त्वपूर्ण बात सिर्फ यह है कि दोनों तथ्यों की छान-बीन यथासम्भव बिल्कुल सही-सही की जाये, और यह कि एक दूसरे के सम्बंध में वे एक विकास क्रिया की दो भिन्न अवस्थाओं का सचमुच प्रतिनिधित्व करें, लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि एक के बाद एक सामने आने वाली उन अवस्थाओं, अनुक्रमों और शृंखलाओं के क्रम का कड़ाई के साथ विश्लेषण किया जाये, जिनके रूप में इस प्रकार के विकास की अलग अलग मंजिलें प्रकट होती हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन के सामान्य नियम तो सदा एक से होते हैं, चाहे वे भूतकाल पर लागू किये जायें और चाहे वर्तमान काल पर। पर इस बात से मार्क्स साफ तौर पर इनकार करता है। उसके मतानुसार, ऐसे अमूर्त नियम होते ही नहीं। इसके विपरीत, उसकी राय में तो प्रत्येक ऐतिहासिक युग के अपने अलग नियम होते हैं... जब समाज विकास के किसी खास युग को पीछे छोड़ देता है और एक मंजिल से दूसरी मंजिल में प्रवेश करने लगता है, तब उसी वक्त से उसपर कुछ दूसरे नियम भी लागू होने लगते हैं। संक्षेप में कहा जाये, तो आर्थिक जीवन हमारे सामने एक ऐसी क्रिया प्रस्तुत करता है, जो जीव विज्ञान की अन्य शाखाओं में पाये जाने वाले विकास के इतिहास से बिलकुल मिलती-जुलती है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियमों को भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान के नियमों के समान बताकर उनकी प्रकृति को गलत समझा था। घटनाओं का अधिक गहरा अध्ययन करने पर पता लगा कि सामाजिक संघटनों के बीच अलग अलग ढंग के पौधों या पशुओं के समान ही बुनियादी भेद होता है। ऐसे ही नहीं, बल्कि यह कहना चाहिये कि चूंकि इन सामाजिक संघटनों की पूरी बनावट अलग अलग ढंग की होती है, उनके अवयव अलग-अलग प्रकार के होते हैं और ये अवयव अलग अलग तरह की परिस्थितियों में काम करते हैं, इसलिये उनमें एक ही घटना बिलकुल भिन्न नियमों के आधीन हो जाती है। उदाहरण के लिये, मार्क्स इससे इनकार करता है कि आबादी का नियम प्रत्येक

काल और प्रत्येक स्थान में एक सा रहता है। इसके विपरीत, उसका कहना यह है कि विकास की हरेक मजिल का अपना आबादी का नियम होता है उत्पादक शक्ति का विकास जितना कम-ज्यादा होता है, उसके अनुसार सामाजिक परिस्थितिया और उनपर लागू होने वाले नियम भी बदलते जाते ह। जब मार्क्स अपने सामने यह काम रखता है कि उसको इस दृष्टिकोण से पूजी के प्रभुत्व के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन एव स्पष्टीकरण करना है, तब वह केवल उसी उद्देश्य की सवथा वैज्ञानिक ढग से स्थापना कर रहा है, जो आर्थिक जीवन की प्रत्येक परिशुद्ध खोज का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसी खोज का वज्ञानिक महत्त्व इस बात में है कि वह उन विशेष नियमो को खोलकर रख दे, जिनके द्वारा किसी सामाजिक सघटन की उत्पत्ति, अस्तित्व, विकास और अत का तथा उसके स्थान पर किसी और, अधिक ऊचे सघटन की स्थापना का नियमन होता है। और, असल में, मार्क्स की पुस्तक का महत्त्व इसी बात में है।"

यहा पर लेखक ने जिसे मेरी पद्धत्ति समझकर इस सुदर और (जहा तक इसका सम्बध है कि खुद मैंने उसे किस तरह लागू किया है) उदार ढग से चित्रित किया है, वह द्वद्ववादी पद्धत्ति के सिवा और क्या है?

जाहिर है, किसी विषय को पेश करने का ढग खोज के ढग से भिन्न होता है। खोज के समय विस्तार में जाकर सारी सामग्री पर अधिकार करना पडता है, उसके विकास के विभिन्न रूपो का विश्लेषण करना होता है और उनके आन्तरिक सम्बध का पता लगाना पडता है। जब यह काम सम्पन्न हो जाता है, तभी जाकर कहीं वास्तविक गति का पर्याप्त वणन करना सम्भव होता है। यदि यह काम सफलतापूर्वक पूरा हो जाता है, यदि विषय वस्तु का जीवन दपण के समान विचारो में झलकने लगता है, तब यह सम्भव है कि हमें ऐसा प्रतीत हो, जसे किसी ने अपने दिमाग से सोचकर कोई तसवीर गढ दी है।

मेरी द्वद्ववादी पद्धत्ति हेगेलवादी पद्धत्ति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हेगेल के लिये मानव-मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया, अर्थात चिन्तन की प्रक्रिया, जिसे "विचार" के नाम से उसने एक स्वतत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक ससार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक ससार "विचार" का बाहरी, इद्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिये विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक ससार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपो में बदल जाता है।

हेगेलवादी द्वद्ववाद के रहस्यमय पहलू की मैंने लगभग तीस वष पहले आलोचना की थी, और तब उसका काफी चलन था। लेकिन जिस समय म *"Das Kapital"* के प्रथम खण्ड पर काम कर रहा था, ठीक उसी समय इन चिडचिडे, घमडी और प्रतिभाहीन Επίγονοι (योग्य नेता के अयोग्य अनुयायियो) को, जो कि आजकल सुसस्कृत जमनी में बडी लम्बी लम्बी हाक रहे ह, हेगेल के साथ ठीक वसा ही व्यवहार करने की सूझी, जैसा लेस्सिग के काल में बहादुर मोसेस मेण्डेलसोन ने स्पिनोजा के साथ किया था,—यानी उन्होंने भी हेगेल के साथ 'मरे हुए कुत्ते' जसा व्यवहार करने की सोची। तब मने खुल्लमखुल्ला यह स्वीकार किया कि म उस महान विचारक का शिष्य हू, और मूल्य के सिद्धान्त वाले अध्याय में जहा तहा मने अभिव्यक्ति के उस ढग से भी आख मिचौली खेली है, जो हेगेल का खास ढग है। हेगेल के हाथो में द्वद्ववाद पर रहस्य का आवरण पड जाता है, लेकिन इसके बावजूद यह सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढग से यह बताया था कि अपने सामान्य रूप में द्वद्ववाद किस प्रकार

काम करता है। हेगेल के यहा द्वन्द्ववाद सिर के बल खडा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर ढके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्त्व का पता लगाना चाहते ह, तो आपको उसे पलटकर फिर परो के बल सीधा खडा करना होगा।

अपने रहस्यमय रूप में द्वन्द्ववाद का जमनी में इसलिये चलन हो गया था कि यह मानो तत्कालीन व्यवस्था को रूपान्तरित करके आकपक बना देता है। पर अपने विवेकपूर्ण रूप में वह पूजीवादी ससार तथा उसके पण्डिताऊ प्रोफेसरो के लिए एक निन्दनीय और घृणित वस्तु है, क्योंकि उसमें वत्तमान व्यवस्था की उसकी समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति में साथ ही साथ इस व्यवस्था के निषेध और उसके अवश्यम्भावी विनाश की स्वीकृति भी शामिल है, क्योंकि द्वन्द्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवतनशील मानता है और इसलिये उसके अस्थायी स्वरूप का उसके क्षणिक अस्तित्व से कम खयाल नहीं रखता है और क्योंकि द्वन्द्ववाद किसी चीज को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता और यह अपने सार-तत्त्व में आलोचनात्मक एव क्रान्तिकारी है।

पूजीवादी समाज की गति में जो अन्तरविरोध निहित है, वे व्यावहारिक पूजीपति के दिमाग पर सबसे अधिक जोर से उस नियतकालिक चक्र के परिवतनो के रूप में प्रभाव डालते ह, जिसमें से समस्त आधुनिक उद्योग को गुजरना पडता है और जिसका सर्वोच्च बिन्दु सवव्यापी सकट होता है। वह सकट एक बार फिर आने को है, हालाकि अभी वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, और इस सकट की लपेट इतनी सर्वव्यापी होगी और उसका प्रभाव इतना तीव्र होगा कि वह इस नये पवित्र प्रशन जमन साम्राज्य के बरसात में कुकुरमुत्तो की तरह पदा होने वाले नये नवाबो के दिमागो में भी द्वन्द्ववाद को ठोक ठोक कर घुसा देगा।

कार्ल मार्क्स

लन्दन, २४ जनवरी १८७३।

फ्रासीसी सस्करण को भूमिका

नागरिक मौरिस लशात्रे के नाम

प्रिय नागरिक,

"Das Kapital" के अनुवाद के क्रमिक प्रकाशन का आपका विचार प्रशसनीय है। इस रूप में पुस्तक मजदूर-वग के लिये अधिक सुलभ होगी, और मेरे लिये यह बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह तो आपके सुझाव का अच्छा पहलू हुआ, पर अब तसवीर के दूसरे रुख पर भी गौर कीजिये। मने विश्लेषण की जिस पद्धति का प्रयोग किया है और जिसका इसके पहले कभी आर्थिक विषयो के लिये प्रयोग नहीं हुआ था, उसने शुरू के अध्यायो को पढने में कुछ कठिन बना दिया है। फ्रासीसी पाठक सदा परिणाम पर पहुचने के लिये व्यग्र और यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि जिन तात्कालिक प्रश्नो ने उनकी भावनाओ को जगा रखा है, उनका सामान्य सिद्धान्तो के साथ क्या सम्बध है। मुझे डर है कि तेजी से आगे न बढ़ पाने के कारण उन्हें कुछ निराशा होगी।

यह एक ऐसी कठिनाई है, जिसे दूर करना मेरी शक्ति के बाहर है। म तो केवल इतना ही कर सकता हू कि जिन पाठकों को सत्य की खोज करने की धुन है, उनको पहले से चेतावनी देकर आने वाली कठिनाई का सामना करने के लिये तैयार कर दू। विज्ञान का कोई सीधा और सपाट राजमार्ग नहीं है, और उसकी प्रकाशमान चोटियों तक पहुचने का केवल उन्हीं को अवसर प्राप्त हो सकता है, जो उसके ढालू रास्तो की थका देने वाली चढाई से नहीं डरते।

प्रिय नागरिक,

विश्वास करें

कि म हू

आपका स्नेही

कार्ल मार्क्स

लन्दन, १८ मार्च १८७२।

1171
3/4/2001

फ्रासीसी सस्करण का परिशिष्ट

मि० जे० रोय ने एक ऐसा सस्करण तयार करने का बीडा उठाया था, जो अधिक से अधिक सही हो और यहा तक कि जिसमें मूल का अक्षरश अनुवाद किया गया हो, और उन्होने यह काम बडी सतर्कता के साथ पूरा किया है। लेकिन उनकी इसी सतर्कता ने मुझे उनके पाठ में कुछ तबदीलियाँ करने के लिये मजबूर कर दिया है, ताकि यह ज्यादा आसानी से पाठक की समझ में आ सके। ये तबदीलिया कभी-कभी जल्दी में की जाती थीं, क्योंकि किताब भागो में प्रकाशित हो रही थी, और चूकि सब तबदीलियो में बराबर सतर्कता नहीं बरती गयी, इसलिये लाजिमी तौर पर उनका यह नतीजा हुआ कि शैली में ऊबडखाबडपन आ गया।

पुस्तक को दोहराने का काम एक बार हाथ में लेने पर म मूल पाठ (दूसरे जमन सस्करण) को भी दोहराने लगा, ताकि कुछ युक्तियो को और अधिक सरल बना दू, दूसरी कुछ युक्तिया को और पूर्ण कर दू, कुछ नयी ऐतिहासिक सामग्री या नये आकडे शामिल कर दू और कुछ आलोचनात्मक टिप्पणिया जोड दू, इत्यादि। इसलिये इस फ्रासीसी सस्करण में साहित्यिक दोष चाहे जसे रह गये हो, इसका मूल सस्करण से स्वतत्र वज्ञानिक महत्त्व है और इसे उन पाठको को भी देखना चाहिये, जो जमन सस्करण से परिचित ह।

नीचे म दूसरे जमन सस्करण के परिशिष्ट के उन अशो को दे रहा हू, जिनमें जमनी में अथशास्त्र के विकास और मेरी इस रचना में प्रयोग की गयी पद्धति की चर्चा की गयी है।

कार्ल मार्क्स

लदन, २८ अप्रल १८७५।

तीसरे जर्मन सस्करण की भूमिका

इस तीसरे सस्करण को प्रेस के लिये खुद तैयार करना मार्क्स के भाग्य में नहीं था। उस शक्तिशाली विचारक की, जिसकी महानता के सामने अब उसके विरोधी तक शीश नवाते ह, १४ मार्च १८८३ को मृत्यु हो गयी।

मार्क्स की मृत्यु से मने अपना सबसे अच्छा, सबसे सच्चा और चालीस वष पुराना मित्र खो दिया। यह मेरा ऐसा मित्र था, जिसका मुझपर इतना ऋण है, जिसे शब्दो में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसकी मृत्यु के बाद इस तीसरे सस्करण के और साथ ही उस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन की देखरेख करने की जिम्मेदारी मुझपर आयी, जिसे मार्क्स हस्तलिपि के रूप में छोड गये थे। अब मुझे यहा पाठक को यह बताना है कि इस जिम्मेदारी के पहले हिस्से को मने किस ढग से पूरा किया है।

मार्क्स का शुरू में यह इरादा था कि प्रथम खण्ड के अधिकतर भाग को फिर से लिख डाले, वह बहुत से सैद्धान्तिक नुक्तो को ज्यादा सही ढग से पेश करना चाहते थे, कुछ नये नुक्ते जोडना और नवीनतम ऐतिहासिक सामग्री तथा आकडे शामिल करना चाहते थे। परन्तु उनकी बीमारी ने और द्वितीय खण्ड का जल्द से जल्द अन्तिम सम्पादन करके उसे तैयार कर देने की आवश्यकता ने उनको यह योजना त्याग देने पर मजबूर कर दिया। तय हुआ कि महज बहुत ही जरूरी तबदीलिया की जायें और केवल वे ही नये अश जोडे जायें, जो फ्रासीसी सस्करण (*"Le Capital"* Par Karl Marx Paris, Lachatre, 1873) में पहले ही मौजूद ह।

मार्क्स जो किताबें छोड गये हैं, उनमें 'पूजी' की एक जर्मन प्रति थी, जिसे उन्होने खुद जहा-तहा सही किया था और जिसमें फ्रासीसी सस्करण के हवाले भी दिये थे, उसके साथ साथ उन किताबो में एक फ्रासीसी प्रति भी थी, जिसमें उन्होने ठीक उन अशो को इगित किया था, जिनको इस्तेमाल करने की आवश्यकता थी। कतिपय अपवादो को छोडकर ये सारे परिवतन और मूल पाठ में जोडे गये नये अश पुस्तक के केवल उस आखिरी (अग्रेजी सस्करण के उपान्त्य) भाग तक ही सीमित ह, जिसका शीर्षक है 'पूजी का सचय'। यहा पहले वाली पाठ्य सामग्री दूसरी सभी जगहो की तुलना में मौलिक मसविदे के अधिक अनुरूप थी, जब कि उसके पहले वाले हिस्सो को ज्यादा ध्यान देकर दोहराया जा चुका था। इसलिये इस आखिरी हिस्से की शैली अधिक सजीव और जैसे कि एक ही साचे में ढाली गयी लगती थी, लेकिन साथ ही उससे कुछ ज्यादा लापरवाही भी झलकती थी, उसमें अग्रेजी मुहावरे और प्रयोग छाये हुए थे और अनेक स्थानो पर भाषा अस्पष्ट हो गयी थी, जहा-तहा लगता था कि दलीलो को पेश करने में जसे कुछ छूट गया है और कुछ महत्त्वपूर्ण बातो की तरफ इशारा भर करके छोड दिया गया है।

जहा तक शली का सम्बध है, कुछ अनुभागो के टुकडो को मार्क्स ने खुद अच्छी तरह दोहरा दिया था, और इस प्रकार तथा अनेक जबानी सुझावो के जरिये भी वह मुझे यह बता गये थे कि अग्रेजी के पारिभाषिक शब्दो तथा अन्य अग्रेजी मुहावरो और प्रयोगो को पुस्तक से निकालने में म कितनी दूर तक छूट ले सकता हू। मार्क्स खुद यह काम करते, तो नये जोडे हुए अशो और पूरक सामग्री को हर हालत में दोहराते और साफ-सुथरी फ्रासीसी को अपनी नपी-तुली जमन से बदल देते। लेकिन मुझे इन अशो को जमन सस्करण में जोडते समय केवल इतने से ही सतोष कर लेना पडा कि उनका मूल पाठ के साथ अधिक से अधिक ताल-मेल बठा दू।

इस प्रकार, इस तीसरे सस्करण में मने एक शब्द भी उस वक्त तक नहीं बदला है, जब तक कि मुझे यह विश्वास नहीं हो गया कि मार्क्स खुद भी उसे जरूर बदल देते। *"Das Kapital"* में उस ऊलजलूल शब्दावली को लाने की बात तो मै कभी सोच ही नहीं सकता था, जिनका आजकल बहुत चलन है और जिसे इस्तेमाल करने का जमन अथशास्त्रियो को बहुत शौक है,— इस गपड सपड बोली में, मिसाल के लिये, जो आदमी दूसरो को नकद पसे देकर उन्हें अपना श्रम देने के लिये मजबूर करता है, वह श्रम-दाता (Arbeit*geber*) कहलाता है, और मजदूरी के एवज में जिसका श्रम उससे छीन लिया जाता है, उसे श्रम ग्रहीता (Arbeit*nehmer*) कहा जाता है। फ्रासीसी भाषा में भी "travail" शब्द रोजमर्रे के जीवन में "रोजी" के अथ में इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन यदि कोई अथशास्त्री पूजीपति को donneur de travail (श्रम दाता) या मजदूर को receveur de travail (श्रम ग्रहीता) कहने लगे, तो फ्रास के लोग उसे पागल समझेंगे और ठीक ही ऐसा समझेंगे।

अग्रेजी सिक्को और मुद्राओ तथा मापो और वजनो को, जिनको पूरी किताब में इस्तेमाल किया गया है, उनके सम-मूल्य नये जमन सिक्को और मुद्राओ तथा मापो और वजनो में बदल देने की भी मने आजादी नहीं ली है। जिस समय पहला सस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय जमनी में इतने प्रकार की मापें और वजन इस्तेमाल किये जाते थे, जितने कि साल में दिन होते ह, इसके अलावा, मार्क भी दो तरह के थे (उस समय राइखसमार्क केवल जेतबेर की कल्पना में ही मौजूद था, जिसने कि चौथे दशक के अन्त में उसका आविष्कार किया था), गुल्डन दो तरह के थे और टालर कम से कम तीन तरह के थे, जिनमें से एक neues Zweidrittel (नयी दो तिहाई) कहलाता था। प्राकृतिक विज्ञानो में दशमिक प्रणाली का चलन था, दुनिया की मण्डी में अग्रेजी मापें और वजन चलते थे। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसी किताब में अग्रेजी माप की इकाइयो का प्रयोग करना बिल्कुल स्वाभाविक था, जिसे लगभग सब के सब तथ्य सम्बधी प्रमाण केवल ब्रिटेन के औद्योगिक सम्बधो से लेने पडे थे। यह आखिरी कारण आज भी निर्णायक महत्त्व रखता है, खास तौर पर इसलिये कि दुनिया की मण्डी के तत्सम्बन्धी सम्बधों में बहुत कम परिवतन हुआ है और मुख्य उद्योगो पर—यानी लोहे तथा कपास के उद्योगो पर— आज भी अग्रेजी वजनों और मापो का ही लगभग एकच्छत्र अधिकार है।

अन्त में कुछ शब्द मार्क्स-द्वारा उद्धरणों का प्रयोग करने की कला के सम्बध में कह भी दिये जायें। इसे लोगो ने बहुत कम समझा है। जब उद्धरणो में केवल तथ्यो का विवरण या किसी चीज का वणन मात्र होता है, जसे कि, मिसाल के लिए, इगलड के सरकारी प्रकाशनो के उद्धरणो में, तब, जाहिर है, उनको केवल लिखित प्रमाण के रूप में इस्तेमाल किया गया है। लेकिन जब दूसरे अथशास्त्रियों के सद्धान्तिक विचारों को उद्धृत किया जाता है, तब ऐसा नहीं

Das Kapital.

Kritik der politischen Oekonomie.

Von

Karl Marx.

Erster Band

Buch I: Der Produktionsprocess des Kapitals

Hamburg

Verlag von Otto Meissner

1867

New York: L. W. Schmidt. 24 Barclay Street.

पूजी, खण्ड १, के पहले जर्मन सस्करण का आवरण पत्र
(चित्र मे आकार छोटा कर दिया गया है)

होता। वहा उद्धरण का उद्देश्य केवल यह बताना होता है कि विकास के दौरान में अमुक आर्थिक विचार की स्पष्ट रूप में सबसे पहले किसने, कहा और कब स्थापना की थी। ऐसे उद्धरण को चुनते समय केवल इसी बात को ध्यान में रखा गया है कि वह उद्धरण जिस आर्थिक धारणा से सम्बध रखता है, उसका इस विज्ञान के इतिहास के लिये कुछ महत्त्व हो और वह अपने काल की आर्थिक परिस्थिति को सैद्धान्तिक रूप में कमोबेश पर्याप्त ढग से व्यक्त करती हो। लेकिन इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि लेखक के दृष्टिकोण से इस धारणा में आज भी कोई निरपेक्ष अथवा सापेक्ष सचाई है या वह एकदम गुजरे हुए इतिहास की चीज बन गयी है। अतएव, ये उद्धरण केवल मूल पाठ की धारावाहिक टीका का काम करते ह, जो टीका आर्थिक विज्ञान के इतिहास से उधार ली गयी है, और आर्थिक सिद्धात के क्षेत्र में उठाये गये प्रगति के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण कदमो की तारीखो को तथा उनके आविष्कारको के नामो को निश्चित करते ह। यह करना उस विज्ञान के लिये अत्यन्त आवश्यक था, जिसके इतिहासकारो ने अभी तक केवल अपने पक्षपातपूर्ण अज्ञान के लिये ही नाम कमाया है, जो कि पदलोलुपो का गुण होता है। और इससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिये कि दूसरे सस्करण के परिशिष्ट के अनुसार मार्क्स को क्यो केवल कुछ अत्यन्त असाधारण प्रसगो में ही जर्मन अर्थशास्त्रियो को उद्धृत करने की आवश्यकता पडी थी।

आशा है कि द्वितीय खण्ड १८८४ के दौरान में प्रकाशित हो जायेगा।

फ्रेडरिक एगेल्स

लदन, ७ नवम्बर १८८३।

अंग्रेज़ी संस्करण की भूमिका

"Das Kapital" ('पूंजी') के एक अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन की कोई सफाई देने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, इस बात की सफाई की आशा की जा सकती है कि इस अंग्रेज़ी संस्करण में इतनी देर क्यों हो गयी, जब कि इस पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनकी इंगलैण्ड और अमरीका, दोनों देशों के सामयिक प्रकाशनों तथा तत्कालीन साहित्य में पिछले कुछ वर्षों से लगातार चर्चा हो रही है, आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है, उनके तरह-तरह अर्थ लगाये जा रहे हैं और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है।

१८८३ में इस पुस्तक के लेखक की मृत्यु हो गयी। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि इसके एक अंग्रेज़ी संस्करण की सचमुच आवश्यकता है। तब मि० सेम्युअल मूर ने, जो अनेक वर्षों तक मार्क्स तथा इन पंक्तियों के लेखक के मित्र रहे हैं और जिनसे अधिक शायद और किसी को इस पुस्तक की जानकारी नहीं है, उस अनुवाद की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर ले ली, जिसे मार्क्स की साहित्यिक वसीयत के प्रबंधक जनता के सामने पेश करने के लिये उत्सुक थे। ख़याल यह था कि अनुवाद की हस्तलिपि को मैं मूल रचना से मिला कर देख लूंगा और यदि मुझे कोई परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होंगे, तो अनुवादक को बता दूंगा। जब धीरे धीरे यह मालूम हुआ कि मि० मूर अपने पेशे के कामधाम के कारण उतनी जल्दी अनुवाद ख़तम नहीं कर पा रहे हैं, जितनी जल्दी हम सब लोग चाहते थे, तो हमने डॉ० एवलिंग का यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया कि काम का एक भाग वह निमटा दें। साथ ही मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री श्रीमती एवलिंग ने यह तत्परता प्रकट की कि वह उद्धरणों को देख लेंगी कि सब ठीक हैं या नहीं, और मार्क्स ने अंग्रेज़ी भाषा के लेखकों तथा सरकारी प्रकाशनों से जो अनेक अंश लिये हैं तथा जिनको उन्होंने जर्मन भाषा में उल्था करके अपनी पुस्तक में इस्तेमाल किया है, उनका मूल अंग्रेज़ी पाठ अनुवाद में शामिल कर देंगी। कतिपय अपरिहार्य अपवादों के सिवा पूरी पुस्तक में यह बात कर दी गयी है।

पुस्तक के निम्नलिखित हिस्सों का अनुवाद डा० एवलिंग ने किया है १) दसवां अध्याय (काम का दिन) और ग्यारहवां अध्याय (अतिरिक्त मूल्य की दर और अतिरिक्त मूल्य की राशि), २) छठा भाग (मज़दूरी, जिसमें उन्नीसवें से लेकर बाईसवें अध्याय तक शामिल हैं), ३) चौबीसवें अध्याय के चौथे अनुभाग ("अतिरिक्त मूल्य के" आदि) से पुस्तक के अंत तक, जिसमें चौबीसवें अध्याय का अंतिम हिस्सा, पच्चीसवां अध्याय और पूरा आठवां भाग (छब्बीसवें अध्याय से बत्तीसवें अध्याय तक) शामिल हैं, ४) लेखक की दो प्रस्तावनाएं। बाकी पूरी पुस्तक का अनुवाद मि० मूर ने किया है। इस प्रकार, जहां प्रत्येक अनुवादक केवल अपने अपने हिस्से के काम के लिये ज़िम्मेदार है, वहां मुझपर पूरे अनुवाद की संयुक्त ज़िम्मेदारी है।

इस अनुवाद में हमने जिस तीसरे जर्मन संस्करण को बराबर अपना आधार बनाया है, उसे मने, लेखक जो नोट छोड गये थे, उनकी मदद से १८८३ में तयार किया था। इन नोटो में मार्क्स ने बताया था कि दूसरे सस्करण के किन अशो को १८७३ में प्रकाशित फ्रासीसी सस्करण[1] के किन अशो से बदल दिया जाये। इस प्रकार दूसरे सस्करण के पाठ में जो परिवतन किये गये, वे आम तौर पर उन परिवतनो से मेल खाते थे, जिनके बारे में मार्क्स कुछ हस्तलिखित हिदायतें छोड गये ह। ये हिदायतें उन्होने उस अग्रेजी अनुवाद के सम्बध में दी थीं, जिसकी योजना लगभग दस वष पहले अमरीका में बनायी गयी थी, मगर जिसका विचार मुख्यतया एक योग्य और समथ अनुवादक के अभाव के कारण बाद में छोड दिया गया था। इन हिदायतो की हस्तलिपि हमें अपने पुराने मित्र, होबोकेन, न्यूजर्सी, के निवासी मि० एफ० ए० जोर्गे से प्राप्त हुई थी। उसमें फ्रासीसी सस्करण से कुछ और अश लेने की भी बात थी, मगर चूकि ये हिदायतें मार्क्स की उन आखिरी हिदायतो से बहुत पुरानी थीं, जो वह तीसरे सस्करण के लिये छोड गये थे, इसलिये मने यह उचित नहीं समझा कि कुछ खास अशो को छोडकर म आम तौर पर उनका इस्तेमाल करू। खास तौर पर मने उन जगहो पर इन हिदायतो का इस्तेमाल किया है, जहा उनसे कुछ कठिनाइयो को हल करने में मदद मिली है। इसी प्रकार अधिकतर कठिन अशो के सम्बध में फ्रासीसी पाठ से भी यह मालूम करने में मदद ली गयी है कि अनुवाद करने में जहा कहीं मूल पाठ के सम्पूण अथ का एक अश छोड देना जरूरी हुआ है, वहा खुद लेखक क्या छोड देना उचित समझते थे।

किन्तु एक कठिनाई ऐसी है, जिससे हम पाठक को नहीं बचा सके। इस पुस्तक में कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग ऐसे अर्थों में हुआ है, जो न केवल साधारण जीवन, बल्कि साधारण अथशास्त्र के अर्थों से भी भिन्न ह। लेकिन इस कठिनाई से बचना सम्भव न था। किसी भी विज्ञान का जब कोई नया पहलू सामने आता है, तो उस विज्ञान के परिभाषिक शब्दो में भी एक इनकिलाब हो जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण रसायन विज्ञान है, जिसमें लगभग हर बीस साल के बाद पूरी शब्दावली एक बार मौलिक रूप से बदल जाती है और जिसमें शायद ही आपको एक भी ऐसा कार्बनिक यौगिक मिलेगा, जिसका नाम अभी तक अनेक बार न बदल चुका हो। अथशास्त्र ने आम तौर पर व्यापारिक एव औद्योगिक जीवन के पारिभाषिक शब्दो को ज्यो का त्यो इस्तेमाल करके सतोष कर लिया है। वह यह देखने में बिलकुल असमथ रहा है कि ऐसा करके उसने अपने आपको उन विचारो के सकुचित दायरे में बन्द कर लिया है, जिनको ये पारिभाषिक शब्द व्यक्त करते ह। इस प्रकार, यह बात अच्छी तरह स्पष्ट होते हुए भी कि मुनाफा और लगान दोनो ही मजदूर की पदावार के उस हिस्से के टुकडे या अश मात्र ह, जिसकी उसे उजरत नहीं मिलती और जिसको उसे अपने मालिक को दे देना पडता है (क्योंकि सबसे पहले उसका मालिक उसे पाता है, हालाकि वह उसका अतिम और एकमात्र स्वामी नहीं रहता), फिर भी प्रामाणिक अथशास्त्र मुनाफे और लगान की दूसरो से ली हुई इन परिकल्पनाओ से कभी आगे नहीं बढ़ा और उसने पदावार के इस हिस्से पर, जिसकी मजदूर

---

[1] *Le Capital*, par Karl Marx Traduction de M J Roy entierement revisee par l auteur Paris Lachatre इस अनुवाद मे, खासकर पुस्तक के बाद वाले हिस्से मे, दूसरे जमन सस्करण के पाठ म काफी परिवतन कर दिये गये है और कुछ नये अश जोड दिये गये है।

CAPITAL:

A CRITICAL ANALYSIS OF CAPITALIST PRODUCTION

BY KARL MARX

TRANSLATED FROM THE THIRD GERMAN EDITION BY SAMUEL MOORE AND EDWARD AVELING

AND EDITED BY

FREDERICK ENGELS

VOL. I

LONDON
SWAN SONNENSCHEIN LOWREY & CO,
PATERNOSTER SQUARE.
1887

पूजी के पहले अग्रेजी सस्करण का मुखपृष्ठ

की कोई उजरत नहीं मिलती (और जिसे मार्क्स ने अतिरिक्त पैदावार का नाम दिया है), उसकी सम्पूर्ण अखण्डता में कभी विचार नहीं किया। इसलिये वह न तो कभी उसकी उत्पत्ति के रहस्य तथा उसके स्वरूप को साफ साफ समझ पाया और न ही उन नियमो को, जिनके अनुसार बाद को इस हिस्से के मूल्य का वितरण होता है। इसी प्रकार, खेती और दस्तकारी को छोडकर बाकी सारे उद्योग धधो को, बिना किसी भेद-भाव के हस्तनिर्माण शब्द में शामिल कर लिया जाता है और इस तरह आर्थिक इतिहास के दो बडे और बुनियादी तौर पर भिन्न युगो का सारा अतर खतम कर दिया जाता है। ये दो काल है एक तो खास हस्तनिर्माण का काल, जो हाथ के श्रम के विभाजन पर आधारित था, और दूसरा आधुनिक उद्योगो का काल, जो मशीनो पर आधारित है। इसलिये जाहिर है कि जो सिद्धात आधुनिक पूजीवादी उत्पादन को मनुष्य-जाति के आर्थिक इतिहास की एक अस्थायी अवस्था मात्र समझता है, उसका काम उन पारिभाषिक शब्दो से नहीं चल सकता, जिनको वे लेखक इस्तेमाल करने के आदी है, जो उत्पादन के इस रूप को अजर अमर और अतिम समझते है।

दूसरी रचनाओ के अश उद्धृत करने का लेखक ने जो ढग अपनाया है, दो शब्द उसके बारे में कह देना अनुचित न होगा। जसा कि साधारण चलन है, अधिकतर स्थानो पर उद्धरण मूल पाठ में दी गयी स्थापनाओ के समथन में लिखित साक्ष्य प्रस्तुत करने का काम करते है। लेकिन अनेक ऐसे स्थान भी है, जहा अथशास्त्र के लेखको के उद्धरण यह इगित करने के लिये दिये गये है कि कोई स्थापना सबसे पहले किसने, कहा और कब स्पष्ट रूप में की थी। ऐसे उद्धरण उन स्थानो में दिये गये है, जहा उद्धृत स्थापना इसलिये महत्त्व रखती है कि वह अपने काल की सामाजिक उत्पादन एव विनिमय की परिस्थितियो को कमोबेश पर्याप्त रूप में व्यक्त करती थी। मार्क्स उस स्थापना को आम तौर पर सही समझते थे या नहीं, इसका उसे उद्धृत करने के सिलसिले में कोई महत्त्व नहीं है। इस तरह, इन उद्धरणो के रूप में मूल पाठ के साथ-साथ विज्ञान के इतिहास से ली गयी एक धारावाहिक टीका भी मिल जाती है।

हमारे इस अनुवाद में इस ग्रथ का केवल प्रथम खण्ड ही आया है। लेकिन यह प्रथम खण्ड बहुत अश तक अपने में सम्पूर्ण है और बीस साल से एक स्वतत्र रचना माना जाता था। द्वितीय खण्ड मने जमन भाषा में सम्पादित करके १८८५ में प्रकाशित किया था, लेकिन यह निश्चय ही तृतीय खण्ड के बिना अपूर्ण है, और तृतीय खण्ड १८८७ के खत्म होने के पहले प्रकाशित नहीं हो सकता। जब तृतीय खण्ड मूल जमन में प्रकाशित हो जायेगा, तब इन दोनो खण्डो का अग्रेजी सस्करण तयार करने की बात सोचने का समय आयेगा।

योरप में *"Das Kapital"* को अक्सर "मजदूर वर्ग की बाइबिल" कहा जाता है। जिसे मजदूर आदोलन की जानकारी है, वह इस बात से इनकार नहीं करेगा कि यह पुस्तक जिन निष्कर्षों पर पहुची है, वे न केवल जमनी और स्वीटजरलण्ड में, बल्कि फ्रास, हालण्ड, बेल्जियम, अमरीका में और यहा तक कि इटली और स्पेन में भी दिन प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्ट रूप में इस महान आदोलन के बुनियादी सिद्धात बनते जा रहे है और हर जगह मजदूर-वग में इस बात की अधिकाधिक समझ पदा होती जा रही है कि उसकी हालत तथा उसकी आशाए आकाक्षाए सबसे अधिक पर्याप्त रूप में इस पुस्तक के निष्कर्षों में व्यक्त हुई है। और इगलण्ड में भी मार्क्स के सिद्धात इस समय भी उस समाजवादी आदोलन पर सशक्त प्रभाव डाल रहे है, जो "सुसस्कृत" लोगों में मजदूर-वर्ग से कम तेजी से नहीं फल रहा है।

लेकिन बात इतनी ही नहीं है। वह समय तेजी से नजदीक आ रहा है, जब इगलण्ड की

आर्थिक स्थिति का गहरा अध्ययन एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में अनिवार्य हो जायेगा। उत्पादन का और इसलिये मंडियो का भी लगातार और तेजी के साथ विस्तार किये बिना इस देश की औद्योगिक व्यवस्था का काम करना असम्भव है, और इसलिये यह व्यवस्था एकदम ठप होती जा रही है। स्वतंत्र व्यापार अपने साधनो को समाप्त कर चुका है, यहां तक कि मानचेस्टर को भी अपने इस भूतपूर्व आर्थिक धर्मशास्त्र में सन्देह पदा हो गया है[1]। अंग्रेजी उत्पादन को हर जगह, न सिर्फ रक्षित मंडियो में, बल्कि तटस्थ मंडियों में भी, और यहा तक कि इंगलिश चैनेल के इस तरफ भी, तेजी से विकसित होते हुए विदेशी उद्योगो का सामना करना पड रहा है। उत्पादक शक्ति की जहा गुणोत्तर अनुपात में वृद्धि होती है, वहा मण्डियो का विस्तार अधिक से अधिक समानान्तर अनुपात में होता है। ठहराव, समृद्धि, अति-उत्पादन और संकट का दसवर्षीय चक्र, जो १८२५ से १८६७ तक बारम्बार आता रहा, वह तो अब सचमुच समाप्त हो गया मालूम होता है, लेकिन वह हमें महज एक स्थायी और चिरकालिक मन्दी की निराशा के दलदल में धकेल गया है। समृद्धि के जिस काल की आहें भर-भर कर याद की जा रही है, वह अब नहीं आयेगा। हम जितनी बार उसकी सूचना देने वाले चिन्हो की अनुभूति सी करते हैं, उतनी ही बार वे चिन्ह फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं। इस बीच हर बार, जब जाडे का मौसम आता है, तो यह गम्भीर सवाल नये सिरे से उठ खडा होता है कि "बेकारो का क्या किया जाये?"। बेकारो की संख्या तो हर वर्ष बढ़ती जाती है, पर इस सवाल का जवाब देने वाला कोई नहीं मिलता, और अब हम उस क्षण का लगभग सही अनुमान लगा सकते है, जब बेकारो का धैर्य समाप्त हो जायेगा और वे अपने भाग्य का खुद निर्णय करने के लिए उठ खडे होगे। ऐसे क्षण में उस आदमी की आवाज निश्चय ही सुनी जानी चाहिए, जिसका पूरा सिद्धान्त इंगलण्ड के आर्थिक इतिहास तथा दशा के आजीवन अध्ययन का परिणाम है और जो इस अध्ययन के आधार पर इस नतीजे पर पहुचा था कि कम से कम योरप में इंगलण्ड ही एकमात्र ऐसा देश है, जहा वह सामाजिक क्रांति, जिसका होना अनिवार्य है, सर्वथा शांतिपूर्ण और कानूनी उपायों के द्वारा हो सकती है। इसके साथ-साथ वह आदमी निश्चय ही यह जोडना कभी नहीं भूला था कि शायद ही यह आशा की जा सकती है कि अंग्रेज शासक वर्ग बिना एक "दासता-समर्थन विद्रोह" का संगठन किये इस शांतिपूर्ण एवं कानूनी क्रांति के सामने आत्म-समर्पण कर देंगे।

फ्रेडरिक एंगेल्स

५ नवम्बर १८८६।

[1] आज तीसरे पहर मानचेस्टर के चेम्बर आफ कामर्स की त्रैमासिक बैठक हुई। उसमे स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न पर गरम बहस हुई। एक प्रस्ताव पेश किया गया, जिसमे कहा गया था कि "४० वर्ष तक इस बात की वृथा प्रतीक्षा कर चुकने के बाद कि दूसरे राष्ट्र भी स्वतंत्र व्यापार के मामले मे इंगलैण्ड का अनुकरण करेगें, चेम्बर समझता है कि अब इस मत पर पुनर्विचार करने का समय आ गया है"। प्रस्ताव ठुकरा दिया गया, पर केवल एक मत के आधिक्य से उसके पक्ष में २१ और विपक्ष मे २२ मत पडे। *Evening Standard*, १ नवम्बर १८८६।

चौथे जर्मन सस्करण की भूमिका

चौथे सस्करण के लिये जरूरी था कि म जहा तक सम्भव हो, मूल पाठ और फुटनोट दोनो का अतिम रूप तयार कर दू। नीचे दिये हुए सक्षिप्त स्पष्टीकरण से मालूम हो जायेगा कि मैंने यह काम किस ढग से पूरा किया है।

फ्रासीसी सस्करण तथा मार्क्स की हस्तलिखित हिदायतो को एक बार फिर मिलाने के बाद मने फ्रासीसी अनुवाद से कुछ और अश लेकर जमन पाठ में जोड दिये हैं। ये अश पृ० ८० (तीसरे सस्करण का पृ० ८८) (वत्तमान सस्करण के पृ० १३०-३२), पृ० ४५८ ६० (तीसरे सस्करण के पृ० ५०९-१०) (वत्तमान सस्करण के पृ० ५५५-५६)*, पृ० ५४७-५१ (तीसरे सस्करण का पृ० ६००) (वत्तमान सस्करण के पृ० ६५६-५६), पृ० ५६१ ६३ (तीसरे सस्करण का पृ० ६४४) (वत्तमान सस्करण के पृ० ७०२-०४) और पृ० ५६६ (तीसरे सस्करण का पृ० ६४८) (वर्त्तमान सस्करण का पृ० ७०७) के नोट १ में मिलेंगे। फ्रासीसी और अग्रेजी सस्करणो का अनुकरण करते हुए मैंने खान-मजदूरो से सम्बधित लम्बा फुटनोट मूल पाठ में शामिल कर दिया है (तीसरे सस्करण के पृ० ५०६ १५, चौथे सस्करण के पृ० ४६१-६७) (वत्तमान सस्करण के पृ० ५५६-६६)। इसके अलावा जो और छोटे छोटे परिवतन किये गये हैं, वे सवथा प्राविधिक ढग के ह।

इसके अलावा मने कुछ नये व्याख्यात्मक फुटनोट जोड दिये ह, खासकर उन स्थलो पर, जहा वे बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण आवश्यक प्रतीत होते थे। इन तमाम नये फुटनोटो को बडे कोष्ठो में बद कर दिया गया है और उनके साथ या तो मेरे सक्षिप्त हस्ताक्षर ह या "डी० एच०" छपा है।**

इस बीच अग्रेजी सस्करण के प्रकाशन के फलस्वरूप बहुत से उद्धरणो को नये सिरे से दोहराना आवश्यक हो गया था। इस सस्करण के लिये मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री एलियेनोर ने तमाम उद्धरणो को उनके मूल पाठ से मिलाने की जिम्मेदारी ली थी, ताकि अग्रेजी प्रकाशनो से लिये गये उद्धरण, जिनकी सख्या सबसे अधिक है, अग्रेजी सस्करण में जमन भाषा से पुन अनुवाद करके न दिये जायें, बल्कि अपने मूल अग्रेजी रूप में दिये जायें। इसलिये चौथा सस्करण तयार करते समय मेरे लिये अग्रेजी सस्करण को देखना जरूरी हो गया। मिलान करने पर अनेक छोटी-छोटी अशुद्धियों का पता चला। कई जगहो पर गलत पृष्ठो का हवाला दिया गया था, जिसका कारण कुछ तो यह है कि नोट-बुको से नकल करते समय गलतिया हो

*१८८७ के अग्रेजी सस्करण म यह अश खुद एगेल्स ने जोड दिया था।—सम्पा०

**वत्तमान सस्करण मे ये बडे कोष्ठो म बन्द कर दिये गये हैं और उनके साथ 'फ्रे० ए०" छपा है।—सम्पा०

गयी थीं, और कुछ यह कि तीन संस्करणो की छापे की गलतिया भी एक साथ जमा हो गयी थीं, उद्धरण चिह्न या छोडे हुए अंश को इंगित करने वाले चिह्न ग़लत स्थानो पर लग गये थे,– जब नोट-बुकों में उतारे हुए अवतरणो में से बहुत से उद्धरणो की नकल की जाती है, तब इस तरह की ग़लतियो से नहीं बचा जा सकता, जहा-तहा किसी शब्द का कुछ भद्दा अनुवाद हो गया था। कुछ अंश १८४३-४५ की पुरानी, पेरिस वाली नोट-बुको से उद्धृत किये गये थे। उस जमाने में मार्क्स अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेज अर्थशास्त्रियो की रचनाओ का फ्रासीसी अनुवाद पढा करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि दोहरा अनुवाद होने के फलस्वरूप उद्धरणो के अर्थ में कुछ हल्का सा परिवर्तन हो गया। उदाहरण के लिये, स्टुअर्ट, उरे आदि के उद्धरणो के साथ यही हुआ। अब उनका अंग्रेजी पाठ इस्तेमाल करना जरूरी था। इसी प्रकार की छोटी छोटी अशुद्धियो या लापरवाही के और भी उदाहरण थे। लेकिन जो कोई भी चौथे संस्करण को पहले के संस्करण से मिलाकर देखेगा, वह पायेगा कि बडी मेहनत से की गयी इन तमाम तबदीलियो से किताब में कोई छोटा सा भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। केवल एक उद्धरण ऐसा था, जिसके मूल का पता नहीं लगाया जा सका। वह रिचर्ड जोन्स (चौथे संस्करण के पृ० ५६२ पर नोट ४७) का उद्धरण था। मार्क्स शायद पुस्तक का नाम लिखने में भूल कर गये हो।* बाकी तमाम उद्धरणो की प्रभावशीलता ज्यो की त्यो है या उनका वर्त्तमान रूप पहले से अधिक सही होने के कारण उनकी प्रभावशीलता और बढ गयी है।

लेकिन यहा मेरे लिये एक पुरानी कहानी दोहराना आवश्यक है।

मुझे केवल एक उदाहरण मालूम है, जब कि मार्क्स के दिये हुए किसी उद्धरण की विशुद्धता पर किसी ने सन्देह प्रकट किया है। लेकिन यह सवाल चूकि उनके जीवन काल के बाद भी उठता रहा है, इसलिये मै यहा उसकी अवहेलना नहीं कर सकता।

७ मार्च १८७२ को जर्मन कारखानेदारो के संघ के मुखपत्र, बर्लिन के *"Concordia"* में एक गुमनाम लेख छपा, जिसका शीर्षक था 'कार्ल मार्क्स कैसे उद्धरण देते है'। इस लेख में नैतिक क्रोध और असंसदीय भाषा के बडे भारी उबाल का प्रदर्शन करते हुए कहा गया था कि १६ अप्रैल १८६३ के ग्लैडस्टन के बजट-भाषण से जो उद्धरण दिया गया है (यह उद्धरण पहले अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ के उदघाटन-वक्तव्य में इस्तेमाल किया गया था और फिर 'पूजी' के प्रथम खण्ड के चौथे संस्करण के पृ० ६१७ पर यानी तीसरे संस्करण के पृ० ६७१ पर [वर्त्तमान संस्करण के पृ० ७२६ पर] दोहराया गया था), वह झूठा है और *"Hansard"* में प्रकाशित शार्टहैण्ड द्वारा ली गयी (अर्ध-सरकारी) रिपोर्ट में निम्न वाक्य का एक शब्द भी नहीं मिलता "धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूर्णतया सीमित है।" लेख के शब्द थे "लेकिन यह वाक्य ग्लैडस्टन के भाषण में कहीं भी नहीं मिलता। उसमें इसकी ठीक उल्टी बात कही गयी है।" इसके आगे का वाक्य मोटे अक्षरो में छपा था' "यह वाक्य अपने रूप तथा सार दोनो दृष्टियो से एक ऐसा झूठ है, जिसे मार्क्स ने गढकर जोड दिया है।"

---

*मार्क्स ने पुस्तक का नाम लिखने मे गलती नही की थी, बल्कि पृष्ठ लिखने मे उनसे भूल हुई थी। ३७ के बजाय उन्होंने ३६ लिख दिया था। (देखिये वर्त्तमान संस्करण का पृ० ६७१।) – सम्पा०

"Concordia" का यह अक अगली मई में मार्क्स के पास भेजा गया, और उन्होंने इस गुमनाम लेखक को पहली जून के *"Volksstaat"* में जवाब दिया। चूकि उन्हे यह याद नहीं था कि उन्होंने किस अख़बार की रिपोट से उद्धरण लिया था, इसलिये उन्होंने एक तो दो अग्रेजी प्रकाशनो से समानार्थक उद्धरण देने और दूसरे *"The Times"* अख़बार की रिपोट का हवाला दे देने तक ही अपने को सीमित रखा। *"The Times"* की रिपोट के अनुसार ग्लडस्टन ने यह कहा था

"जहा तक इस देश के धन का सम्बध है, यह स्थिति है। मै तो अवश्य ही यह कहूगा कि यदि मुझे यह विश्वास होता कि धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, जिनकी हालत अच्छी है, तो मै इसे प्राय भय और पीडा के साथ देखता। इसमें मेहनत करने वाली आबादी की हालत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। जिस वद्धि का मने वणन किया है और जो, मेरे विचार से, सही हिसाब किताब पर आधारित है, वह एक ऐसी वृद्धि है, जो सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूणतया सीमित है।"

इस प्रकार, यहा ग्लड्स्टन ने यह कहा है कि यदि स्थिति ऐसी होती, तो उनको अफसोस होता, लेकिन स्थिति ऐसी ही है धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूणतया सीमित है। और जहा तक अर्ध सरकारी *"Hansard"* का सम्बध था, मार्क्स ने आगे लिखा "अपने भाषण पर थोडी हाथ की सफाई दिखाकर मि० ग्लड्स्टन ने बाद में उसका जो सस्करण तयार किया, उसमें से उन्होंने इस अश को गायब कर देने की चतुराई दिखायी, क्योकि इगलण्ड के एक वित्त मत्री के मुह से यदि ऐसे शब्द निकलते, तो यह निश्चय ही जोखो की बात थी। और इसी सिलसिले में हम यह भी बता दें कि इगलण्ड की ससद में इस तरह की चीज़ परम्परा से होती चली आयी है और यह कोई ऐसी तरकीब नहीं है, जिसे महज़ नन्हे लास्केर ने ही बेबेल को नीचा दिखाने के लिये ईजाद किया हो।"

गुमनाम लेखक का गुस्सा बढता ही गया। चौथी जुलाई के *"Concordia"* में उसने अपना जवाब प्रकाशित किया। उसमें उसने तमाम अन्य स्रोतो से प्राप्त होने वाले प्रमाणो को हटाकर अलग कर दिया और बडे गम्भीर ढग से यह कहा कि ससद के भाषणो को शार्टहैण्ड की रिपोर्टों से उद्धत करने का "रिवाज" है। लेकिन साथ ही उसने यह भी जोड दिया कि *"The Times"* की रिपोर्ट (जिसमें वह "झूठा, गढा हुआ" वाक्य शामिल है) और *"Hansard"* की रिपोट (जिसमें वह वाक्य छोड दिया गया है) दोनो "सार-तत्त्व की दृष्टि से एक दूसरे से बिल्कुल मेल खाती है" और *"The Times"* की रिपोर्ट में, इसी प्रकार, "उद्घाटन-वक्तव्य के उस बदनाम अश की ठीक उलटी बात कही गयी है।" यह शख्स इस बात को बडी एहतियात के साथ छिपा जाता है कि *"The Times"* की रिपोट में "उलटी बात" के साथ-साथ यह "बदनाम अश" भी साफ तौर पर शामिल है। किंतु, इस सब के बावजूद, गुमनाम व्यक्ति ने महसूस किया कि वह बुरी तरह फस गया है और अब कोई नयी तरकीब ही उसे बचा सकती है। चुनाचे, जहा उसका लेख, जसा कि हम ऊपर दिखा चुके ह, "धृष्टतापूर्ण झूठी बातों" से भरा पडा है और जहा उसमें जगह-जगह पर ऐसी शिक्षाप्रद गालियां पढने को मिलती ह, जसे "बुरा उद्देश्य", "बेईमानी", "झूठी तोहमत", "वह नक़ली उद्धरण", "धृष्टतापूण झूठी बातें", "सवथा झूठा, गढा हुआ उद्धरण", "यह झूठ",

"सरासर अनुचित" इत्यादि इत्यादि, वहा वह यह भी आवश्यक समझता है कि सवाल को एक दूसरी दिशा में मोड दे, और इसलिये वह यह वायदा करता है कि वह एक दूसरे लेख में यह बतायेगा कि "ग्लैड्स्टन के शब्दो के सार-तत्त्व का हम (यानी "धृष्टताविहीन" गुमनाम लेखक) क्या मतलब लगाते हैं।" जसे कि उसके खास मत का, जिसका कि, जाहिर है, कोई निर्णायक महत्त्व नहीं हो सकता, इस मामले से भी कोई सम्बध है! यह दूसरा लेख ११ जुलाई को *"Concordia"* में प्रकाशित हुआ।

मार्क्स ने एक बार फिर सात अगस्त के *"Volksstaat"* में जवाब दिया। इस बार उन्होंने १७ अप्रैल १८६३ के *"Morning Star"* और *"Morning Advertiser"* नामक पत्रो की रिपोर्टों के उद्धरण दिये, जिनमें यह अश मौजूद था। इन दोनो रिपोर्टों के अनुसार ग्लड्स्टन ने कहा था कि धन और शक्ति की इस वृद्धि को वह भय, आदि, के साथ देखते, यदि उनको यह विश्वास होता कि यह वृद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, जिनकी हालत अच्छी है। लेकिन, उनके कथनानुसार, यह वृद्धि सचमुच सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूणतया सीमित है । इस प्रकार, इन रिपोर्टों में भी उस वाक्य का एक-एक शब्द मौजूद था, जिसके बारे में आरोप लगाया गया था कि मार्क्स ने उसे "झूठमूठ गढकर जोड दिया है"। इसके बाद मार्क्स ने *"The Times"* और *"Hansard"* के पाठो का मिलान करके एक बार फिर यह साबित किया कि यह वाक्य, जिसके बारे में भाषण की अगली सुबह को एक दूसरे से स्वतत्र रूप से प्रकाशित होने वाले तीन अखबारो ने बिल्कुल एक सी रिपोट छापकर यह प्रमाणित कर दिया था कि वह सचमुच कहा गया था, *"Hansard"* की उस रिपोर्ट से गायब है, जिसे परम्परागत "प्रथा" के अनुसार बदल दिया गया था, और इसलिये यह बात स्पष्ट है कि उसे ग्लैडस्टन ने, मार्क्स के शब्दो में, "हाथ की सफाई दिखाकर गायब कर दिया था"। अत में मार्क्स ने कहा कि गुमनाम लेखक से अब और बहस करने के लिये उनके पास समय नहीं है। उस लेखक की, लगता है, तबीयत साफ हो गयी थी। बहर हाल *"Concordia"* का कोई और अक मार्क्स के पास नहीं पहुचा।

इसके साथ मामला खतम और दफन हो गया जसा लगा। यह सच है कि बाद को भी एक दो बार कम्ब्रिज विश्वविद्यालय से सम्पक रखने वाले कुछ व्यक्तियो से कुछ इस तरह की रहस्यमयी अफवाहें हमारे पास पहुचीं कि मार्क्स ने 'पूजी' में कोई अकथनीय साहित्यिक अपराध किया है, लेकिन तमाम छान बीन के बाद भी इससे ज्यादा निश्चित कोई बात मालूम न हो सकी। तब, मार्क्स की मृत्यु के आठ महीने बाद, २९ नवम्बर १८८३ को *"The Times'* में एक पत्र छपा, जिसके सिरनामे पर ट्रिनिटी कालेज, कैम्ब्रिज, लिखा था और जिसके नीचे सेडली टेलर के हस्ताक्षर थे। इस पत्र में इस बौने ने, जो बहुत ही साधारण ढग के सहकारी मामलो में टाग अडाया करता है, किसी न किसी आकस्मिक बहाने का आश्रय लेकर आखिर न सिफ कैम्ब्रिज की उन अस्पष्ट अफवाहो पर प्रकाश डाला, बल्कि *"Concordia'* के उस गुमनाम लेखक की जानकारी भी करवा दी।

ट्रिनिटी कालेज के इस बौने ने लिखा "जो बात बहुत ही अजीब मालूम होती है, वह यह है कि मि० ग्लैडस्टन के भाषण को (उद्घाटन-) वक्तव्य में उद्धृत करने के पीछे स्पष्ट ही जो दुर्भावना छिपी थी, उसका भण्डाफोड करने की जिम्मेदारी प्रोफेसर ब्रेंतानो (जो कि उस वक्त ब्रेस्लौ विश्वविद्यालय में थे और आजकल स्ट्रास्सबुर्ग विश्वविद्यालय में ह) के कधो पर जाकर पडी। हेर काल मार्क्स ने उद्धरण को सही सिद्ध करने की कोशिश की।

पर ब्रेतानो ने इस उस्तादी के साथ उनपर धावा बोला था कि उन्हे बार-बार पतरा बदलना पडा था और उनकी जान पर बन आयी थी। इस परिस्थिति में हेर कार्ल मार्क्स ने यह कहने की धृष्टता की कि मि० ग्लैडस्टन ने १७ अप्रैल १८६३ के *"The Times"* में प्रकाशित अपने भाषण की रिपोर्ट पर उसके *"Hansard"* में प्रकाशित होने के पहले हाथ की सफाई का प्रयोग किया था और एक ऐसे अश को उससे ग़ायब कर दिया था, जो इगलण्ड के एक वित्त-मत्री के लिये सचमुच जोखो की बात थी। ब्रेतानो ने *"The Times"* तथा *"Hansard"* में प्रकाशित रिपोर्टों के पाठ का सूक्ष्मता से मिलान करके यह साबित किया कि इन रिपोर्टों में यह समानता है कि उपर्युक्त उद्धरण को चालाकी के साथ सदर्भ से अलग करके मि० ग्लैडस्टन के शब्दो को जो अर्थ पहना दिये गये थे, उनकी इन दोनो ही रिपोर्टों में कोई गुजायश नहीं है। तब मार्क्स ने "समय के अभाव" का बहाना बना करके बहस जारी रखने से इनकार कर दिया।"

सो इस पूरे मामले की तह में यह बात थी! और *"Concordia"* के जरिये चलाया गया हेर ब्रेतानो का वह गुमनाम आदोलन कम्ब्रिज की उत्पादक सहकारी कल्पना में इस शानदार रूप में प्रतिबिम्बित हुआ था। जर्मन उद्योगपतियो के सघ के इस सत जाज ने इस प्रकार तलवार हाथ में लेकर पाताल लोक के उस अजगर मार्क्स का सामना किया था, उससे लोहा लिया था और इस उस्तादी के साथ उसपर धावा बोला था कि उन्हे बार-बार पतरा बदलना पडा था और उसकी जान पर बन आयी और उसने बहुत जल्द हेर ब्रेतानो के चरणो में गिरकर दम तोड दिया।

लेकिन अरिओस्तो कवि द्वारा प्रस्तुत किये गये रणभूमि के दृश्य से मिलता-जुलता यह चित्र केवल हमारे सत जाज की पतरेबाजी पर पर्दा डालने का ही काम करता है। यहा "झूठमूठ गढ़कर जोड दिये गये वाक्य" की या "जालसाजी" की कोई चर्चा नहीं है, बल्कि अब तो "उद्धरणो को चालाकी के साथ सदर्भ से अलग कर देने" का जिक्र हो रहा है। सवाल का पूरा स्वरूप ही बदल दिया गया है, और सत जाज तथा उनके कैम्ब्रिजवासी अनुचर को अच्छी तरह मालूम था कि ऐसा क्यो किया गया है।

एलियोनोर मार्क्स ने इसका मासिक पत्रिका *"To-Day"* (फरवरी १८८४) में जवाब दिया, क्योकि *"The Times'* ने उनका पत्र छापने से इनकार कर दिया था। उन्होने एक बार फिर बहस को इस एक सवाल पर केन्द्रित कर दिया कि क्या मार्क्स ने उस वाक्य को "झूठमूठ गढकर जोड दिया था"? इस सवाल का मि० सेडली टेलर ने यह जवाब दिया कि उनकी राय में "यह प्रश्न कि मि० ग्लैडस्टन के भाषण में यह वाक्य सचमुच इस्तेमाल हुआ था या नहीं," ब्रेतानो-मार्क्स विवाद में "इस सवाल की अपेक्षा बहुत ही गौण महत्त्व रखता है कि विवादग्रस्त अश मि० ग्लैडस्टन के शब्दो का सही अर्थ पाठक को बताने के उद्देश्य से उद्धृत किया गया था या उसे तोड-मरोडकर पेश करने के उद्देश्य से।" इसके बाद मि० सेडली टेलर ने यह स्वीकार किया कि *"The Times"* की रिपोर्ट में "एक शाब्दिक असगति" है, लेकिन यदि सदर्भ की सही तौर पर व्याख्या की जाये, अर्थात यदि उसकी ग्लैड्स्टनवादी उदारपथी अर्थ में व्याख्या की जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मि० ग्लैडस्टन क्या कहना चाहते थे (*"To-Day"*, मार्च १८८४)। यहां सबसे ज्यादा मजाक की बात यह है कि हमारे कम्ब्रिजवासी बौने का इसरार अब यह नहीं है कि भाषण *"Hansard"* से उद्धत किया जाये, जैसा कि गुमनाम ब्रेतानो के कथनानुसार "आम रिवाज" है, बल्कि

अब यह उसे *"The Times"* की रिपोर्ट से उद्धृत करना चाहता है, जिसे उन्हीं ब्रेंतानो महाशय ने "आवश्यक रूप से गडबड कर देने वाली" रिपोर्ट कहा था। उसका यह इसरार करना स्वाभाविक है, क्योंकि *"Hansard"* की रिपोर्ट में मुसीबत की जड वह वाक्य ग़ायब है।

एलियोनोर मार्क्स को इन सारी दलीलों को फूंक मारकर हवा में उडा देने में कोई कठिनाई नहीं हुई (उनका जवाब *"To-Day"* के उसी अंक में प्रकाशित हुआ था)। उन्होंने कहा कि या तो मि० टेलर ने १८७२ की बहस को पढ़ा था और उस सूरत में वह अब न सिर्फ "झूठमूठ गढ़कर" बातें जोड रहे हैं, बल्कि कुछ बातों को "झूठमूठ" दबा भी रहे हैं, या फिर उन्होंने उस बहस को पढ़ा नहीं था और इसलिये उन्हें ख़ामोश रहना चाहिये। दोनों सूरतों में यह निश्चित है कि अब वह एक क्षण के लिये भी यह दावा करने की हिम्मत नहीं कर सकते कि उनके मित्र ब्रेंतानो का यह आरोप सही था कि मार्क्स ने कोई बात "झूठमूठ गढ़कर" जोड दी थी। इसके विपरीत, अब तो यह प्रतीत होता है कि मार्क्स ने झूठमूठ गढ़कर कोई बात जोडी नहीं थी, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण वाक्य दबा दिया था। लेकिन यही वाक्य उद्घाटन-वक्तव्य के पृष्ठ ५ पर तथाकथित "झूठमूठ गढ़कर जोडे गये वाक्य" से कुछ पंक्तियां पहले उद्धृत किया गया है। और जहां तक ग्लैडस्टन के भाषण में पायी जाने वाली "असंगति" का प्रश्न है, क्या ख़ुद मार्क्स ने 'पूंजी' के पृष्ठ ६१८ (तीसरे संस्करण के पृ० ६७२) के नोट १०५ (वर्तमान संस्करण के पृ० ७२९ के नोट ३) में "ग्लैडस्टन के १८६३ और १८६४ के बजट भाषणों की लगातार सामने आने वाली भयानक असंगतियों" का ज़िक्र नहीं किया है? हां, उन्होंने a la मि० सेडली टेलर (सेडली टेलर की तरह) उनको आत्म-संतुष्ट उदारपंथी भावनाओं में बदल देने की ज़रूर कोई कोशिश नहीं की। अपने उत्तर के अंत में एलियोनोर मार्क्स ने पूरी बहस का निचोड निकालते हुए यह कहा था

"मार्क्स ने उद्धृत करने योग्य कोई बात नहीं दबायी है और न ही उन्होंने "झूठमूठ गढ़कर" कोई बात जोडी है। लेकिन उन्होंने मि० ग्लैड्स्टन के भाषण के एक ख़ास वाक्य को पुनर्जीवित ज़रूर किया है और उसे विस्मृति के गर्त से बाहर निकाला है, और यह वाक्य असंदिग्ध रूप से मि० ग्लैड्स्टन द्वारा कहा गया था, लेकिन किसी ढंग से *"Hansard"* से ग़ायब हो गया था।"

इस लेख के साथ मि० सेडली टेलर की भी काफ़ी ख़बर ली जा चुकी थी, और बीस वर्ष से दो बडे देशों में जो प्रोफ़ेसराना ताना-बाना बुना जा रहा था, उसका आख़िरी नतीजा यह हुआ कि उसके बाद से कभी किसी ने मार्क्स की साहित्यिक ईमानदारी पर कोई और आरोप लगाने की हिम्मत नहीं की, और जहां तक मि० सेडली टेलर का सम्बंध है, वह अब निस्संदेह हेर ब्रेंतानो की साहित्यिक युद्ध-विज्ञप्तियों पर उतना ही कम भरोसा किया करेंगे, जितना हेर ब्रेंतानो *"Hansard"* की पोप मार्का सर्वज्ञता पर।

फ्रेडरिक एंगेल्स

लंदन, २५ जून १८९०।

पहली पुस्तक

पूंजीवादी उत्पादन

भाग १

माल और मुद्रा

पहला अध्याय

माल

अनुभाग १ – माल के दो तत्त्व [illegible] मूल्य (मूल्य का सार और मू[illegible]

वह नाना प्रकार से उपयोग में श्रा सकती है। वस्तुश्रो के विभिन्न उपयोगों का पता लगाना इतिहास का काम है।[1] इसी प्रकार इन उपयोगी वस्तुश्रा के परिमाणों के सामाजिक दृष्टि से मान्य मापदण्डो की स्थापना करना भी इतिहास का ही काम है। इन मापदण्डो की विविधता का मूल श्रांशिक रूप से तो इस बात में है कि मापी जाने वाली वस्तुए नाना प्रकार की होती हैं, श्रौर श्रांशिक रूप से उसका मूल रीति रिवाजो में निहित है।

किसी वस्तु की उपयोगिता उसे उपयोग-मूल्य प्रदान करती है।[2] लेकिन यह उपयोगिता कोई हवाई चीज नहीं होती। वह चूंकि माल के भौतिक गुणो से सीमित होती है, इसलिए माल से श्रलग उसका कोई श्रस्तित्व नहीं होता। इसलिए कोई भी माल, जसे लोहा, श्रनाज या हीरा, जहा तक वह एक भौतिक वस्तु है, वहा तक वह उपयोग-मूल्य यानी उपयोगी वस्तु होता है। माल का यह गुण इस बात से स्वतन्त्र है कि उसके उपयोगी गुणो से लाभ उठाने के लिए कितन श्रम की श्रावश्यकता होती है। जब हम उपयोग-मूल्य की चर्चा करते हैं, तब हम सदा यह मानकर चलते ह कि हम निश्चित परिमाणो की चर्चा कर रहे हैं, जसे इतनी दर्जन घड़िया, इतने गज कपडा या इतने टन लोहा। मालो के उपयोग-मूल्यों का श्रलग से श्रध्ययन किया जाता है, यह मालो के व्यापारिक ज्ञान का विषय है।[3] उपयोग-मूल्य केवल उपयोग श्रथवा उपभोग के द्वारा ही वास्तविकता प्राप्त करते हैं, श्रौर धन का सामाजिक रूप चाहे जसा हो, उसका सार-तत्त्व भी सदा ये उपयोग-मूल्य ही होते हैं। इसके श्रलावा, समाज के जिस रूप पर हम विचार करने वाले ह, उसमें उपयोग-मूल्य विनिमय-मूल्य के भौतिक भण्डार भी होते ह।

पहली दृष्टि में विनिमय-मूल्य एक परिमाणात्मक सम्बध के रूप में यानी उस श्रनुपात के

---

[1] "सभी चीजो का श्रपना एक स्वाभाविक गुण (उपयोग मूल्य के लिए बार्बोन ने इस विशेष नाम—vertue—का प्रयोग किया है) होता है। वह गुण सभी स्थानो मे एक जैसा रहता है, जैसे कि मक्नातीस के पत्थर मे लोहे को श्रपनी श्रोर खीचने का स्वाभाविक गुण" (उप० पु०, पृ० ६)। चुम्बक पत्थर मे लोहे को श्रपनी श्रोर खीचने का जो गुण होता है, वह केवल उसी समय उपयोग मे श्राया, जब पहले इस गुण के द्वारा चुम्बक के ध्रुवत्त्व की खोज हो गयी।

[2] "किसी भी चीज की स्वाभाविक कीमत इस बात मे होती है कि उसमे मानव जीवन की श्रावश्यक्ताश्रा की पूर्ति करने या उसकी सुविधाश्रो के हेतु काम श्राने की कितनी योग्यता है।" (John Locke *Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest, 1691* [जान लॉक, 'सूद को कम करने के परिणामो पर कुछ विचार, १६६१'],—'*Works*, १७७७ मे लन्दन मे प्रकाशित, खण्ड २, पृ० २८।) १७ वी सदी के श्रग्रेजी लेखको की रचनाश्रा मे हम श्रक्सर उपयोग-मूल्य के श्रर्थ मे 'Worth शब्द का श्रौर विनिमय-मूल्य के श्रर्थ मे 'value शब्द का प्रयोग पाते हैं। यह उस भाषा की भावना के सवथा श्रनुरूप है, जिसको वास्तविक वस्तु के लिए कोई ट्यूटौनिक (जमन भाषाश्रा के) शब्द श्रौर उसके प्रतिबिम्ब के लिए रोमास भाषाश्रो के शब्द का इस्तेमाल पसन्द है।

[3] पूजीवादी समाज-व्यवस्थाश्रा के श्रार्थिक क्षेत्र मे इस fictio juris (कानूनी सूत्र) को श्राधार मानकर चला जाता है कि खरीदार के रूप मे हरेक के पास मालो का चौमुखी श्रौर बृहद् ज्ञान होता है।

रूप में सामने आता है, जिस अनुपात में एक प्रकार के उपयोग-मूल्यो का दूसरे प्रकार के उपयोग-मूल्यो से विनिमय होता है।[1] यह सम्बध समय और स्थान के अनुसार लगातार बदलता रहता है। इसलिए विनिमय-मूल्य एक आकस्मिक और सर्वथा सापेक्ष चीज मालूम होता है, और चुनाचे स्वाभाविक मूल्य, अर्थात् ऐसा विनिमय-मूल्य, जो मालो से अभिन रूप से जुडा हो, जो मालो में निहित हो, ऐसा स्वाभाविक मूल्य स्वत विरोधी जैसा मालूम होता है।[2] इस मामले पर थोडा और गहरा विचार करना चाहिए।

मान लीजिये, एक माल – मिसाल के लिये, एक क्वाटर गेहू – है, जिस का 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम और 'ग' सोने आदि से विनिमय होता है। सक्षेप में यह कहिये कि उसका दूसरे मालो से बहुत ही भिन भिन अनुपातो में विनिमय होता है। इसलिए गेहू का एक विनिमय-मूल्य होने के बजाय उसके कई विनिमय-मूल्य होते हैं। लेकिन चूकि 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम या 'ग' सोने आदि में से प्रत्येक एक क्वाटर गेहू के विनिमय-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए विनिमय-मूल्यो के रूप में 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम या 'ग' सोने आदि में एक दूसरे का स्थान लेने की योग्यता होनी चाहिए, यानी वे सब एक दूसरे के बराबर होने चाहिए। इसलिए पहली बात तो यह निकली कि किसी एक माल के मा य विनिमय-मूल्य किसी समान वस्तु को व्यक्त करते हैं, और दूसरी यह कि विनिमय-मूल्य आम तौर पर किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करने का ढग अथवा किसी ऐसी वस्तु का इन्द्रियगम्य रूप मात्र है, जो उसमें निहित होती है और फिर भी जिस रूप और विनिमय-मूल्य में भेद किया जा सकता है।

दो माल लीजिये, मिसाल के लिए अनाज और लोहा। जिन अनुपातो में उनका विनिमय किया जा सकता है, वे अनुपात चाहे जो हों, उनको सदा ऐसे समीकरण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, जिसमें अनाज की एक निश्चित मात्रा का लोहे की किसी मात्रा के साथ समीकरण किया जाता है मिसाल के लिए, १ क्वाटर अनाज = 'क' हड्रेडवेट लोहा। यह समीकरण हमें क्या बतलाता है? वह हमें यह बतलाता है कि दो अलग-अलग चीजो में – १ क्वार्टर अनाज और 'क' हड्रेडवेट लोहे में – कोई ऐसी चीज पायी जाती है जो दोनो में समान मात्राओ में मौजूद है। इसलिए इन दो चीजो को एक तीसरी चीज के बराबर होना चाहिए, जो खुद

---

[1] 'La valeur consiste dans le rapport d echange qui se trouve entre telle chose et telle autre, entre telle mesure d une production, et telle mesure d'une autre ["मूल्य इस बात मे निहित होता है कि किसी चीज का दूसरी चीज से, एक पैदावार की एक निश्चित मात्रा का किसी दूसरी पैदावार की एक निश्चित मात्रा से किस अनुपात मे विनिमय होता है।"] (Le Trosne *'De l'Interet Social* Physiocrates Daire सस्करण, Paris 1846 पृ० ८८९।)

[2] "स्वाभाविक मूल्य किसी चीज मे नही हो सकता" (N Barbon, उप० पु०, पृ० ६) या, जैसा कि बटलर ने कहा है

The value of a thing
is just as much as it will bring
("मूल्य वस्तु का उतना ही है,
जितना वह बदले मे पाये।")

न तो पहली चीज हो सकती है और न दूसरी। इसलिए दोनो ही चीजो को, जहां तक वे विनिमय मूल्य हैं, इस तीसरी चीज में बदल देना सम्भव होना चाहिए।

रेखा गणित का एक सरल उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। ऋजुरेखीय आकृतियों के क्षेत्रफलो का हिसाब लगाने और उनकी आपस में तुलना करने के लिए हम उनको त्रिकोणों में बदल डालते हैं। लेकिन खुद त्रिकोण का क्षेत्रफल एक ऐसी चीज के द्वारा व्यक्त किया जाता है, जो उसकी दृश्य आकृति से बिल्कुल अलग होती है, —अर्थात उसका क्षेत्रफल आधार तथा ऊंचाई के गुणनफल के आधे के बराबर होता है। इसी तरह मालो के विनिमय-मूल्यों को भी किसी ऐसी चीज के द्वारा व्यक्त करना सम्भव होना चाहिए, जो उन सब में मौजूद हो और जिसकी कम या ज्यादा किसी न किसी मात्रा का वे सारे माल प्रतिनिधित्व करते हों।

यह "चीज", जो सबमें मौजूद है, मालो का रेखा-गणित सम्बधी, रासायनिक अथवा कोई अन्य प्राकृतिक गुण नहीं हो सकता। ऐसे गुणो की ओर तो हम केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि उनका इन मालो की उपयोगिता पर प्रभाव पडता है, या जिस हद तक कि ये गुण उनको उपयोग-मूल्य बनाते हैं। लेकिन मालो का विनिमय, जाहिर है, एक ऐसा कार्य है, जिसकी मुख्य विशेषता यह होती है कि उसमें उपयोग-मूल्य को बिल्कुल अलग कर दिया जाता है। तब एक उपयोग मूल्य उतना ही अच्छा होता है, जितना कोई दूसरा उपयोग-मूल्य, बशर्ते कि वह पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो। या, जैसा कि बूढ़े बार्बोन ने बहुत दिन पहले कहा था, "यदि उनके मूल्य बराबर हों, तो एक तरह की जिन्स उतनी ही अच्छी है, जितनी दूसरी तरह की जिन्स। समान मूल्य की चीजो में कोई अंतर या भेद नहीं होता सौ पौंड की कीमत का सीसा या लोहा उतना ही मूल्य रखता है, जितना सौ पौंड की कीमत की चादी या सोना।"[1] उपयोग-मूल्यो के रूप में मालो के बारे में सबसे बडी बात यह होती है कि उनमें अलग अलग प्रकार के गुण होते हैं, लेकिन विनिमय-मूल्यो के रूप में वे महज अलग अलग प्रकार की मात्राएं होती हैं और इसलिए उपयोग-मूल्य का उनमें एक कण भी नहीं होता।

अतएव, यदि हम मालो के उपयोग-मूल्य की ओर ध्यान न दें, तो उनमें केवल एक ही समान तत्त्व बचता है, और वह यह है कि वे सब श्रम की पैदावार होते हैं। लेकिन हमारे हाथो में खुद श्रम की पैदावार में भी एक परिवर्तन हो गया है। यदि हम उसे उसके उपयोग मूल्य से अलग कर लेते हैं, तो उसके साथ-साथ हम उसे उन भौतिक तत्त्वो और आकृतियों से भी अलग कर डालते हैं, जिन्होंने इस पैदावार को उपयोग-मूल्य बनाया है। तब हम उसमें मेज, घर, सूत या कोई भी अन्य उपयोगी वस्तु नहीं देखते। तब एक भौतिक वस्तु के रूप में उसका अस्तित्व आंखो से ओझल हो जाता है। और न ही तब उसे बढ़ई, राज और कातने वाले के श्रम की पैदावार के रूप में या निश्चित ढग के किसी भी अन्य उत्पादक श्रम की पैदावार के रूप में माना जा सकता है। तब खुद पैदावार के उपयोगी गुणो के साथ-साथ हम उसमें निहित श्रम के विभिन्न प्रकारो के उपयोगी स्वरूप को तथा उस श्रम के मूर्त्त रूपों को भी अपनी आंखों से दूर कर देते हैं, तब उस एक चीज को छोडकर, जो उन सब में समान रूप से मौजूद होती है, और कुछ नहीं बचता, और सभी प्रकार के श्रम एक ही ढग के श्रम में बदल जाते हैं, और यह होता है अमूर्त्त मानव-श्रम।

[1] N Barbon, उप० पु० प० ५३ और ७।

अब हम इसपर विचार करे कि इन विभिन्न प्रकार की उत्पादित वस्तुओ में से प्रत्येक में अब क्या बच रहा है। हरेक में एक सी अमूर्त ढग की वास्तविकता बच रही है, हरेक सजातीय मानव-श्रम का, खच की गयी श्रम-शक्ति का जमाव भर रह गया है, और अब इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह श्रम शक्ति किस पद्धति के अनुसार खच की गयी है। अब ये सारी चीजें हमें सिफ इतना बताती ह कि उनके उत्पादन में मानव-श्रम खर्च हुआ है और उनमें मानव-श्रम निहित है। जब इन चीजो पर उनमें समान रूप से मौजूद इस सामाजिक तत्त्व के स्फटिको के रूप में विचार किया जाता है, तब वे सब मूल्य होती ह।

हम यह देख चुके ह कि जब मालो का विनिमय होता है, तब उनका विनिमय-मूल्य एक ऐसी चीज के रूप में प्रकट होता है, जो उनके उपयोग-मूल्य से एकदम स्वतत्र होती है। परन्तु यदि हम उनको उनके उपयोग-मूल्यो से अलग कर लें, तो उनका मूल्य भर बच जाता है, जिसकी परिभाषा हम ऊपर दे चुके ह। इसलिए, मालो के विनिमय-मूल्य के रूप में जो समान तत्त्व प्रकट होता है, वह उनका मूल्य होता है। हमारी खोज जब आगे बढेगी, तो हमें पता चलेगा कि विनिमय-मूल्य ही एक मात्र ऐसा रूप है, जिसमें मालो का मूल्य प्रकट हो सकता है या जिसके द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है, फिलहाल, मगर, हमें इससे – यानी मूल्य के इस रूप से – स्वतत्र होकर मूल्य की प्रकृति पर विचार करना है।

अतएव, किसी भी उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु में मूल्य केवल इसीलिये होता है कि उसमें अमूर्त मानव-श्रम निहित होता है, या यू कहिये यह कि उसमें अमूर्त मानव-श्रम भौतिक रूप धारण किये हुए होता है। तब इस मूल्य का परिमाण मापा कसे जाये? जाहिर है, वह इस बात से मापा जाता है कि उस वस्तु में मूल्य पैदा करने वाले तत्त्व की – यानी श्रम की – कितनी मात्रा मौजूद है। लेकिन श्रम की मात्रा उसकी अवधि से मापी जाती है, और श्रम-काल का मापदण्ड हफ्ते, दिन या घण्टे होते ह।

कुछ लोग शायद इससे यह समझें कि यदि किसी भी माल का मूल्य उसपर खच किये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, तो मजदूर जितना सुस्त और अनाडी होगा, उसका माल उतना ही अधिक मूल्यवान होगा, क्योकि उसके उत्पादन में उतना ही ज्यादा समय लगेगा। किन्तु वह श्रम, जो मूल्य का सार है, वह तो सजातीय मानव श्रम है, उसमें तो एक सी, समरूप श्रम-शक्ति खच की जाती है। समाज की कुल श्रम शक्ति, जो उस समाज के पदा किये हुए तमाम मालो के मूल्यो के कुल जोड में निहित होती है, यहा पर मानव श्रम-शक्ति की एक सजातीय राशि के रूप में गिनी जाती है, भले ही वह राशि असख्य अलग अलग इकाइयो का जोड हो। इनमें से प्रत्येक इकाई, जहा तक कि उसका स्वरूप समाज की औसत श्रम शक्ति का है और जहा तक कि वह इस रूप में व्यवहार में आती है, यानी जहा तक कि उसे माल तयार करने में औसत से ज्यादा – अर्थात् सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक – समय नहीं लगता, वहा तक वह किसी भी दूसरी इकाई जसी ही होती है। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल वह है, जो उत्पादन की साधारण परिस्थितियो में और उस जमाने में प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता तथा तीव्रता के द्वारा किसी वस्तु को पदा करने के लिए आवश्यक हो। इगलण्ड में जब शक्ति से चलने वाले करघो का इस्तेमाल शुरू हुआ, तो सूत की एक निश्चित मात्रा को बुनकर कपडे की शक्ल देने के लिए खर्च होने वाली श्रम की मात्रा पहले की तुलना में सम्भवत आधी रह गयी। जाहिर है, हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरो को उसके

बाद भी पहले जितना ही समय खर्च करना पड़ता था, लेकिन उसके बावजूद इस परिवर्तन के बाद उनके एक घण्टे के श्रम की पैदावार सामाजिक श्रम के केवल आधे घण्टे का ही प्रतिनिधित्व करती थी और इसलिए उस पैदावार का मूल्य पहले से आधा रह गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी वस्तु के मूल्य का परिमाण इस बात से निश्चित होता है कि उसके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम आवश्यक है, अथवा सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम-काल आवश्यक है।[1] इस सम्बंध में हर अलग अलग ढंग के माल को अपने वर्ग का औसत नमूना समझना चाहिए।[2] इसलिए जिन मालों में श्रम की बराबर मात्राएं निहित हैं या जिनको बराबर समय में पैदा किया जा सकता है, उनका एक सा मूल्य होता है। किसी भी माल के मूल्य का दूसरे किसी माल के मूल्य के साथ वही सम्बंध होता है, जो पहले माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल का दूसरे माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल के साथ होता है। "मूल्यों के रूप में तमाम माल घनीभूत श्रम-काल की निश्चित राशियां मात्र हैं।"[3]

इसलिए, यदि किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल स्थिर रहता है, तो उसका मूल्य भी स्थिर रहेगा। लेकिन आवश्यक श्रम काल श्रम की उत्पादकता में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलता जाता है। यह उत्पादकता विभिन्न परिस्थितियों से निर्धारित होती है। अन्य बातों के अलावा, वह इस बात से निर्धारित होती है कि मजदूरों की औसत निपुणता कितनी है, विज्ञान की क्या दशा है तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग कितना हो रहा है, उत्पादन का सामाजिक संगठन कैसा है, उत्पादन के साधनों का विस्तार तथा सामर्थ्य कितनी है और भौतिक परिस्थितियां कैसी हैं। उदाहरण के लिए, अनुकूल मौसम होने पर ८ बुशेल अनाज में जितना श्रम निहित होता है, प्रतिकूल मौसम होने पर उतना श्रम केवल चार बुशेल में निहित होता है। घटिया खानों के मुकाबले में बढ़िया खानों से उतना ही श्रम ज्यादा धातु निकाल लेता है। हीरे जमीन की सतह पर बहुत मुश्किल से ही कहीं कहीं मिलते हैं, और

---

[1] "जब उनका (जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का) आपस में विनिमय होता है, तब उनका मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उनको पैदा करने में कितने श्रम की लाजिमी तौर पर आवश्यकता होती है और आम तौर पर उनके उत्पादन में कितना श्रम लगता है" *Some Thoughts on the Interest of Money in General, and Particularly in the Publick Funds etc* ('मुद्रा के सूद के विषय में सामान्य रूप से और विशेषतः सार्वजनिक कोष की मुद्रा के सूद के विषय में कुछ विचार, इत्यादि'), London पृ० ३६। पिछली शताब्दी में लिखी गयी इस उल्लेखनीय गुमनाम रचना पर कोई तारीख नहीं है। परन्तु अंदरूनी प्रमाणों से यह बात साफ है कि वह जार्ज द्वितीय के राज्य-काल में, १७३९ या १७४० के आसपास प्रकाशित हुई थी।

[2] 'Toutes les productions d'un même genre ne forment proprement qu'une masse, dont le prix se détermine en général et sans égard aux circonstances particulières" ["एक ही प्रकार की सभी उत्पादित वस्तुओं को मूलतया केवल एक ही राशि समझना चाहिए, जिसका दाम सामान्य बातों से निर्धारित होता है और जिसके सम्बंध में विशिष्ट बातों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८९३)।

[3] Karl Marx उप० पु०, पृ० ६।

इसलिए उनका पता लगाने में औसतन बहुत अधिक श्रम-काल खर्च होता है। इसलिए यहा बहुत छोटी सी चीज बहुत अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। जेकब को तो इसमें भी सन्देह है कि सोने का कभी पूरा मूल्य अदा किया गया है। हीरो पर यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। एश्चवेगे का कहना है कि ब्राजील की हीरे की खानो से १८२३ तक पिछले अस्सी बरस में जितने हीरे प्राप्त हुए थे, उनके इतने दाम भी नहीं आये थे, जितने उसी देश के ईख और क़हवे के बागानो की डेढ़ बरस की औसत पैदावार के आ गये थे, हालाकि हीरो में बहुत ज्यादा श्रम खर्च हुआ था और इसलिए वे अधिक मूल्य का प्रतिनिधित्व करते थे। यदि खानें अच्छी हो, तो उतना ही श्रम ज्यादा हीरो में निहित होगा और उनका मूल्य गिर जायेगा। यदि हमें थोडा सा श्रम खर्च करके कार्बन को हीरे में बदलने में कामयाबी मिल जाये, तो हो सकता है कि हीरो का मूल्य ईंटो से भी कम रह जाये। आम तौर पर, श्रम की उत्पादकता जितनी अधिक होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही कम श्रम काल आवश्यक होता है, उस वस्तु में उतना ही कम श्रम निहित होता है और उसका मूल्य भी उतना ही कम होता है। इसके विपरीत, श्रम की उत्पादकता जितनी कम होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही अधिक श्रम-काल आवश्यक होता है और उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। इसलिए, किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुलोम अनुपात में और उत्पादकता के प्रतिलोम अनुपात में बदलता रहता है।

यह सम्भव है कि किसी वस्तु में मूल्य न हो, मगर वह उपयोग-मूल्य हो। जहा कहीं मनुष्य के लिए किसी वस्तु की उपयोगिता श्रम के कारण नहीं होती, वहा यही सूरत होती है। हवा, अछूती धरती, प्राकृतिक चरागाह आदि सब ऐसी ही चीजें ह। यह भी सम्भव है कि कोई चीज उपयोगी हो और मानव-श्रम की पैदावार हो, मगर माल न हो। जो कोई सीधे तौर पर खुद अपने श्रम की पैदावार से अपनी आवश्यकतायें पूरी करता है, वह उपयोग-मूल्य तो जरूर पैदा करता है, मगर माल पदा नहीं करता। माल पदा करने के लिए जरूरी है कि वह न सिर्फ उपयोग-मूल्य पैदा करे, बल्कि दूसरो के लिए उपयोग-मूल्य – यानी सामाजिक उपयोग-मूल्य – पैदा करे। (और केवल दूसरो के लिए पैदा करना ही काफी नहीं है, कुछ और भी चाहिए। मध्ययुगी किसान अपने सामन्ती स्वामी के लिए बेगार के तौर पर और अपने पादरी के लिए दक्षिणा के तौर पर अनाज पैदा करता था। लेकिन न तो बेगार का अनाज और न ही दक्षिणा का अनाज इसलिए माल बन जाता था कि वह दूसरों के लिए पदा किया गया था। माल बनने के लिए जरूरी है कि पैदावार एक के हाथ से विनिमय के जरिये दूसरे के हाथ में जाये, जिसके पास वह उपयोग-मूल्य के रूप में काम आये।)[1] आखिरी बात यह है कि यदि कोई चीज उपयोगी नहीं है, तो उसमें मूल्य भी नहीं हो सकता। यदि कोई चीज व्यर्थ है, तो उसमें निहित श्रम भी व्यर्थ है, ऐसे श्रम की गिनती श्रम के रूप में नहीं होती और इसलिए उससे कोई मूल्य पैदा नहीं होता।

---

[1] [चौथे जर्मन संस्करण का नोट कोष्ठा के भीतर छपा यह अश मैने यहा इसलिए जोड दिया है कि उसके छूट जाने से अक्सर यह गलतफहमी पैदा हो जाती थी कि मार्क्स हर उस पैदावार को माल समझते थे, जिसका उपयोग उसको पैदा करने वाले के सिवा कोई और आदमी करता था। – फ्रे० ए०]

अनुभाग २ – मालो मे निहित श्रम का दोहरा स्वरूप

पहली दृष्टि में माल दो चीजो के – उपयोग-मूल्य और विनिमय मूल्य के – सदलेप के रुप में हमारे सामने आया था। बाद में हमने यह भी देखा कि श्रम का भी वैसा ही दोहरा स्वरुप होता है, क्योकि जहा तक कि वह मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, वहा तक उसमें वे गुण नहीं होते, जो उपयोग-मूल्य के सृजनकर्ता के रूप में उसमें होते हैं। मालो में निहित श्रम की इस दोहरी प्रकृति की ओर सबसे पहले मने इशारा किया था और उसका आलोचनात्मक अध्ययन किया था। यह बात चूकि अर्थशास्त्र को स्पष्ट रूप से समझने की धुरी है, इसलिए हमें विस्तार में जाना होगा।

दो माल ले लीजिये। मान लीजिये, एक कोट है और १० गज सन का बना कपडा है, और कोट का मूल्य १० गज कपडे के मूल्य का दुगना है, यानी यदि १० गज कपडा ='क', तो कोट =२'क'।

कोट एक उपयोग-मूल्य है, जो एक खास आवश्यकता को पूरा करता है। उसका अस्तित्व एक खास ढग की उत्पादक कारवाई का परिणाम है। इस उत्पादक कारवाई का स्वरूप उसके उद्देश्य, काय-पद्धत्ति, विषय, साधनो और परिणाम से निर्धारित होता है। वह श्रम, जिसकी उपयोगिता इस प्रकार उसकी पैदावार के उपयोग-मूल्य में व्यक्त होती है या जो अपनी पदावार को उपयोग मूल्य बनाकर प्रकट होता है, उसे हम उपयोगी श्रम कहते हैं। इस सम्बध में हम केवल उसके उपयोगी प्रभाव पर विचार करते हैं।

जिस प्रकार कोट और कपडा गुणात्मक दृष्टि से दो अलग अलग तरह के उपयोग मूल्य ह, उसी प्रकार उनको पदा करने वाले श्रम भी अलग अलग तरह के दो श्रम ह – एक में दर्जी ने कोट सिया है, दूसरे में बुनकर ने कपडा बुना है। यदि ये दो वस्तुए गुणात्मक दृष्टि से अलग अलग न होतीं, यदि वे दो अलग अलग गुणो वाले श्रम से पैदा न हुई होतीं, तो उनका एक दूसरे के साथ मालो का सम्बध नहीं हो सकता था। कोटो का विनिमय कोटो से नहीं होता, एक उपयोग-मूल्य का उसी प्रकार के दूसरे उपयोग-मूल्य से विनिमय नहीं किया जाता।

जितने प्रकार के विभिन्न उपयोग-मूल्य पाये जाते हैं, उनके अनुरूप उपयोगी श्रम के भी उतने ही प्रकार होते ह, सामाजिक श्रम विभाजन में जिस श्रेणी, प्रजाति, जाति एव प्रभेद से श्रम का सम्बध होता है, उसी के अनुसार उसका वर्गीकरण होता है। यह श्रम विभाजन मालो के उत्पादन की जरूरी शत है, लेकिन इसकी उल्टी बात सत्य नहीं है, – यानी मालो का उत्पादन श्रम विभाजन की जरूरी शर्त्त नहीं है। आदिम भारतीय ग्राम-समुदाय में श्रम का सामाजिक विभाजन तो होता है, लेकिन उसमें मालो का उत्पादन नहीं होता। या, यदि हम नजदीक की मिसाल ले, तो हर कारखाने के भीतर एक व्यवस्था के अनुसार श्रम का विभाजन होता है, लेकिन वह विभाजन इस तरह नहीं होता कि वहा काम करने वाले कमचारी अपनी अलग अलग किस्म की पदावारो का आपस में विनिमय करने लगते हो। पदावार की केवल वे ही किस्में एक दूसरे के सम्बध में माल बन सकती ह, जो अलग अलग ढग के श्रम से पदा हुई हो और जिनको पदा करने वाला हर ढग का श्रम स्वतत्र रूप से और व्यक्तियो के निजी स्वार्थ के लिए किया गया हो।

अस्तु, हम अपनी चर्चा फिर जारी करते ह। प्रत्येक माल के उपयोग-मूल्य में उपयोगी श्रम निहित होता है, अर्थात एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की गयी एक निश्चित ढग

की उत्पादक कारवाई की गयी होती है। यदि प्रत्येक उपयोग-मूल्य में निहित उपयोगी श्रम गुणात्मक दृष्टि से अलग ढग का न हो, तो विभिन्न उपयोग-मूल्य मालो के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में नहीं खडे हो सकते। किसी भी ऐसे समाज में, जिसकी पैदावार ग्राम तौर पर मालो का रूप धारण कर लेती है, अर्थात माल पदा करने वालो के किसी भी समाज में, अलग-अलग पैदा करने वाले स्वतत्र रूप से तथा निजी तौर पर जो विभिन्न प्रकार के उपयोगी श्रम करते हैं, उनके बीच का यह गुणात्मक अतर विकसित होकर एक सश्लिष्ट व्यवस्था – यानी सामाजिक श्रम विभाजन – बन जाता है।

बहरहाल, दर्जी अपना बनाया हुआ कोट चाहे खुद पहने और चाहे उसका खरीदार उसे पहने, दोनो सूरतो में कोट उपयोग-मूल्य के रूप में काम आता है। कोट तथा उसे पैदा करने वाले श्रम का सम्बध इस बात से भी नहीं बदल जाता है कि कपडे सीने का काम एक खास धधा, अर्थात् सामाजिक श्रम विभाजन की एक स्वतत्र शाखा, बन गया है। हजारो वर्ष तक जब कभी मनुष्य जाति को कपडे की जरूरत महसूस हुई, लोगो ने कपडे सीकर तैयार कर लिये, लेकिन एक भी आदमी कभी दर्जी न बना। किंतु भौतिक धन के प्रत्येक ऐसे तत्त्व की भाति, जो प्रकृति की स्वयस्फूर्त पैदावार नहीं है, कोट और कपडा भी अनिवार्य रूप से एक ऐसी उत्पादक क्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आते हैं, जो एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की जाती है और जो प्रकृति की दी हुई विशेष प्रकार की सामग्री को विशेष प्रकार की मानव-आवश्यकताओ के अनुकूल बनाती है। इसलिए, जहा तक श्रम उपयोग-मूल्य का सृजनकर्ता है, यानी जहा तक वह उपयोगी श्रम है, वहा तक वह समाज के सभी रूपों से स्वतत्र, मनुष्य-जाति के अस्तित्व की आवश्यक शर्त है, यह प्रकृति द्वारा लागू की गयी ऐसी स्थायी आवश्यकता है, जिसके बगैर मनुष्य तथा प्रकृति के बीच कोई भौतिक आदान प्रदान नहीं हो सकता और इसलिए जिसके बगैर मानव-जीवन भी नहीं हो सकता।

कोट, कपडा आदि उपयोग-मूल्य, अर्थात् मालों के ढाचे, दो तत्त्वो के योग होते है – पदार्थ और श्रम के। उनपर जो उपयोगी श्रम खच किया गया है, यदि आप उसे अलग कर दें, तो एक ऐसा भौतिक आधार-तत्त्व हमेशा बच जाता है, जो बिना मनुष्य की सहायता के प्रकृति से मिलता है। मनुष्य भी केवल प्रकृति की तरह काम कर सकता है, अर्थात वह भी केवल पदार्थ का रूप बदलकर ही काम कर सकता है।[1] यही नहीं, रूप बदलने के इस काम

---

[1] 'Tutti i fenomeni dell universo sieno essi prodotti della mano dell uomo, ovvero delle universali leggi della fisica, non ci denno idea di attuale creazione ma unicamente di una modificazione della materia Accostare e separare sono gli unici elementi che l ingegno umano ritrova analizzando l idea della riprodu zione e tato e riproduzione di valore (value in use, although Verri in this passage of his controversy with the Physiocrats is not himself quite certain of the kind of value he is speaking of) e di richezze se la terra l aria e l acqua ne campi si trasmutino in grano come se colla mano dell uomo il glutine di un insetto si trasmuti in velluto ovvero alcuni pezzetti di metallo si organizzino a formare una ripetizione ' ["विश्व की सभी घटनाए, चाहे वे मनुष्य के हाथ का फल हों और चाहे वे प्रकृति के सार्वत्रिक नियमो का परिणाम हो, वास्तव मे सजन नही, बल्कि केवल पदार्थ के रूपा मे परिवतन है। मानव-बुद्धि जब कभी पुनरुत्पादन के विचार का विश्लेषण करती है, तो उसे केवल दो ही तत्त्व दिखाई पडते हैं – एक जोडना, दूसरा तोडना, यही बात मूल्य (उपयोग-

में उसे प्रकृति की शक्तियो से बराबर मदद मिलती रहती है। इस प्रकार हम देखते ह कि अकेला श्रम ही भौतिक सम्पत्ति का, अथवा श्रम के पैदा किये हुए उपयोग-मूल्यों का एकमात्र स्रोत नहीं है। जसा कि विलियम पेटी ने कहा है, श्रम उसका बाप है और पृथ्वी उसकी मा है।

आइये, अब उपयोग मूल्य के रूप में माल पर विचार करना बद करके मालो के मूल्य पर विचार करें।

हम यह मानकर चल रहे ह कि कोट की क़ीमत कपडे की दुगनी है। लेकिन यह महज एक परिमाणात्मक अन्तर है, जिससे फिलहाल हमारा सम्बध नहीं है। किंतु हम यह याद रखते हैं कि यदि कोट का मूल्य १० गज कपडे के मूल्य का दुगना है, तो २० गज कपडे का अवश्य वही मूल्य होना चाहिए, जो एक कोट का है। जहा तक कोट और कपडा दोनों मूल्य हैं, वहां तक वे समान तत्त्व की चीजें हैं, वे मूलतया समान श्रम के दो वस्तुगत रूप हैं। लेकिन सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से दो अलग-अलग ढग के श्रम हैं। किंतु कुछ ऐसी समाज व्यवस्थाएं भी होती हैं, जिनमें एक ही आदमी सिलाई और बुनाई का काम बारी-बारी से करता है। इस सूरत में श्रम के ये दो रूप एक ही व्यक्ति के श्रम के दो स्वरूप मात्र होते ह और वे अलग अलग व्यक्तियो के अलग और निश्चित काम नहीं होते। यह उसी तरह की बात है, जैसे हमारा दर्जी यदि एक रोज कोट बनाता है और दूसरे रोज पतलून, तो उससे महज एक ही व्यक्ति के श्रम का परिवर्तित स्वरूप हमारे सामने आता है। इसके अलावा, एक ही नजर में हमको यह भी मालूम हो जाता है कि हमारे पूजीवादी समाज में मानव-श्रम का एक निश्चित भाग घटती-बढ़ती माग के अनुसार कभी सिलाई के रूप में इस्तेमाल होता है और कभी बुनाई के रूप में। यह परिवर्तन सम्भवतया बिना सघर्ष के नहीं होता, मगर उसका होना जरूरी है।

यदि हम उत्पादक क्रिया के विशेष रूप की ओर, अर्थात श्रम के उपयोगी स्वरूप की ओर, ध्यान न दें, तो उत्पादक क्रिया मानव-श्रम-शक्ति को खर्च करने के सिवा और कुछ नहीं है। सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से अलग अलग ढग की उत्पादक क्रियायें ह, फिर भी उन दोनों में मानव-मस्तिष्क, स्नायुओ और मास-पेशियों का उत्पादक ढग से खर्च होता है, और इस अर्थ में वे दोनो मानव-श्रम हैं। वे मानव-श्रम-शक्ति को खर्च करने की महज दो भिन्न पद्धतियां ह। श्रम शक्ति अपने तमाम स्वरूपो में एक सी रहती है। पर जाहिर है कि इसके पहले कि वह अलग अलग ढग की बहुत सी पद्धतियो में खर्च की जाये, उसका विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुचना जरूरी है। लेकिन किसी भी माल का मूल्य अमूर्त्त मानव-श्रम का, अर्थात् सामान्य रूप से मानव-श्रम के खर्च का, प्रतिनिधित्व करता है। और जिस प्रकार समाज में एक सेनापति अथवा एक साहूकार की भूमिका तो महान होती है, लेकिन उसके मुकाबले में मामूली आदमी की

मूल्य, हालांकि फिजियोक्रेट्स के मत का खण्डन करते हुए वेर्री ने जो यह अश लिखा है, उसमे खुद उसके मन मे भी यह बात पूरी तरह साफ नही है कि वह किस प्रकार के मूल्य की चर्चा कर रहा है) अथवा धन के पुनरुत्पादन के सम्बध मे भी लागू होती है, जब मनुष्य द्वारा पृथ्वी, वायु और जल को अनाज मे रूपातरित कर दिया जाता है, या एक कीडे के चेपदार स्राव को रेशम मे, या धातु के अलग अलग टुकडो को एक घडी मे बदल दिया जाता है।"] —Pietro Verri, '*Meditazioni sulla Economia Politica* (पहली बार १७७३ मे प्रकाशित), Custodi के इटली के अर्थशास्त्रियो के सस्करण—Parte Moderna—का १५ वा भाग, पृष्ठ २२।

भूमिका बहुत भ्रदना ढग की होती है,[1] ठीक वही बात यहां मामूली मानव-श्रम पर भी लागू होती है। मामूली मानव-श्रम साधारण श्रम-शक्ति को, अर्थात् उस श्रम-शक्ति को, खर्च करता है, जो औसत ढग से और किसी विशेष विकास के बिना हर साधारण व्यक्ति के शरीर में मौजूद होती है। यह सच है कि साधारण औसत श्रम का रूप अलग-अलग देशो और अलग अलग कालों में बदलता रहता है, लेकिन किसी भी खास समाज में उसका एक निश्चित रूप होता है। निपुण श्रम की गिनती केवल साधारण श्रम के गहन रूप में, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि साधारण श्रम के गुणित रूप में होती है, और निपुण श्रम की एक निश्चित मात्रा साधारण श्रम की उससे अधिक मात्रा के बराबर समझी जाती है। अनुभव बताता है कि हम इस तरह निपुण श्रम को लगातार साधारण श्रम में बदलते रहते हैं। कोई माल अत्यन्त निपुण श्रम की पदावार हो सकता है, लेकिन उसका मूल्य चूंकि साधारण अनिपुण श्रम की पैदावार के साथ उसका समीकरण कर देता है, इसलिए वह केवल साधारण अनिपुण श्रम की किसी निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करता है।[2] अलग-अलग ढग का श्रम जिन भिन्न-भिन्न अनुपातों में उनके मापदण्ड के रूप में साधारण अनिपुण श्रम में बदला जाता है, वे एक ऐसी सामाजिक क्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं, जो पैदा करने वालो की पीठ पीछे चलती रहती है, और इसलिए रीति-रिवाज के जरिये निश्चित हुए लगते हैं। विषय को सरल बनाने की दृष्टि से हम आगे हर तरह के श्रम को अनिपुण, साधारण श्रम मानकर चलेंगे। ऐसा करके हम केवल निपुण श्रम को हर बार साधारण श्रम में बदलने के झझट से बच जायेंगे।

इसलिए, जिस प्रकार हम कोट और कपडे पर मूल्यों के रूप में विचार करते समय उनके अलग-अलग उपयोग-मूल्यो को उनसे अलग कर देते हैं, वही बात उस श्रम पर लागू होती है, जिसका ये मूल्य प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी हम इस श्रम के उपयोगी रूपों – सिलाई और बुनाई – के अन्तर को अनदेखा कर देते हैं। उपयोग-मूल्यों के रूप में कोट और कपडा दो खास तरह की उत्पादक क्रियाओ के साथ वस्त्र और सूत के योग हैं, जब कि, दूसरी ओर, मूल्य – कोट और कपडा – अभिन्नित श्रम के सजातीय जमाव मात्र हैं, इस कारण, इन मूल्यो में निहित श्रम का महत्त्व इस बात में नहीं होता कि वस्त्र और सूत के साथ उसका कोई उत्पादक सम्बध है, बल्कि उसका महत्त्व केवल इस बात में होता है कि इनमें मानव-श्रम-शक्ति खर्च हुई है। कोट और कपडे के रूप में उपयोग-मूल्यो के सृजन में सिलाई और बुनाई ठीक इसीलिये आवश्यक तत्त्वो का काम करती हैं कि गुणगत दृष्टि से श्रम के ये दो प्रकार अलग-अलग ह, लेकिन सिलाई और बुनाई कोट और कपडे के मूल्यो के केवल उसी हद तक तत्त्व बनती हैं, जिस हद तक कि श्रम के इन दो प्रकारो को उनके विशेष गुणो से अलग कर दिया जाता है और जिस हद तक कि इन दोनो प्रकारों में मानव-श्रम होने का एक सा गुण मौजूद रहता है।

किन्तु कोट और कपडा केवल मूल्य ही नहीं, बल्कि निश्चित मात्रा के मूल्य हैं, और

---

[1] तुलना कीजिये Hegel की रचना "*Philosophie des Rechts* से, Berlin, 1840, पृ० २५०, पैरा १६०।

[2] पाठक को यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि हम यहा मजदूरी की या मजदूर को एक निश्चित श्रम-काल का जो मूल्य मिलता है, उसकी चर्चा नही कर रहे है, बल्कि हम यहा माल के उस मूल्य की चर्चा कर रहे हैं, जिसमे उस श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। मजदूरी एक ऐसी चीज है, जिसका अभी, हमारी खोज की मौजूदा मजिल पर, कोई अस्तित्व नही है।

हमारी धारणा के अनुसार कोट की कीमत दस गज कपडे की कीमत से दुगनी है। उनके मूल्यों में यह अतर कहा से पदा होता है? यह इस बात से पदा होता है कि कपडे में कोट का केवल आधा श्रम खच हुआ है, और चुनाचे वह इस बात से पैदा होता है कि कपडे के उत्पादन के लिए जितने समय तक श्रम-शक्ति खच करने की आवश्यकता है, कोट के उत्पादन में उससे दुगने समय तक श्रम शक्ति खच की गयी होगी।

इसलिए, जहा उपयोग-मूल्य के सम्बध में किसी भी माल में निहित श्रम का महत्व केवल गुणात्मक दृष्टि से होता है, वहा मूल्य के सम्बध में उसका महत्त्व केवल परिमाणात्मक दृष्टि से होता है और उसे पहले विशुद्ध और साधारण मानव-श्रम में बदलना पडता है। उपयोग मूल्य के सम्बध में प्रश्न होता है कि कैसा और क्या? मूल्य के सम्बध में प्रश्न होता है कितना? कितने समय तक? चूकि किसी भी माल के मूल्य का परिमाण केवल उसमें निहित श्रम की मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए इससे यह निष्कष निकलता है कि कुछ खास अनुपातो में तमाम मालो के मूल्य समान होगें।

यदि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक तमाम अलग-अलग ढग के उपयोगी श्रम की उत्पादक शक्ति एक सी रहती है, तो तैयार होने वाले कोटो के मूल्यो का जोड उनकी सख्या के अनुसार बढता जायेगा। यदि एक कोट 'क' दिनो के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो दो कोट २ 'क' दिनो के श्रम का प्रतिनिधित्व करेंगे, और इसी तरह यह क्रम आगे चलता जायेगा। लेकिन मान लीजिये कि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की अवधि दुगनी या आधी हो जाती है। पहली सूरत में एक कोट की कीमत अब उतनी हो जायेगी, जितनी पहले दो कोटो की थी, और दूसरी सूरत में दो कोटो की क़ीमत अब सिफ इतनी ही रह जायेगी, जितनी पहले एक कोट की थी, हालाकि दोनो सूरतो में एक कोट अब भी उतना ही काम देता है, जितना वह पहले देता था, और उसमें निहित उपयोगी श्रम में वही गुण रहता है, जो उसमें पहले था। लेकिन कोट के उत्पादन पर खच किये गये श्रम की मात्रा बदल गयी है।

उपयोग-मूल्यो के परिमाण में वृद्धि होने का मतलब है भौतिक धन में वृद्धि होना। दो कोट दो आदमी पहन सकते ह, एक कोट केवल एक ही आदमी पहन सकता है। फिर भी यह सम्भव है कि भौतिक धन के परिमाण में वृद्धि होने के साथ-साथ उसके मूल्य के परिमाण में कमी आ जाये। इस परस्पर विरोधी गति का मूल श्रम के दोहरे स्वरुप में है। उत्पादक शक्ति का, जाहिर है, किसी मूत्त उपयोगी रूप के श्रम से सम्बध होता है, कोई खास तरह की उत्पादक क्रिया किसी निश्चित समय में कितनी कारगर होती है, यह उसकी उत्पादकता पर निभर करता है। इसलिए, उपयोगी श्रम की उत्पादकता जितनी बढती या घटती है, उसी अनुपात में वह ज्यादा या कम बहुतायत के साथ पदावार तैयार करता है। दूसरी ओर, इस उत्पादकता में जो परिवतन होते ह, उनका उस श्रम पर कोई असर नहीं पडता, जिसका प्रतिनिधित्व मूल्य करता है। चूकि उत्पादक शक्ति श्रम के मूर्त्त, उपयोगी रूपो का गुण है, इसलिए जाहिर है कि जब हम श्रम को उसके मूर्त्त, उपयोगी रूपो से अलग कर लेते ह, तब उसके बाद उत्पादक शक्ति का श्रम पर प्रभाव पडना बद हो जाता है। इसलिए उत्पादक शक्ति में चाहे जसा परिवतन हो जाये, एक सा श्रम यदि समान अवधि तक किया जायेगा, तो उससे सदा समान परिमाण में मूल्य उत्पन्न होगा। लेकिन समान अवधि में उससे उपयोग-मूल्य भिन्न भिन्न परिमाणा में पदा होगे यदि उत्पादक शक्ति बढ गयी होगी, तो अधिक परिमाण में उपयोग-मूल्य पदा होगे, और यदि वह घट गयी होगी, तो कम परिमाण में। उत्पादक शक्ति का जो परिवतन

श्रम की उवरता को और उसके परिणामस्वरूप उस श्रम से पदा होने वाले उपयोग-मल्यो के परिमाण को बढ़ा देता है, वही उपयोग-मूल्यो के इस बढ़े हुए परिमाण के कुल मूल्य को घटा देगा, बशर्ते कि इस परिवतन से इन उपयोग-मूल्यो के उत्पादन के लिए आवश्यक कुल श्रम-काल कम हो गया हो। और, इसके विपरीत, यदि उत्पादक शक्ति के इस परिवतन के फलस्वरूप इन उपयोग-मूल्यो के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल बढ गया होगा, तो यही परिवर्तन इन उपयोग-मूल्यो के कुल मूल्य को बढ़ा देगा।

एक ओर, शरीर विज्ञान की दृष्टि से हर प्रकार का श्रम मानव-श्रम शक्ति को खर्च करना है, और एक जैसे, अमूर्त्त मानव-श्रम के रूप में वह मालो के मूल्य को उत्पन्न करता है और उसका निर्माण करता है। दूसरी ओर, हर प्रकार का श्रम मानव-श्रम-शक्ति को एक खास ढग से और एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर खच करना है, और अपने इस रूप में, यानी मूर्त्त उपयोगी श्रम के रूप में, यह उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है।[1]

---

[1] यह सावित करने के लिए कि श्रम ही एकमात्र ऐसी सवथा पर्याप्त एव वास्तविक माप है, जिससे हर ज़माने मे तमाम मालो के मूल्यो का अनुमान लगाया जा सकता है और उनका एक दूसरे से मुकाबला किया जा सकता है, ऐडम स्मिथ ने लिखा है "श्रम की समान मात्राओ का मजदूर के लिए सब समय और सब जगह एक सा मूल्य होना चाहिए। उसके स्वास्थ्य, बल और त्रियाशीलता की सामान्य अवस्था मे और उसमे जितनी औसत निपुणता हो, उसके साथ उसे अपने अवकाश, अपनी स्वतत्रता तथा अपने सुख का सदा एक सा अश देना पडता है।", (*Wealth of Nations* , पहली पुस्तक, अध्याय ५।) एक ओर तो यहा (किन्तु हर जगह नही) ऐडम स्मिथ ने मालो के उत्पादन मे खच किये गये श्रम की मात्रा के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने को श्रम के मूल्य के द्वारा मालो के मूल्य के निर्धारित होने के साथ गडबडा दिया है और इसके फलस्वरूप यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि श्रम की समान मात्राओ का सदा एक सा मूल्य होता है। दूसरी ओर, उनको अन्देशा है कि जहा तक श्रम मालो के मूल्य के रूप मे प्रकट होता है, वहा तक वह केवल श्रम-शक्ति के खच के रूप मे ही गिना जाता है, लेकिन श्रम-शक्ति का यह खच उनके लिए महज़ अवकाश, स्वतत्रता और सुख का त्याग करना है और उसके साथ-साथ जीवित प्राणिया की साधारण कारवाई नही है। लेकिन ऐडम स्मिथ की दृष्टि मे तो केवल मजदूरी पर काम करने वाला आधुनिक मज़दूर ही है। उनके उस गुमनाम पूवज का, जिसे हमने पृ० ५४ के पहले फुटनोट मे उद्धृत किया है, यह कहना ज्यादा सही लगता है कि "जीवन की इस आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने के लिए एक आदमी ने हफ्ते भर तक काम किया है और वह, जो उसे बदले मे कुछ देता है, वह जब इसका हिसाब लगाने बैठता है कि उसका सम-मूल्य क्या है, तो वह इससे बेहतर और कुछ नही कर सकता कि अनुमान लगाकर देखे कि इतना ही श्रम और समय उसका किस चीज मे लगा था। और यह—असल मे देखा जाय, तो—एक चीज मे किसी निश्चित समय तक लगे एक आदमी के श्रम का किसी दूसरी चीज़ मे उसी समय तक लगे किसी दूसरे आदमी के श्रम के साथ विनिमय करने के सिवा और कुछ नही है।" (उप० पु०, प०३९।) [यहा श्रम के जिन दो पहलुओ पर विचार किया गया है, उनके लिए अग्रेज़ी भाषा मे सौभाग्य से दो अलग अलग शब्द है। वह श्रम, जो उपयोग-मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व गुणात्मक दृष्टि से होता है, work कहलाता है, जो labour से अलग होता है, और जो श्रम मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व परिमाणात्मक दृष्टि से होता है, वह labour कहलाता है, जो work से अलग होता है।—फ्रे० ए०]

अनुभाग ३ – मूल्य का रूप अथवा विनिमय-मूल्य

माल दुनिया में उपयोग-मूल्यों, वस्तुओं अथवा जिन्स के रूप में आते हैं, जैसे लोहा, कपड़ा, अनाज इत्यादि। यह उनका साधारण, सादा, शारीरिक रूप है। लेकिन वे यदि माल हैं, तो सिर्फ इसलिए कि वे दोहरी किस्म की चीजें हैं, वे उपयोग की वस्तुएं भी हैं और उसके साथ-साथ मूल्य के भण्डार भी। इसलिए, ये चीजें केवल उसी हद तक माल के रूप में प्रकट होती हैं, अथवा मालों का रूप धारण करती हैं, जिस हद तक कि उनके दो रूप होते हैं एक – शारीरिक अथवा प्राकृतिक रूप, और दूसरा – मूल्य-रूप।

मालों के मूल्य की वास्तविकता इस दृष्टि से श्रीमती क्विकली (Dame Quicly) से भिन्न है कि हम यह नहीं जानते कि "उसे कहां पायेंगे"। मालों का मूल्य उनके तत्त्व की अनगढ़ भौतिकता का बिल्कुल उल्टा होता है, पदार्थ का एक परमाणु भी उसकी बनावट में प्रवेश नहीं कर पाता। किसी भी एक माल को ले लीजिये और फिर उसे अकेले ही चाहे जितनी बार इधर-उधर घुमाकर देखिये, लेकिन जिस हद तक वह मूल्य है, उस हद तक उसे समझ पाना असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम यह याद रखें कि मालों के मूल्य की केवल सामाजिक वास्तविकता होती है, और यह वास्तविकता वे केवल उसी हद तक प्राप्त करते हैं, जिस हद तक कि वे एक समान सामाजिक तत्त्व की, अर्थात मानव-श्रम की, अभिव्यंजनाएं अथवा मूर्त्त रूप हैं, तो उससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्य केवल माल के साथ माल के सामाजिक सम्बंध के रूप में ही प्रकट हो सकता है। असल में तो हमने विनिमय-मूल्य से, अथवा मालों के विनिमय-सम्बंध से, ही अपनी यह खोज आरम्भ की थी, जिसका उद्देश्य उस मूल्य का पता लगाना था, जो इस सम्बंध के पीछे छिपा हुआ है। अब हमें फिर उस रूप की तरफ लौटना चाहिए, जिस रूप में मूल्य पहली बार हमारे सामने आया था।

हर आदमी, यदि वह और कुछ नहीं जानता, तो इतना जरूर जानता है कि सभी मालों का सामान्य मूल्य रूप होता है, जो उनके उपयोग-मूल्यों के नाना प्रकार के शारीरिक रूपों से बहुत भिन्न होता है। मेरा मतलब मालों के मुद्रा-रूप से है। यहां, लेकिन, हमारे सामने एक ऐसा काम आकर खड़ा हो जाता है, जिसे पूंजीवादी अर्थशास्त्र ने अभी तक कभी हाथ में भी नहीं लिया है। वह काम यह है कि इस मुद्रा रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता लगाया जाये, और मालों के मूल्य-सम्बंध में मूल्य किस प्रकार व्यक्त होता है, इसको उसकी सबसे सरल, लगभग अदृश्य रूपरेखा से आरम्भ करके आंखों को चकाचौंध कर देने वाले मुद्रा रूप तक के विकास को समझा जाये। यदि हम यह काम करेंगे, तो मुद्रा के रूप में जो पहेली हमारे सामने पेश है, उसे भी लगे हाथों बूझ डालेंगे।

सबसे सरल मूल्य-सम्बंध, जाहिर है, वह है, जो किसी एक माल और दूसरी तरह के किसी एक और माल के बीच कायम होता है। इसलिए दो मालों के मूल्यों का सम्बंध हमारे सामने उनमें से किसी एक माल के मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना को पेश कर देता है।

क) मूल्य का प्राथमिक अथवा आकस्मिक रूप

'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण, अथवा
'क' माल के 'प' परिमाण का मूल्य है 'ख' माल का 'फ' परिमाण।
२० गज कपड़ा = १ कोट, अथवा
२० गज कपड़े का मूल्य है १ कोट।

१) मूल्य की अभिव्यजना के दो ध्रुव सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप

मूल्य के रूप का सारा रहस्य इस प्राथमिक रूप में छिपा हुआ है। इसलिए इस रूप का विश्लेषण करना ही हमारी असली कठिनाई है।

यहा दो भिन्न प्रकार के माल (हमारे उदाहरण में कपडा और कोट), स्पष्ट ही, दो अलग अलग भूमिकाए अदा करते हैं। कपडा अपना मूल्य कोट के रूप में व्यक्त करता है, कोट उस सामग्री का काम करता है, जिसके रूप में यह मूल्य व्यक्त किया जाता है। कपडे की भूमिका सक्रिय है, कोट की निष्क्रिय। कपडे का मूल्य सापेक्ष मूल्य के रूप में सामने आता है, या यू कहिये कि वह सापेक्ष रूप में प्रकट होता है। कोट सम-मूल्य का काम करता है, या यू कहिये कि वह सम-मूल्य रूप में प्रकट होता है।

सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप मूल्य की अभिव्यजना के दो घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित, एक दूसरे पर निर्भर और अपृथक तत्त्व हैं, लेकिन वे साथ ही साथ एक दूसरे के अपवर्जक, विरोधी चरम छोर–यानी एक ही अभिव्यजना के दो ध्रुव–हैं। ये दो रूप क्रमश उन दो भिन्न मालो में बट गये हैं, जिनको इस अभिव्यजना ने एक दूसरे के सम्बध में ला खडा किया है। कपडे के मूल्य को कपडे के रूप में व्यक्त करना सम्भव नहीं है। २० गज कपडा = २० गज कपडा–यह मूल्य की अभिव्यजना नहीं है। इसके विपरीत, इस प्रकार का समीकरण तो केवल इतना ही बताता है कि २० गज कपडा २० गज कपडे के सिवा–या कपडा नामक उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा के सिवा–और कुछ नहीं है। अतएव, कपडे का मूल्य केवल सापेक्ष ढग से ही–अर्थात् किसी और माल के रूप में ही–व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए कपडे के मूल्य का सापेक्ष रूप पहले से यह मानकर चलता है कि कोई और माल भी–यहा पर कोट–सम-मूल्य के रूप में मौजूद है। दूसरी ओर, जो माल सम-मूल्य के रूप में सामने आता है, वह उसके साथ-साथ सापेक्ष रूप नहीं धारण कर सकता। दूसरे माल का मूल्य व्यक्त नहीं किया जा रहा है। उसकी भूमिका तो बस पहले माल का मूल्य व्यक्त करने वाली सामग्री का काम पूरा करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि २० गज कपडा = १ कोट, या २० गज कपडे का मूल्य है १ कोट, इस अभिव्यजना से यह उल्टा सम्बध भी प्रकट होता है कि १ कोट = २० गज कपडा, या १ कोट का मूल्य है २० गज कपडा। लेकिन तब मुझे कोट का मूल्य सापेक्ष ढग से व्यक्त करने के लिए समीकरण को उलटना पडेगा, और जसे ही मै यह करता हू, वसे ही कोट के बजाय कपडा सम-मूल्य बन जाता है। अतएव, मूल्य की एक ही अभिव्यजना में कोई एक माल एक साथ दोनो रूप धारण नहीं कर सकता। इन रूपो की ध्रुवता ही उनको परस्पर अपवर्जी बना देती है।

इसलिए, कोई माल सापेक्ष रूप धारण करेगा या उसका उल्टा सम-मूल्य रूप, यह पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि मूल्य की अभिव्यजना में सयोगवश उसकी कौनसी स्थिति है–अर्थात वह ऐसा माल है, जिसका मूल्य व्यक्त किया जा रहा है, या ऐसा माल, जिसके रूप में मूल्य व्यक्त किया जा रहा है।

२) मूल्य का सापेक्ष रूप

(क) इस रूप की प्रकृति और उसका अर्थ

"इसका पता लगाने के लिए कि किसी माल के मूल्य की प्राथमिक अभिव्यजना दो मालों के मूल्य-सम्बध में कसे छिपी रहती है, हमें सबसे पहले इस मूल्य-सम्बध को उसके परिमाणात्मक पहलू से बिल्कुल अलग करके उसपर विचार करना चाहिए। साधारणतया उसकी उल्टी काय विधि अपनायी जाती है, और मूल्य-सम्बध को दो अलग-अलग ढग के मालो की उन निश्चित मात्राओ के अनुपात के सिवा और कुछ नहीं समझा जाता, जिनको एक दूसरे के बराबर माना जाता है। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि अलग-अलग वस्तुओ के परिमाणो की परिमाणात्मक तुलना केवल उसी सूरत में की जा सकती है, जब ये परिमाण एक ही इकाई के रूप में व्यक्त किये गये हो। इस प्रकार की किसी इकाई की अभिव्यजनाओ के रूप में ही ये परिमाण एक श्रेणी के होते ह, और इसलिये उनको एक मापदण्ड से नापा जा सकता है।[1]

चाहे २० गज़ कपडा = १ कोट के, या = २० कोट के, या = 'क' कोट के, – अर्थात कपडे की किसी निश्चित मात्रा का मूल्य चाहे तो थोडे से कोट हो और चाहे बहुत सारे कोट हो, ऐसे हर कथन का यह मतलब होता है कि मूल्य के परिमाणो के रूप में कपडा और कोट एक ही इकाई की अभिव्यजनाए ह, एक ही क़िस्म की चीजें ह। कपडा = कोट – समीकरण का यही मूल आधार है।

लेकिन ये दो माल, हम इस प्रकार जिनके गुण की एकरूपता मान कर चल रहे ह, एक सी भूमिका नहीं अदा करते। मूल्य केवल कपडे का ही व्यक्त होता है। और किस तरह ? कोट का अपने सम-मूल्य के रूप में हवाला देकर, यानी ऐसी चीज के रूप में, जिसके साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। इस पारस्परिक सम्बध में कोट मूल्य के अस्तित्व की अवस्था है, वह मूल्य का मूर्त रूप है, *क्योंकि केवल इसी तरह तो वह वही है, जो कपडा है*। दूसरी ओर, कपडे का खुद अपना मूल्य सामने आता है, स्वतत्र अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, क्योंकि मूल्य होने के कारण ही तो उसका समान मूल्य की चीज के रूप में कोट के साथ मुकाबला किया जा सकता है या कोट के साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। हम रसायन विज्ञान का एक उदाहरण ले। ब्यूटीरिक अम्ल प्रोपिल फार्मेट से अलग पदार्थ है। फिर भी वे दोनो एक से रासायनिक तत्त्वो से बने ह – कार्बन (C) हाइड्रोजन (H) और ऑक्सिजन (O), और दोनों में इन तत्त्वो का अनुपात भी एक सा है – $C_4H_8O_2$। अब यदि हम ब्यूटीरिक अम्ल का प्रोपिल फार्मेट के साथ समीकरण करते हैं, तो इस सम्बध में एक तो प्रोपिल फार्मेट C_4H_8O

---

[1] जिन चन्द अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के रूप का विश्लेषण करने मे दिलचस्पी दिखायी है, – और उनमे से एक एस० बेली हैं, – वे भी किसी नतीजे पर नही पहुच सके हैं। एक तो इसलिए कि वे मूल्य के रूप को खुद मूल्य के साथ गडबडा देते हैं, और दूसरे इसलिए कि वे व्यावहारिक पूजीवादियो के कुप्रभाव मे आकर इस सवाल के केवल परिमाणात्मक पहलू पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं। "परिमाण प्राप्त करने की क्षमता ही मूल्य होती है।" (*"Money and its Vicissitudes* ['मुद्रा और उसके उतार-चढाव'], London 1837 पृ० ११। लेखक S Bailey [एस० बेली]।)

के अस्तित्व की एक अवस्था मात्र होगा, और दूसरे हमारे कहने का यह मतलब होगा कि ब्यूटीरिक अम्ल भी $C_4H_8O_2$ से बना है। इसलिए, दो पदार्थों का इस तरह समीकरण करके हम उनकी रासायनिक बनावट को तो व्यक्त करेंगे, मगर उनके अलग अलग शारीरिक रूपों की उपेक्षा कर देंगे।

अगर हम यह कहते ह कि मूल्यो के रूप में माल मानव-श्रम के जमाव मात्र ह, तो यह सच है कि हम अपने विश्लेषण द्वारा उन्हे अमूत मूल्य में बदल डालते हैं, लेकिन इस मूल्य को हम इन मालो के शारीरिक रूप के अलावा कोई और रूप नहीं देते। किन्तु जब एक माल का दूसरे माल के साथ मूल्य का सम्बंध स्थापित होता है, तब यह बात नहीं होती। यहा एक माल दूसरे माल के साथ अपने सम्बंध के कारण ही मूल्य के रूप में सामने आता है।

कोट को कपडे का सम-मूल्य बना कर हम कोट में निहित श्रम का कपडे में निहित श्रम के साथ समीकरण करते हैं। अब यह बात तो सच है कि सिलाई, जिससे कोट तयार होता है, बुनाई से, जिससे कि कपडा तयार होता है, भिन्न प्रकार का एक उपयोगी मूर्त्त श्रम है। लेकिन जब हम सिलाई का बुनाई के साथ समीकरण करते ह, तो हम सिलाई को उस चीज में बदल डालते ह, जो दोनो प्रकार के श्रम में सचमुच समान है, अर्थात हम उसे मानव-श्रम के उनके समान स्वरूप में परिणत कर देते ह। अत इस घुमावदार ढग से यही तथ्य व्यक्त किया जाता है कि जहा तक बुनाई का श्रम भी मूल्य बुनता है, वहा तक उसमें और सिलाई के श्रम में कोई भेद नहीं है, और इसलिए वह भी अमूर्त्त मानव-श्रम है। यह केवल अलग-अलग ढग के मालो की सम-मूल्यता की अभिव्यजना ही है, जो मूल्य का सृजन करने वाले श्रम के विशिष्ट स्वरूप को सामने ले आती है, और यह काम वह अलग अलग ढग के मालो में निहित अलग अलग प्रकार के श्रम को सचमुच अमूत्त मानव-श्रम होने के उनके समान गुण में परिणत करके पूरा करती है।[1]

लेकिन कपडे का मूल्य जिस श्रम से बना है, उसके विशिष्ट स्वरूप की अभिव्यजना से आगे भी किसी चीज की आवश्यकता है। गतिमान मानव-श्रम शक्ति, अथवा मानव श्रम मूल्य को उत्पन्न करता है, किन्तु वह स्वय मूल्य नहीं होता। वह केवल अपनी पिण्डीभूत अवस्था में ही मूल्य बनता है, जब कि वह किसी वस्तु की शक्ल में मूर्त्त रूप धारण कर लेता है। मानव-श्रम के जमाव के रूप में कपडे के मूल्य को व्यक्त करने के लिए यह जरूरी है कि वह मूल्य

[1] ख्यातिनामा फ्रेंकलिन विलियम पेटी के बाद आने वाले उन पहले अर्थशास्त्रियो म थे, जो मूल्य की प्रकृति को समझ पाये थे। उन्होने लिखा है "व्यापार चूंकि सामान्यतया श्रम के साथ श्रम के विनिमय के सिवा और कुछ नही होता, इसलिए यह सर्वथा उचित बात है कि सभी चीजो का मूल्य श्रम के द्वारा मापा जाता है।" (*The Works of B Franklin, etc'* edited by Sparks Boston 1836 खण्ड २, पृ० २६७।) फ्रैंकलिन मे यह चेतना नही है कि हर चीज के मूल्य का श्रम के रूप मे हिसाब लगाकर वह श्रम के जिन अलग-अलग प्रकारो का विनिमय हो रहा है, उनके आपसी भेद की अवहेलना किये दे रहे है और इस तरह उन सब को समान मानव श्रम मे बदले डाल रहे है। लेकिन सचेत न होते हुए भी वह उसे कह जाते है। पहले वह "एक श्रम" की चर्चा करते है, फिर "दूसरे श्रम" की और अत मे हर चीज के मूल्य के सार तत्त्व के रूप मे बिना कोई विशेषण जोडे "श्रम" का जिक्र करते है।

इस प्रकार व्यक्त किया जाये, जैसे उसका वस्तुगत अस्तित्व हो, जैसे यह कोई ऐसी चीज हो, जो खुद भौतिक रूप से कपड़े से भिन्न हो, किन्तु जो फिर भी कपड़े में तथा अन्य सभी मालों में सामान्य रूप से मौजूद हो। समस्या यहीं पर हल हो जाती है।

जब कोट मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य की स्थिति में होता है, तब वह गुणात्मक दृष्टि से इसलिये कपड़े के बराबर होता है और उसी तरह की एक चीज समझा जाता है, क्योंकि वह मूल्य है। इस स्थिति में वह एक ऐसी चीज होता है, जिसमें हम मूल्य के सिवा और कुछ नहीं देखते या जिसका स्पर्शगोचर शारीरिक रूप मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी कोट खुद—यानी कोट नामक माल का शरीर—महज एक उपयोग-मूल्य होता है। कपड़े का जो पहला टुकड़ा आपको मिले, उसे उठाकर देखिये, वह आपसे यह नहीं कहता कि वह मूल्य है। उसी तरह *कोट भी कोट के रूप में यह नहीं कहता।* इससे पता चलता है कि कोट का कपड़े के साथ मूल्य का सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर उसका महत्त्व बढ़ जाता है, जब कि इस सम्बन्ध के अभाव में उसका यह महत्त्व नहीं होता। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे बहुत से आदमियों का, जब वे सादे कपड़े पहने हुए होते हैं, तब कोई खास महत्त्व नहीं होता, पर जब वे भड़कीली वर्दी पहनकर अकड़कर चलने लगते हैं, तो उनका महत्त्व बढ़ जाता है।

कोट के उत्पादन में सिलाई के रूप में मानव-श्रम शक्ति का अवश्य ही वास्तविक खर्च किया गया होगा। इसलिये उसमें मानव-श्रम संचित है। इस दृष्टि से कोट मूल्य का भण्डार है, हालांकि वह घिसकर तार-तार हो जाने पर भी इस सचाई को बाहर झलकने नहीं देता। और मूल्य के समीकरण में कपड़े के सम-मूल्य के रूप में उसका अस्तित्व केवल इसी दृष्टि से होता है, और इसलिये उसका महत्त्व मूर्तिमान मूल्य के रूप में, अथवा एक ऐसी वस्तु के रूप में होता है, जो खुद मूल्य है। उदाहरण के लिये 'क' उस वक्त तक 'ख' के लिये "महामहिम सम्राट" नहीं हो सकता, जब तक कि 'ख' की नजरों में "सम्राट की महिमा" उसी समय 'क' का शारीरिक रूप न धारण कर ले,—और जो इस से भी बड़ी बात है, जब तक कि "सम्राट की महिमा" प्रजा के हर नये पिता के सिंहासन पर आसीन होने के साथ साथ अपना अपना चेहरा-मोहरा, बाल और अन्य बहुत सी चीजें न बदलती जायें।

इसलिये, *मूल्य के उस समीकरण में, जिसमें कोट कपड़े का सम-मूल्य है,* कोट मूल्य के रूप की भूमिका अदा करता है। "कपड़ा" नामक माल का मूल्य "कोट" नामक माल के शारीरिक रूप के द्वारा व्यक्त होता है, एक माल का मूल्य दूसरे माल के उपयोग-मूल्य के द्वारा व्यक्त होता है। हमारी इन्द्रियां सहज ही यह अनुभव कर सकती हैं कि उपयोग-मूल्य के रूप में कपड़ा कोट से भिन्न है, पर मूल्य के रूप में वह वही है, जो कुछ कोट है, और अब उसकी शकल कोट की हो जाती है। इस प्रकार, कपड़ा एक ऐसा मूल्य-रूप प्राप्त कर लेता है, जो उसके शारीरिक रूप से भिन्न होता है। वह मूल्य है, यह सत्य कोट के साथ उसकी समानता से प्रकट होता है, जैसे किसी ईसाई का भेड़ जैसा स्वभाव भगवान के मेमने के साथ उसके सादृश्य से प्रकट होता है।

तो, इस तरह, हम देखते हैं कि मालों के मूल्य का विश्लेषण करके अब तक हम जो कुछ मालूम कर चुके हैं, वह सब कपड़ा खुद, जैसे ही वह एक दूसरे माल के—यानी कोट के—सम्पर्क में आता है, वैसे ही हमें बताने लगता है। मुश्किल सिर्फ यही है कि वह अपने विचार केवल उस एकमात्र भाषा में व्यक्त करता है, जिससे वह परिचित है, अर्थात् मालों की भाषा

में। हमें यह बतलाने के लिये कि खुद उसके मूल्य को श्रम ने मानव-श्रम के अपने अमूर्त रूप में उत्पन्न किया है, यह कहता है कि जिस हद तक कोट की वही क़ीमत है, जो कपड़े की है, और इसलिये जिस हद तक यह मूल्य है, उस हद तक यह भी उसी श्रम से बना है, जिससे कपड़ा बना है। हमें यह बतलाने के लिये कि मूल्य के रूप में उसकी उदात्त वास्तविकता वह नहीं है, जो उसके बकरम के शरीर की है, यह कहता है कि मूल्य की शकल कोट की है और इसलिये जिस हद तक कपड़ा मूल्य है, उस हद तक यह और कोट ऐसे हैं, जैसे मटर के दो दाने। यहां हम यह भी बता दें कि मालों की भाषा की, यहूदियों की इबरानी के अलावा, और भी बहुत सी कमोबेश सही बोलियां हैं। उदाहरण के लिये, जर्मन शब्द "Werthsein", अर्थात "क़ीमत का होना", रोमानी भाषा की क्रियाओं "valere', "valer, "valoir' की अपेक्षा कुछ कम ज़ोर के साथ यह विचार व्यक्त करता है कि 'क' नामक माल के साथ 'ख' नामक माल का समीकरण करना 'क' नामक माल का अपना मूल्य प्रकट करने का खास ढंग है। Paris vaut bien une messe! (पेरिस की क़ीमत इतनी ज़रूर है कि एक बार प्रभु-भोज की प्रार्थना में शामिल हो लिया जाये!)

इसलिये, हमारे समीकरण में मूल्य का जो सम्बंध व्यक्त किया गया है, उसके द्वारा 'ख' नामक माल का शारीरिक रूप 'क' नामक माल का मूल्य रूप बन जाता है, अथवा 'ख' नामक माल का शरीर 'क' नामक माल के मूल्य के लिये दर्पण का काम करता है।[1] मूल्य in propria persona (मूर्त्त मूल्य) के रूप में, अथवा उस पदार्थ के रूप में, जिसकी शक्ल में मानव-श्रम ने मूर्त्त रूप धारण किया है, 'ख' नामक माल के साथ सम्बंध स्थापित करके 'क' नामक माल 'ख' नामक उपयोग-मूल्य को उस तत्त्व में बदल डालता है, जिसमें वह अपना—खुद 'क' का—मूल्य व्यक्त करता है। 'क' का मूल्य जब इस प्रकार 'ख' के उपयोग-मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, तब वह सापेक्ष मूल्य का रूप धारण कर लेता है।

(ख) सापेक्ष मूल्य का परिमाणात्मक निर्धारण

हर वह माल, जिसका हमें मूल्य व्यक्त करना होता है, एक निश्चित मात्रा की उपयोगी वस्तु होता है, जैसे १५ बुशेल अनाज या १०० पौंड कहवा। और किसी भी माल की एक खास मात्रा में मानव-श्रम की एक निश्चित मात्रा होती है। इसलिये, मूल्य-रूप को न केवल सामान्य तौर पर मूल्य को व्यक्त करना चाहिये, बल्कि उसे किसी निश्चित मात्रा के मूल्य को व्यक्त करना चाहिये। अतएव, 'ख' नामक माल के साथ 'क' नामक माल का—या कोट के साथ कपड़े का—जो मूल्य का सम्बंध है, उसमें कोट न सिर्फ़ आम तौर पर मूल्य के रूप

---

[1] एक ढंग से, जो बात मालों के लिये सच है, वह इनसानों के लिये भी सच है। इनसान चूंकि न तो हाथ में दर्पण लेकर इस दुनिया में आता है और न ही फ़िख़्तेवादी दार्शनिक बनकर, जिसके लिये "मैं मैं हूं" कह देना ही पर्याप्त होता है, इसलिये इनसान अपने को पहले दूसरे इनसानों में देखकर पहचानता है। पीटर जब पहले अपने ही प्रकार के प्राणी के रूप में पौल से अपनी तुलना कर लेता है, तभी वह अपने आपको इनसान के रूप में पहचान पाता है। और तब पौल अपने समस्त पौलीय व्यक्तित्व को लिये हुए पीटर के लिये मनुष्य जाति का प्रतिनिधि रूप बन जाता है।

में गुणात्मक दृष्टि से कपडे के बराबर हो जाता है, बल्कि कोट की एक निश्चित मात्रा (१ कोट) कपडे की एक निश्चित मात्रा (२० गज) का सम मूल्य बन जाती है।

२० गज कपडा = १ कोट या २० गज कपडे की कीमत है एक कोट, – इस समीकरण का मतलब यह है कि दोनो में मूल्य तत्त्व (जमे हुए श्रम) की एक सी मात्रा निहित है, अर्थात दोना माला में श्रम की बराबर मात्रा अथवा बराबर श्रम-काल खच हुआ है। लेकिन बुनाई या सिलाई के श्रम की उत्पादकता में आने वाले प्रत्येक परिवतन के साथ २० गज कपडे या १ कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल बदलता रहता है। अब हमें इसपर विचार करना है कि ऐसे परिवतनो का मूल्य की सापेक्ष अभिव्यजना के परिमाणात्मक पहलू पर क्या प्रभाव पडता है।

१) मान लीजिये कि कोट का मूल्य स्थिर रहता है[1], मगर कपडे का मूल्य बदल जाता है। जसे कि यदि सन पदा करने वाली धरती की उवरता नष्ट हो जाये और उसके परिणामस्वरूप सन के बने कपडे के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल दुगना हो जाये, तो उस कपडे का मूल्य भी दुगना हो जायेगा। तब इस समीकरण के बजाय कि २० गज कपडा = १ कोट, यह समीकरण होगा कि २० गज कपडा = २ कोट, क्योकि २० गज कपडे में अब जितना श्रम काल निहित होगा, १ कोट में उसका महज आधा होगा। दूसरी तरफ, यदि मान लीजिये कि उन्नत ढग के करघो के परिणामस्वरूप यह श्रम काल आधा रह जाये, तो कपड का मूल्य भी आधा रह जायेगा। और तब यह समीकरण होगा कि २० गज कपडा = १/२ कोट। अतएव यदि 'ख' नामक माल का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो 'क' नामक माल का सापेक्ष मूल्य – अर्थात 'ख' नामक माल के रूप में व्यक्त किया गया उसका मूल्य – 'क' के मूल्य के अनुलोम अनुपात में घटता बढता है।

२) मान लीजिये कि कपडे का मूल्य स्थिर रहता है, मगर कोट का मूल्य बदल जाता है। ऐसी परिस्थिति में, उदाहरण के लिये यदि ऊन की फसल अच्छी न होने के कारण कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल पहले से दुगना हो जाता है, तो इस समीकरण के बदले कि २० गज कपडा = १ कोट, समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज कपडा = १/२ कोट। दूसरी तरफ, यदि कोट का मूल्य आधा रह जाता है, तो समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज कपडा = २ कोट। इसलिये, यदि 'क' नामक माल का मूल्य स्थिर रहता है, तो 'ख' नामक माल के रूप में व्यक्त होने वाला उसका सापेक्ष मूल्य 'ख' के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढता है।

यदि हम १ और २ दृष्टातो में दिये हुए अलग-अलग उदाहरणो का मुकाबला करें, तो हम देखेंगे कि सापेक्ष मूल्य के परिमाण में सवथा विरोधी कारणो से एक सा परिवतन हो सकता है। इस प्रकार, जब २० गज कपडा = १ कोट का समीकरण २० गज कपडा = २ कोट में बदलता है, तो उसके दो कारण हो सकते ह – या तो यह कि कपडे का मूल्य पहले से दुगना हो गया है, और या यह कि कोट का मूल्य पहले से आधा रह गया है। और जब वही समीकरण २० गज कपडा = १/२ कोट का रूप लेता है, तब उसके भी दो कारण हो सकते ह – या तो यह कि कपडे

---

[1] इसके पहले के पष्ठो मे यदा-कदा और यहा पर भी 'मूल्य" शब्द का उस मूल्य के अथ मे प्रयोग हुआ है जिसकी मात्रा निर्धारित हो चुकी है, अथवा यह कहिये कि मूल्य के परिमाण के अथ मे उसका प्रयोग हुआ है।

का मूल्य पहले से आधा रह गया है, और या यह कि कोट का मूल्य पहले से दुगना हो गया है।

३) मान लीजिये कि कपडे तथा कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल की क्रमश मात्रायें एक ही दिशा और एक से अनुपात में बदलती हैं। इस सूरत में, कपडे के तथा कोट के मूल्य चाहे जितने बदल जायें, पर २० गज कपडा १ कोट के ही बराबर रहता है। पर जैसे ही उनका किसी ऐसे तीसरे माल से मुकाबला किया जाता है, जिसका मूल्य स्थिर रहा है, वैसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मूल्य बदल गया है। यदि तमाम मालो के मूल्य एक साथ और एक ही अनुपात में घट जायें या बढ जायें, तो उनके सापेक्ष मूल्यो में कोई परिवर्तन न होगा। उनके मूल्य में होने वाला वास्तविक परिवर्तन इस बात से जाहिर होगा कि एक निश्चित समय में अब पहले से कितने कम या ज्यादा परिमाण में माल तैयार होते हैं।

४) सम्भव है कि कपडे के तथा कोट के उत्पादन के लिये क्रमश आवश्यक श्रम-काल और उसके फलस्वरूप इन मालो का मूल्य एक साथ और एक ही दिशा में बदले, लेकिन दोनो के बदलने की गति समान न हो, या सम्भव है कि दोनो उल्टी दिशाओ में बदले या किसी और ढग से बदले। इस तरह जितनी अलग अलग सूरतें मुमकिन हैं, उनका किसी माल के सापेक्ष मूल्य पर क्या प्रभाव पडेगा, यह १, २ और ३ के परिणामो से निगमन करके जाना जा सकता है।

अतएव, मूल्य के परिमाण में होने वाले वास्तविक परिवर्तन अपनी सापेक्ष अभिव्यजना में—अर्थात सापेक्ष मूल्य का परिमाण व्यक्त करने वाले समीकरण में—न तो असदिग्ध रूप में प्रतिबिम्बित होते ह और न ही सपूर्ण रूप में। किसी माल का मूल्य स्थिर रहते हुए भी उसका सापेक्ष मूल्य बदल सकता है। यह भी सम्भव है कि उसका मूल्य बदलते रहने पर भी उसका सापेक्ष मूल्य स्थिर रहे। और आखिरी बात यह है कि मूल्य के परिमाण में तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यजना में एक साथ होने वाले परिवर्तनो के लिये मात्रा की दृष्टि से एक जैसा होना कतई जरूरी नहीं है।[1]

---

[1] मूल्य के परिमाण तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यजना के बीच पायी जाने वाली इस असगति से घटिया किस्म के अर्थशास्त्रियो ने अपनी परम्परागत चालाकी से फायदा उठाया है। उदाहरण के लिये "एक बार यह मान लीजिये कि 'क' का मूल्य इसलिये गिर जाता है कि 'ख' का, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, चढ जाता है, हालाकि इस बीच 'क' मे पहले से कम श्रम खर्च नही हुआ है, और यह मानते ही आपका मूल्य का सामान्य सिद्धान्त भरराकर गिर पडता है जब उसने (रिकार्डो ने) यह मान लिया कि 'ख' की अपेक्षा 'क' का मूल्य चढ जाने पर 'क' की अपेक्षा 'ख' का मूल्य गिर जाता है, तब उसने वह नीव ही काट दी, जिसपर उसकी यह शानदार स्थापना टिकी थी कि किसी भी माल का मूल्य सदा उसमे निहित श्रम द्वारा निर्धारित होता है। क्योकि यदि 'क' की लागत मे होने वाला परिवर्तन न केवल 'ख' की अपेक्षा, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, स्वय उसके मूल्य को बदल देता है, बल्कि 'क' की अपेक्षा 'ख' के मूल्य को भी बदल देता है, हालाकि 'ख' को पैदा करने के लिये आवश्यक श्रम-मात्रा मे कोई तबदीली नही हुई है, तो न सिर्फ वह सिद्धान्त भरराकर गिर पडता है, जिसका दावा है कि किसी वस्तु मे जितना श्रम लगाया जाता है, वह उसके मूल्य का नियमन करता है, बल्कि वह सिद्धान्त भी झूठा हो जाता है

३) मूल्य का सम-मूल्य रूप

हम यह देख चुके हैं कि जब 'क' नामक माल (कपडा) अपने से भिन्न प्रकार के एक माल (कोट) के उपयोग-मूल्य के रूप में अपना मूल्य व्यक्त करता है, तब वह उसके साथ-साथ उस दूसरे माल पर भी मूल्य के एक विशिष्ट रूप की, अर्थात् मूल्य के सम-मूल्य रूप की, छाप अंकित कर देता है। 'कपडा' नामक माल अपने मूल्य धारण करने के गुण को इस तथ्य के द्वारा प्रकट करता है कि कोट का उसके अपने शारीरिक रूप से भिन्न कोई मूल्य रूप धारण किये बगर ही कपडे के साथ समीकरण कर दिया जाता है। यह तथ्य कि कपडे में मूल्य है, इस कथन द्वारा व्यक्त किया जाता है कि कोट का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, जब हम यह कहते हैं कि कोई माल सम-मूल्य रूप में है, तब हम वास्तव में यह तथ्य व्यक्त करते ह कि अन्य मालो के साथ उसका सीधा विनिमय हो सकता है।

जब कोट जसा कोई माल कपडे जसे किसी दूसरे माल के सम-मूल्य का काम करता है और जब इसके परिणामस्वरूप कोट में यह विशेष गुण पैदा हो जाता है कि उसका कपडे के साथ सीधा विनिमय किया जा सकता है, तब उससे हमें यह बिल्कुल पता नहीं चलता कि दोनों का किस अनुपात में विनिमय हो सकता है। चूकि कपडे के मूल्य का परिमाण दिया हुआ है, इसलियें यह अनुपात कोट के मूल्य पर निभर करता है। चाहे कोट सम-मूल्य का काम करे और कपडा सापेक्ष मूल्य का, या चाहे कपडा सम मूल्य का काम करे और कोट सापेक्ष मूल्य का, कोट के मूल्य का परिमाण हर हालत में उसके मूल्य रूप से स्वतन इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन के लिये कितना श्रम काल आवश्यक है। लेकिन जब कभी कोट मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य की स्थिति में आ जाता है, तव उसका मूल्य कोई परिमाणात्मक अभिव्यजना नहीं प्राप्त करता, इसके विपरीत, तब 'कोट' नामक माल केवल किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा के रूप में सामने आता है।

मिसाल के लिये, ४० गज कपडे की कीमत – क्या है? २ कोट। 'कोट' नामक माल यहा चूकि सम-मूल्य की भूमिका अदा करता है, चूकि यहा कपडे के विपरीत 'कोट' नामक उपयोग-मूल्य मूल्य के मूत्त रूप के तौर पर सामने आता है, इसलिये कोटो की एक निश्चित सख्या कपडे में पाये जाने वाले मूल्य की एक निश्चित मात्रा को व्यक्त करने के लिये काफी

जिसका कहना है कि किसी वस्तु की लागत उसके मूल्य का नियमन करती है।" (J Broadhurst, "*Political Economy* [जे० ब्रौडहस्ट, 'अथशास्त्र'], London, 1842 पृष्ठ ११ और १४।)

यदि यह बात सच है, तो मि० ब्रौडहस्ट उतनी ही सचाई के साथ यह भी कह सकते थे कि "इन प्रभागा पर विचार कीजिये १०/२०, १०/५०, १०/१०० इत्यादि। इनमे १० की सख्या मे कोई परिवतन नही होता और फिर भी उसका सानुपातिक परिमाण – यानी २०, ५०, १०० सख्याओ आदि की तुलना मे उसका परिमाण – बराबर घटता जाता है। अतएव, यह महान् सिद्धान्त झूठा सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पूण सख्या के परिमाण का, जसे कि १० के परिमाण का, इस बात से "नियमन" होता है कि उसमे कितनी इकाइया मौजूद है।" – [इस अध्याय के अनुभाग ४ मे पृ० ६५-६६ के फुटनोट २ पर लेखक ने बताया है कि "घटिया क़िस्म के अथशास्त्र" से उसका क्या मतलब है।—के० ए०]

होती है। इसलिये दो कोट ४० गज कपडे के मूल्य की मात्रा को तो व्यक्त कर सकते ह, लेकिन वे खुद अपने मूल्य की मात्रा को कभी व्यक्त नहीं कर सकते। इस तथ्य को सतही तौर पर समझने के कारण कि मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य सदा केवल किसी वस्तु के, किसी उपयोग-मूल्य के, साधारण परिमाण के रूप में ही सामने आता है, बेली, अपने अनेक पूवगामियो तथा अनुगामियो की तरह, इस ग़लतफ़हमी में फस गये ह कि मूल्य की अभिव्यजना में केवल एक परिमाणात्मक सम्बध ही प्रकट होता है। सचाई यह है कि जब कोई माल सम-मूल्य का काम करता है, तब उसका अपना मूल्य परिमाणात्मक ढग से निर्धारित नहीं होता।

सम-मूल्य के रूप पर विचार करते हुए जो पहली विलक्षणता हमारा ध्यान खींचती है, वह यह है कि उपयोग-मूल्य अपनी उल्टी चीज़ – मूल्य – की अभिव्यक्ति का रूप बन जाता है, यह मूल्य का इद्रिय-गम्य रूप बन जाता है।

माल का शारीरिक रूप उसका मूल्य-रूप बन जाता है। लेकिन यह बात अच्छी तरह समझ लीजिये कि 'ख' नामक किसी भी माल के साथ यह quid pro quo (अदल बदल) केवल उसी वक्त होता है, जब 'क' नामक कोई दूसरा माल उसके साथ मूल्य का सम्बध स्थापित करता है, और तब भी वह अदल-बदल केवल इस सम्बध की सीमाओ के भीतर ही होता है। कोई भी माल चूकि खुद अपने सम-मूल्य का काम नहीं कर सकता और इस तरह खुद अपने शारीरिक रूप को अपने मूल्य की अभिव्यजना में नहीं बदल सकता, इसलिये हरेक माल को अपने सम-मूल्य के रूप में किसी और माल को चुनना पडता है और उस दूसरे माल के उपयोग-मूल्य को, अर्थात् उसके शारीरिक रूप को, अपने मूल्य के रूप में स्वीकार करना पडता है।

भौतिक पदार्थों के रूप में, यानी उपयोग-मूल्यो के रूप में, मालो के लिये हम जिन मापो का प्रयोग करते ह, उनमें से एक के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मिस्री का कूजा चूकि एक वस्तु है, इसलिये वह भारी होता है और उसमें वज़न होता है। लेकिन इस वज़न को हम न तो देख सकते ह और न छू सकते हें। तब हम लोहे के कुछ ऐसे टुकडे इस्तेमाल करते ह, जिनका वज़न पहले से निर्धारित कर लिया गया है। जैसे मिस्री का कूजा वज़न की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है, वैसे ही लोहा भी लोहे के तौर पर वज़न की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है। फिर भी जब हम मिस्री के कूजे को एक निश्चित वज़न के रूप में व्यक्त करना चाहते ह, तब हम उसका लोहे के साथ वज़न का सम्बध स्थापित कर देते हें। इस सम्बध में लोहा एक ऐसी वस्तु का काम करता है, जो वज़न के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसलिये लोहे की एक निश्चित मात्रा मिस्री के वज़न की माप का काम करती है और मिस्री के कूजे के सम्बध में मूर्तिमान वज़न – अथवा वज़न की अभिव्यक्ति के रूप – का प्रतिनिधित्व करती है। लोहा यह भूमिका केवल इस सम्बध के भीतर ही अदा करता है, जो मिस्री या कोई और ऐसी वस्तु, जिसका वज़न मालूम करना हो, लोहे के साथ स्थापित करती है। यदि ये दोनो वस्तुए वज़नदार न होतीं, तो वे आपस में यह सम्बध स्थापित नहीं कर सकती थीं, और इसलिये तब एक वस्तु दूसरी के वज़न को व्यक्त करने का काम नहीं कर सकती थी। जब हम इन दोनो वस्तुओ को तराज़ू के पलडो पर रख देते ह, तब हम देखते ह कि सचमुच वज़न के रूप में वे दोनो एक ही ह और इसलिए जब उनको सही अनुपात में लिया जाता है, तब दोनो का एक सा वज़न होता है। जिस प्रकार 'लोहा' नामक पदाथ, वज़न की माप के रूप में, मिस्री के कूजे के सम्बध में केवल वज़न का ही प्रतिनिधित्व करता है, ठीक उसी प्रकार

मूल्य की हमारी अभिव्यजना में 'कोट' नामक भौतिक वस्तु कपडे के सम्बध में केवल मूल्य का ही प्रतिनिधित्व करती है।

किन्तु यह सादृश्य यहा समाप्त हो जाता है। मिस्री के कूजे के वजन को व्यक्त करते हुए लोहा दोनों वस्तुओ में समान रूप से पाये जाने वाले एक स्वाभाविक गुण का – अर्थात वजन का – प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन कपडे के मूल्य को व्यक्त करते हुए कोट दोनो वस्तुओ के एक अस्वाभाविक गुण का, एक विशुद्ध सामाजिक चीज़ का – अर्थात् उनके मूल्य का – प्रतिनिधित्व करता है।

किसी भी माल के – उदाहरण के लिये, कपडे के – मूल्य का सापेक्ष रूप चूकि उस माल के मूल्य को इस तरह व्यक्त करता है, जैसे वह उसके शारीरिक तत्त्व तथा गुणो से सर्वथा भिन्न हो, यानी जैसे वह, मिसाल के लिये, कोट के समान हो, इसलिये खुद इस प्रकार की अभिव्यजना से भी हमें यह सकेत मिलता है कि उसकी तह में कोई सामाजिक सम्बध विद्यमान है। सम मूल्य रूप में इसकी ठीक उल्टी बात होती है। इस रूप का सार-तत्त्व ही यह है कि भौतिक माल खुद, – मिसाल के लिये, कोट, – जिस हालत में वह है, उसी हालत में मूल्य को व्यक्त करता है, और स्वय प्रकृति ने उसे मूल्य का रूप दे रखा है। जाहिर है, यह बात केवल तभी तक सच रहती है, जब तक मूल्य का वह सम्बध कायम रहता है, जिसमें कोट कपडे के सम मूल्य की स्थिति में है।[1] लेकिन किसी भी चीज़ के गुण चूकि दूसरी चीज़ो के साथ उसके सम्बधो का फल नहीं होते, बल्कि इन सम्बधो द्वारा केवल अपने को प्रकट करते है, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह कोट को वजनदार होने या हमें गरम रखने का गुण प्रकृति से मिला है, उसी तरह उसका सम मूल्य रूप – यानी दूसरे मालो के साथ सीधा विनिमय हो जाने का गुण – भी उसे प्रकृति से प्राप्त हुआ है। इसीलिये सम मूल्य रूप की शकल एक पहेली जैसी है, जिसे पूजीवादी अर्थशास्त्री उस वक्त तक नहीं देख पाता, जब तक कि यह रूप पूरी तरह विकसित होकर मुद्रा की शक्ल में उसके सामने नहीं खडा हो जाता। तब वह सोने और चादी के रहस्यमय रूप को उनकी जगह पर आखो को कम चकाचौंध करने वाले मालो की प्रतिस्थापना करके और ऐसे तमाम सम्भव मालो की सूची नित नये आत्मसतोष के साथ गिनाकर रफा-दफा करने की कोशिश करता है, जिन्होने कभी न कभी सम-मूल्य की भूमिका अदा की है। उसे इस बात का लेश मात्र भी आभास नहीं होता कि मूल्य की सबसे सरल अभिव्यजना ने – मसलन २० गज कपडा = १ कोट के समीकरण ने – सम-मूल्य रूप की पहेली को पहले ही से हमारे बूझने के लिये पेश कर दिया है।

सम-मूल्य का काम करने वाले माल का शरीर अमूर्त्त मानव-श्रम के मूर्त्त रूप के तौर पर सामने आता है और उसके साथ-साथ वह किसी विशिष्ट रूप से उपयोगी मूर्त्त श्रम की पैदावार होता है। अत यह मूर्त्त श्रम अमूर्त्त मानव-श्रम को व्यक्त करने का माध्यम बन जाता है। यदि, एक ओर, कोट की गिनती इसके सिवा और किसी रूप में नहीं होती कि वह अमूर्त्त मानव-श्रम का मूर्त्त रूप है, तो, दूसरी ओर, कोट में सिलाई का जो श्रम सचमुच सचित हुआ

---

[1] सम्बधो की इस प्रकार की अभिव्यजनाए साधारणतया बहुत अजीब ढग की होती है। हेगेल ने उनको 'प्रतिजनित परिकल्पनाए" कहा है। उदाहरण के लिये, एक आदमी यदि राजा है तो केवल इसीलिये कि दूसरे आदमियो का उसके साथ प्रजा का सम्बध है। वे लोग, इसके विपरीत, मानो यह इसलिये प्रजा समझते है कि वह एक आदमी राजा है।

है, उसकी इसके सिवा और किसी तरह गिनती नहीं होती कि उसके रूप में अमूर्त्त मानव-श्रम मूर्त्त हुआ है। कपडे के मूल्य की अभिव्यजना में सिलाई के श्रम की उपयोगिता कोट सीने में नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु तयार करने में है, जिसको देखते ही हम तुरत यह पहचान लेते ह कि वह मूल्य है और इसलिये श्रम का जमाव है, किन्तु ऐसे श्रम का जमाव है, जिसका उस श्रम के साथ कोई भेद नहीं किया जा सकता, जो कपडे के मूल्य में मूर्त्त हुआ है। मूल्य के ऐसे दपण का काम करने के लिये यह जरूरी है कि सिलाई के श्रम में आम तौर पर मानव-श्रम होने के उसके अमूर्त्त गुण के सिवा और कोई चीज न झलकने पाये।

जैसे बुनाई में, वैसे ही सिलाई में भी मानव-श्रम-शक्ति खर्च होती है। इसलिये दोनों में ही मानव-श्रम होने का एक सामान्य गुण उपस्थित है, और इसलिये यह मुमकिन है कि कुछ परिस्थितियों में, जसे कि मूल्य के उत्पादन में, उनपर केवल इसी दृष्टि से विचार किया जाये। इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है। लेकिन मूल्य की अभिव्यजना में नकशा एकदम उलट जाता है। मिसाल के लिये, इस तथ्य को किस प्रकार व्यक्त किया जाये कि जब बुनाई का श्रम कपडे का मूल्य पैदा करता है, तब वह बुनाई का श्रम होने के नाते नहीं, बल्कि मानव श्रम होने के अपने सामान्य गुण के नाते यह मूल्य पदा करता है? इस तथ्य को व्यक्त करने का सरल उपाय यह है कि बुनाई के श्रम के मुकाबले में वह दूसरे प्रकार का मूर्त्त श्रम (इस उदाहरण में सिलाई का श्रम) खडा कर दिया जाये, जो बुनाई के श्रम की पदावार का सम-मूल्य पैदा करता है। जिस प्रकार कोट अपने शारीरिक रूप में मूल्य की प्रत्यक्ष अभिव्यजना बन गया था, उसी प्रकार अब सिलाई का श्रम—श्रम का एक मूर्त्त रूप—सामान्य मानव-श्रम का प्रत्यक्ष और इन्द्रियगम्य साकार रूप बनकर सामने आता है।

अतएव, सम-मूल्य रूप की दूसरी विलक्षणता यह है कि मूर्त्त श्रम वह रूप बन जाता है, जिसके द्वारा उसका उल्टा, अमूर्त्त मानव-श्रम अपने को प्रकट करता है।

लेकिन यह मूर्त्त श्रम—हमारे उदाहरण में सिलाई का श्रम—चूकि अभिन्नित मानव-श्रम के रूप में गिना जाता है और सीधे तौर पर अभिन्नित मानव-श्रम ही माना जाता है, इसलिये वह अन्य किसी भी प्रकार के श्रम के सवसम है और इसलिये कपडे में निहित श्रम के भी सवसम है। परिणामत यद्यपि माल का उत्पादन करने वाले अन्य सभी श्रम की भाति यह भी निजी तौर पर काम करने वाले व्यक्तियों का श्रम होता है, तथापि यह साथ ही साथ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक प्रकृति वाला श्रम भी होता है। इसी कारण उससे एक ऐसी पदावार तयार होती है, जिसका दूसरे मालों से सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, यह सम-मूल्य रूप की तीसरी विलक्षणता है कि निजी तौर पर काम करने वाले व्यक्तियों का श्रम अपनी उल्टी चीज का—यानी प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक श्रम का—रूप धारण कर लेता है।

यदि हम उस महान विचारक की तरफ लौट चलें, जिसने चिन्तन, समाज एव प्रकृति के इतने बहुत से रूपों का और उनमें मूल्य के रूप का भी सबसे पहले विश्लेषण किया था, तो सम मूल्य रूप की अन्तिम दो विलक्षणतायें ज्यादा अच्छी तरह हमारी समझ में आ जायेंगी। मेरा मतलब अरस्तू से है।

सबसे पहले अरस्तू स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते ह कि मालों का मुद्रा रूप मूल्य के सरल रूप की—अर्थात एक माल के मूल्य की किसी दूसरे माल के मूल्य के रूप में अभिव्यजना की—केवल विकसित अवस्था है। कारण, अरस्तू ने लिखा है कि

५ पलंग = १ मकान (κλίναι πέντε ἀντὶ οἰκίας)

और

५ पलंग = इतनी मुद्रा

में कोई अंतर नहीं है

(κλίναι πέντε ἀντὶ ὅσου αἱ πέντε κλίναι)

अरस्तू ने आगे कहा है कि मूल्य का यह सम्बंध, जिससे यह अभिव्यंजना उत्पन्न होती है, यह जरूरी बना देता है कि मकान को गुणात्मक दृष्टि से पलंग के बराबर समझा जाये, और इस तरह उनको बराबर समझे बिना इन स्पष्ट रूप से भिन्न वस्तुओं की एक दूसरे के साथ इस तरह तुलना नहीं की जा सकती, जैसे कि वे एक ही मापदण्ड से नापी जाने वाली मात्राएं हों। उन्होंने लिखा है "विनिमय समानता के बिना नहीं हो सकता, और समानता उस वक्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि दोनों वस्तुएं एक ही मापदण्ड से न नापी जा सकती हों" (οὔτ᾽ ἰσότης μὴ οὔσης συμμετρίας)। लेकिन यहां आकर वह ठहर जाते हैं और मूल्य के रूप का आगे विश्लेषण करना बन्द कर देते हैं। उनके शब्द हैं "किन्तु वास्तव में यह असम्भव है (τῇ μὲν οὖν ἀληθείᾳ ἀδύνατον) कि इतनी असमान वस्तुएं एक मापदण्ड से नापी जा सकती हों," – अर्थात् वे गुणात्मक दृष्टि से बराबर हों। इस प्रकार का समानीकरण इन वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति के प्रतिकूल है और इसलिये केवल "व्यावहारिक उद्देश्य के लिये इस्तेमाल की गयी काम-चलाऊ तरकीब" ही हो सकता है।

इस तरह, अरस्तू ने खुद हमें बता दिया है कि किस चीज ने उनको आगे विश्लेषण नहीं करने दिया, वह चीज थी मूल्य की किसी भी प्रकार की धारणा का अभाव। पलंग और मकान दोनों में वह कौनसी समान वस्तु है, वह कौनसा समान तत्त्व है, जिसके कारण यह सम्भव होता है कि पलंगों का मूल्य मकान के द्वारा व्यक्त हो जाये? अरस्तू का कहना है कि ऐसी कोई वस्तु असल में हो ही नहीं सकती। भला हो क्यों नहीं सकती? मकान की पलंगों से तुलना करने पर मकान उस हद तक जरूर पलंगों के समान किसी चीज का प्रतिनिधित्व करता है, जिस हद तक कि वह उस चीज का प्रतिनिधित्व करता है, जो पलंगों तथा मकान दोनों में सचमुच बराबर है। और वह चीज है – मानव-श्रम।

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था, जिसने अरस्तू के यह समझने में बाधा डाली कि मालों को मूल्यवान मानना हर प्रकार के श्रम को समान मानव-श्रम के रूप में और इसलिये समान गुण के श्रम के रूप में व्यक्त करने का ही एक ढंग है। यूनानी समाज दासता पर आधारित था, और इसलिये उसका स्वाभाविक आधार था – मनुष्यों तथा उनकी श्रम शक्तियों की असमानता। मूल्य की अभिव्यंजना का रहस्य यह है कि हर प्रकार का श्रम क्योंकि और जिस हद तक साधारण मानव-श्रम होता है, इसलिये और उस हद तक वह समान और सम-मूल्य होता है। लेकिन यह रहस्य उस वक्त तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि मानव-समता का विचार एक लोकप्रिय पूर्वग्रह की स्थिरता नहीं प्राप्त कर लेता। किन्तु यह केवल उसी समाज में सम्भव है, जिसमें श्रम की पैदावार का अधिकतर भाग मालों का रूप धारण कर लेता है और इसके परिणामस्वरूप जिसमें मनुष्य और मनुष्य का प्रमुख सम्बंध मालों के मालिकों का हो जाता है। अरस्तू की प्रतिभा का चमत्कार इसी बात में प्रकट होता है कि उन्होंने मालों के

मूल्य की अभिव्यजना में समानता का सम्बध देखा। वह जिस समाज में रहते थे, केवल उसकी विशेष परिस्थितियो ने ही उन्हे यह पता नहीं लगाने दिया कि इस समानता की तह में "सचमुच" क्या था।

४) मूल्य का प्राथमिक रूप अपनी सम्पूर्णता में

माल के मूल्य का प्राथमिक रूप भिन्न प्रकार के किसी दूसरे माल के साथ उसके मूल्य के सम्बध को व्यक्त करने वाले समीकरण में निहित है, अर्थात् वह इस दूसरे माल के साथ उसके विनिमय के सम्बध में निहित है। 'क' नामक माल का मूल्य गुणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि 'ख' नामक माल का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। उसका मूल्य परिमाणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि 'ख' की एक निश्चित मात्रा का 'क' की एक निश्चित मात्रा के साथ विनिमय हो सकता है। दूसरे शब्दो में, विनिमय-मूल्य का रूप धारण करके किसी भी माल का मूल्य स्वतत्र एव निश्चित अभिव्यजना प्राप्त कर लेता है। जब इस अध्याय के आरम्भ में हमने आम बोल चाल की भाषा का प्रयोग करते हुए यह कहा था कि माल उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य दोनो होता है, तब यदि बिल्कुल सही-सही शब्दो का प्रयोग किया जाये, तो हमने ग़लत बात कही थी। कोई भी माल उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु होता है और मूल्य होता है। इस दोहरी चीज के रूप में, जो कि वह है, वह उसी वक्त प्रकट हो जाता है, जब उसका मूल्य एक स्वतत्र रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब उसका मूल्य विनिमय-मूल्य का रूप धारण कर लेता है। लेकिन अलग पडे रहते हुए वह यह रूप कभी धारण नहीं करता। यह रूप वह केवल उसी समय धारण करता है, जब उसका अपने से भिन्न प्रकार के किसी दूसरे माल के साथ मूल्य का – अथवा विनिमय का – सम्बध स्थापित हो जाता है। एक बार यह समझ लेने के बाद यदि ऊपर दी गयी शब्दावली का प्रयोग किया जाये, तो कोई बुराई नहीं है, वह केवल सकेत चिन्ह का काम करेगी।

हमारे विश्लेषण से सिद्ध हो चुका है कि माल के मूल्य का रूप, अथवा अभिव्यजना, मूल्य की प्रकृति से उत्पन्न होता है, न कि मूल्य तथा उसका परिमाण विनिमय-मूल्य के रूप में अपनी अभिव्यजना से उत्पन्न होते ह। किन्तु यह बात जिस प्रकार व्यापारवादियो के कट्टर विरोधी बास्तियात जैसे स्वतत्र व्यापार के आधुनिक एजेटो को, उसी प्रकार खुद व्यापारवादिया और उनके आधुनिक भक्तो फेरियेर, गानिल्ह[1] आदि को भी भ्रम में डाले हुए है। व्यापारवादी मूल्य की अभिव्यजना के गुणात्मक पहलू पर और इसलिये मालो के सम-मूल्य रूप पर खास जोर देते ह, जो मुद्रा की शकल में अपना पूर्ण विकास प्राप्त करता है। दूसरी ओर, स्वतत्र व्यापार के आधुनिक फेरीवाले, जिनके लिये किसी भी दाम पर अपनी जिन्स से पिण्ड छुडाना जरूरी है, सबसे ज्यादा जोर मूल्य के सापेक्ष रूप के परिमाणात्मक पहलू पर देते हैं। इसलिये, उनके लिये न तो मूल्य और न ही मूल्य का परिमाण मालो के विनिमय-

---

[1] चुगी के सब इस्पेक्टर F L. A Ferrier द्वारा लिखित "*Du gouvernement considéré dans ses rapports avec le commerce*", Paris 1805 और Charles Ganilh द्वारा लिखित *Des Systèmes d'Economie Politique* दूसरा सस्करण, Paris 1821

सम्बध द्वारा उनकी अभिव्यजना के सिवा और कहीं पर है, यानी उनके लिये वे राव के बाजार-भावो के सिवा और कहीं नहीं हं। मक्लिप्रोड, जिन्होने लोम्बार्ड स्ट्रीट के गड़बड़ विचारो को अत्यत पण्डिताऊ पोशाक पहनाने का काम अपने कधो पर लिया है, अधविश्वासी व्यापारवादियो और स्वतत्र व्यापार के जाग्रत फेरीवालो के बीच एक सफल वणसकर ह।

'ख' के साथ 'क' के मूल्य के सम्बध को व्यक्त करने वाले समीकरण में 'क' के मूल्य की 'ख' के रूप में जो अभिव्यजना निहित है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इस सम्बध में 'क' का शारीरिक रूप केवल एक उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है और 'ख' का शारीरिक रूप केवल मूल्य के रूप अथवा शक्ल की तरह सामने आता है। इस तरह, हरेक माल के भीतर उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच जो विरोध अथवा व्यतिरेक निहित है, वह उस समय स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है, जब दो मालो के बीच इस प्रकार का सम्बध स्थापित कर दिया जाता है कि जिस माल का मूल्य व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढग से महज उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है, और जिस माल के रूप में इस मूल्य को व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढग से महज विनिमय-मूल्य की तरह सामने आता है। इसलिये किसी भी माल के मूल्य का प्राथमिक रूप वह प्राथमिक रूप है, जिसमें कि उस माल में निहित, उपयोग मूल्य और मूल्य का व्यतिरेक प्रकट होता है।

श्रम की प्रत्येक पैदावार समाज की सभी अवस्थाओ में उपयोग-मूल्य होती है। किंतु यह पदावार सामाजिक विकास के एक खास ऐतिहासिक युग के आरम्भ हो जाने पर ही माल बनती है,—अर्थात जब वह युग आरम्भ हो जाता है, जिसमें किसी भी उपयोगी चीज के उत्पादन पर खच किया गया श्रम उस चीज के एक वस्तुगत गुण के रूप में—यानी उसके मूल्य के रूप में—व्यक्त होने लगता है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राथमिक मूल्य रूप ही वह आदिम रूप है, जिसमें श्रम की पदावार इतिहास में पहले-पहल माल की तरह सामने आती है, और ऐसी पदावार मूल्य रूप के विकास के साथ-साथ और समान गति से धीरे-धीरे माल का रूप धारण करती जाती है।

मूल्य के प्राथमिक रूप की त्रुटियां पहली दृष्टि में ही दिखाई दे जाती ह वह महज एक बीजाणु है, और दाम रूप की परिपक्वता प्राप्त करने के लिये इसका अनेक रूपातरणो में से गुजरना जरूरी है।

'क' नामक माल के मूल्य की 'ख' नामक किसी भी अन्य माल के रूप में अभिव्यजना केवल 'क' के उपयोग मूल्य से उसके मूल्य के भेद को स्पष्ट करती है, और इसलिये वह 'क' का महज 'ख' नामक एक ही अन्य माल से विनिमय का सम्बध स्थापित करती है। लेकिन यह अभिव्यजना सभी मालो के साथ 'क' की गुणात्मक समता और परिमाणात्मक अनुपातिता व्यक्त करने से अभी बहुत दूर है। किसी भी एक माल के प्राथमिक सापेक्ष मूल्य रूप के साथ किसी एक और माल का एक अकेला सदृश सम-मूल्य रूप होता है। अतएव, कपडे के मूल्य की सापेक्ष अभिव्यजना में कोट अकेले एक माल के सम्बध में—यानी अकेले कपडे के सम्बध में—ही सम-मूल्य का रूप धारण करता है, या यू कहिये कि सीधे तौर पर केवल कपडे के साथ ही विनिमय करने के योग्य बनता है।

इस सब के बावजूद, मूल्य का प्राथमिक रूप एक सहज सक्रमण द्वारा अधिक पूर्ण रूप म बदल जाता है। यह सच है कि प्राथमिक रूप के द्वारा 'क' नामक किसी माल का मूल्य

केवल एक ही अन्य माल के रूप में व्यक्त होता है। परन्तु यह एक माल कोट, लोहा, अनाज या और किसी भी तरह का माल हो सकता है। इसलिये एक ही माल के मूल्य की अनेक प्राथमिक अभिव्यजनाए हो सकती ह।[1] यह केवल इसपर निर्भर करता है कि उसका किस माल के साथ मूल्य का सम्बध स्थापित किया गया है। उसकी समस्त सम्भव अभिव्यजनाओ की सख्या केवल इस बात से सीमित होती है कि उस माल से भिन्न कितने प्रकार के माल ह। अतएव, 'क' के मूल्य की एक अकेली अभिव्यजना को उस मूल्य की अनेक अलग-अलग प्राथमिक अभिव्यजनाओ के एक पूरे क्रम में परिवर्तित किया जा सकता है, और इस क्रम को किसी भी सीमा तक लम्बा किया जा सकता है।

ख) मूल्य का सम्पूर्ण अथवा विस्तारित रूप

'क' माल की 'प' मात्रा = 'ख' माल की 'फ' मात्रा, या = 'ग' माल की 'ब' मात्रा, या = 'घ' माल की 'म' मात्रा, या = 'च' माल की 'य' मात्रा, या = इत्यादि।

(२० गज कपडा = १ कोट, या = १० पौंड चाय, या = ४० पौंड कहवा, या = १ क्वार्टर अनाज, या = २ औंस सोना, या = १/२ टन लोहा, या = इत्यादि।)

१) मूल्य का विस्तारित सापेक्ष रूप

किसी भी माल का – उदाहरण के लिये, कपडे का – मूल्य अब मालो की दुनिया के अन्य असख्य तत्त्वो के रूप में व्यक्त होता है। दूसरा हर माल अब कपडे के मूल्य का दर्पण बन जाता है।[2] इस प्रकार, यह मूल्य पहली बार अपने सच्चे रूप में – अर्थात अभिन्नित मानव-श्रम

---

[1] उदाहरण के लिये, होमर की रचनाओ मे एक वस्तु का मूल्य बहुत सी भिन्न भिन्न वस्तुओ के रूप में व्यक्त किया गया है।

[2] इस कारण, जब कपडे का मूल्य कोटो के रूप मे व्यक्त किया जाता है, तब हम कपडे के कोट-मूल्य की चर्चा कर सकते हैं, जब वह अनाज के रूप मे व्यक्त किया जाता है, तब हम उसके अनाज मूल्य की चर्चा कर सकते हैं, और इसी तरह यह सिलसिला जारी रह सकता है। इस प्रकार की प्रत्येक अभिव्यक्ति हमे यह बताती है कि कोट, अनाज आदि प्रत्येक उपयोग मूल्य के रूप मे जो कुछ प्रकट होता है, वह कपडे का मूल्य है। "विनिमय द्वारा अपने सम्बध को व्यक्त करने वाले किसी भी माल के मूल्य का हम जिस माल के साथ भी उसका मुकाबला किया जाये, उसके अनुसार अनाज-मूल्य, कपडा-मूल्य आदि कह सकते हैं, और, इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार के हजारो मूल्य होते हैं, दुनिया मे जितने प्रकार के माल मौजूद हैं, उतने ही प्रकार के मूल्य भी होते हैं, और वे सब समान रूप से वास्तविक और समान रूप से बराय नाम होते हैं।" (*A Critical Dissertation on the Nature Measures and Causes of Value chiefly in reference to the writings of Mr Ricardo and his followers* By the author of *Essays on the Formation, &c of Opinions* ['मूल्य की प्रकृति, माप और कारणो के विषय मे एक आलोचनात्मक प्रबध – मुख्यतया मि० रिकार्डो

के जमाव के रूप में–सामने आता है। कारण कि इस मूल्य को पदा करने में जो श्रम खर्च हुआ है, वह अब साफ-साफ उस श्रम के रूप में प्रकट होता है, जो हर प्रकार के अन्य मानव-श्रम के बराबर है, चाहे वह श्रम सिलाई का श्रम हो, या हल चलाने का, या खान खोदने का, या और किसी प्रकार का, और चाहे वह श्रम कोटो के रूप में अथवा अनाज के रूप में, लोहे के रूप में और या सोने के रूप में मूर्त रूप धारण करता हो। अब कपड़ा का अपने मूल्य के रूप के फलस्वरूप अन्य प्रकार के किसी एक माल के साथ नहीं, बल्कि मालों की पूरी दुनिया के साथ एक सामाजिक सम्बंध स्थापित हो जाता है। माल के रूप में कपड़ा इस दुनिया का नागरिक है। साथ ही मूल्य के समीकरणों का यह अन्तहीन क्रम बताता है कि जहा तक किसी माल के मूल्य का सम्बध है, इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह किस खास रूप या प्रकार के उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है।

२० गज कपडा=१ कोट, इस पहले रूप में बहुत सम्भव है कि यह एक विशुद्ध रूप से आकस्मिक घटना हो कि इन दो मालो का निश्चित मात्राओ में विनिमय हो सकता है। इसके विपरीत, दूसरे रूप में वह पृष्ठभूमि हमें तुरन्त दिखाई दे जाती है, जो इस घटना को निर्धारित करती है और जो इस आकस्मिक रूप से बुनियादी तौर पर भिन्न है। कपडे का मूल्य परिमाण में अपरिवर्तित रहता है, चाहे वह कोटो के रूप में व्यक्त किया गया हो, या कहवे के, या लोहे के और या असख्य अन्य मालो के, जिनके अलग अलग मालिको की सख्या भी इतनी ही बडी होती है। दो माला के दो मालिको के बीच अकस्मात स्थापित हो जाने वाला सम्बध अब गायब हो जाता है। यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मालो का विनिमय उनके मूल्य के परिमाण का नियमन नहीं करता, बल्कि, इसके विपरीत, उनके मूल्य का परिमाण उनके विनिमय के अनुपातो का नियमन करता है।

२) विशिष्ट सम मूल्य रूप

कपडे के मूल्य की अभिव्यजना में कोट, चाय, अनाज, लोहा आदि प्रत्यक माल सम मूल्य के रूप में और इसलिये एक ऐसी वस्तु के रूप में सामने आता है, जो मूल्य है। इनमें से प्रत्येक माल का शारीरिक रूप अब बहुत से सम मूल्य रूपो में से एक विशिष्ट सम-मूल्य रूप की तरह सामने आता है। इसी तरह इन अलग-अलग मालो में निहित नाना प्रकार का मूत्त उपयोगी श्रम अब केवल इन नाना रूपो में मूत्त या प्रकट होने वाला अभिन्नित मानव श्रम माना जाता है।

तथा उनके अनुयायियो की रचनाओ के सिलसिले मे'। 'मत निर्माण आदि सम्बधी निबधावली' के लेखक द्वारा लिखित], London, 1825, पृ० ३९।) इस गुमनाम रचना के लेखक एस० वेली थे। अपने जमाने मे इस रचना ने इगलैण्ड मे बहुत हलचल पैदा की थी। वेली का खयाल था कि इस तरह एक ही मूल्य की अनेक सापेक्ष अभिव्यजनाओ की ओर सकेत करके उन्होने यह साबित कर दिया था कि मूल्य की अवधारणा को किसी भी प्रकार निर्धारित करना असम्भव है। उनके अपने विचार चाहे जितने सकुचित रहे हो, फिर भी उन्होने रिकार्डो के सिद्धात की कुछ गम्भीर त्रुटिया पर उगली रख दी थी। इसका प्रमाण यह है कि रिकार्डो के अनुयायियो ने बडी कटुता के साथ उनपर हमला किया था। मिसाल के लिये, देखिये *Westminster Review*।

३) मूल्य के सम्पूर्ण अथवा विस्तारित रूप की त्रुटिया

मूल्य की सापेक्ष अभिव्यजना सब से पहले तो इसलिये अपूर्ण है कि उसको व्यक्त करने वाला क्रम अन्तहीन होता है। हर नये प्रकार का माल तैयार होने के साथ-साथ मूल्य की एक नयी अभिव्यजना की सामग्री तयार हो जाती है और इस तरह मूल्य का प्रत्येक समीकरण जिस शृखला की एक कडी मात्र है, वह शृखला किसी भी क्षण और लम्बी खिच सकती है। दूसरे, यह मूल्य की बहुत सी असम्बद्ध और स्वतत्र अभिव्यजनाओ से जुडकर बनी मानो बहुरगी पच्चीकारी होती है। और आखिरी बात यह है कि यदि, जसा कि वास्तव में होता है, बारी-बारी से हर माल का सापेक्ष मूल्य इस विस्तारित रूप में व्यक्त होता है, तो उनमें से प्रत्येक के लिये एक भिन्न सापेक्ष मूल्य रूप तयार हो जाता है, जो मूल्य की अभिव्यजनाओ का एक अन्तहीन क्रम होता है। विस्तारित सापेक्ष मूल्य-रूप की त्रुटिया उसके सदृश सम-मूल्य रूप में भी झलकती हैं। चूकि हर अलग-अलग माल का शारीरिक रूप असख्य अन्य विशिष्ट सम मूल्य रूपो में से एक होता है, इसलिये कुल मिलाकर हमारे पास खण्डवत् सम-मूल्य रूपो के सिवा और कुछ नहीं बचता, जिनमें से प्रत्येक दूसरो का अपवर्जन कर देता है। इसी प्रकार प्रत्येक विशिष्ट सम-मूल्य में निहित विशिष्ट प्रकार का मूर्त्त, उपयोगी श्रम भी केवल एक खास प्रकार के श्रम के रूप में ही सामने आता है, और इसलिये वह सामान्य मानव-श्रम के सर्वत पूर्ण प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आता। यह तो सच है कि सामान्य मानव-श्रम अपने नाना प्रकार के विशिष्ट, मूर्त्त रूपो की सम्पूर्णता में पर्याप्त अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। परन्तु, इस रूप में, एक अन्तहीन क्रम के रूप में उसकी अभिव्यजना सदा अपूर्ण रहती है और उसमें एकता का अभाव रहता है।

किन्तु विस्तारित सापेक्ष मूल्य रूप पहले प्रकार की प्राथमिक सापेक्ष अभिव्यजनाओ—अथवा समीकरणो—के जोड के सिवा और कुछ नहीं है, जैसे कि

२० गज कपडा = १ कोट,
२० गज कपडा = १० पौण्ड चाय इत्यादि।

इनमें से प्रत्येक में उसका उल्टा समीकरण भी निहित है

१ कोट = २० गज कपडा,
१० पौण्ड चाय = २० गज कपडा इत्यादि।

सच तो यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने कपडे का बहुत से दूसरे मालो के साथ विनिमय करता है और, इस तरह, अपने कपडे के मूल्य को अन्य मालो की एक शृखला के रूप में व्यक्त करता है, तब इससे लाजिमी तौर पर यह नतीजा भी निकलता है कि अन्य सब मालो के विभिन्न मालिक उन मालो का कपडे के साथ विनिमय करते ह और इसलिये अपने विभिन्न मालो के मूल्यो को उस एक ही माल के रूप में—यानी कपडे के रूप में—व्यक्त करते ह। अतएव, यदि हम इस शृखला को—अर्थात् २० गज कपडा=१ कोट, या=१० पौण्ड चाय इत्यादि को—उलट दें, अर्थात् यदि हम उस विपरीत सम्बध को व्यक्त करें, जो कि इस शृखला में पहले से निहित है, तो हमें मूल्य का सामान्य रूप मिल जाता है।

ग) मूल्य का सामान्य रूप

१ कोट		
१० पौण्ड चाय		
४० पौण्ड क़हवा		
१ क्वार्टर अनाज	}	= २० गज़ कपड़ा
२ औंस सोना		
१/२ टन लोहा		
'क' माल का 'प' परिमाण इत्यादि		

१) मूल्य के रूप का बदला हुआ स्वरूप

अब तमाम माल अपना मूल्य (१) सरल रूप में व्यक्त करते हैं, क्योंकि सब का मूल्य केवल एक माल के रूप में व्यक्त किया जाता है, और (२) एकता के साथ व्यक्त करते है, क्योंकि सब का मूल्य उसी एक माल के रूप में व्यक्त किया जाता है। मूल्य का यह रूप सब मालों के लिये प्राथमिक और एक सा है, इसलिये यह सामान्य रूप है।

'क' और 'ख' रूप केवल इस योग्य थे कि किसी भी एक माल के मूल्य को उसके उपयोग मूल्य – अथवा भौतिक रूप – से भिन्न किसी चीज के रूप में व्यक्त कर दें।

पहले रूप ('क') से ऐसे समीकरण मिलते थे, जैसे १ कोट=२० गज कपड़ा, १० पौण्ड चाय=१/२ टन लोहा। कोट के मूल्य का कपड़े के साथ, चाय के मूल्य का लोहे के साथ समीकरण कर दिया जाता है। लेकिन कपड़े के साथ और फिर लोहे के साथ समीकरण किया जाना उतना ही भिन्न होता है, जितने भिन्न कपड़ा और लोहा है। जाहिर है कि यह रूप व्यावहारिक दृष्टि से केवल बहुत शुरू में ही पाया जा सकता है, जब कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुएं अकस्मात और यदा कदा हो जाने वाले विनिमय के द्वारा ही कभी कभार मालों का रूप धारण कर लेती थीं।

दूसरा रूप ('ख') पहले रूप की तुलना में किसी माल के उपयोग-मूल्य से उसके मूल्य के अन्तर को अधिक पर्याप्त ढंग से स्पष्ट कर देता है, क्योंकि उसमें कोट का मूल्य तमाम सम्भव रूपों में कोट के शारीरिक रूप के मुकाबले में रख दिया जाता है, उसका कपड़े, लोहे, चाय, संक्षेप में यह कि सिर्फ एक कोट को छोड़कर बाकी हर चीज के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, मूल्य की किसी ऐसी सामान्य अभिव्यंजना का, जो समान रूप से सब मालों के काम में आ सके, सीधे तौर पर अपवर्जन कर दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक माल के मूल्य के समीकरण में अब बाकी सब माल केवल सम-मूल्यों के रूप में सामने आते हैं। मूल्य के विस्तारित रूप का पहली बार वास्तव में उस वक्त जन्म होता है, जब श्रम की किसी खास पैदावार का, जैसे ढोरों का, अपवाद रूप में नहीं, बल्कि आदतन नाना प्रकार के दूसरे मालों से विनिमय होने लगता है।

मूल्य का तीसरा और सबसे बाद में विकसित होने वाला रूप मालों की पूरी दुनिया के मूल्यों को केवल एक माल के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त करता है, जो इस काम

के लिये अलग कर दिया जाता है। इस प्रकार, यह तीसरा रूप इन तमाम मालो के मूल्यो का कपडे के साथ उनकी समता की शकल में प्रस्तुत करता है। अब चूकि हर माल के मूल्य का कपडे के साथ समीकरण किया जाता है, इसलिये न केवल उसके अपने उपयोग-मूल्य के साथ, बल्कि बाकी सब उपयोग मूल्यो के साथ भी आम तौर पर उसका अतर स्पष्ट हो जाता है, और इसी तथ्य के फलस्वरूप वह उस तत्व के रूप में व्यक्त होता है, जो सब मालो में समान रूप से मौजूद है। इस (तीसरे) रूप के द्वारा मालो का पहली बार कारगर ढग से मूल्यो के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित होता है या यू कहिये कि वे विनिमय मूल्यो के रूप में सामने लाये जाते ह।

शुरू के पहले दो रूपो में प्रत्येक माल का मूल्य या तो उससे भिन्न प्रकार के किसी एक माल के रूप में या ऐसे बहुत से मालो के रूप में व्यक्त होता है। दोनो सूरतो में हर अलग अलग माल का, यो कहिये, अपना निजी काम है कि अपने मूल्य के लिये किसी अभिव्यजना की तलाश करे, और यह काम वह बाकी सब मालो की मदद के बिना पूरा करता है। ये बाकी माल उस माल के सम्बध में सम-मूल्यो की निष्क्रिय भूमिका अदा करते ह। मूल्य का सामान्य रूप ('ग') मालो की पूरी दुनिया की सयुक्त कारवाई के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है, और उसके अस्तित्व में आने का यही एकमात्र ढग है। कोई भी माल अपने मूल्य की सामान्य अभिव्यजना केवल उसी दशा में प्राप्त कर सकता है, जब उसके साथ साथ बाक़ी सब माल भी एक ही सम-मूल्य के रूप में अपने मूल्यो को व्यक्त करें, और हर नये माल को भी उनका अनुसरण करते हुए अनिवाय रूप से ऐसा ही करना होता है। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल्यो के रूप में मालो का अस्तित्व चूकि विशुद्ध सामाजिक अस्तित्व होता है, इसलिये यह सामाजिक अस्तित्व केवल उनके तमाम सामाजिक सम्बधो की सम्पूर्णता के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है और इसलिये उनके मूल्य का रूप कोई सामाजिक तौर पर मान्य रूप होना चाहिये।

सब मालो का चूकि अब कपडे के साथ समीकरण किया जाता है, इसलिये वे सामान्य रूप से मूल्य होने के रूप में न केवल गुणात्मक दृष्टि से समान प्रतीत होते ह, बल्कि ऐसे मूल्यो की तरह भी सामने आते ह, जिनके परिमाणो का आपस में मुकाबला किया जा सकता है। उनके मूल्यो के परिमाणो को चूकि एक ही वस्तु के रूप में—यानी कपडे के रूप में—व्यक्त किया जाता है, इसलिये इन परिमाणो का एक दूसरे के साथ भी मुकाबला हो जाता है। उदाहरण के लिये, चूकि १० पौण्ड चाय=२० गज कपडा और ४० पौण्ड कहवा=२० गज कपडा, इसलिये १० पौण्ड चाय=४० पौण्ड क़हवा। दूसरे शब्दो में, १ पौण्ड चाय में मूल्य का जितना तत्त्व—अर्थात् जितना श्रम—निहित है, १ पौण्ड कहवे में उसका केवल एक चौथाई निहित है।

सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप, जिसके अतगत मालो की पूरी दुनिया आ जाती है, उस एक माल को, जो बाक़ी सब मालो से अलग कर दिया जाता है और जिससे सम-मूल्य की भूमिका अदा करायी जाती है,—यानी हमारे उदाहरण में 'कपडा' नामक माल को,—सार्वत्रिक सम-मूल्य में बदल देता है। अब सभी मालो का मूल्य समान ढग से कपडे का शारीरिक रूप धारण कर लेता है, अतएव अब कपडे का सभी मालो से और प्रत्येक माल से सीधा विनिमय हो सकता है। 'कपडा' नामक पदाथ हर प्रकार के मानव-श्रम का दृश्यमान अवतार, उसका सामाजिक कोशावस्था रूप बन जाता है। बुनाई, जो कि एक खास चीज—कपडा—तयार करने वाले कुछ व्यक्तियो का निजी श्रम होती है, इसके परिणामस्वरूप एक सामाजिक रूप—यानी

श्रम के अन्य सभी प्रकारो के साथ समानता का रूप–प्राप्त कर लेती है। मूल्य को सामान्य रूप देने वाले असंख्य समीकरण कपडे में निहित श्रम का दूसरे हरेक माल में निहित श्रम के साथ समीकरण कर देते ह, और इस प्रकार वे बुनाई के श्रम को अभिन्नित मानव-श्रम की अभिव्यक्ति का सामान्य रूप बना देते ह। इस ढग से मालो के मूल्यो के रूप में मूत श्रम न केवल अपने नकारात्मक रूप में सामने आ जाता है, जिसमें वास्तविक काय के प्रत्येक मूत रूप तथा उपयोगी गुण का अमूर्तिकरण कर दिया जाता है, बल्कि उसकी अपनी सकारात्मक प्रकृति भी स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है। सामान्य मूल्य-रूप में वास्तविक श्रम के सभी प्रकार सामान्यत मानव-श्रम होने के–या मानव-श्रम शक्ति का व्यय होने के–अपने समान स्वरूप में परिणत हो जाते ह।

सामान्य मूल्य रूप, जिसमें श्रम से पदा होने वाली तमाम वस्तुओ को अभिन्नित मानव श्रम के जमाव मात्र के रूप में व्यक्त किया जाता है, अपनी बनावट से ही यह बात स्पष्ट कर देता है कि वह मालो की दुनिया का सामाजिक साराश है। अतएव, यह रूप निर्विवाद ढग से यह बात स्पष्ट कर देता है कि मालो की दुनिया में सभी प्रकार के श्रम में मानव श्रम होने का जो गुण समान रूप से मौजूद होता है, उसीसे उसको विशिष्ट सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है।

२) मूल्य के सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप का अन्योन्याश्रित विकास

मूल्य के सापेक्ष रूप के विकास की स्थिति सम मूल्य रूप के विकास की स्थिति के अनुरूप होती है। परन्तु हमें यह बात याद रखनी चाहिये कि सम-मूल्य रूप का विकास केवल सापेक्ष रूप के विकास की ही अभिव्यक्ति एव परिणाम होता है।

किसी एक माल का प्राथमिक, अथवा इक्का-दुक्का, सापेक्ष रूप किसी और माल को एक पृथक सम-मूल्य बना देता है। सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप, जिसमें एक माल का मूल्य बाकी सब मालो के रूप में व्यक्त होता है, इन तमाम बाकी मालो को अलग अलग प्रकार के विशिष्ट सम-मूल्यो का रूप प्रदान कर देता है। और, अन्त में, एक खास प्रकार का माल सार्वत्रिक सम-मूल्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, क्योंकि बाकी तमाम माल उससे उस पदार्थ का काम लेने लगते हे, जिसके रूप में वे सब के सब अपना मूल्य व्यक्त करते हैं।

मूल्य-रूप के दो ध्रुव ह मूल्य का सापेक्ष रूप और सम मूल्य रूप। उनके बीच जो विग्रह है, वह स्वय मूल्य रूप के विकास के साथ-साथ विकसित होता है।

पहला रूप है २० गज कपडा = १ कोट। उसमें अभी से यह विग्रह मौजूद है, हालांकि उसने अभी टिकाऊ रूप नहीं प्राप्त किया है। इस समीकरण को आप जसे बायीं से दायीं ओर या दायीं से बायीं ओर पढते ह, उसके अनुसार कपडे और कोट की भूमिकाए बदल जाती ह। एक सूरत में कपडे का सापेक्ष मूल्य कोट के रूप में व्यक्त होता है, दूसरी सूरत में कोट का सापेक्ष मूल्य कपडे के रूप में व्यक्त होता है। अतएव, मूल्य के इस पहले रूप में ध्रुवीय व्यतिरेक को समझ पाना कठिन है।

रूप 'ख' में एक समय में केवल एक ही प्रकार का माल अपने सापेक्ष मूल्य को पूरी तरह विस्तृत कर सकता है, और वह यह विस्तारित रूप केवल इसलिये और केवल इसी हद तक प्राप्त करता है कि बाकी सब माल उसके सम्बध में सम-मूल्यो का काम करने लगते ह।

यहा हम समीकरण को उस तरह उलट नहीं सकते, जिस तरह हम २० गज कपडा = १ कोट के समीकरण को उलट सकते ह। यदि हम उसे उलटते ह, तो उसका स्वरूप बदल जाता है और वह मूल्य के विस्तारित रूप से मूल्य का सामान्य रूप बनकर रह जाता है।

अत में, रूप 'ग' में चूकि एक माल को छोडकर बाकी सब मालो का सम-मूल्य रूप से अपवजन हो जाता है, इसीलिये और इसी हद तक उससे मालो की दुनिया को मूल्य का एक सामान्य एव सामाजिक सापेक्ष रूप मिल जाता है। अतएव एक अकेला माल, यानी कपडा, इसीलिये और इसी हद तक अन्य हरेक माल के साथ प्रत्यक्ष विनिमेयता का गुण प्राप्त कर लेता है कि अन्य हरेक माल इस गुण से वचित कर दिया जाता है।[1]

दूसरी ओर, जो माल सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करता है, उसका सापेक्ष मूल्य रूप से अपवजन हो जाता है। यदि कपडा या सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करने वाला कोई और माल इसके साथ-साथ मूल्य के सापेक्ष रूप में भी हिस्सा बटाने लगे, तो उसे खुद अपना सम-मूल्य बनना पडेगा। तब समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज कपडा = २० गज कपडा। यह पुनरुक्ति न तो मूल्य को और न मूल्य के परिमाण को व्यक्त करती है। सार्वत्रिक सम मूल्य के सापेक्ष मूल्य को व्यक्त करने के लिये हमें रूप 'ग' को उलट देना पडेगा। इस सम-मूल्य के मूल्य का कोई ऐसा सापेक्ष रूप नहीं है, जो दूसरे मालो का भी हो, मगर तुलनात्मक ढग से उसका मूल्य अन्य मालों के एक अतहीन क्रम के रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रकट होता है कि सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप—अथवा 'ख' रूप—ही सम-मूल्य माल के सापेक्ष मूल्य का विशिष्ट रूप है।

---

[1] यह बात कदापि स्वत स्पष्ट नही है कि प्रत्यक्ष और व्यापक विनिमेयता का यह गुण गोया एक ध्रुवीय गुण है, और वह अपने उल्टे ध्रुव से, यानी प्रत्यक्ष विनिमेयता के अभाव से, उसी अतरग ढग से जुडा हुआ है, जिस अतरग ढग से चुम्बक का धनात्मक ध्रुव उसके ऋणात्मक ध्रुव से जुडा होता है। इसलिए जिस तरह यह कल्पना की जा सकती है कि कैथोलिक मत मानने वाले सभी लोगो का एक साथ पोप बन जाना सम्भव है, उसी प्रकार यह कल्पना भी की जा सकती है कि तमाम माल एक साथ यह गुण प्राप्त कर सकते हैं। उस निम्न-पूजीवादी की नजरा में, जिसके लिये माला का उत्पादन मानव स्वतत्रता और व्यक्तिगत स्वाधीनता की चरमावस्था है, यह, जाहिर है, अत्यन्त वाछनीय बात होगी, यदि माला का सीधा विनिमय न हो सकने से पैदा होने वाली यह कठिनाई दूर हो जाये। प्रूधा का समाजवाद इस कूपमण्डूक कल्पना लोक का ही विस्तृत रूप है। जैसा कि मैंने अन्यत्र प्रमाणित किया है, प्रूधो का यह समाजवाद तो ऐसा है, जिसमे मौलिकता का गुण भी नही है। प्रूधा से बहुत पहले ग्रे, ब्रे और अन्य लोग यह काम अधिक सफलतापूवक कर चुके हैं। लेकिन इस सबके बावजूद कुछ हल्का मे आज भी इस तरह का ज्ञान "विज्ञान" के नाम से सराहा जाता है। "विज्ञान' शब्द का जैसा दुरुपयोग प्रूधा-विचारधारा के अनुयायिया ने किया है, वैसा और किसीने नही किया है, क्योकि

'wo Begriffe fehlen
Da stellt zur rechten Zeit ein Wort sich ein"

("जब विचारा से काम नही चलता, तब सही मौके पर एक शब्द काम कर जाता है।" गेटे कृत 'फौस्ट' काव्य नाटक से उद्धृत।)

३) मूल्य के सामान्य रूप का मुद्रा रूप में संक्रमण

सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप सामान्य मूल्य का रूप है। इसलिये कोई भी माल यह रूप धारण कर सकता है। दूसरी ओर, यदि किसी माल ने सचमुच सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप (रूप 'ग') धारण कर लिया है, तो उसका एक यही कारण हो सकता है और वह इसी हद तक यह रूप धारण कर सकता है कि उसका बाकी तमाम मालों से और उन्हीं के द्वारा उनके सम मूल्य के रूप में अपवर्जन हो गया है। और जिस क्षण यह अपवर्जन अंतिम तौर पर किसी एक खास माल तक सीमित हो जाता है, केवल उसी क्षण से मालों की दुनिया के सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप वास्तविक स्थिरता एवं सामान्य सामाजिक मान्यता प्राप्त करता है।

इस प्रकार, जिस खास माल के शारीरिक रूप के साथ सम मूल्य रूप सामाजिक तौर पर एकाकार हो जाता है, वह अब मुद्रा माल बन जाता है, या यूं कहिये कि वह मुद्रा का काम करने लगता है। इस माल का यह विशिष्ट सामाजिक कार्य तथा इसलिये सामाजिक एकाधिकार हो जाता है कि वह मालों की दुनिया में सार्वत्रिक सम-मूल्य की भूमिका अदा करे। रूप 'ख' में जो बहुत से माल कपड़े के विशिष्ट सम मूल्यों के रूप में सामने आते हैं और जो रूप 'ग' में अपना अपना सापेक्ष मूल्य समान ढंग से कपड़े के रूप में व्यक्त करते हैं, उनमें से एक माल ने – यानी सोने ने – खास तौर पर यह सर्व प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। अतएव, यदि रूप 'ग' में हम कपड़े के स्थान पर सोना रख दें, तो यह समीकरण प्राप्त होता है

घ) मुद्रा-रूप

२० गज कपड़ा	=	२ औंस सोना
१ कोट	=	
१० पौण्ड चाय	=	
४० पौण्ड कहवा	=	
१ क्वार्टर अनाज	=	
१/२ टन लोहा	=	
'क' माल का 'प' परिमाण	=	

रूप 'क' से रूप 'ख' की ओर बढ़ने में, और रूप 'ख' से रूप 'ग' की ओर बढ़ने में जो परिवर्तन हुए, वे बुनियादी ढंग के परिवर्तन हैं। दूसरी ओर, रूप 'ग' और रूप 'घ' में सिवाय इसके और कोई अंतर नहीं है कि कपड़े के स्थान पर सोने ने सम-मूल्य रूप धारण कर लिया है। रूप 'ग' में जो कुछ कपड़ा था, वही रूप 'घ' में सोना है, – अर्थात वह सार्वत्रिक सम-मूल्य है। प्रगति केवल इस बात में हुई है कि प्रत्यक्ष एवं सार्वत्रिक विनिमेयता का गुण – दूसरे शब्दों में, सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप – अब सामाजिक रूढ़ि के फलस्वरूप अंतिम तौर पर 'सोना' नामक पदार्थ के साथ एकाकार हो गया है।

अब यदि बाकी तमाम मालों के सम्बंध में सोना मुद्रा बन गया है, तो केवल इसीलिये कि पहले वह उनके सम्बंध में एक साधारण माल था। बाकी सब मालों की तरह उसमें भी या तो यदाकदा होने वाले इक्के-दुक्के विनिमयों में साधारण सम-मूल्य की भांति और या

दूसरे मालो के साथ-साथ एक विशिष्ट सम-मूल्य की भाति सम-मूल्य का काम करने की योग्यता थी। धीरे-धीरे वह कभी सकुचित और कभी विस्तृत सीमाओ के भीतर सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करने लगा। जसे ही मालो की दुनिया के लिये उसने मूल्य की अभिव्यजना में इस स्थान पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया, वैसे ही वह मुद्रा-माल बन गया और फिर,— मगर उसके पहले नहीं,—रूप 'घ' रूप 'ग' से साफ तौर पर अलग हो गया और मूल्य का सामान्य रूप मुद्रा-रूप में बदल गया।

जब कपडे जसे किसी एक माल का सापेक्ष मूल्य सोने जसे किसी माल के रूप में, जो मुद्रा की भूमिका अदा करता है, प्राथमिक अभिव्यजना प्राप्त करता है, तब वह अभिव्यजना उस माल का दाम-रूप होती है। अतएव, कपडे का दाम रूप है

२० गज कपडा = २ औंस सोना, अथवा, यदि २ औंस सोना सिक्के के रूप में ढलने पर
२ पौंड हो जाता है, तो २० गज कपडा = २ पौण्ड।

मुद्रा रूप को साफ तौर पर समझने में कठिनाई इसलिये होती है कि सार्वत्रिक सम मूल्य रूप को और उसके एक अनिवार्य उप प्रमेय के रूप में मूल्य के सामान्य रूप को—यानी रूप 'ग' को—साफ-साफ समझना कठिन होता है। रूप 'ग' को रूप 'ख' से—यानी मूल्य के विस्तारित रूप से—निगमन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, और, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, रूप 'ख' का आवश्यक अग रूप 'क' है, जिसमें २० गज कपडा = १ कोट, या 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण। अतएव साधारण माल रूप मुद्रा रूप का बीजाणु होता है।

अनुभाग ४—मालो की जड-पूजा और उसका रहस्य

पहली दृष्टि में माल बहुत अदना सी और आसानी से समझ में आने वाली चीज मालूम होता है। उसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वास्तव में वह एक बहुत अजीब चीज है, जो अतिभौतिकवादी सूक्ष्मताओ और धर्मशास्त्र की बारीकियो से ओत प्रोत है। जहा तक वह उपयोग-मूल्य है, वहा तक, चाहे हम उसपर इस दृष्टिकोण से विचार करे कि वह अपने गुणों से मानव-आवश्यकताओ को पूरा करने में समर्थ है, और चाहे इस दृष्टिकोण से कि वे गुण मानव-श्रम की पैदावार हैं, उसमें रहस्य की कोई बात नहीं है। यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने उद्योग से प्रकृति के दिये हुए पदार्थों के रूप को इस तरह बदल देता है कि वे उसके लिये उपयोगी बन जायें। उदाहरण के लिये, लकडी का रूप उसकी एक मेज बनाकर बदल दिया जाता है। पर इस परिवर्तन के बावजूद भी मेज वही रोजमर्रा की साधारण चीज—लकडी—ही रहती है। लेकिन जसे ही वह माल के रूप में सामने आती है, वसे ही वह मानो किसी इंद्रियातीत वस्तु में बदल जाती है। तब वह न सिर्फ अपने परो के बल खडी होती है, बल्कि दूसरे तमाम मालो के सम्बध में सिर के बल खडी हो जाती है और अपने काठ के दिमाग़ से ऐसे ऐसे अजीबोगरीब विचार निकालती है कि उनके सामने मेज पर हाथ रखवाकर मृतात्माओ को बुलाने वाली प्रेत-विद्या भी मात खा जाती है।

अतएव, मालो का रहस्यमय रूप उनके उपयोग-मूल्य से उत्पन्न नहीं होता। और न ही यह उन तत्वो के स्वभाव से उत्पन्न होता है, जिनसे मूल्य निर्धारित होता है। क्योंकि, पहली बात तो यह है कि श्रम के उपयोगी रूप, अथवा उत्पादक कारवाइया चाहे जितने भिन्न प्रकार की क्यो न हो, यह एक शरीर-विज्ञान से सम्बध रखने वाला तथ्य है कि वे सब की सब मानव-शरीर की कारवाइया होती ह, और ऐसी हर कारवाई में, उसका स्वभाव और रूप चाहे जसा हो, बुनियादी तौर पर मनुष्य का मस्तिष्क, स्नायु और मास-पेशिया आदि खच होती ह। दूसरे, जहा तक उस चीज का सम्बध है, जिसके आधार पर मूल्य को परिमाणात्मक दृष्टि से निर्धारित किया जाता है, अर्थात जहा तक इस खच की मियाद का-यानी श्रम की मात्रा का-सम्बध है, यह बात बिल्कुल साफ है कि श्रम के परिमाण तथा गुण में स्पष्ट अतर होता है। समाज की सभी अवस्थाओ में लोगो को इस बात में लाज़िमी तौर पर दिलचस्पी रही होगी कि जीवन निर्वाह के साधनो को पदा करने में कितना श्रम काल खच होता है, हालाकि विकास की हर मजिल पर यह दिलचस्पी बराबर नहीं रही होगी।[1] और आखिरी बात यह है कि जिस क्षण लोग किसी भी ढग से एक दूसरे के लिये काम करने लगते ह, उसी क्षण से उनका श्रम सामाजिक रूप धारण कर लेता है।

तब श्रम की पैदावार मालो का रूप धारण करते ही एक जटिल समस्या कसे बन जाती है? स्पष्ट है कि इसका कारण स्वय यह माल रूप ही है। हर प्रकार के मानव-श्रम की समानता वस्तुगत ढग से इस प्रकार व्यक्त होती है कि हर प्रकार के श्रम की पदावार समान रूप से मूल्य होती है, श्रम शक्ति के व्यय की उसकी अवधि द्वारा माप श्रम की पैदावार के मूल्य के परिमाण का रूप धारण कर लेती है, और अतिम बात यह कि उत्पादको के पारस्परिक सम्बध, जिनके भीतर ही उनके श्रम का सामाजिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उनकी पदा की हुई वस्तुओ के सामाजिक सम्बध का रूप धारण कर लेते ह।

अतएव, माल एक रहस्यमयी वस्तु केवल इसलिये है कि मनुष्यो के श्रम का सामाजिक स्वरूप उनको अपने श्रम की पदावार का वस्तुगत लक्षण प्रतीत होता है, क्योकि उत्पादको के अपने श्रम से जो कुल पदावार पैदा हुई है, उसके साथ उनका सम्बध उनको एक ऐसा सामाजिक सम्बध प्रतीत होता है, जो स्वय उनके बीच नहीं, बल्कि उनके श्रम से पदा होने वाली वस्तुओ के बीच कायम है। यही कारण है कि श्रम से पदा होने वाली वस्तुए माल यानी ऐसी सामाजिक वस्तुए बन जाती ह, जिनके गुण इन्द्रियगम्य भी ह और इन्द्रियातीत भी। इसी प्रकार किसी वस्तु से आने वाला प्रकाश हमें अपनी आख की प्रकाशीय स्नायु का मनोगत उत्तेजन नहीं प्रतीत होता, बल्कि आख के बाहर की किसी चीज का वस्तुगत रूप मालूम पडता है। लेकिन देखने की क्रिया में तो हर सूरत में एक चीज से दूसरी चीज तक, बाह्य वस्तु से आख तक, सचमुच प्रकाश जाता है। इस क्रिया में भौतिक वस्तुओ के बीच एक भौतिक सम्बध कायम होता है। लेकिन मालो के बीच ऐसा कुछ नहीं होता। वहा मालो के रूप में

[1] प्राचीन जमनो म जमीन मापने की इकाई उतनी जमीन होती थी, जितनी जमीन से एक दिन मे फसल काटी जा सकती थी और जो Tagwerk Tagwanne (jurnale या terra jurnalis या diornalis), Mannsmaad आदि कहलाती थी। (देखिये जी० एल० फोन मौरेर, '*Einleitung zur Geschichte der Mark —*, &c *Verfassung* Munchen 1854, पृ० १२६ और उससे आगे के पृष्ठ।)

वस्तुओ के अस्तित्व का और श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओ के बीच पाये जाने वाले उस मूल्य के सम्बध का, जो कि इन वस्तुओं को माल बना देता है, उनके शारीरिक गुणो से तथा इन गुणो से पैदा होने वाले भौतिक सम्बधो से कोई ताल्लुक नहीं होता। वहा मनुष्यो के बीच कायम एक खास प्रकार का सामाजिक सम्बध है, जो उनकी नजरो में वस्तुओ के सम्बध का अजीबोगरीब रूप धारण कर लेता है। इसलिये, यदि इसकी उपमा खोजनी है, तो हमें धार्मिक दुनिया के कुहासे से ढके क्षेत्रो में प्रवेश करना होगा। उस दुनिया में मानव-मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाए स्वतत्र और जीवित प्राणियो जैसी प्रतीत होती है, जो आपस में एक दूसरे के साथ और मनुष्य जाति के साथ भी सम्बध स्थापित करती रहती ह। मालो की दुनिया में मनुष्य के हाथो से उत्पन्न होने वाली वस्तुए भी यही करती ह। मने इसे जड-पूजा का नाम दिया है, श्रम से पदा होने वाली वस्तुए जसे ही मालो के रूप में पैदा होने लगती ह, वसे ही उनके साथ यह गुण चिपक जाता है, और इसलिये यह जड-पूजा मालो के उत्पादन से अलग नहीं की जा सकती।

जैसा कि ऊपर दिये हुए विश्लेषण से स्पष्ट हो गया है, मालो की इस जड पूजा का मूल उनको पदा करने वाले श्रम के अनोखे सामाजिक स्वरूप में है।

एक सामान्य नियम के रूप में उपयोगी वस्तुए केवल इसी कारण माल बन जाती हैं कि वे एक दूसरे से स्वतत्र रूप से काम करने वाले व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के दलो के निजी श्रम की पदावार होती हैं। इन तमाम व्यक्तियो के निजी श्रम का जोड समाज का कुल श्रम होता है। अलग अलग उत्पादक चूकि उस वक्त तक एक दूसरे के सामाजिक सम्पक में नहीं आते, जिस वक्त तक कि वे अपनी अपनी पदा की हुई वस्तुओ का विनिमय नहीं करने लगते, इसलिये हरेक उत्पादक के श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप केवल विनिमय-कार्य में ही दिखाई देता है और अन्य किसी तरह नहीं। दूसरे शब्दो में, व्यक्ति का श्रम समाज के श्रम के एक भाग के रूप में केवल उन सम्बधो द्वारा ही सामने आता है, जिनको विनिमय-कार्य प्रत्यक्ष ढग से पैदा की गयी वस्तुओ के बीच और उनके जरिये अप्रत्यक्ष ढग से उनको पदा करने वालो के बीच स्थापित कर देता है। इसलिए उत्पादको को एक व्यक्ति के श्रम को बाकी व्यक्तियो के श्रम के साथ जोडने वाले सम्बध कायरत अलग-अलग व्यक्तियो के प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बध नहीं, बल्कि वसे प्रतीत होते ह, जैसे कि वे वास्तव में होते हैं,— अर्थात् वे व्यक्तियो के बीच वस्तुगत सम्बध और वस्तुओ के बीच सामाजिक सम्बध प्रतीत होते ह।

जब श्रम से पदा होने वाली वस्तुओ का विनिमय होता है, केवल तभी वे मूल्यो के रूप में एक सम रूप सामाजिक हैसियत प्राप्त करती हैं, जो उपयोगी वस्तुओ के रूप में उनके नाना प्रकार के अस्तित्व-रूपो से भिन्न होती है। श्रम से पदा होने वाली किसी भी वस्तु का उपयोगी वस्तु तथा मूल्य में यह विभाजन केवल उसी समय व्यावहारिक महत्त्व प्राप्त करता है, जब विनिमय का इतना विस्तार हो जाता है कि उपयोगी वस्तुए विनिमय करने के उद्देश्य से ही पदा की जाती ह और इसलिए मूल्यो की शकल में उनके स्वरूप का पहले से, यानी उत्पादन के दौरान में ही, ध्यान रखा जाता है। इस क्षण से ही हर अलग-अलग उत्पादक का श्रम सामाजिक दृष्टि से दोहरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। एक ओर तो उसको एक खास प्रकार के उपयोगी श्रम के रूप में किसी खास सामाजिक आवश्यकता को पूरा करना पडता है और इस तरह सब आदमियो के सामूहिक श्रम के आवश्यक अग के रूप में, उस सामाजिक श्रम विभाजन की एक शाखा के रूप में अपने लिए स्थान बनाना पडता है, जो स्वयस्फूत ढग से पैदा हो गया है।

दूसरी ओर, वह उस एक उत्पादक की नाना प्रकार की आवश्यकताओं को केवल उसी हद तक पूरा कर सकता है, जिस हद तक कि निजी उपयोगी श्रम के विभिन्न प्रकारों का पारस्परिक विनिमेयता एक स्थापित सामाजिक सत्य बन गयी है और इसलिए जिस हद तक कि हर उत्पादक का निजी उपयोगी श्रम बाकी सब उत्पादकों के श्रम के बराबर माना जाता है। श्रम के अत्यन्त भिन्न रूपों का समानीकरण केवल इसी का फल हो सकता है कि इन रूपों को उनकी असमानताओं से अलग कर दिया जाये अथवा उनको उनके सामान्य स्वरूप में, –अर्थात मानव-श्रम शक्ति के व्यय में, या अमूर्त मानव-श्रम में,–परिणत कर दिया जाय। जब व्यक्ति के श्रम का दोहरा सामाजिक स्वरूप उसके मस्तिष्क में झलकता है, तो यह उन केवल उन शकलों में दिखाई देता है, जो रोजमर्रा के व्यवहार में श्रम से उत्पन्न वस्तुओं के विनिमय ने उस श्रम को दे दी है। इस तरह, उसके अपने श्रम में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होने का जो गुण मौजूद है, वह इस शर्त का रूप धारण कर लेता है कि श्रम से उत्पन्न वस्तु को न केवल उपयोगी, बल्कि दूसरों के लिए उपयोगी होना चाहिए, और उसके विशिष्ट श्रम में श्रम के अन्य सब विशिष्ट प्रकारों के समान होने का जो सामाजिक गुण विद्यमान रहता है, वह यह रूप धारण कर लेता है कि श्रम से पैदा होने वाली, शारीरिक रूप से भिन्न भिन्न प्रकार की तमाम वस्तुओं में एक गुण समान रूप से मौजूद होता है, और वह यह कि उन सब में मूल्य होता है।

इसलिए, जब हम अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित करते है, तब हम यह इसलिए नहीं करते है कि हम इन वस्तुओं को सजातीय मानव-श्रम का भौतिक आवरण समझते हैं। बात इसकी ठीक उल्टी होती है। जब कभी हम विनिमय द्वारा अपने श्रम से उत्पन्न भिन्न भिन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में समीकरण करते हैं, तब हम उसी कार्य द्वारा उन वस्तुओं पर खर्च किये गये श्रम के विभिन्न प्रकारों का भी मानव-श्रम के रूप में समीकरण कर डालते है। हम अनजाने ही ऐसा करते है, किन्तु फिर भी करते जरूर हैं।[1] अतएव, मूल्य अपने पर कोई ऐसा लेबिल लगाकर नहीं घूमता, जिसपर लिखा हो कि वह कौन है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि यह मूल्य ही है, जो श्रम से पैदा होने वाली प्रत्येक वस्तु को एक सामाजिक चित्राक्षर बना देता है। बाद को हम इस चित्रलिपि को पढ़ने की कोशिश करते है और खुद अपनी सामाजिक पैदावार का रहस्य समझने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार भाषा एक सामाजिक पैदावार है, उसी प्रकार किसी उपयोगी वस्तु पर मूल्य की छाप अंकित कर देना भी एक सामाजिक पैदावार है। हाल का यह नया वैज्ञानिक आविष्कार कि श्रम से उत्पन्न तमाम वस्तुएं, जहां तक वे मूल्य है, वहां तक अपने अपने उत्पादन में खर्च किये गये मानव-श्रम की भौतिक अभिव्यंजना मात्र होती है, सचमुच मनुष्य-जाति के विकास के इतिहास में एक नये युग के आरम्भ का द्योतक है। लेकिन

[1] इसलिए, जहां गालियानी यह कहता है कि मूल्य व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला एक सम्बध है– La Ricchezza e una ragione tra due persone –वहां उसका यह और जोड देना चाहिए था कि वह व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला एक ऐसा सम्बध है, जो वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले सम्बध के रूप में व्यक्त होता है। (Galiani *Della Moneta* पृष्ठ २२१, Custodi के *'Scrittori Classici Italiani di Economia Politica* के संग्रह में खण्ड ३। Parte Moderna Milano 1803)

उससे भी वह कुहासा नहीं छटता, जिसके आवरण से ढका हुआ श्रम का सामाजिक स्वरूप हमें खुद श्रम से उत्पन्न वस्तुओ का भौतिक गुण प्रतीत होता है। यह तथ्य कि उत्पादन के जिस खास रूप पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें – यानी मालो के उत्पादन में – स्वतत्र रूप से किये जाने वाले निजी श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप इस बात में निहित होता है कि इस प्रकार का प्रत्येक श्रम मानव-श्रम होने के नाते एक दूसरे के समान होता है और इसलिए श्रम का यह सामाजिक स्वरूप पैदावार में मूल्य का रूप धारण[1] कर लेता है, – यह तथ्य उत्पादको को उपर्युक्त आविष्कार के बावजूद उतना ही यथार्थ और अतिम प्रतीत होता है, जितना यह तथ्य कि वायु जिन गसो से मिलकर बनी है, उनका विज्ञान द्वारा आविष्कार हो जाने के बाद भी खुद वायुमण्डल में कोई परिवतन नहीं होता।

जब उत्पादक लोग कोई विनिमय करते ह, तब व्यावहारिक रूप में उन्हें सबसे पहले इस बात की चिन्ता होती है कि अपनी पदावार के बदले में उन्हें कोई और पैदावार कितनी मिलेगी? या विभिन्न प्रकार की पदावार का किन अनुपातो में विनिमय हो सकता है? जब ये अनुपात रीति और रिवाज के आधार पर कुछ स्थिरता प्राप्त कर लेते ह, तब ऐसा लगता है, जैसे वे अनुपात उत्पादित वस्तुओ की प्रकृति से उत्पन्न हो गये हो। मिसाल के लिए, तब एक टन लोहे और दो औंस सोने का मूल्य में बराबर होना उतनी ही स्वाभाविक बात लगती है, जितनी यह बात कि दोनो वस्तुओ के भिन्न भिन्न भौतिक एव रासायनिक गुणो के बावजूद एक पौण्ड सोना और एक पौण्ड लोहा वजन में बराबर होते ह। जब एक बार श्रम से उत्पन्न वस्तुए मूल्य का गुण प्राप्त कर लेती ह, तब यह गुण केवल मूल्य की मात्राओ के रूप में इन वस्तुओ की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से स्थिरता प्राप्त करता है। मूल्य की ये मात्राए बराबर बदलती रहती ह, ऐसी तबदीलिया उत्पादको की इच्छा, दूरदर्शिता और काय-कलाप से स्वतत्र होती ह। उत्पादको के लिए उनका अपना सामाजिक काय-कलाप वस्तुओ के कार्य-कलाप का रूप धारण कर लेता है और वस्तुए उत्पादको के शासन में रहने के बजाय उलटे उनपर शासन करने लगती ह। जब मालो का उत्पादन पूरी तरह विकसित हो जाता है, उसके बाद ही केवल सचित अनुभव से यह वैज्ञानिक विश्वास पैदा होता है कि एक दूसरे से स्वतत्र और फिर भी सामाजिक श्रम की स्वयस्फूत ढग से विकसित शाखाओ के रूप में किये जाने वाले निजी श्रम के विभिन्न प्रकार लगातार उन परिमाणात्मक अनुपातो में परिणत होते रहते ह, जिनमें समाज को श्रम के इन विभिन्न प्रकारो की आवश्यकता होती है। और ऐसा क्यो होता रहता है? इसलिए कि श्रम से पदा होने वाली वस्तुओ के तमाम आकस्मिक और सदा चढते उतरते रहने वाले विनिमय सम्बधो के बीच उनके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल प्रकृति के किसी उच्चतर नियम की भाति बलपूवक अपनी सत्ता का प्रदशन करता है। जब कोई मकान भरराकर गिर पडता है, तब गुरुत्व का नियम भी इसी तरह अपनी सत्ता का प्रदशन करता है।[1] अतएव मूल्य के परिमाण का श्रम काल द्वारा निर्धारित

[1] "ऐसे नियम के बारे मे हम क्या सोचें, जो केवल नियतकालिक क्रान्तिया के द्वारा ही अपनी सत्ता का प्रदशन करता है? वह प्रकृति के नियम के सिवा और कुछ नही है, जिसका आधार उन व्यक्तियो का ज्ञानाभाव होता है, जिनके कार्यो से वह नियम सम्बध रखता है।' (Friedrich Engels *Umrisse zu einer Kritik der Nationalokonomie* Arnold Ruge और Karl Marx द्वारा सम्पादित *Deutsch Franzosische Jahrbucher*, Paris, 1844)

होना एक ऐसा रहस्य है, जो मालों के सापेक्ष मूल्यो के व्यक्त उतार-चढ़ाव के नीचे छिपा रहता है। उसका पता लग जाने से यह खयाल तो दूर हो जाता है कि श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुओ के मूल्यो के परिमाण केवल आकस्मिक ढग से निर्धारित होते ह, किन्तु उससे उनके निर्धारित होने के ढग में कोई तबदीली नहीं आती।

सामाजिक जीवन के रूपो के विषय में मनुष्य के विचार और उनके फलस्वरूप उसके द्वारा इन रूपो का वैज्ञानिक विश्लेषण भी इन रूपो के वास्तविक ऐतिहासिक विकास की ठीक उल्टी दिशा ग्रहण करते ह। मनुष्य उनपर उस समय विचार करना आरम्भ करता है, जब विकास की क्रिया के परिणाम पहले से उसके सामने मौजूद होते ह। जिन गुणो के फलस्वरूप श्रम से उत्पन्न वस्तुए माल बन जाती हैं और जिनका उन वस्तुओ में होना मालो के परिचलन की आवश्यक शर्त होती है, वे पहले से ही सामाजिक जीवन के स्वाभाविक, एव स्वत:स्पष्ट रूपों का स्थायित्व प्राप्त कर लेते ह, और उसके बाद कहीं मनुष्य इन गुणो के ऐतिहासिक स्वरूप को नहीं, क्योकि उसकी दृष्टि में वे तो अपरिवर्तनीय होते हैं, बल्कि उनके अर्थ को समझने की कोशिश शुरु करता है। चुनाचे, मूल्यो का परिमाण केवल उस वक्त निर्धारित हुआ, जब पहले मालो के दामो का विश्लेषण हो गया, और सभी मालो को मूल्यो के रूप में केवल उस वक्त मान्यता मिली, जब पहले सभी मालो की समान रूप से मुद्रा के रूप में अभिव्यजना होने लगी। किन्तु मालो की दुनिया का यह अन्तिम मुद्रा-रूप ही है, जो निजी श्रम के सामाजिक स्वरूप को और अलग-अलग उत्पादको के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बधो को प्रकट करने के बजाय वास्तव में उनपर पर्दा डाल देता है। जब म यह कहता हू कि कोट या जूतों का कपडे से इसलिये एक खास प्रकार का सम्बध है कि कपडा अमूर्त मानव-श्रम का सार्वत्रिक अवतार है, तो मेरे कथन का बेतुकापन खुद ब खुद जाहिर हो जाता है। फिर भी, जब कोट और जूतो के उत्पादक इन वस्तुओ का मुकाबला सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में कपडे से या-जो कि एक ही बात है—सोने या चादी से करते ह, तो वे खुद अपने निजी श्रम और समाज के सामूहिक श्रम के सम्बध को उसी बेतुके रूप में व्यक्त करते ह।

पूजीवादी अर्थशास्त्र की परिकल्पनाए ऐसे ही रूपो की होती ह। ये चिन्तन के ऐसे रूप होते ह, जो उत्पादन की एक खास, इतिहास द्वारा निर्धारित प्रणाली की—अर्थात मालो के उत्पादन की—परिस्थितियो और सम्बधो को सामाजिक मान्यता के साथ व्यक्त करते ह। इसलिये, मालो का यह पूरा रहस्य, यह सारा जादू और इन्द्रजाल, जो श्रम से उत्पन्न वस्तुओ को उस वक्त तक बराबर घेरे रहता है, जब तक कि वे मालो के रूप में रहती ह, —यह सब, जसे ही हम उत्पादन की दूसरी प्रणालियो पर विचार करना आरम्भ करते ह, वसे ही फौरन गायब हो जाता है।

रौबिन्सन क्रूसो के अनुभव चूकि अर्थशास्त्रियो का एक प्रिय विषय है,[1] इसलिये आइये,

---

[1]यहा तक कि रौबिन्सन मार्का कहानिया रिकार्डो के पास भी है। 'आदिम शिकारी और आदिम मछलीमार म वह माला के मालिका क रूप मे फौरन मछली और शिकार का विनिमय करा न्त है। विनिमय उस श्रम-काल के अनुपात मे हाता है, जा इन विनिमय मूल्या म लगा हाता है। पर इस अवसर पर उनके उदाहरण म यह काल-दाप पैदा हो जाता है कि वह इन लागा म, जहा तक कि उन्ह अपने औजारा का हिसाब लगाना होता है, उस वार्षिकी सारिणी का इस्तेमाल करते लगते है, जा १८१७ मे लन्दन एक्सचेंज मे इस्तेमाल हा रही थी। मालूम

उसके द्वीप में चलकर एक नजर उसपर भी डालें। उसकी आवश्यकताए बेशक बहुत कम और बहुत साधारण ढग की हैं, मगर फिर भी उसे कुछ आवश्यकताओ को तो पूरा करना ही पडता है, और इसलिये उसे विभिन्न प्रकार के थोडे से उपयोगी काम भी करने पडते हैं, जैसे औजार और फर्नीचर बनाना, बकरिया पालना, मछली मारना और शिकार करना। वह जो भगवान की प्रार्थना या इसी तरह के दूसरे और काम करता है, उनका हमारे हिसाब में कोई स्थान नहीं है, क्योकि इन कामो से उसे आनन्द प्राप्त होता है और उनको वह अपना मनोरजन समझता है। इस बात के बावजूद कि उसे तरह-तरह का काम करना पडता है, वह जानता है कि उसके श्रम का रूप कुछ भी हो, वह है उसी एक रौबिसन का काम, और इसलिये वह मानव-श्रम के विभिन्न रूपो के सिवा और कुछ नहीं है। आवश्यकता खुद उसे इसके लिये मजबूर कर देती है कि वह अलग अलग ढग के कामो में अपना समय ठीक ठीक बाटे। अपने कुल काम में वह किस तरह के काम को अधिक समय देता है और किसको कम, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिस उपयोगी उद्देश्य को वह उस काम द्वारा प्राप्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति में उसे कितनी कम या ज्यादा कठिनाइयो पर काबू पाना होगा। यह हमारा मित्र रौबिसन अनुभव से जल्दी ही यह सीख जाता है, और जहाज के भग्नावशेष से एक घडी, एक खाताबही और कलम तथा रोशनाई निकाल लाने के बाद एक सच्चे अंग्रेज की तरह वह हिसाब किताब रखना शुरू कर देता है। उसके पास जितनी उपयोगी वस्तुए हैं, उनकी सूची वह अपनी जमा माल की बही में दर्ज कर देता है और यह भी लिख लेता है कि उनके उत्पादन के लिये उसे किस तरह का काम करना पडा और इन वस्तुओ की निश्चित मात्राओ के उत्पादन में औसतन कितना श्रम काल खर्च हुआ। रौबिसन और उन तमाम वस्तुओ के बीच, जिनसे उसकी यह खुद पैदा की हुई दौलत तयार हुई है, जितने भी सम्बध हैं, वे सब इतने सरल और स्पष्ट ह कि मि० सेडली टेलर तक उनको बिना कोई खास मेहनत किये समझ सकते ह। और फिर भी मूल्य के निर्धारण के लिये जितनी चीजों की आवश्यकता है, वे सब इन सम्बधो में मौजूद हैं।

आइये, अब हम रौबिसन के, सूय के प्रकाश से चमचमाते द्वीप को छोड़कर अन्धकार के आवरण में ढके मध्ययुगी योरप को चलें। यहा स्वाधीन मनुष्य के स्थान पर हर आदमी पराधीन है। यह कृषि दासो और सामतो, अधिपतियो और अधीन सरदारों, जनसाधारण और पादरियो की दुनिया है। यहा व्यक्तिगत पराधीनता उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों की उसी हद तक मुख्य विशेषता है, जिस हद तक कि वह इस उत्पादन के आधार पर संगठित जीवन के अन्य क्षेत्रो की मुख्य विशेषता है। लेकिन यहा चूंकि व्यक्तिगत पराधीनता समाज की बुनियाद है, ठीक इसीलिये श्रम तथा उससे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के अपनी वास्तविकता से भिन्न कोई अजीबोग़रीब रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वे समाज के लेन-देन में सेवाओ और वस्तुओ के रूप में भुगतान का रूप धारण कर लेती हैं। यहा श्रम का तात्कालिक सामाजिक रूप उसका सामान्य अमूर्त रूप नहीं है, जैसा कि मालों के उत्पादन पर आधारित समाज में होता है, बल्कि श्रम का विशिष्ट और स्वाभाविक रूप है; यहां [illegible]

तात्कालिक सामाजिक रूप है। जिस तरह माल पैदा करने वाले श्रम को समय द्वारा मापा जाता है, उसी तरह बेगार के श्रम को भी मापा जा सकता है, लेकिन प्रत्येक कृषि-दास जानता है कि अपने सामंत की सेवा में वह जो कुछ खर्च कर रहा है, वह उसकी अपनी व्यक्तिगत श्रम शक्ति की एक निश्चित मात्रा है। आय का जो दसवा हिस्सा पादरी को दे देना पडता है, वह उसके आशीर्वाद से ज्यादा ठोस वास्तविकता होती है। इसलिये, इस समाज में अलग अलग वर्गों के लोगो की भूमिकाओं के बारे में हमारा जो भी विचार हो, श्रम करने वाले व्यक्तियो के सामाजिक सम्बध हर हालत में उनके आपसी व्यक्तिगत सम्बधो के रूप में ही प्रकट होते ह और उनपर कभी ऐसा पर्दा नहीं पडता कि वे श्रम से पदा होने वाली वस्तुओं के सामाजिक सम्बध प्रतीत होने लगें।

सामूहिक श्रम – अथवा प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध श्रम – के किसी उदाहरण का अध्ययन करने के लिये हमें उस स्वयस्फूर्त ढग से विकसित रूप की ओर लौटने की आवश्यकता नहीं है, जिससे सभी सभ्य जातियो के इतिहास के प्रवेश द्वार पर हमारी भेंट होती है।[1] एक उदाहरण हमारे बिल्कुल नजदीक है। वह उस किसान परिवार के पुराणपथी उद्योगो का उदाहरण है, जो अपने घरेलू इस्तेमाल के लिये अनाज, ढोर, सूत, कपडा और पोशाक तैयार करता है। जहा तक परिवार का सम्बध है, ये अलग-अलग वस्तुए उसके श्रम की पदावार होती ह, मगर जहा तक इन वस्तुओ के आपसी सम्बधो का सवाल है, वे माल नहीं होतीं। श्रम के वे विभिन्न रूप, जिनसे ये तरह-तरह की वस्तुए तैयार होती है, जैसे खेत जोतना, ढोर पालना, कातना, बुनना और कपडे सीना, वे सब स्वय अपने में और अपने वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष ढग से सामाजिक काय ह। कारण कि वे ऐसे परिवार के काय ह, जिसमें मालो के उत्पादन पर आधारित समाज की तरह श्रम विभाजन की एक स्वयस्फूत ढग से विकसित प्रणाली पायी जाती है। परिवार के भीतर काम का बटवारा और उसके अनेक सदस्यो के श्रम काल का नियमन जिस तरह अलग अलग मौसम के साथ बदलने वाली प्राकृतिक परिस्थितियो पर निभर करते ह, उसी तरह आयु-भेद और लिग भेद पर भी निभर करते ह। इस सूरत में प्रत्येक व्यक्ति की श्रम शक्ति स्वभावत परिवार की कुल श्रम शक्ति के एक निश्चित अश के रूप में ही व्यवहार में आती है, और इसलिये ऐसी हालत में यदि व्यक्तिगत श्रम-शक्ति के व्यय को उसकी अवधि द्वारा मापा जाता है, तो उसका कारण प्रत्येक व्यक्ति के श्रम का सामाजिक स्वरूप ही है।

---

[1] "हाल के कुछ दिना से यह हास्यास्पद धारणा फैल गयी है कि अपने आदिम रूप में सामूहिक सम्पत्ति खास तौर पर एक स्लाव रूप है, या यहा तक कहा जाता है कि वह विशुद्ध रूसी रूप है। हम साबित कर सकते है कि यह वही आदिम रूप है, जो रोमन, ट्यूटन और केल्ट लोगो म था और जिसके अनेक उदाहरण ध्वसावशेषो की शक्ल मे ही सही, पर आज भी हिदुस्तान मे मिलते ह। सामूहिक सम्पत्ति के एशियाई और विशेषकर हिदुस्तानी रूपो का अधिक पूण ढग मे अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि आदिम सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपो से किस प्रकार उसके भग होने के अलग-अलग ढग निकले हैं। मिसाल के लिये, यह साबित किया जा सकता है कि रोमन और ट्यूटन लोगो म पाये जाने वाले निजी सम्पत्ति के तरह-तरह के मूल रूप हिदुस्तानी सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपो के आधार पर समझे जा सकते हैं।" (Karl Marx *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* [काल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'], पृ० १०।)

आइये, अब तनिक परिवर्त्तन के लिये स्वतंत्र व्यक्तियो के एक ऐसे समाज की कल्पना करे, जिसके सदस्य साझे के उत्पादन के साधनो से काम करते हैं और जिसमें तमाम अलग-अलग व्यक्तियो की श्रम शक्ति को सचेतन ढंग से समाज की संयुक्त श्रम शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इस समाज में रौबिंसन के श्रम की सारी विलक्षणतायें फिर से दिखाई देती हैं, लेकिन इस अंतर के साथ कि यहा ये व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होती ह। रौबिंसन जो कुछ भी पदा करता था, वह केवल उसके अपने व्यक्तिगत श्रम का फल होता था, और इसलिये वह महज उसके अपने इस्तेमाल की चीज होता था। हमारे इस समाज की कुल पदावार सामाजिक होती है। उसका एक हिस्सा उत्पादन के नये साधनो के रूप में काम में आता है और इसलिये सामाजिक ही रहता है। लेकिन एक दूसरे हिस्से का समाज के सदस्य जीवन निर्वाह के साधनो के रूप में उपभोग करते हैं। चुनाचे, इस हिस्से का उनके बीच बटवारा आवश्यक होता है। इस बटवारे की पद्धति समाज के उत्पादक सगठन के बदलने के साथ और उत्पादको के ऐतिहासिक विकास की अवस्था के अनुरूप बदलती जायेगी। हम मान लेते ह—मगर हम मालो के उत्पादन के साथ मुकाबला करने के लिये ही ऐसा मान रहे ह—कि जीवन निर्वाह के साधनो में उत्पादन करने वाले हर अलग अलग व्यक्ति का हिस्सा उसके श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है। इस सूरत में श्रम काल दोहरी भूमिका अदा करेगा। जब एक निश्चित सामाजिक योजना के अनुसार उसका बटवारा किया जाता है, तब उसके द्वारा अलग अलग ढग के कामो तथा समाज की विभिन्न आवश्यकताओ के बीच वही अनुपात कायम रखा जाता है। दूसरी ओर, वह इस बात की माप का काम भी देता है कि हर व्यक्ति के कधो पर सम्मिलित श्रम के कितने भाग का भार पडा है और समाज के सदस्यो के व्यक्तिगत उपभोग के लिये निश्चित किये गये कुल पदावार के भाग का हर व्यक्ति को कितना अश मिलना चाहिये। इस सूरत में उत्पादन करने वाले अलग-अलग व्यक्तियो के श्रम तथा उनकी पैदा की हुई वस्तुओ, इन दोनो दृष्टियो ही से उनके सामाजिक सम्बध अत्यत सरल और सहज ही समझ में आ जाने वाले होते ह, और यह बात न केवल उत्पादन के लिये, बल्कि वितरण के लिये भी सच होती है।

धार्मिक दुनिया वास्तविक दुनिया का प्रतिबिम्ब मात्र होती है। और माला के उत्पादन पर आधारित समाज के लिये, जिसमें उत्पादन करने वाले लोग आम तौर पर अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओ को मालो तथा मूल्यो के रूप में इस्तेमाल करके एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बध स्थापित करते हैं और इस तरह अपने व्यक्तिगत एव निजी श्रम को सजातीय मानव-श्रम के मानदण्ड में परिवर्तित कर देते ह,—ऐसे समाज के लिये अमूर्त्त मानव को पूजने वाला ईसाई धर्म, खासकर अपने पूजीवादी रूपो में—प्रोटेस्टेंट मत, देइज्म आदि में,—सबसे उपयुक्त धर्म है। उत्पादन की प्राचीन एशियाई प्रणाली तथा अन्य प्राचीन प्रणालियो में हम यह पाते ह कि पदावार के मालो में बदल जाने और इसलिये मनुष्यो के मालो के उत्पादको में बदले जाने का गौण स्थान होता है, हालाकि जसे-जसे आदिम समाज विसर्जन के अधिकाधिक निकट पहुचते जाते ह, वसे-वसे इस बात का महत्त्व बढता जाता है। जिनको सचमुच व्यापारी जातियो का नाम दिया जा सकता था, ऐसी जातिया प्राचीन ससार में केवल बीच बीच की खाली जगहो में ही पायी जाती थीं, जसे एपीक्यूरस के देवता दो लोको के बीच के स्थान में रहते थे या जसे यहूदी लोग पोल समाज के छिद्रो में छिपे रहते थे। पूजीवादी समाज की तुलना में उत्पादन के ये प्राचीन सामाजिक सघटन अत्यत सरल और सहज ही समझ में आ

जाने वाले थे। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के अपरिपक्व विकास पर, जिसने कि उस वक्त तक अपने को उस नाल से मुक्त नहीं किया था, जिसने उसे आदिम कबीले के समाज के अपने सहयोगी मनुष्यो के साथ बाध रखा था, और या पराधीनता के प्रत्यक्ष सम्बधो पर रखी गयी थी। ऐसे सामाजिक सघटन केवल उसी हालत में पदा हो सकते ह और कायम रह सकते ह, जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठा हो और इसलिये जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बध उतने ही सकीर्ण हो। यह सकीर्णता प्राचीन प्रकृति पूजा में तथा लोक धर्मों के अन्य तत्त्वो में प्रतिबिम्बित हुई है। वास्तविक दुनिया के धार्मिक प्रतिबिम्ब का बहरहाल केवल उसी समय अंतिम रूप में लोप होगा, जब रोजमर्रा के जीवन के व्यावहारिक सम्बधो में मनुष्य को अपने सहयोगी मनुष्यो तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जाने वाले तथा युक्तिसगत सम्बधो के सिवा और किसी प्रकार के सम्बधो का सामना नहीं करना पडेगा।

समाज की जीवन प्रक्रिया भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होती है। उसके ऊपर पडा हुआ रहस्य का आवरण उस समय तक नहीं हटता, जब तक कि वह स्वतत्र रूप से सम्बद्ध मनुष्यो द्वारा किया जाने वाला उत्पादन नहीं बन जाती और जब तक कि एक निश्चित योजना के अनुसार उसका सचेतन ढग से नियमन नहीं किया जाता। लेकिन इसके लिये जरूरी है कि समाज के पास एक खास तरह की भौतिक बुनियाद या अस्तित्व की विशेष प्रकार की भौतिक परिस्थितिया हो, जो खुद विकास की एक लम्बी और कष्टदायक प्रक्रिया का ही स्वयस्फूत फल होती ह।

यह सच है कि अर्थशास्त्र ने मूल्य तथा उसके परिमाण का विश्लेषण किया है, भले ही वह कितना ही अपूर्ण क्यो न हो,[1] और यह पता लगाया है कि इन रूपो के पीछे क्या छिपा

---

[1] मूल्य के परिमाण का रिकार्डो ने जो विश्लेषण किया है,—और उन्होंने सबसे अच्छा विश्लेषण किया है,—उसकी अपर्याप्तता इस रचना की तीसरी और चौथी पुस्तको में जाहिर होगी। जहा तक आम तौर पर मूल्य का सम्बध है, अर्थशास्त्र की प्रामाणिक धारा की कमजोरी यह है कि उसने कही पर भी साफ साफ और पूर्णत सचेतन ढग से श्रम के दो रूपो का अतर नहीं दिखाया है—एक वह रूप, जब श्रम किसी पैदावार के मूल्य मे प्रकट होता है, और दूसरा वह, जब वही श्रम उस पैदावार के उपयोग मूल्य मे प्रकट होता है। व्यवहार मे, जाहिर है, यह भेद किया जाता है, क्योकि यह धारा यदि एक समय श्रम के परिमाणात्मक पहलू पर विचार करती है, तो दूसरे समय उसके गुणात्मक पहलू को लेती है। लेकिन इसका उसे तनिक भी आभास नही है कि जब श्रम के विभिन्न प्रकारो के बीच केवल परिमाणात्मक अतर देखा जाता है, तब उनकी गुणात्मक एकता अथवा समानता पहले से ही मान ली जाती है और इसलिये उनको पहले से ही अमूर्त मानव श्रम मे बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिये, रिकार्डो ने कहा है कि वह देस्तूत दे त्रेसी की इस स्थापना से सहमत है कि 'यह बात चूकि निश्चित है कि हमारी मूल सम्पत्ति केवल हमारी शारीरिक और मानसिक क्षमताए ही है, इसलिए इन क्षमताओ का प्रयोग, किसी न किसी प्रकार का श्रम, हमारा एकमात्र मूल कोष है, और ये तमाम वस्तुए, जिनको हम धन कहते है, सदा इस प्रयोग से ही पैदा होती है यह बात भी निश्चित है कि ये सब वस्तुए केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने उनको पै

है। लेकिन अर्थशास्त्र ने यह सवाल एक बार भी नहीं उठाया है कि श्रम का प्रतिनिधित्व उसकी पैदावार का मूल्य और श्रम काल का प्रतिनिधित्व उस मूल्य का परिमाण क्यों करते हैं।[1] जिन सूत्रों पर साफ तौर पर इस बात की छाप देखी जा सकती है कि वे समाज की एक ऐसी अवस्था से सम्बंध रखते हैं, जिसमें उत्पादन की क्रिया मनुष्य द्वारा नियंत्रित होने के बजाय उसके ऊपर शासन करती है, – ये सूत्र पूंजीवादी बुद्धि को प्रकृति द्वारा अनिवार्य बना दी गयी वैसी ही स्वतःस्पष्ट आवश्यकता लगते हैं, जैसी आवश्यकता खुद उत्पादक श्रम है।

किया है, और यदि उनका कोई मूल्य है या यदि उनके दो अलग-अलग ढंग के मूल्य भी हैं, तो वे केवल उस श्रम के मूल्य से ही निकले हैं, जिससे ये वस्तुएं निकली हैं।" (Ricardo *The Principles of Political Economy* [रिकार्डो, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], तीसरा संस्करण, London, 1821, पृ० ३३४।) हम यहां पर केवल यही कह सकते हैं कि रिकार्डो ने देस्तूत के शब्दों को खुद अपनी, अधिक गूढ़, व्याख्या पहना दी है। देस्तूत सचमुच जितनी बात कहते हैं, वह यह है कि एक तरफ तो धन कहलाने वाली तमाम चीजें उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने उनको पैदा किया है, लेकिन, दूसरी तरफ, वे अपने "दो अलग-अलग ढंग के मूल्यों" (उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य) को "श्रम के मूल्य से" प्राप्त करती हैं। इस प्रकार वह उन घटिया किस्म के अर्थशास्त्रियों की आम भद्दी गलती को ही दोहराते हैं, जो बाकी मालों का मूल्य निर्धारित करने के लिये एक माल का (यहां पर श्रम का) खुद कुछ मूल्य मान लेते हैं। लेकिन रिकार्डो देस्तूत के शब्दों को इस तरह पढ़ते हैं, जैसे उन्होंने यह कहा हो कि श्रम (न कि श्रम का मूल्य) उपयोग मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनों में निहित होता है। फिर भी रिकार्डो ने खुद श्रम के दोहरे स्वरूप की ओर, जो दोहरे ढंग से मूर्त रूप प्राप्त करता है, इतना कम ध्यान दिया है कि अपना *Value and Riches, Their Distinctive Properties* ('मूल्य तथा धन, उनके अलग-अलग गुण') शीर्षक का पूरा अध्याय उन्होंने जे० बी० से जैसे व्यक्ति की तुच्छ बातों की श्रमपूर्ण समीक्षा करने में खर्च कर डाला, और उसके अंत में उनको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ है कि देस्तूत एक तरफ तो उनसे इस बात में सहमत हैं कि मूल्य का स्रोत श्रम है, और दूसरी तरफ वह मूल्य की धारणा के सम्बंध में जे० बी० से से सहमत हैं।

[1] प्रामाणिक अर्थशास्त्र की यह एक मुख्य कमजोरी है कि मालों का और, खास तौर पर, उनके मूल्य के विश्लेषण द्वारा वह कभी यह नहीं पता लगा पाया है कि मूल्य किस रूप के अंतर्गत विनिमय मूल्य बन जाता है। यहां तक कि ऐडम स्मिथ और रिकार्डो भी जो कि इस धारा के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं, मूल्य के रूप को महत्त्वहीन चीज़ समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में मालों के मौलिक स्वभाव से उसका कोई सम्बंध नहीं है। इसका केवल यही कारण नहीं है कि उनका सारा ध्यान महज मूल्य के परिमाण के विश्लेषण पर केंद्रित हो गया है। इसका असली कारण और गहरा है। श्रम की पैदावार का मूल्य रूप उसका न केवल सबसे अमूर्त रूप है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत वह उस पैदावार का सबसे अधिक सार्वत्रिक रूप होता है, और यह रूप इस उत्पादन को सामाजिक उत्पादन की एक खास किस्म बना देता है और इस प्रकार उसे उसका विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर देता है। अतएव, यदि हम उत्पादन की इस प्रणाली को एक ऐसी प्रणाली समझ बैठते हैं, जिसे प्रकृति

अतएव सामाजिक उत्पादन के पूजीवादी रूप के पहले उसके जो रूप आ चुके हैं, उनके साथ पूजीपति-वग कुछ-कुछ वसा ही व्यवहार करता है, जसा ईसायी सन की पहली शताब्दियों के ईसाई धम के लेखक और प्रचारक ईसाई धम के पहले के धर्मों के साथ करते थे।[1]

ने समाज की प्रत्येक अवस्था के लिये सदा सदा के लिये निश्चित कर दिया है, तो हम लाजिमी तौर पर उन गुणो का अनदेखा कर जाते हैं, जो मूल्य रूप के और इसलिये माल रूप के तथा उसके और विकसित रूपो के—यानी मुद्रा रूप और पूजी रूप आदि—के विशिष्ट एव भेदकारक गुण हैं। फलत हम पाते हैं कि उन अथशास्त्रियो मे, जो इस बात से पूरी तरह से सहमत हैं कि मूल्य के परिमाण का मापदण्ड श्रम-काल है, मुद्रा के विषय मे, जो कि सार्वत्रिक सम मूल्य का पूर्णतया विकसित रूप है, बहुत ही अजीबोगरीब और परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं। यह बात उस वक्त बहुत उग्र रूप मे सामने आती है, जब वे बैंक के कारोबार पर विचार करना आरम्भ करते हैं, जहा मुद्रा की साधारण परिभाषाओ से तनिक भी काम नही चलता। इसी से एक नयी व्यापारवादी प्रणाली (गानिल्ह आदि) का जन्म हुआ है, जो मूल्य मे एक सामाजिक रूप के सिवा—या कहना चाहिये कि उस रूप के अमूर्त प्रेत के सिवा—और कुछ नही देखती।—यहा पर मैं साफ साफ और सदा के लिये यह बता दू कि प्रामाणिक अथशास्त्र मे मेरा मतलब उस अथशास्त्र से है, जिसने डब्लयू० पटी के समय से ही पूजीवादी समाज मे पाये जाने वाले उत्पादन के वास्तविक सम्बधो की छानबीन की है और जो घटिया किस्म के अथशास्त्र की तरह नही है। घटिया किस्म का अथशास्त्र केवल सतही बातो का अध्ययन करता है। वह अनवरत उसी सामग्री की जुगाली किया करता है, जिसे वैज्ञानिक अथशास्त्र ने बहुत पहले प्रस्तुत कर दिया था, और इस सामग्री मे वह अतिस्पष्ट घटनाओ के ऊपर से युक्तिसगत प्रतीत होने वाले स्पष्टीकरण की तलाश किया करता है, ताकि वह पूजीपतियो के रोजमर्रा के इस्तेमाल मे आ सके। मगर इसके अलावा उसका काम बस यही रहता है कि आत्म-सतुष्ट पूजीपति वग की दुनिया के बारे मे उस वग के विचारो को बडे पण्डिताऊ ढग से सुनियोजित विचारधारा के रूप मे पेश कर दे और यह दावा करे कि ये विचार चिरतन सत्य हैं। उपरोक्त पूजीपति-वग अपनी दुनिया को सभी सम्भव दुनियाओ से अच्छी समझता है और बहुत ही घटिया किस्म के घिसे पिटे विचार रखता है।

[1] Les economistes ont une singuliere maniere de proceder Il n y a pour eux que deux sortes d institutions celles de l art et celles de la nature Les institutions de la feodalite sont des institutions artificielles celles de la bourgeoisie sont des institutions naturelles Ils ressemblent en ceci aux theologiens qui eux aussi etablissent deux sortes de religions Toute religion qui n est pas la leur est une invention des hommes tandis que leur propre religion est une emanation de Dieu — Ainsi il y a eu de l'histoire, mais il n y en a plus ' ["अथशास्त्रियो का तक वितक अजीब ढग का होता है। उनके लिये केवल दो प्रकार की ही सस्थाए हैं वनावटी सस्थाए और प्राकृतिक सस्थाए। सामती सस्थाए वनावटी सस्थाए हैं, पूजीपति वग की सस्थाए प्राकृतिक सस्थाए हैं। इस बात मे वे धमशास्त्रियो से मिलते हैं। वे लोग भी दो प्रकार के धम मानते हैं। उनके अपने धम को छोडकर उनकी दृष्टि मे बाकी हर धम मनुष्यो का आविष्कार होता है, जब कि अपने धम के बारे मे वे समझते हैं कि वह

मालो में जो जड पूजा निहित है या श्रम के सामाजिक गुण जिस भौतिक रूप में प्रकटहोते हैं, उसने कुछ अर्थशास्त्रियो को किस बुरी तरह भटका दिया है, इसका कुछ अनुमान अन्य बातो के अलावा उस नीरस और थका देने वाली बहस से लग सकता है, जो इस विषय को लेकर

ईश्वर से उद्भूत हुआ है।—मतलब यह कि अभी तक तो इतिहास का क्रम चल रहा था, पर हमारे साथ वह सम्पूर्ण हो गया है।"] (Karl Marx *"Misere de la Philosophie Réponse a la Philosophie de la Misère par M Proudhon* [काल मार्क्स, 'दशन की दरिद्रता। मि० प्रूधो की पुस्तक 'दरिद्रता का दशन' का जवाब'], *1847*, प० ११३।) मि० बास्तियात के हाल पर सचमुच हसी आती है। उनका खयाल है कि प्राचीन काल मे यूनानी और रोमन लोग केवल लूट-मार के सहारे ही जीवन बसर करते थे। लेकिन जब लोग सदियो तक लूट मार करते हैं, तो कोई ऐसी चीज हमेशा उनके नजदीक रहनी चाहिये, जिसे वे लूट सके, लूट-मार की चीजो का लगातार पुनरुत्पादन होते रहना चाहिए। परिणामत इससे ऐसा लगेगा कि यूनानियो और रोमनो के यहा भी उत्पादन की कोई क्रिया थी। चुनाचे उनके यहा कोई अथ व्यवस्था भी रही होगी, और जिस प्रकार पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था हमारी आधुनिक दुनिया का भौतिक आधार है, उसी प्रकार वह अर्थ-व्यवस्था यूनानियो और रोमनो की दुनिया का भौतिक आधार रही होगी। या शायद बास्तियात के कथन का अर्थ यह है कि दास-प्रथा पर आधारित उत्पादन प्रणाली लूट मार की प्रणाली पर आधारित होती है? यदि यह बात है, तो बास्तियात खतरनाक जमीन पर पाव रख रहे हैं। यदि अरस्तू जैसा महान विचारक दासो के श्रम को समझने मे गलती कर गया, तो फिर बास्तियात जैसा बौना अर्थशास्त्री मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूरो के श्रम को कैसे सही तौर पर समझ सकता है?—मैं इस अवसर से लाभ उठाकर अमरीका मे प्रकाशित एक जमन पत्र के उस ऐतराज का सक्षेप मे जवाब दे देना चाहता हू, जो उसने मेरी रचना *'Zur Kritik der Pol Oekonomie, 1859* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') पर किया है। मेरा मत है कि प्रत्येक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली और उसके अनुरूप सामाजिक सम्बध, या सक्षेप मे कहिये, तो समाज की आर्थिक गठन ही वह वास्तविक आधार होती है, जिसपर कानूनी एव राजनीतिक ऊपरी ढाचा खडा किया जाता है और जिसके अनुरूप चिंतन के भी कुछ निश्चित सामाजिक रूप होते हैं, मेरा मत है कि उत्पादन की प्रणाली आम तौर पर सामाजिक, राजनीतिक एव बौद्धिक जीवन को निर्धारित करती है। इस पत्र की राय म, मेरा यह मत हमारे अपने जमाने के लिये तो बहुत सही है, क्योंकि उसमें भौतिक स्वार्थो का बोलबाला है, लेकिन वह मध्य युग के लिये सही नही है, जिसमे कैथोलिक धम का बोलबोला था, और वह एथेंस और रोम के लिये भी सही नही है, जहा राजनीति का ही डका बजता था। अब सबसे पहले तो किसी का यह सोचना सचमुच बडा अजीब लगता है कि मध्य युग और प्राचीन ससार के बारे मे ये पिटी पिटायी बाते किसी दूसरे को मालूम नही हैं। बहरहाल इतनी बात तो स्पष्ट है कि मध्य युग के लोग केवल कैथोलिक धम के सहारे या प्राचीन ससार के लोग केवल राजनीति के सहारे जिन्दा नही रह सकते थे। इसके विपरीत, उनके जीविका कमाने के ढग से ही यह बात साफ होती है कि क्या एक काल मे राजनीति की और दूसरे काल मे कैथोलिक धम की] भूमिका प्रधान थी।] जहा तक बाकी बातो का सम्बध है, तो, उदाहरण के लिए, रोमन प्रजातन्त्र के इतिहास की मामूली जानकारी यह जानने के लिये काफी है कि रोमन प्रजातन्त्र का गुप्त इतिहास वास्तव मे उसकी भू-सम्पत्ति का

चल रही है कि विनिमय मूल्य के निर्माण में प्रकृति का कितना हाथ है। विनिमय-मूल्य चूंकि किसी भी वस्तु में लगाये गये श्रम की मात्रा को व्यक्त करने का एक खास सामाजिक ढग होता है, इसलिये प्रकृति का उससे ठीक उसी प्रकार कोई सम्बध नहीं होता, जिस प्रकार उसका विनिमय के दर-क्रम को निश्चित करने से कोई सम्बध नहीं होता।

उत्पादन की वह प्रणाली, जिसमें पदावार माल का रूप धारण कर लेती है या जिसमें पदावार सीधे विनिमय करने के लिये पदा की जाती है, पूजीवादी उत्पादन का सबसे अधिक सामान्य और सबसे अधिक अल्प विकसित रूप है। इसलिये वह इतिहास के बहुत शुरू के दिनों में ही दिखाई देने लगती है, हालाकि उस वक्त वह आजकल की तरह इतने जोरदार एव प्रतिनिधि रूप में सामने नहीं आती है। अतएव उस जमाने में उसके साथ जुडी हुई जड-पूजा को अपेक्षाकृत अधिक आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन जब हम अधिक ठोस रूपो पर आते है, तो यह दिखावटी सरलता भी गायब हो जाती है। मुद्रा-प्रणाली की भ्रातिया कहा से पदा हुई? इस प्रणाली के अनुसार, जब सोना और चादी मुद्रा का काम करते ह, तो वे पदावार करने वाला के बीच किसी सामाजिक सम्बध का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि कुछ अजीबोगरीब सामाजिक गुण रखने वाली प्राकृतिक वस्तुओ के रूप में नजर आते ह। और आधुनिक अथशास्त्र को लीजिये, जो मुद्रा प्रणाली को बहुत तिरस्कार की दष्टि से देखता है। किन्तु जब कभी वह पूजी पर विचार करने बठता है, तब उसका अधविश्वास क्या दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट नहीं हो जाता? और अथशास्त्र को इस फिजिओक्रेटिक भ्राति से छुटकारा पाये हुए ही अभी कितने दिन हुए ह कि लगान का उदभव-स्रोत समाज नहीं, बल्कि धरती है?

जो बात आगे आने वाली है, उसकी अभी से चर्चा न करने की दष्टि से हम माल रूप से सम्बध रखने वाला केवल एक उदाहरण और देकर सतोष कर लेगे। यदि माल खुद बोल पाते, तो वे कहते हमारे उपयोग मूल्य में इनसानो को दिलचस्पी हो सकती है। पर वस्तुओ के रूप में वह हमारा अश नहीं है। वस्तुओ के रूप में हमारा अश हमारा मूल्य है। मालो के रूप में हमारा स्वाभाविक आदान प्रदान इस बात का प्रमाण है। एक दूसरे की दष्टि में हम विनिमय मूल्यो के सिवा और कुछ नहीं ह। अच्छा, अब जरा सुनिये कि ये ही माल अथशास्त्रियो के मख से किस तरह बोलते ह। "मूल्य (अर्थात विनिमय-मूल्य) चीजो का गुण होता है, और धन सम्पदा (अर्थात् उपयोग-मूल्य) मनुष्यो का। इस अथ में मूल्य का लाजिमी तौर पर मतलब होता है विनिमय, धन सम्पदा का यह मतलब नहीं होता।"[1] "धन-सम्पदा (उपयोग-मूल्य) मनष्यो का गुण है, मूल्य मालो का गुण है। कोई मनुष्य या कोई समाज धनी होता है, पर कोई मोती या हीरा मूल्यवान होता है कोई मोती या हीरा" मोती या हीरे के रूप में "मूल्यवान

इतिहास है। दूसरी ओर, दोन कियोत बहुत पहले अपनी इस गलत समझ का खमियाजा भुगत चुका है कि मध्य युग के सूरमा सरदारो जैसा आचरण समाज के सभी आर्थिक रूपो से मेल खा सकता है।

[1] *Observations on certain verbal disputes in Political Economy particularly relating to Value and to Demand and Supply* ('अथशास्त्र में कुछ शाब्दिक विवादो के विषय में खासकर मूल्य और माग तथा पूर्ति से सम्बध रखने वाले विवादो के विषय में, कुछ विचार'), London, 1821 पृ० १६।

होता है।"[1] अभी तक किसी रासायनिक ने न तो मोती में विनिमय-मूल्य खोजा है और न ही हीरे में। लेकिन इस रासायनिक तत्त्व के आर्थिक आविष्कारको को, जिनका आलोचना के क्षेत्र में बडी सूक्ष्म दृष्टि रखने का दावा है, पता लगता है कि वस्तुओ में उपयोग-मूल्य उनके भौतिक गुणो से स्वतत्र होता है, जब कि उनका मूल्य, इसके विपरीत, वस्तुओ के रूप में उनका अश होता है। जो बात उनके इस विचार को और पक्का कर देती है, वह यह विचित्र तथ्य है कि वस्तुओ का उपयोग-मूल्य विनिमय के बिना ही, मनुष्य के साथ इन वस्तुओ के सीधे सम्बध के जरिये, प्रत्यक्ष रूप में सामने आ जाता है, जब कि, दूसरी तरफ, उनका मूल्य केवल विनिमय के द्वारा, अर्थात एक सामाजिक प्रक्रिया के जरिये ही, प्रत्यक्षत सम्मुख आता है। इस सम्बध में हमारे भले मित्र डोगबेरी की किसको याद न आयेगी, जिसने अपने पडोसी सीकोल से कहा था कि "सुदरता भाग्य की देन होती है, पर लिखना पढना प्रकृति से मिलता है।"[2]

---

[1] S Bailey, उप० पु०, पृष्ठ १६५।

[2] *Observations*' के लेखक और एस० बेली ने रिकार्डो पर यह आरोप लगाया है कि उन्होने विनिमय-मूल्य को सापेक्ष से निरपेक्ष चीज़ मे बदल दिया है। सचाई इसकी उल्टी है। वस्तुओ के बीच मे, जैसे हीरा और मोतियो के बीच मे, जो ऊपरी सम्बध होता है, यानी जिस सबध मे वस्तुए विनिमय-मूल्या के रूप मे सामने आती है, रिकार्डो ने उसका विश्लेपण किया है और दिखावटी सम्बध के पीछे छिपे हुए असली सम्बध को खोलकर बताया है कि यह केवल मानव-श्रम की अभिव्यजनाओ का सम्बध है। यदि रिकार्डो के अनुयायियो ने बेली को किसी कदर कठोर उत्तर दिया है और यदि फिर भी वे उनको समुचित उत्तर नही दे पाये है, तो इसका कारण हमे इस बात मे खोजना चाहिए कि इन लोगो को रिकार्डो की अपनी रचनाओ मे कोई ऐसी कुजी नही मिल सकी थी, जिससे वे मूल्य तथा उसके रूप—विनिमय-मूल्य —के बीच विद्यमान गुप्त सम्बधो को समझ सकते।

दूसरा अध्याय

विनिमय

यह बात साफ है कि माल खुद मण्डी में जाकर अपने आप अपना विनिमय नहीं कर सकते। इसलिए इस मामले में हमें उनके सरक्षकों का सहारा लेना होगा, जो कि उनके मालिक भी होते हैं। माल वस्तु होते ह, और इसलिये उनमें मनुष्य का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं होती। यदि उनमें नम्रता का अभाव हो, तो मनुष्य बल प्रयोग कर सकता है, दूसरे शब्दों में, वह जबदस्ती उनपर अधिकार कर सकता है।[1] इसलिये कि इन वस्तुओ के बीच मालो के रूप में सम्बध स्थापित हो सके, यह जरूरी है कि उनके सरक्षक ऐसे व्यक्तियो के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित करें, जिनकी इच्छा इन वस्तुओ का नियमन करती हो, और इस तरह का व्यवहार करे कि उनमें से किसी को भी दोनो की रजामन्दी से की हुई कारवाई के सिवा और किसी तरह दूसरे का माल हथियाने का मौका न मिले और न किसी को अपने माल से हाथ ही धोना पडे। अत, मालो के सरक्षको को एक दूसरे के निजी स्वामित्व के अधिकार को मानना पडेगा। यह कानूनी सम्बध, जो इस प्रकार अपने को किसी समझौते के रूप म व्यक्त करता है, – चाहे वह समझौता किसी विकसित कानूनी प्रणाली का अग हो या न हो – दो इच्छाओ का सम्बध होता है, और वह उन दोनो के वास्तविक आर्थिक सम्बध का प्रतिबिम्ब मात्र ही होता है। यह आथिक सम्बघ ही प्रत्येक ऐसी कानूनी कार्रवाई की विषय वस्तु को निर्धारित करता है।[2] व्यक्तियो का एक दूसरे के लिये केवल मालो के प्रतिनिधियो के रूप म

---

[1] १२ वी सदी मे, जो कि अपनी धम भीरू वृत्ति के लिए विख्यात थी, कुछ बहुत ही नाजुक चीजें भी माला मे गिनी जाती थी। चुनाचे, उस काल के एक फ्रासीसी कवि ने लादित की मण्डी मे मिलने वाले सामान मे न सिफ कपडे, जूते, चमडा, खेती के औजार आदि गिनाये है, वल्कि femmes folles de leur corps (वेश्याओ) का भी जिक्र किया है।

[2] प्रूधो इस तरह शुरू करते है कि माला के उत्पादन से मेल खाने वाले कानूनी सम्बधो से न्याय का अपना आदश, 'justice eternelle ("शाश्वत न्याय") की अपनी कल्पना, उधार ले लेते ह, और यह भी कहा जा सकता है कि इस तरह वह यह साबित कर देते है – और इससे सभी भले नागरिको को बडी सात्वना भी मिलती है – कि मालो का उत्पादन उत्पादन का उतना ही शाश्वत रूप है, जितना शाश्वत न्याय है। उसके बाद वह पलटकर माला के वास्तविक उत्पादन म और उससे मेल खाने वाली कानूनी व्यवस्था मे अपने इस आदश के अनुसार सुधार करना चाहते ह। उस रासायनिक के बारे म हमारी क्या राय होगी, जो पदाथ के

ओर इसलिये मालो के मालिकों के रूप में अस्तित्व होता है। अपनी खोज के दौरान में हम आम तौर पर यह पायेंगे कि आर्थिक रगमच पर आने वाले पात्र केवल उनके बीच पाये जाने वाले आर्थिक सम्बधो के ही साकार रूप होते ह।

किसी माल और उसके मालिक में प्रमुख अ तर यह होता है कि माल दूसरे हरेक माल को खुद अपने मूल्य के अभिव्यक्त होने का रूप मात्र समझता है। माल जन्म से ही हर प्रकार की ऊच-नीच को बराबर करता चलता है और सवथा आस्थाहीन होता है। वह न केवल अपनी आत्मा का, बल्कि अपने शरीर तक का किसी भी दूसरे माल के साथ विनिमय करने को सदा तयार रहता है, भले ही वह माल खुद मारितोर्नेस से भी ज्यादा घिनौना क्यो न हो । माल में यथार्थ को पहचानने की क्षमता के इस अभाव को उस माल का मालिक अपनी पाच या इस से भी अधिक ज्ञानेंद्रियो द्वारा पूरा कर देता है। खुद उसके लिये अपने माल का कोई तात्कालिक उपयोग-मूल्य नहीं होता। अयथा वह उसे मडी में लेकर न आता। उसका दूसरो के लिये उपयोग-मूल्य होता है, लेकिन खुद अपने मालिक के लिये उसका केवल यही प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य होता है कि वह विनिमय मूल्य का भण्डार और इसलिये विनिमय का साधन होता है।[1] चुनाचे, माल का मालिक तै कर लेता है कि वह अपने माल का ऐसे मालो से विनिमय करेगा, जिनका उपयोग-मूल्य उसके काम आ सकता है। सभी मालो के बारे में यह बात सच है कि वे अपने मालिको के लिये उपयोग-मूल्य नहीं होते, और जो उनके मालिक नहीं है, उनके लिये वे उपयोग-मूल्य होते ह। चुनाचे, सभी मालो के लिये जरूरी है कि वे एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जायें। लेकिन एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाना ही तो विनिमय है, और वह विनिमय मूल्यो के रूप में उनका एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित कर देता है और मालो को

सयोग और विच्छेदन मे अणु सम्बधी परिवतना के वास्तविक नियमा का अध्ययन करने और उसकी बुनियाद पर निश्चित समस्याओ को हल करने के बजाय "naturalite ("स्वाभाविकता") और "affinite ("बधुता") के "शाश्वत विचारा" की सहायता से पदाथ के सयोग और विच्छेदा का नियमन करने का दावा करता है? जब हम यह कहते हैं कि सूदखोरी justice eternelle ("शाश्वत न्याय"), equite eternelle ("शाश्वत साम्य"), mutualite eternelle ("शाश्वत पारस्परिकता") और अय verites eternelles "(शाश्वत सत्या") के खिलाफ जाती है, तब क्या हमे उससे सूदखोरी के बारे मे सचमुच कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है, जो ईसवी सन की पहली शताब्दिया के ईसाई लेखका की इन उक्तिया से प्राप्त होती कि सूदखोरी "grâce eternelle' foi eternelle ("शाश्वत अनुकम्पा", "शाश्वत विश्वास") और la volonte eternelle de Dieu ("भगवान की शाश्वत इच्छा") के प्रतिकूल है?

[1] "कारण कि हर वस्तु का दोहरा उपयाग होता है एक उपयोग खुद उस वस्तु की विशेषता होता है, दूसरा नही, जैसे कि चप्पल पहनी जा सकती है और उसका विनिमय भी किया जा सकता है। ये दोनो चप्पल के ही उपयोग है, क्योकि जो आदमी उस मुद्रा या अनाज के साथ चप्पल का विनिमय करता है, जिसकी उसे जरूरत होती है, वह भी चप्पल का चप्पल के रूप मे ही उपयोग करता है। लेकिन वह प्राकृतिक ढग से उसका उपयोग नही करता। कारण कि चप्पल विनिमय करने के लिए नही बनायी गयी थी।" (Aristoteles *'De Republica'* [अरस्तू, 'प्रजातत्र'], खण्ड १, अध्याय ६।)

मूल्यो के रूप में व्यवहार में आने का अवसर देता है। इसलिये, मालो के उपयोग-मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने के पहले यह जरूरी है कि वे मूल्यो के रूप में व्यवहार में आयें।

दूसरी ओर, मालो के मूल्यो के रूप में व्यवहार में आने के पहले उनका यह जाहिर करना जरूरी है कि वे उपयोग-मूल्य ह। कारण कि उनपर खर्च किये गये श्रम का महत्व केवल उस हद तक होता है, जिस हद तक कि वह ऐसे ढग से खर्च किया जाता है, जो दूसरों के लिये उपयोगी हो। वह श्रम दूसरो के लिये उपयोगी है या नहीं और चुनाचे उससे पैदा होने वाली वस्तु दूसरो की आवश्यकताओ को पूरा करने की योग्यता रखती है या नहीं, यह केवल विनिमय कार्य द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

माल का प्रत्येक मालिक केवल ऐसे मालो से उसका विनिमय करना चाहता है, जिनके उपयोग-मूल्य से उसकी कोई आवश्यकता पूरी होती हो। इस दृष्टि से विनिमय उस के लिये केवल एक निजी सौदा होता है। दूसरी ओर, वह यह चाहता है कि उसके माल के मूल्य को मूर्त रूप प्राप्त हो, यानी उसका माल समान मूल्य के किसी अन्य उपयुक्त माल में बदल जाय, भले ही दूसरे माल के मालिक के लिये उसके अपने माल का कोई उपयोग-मूल्य हो या न हो। इस दृष्टि से विनिमय उसके लिये एक सामान्य ढग का सामाजिक सौदा होता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि सौदो की कोई एक ही तरतीब मालो के सभी मालिको के लिये एक ही समय में विशुद्ध निजी चीज भी हो और विशुद्ध सामाजिक एव सामान्य चीज भी।

आइये, इस मामले की थोडी और गहराई में जायें। किसी भी माल के मालिक के लिये दूसरा हरेक माल उसके अपने माल का एक विशिष्ट सम-मूल्य होता है और इसलिये खुद उसका माल बाकी सब मालो का सार्वत्रिक सम-मूल्य होता है। लेकिन चूकि यह बात हर मालिक पर लागू होती है, इसलिये वास्तव में कोई माल सार्वत्रिक सम मूल्य का काम नहीं करता और मालो के सापेक्ष मूल्य का कोई ऐसा सामान्य रूप नहीं होता, जिसमें उनका मूल्यो के रूप में समीकरण किया जा सके और उनके मूल्यो के परिमाण का मुकाबला किया जा सके। इसलिये अभी तक माल मालो के रूप में एक दूसरे का सामना नहीं करते, बल्कि केवल पैदावार के रूप में, या उपयोग मूल्यो के रूप में, एक दूसरे के सामने आते ह। इस कठिनाई के पैदा होने पर हमारे मालो के मालिक फौस्ट की तरह सोचते हैं कि 'Im Anfang war die That ("शुरुआत अमल से हुई थी")। चुनाचे, उन्होंने सोचने के पहले अमल किया और सौदा कर डाला। मालो का स्वभाव जिन नियमो को अनिवार्य बना देता है, उनका वे सहज प्रवृत्ति से पालन करते हैं। अपने मालो का मूल्यो के रूप में और इसलिये मालों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित करने का उनके सामने सिर्फ यही एक तरीका है कि अपने मालो का सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में किसी और माल के साथ मुकाबला करे। यह बात हम माल के विश्लेषण से जान चुके ह। लेकिन कोई खास माल केवल एक सामाजिक कारवाई से ही सार्वत्रिक सम-मूल्य बन सकता है। इसलिये बाकी सब मालो की सामाजिक कारवाई उस खास माल को अलग कर देती है, जिसके रूप में वे सब अपने मूल्यो को व्यक्त करते ह। चुनाचे, इस माल का शारीरिक रूप सामाजिक तौर पर मान्य सार्वत्रिक सम-मूल्य का रूप बन जाता है। इस सामाजिक क्रिया के परिणामस्वरूप सार्वत्रिक सम-मूल्य होना उस माल का खास काम बन जाता है, जिसे बाकी माल इस तरह अपने से अलग कर देते ह। इस प्रकार वह माल बन जाता है—मुद्रा। 'Illi unum consilium habent et virtutem et potestatem suam bestiae tradunt Et ne quis possit emere aut vendere, nisi qui habet characterem aut nomen bestiae, aut numerum nominis

ejus' (Apocalypse) ("इनका एक सा दिमाग़ होता है और वे सब अपनी शक्ति और अपना अधिकार हैवान को सौंप देंगे। और सिवाय उस आदमी के, जिसके ऊपर हैवान का निशान होगा या जिसके पास उसका नाम या उसके नाम का हिस्सा होगा, और कोई न तो ख़रीद पायेगा और न बेच पायेगा।" – अपोकलिप्स, अध्याय १७, २३ और अध्याय १३, १७)।

मुद्रा एक ऐसा स्फटिक है, जिसका विनिमयो की क्रिया के दौरान में अनिवार्य रूप से निर्माण हो जाता है और जिसके द्वारा श्रम से पैदा होने वाली अलग अलग वस्तुओ का व्यावहारिक रूप में एक दूसरे के साथ समीकरण किया जाता है और इस तरह उनको व्यवहार में मालो में बदल दिया जाता है। मालो में उपयोग-मूल्य और मूल्य का जो व्यतिरेक छिपा रहता है, उसे विनिमयो की ऐतिहासिक प्रगति और उनका विस्तार विकसित करता है। व्यापारिक आदान-प्रदान के लिये इस व्यतिरेक को चूंकि वाह्य रूप से अभिव्यक्त करना जरूरी होता है, इसलिये मूल्य के एक स्वतत्र रूप की स्थापना की आवश्यकता बढती जाती है, और यह क्रिया उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि मालो के मालो और मुद्रा में बट जाने के फलस्वरूप यह आवश्यकता सदा-सदा के लिये पूरी नहीं हो जाती। अतएव, जिस गति से श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुए मालो में परिणत होती हैं, उसी गति से एक खास माल मुद्रा में भी बदलता जाता है।[1]

श्रम से पदा होने वाली वस्तुओ का सीधा विनिमय एक दृष्टि से तो मूल्य की सापेक्ष अभिव्यजना का प्राथमिक रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन एक दूसरी दृष्टि से ऐसा नहीं करता। यह प्राथमिक रूप है 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण। सीधी अदला-बदली का रूप यह होता है 'क' उपयोग-मूल्य का 'प' परिमाण = 'ख' उपयोग-मूल्य का 'फ' परिमाण।[2] इस अवस्था में 'क' और 'ख' नामक वस्तुए अभी माल नहीं बन पायी ह, बल्कि वे केवल अदला-बदली के जरिये ही माल बनती हैं। कोई भी उपयोगी वस्तु विनिमय-मूल्य प्राप्त करने की ओर उस समय पहला कदम उठाती है, जब वह अपने मालिक के लिये उपयोग-मूल्य नहीं रह जाती, और वह उस समय होता है, जब वह अपने मालिक की तात्कालिक आवश्यकताओ के लिये जरूरी किसी वस्तु का फाजिल भाग बनती है। वस्तुओ का मनुष्य से अलग अस्तित्व होता है, और इसलिये मनुष्य उनको हस्तातरित कर सकता है। हस्तातरण की यह क्रिया दोनो तरफ से हो, इसके लिये केवल यह जरूरी है कि लोग एक मौन

---

[1] इससे हम निम्न-पूजीवादी समाजवाद की चतुराई का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, जो मालो के उत्पादन को तो ज्यो का त्यो कायम रखना चाहता है, पर मुद्रा और माला के "विरोध" को मिटा देना चाहता है, और चूकि मुद्रा का अस्तित्व केवल इस विरोध के कारण ही होता है, इसलिए वह खुद मुद्रा को ही मिटा देना चाहता है। तव तो हम पोप को मिटाकर कैथोलिक सम्प्रदाय को कायम रखने की चेष्टा भी कर सकते हैं। इस विषय के बारे मे और जानने के लिये देखिये मेरी रचना '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*' ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० ६१ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] जब तक कि दो अलग-अलग उपयोग मूल्या का विनिमय हाने के बजाय किसी एक वस्तु के सम-मूल्य के रूप मे नाना प्रकार की अनेक वस्तुए दी जाती है, तब तक पैदावार की सीधी अदला-बदली भी अपनी बाल्यावस्था के प्रथम चरण मे ही रहती है। जगली लोगो मे अक्सर ऐसा होता है।

समझौते के द्वारा इन हस्तांतरित करने योग्य वस्तुओं पर निजी स्वामित्व रखने वालों के रूप में और चुनावे स्वाधीन व्यक्तियों के रूप में एक दूसरे के साथ व्यवहार करें। लेकिन सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित आदिम समाज में ऐसी पारस्परिक स्वाधीनता की स्थिति नहीं होता, चाहे वह समाज पितृसत्तात्मक परिवार के रूप में हो, चाहे प्राचीन हिंदुस्तानी ग्राम-समुदाय के रूप में, और चाहे वह पेरू देश के इंका राज्य के रूप में हो। इसलिये मालों का विनिमय शुरू में ऐसे समाजों के सीमान्त प्रदेशों में ऐसे स्थानों पर आरम्भ होता है, जहां उन समाजों का उसी प्रकार के अन्य समाजों से, अथवा उनके सदस्यों से, सम्पर्क क़ायम होता है। परन्तु श्रम से उत्पन्न वस्तुएं जैसे ही किसी समाज के बाहरी सम्बंधों में माल बन जाती हैं, वैसे ही, इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, उसके अन्दरूनी व्यवहार में भी उनका यही रूप हो जाता है। शुरू में उनका किन अनुपातों में विनिमय होता है, यह बात केवल संयोग पर निर्भर रहता है। उनका विनिमय इसलिये सम्भव होता है कि उनके मालिकों में उनको हस्तांतरित करने की इच्छा होती है। इस बीच दूसरों की उपयोगी वस्तुओं की जरूरत धीरे-धीरे जोर पकड़ती जाती है। लगातार दोहराये जाने के फलस्वरूप विनिमय एक साधारण सामाजिक कृत्य बन जाता है। इसलिये कुछ समय बाद यह जरूरी हो जाता है कि श्रम की पैदावार का कुछ हिस्सा जरूर खास विनिमय के उद्देश्य से तयार किया जाये। बस उसी क्षण से उपयोग की दृष्टि से किसी भी वस्तु की उपभोग उपयोगिता और विनिमय की दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भेद साफ़ तौर पर पक्का हो जाता है। उसका उपयोग-मूल्य उसके विनिमय-मूल्य से अलग हो जाता है। दूसरी ओर, यह बात कि वस्तुओं का विनिमय किन परिमाणात्मक अनुपातों में हो सकता है, खुद उनके उत्पादन पर निर्भर करने लगती है। रिवाज वस्तुओं पर निश्चित परिमाणों के मूल्यों की छाप अंकित कर देता है।

पैदावार के सीधे विनिमय में हरेक माल अपने मालिक के लिये प्रत्यक्ष ढंग से विनिमय का साधन होता है, और दूसरे तमाम व्यक्तियों के लिये वह सम-मूल्य होता है, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उसमें इन व्यक्तियों के लिये उपयोग-मूल्य होता है। इसलिये, इस अवस्था में विनिमय की जाने वाली वस्तुओं को खुद अपने उपयोग-मूल्य से स्वतंत्र, या विनिमय करने वालों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से स्वतंत्र, कोई मूल्य-रूप प्राप्त नहीं होता। जैसे-जैसे विनिमय मालों की संख्या और विविधता बढ़ती जाती है, वैसे वैसे किसी मूल्य रूप की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। समस्या और उसको हल करने के साधन एक साथ पैदा होते हैं। मालों के मालिक अपने मालों का दूसरे लोगों के मालों के साथ समीकरण और विनिमय उस वक्त तक बड़े पैमाने पर नहीं करते हैं, जब तक कि अलग अलग मालिकों के विभिन्न प्रकार के मालों का किसी एक खास माल के साथ विनिमय करना और मूल्यों के रूप में समीकरण करना सम्भव नहीं हो जाता। ऐसा कोई खास माल अन्य विभिन्न मालों का सम-मूल्य बन जाने के फलस्वरूप तुरंत ही एक सामान्य सामाजिक सम-मूल्य का स्वरूप धारण कर लेता है, हालांकि उसका यह स्वरूप कुछ संकुचित सीमाओं तक ही सीमित रहता है। जिन क्षणिक सामाजिक कृत्यों के कारण यह स्वरूप जन्म लेता है, वह उनके साथ ही प्रकट और लोप होता रहता है। बारी बारी से और थोड़ी-थोड़ी देर के लिये यह रूप कभी इस माल में प्रकट होता है, तो कभी उस माल में। लेकिन विनिमय के विकास के साथ-साथ यह केवल कुछ खास ढंग के मालों के साथ ही कसकर और अनन्य रूप से जुड़ जाता है, और मुद्रा रूप धारण करने के फलस्वरूप उसका स्फटिकीकरण हो जाता है। पहले-पहल यह स्वरूप किस खास माल से जुड़ता है, यह संयोग

की बात होती है। फिर भी दो बातो का प्रभाव निर्णयात्मक होता है। मुद्रा-रूप या तो बाहर से आने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण विनिमय की वस्तुओ के साथ जुड जाता है,—और सच पूछिये, तो घरेलू पैदावार के विनिमय-मूल्य के अभिव्यजना प्राप्त करने के आदिम और स्वाभाविक रूप ये वस्तुए ही होती है,—और या वह ढोर जैसी किसी ऐसी उपयोगी वस्तु के साथ जुड जाता है, जो हस्तातरित करने योग्य स्थानीय दौलत का मुख्य हिस्सा हो। खानाबदोश कौमें सबसे पहले मुद्रा-रूप को विकसित करती ह, क्योंकि उनकी सारी दुनियावी दौलत चल वस्तुओ के रूप में होती है और इसलिये उसे सीधे तौर पर हस्तातरित किया जा सकता है, और क्योकि उनके जीवन का ढग ही ऐसा होता है कि परदेशी समुदायो से उनका निरतर सम्पर्क कायम होता रहता है और इसलिये उनके लिये पैदावार का विनिमय जरूरी हो जाता है। मनुष्य ने अक्सर खुद मनुष्य से, दासों के रूप में, मुद्रा की आदिम सामग्री का काम लिया है, लेकिन इस उद्देश्य के लिये उसने जमीन का उपयोग कभी नहीं किया है। इस प्रकार का विचार केवल अच्छी तरह विकसित पूजीवादी समाज में ही जन्म ले सकता था। सत्रहवीं सदी की आखिरी तिहाई में यह विचार पहले-पहल सामने आया, और उसे राष्ट्रव्यापी पैमाने पर अमल में लाने की पहली कोशिश उसके सौ बरस बाद, फ्रास की पूजीवादी क्रान्ति के जमाने में हुई।

जिस अनुपात में विनिमय अपने स्थानीय बधनो को तोडता जाता है और मालो का मूल्य अधिकाधिक विस्तार प्राप्त करके अमूर्त मानव-श्रम का मूर्त रूप बनता जाता है, उसी अनुपात में मुद्रा का स्वरूप उन मालो के साथ जुडता जाता है, जो क़ुदरती तौर पर सार्वत्रिक सम मूल्य का सामाजिक काय करने के लिये उपयुक्त ह। बहुमूल्य धातुए ही इस तरह के माल होती ह।

कहा जाता है कि "सोना और चादी यद्यपि स्वभाव से मुद्रा नहीं होते, तथापि मुद्रा स्वभाव से सोना और चादी होती है।"[1] इस स्थापना की सचाई इस बात से सिद्ध हो जाती है कि इन धातुओ के शारीरिक गुण मुद्रा का काम करने के लिये उपयुक्त होते हैं।[2] लेकिन अभी तक हमने मुद्रा के केवल एक ही काम का परिचय प्राप्त किया है, यानी अभी तक हमने मुद्रा का एक यही काम देखा है कि वह मालो के मूल्य की अभिव्यक्ति के रूप की तरह, या उस पदार्थ के रूप में काम में आती है, जिसमें मालो के मूल्यो के परिमाण सामाजिक तौर पर व्यक्त होते ह। केवल वही पदार्थ मूल्य को पर्याप्त ढग से अभिव्यक्त कर सकता है, केवल वही पदाथ अमूर्त, अभिन्नित और अतएव समान मानव-श्रम का साकार रूप बनने के योग्य हो सकता है, जिसके हरेक नमूने में एक से, समरूप गुण पाये जाते हों। दूसरी ओर, चूकि मूल्यो के परिमाणो का अतर विशुद्ध परिमाणात्मक होता है, इसलिये मुद्रा का काम करने वाला माल ऐसा होना चाहिये, जिसके अलग अलग नमूनों में केवल परिमाणात्मक भेद किया जा सके, जिसको चुनाचे इच्छानुसार बाटा जा सके और इच्छानुसार फिर से जोडा जा सके। सोने और चादी में ये गुण प्रकृति के दिये हुए होते ह।

---

[1] Karl Marx, उप० पु०, पृ० १३५। 'I metalli naturalmente moneta" ["धातुए स्वभावत मुद्रा होती है।"] (Galiani, *Della Moneta* Custodi के सग्रह के Parte Moderna, ग्रथ ३, मे।)

[2] इस विषय की और विस्तृत जानकारी हासिल करने के लिये मेरी उपर्युक्त रचना का 'बहुमूल्य धातुओ' वाला अध्याय देखिये।

मुद्रा बन जाने वाले माल का दोहरा उपयोग-मूल्य हो जाता है। माल के रूप में उसका जो विशिष्ट उपयोग-मूल्य होता है (मिसाल के लिये, सोना दांत में भरने के काम में आता है और उससे तरह-तरह की विलास की वस्तुए बनायी जाती हैं, इत्यादि), उसके अलावा वह एक औपचारिक उपयोग-मूल्य भी प्राप्त कर लेता है, जो उसके खास ढंग के सामाजिक काम द्वारा उसमें पैदा हो जाता है।

चूंकि तमाम माल मुद्रा के अलग अलग सम-मूल्य मात्र होते हैं और मुद्रा उनका सार्वत्रिक सम मूल्य होती है, इसलिये सार्वत्रिक माल के रूप में मुद्रा के सम्बन्ध में वे विशिष्ट मालों की भूमिका अदा करते ह।[1]

हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा-रूप केवल एक माल में बाकी सब मालो के मूल्य के सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। इसलिये मुद्रा का माल होना[2] केवल उन्हीं लोगों के लिये एक नया आविष्कार है, जो जब मुद्रा का विश्लेषण करने बठते हैं, तो उसके पूरी तरह विकसित रूप से आरम्भ करते ह। मुद्रा में बदल जाने वाले माल को विनिमय काय से अपना मूल्य नहीं, बल्कि विशिष्ट मूल्य रूप प्राप्त होता है। इन दो अलग अलग चीजो को आपस में गडबडा देने का नतीजा यह हुआ है कि कुछ लेखक सोने और चादी के मूल्य को काल्पनिक समझने लग ह।[3] इस बात से कि जहा तक मुद्रा के कुछ खास कामो का सम्बन्ध है, उसे महज उसके प्रतीकों से

---

[1] 'Il danaro e la merce universale ["मुद्रा सार्वत्रिक वाणिज्य वस्तु होती है"] (Verri उपर्युक्त रचना, पृ० १६)।

[2] "सोना और चादी खुद (जिनको हम कलधौत का सामान्य नाम भी दे सकते ह) माल होते हैं जिनका मूल्य घटता-बढता रहता है अत कलधौत का मूल्य उस समय ऊचा समझा जायेगा, जब उसका अपेक्षाकृत कम वजन देश की कृषि-पैदावार अथवा कल कारखानो के बने सामान की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा खरीद सकेगा," इत्यादि। (*'A Discourse of the General Notions of Money, Trade, and Exchanges as They Stand in Relation each to other* By a Merchant ['मुद्रा, व्यापार तथा विनिमय के सामान्य विचारा एव उनके पारस्परिक सम्बधो के विषय मे एक निबंध।' एक व्यापारी द्वारा लिखित।] London 1695 पृ० ७।) "हालाकि सोना और चादी – चाहे वे सिक्के के रूप मे हो या न हो, – दूसरी तमाम वस्तुओ के मापदण्ड के रूप मे इस्तेमाल किये जाते है, फिर भी वे माल ही होते हैं – ठीक उसी तरह, जैसे शराब, तेल, तम्बाकू, कपडा या और सामान माल होता है।" (*'A Discourse concerning Trade, and that in particular of the East Indies* etc ['व्यापार के विषय मे, खास तौर पर ईस्ट इण्डीज के व्यापार के विषय मे एक निबंध,' इत्यादि], London 1689 पृ० २।) "राज्य के स्टाक तथा धन को मुद्रा तक ही सीमित कर देना उचित नही है, और न ही सोने और चादी को वाणिज्य वस्तुओ की श्रेणी के बाहर रखा जा सकता है।" (*The East India Trade a Most Profitable Trade* ['ईस्ट इण्डिया का व्यापार सबसे अधिक लाभदायक व्यापार है'], London 1677, पृ० ४।)

[3] (L'oro e largento hanno valore come metalli anteriore all esser moneta ["सोने और चादी मे मुद्रा होने के पहले धातुओ के रूप मे मूल्य होता है"] (Galiani उप० पृ०)। लॉक ने कहा है "चादी को उसके उन गुणों के कारण, जिनसे वह मुद्रा बनने के योग्य हो गयी थी, मनुष्य जाति की सार्वत्रिक सम्पति स

बदला जा सकता है,–इस बात से यह दूसरा भ्रम पैदा होता है कि मुद्रा खुद भी महज एक प्रतीक ही है। फिर भी इस भ्रम के पीछे यह अनुमान छिपा हुआ था कि किसी भी वस्तु का मुद्रा रूप उस वस्तु का अविच्छिन्न भाग नहीं होता, बल्कि केवल वह रूप भर होता है, जिसमें कुछ सामाजिक सम्बंध अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ में तो प्रत्येक माल प्रतीक है, क्योंकि जिस हद तक वह मूल्य होता है, उस हद तक वह अपने ऊपर खर्च किये गये मानव-श्रम का भौतिक आवरण मात्र होता है।[1] लेकिन जहा यह कहा जाता है कि उत्पादन की एक निश्चित प्रणाली के

एक काल्पनिक मूल्य प्राप्त हो गया।" दूसरी ओर, ला ने लिखा है "किसी एक ही चीज को अलग अलग कौमे एक काल्पनिक मूल्य कैसे दे सकती थी या यह काल्पनिक मूल्य अपने को कैसे कायम रख सकता था?" लेकिन नीचे दिये गये शब्दो से जाहिर होता है कि इस मामले को वह खुद कितना कम समझ पाये थे "चादी का विनिमय उसके उपयोग-मूल्य के अनुपात मे होता था, यानी उसका विनिमय उसके वास्तविक मूल्य के अनुपात मे होता था। जब वह मुद्रा के रूप मे अपना ली गयी, तो उसे एक अतिरिक्त मूल्य (une valeur additionnelle) प्राप्त हो गया।" (Jean Law '*Considerations sur le numeraire et le commerce*, '*Economistes Financiers du XVIII siecle* के E Daire के सस्करण मे, पृ० ४७०।)

[1] L argent en (des denrees) est le signe ["मुद्रा उनका (मालो का) प्रतीक होती है"] (V de Forbonnais "*Elements du Commerce* नया सस्करण, Leyde 1766, ग्रथ २, पृ० १४३)। 'Comme signe il est attire par les denrees' ["प्रतीक के रूप मे उसे माल अपनी ओर आकर्षित करते है"] (उप० पु० पृ०, १५५)। L argent est un signe d une chose et la represente ["मुद्रा किसी वस्तु का प्रतीक होती है और उसका प्रतिनिधित्व करती है"] (Montesquieu, "*Esprit des Loix* Oeuvres, London 1767, ग्रथ २, पृ० २)। "L argent n est pas simple signe, car il est lui meme Richesse, il ne represente pas les valeurs, il les equivaut ["मुद्रा केवल एक प्रतीक नही है, कारण कि वह खुद दौलत होती है, वह मूल्यो का प्रतिनिधित्व नही करती, बल्कि उनका सम-मूल्य होती है"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ९१०)। "मूल्य के विचार के सिलसिले मे मूल्यवान वस्तु केवल एक प्रतीक के रूप मे सामने आती है, वस्तु स्वय जो कुछ होती है, उसका कोई महत्त्व नही होता, बल्कि वस्तु की जो कीमत होती है, महत्त्व उसका होता है" (Hegel, उप० पु०, पृ० १००)। अर्थशास्त्रियो से बहुत पहले वकीलो ने इस विचार का श्रीगणेश किया था कि मुद्रा एक प्रतीक मात्र होती है और बहुमूल्य धातुओ का मूल्य केवल काल्पनिक होता है। उन्होने समूचे मध्य युग मे राजाओ की चाटुकारितापूर्ण सेवकाई और राजाओ के सिक्को म खोट मिलाने के अधिकार का समर्थन करने के लिए ऐसा किया। इसके लिये उन्होने रोमन साम्राज्य की परम्पराओ तथा मुद्रा के सम्बंध मे पाडेक्टस नामक कानून के ग्रथ मे पायी जाने वाली धारणाओ की दुहाई दी। इन वकीलो के योग्य शिष्य वलुई के फिलिप ने १३४६ के एक आदेश मे कहा है Qu aucun puisse ni doive faire doute que a nous et a notre majeste royale n appartiennent seulement le mestier le fait l etat, la provision et toute l ordonnance des monnaies de donner tel cours et pour tel prix comme il nous

अन्तर्गत वस्तुओं द्वारा धारण किये गये सामाजिक रूप, अथवा श्रम के सामाजिक गुणों के भौतिक रूप, प्रतीक मात्र होते हैं, वहां उसी सांस में हमसे यह भी कहा जाता है कि ये रूप मनमानी कपोल-कल्पना मात्र हैं, जिनको मनुष्य-जाति की तथाकथित सार्वजनिक सम्मति से मान्यता मिल गयी है। अठारहवीं सदी में जिस ढंग की व्याख्या का चलन था, उसके साथ यह बात मेल खाती थी। मनुष्य के साथ मनुष्य के सामाजिक सम्बंधों ने दिमाग को उलझन में डाल देने वाले जो रूप धारण कर लिये थे, लोग जब उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बता पाते थे, तब वे उनका कोई रूढ़िगत कारण बताकर उनके विचित्र स्वरूप को खतम कर देने की कोशिश करते थे।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी माल के सम-मूल्य रूप का अर्थ यह नहीं होता कि उसके मूल्य का परिमाण भी निर्धारित हो गया है। इसलिये हम भले ही यह जानते हों कि सोना मुद्रा होता है और चुनांचे दूसरे सभी मालों से उसका सीधा विनिमय किया जा सकता है, फिर भी इस बात से हमें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि, मिसाल के लिये, १० पौंड सोने की कितनी कीमत है। दूसरे प्रत्येक माल की भांति सोना भी अपने मूल्य के परिमाण को दूसरे मालों से अपनी तुलना द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। यह मूल्य सोने के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है, और वह व्यक्त होता है अन्य किसी भी माल के उस परिमाण के जरिये, जिसके उत्पादन में उतना ही श्रम-काल लगा हो।[1]

---

plait et bon nous semble' ["इस बात में कोई तनिक भी सन्देह नहीं कर सकता और न उसे करना चाहिये कि मुद्राओं का व्यवसाय, वास्तविकता, अवस्था, व्यवस्था और अधिनियम केवल हमारे क्षेत्र में और हमारे राज्याधिकार के क्षेत्र में आते हैं, और यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम मुद्राओं को जितना उचित समझें, उतना चला दें, और उनका जितना ठीक समझें, उतना दाम रखें।"] रोमन कानून का यह एक बुनियादी सिद्धान्त था कि मुद्रा का मूल्य सम्राट् के आदेश के जरिये निश्चित किया जाता था। मुद्रा को माल मानने की कड़ी मनाही थी। Pecunias vero nulli emere fas erit, nam in usu publico constitutas oportet non esse mercem' ["मुद्रा खरीदने का किसी को कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मुद्रा सार्वजनिक उपयोग के लिये होती है और इसलिये उसको वाणिज्य वस्तु बना देना उचित नहीं है।"] इस प्रश्न पर जी० एफ० पागनीनी (G F Pagnini) ने कुछ अच्छा काम किया है। देखिये उनकी रचना '*Saggio sopra il giusto pregio delle cose* 1751 Custodi के "*Parte Moderna*, ग्रंथ २, में। अपनी रचना के दूसरे भाग में पागनीनी ने वकीलों की खास तौर पर खबर ली है।

[1] "यदि कोई आदमी, जितने समय में वह एक बुशेल अनाज पैदा कर सकता है, उतने ही समय में पेरू की धरती से एक औंस चांदी निकालकर लन्दन ला सकता है, तो एक बुशेल अनाज और एक औंस चांदी एक दूसरे के स्वाभाविक दाम हैं। अब नयी अथवा पहले से अच्छी खानों के खुल जाने के कारण कोई आदमी यदि पहले जैसी आसानी के साथ एक के बजाय दो औंस चांदी हासिल कर सकता है, तो caeteris paribus (अन्य बातें समान होने पर) अनाज दस शिलिंग फी बुशेल के भाव पर भी उतना ही सस्ता रहेगा, जितना सस्ता वह पहले पांच शिलिंग फी बुशेल के भाव पर था।" (William Petty, "*A Treatise of Taxes and Contributions* [विलियम पेटी, 'करों और अनुदानों पर एक निबंध'] London 1667 पृ० ३१।)

उसके सापेक्ष मूल्य को इस प्रकार परिमाणात्मक ढग से निर्धारित करने का काय उसके उत्पादन के मूल स्थान पर अदला-बदली द्वारा किया जाता है। सोने का जब मुद्रा के रूप में परिचलन आरम्भ होता है, तब उसका मूल्य पहले से मालूम होता है। १७ वीं सदी के अंतिम दशको तक यह बात प्रमाणित की जा चुकी थी कि मुद्रा भी एक माल होती है। लेकिन यह विश्लेषण की केवल शैशवकालीन अवस्था का कदम था। कठिनाई यह समझने में नहीं होती कि मुद्रा भी एक माल होती है, बल्कि कठिनाई यह खोजने में सामने आती है कि कोई माल कैसे, क्यो और किन उपायो से मुद्रा बन जाता है।[1] मूल्य की सबसे सरल अभिव्यजना – अर्थात 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण – में हम यह पहले ही देख चुके ह कि जिस वस्तु में किसी अन्य वस्तु के मूल्य का परिमाण व्यक्त हो जाता है, उसका यह सम-मूल्य रूप ऐसा प्रतीत होता है, जसे वह इस सम्बध से स्वतत्र और प्रकृति का दिया हुआ कोई सामाजिक गुण हो। हम यह भी बता चुके ह कि यह दिखावटी रूप कैसे उत्तरोतर अधिक दृढ होता गया और अत में कैसे उसकी स्थापना हुई। जैसे ही सावत्रिक सम-मूल्य रूप किसी खास माल के शारीरिक रूप के साथ एकाकार हो जाता है और इस प्रकार जसे ही उसका मुद्रा रूप में स्फटिकीकरण हो जाता है, वसे ही यह दिखावटी रूप अंतिम तौर पर स्थापित हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सोना इसलिये मुद्रा नहीं बन गया है कि बाक़ी सब माल अपना मूल्य उसके द्वारा व्यक्त करते ह, बल्कि, इसके विपरीत, बाक़ी सब माल सावत्रिक ढग से इसलिये सोने में अपना मूल्य व्यक्त करते हैं कि सोना मुद्रा है। प्रक्रिया के बीच के कदम परिणाम में लुप्त हो जाते ह, और उनका चिन्ह तक कहीं दिखाई नहीं देता। माल देखते हैं कि उनके कुछ किये-धरे बिना ही उनका मूल्य उनके साथ-साथ पाया जाने वाला एक और माल पहले से ही पूरी तरह व्यक्त कर रहा है। ये चीजें – सोना और चादी – पृथ्वी के गभ से निकलते

[1] विद्वान प्रोफेसर रोश्चेर पहले हमे यह बताकर कि "मुद्रा की झूठी परिभाषाए दो मुख्य दला म बाटी जा सकती है वे परिभाषाए, जो मुद्रा का माल से कुछ अधिक समझती है, और वे, जो मुद्रा को माल से कुछ कम समझती है", – मुद्रा की प्रकृति के बारे मे लिखी गयी अनेक रचनाओ की एक लम्बी और पचमेल सूची गिना जाते है। इस सूची से पता चलता है कि वह मुद्रा के सिद्धात के वास्तविक इतिहास की जानकारी के पास तक नही फटक पाये है। फिर वह हमे यह उपदेश सुनाते है कि "जहा तक बाकी बातो का सम्बध है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि अधिकतर आधुनिक अथशास्त्री उन विलक्षणताओ को पर्याप्त रूप से ध्यान मे नही रखते, जिनके कारण मुद्रा बाकी तमाम माला से भिन होती है" (क्योकि तब वह आखिर या तो माल से कुछ अधिक होती है और या उससे कुछ कम होती है!) "इस हद तक गानिल्ह की अध-व्यापारवादी प्रतिक्रिया सवथा निराधार नही है।" (Wilhelm Roscher, '*Die Grundlagen der Nationaloekonomie*, तीसरा सस्करण, 1858 पृ० २०७-२१०।) कुछ अधिक! कुछ कम! पर्याप्त रूप से नही! इस हद तक! सवथा नही! वाह, वाह, विचारा और भाषा का कैसा स्पष्ट तथा कितना सटीक प्रयोग किया गया है! कही की ईंट, कही के रोडे से चुनवा जोडन वाली इस प्रोफेसराना बकवास को मि० रोश्चेर ने बहुत नम्रतापूवक अथशास्त्र की "शारीरीय – देह-व्यापारीय पद्धति" का नाम दिया है। किंतु एक आविष्कार का श्रेय ता उनको मिलना ही चाहिए, और वह यह कि मुद्रा एक "सुखद माल" होती है।

ही तत्काल समस्त मानव-श्रम का प्रत्यक्ष अवतार बन जाती है। इसी से मुद्रा का जादू पैदा होता है। समाज के जिस रूप पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान में मनुष्यो का व्यवहार विशुद्ध परमाणुओ जसा होता है। इसलिये उत्पादन के दौरान में एक दूसरे के साथ उनके बीच जो सम्बध स्थापित होते हैं, वे एक ऐसा भौतिक स्वरूप धारण कर लेते ह, जो उनके अपने नियत्रण से तथा उनके सचेतन व्यक्तिगत कार्य-कलाप से स्वतत्र होता है। ये बातें पहले इस रूप में प्रगट होती हैं कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुए सामान्यतया मालो का रूप धारण कर लेती ह। हम यह देख चुके हैं कि माल पैदा करने वालो का समाज जब उत्तरोत्तर विकास करता है, तब वह किस तरह एक विशेष माल पर मुद्रा की छाप अकित कर देता है। इसलिये मुद्रा की पहेली असल में मालो की ही पहेली है। अब वह केवल अपने सबसे स्पष्ट रूप में हमारे सामने आयी है।

तीसरा अध्याय

मुद्रा, या मालो का परिचलन

अनुभाग १ – मूल्यो की माप

इस रचना में म सरलता की दृष्टि से सदा यह मानकर चलूगा कि मुद्रा का काम करने वाला माल सोना है।

मुद्रा का पहला मुख्य काय यह है कि वह मालो को उनके मूल्यो की अभिव्यक्ति के लिए सामग्री प्रदान करे, या यह कि उनके मूल्यो को बराबर अभिधान के ऐसे परिमाणो के रूप में व्यक्त करे, जो गुणात्मक दृष्टि से समान और परिमाणात्मक दृष्टि से तुलनीय हो। इस प्रकार मुद्रा मूल्य की सावत्रिक माप का काम करती है। सिफ यह काम करने के कारण ही सोना, जो par excellence (सबसे उत्तम) सम-मूल्य माल होता है, मुद्रा बन जाता है।

मुद्रा मालो को एक ही मापदण्ड से मापने के योग्य बनाती हो, ऐसा नहीं है। बात ठीक इसकी उल्टी है। मूल्यो के रूप में तमाम माल चूकि मूत्त मानव-श्रम होते हैं और इसलिए उनको चूकि एक ही मापदण्ड से मापा जा सकता है, यही कारण है कि उनके मूल्यो को एक ही खास माल के द्वारा मापना सम्भव होता है और इस खास माल को उनके मूल्यों को समान माप में – अर्थात, मुद्रा में – बदला जा सकता है। मूल्य की माप के तौर पर मुद्रा वह इद्रियगम्य रूप होती है, जो मालो में निहित मूल्य की माप को – यानी श्रम-काल को – लाजिमी तौर पर धारण करना पडता है।[1]

---

[1] यह सवाल कि मुद्रा सीधे श्रम-काल का प्रतिनिधित्व क्यो नही करती, जिससे कि, मिसाल के लिए, कागज का एक टुकडा 'घ' घण्टे के श्रम का प्रतिनिधित्व कर पाये, – यह सवाल, यदि उसकी तह तक पहुचा जाये, ता असल मे बस वही सवाल बन जाता है कि यदि मालो का उत्पादन पहले से ही मान लिया जाता है, तो श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुआ या माला का रूप क्यो धारण करना पडता है? इसका कारण स्पष्ट है, क्योकि श्रम से पैदा होा वाली वस्तुआ के मालो का रूप धारण करने का यह मतलब भी होता है कि वे मामा ामा मुद्रा मे बट जाती हैं। या इसी तरह का एक और सवाल यह है कि निजी श्रम या – मानी व्यक्तिया के स्वाय मे किये गये श्रम को – उसका उल्टा, तात्कालिक सामाजिक श्रम क्या नही समझा जा सकता? अ यत्र मैंने मालो के उत्पादन पर आधारित समाज में "श्रम मुद्रा" के कल्पनावादी विचार का भरपूर विश्लेषण किया है (देखिये *Zur Kritik der Politischen Oe*

किसी माल का मूल्य जब सोने के रूप में व्यक्त होता है, – यानी जब 'क' माल का 'प' परिमाण=मुद्रा-माल का 'फ' परिमाण, – तब वह उसका मुद्रा-रूप, अथवा दाम, होता है। अब केवल एक ही समीकरण – जैसे १ टन लोहा=२ औंस सोना – लोहे के मूल्य को सामाजिक दृष्टि से मान्य ढंग से व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होता है। अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि यह समीकरण बाक़ी तमाम मालों के मूल्यों को व्यक्त करने वाले समीकरणों की शृंखला की एक कड़ी बनकर सामने आये। कारण कि अब सम-मूल्य का काम करने वाले माल – सोने – ने मुद्रा का रूप धारण कर लिया है। सापेक्ष मूल्य के सामान्य रूप ने फिर से सरल अथवा इक्के-दुक्के, पृथक् सापेक्ष मूल्य का प्रारम्भिक स्वरूप धारण कर लिया है। दूसरी ओर, सापेक्ष मूल्य की विस्तारित अभिव्यंजना, यानी समीकरणों का वह अन्तहीन क्रम, अब मुद्रा-माल के सापेक्ष मूल्य का विशिष्ट स्वरूप बन गया है। वह क्रम खुद भी अब पहले से मालूम होता है और वास्तविक मालों के दामों के रूप में उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। दामों की कोई सूची लेकर उसमें दिये हुए भावों को उल्टी तरफ से पढ़ना शुरू कर दीजिये, आपको तरह-तरह के मालों के रूप में मुद्रा के मूल्य का परिमाण मालूम हो जायेगा। लेकिन खुद मुद्रा का कोई दाम नहीं होता। इस दृष्टि से उसे अन्य सब मालों के साथ बराबरी के दर्जे पर रखने के लिए हमें खुद उसे ही उसका सम-मूल्य मानकर खुद उसके साथ ही उसका समीकरण करना पड़ेगा।

मालों का दाम, अथवा मुद्रा रूप, उनके सामान्य मूल्य रूप की ही भांति, उनके इन्द्रियगम्य शारीरिक रूप से बिल्कुल भिन्न होता है, इसलिए वह एक विशुद्ध भावगत, अथवा मानसिक, रूप होता है। लोहे, कपड़े तथा अनाज का मूल्य यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि इन्हीं वस्तुओं के भीतर उसका वास्तविक अस्तित्व होता है, सोने के साथ इन वस्तुओं की समानता करके मूल्य भावगत ढंग से बोधगम्य बना दिया जाता है, – यानी वह एक ऐसे सम्बंध द्वारा बोधगम्य बनाया जाता है, जिसका अस्तित्व मानो केवल इन वस्तुओं के मस्तिष्क में ही होता है। अतएव इन वस्तुओं के मालिक को या तो खुद बोलना पड़ेगा और या उनके दाम लिखकर उनपर एक एक पुर्जा टांग देना पड़ेगा, तभी बाहरी दुनिया को उनके दामों का पता चलेगा।[1] सोने

---

mie पृ० ६१ और उसके आगे के पृष्ठ)। इस विषय के सम्बंध में मैं यहां केवल इतना ही और कहूंगा कि जैसे, मिसाल के लिए, थियेटर का टिकट मुद्रा नहीं होता, वैसे ही ओवेन की "श्रम मुद्रा" भी मुद्रा नहीं हो सकती। ओवेन सीधे तौर पर सम्बद्ध श्रम को, उत्पादन के एक ऐसे रूप को मानकर चलते हैं, जो मालों के उत्पादन से क़तई मेल नहीं खाता। श्रम का प्रमाण पत्र केवल इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति विशेष ने सामूहिक श्रम में भाग लिया है और सामूहिक पैदावार के उपभोग के लिए निर्धारित भाग के एक निश्चित अंश पर उसका अधिकार है। लेकिन यह बात ओवेन के दिमाग़ में कभी नहीं आती कि पहले से मालों का उत्पादन मानकर चला जाये और उसके साथ-साथ मुद्रा की बाजीगरी के जरिये उत्पादन की इस प्रणाली की लाज़िमी शर्तों से भी बचने की कोशिश की जाये।

[1] जंगली और अर्ध सभ्य जातियां अपनी जीभ का भिन्न रूप से प्रयोग करती हैं। बाफ़िन की खाड़ी के पश्चिमी तट के निवासियों के बारे में कप्तान पैरी ने बताया है "इस सूरत में (वह वस्तुओं की अदला बदली का जिक्र कर रहा है) वे लोग उसे (यानी उस चीज़ को, जो अदला बदली के लिए उनके सामने पेश की गयी हो) अपनी जीभ से दो बार चाटते

के रूप में मालो के मूल्य को अभिव्यक्त करना क्योकि महज एक भावगत काय है, अत हम उसके लिए काल्पनिक, अथवा भावगत, मुद्रा का भी प्रयोग कर सकते ह। हर व्यापारी जानता है कि अपने माल का मूल्य दाम के रूप में या किसी काल्पनिक मुद्रा के रूप में व्यक्त करके ही वह उसे मुद्रा में बदलने में कामयाब नहीं हो जाता,—वह तो तब भी बहुत दूर की बात रहती है। हर व्यापारी यह भी जानता है कि लाखो और करोडो पौंड की कीमत के सामान के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाने के लिए उसे वास्तविक सोने के जरा से टुकडे की भी आवश्यकता नहीं पडती। इसलिए मुद्रा जब मूल्य की माप का काम करती है, तब वह केवल काल्पनिक, अथवा भावगत, मुद्रा के रूप में इस्तेमाल की जाती है। इसके फलस्वरूप हद से ज्यादा अजीबोगरीब सिद्धात प्रस्तुत किये गये ह।[1] लेकिन मूल्य की माप का काम करने वाली मुद्रा हालाकि केवल भावगत मुद्रा होती है, फिर भी दाम सवथा उस वास्तविक पदार्थ पर ही निर्भर करता है, जो मुद्रा कहलाता है। एक टन लोहे में जो मूल्य, अथवा मानव-श्रम की जितनी मात्रा, निहित है, वह कल्पना में मुद्रा-माल के एक ऐसे परिमाण के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसमें लोहे के बराबर श्रम निहित होता है। इसलिए जब मूल्य की माप का काम सोना करेगा और जब यह काम चादी करेगी या ताबा करेगा, तब हर बार एक टन लोहे का मूल्य बहुत ही भिन्न दामों में व्यक्त किया जायेगा, या यू कहिये कि उसका दाम इन धातुओ के क्रमश बहुत भिन्न परिमाणो द्वारा व्यक्त किया जायेगा।

इसलिए यदि एक समय में दो अलग-अलग माल, जसे सोना और चादी, मूल्य की माप का काम करते ह, तो तमाम मालो के दो दाम होते हैं—एक सोने वाला दाम और दूसरा चादी वाला दाम। जब तक सोने के मूल्य के साथ चादी के मूल्य का अनुपात नहीं बदलता,—मिसाल के लिए, जब तक कि वह १५ १ पर स्थिर पर रहता है,—तब तक ये दोनो प्रकार के दाम चुपचाप साथ-साथ चलते रहते ह। पर उनके अनुपात में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन मालो के सोने वाले दामो और चादी वाले दामो के अनुपात को गडबडा देता है और इस तरह

थे और चाटने के बाद मानो समझते थे कि सौदा सतोषजनक ढग से हो गया है।" इसी तरह पूर्वी एस्किमो जाति के लोग भी विनिमय मे मिलने वाली वस्तुओ को चाटा करते थे। यदि उत्तर मे, इस तरह, जीभ वस्तुओ पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के साधन की तरह इस्तेमाल की जाती थी, तो कोई आश्चय नही कि दक्षिण मे सचित सम्पत्ति के स्पष्टीकरण का काम पेट से लिया जाता है और काफिर जाति के लोग आदमी के पेट का आकार देखकर उसकी दौलत का अनुमान लगाते है। काफिर लोग समझ बूझकर ही यह करते हैं, इसका सबूत यह है कि ठीक उसी समय, जब १८६४ की ब्रिटिश स्वास्थ्य रिपोट ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि मजदूर वग के अधिकतर भाग को चरबी बनाने वाले खाद्य पदाथ पर्याप्त माता मे नही मिलते, तब डा० हार्वे नामक एक व्यक्ति (बेशक रक्त परिचलन के विख्यात आविष्कारक हार्वे से भिन्न व्यक्ति) ने पूजीपति वग और अभिजात वग के लोगो की फालतू चरबी घटाने के नुसखो का विज्ञापन करके खूब हाथ रगे थे।

[1] देखिये Karl Marx '*Zur Kritik, &c*' '*Theorien von der Masseinheit des Geldes*' (काल माक्स, 'अथशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'। 'मुद्रा की माप की इकाई के सिद्धात'), पृ० ५३ और उसके आगे के पृष्ठ।

यह साबित कर देता है कि मूल्य का दोहरा मापदण्ड रखना मापदण्ड के कामो से मेल नहीं खाता।[1]

जिन मालो के निश्चित दाम होते ह, वे इस रूप में सामने आते हैं 'क' माल का 'प'=सोने का 'त', 'ख' माल का 'फ'=सोने का 'थ', 'ग' माल का 'ब'=सोने का 'द' इत्यादि, यहा 'प', 'फ' और 'ब' 'क', 'ख' और 'ग' नामक मालों के निश्चित परिमाणो का और 'त', 'थ' और 'द' सोने की निश्चित मात्राओं का

[1]"जहा कही भी कानूनी तौर पर सोने और चादी दोना से साथ-साथ मुद्रा का, या मूल्य की माप का, काम लिया गया है, वहा सदा इस बात की बेकार कोशिश की गयी है कि दोनो को एक ही पदाथ समझा जाये। यह मानकर चलना कि सोने और चादी के उन परिमाणा के बीच, जिनमे श्रमकाल का एक निश्चित परिमाण निहित है, सदा एक ही अनुपात रहता है, जो कभी नही बदलता, – यह तो असल मे यह मान लेने के समान है कि सोना और चादी दोनो एक ही पदाथ के बने है और कम मूल्य वाली धातु, चादी, की एक निश्चित राशि सोने की एक निश्चित राशि का एक ऐसा अश होती है, जिसमे कभी कोई परिवर्तन नही होता। एडवड तृतीय के राज्य-काल से जाज द्वितीय के राज्य-काल तक इगलैण्ड म मुद्रा का इतिहास सोने और चादी के मूल्यो के बीच कानूनी तौर पर निर्धारित अनुपात और उनके वास्तविक मूल्यो के उतार-चढाव के टकराव से पैदा होने वाली अनेक गडबडिया के एक लम्बे क्रम का इतिहास है। एक समय सोना बहुत ऊचे चढ जाता था, दूसरे समय चादी। जिस समय जिस धातु की कीमत उसके मूल्य से कम लगायी जाती थी, उस समय वह धातु परिचलन से निकल जाती थी और उसके सिक्को को गलाकर विदेशो को भेज दिया जाता था। तब दोनो धातुओ के अनुपात को कानून द्वारा फिर बदल दिया जाता था, लेकिन यह नया नाम मात्र का अनुपात शीघ्र ही फिर वास्तविक अनुपात से टकरा जाता था। हमारे अपने जमाने मे भारत और चीन मे चादी की माग होने के परिणामस्वरूप चादी की तुलना मे सोने के मूल्य मे जो थोडी सी क्षणिक कमी हुई थी, उससे फ्रास मे यही बात और भी विस्तृत पमाने पर देखने म आयी थी, – यानी वहा भी चादी का निर्यात होने लगा था और सोने ने उसे परिचालन से बाहर निकाल दिया था। १८५५, १८५६ और १८५७ मे फ्रास मे बाहर जाने वाले सोने की तुलना मे फ्रास म आने वाले सोने की कीमत ४,१५,८०,००० पौंड अधिक थी, जब कि फ्रास से चादी के निर्यात की कीमत आयात की तुलना मे १,४७,०४,००० पौंड अधिक थी। सच तो यह है कि जिन देशा मे कानून की दृष्टि से दोनो धातुए मूल्य की माप का काम करती हैं और इसलिए दोना वैधानिक मुद्रायें मानी जाती हैं और ऐसे हर व्यक्ति दोना मे से किसी भी एक धातु मे भुगतान कर सकता है, उन देशा मे जिस धातु का मूल्य ऊपर चढ जाता है, उसका महत्त्व बढ जाता है, और दूसरे प्रत्येक माल की भांति वह अपना दाम उस धातु मे मापने लगता है, जिसका मूल्य अधिक लगाया जा रहा है और जो अब असल म अकेली ही मूल्य के मापदण्ड का काम करती है। इस प्रश्न के सम्बध मे समस्त अनुभव और इतिहास का निष्कर्ष केवल यह है कि जहा कही कानून के अनुसार दो मालो से मूल्य की माप का काम लिया जाता है, वहा व्यवहार मे उनमे से केवल एक ही इस स्थिति को कायम रख पाता है।" (Karl Marx '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, पृ० ५२, ५३।)

प्रतिनिधित्व करते ह। इसलिए इन मालो के मूल्य हमारी कल्पना में सोने की भिन्न भिन्न मात्राओ में बदल जाते ह। और इसलिए दिमाग को उलझन में डलने वाले तरह-तरह के माल होने के बावजूद उनके मूल्य एक ही अभिधान की मात्राओ में, यानी सोने की मात्राओ में, बदल जाते हैं। अब उनका एक दूसरे के साथ मुकाबला किया जा सकता है और उनको मापा जा सकता है, और इस बात की प्राविधिक आवश्यकता महसूस होती है कि माप की इकाई के रूप में सोने की किसी एक निश्चित मात्रा से उनकी तुलना की जाये। यह इकाई बाद में पूर्ण भाजको में बट जाने के फलस्वरूप खुद मापदण्ड, अथवा पमाना, बन जाती है। सोने, चादी और ताबे के पास मुद्रा बनने के पहले से ही अपने तौल के मापदण्ड के रूप में इस प्रकार के मापदण्ड मौजूद होते हैं, चुनाचे, मिसाल के लिए, यदि एक पौंड का तौल इकाई का काम करता है, तो उसको एक तरफ तो औंसो में बाटा जा सकता है और दूसरी तरफ अनेक पौंडो का जोड कर हड्रेडवेट तयार किये जा सकते हैं।[1] यही कारण है कि धातु की जितनी भी मुद्राए प्रचलित ह, उनमें मुद्रा के, अथवा दाम के, मापदण्डो को जो नाम दिये गये ह, वे शुरू में पहले से मौजूद तौल के मापदण्डो के नामो से लिए गये थे।

मूल्य की माप के रूप में और दाम के मापदण्ड के रूप में मुद्रा को दो बिल्कुल अलग-अलग ढग के काम करने पडते ह। वह चूकि मानव-श्रम का सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतार होती है, इसलिए वह मूल्य की माप का काम करती है, और चूकि वह एक निश्चित तौल की धातु होती है, इसलिए वह दाम के मापदण्ड का काम करती है। मूल्य की माप के रूप में वह नाना प्रकार के मालो के मूल्यो को दामो में—यानी सोने की काल्पनिक मात्राओ में—बदलने का काम करती है, और दाम के मापदण्ड के रूप में वह सोने की इन मात्राओ को मापने का काम करती है। मूल्यो की माप से मालो को मूल्यो के रूप में मापा जाता है, इसके विपरीत, दाम के मापदण्ड से सोने की मात्राओ को इकाइ के रूप में मान ली गयी सोने की एक खास मात्रा से मापा जाता है, और ऐसा नहीं होता कि सोने की एक मात्रा का मूल्य दूसरी मात्रा के तौल से मापा जाये। सोने को दाम का मापदण्ड बनाने के लिए एक निश्चित तौल को इकाई मानना जरूरी होता है। यहा पर, और यहा पर ही क्यो, जहा पर भी एक ही अभिधान की मात्राओ को मापना आवश्यक होता है, वहीं यह बात सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लेती है कि माप की कोई ऐसी इकाई स्थापित की जाये, जिसमें कोई हेर-फेर न हो। इसलिए, इस इकाई में जितना कम हेर-फेर होता है, दाम का मापदण्ड उतनी ही अच्छी तरह अपना काम करता है। लेकिन सोना मूल्य की माप का काम केवल उसी हद तक कर सकता है, जिस हद

[1] इगलैण्ड मे एक औस सोना तो मुद्रा के मापदण्ड की इकाई का काम करता है, पर पौड स्टर्लिंग सिक्का उसका अशेष भाजक नही होता। इस विचित्र परिस्थिति का यह कारण बताया गया है कि "हमारी सिक्को की प्रणाली पहले केवल चादी के प्रयोग के आधार पर ही ढाली गयी थी, इसलिए एक औंस चादी हमेशा ही सिक्का की एक निश्चित सख्या मे बाटी जा सकती है, लेकिन सिक्का की इस प्रणाली मे सोने का इस्तेमाल बाद मे जारी किया गया, इसलिए एक औस सोने के अशेष भाजक सख्या मे सिक्के नही बनाये जा सकते।" (Maclaren *'A Sketch of the History of the Currency'* [मैक्लैरेन, 'मुद्रा के इतिहास की एक रूपरेखा'], London 1858 पृ० १६।)

तक कि वह खुद श्रम की पैदावार है और इसलिए खुद उसके मूल्य में हेर-फेर होने की हमेशा सम्भावना रहती है।[1]

अब सबसे पहले तो यह बात बिल्कुल साफ है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से दाम के मापदण्ड के रूप में उसके काम में कोई अंतर नहीं होता। उसके इस मूल्य में चाहे जितना परिवर्तन हो जाये, धातु की अलग-अलग मात्राओं के मूल्यों का अनुपात बराबर एक सा ही रहता है। सोने का मूल्य चाहे जितना नीचे क्यों न गिर जाये, १२ औंस सोने का मूल्य तब भी १ औंस सोने के मूल्य का बारह गुना ही रहेगा। जहां तक दामों का सम्बंध है, हम केवल सोने की विभिन्न मात्राओं के आपसी सम्बंध पर ही विचार करते हैं। दूसरी ओर, चूंकि एक औंस सोने का मूल्य घटने या बढ़ जाने से उसके तौल में कोई तबदीली नहीं आती, इसलिए उसके अशेष भाजकों के तौल में भी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। इस प्रकार सोने के मूल्य में चाहे जितना हेर-फेर हो जाये, वह दामों के अपरिवर्तनीय मापदण्ड के रूप में सदा एक सा काम देता है।

दूसरी बात यह है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से मूल्य की माप के रूप में भी उसके कामों में कोई अंतर नहीं आता। इस परिवर्तन का सभी मालों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है, और इसलिए, caeteris paribus (अन्य बातें यदि समान रहती हैं, तो), तमाम मालों के पारस्परिक सापेक्ष मूल्य inter se (ज्यों के त्यों ही) रहते हैं, हालांकि ये मूल्य अब सोने के पहले से ऊंचे या नीचे दामों में व्यक्त किये जाते हैं।

किसी भी माल के मूल्य का अनुमान किसी अन्य माल के उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा के रूप में लगाते हुए हम जो कुछ करते हैं, वही हम किसी भी माल के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाते समय करते हैं। यहां भी हम इससे अधिक और कुछ नहीं मानकर चलते कि किसी भी काल में सोने की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन में श्रम की एक खास मात्रा खर्च होती है। जहां तक दामों के आम उतार-चढ़ाव का सम्बंध है, वे प्राथमिक सापेक्ष मूल्य के उन नियमों के आधीन रहते हैं, जिनकी हम इसके पहले एक अध्याय में छानबीन कर चुके हैं।

सामान्य रूप से मालों के दाम तभी चढ़ सकते हैं, जब कि या तो मुद्रा का मूल्य स्थिर रहते हुए मालों का मूल्य बढ़ जाय और या मालों का मूल्य स्थिर रहते हुए मुद्रा का मूल्य घट जाय। दूसरी तरफ, सामान्य रूप से मालों के दाम तभी गिर सकते हैं, जब कि या तो मुद्रा का मूल्य स्थिर रहते हुए मालों का मूल्य घट जाय और या मालों का मूल्य स्थिर रहते हुए मुद्रा का मूल्य बढ़ जाय। अतएव, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने पर मालों के दाम लाजिमी तौर पर उसी अनुपात में घट जाते हैं या मुद्रा का मूल्य घट जाने पर मालों के दाम लाजिमी तौर पर उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन केवल उन्हीं मालों के दामों में होता है, जिनका मूल्य स्थिर रहता है। मिसाल के लिए, जिन मालों का मूल्य मुद्रा के मूल्य की वृद्धि के साथ-साथ और उसी अनुपात में बढ़ जाता है, उनके दामों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि उनका मूल्य मुद्रा के मूल्य की अपेक्षा धीमी या तेज गति

[1] अंग्रेजी लेखकों ने तो मूल्य की माप (measure of value) और दाम के मापदण्ड (standard of value) को इस बुरी तरह एक-दूसरे से उलझा दिया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी रचनाओं में लगातार एक के नाम की जगह दूसरे के नाम का और एक के कामों की जगह दूसरे के कामों का वर्णन मिलता है।

से बढता है, तो उनके दामो का उतार या चढाव इस बात से निर्धारित होगा कि उनके मूल्य में जो परिवतन आया है और मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन हुआ है, उनके बीच कितना अतर है, इत्यादि।

आइये, अब हम पीछे लौटकर दाम रूप पर विचार करें।

मुद्रा का काम करने वाली बहुमूल्य धातु के अलग-अलग वजनो के चालू मुद्रा-नामो और इन नामो द्वारा शुरू में जिन वास्तविक वजनो को व्यक्त किया जाता था, उनके बीच धीरे-धीरे एक असगति पदा हो जाती है। यह असगति कुछ ऐतिहासिक कारणो से पदा होती है। इनमें से मुख्य कारण ये ह (१) अपर्याप्त विकास वाले समाज में विदेशी मुद्रा का आयात। यह बात रोम में उसके प्रारम्भिक दिनो में हुई थी, जब वहा सोने और चादी के सिक्को का विदेशी मालो के रूप में पहले पहल परिचलन आरम्भ हुआ था। इन विदेशी सिक्को के नाम देशी बाटो के नामो से कभी मेल नहीं खाते थे। (२) जसे-जसे दौलत बढती जाती है, वसे-वसे अधिक मूल्यवान धातु मूल्य की माप के रूप में कम मूल्यवान धातु का स्थान ग्रहण करती जाती है। परिवतन का यह क्रम कवियो के काल्पनिक काल क्रम के चाहे जितना उल्टा पडता हो, पर ताबे का स्थान चादी ले लेती है और चादी का स्थान सोना।[1] उदाहरण के लिए, पौंड शब्द शुरू में सचमुच एक पौंड वज़न की चादी के मुद्रा नाम के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था। जब मूल्य की माप के रूप में चादी का स्थान सोने ने ले लिया, तो सोने और चादी के मूल्यो के बीच जो अनुपात था, उसका ध्यान रखते हुए यही शब्द सम्भवत पौंड के १/१५ वजन के बराबर सोने के लिए इस्तेमाल होने लगा। इस तरह पौंड शब्द के मुद्रा-नाम और तौल-नाम में अतर हो जाता है।[2] (३) तीसरा कारण था राजाओ और बादशाहो का सदियो तक सिक्को में खोट मिलाना और इस चीज का इस हद तक बढ जाना कि सिक्को का मौलिक वज़न लगभग गायब हो गया और केवल नाम बाकी रह गया।[3]

इन ऐतिहासिक कारणो के फलस्वरूप मुद्रा-नाम का तौल-नाम से अलग हो जाना समाज के लोगो की पक्की आदत का हिस्सा बन गया। मुद्रा का मापदण्ड चूकि एक ओर तो केवल रूढ़िगत है और दूसरी ओर चूकि उसे सावजनिक मान्यता प्राप्त करनी पडती है, इसलिए अन्त में उसका कानून द्वारा नियमन होने लगता है। किसी एक बहुमूल्य धातु का कोई निश्चित वजन, जसे, मिसाल के लिए, एक औंस सोना, सरकारी तौर पर अशेष भाजको में बाटा जाता है,

[1] कवियो का काल्पनिक काल क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से भी आम तौर पर सत्य नही है।

[2] यही कारण है कि अग्रेजी पौंड स्टर्लिंग का शुरू मे जो वजन था, अब उसका एक तिहाई से कम वज़न रह गया है, स्कॉटलैण्ड और इगलैण्ट के एक हो जाने के पहले स्कॉटिश पौंड का वज़न उसके शुरू के वजन का केवल १/३६ रह गया था, फ्रास के लीव्र का वजन १/७४ रह गया था, स्पेन के मारावेदी का वज़न १/१००० से भी कम रह गया था और पुर्तगाली रे का वज़न उससे भी कम रह गया था।

[3] Le monete le quali oggi sono ideali sono le più antiche d'ogni nazione e tutte furono un tempo reali e perche erano reali con esse si contava' ["जो मुद्राए आज काल्पनिक है, वे प्रत्येक जाति की अतिप्राचीन मुद्राए हैं। एक समय वे सब वास्तविक थी, और चूकि वे वास्तविक थी, इसलिए हिसाब रखने के लिए उनका प्रयोग होता था।"] (Galiani *Della moneta* उप० पु०, पृ० १५३।)

जिन्हें क़ानूनी तौर पर कुछ ख़ास नाम, जैसे पौंड, डालर आदि, दे दिये जाते हैं। प्रमाप भाजक, जो इसके बाद से मुद्रा की इकाइयों का काम करने लगते हैं, आगे और अशेष भाजकों में बांट दिये जाते हैं और इनको भी शिलिंग, पेनी आदि जैसे कुछ क़ानूनी नाम दे दिये जाते हैं।[1] लेकिन इस तरह का बंटवारा होने से पहले भी और बाद में भी धातु का एक निश्चित वज़न ही धातु मुद्रा का मापदण्ड रहता है। अन्तर केवल यह पड़ता है कि अनुभाग हो जाते हैं और नये नाम दे दिये जाते हैं।

अतएव, मालों के मूल्यों को जिन दामों में, अथवा सोने की जिन मात्राओं में, भावगत ढंग से बदल दिया गया है, उन्हें अब सिक्कों के नामों द्वारा, या यूं कहिये कि सोने के मापदण्ड के उपभागों के क़ानूनी तौर पर मान्य नामों द्वारा, व्यक्त किया जाने लगता है। चुनांचे, यह कहने के बजाय कि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत एक औंस सोना है, अब हम यह कहते हैं कि उसकी क़ीमत ३ पौंड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस है। इस तरह, दामों के ज़रिये माल यह बताते हैं कि उनकी कितनी कीमत है, और जब कभी किसी वस्तु के मूल्य को उसके मुद्रा-रूप में निश्चित करने का सवाल होता है, तब मुद्रा हिसाब की मुद्रा, या लेखा-मुद्रा, का काम सम्पन्न करती है।[2]

किसी भी वस्तु का नाम उसके गुणों से भिन्न चीज़ होता है। यह जानकर कि फलां आदमी का नाम जकब है, मुझे उसके बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती। इसी प्रकार मुद्रा के सम्बंध में भी पौंड, डालर, फ्रांक, डुकाट आदि नामों में मूल्य-सम्बंध का प्रत्येक चिह्न ग़ायब हो जाता है। इन रहस्यमय प्रतीकों को एक गुप्त अर्थ पहना देने के फलस्वरूप जो गड़बड़ी पैदा होती है, वह इसलिए और भी बढ़ जाती है कि मुद्रा के इन नामों द्वारा मालों के मूल्यों को और उसके साथ-साथ धातु का जो वज़न मुद्रा का मापदण्ड है, उसके अशेष भाजकों को भी व्यक्त किया जाता है।[3] दूसरी ओर, मालों के तरह-तरह के शारीरिक रूपों से मूल्य को अलग देख पाने के

---

[1] डैविड उर्कुहार्ट ने अपनी रचना "*Familiar words*" ('सुपरिचित शब्द') में इस भयानक ज्यादती (!) का ज़िक्र किया है कि आजकल पौंड (स्टर्लिंग), जो मुद्रा के अंग्रेज़ी मापदण्ड की इकाई है, लगभग चौथाई औंस सोने के बराबर रह गया है। उन्होंने लिखा है कि "यह मापदण्ड क़ायम करना नहीं, माप को झूठा बना देना है।" दूसरी हर चीज़ की तरह सोने के तौल की इस "झूठी संज्ञा" में भी उर्कुहार्ट सभ्यता का हाथ देखते हैं, जो उनकी राय में हर चीज़ को झूठा बना देती है।

[2] जब अनाकार्सिस से यह पूछा गया कि यूनानी लोग मुद्रा से क्या काम लेते थे, तो उसने जवाब दिया "हिसाब रखने का।" (Athenaeus *Deipnosophistarum libri quindecim*, खण्ड ४, भाग ४६, Schweighäuser का दूसरा संस्करण, 1802 [पृ० १२०]।)

[3] "मुद्रा जब दाम के मापदण्ड का काम करती है, तब वह हिसाब रखने के उन्हीं नामों में सामने आती है, जिन नामों में मालों के दाम सामने आते हैं, और इसलिए ३ पौण्ड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस की रकम का मतलब एक तरफ़ तो एक औंस वज़न का सोना हो सकता है और दूसरी तरफ़ उसका मतलब एक टन लोहे का मूल्य हो सकता है। इसलिए मुद्रा के इस हिसाब रखने के नाम को उसका टकसाली दाम कहा गया है। इसी से यह असाधारण धारणा पैदा हुई कि सोने के मूल्य का खुद उसी के पदार्थ के रूप में अनुमान लगाया जाता है और दूसरे तमाम मालों के विपरीत उसका दाम राज्य निश्चित करता है। यह भ्रांति

लिए यह नितात आवश्यक है कि वह यह भौतिक एव निरर्थक, किन्तु साथ ही विशुद्ध सामाजिक रूप धारण कर ले।[1]

दाम किसी माल में मूर्त्त होने वाले श्रम का मुद्रा-नाम होता है। इसलिए जो रकम किसी माल का दाम है, उसके साथ उस माल की सम-मूल्यता की अभिव्यजना एक पुनरुक्ति मात्र होती है,[2] जसे कि किसी भी माल के सापेक्ष मूल्य की अभिव्यजना में सामान्यतया दो मालो की सम-मूल्यता ही व्यक्त की जाती है। किन्तु दाम यद्यपि माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता होने के कारण मुद्रा के साथ उसके विनिमय के अनुपात का व्याख्याता होता है, तथापि उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विनिमय के इस अनुपात का व्याख्याता अनिवार्य रूप से माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता भी होता है। मान लीजिये कि क्रमश १ क्वाटर गेहू और २ पौंड (लगभग आधा औंस सोना) सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की दो समान मात्राओ का प्रतिनिधित्व करते ह। इस हालत में २ पौंड १ क्वाटर गेहू के मूल्य के परिमाण की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना होगे, यानी २ पौंड १ क्वाटर गेहू का दाम होगे।

इस गलत विचार से पैदा हुई कि सोने के कुछ निश्चित वजनो को हिसाब रखने के कुछ नाम दे दना और इन वजनो का मूल्य तै कर देना एक ही बात है।" (Karl Marx, '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*', पृ० ५२।)

[1] देखिये "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') मे Theorien von der Masseinheit des Geldes' ('मुद्रा की माप की इकाई के सिद्धात'), पृ० ५३ और उसके आगे के पष्ठ। सोने या चादी के कुछ निश्चित वजनो को पहले से जो कानूनी नाम मिल गये हैं, वही नाम इन धातुओ के थोडे कम या ज्यादा वजना का देकर मुद्रा के टकसाली दाम को कम कर देने या बढा देने की कुछ अजीबोगरीब धारणायें देखने मे आती है। जहा तक कि इन धारणाओ का कम से कम यह उद्देश्य नही है कि भद्दे आर्थिक दाव-पेंच के जरिये सावजनिक तथा निजी दोना ही प्रकार के ऋणदाताओ की गिरह काटी जाये, बल्कि जहा तक कि वे नीम हकीमो के आर्थिक नुसखो के रूप मे पेश की जाती है, वहा तक उनपर विलियम पेटी ने अपनी रचना *Quantulumcunque concerning money To the Lord Marquis of Halifax 1682* ('मुद्रा के विषय मे एक गुटका हैलिफैक्स के लाड मार्क्विस के नाम, १६८२') मे इतने मुकम्मिल तौर पर विचार किया है कि यदि हम उनके बाद को आने वाले अनुयायिया का नाम न भी लें, तो उनके तात्कालिक अनुयायी भी—सर डडली नर्थ और जान लॉक—लाख कोशिश करने के बाद उनके शब्दा मे केवल पानी ही मिला पाये हैं। पेटी ने लिखा है "यदि ऐलान जारी करके किसी जाति की दौलत दस गुना बढायी जा सकती है, तो फिर यह बडे आश्चर्य की बात है कि हमारे गवनरा ने बहुत पहले ही ऐसे ऐलान नही जारी कर दिये" (उप० पु०, पृ० ३६)।

[2] 'Ou bien il faut consentir a dire qu'une valeur d un million en argent vaut plus qu'une valeur egale en marchandises ["यदि ऐसा न होता, तो हमें यह मानना पडता कि मुद्रा के रूप मे दस लाख के मूल्य की बिकाऊ सामान के रूप मे समान मूल्य की अपेक्षा ज्यादा कीमत होती है"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ९१९), जो यह कहने के बराबर है कि 'qu'une valeur vaut plus qu une valeur egale ("किसी मूल्य की उसके समान मूल्य से ज्यादा कीमत होती है")।

जिन्हें क़ानूनी तौर पर कुछ खास नाम, जैसे पौंड, डालर आदि, दे दिये जाते हैं। आगे भाजक, जो इसके बाद से मुद्रा की इकाइयों का काम करने लगते हैं, आगे और अपेक्ष मात्राओं में बांट दिये जाते हैं और इनको भी शिलिंग, पेंस आदि जैसे कुछ क़ानूनी नाम दे दिये जाते हैं।[1] लेकिन इस तरह का बटवारा होने के पहले भी और बाद में भी धातु का एक निश्चित वज़न ही धातु-मुद्रा का मापदण्ड रहता है। अन्तर केवल यह पड़ता है कि अनुभाग हो जाते हैं और नये नाम दे दिये जाते हैं।

अतएव, मालों के मूल्य को जिन दामों में, अथवा सोने की जिन मात्राओं में, भावगत ढंग से बदल दिया गया है, उन्हें अब सिक्कों के नामों द्वारा, या यूं कहिये कि सोने के मापदण्ड के उपभागों के क़ानूनी तौर पर मान्य नामों द्वारा, व्यक्त किया जाने लगता है। चुनांचे, यह कहने के बजाय कि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत एक औंस सोना है, अब हम यह कहते हैं कि उसकी क़ीमत ३ पौंड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस है। इस तरह, दामों के ज़रिये माल यह बताते हैं कि उनकी कितनी क़ीमत है, और जब कभी किसी वस्तु के मूल्य को उसके मुद्रा-रूप में निश्चित करने का सवाल होता है, तब मुद्रा हिसाब की मुद्रा, या लेखा-मुद्रा, का काम सम्पन्न करती है।[2]

किसी भी वस्तु का नाम उसके गुणों से भिन्न चीज़ होता है। यह जानकर कि फलां आदमी का नाम जकब है, मुझे उसके बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती। इसी प्रकार मुद्रा के सम्बंध में भी पौंड, डालर, फ्राक, डुकाट आदि नामों में मूल्य-सम्बंध का प्रत्येक चिन्ह ग़ायब हो जाता है। इन रहस्यमय प्रतीकों को एक गुप्त अर्थ पहना देने के फलस्वरूप जो गड़बड़ी पैदा होती है, वह इसलिए और भी बढ़ जाती है कि मुद्रा के इन नामों द्वारा मालों के मूल्यों को और उसके साथ-साथ धातु का जो वज़न मुद्रा का मापदण्ड है, उसके अशेष भाजकों को भी व्यक्त किया जाता है।[3] दूसरी ओर, मालों के तरह-तरह के शारीरिक रूपों से मूल्य को अलग देख पाने के

---

[1] डैविड उर्कुहार्ट ने अपनी रचना *Familiar words* ('सुपरिचित शब्द') में इस भयानक ज्यादती (!) का ज़िक्र किया है कि आजकल पौंड (स्टर्लिंग), जो मुद्रा के अंग्रेज़ी मापदण्ड की इकाई है, लगभग चौथाई औंस सोने के बराबर रह गया है। उन्होंने लिखा है कि "यह मापदण्ड कायम करना नहीं, माप को झूठा बना देना है।" दूसरी हर चीज़ की तरह सोने के तौल की इस 'झूठी संज्ञा" में भी उर्कुहार्ट सभ्यता का हाथ देखते हैं, जो उनकी राय में हर चीज़ को झूठा बना देती है।

[2] जब अनाकार्सिस से यह पूछा गया कि यूनानी लोग मुद्रा से क्या काम लेते थे, तो उसने जवाब दिया "हिसाब रखने का।" (Athenaeus, *Deipnosophistarum libri quindecim* खण्ड ४, भाग ४६, Schweighäuser का दूसरा संस्करण, 1802 [पृ० १२०]।)

[3] "मुद्रा जब दाम के मापदण्ड का काम करती है, तब वह हिसाब रखने के उन्हीं नामों में सामने आती है, जिन नामों में मालों के दाम सामने आते हैं, और इसलिए ३ पौण्ड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस की रकम का मतलब एक तरफ तो एक औंस वज़न का सोना हो सकता है और दूसरी तरफ उसका मतलब एक टन लोहे का मूल्य हो सकता है। इसलिए मुद्रा के इस हिसाब रखने के नाम को उसका टकसाली दाम कहा गया है। इसी से यह असाधारण धारणा पैदा हुई कि सोने के मूल्य का खुद उसी के पदार्थ के रूप में अनुमान लगाया जाता है और दूसरे तमाम मालों के विपरीत उसका दाम राज्य निश्चित करता है। यह भ्रांति

लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह यह भौतिक एव निरथक, किन्तु साथ ही विशुद्ध सामाजिक रूप धारण कर ले।[1]

दाम किसी माल में मूर्त्त होने वाले श्रम का मुद्रा नाम होता है। इसलिए जो रकम किसी माल का दाम है, उसके साथ उस माल की सम-मूल्यता की अभिव्यजना एक पुनरुक्ति मात्र होती है,[2] जसे कि किसी भी माल के सापेक्ष मूल्य की अभिव्यजना में सामान्यतया दो मालो की सम-मूल्यता ही व्यक्त की जाती है। किन्तु दाम यद्यपि माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता होने के कारण मुद्रा के साथ उसके विनिमय के अनुपात का व्याख्याता होता है, तथापि उससे यह निष्कष नहीं निकलता कि विनिमय के इस अनुपात का व्याख्याता अनिवार्य रूप से माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता भी होता है। मान लीजिये कि क्रमश १ क्वाटर गेहू और २ पौंड (लगभग आधा औंस सोना) सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की दो समान मात्राओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस हालत में २ पौंड १ क्वार्टर गेहू के मूल्य के परिमाण की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना होगे, यानी २ पौंड १ क्वाटर गेहू का दाम होगे।

इस गलत विचार से पैदा हुई कि सोने के कुछ निश्चित वजना को हिसाब रखने के कुछ नाम दे देना और इन वजना का मूल्य तै कर देना एक ही बात है।" (Karl Marx '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*', पृ० ५२।)

[1]देखिये '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*' ('अथशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') मे "Theorien von der Masseinheit des Geldes ('मुद्रा की माप की इकाई के सिद्धान्त'), पृ० ५३ और उसके आगे के पृष्ठ। साने या चादी के कुछ निश्चित वजना को पहले से जो कानूनी नाम मिल गये हैं, वही नाम इन धातुओ के थोडे कम या ज्यादा वजना को देकर मुद्रा के टकमाली दाम को कम कर देने या बढा देने की कुछ अजीबोगरीब धारणाये देखने मे आती हैं। जहा तक कि इन धारणाओ का कम से कम यह उद्देश्य नही है कि भद्दे आर्थिक दाव-पेंच के जरिये सावजनिक तथा निजी दोनो ही प्रकार के ऋणदाताओ की गिरह काटी जाये, बल्कि जहा तक कि वे नीम हकीमा के आर्थिक नुसखो के रूप मे पेश की जाती हैं, वहा तक उनपर विलियम पेटी ने अपनी रचना *Quantulumcunque concerning money To the Lord Marquis of Halifax 1682* ('मुद्रा के विषय मे एक गुटका हैलिफैक्स के लार्ड मार्क्विस के नाम, १६८२') मे इतने मुकम्मिल तौर पर विचार किया है कि यदि हम उनके बाद को आने वाले अनुयायियो का नाम न भी लें, तो उनके तात्कालिक अनुयायी भी—सर डडली नथ और जान लॉक—लाख कोशिश करने के बाद उनके शब्दो मे केवल पानी ही मिला पाये हैं। पेटी ने लिखा है "यदि ऐलान जारी करके किसी जाति की दौलत दस गुना बढायी जा सकती है, तो फिर यह बडे आश्चर्य की बात है कि हमारे गवनरा न बहुत पहले ही ऐसे ऐलान नही जारी कर दिये" (उप० पु०, पृ० ३६)।

[2]"Ou bien, il faut consentir a dire qu'une valeur d un million en argent vaut plus qu'une valeur egale en marchandises ["यदि ऐसा न होता, तो हमे यह मानना पडता कि मुद्रा के रूप मे दस लाख के मूल्य की विकाऊ सामान के रूप मे समान मूल्य की अपेक्षा ज्यादा कीमत होती है"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ९१९), जो यह कहने के बराबर है कि "qu'une valeur vaut plus qu une valeur egale ("किसी मूल्य की उसके समान मूल्य से ज्यादा कीमत होती है")।

अब यदि कुछ परिस्थितियों के कारण इस दाम को बढ़ाकर ३ पौंड कर देना सम्भव हो जाय या उसे घटाकर १ पौंड कर देना जरूरी हो जाये, तब ३ पौंड या १ पौंड ही उसके दाम हो जायेंगे, हालांकि सच पूछिये, तो ३ पौंड और १ पौंड १ क्वार्टर गेहूं का मूल्य व्यक्त करने के लिये या तो बहुत ज्यादा होंगे और या बहुत कम। इसका कारण यह है कि एक तो ३ पौंड और १ पौंड वे रूप हैं, जिनमें गेहूं का मूल्य प्रकट होता है, यानी वे मुद्रा हैं, और, दूसरे, वे मुद्रा के साथ गेहूं के विनिमय-अनुपात के व्याख्याता हैं। यदि उत्पादन की परिस्थितियां स्थिर रहती हैं, दूसरे शब्दों में, यदि श्रम की उत्पादन शक्ति एक सी रहती है, तो दाम में परिवर्तन होने के पहले भी और बाद में भी एक क्वार्टर गेहूं के पुनरुत्पादन में पहले जितना ही सामाजिक श्रम काल खर्च करना पड़ेगा। यह बात न तो गेहूं पैदा करने वाले की इच्छा पर निर्भर करती है और न ही अन्य मालों के मालिकों की इच्छा पर।

मूल्य का परिमाण सामाजिक उत्पादन के एक सम्बंध को व्यक्त करता है। यह परिमाण किसी वस्तु विशेष और उसके उत्पादन के लिये समाज के कुल श्रम काल के आवश्यक भाग के बीच अनिवार्य रूप से रहने वाले सम्बंध को व्यक्त करता है। जैसे ही मूल्य का परिमाण दाम में बदल दिया जाता है, वैसे ही उपर्युक्त अनिवार्य सम्बंध किसी एक माल तथा मुद्रा-माल नामक एक अन्य माल के बीच कमोबेश आकस्मिक ढंग से स्थापित हो जाने वाले विनिमय अनुपात का रूप धारण कर लेता है। लेकिन यह विनिमय अनुपात या तो माल के मूल्य के वास्तविक परिमाण को व्यक्त कर सकता है और या उस मूल्य से कम या ज्यादा सोने की उस मात्रा को व्यक्त कर सकता है, जिसके एवज में परिस्थितियों के अनुसार वह माल हस्तांतरित किया जाना सम्भव है। इसलिये, दाम तथा मूल्य के परिमाण के बीच परिमाणात्मक असंगति पैदा हो जाने, या दाम के मूल्य के परिमाण से भिन्न हो जाने की सम्भावना तो खुद दाम रूप में ही निहित है। यह उसका कोई दोष नहीं है, बल्कि, इसके विपरीत, यह सम्भावना तो दाम रूप को बड़े सुंदर ढंग से उत्पादन की उस प्रणाली के अनुरूप ढाल देती है, जिसके अंतर्निहित नियम केवल ऐसी अनियमितताओं के मध्यमान के रूप में ही लागू होते हैं, जो ऊपर से देखने में किसी नियम के आधीन नहीं होतीं, पर जो एक दूसरे के असर को बराबर कर देती हैं।

किंतु, दाम रूप न केवल मूल्य के परिमाण और दाम की – यानी मूल्य के परिमाण और उसकी मुद्रा अभिव्यंजना की – असंगति की सम्भावना के अनुरूप है, बल्कि उसमें गुणात्मक असंगति भी छिपी हो सकती है। यह असंगति इस हद तक जा सकती है कि यद्यपि मुद्रा मालों के मूल्य रूप के सिवा और कुछ नहीं होती, फिर भी यह सम्भव है कि दाम मूल्य को कतई तौर पर व्यक्त करना बंद कर दे। कुछ वस्तुएं हैं, जो खुद माल नहीं हैं, जैसे अंतःकरण, आत्म-सम्मान आदि, पर जिनके मालिक उनको बेच सकते हैं और जो इस तरह अपने दामों के माध्यम से मालों का रूप धारण कर सकती हैं। अतएव, किसी वस्तु में मूल्य न होते हुए भी उसका दाम हो सकता है। ऐसी सूरत में दाम गणित की कुछ राशियों की भांति काल्पनिक होता है। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि काल्पनिक दाम रूप कभी कभार किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वास्तविक मूल्य-सम्बंध पर पर्दा डाल दे। उदाहरण के लिये, परती जमीन का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का मानव-श्रम नहीं लगा होता, पर उसका दाम हो सकता है।

आम तौर पर सापेक्ष मूल्य की भांति दाम भी किसी माल का (जैसे एक टन लोहे का) मूल्य इस प्रकार व्यक्त करता है कि सम-मूल्य की अमुक मात्रा का (जैसे एक

औंस सोने का) लोहे के साथ सीधा विनिमय हो सकता है। लेकिन दाम इसकी उल्टी बात कि लोहे का सोने के साथ सीधा विनिमय हो सकता है, कदापि व्यक्त नहीं करता। इसलिये, यदि किसी माल को व्यवहार में कारगर ढग से विनिमय-मूल्य की तरह काम करना है, तो उसके लिये जरूरी है कि वह अपना शारीरिक रूप त्याग दे और केवल काल्पनिक सोना न रहकर वास्तविक सोना बन जाये, हालांकि माल के लिये यह पदार्थातरण हेगेल की "धारणा" के "आवश्यकता" से "स्वतत्रता" तक पहुच जाने, झींगा मछली के अपना खोल उतारकर फेंक देने अथवा सन्त जेरोम के बाबा आदम से मुक्ति पा जाने[1] की अपेक्षा अधिक कठिन सिद्ध हो सकता है। कोई माल (जसे, मिसाल के लिये, लोहा) अपने वास्तविक रूप के साथ-साथ हमारी कल्पना में सोने का रूप तो ले सकता है, पर वह एक ही समय में सचमुच सोना और लोहा दोनो नहीं हो सकता। उसका दाम त करने के लिये यह काफी होता है कि कल्पना में उसका सोने के साथ समीकरण कर दिया जाये। पर यदि उसे एक सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में अपने मालिक के काम आना है, तो इसके लिये जरूरी है कि उसके स्थान पर सचमुच सोना आ जाये। यदि लोहे का मालिक विनिमय के लिये पेश किये गये किसी अय माल के मालिक के पास जाकर लोहे के दाम का हवाला दे और उसकी बिना पर यह दावा करे कि लोहा अभी से मुद्रा बन गया है, तो उसको वही जवाब मिलेगा, जो स्वर्ग में सत पीटर ने दाते को दिया था, जब उसने यह श्लोक पढा था कि

> "Assai bene e trascorsa
> D esta moneta gia la lega e'l peso,
> Ma dimmi se tu l hai nella tua borsa"

("इस सिक्के के धातु मिश्रण और तौल की तो काफी चर्चा हो चुकी है, पर अब मुझे यह बता कि क्या यह सिक्का तेरी जेब में है।")

अतएव दाम का अर्थ जहा यह होता है कि किसी माल का मुद्रा के साथ विनिमय हो सकता है, वहा उसका अर्थ यह भी होता है कि उसका मुद्रा के साथ विनिमय होना जरूरी है। दूसरी ओर, सोना मूल्य की भावगत माप के रूप में केवल इसीलिये काम में आता है कि उसने विनिमय की क्रिया के दौरान में पहले से अपने आप को मुद्रा-माल के रूप में जमा लिया है। मूल्यो की भावगत माप के पीछे, वास्तव में, नकदी छिपी रहती है।

---

[1] जेरोम को न केवल अपनी युवावस्था मे शारीरिक देह से कठिन सघर्ष करना पडा था, जो इस बात से स्पष्ट है कि मरुस्थल मे उनकी अपने कल्पना लोक की सुदर नारियो से लडाई हुई थी, बल्कि उनको अपनी वृद्धावस्था मे आध्यात्मिक देह से भी कठिन सघर्ष करना पडा था। जेरोम ने कहा है "मैने समझा कि मै विश्व के न्यायाधीश के दरबार मे आत्मा के रूप मे पश हू। तभी एक आवाज ने प्रश्न किया 'तू कौन है?' 'मै एक ईसाई हू।' 'तू झूठ बोलता है,'—वह महान न्यायाधीश गरजकर बोला, —'तू सिसेरोनवादी है, और कुछ नही।'"

अनुभाग २—परिचलन का माध्यम

क) मालों का रूपांतरण

हम पहले के एक अध्याय में यह देख चुके हैं कि मालों के विनिमय के लिये कुछ परस्पर विरोधी और एक दूसरे का अपवर्जन करने वाली परिस्थितियां आवश्यक होती हैं। जब मालों में माल और मुद्रा का भेद पैदा हो जाता है, तब उससे ये असंगतियां दूर नहीं हो जातीं, बल्कि उससे एक ऐसी modus vivendi (व्यवस्था) हो जाती है, या यूं कहिये कि एक ऐसा रूप निकल आता है, जिसमें ये असंगतियां साथ-साथ क़ायम रह सकती हैं। आम तौर पर वास्तविक विरोधों का इसी तरह समाधान किया जाता है। मिसाल के लिये, किसी वस्तु के बारे में यह कहना एक परस्पर विरोधी बात है कि वह लगातार किसी दूसरी वस्तु की ओर गिरती जाती है और साथ ही लगातार उससे दूर भी उड़ती जाती है। परंतु दीर्घवृत्त गति का एक ऐसा रूप है, जो इस विरोध को बनाये भी रखता है और साथ ही उसका समाधान भी कर देता है।

जहां तक विनिमय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा माल उन हाथों से निकलकर, जिनके लिये वे ग़ैर-उपयोग-मूल्य हैं, उन हाथों में पहुंच जाते हैं, जिनके पास वे उपयोग-मूल्य हो जाते हैं, वहां तक वह विनिमय पदार्थ का सामाजिक परिचलन है। उसके द्वारा एक ढंग के उपयोगी श्रम की पैदावार दूसरे ढंग के उपयोगी श्रम की पैदावार का स्थान ले लेती है। जब एक बार कोई माल उस विश्राम-स्थल पर पहुंच जाता है, जहां वह उपयोग-मूल्य का काम कर सकता है, तब वह विनिमय के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है। लेकिन इस समय हमारी दिलचस्पी केवल विनिमय के क्षेत्र में ही है। इसलिये अब हमें विनिमय पर एक औपचारिक दृष्टि से विचार करना होगा और मालों के उस रूप-परिवर्तन—अथवा रूपांतरण—की छान बीन करनी होगी, जिसके द्वारा पदार्थ का सामाजिक परिचलन कार्यान्वित होता है।

साधारणतया इस रूप परिवर्तन को बहुत अपूर्ण ढंग से समझा जाता है। इस अपूर्णता का कारण खुद मूल्य के बारे में लोगों में बहुत अस्पष्ट धारणाएं होने के अलावा यह है कि किसी भी माल के रूप में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन दो मालों के विनिमय के फलस्वरूप होता है, जिनमें से एक तो साधारण माल होता है और दूसरा मुद्रा-माल होता है। यदि हम केवल इस भौतिक तथ्य को अपने सामने रखते हैं कि किसी माल का सोने के साथ विनिमय किया गया है, तो हम उसी चीज़ को अनदेखा कर देते हैं, जिसे हमें देखना चाहिये था—और वह यह कि माल के रूप को क्या हो गया है। हम इन तथ्यों को अनदेखा कर देते हैं कि जब सोना महज़ माल होता है, तब वह मुद्रा नहीं होता, और जब दूसरे माल अपने दामों को सोने के रूप में व्यक्त करते हैं, तब यह सोना खुद इन मालों का मुद्रा-रूप भर होता है।

शुरू में माल अपने स्वाभाविक रूप से विनिमय की प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं। फिर यह प्रक्रिया उनमें माल और मुद्रा का भेद पैदा कर देती है और इस प्रकार मालों के एक साथ उपयोग-मूल्य और मूल्य होने के नाते उनमें अंतर्निहित विरोध के अनुरूप एक बाहरी विरोध भी पैदा कर देती है। माल उपयोग-मूल्यों के रूप में अब विनिमय-मूल्य के रूप में मुद्रा के मुक़ाबले आ खड़े होते हैं। दूसरी तरफ़, दोनों विरोधी पक्ष माल ही होते हैं, यानी दोनों

उपयोग-मूल्य तथा मूल्य की इकाइया होते ह्। लेकिन भिन्नताओ की यह एकता दो विरोधी ध्रुवो पर प्रकट होती है और प्रत्येक ध्रुव पर विरोधी ढग से प्रकट होती है। ध्रुव होने के कारण दोनो अनिवाय रूप से परस्पर विरोधी सम्बद्ध और वैसे ही सम्बद्ध होते हं। समीकरण के एक तरफ एक साधारण माल होता है, जो वास्तव में एक उपयोग मूल्य है। उसका मूल्य दाम के रूप में केवल भावगत ढग से व्यक्त होता है, दाम के जरिये उसका अपने मूल्य के वास्तविक मूत्त रूप के तौर पर अपने विरोधी – सोने – के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, सोना अपनी धातुगत वास्तविकता में केवल मूल्य के मूत्त रूप में, यानी केवल मुद्रा के रूप में, गिना जाता है। सोना सोने के रूप में स्वय विनिमय मूल्य होता है। जहा तक उसके उपयोग-मूल्य का सम्बध है, उसका केवल भावगत अस्तित्व होता है, जिसका प्रतिनिधित्व सापेक्ष मूल्य की अभिव्यजनाओ का वह क्रम करता है, जिसमें वह बाकी उन तमाम मालो के मुक़ाबले में खडा होता है, जिनके उपयोगो का कुल जोड सोने के विभिन्न उपयोगो का कुल जोड होता है। मालो के ये परस्पर विरोधी रूप वे वास्तविक रूप ह्, जिनमें से मालो के विनिमय की प्रक्रिया को गुजरना पडता है और जिनमें से होकर वह सम्पन्न होती है।

आइये, अब हम किसी माल के मालिक – मिसाल के तौर पर, अपने पुराने मित्र, कपडा बुनने वाले बुनकर – के साथ कायस्थल में – यानी मण्डी में – चलें। उसके २० गज़ कपडे का एक निश्चित दाम है। मान लीजिये, उसका दाम २ पौंड है। वह कपडे का २ पौंड के साथ विनिमय कर डालता है, और फिर पुराने ढग का आदमी होने के नाते वह इसी दाम की एक पारिवारिक बाइबल के एवज में ये २ पौंड भी दे डालता है। कपडे को, जो उसकी नज़रो में महज़ एक माल है, केवल मूल्य का भण्डार है, वह सोने के एवज में दूसरे को दे डालता है, सोना कपडे का मूल्य रूप है, और इस रूप को वह फिर एक और माल के एवज में – यानी बाइबल के एवज में – दे डालता है, जो अब एक उपयोगी वस्तु के रूप में उसके घर में प्रवेश करेगी और घर के निवासियो का नैतिक स्तर ऊपर उठाने के काम में आयेगी। इस प्रकार विनिमय दो परस्पर विरोधी और फिर भी एक दूसरे के पूरक रूपान्तरणो द्वारा सम्पन्न होता है एक रूपान्तरण में माल मुद्रा में बदल दिया जाता है, दूसरे में मुद्रा फिर माल में बदल दी जाती है।[1] इस रूपान्तरण की ये दो अवस्थाए दो अलग अलग काय ह्, बुनकर जिनको सम्पन्न करता है। एक बार वह बेचता है, यानी मुद्रा के एवज में माल का विनिमय करता है। दूसरी बार वह ख़रीदता है, यानी एक माल के एवज में मुद्रा का विनिमय करता है। इन दो कार्यों में एकता भी है, क्योंकि वह ख़रीदने के लिए बेचता है।

इस पूरे काम-क्लाप का बुनकर के लिए यह नतीजा निकलता है कि अब उसके पास कपडे के बजाय बाइबल होती है, शुरू में जो माल उसके पास था, अब उसके बजाय उसके

---

[1] «ἐκ δὲ τοῦ πυρος ἀνταμείβεσθαι πάντα, φησιν ὁ Ἡράκλειτος καὶ πῦρ ἁπάντων ὥσπερ χρυσου χρηματα καὶ χρημάτων χρυσός» ["जिस] तरह सोना मालो मे बदल जाता है और माल सोने मे बदल जाते हैं, उसी तरह अग्नि सब वस्तुओ मे बदल जाती है, और सब वस्तुए अग्नि मे बदल जाती हैं।"] (F Lassalle Die Philosophie Herakleitos des Dunkeln Berlin 1858, खण्ड १, पृ० २२२।) पृ० २२४ पर लसाल ने इस अश के सम्बध मे जो नोट (नोट ३) दिया है, उसमे उसने गलती से सोने को मूल्य का प्रतीक मात्र बना दिया है।

पास उतने ही मूल्य का, लेकिन एक भिन्न उपयोग का एक नया माल आ जाता है। वह अपने जीवन निर्वाह के अन्य साधन तथा उत्पादन के साधन भी इसी ढंग से प्राप्त करता है। उसके दृष्टिकोण से इस पूरी क्रिया के द्वारा इससे अधिक और कुछ नहीं सम्पन्न होता कि उसके श्रम की पदावार का किसी और के श्रम की पदावार से विनिमय हो जाता है, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओ के विनिमय से अधिक और कुछ नहीं होता।

अतएव, मालो के विनिमय के साथ-साथ उनके रूप में निम्न लिखित परिवर्तन हो जाता है

माल – मुद्रा – माल

मा———मु———मा

जहा तक खुद वस्तुओ का सम्बध है, पूरी क्रिया का फल होता है मा – मा, यानी एक माल के साथ दूसरे माल का विनिमय, अर्थात भौतिक रूप प्राप्त सामाजिक श्रम का परिचलन। जब यह फल प्राप्त हो जाता है, तब क्रिया समाप्त हो जाती है।

मा – मु। पहला रूपातरण, अथवा बिक्री

मूल्य माल के शरीर से छलाग मारकर जिस प्रकार सोने के शरीर में पहुच जाता है, वह, जैसा कि मने अन्यत्र कहा है, माल की Salto mortale (निराशोमत्त छलाग) होती है। यदि छलाग में पूरी सफलता नहीं मिलती, तो खुद माल का तो कोई नुकसान नहीं होता, पर उसके मालिक का निश्चय ही नुक़सान होता है। उसके मालिक की आवश्यकताए जितनी बहुमुखी ह, सामाजिक श्रम विभाजन उसके श्रम को उतना ही एकागी बना देता है। ठीक यही कारण है कि उसके श्रम की पदावार केवल विनिमय-मूल्य के रूप में ही उसके काम आती है। लेकिन वह सामाजिक दृष्टि से मान्य सार्विक सम-मूल्य का गुण केवल तभी प्राप्त कर सकती है, जब कि उसे मुद्रा में बदल डाला जाये। किन्तु वह मुद्रा किसी और की जब में है। उस जेब से मुद्रा को बाहर निकालने के लिये सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि हमारे मित्र का माल मुद्रा के मालिक के लिये उपयोग मूल्य हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि माल पर खच किया गया श्रम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो, अर्थात वह श्रम सामाजिक श्रम विभाजन की एक शाखा हो। लेकिन श्रम विभाजन उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसका स्वयस्फूत ढग से विकास हुआ है और जिसका विकास उत्पादको के पीठ पीछे अब भी जारी है। जिस माल का विनिमय होता है, वह, सम्भव है, किसी नये प्रकार के श्रम की पदावार हो, जो किन्हीं नयी आवश्यकताओ को पूरा करने का या हो सकता है कि जो खुद ही किन्हीं नयी आवश्यकताओ को पदा कर देने तक का दावा करता हो। कल तक जो क्रिया विशेष सम्भवत किसी एक माल को तयार करने के लिये किसी एक उत्पादक द्वारा की जाने वाली अनेक क्रियाओ में से एक ही हो, वह हो सकता है कि आज अपने को इस सम्बध से अलग कर ले, अपने को श्रम की एक स्वतत्र शाखा के रूप में जमा ले और अपनी अपूर्ण पदावार को एक स्वतत्र माल के रूप में मण्डी में भेज दे। इस प्रकार के सम्बध विच्छेद के लिये परिस्थितिया परिपक्व भी हो सकती ह और अपरिपक्व भी। आज कोई पदावार एक सामाजिक आवश्यकता पूरी करती है। कल को मुमकिन है कि कोई और, अधिक उपयोगी पदावार पूर्णतया अथवा आशिक रूप से उस वस्तु का स्थान ले ले। इसके अलावा, हमारे

बुनकर का श्रम सामाजिक श्रम विभाजन की एक मान्य शाखा तो हो सकता है, परन्तु यह बात उसके २० गज कपडे की उपयोगिता की गारण्टी करने के लिये काफी नहीं है। यदि समाज की कपडे की आवश्यकता—और प्रत्येक दूसरी आवश्यकता की तरह इस प्रकार की आवश्यकता की भी एक सीमा होती है—प्रतिद्वद्वी बुनकरो की पदावार से पहले ही तृप्त हो गयी है, तो हमारे मित्र की पैदावार फालतू, अनावश्यक और इसलिये अनुपयोगी हो जाती है। यह तो सही है कि जब घोडा मुफ्त में मिलता हो, तो कोई उसके दात नहीं देखता, लेकिन हमारा मित्र लोगो को तोहफे बाटने के लिये मण्डी में नहीं घूमता। लेकिन मान लीजिये कि उसकी पदावार वास्तव में उपयोग-मूल्य सिद्ध होती है और इस प्रकार मुद्रा को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। तब सवाल उठता है कि वह कितनी मुद्रा को अपनी ओर आकर्षित करेगी? इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रश्न का उत्तर इस वस्तु के दाम के रूप में, अर्थात उसके मूल्य के परिमाण के व्याख्याता के रूप में, पहले से ही दे दिया गया है। मूल्य का हिसाब लगाने में यदि हमारा मित्र आकस्मिक कोई गलती कर गया है, तो उसकी ओर हम यहा कोई ध्यान नहीं देंगे,—ऐसी गलती मडी में जल्दी ही ठीक हो जाती है। हम यह भी माने लेते ह कि उसने अपनी पैदावार पर केवल उतना ही श्रम काल खच किया है, जितना सामाजिक दृष्टि से औसतन आवश्यक है। अतएव, दाम केवल उसके माल में मूर्त्त होने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा का मूल्य-नाम है। लेकिन हमारे बुनकर से पूछे बिना और उसके पीठ पीछे कपडा बुनने की पुराने ढग की प्रणाली में परिवतन हो जाता है। जो श्रम काल कल तक निस्सन्देह एक गज कपडे के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक था, वह आज आवश्यक नहीं रहता। यह बात ऐसी है, जिसे मुद्रा का मालिक हमारे मित्र के प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा बताये गये दामो के आधार पर सिद्ध करने के लिये अत्यन्त उत्सुक है। हमारे मित्र के दुर्भाग्य से बुनकर भी सख्या में बहुत थोडे और दुर्लभ हो, ऐसी बात नहीं है। अन्त में मान लीजिये कि मण्डी में कपडे के जितने भी टुकडे मौजूद ह, उनमें से किसी में भी सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल से अधिक श्रम काल नहीं लगा है। इसके बावजूद यह मुमकिन है कि कुल मिलाकर इन सब टुकडो पर आवश्यकता से अधिक श्रम काल खच हो गया हो। यदि २ शिलिग फी गज के सामान्य भाव पर सारा कपडा मण्डी में नहीं खप पाता, तो इससे यह साबित हो जाता है कि समाज के कुल श्रम का आवश्यकता से अधिक भाग बुनाई के रूप में खच कर डाला गया है। इसका असर वही होता है, जो प्रत्येक अलग-अलग बुनकर द्वारा अपनी खास पैदावार पर सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल से अधिक श्रम-काल खच कर देने से होता है। यहा वह जमन कहावत लागू होगी कि "साथ पकडे गये, साथ ही लटका दिये गये"। मण्डी में जितना कपडा मौजूद है, वह सब केवल एक वाणिज्य वस्तु गिना जाता है, जिसका हरेक टुकडा उसका केवल एक अशेष भाजक होता है। और सच पूछिये, तो हर एक एक गज कपडे का मूल्य भी सजातीय मानव-श्रम की एक सी, निश्चित एव सामाजिक रूप से निर्धारित मात्रा का भौतिक रूप मात्र ही है।[1]

---

[1]एन० एफ० डेनियलसन (निकोलाई—अन) के नाम २८ नवम्बर १८७८ के अपने पत्र मे मार्क्स ने सुझाव दिया था कि इस वाक्य को यू बदल दिया जाये "और सच पूछिये, तो हर एक एक गज कपडे का मूल्य तमाम गजो के ऊपर खच किये गये सामाजिक श्रम के एक भाग का भौतिक रूप मात्र ही है।" 'पूजी' के प्रथम खण्ड के दूसरे जमन सस्करण की

अतएव, यहा हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि मालो को मुद्रा से प्रेम हो गया है, मगर "the course of true love never did run smooth' ("सच्चे प्रेम का माग सदा काटो से भरा होता है")। श्रम का परिमाणात्मक विभाजन भी ठीक वसे ही स्वयस्फूत तथा आकस्मिक ढग से होता है, जसे ही उसका गुणात्मक विभाजन होता है। इसलिए मालो के मालिको को पता चलता है कि जिस श्रम विभाजन ने उनको निजी तौर पर उत्पादन करने वाले स्वतत्र उत्पादक का रूप दे दिया है, उसी ने उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया और उस प्रक्रिया के भीतर अलग अलग उत्पादको के पारस्परिक सम्बधो को भी इन उत्पादकों की इच्छा से सवथा स्वतत्र कर दिया है और व्यक्तियो की दिखावटी पारस्परिक स्वाधीनता के पूरक के तौर पर पदावार के माध्यम से, या पदावार के जरिये, सामान्य एव पारस्परिक पराधीनता की एक व्यवस्था कायम हो गयी है।

श्रम विभाजन श्रम की पैदावार को माल में बदलता है और इस प्रकार उसका आग मुद्रा में बदला जाना जरूरी बना देता है। इसके साथ-साथ श्रम विभाजन के फलस्वरूप इस पदार्थातरण का सम्पन्न होना बिल्कुल सयोग की बात बन जाता है। किन्तु यहा हमारा सम्बध घटना के केवल समग्र रूप से है, और इसलिए हम यह माने लेते ह कि उसकी सामान्य ढग से प्रगति होती है। इसके अलावा, यदि मालो का परिवतन किसी भी तरह होना ही है, यानी अगर माल ऐसा नहीं है, जो किसी भी तरह नहीं बिक सकता, तो उसका रूपातरण अवश्य होता है, भले ही उसके एवज में मिलने वाला दाम मूल्य की अपेक्षा असाधारण ढग से ज्यादा या कम हो।

बेचने वाले के माल का स्थान सोना ले लेता है, खरीदने वाले के सोने के स्थान पर एक माल आ जाता है। यहा हमारी आखो के सामने आने वाला तथ्य यह है कि एक माल और सोना – यानी २० गज कपडा और २ पौण्ड – हस्तातरित और स्थानातरित हुए ह, या यू कहिये कि उनका विनिमय हुआ है। लेकिन माल का किस चीज के साथ विनिमय हुआ है? खद उसके मूल्य ने जो रूप धारण कर लिया है, उसके साथ, यानी सावत्रिक सम-मूल्य के साथ। और सोने का किस चीज के साथ विनिमय हुआ है? उसके अपने उपयोग-मूल्य के एक विशिष्ट रूप के साथ। कपडे के मुक़ाबले में खडे होने पर सोना मुद्रा का रूप क्यो धारण कर लेता है? इसलिए कि कपडे का २ पौंड का दाम, यानी मुद्रा के रूप में उसका अभिधान, पहले से ही मुद्रा के रूप में सोने के साथ कपडे का समीकरण कर चुका है। कोई भी माल, जब वह हस्तातरित होता है, यानी ज्यो ही उसका उपयोग-मूल्य सचमुच उस सोने को अपनी ओर आकर्षित करता है, जो इसके पहले केवल भावगत ढग से ही उसके दाम में विद्यमान था, त्यों ही यह अपने मूल मालरूप को त्याग देता है। इसलिए किसी भी माल के दाम का, यानी उसके भावगत मूल्य रूप का मूत्त हो जाना साथ ही मुद्रा के भावगत उपयोग मूल्य का भी मूत हो जाना है। इसी प्रकार, किसी माल का मुद्रा में बदल जाना साथ ही मुद्रा का माल में बदल जाना भी है। देखने में एक प्रक्रिया मालूम होने वाली वास्तव में दोहरी प्रक्रिया है। माल के मालिक के ध्रुव पर खडे होकर देखिये, तो यह बिक्री है, और मुद्रा के मालिक के

मावस की एक निजी प्रति म भी इसी से मिलता जुलता परिवतन किया गया था, – परतु यह परिवतन खुद मावस की लिखावट म नहीं है। (इसी सस्करण में मावसवाद-लेनिनवाद इस्टीट्यूट का फुटनोट।)

विरोधी ध्रुव के दृष्टिकोण से देखिये, तो वह खरीद है। दूसरे शब्दो में, बिक्री खरीद भी, यानी मा—मु मु—मा, होती है।[1]

यहां तक हमने मनुष्यो की केवल एक ही आर्थिक स्थिति पर विचार किया है, और वह है उनकी मालो के मालिको की स्थिति, जिस स्थिति में वे खुद अपने श्रम की पैदावार को हस्तातरित करके दूसरो के श्रम की पैदावार को हस्तगत कर लेते हैं। इसलिए यदि माल का एक मालिक किसी दूसरे ऐसे मालिक से मिलना चाहता है, जिसके पास मुद्रा हो, तो उसके लिए जरूरी है कि या तो उस दूसरे व्यक्ति के—अर्थात् खरीदार के—श्रम की पैदावार खुद मुद्रा हो, यानी सोना अथवा वह पदाथ हो, जिससे मुद्रा बनती है, और या उसकी पैदावार पहले से अपना चोला बदल चुकी हो और उपयोगी वस्तु का अपना मूल रूप त्याग चुकी हो। मुद्रा की भूमिका अदा करने के लिए, जाहिर है, यह जरूरी है कि सोना किसी न किसी स्थान पर मण्डी में प्रवेश कर जाये। यह स्थान सोने का उत्पादन-स्थल होता है, जहा इस धातु की, श्रम की तात्कालिक पैदावार के रूप में, समान मूल्य की किसी अन्य पदावार के साथ अदला-बदली होती है। बस इसी क्षण से सोना सदा किसी न किसी माल के मूर्त्त रूप प्राप्त दाम का प्रतिनिधित्व करता है।[2] अपने उत्पादन-स्थल पर अन्य मालो के साथ सोने का जो विनिमय होता है, उसके अलावा, सोना चाहे जिसके हाथ में हो, वह किसी ऐसे माल का परिवर्तित रूप होता है, जिसे उसके मालिक ने हस्तातरित कर दिया है, वह बिक्री की, अथवा पहले रूपातरण मा—मु की पैदावार होता है।[3] जसा कि हमने ऊपर देखा था, सोना इसलिए भावगत मुद्रा, अथवा मूल्यो की माप, हो गया कि सब माल उससे अपने मुल्यो को मापने लगे थे और इस प्रकार उपयोगी वस्तुओ के तौर पर उनके *प्राकृतिक* रूप उससे *भावगत* ढग से मुकाबला करने लगे थे, और उसे उन्होने अपने मूल्य का रूप बना लिया था। वह वास्तविक मुद्रा बना है मालो के आम हस्तातरण के फलस्वरूप उपयोगी वस्तुओ के रूप में मालो के प्राकृतिक रूपो से स्थान-परिवतन करके और इस प्रकार वास्तव में उनके मूल्यो का मूत्त रूप बनकर। जब माल यह मुद्रा-रूप धारण करते ह, तब वे अपने को सजातीय मानव-श्रम के सम रूप एव सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतारो में रूपान्तरित करने के लिए अपने प्राकृतिक उपयोग-मूल्य को और उस विशेष ढग के श्रम को, जिससे वे उत्पन्न हुए [ह, इस तरह अपने से अलग कर देते ह कि उनका लेश मात्र] भी बाकी नहीं रहता। किसी सिक्के को महज

---

[1] Toute vente est achat ["हर बिक्री खरीद हाती है"] (Dr Quesnay *Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans* Physiocrates ed Daire का सस्करण, भाग १, Paris 1846 प० १७०), या, जैसा कि क्वेजने ने अपनी रचना "*Maximes generales* मे कहा है, Vendre est acheter ["बेचना खरीदना है"]।

[2] 'Le prix d'une marchandise ne pouvant etre paye que par le prix d une autre marchandise ["किसी माल का दाम अदा करने का केवल एक यही तरीका है कि किसी और माल के दाम के द्वारा उसे निपटा दिया जाये"] (Mercier de la Riviere *L Ordre naturel et essentiel de societes politiques* Physiocrates ed Daire का सस्करण, भाग २, पृ० ५५४)।

[3] Pour avoir cet argent il faut avoir vendu ["इस मुद्रा को हासिल करने के लिए उसने ज़रूर कोई चीज बेची होगी"] (उप० पु०, पृ० ५४३)।

देखकर हम यह नहीं बता सकते कि उसका किस खास माल से विनिमय हुआ है। अपने मग रूप में सब माल एक से दिखाई देते ह। इसलिए मुद्रा कूडा हो सकती है, हालांकि कूडा मुद्रा नहीं होता। हम यह मानकर चलेंगे कि सोने के जिन दो टुकडो के एवज में हमारे बुनकर ने अपना कपडा त्याग दिया है, वे एक क्वाटर गेहू का रूपातरित रूप ह। कपडे की बिक्री, मा – मु, साथ ही उसकी खरीद, मु – मा, भी होती है। लेकिन बिक्री उस प्रक्रिया का पहला कम है, जो एक विरोधी ढग के कम से, अर्थात एक बाइबल की खरीद से, समाप्त होती है, दूसरी ओर, कपडे की खरीद उस प्रक्रिया को समाप्त करती है, जो एक विरोधी ढग के कम से, अर्थात् गेहू की बिक्री से, आरम्भ हुई थी। मा – मु (कपडा – मुद्रा), जो मा-मु – मा (कपडा – मुद्रा – बाइबल) की पहली अवस्था है, मु – मा (मुद्रा – कपडा) भी है, जो एक दूसरी प्रक्रिया की, यानी मा – मु – मा (गेहू – मुद्रा – कपडा) की अतिम अवस्था है। अतएव, किसी माल का पहला रूपातरण, यानी किसी माल का मुद्रा में परिवतन, अनिवाय रूप से सदा किसी अय माल का दूसरा रूपातरण, अर्थात उसका मुद्रा से माल में परिवतन, भी होता है।[1]

मु – मा, अथवा खरीद। माल का दूसरा और अतिम रूपान्तरण

मुद्रा चूकि अय सब मालो की रूपातरित शकल है और उनके सामाय हस्तातरण का फल होती है, इसलिए उसे बिना किसी बाधा या नियत्रण के हस्तातरित किया जा सकता है। मुद्रा सब दामो को पीछे की ओर से पढती है और इस तरह मानो अय सब मालो में अपना को प्रतिबिम्बित करती है, और वे उसे खुद अपने उपयोग मूल्य को व्यवहार में लाने के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करते ह। इसके साथ-साथ दाम, यानी जिहें मुद्रा से प्रेम निवेदन करने वाले मालो के नयन कहा जा सकता है, मुद्रा की मात्रा की ओर सकेत करके उसकी परिवतनीयता की सीमाओ को निश्चित करते ह। चूकि प्रत्येक माल मुद्रा बन जाने पर माल के रूप में गायब हो जाता है, इसलिए खुद मुद्रा को देखकर यह बताना असम्भव है कि वह अपने मालिक के हाथ में कसे पहुची है या किस वस्तु को मुद्रा में बदला गया है। उसका मूल कुछ भी हो, मुद्रा में से कभी बू नहीं आती (non olet)। वह एक तरफ एक बिके हुए माल का, तो दूसरी तरफ एक खरीदे जाने वाले माल का भी प्रतिनिधित्व करती है।[2]

---

[1] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सोने या चादी का वास्तविक उत्पादक इसका अपवाद होता है। वह अपनी पैदावार को पहले बेचता नहीं, बल्कि बिना बेचे ही उसका किसी अय माल से सीधा विनिमय कर लेता है।

[2] 'Si l argent represente dans nos mains les choses que nous pouvons desirer d acheter il y represente aussi les choses que nous avons vendues pour cet argent ["यदि हमारे हाथ मे मुद्रा उन वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करती है, जिनको हम खरीदना चाहते है, तो साथ ही वह उन वस्तुओ का भी प्रतिनिधित्व करती है, जिनको हमने इस मुद्रा को प्राप्त करने के लिए बेच डाला है"] (Mercier de la Riviere उप० पु० पृ० ५८६)।

मु–मा, जो कि खरीद है, साथ ही मा–मु, यानी बिक्री, भी होती है, एक माल का अंतिम रूपांतरण किसी और माल का पहला रूपांतरण होता है। जहा तक हमारे बुनकर का सम्बध है, उसके माल की जिदगी बाइबल के साथ खतम हो जाती है, जिसमें उसने अपने २ पौंडो को बदल डाला है। लेकिन मान लीजिये कि जिसने उसे बाइबल बेची है, वह बुनकर द्वारा मुक्त किये गये २ पौंडो को ब्राण्डी में बदल डालता है। मा–मु–मा (कपडा–मुद्रा–बाइबल) की अंतिम अवस्था मु–मा साथ ही मा–मु–मा (बाइबल–मुद्रा–ब्राण्डी) की पहली अवस्था भी है। किसी खास माल को पैदा करने वाले के पास बेचने के लिए केवल एक ही माल होता है। उसे वह अकसर बहुत बडे-बडे परिमाणो में बेचता है। लेकिन उसकी नाना प्रकार की अनेक आवश्यकताए उसे मजबूर करती हैं कि अपने माल के उसे जो दाम मिलें, या इस तरह जो रक़म मुक्त हो, उसे वह बहुत सी खरीदारियो में बाटकर खच करे। चुनाचे, एक बिक्री के फलस्वरूप विविध प्रकार की वस्तुओ की अनेक खरीदारिया होती हैं। इस प्रकार किसी एक माल के रूपांतरण की अन्तिम अवस्था अन्य मालों के प्रथम रूपांतरणो का जोड होती है।

अब यदि हम किसी एक माल के सम्पूरित रूपांतरण पर विचार करें, तो सब से पहले तो यह प्रकट होता है कि वह दो विरोधी एव पूरक प्रक्रियाओ से मिलकर बना होता है, एक मा–मु और दूसरी मु–मा। माल के ये दो परस्पर विरोधी तत्वातरण उसके मालिक के दो परस्पर विरोधी सामाजिक कृत्यो के फलस्वरूप होते हैं, और ये सामाजिक कृत्य खुद मालिक की दो आर्थिक भूमिकाओ पर अपनी अपनी छाप अंकित कर देते ह। बिक्री करने वाले व्यक्ति के रूप में वह बेचने वाला होता है, खरीद करने वाले व्यक्ति के रूप में वह खरीदार होता है। लेकिन जिस तरह किसी भी माल के इस प्रकार के तत्वातरण के समय उसके दो रूप–माल रूप और मुद्रा रूप–साथ-साथ, मगर दो विरोधी ध्रुवो पर विद्यमान होते ह, ठीक उसी प्रकार हर बेचने वाले के मुक़ाबले में एक खरीदार होता है और हर खरीदार के मुकाबले में एक बेचने वाला होता है। जिस समय कोई खास माल बारी बारी से अपने दो तत्वातरणो में से गुजरता है,–यानी जब वह पहले माल से मुद्रा में और फिर मुद्रा से किसी और माल में बदलता है,–उसी दौरान में माल के मालिक की भूमिका बेचने वाले से खरीदार की भूमिका में बदल जाती है। अतएव, बेचने वाले और खरीदार की ये भूमिकाए स्थायी नहीं होतीं, बल्कि वे मालो के परिचलन में भाग लेने वाले अनेक व्यक्तियो से बारी बारी से सम्बन्धित होती रहती ह।

किसी भी माल के सम्पूर्ण रूपांतरण के यदि सबसे सरल रूप को लिया जाये, तो उसमें चार चरमावस्थाए और नाटक के तीन पात्र (three dramatis personae) होते ह। पहले माल मुद्रा का सामना करता है, मुद्रा माल के मूल्य द्वारा धारण किया हुआ रूप होती है और अपनी ठोस और वास्तविक शकल में खरीदार की जेब में होती है। इस प्रकार माल के मालिक का मुद्रा के मालिक से सम्पर्क क़ायम हो जाता है। अब जैसे ही माल मुद्रा में बदल दिया जाता है, वैसे ही मुद्रा उसका अस्थायी सम-मूल्य रूप बन जाती है, जिस सम मूल्य रूप का उपयोग मूल्य अन्य मालो के शरीरो में पाया जाता है। पहले तत्वातरण का अंतिम चरण, यानी मुद्रा दूसरे तत्वातरण का प्रस्थान बिंदु होती है। जो व्यक्ति पहले सौदे में विक्रेता होता है, वह, इस प्रकार, दूसरे सौदे में ग्राहक बन जाता है, और

मालो का एक तीसरा मालिक विक्रेता के रूप में घटनास्थल पर आकर उपस्थित हो जाता है।[1]

किसी भी माल के रूपातरण में जो दो, एक दूसरे की उल्टी अवस्थाए शामिल होती ह, उनको यदि जोड दिया जाये, तो एक वृत्ताकार गति, अथवा एक परिपथ बन जाता है पहले माल रूप, फिर उस रूप का परित्याग और अत में फिर माल रूप में लौट जाना। इसम सन्देह नहीं कि माल यहा दो भिन भिन स्वरूपो में सामने आता है। प्रस्थान बिदु पर वह अपने मालिक के लिए उपयोग-मूल्य नहीं होता, समाप्ति विन्दु पर वह उपयोग-मूल्य होता है। इसी प्रकार मुद्रा पहली अवस्था में मूल्य के ठोस स्फटिक के रूप में सामने आती है, जिसम माल बडी उत्सुकता के साथ बदल जाता है, और दूसरी अवस्था में वह महज अस्थायी सम मूल्य के रूप में घुलकर रह जाती है, जिसका स्थान बाद में कोई उपयोग-मूल्य ले लेता है।

जिन दो रूपातरणो से मिलकर यह परिपथ तैयार होता है, वे साथ ही साथ दो अय मालो के उल्टे और आशिक रूपातरण भी होते हैं। एक ही माल (कपडा) खुद अपन रूपान्तरणो का क्रम आरम्भ करता है और साथ ही एक दूसरे माल (गेहू) के रूपातरण को पूरा भी कर देता है। पहली अवस्था में, यानी बिक्री में, कपडा ये दोनो भूमिकाए खुद अपने शरीर द्वारा सम्पन्न करता है। लेकिन उसके बाद सोने में बदल जाने पर वह अपना दूसरा और अन्तिम रूपातरण पूरा करता है और साथ ही एक तीसरे माल का पहला रूपान्तरण सम्पन्न कराने में मदद देता है। चुनाचे अपने रूपातरणो के दौरान में कोई भी माल जिस परिपथ से गुजरता है, वह अय मालो के परिपथो से इस तरह उलझा रहता है कि उसे उनस अलग नहीं किया जा सकता। तमाम अलग-अलग परिपथो का कुल जोड मालो का परिचलन कहलाता है।

मालो का परिचलन पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय (अदला-बदली) से न केवल रूप में, बल्कि सार-तत्त्व में भी भिन्न होता है। घटनाओ के क्रम पर एक नजर डाल कर देखिये, बात साफ हो जायेगी। सच पूछिये, तो बुनकर ने अपने कपडे का विनिमय बाइबल से किया है, यानी उसने अपना माल किसी और के माल से बदल लिया है। लेकिन यह बात केवल वहीं तक सच है, जहा तक खुद उसका अपना सम्बध है। जिसने बाइबल बेची है, उसे कोई ऐसी चीज चाहिए जो उसके दिल को थोडी गरमाहट पहुचा सके। जिस प्रकार हमारे बुनकर को यह मालूम नहीं था कि उसके कपडे का गेहू के साथ विनिमय हुआ है, उसी प्रकार बाइबल बेचने वाले को अपनी बाइबल का कपडे के साथ विनिमय करने का तनिक भी खयाल न था। 'क' के माल का स्थान 'ख' का माल ले लेता है। लेकिन 'क' और 'ख' खुद इन मालो का विनिमय नहीं करते। बेशक यह भी मुमकिन है कि 'क' और 'ख' एक ही समय में और एक दूसरे से खरीदारी कर डालें, पर इस प्रकार के सौदे अपवाद-स्वरूप होते ह, वे मालो के परिचलन की सामाय परिस्थितियो का अनिवार्य परिणाम कदापि नहीं होते। यहां हम एक ओर यह देखते ह कि किस प्रकार मालो का विनिमय उन तमाम स्थानीय एव व्यक्तिगत

---

[1] "Il y a donc quatre termes et trois cotractants dont l'un intervient deux fois ["अतएव, इसम चार चरमावस्थाए और सौदा करने वाले तीन पक्ष होते हैं जिनम से एक पक्ष दो बार हस्तक्षेप करता है"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ६०६)।

बधनो को तोड डालता है, जो प्रत्यक्ष विनिमय के साथ अनिवार्य रूप से जुडे होते ह, और सामाजिक श्रम की पैदावार के परिचलन को विकसित करता है, और दूसरी ओर हम यहा यह देखते ह कि किस प्रकार माला का विनिमय ऐसे सामाजिक सम्बधो का एक पूरा जाल तैयार कर डालता है, जो स्वयस्फूर्त ढग से विकसित होते हैं और नाटक के पात्रो के नियत्रण से सवथा स्वतत्र रहते ह। क्योकि किसान ने अपना गेहू बेच डाला है, इसीलिए बुनकर अपना कपडा बेच पाता है, हमारा यह ब्राण्डी प्रेमी यदि अपनी बाइबल बेच पाता है, तो केवल इसीलिये कि बुनकर ने अपना कपडा बेच डाला है, और शराब बनाने वाला यदि अपनी जीवन-दायिनी सुरा बेच पाता है, तो केवल इसीलिये कि हमारे ब्राण्डी प्रेमी ने अपनी अमरत्व-दायिनी पुस्तक (eau-de-vie) बेच डाली है, और इसी तरह क्रम आगे बढ़ता जाता है।

अतएव, परिचलन की प्रक्रिया, पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय की तरह, उपयोग-मूल्यों के स्थानातरित और हस्तातरित होने पर समाप्त नहीं हो जाती। किसी एक माल के रूपातरण के परिपथ से बाहर निकल जाने पर मुद्रा गायब नहीं हो जाती। उसका तो लगातार परिचलन के क्षेत्र के उन नये स्थानो में अवक्षेपण होता रहता है, जिनको दूसरे माल खाली कर जाते ह। मिसाल के लिए, कपडे के सम्पूर्ण रूपातरण में, यानी कपडा – मुद्रा – बाइबल में, पहले कपडा परिचलन से बाहर चला जाता है और उसका स्थान मुद्रा ले लेती है, फिर बाइबल परिचलन के बाहर चली जाती है और एक बार फिर मुद्रा उसका स्थान ले लेती है। जब कोई माल किसी दूसरे माल का स्थान ले लेता है, तो मुद्रा-माल सदा किसी तीसरे व्यक्ति के हाथो में बना रहता है।[1] परिचलन के प्रत्येक रध्र से मुद्रा पसीने की तरह बाहर निकलती रहती है।

कठमुल्लों के इस सूत्र से अधिक बचकानी बात और कोई नहीं हो सकती कि हर बिक्री क्योंकि खरीद होती है और हर खरीद बिक्री होती है, इसलिए मालो के परिचलन का लाजिमी तौर पर यह मतलब है कि बिक्रियो और खरीदारियो का सदा सतुलन रहता है। यदि इस सूत्र का यह अथ है कि वास्तव में जितनी बिक्रिया होती ह, उनकी सख्या सदा खरीदारियो की सख्या के बराबर रहती है, तो यह केवल एक पुनरुक्ति है। किन्तु इस सूत्र का वास्तविक उद्देश्य तो यह सिद्ध करना है कि हर बेचने वाला अपने खरीदार को साथ लेकर मण्डी में आता है। ऐसा कुछ नहीं होता। माल के मालिक और मुद्रा के मालिक के बीच, यानी दो ऐसे व्यक्तियो के बीच, जो एक दूसरे के वैसे ही विरोधी होते हैं, जसे मकनातीस के दो ध्रुव, बिक्री करना और खरीदना दोनो एक ही काय – यानी विनिमय – होते ह। जब अकेला एक ही व्यक्ति बेचता भी है और खरीदता भी है, तब वे दो अलग अलग काय होते ह, जिनका स्वरूप दो ध्रुवो की भाति एक दूसरे का विरोधी होता है। अतएव बिक्री और खरीद के एकाकार होने का मतलब यह है कि माल यदि परिचलन के कीमियाई भभके में डाले जाने पर मुद्रा के रूप में फिर बाहर नहीं निकल आता, – दूसरे शब्दो में, यदि माल का मालिक उसे बेच नहीं पाता और इसलिये यदि मुद्रा का मालिक उसे खरीद नहीं पाता, – तो माल बेकार होता है। बिक्री और खरीद के एकाकार होने का, इसके अलावा, यह भी मतलब है कि यदि विनिमय हो जाता है, तो वह माल के जीवन में विश्राम का क्षण या अवकाश का दीर्घ अथवा अल्प

[1] यह बात स्वत स्पष्ट भले ही हो, पर फिर भी अथशास्त्री और विशेष कर स्वतत्र व्यापार के अधकचरे समथक (Free trader Vulgaris) उसे प्राय अनदेखा कर जाते हैं।

काल होता है। किसी भी माल का पहला रूपान्तरण चूंकि एक साथ बिक्री और खरीद दोनों होता है, इसलिये वह अपने में एक स्वतंत्र क्रिया होता है। खरीदार के पास अब माल होता है, बेचने वाले के पास मुद्रा, अर्थात उसके पास एक ऐसा माल होता है, जो किसी भी क्षण परिचलन में प्रवेश करने को तैयार है। जब तक कि कोई दूसरा आदमी खरीदता नहीं, तब तक कोई नहीं बेच सकता। लेकिन सिर्फ इसलिये कि किसी आदमी ने अभी-अभी कोई चीज बेची है, उसके लिये यह जरूरी नहीं हो जाता कि वह फौरन कुछ खरीद भी डाले। प्रत्यक्ष विनिमय समय, स्थान और व्यक्तियों के जितने बंधन लागू करता है, परिचलन उन सब को तोड़ डालता है। यह काम वह प्रत्यक्ष विनिमय के अंतर्गत अपनी पैदावार को हस्तांतरित करने और किसी और व्यक्ति की पैदावार को प्राप्त करने के बीच जो प्रत्यक्ष एकात्म्य होता है, उसे भंग करके तथा एक बिक्री और एक खरीद के परस्पर विरोधी स्वरूप में बदलकर सम्पन्न करता है। यह कहना कि इन दो स्वतंत्र और परस्पर विरोधी कार्यों के बीच एक आन्तरिक एकता होती है और वे बुनियादी तौर पर एक होते हैं, – यह तो यह कहने के समान है कि यह आंतरिक एकता एक बाहरी विरोध में व्यक्त होती है। यदि किसी माल के सम्पूर्ण रूपान्तरण की दो पूरक अवस्थाओं के बीच के समय का अंतर बहुत लम्बा हो जाता है, यानी यदि बिक्री और खरीद का सम्बद्ध विच्छेद बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है, तो उनके बीच पाये जाने वाला अंतरंग सम्बंध, उनकी एकता संकट पैदा करके अपनी सत्ता का प्रमाण करती है। उपयोग मूल्य और मूल्य का विरोध, यह विरोध कि निजी श्रम को लाजिमी तौर पर प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम की तरह प्रकट होना पड़ता है और श्रम के एक विशिष्ट, मूर्त प्रकार को अमूर्त मानव श्रम के रूप में सामने आना पड़ता है, यह विरोध कि वस्तुओं का *व्यक्तिकरण हो जाना और वस्तुओं द्वारा व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व* – ये सारे विरोध और व्यतिक्रम, जो मालों में निहित होते हैं, माल के रूपान्तरण की परस्पर विरोधी अवस्थाओं में अपना जोर दिखाते हैं और अपनी गति के रूपों को विकसित करते हैं। अतएव, इन रूपों का अर्थ संकट की संभावना है, और संकट की संभावना से अधिक उनका कुछ अर्थ नहीं है। जो मात्र सम्भावना है, वह वास्तविकता बनती है कुछ ऐसे सम्बंधों के एक लम्बे क्रम के फलस्वरूप, जिनका मालों के साधारण परिचलन के हमारे वर्तमान दृष्टिकोण में अभी कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

---

[1] "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') में पृ० ७४-७६ पर जेम्स मिल के सम्बंध में मेरी टिप्पणियों को देखिये। जहां तक इस विषय का ताल्लुक है, वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की सफाई पेश करने वाला अर्थशास्त्र खास तौर पर दो तरीके इस्तेमाल करता है। एक तो वह मालों के परिचलन और पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय के अंतर को अनदेखा करके दोनों को एक में मिला देता है। दूसरे, वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में लगे हुए व्यक्तियों के सम्बंधों को मालों के परिचलन से पैदा होने वाले सरल सम्बंधों में परिणत करके पूंजीवादी उत्पादन के विरोधों को रफा-दफा कर देता है। लेकिन मालों का उत्पादन और परिचलन ऐसी बातें हैं, जो न्यूनाधिक रूप से बहुत ही भिन्न प्रकार की उत्पादन प्रणालियों में पायी जाती हैं। यदि हम उत्पादन की इन सभी प्रणालियों में समान रूप से पायी जाने वाली परिचलन की इन अमूर्त परिकल्पनाओं के सिवा और किसी चीज से परिचित नहीं हैं, तो सम्भवतः हम यह कतई नहीं जान सकते कि इन

ख) मुद्रा का चलन

श्रम की भौतिक पदावार का परिचलन रूप-परिवतन मा–मु–मा के द्वारा सम्पन्न होता है। इस रूप-परिवर्तन के लिये आवश्यक होता है कि एक निश्चित मूल्य एक माल के रूप में क्रिया को आरम्भ करे और माल के रूप में ही उसे समाप्त कर दे। चुनाचे माल की गति एक परिपथ में होती है। दूसरी ओर, इस गति का रूप ऐसा है कि वह मुद्रा को पूरे परिपथ में से नहीं गुजरने देता। परिणाम यह होता है कि मुद्रा वापिस नहीं लौटती, बल्कि अपने प्रस्थान बिदु से बराबर अधिकाधिक दूर होती जाती है। जब तक बेचन वाला अपनी मुद्रा से चिपका रहता है, जो कि उसके माल की बदली हुई शकल होती है, तब तक वह माल अपने रूपातरण की पहली अवस्था में ही रहता है और रूपातरण के केवल आधे भाग को ही पूरा कर पाता है। लेकिन विक्रेता जैसे ही इस प्रक्रिया को पूरा कर देता है, जसे ही वह अपनी बिक्री के अनुपूरक के रूप में खरीद भी कर डालता है, वसे ही मुद्रा अपने मालिक के हाथ से फिर निकल जाती है। यह सच है कि यदि बाइबल खरीदने के बाद बुनकर थोडा और कपडा बेच डालता है, तो मुद्रा उसके हाथो में लौट आती है। लेकिन उसका यह लौट आना पहले २० गज कपडे के परिचलन के कारण नहीं होता, उस परिचलन का तो यह नतीजा निकला था कि मुद्रा बाइबल बेचने वाले के हाथो में पहुँच गयी थी। बुनकर के हाथो में मुद्रा केवल उस वक्त लौटती है, जब नये माल को लेकर परिचलन की क्रिया को दोहराया जाता है या उसका नवीकरण किया जाता है, और यह दोहरायी हुई क्रिया भी उसी नतीजे के साथ समाप्त हो जाती है, जिस नतीजे के साथ उसकी पूवगामी क्रिया समाप्त हो गयी थी। अतएव, मालो का परिचलन प्रत्यक्ष ढगो से मुद्रा में जिस गति का सचार करता है, वह एक ऐसी अनवरत गति होती है, जिसके द्वारा मुद्रा अपने प्रस्थान बिदु से अधिकाधिक दूर हटती जाती है और जिसके दौरान में वह माल के एक मालिक के हाथ से दूसरे मालिक के हाथ में घूमती रहती है। गति के इस पथ को मुद्रा का चलन (cours de la monnaie) कहते हैं।

मुद्रा के चलन में एक ही क्रिया लगातार एक ही नीरस ढग से दोहरायी जाती है। माल हमेशा विक्रेता के हाथ में रहता है, मुद्रा, खरीदने के साधन के रूप में, सदा ग्राहक के हाथ में रहती है। मुद्रा माल के दाम को वास्तविक रूप प्रदान करके सदा खरीदने के साधन का काम करती है। दाम के वास्तविक रूप प्राप्त करने के फलस्वरूप माल विक्रेता के पास से ग्राहक के पास पहुँच जाता है और मुद्रा ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में पहुच जाती है, जहा किसी और माल के साथ वह फिर उसी प्रक्रिया में से गुजरती है। इस तथ्य पर सदा पर्दा पड जाता है कि मुद्रा की गति का यह एकमुखी स्वरूप माल की गति के दोमुखी स्वरूप से उत्पन्न होता है। मालो के परिचलन की [illegible] है कि देखने में बात इसकी उल्टी मालूम होती है। किसी भी माल का [illegible] ऊपर से देखने में न सिर्फ मुद्रा की ही, बल्कि खुद माल की हरकत भी [illegible] होता है, दूसरे

प्रणालियो मे किन खास-खास बातो का अतर है, और न [illegible] दे सकते हैं। बहुत ही घिसे पिटे सत्यो को लेकर जैसा [illegible] में [illegible] जाता है, वैसा और किसी विज्ञान मे नही। उदाहरण [illegible] मालूम है कि माल पैदावार होती है, इसलिए वह [illegible] विज्ञान [illegible]

रूपान्तरण में, इसके विपरीत, अकेली मुद्रा ही हरकत करती मालूम होती है। अपने परिचलन की पहली अवस्था में माल मुद्रा से स्थान परिवर्तन करता है। तब वह, एक उपयोगी वस्तु के रूप में, परिचलन से बाहर निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है।[1] उसके बदले म हमारे पास उसका मूल्य रूप, यानी मुद्रा रह जाती है। उसके बाद वह अपने स्वाभाविक रूप में नहीं, बल्कि मुद्रा के रूप में अपने परिचलन की दूसरी अवस्था में से गुजरता है। इसलिये गति की निरन्तरता को केवल मुद्रा ही क़ायम रखती है। यही गति, जो, जहा तक माल का सम्बध है, दो परस्पर विरोधी ढग की प्रक्रियाओं का जोड होती है, जब उसपर मुद्रा की गति के रूप में विचार किया जाता है, तब केवल एक ही गति होती है, जिसमें मुद्रा नित नये मालो के साथ स्थान परिवर्तन करती रहती है। अतएव, मालो के परिचलन का जो परिणाम होता है,—यानी एक माल द्वारा दूसरे माल का स्थान लेना,—वह ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिससे मालूम पडता है कि यह मालो के रूप में परिवर्तन हो जाने का नतीजा नहीं है, बल्कि यह परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा के कार्य का परिणाम है, और वह ऐसा कार्य है, जो ऊपर से देखने में सर्वथा गतिहीन मालूम होने वाले मालो का परिचलन करता है और जिन हाथो में वे गैर उपयोग मूल्य होते ह, उनसे उनको निकालकर उन हाथों में पहुचाता है, जिनमें वे उपयोग-मूल्य होते ह, और सो भी उस दिशा में, जो सदा मुद्रा की गति की उल्टी दिशा होती है। मुद्रा लगातार मालो को परिचलन के बाहर निकालती और खुद उनका स्थान ग्रहण करती जाती है, इस तरह वह लगातार अपने प्रस्थान बिंदु से अधिकाधिक दूर हटती जाती है। इसलिये, मुद्रा की गति यद्यपि केवल मालो के परिचलन का ही अभिव्यजना होती है, फिर भी इसकी उल्टी बात ही सत्य प्रतीत होती है और लगता है कि मालो का परिचलन मुद्रा की गति का परिणाम है।[2]

इसके अलावा, मुद्रा केवल इसीलिये परिचलन के माध्यम का काम करती है कि उसके रूप में मालो के मूल्य स्वतत्र वास्तविकता प्राप्त कर लेते ह, अतएव, परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा की गति वास्तव में केवल मालो की ही गति होती है, जिसके दौरान में उनके रूप बदलते जाते ह। इसलिये मुद्रा के चलन में यह तथ्य साफ-साफ दिखाई देना चाहिये। चुनाचे,[3] मिसाल के तौर पर, कपडा सबसे पहले अपने माल-स्वरूप को अपने मुद्रा रूप में बदल डालता है। उसके पहले रूपान्तरण मा—मु का दूसरा पद, यानी मुद्रा रूप, तब उसके अन्तिम रूपान्तरण मु—मा का पहला पद बन जाता है, जब कि वह फिर बाइबल में बदल जाता है।

---

[1] जहा माल बार-बार बेचा जाता है,—और ऐसी समस्या का फिलहाल हमारे लिये कोई अस्तित्व नही है,—वहा पर भी जब वह आखिरी बार बेच दिया जाता है, तब वह परिचलन के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र मे चला जाता है, जहा वह या तो जीवन निर्वाह के साधन की तरह, या उत्पादन के साधन की तरह काम मे आता है।

[2] Il (l argent) n a d autre mouvement que celui qui lui est imprime par les productions ['उस (मुद्रा) की उस गति के सिवा और कोई गति नही होती, जो श्रम स उत्पन्न वस्तुए उसमें पैदा कर दती हैं'] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ८८५)।

[3] यहा पर ("चुनाचे, मिसाल के तौर पर " से लेकर "गुये हुए होने का भी प्रतिबिम्ब है" तक) अग्रेजी (अत हिन्दी) पाठ चौथे जर्मन सस्करण के अनुसार बदल दिया गया है।—सम्पा०

लेकिन रूप के ये दोनो परिवतन माल और मुद्रा के विनिमय, उनके पारस्परिक स्थान परिवतन के फलस्वरूप होते हैं। वे ही सिक्के, जो बेचने वाले के हाथ में माल के हस्तातरित रूप की तरह आते ह, वे उसके हाथ से माल के सवथा हस्तातरनीय रूप की तरह जाते ह। वे दो बार स्थानातरित होते ह। कपडे का पहला रूपातरण इन सिक्को को बुनकर की जेब में डाल देता है, दूसरा रूपान्तरण उनको उसकी जेब से निकाल लेता है। एक ही माल दो बार जिन परम्पर उल्टे परिवतनो में से गुजरता है, वे इस बात में प्रतिबिम्बित होते ह कि वे ही सिक्के दो बार, मगर उल्टी दिशाओ में स्थानातरित हो जाते ह।

इसके विपरीत, यदि रूपातरण की केवल एक अवस्था ही पूरी होती है, यानी अगर या तो केवल विक्रय या केवल क्रय ही होता है, तो मुद्रा का एक खास सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है। उसका दूसरी बार अपने स्थान को बदलना सदा माल के दूसरे रूपातरण को व्यक्त करता है, जब कि उसके मुद्रा-रूप का परिवतन फिर से होता है। उन्हीं सिक्को का बार-बार अपना स्थान बदलना न केवल उन असख्य रूपातरणो के क्रम का प्रतिबिम्ब है, जिनमें से एक अकेला माल गुजर चुका है, बल्कि वह आम तौर पर मालो की दुनिया में होने वाले असख्य रूपातरणो के एक दूसरे के साथ गुथे हुए होने का भी प्रतिबिम्ब है। यह बात स्वत स्पष्ट है कि यह सब केवल मालो के साधारण परिचलन पर ही लागू होता है, और अभी हम केवल इसी रूप पर विचार कर रहे ह।

प्रत्येक माल, जब वह पहली बार परिचलन में प्रवेश करता है और उसका प्रथम रूप-परिवतन होता है, तो केवल फिर परिचलन के बाहर जाने के लिये ही ऐसा करता है, और उसका स्थान दूसरे माल ले लेते हैं। इसके विपरीत, मुद्रा, परिचलन के माध्यम के रूप में, लगातार परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही रहती है और उसी में चक्कर काटती रहती है। इसलिये सवाल यह उठता है कि यह क्षेत्र लगातार कितनी मुद्रा हजम करता जाता है?

किसी भी देश में हर रोज एक ही समय पर, लेकिन अलग-अलग जगहो में मालो के बहुत से एकागी रूपातरण होते रहते ह, यानी, दूसरे शब्दो में, बहुत से क्रय और विक्रय होते रहते हैं। मालो का उनके दामो के द्वारा पहले से ही मुद्रा की निश्चित मात्राओ के साथ कल्पना में समीकरण कर लिया जाता है। और चूकि परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे ह, उसमें मुद्रा और माल सदा शारीरिक रूप में आमने-सामने आकर खडे होते ह, और एक क्रय के सकारात्मक ध्रुव पर खडा हो जाता है और दूसरा विक्रय के नकारात्मक ध्रुव पर, इसलिये यह बात साफ है कि परिचलन के माध्यम की आवश्यक मात्रा पहले से ही इस बात से निश्चित हो जाती है कि इन सब मालो के दामो को जोडने पर कुल कितनी रकम बठती है। सच पूछिये, तो मुद्रा असल में सोने की उस मात्रा या रकम का प्रतिनिधित्व करती है, जो मालो के दामो के कुल जोड के द्वारा पहले से ही भावगत ढग से अभिव्यक्त हो चुकी है। इसलिये इन दो रकमो की समानता स्वत स्पष्ट है। किन्तु हम यह जानते ह कि मालो के मूल्यों के स्थिर रहने पर उनके दाम सोने के (मुद्रा के पदाथ के) मूल्य-परिवर्तन के साथ घटते-बढते रहते हैं। सोने का मूल्य जितना गिरता है, मालो के दाम उसी अनुपात में चढ जाते हैं, वह जितना चढता है, मालो के दाम उसी अनुपात में गिर जाते ह, अब यदि सोने के मूल्य में इस तरह के चढाव या गिराव के फलस्वरूप मालो के दाम गिरते या चढते ह, तो धातू मुद्रा की मात्रा भी उसी हद तक कम हो जाती है या बढ जाती है। यह सच है कि इस सूरत में स्वय मुद्रा के कारण ही

चालू माध्यम की मात्रा में परिवर्तन होता है। परन्तु यह परिवर्तन परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा जो काम करती है, उसके कारण नहीं होता, बल्कि वह मूल्य की माप के रूप में जो काम करती है, उसके कारण यह परिवर्तन होता है। मालो का दाम पहले मुद्रा के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है, और फिर परिचलन के माध्यम की मात्रा मालों के दामो के प्रत्यक्ष अनुपात में घटती बढती है। ठीक यही बात उस सूरत में भी होगी, यदि मिसाल के लिये सोने का मूल्य गिरने के बजाय मूल्य की माप के रूप में उसका स्थान चादी ले ले, या यदि चादी का मूल्य चढ़ने के बजाय सोना चादी को मूल्य की माप के पद से हटा दे। एक सूरत में यह होगा कि पहले जितना सोना चालू था, उससे ज्यादा चादी चालू हो जायेगी, दूसरी सूरत में यह होगा कि पहले जितनी चादी चालू थी, उससे कम सोना चालू हो जायेगा। हर सूरत में मुद्रा के पदार्थ का मूल्य, यानी उस माल का मूल्य, जो मूल्य की माप का काम करता है, थोडा-बहुत बदल जायेगा, और चुनाचे मालो के मूल्यो को मुद्रा के रूप में व्यक्त करने वाले उनके दाम भी बदल जायेंगे, और इसलिये इन दामो को मूर्त रूप देना जिसका काम है, उस चालू मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन हो जायेगा। हम यह पहले ही देख चुके है कि परिचलन के क्षेत्र में एक सूराख होता है, जिसके जरिये सोना (या आम तौर पर मुद्रा का पदार्थ) एक निश्चित मूल्य के माल के रूप में इस क्षेत्र में घुस आता है। अतएव, जब मुद्रा मूल्य की माप के रूप में अपने कामो को पूरा करना शुरू करती है, यानी जब वह दामो को व्यक्त करना शुरू करती है, तब उसका मूल्य पहले से ही निश्चित होता है। अब यदि उसका मूल्य गिर जाये, तो इसका प्रभाव सब से पहले तो बहुमूल्य धातुओ के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन मालो का प्रत्यक्ष विनिमय होता है, उन मालो के दामो के परिवर्तन के रूप में दिखाई देता है। बाकी सभी मालो के अधिकाश के मूल्य का अनुमान अब भी बहुत दिनो तक मूल्य की माप के भूतपूर्व, पुराने और काल्पनिक मूल्य के द्वारा ही लगाया जाता रहेगा। अविकसित पूजीवादी समाजो में तो खास तौर पर ऐसा होता रहेगा। फिर भी मालो के सामूहिक मूल्य-सम्बध के द्वारा एक माल से दूसरे माल को छूत लगती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उनके दाम, वे चाहे सोने के रूप में अभिव्यक्त होते हो और चाहे चादी के रूप में, धीरे-धीरे उनके तुलनात्मक मूल्यो द्वारा निर्धारित अनुपातो के स्तर पर आ जाते हैं, यहा तक कि सभी मालो के मूल्यो का मुद्रा का काम करने वाली धातु के नये मूल्य के रूप में अनुमान लगाया जाने लगता है। इस क्रिया के साथ साथ बहुमूल्य धातुओ की मात्रा में लगातार वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि इस कारण होती है कि बहुमूल्य धातुओ के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन वस्तुओ की सीधी अदला-बदली होती है, उनका स्थान लेने के लिये बहुमूल्य धातुए धारा प्रवाह की तरह आती जाती है। अतएव, जिस अनुपात में माल आम तौर पर अपने सच्चे दाम प्राप्त कर लेते है, यानी जिस अनुपात में उनके मूल्यो का बहुमूल्य धातु के गिरे हुए मूल्य के द्वारा अनुमान लगाया जाने लगता है, उसी अनुपात में इन नये दामों को मूर्त रूप देने के लिये आवश्यक बहुमूल्य धातु की भी पहले से ही व्यवस्था कर दी जाती है। सोने और चादी के नये भण्डारो का पता लगने पर जो परिणाम देखने में आये, उनको एकागी ढग से देखने के कारण १७ वीं और खास तौर पर १८ वीं सदी में कुछ अर्थशास्त्री इस गलत नतीजे पर पहुच गये कि मालो के दाम इसलिये बढ़ गये है कि अब सोने और चांदी की पहले से ज्यादा मात्रा परिचलन के माध्यम का काम करने लगी है। आगे हम

सोने का मूल्य स्थिर मान कर चलेंगे, जब कभी हम किसी माल के दाम का अनुमान लगाते हैं, तब क्षणिक रूप से सोने का मूल्य सचमुच स्थिर होता भी है।

अतएव, यदि यह मानकर चला जाये कि सोने का मूल्य स्थिर है, तो परिचलन के माध्यम की मात्रा उन दामो के जोड से निर्धारित होती है जिनको मूत रूप देना होता है। अब यदि हम यह और मान लें कि हर माल का दाम पहले से निश्चित है, तो दामो का जोड स्पष्टतया इस बात पर निभर करता है कि परिचलन में कितने माल भाग ले रहे ह। यह समझने के लिये दिमाग़ पर बहुत ज्यादा ज़ोर डालने की आवश्यकता नहीं है कि यदि एक क्वाटर गेहू की कीमत २ पौण्ड है, तो १०० क्वाटर गेहू की कीमत २०० पौण्ड होगी और २०० क्वाटर गेहू की ४०० पौण्ड होगी, और इसी तरह आगे भी, और चुनाचे गेहू के बिकने पर जो मुद्रा उसका स्थान लेती है, उसकी मात्रा गेहू की मात्रा की वृद्धि के साथ बढती जायेगी।

यदि मालो की मात्रा स्थिर रहती है, तो चालू मुद्रा की मात्रा इन मालो के दामो के उतार चढाव के अनुसार बदलेगी। दाम में परिवतन होने के परिणामस्वरूप दामो का कुल जोड घट-बढ़ जायेगा, और उसके अनुसार चालू मुद्रा की मात्रा भी घट-बढ जायेगी। यह असर पैदा करने के लिये यह कदापि ज़रूरी नहीं है कि तमाम मालो के दाम एक साथ बढें या एक साथ घट जायें। कुछ प्रमुख वस्तुओ के दामो में उतार या चढ़ाव इसके लिये काफी है कि सभी मालो के दामो का जोड एक सूरत में बढ जाये और दूसरी सूरत में घट जाये और उसके फलस्वरूप पहले से ज्यादा या कम मुद्रा परिचलन में आ जाये। दाम में होने वाला परिवतन चाहे मालो के मूल्य में होने वाले किसी वास्तविक परिवर्तन के अनुरूप हो और चाहे वह महज़ बाज़ार भाव के उतार चढाव का नतीजा हो, परिचलन के माध्यम की मात्रा पर उसका एक सा प्रभाव होता है।

मान लीजिये कि भिन भिन स्थानो म निम्नलिखित वस्तुए एक साथ बेच दी जाती ह, या यू कहिये कि उनका आशिक रूपा तरण हो जाता है एक क्वाटर गेहू, २० गज कपडा, एक बाइबल और ४ गलन ब्राडी। यदि प्रत्येक वस्तु का दाम २ पौण्ड है और चुनाचे जिन दामो को मूर्त्त रूप दिया जाता है, उनका जोड ८ पौण्ड है, तो ज़ाहिर है कि मुद्रा के रूप में ८ पौण्ड को परिचलन में आ जाना चाहिये। दूसरी तरफ मान लीजिये कि ये ही वस्तुए रूपा तरणो की इस शृखला की कडिया हैं १ क्वाटर गेहू – २ पौण्ड – २० गज़ कपडा – २ पौण्ड – १ बाइबल – २ पौण्ड – ४ गलन ब्राडी – २ पौण्ड। इस शृखला से हम पहले से परिचित हैं। इस सूरत में २ पौण्ड एक के बाद दूसरे माल का परिचलन करते जायेंगे और एक के बाद दूसरे माल के दाम को मूत्त रूप देने और इसलिये उनके दामो के कुल जोड – ८ पौण्ड – को मूत्त रूप देने के बाद वे शराब बनाने वाले की जेब में पहुचकर विश्राम करने लगेंगे। ये दो पौण्ड इस तरह चार बार गतिमान होते ह। मुद्रा के उन्हीं दो टुकडो का यह बार-बार होने वाला स्थानातरण मालो के दोहरे रूप परिवतन के अनुरूप होता है, वह मालो की उल्टी दिशाओ में चलने वाली उस गति के अनुरूप होता है, जो परिचलन की दो अवस्थाओ में से गुज़रती है, और वह विभिन मालो के रूपा तरणो के आपस में गुथे हुए होने के अनुरूप होता है।[1]

---

[1] 'Ce sont les productions qui le (l'argent) mettent en mouvement et le font circuler La celerite de son mouvement (sc de l argent) supplee a sa qu antite Lorsqu il en est besoin, il ne fait que glisser d'une main dans l'autre

ये परस्पर विरोधी और पूरक अवस्थाएं, जिनके जोड से रूपातरण की क्रिया बनती है, एक साथ नहीं, बल्कि एक के बाद एक के क्रम में आती हैं। चुनाचे क्रम को पूरा करने के लिये समय की आवश्यकता होती है। इसलिये मुद्रा के चलन का वेग इस बात से मापा जाता है कि किसी निश्चित समय में मुद्रा का कोई खास टुकडा या सिक्का कितनी बार गतिमान होता है। मान लीजिये कि ४ वस्तुओ के परिचलन में एक दिन लग जाता है। दिन भर म जिन दामो को मूर्त्त रूप दिया जाना है, उनका जोड ८ पौण्ड है, मुद्रा के दो टुकडे ४ बार गतिमान होते ह और परिचलन में भाग लेने वाली मुद्रा की मात्रा २ पौण्ड है। चुनाचे परिचलन की क्रिया के दौरान में एक निश्चित काल में निम्नलिखित सम्बध हमारे सामने आता है चालू माध्यम का काम करने वाली मुद्रा की मात्रा उस रकम के बराबर होती है, जो माला के दामो के जोड को एक ही अभिधान के सिक्को के गतिमान होने की सख्या से भाग देने पर मिलती है। यह नियम सामान्य रूप से लागू होता है।

किसी खास देश में एक निश्चित समय के भीतर माला के कुल परिचलन में एक ओर तो वे अनेक अलग अलग और एक साथ होने वाले आशिक परिवर्तन शामिल होते ह, जो विक्रय भी होते ह और साथ ही क्रय भी और जिनमें प्रत्येक सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है, या केवल एक बार गतिमान होता है, और, दूसरी ओर, उसमें रूपातरणों के वे अलग अलग क्रम शामिल होते ह, जो कुछ हद तक साथ साथ चलते हैं और कुछ हद तक आपस में गुथ जाते हैं और जिनमें प्रत्येक सिक्का कई-कई बार गतिमान होता है, और गतिमान होने की सख्या परिस्थितियो के अनुसार कम या ज्यादा होती है। यदि एक अभिधान के चालू सिक्को के गतिमान होने की कुछ सख्या मालूम हो, तो हम यह पता लगा सकते ह कि उस अभिधान का एक सिक्का औसतन कितनी बार गतिमान होता है, या यू कहिये कि हम मुद्रा के चलन के औसत वेग का पता लगा सकते हैं। प्रत्येक दिन के शुरू में कितनी मुद्रा परिचलन में डाली जाती है, यह, जाहिर है, इस बात से निर्धारित होता है कि परिचलन में साथ-साथ भाग लेने वाले तमाम मालो के दामो का कुल जोड क्या है। लेकिन एक बार परिचलन में आ जाने पर सिक्के मानो एक दूसरे के लिये जिम्मेदार बना दिये जाते ह। यदि एक सिक्का अपना वेग बढा देता है, तो दूसरा या तो अपना वेग कम कर देता है और या परिचलन के एकदम बाहर चला जाता है। कारण कि परिचलन में सोने की केवल उतनी ही मात्रा खप सकती है, जो एक अकेले सिक्के, अथवा तत्त्व, के गतिमान होने की औसत सख्या से गुना करने पर उन दामो के जोड के बराबर होती है, जिनको मूर्त रूप दिया जाना है। चुनाचे यदि अलग अलग सिक्को के गतिमान होने की सख्या बढ जाती है, तो परिचलन में भाग लेने वाले सिक्को की कुल सख्या घट जाती है। यदि गतिमान होने की सख्या कम हो जाती है, तो सिक्को की कुल सख्या बढ़ जाती है। चूंकि चलन के एक खास औसत वेग के रहते हुए यह निश्चित होता है कि परिचलन में मुद्रा की कितनी मात्रा खपेगी, इसलिये सावरन नामक

---

sans s arreter un instant ["श्रम से उत्पन्न वस्तुएं उस (मुद्रा) मे गति का सचार करती हैं और उसे एक हाथ से दूसरे हाथ मे घुमाती हैं उस (मुद्रा) की गति की तेजी उसकी मात्रा की कमी को पूरा कर सकती है। आवश्यकता होने पर वह एक क्षण के लिये भी कही नहीं रुकती और बराबर एक हाथ से दूसरे हाथ मे घूमती जाती है।"] (Le Trosne उप० पु० पृ० ६१५, ६१६।)

स्वण सिक्को की एक निश्चित सख्या को परिचलन से अलग करने के लिये केवल इतना करना ही काफी है कि एक एक पौण्ड के नोट उसी सख्या में परिचलन में डाल दिये जायें। सभी बकर यह तरकीब अच्छी तरह जानते है।

जिस प्रकार सामान्य रूप में मुद्रा का चलन मालो के परिचलन का—या मालो को जिन परस्पर विरोधी रूपान्तरणो में से गुजरना पडता है, उनका—प्रतिबिम्ब मात्र होता है, उसी प्रकार मुद्रा के चलन का वेग मालो के रूप परिवतन की तेजी का प्रतिबिम्ब होता है, वह रूपान्तरणो के एक क्रम के दूसरे क्रम के साथ लगातार गुथे रहने का, पदाथ के जल्दी जल्दी होने वाले सामाजिक विनिमय का, परिचलन के क्षेत्र से मालो के शीघ्रता के साथ गायब हो जाने और उतनी ही शीघ्रता के साथ उनके स्थान पर नये मालो के आ जाने का प्रतिबिम्ब होता है। अतएव, चलन के वेग में हम परस्पर विरोधी एव पूरक अवस्थाओ की प्रवाहमान एकता—मालो के उपयोगी स्वरूप के उनके मूल्य-स्वरूप में बदले जाने और उनके मूल्य-स्वरूप के फिर से उपयोगी स्वरूप में बदले जाने की एकता, या यू कहिये कि उसमें हम विक्रय और क्रय की दो क्रियाओ की एकता—को देखते है। दूसरी ओर, चलन का धीमा पड जाना इस बात का प्रतिबिम्ब होता है कि ये दोनो क्रियाए परस्पर विरोधी अवस्थाओ में अलग अलग बट गयी है, वह रूप के परिवर्तन में और इसलिये पदाथ के सामाजिक विनिमय में ठहराव आ जाने का प्रतिबिम्ब होता है। खुद परिचलन से, ज़ाहिर है, इसका कोई पता नहीं चलता कि यह ठहराव क्यो आ गया है। उससे तो केवल इस घटना का प्रमाण मिलता है। साधारण जनता मुद्रा के चलन के धीमे पडने के साथ-साथ यह देखती है कि परिचलन के परिपथ पर मुद्रा पहले की अपेक्षा कम जल्दी जल्दी प्रकट होती है और गायब होती है, और इसलिये वह स्वभावतया यह समझती है कि चलन का वेग चालू माध्यम की मात्रा में कमी आ जाने के कारण धीमा पड गया है।[1]

---

[1] "मुद्रा चूकि खरीदने और बेचने की सामान्य रूप से माप है, इसलिये हर वह आदमी, जिसके पास बेचने के लिये कोई चीज़ है और जिसे अपनी चीज़ बेचने के लिय ग्राहक नही मिलते, वह शीघ्र ही यह सोचने लगता है कि राज्य मे अथवा देश मे मुद्रा की कमी हो गयी है जिसके कारण उसका सामान नही बिक पा रहा है, और चुनाचे सब मुद्रा की कमी को रोना शुरू कर देते है, जो कि बहुत बडी गलती है ये लोग, जो मुद्रा के लिये चीख रहे है, ये क्या चाहते है? काश्तकार शिकायत करता है उसका खयाल है कि यदि देश मे थोडी और मुद्रा होती, तो उसके सामान का भी उसे कोई दाम मिल जाता। इससे पता लगता है कि मानो काश्तकार को मुद्रा की नही, बल्कि अपने अनाज और ढोर के लिए, जिसे वह बेचना चाहता है, पर बेच नही पाता, दाम की जरूरत है दाम उसे क्या नही मिलते? (१) या ता इसलिए कि देश मे बहुत ज्यादा अनाज और ढोर हो गये है, जिसके फलस्वरूप जो लोग मण्डी मे जाते है, उनमे से ज्यादातर बेचना चाहते ह और खरीदना बहुत कम लोग चाहते है, या (२) परिवहन के द्वारा विदेशो को सामान भेजने की सुविधा नही है, और या (३) चीज़ो की खपत कम हो गयी है, जैसा कि उस वक्त होता है, जब लोग गरीबी के कारण अपने घरो मे उतना खच नही करते, जितना वे पहले किया करते थे। मतलब यह कि विशिष्ट मुद्रा मे वृद्धि हो जाने से काश्तकार के सामान की बिक्री मे कोई भी मदद न होगी। उसकी मदद के लिए इन तीनो

किसी निश्चित अवधि में चालू माध्यम का काम करने वाली मुद्रा की कुल मात्रा एक ओर तो चालू मालो के दामो के जोड से निर्धारित होती है, और, दूसरी ओर, वह इस बात से निर्धारित होती है कि रूपान्तरणो की परस्पर विरोधी अवस्थाए किस तेजी के साथ एक दूसरे का अनुसरण करती ह। इस तेजी पर ही यह निर्भर करता है कि हर अलग-अलग सिक्का दामो के जोड के औसतन कितने भाग को मूर्त रूप दे सकता है। लेकिन चालू मालों के दामो का जोड मालो के दामो के साथ-साथ उनकी मात्रा पर भी निर्भर करता है। किन्तु ये तीनो तत्त्व – दामो की हालत, चालू मालो की मात्रा और मुद्रा के चलन का वेग – परिवर्तनशील होते ह। इसलिए जिन दामो को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड और चुनाचे इस जोड पर निर्भर करने वाली चालू माध्यम की मात्रा – ये दोनों चीजें, इन तीनों तत्त्वो में कुल मिलाकर जो अनेक परिवर्तन होते ह, उनके साथ बदलती जायेंगी। इन परिवर्तनों में से हम केवल उनपर विचार करेंगे, जिनका दामो के इतिहास में सबसे अधिक महत्व रहा है।

यदि दाम स्थिर रहते ह, तो चालू माध्यम की मात्रा या तो इसलिए बढ़ सकती है कि चालू मालो की सख्या बढ गयी हो, या इसलिए कि चलन का वेग कम हो गया हो, और या वह इन दोनो बातो के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम हो सकता है। दूसरी ओर, चालू माध्यम की मात्रा या तो इसलिए घट सकती है कि चालू मालो की सख्या घट गयी हो, और या इसलिए कि उनके परिचलन की तेजी बढ़ गयी हो।

मालो के दामो में आम चढाव आ जाने पर भी चालू माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामो में जितनी वृद्धि हुई हो, उसी अनुपात में परिचलन में शामिल मालों की सख्या में कमी आ जाये, या परिचलन में शामिल मालो की सख्या के स्थिर रहते हुए दामों में जितना चढाव आया हो, मुद्रा के चलन के वेग में उतनी ही तेजी आ जाये। चालू माध्यम की मात्रा कम हो सकती है, यदि दामो के चढाव की अपेक्षा मालो की सख्या ज्यादा तेजी से गिर जाये या यदि दामो के चढाव की अपेक्षा चलन का वेग ज्यादा तेजी से बढ जाये।

मालो के दामो में आम कमी हो जाने पर भी चालू माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामो में जितनी कमी हुई हो, उसी अनुपात में मालो की सख्या में वृद्धि हो जाय,

---

कारणो मे से बाजार को सचमुच ठण्डा करने वाले कारण को दूर करना होगा इसी तरह सौदागर और दूकानदार भी मुद्रा चाहते हैं, यानी वे जिन चीजो का व्यापार करते ह, उनकी निकासी चाहते है, क्योकि मण्डिया ठण्डी पड गयी हैं " "जब धन एक हाथ से दूसरे हाथ मे घूमता है, तब (कोई कौम) जितना फलती फूलती है, उतना वह और कभी नही फलती-फूलती।" (Sir Dudley North *Discourses upon Trade* [सर डडली नर्थ, 'व्यापार सम्बन्धी लेख'], London 1691 पृ० ११-१५, जगह-जगह पर।) हेरॅनश्वाण्ड की विचित्र धारणाओ का कुल निचोड महज यह है कि मालो की प्रकृति से जो विरोध उत्पन्न होता है और जो फिर उनके परिचलन म भी दिखाई पडता है, वह चालू माध्यम को बढाकर दूर किया जा सकता है। लेकिन यदि, एक ओर, चालू माध्यम की कमी को उत्पादन और परिचलन के ठहराव का कारण समझना एक लोकप्रिय भ्रम है, तो, दूसरी ओर, उससे यह निष्कर्ष कदापि नही निकलता कि यदि, मिसाल के लिए, कानून के जरिये चलन का नियमन करने (regulation of currency) की अनाडीपन से भरी कोशिशो के फलस्वरूप चालू माध्यम की सचमुच कमी हो जाये, तो उससे इस तरह का ठहराव नही पैदा हो सकता।

या बशर्ते कि मुद्रा के चलन के वेग में उसी अनुपात में कमी आ जाये। यदि दामो में होने वाली कमी की तुलना में मालो की सख्या जल्दी से बढ़ती है या मुद्रा के चलन का वेग जल्दी से कम होता है, तो चालू माध्यम की मात्रा बढ जायेगी।

अलग-अलग तत्त्वो में होने वाले परिवर्तन एक दूसरे के प्रभाव की क्षति-पूर्ति कर सकते हैं। ऐसा होने पर, उनके लगातार अस्थिर रहते हुए भी, जिन दामो को मूर्त्त रूप दिया जाना है, उनका जोड और परिचलन में लगी मुद्रा की मात्रा स्थिर रहती हैं। चुनाचे, खास तौर पर यदि हम लम्बे कालो पर विचार करे, तो हम पाते ह कि किसी भी देश में चालू मुद्रा की मात्रा में हम उसके औसत स्तर में जितना अतर होने की उम्मीद करते थे, वास्तव में उससे बहुत कम अतर रहता है। पर जाहिर है कि औद्योगिक एव व्यापारिक सकटो से या फिर, जैसा कि बहुत कम होता है, मुद्रा के मूल्य में होने वाले उतार-चढाव से जो जबदस्त गडबड पदा हो जाती है, वह और बात है।

इस नियम को कि चालू माध्यम की मात्रा चालू मालो के दामो के जोड और चलन के औसत वेग से निर्धारित होती है,[1] इस तरह भी पेश किया जा सकता है कि यदि मालो के

---

[1] "किसी भी कौम के व्यापार को चालू रखने के लिए आवश्यक मुद्रा की एक ऐसी खास मात्रा और अनुपात होता है, जिसके कम या ज्यादा होन पर व्यापार मे गडबडी पैदा हो जाती है। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार मे चादी के सिक्का का भुनाने के लिए और ऐसा हिसाव साफ करने के लिए, जो छोटे से छोटे चादी के सिक्का से भी ठीक नही बैठता, एक निश्चित अनुपात म फार्दिग सिक्का की आवश्यक्ता होती है अब जिस तरह व्यापार के लिए आवश्यक फादिग सिक्को की सख्या इस बात से तै होती है कि लोगो की कितनी सख्या है, वे कितनी जल्दी जल्दी विनिमय करते है, और साथ ही मुख्यतया इस बात से कि चादी के छोटे से छोटे सिक्का का क्या मूल्य है, उसी तरह हमार व्यापार के लिए आवश्यक मुद्रा (सोने और चादी के सिक्का) का अनुपात इस बात पर निभर करता है कि विनिमय कितनी जल्दी होत है और भुगतान की रकमे कितनी बडी होती हैं।" (William Petty *A Treatise of Taxes and Contributions* [विलियम पेटी, 'करा और अनुदानो पर एक निबध'], London, 1667 पृ० १७।) जे० स्टुअर्ट आदि के हमला के मुकाबले मे ह्यूम के सिद्धात का समथन अ० यग ने अपनी रचना '*Political Arithmetic*' ['राजनीतिक गणित'] London 1774 मे किया था, जिसमे पृ० ११२ और उसके आगे के पष्ठो पर "*Prices depend on quantity of money*' ['दाम मुद्रा की मात्रा पर निभर करते है'] शीपक एक विशेष अध्याय है। मैने '*Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ['अथशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'] के पृ० १४६ पर लिखा है कि "वह (ऐडम स्मिथ) परिचलन मे लगे सिक्का की मात्रा के सवाल के बारे में बिना कुछ कहे ही कनी काट जाते हैं और बहुत गलत ढग से मुद्रा की महज़ एक माल के रूप मे चर्चा करते हैं।" यह बात केवल वही तक सही है, जहा तक ऐडम स्मिथ ने रस्मी तौर पर (ex officio) मुद्रा पर विचार किया है। परन्तु कभी कभी, जैसे कि अथशास्त्र की पुरानी प्रणालिया की आलोचना करते हुए, वह सही दृष्टिकोण अपनाते है। "प्रत्येक देश मे सिक्के की मात्रा का उन माला के मूल्य द्वारा नियमन होना है, जिनका उस सिक्के को परिचलन करना होता है साल भर मे किसी देश मे किये जाने वाले मालो के क्रय और विक्रय के मूल्य के लिए मुद्रा की एक

मूल्यों का जोड़ और उनके रूपांतरणों की औसत तेजी मालूम हो, तो मुद्रा के रूप में चालू बहुमूल्य धातु की मात्रा उस धातु के मूल्य पर निर्भर करती है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके विपरीत, दाम चालू माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं और चालू माध्यम की मात्रा किसी देश में पायी जाने वाली बहुमूल्य धातुओं की मात्रा पर निर्भर करती है,[1]-इस गलत धारणा को पहले-पहल जन्म देने वाले लोगों ने उसे इस परिकल्पना पर आधारित किया था कि जब माल और मुद्रा परिचलन में प्रवेश करते हैं, तब मालों का कोई दाम नहीं होता और मुद्रा का कोई मूल्य नहीं होता, और एक बार परिचलन में प्रवेश कर जाने के बाद नाना प्रकार के मालों के एक पूर्ण विभाजक भाग का बहुमूल्य धातुओं के ढेर के एक पूर्ण विभाजक के साथ विनिमय किया जाता है।[2]

निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है, ताकि उन मालों का परिचलन और सही उपभोक्ताओं में वितरण हो सके, और वह देश उससे अधिक मुद्रा को काम में नहीं लगा सकता। परिचलन की नाली के भरने के लिए जितनी रकम काफी होती है, उतनी वह लाजिमी तौर पर अपनी तरफ खींच लेती है, पर उससे ज्यादा को कभी अन्दर नहीं आने देती।" (*Wealth of Nations* ['राष्ट्रों का धन'], पुस्तक ४, अध्याय १।) इसी प्रकार अपनी पुस्तक को रस्मी तौर पर (ex officio) आरम्भ करते हुए ऐडम स्मिथ ने श्रम विभाजन को मानो देवनामा के स्थान पर बैठा दिया है। पर बाद को, अपनी अंतिम पुस्तक में, जिसमें कि सार्वजनिक आय के स्रोतों की चर्चा की गयी है, उन्होंने यदा-कदा श्रम विभाजन की अपने गुरु ए० फर्गुसन की भांति ही अत्यन्त कटु आलोचना की है।

[1] "जैसे-जैसे लोगों के पास सोना और चांदी बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे निश्चय ही हर राष्ट्र में चीज़ों के दाम भी बढ़ते जायेंगे, और इसलिए जब किसी देश में सोना और चांदी कम हो जाते हैं, तो तमाम चीज़ों के दामों का मुद्रा की इस कमी के अनुपात में घट जाना भी अनिवार्य हो जाता है।" (Jacob Vanderlint *Money Answers all Things* [जेकब वंडरलिन्ट, 'मुद्रा सब चीज़ों का जवाब है'], London, 1734 पृ० ५।) इस पुस्तक का ह्यूम के *Essays* ('निबंध') से ध्यानपूर्वक मुकाबला करने के बाद मेरे दिमाग में इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है कि वैंडरलिन्ट की इस रचना से, जो निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण रचना है, ह्यूम परिचित थे और उन्होंने उसका उपयोग किया था। बार्बोन का और उसके बहुत पहले के अन्य लेखकों का भी यह मत था कि दाम चालू माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं। वैंडरलिन्ट ने लिखा है "अनियन्त्रित व्यापार से कोई असुविधा नहीं पैदा हो सकती, बल्कि बहुत बड़ा लाभ हो सकता है क्योंकि यदि उससे राष्ट्र की नकदी कम हो जाती है, जिसे कम होने से रोकना ही व्यापार पर लगाये हुए बंधनों का उद्देश्य होता है, तो जिन राष्ट्रों को वह नकदी मिलेगी, उनके यहां निश्चय ही नकदी के बढ़ने के साथ साथ हर चीज़ के दाम चढ़ जायेंगे। और हमारे कारखानों की बनी चीजें और अन्य सब वस्तुएं शीघ्र ही इतनी सस्ती हो जायेंगी कि व्यापार का सतुलन हमारे पक्ष में हो जायेगा और उससे फिर मुद्रा हमारे यहां लौट आयेगी" (उप० पु०, पृ० ४३, ४४)।

[2] यह एक स्वतःस्पष्ट प्रस्थापना है कि हर अलग अलग प्रकार के माल का दाम परिचलन में शामिल तमाम मालों के दामों के जोड़ का एक भाग होता है। लेकिन यह बात कतई समझ में नहीं आती कि उपयोग मूल्यों का, जिनकी कि एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती,

ग) सिक्का और मूल्य के प्रतीक

यह बात कि मुद्रा सिक्के का रूप धारण करती है,—यह उसके चालू माध्यम के काम से उत्पन्न होती है। दाम—या मालो के मुद्रा-नाम—के रूप में हम कल्पना में सोने के जिन वज़नो का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनको परिचलन की क्रिया में एक निश्चित अभिधान के सिक्को

सब का एक साथ किसी देश मे पाये जाने वाले कुल सोने और चादी के साथ कैसे विनिमय किया जा सकता है। यदि हम इस विचार से आरम्भ करे कि सब मालो को मिलाकर एक माल बन जाता है, जिसका हरेक माल एक अशेष भाजक होता है, तो हमारे सामने यह सुदर निष्कष निकल आता है कि कुल माल='प' हण्ड्रेडवेट सोना, माल 'क'=कुल माल का एक अशेष भाजक='प' हण्ड्रेडवेट सोन का उतना ही अशेष भाजक। मातेस्क्यू ने पूरी गम्भीरता के साथ यही बात कही है 'Si l on compare la masse des l'or et de l'ar gent qui est dans le monde avec la somme des marchandises qui y sont, il est certain que chaque denree ou marchandise en particulier pourra être comparee a une certaine portion de la masse entiere Supposons qu il n y ait qu'une seule denree ou marchandise dans le monde ou qu'il n y ait qu une seule qui s'ache te, et qu elle se divise comme l'argent Cette partie de cette marchandise repon dra a une partie de la masse de l'argent, la moitie du total de l'une a la moitie du total de l'autre, &c l etablissement du prix des choses depend toujours fondamentalement de la raison du total des choses au total des signes '["यदि हम दुनिया मे पाये जाने वाले सोने और चादी की कुल मात्रा का दुनिया म पायी जाने वाली वाणिज्य-वस्तुओ की कुल मात्रा से मुकाबला करे, तो यह निश्चय है कि वाणिज्य-वस्तुओ मे से प्रत्येक वस्तु विशेष अथवा माल विशेष का सोने-चादी के एक निश्चित भाग से मुकाबला किया जा सकता है। मान लीजिये कि दुनिया मे केवल एक वाणिज्य वस्तु अथवा केवल एक माल है, या केवल एक माल ही बिक्री के लिए पेश किया जा सकता है, और मुद्रा की तरह उसे टुकडो मे बाटा जा सकता है। तब वाणिज्य-वस्तुओ का एक भाग मुद्रा की मात्रा के एक भाग के अनुरूप होगा कुल वाणिज्य वस्तुओ का आधा भाग कुल मुद्रा के आधे भाग के अनुरूप होगा, और इसी तरह अन्य भागो के बारे मे भी होगा चीजो के दामो को निश्चित करना बुनियादी तौर पर सदा इस बात पर निभर करता है कि कुल चीजो और कुल प्रतीको के बीच क्या अनुपात है।"] (Montesquieu उप० पु०, ग्रथ ३, पृ० १२, १३।) जहा तक रिकार्डो और उनके शिष्यो जेम्स मिल, लाड ओवरस्टोन आदि के द्वारा इस सिद्धान्त के विकास का सम्बध है, तो *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ('अथशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') के पृ० १४०-१४६ और पृ० १५० तथा उसके आगे के पष्ठ देखिये। जान स्टुअट मिल अपनी समाहारी (eclectic) तक शैली के बल पर अपने पिता जेम्स मिल के मत और उसके विरोधी मत, दोनो को एक साथ अगीकार करने का गुर जानते हैं। जब हम उनकी पाठ्य पुस्तक *Principles of Political Economy* ('अथशास्त्र के सिद्धान्त') का उसके पहले सस्करण के लिए लिखी गयी उनकी भूमिका से मुकाबला करते हैं, जिसमे उन्होने ऐलान किया है कि वह अपने जमाने के ऐडम स्मिथ हैं, तो हमारी समझ मे नही आता कि

या सोने के टुकडो के रूप में मालो के मुक़ाबले में खडा होना पडता है। दामो का मापदण्ड निर्धारित करने की तरह सिक्के ढालना भी राज्य का काम है। सोना और चादी सिक्कों के रूप में स्वदेश में जो भिन्न भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय पोशाकें पहने रहते ह और जिनको वे दुनिया की मण्डी में पहुचते ही फिर उतारकर फेंक देते हैं, वे मालो के परिचलन के अदरूनी अथवा राष्ट्रीय क्षेत्रो तथा उनके सार्वत्रिक क्षेत्र के अलगाव की सूचक होतीं ह।

अतएव, सिक्को तथा कलधौत में एकमात्र शकल का अतर होता है, और सोना किसी भी समय एक शकल छोडकर दूसरी धारण कर सकता है।[1] लेकिन जैसे ही सिक्का टकसाल से बाहर निकलता है, वसे ही वह अपने को धातु गलाने के बरतन के राजमार्ग पर रवाना होता

हम इस आदमी की सरलता की ज्यादा प्रशसा करे या उस जनता की सरलता की, जिसने सद्भाव के साथ उसके इस दावे पर विश्वास कर लिया था कि वह सचमुच ऐडम स्मिथ है,— हालाकि उसमे और ऐडम स्मिथ मे लगभग उतनी ही समानता है, जितनी कास के जनरल विलियम्स और वेलिंगटन के ड्यूक मे है। मि० जा० एस० मिल ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र म जितनी नयी खोजें की हैं, जो न तो बहुत व्यापक और न ही गम्भीर हैं, वे सब की सब आपको उनकी छोटी सी रचना *Some Unsettled Questions of Political Economy* ['अर्थशास्त्र के कुछ अनिर्णीत प्रश्न'] मे, जो कि १८४४ मे प्रकाशित हुई थी, सग्रहीत मिल जायेगी। लॉक ने बिना किसी लाग लपट के इस वात पर ज़ोर दिया है कि सोने और चादी मे मूल्य के अभाव का इस बात से सम्बध है कि उनका मूल्य केवल मात्रा से निर्धारित होता है। उन्होने लिखा है "मनुष्य-जाति ने चूकि सोने और चादी को एक काल्पनिक मूल्य दे देने का निश्चय कर लिया है इसलिए इन धातुओ का स्वाभाविक मूल्य मात्रा के अतिरिक्त और कुछ नही होता।" (*'Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest* ['सूद की दर कम करने के परिणामो के सम्बन्ध मे कुछ विचार, इत्यादि'], १६९१, सग्रहीत रचनाओ का १७७७ वाला सस्करण, खण्ड २, पृ० १५१)

[1] सिक्को की ढलाई और उसपर लगाये जाने वाले कर जैसे विषयो पर विचार करना, जाहिर है, इस पुस्तक के क्षेत्र के बिल्कुल बाहर है। किन्तु रोमानी चाटुकार ऐडम मुलर के हितार्थ, जो अग्रेज सरकार की इस 'उदारता" के बडे प्रशसक हैं कि वह मुफ्त मे सिक्के ढालती है, मैं सर डडली नॉर्थ का निम्नलिखित मत अवश्य उद्धृत करूगा "दूसरे मालो की तरह चादी और सोने की भी वृद्धि और कमी होती है। जब स्पेन से धातु आ जाती है, तो वह टौवर मे ले जायी जाती है और वहा उसके सिक्के ढाले जाते हैं। उसके कुछ ही समय बाद फिर से सोने चादी का विदेशो मे निर्यात करने की माग सामने आती है। परन्तु यदि देश मे कलधौत न हो और सब सिक्को की शकल मे हो, तब क्या हो? उसे फिर गला दो, उसमे नुकसान नहीं होगा, क्योकि सिक्के ढालने मे धातु के मालिक का कुछ भी तो खर्च नही होता। तो इस तरह राष्ट्र के गले यह बला डाली जाती है और गधा के घास चरने के लिए घास जुटाने का खर्च उसके मत्थे मढ दिया जाता है। यदि सौदागर से सिक्के ढालने के दाम लिये जाते, तो वह बिना कुछ सोचे विचारे अपनी चादी ढलवाने के लिए टौवर म न भेजता, और सिक्को के रूप मे मुद्रा का बगैर ढली हुई चादी की अपेक्षा हमेशा अधिक मूल्य होता।" (North उप० पु०, पृ० १८।) चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल मे नॉर्थ खुद एक सबसे प्रमुख सौदागर था।

हुआ पाता है। चलन के दौरान में सिक्के घिस जाते हैं,—कुछ ज्यादा, कुछ कम। नाम और पदार्थ के अलगाव, नामचार के वजन और वास्तविक वजन के अलगाव की क्रिया शुरू हो जाती है। एक ही अभिधान के सिक्को का मूल्य भिन्न हो जाता है, क्योंकि उनके वजन में फर्क पड़ जाता है। सोने का जो वजन दामो का मापदण्ड मान लिया गया था, वह उस वजन से भिन्न हो जाता है, जो चालू माध्यम का काम कर रहा है, और इसलिए चालू माध्यम जिन मालो के दामो को मूर्त रूप देता है, वह अब उनका वास्तविक सम-मूल्य नहीं रहता। मध्य युग और यहा तक कि अठारहवीं सदी तक का सिक्का-ढलाई का इतिहास उपर्युक्त कारण से पैदा होने वाली नित नयी गडबडी का इतिहास है। परिचलन की स्वाभाविक प्रवृत्ति सिक्के जो कुछ होने का दावा करते है, उनको उसका आभास मात्र बना देती है, सरकारी तौर पर उनमें जितना वजन होना चाहिए, उनको उसका केवल प्रतीक मात्र बना देती है। आधुनिक कानूनों ने इस प्रवृत्ति को मान्यता दी है। वे यह निश्चित कर देते है कि कितना वजन कम हो जाने पर सोने के सिक्के का निर्मुद्रीकरण हो जायेगा, या वह वैध मुद्रा नहीं रहेगा।

सिक्को का चलन खुद उनके नामचार के वजन और असली वजन के बीच अलगाव पैदा कर देता है, एक ओर केवल धातु के टुकडो के रूप में और दूसरी ओर कुछ निश्चित ढग के काम करने वाले सिक्को के रूप में उनमें भेद पैदा कर देता है,—इस तथ्य में यह सम्भावना भी छिपी हुई है कि धातु के सिक्को की जगह पर किसी और पदार्थ के बने हुए सकेतो से, सिक्को का कार्य करने वाले प्रतीको से काम लिया जाये। सोने या चादी की बहुत ही सूक्ष्म मात्राओं के सिक्के ढालने के रास्ते में जो व्यावहारिक कठिनाइया सामने आती है, यह बात कि शुरू में अधिक मूल्यवान धातु के बदले कम मूल्यवान धातु—चादी के बदले तांबा और सोने के बदले चादी—मूल्य की माप के रूप में इस्तेमाल की जाती है, तथा यह कि कम मूल्यवान धातु उस वक्त तक चालू रहती है, जब तक कि अधिक मूल्यवान धातु उसे इस आसन से नहीं उतार देती,—यही सभी बातें ऐतिहासिक क्रम में चादी और तावे के बने प्रतीको द्वारा की जाने वाली सोने के सिक्को के प्रतिस्थापको की भूमिका को स्पष्ट करती है। चादी और तावे के बने प्रतीक परिचलन के उन प्रदेशो में सोने का स्थान ले लेते है, जहा सिक्के सबसे ज्यादा तेजी के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमते है और जहा उनकी सबसे ज्यादा घिसाई होती है। यह वहा होता है, जहा पर बहुत ही छोटे पैमाने का क्रय विक्रय लगातार होता रहता है। ये उपग्रह कहीं स्थायी रूप से सोने के स्थान पर न जम जायें, इसके लिए कानून बनाकर यह निश्चित कर दिया जाता है कि भुगतान के समय सोने के बदले में उनको किस हद तक स्वीकार करना अनिवार्य है। विभिन्न प्रकार के चालू सिक्के जिन विशिष्ट पथो का अनुसरण करते है वे, जाहिर है, अक्सर एक दूसरे से जा मिलते है। सोने के सबसे छोटे सिक्के के भिन्नात्मक भागो का भुगतान करने के लिए ये प्रतीक सोने के साथ रहते है, सोना एक तरफ तो लगातार फुटकर परिचलन में आता रहता है, और दूसरी तरफ वह इसी निरन्तरता के साथ प्रतीको में बदला जाकर फिर परिचलन के बाहर फेंक दिया जाता है।[1]

---

[1] "अपेक्षाकृत छोटे भुगतानो के लिए जितनी चादी की आवश्यकता होती है, यदि चादी कभी उससे ज्यादा नही होती, तो अपेक्षाकृत बडे भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे चादी का इकट्ठा करना असम्भव हा जाता है खास-खास भुगताना मे सोना इस्तेमाल करने का लाजिमी तौर पर यह मतलब भी होना है कि उसे फुटकर व्यापार मे भी इस्तेमाल किया जाये।

चादी और ताबे के प्रतीको में धातु का वजन क़ानून द्वारा इच्छानुसार निश्चित कर दिया जाता है। वे चलन में सोने के सिक्को से भी ज्यादा तेजी से घिसते हैं। इसलिए वे जो काम करते ह, वह उनके वजन से और इसलिए सब प्रकार के मूल्य से सवथा स्वतत्र होता है। सिक्के के रूप में सोने का काम सोने के धातुगत मूल्य से पूर्णतया स्वतत्र हो जाता है। इसलिए उसके स्थान पर वे चीजें भी सिक्को का काम कर सकती ह, जो अपेक्षाकृत मूल्यरहित होती ह, जसे कि कागज के नोट। यह विशुद्ध प्रतीकात्मक स्वरूप धातु के प्रतीको में किसी हद तक छिपा हुआ रहता है। पर कागजी मुद्रा में वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। सच पूछिये, तो ce n'est que le premier pas qui coute (सिफ पहला कदम ही सदा मुश्किल होता है)।

हम यहा केवल उस अपरिवतनीय कागजी मुद्रा की चर्चा कर रहे ह, जिसे राज्य जारी करता है और जिसे अनिवार्य रूप से परिचलन में इस्तेमाल करना पडता है। इसका प्रत्यक्ष उद्भव स्रोत धातु की मुद्रा के चलन में होता है। दूसरी ओर, उधार पर आधारित मुद्रा के लिए कुछ ऐसी परिस्थितिया आवश्यक होती ह, जिनसे हम मालो के साधारण परिचलन के दृष्टिकोण से अभी सवथा अपरिचित ह। लेकिन हम इतना जरूर कह सकते हैं कि जिस प्रकार सच्ची कागजी मुद्रा चालू माध्यम के रूप में मुद्रा के काय से उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार उधार पर आधारित मुद्रा भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा के कार्य से स्वयस्फूत ढग से उत्पन्न होती है।[1]

जिनके पास सोने के सिक्के होते हैं, वे छोटी खरीदारिया करने के समय सोने के सिक्के देते है, और उनको बदले मे खरीदे हुए माल के साथ साथ बाकी रकम चादी के सिक्का के रूप मे वापिस मिल जाती है। इस प्रकार वह अतिरिक्त चादी, जो फुटकर दूकानदार के पास इकट्ठा होकर फजूल का बोझा बन जाती, उसके पास से खिचकर आम परिचलन मे बिखर जाती है। लेकिन यदि चादी इतनी हो कि सोने से स्वतन्त्र रहते हुए छोटे भुगताना का काम चल जाये, तो फुटकर व्यापारी को छोटी खरीदारियो के एवज मे चादी मजूर करनी पडेगी, और वह लाजिमी तौर पर उसके पास इकट्ठी हो जायेगी।" (David Buchanan, '*Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of Great Britain* [डेविड बुकानन, 'ब्रिटेन की कर निर्धारण और व्यापारिक नीति का विवेचन'], Edinburgh 1844 पृ० २४८, २४६।)

[1] चीनी वित्त मत्री मदारिन वान माओ इन के मन मे एक रोज यह विचार आया कि देव पुत्र सम्राट के सामने एक ऐसा सुझाव रखा जाये, जिसका गुप्त उद्देश्य साम्राज्य की अपरिवतनीय कागजी मुद्रा (assignats) को परिवतनीय बैंक-नोटो मे बदल देना हो। कागजी मुद्रा समिति ने अप्रैल १८५४ की अपनी रिपोट मे वित्त-मत्री की बुरी तरह खबर ली है। रिपोट मे यह नही बताया गया है कि मत्री महोदय की परम्परागत शैली म बासो से भी खबर ली गयी थी या नहीं। रिपोट का अतिम अश इस प्रकार है "समिति न उनके सुझाव पर ध्यानपूवक विचार किया है और वह इस नतीजे पर पहुची है कि यह सुझाव पूरी तरह सौदागरो के हित मे है और उससे सम्राट् को कोई लाभ न होगा।" ('*Arbeiten der Kaiserlich Russischen Gesandtschaft zu Peking über China* Aus dem Russischen von Dr K Abel und F A Mecklenburg Erster Band [डा० के० एबल और एफ० ए० मैक्लेनबुग द्वारा रूसी भाषा से अनुवादित। खण्ड १], Berlin, 1858 पृ० ४७ और उसके आगे के पृष्ठ।) बैंक सम्बधी कानूनो के बारे मे लाड-सभा की समिति के सामने गवाही देते हुए बैंक आफ इगलण्ड के एक गवनर ने चलन के दौरान मे सोने के सिक्कों के घिसने

राज्य कागज के कुछ ऐसे टुकडे चालू कर देता है, जिनपर उनकी अलग अलग राशिया – जसे १ पौण्ड, ५ पौण्ड इत्यादि – छपी रहती ह। जिस हद तक कि ये कागज के टुकडे सचमुच सोने की उतनी ही मात्रा का स्थान ले लेते ह, उस हद तक उनकी गति उन्हीं नियमो के आधीन होती है, जिन के द्वारा स्वय मुद्रा के चलन का नियमन होता है। केवल कागजी मुद्रा के परिचलन से खास तौर पर सम्बध रखने वाला नियम केवल उस अनुपात का फल हो सकता है, जिस अनुपात में वह कागजी मुद्रा सोने का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसा एक नियम है। उसे यदि सरल रूप में पेश किया जाय, तो वह नियम यह है कि कागजी मुद्रा का निगम सोने की (या, परिस्थिति के अनुसार, चादी की) उस मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए, जो उस हालत में परिचलन में सचमुच भाग लेती, यदि उसका स्थान प्रतीक न ग्रहण कर लेते। अब, परिचलन सोने की जिस मात्रा को खपा सकता है, वह लगातार एक निश्चित स्तर के ऊपर-नीचे चढा गिरा करती है। फिर भी किसी भी देश में चालू माध्यम की राशि कभी एक अल्पतम स्तर से नीचे नहीं गिरती, और इस अल्पतम राशि का वास्तविक अनुभव से सहज ही पता लगाया जा सकता है। इस अल्पतम राशि की मात्रा में या उसके परिचलन की निरन्तरता में इस बात से, जाहिर है, कोई फर्क नहीं पडता कि वह राशि जिन सघटक भागो से मिलकर बनी है, वे बराबर बदलते रहते हैं, या सोने के जो टुकडे उसमें शामिल होते ह, उनका स्थान बराबर नये टुकडे लेते रहते ह। इसलिए, इस अल्पतम राशि की जगह पर कागज के प्रतीक इस्तेमाल किये जा सकते ह। दूसरी ओर, यदि परिचलन की नालियो को उनकी क्षमता के अनुसार आज कागजी मुद्रा से ठसाठस भर दिया जाये, तो कल को, मालो के परिचलन में कोई परिवतन होने के फलस्वरूप, कागजी मुद्रा नालियो के बाहर बह निकल सकती है। ऐसा होने पर कोई मापदण्ड नहीं रह जायेगा। यदि कागजी मुद्रा अपनी उचित सीमा से अधिक हो, यानी यदि वह उसी अभिधान के सोने के सिक्को की उस मात्रा से अधिक हो, जो सचमुच चलन में आ सकती है, तो उसे न केवल आम बदनामी का खतरा मोल लेना होगा, बल्कि वह सोने की केवल उस मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगी, जो मालो के परिचलन के नियमो के अनुसार जरूरी है और केवल जिसका कि कागजी मुद्रा प्रतिनिधित्व कर सकती है। कागजी मुद्रा की मात्रा जितनी होनी चाहिए, यदि उसकी दुगुनी कागजी मुद्रा जारी कर दी जाये, तो १ पौण्ड १/४ औंस सोने का नहीं, बल्कि, वास्तव में, १/८ औंस सोने का नाम हो जायेगा। इसका उसी तरह का प्रभाव होगा, जैसे कि दामो के मापदण्ड के रूप में सोने के काय में कोई परिवतन होने से होता है। जिन मूल्यो को पहले १ पौण्ड का दाम व्यक्त करता था, उनको अब २ पौण्ड का दाम व्यक्त करेगा।

कागजी मुद्रा सोने का, अथवा मुद्रा का, प्रतिनिधित्व करने वाला प्रतीक होती है। उसके और मालो के मूल्य के बीच यह सम्बध होता है कि मालो के मूल्य भावात्मक ढग से सोने की उन्हीं मात्राओ में व्यक्त होते ह, जिनका कागज के ये टुकडे प्रतीकात्मक ढग से प्रतिनिधित्व

के बारे मे यह कहा है "हर साल गिनियो की एक नयी श्रेणी वहुत ज्यादा हल्की हो जाती है। जो श्रेणी एक वष पूरे वजन के साथ चालू रहती है, वह साल भर मे इतनी अधिक घिस जाती है कि अगले वष तराजू पर खोटी उतरती है।" (House of Lords' Committee 1848 n 429 [लाड-सभा की समिति, १८४८, अक ४२९]।)

करते ह। कागज़ी मुद्रा केवल उसी हद तक मूल्य का प्रतीक होती है, जिस हद तक कि वह सोने का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका अन्य सब मालो की तरह मूल्य होता है।[1]

अत में, कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सोने में यह क्षमता क्यो है कि उसका स्थान ऐसे प्रतीक ले सकते ह, जिनमें कोई मूल्य नहीं होता? किन्तु, जसा कि हम पहले ही देख चुके ह, उसमें यह क्षमता केवल उसी हद तक होती है, जिस हद तक कि वह एकमात्र सिक्के की तरह, केवल चालू माध्यम की तरह काम करता है और जिस हद तक कि वह और किसी रूप में काम नहीं करता। अब, मुद्रा के, इसके सिवा, कुछ और भी काम होते ह, और महज चालू माध्यम की तरह काम करने का यह अकेला काय ही सोने के सिक्के से सम्बंधित एकमात्र काय नहीं होता, हालाकि जो घिसे हुए सिक्के चालू रहते हैं, उनके बारे में यह बात सच है। मुद्रा का हर टुकडा केवल उतनी ही देर तक महज एक सिक्का या परिचलन का माध्यम रहता है, जितनी देर तक वह सचमुच परिचलन में भाग लेता है। पर सोने की उस उपरोक्त अल्पतम राशि के बारे में यही सच है, जिसमें इस बात की क्षमता होती है कि उसका स्थान कागज़ी मुद्रा ले ले। वह राशि बराबर परिचलन के क्षेत्र में ही रहती है, लगातार चालू माध्यम की तरह काम करती है, और उसका अस्तित्व ही केवल इस उद्देश्य-पूति के लिए होता है। अतएव, उसकी गति इसके सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती कि रूपातरण मा–मु–मा की एक दूसरे की वे उल्टी अवस्थाए बारी बारी से सामने आती रहती हैं, जिनमें माल अपने मूल्य रूपो के मुकाबले में खडे होते ह और तत्काल ही फिर गायब हो जाते हैं। माल के विनिमय मूल्य का स्वतत्र अस्तित्व यहा एक क्षणिक घटना ही होती है, जिसके द्वारा तुरत ही एक माल का स्थान दूसरा माल ले लेता है। इसलिए इस क्रिया में, जो मुद्रा को लगातार एक हाथ से दूसरे हाथ में घुमाती रहती है, मुद्रा का केवल प्रतीकात्मक अस्तित्व ही पर्याप्त होता है। उसका कायगत अस्तित्व मानो उसके भौतिक अस्तित्व को हजम कर जाता है। मालों के दामो का एक क्षणिक एव वस्तुगत प्रतिबिम्ब होने के कारण वह केवल अपने प्रतीक के रूप में काम करती है,

---

[1] जहा तक मुद्रा के विभिन्न कार्यो को समझने का प्रश्न है, वहा तक मुद्रा पर लिखने वाले सबसे अच्छे लेखको के विचारो में भी स्पष्टता का कितना अभाव है, इसका एक उदाहरण फुलार्टन का निम्नलिखित अश है "यह बात कि जहा तक हमारे घरेलू विनिमयो का सम्बंध है, मुद्रा के वे सारे काम, जो साधारणतया सोने और चादी के सिक्को से लिये जाते ह, वे उतने ही कारगर ढग से उन अपरिवतनीय नोटो के द्वारा भी सम्पन्न हो सकते हैं, जिनमें उस बनावटी और रूढिगत मूल्य के सिवा, जो उनको कानून से मिलता है, और कोई मूल्य नहीं होता,–यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे, म समझता हू, किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के मूल्य से स्वाभाविक मूल्य के सारे काम लिये जा सकते हैं, और यदि केवल नोटो के निगम के परिमाण को उचित सीमा मे रखा जाये, तो मापदण्ड की आवश्यकता तक समाप्त हो सकती है।" (Fullarton *'Regulation of Currencies* [फुलार्टन, 'मुद्राओ का नियमन'], London 1845 पृ० २१।) परिचलन मे मुद्रा का काम करने वाले माल का स्थान चूकि मूल्य के प्रतीक मात्र ले सकते हैं, इसलिए यहा पर यह घोषित कर दिया गया है कि मूल्य की माप और दामो के मापदण्ड के रूप मे उस माल के काम अनावश्यक होते ह।

और इसलिए उसमें यह क्षमता होती है कि स्वय उसका स्थान एक प्रतीक ले ले।[1] लेकिन एक चीज जरूरी होती है, उस प्रतीक को खुद वस्तुगत समाजिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए, और कागज का प्रतीक यह मान्यता इस तरह प्राप्त करता है कि राज्य जबरन उसका चलन अनिवाय बना देता है। राज्य का यह आदेश, जिसे मानना सब के लिए जरूरी होता है, परिचलन के केवल उस अन्दरुनी क्षेत्र में ही कारगर साबित हो सकता है, जिसकी सीमाए उस समाज के प्रदेश की सीमाए होती हैं, लेकिन मुद्रा भी केवल इसी क्षेत्र में चालू माध्यम के रूप में अपना कार्य पूरी तरह पूरा करती है, यानी सिक्का बन जाती है।

अनुभाग ३ – मुद्रा

मुद्रा वह माल है, जो मूल्य की माप का काम करता है और जो या तो खुद और या किसी प्रतिनिधि के द्वारा परिचलन के माध्यम का काम करता है। इसलिए सोना (या चादी) मुद्रा है। एक ओर तो वह उस वक्त मुद्रा की तरह काम करता है, जब उसे अपने सुनहरे व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होना पडता है। उस समय वह मुद्रा-माल होता है, जो केवल भावगत नहीं होता, जैसा कि वह मूल्य की माप का काम करते समय होता है, और जिसमें यह क्षमता भी नहीं होती कि उसका प्रतिनिधित्व कोई प्रतीक कर सके, जैसी कि चालू माध्यम का काम करते समय उसमें होती है। दूसरी ओर, सोना उस वक्त भी मुद्रा की तरह काम करता है, जब अपने काय के प्रताप से, चाहे यह काय वह खुद करता हो और चाहे किसी प्रतिनिधि के द्वारा कराता हो, वह मूल्य का वह अनन्य रूप बनकर रह जाता है, जो उपयोग-मूल्य के मुकाबले में, जिसका प्रतिनिधित्व कि बाकी सब माल करते ह, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व का एक मात्र पर्याप्त रूप होता है।

क) अपसचय

मालो के दो परस्पर विरोधी रूपान्तरण जिस प्रकार लगातार परिपथो में घूमते रहते ह, या क्रय और विक्रय का अनवरत अबाध और बारी बारी से सामने आने वाला क्रम मुद्रा के अविराम चलन में, या मुद्रा परिचलन की perpetuum mobile (शाश्वत प्रेरक शक्ति) का जो काम करती है, उसमें प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु जसे ही रूपान्तरणो का क्रम बीच में

---

[1] इस बात से कि जहा तक सोना और चादी सिक्के हैं, अथवा जहा तक वे केवल परिचलन के माध्यम का काम करते हैं, वहा तक वे अपने प्रतीक मात्र बन जाते हैं, निकोलस बार्बोन न यह निष्कष निकाला है कि सरकारो को "मुद्रा को ऊपर उठाने" (to raise money) का अधिकार होता है, यानी वे चादी के उस वजन को, जो शिलिंग कहलाता है, उससे बडे वजन का— जैसे कि क्राउन का— नाम दे सकती हैं और इस तरह अपने लेनदारो को क्राउनो के बजाय शिलिंग दे सकती है। उन्होने लिखा है "मुद्रा बार बार गिनी जाने पर घिस जाती है और हल्की हो जाती है सौदा करते समय लोग चादी की मात्रा का नही, मुद्रा के अभिधान और चलन का खयाल करते हैं " "धातु पर लगी हुई सरकारी मुहर उसे मुद्रा बनाती है।" (N Barbon, उप० पु०, पृ० २६, ३०, २५।)

रुक जाता है, जैसे ही विक्रय बाद में होने वाले क्रयों से अनुपूरित नहीं होते, वैसे ही मुद्रा गतिमान नहीं रहती, वैसे ही वह, बोआगिल्बेर के शब्दों में, "meuble" ("चल सम्पत्ति") से "immeuble" ("अचल सम्पत्ति") में, चल से अचल में, सिक्के से मुद्रा में बदल जाती है।

मालों के परिचलन का अत्यन्त प्रारम्भिक विकास होते ही पहले रूपांतरण की पैदावार को पकड़ रखने की आवश्यकता एवं जोरदार इच्छा का भी विकास हो जाता है। यह पैदावार माल की बदली हुई शक्ल – या उसका सुवर्ण-कोशायी रूप होती है।[1] इस प्रकार, मालों को दूसरा माल खरीदने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उनके माल रूप को उनके मुद्रा-रूप में बदलने के उद्देश्य से बेचा जाता है। यह रूप परिवर्तन मालों का परिचलन सम्पन्न करने का साधन मात्र न रहकर लक्ष्य और ध्येय बन जाता है। इस प्रकार, माल के बदले हुए रूप को उसके पूर्णतया हस्तांतरणीय रूप की तरह – या उसके केवल क्षणिक मुद्रा रूप की तरह – काम करने से रोक दिया जाता है। मुद्रा अपसंचित धन में बदल जाती है, और माल बेचने वाला मुद्रा का अपसंचय करने वाला बन जाता है।

मालों के परिचलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में केवल अतिरिक्त उपयोग-मूल्य ही मुद्रा में बदले जाते हैं। सोना और चांदी इस तरह खुद ब-खुद अतिरेक अथवा धन की सामाजिक अभिव्यंजनाएं बन जाते हैं। अपसंचय का यह भोला स्वरूप उन समाजों में एक स्थायी चीज बन जाता है, जिनमें कुछ निश्चित एवं सीमित ढंग की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परम्परागत पद्धति का उत्पादन होता है। एशिया के और खास कर भारत के लोगों में हम यही चीज पाते हैं। वैंडरलिंट, जिसको यह भ्रम है कि किसी भी देश में मालों के दाम वहां पाये जाने वाले सोने और चांदी की मात्रा से निर्धारित होते हैं, अपने से प्रश्न करता है कि हिंदुस्तानी माल इतने सस्ते क्यों होते हैं। और फिर अपने प्रश्न का खुद जवाब देता है कि इसका कारण यह है कि हिंदू लोग अपनी मुद्रा जमीन में गाड़कर रखते हैं। वैंडरलिंट ने बताया है कि १६०२ से १७३४ तक हिंदुओं ने १५ करोड़ पौण्ड स्टर्लिंग की कीमत की चांदी गाड़ दी थी, जो मूलतः अमरीका से योरप में आयी थी[2]। १८५६ से १८६६ तक, दस साल में, इंगलैण्ड ने हिंदुस्तान और चीन को १२ करोड़ पौण्ड की कीमत की चांदी भेजी, जो कि उसे आस्ट्रेलिया के सोने के एवज में मिली थी। चीन को जो चांदी जाती है, उसका अधिकांश हिंदुस्तान पहुंच जाता है।

मालों के उत्पादन का जैसे-जैसे आगे विकास होता है, वैसे-वैसे मालों के प्रत्येक उत्पादक के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उसका पक्का इंतजाम करे, जो उत्पादकों के बीच नाता

---

[1] Une richesse en argent n'est que richesse en productions, converties en argent ['मुद्रा के रूप में धन मुद्रा में रूपान्तरित हुई पैदावार के रूप में धन के सिवा और कुछ नहीं होता।"] (Mercier de la Riviere उप० पु०।) Une valeur en productions n a fait que changer de forme ["पैदावार के रूप में एक मूल्य ने केवल अपना रूप बदल डाला है।"] (उप० पु०, पृ० ४८६।)

[2] "ये लोग इसी आदत की वजह से अपने तमाम सामान और बनाये हुए माल के दाम सदा इतने सस्ते बनाये रखते हैं" (Vanderlint उप० पु०, पृ० ९५, ९६)।

जोडने (nexus rerum) का काम करता है या जो सामाजिक बधक होता है।[1] उत्पादक की आवश्यकताए बराबर अपना दबाव डालती और लगातार दूसरे लोगो का माल खरीदना आवश्यक बनाती रहती ह। उधर उसके अपने सामान के उत्पादन और बिक्री में समय लगता है, और वह परिस्थितियो पर भी निभर करता है। इसलिए कुछ बेचे बिना कोई दूसरा खरीदने के लिए जरूरी है कि उसने पहले बिना कुछ खरीदे कुछ बेचा हो। यह क्रिया जब आम तौर पर होने लगती ह, तो ऐसा लगता है, मानो उसके भीतर एक विरोध निहित है। लेकिन बहुमूल्य धातुओ का उनके उत्पादन स्थलो पर अय मालों के साथ सीधा विनिमय होता है। और यहा (मालों के मालिक) विक्रय तो करते हैं, पर (सोने या चादी के मालिक) क्रय नहीं करते।[2] और बाद में दूसरे उत्पादको द्वारा किये जाने वाले विक्रय पर साथ ही साथ क्रय न करने का केवल यह परिणाम होता है कि नव उत्पादित बहुमूल्य धातुए मालो के तमाम मालिको में बट जाती ह। इस तरह विनिमय की क्रिया के हर कदम पर सोने और चादी की विभिन्न आकारो की अपसचित राशिया इक्ट्ठी हो जाती ह। किसी एक खास माल की शकल में विनिमय मूल्य को सम्भाले रखने और जमा करने की सम्भावना पदा होने पर सोने का लालच भी जन्म लेता है। परिचलन का विस्तार बढने के साथ-साथ मुद्रा की—अर्थात धन के उस सवथा सामाजिक रूप की, जो हर घडी व्यवहार में लाया जा सकता है,—शक्ति बढती जाती है। "सोना एक आश्चयजनक वस्तु है! जिसके पास साना है, वह जो भी चाहे, हासिल कर सकता है। सोने के द्वारा आत्माओ को स्वग तक में भेजा जा सक्ता है" (१५०३ में जमका से लिखे गये कोलम्बस के एक पत्र की उक्ति)। सोना चूकि यह नहीं बताता कि कौनसी चीज उसमें रूपातरित हुई है, इसलिए हर चीज, चाहे वह माल हो या न हो, सोने में बदली जा सकती है। हर चीज बिकाऊ बन जाती है और हर चीज खरीदी जा सकती है। परिचलन वह महान सामाजिक भभका बन जाता है, जिसमें हर चीज डाली जाती है और जिसमें से हर चीज सुवर्ण-स्फटिक बनकर बाहर निकल आती है। यहा तक कि सतो की हड्डिया भी इस कीमियागरी के सामने नहीं ठहर पातीं, और उनसे ज्यादा नाजुक "res sacrosanctae, extra commercium hominum'("पवित्र वस्तुए, जो मनुष्यो के व्यापारिक लेन देन से बाहर होती हैं")तो इस कीमियागरी के सामने और भी कम ठहर पाती ह।[3] जिस प्रकार मालो के बीच पाये जाने वाले प्रत्येक

---

[1] 'मुद्रा एक बधक होती है" (John Bellers *"Essays about the Poor, Manufactures, Trades, Plantations and Immorality* [जान बैलेस, 'गरीबो, कारखाना, व्यापार, बागानो और अनैतिकता के विषय मे निबध'], London, 1699 पृ० १३)।

[2] "निरपेक्ष" अथ मे क्रय का मतलब यह होता है कि उसके लिए जो सोना और चादी इस्तमाल किये जाते हैं, वे माला के बदले हुए रूप—या किसी विक्रय का फल—होते हैं।

[3] फ्रास का अत्यत धम-भीरू ईसाई राजा हेनरी तृतीय खानकाहो को लूटता था और उनमे रखे हुए पवित्र अवशेषा को मुद्रा मे बदलवा लेता था। फोनिशियन लोगा द्वारा देल्फी के मदिर की लूट ने यूनान के इतिहास मे जो भूमिका अदा की थी, वह तो सुविदित है ही। प्राचीन काल मे मदिर माला के देवताओ के निवास-स्थाना का काम देते थे। वे ' पवित्र बैंक" थे। फिनीशियन लोग सच्चे अथ मे (par excellence) एक व्यापारी कौम थे। उनकी दृष्टि मे द्रव्य हर चीज का तरवातरित रूप था। इसलिए उनके यहा यह सवथा उचित समझा जाता था कि प्रेम की देवी के समारोह के अवसर पर अपने आपको अजनबियो को भेंट कर देने वाली कुमारिया बदले मे मिले हुए सिक्के को देवी को अपित कर दें।

गुणात्मक भेद का मुद्रा में लोप हो जाता है, उसी प्रकार मुद्रा, हर ऊंच-नीच खतम करके सब को बराबर बना देने वाली होने के नाते, अपनी बारी आने पर हर तरह का भेद भाव मिटा देती है[1]। परन्तु मुद्रा खुद एक माल है, एक बाह्य वस्तु है, जो किसी भी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार, सामाजिक शक्ति अलग अलग व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन जाती है। इसीलिए प्राचीन काल के लोग मुद्रा को आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था को भंग करने वाला समझते थे और उसकी भर्त्सना करते थे।[2] आधुनिक समाज, जिसने पैदा होते ही पाताल-लोक के देवता प्लूटो

---

[1] Gold yellow, glittering, precious gold!
Thus much of this, will make black white foul, fair
Wrong, right, base, noble old, young, coward valiant
What this you gods? Why, this
Will lug your priests and servants from your sides,
Pluck stout n en s pillows from below their heads
This yellow slave
Will knit and break religions, bless the accurs'd
Make the hoar leprosy ador d place thieves,
And give them title knee and approbation,
With senators on the bench, this is it,
That makes the wappen'd widow wed again
Come damned earth,
Thou common whore of mankind'

["स्वण, पीतवण, ज्योतिमय, अद्भुत अमूल्य स्वण!
रंच मात्र ही कर देता श्याम को जो दुग्ध धवल, असुन्दर को सुन्दर,
अनुचित को उचित, घृणित को उत्तम, वृद्ध को युवा, कायर को वीर प्रवर।
सावधान, देवताओ! अरे यह? यह तो भक्तों और पुजारियों को तुमसे विलग कर देगा,
वीर नर पुंगवों के शीश के नीचे से वस्त्र तक हटा देगा,
पीतवर्ण क्रीत यह
धर्मों की शृंखलाएं जोड़ेगा-तोड़ेगा, शाप-मुक्त नर को मुक्ति वर देगा,
देगा रूप कोढ़ग्रस्त वृद्धा को प्रियतम रूपसी का,
पदवी, पदक, सम्मान दस्युओं को देगा,
पंक्ति में महामंत्रियों की उनको बिठा देगा, यही, हां यही तो
मार खाई हीन विधवा को नववधू बना देगा।
आ, उठ नीच धरती,
मानव मात्र की कुत्सित रखैल आ!"] (Shakespeare *Timon of Athens* [शेक्सपियर 'एथेंसवासी टाइमोन'].)

[2] «Οὐδὲν γὰρ ἀνθρώποισιν οἷον ἄργυρος
κακὸν νόμισμα ἔβλαστε· τοῦτο καὶ πόλεις
Πορθεῖ· τόδ' ἄνδρας ἐξανίστησιν δόμων·
Τόδ' ἐκδιδάσκει καὶ παραλλάσσει φρένας
Χρηστὰς πρὸς αἰσχρὰ ἀνθρώποις ἔχειν
Καὶ παντὸς ἔργου δυσσέβειαν εἰδέναι.»

के बाल पकडकर उसे पृथ्वी के गर्भ से खींचकर निकालने की कोशिश की थी[1], सोने को अपना पवित्र ग्रेल (Holy Grail) समझता है और स्वय अपने जीवन के मूल सिद्धान्त के कान्तिमय मूर्त्त रूप की तरह उसका अभिनन्दन करता है।

माल एक उपयोग-मूल्य की हैसियत से किसी खास आवश्यकता की पूर्ति करता है और भौतिक धन का एक विशिष्ट तत्त्व होता है। किंतु किसी माल का मूल्य इस बात की माप होता है कि उसमें भौतिक धन के अन्य सब तत्त्वो को अपनी ओर आकर्षित करने की कितनी शक्ति है, और इसलिए वह अपने मालिक के सामाजिक धन की माप होता है। मालो के बर्बर मालिक की दृष्टि में, और यहा तक कि पश्चिमी योरप के किसान की दृष्टि में भी, मूल्य रूप ही मूल्य होता है, और इसलिए जब उसके सोने और चादी के अपसचित कोष में बढती होती है, तो वह समझता है कि मूल्य में बढ़ती हुई है। यह सच है कि मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है, वह कभी तो स्वय उसके अपने मूल्य के परिवर्तन का परिणाम होता है और कभी मालो के मूल्य में होने वाले परिवर्तन का। किन्तु इससे एक ओर तो इसमें कोई फर्क नहीं पडता कि २०० औंस सोने में अब भी १०० औंस से ज्यादा मूल्य रहता है, और दूसरी ओर इस वस्तु के ठोस धात्वीय रूप के अन्य सब मालो का सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप और समस्त मानव-श्रम का तात्कालिक सामाजिक अवतार बने रहने में भी कोई बाधा नहीं पडती। अपसचय करने की इच्छा की प्रकृति ही ऐसी है कि उसकी कभी तुष्टि नहीं होती। यदि मुद्रा के गुणात्मक पहलू की ओर ध्यान दिया जाये या उसपर औपचारिक रूप से विचार किया जाये, तो मुद्रा का प्रभाव असीम होता है, अर्थात् वह भौतिक धन का सार्वत्रिक प्रतिनिधि होती है, क्योंकि उसे सीधे-सीधे किसी भी अन्य माल में बदला जा सकता है। किंतु इसके साथ ही मुद्रा की हर वास्तविक रकम मात्रा में सीमित होती है, और इसलिए क्रय-साधन के रूप में उसका प्रभाव भी सीमित होता है। मुद्रा की परिमाणात्मक सीमाओ और गुणात्मक सीमाहीनता का यह विरोध अपसचय करने वाले को लगातार चाबुक लगा-लगाकर उससे सिसाइफस (Sisyphus) के समान निरंतर सचय का श्रम कराता है। उसकी वही हालत होती है, जो किसी विजेता की होती है, जो हर नये देश को जीतने पर उसके रूप में केवल एक नयी सीमा देखता है।

सोने को मुद्रा के रूप में रोक रखने और उसे अपसचित धन की शकल देने के लिए जरूरी है कि उसे परिचलन में भाग न लेने दिया जाये, या उसे भोग के साधन में रूपान्तरित न होने दिया जाये। इसलिए, अपसचय करने वाला विषय-सुख की इच्छाओ का अपने सुवर्ण देव के सामने बलिदान कर देता है। वह सचमुच सन्यास धर्म का पालन करता है। दूसरी ओर, उसने मालो के रूप में परिचलन में जितना डाला है, उससे अधिक वह उसमें से बाहर नहीं निकाल सकता। वह जितना ज्यादा पैदा करता है, उतना ही ज्यादा बेच पाता है। अत कठोर परिश्रम करना,

---

["ससार म जितनी बुराइया है, उनमे सबसे बडी बुराई मुद्रा है। मुद्रा ही है, जो शहरा को वीरान कर देती है और लोगा से घर द्वार छुडा देती है। वह नैसर्गिक पवित्रता को विकृत और भ्रष्ट कर देती है और मनुष्य को बेईमानी की आदत सिखाती है।"]

(सोफोक्लीज, 'ऐण्टीगोन'।)

[1] «Ελπιζουσης τῆς πλεονεξίας ἀνάξειν ἐκ τῶν μυχῶν τῆς γῆς αὐτοη το Πλουτωνα» ('लाभ का मोह स्वय प्लेटो को पृथ्वी के गभ से खीचकर बाहर निकाल लेना चाहता था") (Athenaeux *Deipnosophis tarum libri quindecim*')।

पसा बचाना और लालच—ये तीन उसके मुख्य गुण होते हैं, और उसका सारा अर्थशास्त्र यह होता है कि ज्यादा बेचो और बहुत कम खरीदो।[1]

अपसंचित धन के इस सामान्य स्वरूप के साथ-साथ हम सोने और चादी की बनी हुई वस्तुओ के सग्रह के रूप में उसका कलापूर्ण स्वरूप भी पाते हैं। यह रूप पूजीवादी समाज के धन के साथ साथ बढता जाता है। दिदेरो ने कहा है "Soyons riches ou paraisons riches ("हमें धनी होना चाहिए या धनी प्रतीत होना चाहिए")। इस प्रकार, एक तरफ तो सोने और चादी द्वारा मुद्रा के रूप में जो काय किये जाते हैं, उनसे सम्बध न रखने वाली, सोने और चादी के लिए एक लगातार बढने वाली मडी पदा हो जाती है, और, दूसरी तरफ, मुद्रा की पूर्त्ति के लिए एक गुप्त स्रोत तैयार हो जाता है, जिसका मुख्यतया सकटो और सामाजिक उपद्रवो के समय सहारा लिया जाता है।

धात्विक परिचलन की अर्थ-व्यवस्था में अपसचय नाना प्रकार के कार्य करता है। उसका पहला काय सोने और चादी के सिक्को के चलन पर लागू होने वाली परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। हम देख चुके है कि किस तरह मालो के परिचलन के विस्तार एव तीव्रता तथा उनके दामो में लगातार आते रहने वाले उतार चढाव के साथ-साथ चालू मुद्रा की मात्रा में भी निरन्तर ज्वार-भाटा आता रहता है। अतएव, चालू मुद्रा की राशि में फैलने और सिकुड जाने की क्षमता होनी चाहिए। एक समय मुद्रा को आकर्षित किया जाना चाहिए कि वह आकर चालू सिक्को की तरह काम करे, दूसरे समय चालू सिक्को को धकेलकर बाहर कर देना चाहिए, ताकि वे फिर न्यूनाधिक निश्चल मुद्रा की तरह काम करने लगें। इसलिए कि वास्तव में चालू मुद्रा की राशि परिचलन की मुद्रा खपाने की शक्ति को सदा पूरी तरह तृप्त करती रहे, तो उसके लिए यह जरूरी है कि सिक्के का काम करने के लिए जितने सोने चादी की जरूरत है, देश में उससे सदा अधिक मात्रा में सोना-चादी हो। यह शत मुद्रा के अपसचित धन का रूप ले लेने से पूरी होती है। ये सुरक्षित मुद्राशय परिचलन में मुद्रा भेजने और वहा से मुद्रा वापिस खींचने की नालियो का काम करते हैं, और इस तरह मुद्रा कभी तट प्लावन नहीं करने पाती।[2]

---

[1] Accrescere quanto piu si puo il numero de venditori d ogni merce diminuere quanto piu si puo il numero dei compratori questi sono i cardini sui quali si raggirano tutte le operazioni di economia politica ["हर तरह की वाणिज्य वस्तुओ के बेचने वालो की सख्या को अधिक से अधिक बढा देना और खरीदारो की सख्या को अधिक से अधिक कम कर देना—इन्ही दो कुलाबो के सहारे अर्थशास्त्र की सारी क्रियाएं चलती हैं'] (Verri, उप० पु०, पृ० ५२)।

[2] "राष्ट्र का व्यापार चलाने के लिए विशिष्ट मुद्रा की एक निश्चित रकम की आवश्यकता होती है, जो बदलती रहती है और हमारी परिस्थितियो के अनुसार कभी ज्यादा होती है और कभी कम मुद्रा का यह ज्वार और भाटा अपने आप ही आता जाता रहता है और अपने आप ही सतुलन प्राप्त कर लेता है,—उसके लिए राजनीतिज्ञो की किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नही होती ये डोल बारी-बारी से काम करते हैं जब मुद्रा की कमी होती है, तब सोने चादी के कलधौत ढाल दिये जाते हैं, जब सोने-चादी की कमी होती है, तब मुद्रा गला दी जाती है।" (Sir D North उप० पु०, Postscript [पुनश्च], पृ० ३।) जान स्टुअर्ट मिल, जो बहुत दिनो तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी रहे थे, इस बात की पुष्टि

ख) भुगतान के साधन

अभी तक हमने माल के परिचलन के जिस साधारण रूप पर विचार किया है, उसमें प्रत्येक निश्चित मूल्य सदा दोहरी शकल में हमारे सामने आया है–एक ध्रुव पर माल की शकल में और उसके उल्टे ध्रुव पर मुद्रा की शकल में। इसलिए मालो के मालिक सदा ऐसी चीजो के प्रतिनिधियो के रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे, जो पहले ही से एक दूसरे का सम-मूल्य थीं। लेकिन परिचलन का विकास होने के साथ साथ ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती ह, जिनमें मालो के हस्तातरण और उनके दामो के मूर्त्त रूप प्राप्त करने के बीच समय का अन्तर पैदा हो जाता है। इनमें जो सबसे सरल परिस्थितिया हैं, यहा उनकी ओर सकेत कर देना काफी होगा। एक तरह की चीज के उत्पादन में ज्यादा और दूसरी तरह की चीज के उत्पादन में कम समय लगता है। फिर अलग अलग मालो का उत्पादन अलग-अलग मौसमो पर निभर करता है। मुमकिन है कि एक तरह का माल अपनी मण्डी में ही पदा होता हो और दूसरा माल लम्बा सफर पूरा करके मण्डी में पहुचता हो। और इसलिए यह मुमकिन है कि इसके पहले कि दूसरे नम्बर के माल का मालिक खरीदने के लिए तयार हो, पहले नम्बर के माल का मालिक बेचने के लिए तयार हो जाये। जब उन्हीं व्यक्तियो के बीच में एक ही प्रकार के सौदे लगातार दोहराये जाते हैं, तब बिक्री की शर्तों का नियमन उत्पादन की परिस्थितियो के अनुसार होता है। दूसरी ओर, एक प्रकार के माल का–उदाहरण के लिए, एक मकान का–उपयोग एक निश्चित काल के लिए बेचा जाता है (या यदि प्रचलित भाषा का प्रयोग किया जाय, तो उसे किराये पर उठा दिया जाता है)। ऐसी सूरत में केवल नियत काल की समाप्ति पर ही खरीदार को माल का उपयोग मूल्य सचमुच प्राप्त हो पाता है। इसलिए वह उसे खरीद पहले लेता है और दाम का भुगतान बाद को करता है। बेचने वाला एक ऐसा माल बेचता है, जो पहले से मौजूद है, खरीदार महज मुद्रा के–बल्कि कहना चाहिए कि भावी मुद्रा के–प्रतिनिधि के रूप में खरीदता है। बेचने वाला लेनदार बन जाता है, खरीदार देनदार हो जाता है। यहा चूकि मालो का रूपान्तरण–अथवा उनके मूल्य रूप का विकास–एक नयी अवस्था में सामने आता है, इसलिए मुद्रा भी एक नया कार्य करने लगती है। वह भुगतान का साधन बन जाती है।

यहा पर लेनदार या देनदार का रूप साधारण परिचलन का फल होता है। उस परिचलन का रूप परिवतन ग्राहक और विक्रेता पर इस नयी मुहर की छाप लगा देता है। इसलिए, शुरू-

---

करते है कि हिन्दुस्तान मे चादी के जेवर अब भी सीधे तौर पर अपसचित धन का काम करते हैं। जब सूद की दर ऊची होती है, तब चादी के जेवर बाहर निकल आते है और उनके सिक्के ढल जाते हैं, और जब सूद की दर गिर जाती है, तब वे फिर वापिस चले जाते है। (J S Mill s Evidence "*Reports on Bank Acts* [जो० एस० मिल की गवाही, 'बैंक सम्बधी कानूनो के विषय मे रिपोर्ट'], 1857, २०८४।) हिन्दुस्तान के सोने और चादी के आयात और नियात के सम्बध मे १८६४ की एक ससदीय दस्तावेज के अनुसार १८६३ मे हिन्दुस्तान से सोने और चादी का जितना निर्यात हुआ था, उससे १,९३,६७,७६४ पौण्ड अधिक का आयात हुआ था। १८६४ तक जो आठ साल बीत चुके थे, उनमे बहुमूल्य धातुओ का जितना नियात हुआ था, उससे १०,९६,५२,९१७ पौण्ड अधिक का आयात हुआ था। इस शताब्दी मे हिन्दुस्तान मे २० करोड पौण्ड से कही ज्यादा के सिक्के ढाले जा चुके है।

शुरू में ये नयी भूमिकाए उतनी ही क्षणिक और बारी-बारी से आने वाली होती ह, जितना कि विक्रेता और ग्राहक की भूमिकाए, और यही अभिनेता अपनी अपनी जगह उन्हें अदा करतहैं। मगर विरोध लगभग इतना ही सुखद नहीं है, और उसका स्फटिकीकरण हो जाना कहीं ज्यादा सम्भव होता है[1]। किन्तु देनदार और लेनदार की ये भूमिकाए मालो के परिचलन से स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न हो सकती ह। प्राचीन काल के वग सघष मुख्यतया देनदारो और लेनदारों के सघष का रूप धारण कर लेते थे। रोम में इसी प्रकार का सघष देनदार जन-साधारण के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ था, और उनका स्थान गुलामों ने ले लिया था। मध्य युग म देनदारो और लेनदारो का सघर्ष सामन्ती देनदारो के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ था, जिनकी राजनीतिक सत्ता भी अपने आर्थिक आधार के साथ-साथ नष्ट हो गयी थी। फिर भी इन दो कालो में देनदार और लेनदार के बीच विद्यमान मुद्रा का सम्बध केवल सम्बधित वर्गों के अस्तित्व के लिए आवश्यक सामान्य आर्थिक परिस्थितिया के बीच पाये जाने वाले कहीं अधिक गहरे विरोध का ही प्रतिबिम्ब था।

आइये, अब फिर मालो के परिचलन की ओर लौट चले। बिक्री की क्रिया के दो ध्रुवों पर माल और मुद्रा नामक दो सम-मूल्य अब एक साथ प्रकट नहीं होते। अब मुद्रा पहले बिकने वाले माल का दाम निर्धारित करने में मूल्य की माप का काम करती है। सौदे म जो दाम त होता है, वह देनदार की जिम्मेदारी की माप होता है, यानी वह बताता है कि एक निश्चित तारीख को उसे मुद्रा के रूप में कितनी रक़म अदा कर देनी पड़ेगी। दूसरे, मुद्रा क्रय के भावगत साधन की तरह काम करती है। यद्यपि उसका अस्तित्व केवल ग्राहक के भुगतान करने के वायदे में ही होता है, फिर भी वह माल को एक हाथ से निकालकर दूसरे हाथ में पहुचा देती है। भुगतान के लिए जो दिन निश्चित होता है, उसके पहले भुगतान का साधन सचमुच परिचलन में प्रवेश नहीं करता, उसके पहले वह ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में नहीं जाता। यहा चालू माध्यम अपसचित धन में रूपान्तरित हो गया, क्योकि पहली अवस्था के बाद क्रिया बीच में ही रुक गयी, और वह भी इसलिए कि माल का परिवर्तित रूप यानी मुद्रा परिचलन के बाहर खींच ली गयी। भुगतान का माध्यम परिचलन में प्रवेश करता है, मगर केवल उसी वक्त, जब कि माल परिचलन के बाहर जा चुका होता है। अब मुद्रा क्रिया को नियोजित करने वाला साधन नहीं है। अब वह विनिमय मूल्य के अस्तित्व के निरपेक्ष रूप की तरह, या सार्वत्रिक माल की तरह सामने आकर, केवल क्रिया को समाप्त करती है। विक्रेता ने अपने माल को मुद्रा में इसलिए बदला कि अपनी कोई आवश्यकता पूरी कर सके अपसचय करने वाले ने यही काम इसलिए किया कि अपने माल को मुद्रा की शकल में रख सके, और देनदार ने इसलिए किया कि वह भुगतान कर सके, क्योंकि यदि वह भुगतान नहीं करेगा, तो कुर्क-अमीन आकर उसका माल नीलाम कर डालेगा। अतएव

---

[1] १८ वीं सदी के शुरू मे अग्रेज व्यापारियो मे देनदार और लेनदार के बीच कैसे सम्बध थे, इसका वणन निम्न शब्दो मे देखिये "यहा इगलैण्ड के व्यापारियो मे निदयता की ऐसी क्रूर भावना पायी जाती है, जैसी न तो मनुष्यो के किसी और समाज मे पायी जाती है और न ससार के किसी और राज्य मे।" (*An Essay on Credit and the Bankrupt Act* ['उधार और दिवालिया कानून के विषय मे एक निबध'], London 1707 पृ० २।)

मालो का मूल्य-रूप – मुद्रा – ही अब हर बिक्री का ध्येय और लक्ष्य है, और यह स्वय परिचलन की क्रिया से उत्पन्न होने वाली एक सामाजिक आवश्यकता के कारण है।

खरीदार मालो को मुद्रा में बदलने के पहले मुद्रा को मालो में बदल डालता है। दूसरे शब्दो में, वह मालो के प्रथम रूपान्तरण के पहले ही उनका दूसरा रूपान्तरण सम्पन्न कर देता है। विक्रेता का माल परिचलन में भाग लेता है और उसका दाम भी मूर्त रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन केवल मुद्रा के ऊपर एक कानूनी दावे की शकल में। मुद्रा में बदले जाने के पहले ही वह एक उपयोग मूल्य में बदल दिया जाता है। उसका प्रथम रूपान्तरण केवल बाद को सम्पन्न होता है।[1]

किसी खास काल में जिन कर्जों का भुगतान करना जरूरी होता है, वे उन मालो के दामो के जोड का प्रतिनिधित्व करते ह, जिनकी बिक्री के फलस्वरूप इन कर्जो का जन्म हुआ है। इस रक़म की अदायगी के लिए सोने की कितनी मात्रा आवश्यक होगी, यह सबसे पहले तो भुगतान के साधनो के चलन की तेजी पर निर्भर करता है। यह तेजी स्वय दो बातो पर निर्भर करती है। एक तो देनदारो और लेनदारो के बीच जो सम्बध होते हैं, उनसे एक तरह की शृखला बन जाती है, जिससे कि जब 'क' को अपने देनदार 'ख' से मुद्रा मिलती है तो वह उसे सीधे अपने लेनदार 'ग' को सौंप देता है, और यह क्रम इसी तरह चलता रहता है। दूसरी बात यह देखनी पडती है कि अलग अलग कर्जों की अदायगी के लिए जो तारीखें निश्चित हैं, उनमें समय का अतर कितना कितना है। भुगतानो की – अथवा बीच में रोक दिये गये प्रथम रूपान्तरणो की – सतत शृखला रूपान्तरणो के एक दूसरे से गुथे हुए उन क्रमो से बुनियादी तौर पर भिन्न है, जिनपर हमने पीछे एक पृष्ठ पर विचार किया था। ग्राहको और विक्रेताओ के बीच जो सम्बध होता है, वह चालू माध्यम के चलन के द्वारा केवल व्यक्त ही नहीं होता। इस सम्बध का उद्भव भी केवल परिचलन में ही होता है, और उसी के भीतर उसका अस्तित्व भी होता है। इसके विपरीत, भुगतान के साधनो की हरकत एक ऐसे सामाजिक सम्बध को व्यक्त करती है, जो बहुत पहले से ही मौजूद था।

अनेक बिक्रिया चूकि एक ही समय पर और साथ साथ होती हैं, इसलिए चलन की तेजी एक हद से ज्यादा सिक्के का स्थान नहीं ले सकती। दूसरी ओर, यही तथ्य भुगतान के साधनो की बचत करने के लिए एक नयी प्रेरणा देता है। जिस अनुपात में बहुत से भुगतान एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते ह, उसी अनुपात में उनका परिसमापन करने के लिए खास तरह की

---

[1] १८५६ मे मेरी जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसके निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा कि वर्तमान पुस्तक के मूल पाठ मे इसके एक विरोधी स्वरूप की कोई चर्चा मैं क्यो नही करता हू "इसके विपरीत, मु – मा क्रिया मे मुद्रा का खरीद के वास्तविक साधन के रूप मे हस्तातरण हो सकता है, और इस तरह मुद्रा का उपयोग मूल्य वसूल होने तथा माल के सचमुच खरीदार को मिलने के पहले ही माल का दाम वसूल किया जा सकता है। पूर्व-भुगतान की प्रचलित प्रथा के मातहत यह चीज बराबर होती रहती है। और अग्रेज सरकार हिन्दुस्तान के किसानो से इसी प्रथा के अनुसार अफीम खरीदती है लेकिन ऐसी सूरत मे मुद्रा सदा खरीद के साधन का काम करती है जाहिर है, पूजी भी मुद्रा की शकल मे ही पेशगी लगायी जाती है किन्तु यह दृष्टिकोण साधारण परिचलन के क्षेत्र मे नही आता।" (*Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ['अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'], पृ० ११६, १२०।)

संस्थाओं और पद्धतियों का विकास हो जाता है। मध्य युग में लियोंस शहर में virements (ऋण कटौती) नामक ऐसी ही संस्था थी। 'क' का 'ख' पर जितना ऋण है और 'ख' का 'ग' पर तथा 'ग' का 'क' पर, और इसी तरह अन्य लोगों का ऋण,—इन सब ऋणों को केवल एक दूसरे के सामने रखा जाता था, ताकि सकारात्मक और नकारात्मक मात्राओं की भांति उन्हें आपस में काट दिया जाये। और इस प्रकार केवल एक राशि बकाया बच रहती है, जिसका भुगतान करना जरूरी होता है। किसी स्थान पर भुगतानों का जितना अधिक संकेद्रण होता है, भुगतानों की कुल रकम की तुलना में यह बकाया राशि उतनी ही कम होती है और परिचलन में शामिल भुगतान के साधनों की मात्रा भी उतनी ही कम होती है।

भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा जो काम करती है, उसमें एक प्रत्यक्ष विरोध निहित होता है, यानी उस विरोध में कोई terminus medius नहीं होता। जिस हद तक कि अलग-अलग भुगतान एक-दूसरे को मंसूख कर देते हैं, उस हद तक मुद्रा लेखा-मुद्रा के रूप में—मूल्य की माप के रूप में—केवल भावगत ढंग से काम करती है। जिस हद तक कि सचमुच भुगतान करने होते हैं, उस हद तक मुद्रा चालू माध्यम की तरह या वस्तुओं के आदान-प्रदान के मात्र एक क्षणिक अभिकर्त्ता की तरह नहीं, बल्कि उस हद तक यह सामाजिक श्रम के वैयक्तिक अवतार, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व के स्वतंत्र रूप और सार्वत्रिक माल की तरह काम करती है। यह विरोध औद्योगिक तथा व्यापारिक संकटों की उन अवस्थाओं में खुलकर सामने आता है, जो मुद्रा का संकट कहलाती हैं।[1] ऐसा संकट केवल वहीं पर आता है, जहां भुगतानों की बराबर लम्बी खिचती चली जाने वाली शृंखला और भुगतानों को निपटाने की एक बनावटी व्यवस्था का पूर्ण विकास हो गया है। जब कभी इस ढांचे में कोई सामान्य एवं व्यापक गड़बड़ी पैदा हो जाती है,—उसका कारण चाहे कुछ भी हो,—तब मुद्रा यकायक और तत्काल लेखा-मुद्रा के मात्र भावगत रूप को त्यागकर ठोस नकदी बन जाती है। अब घटिया माल उसका स्थान नहीं ले सकते। मालों का उपयोग मूल्य मूल्यहीन हो जाता है, और उनका मूल्य स्वयं अपने स्वतंत्र रूप का सामना होने पर गायब हो जाता है। संकट के कुछ ही पहले तक पूंजीपति मदोन्मत्त कर देने वाली समृद्धि से उत्पन्न आत्म निर्भरता के गर्व के साथ यह घोषणा करता है कि मुद्रा एक वृथा का भ्रम है, केवल माल ही मुद्रा होते हैं। परन्तु अब हर तरफ यह शोर मचता है कि मुद्रा ही एकमात्र माल है। जिस प्रकार हिरन ताजे पानी के लिए तड़पता है, उसी प्रकार अब पूंजीपति की आत्मा मुद्रा के लिए, उस एकमात्र धन के लिए, तड़पती है।[2] संकट-काल

[1] पाठ में जिस मुद्रा-संकट का जिक्र किया गया है, वह प्रत्येक संकट की एक अवस्था होती है और उसे उस खास ढंग के संकट से बिल्कुल अलग करके देखना चाहिए, जो मुद्रा-संकट ही कहलाता है, लेकिन जो एक स्वतंत्र घटना के रूप में अलग से भी उत्पन्न हो सकता है और जिसका उद्योग तथा व्यापार पर केवल अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभाव पड़ता है। इन संकटों की धुरी मुद्रा रूपी पूंजी होती है, और चुनांचे उनके प्रत्यक्ष प्रभाव का क्षेत्र इस पूंजी का क्षेत्र, अर्थात बैंक, स्टाक एक्सचेंज और वित्त प्रबंध होते हैं।

[2] "उधार की प्रणाली को त्यागकर सब का यकायक फिर ठोस नकदी की प्रणाली पर लौट आना—यह क्रिया व्यावहारिक बदहवासी तो फैलाती ही है, ऊपर से सैद्धांतिक बदहवासी भी पैदा कर देती है, और वे तमाम व्यक्ति, जिनके जरिये परिचलन सम्पन्न होता है, उस दुर्गम रहस्य को देखकर थर थर कांपने लगते हैं, जिसमें उनके अपने आर्थिक सम्बंध उलझ गये हैं।"

होने पर मालो और उनके मूल्य-रूप – मुद्रा – का विरोध तीव्र होकर एक निरपेक्ष विरोध बन जाता है। इसलिए ऐसी हालत पदा होने पर इसका कोई महत्व नहीं रहता कि मुद्रा किस रूप में प्रकट होती है। भुगतान चाहे सोने में करने पड़ें और चाहे बैंक-नोटों जैसी उधार-मुद्रा में, मुद्रा का अकाल जारी रहता है।[1]

अब यदि हम किसी निश्चित काल में चालू मुद्रा के कुल जोड पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि अगर हमें चालू माध्यम के तथा भुगतान के साधन के चलन की तेजी मालूम हो, तो चालू मुद्रा का कुल जोड इस तरह मालूम हो सकता है कि जिन दामो को मूर्त रूप धारण करना है, उनको जोड लिया जाये और उसके साथ उन भुगतानो की रक़म को भी जोड दिया जाये, जिनको निबटाने की तारीख इस काल में पडने वाली है, फिर इस जोड में से उन भुगतानो को घटाना होगा, जो एक दूसरे को मसूख कर देते है, और परिचलन के साधन के रूप में और भुगतान के साधन के रूप में बारी-बारी से एक अकेला सिक्का जितने परिपथो में काम करता है, उनकी सख्या को भी इस जोड में से कम कर देना पडेगा और तब हमें चालू मुद्रा का कुल जोड मिल जायेगा। इसलिए उस वक्त भी, जब दाम, चलन की तेजी, और भुगतानो में बरती जाने वाली मितव्ययिता की मात्रा पहले से निश्चित होते है, तब भी किसी एक निश्चित काल में – जसे दिन भर – चालू रहने वाली मुद्रा की मात्रा और उसी काल में परिचलन

(Karl Marx उप० पु०, पृ० १२६।) "गरीब हाथ पर हाथ रखकर खडे हो जाते हैं, क्योकि धनियो के पास उनको नौकर रखने के लिए मुद्रा नही होती, हालाकि उनके पास भोजन और कपडा तैयार करने के लिए वह जमीन और वे हाथ अब भी होते हैं, जो उनके पास पहले थे, और असल मे तो किसी भी राष्ट्र का सच्चा धन मुद्रा नही, यह जमीन और ये हाथ ही होते हैं।" (John Bellers, "*Proposals for Raising a Colledge of Industry*" [जान बैलेस, 'उद्योग का एक कालिज स्थापित करने के सम्बध मे कुछ सुझाव'], London, 1696, पृ० ३।)

[1] नीचे दिये हुए उदाहरण से मालूम हो जायेगा कि जो लोग अपने को "amis du commerce ("व्यापार के मित्र") कहते हैं, वे ऐसी हालत से किस तरह फायदा उठाते हैं। "एक बार (१८३९ मे) एक पुराने लालची महाजन ने (सिटी मे) अपने निजी कमरे मे अपने डेस्क का ढक्कन खोलकर बैंक-नोटो की एक गड्डी अपने एक मित्र को दिखायी और बहुत मजा लेते हुए कहा कि ये ६ लाख पौण्ड के नोट हैं, जिनको उसने मुद्रा को अप्राप्य बना देने के लिए रोक रखा है, और अब वह उसी रोज तीसरे पहर के तीन बजे उन सब को मुक्त कर देने वाला है।" (*The Theory of Exchanges The Bank Charter Act of 1844* ['मुद्रा के बाजारो का सिद्धात। १८४४ का बैंक चार्टर कानून'], London, 1864 पृ० ८१।) अर्ध सरकारी मुख-पत्र *The Observer*' मे २४ अप्रैल १८६४ को यह खबर छपी थी "बैंक-नोटो का अकाल पैदा करने के लिए जो तरीके इस्तेमाल किये गये हैं, उनके बारे मे कुछ बहुत अजीबोगरीब अफवाहे फैली हुई हैं ऊपर से यह बात भले ही सदेहास्पद लगे कि कोई इस तरह की चाल चली गयी होगी, फिर भी यह खबर इतनी आम है कि उसका जिक्र करना जरूरी हो जाता है।"

में भाग लेने वाले मालो का परिमाण एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होते। जो माल परिचलन से हटा लिये गये है, उनका प्रतिनिधित्व करने वाली मुद्रा इसके बाद भी चालू रहती है। एम माल परिचलन में भाग लेते रहते हैं, जिनका मुद्रा के रूप में सम-मूल्य अभी किसी भावी तिथि पर सामने नहीं आयेगा। इसके अलावा, हर रोज जो सौदे उधार किये जाते है और उसी रोज जिन भुगतानो को निबटाने की तारीख पड़ती है, उसकी मात्रायें बिल्कुल असमान होती है।[1]

उधार-मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा के कार्य से उत्पन्न होता है। खरीदे हुए मालो के लिए किये गये क़र्जों के प्रमाण पत्र इन क़र्जों को दूसरो के कधो पर डालन के लिए चालू हो जाते है। दूसरी ओर, उधार की व्यवस्था का जितना विस्तार बढ़ता है, भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा का काय उतना ही विस्तार प्राप्त करता जाता है। भुगतान के साधन का काम करते हुए मुद्रा अनेक ऐसे विचित्र रूप धारण करती है, जो केवल मग की ही विशेषता होते है। इन रूपो में वह बड़े-बड़े वाणिज्य सम्बधी सौदो के क्षेत्र में अपने को जमा लेती है। दूसरी ओर, सोने और चादी के बने सिक्के मुख्यतया फुटकर व्यापार के क्षत्र म डाल दिये जाते हैं।[2]

मालो का उत्पादन जब काफी विस्तार प्राप्त कर लेता है, तब मुद्रा मालो के परिचलन क क्षेत्र के बाहर भी भुगतान के साधन का काम करने लगती है। मुद्रा वह माल बन जाती है,

---

[1] "किसी एक खास दिन जो खरीदारिया या सौदे होते हैं, उनका उस रोज़ चालू रहने वाली मुद्रा की मात्रा पर कोई असर नही पडेगा, लेकिन अधिकाशतया ये न्यूनाधिक समय बाद आने वाली तारीखो पर जो मुद्रा चालू होगी, उसके लिए नाना प्रकार के ड्राफ्ट बन जायेंगे　आज जो हुण्डिया मजूर की जाती है या जो ऋण दिये जाते हैं, उनमे और कल का या परसो को जो हुडिया मजूर की जायेंगी या जो ऋण दिये जायेंगे, उनमे मात्रा, परिमाण या अवधि की कोई भी समानता होगी, यह क़तई जरूरी नही है। नही, बल्कि जब आज की बहुत सी हुण्डिया और ऋण की रकमो के भुगतान की तारीख आयेगी, तब उनके साथ साथ बहुत सी ऐसी देनदारियो को निबटाने का समय भी आ जायेगा, जिनका मूल कुछ पहले की सर्वथा अनिश्चित तारीखो का है, उनके साथ साथ कुछ १२ महीने, ६ महीने, ३ महीने और १ महीने की पुरानी हुण्डिया को निबटाने का समय भी आ जायेगा, और वे सब मिलकर एक खास दिन की सामान्य देनदारियो को बहुत बढा देगी　" (*The Currency Theory Reviewed, in a Letter to the Scottish People*　By a Banker in England ['मुद्रा सिद्धान्त की समालोचना, स्काट जनता के नाम एक पत्र।' इगलैण्ड के एक बैंकर द्वारा लिखित], Edinburgh 1845 पृ० २६, ३०, अनेक स्थानो पर।)

[2] वाणिज्य की वास्तविक क्रियाओ मे कितनी कम नक़द मुद्रा की जरूरत होती है, इसका एक उदाहरण के रूप मे मैं लदन की सबसे बडी कम्पनियो मे से एक का वार्षिक आय तथा भुगतान का विवरण नीचे दे रहा हू। १८५६ मे उसने जो अनेक सौदे किये थे और जो कई-कई करोड़ पौंड स्टर्लिंग के बैठते थे, वे इस विवरण मे दस लाख के अनुमाप के अनुसार परिवर्तित करके दिये गये हैं।

जो सभी सौदो की सार्वत्रिक विषय-वस्तु होता है।[1] लगान, कर और इसी तरह के अन्य भुगतान जिन्स के रूप में किये जाने वाले भुगतानो से मुद्रा-भुगतानो में रूपान्तरित कर दिये जाते हैं। यह रूपान्तरण उत्पादन की सामान्य परिस्थितियो पर किस हद तक निर्भर करता है, इसका एक उदाहरण यह है कि रोमन साम्राज्य ने दो बार सारे कर मुद्रा के रूप में वसूल करने की कोशिश की और यह दोनो बार असफल रहा। लुई चौदहवें के राज्य काल में फ्रास की खेतिहर आबादी जिस अवर्णनीय गरीबी में रहती थी और जिसकी बाजुग्विलेबर्ट, मार्शल वौबा और अन्य लेखको ने इतने जोरदार शब्दो में निन्दा की है, उसका कारण केवल इतना ही न था कि करो का बोझा बहुत भारी था, बल्कि उसका कारण यह भी था कि जिन्स के रूप में वसूल किये जाने वाले कर मुद्रा-करो में बदल दिये गये थे।[2] दूसरी ओर, एशिया में यदि राज्य के कर मुख्यतया जिन्स के रूप में अदा किये जाने वाले लगान की शकल में होते हैं, तो इसका कारण

आय	पौंड	भुगतान	पौंड
बैंकरो और सौदागरो की हुडिया, जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी	५,३३,५९६	हुडिया, जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी	३,०२,६७४
बैंकरा आदि के चेक, जो मागते ही चुकाये जायेंगे	३,५७,७१५	लदन के बैंकरो पर चेक	६,६३,६७२
स्थानीय बैंको के जारी किये हुए बैंक-नोट	९,६२७	बैंक आफ इगलैण्ड के नोट	२२,७४३
बैंक आफ इगलैण्ड के नोट	६८,५५४	सोना	९,४२७
सोना	२८,०८९	चादी और ताबा	१,४८४
चादी और ताबा	१,४८६		
पोस्ट आफिस के आर्डर	९३३		
कुल जोड	१०,००,०००	कुल जोड	१०,००,०००

(*Report from the Select Committee on the Bank Acts, July, 1858*, p Lxxı ['बैंक सम्बधी कानूनो पर प्रवर समिति की रिपोर्ट, जुलाई १८५८', पृष्ठ इकहत्तर]।)

[1] जब व्यापार का क्रम इस तरह बदल जाता है, जब सामान के साथ सामान का विनिमय करने और सामान देने और सामान लेने के बजाय क्रय और विक्रय शुरू हो जाता है, तब इन सारे सौदो का मुद्रा के रूप मे दामो के आधार पर हिसाब लगाया जाता है।" (*An Essay upon Public Credit*' ['सार्वजनिक साख के विषय मे एक निबंध'], तीसरा सस्करण, London, 1710 पृ० ८।)

[2] "L argent est devenu le bourreau de toutes choses ["मुद्रा एक तरह का सार्वजनिक वधिक बन गयी है"]। वित्त alambıc quı a faıt evaporer une quantıte eff royable de bıens et de denrees pour faıre ce fatal precıs L argent declare la guerre a tout le genre humaın' ["एक भभका है, जिसमे बेशुमार उपयोगी चीजो और जीवन-यापन के साधनो को गरम करके यह खतरनाक अवशेष पैदा करने के लिए नष्ट कर

उत्पादन की परिस्थितिया ह, जिनका प्राकृतिक घटनाम्रो की नियमितता के साथ पुनरुत्पादन होता रहता है। उधर भुगतान का यह ढग प्राचीन उत्पादन-प्रणाली को क़ायम रखता है। उसमानिया साम्राज्य की स्थिरता का एक कारण यह भी था। जापान की कृषि व्यवस्था दूसरे देशों के लिए मिसाल समझी जाती है, पर योरप के लोग जापान पर जिस तरह का विदेशी व्यापार जबरन थोप रहे ह, यदि उसके परिणामस्वरूप जिस के रूप में वसूल किये जाने वाले लगान की जगह पर मुद्रा के रूप में लगान वसूल किया जाने लगा, तो इस कृषि-व्यवस्था का अन्त हो जायेगा। यह कृषि व्यवस्था जिन सकीण आर्थिक परिस्थितियो के भीतर काम करती है, उनका सफाया हो जायेगा।

हर देश में बडे-बडे और आवर्तक भुगतानो को निबटाने के लिए वर्ष के कुछ खास दिन परम्परा के रूप में नियत हो जाते ह। ये तिथिया पुनरुत्पादन के चक्र के अन्य परिक्रमणों के अलावा मौसम से गहरा ताल्लुक रखने वाली परिस्थितियो पर भी निभर करती है। ये तिथिया कर, लगान इत्यादि जैसे भुगतानो की तिथियो का भी नियमन करती है, जिनका मालो के परिचलन से कोई प्रत्यक्ष सम्बध नहीं होता। इन तिथियो पर पूरे देश में एक साथ जिन भुगतानो को निबटाना पडता है, उनके लिए जो मुद्रा आवश्यक होती है, उससे भुगतान के साधन की व्यवस्था में कुछ नियतकालिक, यद्यपि सतही गडबडी पैदा हो जाती है।[1]

दिया जाता है।" "मुद्रा सम्पूर्ण मानव जाति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देती है"। (Boisguillebert *Dissertation sur la nature des richesses, de l argent et des tributs* Daire का सस्करण, '*Economistes financiers*, Paris 1843, ग्रथ १, पृ० ४१३, ४१६, ४१७।)

[1] मि० क्रेग ने हाउस ग्राफ कामन्स की १८२६ की समिति के सामने कहा है "१८२४ म वीट्स्न्टाइड (ईस्टर के वाद के सातवे रविवार) के दिन एडिनबरा के वैको मे से इतनी भारी सख्या मे नोट निकाले गये कि ११ वजे तक उनके पास एक भी नोट नही बचा। उन्होने दूसरे तमाम बैंको से नोट उधार मगवाये, मगर वहा भी नही मिले, और बहुत से सौदे कागज के पुर्जे (slips of paper) देकर निबटाये गये। और फिर भी तीसरे पहर के तीन बजे तक सारे नोट उन वैको में लौट आये, जहा से वे जारी हुए थे। ये नोट महज एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमे थे।" यद्यपि स्कॉटलैण्ड मे बैंक नोटो का औसत कारगर परिचलन ३० लाख पौंड स्टर्लिंग से कम का है, फिर भी वर्ष मे भुगतान के कुछ खास ऐसे दिन आते है, जब बैंकरों के पास कुल जितने नोट होते है,—और उनके पास कुल नोट लगभग ७० लाख पौंड के होते है,—उनका से एक एक इस्तेमाल हो जाता है। इन अवसरो पर नोटो को केवल एक विशिष्ट काय करना पडता है, और उसे पूरा करते ही वे उन विभिन्न वैको मे लौट जाते ह, जिनसे वे जारी हुए थे। (देखिये John Fullarton की रचना *Regulation of Currencies* ['मुद्राओं का नियमन'], London 1845 पृ० ८६, नोट।) बात को स्पष्ट करने के लिए यहा यह बता देना आवश्यक है कि जिस जमाने मे फुलार्टन की यह रचना लिखी गयी थी, उस जमाने मे स्काटलैण्ड के वैको म जमा की गयी रकमे निकालने के लिए चैक नही, बल्कि नोट इस्तेमाल किये जाते थे।

भुगतान के साधनो के चलन की तेजी के नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त नियतकालिक भुगतानो के लिए, वे चाहे जिस मद के भुगतान हो, भुगतान के साधनो की जो मात्रा आवश्यक होती है, वह भुगतानो के नियत काल की लम्बाई के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[1]

मुद्रा का भुगतान के साधन में विकास हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि अपने ऊपर चढी हुई रकमो का भुगतान करने के लिए जो तिथिया निश्चित हो, उनके लिए पहले से मुद्रा का सचय किया जाये। पूजीवादी समाज की प्रगति के साथ साथ धन प्राप्त करने के एक विशिष्ट ढग के रूप में अपसचय का तो लोप हो जाता है, पर भुगतान के साधनो के सचित कोषो का निर्माण इस समाज की प्रगति के साथ-साथ बढता जाता है।

ग) सार्वत्रिक मुद्रा

जब मुद्रा परिचलन के घरेलू क्षेत्र के बाहर निकलती है, तो वहा वह दामो के मापदण्ड की – सिक्के की, प्रतीको की और मूल्य के चिह्न की – जो स्थानीय पोशाक पहने हुए थी, उतारकर फेंक देती है और कलधौत (सोना-चादी) का अपना मूल स्वरूप धारण कर लेती है। दुनिया की मडियो के बीच जो व्यापार होता है, उसमें मालो का मूल्य इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसे सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त हो। अतएव यहा मालो का स्वतत्र मूल्य रूप भी सार्वत्रिक मुद्रा की शकल में उनके सामने आकर खडा हो जाता है। केवल दुनिया की मण्डियो में ही मुद्रा पूरी तरह उस माल का स्वरूप प्राप्त करती है, जिसका शारीरिक रूप साथ ही अमूर्त मानव-श्रम का तात्कालिक सामाजिक अवतार भी होता है। इस क्षेत्र में उसके अस्तित्व की वास्तविक अवस्था पर्याप्त रूप से उसकी भावगत धारणा के अनुरूप होती है।

---

[1] "यदि प्रति वर्ष ४ करोड के लेन-देन की जरूरत हो, तो व्यापार के लिए मुद्रा के जितने परिभ्रमण और परिचलन आवश्यक होगे, उनके लिए क्या ६० लाख (सोने मे) काफी होगे?" – इस प्रश्न का पेटी ने अपने सहज अधिकारपूर्ण ढग से यह उत्तर दिया है कि 'मेरा उत्तर है हा। क्योकि यदि ४०० लाख खर्च होने है और यदि परिक्रमण इतने छोटे छोटे चक्रो मे – मिसाल के लिए, साप्ताहिक – होने हैं, जैसा कि गरीब दस्तकारो और मजदूरो मे होता है, जिनको हर शनिवार को मजदूरी मिलती है और जो हर शनिवार को भुगतान करते हैं, तो १० लाख मुद्रा के ४०/५२ हिस्से से ही काम चल जायेगा। लेकिन यदि परिक्रमणो के चक्र लगान देने और कर वसूलने की हमारी प्रथा के अनुसार त्रैमासिक चक्र है, तो एक करोड की आवश्यकता होगी। इसलिए, यदि भुगतानो को आम तौर पर एक सप्ताह से लेकर १३ सप्ताह तक के मिश्रित चक्र का मान लिया जाये, तो एक करोड के ४०/५२ हिस्से मे हमे एक करोड और जोडना पडेगा, जिसका आधा ५५ लाख होगे, और चुनाचे यदि हमारे पास ५५ लाख होगे, तो उनसे काम चल जायेगा।" (William Petty *'Political Anatomy of Ireland* [विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'] 1672 १६९१ मे लदन से प्रकाशित सस्करण, पृ० १३, १४।)

घरेलू परिचलन के क्षेत्र के भीतर केवल एक ही ऐसा माल हो सकता है, जो मूल्य का माप का काम करने के कारण मुद्रा बन जाता है। दुनिया की मंडियों में मूल्य की दोहरी माप का प्रभुत्व रहता है,—सोना और चांदी दोनों यह काम करते हैं।[1]

---

[1] इसलिए हर ऐसा कानून बेमानी है, जो यह चाहता है कि किसी देश के बैंक केवल उस बहुमूल्य धातु के संचित कोष का निर्माण करें, जो खुद उस देश के अंदर चालू हो। बैंक आफ़ इंगलैण्ड ने ऐसा करके अपने लिए खुद जो "सुखद कठिनाइयां" पैदा कर ली हैं, वे सुविदित हैं। सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्य में होने वाले परिवर्तनों के इतिहास में जो खास-खास दौर आये हैं, उनके बारे में जानने के लिए देखिये कार्ल मार्क्स की उपर्युक्त रचना, पृ० १३६ और उसके आगे के पृष्ठ। सर रोबर्ट पील ने १८४४ का बैंक-कानून बनाकर इस कठिनाई से बचने की कोशिश की थी। इस कानून के द्वारा बैंक आफ़ इंगलैण्ड को चांदी के कलधौतों के आधार और इस शर्त पर नोट जारी करने की इजाज़त दे दी गयी थी कि सुरक्षित कोष में चांदी की मात्रा सोने के सुरक्षित कोष के चौथाई भाग से कभी ज़्यादा न रहे। इस काम के लिए चांदी के मूल्य का अनुमान लन्दन की मंडी में प्रचलित भाव के आधार पर लगाया जाता था। [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया नोट: आजकल हम फिर अपने को एक ऐसे काल में पाते हैं, जब सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्यों में गम्भीर परिवर्तन हो रहा है। क़रीब २५ साल हुए, चांदी के साथ सोने का अनुपात १५ १/२ : १ था, अब वह २२ : १ है, और सोने के अनुपात में चांदी का मूल्य बराबर गिरता जा रहा है। बुनियादी तौर पर यह अनुपात-परिवर्तन इन दो धातुओं की उत्पादन प्रणाली में एक क्रान्ति हो जाने का परिणाम है। पहले सोना हासिल करने का लगभग एक ही ढंग था। स्वर्णमय चट्टानों के ऋतु-क्षरण के फलस्वरूप जिस रेतीली मिट्टी में सोना मिल जाता है, पहले उसे धोकर सोना निकाला जाता था। परन्तु अब यह तरीका काफ़ी नहीं है, और एक दूसरे तरीके ने उसका महत्त्व कम कर दिया है। यह स्फटिक के ऐसे स्तरों को, जिनमें सोना हो, खोदने का तरीका है। प्राचीन काल के लोगों को भी यह तरीका मालूम था, लेकिन उनके लिए वह एक गौण तरीका था (देखिये दिओदोरस, ३,१२–१४) (Diodor's v Sicilien *Historische Bibliothek*, खण्ड ३, पैरा १२–१४, Stuttgart, 1828, पृ० २५८–२६१)। इसके अलावा, न केवल उत्तरी अमरीका के रोकी पर्वतों के पश्चिमी भाग में चांदी के नये विशाल भण्डारों का पता चल गया है, बल्कि रेल की लाइनों के बिछ जाने से ये भण्डार और मेक्सिको की चांदी की खानें सचमुच सुलभ हो गयीं और रेलों के द्वारा आधुनिक मशीनें तथा ईंधन भेजना सम्भव हो गया, जिसके परिणामस्वरूप चांदी बहुत बड़े पैमाने और कम लागत पर निकाली जाने लगी। लेकिन ये दोनों धातुएं जिन शक्लों में स्फटिक की परतों में मिलती हैं, उनमें बड़ा भारी अन्तर होता है। सोना प्रायः शुद्ध रूप में होता है, लेकिन स्फटिक की परतों में सूक्ष्म मात्राओं में बिखरा रहता है। इसलिए, परत में से जो कुछ मिलता है, उस सब का चूरा कर देना पड़ता है और सोना या तो उसे धोकर और या पारे के ज़रिये निकाला जाता है। अक्सर दस लाख ग्राम स्फटिक में से केवल १ से लेकर ३ ग्राम तक ही सोना निकलता है, उससे अधिक नहीं। कभी कभार ३० से लेकर ६० ग्राम तक भी निकल आता है। चांदी शुद्ध रूप में बहुत कम पायी जाती है। किन्तु वह विशेष प्रकार के स्फटिक में मिलती है, जिसे अपेक्षाकृत सुगमता के साथ चट्टानों की परतों से अलग कर लिया जाता है और जिसमें प्रायः ४० से ६० प्रतिशत तक

दुनिया की मुद्रा भुगतान के सार्वत्रिक साधन का काम करती है, खरीदारी के सार्वत्रिक साधन का काम करती है और सारी धन दौलत के सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त मूर्त रूप का काम करती है। अंतरराष्ट्रीय लेन देन की बकाया रकमो को निबटाने के लिए भुगतान के साधन का काम करना उसका मुख्य काम होता है। इसीलिये व्यापार-संतुलन ही व्यापारवादियो का सिद्धान्त निर्देशक शब्द है।[1] सोना और चादी माल खरीदने के अंतरराष्ट्रीय साधन का काम

चादी होती है। या इससे कम मात्राओ मे चादी ताबे, सीसे तथा अन्य कच्ची धातुओ मे मिलती है, जिनको खोदकर निकालना वैसे भी लाभदायक होता है। केवल इतनी जानकारी ही यह समझने के लिए काफी है कि जहा सोना निकालने के लिए पहले से अधिक श्रम खर्च होता है, वहा चादी निकालने के लिए निश्चय ही पहले से कम श्रम खर्च होता है, और इससे स्वभावतया चादी का मूल्य गिर गया है। यदि चादी के दामो को इसके बाद भी बनावटी ढग से ऊपर टागकर न रखा जाता, तो उसके मूल्य मे जो गिराव आया है, वह दामो की इससे भी बडी घटती के रूप मे व्यक्त होता। किन्तु अमरीका के चादी के बडे भण्डारो को तो अभी तक लगभग छुआ नही गया। इसलिए इस बात की बहुत सम्भावना है कि अभी बहुत समय तक चादी का मूल्य बराबर गिरता ही जायेगा। इस गिराव को इस बात से और बढावा मिला है कि रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजो और विलास की चीजो के लिए अब चादी की माग अपेक्षाकृत कम हो गयी है, क्योकि उसकी जगह चादी का पत्रा चढी हुई वस्तुए और अल्यूमीनियम का सामान आदि इस्तेमाल होने लगे है। इस हालत मे पाठक खुद निर्णय करे कि यह द्विधातुवादी विचार कितना निराधार है कि चादी का अंतरराष्ट्रीय भाव जबदस्ती नियत करके उसके मूल्य को फिर १५ १/२ १ वाले उसके पुराने स्तर पर लाया जा सकता है। अधिक सभावना इस बात की है कि दुनिया की मडियो मे चादी मुद्रा का काम करने से अधिकाधिक वचित होती जायेगी।—फ्रे० ए०]

[1] व्यापारवादी सम्प्रदाय एक ऐसा सम्प्रदाय था, जिसके लिए व्यापार का जमा बाकी सोने और चादी मे निपटाना ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य था। उसके विरोधी खुद यह कतई नही समझ पाये थे कि ससार की मुद्रा का क्या कार्य है। मैने रिकार्डो का उदाहरण देकर दिखाया है कि चालू माध्यम की मात्रा का नियमन करने वाले नियमो के विषय मे गलत धारणा किस प्रकार बहुमूल्य धातुओ की अन्तर्राष्ट्रीय गति के विषय मे उतने ही गलत विचार मे प्रतिबिम्बित होती है (कार्ल मार्क्स, उप० पु०, पृ० १५० और उसके आगे के पृष्ठ)। रिकार्डो का यह गलत सूत्र कि "प्रतिकूल व्यापार-सतुलन फालतू मुद्रा के सिवा कभी और किसी चीज से नही पैदा होता सिक्के का निर्यात उसके सस्तेपन के कारण होता है, और वह प्रतिकूल सतुलन का प्रभाव नही, बल्कि कारण होता है," उसके पहले हमे बार्बोन की रचनाओ मे मिलता है। बार्बोन ने लिखा है "व्यापार-सतुलन यदि हो, तो वह मुद्रा को राष्ट्र के बाहर भेजने का कारण नही हो सकता। मुद्रा तो प्रत्येक देश मे कलधौत के मूल्य मे जो अतर होता है, उसके कारण बाहर भेजी जाती है" (N Barbon, उप० पु०, पृ० ५६, ६०)। *'The Literature of Political Economy, a classified catalogue, London, 1845* ['अर्थशास्त्र का साहित्य, एक वर्गीकृत सूचीपत्र, लन्दन, १८४५'] मे मैक्कुलक ने इस बात को रिकार्डो से पहले ही कह देने के लिए बार्बोन की प्रशसा की है, लेकिन बार्बोन ने उस गलत मान्यता को, जिसपर "चलार्थ का सिद्धात" ("currency principle) आधारित है, जिस भोलेपन से भरे रूप

मुख्यतया और आवश्यक रूप से उन कालो में करते है, जिनमें अलग अलग राष्ट्रों के बीच होने वाले पदावार के विनिमय का परम्परागत सतुलन यकायक गडबडा जाता है। और अन्त में, जब कभी सवाल खरीदने या भुगतान करने का नहीं, बल्कि एक देश से दूसरे देश म धन का स्थानातरण करने का होता है और जब कभी या तो मडियो में कुछ खास तरह की परिस्थितिया हो जाने के फलस्वरूप और या स्वय उस उद्देश्य के कारण, जिसके लिए कि यह स्थानातरण किया जा रहा है, मालो के रूप में स्थानातरण करना असम्भव हो जाता है, तब सोना और चादी सामाजिक धन के सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त मूर्त्त रूप का काम करते है।[1]

जिस प्रकार हर देश को अपने घरेलू परिचलन के लिए मुद्रा के एक सुरक्षित कोष की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसे दुनिया की मडियो में बाहरी परिचलन के लिए भी मुद्रा के एक सुरक्षित कोष की जरूरत होती है। इसलिए अपसचित कोषो के काम आशिक रूप से मुद्रा के उन कामो से उत्पन्न होते है, जो उसे घरेलू परिचलन और घरेलू भुगतानो के माध्यम के रूप में करने पडते है, और आशिक रूप में वे मुद्रा के उन कामो से उत्पन्न होते हैं, जो उसे ससार की मुद्रा के रूप में करने पडते है।[2] ससार की मुद्रा का काम करने के लिए सच्चे मुद्रा माल की—यानी वास्तविक सोने और चादी की—आवश्यकता होती है। इसलिए सर जेम्स स्टीवर्ट ने सोने और चादी तथा उनके विशुद्ध स्थानीय प्रतिस्थापकों में भेद करने के लिए सोने और चादी को money of the world ("ससार की मुद्रा") कहा है।

सोना और चादी एक दोहरी धारा में बहते है। एक ओर तो वे अपने मूल स्थानो से दुनिया की तमाम मडियो में फलते है, ताकि वहा वे परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों म

की पोशाक पहना रखी है, उनको वह बडी सतकता के साथ अनदेखा कर जाते हैं। इस सूचीपत्र मे वास्तविक आलोचना का और यहा तक कि ईमानदारी का भी जो अभाव है, वह उन परिच्छेदो मे पराकाष्ठा पर पहुच जाता है, जिनमे चलार्थ के सिद्धान्त के इतिहास की चर्चा है। कारण यह है कि अपनी रचना के इस भाग मे मैक्कुलक लार्ड ओवरस्टोन की खुशामद करते लगता है, जिनके बारे मे वह कहते है कि वह "facile princeps argentariorum ("सहज ही प्रधान अर्थदाता") है।

[1] उदाहरणत आर्थिक सहायता के लिए, युद्ध चलाने के वास्ते दिये गये कर्जों के लिए या उन कर्जों के लिए, जो बको को इसलिए दिये जाते है कि वे फिर से नकद भुगतान शुरू कर सकें,—इन सब और दूसरे इस तरह के कामो के लिए मूल्य के केवल मुद्रा रूप की ही आवश्यकता होती है और किसी रूप की नही।

[2] "कलधौत के रूप मे भुगतान करने वाले देशो मे अपसचित कोषो का यत्र अतर्राष्ट्रीय समजन से सम्बध रखने वाला प्रत्येक काय सामान्य परिचलन से बिना कोई प्रकट सहायता लिये हुए किस कुशलता के साथ कर सकता है, इसका मेरी दृष्टि मे इससे बडा कोई प्रमाण नही है कि जब फ्रास एक सत्यानाशी विदेशी आक्रमण के धक्के से अभी सभल ही रहा था, तभी उसने केवल २७ महीने के अरसे मे लगभग २ करोड (पौण्ड स्टर्लिंग) की वह रकम मित्र शक्तियो को आसानी से अदा कर दी, जो उसपर जबदस्ती लाद दी गयी थी, और इस रकम का काफी बडा हिस्सा उसने सिक्के मे अदा किया, और फिर भी उसकी घरेलू मुद्रा के चलन मे कोई सकुचन या अव्यवस्था नही दिखाई दी, और यहा तक कि उसकी विनिमय दरो मे भी कोई चिंताजनक उतार-चढाव नही आया" (Fullarton उप० पु०, पृ० १३४)। [चौथे जर्मन सस्करण में जोडा गया फुटनोट इससे भी ज्यादा जोरदार प्रमाण यह है कि उसी फ्रास ने १८७१ और १८७३ के बीच, ३० महीने के अदर, युद्ध के हर्जाने के तौर पर इससे दस गुनी अधिक बडी रकम सहज ही अदा कर दी, और उसका भी काफी बडा हिस्सा उसने सिक्कों के रूप मे दिया।—फ्रे० ए०]

भिन्न भिन्न सीमाओ तक हजम हो जायें, चलन की नालियो को भर दें, सोने और चादी के घिसे हुए सिक्को का स्थान ग्रहण कर लें, विलास की वस्तुओ की सामग्री की पूर्त्ति करे और अपसचित कोषो में जम जायें।[1] इस पहली धारा को वे देश आरम्भ करते ह, जो मालो में निहित अपने श्रम का सोना और चादी पैदा करने वाले देशो के बहुमूल्य धातुओ में निहित श्रम के साथ विनिमय करते हैं। दूसरी ओर, परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रो के बीच सोना और चादी आगे-पीछे रहते हैं। इस धारा की गति विनिमय दरो के क्रम में होने वाले अनवरत उतार-चढाव पर निर्भर रहती है।[2]

जिन देशो में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का एक निश्चित हद तक विकास हो गया है, वे बको के कोषागारों में केन्द्रीभूत अपसचित कोषो को उस अल्पतम मात्रा तक ही सीमित कर देते हैं, जो उनके विशिष्ट कार्यों को भली भाति सम्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है।[3] जब कभी ये अपसचित कोष अपने औसत स्तर से बहुत अधिक ऊपर चढ जाते ह, तब कुछ अपवादो के साथ ये सदा इस बात के सूचक होते ह कि मालो के परिचलन में ठहराव पदा हो गया है और उनके रूपान्तरणो के सम प्रवाह में कोई रुकावट आ गयी है।[4]

---

[1] "L argent se partage entre les nations relativement au besoin qu elles en ont etant toujours attire par les productions " ["मुद्रा राष्ट्रा के बीच उनकी अलग-अलग आवश्यकताओ के अनुपात मे बट जाती है क्योकि वह सदा पैदावार की ओर आकर्षित होती है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ९१६।) "जो खाने लगातार सोना और चादी देती रहती हैं, वे इतना अवश्य दे देती हैं, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए ऐसे आवश्यक बकाया की पूर्त्ति के लिए काफी होता है।" (J Vanderlint उप० पु०, प० ४०।)

[2] "विनिमय-दरे प्रति सप्ताह चढती और उतरती रहती हैं, और वर्ष मे कुछ खास मौको पर वे किसी राष्ट्र के बहुत प्रतिकूल हो जाती हैं और अन्य मौको पर वे उसके प्रतिस्पर्द्धी देशो के उसी तरह प्रतिकूल हो जाती हैं।" (N Barbon उप० पु०, पृ० ३९।)

[3] जब कभी सोने और चादी को बैंक-नोटो के परिवर्तन के लिए कोष का भी काम करना पडता है, तब उनके इन विभिन्न कार्यों के एक दूसरे के साथ खतरनाक ढग से टकरा जाने की आशका पैदा हो जाती है।

[4] "घरेलू व्यापार के लिए जितनी मुद्रा की नितान्त आवश्यकता है, उससे अधिक जितनी भी मुद्रा है, वह निर्जीव धन है और जिस देश मे ऐसी मुद्रा रखी जाती है, उसको मुद्रा के परिवहन से तथा आयात से जितना लाभ होता है, उसके सिवा और कोई लाभ ऐसी मुद्रा से नही होता।" (John Bellers *Essays* [जान बैलेस, 'निबंध'] पृ० १३।) "यदि हमारे पास बहुत ज्यादा सिक्के हो, तो क्या हो? सबसे भारी सिक्का को गलाकर हम सोन चादी के शानदार बरतनो और पात्रो मे बदल सकते हैं, या हम सिक्के को माल के रूप मे वहा भेज सकते हैं, जहा उसकी आवश्यकता या इच्छा हो, और या जहा कही सूद की दर ऊची हो, वहा हम उसे सूद पर उठा सकते है।" (W Petty *Quantulumcunque concerning Money* [विलियम पेटी, 'मुद्रा के विषय मे एक गुटका'], प० ३९।) "मुद्रा केवल राजनीति के शरीर की चर्बी होती है, उसका जरूरत से ज्यादा होना उसी तरह शरीर की फुर्ती मे कमी कर देता है, जिस तरह उसका कम होना शरीर को बीमार डाल देता है जिस प्रकार चर्बी मास पेशियो की गति का स्नेहन करती है, खाद्य-पदार्थों के अभाव को दूर करती है, असम गुहाओ को भरती है और शरीर को सुदर बनाती है, उसी प्रकार मुद्रा राज्य मे उसके कार्य को वेग प्रदान करती है, देश मे अभाव होने पर विदेश मे मगाकर राज्य को खिलाती पिलाती है, हिसाब किताब ठीक रखती है और समष्टि को सुदर बनाती है, हालाकि खास तौर पर वह उन विशिष्ट व्यक्तियो को सुदर बनाती है, जिनके पास वह बहुतायत से होती है।" (W Petty *Political Anatomy of Ireland* [विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'], पृ० १४।)

भाग २

मुद्रा का पूंजी में रूपान्तरण

चौथा अध्याय

पूँजी का सामान्य सूत्र

मालो का परिचलन पूजी का प्रस्थान बिंदु है। मालो का उत्पादन, उनका परिचलन और परिचलन का वह अधिक विकसित रूप, जो वाणिज्य कहलाता है,—इनसे वह ऐतिहासिक आधार तैयार होता है, जिससे पूजी उदभूत होती है। पूजी का आधुनिक इतिहास १६ वीं शताब्दी में ससार-व्यापी वाणिज्य तथा ससार व्यापी मडी की स्थापना से आरम्भ होता है।

यदि हम मालो के परिचलन के भौतिक सार को, अर्थात् नाना प्रकार के उपयोग-मूल्यों के विनिमय को अनदेखा कर दें और केवल परिचलन की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाले आर्थिक रूपो पर ही विचार करे, तो हम मुद्रा को ही इसका अंतिम फल पाते है। मालों के परिचलन का यह अंतिम फल वह पहला रूप है, जिसमें पूजी प्रकट होती है।

अपने ऐतिहासिक रूप में पूजी भू-सम्पत्ति के मुकाबले में पहले अनिवार्य रूप से मुद्रा का रूप धारण करती है, पूजी पहले पहल मुद्रागत धन के रूप में, सौदागर और सूदखोर की पूजी के रूप में सामने आती है।[1] परन्तु यह जानने के लिए कि पूजी पहले-पहल मुद्रा के रूप में प्रकट होती है, पूजी की उत्पत्ति का जिक्र करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह हम हर रोज अपनी आखो के सामने होते हुए देख सकते हैं। हमारे जमाने में भी समस्त नयी पूजी शुरू-शुरू में मुद्रा के रूप में रगमच पर उतरती है, यानी मडी में आती है, चाहे वह मडी मालो की हो, या श्रम की, अथवा मुद्रा की, और फिर इस मुद्रा को एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा पूजी में रूपान्तरित होना पडता है।

यह मुद्रा, जो केवल मुद्रा है, और वह मुद्रा, जो पूजी है,—उनके बीच हम जो पहला भेद देखते हैं, वह इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि उनके परिचलन के रूपो में अन्तर होता है।

---

[1] प्रभुत्व और दासत्व के व्यक्तिगत सम्बधो पर आधारित सत्ता, जो भू-सम्पत्ति की देन होती है, और वह अवैयक्तिक सत्ता, जो मुद्रा से प्राप्त होती है,—उनका व्यतिरेक दो फ़ासीसी कहावतों मे बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुआ है 'Nulle terre sans seigneur ("बिना श्रीमंत के कोई भूमि नहीं होती") और "L argent n a pas de maitre ("मुद्रा का स्वामी कोई नहीं होता")।

मालों के परिचलन का सरलतम रूप है मा – मु – मा, यानी मालो का मुद्रा में रूपान्तरण और मुद्रा का पुन मालो में परिवतन, अथवा खरीदने के लिए बेचना। लेकिन इस रूप के साथ-साथ हम एक और रूप पाते हैं, जो उससे विशिष्ट तौर पर भिन्न होता है। वह है मु – मा – मु, अर्थात मुद्रा का मालो में रूपान्तरण और मालो का पुन मुद्रा में परिवर्तन, अथवा बेचने के लिए खरीदना। जो मुद्रा इस दूसरे ढग से परिचालित होती है, वह उसके द्वारा पूजी में रूपान्तरित हो जाती है, वह पूजी बन जाती है और वह] अभी से सभावी पूजी होती है।

अब आइये, हम मु – मा – मु परिपथ पर थोडा और ध्यान से विचार करें। दूसरे परिपथ की भाति यह परिपथ भी दो परस्पर विरोधी अवस्थाओ से गुजरता है। पहली अवस्था में, मु – मा में, यानी खरीद में, मुद्रा माल में बदल दी जाती है। दूसरी अवस्था में, मा – मु में, यानी बिक्री में, माल फिर मुद्रा में बदल दिया जाता है। इन दो अवस्थाओ का जोड ही वह एक गति होती है, जिसके द्वारा मुद्रा का किसी माल से विनिमय होता है और फिर उसी माल का पुन मुद्रा के साथ विनिमय कर दिया जाता है, इस तरह कोई माल बेचने के उद्देश्य से खरीदा जाता है, या खरीदने और बेचने के बीच रूप का जो अतर है, यदि हम उसे अनदेखा कर दें, तो इस तरह पहले मुद्रा से एक माल खरीदा जाता है और फिर एक माल से मुद्रा खरीदी जाती है।[1] पूरी प्रक्रिया का परिणाम, जिसमें उसकी अवस्थाओ का लोप हो जाता है, यह होता है कि मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय, यानी मु – मु, होता है। यदि म २,००० पौंड कपास १०० पौण्ड में खरीदता हू और २,००० पौंड कपास को ११० पौण्ड में बेच देता हू, तो वास्तव में म १०० पौण्ड का ११० पौण्ड के साथ, मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय कर डालता हू।

अब यह बात स्पष्ट है कि यदि मु – मा – मु परिपथ का उद्देश्य मुद्रा की दो बराबर रकमो का – १०० पौण्ड के साथ १०० पौण्ड का – विनिमय करना हो, तो यह परिपथ बिल्कुल बेकार और निरर्थक होगा। उससे तो कजूस आदमी की योजना कहीं अधिक सरल और अचूक होगी। वह अपने १०० पौण्ड को परिचलन के खतरो में डालने के बजाय उनसे चिपककर बठ जाता है। किन्तु फिर भी वह सौदागर, जिसने अपनी कपास के लिए १०० पौण्ड दिये ह, चाहे वह उसे ११० पौण्ड में बेचे और चाहे १०० पौण्ड में ही दे दे और चाहे तो ५० पौण्ड में ही दे डाले, उसको मुद्रा हर हालत में एक विशिष्ट एव सवथा नये प्रकार की गति से गुजरती है, जो उस गति से बिल्कुल भिन्न होती है, जिससे उस किसान के हाथ की मुद्रा को गुजरना होता है, जो अनाज बेचता है और इस तरह जो मुद्रा प्राप्त करता है, उससे कपडे खरीद लेता है। अतएव, हमें पहले मु – मा – मु और मा – मु – मा, इन दो परिपथो के रूपो के विशिष्ट गुणो को समझना होगा। केवल उनके बाहरी रूप के अतर में जो वास्तविक अन्तर छिपा हुआ है, वह ऐसा करने पर अपने आप प्रकट हो जायेगा।

आइये, पहले हम यह देखें कि दोनो रूपो में समान बातें क्या हैं।

---

[1] "Avec de l'argent on achete des marchandises et avec des marchandises on achete de l argent ["मुद्रा से हम वाणिज्य-वस्तुए खरीदते हैं, और वाणिज्य-वस्तुओ से हम मुद्रा खरीदते हैं"] (Mercier de la Riviere, *'L'ordre naturel et essentiel des societés politiques,* पृ० ५४३)।

दोनो परिपथ दो एक सी परस्पर विरोधी अवस्थाओं में परिणत किये जा सकते है, जिनमें से एक मा – मु, यानी बिक्री, और दूसरी मु – मा, यानी खरीद, होती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में वे ही दो भौतिक तत्त्व – कोई माल और मुद्रा – और आर्थिक नाटक के वे ही दो पात्र – एक ग्राहक और विक्रेता – एक दूसरे के मुक़ाबले में खडे होते हैं। प्रत्येक परिपथ उन्हीं दो परस्पर विरोधी अवस्थाओ का मेल होता है, और हर बार यह मिलाप सौदा करने वाले तीन पक्षो के हस्तक्षेप के जरिये सम्पन्न होता है, जिनमें से एक केवल बेचता है, दूसरा केवल खरीदता है और तीसरा खरीदता भी है और बेचता भी है।

लेकिन परिपथ मा – मु – मा और परिपथ मु – मा – मु के बीच पहला और सबसे प्रमुख भेद यह है कि उनमें दो अवस्थाएं एक दूसरे से उल्टे क्रम में आती है। मालो का साधारण परिचलन विक्रय से शुरू होता है और क्रय के साथ समाप्त हो जाता है, उधर पूजी के रूप में मुद्रा का परिचलन क्रय से शुरू होता है और विक्रय के साथ समाप्त हो जाता है। एक सूरत में प्रस्थान बिंदु और लक्ष्य दोनो माल होते है, दूसरी में दोनो मुद्रा होते है। पहले रूप में गति मुद्रा के हस्तक्षेप द्वारा, दूसरे रूप में वह एक माल के हस्तक्षेप द्वारा सम्पन्न होती है।

परिचलन मा – मु – मा में मुद्रा अन्त में माल में बदल दी जाती है, जो एक उपयोग मूल्य का काम करता है, अर्थात् मुद्रा एक बार में सदा के लिए खर्च हो जाती है। उसके उल्टे रूप, यानी मु – मा – मु में, इसके विपरीत, ग्राहक मुद्रा इसलिए लगाता है कि बेचने वाले के रूप में वह उसे वापिस पा जाये। अपना माल खरीदकर वह इस उद्देश्य से परिचलन में मुद्रा डालता है कि उसी माल को बेचकर वह मुद्रा को फिर परिचलन से निकाल ले। वह मुद्रा को अपने पास से जाने देता है, किन्तु इस चतुराई भरे उद्देश्य से कि वह उसे फिर वापिस मिल जाये। इसलिए इस सूरत में मुद्रा खर्च नहीं की जाती, बल्कि महज पेशगी के रूप में लगायी जाती है।[1]

परिपथ मा–मु–मा में मुद्रा का वही टुकडा दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक से विक्रेता उसे पाता है, और वह उसे किसी और विक्रेता को दे देता है। पूरा परिचलन, जो माल के बदले में मुद्रा की प्राप्ति से आरम्भ होता है, माल के बदले में मुद्रा की अदायगी से समाप्त हो जाता है। परिपथ मु – मा – मु में उसका ठीक उल्टा होता है। यहा मुद्रा का टुकडा नहीं, बल्कि माल दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक विक्रेता के हाथ से माल ले लेता है और फिर उसे किसी अन्य ग्राहक को दे देता है। जिस प्रकार मालो के साधारण परिचलन में मुद्रा के उसी टुकडे के दो बार अपना स्थान-परिवर्तन करने के फलस्वरूप मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुच जाती है, ठीक उसी प्रकार यहा पर उसी माल के दो बार अपना स्थान परिवर्तन करने के फलस्वरूप मुद्रा फिर अपने प्रस्थान बिंदु पर लौट आती है।

मुद्रा का इस तरह प्रत्यावर्तन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि माल जितने में खरीदा

[1] "जब कोई चीज़ फिर बेचने के उद्देश्य से खरीदी जाती है, तब उसमे जो रकम इस्तेमाल होती है, उसके बारे मे कहा जाता है कि इतनी मुद्रा पेशगी के रूप मे लगायी गयी, जब वह बेचने के उद्देश्य से नही खरीदी जाती, तब कहा जा सकता है कि वह खर्च कर दी गयी।" –(James Steuart, *Works* etc Edited by General Sir James Steuart his son [जेम्स स्टीवर्ट, 'रचनाएं' इत्यादि। उनके पुत्र, जनरल सर जेम्स स्टीवर्ट द्वारा सम्पादित], London 1805 खण्ड १, पृ० २७४।)

गया है, उससे ज्यादा में बेचा जाये। इस बात से केवल वापिस लौटने वाली मुद्रा की मात्रा पर प्रभाव पडता है। मुद्रा का प्रत्यावतन उसी समय सम्पन्न हो जाता है, जब खरीदा हुआ माल फिर से बेच दिया जाता है, अर्थात, दूसरे शब्दो में, जब परिपथ मु—मा—मु सम्पूर्ण हो जाता है। इसलिए, यहा पूजी के रूप में मुद्रा के परिचलन और केवल मुद्रा के रूप में उसके परिचलन में एक सहज ग्राह्य भेद हमारे सामने आ जाता है।

परिपथ मा—मु—मा उसी समय पूणतया समाप्त हो जाता है, जिस समय एक माल की बिक्री से मिली हुई मुद्रा किसी और माल की खरीद के फलस्वरूप फिर हाथ से निकल जाती है।

इसके बाद भी यदि मुद्रा फिर अपने प्रस्थान बिन्दु पर लौट जाती है, तो यह केवल इस क्रिया के नवीकरण अथवा दोहराये जाने के फलस्वरूप ही हो सकता है। यदि म एक क्वाटर अनाज ३ पौण्ड में बेचता हू और इस ३ पौण्ड की रकम से कपडे खरीद लेता हू, तो जहा तक मेरा सम्बध है, मुद्रा सदा के लिए खच हो जाती है। उसके बाद कपडो का सौदागर उसका मालिक हो जाता है। अब यदि मैं एक क्वाटर अनाज और बेचू, तो, जाहिर है, मुद्रा मेरे पास लौट आती है, लेकिन वह पहले सौदे के परिणाम के रूप में नहीं, बल्कि सौदे के दोहराये जाने के परिणामस्वरूप लौटती है। और जब म कोई नयी खरीदारी करके इस दूसरे सौदे को पूरा कर देता हू, तो मुद्रा तुरत ही फिर मेरे पास से चली जाती है। इसलिए परिपथ मा—मु—मा में मुद्रा के खर्च किये जाने का मुद्रा के वापिस लौटने से कोई सम्बध नहीं होता। इसके विपरीत, मु—मा—मु में मुद्रा का वापिस लौटना स्वय खच किये जाने की प्रणाली की एक आवश्यक शत है। यदि मुद्रा इस प्रकार वापिस नहीं लौटती, तो क्रिया अपनी पूरक एव अतिम अवस्था—बिक्री—की अनुपस्थिति के कारण असफल हो जाती है, या प्रक्रिया बीच में रुक जाती है और अपूण रह जाती है।

परिपथ मा—मु—मा एक माल से आरम्भ होता है और दूसरे माल पर समाप्त हो जाता है, जो कि परिचलन से बाहर जाकर उपभोग में चला जाता है। उपभोग, आवश्यकताओं की तुष्टि, या एक शब्द में कहें, तो उपयोग-मूल्य उसका लक्ष्य एव उद्देश्य होता है। इसके विपरीत, परिपथ मु—मा—मु मुद्रा से आरम्भ होता है और मुद्रा पर समाप्त होता है। अत उसका प्रमुख उद्देश्य तथा वह लक्ष्य, जो उसे आकर्षित करता है, केवल विनिमय-मूल्य होता है।

मालो के साधारण परिचलन में परिपथ के दो चरम बिन्दुओ का एक सा आर्थिक रूप होता है। वे दोनो माल, और वह भी समान मूल्य के माल होते ह। किन्तु उसके साथ-साथ वे गुणो में भिन्न दो उपयोग-मूल्य भी होते ह, जसे कि अनाज और कपडा। उत्पादित वस्तुओं का विनिमय, या उन अलग-अलग सामग्रियो का विनिमय, जिनमें समाज का श्रम निहित है, यहा पर गति का आधार होता है। परिपथ मु—मा—मु में यह बात नहीं होती। पहली नजर में यह परिपथ पुनरुक्तिसूचक होने के नाते उद्देश्यहीन मालूम होता है। उसके दोनों चरम बिन्दुओ का एक सा आर्थिक रूप है। वे दोनो मुद्रा ह, और इसलिए वे गुणों में भिन्न उपयोग-मूल्य नहीं ह। कारण कि मुद्रा तो केवल मालो का वह बदला हुआ रूप है, जिसमें उनके विशिष्ट उपयोग-मूल्यो का लोप हो जाता है। पहले १०० पौण्ड का कपास के साथ विनिमय करना और फिर इसी कपास का पुन १०० पौण्ड के साथ विनिमय कर लेना—महज मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय करने का एक घुमावदार ढंग है, जिसमें एक वस्तु का उसी वस्तु के साथ विनिमय किया जाता है, और यह क्रिया निरर्थक होती है,

उद्देश्यहीन लगती है।[1] मुद्रा की एक रक़म का दूसरी रकम से केवल मात्रा द्वारा ही भेद किया जाता है। अतएव मु–मा–मु प्रक्रिया के स्वरूप एव प्रवृत्ति का कारण यह नहीं होता कि उसके दो चरम बिंदुओ में कोई गुणात्मक भेद होता है, – क्योंकि वे दोनों तो ही मुद्रा होते ह, – बल्कि केवल उसके दो चरम बिंदुओ का परिमाणात्मक अन्तर ही उनका कारण होता है। परिचलन के आरम्भ में उसमें जितनी मुद्रा डाली जाती है, उसके समाप्त होने पर उसमें अधिक मुद्रा उसमें से निकाल ली जाती है। जो कपास १०० पौंड में खरीदी गयी थी, वह सम्भवत १०० पौंड+१० पौंड, अथवा ११० पौंड में बेची जाती है। अत इस क्रिया का

---

[1] मसियेर दे ला रिवियेर (Mercier de la Riviere) ने व्यापारवादियों से कहा था On n echange pas de l argent contre de l argent" ["हम मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय नही करते"] (उप० पु०, पृ० ४८६)। एक ऐसी रचना मे, जिसमे विशेष रूप से (ex professo) "व्यापार" तथा "सट्टेबाज़ी" की चर्चा की गयी है, हमे यह पढने को मिलता है "समस्त व्यापार विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का विनिमय होता है, और उसमे लाभ (क्या व्यापारी को होने वाला लाभ?) इस एक भेद के कारण होता है। एक पौण्ड रोटी का एक पौण्ड रोटी के साथ विनिमय करने से कोई लाभ न होगा, इसीलिये व्यापार को जुए से बेहतर समझा जाता है, क्योकि जुए मे महज मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय किया जाता है।" (Th Corbet *'An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals or the Principles of Trade and Speculation Explained* [टोमस कोर्बेट, 'व्यक्तियो के धन के कारणो और रूपो की जाच, अथवा व्यापार तथा सट्टेबाजी के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण'], London, 1841 पृ० ५।) यद्यपि कोर्बेट यह नही देखते कि मु–मु, यानी मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय, केवल सौदागरो की पूजी के ही नही, बल्कि हर प्रकार की पूजी के परिचलन का प्रधान रूप होता है, फिर भी वह कम से कम इतना जरूर मान लेते है कि यह रूप जुए मे और एक विशेष प्रकार के व्यापार – अर्थात सट्टेबाजी – मे समान रूप से पाया जाता है। किन्तु इसके बाद मैक्कुलक आते है, और वह यह फरमाते हैं कि बेचने के लिए खरीदना ही सट्टेबाज़ी है, और इस प्रकार सट्टेबाज़ी तथा व्यापार का अन्तर मिट जाता है। "हर वह सौदा, जिसमे कोई व्यक्ति बेचने के लिए पैदावार खरीदता है, असल मे सट्टेबाज़ी होता है।" (MacCulloch *A Dictionary Practical, &c, of Commerce* [मैक्कुलक, 'वाणिज्य का एक व्यावहारिक शब्दकोष इत्यादि'], London, 1847 पृ० १००६।) पिंटो, जो कि एमस्टरडम की स्टाक एक्सचेंज का पिण्डार है, इससे कही अधिक भोलेपन के साथ कहता है "Le commerce est un jeu ["व्यापार किस्मत का खेल होता है"] (ये शब्द उसने लॉक से लिये है), et ce n est pas avec des gueux qu on peut gagner Si l on gagnait longtemps en tout avec tous il faudrait rendre de bon accord les plus grandes parties du profit pour recommencer le jeu" ["और जिनके साथ हम यह खेल खेलते हैं, यदि वे भिखारी ह, तो हम कुछ भी न जीत पायेंगे। यदि अन्त मे जाकर हमारा कुछ लाभ हो भी जाये, तो जब हम एक बार फिर खेल शुरू करना चाहेंगे, तब हमे अपने नफे का अधिकतर भाग फिर दे देना पड़ेगा'।] (Pinto, *"Traite de la Circulation et du Credit'* Amsterdam, 1771 पृ० २३१।)

बिल्कुल ठीक-ठीक रूप यह है मु–मा–मु', जहा मु' =मु+△मु=वह रकम, जो शुरू में पेशगी के रूप में लगायी गयी थी, + वृद्धि की रकम। इस वृद्धि को, या जितनी रकम मूल मूल्य से ज्यादा होती है, उसको म "अतिरिक्त मूल्य" ("surplus value) कहता हू। इसलिए, शुरू में जो मूल्य पेशगी के रूप में लगाया जाता है, वह परिचलन के दौरान में न सिफ पूरे का पूरा बना रहता है, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य भी जुड जाता है, यानी उसका विस्तार हो जाता है। यही गति मूल्य को पूजी में बदल देती है।

जाहिर है, यह भी सम्भव है कि मा–मु–मा में, दो चरम बिन्दु मा–मा, जो, मान लीजिये, अनाज और कपडा है, मूल्य की अलग-अलग मात्राओ का प्रतिनिधित्व करते हो। काश्तकार अपना अनाज उसके मूल्य से अधिक में बेच सकता है, या वह कपडा उसके मूल्य से कम में खरीद सकता है। दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि कपडो का व्यापारी यही करने में सफल हो जाये। परन्तु परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे ह, उसमें मूल्य के ऐसे अन्तर केवल आकस्मिक होते ह। अनाज और कपडे के एक दूसरे का सम-मूल्य होने से यह प्रक्रिया सर्वथा निरथक नहीं हो जाती, जिस प्रकार वह मु–मा–मु में हो जाती है। बल्कि उनके मूल्यो का समान होना इस प्रक्रिया के स्वाभाविक रूप में सम्पन्न होने की आवश्यक शर्त है।

खरीदने के लिए बेचने की क्रिया का दोहराया जाना या उसका नवीकरण स्वय इस क्रिया के उद्देश्य द्वारा सीमाओ में सीमित रखा जाता है। उसका उद्देश्य होता है उपभोग, अथवा किन्हीं खास आवश्यकताओ की तुष्टि, यह उद्देश्य परिचलन के क्षेत्र से बिल्कुल अलग होता है। लेकिन जब हम बेचने के लिए खरीदते है, तब हम, इसके विपरीत, जिस चीज से आरम्भ करते हैं, उसी चीज पर खतम करते है, अर्थात तब हम मुद्रा से– विनिमय-मूल्य से– आरम्भ करते है और उसी पर समाप्त करते ह, और इसलिए यहा पर गति अन्तहीन हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि यहा पर मु–मु+△मु हो जाती है, या १०० पौंड ११० पौंड बन जाते ह। लेकिन जब हम उनके केवल गुणात्मक पहलू को देखते ह, तो ११० पौंड और १०० पौण्ड एक ही चीज होते ह, अर्थात् दोनों मुद्रा होते हैं। और यदि हम उनपर परिमाणात्मक दृष्टि से विचार करें, तो १०० पौण्ड की तरह ११० पौण्ड भी एक निश्चित एव सीमित मूल्य की रकम होते ह। अब यदि ११० पौंड मुद्रा के रूप में खर्च कर दिये जायें, तो उनकी भूमिका समाप्त हो जाती है। तब वे पूजी नहीं रहते। परिचलन से बाहर निकाल लिये जाने पर वे जड अपसचित कोष बन जाते हैं, और यदि वे क़यामत के दिन तक उसी रूप में पडे रहें, तो भी उनमें एक फार्दिंग की वृद्धि नहीं होगी। अतएव यदि एक बार मूल्य का विस्तार करना हमारा उद्देश्य बन जाता है, तो १०० पौण्ड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए जितनी प्रेरणा थी, उतनी ही ११० पौण्ड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए भी होती है। कारण कि दोनो ही विनिमय-मूल्य की केवल सीमित अभिव्यजनाए है और इसलिये दोनो का ही यह पेशा है कि परिमाणात्मक वृद्धि के द्वारा निरपेक्ष धन के जितने निकट पहुच सकते ह, पहुचने की कोशिश करें। क्षणिक तौर पर हम निश्चय ही उस मूल्य में, जो शुरू में लगाया गया था, यानी १०० पौण्ड में, और उस १० पौण्ड के उस अतिरिक्त मूल्य में भेद कर सकते हैं, जो परिचलन के दौरान में उसमें जुड गया है, परन्तु यह भेद तत्काल ही मिट जाता है। क्रिया के अन्त में यह नहीं होता कि हमें एक हाथ में शुरू के १०० पौण्ड मिलें और दूसरे में १० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य मिले। हमें तो बस ११० पौण्ड का मूल्य मिलता है, जो विस्तार की क्रिया

को आरम्भ करने के लिए उसी स्थिति में और उसी प्रकार उपयुक्त होता है, जसे कि गह के १०० पौंड थे। मुद्रा गति को समाप्त करती है, तो केवल इसी उद्देश्य से कि उसे फिर से आरम्भ कर दे।[1] इसलिये, प्रत्येक अलग अलग परिपथ का, जिसमें कि एक क्रय और उसके बाद होने वाला एक विक्रय पूरा हो जाता है, अन्तिम परिणाम खुद एक नये परिपथ का प्रस्थान बिंदु बन जाता है। मालो का साधारण परिचलन – खरीदने के लिए बेचना – एक ऐसे उद्देश्य को कार्यान्वित करने का साधन है, जिसका परिचलन से कोई सम्बध नहीं होता, अर्थात वह उपयोग-मूल्यो को हस्तगत करने – या आवश्यकताओ को तुष्ट करने – का साधन है। इसके विपरीत, पूजी के रूप में मुद्रा का परिचलन स्वय अपने में ही एक लक्ष्य होता है, कारण कि मूल्य का विस्तार केवल बारम्बार नये सिरे से होने वाली इस गति के भीतर ही होता है। इसलिए पूजी के परिचलन की कोई सीमाए नहीं होतीं।[2]

---

[1] "पूजी को मूल पूजी और मुनाफे – अर्थात पूजी की वृद्धि – मे बाटा जा सकता है हालाकि व्यवहार म यह मुनाफा तुरत ही पूजी मे बदल दिया जाता है और मूल पूजी के साथ ही चालू हो जाता है।" (F Engels, '*Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*, *Deutsch Französische Jahrbucher herausgegeben von Arnold Ruge und Karl Marx*" मे *Paris, 1844* पृ० ९९।)

[2] अरस्तू ने अर्थतन्त्र का क्रेमाटिस्टिक (मुद्रा बढाने की प्रवृत्ति) से मुकाबला किया है। वह अर्थतन्त्र से आरम्भ करते है। जहा तक अर्थतन्त्र जीविका कमाने की कला है, वहा तक वह उन वस्तुओ को प्राप्त करने तक सीमित होता है, जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक होती है और जो या तो गृहस्थी और या राज्य के लिए उपयोगी होती है। "सच्चा धन (ὁ ἀληθινὸς πλοῦτος) इस प्रकार के उपयोग मूल्य ही होते है, क्योकि इस तरह की सम्पत्ति का परिमाण, जो जीवन को सुखद बना सकती है, असीमित नही होता। लेकिन, चीज़ें हासिल करने का एक दूसरा ढग भी होता है, जिसको हम क्रेमाटिस्टिक का नाम देना बेहतर समझते है और जिसके लिए यही नाम उचित है। और जहा तक उसका सम्बध है, धन और सम्पत्ति की कोई सीमा प्रतीत नही होती। व्यापार (अरस्तु ने जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह ἡ καπηλική है, उसका शाब्दिक अर्थ फुटकर व्यापार है, और अरस्तू ने इस ढग के व्यापार को इसलिए लिया है कि उसम उपयोग मूल्यो की प्रधानता होती है) खुद अपने स्वभाव स क्रेमाटिस्टिक मे शामिल नही है, क्योकि यहा विनिमय केवल उन्ही चीजो का होता है, जो खुद उनके लिए (ग्राहक या विक्रेता के लिये) आवश्यक होती ह।" इसलिए, – जैसा कि अरस्तू इसके आगे बताते है, – व्यापार का मूल रूप अदला बदली का था, लेकिन अदला-बदली का विस्तार बढने पर मुद्रा की जरूरत महसूस हुई। मुद्रा का आविष्कार हो जाने पर अदला-बदली लाज़िमी तौर पर καπηλική म, या मालो के व्यापार म, बदल गयी, और मालो का व्यापार अपनी मूल प्रवृत्ति के विपरीत क्रेमाटिस्टिक – अर्थात् मुद्रा बनाने की कला – म बदल गया। अब क्रेमाटिस्टिक तथा अर्थतन्त्र म यह भेद किया जा सकता है कि "क्रेमाटिस्टिक म परिचलन धन का स्रोत होता है (ποιητικὴ χρημάτων διὰ χρημάτων διαβολῆς)। और लगता है कि यह मुद्रा के इर्द गिर्द घूमता रहता है, क्योकि इस प्रकार के विनिमय का आरम्भ और अत भी मुद्रा पर ही होता है (τὸ γὰρ νόμισμα στοιχεῖον καὶ πέρας τῆς ἀλλαγῆς ἐστιν) इसीलिये क्रेमाटिस्टिक जिस धन को प्राप्त करने की कोशिश करती है, वह असीमित होता है। इसके

इस गति के सचेत प्रतिनिधि के रूप में मुद्रा का स्वामी पूजीपति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व, या कहना चाहिए कि उसकी जेब ही, वह बिदु है, जहा से मुद्रा यात्रा आरम्भ करती है और जहाँ वह फिर लौट जाती है। परिचलन मु–मा–मु का वस्तुगत आधार अथवा उसकी मुख्य कमानी है मूल्य का विस्तार करना। वही उस व्यक्ति का मनोगत लक्ष्य बन जाता है। जिस हद तक कि अधिक से अधिक मात्रा में अमूर्त्त धन निरतर जमा करते जाना ही उसकी कारवाइयो का एकमात्र ध्येय बन जाता है, केवल उसी हद तक वह पूजीपति के रूप में–या यू कहिये कि चेतना युक्त एव इच्छा युक्त मूर्त्तिमान पूजी के रूप में–कार्य करता है। अत उपयोग-मूल्यो को पूजीपति का वास्तविक लक्ष्य कभी न समझना चाहिये[1], और न ही किसी एक सौदे पर मुनाफा कमाना उसका लक्ष्य समझा जाना चाहिये। मुनाफा कमाने की अनवरत और अतहीन क्रिया ही उसका एकमात्र लक्ष्य होती है।[2] धन का यह कभी सतुष्ट न होने वाला लोभ, विनिमय मूल्य की यह प्रबल लालसा[3] पूजीपति और कजूस में समान रूप से पायी जाती है।

ऐसी कला का, जो किसी साध्य का साधन नही होती, बल्कि स्वय साध्य होती है, लक्ष्य असीम हाता है, क्योकि वह लगातार उस साध्य के अधिक से अधिक निकट पहुचने का प्रयत्न करती रहती है। दूसरी ओर, जिन कलाओ का किसी साध्य के साधन के रूप मे अभ्यास किया जाता है, वे सीमाहीन नही होती, क्याकि खुद उनका लक्ष्य उनपर सीमा लगा देता है। पहली प्रकार की कलाओ की भाति क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य भी सीमाहीन होता है, क्याकि उसका लक्ष्य निरपेक्ष धन एकत्रित करना होता है। क्रेमाटिस्टिक की नही, अथतत्र की एक सीमा होती है अथतत्र का लक्ष्य मुद्रा से भिन्न होता है, क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य मुद्रा की वृद्धि करना होता है ये दा रूप कभी कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं, उनको आपस मे गडबडा देने के फलस्वरूप कुछ लोग मुद्रा को सुरक्षित रखने और उसमे असीम वृद्धि करते जाने को ही अथतत्र का लक्ष्य और ध्येय समझ बैठे है।" (Aristoteles *"De Republica*, Bekker का सस्करण, पुस्तक १, अध्याय ८, ६, विभिन्न स्थाना पर।)

[1] "व्यापार करने वाले पूजीपति का अतिम लक्ष्य माल (यहा इस शब्द का प्रयाग [illegible] मूल्या के अथ मे किया गया है) नही होते, उसका अतिम लक्ष्य मुद्रा हाती है।" ([illegible] Chalmers *On Political Economy etc* [टोमस चाल्मस 'अथशास्त्र आदि [illegible]', दूसरा सस्करण, Glasgow 1832, पृ० १६५, १६६।)

[2] Il mercante non conta quasi per niente il lucro fatto [illegible] al futuro' ["व्यापारी जा मुनाफा कमा चुकता है, उसकी उसे [illegible] या बिल्कुल ही नही होती, क्याकि वह तो सदा और मुनाफा [illegible] है।'] (A Genovesi 'Lezioni di Economia Civile' (17[illegible]) [illegible] का Custodi का सस्करण, Parte Moderna ग्रथ ८, पृ० [illegible]।)

[3] "कभी न बुझने वाली नफे की चाह, वह auri [illegible] ([illegible] मूड) पूजीपतिया का सदा पथ प्रदशन करती रहेगी।" (*MacCulloch "The Principles of Pol Econ* [मैक्कुलक, 'अर्थशास्त्र के सिद्धात'], London [illegible] पृ० [illegible]।) [illegible] मैक्कुलक और उसी की तरह के अय लाग [illegible] कठिनाइयो मे फस जाते है, ता वे [illegible] है, जिसे केवल उपयोग मूल्या की ही [illegible]

कजूस जहा पगलाया हुआ पूजीपति होता है, यहां पूजीपति विवेकपूर्ण कजूस होता है। कजूस अपनी मुद्रा को परिचलन से बचाकर[1] विनिमय-मूल्य में अन्तहीन वृद्धि करने का प्रयास करता है। उससे अधिक चतुर पूजीपति यही लक्ष्य अपनी मुद्रा को हर बार नये सिरे से परिचलन में डालकर प्राप्त करता है।[2]

साधारण परिचलन में मालो का मूल्य जो स्वतत्र रूप – अर्थात मुद्रा-रूप – धारण कर लेता है, वह केवल एक ही काम में आता है, यानी वह केवल उनके विनिमय के काम में आता है, और गति सम्पूर्ण हो जाने पर गायब हो जाता है। इसके विपरीत, परिचलन मु–मा–मु॑ में मुद्रा और माल दोनो केवल मूल्य के ही दो भिन्न अस्तित्व-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं मुद्रा उसके सामान्य रूप का प्रतिनिधित्व करती है, माल उसके विशिष्ट रूप का, या यू कहिये कि उसके छद्म-रूप का प्रतिनिधित्व करता है।[3] मूल्य लगातार एक रूप को छोडकर दूसरा रूप ग्रहण करता जाता है, पर इस कारण उसका कभी लोप नहीं होता, और इस प्रकार वह खुद-ब-खुद ही एक सक्रिय स्वरूप धारण कर लेता है। अपने आप विस्तार करने वाला यह मूल्य अपने जीवन-क्रम के दौरान में बारी-बारी से जो दो अलग-अलग रूप धारण करता है, उनमें से प्रत्येक को यदि हम अलग अलग ले, तो हमें ये दो स्थापनाए प्राप्त होती हैं एक यह कि पूजी मुद्रा होती है, और दूसरी यह कि पूजी माल होती है।[4] किन्तु वास्तव में मूल्य यहा पर एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है, जिसमें वह बारी-बारी से लगातार मुद्रा और मालों का रूप धारण करने के साथ-साथ खुद अपने परिमाण को बदल डालता है और अपने में से अतिरिक्त मूल्य को उत्पन्न करके खुद अपने में भेद पैदा कर देता है, दूसरे शब्दो में, यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मूल मूल्य स्वयस्फूर्त ढग से विस्तार करता जाता है। क्योकि जिस गति के दौरान म उसमें अतिरिक्त मूल्य जुड जाता है, वह उसकी अपनी गति होती है, इसलिये उसका विस्तार

अडो और कपडे की तथा अन्य अत्यन्त परिचित ढग के उपयोग मूल्यो की कभी न मिटने वाली भूख पैदा हो जाती है, – और ऐसा करने मे मैक्कुलक का यह उपरोक्त विचार कभी उनके आडे नही आता।

[1] Σωζειν (बचाना) अपसचय के लिए यूनानी भाषा का शब्द है। अंग्रेजी भाषा में to save का भी वही दोहरा अर्थ होता है sauver (बचाना) और epargner (सुरक्षित रखना)।

[2] Questo infinito che le cose non hanno in progresso hanno in giro ["सीधे आगे की ओर चलने वाली वस्तुओ मे जो अनन्तत्व नही होता, वह उनमे उस वक्त आ जाता है, जब वे घूमने लगती हैं"] (Galiani)।

[3] Ce n'est pas la matiere qui fait le capital mais la valeur de ces matieres ["भौतिक पदार्थ पूजी नही होता, भौतिक पदार्थ का मूल्य पूजी होता है"] (J B Say *'Traite d Econ Polit* तीसरा सस्करण, Paris 1817 ग्रथ २, पृ० ४२६)।

[4] "वस्तुओ का उत्पादन करने मे इस्तेमाल होने वाली चालू मुद्रा (currency) (!) पूजी होती है।" (Macleod, *The Theory and Practice of Banking* [मक्लिआड, 'बैंक व्यवसाय का सिद्धात एव व्यवहार'], London 1855 खण्ड १, अध्याय १, पृ० ५५।) "पूजी माल होती है।" (James Mill *Elements of Political Economy* [जेम्स मिल, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व'], London 1821 पृ० ७४।)

स्वचालित विस्तार होता है। चूकि वह मूल्य है, इसलिए उसमें खुद अपने में मूल्य जोड लेने का अलौकिक गुण पैदा हो गया है। वह जीवित सतान पैदा करता है, या यू कहिये कि कम से कम सोने के अण्डे तो देता है।

अत मूल्य चूकि एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है और चूकि वह कभी मुद्रा का और कभी मालो का रूप धारण करता रहता है, लेकिन इन तमाम परिवतनो के बावजूद खुद सुरक्षित रहता हे और विस्तार करता जाता है, इसलिये उसे किसी ऐसे स्वतत्र रूप की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा उसे किसी भी समय पहचाना जा सके। और ऐसा रूप उसे केवल मुद्रा की शकल में ही प्राप्त होता है। मुद्रा के रूप में ही मूल्य खुद अपने स्वयस्फूत जनन की प्रत्येक क्रिया का श्रीगणेश करता है, उसे समाप्त करता है और उसे फिर से आरम्भ करता है। उसने शुरू किया था १०० पौण्ड की शकल में, अब वह ११० पौण्ड हो गया है, और यह क्रम आगे भी इसी तरह चलता जायेगा। लेकिन खुद मुद्रा मूल्य के दो रूपो में से केवल एक है। जब तक वह किसी माल का रूप नहीं धारण करती, तब तक वह पूजी नहीं बनती। अपसचय की तरह यहा पर मुद्रा और मालो के बीच कोई विरोध नहीं है। पूजीपति जानता है कि सभी माल, वे चाहे जितने भद्दे दिखाई देते हो या उनमें से चाहे जितनी बदबू आती हो, सचमुच और वास्तव में मुद्रा होते ह, वे अदर से खतना किये हुए शुद्ध यहूदी होते ह, और उससे भी बडी बात यह है कि वे मुद्रा से और अधिक मुद्रा बनाने का आश्चयजनक साधन होते ह।

साधारण परिचलन मा – मु – मा में मालो के मूल्य ने अधिक से अधिक एक ऐसा रूप प्राप्त किया था, जो उनके उपयोग मूल्यो से स्वतत्र होता है, यानी उसने मुद्रा का रूप प्राप्त किया था। लेकिन वही मूल्य अब परिचलन मु – मा – मु में, या पूजी के परिचलन में, यकायक एक ऐसे स्वतत्र पदार्थ के रूप में सामने आता है, जिसकी स्वय अपनी गति होती है और जो स्वय अपने एक ऐसे जीवन-क्रम में से गुजरता है, जिसमें मुद्रा और माल उसके रूप मात्र होते हैं, जिनको वह बारी बारी से ग्रहण करता और त्यागता रहता है। यही नहीं, केवल मालो के सम्बधो का प्रतिनिधित्व करने के बजाय वह अब मानो खुद अपने साथ निजी सम्बध स्थापित कर लेता है। वह मूल मूल्य के रूप में अपने को अतिरिक्त मूल्य के रूप में खुद अपने से अलग कर लेता है, जसे कि, ईसाई धम के अनुसार, भगवान पिता अपने को भगवान पुत्र के रूप में अपने से अलग करता है, मगर फिर भी दोनो एक ही रहते ह और दोनो की आयु भी एक सी होती है। कारण कि शुरू में लगाये गये १०० पौंड १० पौंड के अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही पूजी बनते हैं, और जैसे ही यह होता है, यानी जैसे ही पुत्र और पुत्र के द्वारा पिता उत्पन्न होता है, वैसे ही उनका अतर मिट जाता है और वे फिर एक – यानी ११० पौंड – हो जाते हैं।

अत मूल्य अब क्रिया रत मूल्य, अथवा क्रिया रत मुद्रा, हो जाता है, और इस रूप में वह पूजी होता है। वह परिचलन के बाहर आता है, उसमें फिर प्रवेश करता है, अपने परिपथ के भीतर अपने को सुरक्षित रखता है और अपना गुणन करता है, पहले से बढा हुआ आकार लेकर फिर परिचलन के बाहर आता है और फिर इसी क्रम को नये सिरे से आरम्भ कर देता है।[1]

---

[1] पूजी (portion fructifiante de la richesse accumulee valeur permanente, multipliante ["सचित धन का एक फलोत्पादक भाग स्थायी रूप से स्वय अपना गुणन करने वाला मूल्य"]) (Sismondi, *Nouveaux Principes d'Econ Polit* , ग्रथ १, पृ० ८८, ८९)।

मु–मु', यानी वह मुद्रा, जो मुद्रा को जन्म देती है (money which begets money), पूंजी के पहले व्याख्याकारों ने, यानी व्यापारवादियों ने, पूंजी की यही व्याख्या की है।

बेचने के लिए खरीदना, या ज्यादा सही ढंग से कहा जाये, तो महंगे दामों पर बेचने के लिए खरीदना, मु–मा–मु', निश्चय ही एक ऐसा रूप प्रतीत होता है, जो केवल एक ढंग की पूंजी की–यानी व्यापारी पूंजी की–ही विशेषता है। लेकिन औद्योगिक पूंजी भी एसी मुद्रा होती है, जो मालों में बदली जाती है और इन मालों की बिक्री के जरिये जो फिर पहले से अधिक मुद्रा में बदल जाती है। परिचलन के क्षेत्र के बाहर, यानी खरीदने और बेचने के बीच के समय में, जो घटनाएं होती हैं, उनका इस गति के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्तिम बात यह है कि जब सूद देने वाली पूंजी का सवाल होता है, तब परिचलन मु–मा–मु' संक्षिप्त हो जाता है। उसका परिणाम बिना किसी बीच की अवस्था के ही मानो 'en style lapidaire ("नगीनासाजी के ढंग से") मु–मु' के रूप में, यानी उस मुद्रा के रूप में, जो अपने से अधिक मुद्रा के बराबर होती है, या उस मूल्य के रूप में, जो खुद अपने से बड़ा होता है, हमारे सामने आ जाता है।

अतः परिचलन के क्षेत्र के भीतर पूंजी पहली दृष्टि में जिस तरह प्रकट होती है, मु–मा–मु' वास्तव में उसका सामान्य सूत्र होता है।

पाचवा अध्याय

पूँजी के सामान्य सूत्र के विरोध

मुद्रा के पूजी बन जाने पर परिचलन जो रूप धारण करता है, वह मालो, मूल्य और मुद्रा, और यहा तक कि स्वय परिचलन के स्वभाव से सम्बध रखने वाले उन तमाम नियमो का विरोध करता है, जिनका हमने अभी तक अध्ययन किया है। इस रूप और मालो के साधारण परिचलन के रूप में खास अतर यह है कि दोनो में वे दो परस्पर विरोधी त्रियाए – विक्रय और क्रय – एक दूसरे के उल्टे क्रम में सम्पन्न होती ह। यह विशुद्ध रस्मी अतर इन प्रक्रियाओ के स्वभाव को मानो जादू के जोर से बदल कैसे देता है?

पर बात इतनी ही नहीं है। जो तीन व्यक्ति मिलकर व्यवसाय करते हैं, उनमें से दो के लिए यह उल्टा रूप कोई अस्तित्व नहीं रखता। पूजीपति के रूप में म 'क' से माल खरीदता हू और 'ख' के हाथ उनको फिर बेच देता हू, लेकिन मालो के साधारण मालिक के रूप में मै उनको 'ख' के हाथ बेचता हू और फिर 'क' से नये माल खरीद लेता हू। 'क' और 'ख' को इन दो तरह के सौदो में कोई भेद नहीं दिखाई देता। वे तो मात्र ग्राहक या विक्रेता ही रहते हैं। और मै हर बार या तो मुद्रा के और या मालो के मात्र मालिक के रूप में, यानी या तो खरीदार की तरह और या बेचने वाले की तरह, उनसे मिलता हू। और इससे भी बडी बात यह है कि दोनो तरह के सौदो में मै 'क' का केवल खरीदार के रूप में और 'ख' का केवल बेचने वाले के रूप में सामना करता हू, मै एक का सामना केवल मुद्रा के रूप में करता हू और दूसरे का केवल मालो के रूप में। पर म पूजी या पूजीपति के रूप में, या किसी ऐसी चीज के प्रतिनिधि के रूप में दोनो में से किसी का सामना नहीं करता, जो मुद्रा अथवा मालो से अधिक कुछ हो, या जो मुद्रा और मालो से भिन्न कोई प्रभाव डाल सकती हो। मेरे लिए 'क' से खरीदना और 'ख' के हाथ बेचना एक क्रम के भाग ह। लेकिन इन दो कार्यों के बीच जो सम्बध है, उसका अस्तित्व केवल मेरे ही लिये है। 'क' को इसकी कोई चिता नहीं है कि 'ख' के साथ मने क्या सौदा किया है, न ही 'ख' को इसकी कोई परवाह है कि 'क' के साथ मने क्या लेन-देन किया है। और यदि म उनको यह समझाने लग जाऊ कि प्रक्रियाओ के क्रम को उलटकर मने बहुत प्रशसनीय काम किया है, तो वे शायद मुझसे यह कहेगे कि जहा तक क्रियाओ के क्रम का सम्बध है, म ग़लती कर रहा हू, क्योकि पूरा सौदा क्रय से आरम्भ होने और विक्रय पर खतम होने के बजाय, उसके विपरीत, विक्रय से आरम्भ हुआ या और क्रय के साथ खतम हुआ है। और सचमुच मेरा पहला काम, अर्थात क्रय, 'क' के दृष्टिकोण से विक्रय या, और मेरा दूसरा काय, अर्थात् विक्रय, 'ख' के दृष्टिकोण से क्रय या। इतने से सतुष्ट न होकर 'क' और 'ख' यह घोषणा करेंगे कि पूरा क्रम अनावश्यक और

बाजीगरी के सिवा और कुछ नहीं है, और आगे से 'ख' सीधे 'क' से खरीदेगा और 'क' सीधे 'ख' के हाथ बेचेगा। इस प्रकार पूरा सौदा अकेले एक काम में परिणत हो जायेगा, जो मालों के साधारण परिचलन की एक अलग अलग, अपूरित अवस्था होगी और जो 'क' के दृष्टिकोण से मात्र विक्रय और 'ख' के दृष्टिकोण से महज क्रय होगी। इसलिये, क्रियाओं के क्रम के उलट जाने से हम मालों के साधारण परिचलन के क्षेत्र के बाहर नहीं चले जाते, और इसलिये बेहतर होगा कि हम यह देखें कि क्या इस साधारण परिचलन में कोई ऐसी चीज है, जो परिचलन में प्रवेश करने वाले मूल्य को परिचलन के दौरान में ही विस्तार की सम्भावना देती है और इसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य का सृजन सम्भव बनाती है।

आइये, हम परिचलन की क्रिया के उस रूप को लें, जिसमें वह मालों के सीधे-सादे विनिमय की शकल में सामने आती है। यह सदा उस समय होता है, जब मालों के दो मालिक एक दूसरे से खरीदते हैं और जब हिसाब साफ करने के दिन दोनों को बराबर-बराबर रकम एक दूसरे को देनी होती है और इस तरह हिसाब चुकता हो जाता है। इस सूरत में मुद्रा लेखा-मुद्रा होती है और मालों का मूल्य उनके दामों के द्वारा व्यक्त करने के काम में आती है, परन्तु वह स्वयं, नकदी के रूप में, उनके सामने नहीं आती है। जहां तक उपयोग मूल्यों का सम्बन्ध है, जाहिर है कि इस तरह दोनों पक्षों को कुछ लाभ हो सकता है। दोनों ऐसी वस्तुओं को अपने से अलग कर देते हैं, जो उपयोग मूल्यों के रूप में उनके किसी काम की नहीं हैं, और दोनों को ऐसी वस्तुएं मिल जाती हैं, जिनका वे उपयोग कर सकते हैं। तथा एक और लाभ भी हो सकता है। 'क', जो कि शराब बेचता है और अनाज खरीदता है, एक निश्चित श्रम-काल लगाकर सम्भवतया 'ख' नामक काश्तकार की अपेक्षा अधिक शराब पैदा कर लेता है, और, दूसरी ओर, 'ख' अंगूर की खेती करने वाले 'क' की अपेक्षा उतने ही श्रम काल में ज्यादा अनाज पैदा कर लेता है। इसलिये, 'क' और 'ख' को बिना विनिमय किये खुद अपना अनाज और खुद अपनी शराब पैदा करने पर जितना अनाज और शराब मिलती, उसकी अपेक्षा विनिमय के द्वारा 'क' को उतने ही विनिमय-मूल्य के बदले में ज्यादा अनाज और 'ख' को ज्यादा शराब मिल सकती है। अतएव, जहां तक उपयोग मूल्य का सम्बन्ध है, यह कहने के लिये काफी मजबूत आधार है कि "विनिमय एक ऐसा सौदा है, जिससे दोनों पक्षों को लाभ होता है।"[1] विनिमय मूल्य की बात दूसरी है। "एक ऐसा आदमी, जिसके पास बहुत सी शराब है और अनाज बिल्कुल नहीं है, एक ऐसे आदमी के साथ सौदा करता है, जिसके पास बहुत सा अनाज है और शराब जरा भी नहीं है, उनके बीच ५० के मूल्य के अनाज का उसी मूल्य की शराब के साथ विनिमय हो जाता है। इस काम से दोनों पक्षों में से किसी के पास मूल्य की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें से हरेक को इस विनिमय के द्वारा जितना मूल्य मिला है, उसके बराबर मूल्य विनिमय के पहले ही उनके पास मौजूद था।"[2] परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा को मालों के बीच में

---

[1] L'echange est une transaction admirable dans laquelle les deux contractants gagnent — toujours (!) ["विनिमय एक प्रशंसनीय सौदा है, जिससे सौदा करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है — हमेशा (!)"] (Destutt de Tracy *'Traite de la Volonte et de ses effets* Paris 1826 पृ० ६८)। बाद को यह रचना *Traite d'Econ Polit* शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

[2] Mercier de la Riviere उप० पु०, ५४४।

डाल देने और विक्रय और क्रय को दो अलग-अलग काय बना देने से भी नतीजे में कोई तबदीली नहीं होती।[1] किसी भी माल का मूल्य उसके परिचलन में जाने के पहले दाम के रूप में व्यक्त किया जाता है, और उसके मूल्य का दाम के रूप में व्यक्त होना परिचलन का परिणाम नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्ववर्ती शत्त होता है।[2]

यदि इस विषय पर अमूर्त्त ढग से विचार किया जाये, यानी यदि विनिमय को उन परिस्थितियो से अलग करके देखा जाये, जो मालो के साधारण परिचलन के नियमो से तत्काल ही उत्पन्न नहीं होती है, तो विनिमय में (अगर हम एक उपयोग-मूल्य के स्थान पर दूसरे उपयोग-मूल्य के आने की ओर ध्यान न दें) एक रूपान्तरण के सिवा, माल के रूप में महज एक परिवतन के सिवा, और कुछ नहीं होता। माल के मालिक के हाथो में बराबर वही विनिमय-मूल्य, अर्थात मूर्त्त बने सामाजिक श्रम की वही मात्रा रहती है, – पहले उसके अपने माल के रूप में, फिर उस मुद्रा के रूप में, जिसके साथ वह अपने माल का विनिमय कर डालता है, और अत में उस माल के रूप में, जो वह उस मुद्रा से खरीद लेता है। इस रूप परिवर्तन का यह मतलब नहीं है कि मूल्य के परिमाण में भी परिवर्तन हो जाता है। बल्कि इस प्रक्रिया में माल के मूल्य में होने वाला परिवतन केवल उसके मुद्रा रूप के परिवर्तन तक ही सीमित होता है। यह मुद्रा रूप पहले बिक्री के लिए पेश किये गये माल के दाम की शकल में होता है, फिर वह मुद्रा की एक वास्तविक रकम की शक्ल अख्तियार करता है, जो पहले से ही दाम की शकल में अभिव्यक्त हो चुकती है, और अत में वह एक सम-मूल्य माल के दाम के रूप में सामने आता है। जिस प्रकार ५ पौण्ड के नोट को गिनियो, अध गिनियो और शिलिगो में बदल डालने से उनके मूल्य में कोई परिवतन नहीं होता, उसी प्रकार इस रूप-परिवतन में भी, यदि अकेले इसे लिया जाये, तो मूल्य की मात्रा में कोई तबदीली नहीं होती। इसलिये, जहा तक मालो के परिचलन का केवल उनके मूल्यो के रूप पर ही प्रभाव पडता है और जहा तक वह गडबड पदा करने वाले दूसरे प्रभावो से मुक्त होता है, वहा तक वह अनिवार्य रूप से केवल सम-मूल्यो का विनिमय ही होता है। घटिया क़िस्म का अर्थशास्त्र मूल्य के स्वभाव के बारे में बहुत कम जानकारी रखता है, पर वह भी जब कभी परिचलन की क्रिया के शुद्ध रूप पर विचार करना चाहता है, तब सदा यह मानकर चलता है कि पूत्ति और माग बराबर हैं, जिसका मतलब यह होता है कि पूर्त्ति और माग का असर कुछ नहीं है। इसलिये, जहा तक उपयोग-मूल्यो का विनिमय होता है, वहा तक अगर यह सम्भव है कि ग्राहक और विक्रेता दोनों का कुछ लाभ हो जाये, तो विनिमय-मूल्यो के लिए यह बात सच नहीं है। यहा तो बल्कि हमें यह कहना पडेगा कि "जहा समानता होती है, वहा लाभ नहीं हो सकता।"[3] यह सच है कि

---

[1] Que l une de ces deux valeurs soit argent, ou qu'elles soient toutes deux marchandises usuelles rien de plus indifferent en soi' ["इसका तनिक भी महत्व नही होता कि इन दो मूल्यो मे एक मुद्रा है या दानो साधारण वाणिज्य-वस्तुए हैं।"] (Mercier de la Riviere उप० पु०, पृ० ५४३।)

[2] Ce ne sont pas les contractants qui prononcent sur la valeur, elle est decidee avant la convention' ["सौदा करने वाले पक्ष मूल्य को निधारित नहीं करते, वह तो सौदा होने के पहले से ही निर्धारित हाता है।"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ९०६।)

[3] "Dove e egualità non e lucro" [' जहा समानता होती है, वहा लाभ नहीं हा सकता।"] (Galiani "*Della Moneta*" Custodi के सग्रह मे Parte Moderna ग्रंथ ४, पृ० २४४।)

मालो को उनके मूल्यो से भिन्न दामो पर बेचना सम्भव हो सकता है, लेकिन इन प्रकार विचलन को मालो के विनिमय के नियमो का व्यतिक्रमण समझा जाना चाहिए,[1] क्योंकि मालों का विनिमय अपनी सामान्य अवस्था में सम मूल्यो का विनिमय होता है और इसलिए वह मूल्य में वृद्धि करने का तरीका नहीं हो सकता।[2]

अतएव, मालो के परिचलन को अतिरिक्त मूल्य का स्रोत बताने की तमाम कोशिशों के पीछे quid pro quo (गडबड) का भाव, उपयोग मूल्य और विनिमय-मूल्य को आपस में गडबडा देने का भाव छिपा रहता है। उदाहरण के लिए, कोंदिलक ने लिखा है "यह सच नहीं है कि मालो का विनिमय करने पर हम मूल्य के बदले में मूल्य देते है। इसके विपरीत, सौदा करने वाले दो पक्षो में से प्रत्येक हर सूरत में अधिक मूल्य के बदले में कम मूल्य देता है यदि हम सचमुच समान मूल्यो का विनिमय करने लगें, तो किसी पक्ष का लाभ न होगा। परन्तु, वास्तव में, तो दोनो पक्षो को लाभ होता है, या होना चाहिए। क्यो? किसी भी चीज का मूल्य केवल हमारी आवश्यकताओ के सम्बध में होता है। जो एक के लिए अधिक है, वह दूसरे के लिए कम होता है, और इसके विपरीत बात भी सच है यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि हम बिक्री के लिए उन चीजो को पेश करते है, जिनकी हमें खुद अपने उपयोग के लिए आवश्यकता होती है हम तो एक उपयोगहीन वस्तु देकर कोई ऐसी वस्तु पाना चाहते है, जिसकी हमें आवश्यकता होती है, हम तो अधिक के बदले में कम देना चाहते है जब कभी विनिमय की जाने वाली प्रत्येक वस्तु मूल्य में सोने की एक समान मात्रा के बराबर होती है, तब स्वाभाविक रूप से यह समझा जाता है कि विनिमय में मूल्य के बदले में मूल्य दिया जाता है लेकिन अपना हिसाब लगाते हुए हमें एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। सवाल यह है कि क्या हम दोनो ही किसी अनावश्यक वस्तु का किसी आवश्यक वस्तु के साथ विनिमय नहीं कर रहे है?"[3] इस अश से स्पष्ट है कि कोंदिलक न केवल उपयोग मूल्य को विनिमय-मूल्य के साथ गडबडा देते है, बल्कि सचमुच बडे बचकाने ढग से यह मानकर चलते है कि एक

---

[1] L echange devient desavantageux pour l'une des parties lorsque quelque chose etrangere vient diminuer ou exagerer le prix, alors l egalite est blessee mais la lesion procede de cette cause et non de l echange' ["जब किसी बाहरी कारण से दाम घट या बढ जाते है, तब विनिमय से किसी एक पक्ष को हानि हो सकती है, तब समानता का व्यतिक्रमण हो जाता है, लेकिन यह व्यतिक्रमण विनिमय का नही, उपरोक्त बाहरी कारण का फल होता है।"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ६०४।)

[2] 'L echange est de sa nature un contrat d egalite qui se fait de valeur pour valeur egale Il n est donc pas un moyen de s enrichir puisque l on donne autant que l on recoit' ["विनिमय अपने स्वभाव से ही एक ऐसा करार होता है, जो समानता के आधार पर होता है और जिसमे एक मूल्य का समान मूल्य के साथ विनिमय किया जाता है। चुनाचे, वह ऐसा तरीका नही है, जिसके जरिये कोई धनी बन सकता हो, क्योंकि उसे जितना मिलता है, उतनी ही देना भी पड जाता है।"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ६०३।)

[3] Condillac, *Le commerce et le Gouvernement* (1776) Daire et Molinari का सस्करण, '*Melanges d Econ Polit* मे Paris 1847 पृ० २६७, २६१।

ऐसे समाज में, जिसमें मालो के उत्पादन का अच्छी तरह विकास हो चुका है, प्रत्येक उत्पादक खुद अपने जीवन-निर्वाह के साधनो को पैदा करता है, और जितना उसकी आवश्यकताओ से अधिक होता है, केवल उतना ही वह परिचलन में डालता है।[1] फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री अक्सर कौंदिलैक की दलीलो को दोहराया करते ह, —खास तौर पर उस वक्त, जब उनको यह सिद्ध करना होता है कि मालों का विनिमय अपने विकसित रूप में, या यू कहिये कि व्यापार में, अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। उदाहरण के लिए देखिये "व्यापार पैदावार में मूल्य जोड देता है, क्योंकि उसी पदावार का उत्पादक के हाथ में जितना मूल्य होता है, उपभोगी के हाथ में पहुचकर उससे अधिक मूल्य हो जाता है। इसलिए व्यापार को असल में एक उत्पादन-कार्य ही समझना चाहिए।"[2] लेकिन मालो की कीमत दो बार नहीं चुकायी जाती, ऐसा नहीं होता कि एक बार मालो के उपयोग-मूल्य की कीमत चुकायी जाये और दूसरी बार उनके मूल्य की। हालाकि माल का उपयोग-मूल्य विक्रेता की अपेक्षा ग्राहक के ज्यादा काम में आता है, परन्तु उसका मुद्रा रूप विक्रेता के लिए ज्यादा उपयोगी होता है। अन्यथा वह क्या उसे बेचने को तयार होता? इसलिए हम यह भी कह सकते ह कि ग्राहक, मिसाल के लिए, मोजो को मुद्रा में बदलकर "वास्तव में एक उत्पादन-काय ही करता है।"

यदि समान विनिमय-मूल्य के मालो का अथवा मालों और मुद्रा का विनिमय किया जाता है, यानी यदि सम-मूल्यो का विनिमय किया जाता है, तो यह बात स्पष्ट है कि कोई भी आदमी परिचलन में जितना मूल्य डालता है, उससे अधिक मूल्य वह उसमें से नहीं निकालता। इस तरह कोई अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं होता। अपने प्रकृत रूप में मालो का परिचलन सम-मूल्यो के विनिमय की माग करता है। लेकिन, वास्तविक व्यवहार में, प्रक्रिया का प्रकृत रूप कायम नहीं रहता। इसलिए आइये, अब हम गैर-सम-मूल्यो को विनिमय का आधार मानकर चले।

हर हालत में मालो की मण्डी में केवल मालो के मालिक ही आते जाते ह, और ये लोग आपस में एक दूसरे को जितना अपने प्रभाव में ला पाते हैं, वह उनके मालो के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं होता। इन मालो की भौतिक विभिन्नता विनिमय-काय की भौतिक प्रेरणा का काम करती है और ग्राहको तथा विक्रेताओं को पारस्परिक ढग से एक दूसरे पर निभर बना देती है क्योंकि उनमें से किसी के पास वह वस्तु नहीं होती, जिसकी उसे खुद आवश्यकता होती है,

---

[1] इसलिए ले त्रोस्ने अपने मित्र कौंदिलैक को ठीक ही यह जवाब देते है कि 'Dans une societe formee il n y a pas de surabondant en aucun genre ("जिस तरह की अति-बहुतायत आप मानकर चलते हैं, वह विकसित समाज मे नही होती")। साथ ही वह व्यगपूण ढग से कहते हैं कि "यदि विनिमय करने वाले दोना व्यक्तियो को समान मात्रा से ज्यादा मिलता है और दोना को समान मात्रा से कम देना पडता है, तो दोनो को समान मात्रा ही मिलती है।" कौंदिलैक को चूकि विनिमय मूल्य के स्वभाव का लेश मात्र भी ज्ञान नही है, इसीलिये श्री प्रोफेसर विल्हेल्म रोशेर ने उनको अपने बचकाने विचारो की अकाट्यता का जामिन बनने के लिए सबसे योग्य व्यक्ति समझा है। देखिये Roscher की रचना *Die Grundlagen der Nationalökonomie Dritte Auflage*", 1858।

[2] S R Newman *"Elements of Political Economy"* (एस० पी० न्यूमैन, 'अथशास्त्र के तत्त्व') Andover and New York 1835 पृ० १७५।

और हरेक के पास वह वस्तु होती है, जिसकी किसी दूसरे व्यक्ति को आवश्यकता होती है। मालो के उपयोग मूल्यो में ये जो भौतिक भेद होते हैं, उनके अलावा मालो में केवल एक ही भेद और होता है। वह है उनके शारीरिक रूप तथा उस रूप का भेद, जिसमें वे बिक्री के फलस्वरूप बदल दिये जाते है, यानी वह मालो और मुद्रा का अन्तर होता है। इसलिए मालों के मालिकों में आपस में केवल एक यही भेद होता है कि उनमें से कुछ विक्रेता, या मालो के मालिक, और कुछ ग्राहक, या मुद्रा के मालिक, होते हैं।

अब मान लीजिये कि किसी अव्याख्येय विशेष सुविधा के कारण विक्रेता अपने मालों को उनके मूल्य से अधिक में बेचने में सफल हो जाता है और जिसकी कीमत १०० है, उसे वह ११० में बेच डालता है। इस सूरत में दाम में नामचार की १०% की वृद्धि हो जाती है। चुनाचे विक्रेता १० का अतिरिक्त मूल्य अपनी जेब में डाल लेता है। लेकिन बेचने के बाद वह ग्राहक बन जाता है। अब मालो का एक तीसरा मालिक बेचने वाले के रूप में उसके पास आता है, और इस रूप में उसको भी अपना माल १० प्रतिशत महगे दामो में बेचने की सुविधा प्राप्त होता है। सो हमारे मित्र ने विक्रेता के रूप में जो १० कमाये थे, उनको वह ग्राहक के रूप में फिर खो देता है।[1] कुल नतीजा यह निकलता है कि मालो के तमाम मालिक एक दूसरे को अपना माल उसके मूल्य से १०% अधिक में बेच देते हैं, बात वहीं की वहीं आ जाती है, मानो उन सब ने अपना अपना माल सही मूल्य पर बेचा हो। दामो में ऐसी सामान्य एव नाममात्र की वृद्धि हो जाने का ठीक वही परिणाम होता है, जसे मूल्यो को बजाय सोने के वजन के चांदी के वजन में अभिव्यक्त किया जाने लगा हो। यानी मालों के बराय नाम दाम बढ़ जायेंगे, लेकिन उनके मूल्यो के बीच जो वास्तविक सम्बध है, वह ज्यो का त्यो रहेगा।

अब उसकी उल्टी बात मानकर चलिए कि ग्राहक को मालो को उनके मूल्य से कम में खरीदने की सुविधा प्राप्त है। इस सूरत में यह याद रखना जरूरी नहीं है कि ग्राहक भी अपनी बारी आने पर बेचने वाला बन जायेगा। वह तो ग्राहक बनने के पहले ही विक्रेता था। ग्राहक के रूप में १०% का नफा कमाने के पहले ही वह बेचते समय १०% का नुकसान दे चुका है। यानी बात वही रहती है, जो पहले थी।

अतएव अतिरिक्त मूल्य के सृजन की और इसलिए मुद्रा के पूजी में बदल जाने की न तो

---

[1] "पैदावार के नामचार के मूल्य मे वृद्धि हो जाने से विक्रेताओ का धन नहीं बढता क्योकि विक्रेताओ के रूप म उनको जो नफा होता है, ठीक वही वे ग्राहको के रूप में खच कर डालते हैं।" (*The Essential Principles of the Wealth of Nations*, etc ['राष्ट्रो के धन के मूल सिद्धात, इत्यादि'], (London 1797 पृ० ६६।)

[2] Si l on est force de donner pour 18 livres une quantite de telle production qui en valait 24 lorsqu on employera ce même argent a acheter, on aura egalement pour 18 l ce que l on payait 24 ["यदि हम १८ लिव्र के बदले म किसी न किसी पैदावार की ऐसी मात्रा देने के लिए मजबूर हो जाते हैं, जिसकी कीमत २४ लिव्र है, तो जब हम इस मुद्रा को खरीदने के लिए उपयोग करेंगे, तब हमारी बारी आयेगी और हम १८ लिव्र के बदले म २४ लिव्र की कीमत की चीज मिल जायेगी।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८९७।)

यह मानकर व्याख्या की जा सकती है कि मालो को उनके मूल्य से अधिक में बेचा जाता है, और न ही यह मानकर कि मालो को उनके मूल्य से कम में खरीदा जाता है।[1]

कनल टोरेंस की तरह अप्रासगिक बातो को बीच में लाकर भी समस्या को किसी तरह सुगम नहीं बनाया जा सकता। कनल टोरेंस ने लिखा है "प्रभावी माग उसे कहते ह, जब उपभोगियो में या तो सीधी और या पेचदार अदला बदली के द्वारा मालो के लिए उनकी उत्पादन की लागत से अधिक बडी पूजी का कोई भाग देने की शक्ति एव इच्छा (!) हो।"[2] जहा तक परिचलन का सम्बध है, उत्पादक और उपभोगी केवल विक्रेताओ और ग्राहको के रूप में ही मिलते हैं। यह दावा करना कि उत्पादक को जो अतिरिक्त मूल्य मिलता है, वह इस बात से पदा होता है कि उपभोगी मालो के लिए उनके मूल्य से अधिक दे डालते ह, – यह तो दूसरे शब्दो में केवल यह कहने के समान है कि मालो के मालिक को विक्रेता के रूप में अधिक से अधिक महगे दामो पर बेचने की विशेष सुविधा प्राप्त होती है। विक्रेता ने या तो खुद माल पदा किया है और या वह उसके उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन ग्राहक ने भी तो वह माल पदा किया है, जिसका प्रतिनिधित्व उसकी मुद्रा करती है, या वह उस माल के उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है। उनमें अतर केवल यह है कि एक खरीदता है और दूसरा बेचता है। इस तथ्य के द्वारा कि मालो का मालिक उत्पादक के रूप में उनको उनके मूल्य से अधिक में बेचता है और उपभोगी के रूप में बहुत अधिक दाम चुकाता है, हम एक कदम भी आगे नहीं बढते।[3]

चुनाचे जो लोग इस भ्रम के समर्थक ह कि अतिरिक्त मूल्य दामो में नाम मात्र का चढाव आ जाने से या विक्रेता को प्राप्त महगे दामो पर बेचने की विशेष सुविधा से उत्पन्न होता है, उनको अपनी बातो में सगति पदा करने के लिए यह मानकर चलना चाहिए कि कोई ऐसा

---

[1] 'Chaque vendeur ne peut donc parvenir a rencherir habituellement ses marchandises, qu en se soumettant aussi a payer habituellement plus cher les marchandises des autres vendeurs et par la même raison chaque consommateur ne peut payer habituellement moins cher ce qu'il achete qu'en se soumettant aussi a une diminution semblable sur le prix des choses qu'il vend ['इसलिए एक नियमित घटना की तरह कोई विक्रेता अपना सामान जरूरत से ज्यादा ऊचे दामो पर उस वक्त तक नही बेच सकता, जब तक कि वह अपनी बारी आने पर नियमित घटना की तरह दूसरे विक्रेताओ के सामान के लिए जरूरत से ज्यादा ऊचे दाम देने को तैयार न हो, और इसी कारण, कोई उपभोगी, वह जो कुछ खरीदता है, उसके लिए एक नियमित घटना की तरह जरूरत से ज्यादा नीचे दाम उस वक्त तक नही दे सकता, जब तक कि वह खुद जो कुछ बेचता है, उसके लिए उतने ही कम दाम लेने के लिए न राजी हो।"] (Mercier de la Riviere, उप० पु०, पृ० ५५५।)

[2] R Torrens, *An Essay on the Production of Wealth* [आर० टारेंस, 'धन के उत्पादन पर एक निबध'], (London, 1821 पृ० ३४६।)

[3] "यह विचार निश्चय ही बहुत बेतुका है कि मुनाफा उपभोगियो से मिलता है। ये उपभोगी है कौन?" (G Ramsay, *An Essay on the Distribution of Wealth* [जी० रैमजे, 'धन के वितरण के विषय मे एक निबध'], Edinburgh 1836, पृ० १८३।)

वर्ग भी होता है, जो केवल खरीदता है और बेचता नहीं, यानी जो केवल उपभोग करता है और पैदा नहीं करता। अभी तक हम जिस दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं, उसके अनुसार, यानी साधारण परिचलन के दृष्टिकोण से, ऐसे किसी वर्ग की उपस्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती। किंतु एक क्षण के लिए अभी से मान लीजिये कि कोई ऐसा वर्ग है। यह वर्ग जिस मुद्रा से लगातार खरीदारियां कर रहा है, वह मुद्रा लगातार उसकी जेबों में आती रहनी चाहिए, और यह मुद्रा बिना किसी विनिमय के, मुफ्त में, चाहे किसी क़ानूनी अधिकार के प्रताप से और चाहे लाठी के जोर से, खुद मालों के मालिकों की जेबों से निकलनी चाहिए। ऐसे किसी वर्ग के हाथों मूल्य से अधिक दामों में माल बेचना महज उस मुद्रा का एक अंश वापिस ले लेना है, जो पहले ही उसे दे दी गयी थी।[1] उदाहरण के लिए, एशिया-माइनर के शहर प्राचीन रोम को वार्षिक खिराज के रूप में मुद्रा दिया करते थे। और इस मुद्रा से रोम इन शहरों से विभिन्न प्रकार के माल खरीदा करता था, और बहुत महंगे दामों में खरीदा करता था। एशिया माइनर के वासी व्यापार में रोमनों को धोखा देते थे, और इस तरह वे खिराज के रूप में जो कुछ देते थे, उसका एक भाग व्यापार द्वारा अपने विजेताओं से वापिस ले लेते थे। फिर भी, इस सब के बावजूद, असल में पराजित लोग ही धोखा खाते थे। इस सब के बाद भी उनके माल के दाम खुद उनकी अपनी मुद्रा से चुकाये जाते थे। यह न तो धनी बनने का तरीका है और न अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का।

इसलिए हमको विनिमय की सीमाओं के भीतर ही रहना चाहिए, जहां पर विक्रेता ग्राहक भी होते हैं और ग्राहक विक्रेता भी। सम्भव है कि हमारी कठिनाई इस बात से पैदा हुई हो कि हम अपने नाटक के पात्रों के साथ व्यक्तियों के बजाय मूर्तिमान आर्थिक परिकल्पनाओं जैसा व्यवहार कर रहे हैं।

यह मुमकिन है कि 'क' इतना होशियार हो कि वह 'ख' या 'ग' से ज्यादा दाम वसूल कर ले और 'ख' या 'ग' उसका बदला न ले पायें। मान लीजिये कि 'क' 'ख' को ४० पौण्ड की शराब बेच देता है और उसके बदले में 'ख' से ५० पौण्ड के मूल्य का अनाज ले लेता है। इस तरह 'क' अपने ४० पौण्ड को ५० पौण्ड में बदल डालता है, कम मुद्रा से ज्यादा मुद्रा कमा लेता है और इस तरह अपने मालों को पूंजी में बदल लेता है। आइये, इस घटना की थोड़ी और गहराई में जाकर विचार करें। विनिमय के पहले 'क' के पास ४० पौण्ड की कीमत की शराब थी और 'ख' के पास ५० पौण्ड की कीमत का अनाज था, यानी दोनों के पास कुल मूल्य ९० पौण्ड के बराबर था। विनिमय के बाद भी यह कुल मूल्य वही

[1] "जब किसी आदमी को मांग की आवश्यकता होती है, तब क्या मि० माल्थूस उसे यह सलाह देते हैं कि किसी और आदमी को थोड़ा पैसा दे दो, ताकि वह तुम्हारा सामान खरीद ले?"—यह सवाल रिकार्डो का एक क्रुद्ध शिष्य माल्थूस से करता है, जिसने अपने शिष्य पादरी चाल्मर्स की तरह अर्थतंत्र के क्षेत्र में विशुद्ध ग्राहकों या विशुद्ध उपभोगियों के इस वर्ग के महत्त्व का गुणगान किया है। (देखिये *An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumption, lately advocated by Mr Malthus etc* ['मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों की समीक्षा, जिनका हाल में मि० माल्थूस ने प्रतिपादन किया है, इत्यादि'], London 1821 पृ० ५५।)

६० पौण्ड का रहता है। परिचलन में भाग लेने वाले मूल्य में तनिक भी वृद्धि नहीं होती, 'क' और 'ख' के बीच केवल उसका वितरण पहले से कुछ भिन्न हो जाता है। जो 'ख' के लिए मूल्य की हानि है, वह 'क' के लिए अतिरिक्त मूल्य है। जो एक के लिए "ऋण" है, वह दूसरे के लिए "धन" है। यदि 'क' बिना विनिमय की रस्म पूरी किये सीधे-सीधे 'ख' के १० पौण्ड चुरा लेता, तो भी यही परिवर्तन होता। जिस प्रकार कोई यहूदी रानी ऐन के जमाने की फार्दिंग को एक गिनी में बेचकर देश में मौजूद बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में कोई तबदीली नहीं ला सकता, उसी प्रकार परिचलन में भाग लेने वाले मूल्यों के वितरण में परिवर्तन करके उनके जोड़ में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती। किसी भी देश में पूरे का पूरा पूजीपति-वर्ग खुद अपने को धोखा देकर अधिक धनी नहीं बन सकता।[1]

हम चाहे जितना छटपटायें, चाहे जैसे भी तोडें मरोडें, यह सत्य नहीं बदलता। यदि सम-मूल्यों का विनिमय होता है, तो अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा होता, और यदि गैर-सम-मूल्यों का विनिमय होता है, तो तब भी अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा होता।[2] परिचलन से, या मालों के विनिमय से, मूल्य नहीं पैदा होता।[3]

---

[1] देस्तूत दे त्रेसी इस्टीट्यूट का सदस्य था, मगर फिर भी, या शायद इसीलिए, उसका मत उल्टा था। वह कहता है कि औद्योगिक पूजीपति इसलिए मुनाफा कमाते है कि "वे सब लागत से ज्यादा में अपना माल बेचते हैं। और किसको बेचते है? शुरू मे वे एक दूसरे को बेचते है।" (उप० पु०, पृ० २३६।)

[2] L'echange qui se fait de deux valeurs egales n augmente ni ne diminue la masse des valeurs subsistantes dans la societe L echange de deux valeurs inegales ne change rien non plus a la somme des valeurs sociales bien qu il ajoute a la fortune de l un ce qu'il ôte de la fortune de l autre ["जब दो समान मूल्यों का विनिमय होता है, तब समाज मे पाये जाने वाले कुल मूल्यो की राशि मे विनिमय से न तो कोई वृद्धि होती है और न काई कमी। न ही जब असमान मूल्यों का विनिमय होता है तब विनिमय से सामाजिक मूल्यो के कुल जोड मे कोई तबदीली आती है, हालाकि उससे एक पक्ष के धन मे] उतना जुड जाता है, जितना वह पक्ष दूसरे पक्ष के धन से ले लेता] है।"] (J B Say, उप० पु०, ग्रथ २, पृ० ४४३, ४४४।) से ने यह वक्तव्य शब्दश फिजिओक्रेट्स से उधार लिया है, और उनको इसकी तनिक भी चिता नही है कि इस वक्तव्य का क्या परिणाम होगा। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीमान से ने फिजिओक्रेटस की रचनाओ का, जिनको उनके ज़माने मे लोग लगभग बिल्कुल भूल गये थे, किस प्रकार खुद अपना "मूल्य" बढाने के लिए उपयोग किया है। से की सबसे प्रसिद्ध उक्ति यह है On n achete des produits qu avec des produits ["हम केवल पैदावार से पैदावार खरीदते है"] (उप० पु०, ग्रथ २, पृ० ४४१)। यह उक्ति मूल फिजिओक्रेटिक रचना मे इस रूप मे मिलती है Les productions ne se paient qu avec des productions' ["पैदावार के दाम केवल पैदावार मे ही चुकाये जाते हैं"] (Le Trosne, उप० पु०, प० ८६६)।

[3] "विनिमय पैदावार को तनिक भी मूल्य नही प्रदान करता।" (F Wayland *The Elements of Political Economy* [एफ० वेलैण्ड, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व'], Boston 1843 पृ० १६६।)

सो अब यह बात साफ हो जाती है कि हमने पूजी के प्रामाणिक रूप का विश्लेषण करते समय, यानी उस रूप का विश्लेषण करते समय, जिसके अंतर्गत पूजी आधुनिक समाज के आर्थिक संगठन को निर्धारित करती है, उसके सबसे अधिक प्रचलित और मानो दकियानूसी रूपो – सौदागरो की पूजी और साहूकारा की पूजी – की ओर किस कारण से तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

परिपथ मु – मा – मु', यानी महगा बेचने के लिए खरीदना, सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सच्ची सौदागरी पूजी में दिखाई देता है। लेकिन यह पूरी गति परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही होती है। किन्तु मुद्रा के पूजी में बदलने को, या अतिरिक्त मूल्य के निर्माण को, चूकि अकेले परिचलन का परिणाम नहीं समझा जा सकता, इसलिए ऐसा लग सकता है कि जब तक सम-मूल्यो का विनिमय होता है, तब तक सौदागरों की पूजी एक असभव चीज रहती है,[1] और इसलिए उसकी उत्पत्ति केवल इसी बात से हो सकती है कि सौदागर विक्रेता उत्पादकों और ग्राहक उत्पादको के बीच में मुफ्तखोरो की तरह टाग अडाकर दोनो के कान काट देता है। फ्रैंकलिन ने इसी अर्थ में कहा है कि "युद्ध डकैती है और व्यापार आम तौर पर धोखेबाजी है।"[2] यदि सौदागरो की मुद्रा के पूजी में बदल जाने को उत्पादको के धोखा खा जाने के सिवा किसी और ढग से व्याख्या करनी हो, तो उसके लिए बीच के अनेक क़दमो का एक लम्बा क्रम आवश्यक होगा, जिसका इस समय, जब कि हम केवल मालों का साधारण परिचलन मानकर चल रहे ह, सर्वथा अभाव है।

सौदागरो की पूजी के बारे में हमने जो कुछ कहा है, वह साहूकारो की पूजी पर और भी अधिक लागू होता है। सौदागरो की पूजी में दो छोर होते ह वह मुद्रा, जो मडी में डाली जाती है, और वह बढ़ी हुई मुद्रा, जो मडी से निकाल ली जाती है। सौदागरो की पूजी में ये दो छोर कम से कम एक खरीद और एक बिक्री के द्वारा – या, दूसरे शब्दों में, परिचलन की गति के द्वारा – सम्बधित होते है। परन्तु साहूकारो की पूजी में रूप मु – मा – मु' बिना किसी मध्य बिंदु के दो छोरो में, अर्थात मु – मु' में परिणत हो जाता है, यानी मुद्रा का उससे अधिक मुद्रा के साथ विनिमय होता है। यह रूप मुद्रा के स्वभाव से मेल नहीं खाता, और इसलिए मालो के परिचलन के दृष्टिकोण से वह बिलकुल समझ में नहीं आता। अरस्तू ने इसीलिए कहा है कि "क्रेमाटिस्टिक चूकि एक दोहरा विज्ञान है, जिसका एक भाग व्यापार में शामिल है और दूसरा अर्थतत्र में, और उसका दूसरा भाग चूकि आवश्यक तथा प्रशसनीय है, जब कि परिचलन पर आधारित होने के कारण पहले भाग को सही तौर पर

---

[1] "अपरिवर्तनशील सम मूल्यो के राज मे व्यापार करना असम्भव होगा।" (G Opdyke *A Treatise on Polit Economy* [जी० ओप्डाइक, 'अर्थशास्त्र पर एक ग्रथ'], New York, 1851 पृ० ६६-६९।) "वास्तविक मूल्य और विनिमय-मूल्य का भेद इस तथ्य पर आधारित होता है कि किसी भी वस्तु का मूल्य, व्यापार मे उसके बदले मे जो तथाकथित सम मूल्य मिलता है, उससे भिन्न होता है, यानी यह सम मूल्य असल मे सम मूल्य नहीं होता।" (F Engels उप० पु०, पृ० ९६।)

[2] Benjamin Franklin '*Works* [बेंजामिन फ्रैंकलिन, 'रचनाए'], Sparks का सस्करण, '*Positions to be examined concerning national Wealth* ['राष्ट्रीय धन के विषय मे जिन मतो पर विचार करना है'], पृ० ३७६।

निन्दा की जाती है (क्योंकि वह प्रकृति पर नहीं, बल्कि एक दूसरे को धोखा देने पर आधारित है), इसलिए यह सर्वथा उचित है कि सूदखोर से घृणा की जाती है, क्योंकि उसका नफा खुद मुद्रा से उत्पन्न होता है और उसकी मुद्रा उस काम में नहीं लायी जाती, जिस काम के लिए मुद्रा का आविष्कार हुआ था। कारण कि मुद्रा का जन्म मालो का विनिमय कराने के लिए हुआ था, लेकिन सूद मुद्रा में से और अधिक मुद्रा बना डालता है। इसी से उसका यह नाम पड़ा है ("τόχος" का अर्थ है "सूद" और "पैदा की हुई चीज़")। कारण कि जो उत्पन्न होते हैं, वे अपने उत्पन्न करने वालो के समान होते है। लेकिन सूद मुद्रा से पैदा होने वाली मुद्रा होता है, और इसलिए जीविका कमाने के जितने ढग है, उनमें यह ढग प्रकृति के सबसे अधिक विपरीत है।"[1]

अपनी खोज के दौरान में हम पायेंगे कि सौदागरो की पूजी और सूद देने वाली पूजी, दोनो ही व्युत्पादित रूप है, और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि इतिहास में ये दो रूप पूजी के आधुनिक एव प्रामाणिक रूप के पहले क्यो प्रकट होते है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य परिचलन द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता और इसलिए उसके निर्माण के समय कोई ऐसी बात पृष्ठभूमि में होनी चाहिए, जो खुद परिचलन में दिखाई न देती हो।[2] तो क्या अतिरिक्त मूल्य परिचलन के सिवा और कहीं पर पैदा हो सकता है? मालो के मालिको के सम्बध जहा तक उनके मालो के द्वारा निर्धारित होते हैं, वहा तक उनके समस्त पारस्परिक सम्बधो का कुल जोड ही तो परिचलन कहलाता है। और परिचलन के सिवा तो माल के मालिक का केवल अपने माल से ही सम्बध होता है। जहा तक मूल्य का ताल्लुक है, यह सम्बध केवल इतने तक ही सीमित होता है कि माल में उसके श्रम की एक मात्रा निहित होती है, जो कि एक निश्चित सामाजिक मापदण्ड से मापी जाती है। यह मात्रा माल के मूल्य द्वारा व्यक्त होती है, और चूंकि मूल्य का परिमाण लेखा-मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, इसलिए यह मात्रा दाम के द्वारा भी व्यक्त होती है, जो हम माने लेते है कि यहा १० पौण्ड है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि माल का मूल्य और उस मूल्य का अतिरिक्त भाग भी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व करे। यानी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व वह दाम नहीं करता, जो १० और साथ ही ११ का भी दाम होता है। या यू कहिये कि उसके श्रम का प्रतिनिधित्व कोई ऐसा मूल्य नहीं करता, जो स्वय अपने से बड़ा होता है। माल का मालिक श्रम करके मूल्य पैदा कर सकता है, पर वह स्वत बढने वाला मूल्य पैदा नहीं कर सकता। वह नया श्रम करके और इस प्रकार उसके हाथ में पहले से जो मूल्य है, उसमें नया मूल्य जोडकर, जैसे, मिसाल के लिए, चमडे को जूतो में बदलकर, अपने माल का मूल्य बढ़ा सकता है। उसी सामग्री का अब पहले से अधिक मूल्य हो जाता है, क्योंकि अब उसमें पहले से ज्यादा श्रम खर्च किया गया है। इसलिए जूतो का मूल्य चमडे से अधिक होता है, लेकिन चमडे का मूल्य वही रहता है, जो पहले था। वह खुद अपना विस्तार नहीं कर सका है। जूते बनाये जाने के दौरान में चमडा खुद अपने में कोई अतिरिक्त मूल्य

[1] Aristotel उप० पु०, अध्याय १०।

[2] "मण्डी की साधारण अवस्था मे मुनाफा विनिमय के द्वारा नही कमाया जाता। यदि मुनाफा विनिमय के पहले से मौजूद न होता, तो वह उस सौदे के बाद भी नही हो सकता था।" (Ramsay, उप० पु०, पृ० १८४।)

नहीं जोड पाया है। इसलिए मालो का कोई उत्पादक मालो के अन्य मालिकों के सम्पर्क में आये बिना ही परिचलन के क्षेत्र के बाहर मूल्य का विस्तार कर ले और उसके फलस्वरूप मुद्रा को या मालो को पूजी में बदलने में कामयाब हो जाये, यह असम्भव है।

अत पूजी का परिचलन के द्वारा उत्पन्न होना असम्भव है और उसका परिचलन से अलग जन्म लेना भी उतना ही असम्भव है। पूजी का जन्म परिचलन के भीतर होते हुए भी उसके भीतर नहीं होना चाहिए।

इस तरह हम एक दोहरे नतीजे पर पहुच गये हैं।

हमें मालो के विनिमय का नियमन करने वाले नियमो के आधार पर मुद्रा के पूजी में बदलने की इस तरह व्याख्या करनी है कि हमारा प्रस्थान-बिंदु सम-मूल्यो का विनिमय हो।[1] हमारे मित्र श्रीयुत धन्नासेठ को, जो अभी बीज-रूप में ही पूजीपति हैं, चाहिए कि अपने मालो को उनके मूल्य पर खरीदें, उनको उनके मूल्य पर ही बेचें और फिर भी परिचलन के आरम्भ में उन्होंने जितना मूल्य उसमें डाला था, क्रिया के अन्त में उससे अधिक मूल्य परिचलन से बाहर निकाल ले जायें। श्रीयुत धन्नासेठ का परिचलन के क्षेत्र में और परिचलन के बाहर भी पूर्ण विकसित पूजीपति के रूप में विकास होना चाहिए। समस्या को हमें इन परिस्थितियों में हल करना है। Hic Rhodus, hic salta! (यह रोडस है, यहीं कूद पडो!)

---

[1] इसके पहले हम जितनी खोज कर चुके हैं, उससे पाठक ने यह समझ लिया होगा कि हमारे इस कथन का अर्थ केवल यह है कि किसी माल का दाम और मूल्य एक होने पर भी पूजी का निर्माण सम्भव होना चाहिए, क्योंकि हम यह नही कह सकते कि पूजी का निर्माण दाम और मूल्य मे कोई अन्तर होने के फलस्वरूप होता है। यदि दाम सचमुच मूल्यों से भिन्न है, तो हमें सबसे पहले दामों को मूल्यों मे परिणत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें इस अन्तर को आकस्मिक मानकर चलना पडेगा, ताकि हम घटना पर उसके विशुद्ध रूप मे विचार कर सकें और ऐसी विघ्नकारक परिस्थितियां, जिनका इस क्रिया से कोई सम्बंध नहीं है, हमारे विचारों मे कोई बाधा न डाल सकें। इसके अलावा हम यह भी जानते हैं कि दामों को मूल्यों मे परिणत करना कोई वैज्ञानिक क्रिया मात्र नही है। दामों में लगातार आनेवाले उतार-चढाव, उनका बढना और घटना, एक दूसरे का असर रद्द कर देते हैं और एक औसत दाम मे परिणत हो जाते हैं, जो उनका छिपा हुआ नियामक होता है। ऐसे हर व्यवसाय मे, जिसमे कुछ समय लगता है, यह औसत दाम सौदागर या कारखानेदार के पथ प्रदर्शक तारे का काम करता है। सौदागर अथवा कारखानेदार जानता है कि जब काफी लम्बे समय का सवाल होता है, तब माल न तो औसत से ज्यादा दामों पर और न कम दामों पर बिकते हैं, बल्कि वे अपने औसत दामों पर ही बिकते हैं। इसलिए यदि वह इस मामले के बारे मे थोडा भी सोचता है, तो वह पूजी के निर्माण की समस्या को इस तरह पेश करेगा: यह मान लेने के बाद कि दामों का नियमन औसत दाम के द्वारा—यानी अन्त मे मालों के मूल्य के द्वारा—होता है, हम पूजी की उत्पत्ति का क्या कारण बता सकते हैं? "अन्त में" शब्दों का प्रयोग मैंने इसलिए किया है कि, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और अन्य लोगों के विश्वास के प्रतिकूल, औसत दाम मालों के मूल्यों से सीधे मेल नहीं खाते।

छठा अध्याय

श्रम-शक्ति का क्रय और विक्रय

जिस मुद्रा को पूजी में बदला जाना है, उसके मूल्य में जो परिवतन होता है, वह खुद मुद्रा में ही नहीं हो सकता, क्योंकि खरीद और भुगतान के साधन का काम करते समय मुद्रा जिस माल को खरीदती है या जिस माल का भुगतान करती है, उसके दाम को मूर्त्त रूप देने के सिवा और कुछ नहीं करती, और नकदी की शकल में मुद्रा पथराया हुआ मूल्य होती है, जो कभी नहीं बदलता।[1] न ही यह परिवतन परिचलन की दूसरी क्रिया में—यानी माल के फिर से बेचे जाने के दौरान में—हो सकता है, क्योंकि वह क्रिया इससे अधिक कुछ नहीं करती कि वस्तु को उसके शारीरिक रूप से पुन उसके मुद्रा रूप में बदल देती है। इसलिए, यह परिवतन पहली क्रिया मु—मा के द्वारा खरीदे नये माल में होना चाहिए, मगर वह उसके मूल्य में नहीं हो सकता, क्योंकि विनिमय सम मूल्यो का होता है और माल के दाम का भुगतान उसके पूरे मूल्य के अनुसार होता है। अतएव, हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुचना पडता है कि यह परिवर्तन स्वय माल के उपयोग-मूल्य से, यानी उसके उपभोग से, उत्पन्न होता है। किसी माल के उपभोग से मूल्य निकालने के लिए जरूरी है कि हमारे मित्र, श्रीयुत धन्नासेठ इतने भाग्यवान हो कि उनको परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही, यानी मण्डी में ही, एक ऐसा माल मिल जाये, जिसके उपयोग-मूल्य में मूल्य पैदा करने का विशेष गुण हो और इसलिए खुद ही जिसका वास्तविक उपभोग श्रम को साकार रूप देता और, इस तरह, मूल्य का सृजन करता हो। मुद्रा के मालिक को सचमुच मण्डी में श्रम करने की सामर्थ्य—अथवा श्रम शक्ति—के रूप में एक ऐसा विशेष माल मिल जाता है।

श्रम शक्ति—अथवा श्रम करने की सामर्थ्य—से हमारा अभिप्राय मनुष्य में पायी जाने वाली उन मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओ के समूह से है, जिनका वह किसी भी प्रकार का उपयोग मूल्य पैदा करने के समय प्रयोग करता है।

लेकिन इसलिए कि हमारा मुद्रा-मालिक माल के रूप में बिक्री के लिए पेश की गयी श्रम शक्ति प्राप्त कर सके, कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। खुद मालो के विनिमय के स्वभाव के फलस्वरूप जो सम्बध उत्पन्न हो जाते हैं, विनिमय के साथ उनके सिवा निभरता के और कोई सम्बध जुडे हुए नहीं होते। इस अभिधारणा के अनुसार, श्रम शक्ति केवल उसी समय और वहा तक माल के रूप में मण्डी में आ सकती है, जब और जहा तक वह व्यक्ति,

---

[1] "मुद्रा के रूप मे पूजी से कोई मुनाफा उत्पन्न नही होता" (Ricardo "*Principles of Political Economy* [रिकार्डो, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], पृ० २६७)।

जिसकी वह श्रम शक्ति है, उसे माल के रूप में बिक्री के लिए पेश करे या वेच डाले। उसके ऐसा करने के लिए जरूरी है कि यह श्रम शक्ति स्वय उसके अधीन हो और श्रम करने की अपनी सामर्थ्य का, यानी खुद अपने शरीर का, वह पूर्ण स्वामी हो।[1] यह व्यक्ति और मुद्रा का मालिक मण्डी में मिलते हैं और एक दूसरे के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करते हैं। बस अतर केवल इतना होता है कि एक ग्राहक होता है और दूसरा विक्रेता। इसलिए, कानून की नजरों में दोनो बराबर होते हैं। इसलिए कि यह सम्बध क़ायम रहे, यह जरूरी है कि श्रम शक्ति का मालिक उसे केवल एक निश्चित काल के ही लिए बेचे, क्योंकि यदि वह उसे एक बार हमेशा के लिए बेच डालेगा, तो वह असल में अपने आप को बेच देगा और स्वतत्र मनुष्य से गुलाम बन जायेगा और माल का मालिक न रहकर खुद माल बन जायगा। अपनी श्रम शक्ति को उसे सदा अपनी सम्पत्ति, स्वय अपना माल समझना चाहिए, और यह वह केवल उसी समय समझ सकता है, जब वह अपनी श्रम-शक्ति को अस्थायी तौर पर और एक निश्चित काल के लिए ही ग्राहक को सौंपे। केवल इसी तरह वह अपनी श्रम शक्ति पर अपने स्वामित्व के अधिकार से वचित होने से बच सकता है।[2]

यदि मुद्रा के मालिक को मण्डी में श्रम शक्ति को माल के रूप में पाना है, तो उसको

---

[1] प्राचीन काल के रीति रिवाजो और सस्थाओ के विश्वकोषो मे हमे इस तरह की बकवास मिलती है कि प्राचीन काल मे पूजी का पूरा विकास हो चुका था और "बस स्वतत्र मजदूर और उधार की व्यवस्था का अभाव था"। इस दृष्टि से मौम्मसेन ने भी अपने 'रोम के इतिहास' मे एक के बाद एक भद्दी भूल की है।

[2] इसीलिए अनेक देशो मे कानून बनाकर श्रम के इकरारनामो के लिए एक अधिकतम अवधि की सीमा निश्चित कर दी गयी है। जहा कही भी स्वतत्र श्रम का नियम है, वहा इन तरह के करारो को खतम करने की पद्धति का नियमन कानूनो के द्वारा होता है। कुछ राज्यो मे, विशेषकर मेक्सिको मे (अमरीकी गृह युद्ध के पहले उन प्रदेशो मे भी, जो मेक्सिको से ले लिए गये थे, और सच पूछिये, तो कूजा की क्राति के समय तक डैन्यूब नदी के प्रान्तो मे भी), पियोनेज (peonage) के रूप मे छिपी हुई गुलामी कायम है। पेशगी दिये जाने वाले रुपयो का श्रम के रूप मे भुगतान करना पडता है। यह ऋण पीढी दर पीढी चलता जाता है, और इस तरह न केवल मजदूर व्यक्तिगत रूप मे, बल्कि उसका परिवार भी व्यवहार मे (de facto) दूसरे व्यक्तियो और दूसरे परिवारो की सम्पत्ति बन जाता है। ज्वारेज ने पियोनेज की यह प्रथा समाप्त कर दी थी। तथाकथित सम्राट् मैक्सीमिलियन ने एक फरमान जारी करके उसे फिर से बहाल कर दिया। वाशिग्टन मे प्रतिनिधि-सभा की बैठक मे इस फरमान की ठीक ही सख्त शब्दो मे निंदा की गयी थी और कहा गया था कि यह मेक्सिको मे फिर से गुलामी की प्रथा कायम करने का फरमान है। हेगेल ने लिखा है "मै अपनी विशिष्ट शारीरिक एव मानसिक योग्यताओ और क्षमताओ का उपयोग करने का अधिकार एक निश्चित काल के लिए किसी और को सौंप सकता हू, क्योकि इस प्रतिबध के फलस्वरूप ये योग्यताए और क्षमताए मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अलग हो जाती है। लेकिन यदि मैं अपना सारा श्रम-काल और अपना पूरा काम दूसरे को सौंप दू, तो मै खुद सार-तत्व को, दूसरे शब्दो में, अपनी सामान्य सक्रियता और वास्तविकता को, अपने व्यक्तित्व को, दूसरे की सम्पत्ति बना दूगा।" (Hegel, "*Philosophie des Rechts*, Berlin 1840 पृ० १०४, § ६७)

दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि मजदूर अपने श्रम से बनाये गये मालो को बेचने की स्थिति में न हो, बल्कि इसके बजाय वह खुद उस श्रम-शक्ति को ही माल के रूप में बिक्री के वास्ते पेश करने के लिए मजबूर हो, जो केवल उसके सजीव व्यक्तित्व में ही निवास करती है।

यदि कोई आदमी अपनी श्रम शक्ति के अलावा कोई और माल बेचना चाहता है, तो जाहिर है कि उसके पास उत्पादन के साधन होने चाहिए, जैसे कि कच्चा माल, औज़ार वगैरह। बिना चमडे के जूते नहीं बनाये जा सकते। इसके अलावा, उसे जीवन निर्वाह के साधनो की भी जरूरत होती है। भावी पैदावार के सहारे, या ऐसे उपयोग मूल्यो के सहारे, जो अभी पूरी तरह तयार नहीं हुए ह, कोई जिन्दा नहीं रह सकता, – यहा तक कि "भविष्य में महानता का दावा करने वाला सगीतकार" भी उनके सहारे जीवित नहीं रह सकता, और जबसे मनुष्य ससार के रगमच पर उतरा है, वह उस पहले क्षण से ही उत्पादन करने के पहले और उत्पादन करने के दौरान में सदा उपभोगी रहा है, और आगे भी रहेगा। एक ऐसे समाज में, जहा पैदावार की सभी चीजें मालो का रूप धारण कर लेती हं, उत्पादन के बाद मालो का बिकना जरूरी होता है, केवल बिक जाने के बाद ही वे अपने उत्पादक की आवश्यकताओ को पूरा करने में सहायक हो सकते हं। उनके उत्पादन के लिए जो समय आवश्यक होता है, उसमें वह समय भी जोड दिया जाता है, जो उनकी बिक्री के वास्ते जरूरी होता है।

अत इसलिए कि मुद्रा का मालिक अपनी मुद्रा को पूजी में बदल सके, यह जरूरी है कि मडी में उसकी स्वतत्र मजदूर से मुलाकात हो। और इस मजदूर को दो मानो में स्वतत्र होना चाहिए – एक तो इस माने में कि स्वतत्र मनुष्य के रूप में वह अपनी श्रम-शक्ति को खुद अपने माल के रूप में बेच सकता हो, और, दूसरे, इस माने में कि उसके पास बेचने के लिए और कोई माल न हो, अर्थात अपनी श्रम शक्ति को मूत्त रूप देने के लिए उसे जिन चीजो की जरूरत होती है, उनका उसके पास पूण अभाव हो।

मुद्रा के मालिक को इस सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं है कि मण्डी में उसकी इस स्वतत्र मजदूर से क्यो मुलाकात हो जाती है। वह तो श्रम की मण्डी को मालों की आम मण्डी की ही एक शाखा समझता है। फिलहाल हमें भी इस सवाल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। मुद्रा का मालिक व्यवहार में इस तथ्य से चिपका हुआ है, हमने सद्धान्तिक ढग से उसे स्वीकार कर लिया है। कितु एक बात स्पष्ट है, – वह यह कि प्रकृति ने एक तरफ मुद्रा या मालो के मालिको को और दूसरी ओर ऐसे लोगो को, जिनके पास अपनी श्रम शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है, इन दो तरह के लोगो को पदा नहीं किया है। इस सम्बध का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है, और न उसका कोई ऐसा सामाजिक आधार ही है, जो सभी ऐतिहासिक कालो में समान रूप से पाया जाता हो। स्पष्ट ही, यह भूतकाल के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, बहुत सी आर्थिक क्रान्तियो का फल है और सामाजिक उत्पादन के पुराने रूपो के एक पूरे क्रम के विनाश का नतीजा है।

इसी प्रकार, उन आर्थिक परिकल्पनाओ पर भी इतिहास की छाप पडी हुई है, जिनपर हम पीछे विचार कर चुके ह। किसी पैदावार के माल बनने के लिए जरूरी है कि कुछ निश्चित ढग की ऐतिहासिक परिस्थितिया मौजूद हो। उसके लिए आवश्यक है कि पदावार खुद उत्पादक के जीवन निर्वाह के साधन के रूप में न पैदा की जाये। यदि हमने थोडा और आगे बढकर इसकी खोज की होती कि समस्त पैदावार या कम से कम पदावार का अधिकाश किन परिस्थितियो में मालो का रूप धारण कर लेता है, तो हमें पता चलता कि यह बात केवल

एक बहुत खास ढग के उत्पादन में ही होती है, और यह है पूजीवादी उत्पादन। परन्तु इस प्रकार की खोज मालो के विश्लेषण के क्षेत्र के बाहर चली जाती। मालो का उत्पादन और परिचलन उस वक्त भी हो सकता है, जब अधिकतर वस्तुओ का उत्पादन उनके उत्पादकों की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किया जाता हो, जब वे मालो में न बदली जाती हो और इसलिए जब सामाजिक उत्पादन में बहुत बडे क्षेत्र में और बहुत हद तक विनिमय मूल्य का प्रभुत्व कायम न हुआ हो। पदावार की चीजो के मालों के रूप में सामने आने के लिए यह जरूरी है कि सामाजिक श्रम-विभाजन का ऐसा विकास हो चुका हो, जिसमें विनिमय मूल्य से उपयोग-मूल्य का वह अलगाव, जो पहले पहले अदला-बदली से आरम्भ हुआ था, अब मुकम्मिल हो गया हो। लेकिन इस प्रकार का विकास तो समाज के बहुत से रूपो में समान तौर पर पाया जाता है, जिनकी दूसरी बातो में बहुत अलग-अलग ढग की ऐतिहासिक विशेषताए होती हैं। दूसरी ओर, यदि हम मुद्रा पर विचार करें, तो मुद्रा के अस्तित्व का अर्थ यह होता है कि मालो का विनिमय एक खास अवस्था में पहुच गया है। मुद्रा मालों के केवल सम मूल्य के रूप में, या परिचलन के साधन के रूप में, या भुगतान के साधन के रूप में, या अपसचित कोष की शकल में और या सावत्रिक मुद्रा के रूप में जो तरह-तरह के अलग अलग काम करती है, उनमें से जब जिस खास काम का अधिक विस्तार हो जाता है और जब जो अपेक्षाकृत प्रधानता प्राप्त कर लेता है, तब उसके अनुसार यह पता चलता है कि सामाजिक उत्पादन की क्रिया किस खास अवस्था में पहुच गयी है। फिर भी हमें अनुभव से मालूम है कि मालो का अपेक्षाकृत आदिम ढग का परिचलन इन तमाम रूपो के लिए पर्याप्त होता है। पूजी की बात दूसरी है। उसके अस्तित्व के लिए जो ऐतिहासिक परिस्थितिया आवश्यक होती हैं, वे महज मुद्रा और मालो के परिचलन के साथ ही पदा नहीं हो जातीं। पूजी केवल उसी समय जन्म ले सकती है, जब उत्पादन और जीवन निर्वाह के साधनों के मालिक की अपनी श्रम शक्ति बेचने वाले स्वतत्र मजदूर से मण्डी में भेंट होती है। और इस एक ऐतिहासिक परिस्थिति में ससार का इतिहास अतर्निहित है। इसलिए पूजी अपना प्रथम दशन देने के साथ ही यह घोषणा कर देती है कि सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में एक नय युग का श्रीगणेश हो गया है।[1]

अब हमें श्रम शक्ति नामक इस विचित्र माल पर थोडी और गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। अन्य सब मालो की तरह इस माल का भी मूल्य होता है।[2] वह मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

अन्य प्रत्येक माल की तरह श्रम शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए आवश्यक और

---

[1] इसलिए पूजीवादी युग की यह खास विशेषता होती है कि श्रम शक्ति खुद मजदूर की आखो मे एक ऐसे माल का रूप धारण कर लेती है, जो उसकी सम्पत्ति होता है। चुनाचे उसका श्रम मज़दूरी के बदले मे किया जाने वाला श्रम बन जाता है। दूसरी ओर, केवल इसी क्षण से श्रम की पैदावार सार्विक ढग से माल बन जाती है।

[2] "दूसरी तमाम चीजो की तरह किसी मनुष्य का मूल्य या कीमत उसका दाम होती है, कहने का मतलब यह कि वह उतनी होती है, जितना उसकी शक्ति के उपयोग के लिए दिया जाता है।" (Th Hobbes *Leviathan* [टोमस हौब्स, 'लेवियाथन'], *Works*" में, Molesworth का सम्करण, London 1839-44 खण्ड ३, पृ० ७६।)

इसलिए इस विशेष वस्तु के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। जहा तक श्रम-शक्ति में मूल्य होता है, वहा तक वह अपने में निहित समाज के औसत श्रम की एक निश्चित मात्रा से अधिक और किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करती। केवल एक जीवित व्यक्ति की सामर्थ्य अथवा शक्ति के रूप में ही श्रम शक्ति का अस्तित्व होता है। इसलिए श्रम-शक्ति का अस्तित्व जीवित व्यक्ति के अस्तित्व पर ही निभर है। व्यक्ति पहले से मौजूद हो, तो श्रम शक्ति के उत्पादन का अर्थ है उस व्यक्ति के द्वारा खुद अपना पुनरुत्पादन, या यू कहिये कि अपना जीवन निर्वाह। अपने जीवन निर्वाह के लिए उसे जीवन निर्वाह के साधनो की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है। इसलिए श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल जीवन निर्वाह के इन साधनो के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दो में, श्रम शक्ति का मूल्य मजदूर के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधना का मूल्य होता है। लेकिन श्रम शक्ति केवल अपने प्रयोग से ही वास्तविक्ता बनती है, काम के द्वारा ही वह सक्रिय होती है। किन्तु उसमें मानव-मास-पेशियो, स्नायुओ और मस्तिष्क आदि की एक निश्चित मात्रा खर्च हो जाती है, और इसका फिर से वापिस लाया जाना जरूरी होता है। इस बढे हुए खच के लिए बढ़ी हुई आय की आवश्यकता होती है।[1] यदि श्रम शक्ति का मालिक आज काम करता है, तो उसमें कल फिर से वही क्रिया पहले जैसे स्वास्थ्य और बल के साथ दोहराने की क्षमता होनी चाहिए। अत उसके जीवन निर्वाह के साधन इतने होने चाहिए कि वे उसे श्रम करने वाले व्यक्ति के रूप में उसकी सामान्य अवस्था में जिन्दा रख सकें। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताए, जैसे भोजन, कपडा, ईंधन और रहने का घर आदि, जिस देश में वह रहता है, उसके जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक परिस्थितियो के अनुसार अलग अलग प्रकार की होती ह। दूसरी ओर, उसकी तथाकथित जरूरी आवश्यकताओ की सख्या और विस्तार और उन्हें पूरा करने के ढग भी खुद ऐतिहासिक विकास का फल होते ह और इसलिए बहुत हद तक देश की सभ्यता के विकास पर निभर करते ह। खास तौर पर वे इस बात पर निर्भर करते ह कि स्वतत्र मजदूरो के वग का किन परिस्थितियो में और इसलिए किन आदतो के साथ तथा कितने आराम की हालत में निर्माण हुआ है।[2] अतएव, अन्य मालो के विपरीत, श्रम शक्ति के मूल्य निर्धारण में एक ऐतिहासिक तथा नैतिक तत्त्व भी काम करता है। फिर भी किसी खास देश में और किसी निश्चित काल में हमें मजदूर के जीवन निर्वाह के साधनो की जरूरी औसत मात्रा की व्यावहारिक जानकारी होती है।

श्रम-शक्ति का मालिक नश्वर है। इसलिए अगर उसे लगातार मण्डी में आते रहना है,—और मुद्रा के लगातार पूजी में बदलते रहने के लिए यह बात जरूरी है,—तो श्रम-शक्ति के विक्रेता को अपने को उसी तरह शाश्वत बनाना चाहिए, "जिस तरीके से हर जीवित प्राणी अपने को शाश्वत बनाता है, यानी सन्तान को जन्म देकर।"[3] जो श्रम शक्ति घिस जाने या मजदूर

---

[1] चुनाचे खेता मे काम करने वाले गुलामो के विलिकस (Villicus)—यानी रोमन जमादार—को "काम करने वाले गुलामो की अपेक्षा कम भोजन मिलता था,—कारण कि उसका काम गुलामा से हल्का था।" (Th Mommsen, Röm Geschichte 1856 पृ० ८१०।)

[2] देखिये W Th Thornton *Over population and its Remedy*' [डब्ल्यू० टी० थोनटन, 'जनाधिक्य और उसे दूर करने का उपाय'], London 1846।

[3] पेटी।

को मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप मण्डी से हटा ली जाती है, उसके स्थान पर कम से कम उतनी ही मात्रा में नयी श्रम-शक्ति बराबर आती रहनी चाहिए। इसलिए श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन निर्वाह के साधनो के कुल जोड में उन साधनो को भी शामिल करना पडेगा, जो मजदूर के प्रतिस्थापको के लिए, यानी उसके बच्चो के लिए, जरूरी है, ताकि इस विचित्र माल के मालिको की यह नसल मण्डी में बराबर मौजूद रहे।[1]

मानव शरीर को इस तरह बदलने के लिए कि उसमें उद्योग की किसी खास शाखा के लिए जरूरी निपुणता और हस्तकौशल पैदा हो जाये और वह एक खास तरह की श्रम शक्ति बन जाय, एक खास तरह की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा में मालो के रूप में एक सम मूल्य खर्च होता है। यह मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम शक्ति का स्वरूप कितना कम या अधिक सश्लिष्ट है। इस शिक्षा का खर्च (जो साधारण श्रम-शक्ति की सूरत में बहुत ही कम होता है) pro tanto (इसी परिमाण में) श्रम शक्ति के उत्पादन पर खर्च किये गये कुल मूल्य में शामिल हो जाता है।

इस प्रकार, श्रम शक्ति का मूल्य जीवन निर्वाह के साधनो की एक निश्चित मात्रा के मूल्य में परिणत हो जाता है। चुनाचे वह इन साधनो के मूल्य के साथ, या इन साधनो के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा के साथ, घटता-बढता रहता है।

जीवन निर्वाह के साधनो में से कुछ—जैसे भोजन की वस्तुओ और ईंधन—का रोजाना उपभोग होता है, और इसलिए उनकी रोजाना नयी पूर्ति होती रहनी चाहिए। दूसरे साधन, जैसे कि कपडे और फर्नीचर, ज्यादा समय तक चलते है, और इसलिए उनके स्थान पर ऐसी नयी चीजो की व्यवस्था काफी देर के बाद ही करनी जरूरी होती है। सो एक वस्तु रोज, दूसरी हर सप्ताह, तीसरी तीन महीने के बाद खरीदनी पडती है, या उनका भुगतान करना पडता है, और इसी प्रकार अन्य वस्तुओ का हिसाब होता है। लेकिन इन तमाम मदो में किये गये खर्चों का कुल जोड साल भर में चाहे जिस तरह फैलाया गया हो, वह मजदूर की दैनिक औसत आमदनी से पूरा होता रहना चाहिए। यदि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए जिन मालो की रोजाना आवश्यकता होती है, उनका जोड='क', प्रति सप्ताह आवश्यक होने वाली वस्तुओ का जोड='ख' और तीन महीने में आवश्यक होने वाली वस्तुओ का जोड='ग', और इसी तरह आगे भी, तो इन मालो की रोजाना औसत मात्रा $= \frac{३६५ \text{'क'} + ५२ \text{'ख'} + ४ \text{'ग'} + \text{इत्यादि}}{३६५}$।

मान लीजिये कि एक औसत दिन में इन मालो की जो मात्रा आवश्यक होती है, उसमें ६ घण्टे का सामाजिक श्रम निहित होता है। तब श्रम शक्ति में रोजाना आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम निहित होता है, या, दूसरे शब्दो में, श्रम शक्ति के रोजाना

---

[1] "उसका (श्रम का) स्वाभाविक दाम जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओ तथा सुख के साधनो की वह मात्रा होता है, जो देश के जलवायु तथा आदतो को देखते हुए मजदूर के जिन्दा रहने तथा इतने बडे परिवार का भरण पोषण करने के लिए जरूरी हो, जो मण्डी मे श्रम की पहले जितनी पूर्ति को बराबर बनाये रख सके।" (R Torrens '*An Essay on the External Corn Trade* [आर० टॉरेंस, 'अनाज के बाहरी व्यापार पर एक निबन्ध'] London 1815 पृ० ६२।) यहा 'श्रम शक्ति" के स्थान पर "श्रम' शब्द का गलत प्रयोग किया गया है।

उत्पादन के लिए आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है। श्रम की यह मात्रा ही एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य होती है, या यूं कहिये कि श्रम की यह मात्रा ही रोजाना पुनरुत्पादित होने वाली श्रम-शक्ति का मूल्य होती है। यदि आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम तीन शिलिंग में निहित होता हो, तो एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य के अनुसार उसका दाम ३ शिलिंग होगा। इसलिए अगर उसका मालिक उसे तीन शिलिंग रोजाना में बेचना चाहे, तो उसका बिक्री-दाम उसके मूल्य के बराबर होगा। और हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके मुताबिक हमारा मित्र धन्नासेठ, जो अपनी तीन शिलिंग की रक़म को पूंजी में बदलने पर तुला हुआ है, यह मूल्य अदा कर देता है।

श्रम शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा उन मालों के मूल्य से निर्धारित होती है, जिनकी रोजाना पूर्त्ति के अभाव में मजदूर अपने शरीर में काम करने का बल फिर से नहीं पैदा कर सकता। यानी श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा जीवन निर्वाह के उन साधनों के मूल्य से निर्धारित होती है, जो शारीरिक दृष्टि से मजदूर के लिए अनिवार्य होते हैं। यदि श्रम शक्ति का दाम इस निम्नतम सीमा पर पहुंच जाता है, तो वह उसके मूल्य से कम हो जाता है, क्योंकि ऐसी हालत में श्रम शक्ति को केवल पंगु अवस्था में ही कायम रखा तथा विकसित किया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक माल का मूल्य तो सामान्य श्रेणी का माल तैयार करने में खर्च होने वाले आवश्यक श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है।

श्रम शक्ति का मूल्य निर्धारित करने का यह तरीका परिस्थितियों के कारण अनिवार्य हो जाता है। उसे एक क्रूर तरीका बताना और रोस्सी की तरह रोना-पीटना बहुत सस्ती किस्म की भावुकता है। रोस्सी ने कहा है कि "श्रम करने की क्षमता (puissance de travail) को उत्पादन की क्रिया के दौरान में मजदूर के जीवन निर्वाह के साधनों से अलग करके देखना कल्पना-सृष्टि (etre de raison) देखने के समान है। जब हम श्रम की या श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम मजदूर के साथ-साथ उसके जीवन निर्वाह के साधनों की, मजदूर और उसकी मजदूरी की भी बात करते हैं।"[1] जब हम पाचन शक्ति की बात करते हैं, तब हम पाचन क्रिया की बात नहीं करते। उसी प्रकार, जब हम श्रम शक्ति की बात करते हैं, तब हम श्रम की बात नहीं करते। पाचन क्रिया के लिए अच्छे पेट के अलावा भी कुछ चीजों की आवश्यकता होती है। जब हम श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम उसे जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनों से अलग नहीं कर देते। इसके विपरीत, उन्हीं का मूल्य श्रम शक्ति के मूल्य में व्यक्त होता है। यदि मजदूर की श्रम करने की क्षमता बिना बिके रह जाती है, तो उससे मजदूर को कोई फायदा नहीं पहुंचता। बल्कि तब उसे यह बात बहुत अखरेगी और प्रकृति द्वारा लादी गयी ज्यादती और क्रूरता प्रतीत होगी कि उसकी इस क्षमता के उत्पादन में जीवन निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा खर्च हुई है और आगे भी वह उसके पुनरुत्पादन में खर्च होती जायेगी। तब वह सिस्मोंदी की इस बात से सहमत होगा कि "श्रम करने की क्षमता यदि बिकती नहीं, तो कुछ भी नहीं है।"[2]

माल के रूप में श्रम-शक्ति की विचित्र प्रकृति का एक परिणाम यह होता है कि ग्राहक और विक्रेता के बीच में करार हो जाने पर भी श्रम शक्ति का उपयोग-मूल्य ग्राहक के हाथ में

---

[1] Rossi 'Cours d Econ Polit , Bruxelles, 1842, पृ० ३७०।

[2] Sismondi '*Nouv Princ etc* , ग्रंथ १, पृ० ११२।

तुरत नहीं पहुच जाता। दूसरे हरेक माल की तरह इस माल का मूल्य भी उसके परिचलन म प्रवेश करने के पहले से ही निश्चित होता है, क्योंकि उसपर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा खच हो चुकी होती है। लेकिन इस माल का उपयोग-मूल्य इसी बात में निहित है कि बाद में इस शक्ति का प्रयोग किया जाये। श्रम-शक्ति के हस्तातरण और ग्राहक द्वारा उसके सचमुच हस्तगतकरण—या एक उपयोग-मूल्य के रूप में उसके व्यवहार में लाये जाने—के बीच समय का अतर होता है। लेकिन जहा कहीं किसी माल के उपयोग मूल्य की बिक्री के द्वारा रस्मी हस्तातरण के साथ ही वह माल सचमुच खरीदार को नहीं सौंप दिया जाता, वहा खरीदार का मुद्रा साधारणतया भुगतान के साधन का काम करती है।[1] ऐसे प्रत्येक देश में, जिसमें पूजीवादी ढग का उत्पादन पाया जाता है, यह रिवाज होता है कि जब तक श्रम-शक्ति का करार में निश्चित समय तक, जैसे, मिसाल के लिए, एक सप्ताह तक, प्रयोग नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके दाम नहीं दिये जाते। इसलिए, हर जगह श्रम शक्ति का उपयोग-मूल्य पूजीपति को पेशगी दे दिया जाता है, मजदूर अपनी श्रम शक्ति के ग्राहक को दाम पाने के पहले ही उसके उपयोग की इजाजत दे देता है, हर जगह वह पूजीपति को उधार देता है। यह उधार महज कोई हवाई चीज नहीं होता,—इसका सबूत न सिफ यह है कि पूजीपति का दिवाला निकलने पर मजदूरी के पसे अक्सर डूब जाते ह,[2] बल्कि यह भी कि उसके इससे कहीं अधिक स्थायी ढग के दूसरे नतीजे भी होते ह।[3] फिर भी, मुद्रा चाहे खरीदारी के साधन का काम करे और चाहे

---

[1] "श्रम के दाम सदा उसके समाप्त होने के बाद चुकाये जाते है।" (*'An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand* &c ['माग के स्वभाव और उससे सम्बधित सिद्धान्तो की समीक्षा, इत्यादि'], पृ० १०४।) 'Le credit commercial a du commencer au moment ou l ouvrier premier artisan de la production a pu au moyen de ses economies attendre le salaire de son travail jusqu a la fin de la semaine de la quinzaine du mois du trimestre, &c" ["वाणिज्य सम्बधी उधार की पद्धति उस समय आरम्भ हुई, जब मजदूर—उत्पादन का वह पहला कारीगर—अपनी बचायी हुई आय के प्रताप से अपनी मजदूरी के लिए सप्ताह, पखवाड़े, महीने या तीन महीने इत्यादि के अत तक इतजार करने को तैयार हो गया।"] (Ch Ganilh *"Des Systemes d Economie Politique*, दूसरा सस्करण, Paris 1821 ग्रथ २, पृ० १५०।)

[2] L ouvrier prete son industrie ["मजदूर अपना उद्योग उधार देता है"],—स्तोच कहते है। लेकिन वह बडी चतुराई के साथ यह भी जोड देते है कि मजदूर "कोई जोखिम नहा उठाता," सिवाय इसके कि de perdre son salaire l ouvrier ne transmet rien de materiel ["उसकी मजदूरी जरूर डूब सकती है मजदूर कोई ठोस चीज नहा सौपता"]। (Storch *Cours d Econ Polit* Petersbourg 1815 ग्रथ २, पृ० ३७।)

[3] एक मिसाल लीजिये। लदन मे डबल रोटी बनाने वाले दो तरह के है एक तो full priced ("पूरे दाम वाले"), जो अपनी रोटी पूरे दामो मे बेचते है, और दूसरे undersellers ("सस्ती बेचने वाले"), जो रोटी के मूल्य से कम दाम लेते है। रोटी बनाने वालो की कुल सख्या का तीन चौथाई से अधिक भाग दूसरे प्रकार के रोटी वालो का है। (The grievances complained of by the journeymen bakers etc ['रोटी बनाने वाले कारीगरो की शिकायतें

भुगतान के साधन का, इससे मालो के विनिमय के स्वरूप में कोई तबदीली नहीं आती। श्रम-शक्ति का दाम करार द्वारा तै होता है, हालांकि मकान के किराये की तरह वह कुछ समय बीतने के पहले वसूल नहीं होता। श्रम शक्ति बेच दी जाती है, हालांकि उसका दाम बाद को

इत्यादि'] की जाच करने के वास्ते नियुक्त किये गये जाच-कमिश्नर एच० एस० ट्रेमेनहीर की सरकारी रिपोट (*Report*) का पृष्ठ बत्तीस, London 1862।) सस्ती रोटी बेचने वाले, लगभग बिना किसी अपवाद के, रोटी मे फिटकरी, साबुन, सज्जी, चाक मिट्टी, डर्बीशायर के पत्थरा का चूरा और इसी तरह के अन्य सुखद, पुष्टिकारक एव स्वास्थ्यप्रद पदाथ मिलाकर बेचते है। (उपरोक्त सरकारी रिपोट देखिये और उसके साथ साथ "the committee of 1855 on the adulteration of bread ['रोटी मे मिलावट की जाच करने के लिए बनायी गयी १८५५ की कमिटी'] की रिपोट तथा डा० हैस्सल की रचना *Adulterations Detected* ('पकडी गयी मिलावट') का दूसरा सस्करण, London 1861 भी देखिये।) १८५५ की कमिटी के सामने बयान देते हुए सर जान गाडन ने कहा था कि "इन मिलावटा के परिणामस्वरूप रोज़ाना दो पौंड रोटी के सहारे जिदा रहने वाले गरीब आदमी को अब पौष्टिक पदाथ का चौथाई हिस्सा भी नही मिलता, और उसके स्वास्थ्य पर जो बुरा असर होता है, वह अलग है।" ट्रेमेनहीर ने कहा है (देखिये उप० पु०, पृष्ठ अडतालीस) कि मजदूर-वग का अधिकाश इस मिलावट के बारे मे अच्छी तरह जानते हुए भी इस फिटकरी, पत्थरो के चूरे आदि को क्यो स्वीकार करता है, इसका कारण यह है कि उनके लिए "यह ज़रूरी होता है कि उनका रोटीवाला या मोदी की दूकान (chandler s shop) उनको जैसी रोटी दे, वे वैसी मजूर कर ले।" मजदूरो को चूकि सप्ताह के खतम होने पर मजदूरी मिलती है, इसलिए "उनके परिवार के लोग जिस रोटी का उपभोग करते है, उसके दाम वे सप्ताह के दौरान मे, सप्ताह खतम होने के पहले," नही अदा कर पाते। और इसके आगे ट्रेमेनहीर ने कुछ गवाहियो के आधार पर यह भी कहा है कि "यह एक जानी-मानी बात है कि इन मिलावटा के द्वारा बनायी गयी रोटी खास तौर पर इसी ढग से बेचने के लिए बनायी जाती है" (it is notorious that bread composed of those mixtures is made expressly for sale in this manner)। "इगलैण्ड के बहुत से कृषि प्रधान जिलो मे और उससे भी बडी सख्या मे स्कॉटलैण्ड के कृषि प्रधान जिला मे मजदूरी पखवाडे मे एक बार और यहा तक कि महीने मे एक बार दी जाती है। हर बार इतने लम्बे समय के बाद मजदूरी पाने के कारण खेतिहर मजदूर को मजबूर होकर चीजें उधार खरीदनी पडती है उसे ऊचे दाम देने पडते है, और सच पूछिये, तो वह उस दूकान से बध जाता है, जो उसे उधार देती है। मिसाल के लिए, विल्टस म होर्निंघम नामक स्थान पर, जहा मजदूरी महीने मे एक बार दी जाती है, मजदूर जो आटा किसी दूसरी जगह पर १ शिलिग १० पेंस फी स्टोन (१४ पौण्ड) के भाव पर खरीद सकता था, वह वहा पर उसे २ शिलिग ४ पेंस फी स्टोन (१४ पौण्ड) के भाव पर पाता है। ('*The Medical Officer of the Privy Council, etc, 1864* ['प्रिवी काउसिल के मेडिकल ओफिसर, इत्यादि, १८६४'] की *Public Health* ['सावजनिक स्वास्थ्य'] के बारे मे *Sixth Report* [छठी रिपोट'], पृ० २६४।) "पैजली और किलमारनोक नामक स्थानो के कपडा छापने वाले मजदूरो ने हडताल करके यह बात तै करायी कि उनको महीने मे एक बार के बजाय पखवाडे मे एक बार मजदूरी दी जायेगी।" ("*Reports of the Inspectors of Factories for 31st*

ही मिलता है। इसलिए, दोनो पक्षो के सम्बध को साफ-साफ समझने के लिए फिलहाल यह मान कर चलना उपयोगी होगा कि श्रम-शक्ति का जो भी दाम तै होता है, वह उसको बिक्री होने पर उसके मालिक को हर बार तुरन्त ही मिल जाता है।

अब हमें यह मालूम है कि इस विचित्र माल के – यानी श्रम शक्ति के – मालिक को उसका ग्राहक जो मूल्य देता है, वह कसे निर्धारित होता है। ग्राहक को बदले में जो उपयोग-मूल्य मिलता है, वह केवल उसके वास्तविक फलोपभोग में, यानी श्रम शक्ति के उपभोग में ही प्रकट होता है। इस उद्देश्य के लिए जितनी चीजें जरूरी होती ह, जसे कच्चा माल, मुद्रा का मालिक उन सब का मण्डी में खरीद लेता हे और उनके पूरे मूल्य के बराबर दाम दे देता है। श्रम शक्ति का उपभोग मालो के उत्पादन के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन भी होता है। अन्य हरेक माल की तरह श्रम-शक्ति का उपभोग भी मण्डी की सीमाओ अथवा परिचलन के क्षेत्र के बाहर पूरा होता है। इसलिए हम श्रीयुत धनासेठ और श्रम-शक्ति के मालिक को अपने साथ लेकर शोर-शराबे से भरे इस क्षेत्र से, जहा हर चीज खुले आम और सब लोगो की आखो के सामने होती है, कुछ समय के लिए बिदा लेते हैं और उन दोनो के पीछे-पीछे उत्पादन के उस गुप्त प्रदेश में चलते ह, जिसके प्रवेश-द्वार पर ही हमें यह लिखा दिखाई देता है "No admittance except on business ("काम-काज के बिना अदर आना मना है")। यहा पर हम न सिफ यह देखेंगे कि पूजी किस तरह उत्पादन करती है, बल्कि हम यह भी देखेंगे कि पूजी का किस तरह उत्पादन किया जाता है। यहा आखिर हम मुनाफा कमाने के रहस्य का पता लगाकर ही छोडेंगे।

जिस क्षेत्र से हम बिदा ले रहे हैं, यानी वह क्षेत्र, जिसकी सीमाओ के भीतर श्रम शक्ति का विक्रय और क्रय चलता रहता है, वह सचमुच मनुष्य के मूलभूत अधिकारो का स्वर्ग है। केवल यहीं पर स्वतत्रता, समानता, सम्पत्ति और बथम महाशय का राज है। स्वतत्रता का राज इसलिए कि प्रत्येक माल के, जैसे कि श्रम-शक्ति के, ग्राहक और विक्रेता दोनो केवल अपनी स्वतत्र इच्छा के ही अधीन होते ह। वे स्वतत्र व्यक्तियो के रूप में करार करते ह, और उनके बीच जो समझौता होता है, उसकी शकल में वे केवल अपनी सयुक्त इच्छा को कानूनी अभिव्यजना देते हैं। समानता का राज इसलिए कि यहा हरेक दूसरे के साथ इस तरह का सम्बध स्थापित

Oct, 1853 ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरो का रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५३'], पृ० ३४१) मजदूरो द्वारा पूजीपति को दिये जाने वाले इस उधार के एक और सुदर परिणाम के रूप मे हम इगलण्ड की बहुत सी कोयला-खानो मे प्रचलित उस तरीके का जिक्र कर सकते हैं, जिसके अनुसार मजदूर को महीने के खतम होने तक मजदूरी नही दी जाती और इस बीच वह पूजीपति से कर्ज लेता रहता है, जो अक्सर जिन्स की शकल मे होता है, जिसके लिए खान मजदूर का बाजार भाव से ऊचे दाम देने पडते हैं (truck system)। "कोयला खानो के मालिको का यह आम रिवाज है कि वे अपने मजदूरो को महीने मे एक बार मजदूरी देते हैं और बीच मे हर सप्ताह के अन्त मे उनको कुछ पैसा नकद पेशगी देते रहते हैं। यह पैसा दुकान मे दिया जाता है (यह दूकान मालिक की होती है और Tommy shop कहलाती है), वहा मजदूर एक हाथ से पैसा लेता है और दूसरे हाथ से उसे वापिस कर देते हैं।' (*Children's Employment Commission 3rd Report* ['बाल रोजगार-कमीशन की तीसरी रिपोर्ट'], London 1864 पृ० ३८, मद १९२।)

करता है, जैसे वह मालो का एक साधारण मालिक भर हो, और यहा सभी सम मूल्य का सम-मूल्य के साथ विनिमय करते हैं। सम्पत्ति का राज इसलिए कि हरेक केवल वही चीज बेचता है, जो उसकी अपनी चीज होती है। और बेंथम का राज इसलिए कि हरेक केवल अपनी ही फिक्र करता है। केवल एक ही शक्ति है, जो उनको जोडती है और उनका एक दूसरे के साथ सम्बध स्थापित करती है। वह है स्वार्थ प्रेम, हरेक का अपना लाभ और हरेक के निजी हित। यहा हर आदमी महज अपनी फिक्र करता है और दूसरे की फिक्र कोई नहीं करता, और क्योंकि वे ऐसा करते ह, ठीक इसीलिये पूव स्थापित सामजस्य के अनुसार या किसी सवज्ञ विधाता के तत्त्वावधान में वे सब के सब एक साथ मिलकर पारस्परिक लाभ के लिए, सर्वकल्याण और सब के हित के लिए काम करते ह।

मालो के साधारण परिचलन या विनिमय के इस क्षेत्र से ही "स्वतत्र व्यापार के बाजारू सिद्धातकार" ("Free-trader Vulgaris) को उसके सारे विचार और मत प्राप्त होते ह। उसी से उसको वह मापदण्ड मिलता है, जिससे वह एक ऐसे समाज को मापता है, जो पूजी और मजदूरी पर आधारित है। इस क्षेत्र से अलग होने पर ही अपने dramatis personae (नाटक के पात्रो) की आकृति में कुछ परिवर्तन दिखाई देने लगता है। वह, जो पहले मुद्रा का मालिक था, अब पूजीपति के रूप में अकडता हुआ आगे आगे चल रहा है, श्रम शक्ति का मालिक उसके मजदूर के रूप में उसका अनुकरण कर रहा है। एक अपनी शान दिखाता हुआ, दात निकाले हुए, ऐसे चल रहा है, जैसे आज व्यापार करने पर तुला हुआ हो, दूसरा दबा-दबा, हिचकिचाता हुआ जा रहा है, जसे खुद अपनी खाल बेचने मण्डी में आया हो और जैसे उसे सिवाय इसके और कोई उम्मीद न हो कि अब उसकी खाल उधेडी जायेगी।

भाग ३

निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

सातवा अध्याय

श्रम-प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया

अनुभाग १ – श्रम-प्रक्रिया अथवा उपयोग-मूल्यो का उत्पादन

पूजीपति उपयोग में लाने के लिए श्रम-शक्ति खरीदता है, और उपयोगगत श्रम-शक्ति स्वय श्रम होती है। श्रम शक्ति का ग्राहक उसके विक्रेता को काम में लगाकर उसका उपभोग करता है। काम करके श्रम-शक्ति का विक्रेता सचमुच वह बन जाता है, जो पहले वह केवल सभाव्य रूप में था, अर्थात् वह कायरत श्रम-शक्ति, यानी मजदूर बन जाता है। यदि उसके श्रम को किसी माल के रूप में पुन प्रकट होना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले अपना श्रम किसी उपयोगी वस्तु पर, यानी किसी ऐसी वस्तु पर खच करे, जिसमें किसी न किसी ढग की आवश्यकता को पूरा करने की सामथ्य हो। इसलिए, पूजीपति मजदूर को जिस चीज के उत्पादन में लगाता है, वह कोई विशेष उपयोग-मूल्य या कोई खास वस्तु होती है। इस बात से उपयोग-मूल्यो या वस्तुओ के उत्पादन के सामान्य स्वरूप में कोई अतर नहीं पडता कि यह उत्पादन पूजीपति के नियत्रण में और उसकी तरफ से होता है। इसलिए श्रम प्रक्रिया कुछ खास सामाजिक परिस्थितियो में जो विशिष्ट रूप धारण कर लेती है, हमें पहले उसके प्रभाव से स्वतत्र रहकर श्रम प्रक्रिया पर विचार करना चाहिए।

श्रम सबसे पहले एक ऐसी प्रक्रिया होता है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों भाग लेते है और जिसमें मनुष्य अपनी मर्जी से प्रकृति और अपने बीच भौतिक प्रतिक्रियाओ को आरम्भ करता है, उनका नियमन करता है और उनपर नियत्रण रखता है। वह प्रकृति की ही एक शक्ति के रूप में प्रकृति के मुकाबले में खडा होता है और अपने शरीर की प्राकृतिक शक्तियों को– अपनी बाहा, टागों, सिर और हाथो को – हरकत में लाकर प्रकृति की पदावार को एक ऐसी शक्ल में हस्तगत करने का प्रयत्न करता है, जो उसकी अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप होती है। इस प्रकार बाहरी दुनिया पर असर डालकर और उसे बदलकर मनुष्य उसके साथ-साथ

खुद अपनी प्रकृति भी बदल डालता है। यह अपनी सुषुप्त शक्तियो का विकास करता है और उन्हे अपने आदेशानुसार काम करने के लिए विवश करता है। अब हम श्रम के उन आदिम नैसर्गिक रूपो की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जो हमें महज पशु की याद दिलाते ह। वह अवस्था, जिसमें मनुष्य अपनी श्रम शक्ति को माल के रूप में बेचने के लिए मडी में लाता है, और वह, जिसमें मानव-श्रम अभी अपने पहले, नैसर्गिक रूप में ही था,—इन दो अवस्थाओ के बीच समय का इतना बडा व्यवधान है, जिसे नापना असम्भव है। हम श्रम के अतर्गत विशुद्ध मानव-श्रम को ही मानकर चल रहे हैं। मकडी ठीक बुनकर की तरह ही जाला बुनती है, और शहद की मक्खी इस खूबी के साथ अपनी कोठरिया बनाती है कि बहुत से वास्तुकार देखकर सिर नीचा कर ले। लेकिन अनाडी से अनाडी वास्तुकार और अच्छी से अच्छी शहद की मक्खी में फर्क यह होता है कि वास्तुकार वास्तव में भवन बनाने के पहले उसे अपनी कल्पना में बनाता है। प्रत्येक श्रम क्रिया के समाप्त होने पर एक ऐसा परिणाम हमारे सामने आता है, जो श्रम-प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय मजदूर की कल्पना में पहले ही से मौजूद था। मजदूर जिस सामग्री पर मेहनत करता है, वह केवल उसके रूप को ही नहीं बदलता है, बल्कि वह खुद अपना एक उद्देश्य भी पूरा करता है। यह उद्देश्य उसकी कार्य प्रणाली के लिए नियम बन जाता है, और उसे अपनी इच्छा को इस उद्देश्य के आधीन बना देना पडता है। यह अधीनता केवल क्षणिक ही नहीं होती। शरीर की इन्द्रियों के परिश्रम के अतिरिक्त, श्रम-प्रक्रिया के लिए यह भी जरूरी होता है कि काम के दौरान में मजदूर की इच्छा बराबर उसके उद्देश्य के अनुरूप रहे। इसका मतलब यह है कि मजदूर को बडी एकाग्रता से काम करना होता है। काम की प्रकृति और उसे करने की प्रणाली मजदूर को जितना कम आकर्षित करती ह और इस तरह उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो को व्यवहार में आने का मौका देने वाली चीज के रूप में मजदूर को उस काम में जितना ही कम मजा आता है, उसे उतनी ही अधिक एकाग्रता से काम करने के लिए विवश होना पडता है।

श्रम प्रक्रिया के प्राथमिक तत्त्व ये ह १) मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाशीलता, अर्थात स्वय काम, २) उस काम का विषय और ३) काम के औजार।

अछूती हालत में धरती (जिसमें आर्थिक दृष्टि से पानी भी शामिल है) मनुष्य को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुए या जीवन निर्वाह के साधन बिल्कुल तैयार हालत में प्रदान करती है।[1] उसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतत्र होता है, और वह मानव श्रम की सार्वत्रिक विषय वस्तु होती है। वे तमाम चीजें, जिनको श्रम महज उनके वातावरण के साथ तात्कालिक सम्बध से अलग कर देता है, श्रम की ऐसी विषय वस्तुए होती ह, जिनको प्रकृति स्वयस्फूर्त ढग से मनुष्य को सौंप देती है। वे मछलिया, जिन्हें हम पकडते हैं और उनके वातावरण—पानी—से अलग कर देते ह, वह लकडी, जो हम अछूने जगलो को काटकर हासिल करते ह, वे खनिज पदार्थ, जो हम पृथ्वी के गर्भ से निकालते ह,—वे सब इसी तरह की चीजें ह। दूसरी ओर, यदि श्रम की

[1] "प्रकृति की स्वयस्फूर्त पैदावार चूकि परिमाण मे थोडी और मनुष्य के प्रभाव से बिल्कुल स्वतन्त्र होती है, इसलिए ऐसा लगता है, जैसे प्रकृति ने इसे मनुष्य को उसी तरह सौंप दिया हो, जैसे किसी नवयुवक को किसी धधे मे लगाने तथा पैसे कमाने के मार्ग पर लगाने के लिए एक छोटी सी रकम दे दी जाती है।" (James Steuart, '*Principles of Polit Econ* [जेम्स स्टीवर्ट, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'] Dublin का सस्करण, 1770 खण्ड १, पृ० ११६।)

विषय-वस्तु मानो पहले किये गये किसी श्रम की छलनी में से छनकर हमें मिली हो, तो हम उसे कच्चा माल कहते है। इसकी मिसाल यह खनिज है, जो पृथ्वी के गर्भ से निकाला जा चुका है और अब धुलने के लिए तयार है। हर प्रकार का कच्चा माल श्रम की विषय-वस्तु होता है, लेकिन श्रम की प्रत्येक विषय-वस्तु कच्चा माल नहीं होती। वह कच्चा माल तभी बन सकता है, जब उसमें श्रम द्वारा कुछ परिवर्तन कर दिया गया हो।

श्रम का औजार एक ऐसी वस्तु या वस्तुओं का एक ऐसा सश्लेष होता है, जिसे मजदूर अपने और अपने श्रम की विषय वस्तु के बीच में जगह देता है और जो उसकी क्रियाशीलता के सवाहक का काम करता है। मजदूर कुछ अन्य पदार्थों को अपने उद्देश्य के अधीन बनाने के लिए कुछ पदार्थों के यान्त्रिक, भौतिक एव रासायनिक गुणों का उपयोग करता है।[1] फलों जैसे जीवन निर्वाह के उन साधनो की ओर ध्यान न देने पर, जिनको इकट्ठा करने में मनुष्य खुद अपनी बाहो और टागो से श्रम के औजारो का काम लेता है, हम यह पाते है कि मजदूर जिस पहली चीज पर अधिकार करता है, वह श्रम की विषय-वस्तु नहीं, बल्कि श्रम का औजार होता है। इस प्रकार प्रकृति उसकी क्रियाशीलता की एक इन्द्रिय बन जाती है, जिसे वह अपनी शारीरिक इन्द्रियो के साथ जोड लेता है और इस तरह, बाइबल के कथन के विपरीत, अपना कद और लम्बा कर लेता है। पृथ्वी जैसे मनुष्य का आदिम भण्डार-गृह है, वैसे ही वह उसका आदिम औजार-खाना भी है। मिसाल के लिए, वह उसे फेंकने, पीसने, दबाने और काटने आदि के औजारो के रूप में तरह-तरह के पत्थर देती है। पृथ्वी खुद भी श्रम का एक औजार है, लेकिन जब वह इस रूप में खेती में इस्तेमाल की जाती है, तब उसके अलावा अनेक और औजारों की तथा श्रम के अपेक्षाकृत ऊचे विकास की आवश्यकता होती है।[2] श्रम का तनिक सा विकास होते ही उसे खास तौर पर तयार किये गये औजारो की जरूरत होने लगती है। चुनाचे, पुरानी से पुरानी गुफाओ में भी हमें पत्थर के औजार और हथियार मिलते है। मानव इतिहास के प्राचीनतम काल में खास तौर पर तयार किये गये पत्थरो, लकडी, हड्डियो और घोघा के साथ साथ पालतू जानवर भी श्रम के औजारो के रूप में मुख्य भूमिका अदा करते है।[3] पालतू जानवर वे होते है, जो खास तौर पर श्रम के उद्देश्य को सामने रखकर पाले पोसे गये हो और जिनमें श्रम द्वारा परिवर्तन कर दिये गये हो। श्रम के औजारो को इस्तेमाल करना और बनाना हालांकि

---

[1] "बुद्धि जितनी बलवती, उतनी ही चतुर भी होती है। उसकी चतुराई मुख्यतया वस्तुओं की बिचवाई का काम करने वाले के रूप मे प्रकट होती है, जिसके द्वारा वह वस्तुओं की अपनी प्रकृति के अनुसार उनकी एक दूसरे के ऊपर क्रिया और प्रतिक्रिया कराती है और इस प्रकार, प्रक्रिया मे बिना कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किये, अपने उद्देश्यो को कार्यान्वित कराती है।" (Hegel '*Enzyklopädie, Erster Theil, Die Logik* [हेगेल, 'विश्वकोष, पहला भाग, तर्क शास्त्र'], Berlin 1840 पृ० ३८२।)

[2] गानिल्ह की रचना (*Theorie de l Econ Polit* Paris 1815) वैसे तो घटिया है, किन्तु उसमे उन्होंने फिजिओक्रेट्स को जवाब देते हुए बहुत सुन्दर ढग से उन अनेक प्रक्रियाओं की गणना की है, जिनके सम्पन्न हो चुकने के बाद ही सही अर्थ मे खेती शुरू हो सकता है।

[3] तर्गोत ने अपनी रचना *Reflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses* (१७६६) म प्रारम्भिक सभ्यता के लिए पालतू जानवरा के महत्व का बहुत जोरदार ढग से स्पष्ट किया है।

बीज रूप में कुछ किस्मो के जानवरो में भी पाया जाता है, परन्तु विशिष्ट रूप से वह मानव-श्रम की ही विशेषता है, और फ्रैंकलिन ने इसीलिये मनुष्य की परिभाषा करते हुए उसे एक औजार बनाने वाला जानवर (a tool-making animal) बताया है। समाज के जो आर्थिक रूप लुप्त हो गये ह, उनकी खोज के लिए श्रम के पुराने औजारो के अवशेषो का वही महत्त्व होता है, जो पथरायी हुई हड्डियो का जानवरो की उन नसलो का पता लगाने के लिए होता है, जो अब पृथ्वी से गायब हो गयी ह। अलग अलग आर्थिक युगो में भेद करने के लिए हम यह नहीं देखते कि उन युगो में कौन-कौनसी वस्तुए बनायी जाती थीं, बल्कि यह पता लगाते हैं कि वे किस तरह और किन औजारो से बनायी जाती थीं।[1] श्रम के औजार न केवल इस बात के मापदण्ड का काम देते ह कि मानव-श्रम किस हद तक विकास कर चुका है, बल्कि वे यह भी इगित करते हैं कि वह श्रम किन सामाजिक परिस्थितियो में किया जाता है। श्रम के औजारो में कुछ यान्त्रिक ढग के होते हैं, जिन्हें यदि एक साथ लिया जाये, तो हम उनको उत्पादन की हड्डिया और मास पेशिया कह सकते ह। दूसरी ओर, नलियो, टबो, टोकरियो, मर्तबानो आदि जैसे कुछ औजार होते हैं, जो केवल उस सामग्री को रखने के काम में आते ह, जिसपर श्रम किया जाता है। उन्हें हम आम तौर पर उत्पादन की वाहिका प्रणाली कह सकते ह। उत्पादन के किसी भी खास युग की विशेषताओ का दूसरे प्रकार के औजारो की अपेक्षा पहले प्रकार के औजारो से अधिक निश्चित रूप में पता चलता है। दूसरे प्रकार के औजार केवल रासायनिक उद्योगो में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

श्रम के औजारो का यदि हम अधिक व्यापक अर्थ लगायें, तो उनमें ऐसी वस्तुओ के अलावा, जो प्रत्यक्ष रूप से श्रम की विषय-वस्तु तक श्रम का स्थानातरण करने के काम में आती ह और इसलिए जो किसी न किसी ढग से क्रियाशीलता के सवाहको का काम करती हैं, ऐसी तमाम चीजें भी शामिल की जा सकती हैं, जो श्रम-प्रक्रिया सम्पन्न करने के लिए जरूरी होती ह। ये चीजें श्रम प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित नहीं होतीं, लेकिन उनके बिना या तो श्रम प्रक्रिया का सम्पन्न होना ही असम्भव हो जाता है और या वह केवल आशिक रूप में ही सम्पन्न हो पाती है। एक बार फिर हम पृथ्वी को इस प्रकार का सार्वत्रिक औजार भी पाते ह, क्योकि वह मजदूर को locus standi (खडे होने का स्थान) और उसकी क्रियाशीलता का उपयोग करने के लिए एक क्षेत्र (a field of employment) प्रदान करती है। ऐसे औजारो में, जो पहले किये गये किसी श्रम का परिणाम होते ह और इस श्रेणी के अतर्गत भी आते हैं, हम वर्कशापो, नहरो, सडको आदि की चर्चा कर सकते हैं।

---

[1] उत्पादन के अलग अलग युगो का प्रौद्योगिक दृष्टि से मुकाबला करने के लिए सब से कम महत्त्व रखने वाले माल विलास की वस्तुए हैं, बशर्ते कि हम इन शब्दो का उनके बिलकुल ठीक-ठीक अर्थ मे कडाई से प्रयोग करे। आज तक लिखे गये हमारे इतिहासो में भौतिक उत्पादन के विकास की ओर चाहे जितना कम ध्यान दिया गया हो, जो समस्त सामाजिक जीवन का और इसलिए सम्पूर्ण वास्तविक इतिहास का आधार होता है, फिर भी प्रागैतिहासिक काल को अलग अलग युगो मे तथाकथित ऐतिहासिक अनुसधान के निष्कर्षो के अनुसार नही, बल्कि भौतिकवादी अनुसधान के निष्कर्षो के अनुसार बाटा गया है। इन युगो का विभाजन उन सामग्रियो के अनुसार किया गया है, जिनसे उनके औजार और हथियार बनाये जाते थे। मिसाल के लिए, प्रागैतिहासिक काल को पाषाण-युग, कास्य-युग और लौह युग मे बाटा गया है।

अतएव, श्रम प्रक्रिया में मनुष्य की क्रियाशीलता श्रम के औजारों की मदद से, जिस सामग्री पर वह श्रम किया जाता है, उसमें कुछ ऐसा परिवर्तन पैदा कर देती है, जिसके बारे में श्रम आरम्भ करने के समय ही सोच लिया गया था। श्रम प्रक्रिया पैदावार में लोप हो जाती है। पैदावार एक उपयोग-मूल्य होती है। यानी प्रकृति की दी हुई सामग्री का रूप बदलकर उसे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया जाता है। श्रम अपनी विषय-वस्तु में समाविष्ट हो जाता है श्रम भौतिक रूप धारण कर लेता है, उसकी विषय-वस्तु रूपांतरित हो जाती है। जो चीज मजदूर में गति के रूप में प्रकट हुई थी, वही अब पैदावार में एक गतिहीन, स्थिर गुण के रूप में प्रकट होती है। लुहार गढ़ता है, और उसकी पैदावार एक गढ़ी हुई चीज होती है।

यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल के दृष्टिकोण से, यानी यदि हम उसपर पैदावार के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औजार और श्रम की विषय-वस्तु दोनों उत्पादन के साधन होते हैं[1] और श्रम खुद उत्पादक श्रम होता है।[2]

यद्यपि किसी पैदावार के रूप में एक उपयोग-मूल्य श्रम प्रक्रिया से निकलता है, फिर भी पहले किये गये श्रम की पैदावार–कुछ और उपयोग-मूल्य उत्पादन के साधनों के रूप में इस प्रक्रिया में भाग लेते हैं। वही उपयोग-मूल्य पहले की एक श्रम प्रक्रिया की पैदावार भी होता है और बाद को एक श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन के साधन का भी काम करता है। इसलिए उत्पादित वस्तुएं श्रम का फल ही नहीं, उसकी बुनियादी शर्त भी होती हैं।

निस्सारक उद्योगों में,–जैसे खान खोदना, शिकार करना, मछली पकड़ना और खेती (जहां तक कि वह अछूती धरती को तोड़ने तक सीमित है),–श्रम की सामग्री सीधे प्रकृति से मिल जाती है। परंतु इन उद्योगों को छोड़कर उद्योग की अन्य सभी शाखाओं में कच्चे माल पर, यानी ऐसी वस्तुओं पर श्रम किया जाता है, जो पहले ही श्रम के द्वारा छनकर आयी होती हैं, यानी जो खुद भी श्रम की पैदावार होती हैं। खेती में इस्तेमाल होने वाला बीज इसी श्रेणी में आता है। वे पशु और पौधे, जिनको हम प्रकृति की पैदावार समझने के आदी हैं, अपने वर्तमान रूप में न केवल पिछले वर्ष के श्रम की पैदावार होते हैं, बल्कि वे मनुष्य के निरीक्षण में और उसके श्रम के द्वारा सम्पन्न होने वाले उस रूपांतरण का फल होते हैं, जो कई पीढ़ियों से बराबर धीरे धीरे जारी रहा है। लेकिन श्रम के अधिकतर औजार ऐसे होते हैं कि केवल सतही चीजें देखने वालों को भी उनमें बीते हुए युगों के श्रम के चिह्न दिखाई दे जाते हैं।

कच्चा माल या तो पैदावार का प्रधान तत्त्व होता है और या वह उसके निर्माण में केवल सहायक के रूप में भाग लेता है। सहायक या तो श्रम के औजारों के द्वारा खर्च हो सकता है, जैसे कोयला बायलर के नीचे जलाया जाता है, तेल पहिये में डाला जाता है और भूसा गाड़ी या हल खींचने वाले घोड़े को खिलाया जाता है, या उसे कच्चे माल में कोई परिवर्तन

---

[1] यह कहना एक विरोधाभासी कथन प्रतीत होता है कि मसलन जो मछलियां अभी तक पकड़ी नहीं गयी हैं, वे मछली-उद्योग में उत्पादन के साधनों का काम करती हैं। लेकिन अभी तक किसी ने उस पानी में से मछली पकड़ने की कला का आविष्कार नहीं किया है, जिसमें मछली है ही नहीं।

[2] अकेले श्रम प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है,–यह तरीका उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष रूप से हरगिज लागू नहीं होता।

पदा करने के लिए उसमें मिला दिया जाता है, जसे क्लोरीन मिलाकर कपडे को सफेद किया जाता है, कोयला लोहे में मिलाया जाता है और रग ऊन में। या, इसी तरह, सहायक खुद काम करने में भी मददगार हो सकता है, जैसे वर्कशाप को गरम रखने और उसमें प्रकाश करने के लिए इस्तेमाल होने वाली सामग्री काम करने में मदद देती है। वास्तविक रासायनिक उद्योग में प्रधान तत्त्व और सहायक का भेद मिट जाता है, क्योकि ऐसे उद्योगो में कोई सा भी कच्चा माल अपनी पुरानी बनावट के साथ पैदावार के द्रव्य में पुन प्रकट नहीं होता।[1]

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं, और इसलिए उसके भिन्न-भिन्न ढग के उपयोग किये जा सकते हैं। चुनाचे, एक पैदावार कई बहुत ही अलग-अलग क़िस्म की प्रक्रियाओ में कच्चे माल का काम कर सकती है। मिसाल के लिए, अनाज आटा पीसने वालों, स्टार्च बनाने वालो, शराब खींचने वालो और ढोर पालने वालो के काम में आता है। इसके साथ-साथ वह बीज की शक्ल में खुद अपने उत्पादन में भी कच्चे माल की तरह भाग लेता है। इसी तरह कोयला खान से कोयला निकालने के उद्योग की पदावार भी है और उसमें उत्पादन के साधन का भी काम करता है।

फिर यह भी मुमकिन है कि कोई खास पदावार एक ही प्रक्रिया में श्रम के औज़ार की तरह भी इस्तेमाल की जाये और कच्चे माल की तरह भी। मिसाल के लिए, ढोरो को खिला पिलाकर मोटा करने की क्रिया को लीजिये। उसमें जानवर कच्चे माल का काम करता है और साथ ही खाद पैदा करने के औज़ार के रूप में भी काम में आता है।

सम्भव है कि कोई पदावार तुरत उपयोग के लिए तयार होते हुए भी किसी और पैदावार के कच्चे माल का काम करे, जसे कि अगूर, जब वे शराब के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। दूसरी ओर, मुमकिन है कि श्रम अपनी पैदावार हमें ऐसे रूप में दे, जिसमें हम उसका केवल कच्चे माल की तरह ही इस्तेमाल कर सकें। कपास, धागा और सूत इसकी मिसालें ह। इस तरह के कच्चे माल को, खुद पदावार होते हुए भी, मुमकिन है कि अलग-अलग प्रक्रियाओ के एक पूरे क्रम से गुजरना पडे। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया में वह बारी-बारी से और लगातार बदलते हुए रूप में उस वक्त तक कच्चे माल का काम करता जाता है, जब तक कि श्रम की अतिम प्रक्रिया उसे मुकम्मिल पैदावार नहीं बना देती। इस रूप में वह व्यक्तिगत उपभोग के लिए या श्रम के औज़ार की तरह इस्तेमाल में आने के लिए तैयार हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि किसी उपयोग-मूल्य को कच्चा माल समझा जाये, या श्रम का औज़ार माना जाये, या उसे पदावार कहा जाये, यह पूर्णतया इस बात से निश्चित होता है कि वह उपयोग-मूल्य श्रम प्रक्रिया में क्या कार्य करता है और उसमें उसकी क्या स्थिति होती है। स्थिति के बदलने के साथ-साथ उसका स्वरूप भी बदल जाता है।

इसलिए जब कभी कोई पैदावार उत्पादन के साधन के रूप में किसी नयी श्रम प्रक्रिया में प्रवेश करती है, तब ऐसा करके वह पैदावार का रूप खो देती है और श्रम प्रक्रिया का एक

---

[1] स्तोच ने सच्चे कच्चे मालो को Matieres और सहायक सामग्री को "Materiaux" कहा है। (H Storch "*Cours d Economie Politique*, Paris 1815, खण्ड १, अध्याय ६, भाग २, पृ० २८८।) चेरबूलियेज ने सहायको को 'matieres instrumentales का नाम दिया है। (Cherbuliez *Richesse ou Pauvrete*, Paris 1841 पृ० १४।)

तत्व मात्र बन जाती है। सूत कातने वाला तकुओं को केवल कातने के औजार और सन को कातने की सामग्री समझता है। जाहिर है कि बिना सामग्री के और बिना तकुओं के कातना असम्भव है, और इसलिए हमें यह मानकर चलना पड़ता है कि कातने की प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय ये चीजें पैदावार के रूप में पहले से मौजूद थीं। परन्तु खुद कातने की प्रक्रिया में इस बात का तनिक भी महत्त्व नहीं है कि ये चीजें पहले किये गये किसी श्रम की पैदावार हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे पाचन-प्रक्रिया में इसका जरा भी महत्त्व नहीं होता कि रोटी काश्तकार, आटा पीसने वाले और रोटी पकाने वाले के श्रम की पैदावार होती है। इसके विपरीत, किसी भी प्रक्रिया में जब उत्पादन के साधन पैदावार के रूप में अपनी याद दिलाते हैं, तब आम तौर पर उसका कारण पैदावार के रूप में उनके दोष होते हैं। एक कुंद चाकू या कमजोर धागा हमें जबर्दस्ती श्रीयुत 'क' नामक चाकू बनाने वाले या श्रीयुत 'ख' नामक कातने वाले की याद दिला देता है। तैयार पैदावार में वह श्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके द्वारा उस पैदावार ने अपने उपयोगी गुण प्राप्त किये हैं, लगता है कि जैसे वह गायब हो गया हो।

श्रम के काम में न आने वाली मशीन बेकार होती है। इसके अलावा, वह प्राकृतिक शक्तियों के विनाशकारी प्रभावों का शिकार हो जाती है। लोहे में जंग लग जाता है और लकड़ी सड़ जाती है। उस सूत में, जिससे हम न तो कपड़ा तैयार करते हैं और न बुनाई करते हैं, महज कपास बरबाद हुई है। जीवित श्रम को इन वस्तुओं को हाथ में लेकर उनको मृत्यु निद्रा से जगाना चाहिए और मात्र संभावित उपयोग-मूल्यों से वास्तविक और प्रभावी उपयोग-मूल्यों में परिणत करना चाहिए। ये वस्तुएं जब श्रम की आग में तपती हैं, जब उनपर श्रम के संघटन के अभिन्न अंग के रूप में अधिकार कर लिया जाता है और जब उनमें इस उद्देश्य से कि वे श्रम प्रक्रिया में अपनी भूमिका सम्पन्न कर सकें, मानो प्राणों का संचार कर दिया जाता है, तब ये वस्तुएं खर्च तो होती हैं, पर वे एक उद्देश्य के लिए खर्च होती हैं और ऐसे नये उपयोग मूल्यों या नयी पैदावार के प्राथमिक संघटकों के रूप में खर्च होती हैं, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिए जीवन निर्वाह के साधनों के रूप में या किसी नयी श्रम प्रक्रिया के लिए उत्पादन के साधनों के रूप में काम आने के वास्ते सदा तैयार रहते हैं।

चुनांचे, अगर एक तरफ तैयार पैदावार श्रम प्रक्रिया का न सिर्फ फल होती है, बल्कि उसकी आवश्यक शर्त भी होती है, तो, दूसरी तरफ, उपयोग मूल्यों के उसके स्वरूप को क़ायम रखने और उसे सचमुच उपयोग में लाने का केवल यही एक तरीका होता है कि उसे श्रम प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाये और उसका जीवित श्रम से सम्पर्क स्थापित किया जाये।

श्रम अपने भौतिक उपकरणों का, अपनी विषय वस्तु का और अपने औजारों का इस्तेमाल कर डालता है, उनका उपभोग करता है, और इसलिए वह उपभोग की प्रक्रिया होता है। इस प्रकार के उत्पादक उपभोग और व्यक्तिगत उपभोग में यह अंतर होता है कि व्यक्तिगत उपभोग पैदावार को जीवित व्यक्तियों के जीवन निर्वाह के साधनों के रूप में खर्च करता है और उत्पादक उपभोग उसको उस एकमात्र साधन के रूप में खर्च करता है, जिसके द्वारा ही श्रम के लिए—या जीवित व्यक्ति की श्रम-शक्ति के लिए—कार्य करना सम्भव होता है। अतः व्यक्तिगत उपभोग की पैदावार खुद उपभोगी होता है, और उत्पादक उपभोग का फल उपभोगी से अलग एक पैदावार होती है।

इसलिए, जिस हद तक श्रम के औजार और उसकी विषय वस्तु खुद पैदावार होती हैं, उस हद तक श्रम पैदावार को जन्म देने के लिए पैदावार खर्च करता है, या, दूसरे शब्दों में,

एक प्रकार की पैदावार को दूसरे प्रकार की पैदावार के उत्पादन के साधनो में परिणत करके खर्च करता है। लेकिन जिस प्रकार आरम्भ में श्रम प्रक्रिया में भाग लेने वाले केवल मनुष्य और पृथ्वी, दो ही थे, जिनमें से पृथ्वी का अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है, उसी प्रकार हम आज भी इस प्रक्रिया में उत्पादन के बहुत से ऐसे साधनो का इस्तेमाल करते हैं, जो हमें सीधे प्रकृति से मिलते हैं और जो प्राकृतिक पदार्थों के साथ मानव श्रम के किसी मिलाप का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

ऊपर हमने श्रम प्रक्रिया को उसके साधारण प्राथमिक तत्त्वो में परिणत कर दिया है। इस रूप में श्रम प्रक्रिया उपयोग-मूल्यो के उत्पादन के उद्देश्य से की गयी मानव की कायवाही है, वह प्राकृतिक पदार्थों को मानव-आवश्यकताओ के अनुकूल बनाकर उनको हस्तगत करने की प्रक्रिया है, वह मनुष्य और प्रकृति के बीच पदार्थ का विनिमय सम्पन्न करने की आवश्यक शर्त है, वह मानव-अस्तित्व की शर्त है, जिसे प्रकृति ने सदा-सदा के लिए अनिवाय बना दिया है, और इसलिए वह इस अस्तित्व के प्रत्येक सामाजिक रूप से स्वतंत्र होती है, या सम्भवत यह कहना ज्यादा सही होगा कि वह ऐसे प्रत्येक रूप में सामान्यत मौजूद होती है। इसलिए हम जिस मजदूर पर विचार कर रहे है, उसका ऊपर अन्य मजदूरो के सम्बध में वणन करने की आवश्यकता नहीं थी। एक तरफ मनुष्य और उसका श्रम और दूसरी तरफ प्रकृति और उसकी सामग्रिया ही बस काफी थीं। जिस प्रकार दलिया खाकर यह नहीं बताया जा सकता कि जई किसने बोयी थी, उसी प्रकार खुद इस सरल श्रम प्रक्रिया से हमें यह नहीं पता चलता कि वह किन सामाजिक परिस्थितियो के अन्तगत हो रही है। वह खुद हमें यह नहीं बताती कि वह गुलामो के बेरहम मालिक के कोडे के नीचे सम्पन्न हो रही है या पूजीपति की चिन्तित दृष्टि के नीचे, कोई सिसिनटुस अपना छोटा सा खेत जोतकर उसे सम्पन्न कर रहा है या कोई जगली आदमी वन्य पशुओ को पत्थरो से मार मारकर उसे पूरा कर रहा है।[1]

आइये, अब हम अपने भावी पूजीपति की ओर लौट चलें। हम उससे उस वक्त अलग हुए थे, जब उसने खुली मण्डी में श्रम प्रक्रिया के तमाम आवश्यक उपकरण—वस्तुगत उपकरण, यानी उत्पादन के साधन, और वयक्तिक उपकरण, यानी श्रम-शक्ति, दोनो बस—खरीदे ही थे। एक विशेषज्ञ की पनी दृष्टि से उसने अपने विशेष व्यवसाय के लिए,—वह चाहे कातने का व्यवसाय हो, चाहे जूते बनाने का और चाहे किसी और किस्म का,—सबसे अधिक उपयुक्त ढग के उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति चुन ली थी। उसके बाद वह श्रम-शक्ति नामक उस माल का, जिसको उसने कुछ समय पहले ही खरीदा है, उपभोग करना आरम्भ करता है। इसके लिए वह उस श्रम-शक्ति की साकार मूर्त्ति—मजदूर—से उसके श्रम के द्वारा

---

[1] अपनी तर्क-शक्ति का चमत्कारिक प्रयोग करते हुए कनल टोरेन्स ने जगली आदमी के इस पत्थर मे पूजी की उत्पत्ति का रहस्य खोज निकाला है। उन्होंने लिखा है "वह (जगली आदमी) वन्य पशु का पीछा करते हुए उसपर जो पहला पत्थर फेंकता है, अपने सिर के ऊपर लटके हुए फल को नीचे गिराने के लिए जो लकडी हाथ मे उठाता है, उसमे हम एक वस्तु के उपाजन मे मदद करने के उद्देश्य से एक दूसरी वस्तु का हस्तगतकरण होते हुए देखते हैं और इस तरह पूजी की उत्पत्ति के रहस्य का आविष्कार कर डालते हैं।" (R Torrens *An Essay on the Production of Wealth,'* &c [आर० टोरेन्स, 'धन के उत्पादन के विषय मे एक निबध, इत्यादि'] पृ० ७० ७१।)

उत्पादन के साधनो का उपयोग कराता है। श्रम प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप में इस बात से, जाहिर है, कोई अन्तर नहीं पडता कि मजदूर यहा खुद अपने लिए काम करने के बजाय पूजीपति के लिए काम करता है। इसके अलावा, जूते बनाने या कातने में जिन खास तरीकों और प्रक्रियाओ का उपयोग किया जाता है, पूजीपति के हस्तक्षेप से उनमें तुरत कोई परिवर्तन नहीं आ जाता है। मण्डी में जसी भी श्रम-शक्ति मिलती हो, शुरू में पूजीपति को उसी से आरम्भ करना पडता है, और इसलिए उसे उसी प्रकार के श्रम से सतोष करना पडता है, जिस प्रकार का श्रम पूजीपतियो के उदय से ठीक पहले वाले काल में मिलता था। श्रम के पूजी के अधीन हो जाने के कारण उत्पादन के तरीको में होने वाले परिवतन केवल बाद के काल में आते है, और इसलिए उनपर हम बाद के किसी अध्याय में विचार करेंगे।

श्रम-प्रक्रिया जब उस प्रक्रिया में बदल जाती है, जिसके जरिये पूजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, तब उसमें दो खास विशेषताए दिखाई देने लगती है। एक तो यह कि मजदूर उस पूजीपति के नियन्त्रण में काम करता है, जो उसके श्रम का स्वामी होता है, और पूजीपति इस बात का पूरा खयाल रखता है कि काम ठीक ढग से हो और उत्पादन के साधनों का बुद्धिमानी के साथ प्रयोग किया जाये, ताकि कच्चे माल का अनावश्यक अपव्यय न हो और काम में औजारों की जितनी घिसाई लाजिमी है, वे उससे ज्यादा न घिसने पायें।

दूसरे यह कि अब पैदावार मजदूर की – यानी उसके तात्कालिक उत्पादक की – सम्पत्ति न होकर पूजीपति की सम्पत्ति होती है। मान लीजिये कि एक पूजीपति दिन भर की श्रम शक्ति के दाम उसके मूल्य के अनुसार चुका देता है। तब उसको किसी भी अन्य माल की तरह, मिसाल के लिए, दिन भर के वास्ते किराये पर लिये गये घोड़े की भांति उस श्रम-शक्ति के भी दिन भर के उपयोग का अधिकार होता है। किसी माल के उपयोग का अधिकार उसके खरीदार को होता है, और जब श्रम-शक्ति का विक्रेता अपना श्रम देता है, तब वह असल में इससे अधिक कुछ नहीं करता कि उसने जो उपयोग-मूल्य बेच दिया है, उसे अब वह हस्तातरित कर देता है। वह जिस क्षण से वर्कशाप में कदम रखता है, उसी क्षण से उसकी श्रम शक्ति के उपयोग मूल्य पर और इसलिए उसके उपयोग पर भी, अर्थात मजदूर के श्रम पर भी, पूजीपति का अधिकार हो जाता है। श्रम शक्ति खरीदकर पूजीपति पैदावार के निर्जीव सघटको में सजीव किण्व के रूप में श्रम का समावेश कर देता है। उसके दृष्टिकोण से श्रम प्रक्रिया खरीदे हुए माल का, अर्थात श्रम-शक्ति का, उपभोग करने से अधिक और कुछ नहीं होती, लेकिन इस उपभोग को कार्यान्वित करने का इसके सिवा और कोई तरीका नहीं है कि श्रम शक्ति को उत्पादन के साधन दिये जायें। श्रम प्रक्रिया उन चीजो के बीच होने वाली प्रक्रिया है, जिनको पूजीपति ने खरीद लिया है और जो उसकी सम्पत्ति हो गयी है। बनाये, जिस तरह पूजीपति के तहखाने में होने वाली किण्वन की प्रक्रिया की पदावार – शराब – पूजीपति की सम्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार श्रम प्रक्रिया की पदावार भी उसकी सम्पत्ति होती है।[1]

---

[1] "पैदावार को पूजी मे बदलने के पहले उसे हस्तगत कर लिया जाता है, यह रूपातरण उसे हस्तगतकरण से नही बचा सकता।" (Cherbuliez, *Richesse ou Pauvreté*, Paris का सस्करण, 1841, पृ० ५४।) "जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ की एक निश्चित माता के एवज मे अपना श्रम बेचकर सर्वहारा पैदावार मे हिस्सा बटाने का अपना हर तरह का दावा त्याग देता है। पैदावार हस्तगत करने का ढग पहले जैसा ही रहता है, ऊपर हमने

अनुभाग २ – अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

पूजीपति जिस पैदावार पर अधिकार कर लेता है, वह उपयोग-मूल्य होती है, जसे, मिसाल के लिए, सूत या जूते। लेकिन यद्यपि एक अथ में जूते समस्त सामाजिक प्रगति का आधार होते ह और हमारा पूजीपति निश्चित रूप से "प्रगतिवादी" है, फिर भी वह केवल जूतो के लिए जूते नहीं बनाता। मालो के उत्पादन में उपयोग-मूल्य ऐसी वस्तु कदापि नहीं होता, "qu on aime pour lui-même' ("जिससे केवल उसी के लिए प्यार किया जाता हो")। पूजीपति उपयोग-मूल्यो को केवल इसीलिये और उसी हद तक तैयार करते ह, जिस हद तक कि वे विनिमय मूल्य के भौतिक जीवाधार, या विनिमय मूल्य के भण्डार, होते हैं। हमारे पूजीपति के सामने दो उद्देश्य होते ह। एक तो वह कोई ऐसा उपयोग-मूल्य तैयार करना चाहता है, जिसका विनिमय-मूल्य हो, यानी वह कोई ऐसी वस्तु तैयार करना चाहता है, जो वेची जा सके, या यू कहिये कि वह कोई माल तयार करना चाहता है। दूसरे, वह कोई ऐसा माल तयार करना चाहता है, जिसका मूल्य उसके उत्पादन में इस्तेमाल होने वाले मालो के कुल मूल्य से ज्यादा हो, यानी जिसका मूल्य, पूजीपति ने मण्डी में अपनी खरी मुद्रा के द्वारा उत्पादन के जो साधन और जो श्रम शक्ति खरीदी है, उनके कुल मूल्य से अधिक हो। पूजीपति का उद्देश्य केवल कोई उपयोग-मूल्य पदा करना नहीं, बल्कि कोई माल पदा करना है, केवल उपयोग मूल्य पदा करना नहीं, बल्कि मूल्य पदा करना है, केवल मूल्य नहीं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य पैदा करना है।

हमें यह याद रखना चाहिये कि अब हम मालो के उत्पादन की चर्चा कर रहे ह और यहा तक हमने इस प्रक्रिया के केवल एक पहलू पर ही विचार किया है। जिस प्रकार माल उपयोग मूल्य भी होते हैं और मूल्य भी, उसी प्रकार मालो को पदा करने की प्रक्रिया अनिवाय रूप से श्रम प्रक्रिया होती है और साथ ही मूल्य पदा करने की भी प्रक्रिया होती है।[1]

जिस सौदे का ज़िक्र किया है, उससे इसमे कोई तबदीली नहा आती। पैदावार पर एकमात्र उस पूजीपति का अधिकार होता है, जिसने कच्चा माल तथा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुए जुटायी है। और यह हस्तगतकरण के उस नियम का कठोर परिणाम होता है, जिसका मूल सिद्धात इसके ठीक उलट है, यानी जिसका मूल सिद्धात यह है कि हर मज़दूर जो कुछ पैदा करता है, उसपर एकमात्र उस मजदूर का ही अधिकार होता है।" (उप० पु०, पृ० ५८।) "जब मजदूरो को अपने श्रम की मजदूरी मिल जाती है तब पूजीपति न केवल पूजी का" (पूजी से उसका मतलब उत्पादन के साधनो से है), "बल्कि श्रम का भी स्वामी होता है। यदि जो कुछ मजदूरी के रूप मे दिया जाता है, वह पूजी की मद मे शामिल कर लिया जाता है, जैसा कि आम चलन है, तो पूजी से अलग श्रम की बात करना कोरी बकवास है। पूजी शब्द का जब इस रूप मे प्रयोग किया जाता है, तब उसमे श्रम और पूजी दोना शामिल होते है।" (James Mill, *Elements of Pol Econ* &c [जेम्स मिल, 'अथशास्त्र के तत्त्व', इत्यादि], 1821, पृ० ७०, ७१।)

[1] जसा कि एक फुटनाट मे पहले कहा जा चुका है, श्रम के इन दो पहलुओ के लिए अग्रेज़ी भाषा मे दो अलग अलग शब्द है। साधारण श्रम-प्रक्रिया मे, अर्थात् उपयोग-मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया मे, श्रम Work कहलाता है, मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया मे वह Labour कहलाता है, और यहा पर Labour का उसके विशुद्ध आर्थिक अथ मे प्रयोग किया जाता है।—फ़े०

आइये, अब हम उत्पादन पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया के रूप में विचार करें।

हम जानते हैं कि हरेक माल का मूल्य उसपर खर्च किये गये तथा उसमें मूर्त होने वाले श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, या यूं कहिये कि कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में प्रत्येक माल के उत्पादन के लिए जितना श्रम काल आवश्यक होता है, उसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है। पूजीपति के लिए जो श्रम प्रक्रिया सम्पन्न की गयी है, उससे उसको जो पदावार मिलती है, उसपर भी यही नियम लागू होता है। मान लीजिये कि यह पैदावार है १० पौण्ड सूत। अब हमारा पहला कदम यह होना चाहिए कि हम हिसाब लगाकर देखें कि उसमें श्रम की कितनी मात्रा लगी है।

सूत कातने के लिए कच्चा माल जरूरी होता है। मान लीजिये कि इसके लिए १० पौण्ड कपास की जरूरत होती है। फिलहाल हमें इस कपास के मूल्य की छानबीन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम यह मानकर चलेंगे कि हमारे पूजीपति ने कपास उसका पूरा मूल्य – यानी दस शिलिंग – देकर खरीदी है। इस दाम में कपास के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम ने समाज के औसत श्रम के रूप में पहले ही से अभिव्यक्ति प्राप्त कर ली है। इसके अलावा, हम यह भी मानकर चलेंगे कि तकुए की घिसाई, जिसे यहा पर श्रम के अन्य तमाम औजारो का प्रतिनिधि माना जा सकता है, २ शिलिंग के मूल्य के बराबर बठती है। तब यदि बारह शिलिंग सोने की जितनी मात्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसे पदा करने में श्रम के चौबीस घण्टे – या काम के दो दिन – लग जाते हैं, तो इससे सवप्रथम हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सूत में दो दिन का श्रम समाविष्ट है।

हमको इस बात से गलतफहमी में नहीं पड जाना चाहिए कि कपास ने जहा एक नयी शकल अख्तियार कर ली है, वहा तकुए का द्रव्य किसी हद तक खर्च हो गया है। मूल्य के सामान्य नियम के अनुसार, यदि ४० पौण्ड सूत का मूल्य = ४० पौण्ड कपास का मूल्य + पूरे एक तकुए का मूल्य, अर्थात यदि इस समीकरण के दोनो ओर के मालो को पदा करने में बराबर श्रम काल लगता है, तो १० पौण्ड सूत १० पौण्ड कपास और उसके साथ साथ चौथाई तकुए का सम-मूल्य होता है। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें एक ओर तो १० पौण्ड सूत में और दूसरी ओर १० पौण्ड कपास तथा तकुए के एक अंश में बराबर-बराबर श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। इसलिए मूल्य चाहे कपास के रूप में प्रकट हो, चाहे तकुए के रूप में और चाहे सूत के रूप में, उससे उस मूल्य की मात्रा में कोई अंतर नहीं आता। तकुआ और कपास चुपचाप साथ-साथ पडे रहने के बजाय श्रम प्रक्रिया में मिलकर भाग लेते हैं, उनके रूप परिवर्तित हो जाते हैं और वे सूत में बदल जाते हैं। लेकिन जसे कपास और तकुए का सूत के साथ साधारण विनिमय करने से उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पडता, उसी तरह श्रम प्रक्रिया द्वारा उनके सूत में रूपान्तरित हो जाने से भी उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पडता।

कपास सूत का कच्चा माल है। उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम सूत को पदा करने के लिए आवश्यक श्रम का एक भाग होता है, और इसलिए यह सूत में निहित होता है। तकुए में निहित श्रम के लिए भी यह बात सही है, क्योंकि उसके घिसे बिना कपास काती नहीं जा सकती।

इसलिए, सूत का मूल्य निर्धारित करते हुए, या सूत के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल निर्धारित करते हुए, हमें पहले कपास और तकुए का घिसा हुआ हिस्सा पदा करने के

लिए और बाद में कपास और तकुए से सूत कातने के लिए अलग अलग समय पर और अलग-अलग स्थानो पर जितने प्रकार की विशिष्ट प्रक्रियाओ को सम्पन्न करना आवश्यक होता है, उन सब को कुल मिलाकर एक ही प्रक्रिया की क्रमानुसार सामने आने वाली भिन्न भिन्न अवस्थाए समझना चाहिए। सूत में लगा हुआ सारा श्रम भूतपूर्व श्रम है, और इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि सूत के सघटक तत्त्वो के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रक्रियाए ऐसे समय पर हुई थीं, जो कातने की अन्तिम प्रक्रिया की अपेक्षा वर्तमान समय की तुलना में बहुत पहले की बात है। यदि एक मकान बनाने के लिए श्रम की एक निश्चित मात्रा, मान लीजिये, तीस दिन आवश्यक होते हैं, तो मकान में लगे श्रम की कुल मात्रा में इससे कोई फर्क नहीं आता कि अन्तिम दिन का काम पहले दिन के काम के उनतीस दिन बाद किया जाता है। इसलिए कच्चे माल तथा श्रम के औजारो में लगे श्रम के बारे में यह समझा जा सकता है कि यह श्रम सचमुच कताई का श्रम आरम्भ होने के पहले कातने की प्रक्रिया की एक प्रारम्भिक अवस्था में खर्च हुआ था।

इसलिए, उत्पादन के साधनो के मूल्य, अर्थात् कपास और तकुए के मूल्य, जो १२ शिलिंग के दाम में अभिव्यक्त होते ह, सूत के मूल्य के–या, दूसरे शब्दो में, पदावार के मूल्य के–सघटक अग होते ह।

लेकिन इस सब के बावजूद दो शर्तों का पूरा होना जरूरी है। एक तो यह जरूरी है कि कपास और तकुए ने मिलकर कोई उपयोग-मूल्य पैदा किया हो। हमारी मिसाल में उनका सूत पदा करना जरूरी है। मूल्य इस बात से स्वतत्र है कि उसका भण्डार कौनसा विशिष्ट उपयोग-मूल्य है, लेकिन उसका किसी न किसी उपयोग-मूल्य में साकार होना जरूरी है। दूसरे, यह जरूरी है कि हम जिन सामाजिक परिस्थितियो को मानकर चल रहे हो, उनके अन्तगत जितना समय सचमुच आवश्यक हो, उत्पादन के श्रम में उससे ज्यादा समय न लगने पाये। चुनाचे, अगर १ पौण्ड सूत कातने के लिए १ पौण्ड से ज्यादा कपास की जरूरत नहीं होती, तो हमें इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि १ पौण्ड सूत के उत्पादन में इससे ज्यादा कपास खच न होने पाये। और यही बात तकुए के बारे में भी है। हो सकता है कि हमारे पूजीपति को इस्पात के तकुए की जगह पर सोने का तकुआ इस्तेमाल करने का शौक चर्राया हो, मगर फिर भी सूत के मूल्य के लिए केवल उसी श्रम का कोई महत्त्व होगा, जो इस्पात का तकुआ तयार करने के लिए जरूरी होगा, क्योंकि हम जिन सामाजिक परिस्थितियो को मानकर चल रहे हैं, उनमें इससे अधिक श्रम आवश्यक नहीं है।

अब हम यह जान गये कि सूत के मूल्य का कितना हिस्सा कपास और तकुए के कारण है। वह बारह शिलिंग या दो दिन के काम के मूल्य के बराबर बैठता है। अब आगे हमें इस बात पर विचार करना है कि कातने वाले का श्रम कपास में सूत के मूल्य का कितना भाग जोडता है।

श्रम प्रक्रिया के दौरान में इस श्रम का जो पहलू सामने आया था, अब हमें उससे एक बहुत भिन्न पहलू पर विचार करना है। तब हमने उसपर केवल उस खास ढग की मानव-क्रियाशीलता के रूप में विचार किया था, जो कपास को सूत में बदल देती है। तब, अन्य बातो के समान रहते हुए, श्रम काम के जितना अधिक उपयुक्त होता था, उतना ही अच्छा सूत तयार होता था। तब हमने कातने वाले के श्रम को उत्पादक श्रम के अन्य तमाम रूपों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार का श्रम माना था। वह उनसे एक तो अपने विशेष उद्देश्य के

कारण भिन्न था, क्योंकि उसका विशिष्ट उद्देश्य कताई करना था, और, दूसरे, वह इसलिए उनसे भिन्न था कि उसकी क्रियाएं एक खास ढंग की थीं, उसके उत्पादन के साधन एक विशिष्ट प्रकार के थे और उसकी पैदावार का एक विशेष उपयोग-मूल्य था। कताई की क्रिया के लिए कपास और तकुए बिल्कुल जरूरी हैं, मगर पेचदार नली वाली तोप बनाने के लिए वे कुछ भी काम नहीं आयेंगे। लेकिन यहां पर चूंकि हम कातने वाले के श्रम की ओर केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि वह मूल्य पैदा करने वाला श्रम है, अर्थात जिस हद तक कि वह मूल्य का स्रोत है, इसलिए यहां पर कातने वाले का श्रम तोप में पेचदार नली बनाने वाले आदमी के श्रम से या (जिससे हमारा ज्यादा नजदीक का सम्बंध है) सूत के उत्पादन के साधनों में निहित कपास की खेती करने वाले के श्रम और तकुए बनाने वाले के श्रम से किसी तरह भी भिन्न नहीं है। केवल इस एकरूपता के कारण ही कपास की खेती करना, तकुए बनाना और कातना एक सम्पूर्ण इकाई के – अर्थात सूत के मूल्य के – ऐसे संघटक भाग हो सकते हैं, जो केवल परिमाणात्मक दृष्टि से ही एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यहां हमारा श्रम के गुण, स्वभाव और विशिष्ट स्वरूप से कोई सम्बंध नहीं रहता, केवल उसकी मात्रा से सम्बंध होता है। इसका महज हिसाब लगाना होता है। हम यह मानकर चलते हैं कि कताई साधारण, अनिपुण श्रम है, कि वह समाज की एक निश्चित अवस्था का औसत श्रम है। आगे हम देखेंगे कि अगर हम इसकी उल्टी बात मानकर चलें, तब भी कोई अंतर नहीं पड़ेगा।

जब मजदूर काम करता है, तब उसका श्रम लगातार रूपांतरित होता जाता है: वह गतिवान से एक गतिहीन वस्तु में बदलता जाता है, वह कार्यरत मजदूर के बजाय उत्पादित वस्तु बन जाता है। एक घण्टे की कताई समाप्त होने पर उस कार्य का प्रतिनिधित्व सूत की एक निश्चित मात्रा करती है। दूसरे शब्दों में, श्रम की एक निश्चित मात्रा, यानी एक घण्टे का श्रम कपास में समाविष्ट हो जाता है। यहां हम कहते हैं "श्रम" यानी "कातने वाले का अपनी जीवन शक्ति को खर्च करना"। यहां हम "कताई का श्रम" नहीं कहते, – कारण कि यहां कताई के विशेष काम का केवल उसी हद तक महत्त्व है, जिस हद तक कि उसमें आम तौर पर श्रम शक्ति खर्च होती है, और उसका महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह कातने वाले का एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है।

जिस प्रक्रिया पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि कपास को सूत में रूपांतरित करने के काम में जितना समय किन्हीं खास सामाजिक परिस्थितियों में लगना चाहिए, उससे अधिक न लगने पाये। यदि उत्पादन की सामान्य – अथवा औसत – सामाजिक परिस्थितियों में 'क' पौण्ड कपास को 'ख' पौण्ड सूत में बदलने में एक घण्टे का श्रम लगता है, तो एक दिन का श्रम उस वक्त तक १२ घण्टे का श्रम नहीं माना जा सकता जब तक कि वह १२'क' पौण्ड कपास को १२'ख' पौण्ड सूत में न बदल दे। कारण कि मूल्य के सृजन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल का ही महत्त्व होता है।

अब न केवल श्रम, बल्कि कच्चा माल और पैदावार भी एक नये रूप में हमारे सामने आते हैं। वह नया रूप उस रूप से बहुत भिन्न है, जिसमें वे विशुद्ध और मात्र श्रम-प्रक्रिया के दौरान में हमारे सामने आये थे। अब कच्चा माल केवल श्रम की एक निश्चित मात्रा के अवशोषक का काम करता है। इस अवशोषण के द्वारा वह, वास्तव में, सूत में बदल जाता है, क्योंकि वह काता दिया जाता है, क्योंकि कताई के रूप में उसके साथ श्रम-शक्ति जोड़ दी जाती

है। लेकिन अब पदावार, यानी सूत, कपास द्वारा अवशोषित श्रम के मापक से अधिक और कुछ नहीं है। यदि एक घण्टे में $१\frac{२}{३}$ पौण्ड कपास को कातकर $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत तयार किया जा सकता है, तो १० पौण्ड सूत का मतलब है कि ६ घण्टे के श्रम का अवशोषण हुआ है। पैदावार की निश्चित मात्राए–और ये मात्राए अनुभव से निर्धारित की जाती हैं–अब श्रम की निश्चित मात्राओ के सिवा, स्फटिकीकृत श्रम काल की निश्चित राशियो के सिवा, अन्य किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे इतने घण्टे या इतने दिन के सामाजिक श्रम के मूत्त रूप से अधिक और कुछ नहीं होतीं।

जिस तरह यहा हमारा इस तथ्य से कोई खास सम्बध नहीं है कि हमारे उदाहरण में क्रिया की विषय वस्तु खुद एक पदावार है और इसलिए कच्चा माल है, उसी तरह हमारा इन तथ्यो से भी यहा कोई खास सम्बध नहीं है कि इस उदाहरण में श्रम का रूप कताई का खास काम है, उसकी विषय वस्तु कपास है और उसकी पैदावार सूत है। यदि कातने वाला कताई करने के बजाय कोयले की खान में काम करता होता, तो उसके श्रम की विषय वस्तु–कोयला–उसे प्रकृति से मिल जाती। फिर भी खान में से निकाले हुए कोयले की एक निश्चित मात्रा–मिसाल के लिए, एक हण्ड्रेडवेट–उसमें अवशोषित श्रम की एक निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करती।

जब श्रम-शक्ति की बिक्री हुई थी, तब हमने यह माना था कि एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य तीन शिलिग है और तीन शिलिग की रकम में ६ घण्टे का श्रम निहित होता है,–अत मजदूर को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ की औसतन जितनी मात्रा की हर रोज जरूरत होती है, उनको पैदा करने के लिए ६ घण्टे का श्रम आवश्यक होता है। अब यदि हमारा कातने वाला एक घण्टे तक काम करके $१\frac{२}{३}$ पौण्ड कपास को $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत में बदल सकता है,[1] तो वह छ घण्टे में १० पौण्ड कपास को १० पौण्ड सूत में बदल देगा। इस तरह, कपास कताई की प्रक्रिया के दौरान में छ घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लेती है। इतनी ही मात्रा का श्रम तीन शिलिग के मूल्य के सोने के टुकडे में भी निहित होता है। चुनाचे केवल कताई के श्रम के द्वारा कपास में तीन शिलिग का मूल्य जुड जाता है।

अब आइये, हम पदावार के–यानी १० पौण्ड सूत के–कुल मूल्य पर विचार करें। उसमें ढाई दिन का श्रम लगा है, जिसमें से दो दिन का श्रम कपास और तकुए के घिसने वाले अश में निहित था और आधे दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान में कपास ने अवशोषण कर लिया है। पद्रह शिलिग के मूल्य का सोने का टुकडा भी इस ढाई दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। चुनाचे, १० पौण्ड सूत के लिए पद्रह शिलिग पर्याप्त दाम है, या यू कहिये कि एक पौण्ड सूत का सही दाम अठारह पेंस है।

पर यह सुनकर हमारा पूजीपति तो अचम्भे में पड जाता है। जितने मूल्य की पूंजी लगायी गयी थी, ठीक उतने ही मूल्य की पदावार हुई। उसमें जो मूल्य लगाया था, वह बढ़ा नहीं, अतिरिक्त मूल्य नहीं पदा हुआ, और चुनाचे मुद्रा पूजी में नहीं बदली गयी। सूत का दाम पद्रह शिलिग है, और पद्रह शिलिग ही खुली मण्डी में पदावार के संघटक भागों को–

---

[1] ये सख्याए हमने अपने मन से मान ली हैं।

था, जो कि एक ही बात है, श्रम प्रक्रिया के उपकरणो को—खरीदने पर खर्च हुए थे। दस शिलिंग उसे कपास के लिए, दो शिलिंग तकुए के घिसने वाले अंश के लिए और तीन शिलिंग श्रम-शक्ति के लिए देने पडे थे। सूत के बढे हुए मूल्य से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह तो उन मूल्यो का जोड भर है, जो पहले कपास, तकुए तथा श्रम-शक्ति में मौजूद थे। पहले से मौजूद मूल्यो को इस तरह महज जोड देने से अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं हो सकता है।[1] अब ये तमाम अलग अलग मूल्य एक चीज में केन्द्रीभूत हो जाते ह। परन्तु उसके पहले वे पन्द्रह शिलिंग की रकम में केन्द्रीभूत थे, बाद में, मालो की खरीद होने पर, वह रकम तीन अलग अलग हिस्सो में बट गयी थी।

इस नतीजे में दर असल कोई अजीब बात नहीं है। यदि एक पौण्ड सूत का मूल्य अठारह पेंस है, तो मण्डी में १० पौण्ड सूत खरीदने के लिए हमारे पूजीपति को पन्द्रह शिलिंग देने पडेंगे। जाहिर है कि आदमी चाहे बना-बनाया मकान खरीदे और चाहे अपने लिए मकान बनवाये, मकान हासिल करने के ढग का मकान में लगने वाली मुद्रा की राशि पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा।

तभी हमारा पूजीपति, जो घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र में सिद्धहस्त है, बोल उठता है "वाह। लेकिन मैंने तो स्पष्टत इसी उद्देश्य से अपनी मुद्रा लगायी थी कि उससे ज्यादा मुद्रा कमाऊगा!" पर उद्देश्यो से क्या होता है? कहावत है कि नरक का रास्ता भी सदुद्देश्यो का बना होता है। उसका उद्देश्य तो बिना कुछ उत्पादन किये ही मुद्रा कमा लेना भी हो सकता था।[2] इसपर हमारा पूजीपति एकदम आग बबूला हो जाता है। वह धमकी देता है कि अब आगे

---

[1] यही वह मूल स्थापना है, जिसपर फिजिओक्रेट्स का यह सिद्धान्त आधारित है कि खेती के सिवा और सब प्रकार का श्रम अनुत्पादक होता है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्री इस तर्क का खण्डन नही कर सकते। Cette façon d ımputer a une seule chose la valeur de plusıeurs autres' (par exemple au lın la consommatıon du tısserand), d appli quer, pour aınsı dıre, couche sur couche plusıeurs valeurs sur une seule fait que celle cı grossıt d autant Le terme d addıtıon peınt tres bıen la manıere dont se forme le prıx des ouvrages de maın d oeuvre ce prıx n est qu un total de plusıeurs valeurs consommees et addıtıonnees ensemble or, addıtıonner n est pas multiplıer ["इस तरह एक चीज के मूल्य के साथ दूसरी कई चीजो का मूल्य जोड देने से" (मिसाल के लिए, सन के मूल्य के साथ बुनकर के जीवन निर्वाह का खर्च जोड देने से), 'या मानो एक मूल्य के ऊपर कई मूल्यो की तह पर तह लगा देने से उस मूल्य में सानुपातिक वृद्धि हो जाती है दस्तकारी की चीजो का दाम जिस तरह बनता है, उसके लिए "जोडना" शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योकि ऐसी चीजो का दाम उनको तैयार करने में खर्च किये गये कई मूल्या के जोड के सिवा और कुछ नही होता। लेकिन जोडना वही चीज नहीं है, जो गुणन है।"] (Mercıer de la Rıvıere उप० पु०, पृ० ५६६।)

[2] मिसाल के लिए, १८४४-४७ मे उसने अपनी पूजी उत्पादक उपयोग से हटाकर रेलो की सट्टेबाजी म थोप दी थी, और इसी तरह अमरीका के गृह-युद्ध के समय उसने लिवरपूल के कपास के बाजार मे सट्टा खेलने के लिए फैक्टरी बन्द कर दी थी और अपने मजदूरो को सडको पर धकेल दिया था।

कभी धोखा नहीं खायेगा। भविष्य में वह माल खुद तयार करने के बजाय मण्डी से खरीदा करेगा। लेकिन यदि उसके तमाम भाई-बन्द – दूसरे पूजीपति – भी यही करने लगें, तब उसे मण्डी से माल कैसे मिलेगा? और अपनी मुद्रा को तो वह खा नहीं सकता। तब पूजीपति चिकनी-चुपडी बातो का सहारा लेता और कहता है "जरा इसका तो खयाल करो कि मने कितने परिवजन से काम लिया है। म चाहता, तो १५ शिलिंग को यो ही लुटा देता। लेकिन उसके बजाय मैंने इस रकम को उत्पादक ढग से खर्च किया और उससे सूत तयार किया।" बडी अच्छी बात है, और उसका उसे यह पुरस्कार भी मिल गया है कि यदि वह १५ शिलिंग को यो ही लुटा देता, तो उसकी आत्मा कचोटती, पर अब वह बढिया सूत का मालिक है। और जहा तक कजूस की भूमिका अदा करने का सवाल है, सो फिर से ऐसी बुरी लत में पड जाने से उसका कोई भला नहीं होगा, क्योंकि हम पहले ही देख चुके ह कि इस प्रकार की सयास-वृत्ति का क्या परिणाम होता है। इसके अलावा, जहा कुछ नहीं होता, वहा तो राजा का अधिकार भी खतम हो जाता है। उसका परिवर्जन चाहे जितना प्रशसनीय हो, किन्तु यहा ऐसी कोई चीज नहीं है, जिससे खास तौर पर उसके परिवजन का मुआवजा दिया जा सके, क्योंकि पदावार का मूल्य महज उन मालों के मूल्य का जोड है, जो उत्पादन की प्रक्रिया में डाले गये थे। इसलिए अब तो वह केवल इसी विचार से अपने मन को दिलासा दे सकता है कि सत्कम स्वय अपना पुरस्कार होता है। लेकिन नहीं, वह तो इसरार करने लगता है। वह कहता है "सूत मेरे किसी काम का नहीं है, मैंने तो उसे बेचने के लिए तयार किया था।" यदि यह बात है, तो उसे अपना सूत बेच देना चाहिए, या उससे भी बेहतर यह होगा कि भविष्य में वह केवल ऐसी चीजें तयार करे, जिनकी उसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जरूरत हो, – उसके चिकित्सक मक्कुलक महाशय अति उत्पादन की महामारी के लिए एक अचूक दवा के रूप में पहले ही इस औषधि का निर्देश कर चुके ह। पर अब तो पूजीपति जिद्दी हो जाता है। वह पूछता है "क्या मजदूर केवल अपने हाथो-परो से शून्य में से कोई चीज तैयार कर सकता है? क्या मैंने उसे वह सामग्री नहीं दी थी, जिसके द्वारा – और केवल जिसके द्वारा ही – उसका श्रम मूत्त रूप धारण कर सकता था? और समाज का अधिकाश चूकि ऐसे साधनहीन लोगो का ही होता है, इसलिए क्या अपने उत्पादन के औजारो से, अपनी कपास और अपने तकुए से मने समाज की अगण्य सेवा नहीं की है? और समाज की ही क्यो, क्या मने उसके साथ-साथ मजदूर की भी सेवा नहीं की है, जिसको मने इन चीजो के अलावा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुए भी दी ह? और क्या इस समस्त सेवा के बदले में मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा?" ठीक है, मगर क्या मजदूर ने पूजीपति की कपास और तकुए को सूत में बदलकर उसकी इसके बराबर सेवा नहीं कर दी है? इसके अलावा, यहा सेवा का कोई सवाल नहीं है।[1] सेवा किसी उपयोग-मूल्य के

[1] "अपनी चाहे जितनी तारीफें करो, चाहे जैसी पोशाकें पहनो और चाहे जितने बन-ठन कर निकलो लेकिन जो कोई भी, जितना वह देता है, यदि उससे ज्यादा या उससे बेहतर ले लेता है, तो वह सूदखोर है और वह अपने पडासी की सेवा नही, बल्कि उसके साथ बुराई करता है चोर या डाकू की तरह ही। सेवा और उपकार कहलाने वाली हर चीज सचमुच पडासी की सेवा और उपकार नही होती। जैसे कि एक व्यभिचारिणी और व्यभिचारी भी एक दूसरे की बडी सेवा करते हैं और एक दूसरे को बडा आनन्द देते हैं। घुडसवार मुसाफिरा को लूटने और धरा तथा बस्तिया मे डाका डालने मे मदद देकर आगजन की बडी सेवा करता है।

उपयोगी प्रभाव से अधिक और कुछ नहीं होती, वह उपयोग-मूल्य चाहे किसी माल का हो और चाहे श्रम का।[1] लेकिन यहा पर हम विनिमय-मूल्य की चर्चा कर रहे ह। पूजीपति न मजदूर को ३ शिलिग का मूल्य दिया था, और मजदूर ने उसे कपास में ३ शिलिग का मूल्य और जोडकर उसका पूरा सम-मूल्य वापिस कर दिया है, उसने मूल्य के बदले में मूल्य दिया है। इसपर हमारा मित्र, जो अभी तक अपनी थैली के घमण्ड से फूला हुआ था, एकायक खुद अपने मजदूर की सी विनय मुद्रा बनाकर कहता है "पर क्या मैंने कुछ काम नहीं किया है? क्या मने निरीक्षण का तथा कातने वाले पर निगाह रखने का श्रम नहीं किया है? और क्या इस श्रम से भी मूल्य उत्पन्न नहीं होता ?" पूजीपति का निरीक्षक तथा उसका मनेजर यह बात सुनकर अपनी मुस्कराहट को छिपाने की कोशिश करते ह। इस बीच पूजीपति खूब दिल खोलकर हसने के बाद फिर पहले जसी मुद्रा बना लेता है। यद्यपि उसने हमें अर्थशास्त्रियो का पूरा पुराण पढ कर सुना दिया, पर वास्तव में उसका कहना है कि वह इस सब के लिए एक फूटी कौडी भी देने को तयार नहीं है। इस तरह के हथकडे और बाजीगरी के हाथ उसने अर्थशास्त्र के उन प्रोफेसरो के लिए छोड रखे ह, जिनको इस काम के पैसे मिलते हैं। यह खुद तो एक व्यावहारिक आदमी है, और यद्यपि अपने व्यवसाय के क्षेत्र के बाहर वह सदा बहुत सोच-समझकर बात नहीं करता, किंतु अपने व्यवसाय से सम्बधित हर चीज वह बहुत समझ-बूझकर करता है।

आइये, इस मामले पर कुछ और गहराई में जाकर विचार करें। एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य ३ शिलिग होता है, क्योकि हम जो कुछ मानकर चल रहे ह, उसके अनुसार इतनी श्रम शक्ति में आधे दिन का श्रम निहित होता है, अर्थात् क्योकि श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए रोजाना जिन जीवन-निर्वाह के साधनो की आवश्यकता होती है, उनमें आधे दिन का श्रम खच होता है। लेकिन श्रम-शक्ति में निहित भूतपूर्व श्रम और वह जीवन्त श्रम, जो यह श्रम शक्ति व्यवहार में ला सकती है,—या श्रम-शक्ति को बनाये रखने की रोजाना की लागत और काम की शकल में श्रम शक्ति का दनिक व्यय,—ये दो बिल्कुल अलग-अलग चीजें होती ह। पहला श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य निर्धारित करता है और दूसरा उसका उपयोग मूल्य है। इस बात से कि मजदूर को २४ घण्टे जिन्दा रखने के लिए केवल आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है, उसके दिन भर काम करने में कोई रुकावट पदा नहीं होती। इसलिए, श्रम शक्ति का मूल्य और वह मूल्य, जिसे वह श्रम शक्ति श्रम प्रक्रिया के दौरान में पदा करती है, दो बिलकुल भिन्न मात्राए होते ह। और श्रम शक्ति खरीदते समय, वास्तव में, दो मूल्यो का यह अन्तर

पापवादी हमारे लोगो की यह बडी सेवा करते हैं कि वे सब को नही डुबोते, जलाते और कत्ल करते और न ही सब को जेल में सडने के लिए डाल देते हैं, बल्कि कुछ को जिन्दा रहने देते हैं और सिर्फ उनका सब कुछ छीन लेते हैं या उनको निर्वासित कर देते हैं। शतान खुद अपने सेवको की अमूल्य सेवा करता है सारांश यह कि दुनिया बडी-बडी, उत्तम और दनिक सेवाओं और सत्कर्मों से भरी पडी है।" (Martin Luther, *An die Pfarrherrn wider den Wucher zu predigen* Wittenberg 1540)

[1] *Zur Kritik der Pol Oek* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') मे पृ० १४ पर मन इस सम्बध म यह कहा है "यह समझना कठिन नही है कि "सेवा" (service) के अन्तगत आने वाली 'सेवा" का जे० बी० से और एफ० बास्तियात जैसे अर्थशास्त्रियों की क्या सेवा करनी चाहिए।"

पूजीपति के सामने था। श्रम्‌शक्ति में जो उपयोगी गुण होते ह और जिनके द्वारा वह सूत या जूते तयार करती है, वे पूजीपति की] दृष्टि में एक "conditio sine qua non ("जरूरी शर्त") से अधिक और कुछ नहीं थे, कारण कि मूल्य पैदा करने के लिए श्रम का किसी उपयोगी ढग से खर्च किया जाना जरूरी होता है। पूजीपति पर असल में जिस चीज का प्रभाव पडा था, वह इस माल का यह विशिष्ट उपयोग-मूल्य है कि वह न केवल मूल्य का स्रोत है, बल्कि खुद उसमें जितना मूल्य होता है, वह उससे अधिक मूल्य पदा कर सकता है। पूजीपति श्रम-शक्ति से इस विशेष प्रकार की सेवा की आशा करता है, और इस सौदे में वह मालो के विनिमय के "शाश्वत नियमो" का ही पालन करता है। अन्य किसी भी तरह का माल बेचने वाले की तरह श्रम शक्ति का विक्रेता भी उसका विनिमय-मूल्य वसूलता है और उसका उपयोग-मूल्य दूसरे को सौंप देता है। उपयोग-मूल्य दिये बिना वह विनिमय-मूल्य नहीं प्राप्त कर सकता। श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर—या, दूसरे शब्दो में, श्रम पर—उसके बेचने वाले का उतना ही अधिकार होता है, जितना तेल के उपयोग-मूल्य पर उसे बेच देने के बाद तेल के दूकानदार का होता है। मुद्रा के मालिक ने एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य दिया है, इसलिए एक दिन तक उसका उपयोग करने का उसे अधिकार है, एक दिन का श्रम उसकी सम्पत्ति है। इस स्थिति को कि एक तरफ तो श्रम शक्ति के दनिक पोषण में केवल आधे दिन का श्रम खच होता है और दूसरी तरफ यही श्रम शक्ति पूरे दिन भर काम कर सकती है और इसलिए एक दिन में उसके उपयोग से पदा होने वाला मूल्य श्रम-शक्ति के खरीदार द्वारा उसके उपयोग के एवज में दिये गये मूल्य का दुगना होता है,—इसे निस्सन्देह श्रम शक्ति के खरीदार का सौभाग्य कहा जा सकता है, परन्तु वह श्रम-शक्ति के बेचने वाले के प्रति कोई अन्याय नहीं है।

हमारे पूजीपति ने पहले ही यह परिस्थिति समझ ली थी, और यही उसके ठठाकर हसने का कारण था। चुनाचे, जब मजदूर वकशाप में पहुचता है, तो वहा उसे उत्पादन के इतने साधन तयार मिलते ह, जो केवल छ घण्टे तक नहीं, बल्कि बारह घण्टे तक काम करने के लिए काफी ह। जिस प्रकार छ घण्टे की प्रक्रिया में हमारी १० पौण्ड कपास ने छ घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लिया था और वह १० पौण्ड सूत बन गयी थी, ठीक उसी प्रकार अब २० पौण्ड कपास १२ घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लेगी और २० पौण्ड सूत में बदल जायेगी। आइये, अब हम इस लम्बी की गयी प्रक्रिया की पैदावार पर विचार करे। अब इस २० पौण्ड सूत में पाच दिन के श्रम ने भौतिक रूप धारण कर रखा है, जिसमें चार दिन का श्रम उसमें कपास और तकुए के घिस गये इस्पात के रूप में लगा है और बाकी एक दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान में कपास ने अवशोषण कर लिया है। यदि उसे सोने के रूप में व्यक्त किया जाये, तो पाच दिन का श्रम तीस शिलिंग होता है। अत २० पौण्ड का दाम ३० शिलिंग हैं, जिसके अनुसार एक पौण्ड का दाम फिर अठारह पेंस बैठता है। लेकिन प्रक्रिया में जितने मालो ने प्रवेश किया था, उनके मूल्यो का जोड २७ शिलिंग होता है। सूत का मूल्य ३० शिलिंग बैठता है। इसलिए पैदावार के उत्पादन में जितना मूल्य लगाया गया था, पदावार का मूल्य उससे १/६ अधिक होता है। २७ शिलिंग ३० शिलिंग में बदल दिये गये हैं। यानी ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पदा हो गया है। आखिर चाल कामयाब रहती है,—मुद्रा पूजी में बदल गयी है।

समस्या की हर शर्त पूरी कर दी गयी है, और मालो के विनिमय का नियमन करने वाले नियमो की भी किसी तरह अवहेलना नहीं हुई है। सम-मूल्य का सम मूल्य के साथ विनिमय

किया गया है। कारण कि ग्राहक के रूप में पूजीपति ने हर माल के—कपास, तकुए और श्रम शक्ति के—दाम उसके पूरे मूल्य के अनुसार दिये हैं। उसके बाद उसने वही किया, जो माल का हर ग्राहक करता है। उसने इन मालो के उपयोग-मूल्य का उपभोग किया। श्रम-शक्ति के उपभोग से, जो साथ ही मालो को पदा करने की भी प्रक्रिया था, २० पौण्ड सूत तयार हुआ, जिसका मूल्य ३० शिलिंग है। पूजीपति, जो पहले ग्राहक था, अब मालो के विक्रेता क रूप म मण्डी में पहुचता है। वह अपना सूत अठारह पेंस फी पौण्ड के भाव से बेचता है, जो कि सूत का बिल्कुल सही मूल्य है। लेकिन, इस सब के बावजूद, परिचलन में उसने शुरू में जितना रकम डाली थी, वह उससे ३ शिलिंग ज्यादा बाहर निकाल लेता है। यह रूपान्तरण, मुद्रा का पूजी में यह परिवतन, परिचलन के क्षेत्र के भीतर होते हुए भी उसके बाहर होता है। वह परिचलन के भीतर होता है, क्योकि वह मण्डी में श्रम-शक्ति की खरीद के द्वारा निर्धारित होता है। वह परिचलन के बाहर होता है, क्योकि परिचलन के भीतर जो कुछ होता है, वह अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का केवल प्रवेश द्वार है और अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो पूरी तरह उत्पादन के क्षेत्र तक ही सीमित है। इस प्रकार, "tout est pour le mieux dans le meilleur des mondes possibles' ("सब मुमकिन दुनियाओ से अच्छी इस दुनिया में हर चीज अच्छाई के लिये ही है")।

अपनी मुद्रा को ऐसे मालो में बदलकर, जो एक नयी पदावार के भौतिक तत्वा का और श्रम प्रक्रिया के उपकरणो का काम करते ह, और उनके निर्जीव द्रव्य के साथ जीवत श्रम का समावेश करके पूजीपति साथ ही साथ मूल्य को—यानी मूर्त्त रूप धारण किये हुए भूतपूव मत श्रम को—पूजी में बदल देता है। वह मूल्य को ऐसे मूल्य में बदल देता है, जिसके गभ में और भी मूल्य होता है। वह उसे एक ऐसा जिन्दा दैत्य बना देता है, जो बच्चे देता है और अपनी नसल बढाता है।

अब यदि हम मूल्य पदा करने की और अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की इन दो प्रक्रियाओ का मुक़ाबला करते ह, तो हम देखते ह कि अतिरिक्त मूल्य का सजन करने की प्रक्रिया इससे अधिक कुछ नहीं है कि मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया एक निश्चित बिन्दु से आगे जारी रहती है। एक ओर, यदि यह प्रक्रिया उस बिन्दु से आगे जारी नहीं रहती, जहा पर कि श्रम-शक्ति के लिये पूजीपति द्वारा दिये गये मूल्य का स्थान उसका ठीक सम मूल्य ग्रहण कर लेता है, तो वह केवल मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया रहती है। दूसरी ओर, यदि वह इस बिन्दु से आगे भी जारी रहती है, तो वह अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया बन जाती है।

यदि हम और आगे बढकर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया का विशुद्ध श्रम प्रक्रिया के साथ मुकाबला करते हैं, तो पाते ह कि विशुद्ध श्रम प्रक्रिया वह उपयोगी श्रम है, या वह काम है, जो उपयोग-मूल्यो को पैदा करता है। यहा हम किसी विशेष वस्तु को पदा करने के रूप में श्रम पर विचार करते ह। यहा पर हम केवल उसके गुणात्मक पहलू पर ही विचार करते ह और उसके ध्येय तथा लक्ष्य को देखते ह। लेकिन मूल्य पदा करने वाली प्रक्रिया के रूप में विचार करने पर यही श्रम प्रक्रिया केवल अपने परिमाणात्मक पहलू में सामने आती है। यहा एकमात्र यही सवाल होता है कि मजदूर ने काम करने में कितना समय लगाया है। यहां पर केवल उस अवधि का प्रश्न होता है, जिसमें श्रम शक्ति को उपयोगी ढग से खच किया गया है। यहा जो माल प्रक्रिया में भाग लेते हैं, उनका किसी निश्चित उपयोगी वस्तु के उत्पादन में श्रम-शक्ति की आवश्यक सह-वस्तुओ के रूप में महत्त्व नहीं होता। उनका महत्त्व अब केवल अवशोषित

अथवा मूर्त्त रूप धारण किये हुए श्रम की किसी खास मात्रा के भण्डारो की शकल में होता है। यह श्रम चाहे उत्पादन के साधनो में पहले से निहित रहा हो और चाहे उसका पहली बार श्रम-शक्ति के काय द्वारा उनमें समावेश हुआ हो, दोनो सूरतो में वह केवल अपनी अवधि के अनुसार ही गिना जाता है। वह सदा इतने घण्टो या इतने दिनो का श्रम होता है।

इसके अलावा, किसी भी वस्तु के उत्पादन में जो समय खर्च होता है, उसका केवल उतना ही भाग गिना जाता है, जो किन्हीं निश्चित सामाजिक परिस्थितियो में सचमुच आवश्यक होता है। इसके कई नतीजे होते ह। एक तो यह जरूरी हो जाता है। कि श्रम सामान्य परिस्थितियो में किया जाये। यदि कताई में आम तौर पर स्वचालित म्यूल-मशीन का प्रयोग हो रहा है, तो कातने वाले को चर्खा और पूनी देना बिल्कुल बेतुकी बात होगी। कपास भी इतनी रद्दी नहीं होनी चाहिये कि कातने में बहुत ज्यादा बरबाद हो जाये, बल्कि सही किस्म की होनी चाहिये। वरना कातने वाले को एक पौण्ड सूत कातने में जितना सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, उससे ज्यादा समय खर्च करना पड़ेगा, और ऐसा होने पर न तो मूल्य पदा होगा और न मद्रा। लेकिन प्रक्रिया के भौतिक उपकरणो का सामान्य ढग का होना या न होना मजदूर पर नहीं, बल्कि सवथा पूजीपति पर निर्भर करता है। फिर खुद श्रम शक्ति भी औसत कार्य-क्षमता वाली होनी चाहिए। जिस व्यवसाय में उसका प्रयोग हो रहा है, श्रम शक्ति में उसमें प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता, दक्षता और तेजी होनी चाहिए, और हमारे पूजीपति ने इस प्रकार की सामान्य काय-क्षमता की श्रम-शक्ति खरीदने का खास खयाल रखा था। इस श्रम शक्ति का औसत दर्जे के प्रयास और प्रचलित तीव्रता के साथ प्रयोग होना चाहिए, और हमारे पूजीपति को इस बात का उतना ही खयाल रहता है, जितना उसे इस बात का रहता है कि उसके मजदूर एक क्षण के लिए भी खाली न बठने पायें। उसने एक निश्चित अवधि के लिए श्रम शक्ति का उपयोग करने का अधिकार खरीदा है, और वह अपने अधिकार का पूरा पूरा प्रयोग करने पर उतारू है। वह इस बात के लिए कतई तयार नहीं है कि कोई उसे लूट कर चला जाये। आखिरी बात यह है—और इसके लिए हमारे मित्र ने अपना एक अलग Code penal (दण्ड विधान) बना रखा है—कि कच्चे माल या श्रम के औजारो के अपव्ययपूर्ण उपयोग की सख्त मनाही कर दी गयी है। कारण कि इस तरह जो कुछ जाया हो जाता है, वह फालतू ढग से खच कर दिये गये श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन ऐसा श्रम पदावार में नहीं गिना जाता या उसके मूल्य में प्रवेश नहीं करता।[1]

[1] यह भी एक कारण है, जिससे गुलामो के श्रम से उत्पादन कराना इतना महगा पडता है। यदि प्राचीन काल के लोगो के कुछ सारगभित शब्दो का प्रयोग किया जाये, तो हम कहेंगे कि यहा श्रम करने वाला मजदूर जानवर और औजार से केवल इसी बात मे भिन्न होता है कि औजार instrumentum mutum (मूक औजार) होता है तथा जानवर instrumentum semi vocale (अर्ध मूक औजार) होता है और उनके मुकाबले मे गुलाम instrumentum vocale (अमूक औजार) होता है। लेकिन गुलाम खुद जानवर और औजार दोनो को यह महसूस कराने का खास खयाल रखता है कि वह उनके समान नही है, बल्कि एक मनुष्य है। वह con amore (बहुत उत्साह से) एक के साथ निमम व्यवहार करके और दूसरे को तोड-ताडकर अत्यन्त सतोप के साथ अपने को विश्वास दिलाता रहता है कि वह जानवर और औजार दोनो से भिन्न है। इसी से यह सिद्धान्त निकला है—और उसका उत्पादन की इस

अब हम यह देखते ह कि जब, एक ओर, श्रम पर उपयोगी वस्तुए पदा करने वाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है और, दूसरी ओर, उसपर मूल्य पदा करने वाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है, तब उनमें जो अतर नजर आता है और जिसका पता हमने माल का विश्लेषण करके लगाया था, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया के दो पहलुओ के अतर में परिणत हो जाता है।

उत्पादन की प्रक्रिया पर जब एक ओर श्रम प्रक्रिया तथा मूल्य पदा करने की प्रक्रिया की एकता के रूप में विचार किया जाता है, तब वह मालो के उत्पादन की प्रक्रिया होती है। दूसरी ओर, जब उसपर श्रम प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया की एकता के रूप

प्रणाली मे सवत्र उपयोग किया जाता है – कि उत्पादन मे सदा अधिक से अधिक अनगढ और भारी ऐसे औज़ार इस्तेमाल करने चाहिए, जिनके भद्देपन के कारण उनको नुकसान पहुचाना कठिन हो। मेक्सिको की खाडी के तट पर बसे गुलामो के राज्यो मे गृह-युद्ध के समय तक केवल ऐसे हल मिलते थे, जो पुराने चीनी नमूने के अनुसार बनाये गये थे और जो धरती म कूड नही बनाते थे, बल्कि छछूदर या सुअर की तरह तरह मिट्टी पलटते थे। देखिये J E Cairnes की रचना *The Slave Power*' ('दास शक्ति'), London, 1862 पृ० ४६ और उसके आगे के पृष्ठ। अपनी रचना *Sea Board Slave States*' ('समुद्र-तट के गुलामो के राज्य') मे ओल्मसटेड हमें बताते है "मुझे यहा ऐसे औज़ार देखने को मिले है, जिनका बोझा हम लोगो के यहा कोई भी आदमी, जिसके होश हवास दुरुस्त है, उस मजदूर के ऊपर नहा डालेगा, जिसे वह मज़दूरी देता है। ये औज़ार इतने ज्यादा भारी और भद्दे है कि हम लोगो के यहा साधारण तौर पर जो औज़ार इस्तेमाल होते है, उनके मुकाबले मे इन औज़ारो को इस्तेमाल करने पर, मेरे विचार से, काम कम से कम दस प्रतिशत बढ जायेगा। मुझे यह भी बताया गया कि गुलाम लोग इतनी लापरवाही और इतने अनाडीपन के साथ औज़ारो का इस्तेमाल करते है कि उनको इनसे हल्के या कम भद्दे औज़ार देना हितकर नही होगा, और हम लोग अपने मजदूरो को सदा जिस तरह के औज़ार देते है और जिस तरह के औज़ार देने म हम अपना लाभ देखते है, उस तरह के औज़ार यहा वर्जीनिया के अनाज के खेत मे पूरे एक दिन भी नही चलेगे, हालाकि यहा के खेतो की मिट्टी हमारे खेतो की मिट्टी से नरम होती है और उसमे कम मात्रा मे ककड-पत्थर होते है। इसी तरह, जब मैंने यह पूछा कि यहा खेतो पर घोडो की जगह सवत्र खच्चर क्या इस्तेमाल किये जाते है, तो इसकी पहली वजह मुझे यह बतायी गयी – और निस्सदेह यही सबसे बडी वजह है – कि हब्शी लोग जानवरो के साथ जसा व्यवहार करते है, उसे घोडे बरदाश्त नही कर सकते। हब्शी लोग घोडा को सदा बहुत जल्दी या तो थकाकर बेकार कर देते है और या लगडा बना देते ह। उधर खच्चर आसानी से मार खा सकते है और कभी कभार एक-दो जून भूखे भी रह सकते है, और उससे उनको कोई खास नुकसान नही पहुचता। उनके प्रति यदि लापरवाही बरती जाती है या उनसे बहुत-ज्यादा काम लिया जाता है, तो वे न तो ठड के शिकार होते है और न बीमार ही पडते है। लेकिन मुझे इसका प्रमाण पाने के लिए उस कमरे की खिडकी से ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं है, जिसमें बैठा मैं लिख रहा हू। इस खिडकी से म किसी भी समय जानवरो के साथ ऐसा बरताव होते हुए देख सकता हू, जो उत्तर मे लगभग हर काश्तकार को फौरन अपने साईस को यकीनी तौर पर बरखास्त करने के लिए मजबूर कर देगा।"

में विचार किया जाता है, तब वह उत्पादन की पूजीवादी प्रक्रिया, अथवा मालो का पूजीवादी उत्पादन, होती है।

पीछे किसी पृष्ठ पर हमने कहा था कि अतिरिक्त मूल्य के सृजन में इस बात से तनिक भी फर्क नहीं पडता कि पूजीपति ने जो श्रम खरीदा है, वह औसत दर्जे का साधारण अनिपुण श्रम है, या अधिक सश्लिष्ट निपुण श्रम है। औसत दर्जे के श्रम से अधिक ऊचे या अधिक सश्लिष्ट स्वरूप के हर प्रकार के श्रम में ज्यादा महगी श्रम शक्ति खर्च की जाती है, ऐसी श्रम शक्ति, जिसके उत्पादन में अधिक समय और अधिक श्रम खर्च हुआ है और इसलिए जिसका अनिपुण अथवा साधारण श्रम शक्ति की अपेक्षा अधिक मूल्य होता है। यह श्रम शक्ति चूकि अधिक मूल्यवान होती है, इसलिए उसका उपयोग ऊचे दर्जे का श्रम होता है, ऐसा श्रम, जो समान समय में अनिपुण श्रम की तुलना में अनुपात की दृष्टि से अधिक मूल्य पैदा करेगा। एक कातने वाले और एक सुनार के श्रम के बीच निपुणता का जो भी अतर हो, सुनार के श्रम का वह हिस्सा, जिससे वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य की पूर्ति करता है, गुणात्मक दृष्टि से उस अतिरिक्त हिस्से से जरा भी भिन्न नहीं होता, जिससे वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। जिस तरह कताई में, उसी तरह गहने बनाने में अतिरिक्त मूल्य श्रम के केवल परिमाणात्मक आधिक्य से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दो में, अतिरिक्त मूल्य एक ही श्रम प्रक्रिया के विलम्बित हो जाने के फलस्वरूप पैदा होता है। एक उदाहरण में गहने बनाने की प्रक्रिया विलम्बित होती है, दूसरे में सूत बनाने की प्रक्रिया।[1]

[1] निपुण (skilled) और अनिपुण (unskilled) श्रम का अतर आशिक रूप से केवल भ्रम पर, या कम से कम ऐसे भेदो पर आधारित है, जो बहुत समय पहले वास्तविक नही रह गये थे और जो केवल एक परम्परागत रूढि के कारण ही अभी तक जीवित है, और आशिक रूप से यह अतर मजदूर वर्ग के कुछ स्तरो की निस्सहाय अवस्था पर आधारित है, जिसके कारण वे बाकी मजदूरो की तरह ही अपनी श्रम शक्ति का मूल्य वसूल नही कर पाते। इस मामले मे आकस्मिक कारण इतनी बडी भूमिका अदा करते हैं कि कभी कभी श्रम के ये दो रूप एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। मिसाल के लिए, जिन देशो मे मजदूर-वर्ग का स्वास्थ्य बिगड गया है और तुलनात्मक दृष्टि से एकदम चौपट हो गया है,—और उन सभी पूजीवादी देशो मे, जहा पूजीवादी उत्पादन का खासा विकास हो गया है, मजदूरो की यही हालत है,—वहा श्रम के निम्न रूपो को, जिनमे मास-पेशियो के बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता पडती है, श्रम के उनसे कही अधिक सूक्ष्म रूपो की तुलना मे, आम तौर पर, निपुण श्रम समझा जाता है और श्रम के अधिक सूक्ष्म रूप अनिपुण श्रम के दर्जे पर उतर आते है। मिसाल के लिए, bricklayer (राजगीर) के श्रम को लीजिये, जिसका दर्जा इगलैण्ड मे जामदानी बुनने वाले कारीगर के दर्जे से बहुत ऊचा होता है। Fustian cutter (फस्टियन काटने वाले) के श्रम मे सख्त शारीरिक मेहनत की जरूरत पडती है और उसका स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पडता है, परन्तु उसे फिर भी महज अनिपुण श्रम ही समझा जाता है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि राष्ट्रीय श्रम के क्षेत्र मे तथाकथित skilled labour (निपुण श्रम) का बहुत बडा भाग नही है। लैंग का अनुमान है कि इगलैण्ड (और वेल्स) मे १,१३,००,००० लोगो की जीविका अनिपुण श्रम पर निर्भर करती थी। जिस समय लैंग ने अपनी पुस्तक लिखी थी, उस समय कुल आबादी १,८०,००,००० थी। उसमे से यदि अभिजात वर्ग के १०,००,०००,

लेकिन, दूसरी ओर, मूल्य पैदा करने की हर प्रक्रिया में निपुण श्रम को औसत सामाजिक श्रम में परिणत कर देना – जैसे, मिसाल के लिए, एक दिन के निपुण श्रम को छ दिन के अनिपुण श्रम में परिणत कर देना – अनिवार्य होता है।[1] इसलिए जब हम यह मानकर चलते हैं कि पूंजीपति ने जिस मजदूर को नौकर रखा है, उसका श्रम अनिपुण औसत श्रम है, तब हम असल में एक अनावश्यक हिसाब से बच जाते हैं और अपने विश्लेषण को सरल बना देते हैं।

कंगालो तथा बे-घर-बार व्यक्तियो, अपराधियो और वेश्याओ आदि की सख्या के १५,००,००० और मध्य वर्ग के ४६,५०,००० लोगो को घटा दिया जाये, तो उपरोक्त १,१०,००,००० ही बचते है। लेकिन मध्य वर्ग मे उसने छोटी-छोटी पूजियो के सूद पर रहने वाले लोगो को, अफसरो, साहित्यिको, कलाकारो, स्कूल मास्टरो और इसी तरह के अन्य लोगो को भी शामिल कर लिया है, और इस वर्ग की सख्या बढा देने के लिए उसने इन ४६,५०,००० मे कारखानों के अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूरो को भी गिन लिया है। Bricklayers (राजगार) भी इसी मद मे आते हैं। (S Laing 'National Distress" etc [एस० लैंग, 'राष्ट्रीय विपत्ति', आदि], London 1844।) "जनता का अधिकाश उस वर्ग का है, जिसके पास भोजन के बदले मे देने के लिए साधारण श्रम के सिवा और कुछ नही है।" (James Mill '*Colony*' [जेम्स मिल, 'उपनिवेश'] शीर्षक लेख, *Encyclopaedia Britannica* ['ब्रिटिश विश्वकोष'] के परिशिष्ट मे, १८३१।)

[1] "जहा मूल्य की माप के रूप मे श्रम की चर्चा होती है, वहा अनिवार्य रूप से एक विशिष्ट प्रकार के श्रम से मतलब होता है श्रम के अन्य प्रकारो का उसके साथ क्या अनुपात है, यह बहुत आसानी से मालूम हो जाता है।" (*"Outlines of Political Economy*" ['अर्थशास्त्र की रूपरेखा'], London 1832, पृ० २२ और २३।)

आठवा अध्याय

स्थिर पूँजी और अस्थिर पूँजी

श्रम प्रक्रिया के विभिन्न उपकरण पदावार के मूल्य की रचना में अलग अलग भूमिका अदा करते ह।

मजदूर अपने श्रम की विषय वस्तु पर नये श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च करके उसमें नया मूल्य जोड देता है। यहा इस बात का कोई महत्व नहीं होता कि उस श्रम का विशिष्ट स्वरूप एव उपयोग क्या है। दूसरी ओर, श्रम प्रक्रिया के दौरान में खच कर दिये गये उत्पादन के साधनो के मूल्य सुरक्षित रहते ह, और वे पदावार के मूल्य के सघटक भागो के रूप में नये सिरे से सामने आते ह। उदाहरण के लिए, कपास और तकुए के मूल्य एक बार फिर से सूत के मूल्य में सामने आते है। अतएव, उत्पादन के साधनो का मूल्य पदावार में स्थानातरित हो जाता है और इस प्रकार सुरक्षित रहता है। यह स्थानातरण इन साधनो के पदावार में बदले जाने के समय, यानी श्रम-प्रक्रिया के दौरान में, होता है। वह श्रम द्वारा सम्पन्न किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि किस तरह?

मजदूर एक साथ दो क्रियाए नहीं करता। ऐसा नहीं होता कि वह एक क्रिया के द्वारा कपास में मूल्य जोडता हो और दूसरी क्रिया के द्वारा उत्पादन के साधनो के मूल्य को सुरक्षित रखता हो, या, जो कि एक ही बात है, पैदावार में, यानी सूत में, उस कपास का मूल्य, जिसपर वह काम करता है, और उस तकुए के मूल्य का एक अश स्थानातरित कर देता हो, जिससे वह काम करता है। उसके बजाय, वह नया मूल्य जोडने की क्रिया के द्वारा ही उनके पुराने मूल्यो को सुरक्षित रखता है। लेकिन अपने श्रम की विषय वस्तु में नया मूल्य जोडना और उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखना चूकि दो बिल्कुल अलग अलग परिणाम ह, जिनको मजदूर एक साथ और एक ही क्रिया के दौरान में पदा करता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि परिणाम का यह दोहरा स्वरूप उसके श्रम के दोहरे स्वरूप के आधार पर ही समझ में आ सकता है। एक ही समय में एक स्वरूप में उसके श्रम को मूल्य पैदा करना चाहिए और एक दूसरे स्वरूप में उसे मूल्य को सुरक्षित रखना या स्थानातरित कर देना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि हर मजदूर नया श्रम और उसके परिणामस्वरूप नया मूल्य किस ढग से जोडता है? जाहिर है कि वह केवल एक विशिष्ट ढग से उत्पादक श्रम करके ही नया श्रम और नया मूल्य जोडता है, – कातने वाला कताई करके, बुनने वाला बुनकर और लोहार गढकर। लेकिन इस प्रकार सामान्य रूप से श्रम का – अर्थात मूल्य का – अपने में समावेश करते हुए उत्पादन के साधन – यानी कपास और तकुआ, या सूत और करघा, या लोहा और निहाई, – केवल श्रम के विशिष्ट रूप के द्वारा ही – यानी केवल कताई, बुनाई और गढाई के

श्रम द्वारा ही – पैदावार के – अर्थात एक नये उपयोग-मूल्य के – सघटक तत्त्व बन पाते ह।[1] प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य गायब हो जाता है, लेकिन तुरत ही एक नये रूप में एक नये उपयोग-मूल्य म प्रकट होता है। जिस समय हम मूल्य पदा करने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे थे, उस समय हमने देखा था कि यदि कोई उपयोग-मूल्य किसी नये उपयोग-मूल्य के उत्पादन में कारगर ढग से खच हो जाये, तो उपभोग की गयी वस्तु के उत्पादन में श्रम की जितनी मात्रा लगी होगी, वह नया उपयोग मूल्य पदा करने के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा का एक भाग बन जायगी। इसलिए, यह भाग वह श्रम होगा, जो उत्पादन के साधनो से नयी पदावार में स्थानातरित हो जाता है। चुनाचे, मजदूर जब उपभोग में लाये गये उत्पादन के साधनो के मूल्य को सुरक्षित रखता है या उनको पैदावार में उसके मूल्य के भागो के रूप में स्थानातरित कर देता है, तब वह यह काय नया अमूत्त श्रम जोडकर नहीं, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार का उपयोगी श्रम करके, अपने श्रम के विशिष्ट उत्पादक स्वरूप के फलस्वरूप सम्पन्न करता है। इस तरह, जिस हद तक श्रम ऐसी विशिष्ट उत्पादक कारवाई है, यानी जिस हद तक वह कताई, बुनाई या गढ़ाई का श्रम है, उस हद तक वह महज अपने सम्पक से उत्पादन के साधनो को मुर्दा से जिदा कर देता है, उनको श्रम-प्रक्रिया के जीवन्त उपकरण बना देता है और उनके साथ जुडकर नयी पदावार की रचना करता है।

यदि मजदूर का विशिष्ट उत्पादक श्रम कताई का श्रम न होता, तो वह कपास को सूत में नहीं बदल पाता और इसलिए कपास और तकुए के मूल्यो को सूत में स्थानातरित नहीं कर सकता। मान लीजिये कि वह मजदूर अपना पेशा बदलकर फर्नीचर बनाने वाला बढ़ई बन जाता है। बढई के रूप में भी वह जिस सामग्री पर काम करेगा, उसमें एक दिन का श्रम करके नया मूल्य जोड देगा। इसलिए पहली बात तो हम यह देखते ह कि नया मूल्य इसलिए नहीं जुडता कि मजदूर का श्रम खास तौर पर कताई का श्रम है या खास तौर पर फर्नीचर बनाने का श्रम है, बल्कि वह इसलिए जुडता है कि मजदूर का श्रम अमूर्त्त श्रम अथवा समाज के सम्पूण श्रम का एक भाग है। और दूसरी बात हम यह देखते ह कि जो नया मूल्य जोडा जाता है, वह यदि एक निश्चित मात्रा का मूल्य होता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि मजदूर का श्रम एक खास तरह की उपयोगिता रखता है, बल्कि इसका कारण यह है कि वह एक निश्चित समय तक किया जाता है। इसलिए, एक तरफ तो कताई का श्रम अपने सामान्य स्वरूप के कारण, यानी इस कारण कि उसमें अमूर्त्त मानव-श्रम शक्ति खच की जाती है, कपास और तकुए के मूल्यो में नया मूल्य जोड देता है, और दूसरी तरफ अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण, यानी एक मूत्त, उपयोगी क्रिया होने के कारण, कताई का वही श्रम उत्पादन के साधनों के मूल्यो को पदावार में स्थानातरित कर देता है और साथ ही उनको पदावार में सुरक्षित भी रखता है। यही कारण है कि एक ही समय में दोहरा परिणाम सम्पन्न होता है।

श्रम की एक निश्चित मात्रा के केवल जुड जाने से नया मूल्य जुड जाता है, और इस जोडे हुए श्रम के विशिष्ट गुण के फलस्वरूप उत्पादन के साधनो के मूल मूल्य पदावार म सुरक्षित रहते ह। यह दोहरा प्रभाव, जो श्रम के दोहरे स्वरूप का परिणाम होता है, अनेक घटनाओ में देखा जा सकता है।

---

[1] जो सृष्टि मिट जाती है, उसके स्थान पर श्रम एक नयी सृष्टि उत्पन्न कर देता है। (*An Essay on the Polit Econ of Nations* ['राष्ट्रा के अथशास्त्र पर एक निबंध'], London 1821 पृ० १३।)

मान लीजिये कि किसी आविष्कार के फलस्वरूप कातने वाला छ घण्टे में उतनी ही कपास कात डालता है, जितनी वह पहले ३६ घण्टे में कातता था। अब उसका श्रम उपयोगी उत्पादन के लिए पहले से छ गुना प्रभावोत्पादक हो जाता है। छ घण्टे के श्रम की पैदावार अब छ गुनी बढ़ जाती है और छ पौण्ड से ३६ पौण्ड हो जाती है। लेकिन अब ३६ पौण्ड कपास केवल उतने श्रम का अवशोषण करती है, जितने का पहले छ पौण्ड कपास करती थी। कपास का हर पौण्ड अब पहले की तुलना में नये श्रम के केवल छठे भाग का अवशोषण करता है, और इसलिए इसके पहले हर पौण्ड में श्रम द्वारा जितना मूल्य जोडा जाता था, अब उसका केवल छठा भाग ही जुडता है। दूसरी ओर, पैदावार में—यानी ३६ पौण्ड सूत में—कपास से स्थानांतरित होने वाला मूल्य पहले का छ गुना होता है। अब छ घण्टे की कताई से कच्चे माल का जितना मूल्य सुरक्षित रहता है और पैदावार में स्थानांतरित होता है, वह पहले का छ गुना होता है, हालांकि इसी कच्चे माल के प्रत्येक पौण्ड में कातने वाले के श्रम द्वारा जो नया मूल्य जुडता है, वह पहले का केवल छठा भाग होता है। इससे प्रकट होता है कि श्रम की वे दो विशेषताएं बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न होती हैं, जिनमें से एक के फलस्वरूप वह मूल्य को सुरक्षित रखता है और दूसरी के फलस्वरूप मूल्य पैदा करता है। एक तरफ, कपास के एक निश्चित वज़न को कातकर सूत तयार करने में जितना अधिक समय लगता है, सामग्री में उतना ही अधिक नया मूल्य जुड जाता है। दूसरी तरफ, किसी निश्चित समय में जितने अधिक वज़न की कपास कात डाली जाती है, उतना ही अधिक मूल्य पैदावार में स्थानांतरित होकर सुरक्षित हो जाता है।

अब मान लीजिये कि कातने वाले के श्रम की उत्पादकता बढ़ने घटने के बजाय स्थिर रहती है और इसलिये उसे एक पौण्ड कपास को सूत में बदलने के लिये उतने ही समय की आवश्यकता होती है, जितने की पहले होती थी, लेकिन कपास का विनिमय-मूल्य बदल जाता है और या तो बढकर पहले का छ गुना हो जाता है और या घटकर पहले के मूल्य का केवल छठा भाग रह जाता है। इन दोनों सूरतों में कातने वाला एक पौण्ड कपास में अब भी उतना ही श्रम डालता है, जितना वह पहले डालता था, और इसलिये वह उसमें उतना ही मूल्य जोडता है, जितना वह कपास के मूल्य में तबदीली आने के पहले जोडता था। और वह सूत की एक निश्चित मात्रा अब भी उतने ही समय में तैयार करता है, जितने समय में वह पहले तैयार करता था। फिर भी वह कपास से सूत में जो मूल्य स्थानांतरित करता है, वह अब या तो कपास के मूल्य में तबदीली आने के पहले का छठा भाग होता है, या उसका छ गुना होता है। यही उस वक्त भी होता है, जब श्रम के औज़ारों के मूल्य में उतार या चढाव आता है, मगर श्रम प्रक्रिया में उनकी उपयोगी काय-क्षमता ज्यों की त्यों कायम रहती है।

फिर, यदि कताई की प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में कोई परिवतन नहीं होता और उत्पादन के साधनों के मूल्य में कोई तबदीली नहीं आती, तो कातने वाला समान श्रम काल में समान मात्रा में कच्चा माल और समान मात्रा में मशीनें खच करता जाता है, जिनके मूल्य में भी कोई परिवतन नहीं होता। वह पैदावार में जो मूल्य सुरक्षित रखता है, वह उस नये मूल्य के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है, जो वह पदावार में जोड देता है। दो सप्ताह में वह एक सप्ताह से दुगुने श्रम का और इसलिये दुगुने मूल्य का समावेश करता है और एक सप्ताह से दुगुना कच्चा माल खच कर डालता है तथा दुगुनी मशीनें घिसा देता है, यानी वह दो सप्ताह में एक सप्ताह से दुगुने मूल्य का कच्चा माल तथा मशीनें इस्तेमाल कर डालता है, और इसलिये वह एक

सप्ताह की पैदावार में जितना मूल्य सुरक्षित रखता है, दो सप्ताह की पदावार में उसका दुगना मूल्य सुरक्षित रखता है। जब तक उत्पादन की परिस्थितिया एक सी रहती ह, उस वक्त तक मजदूर नया श्रम करके जितना अधिक मूल्य जोडता है, वह उतना ही अधिक मूल्य स्थानातरित करके सुरक्षित कर देता है, लेकिन यह वह केवल इसलिये करता है कि उसने नया मूल्य एसी परिस्थितियो में जोडा है, जिनमें कोई तबदीली नहीं आयी है और जो स्वय उसके श्रम से स्वतत्र ह। जाहिर है कि एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि मजदूर जिस मात्रा में नया मल्य जोडता है, वह सदा उसी के अनुपात में पुराने मूल्य को सुरक्षित रखता है। कपास का मल्य चाहे एक शिलिग से बढकर दो शिलिग हो जाये और चाहे घटकर छ पेंस रह जाय, मजदूर दो घण्टे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, वह एक घण्टे में सदा उसका आधा मूल्य सुरक्षित रखता है। इसी प्रकार ,यदि उसके अपने श्रम की उत्पादकता में कोई परिवतन आता है और वह घट-बढ जाती है,तो वह उसके घटने पर एक घण्टे में पहले से कम और बढ़ने पर पहले से ज्यादा सूत कातेगा और इसलिये एक घण्टे की पैदावार में पहले से कम या ज्यादा कपास के मूल्य को सुरक्षित रखेगा। लेकिन, इसके बावजूद, वह एक घण्टे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, दो घण्टे में वह उसके दुगुने मूल्य को ही सुरक्षित रखेगा।

मूल्य केवल उपयोगी वस्तुओ में या चीजो में होता है। प्रतीको द्वारा उसे केवल चिह्न-रूप में जिस तरह व्यक्त किया जाता है, हम यहा उसकी चर्चा नहीं करेंगे। (श्रम शक्ति के मत रूप में मनुष्य स्वय एक प्राकृतिक वस्तु या एक चीज होता है, हालाकि यह चीज जीवित और सचेतन होती है, और श्रम उसमें विद्यमान इस शक्ति की अभिव्यक्ति होता है।) इसलिये किसी वस्तु की यदि उपयोगिता जाती रहती है, तो उसका मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। उत्पादन के साधन अपना उपयोग-मूल्य खोने के साथ-साथ अपना मूल्य क्यो नहीं खो देते, इसका कारण यह है कि वे श्रम प्रक्रिया में अपने उपयोग-मूल्य का मूल रूप तो खो देते हैं, पर तुरत ही पदावार में एक नये उपयोग-मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं। मूल्य के लिये यह बात चाहे जितनी महत्वपूर्ण हो कि उसे कोई न कोई ऐसी उपयोगी वस्तु जरूर मिलनी चाहिये, जिसमें वह साकार हो सके, लेकिन उसके लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि कौनसी खास वस्तु यह काम सम्पन्न कर रही है, यह बात हम मालो के रूपातरण पर विचार करते समय देख चुके ह। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम प्रक्रिया में उत्पादन के साधन केवल उसी हद तक अपना मूल्य पदावार में स्थानातरित करते ह, जिस हद तक कि वे अपने उपयोग मूल्य के साथ साथ अपना विनिमय मूल्य भी खोते जाते ह। वे पदावार को केवल वही मूल्य सौंपते ह, जो वे खुद उत्पादन के साधनो के रूप में खो देते ह। लेकिन इस मामले में श्रम प्रक्रिया के सब भौतिक उपकरण एक ही तरह का व्यवहार नहीं करते हैं।

बोयलर के नीचे जलाया जाने वाला कोयला अपना चिह्न तक बाकी न छोडकर एकदम ग़ायब हो जाता है। पहियो की धुरी को चिकना करने के लिये जो चरबी इस्तेमाल की जाती है, यह भी इसी तरह एकदम ग़ायब हो जाती है। रग तथा अन्य सहायक पदार्थ भी ग़ायब हो जाते ह, पर ये तुरत ही पदावार के तत्त्वों के रूप में फिर प्रकट हो जाते ह। कच्चा माल पदावार का द्रव्य बन जाता है, लेकिन अपना रूप बदलने के बाद ही। इसलिये, कच्चा माल और सहायक पदार्थों का वह विशिष्ट रूप जाता रहता है, जो उन्होंने श्रम प्रक्रिया में प्रवेश करते समय धारण कर रखा था। श्रम के औजारो के साथ ऐसा नहीं होता। औजार, मशीनें, वर्कशाप और बरतन केवल उसी वक्त तक श्रम प्रक्रिया में काम आते ह, जिस वक्त

तक कि उनका मूल रूप कायम रहता है और जिस वक्त तक कि वे हर रोज सुबह को अपनी पहले जसी शक्ल में ही प्रक्रिया को फिर से आरम्भ करने के लिये तयार रहते ह। और जिस तरह वे अपने जीवन-काल में, यानी उस श्रम प्रक्रिया के दौरान में, जिसमें वे भाग लेते रहते हैं, अपनी शकल को पैदावार से स्वतन्त्र ज्यो की त्यो बनाये रहते ह, उसी तरह मृत्यु के बाद भी वे अपनी शकल को कायम रखते हैं। मुर्दा मशीनो, औजारो, वकशापो आदि की लाशें उस पैदावार से बिल्कुल भिन्न और अलग होती ह जिसके उत्पादन में उन्होंने मदद दी है। श्रम का कोई औजार जिस दिन वकशाप में प्रवेश करता है, उस दिन से लगाकर उस दिन तक, जब कि वह कबाड-खाने में भेज दिया जाता है, यदि हम उसके सम्पूण काय काल पर विचार करें, तो हम पाते ह कि इस काल में उसका उपयोग-मूल्य पूरी तरह खच हो गया है और इसलिये उसका विनिमय-मूल्य पूरी तरह पैदावार में स्थानातरित हो गया है। मिसाल के लिये, यदि कोई कताई की मशीन १० साल तक चलती है, तो यह बात साफ है कि इस कार्य-काल में उसका कुल मूल्य धीरे धीरे १० वष की पैदावार में स्थानातरित होता है। इसलिये, श्रम के किसी भी औजार का जीवन-काल एक ही प्रकार की त्रियाओ की एक छोटी या बडी सख्या को बार-बार दोहराने में खच होता है। उसके जीवन की मनुष्य के जीवन के साथ तुलना की जा सकती है। हर दिन का अन्त मनुष्य की मृत्यु को २४ घण्टे और नजदीक ले आता है, लेकिन महज उसे देखकर कोई आदमी ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि कब्र की ओर ले जाने वाली सडक पर अभी उसे कितने दिन और सफर करना है। किन्तु इस कठिनाई के कारण जीवन-बीमा करने वाले कार्यालयो द्वारा औसत निकालने के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए बहुत ठीक और साथ ही बहुत उपयोगी निष्कष निकालने में कोई रुकावट नहीं पडती। श्रम के औजारो के साथ भी यही बात है। अनुभव से मालूम हो जाता है कि कोई खास तरह की मशीन औसतन कितने समय तक चल पायेगी। मान लीजिये कि श्रम-प्रक्रिया में उसका उपयोग-मूल्य केवल छ दिन तक चल सक्ता है। तब वह हर रोज अपने उपयोग-मूल्य का औसतन छठा भाग खो देती है और इसलिये रोज की पदावार में अपने मूल्य का छठा भाग स्थानान्तरित कर देती है। चुनाचे, इस आधार पर हिसाब लगा लिया जाता है कि विभिन्न औजार किस गति से घिसते ह, वे रोज कितना उपयोग मूल्य खो देते हैं और उसके अनुरूप मूल्य की क्तिनी मात्रा हर दिन पैदावार को सौंप देते है।

इस प्रकार यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि उत्पादन के साधन श्रम-प्रक्रिया के दौरान में अपने उपयोग-मूल्य के नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप खुद जितना मूल्य खो देते हैं, वे उससे ज्यादा मूल्य कभी पदावार में स्थानान्तरित नहीं करते। यदि किसी औजार में खोने के लिये मूल्य है ही नहीं, अर्थात, दूसरे शब्दो में, यदि कोई औजार मानव-श्रम की पैदावार नहीं है, तो वह पदावार में कोई मूल्य स्थानान्तरित नहीं करता। वह विनिमय-मूल्य के निर्माण में कोई योग दिये बिना ही उपयोग-मूल्य पैदा करने में मदद करता है। मानव-सहायता के बिना ही प्रकृति ने उत्पादन के जितने साधन दे रखे ह,—जैसे भूमि, वायु, जल, पृथ्वी के गभ में पडी हुई धातुए और अछूते जगलो में मिलने वाली लकडी,—वे सब इसी मद में आतेह।

यहा पर एक और दिलचस्प चीज हमारे सामने आती है। मान लीजिये कि किसी मशीन की क़ीमत १,००० पौण्ड है, और वह १,००० दिन में घिस जाती है। ऐसी हालत में रोजाना इस मशीन के मूल्य का हजारवा भाग दनिक पदावार में स्थानान्तरित होता जायेगा। पर इसके साथ-साथ पूरी मशीन लगातार श्रम प्रक्रिया में भाग लेती रहती है, हालाकि उसकी जीवन

शक्ति बराबर कम होती जाती है। इस प्रकार, यह प्रकट होता है कि श्रम प्रक्रिया का एक उपकरण, उत्पादन का कोई साधन, जहां मूल्य के निर्माण की क्रिया में केवल आंशिक रूप से भाग लेता है, वहां वह श्रम प्रक्रिया में अपने सम्पूर्ण रूप में लगातार भाग लेता रहता है। इन दो क्रियाओं का भेद यहां उनके भौतिक उपकरणों में इस तरह प्रतिबिम्बित होता है कि उत्पादन का वही औज़ार श्रम प्रक्रिया में अपने सम्पूर्ण रूप में भाग लेता है और साथ ही मूल्य के निर्माण के एक तत्त्व की तरह वह केवल आंशिक रूप में प्रवेश करता है।[1]

दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि उत्पादन का कोई साधन मूल्य के निर्माण में अपने सम्पूर्ण रूप में भाग ले और श्रम प्रक्रिया में केवल थोड़ा-थोड़ा करके समाविष्ट हो। मान लीजिये कि कपास की कताई में हर ११५ पौण्ड कपास में से १५ पौण्ड जाया हो जाता है, और वह १५ पौण्ड कपास सूत में न बदलकर कूड़ा (devil's dust) बन जाती है। अब,

---

[1]श्रम के औज़ारों की मरम्मत के विषय से हमारा यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस मशीन की मरम्मत हो रही है, वह औज़ार की भूमिका अदा करना बन्द कर देती है और श्रम की विषय वस्तु की भूमिका अदा करने लगती है। तब उससे काम नहीं लिया जाता, बल्कि उसपर काम किया जाता है। यहां हमारा यह मानकर चलना सर्वथा उचित होगा कि औज़ारों की मरम्मत में खर्च किया गया श्रम उनके मूल उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम में शामिल होता है। परन्तु मूल पाठ में हम इस घिसाई का ज़िक्र कर रहे हैं, जिसका कोई डाक्टर इलाज नहीं कर सकता और जो थोड़ा-थोड़ा करके औज़ार को मौत के मुंह पर ला खड़ा करती है। मूल पाठ में हम "उस किस्म की घिसाई" का ज़िक्र कर रहे हैं, "जिसे समय-समय पर मरम्मत करके दूर नहीं किया जा सकता और जो यदि औज़ार चाकू है, तो उसे इस हालत में पहुंचा देगी कि चाकू बनाने वाला कहेगा कि अब वह इस लायक नहीं है कि उस पर नयी धार चढ़ाया जाये।" मूल पाठ में हम यह बता चुके हैं कि मशीन प्रत्येक श्रम प्रक्रिया में सम्पूर्ण मशीन के रूप में भाग लेती है, किन्तु उसके साथ साथ चलने वाली मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह केवल थोड़ा थोड़ा करके समाविष्ट होती है। अतः ज़रा सोचिये कि निम्नलिखित उद्धरण में विचारों की कैसी गड़बड़ी प्रकट होती है। "मि० रिकार्डो कहते हैं कि (जुर्राबें बनाने वाली) मशीन के तैयार करने में इंजीनियर का जो श्रम खर्च हुआ है, उसका एक भाग", उदाहरण के लिए, जुर्राबों की एक जोड़ी में निहित होता है। "फिर भी उस कुल श्रम में, जिससे कि जुर्राबों की हर जोड़ी तैयार हुई है, इंजीनियर के श्रम का एक भाग नहीं, बल्कि उसका पूरा श्रम शामिल है, कारण कि एक मशीन बहुत सी जोड़ियों को तैयार करती है, और इनमें से कोई जोड़ी मशीन के किसी भी एक हिस्से के बिना तैयार नहीं की जा सकती थी।" (*Obs on Certain Verbal Disputes in Pol Econ, Particularly Relating to Value* ['अर्थशास्त्र के, खास कर मूल्य से सम्बन्ध रखने वाले, कुछ शाब्दिक विवादों के विषय में विचार'], पृ० ५४।) इस पुस्तक का लेखक एक असाधारण ढंग का आत्म-सतुष्ट "wiseacre ("लाल बुझक्कड़")" है। उसकी विचारों की गड़बड़ी और इसलिए उसका तर्क केवल इसी हद तक सही है कि न तो रिकार्डो ने और न ही उनके पहले या बाद के किसी और अर्थशास्त्री ने श्रम के दो पहलुओं के भेद को ठीक ठीक समझा है और इसलिए वे इस बात को तो और भी कम समझ पाये हैं कि इन दो पहलुओं के मातहत श्रम मूल्य के निर्माण में क्या भूमिका अदा करता है।

हालाकि यह १५ पौण्ड कपास कभी सूत का सघटक तत्त्व नहीं बनती, फिर भी यदि यह मान लिया जाये कि इतनी कपास का जाया होना कताई की औसत परिस्थितियो में एक सामान्य और अनिवार्य बात है, तो जिस तरह सूत का द्रव्य बनने वाली १०० पौण्ड कपास का मूल्य सूत के मूल्य में स्थानातरित हो जाता है, ठीक उसी तरह इस १५ पौण्ड कपास का मूल्य भी उसमें स्थानातरित हो जाता है। १०० पौण्ड सूत तैयार होने के पहले यह जरूरी होता है कि १५ पौण्ड कपास का उपयोग मूल्य धूल में मिल जाये। इसलिए इस कपास का नष्ट होना सूत के उत्पादन की एक जरूरी शर्त है। और क्योकि यह उसकी एक जरूरी शर्त है,—और किसी अन्य कारणवश नहीं,—इस कपास का मूल्य पैदावार में स्थानातरित हो जाता है। श्रम प्रक्रिया के परिणामस्वरूप यदि किसी भी तरह का कूडा-कचरा निकलता है, तो जिस हद तक इस कूडे-कचरे को फिर किन्हीं नये तथा स्वतत्र उपयोग मूल्यो के उत्पादन में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, उस हद तक उसपर यही बात लागू होती है। कूडा कचरा किस तरह नये तथा स्वतत्र उपयोग-मूल्यो के उत्पादन में इस्तेमाल किया जा सकता है, यह मान्चेस्टर के मशीन बनाने वाले बडे कारखाने में देखा जा सकता है, जहा रोज शाम को खराद से गिरी हुई लोहे की कतरनों के पहाड के पहाड गाडियो में लादकर ढलाई घर में ले जाये जाते हैं और अगले रोज सुबह को वे लोहे के ठोस टुकडो के रूप में वकशाप में फिर हाजिर हो जाते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन के साधन नयी पैदावार में केवल उसी हद तक मूल्य को स्थानातरित करते हैं, जिस हद तक कि श्रम-प्रक्रिया के दौरान में वे उपयोग-मूल्य के अपने पुराने रूप में अपना मूल्य खो देते हैं। इस प्रक्रिया में, जाहिर है, वे ज्यादा से ज्यादा जितना मूल्य खो सकते हैं, वह इस बात से सीमित होता है कि वे कितना मूल मूल्य लेकर इस प्रक्रिया में सम्मिलित हुए थे, या, दूसरे शब्दो में, यह उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल से सीमित होता है। इसलिए उत्पादन के साधन जिस श्रम-प्रक्रिया में योग देते हैं, उससे स्वतत्र उनमें जितना मूल्य होता है, वे उससे अधिक मूल्य कभी पैदावार में नहीं जोड सकते। कोई खास कच्चा माल, या कोई मशीन, या उत्पादन का कोई और साधन चाहे कितना ही उपयोगी क्यो न हो, यदि उसमें १५० पौण्ड की लागत—या मान लीजिये ५०० दिन का श्रम—लगा हो, तो वह किसी भी हालत में १५० पौण्ड से ज्यादा का मूल्य पैदावार में नहीं जोड सकता। उसका मूल्य उस श्रम प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होता, जिसमें वह उत्पादन के साधन के रूप में प्रवेश करता है, बल्कि उसका मूल्य उस श्रम प्रक्रिया से निर्धारित होता है, जिसमें से वह पैदावार के रूप में बाहर निकला है। श्रम प्रक्रिया में वह केवल एक उपयोग मूल्य की तरह काम में आता है, केवल एक ऐसी वस्तु के रूप में काम में आता है, जिसमें कुछ उपयोगी गुण होते हैं, और इसलिए वह पैदावार में कोई ऐसा मूल्य स्थानातरित नहीं कर सकता, जो उसमें पहले से मौजूद नहीं था।[1]

---

[1] इससे हम जे० बी० से के बेतुकेपन का अनुमान कर सकते है, जो हमे यह बताने का प्रयत्न करते है कि उत्पादन के साधन—भूमि, औजार और कच्चा माल—अपने उपयोग मूल्यो के द्वारा श्रम प्रक्रिया मे जो 'services productifs ("उत्पादक सेवाए") करते है, वही अतिरिक्त मूल्य का (सूद, मुनाफे और लगान का) कारण है। मि० विल्हेल्म रोश्चेर ने, जो पक्ष-पोषण वाली कल्पना की अटपटी उडाना को कागज पर दर्ज करने का अवसर कभी हाथ से नही खोते, यह नमूना हमारे सामने पेश किया है "जे० बी० से ने (Traite, ग्रथ १, अध्याय ४ मे) सच ही

जिस समय उत्पादक श्रम उत्पादन के साधनों को किसी नयी पैदावार के संघटक तत्वों में बदलता है, उस समय उनके मूल्य का देहांतरण हो जाता है। जो देह श्रम प्रक्रिया में खर्च हो गयी है, मूल्य रूपी आत्मा उसे छोड़कर नव-उत्पादित देह में चली जाती है। पर यह देहांतरण मानो मजदूर के पीठ पीछे होता है। वह उस वक्त तक नया श्रम जोड़ने या नया मूल्य पैदा करने में असमर्थ होता है, जब तक कि वह उसके साथ-साथ पुराने मूल्यों को भी सुरक्षित न कर दे, और यह इसलिए कि वह जो नया श्रम जोड़ता है, वह लाजिमी तौर पर किसी खास तरह का उपयोगी श्रम होता है, और वह उपयोगी श्रम यह उस वक्त तक नहीं कर सकता, जब तक कि उत्पादित वस्तुओं का नयी पैदावार के उत्पादन के साधनों के रूप में न प्रयोग करे और उसके द्वारा उनका मूल्य नयी पैदावार में न स्थानांतरित कर दे। इसलिए, कार्यरत श्रम-शक्ति में—जीवित श्रम में—मूल्य जोड़ने के साथ-साथ मूल्य को सुरक्षित रखने का जो गुण होता है, वह प्रकृति की देन है, जिसके लिए मजदूर को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता, लेकिन जो पूंजीपति के बड़े फायदे का गुण होता है, क्योंकि वह उसकी पूंजी के पूर्वविद्यमान मूल्य को सुरक्षित रखता है।[1] जब तक व्यवसाय

कहा है कि तेल निकालने की मिल जो मूल्य पैदा करती है, वह सारा खर्च काटने के बाद कोई नयी चीज, कोई ऐसी चीज होती है, जो कि उस श्रम से बिल्कुल भिन्न होती है, जो मिल के निर्माण मे खर्च किया गया था।" (उप० पु०, पृ० ८२, फुटनोट।) सत्य वचन, प्रोफ़ेसर साहब! तेल की मिल से जो तेल तैयार होता है, वह निश्चय ही उस श्रम से बहुत भिन्न होता है, जो खुद मिल को बनाने मे खर्च हुआ था। मूल्य को मि० रोश्चेर "तेल" जैसी चीज समझते हैं, क्योंकि तेल मे मूल्य होता है, हालांकि "प्रकृति" भी पेट्रोल पैदा करती है, भले ही वह अपेक्षाकृत "थोडी मात्रा मे" ऐसा करती हो, और इस बात को ध्यान मे रखकर ही शायद मि० रोश्चेर ने आगे कहा है "वह (प्रकृति) शायद ही कभी कोई विनिमय मूल्य पैदा करती हो।" मि० रोश्चेर की "प्रकृति" और वह जो विनिमय मूल्य पैदा करती है, वे उस मूर्ख लड़की की तरह हैं, जिसने यह तो स्वीकार कर लिया था कि कुमारी होते हुए भी उसके एक बच्चा हो चुका है, पर साथ ही जिसने अपनी सफाई के तौर पर कहा था "तो क्या हुआ, बच्चा जरा सा ही तो है!" इस "महान विद्वान" ("savant serieux") ने आगे कहा है "रिकार्डो सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियो की आदत है कि वे पूजी को संचित श्रम के रूप मे श्रम की मद मे शामिल कर देते हैं। यह बुद्धिमानी का काम नही है, क्योंकि आखिर पूजी का मालिक महज उसे पैदा नही करता और सुरक्षित ही नही रखता, वह कुछ और भी करता है, यानी वह उसका उपभोग करने का मोह संवरण करता है, जिसके एवज मे वह, मिसाल के लिए, सूद चाहता है" (उप० पु०)। अर्थशास्त्र की यह "शरीर-रचना-शास्त्रीय देह व्यापारीय" पद्धति भी कितनी बुद्धिमानी से भरी है जो कि "वास्तव मे" महज एक इच्छा को "आखिर" मूल्य का स्रोत बना देती है!

[1] "काश्तकार के व्यवसाय के जितने भी साधन होते हैं, उनमे मनुष्य का श्रम ही ऐसा साधन होता है, जिसपर वह अपनी पूजी को फिर से प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक भरोसा करता है। दूसरी दो किस्मो के साधन—खेती मे काम आने वाले काश्तकार के ढोर और गाडियां, हल, फावडे इत्यादि—पहली किस्म के साधन (श्रम) की एक निश्चित मात्रा के अभाव में बिल्कुल बेकार होते हैं।" (Edmund Burke, *Thoughts and Details on Scarcity*

अच्छा चलता रहता है, तब तक पूजीपति मुद्रा कमाने में इतना डूबा रहता है कि वह श्रम की इस नि शुल्क देन की ओर आख तक उठाकर नहीं देखता। परन्तु जब कोई सकट आकर बलपूर्वक श्रम प्रक्रिया को बीच में रोक देता है, तब पूजीपति इस देन के महत्व के बारे में बहुत सहज ही सजग हो जाता है।[1]

जहा तक उत्पादन के साधनो का सम्बध है, जो कुछ सचमुच खर्च होता है, वह उनका उपयोग-मूल्य होता है, और श्रम के द्वारा उस उपयोग-मूल्य के उपभोग का फल पैदावार होती है। उत्पादन के साधनो के मूल्य का उपभोग नहीं होता,[2] और इसलिए यह कहना गलत होगा कि उनके मूल्य का पुनरुत्पादन होता है। बल्कि यह कहना सही होगा कि उनका मूल्य सुरक्षित रहता है इसलिए नहीं कि वह श्रम प्रक्रिया के दौरान में खुद किसी क्रिया में से गुजरता है, बल्कि इसलिए कि यह मूल्य शुरू में जिस वस्तु में पाया जाता है, वह वस्तु गायब तो होती है, पर तुरत ही किसी और वस्तु के रूप में प्रकट हो जाती है। इसलिए पैदावार के मूल्य में उत्पादन के साधनो का मूल्य पुन प्रकट होता है, लेकिन सही अर्थ में उस मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता। जो कुछ सचमुच पैदा होता है, वह एक नया उपयोग-मूल्य होता है, जिसमें पुराना विनिमय-मूल्य पुन प्रकट होता है।[3]

---

originally presented to the Right Hon W Pitt, in the month of November 1795 [एडमण्ड वर्क, 'दुलभता के सम्बध मे विचार, जो शुरू मे १७६५ के नवम्बर मास म राइट ओनरेबिल डब्ल्यू० पिट की सेवा मे प्रस्तुत किये गये थे'], London का सस्करण, *1800*, पृ० १०।)

[1] *The Times* के २६ नवम्बर १८६२ के अक मे एक कारखानेदार ने, जिसकी मिल मे ८०० मजदूर काम करते हैं और औसतन १५० गाठ भारतीय कपास या १३० गाठ अमरीकी कपास (प्रति हफ्ते) का उपयोग होता है, बहुत रुआसा होकर यह शिकायत की है कि उसकी फैक्टरी जब काम नही करती, तब भी उस कारखाने के स्थायी खर्च का काफी वोझ रहता है। उसका अनुमान है कि इस तरह उसे हर साल ६,००० पौण्ड खर्च करने पडते हैं। इस खर्च मे कई ऐसी मदें शामिल हैं, जिनसे हमारा यहा कोई सम्बध नही है, जैसे किराया, कर और टैक्स, बीमे का खर्चा और मैनेजर, हिसाबनवीस, इजीनियर आदि की तनखाए। फिर उसने हिसाब लगाया है कि समय-समय पर उसे मिल को गरम करने के लिए और यदा कदा इजन चलाने के लिए जो कोयला इस्तेमाल करना पडता है, उसपर १५० पौण्ड खर्च होते हैं। इसके अलावा मशीनो को चालू हालत मे रखने के लिए उसे कभी कभार जिन लोगो को नौकर रखना पडता है, उनकी मजदूरी की भी वह गिनती करता है। अत मे कारखानेदार ने १,२०० पौण्ड मशीनो के मूल्य ह्रास की मद मे डाल दिये हैं, क्योकि "जब भाप से चलने वाला इजन काम करना बद कर देता है, तब भी मौसम का तथा अपक्षय का प्राकृतिक सिद्धात काम करना बद नही कर देते।" कारखानेदार ने बहुत जोर देकर कहा है कि मूल्य ह्रास की मद मे उसने १,२०० पौण्ड की इस छोटी सी रकम से ज्यादा इसलिए नही डाले हैं कि उसकी मशीन पहले ही से लगभग एकदम घिसी हुई है।

[2] "उत्पादक उपभोग जहा किसी माल का उपभोग उत्पादन की प्रक्रिया का एक अग होता है ऐसी सूरतो मे मूल्य का उपभोग नही होता।" (S P Newman, उप० पु०, पृ० २९६।)

[3] *एक अमरीकी पाठ्य पुस्तक मे, जिसके अब तक शायद २० सस्करण निकल चुके हैं* यह लिखा हुआ है कि "इसका कोई महत्व नही है कि पूजी किस रूप मे पुन प्रकट होती है।"

श्रम प्रक्रिया के वैयक्तिक उपकरण की – अर्थात् कार्य-रत श्रम-शक्ति की – बात दूसरी है। जहा, एक तरफ, मजदूर इस कारण कि उसका श्रम एक विशिष्ट प्रकार का श्रम होता है और उसका एक खास उद्देश्य होता है, उत्पादन के साधनो के मूल्य को सुरक्षित रखता है और उनको पैदावार में स्थानातरित कर देता है, वहां, दूसरी तरफ, यह इसके साथ-साथ केवल काम करने के परिणामस्वरूप हर बार अतिरिक्त अथवा नया मूल्य भी पैदा कर देता है। मान लीजिये कि उत्पादन की प्रक्रिया ठीक उस समय रुक जाती है, जब मजदूर खुद अपनी श्रम शक्ति के मूल्य का सम मूल्य पैदा कर लेता है, यानी, मिसाल के लिए, जब वह छ घटे के श्रम से तीन शिलिंग का मूल्य जोड देता है। यह मूल्य पैदावार के कुल मूल्य का वह भाग देता है, जो उत्पादन के साधनो के कारण पैदावार में आने वाले मूल्य के भाग से अतिरिक्त होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में केवल इतना ही नया मूल्य तैयार होता है, या पैदावार के मूल्य का केवल यही एक ऐसा भाग है, जो उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा पैदा होता है। जाहिर है, हम यह बात नहीं भूलते कि यह नया मूल्य केवल उस मुद्रा की स्थान-पूर्ति करता है, जो पूजीपति ने श्रम शक्ति की खरीद में पेशगी खर्च कर दी थी और जिसे मजदूर ने जीवन की आवश्यकताओ पर खर्च कर दिया था। जहा तक खर्च कर दी गयी मुद्रा का सम्बध है, नया मूल्य केवल एक पुनरुत्पादित मूल्य होता है। परन्तु फिर भी यह पुनरुत्पादन एक वास्तविक पुनरुत्पादन होता है, वह उत्पादन के साधनो के मूल्य के पुनरुत्पादन की भाति केवल दिखावटी नहीं होता। यहा भी एक मूल्य का स्थान दूसरा मूल्य ले लेता है, पर यह क्रिया नये मूल्य के सृजन द्वारा सम्पन्न होती है।

किन्तु ऊपर हम यह देख चुके है कि केवल श्रम शक्ति के मूल्य के सम मूल्य का पुनरुत्पादन करके उसका पैदावार में समावेश करने के लिए जितना समय आवश्यक होता है,

---

फिर, उत्पादन के ऐसे तमाम सम्भव तत्वो को विस्तार के साथ गिनाने के बाद, जिनका मूल्य पैदावार मे पुन प्रकट होता है, इस अश मे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "मनुष्य के अस्तित्व तथा सुख के लिए जिन नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों, कपडे और आश्रय की आवश्यकता होती है, वे भी बदल जाते हैं। उनका समय समय पर उपभोग किया जाता है, और उनका मूल्य पुन उस नयी शक्ति के रूप मे प्रगट होता है, जिसका शरीर तथा मस्तिष्क मे सचार हो जाता है और जो नयी पूजी बन जाती है, जिसका उत्पादन के काम मे पुन उपयोग किया जाता है।" (F Wayland उप० पु०, प० ३१, ३२।) यहा जो अन्य अनेक अटपटी बात कही गयी हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि नयी शक्ति के रूप में जो कुछ पुन प्रकट होता है, वह रोटी का दाम नही होता, बल्कि वह रोटी का रक्त निर्माण करनेवाला अश होता है। दूसरी ओर, इस नयी शक्ति के मूल्य मे जो कुछ पुन प्रकट होता है, वह जीवन निर्वाह के साधन नही होते, बल्कि उन साधनो का मूल्य होता है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुए यदि वे ही रहे, पर उनका दाम आधा हो जाये, तो उनसे पहले जितनी ही मास-पेशिया और हड्डिया, पहले जितनी ही नयी शक्ति तैयार होगी, लेकिन उतने पहले जितने मूल्य की नयी शक्ति नही तैयार होगी। "मूल्य" तथा "शक्ति" की यह गडबडी और उसके साथ-साथ हमारे लेखक की पाखण्डपूर्ण अस्पष्टता असल मे इस बात की कोशिश हैं – हालाकि बेसूद ही – कि अतिरिक्त मूल्य के पैदा होने का कारण केवल यह बता दिया जाय कि पहले से मौजूद मूल्य पुन प्रकट हो जाते हैं।

श्रम प्रक्रिया उसके बाद भी जारी रह सकती है। मान लीजिये, उसके लिए छ घण्टे काफी होते ह, पर श्रम प्रक्रिया बारह घण्टे तक जारी रह सकती है। इसलिए, श्रम-शक्ति के काय से केवल खुद उसके मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसके अलावा और उससे अधिक भी कुछ मूल्य पैदा होता है। पैदावार के मूल्य और उसके उत्पादन में खर्च किये गये तत्त्वो के मल्य—या, दूसरे शब्दो में, पैदावार के साधनो और श्रम-शक्ति के मूल्य—का अतर अतिरिक्त मूल्य होता है।

पैदावार के मूल्य के निर्माण में श्रम प्रक्रिया के विभिन्न उपकरण जो अलग अलग भूमिकाए अदा करते हैं, उनकी व्याख्या करके हमने वास्तव में यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि पूजी के विभिन तत्त्वो को खुद पूजी के मूल्य का विस्तार करने की क्रिया में कौन-कौन से कार्य करने पडते हैं। पैदावार के सघटक उपकरणों के मूल्यो के जोड से पैदावार का कुल मूल्य जितना अधिक होता है, वह विस्तारित पूजी तथा पेशगी लगायी गयी मूल पूजी का अतर होता है। जब मल पूजी मुद्रा से श्रम प्रक्रिया के नाना प्रकार के उपकरणो में रूपातरित की जाती है, तब उसका मूल्य जो अलग अलग प्रकार के अस्तित्व-रूप धारण कर लेता है, वे ही एक तरफ तो उत्पादन के साधन और दूसरी तरफ श्रम-शक्ति होते ह। अत पूजी के उस भाग के मूल्य में कोई परिमाणात्मक परिवतन नहीं होता, जिसका प्रतिनिधित्व उत्पादन के साधन—कच्चा माल, सहायक सामग्री और श्रम के औजार—करते हैं। इसलिए इस भाग को मैं पूजी का स्थिर भाग या, अधिक सक्षेप में, स्थिर पूजी कहता हू।

दूसरी ओर, उत्पादन की प्रक्रिया में पूजी के उस भाग के मूल्य में अवश्य परिवर्तन हो जाता है, जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है। वह खुद अपने मूल्य के सम-मूल्य का पुनरुत्पादन भी करता है और साथ ही उससे अधिक एक अतिरिक्त मूल्य भी पदा कर देता है, जो खुद परिस्थितियो के अनुसार कम या ज्यादा हो सकता है। पूजी का यह भाग लगातार एक स्थिर मात्रा से अस्थिर मात्रा में रूपातरित होता रहता है। इसलिए उसे मै पूजी का अस्थिर भाग या, सक्षेप में, अस्थिर पूजी कहता हू। पूजी के जो तत्त्व श्रम प्रक्रिया की दृष्टि से क्रमश वस्तुगत और वयक्तिक उपकरणो के रूप में—या उत्पादन के साधनो और श्रम शक्ति के रूप में—सामने आते हैं, वे ही अतिरिक्त मल्य पदा करने की क्रिया की दृष्टि से स्थिर और अस्थिर पूजी के रूप में प्रकट होते ह।

ऊपर हमने स्थिर पूजी की जो परिभाषा दी है, उससे स्थिर पूजी के विभिन तत्त्वो के मूल्य में परिवर्तन होने की सम्भावना खतम नहीं हो जाती। मान लीजिये कि एक दिन कपास का दाम छ पेंस फी पौण्ड है और दूसरे दिन, कपास की फसल खराब हो जाने के फलस्वरूप, उसका दाम एक शिलिग फी पौण्ड हो जाता है। छ पेंस के भाव पर खरीदी हुई कपास का हर वह पौण्ड, जिसे कपास का भाव बढ़ जाने के बाद इस्तेमाल किया जाता है, पदावार में एक शिलिग का मूल्य स्थानातरित करता है। और जो कपास भाव बढ़ने के पहले ही कात डाली गयी थी और जो शायद मण्डी में सूत की शकल में घूम रही थी, वह भी इसी तरह अपने मूल मूल्य का दुगुना मूल्य पदावार में स्थानातरित करती है। लेकिन यह बात साफ है कि मूल्य के ये परिवतन उस वृद्धि से या उस अतिरिक्त मूल्य से स्वतत्र होते ह, जिसे खुद कताई ने कपास के मूल्य में जोड दिया है। यदि पुरानी कपास कभी काती न गयी होती, तो कपास का भाव बढ जाने के बाद उसे छ पेंस के बजाय एक शिलिग फी पौण्ड के भाव पर फिर से बेचा जा सकता था। इसके अलावा, कपास जितनी ही कम प्रक्रियाओ में से गुजरी

होगी, उसे उतने ही अधिक निश्चित रूप से इस बढ़े हुए भाव पर बेचा जा सकेगा। इसीलिए जब कभी मूल्य के ऐसे परिवतन होते हैं, तब सट्टेबाज सदा उस वस्तु का सट्टा खेलना पसन्द करते ह, जिसपर कम मात्रा में श्रम खच किया गया है। मिसाल के लिए, तब वे कपडे के बजाय सूत का और सूत के बजाय कपास का सट्टा खेलना ज्यादा बेहतर समझते ह। जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे ह, उसमें मूल्य का परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप नहीं होता, जिसमें कपास उत्पादन के साधन की भूमिका अदा करती है और इसलिए जिसमें वह स्थिर पूजी का काम करती है, बल्कि यह परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है, जिसमें कपास पदा की जाती है। यह सच है कि किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, लेकिन यह मात्रा खुद सामाजिक परिस्थितियो से सीमित होती है। यदि किसी माल के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय बदल जाता है,—और कपास का कोई निश्चित वजन अच्छी फसल के बाद जितने श्रम का प्रतिनिधित्व करता था, बुरी फसल के बाद वह उससे अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करने लगता है,—तो इसका असर उस श्रेणी के पहले से मौजूद सभी मालो पर पडता है, क्योंकि वे मानो अपनी प्रजाति के सदस्य मात्र ही तो होते ह,[1] और किसी भी खास समय पर उनका मूल्य सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम से मापा जाता है, अर्थात किसी भी खास समय पर उनका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उस समय पायी जाने वाली सामाजिक परिस्थितियो में उनके उत्पादन के लिए कितना श्रम आवश्यक होता है।

जिस तरह कच्चे माल का मूल्य बदल सकता है, उसी तरह श्रम के औजारों का, उत्पादन-प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाली मशीनो आदि का मूल्य भी बदल सकता है, और, उसके फलस्वरूप, पैदावार के मूल्य का जो भाग श्रम के औजारो से पैदावार में स्थानातरित होता है, उसमें भी परिवतन सम्भव है। यदि किसी नये आविष्कार के फलस्वरूप एक खास तरह की मशीन पहले से कम श्रम द्वारा तैयार की जा सकती है, तो पुरानी मशीन का न्यूनाधिक मूल्य-ह्रास हो जाता है, और चुनाचे वह पैदावार में उतना ही कम मूल्य स्थानातरित करने लगती है। परन्तु यहा फिर मूल्य का परिवतन उस प्रक्रिया के बाहर होता है, जिसमे यह मशीन उत्पादन के साधन का काम करती है। एक बार इस प्रक्रिया में लग जाने के बाद कोई मशीन उससे अधिक मूल्य स्थानातरित नहीं कर सकती, जितना मूल्य उसमें इस प्रक्रिया से स्वतन्त्र रूप में होता है।

जिस प्रकार उत्पादन के साधनो के श्रम प्रक्रिया में भागी बन जाने के बाद उनके मूल्य में कोई परिवतन होने से उनके स्थिर पूजी के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, उसी तरह स्थिर पूजी के सम्बन्ध में अस्थिर पूजी के अनुपात परिवतन से पूजी के इन दो प्रकारो के अलग अलग कार्यों पर भी उसका कोई असर नहीं पडता। श्रम प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में इतनी बडी क्रान्ति हो सकती है कि जहा पहले दस आदमी कम मूल्य के दस औजारो की

[1] Toutes les productions d un même genre ne forment proprement qu une masse dont le prix se determine en general et sans egard aux circonstances particulieres' ["एक ही प्रकार की सब उत्पादित वस्तुए सच पूछिये, तो एक समूह के समान होती हैं, जिसका दाम कुछ सामान्य बातो से निर्धारित होता है और विशिष्ट परिस्थितिया का जिसके दाम पर कोई असर नही पडता।"] (Le Trosne उप० पु०, पृ० ८९३।)

इस्तेमाल करते हुए कच्चे माल की श्रपेक्षाकृत छोटी मात्रा का उपयोग कर सकते थे, वहा श्रब एक श्रादमी एक महगी मशीन की सहायता से पहले से सौगुने श्रधिक कच्चे माल का उपयोग कर सकता है। ऐसा होने पर स्थिर पूजी में, जिसका प्रतिनिधित्व उत्पादन के साधनो का कुल मूल्य करता है, भारी वृद्धि हो जाती है श्रौर साथ ही श्रम शक्ति में लगायी गयी श्रस्थिर पूजी में भारी कमी हो जाती है। लेकिन इस प्रकार की क्रान्ति से स्थिर तथा श्रस्थिर पूजी के केवल परिमाणात्मक सम्बध में ही परिवतन श्राता है, या उससे केवल उस श्रनुपात में ही परिवतन श्राता है, जिसमें कुछ पूजी श्रपने स्थिर तथा श्रस्थिर सघटको में बटी हुई है। स्थिर तथा श्रस्थिर पूजी में जो बुनियादी श्रतर है, उस पर ऐसी क्रान्ति का तनिक भी प्रभाव नहीं पडता।

नवा अध्याय

अतिरिक्त मूल्य की दर

अनुभाग १ – श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा

मूल रूप से लगायी गयी पूजी 'पू' उत्पादन की प्रक्रिया में जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है, या, दूसरे शब्दो में, पूजी 'पू' के मूल्य का जो स्वत विस्तार होता है, वह पहले-पहल एक अतिरेक के रूप में, या पदावार के मूल्य और पदावार के सघटक तत्वों के मूल्य के अतर के रूप में हमारे सामने आता है।

पूजी 'पू' दो सघटको का योग होती है। उसका एक सघटक मुद्रा की वह रकम होती है, जो उत्पादन के साधनो पर खर्च की जाती है और जिसे हम 'स्थि' का नाम दे सकते है, और दूसरा सघटक मुद्रा की वह रकम होती है, जो श्रम-शक्ति पर खच की जाती है और जिसे हम 'अस्थि' का नाम दे सकते हे, यानी 'स्थि' पूजी का वह भाग है, जो स्थिर पूजी, और 'अस्थि' वह भाग है, जो अस्थिर पूजी बन गया है। इसलिए शुरू में पू=स्थि+अस्थि। मिसाल के लिए, यदि मूल पूजी ५०० पौण्ड है, तो उसके सघटक इस प्रकार के हो सकते हे कि ५०० पौण्ड=४१० पौण्ड स्थिर पूजी+९० पौण्ड अस्थिर पूजी। जब उत्पादन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, तब हमारे पास एक ऐसा माल होता है, जिसका मूल्य=(स्थि+अस्थि)+'अ', जहा 'अ' अतिरिक्त मूल्य है। भूतपूव आकडो को लेते हुए इस माल का मूल्य हो सकता है (४१० पौण्ड स्थि+९० पौण्ड अस्थि)+९० पौण्ड 'अ'। मूल पूजी अब 'पू' से 'पू' में – या ५०० पौण्ड से ५९० पौण्ड में – बदल गयी है। अतर है 'अ', या ९० पौण्ड के बराबर अतिरिक्त मूल्य। पैदावार के सघटक तत्वो का मूल्य चूकि मूल पूजी के मूल्य के बराबर होता है, इसलिए यह कहना एक पुनरुक्ति मात्र है कि पदावार का मूल्य अपने सघटक तत्वो के मूल्य से जितना अधिक होता है, वह मूल पूजी के विस्तार के बराबर होता है, या वह उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य के बराबर होता है।

फिर भी हमें इस पुनरुक्ति पर थोडे और निकट से विचार करना चाहिए। जिन दो चीजो की यहा तुलना की गयी है, वे ह पदावार का मूल्य और उत्पादन की प्रक्रिया में लगाये गये सघटक तत्वो का मूल्य। अब ऊपर हम यह देख चुके ह कि स्थिर पूजी का जो भाग श्रम के औजारो के रूप में होता है, वह अपने मूल्य का केवल एक अश ही पदावार में स्थानातरित करता है और बाक़ी मूल्य उन औजारो में ही निहित रहता है। यह बाक़ी भाग चूकि मूल्य के निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लेता, इसलिए फिलहाल हम उसे एक तरफ छोड सकते हे। उसे हिसाब में शामिल करने से कोई फर्क नहीं पडेगा। मिसाल के लिए,

यदि हम अपने उदाहरण को ही लें, जहा स्थि=४१० पौण्ड, तो हम यह मानकर चल सकते हैं कि इस रकम में ३१२ पौण्ड कच्चे माल का, ४४ पौण्ड सहायक सामग्री का और ५४ पौण्ड उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गयी मशीनो का मूल्य है। और मान लीजिये कि उत्पादन-प्रक्रिया में जो मशीनें इस्तेमाल की गयी हैं, उनका कुल मूल्य १,०५४ पौण्ड है। तब इस १,०५४ पौण्ड की रकम में से केवल ५४ पौण्ड की रकम ही पैदावार को तैयार करने में लगायी जाती है, यानी मशीनें उत्पादन प्रक्रिया के दौरान में घिस जाने के फलस्वरूप इस रकम के बराबर मूल्य खो देती ह। कारण कि मशीनें केवल इतना ही मूल्य पैदावार में स्थानातरित करती है। अब यदि हम यह मानकर चलते ह कि बाकी १,००० पौण्ड भी, जो कि फिलहाल मशीनो में ही मौजूद ह, पैदावार में स्थानातरित हो गये ह, तो हमें इस रकम को मूल पूजी का ही एक हिस्सा समझना पडेगा और अपने हिसाब में दोनो तरफ यह रकम जोड देनी पडेगी।[1] इस तरह, एक तरफ हमारे पास १,५०० पौण्ड की रकम होगी और दूसरी तरफ १,५९० पौण्ड की। इन दो रकमो का अतर, या अतिरिक्त मूल्य, फिर भी ९० पौण्ड ही होगा। इसलिए इस पुस्तक में हमने जहा कहीं मूल्य के उत्पादन में लगायी गयी स्थिर पूजी का जिक्र किया है, वहा यदि सदर्भ इसके बिल्कुल विपरीत नहीं है, तो हमारा मतलब सदा उत्पादन के साधनो के उस मूल्य से और केवल उसी मूल्य से होता है, जो सचमुच उत्पादन-प्रक्रिया में खर्च हो गया है।

यह स्पष्ट कर चुकने के बाद आइये, हम फिर अपने उस सूत्र पू=स्थि+अस्थि की ओर लौट चलें, जो हमारी आखो के सामने पू'=(स्थि+अस्थि)+अ में बदल गया था और जिसमें पू पू' बन गया था। यह हमें मालूम है कि स्थिर पूजी का मूल्य पैदावार में स्थानातरित हो जाता है और उसमें केवल पुन प्रकट होता है। इसलिए उत्पादन-प्रक्रिया में जिस नये मूल्य का सचमुच सृजन होता है, जो मूल्य पैदा होता है, वह, या यू कहिये कि उसकी मूल्य पदावार, पैदावार के मूल्य से भिन्न होती है। जसा कि पहली दृष्टि से लगेगा, यह नया मूल्य (स्थि+अस्थि)+अ, या ४१० पौण्ड स्थिर पूजी+९० पौण्ड अस्थिर पजी+९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, के बराबर नहीं होता, बल्कि वह केवल अस्थि+अ, या ९० पौण्ड अस्थिर पूजी+९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, के बराबर होता है, या यू कहिये कि यह नया मूल्य ५९० पौण्ड नहीं, बल्कि केवल १८० पौण्ड के बराबर होता है। यदि स्थि=0, या, दूसरे शब्दो में, यदि उद्योग की कुछ ऐसी शाखाए होतीं, जिनमें पूजीपति को कच्चा माल, सहायक सामग्री या श्रम के औजारों के रूप में उत्पादन के ऐसे साधन न इस्तेमाल करने पडते, जिनमें पहले ही से कुछ श्रम लग चुका है, और केवल श्रम-शक्ति तथा प्रकृति की दी हुई सामग्री से ही उसका काम चल जाता, तो उस हालत में न तो कोई स्थिर पूजी उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेती और न ही उसका मूल्य पैदावार में स्थानातरित होता। तब पैदावार के मूल्य का यह सघटक, यानी, हमारे उदाहरण में, ४१० पौण्ड की रक़म हमारे हिसाब से गायब हो जायेगी, लेकिन १८० पौण्ड की रकम, यानी वह नया मूल्य, जो कि उत्पादन प्रक्रिया में पैदा हुआ

[1] "यदि हम अचल पूजी के मूल्य को मूल पूजी का ही एक भाग मानकर चलते हैं, तो हम वर्ष के अन्त मे इस प्रकार की पूजी के बचे हुए मूल्य को वार्षिक आय का एक भाग समझना पडेगा।" (Malthus *Prrnc of Pol Econ* [माल्थूस, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], दूसरा सस्करण, London 1836, पृ० २६९।)

है, या वह मूल्य, जो पदा हुआ है और जिसमें ६० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य शामिल है, तब भी उतना ही बडा रहता, जितना बडा वह उस समय होता, जब 'स्थि' बढ से बा कल्पनातीत मूल्य का प्रतिनिधित्व करता। इस हालत में पू=(०+अस्थि)=अस्थि, या विस्तारित पूजी पू′=अस्थि+अ, और इसलिए पहले की तरह ही पू′−पू=अ। दूसरी तरफ, यदि अ=०, या, दूसरे शब्दो में, यदि श्रम शक्ति से, जिसका मूल्य अस्थिर पूजी के रूप में लगाया जाता है, केवल उसका सम-मूल्य ही पैदा हो, तो पू=स्थि+अस्थि, या पदावार का मूल्य प= (स्थि+अस्थि)+०, या पू=पू′। इस हालत में मूल पूजी के मूल्य का विस्तार नहीं हो पाता।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हमें यह बात मालूम हो गयी है कि अतिरिक्त मूल्य केवल 'अस्थि' के मूल्य में, या पूजी के केवल उस भाग के मूल्य में परिवतन होने का फल होता है, जो श्रम शक्ति में रूपातरित कर दिया जाता है। चुनाचे, अस्थि+अ=अस्थि-अस्थि', या 'अस्थि' जमा 'अस्थि' की वृद्धि। लेकिन इस तथ्य पर कि केवल 'अस्थि' में ही परिवतन होता है, और उन परिस्थितियो पर, जिनमें यह परिवतन होता है, इस बात से पर्दा पड जाता है कि पूजी के अस्थिर अश में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप मूल पूजी के कुल जोड में भी वृद्धि हो जाती है। वह जोड शुरू में ५०० पौण्ड था और बाद में ५९० पौण्ड हो जाता है। इसलिए यदि हम चाहते हे कि हमारी खोज से कुछ ठीक-ठीक नतीजे निकलें, तो हमें चाहिए कि हम पदावार के मूल्य के उस भाग को अलग कर दें, जिसमें केवल स्थिर पूजी प्रकट होती है, और चुनाचे स्थिर पूजी को शून्य मानकर चलें, या यह मानकर चलें कि स्थि=०। इस प्रकार, हम गणित के केवल उस नियम का ही उपयोग करेंगे, जो सदा उस वक्त इस्तेमाल किया जाता है, जब हमें ऐसी स्थिर तथा अस्थिर मात्राओं से काम लेना पडता है, जो केवल जोड और घटाने के प्रतीको के द्वारा एक दूसरे से सम्बधित होती ह।

एक और कठिनाई अस्थिर पूजी के मूल रूप से पैदा होती है। हमारे उदाहरण में 'पू′'= ४१० पौण्ड स्थिर पूजी+९० पौण्ड अस्थिर पूजी+९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, परतु यहा ९० पौण्ड पहले से निश्चित और इसलिए एक स्थिर मात्रा है। इसलिए उसे अस्थिर मानकर चलना बेतुकी बात मालूम होती है। परतु असल में तो ९० पौण्ड अस्थिर पूजी नामक पद केवल इसी बात का प्रतीक है कि यह मूल्य एक प्रक्रिया में से गुजरता है। श्रम शक्ति की खरीद में लगाया गया पूजी का हिस्सा भौतिक रूप प्राप्त श्रम की एक निश्चित मात्रा होता है, और इसलिए खरीदी हुई श्रम शक्ति के मूल्य की भाति वह भी स्थिर मूल्य होता है। लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में ९० पौण्ड का स्थान कायरत श्रम शक्ति ले लेती है, मृत श्रम की जगह पर जीवित श्रम आ जाता है, एक निष्प्रवाह के स्थान पर प्रवाहमान और एक स्थिर वस्तु की जगह पर एक अस्थिर वस्तु आ जाती है। परिणाम यह होता है कि 'अस्थि' का पुनरुत्पादन होने के साथ-साथ 'अस्थि' में वृद्धि भी हो जाती है। अतएव, पूजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से, पूरी प्रक्रिया ऐसी प्रतीत होती है, जसे कि जो कुछ शुरू में स्थिर मूल्य था, वह श्रम शक्ति में रूपातरित हो जाने पर अपने आप बदलने लगता है। यह प्रक्रिया और उसका परिणाम दोनो उस मूल्य का फल प्रतीत होते हैं। इसलिए यदि इस प्रकार के कथन, जसे "९० पौण्ड अस्थिर पूजी" या "आत्म विस्तार करने वाला इतना मूल्य", स्वत विरोधी प्रतीत होते ह, तो उसका कारण केवल यही है कि वे पूजीवादी उत्पादन में अतर्निहित एक विरोध को सतह पर ले आते ह।

पहली दृष्टि में यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि स्थिर पूजी को शून्य के बराबर मान लिया जाये। लेकिन हम रोजमर्रा यही करते ह। मिसाल के लिए, अगर हम यह हिसाब लगाना चाहते हे कि कपास के उद्योग से इगलण्ड को कितना नफा होता है, तो हम सबसे पहले उन रकमो को घटा देते हैं, जो अमरीका, हिदुस्तान, मिश्र तथा अन्य देशो को कपास के बदले में दी जा चुकी हैं। दूसरे शब्दो में, जिस पूजी का मूल्य पैदावार के मूल्य में महज पुन प्रकट होता है, हम उसे अपने हिसाब में शून्य के बराबर मान लेते ह।

जाहिर है कि न केवल पूजी के उस भाग के साथ, जिससे अतिरिक्त मूल्य प्रत्यक्षत उत्पन्न होता है और जिसके मूल्य में होने वाले परिवर्तन का वह प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि मूल पूजी के कुल जोड के साथ भी अतिरिक्त मूल्य के अनुपात का आर्थिक दृष्टि से भारी महत्त्व होता है। इसलिए तीसरी पुस्तक में हम इस अनुपात पर पूर्ण विस्तार के साथ विचार करेंगे। यदि पूजी के एक भाग को श्रम-शक्ति में परिवर्तित होकर अपने मूल्य का विस्तार करना है, तो उसके लिए जरूरी है कि पूजी का एक और भाग उत्पादन के साधनो में बदल दिया जाये। यदि अस्थिर पूजी को अपना कार्य करना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि स्थिर पूजी उचित अनुपात में लगायी जाये। यह उचित अनुपात प्रत्येक श्रम प्रक्रिया की विशिष्ट प्राविधिक परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन किसी रासायनिक प्रक्रिया में यदि भभको तथा अन्य बर्तनो की जरूरत पडती है, तो इससे यह जरूरी नहीं हो जाता कि रसायनज्ञ अपने विश्लेषण के परिणाम पर पहुचते समय उनकी ओर ध्यान दे। यदि हम मूल्य के सृजन के साथ तथा मूल्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तन के साथ उत्पादन के साधनो के सम्बध को ध्यान में रखते हुए उनपर विचार करें और किसी और बात की ओर ध्यान न दें, तो ये साधन केवल उस सामग्री के रूप में सामने आते हैं, जिसमें मूल्य की सृजन कर्त्री, यानी श्रम-शक्ति, अपने को समावेश कर देती है। इस सामग्री का न तो स्वरूप किसी महत्त्व का होता है और न उसका मूल्य ही। जरूरत सिर्फ इतनी होती है कि यह सामग्री इतनी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो कि उत्पादन की प्रक्रिया में जो श्रम खर्च किया जाय, उसका वह अवशोषण कर ले। यह मात्रा पहले से निश्चित हो, तो सामग्री का मूल्य चाहे बढ जाये, चाहे घट जाये और चाहे तो भूमि और सागर की भाति मूल्यहीन हो जाय, उसका मूल्य के सृजन पर या मूल्य की मात्रा के परिवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा।[1]

इसलिए, सबसे पहले हम स्थिर पूजी को शून्य के बराबर मान लेते हैं। चुनाचे मूल पूजी 'स्थि + अस्थि' से 'अस्थि' में परिणत हो जाती है, और पैदावार के मूल्य (स्थि + अस्थि) + अ के बजाय अब हमारे पास महज वह मूल्य (अस्थि + अ) होता है, जो उत्पादन प्रक्रिया में उत्पन्न हुआ है। उत्पादन-प्रक्रिया में जो नया मूल्य उत्पन्न हुआ है, यदि हम उसे १८० पौण्ड मान ले, तो यह रकम उस समस्त श्रम का प्रतिनिधित्व करती है, जो उत्पादन प्रक्रिया के दौरान में खर्च किया गया है। इस रकम में से यदि हम अस्थिर पूजी के मूल्य के ६० पौण्ड घटा दें, तो हमारे पास ६० पौण्ड बच रहते ह, जो अतिरिक्त मूल्य होते हैं। ६० पौण्ड की यह रकम, अथवा 'अ',

[1] लुक्रेटियस ने जो कुछ कहा है, वह स्वत स्पष्ट है। Nil posse creari de nihilo अर्थात् शून्य मे से कुछ नही पैदा किया जा सकता। मूल्य का सृजन श्रम शक्ति का श्रम मे रूपान्तरण है। श्रम-शक्ति खुद वह ऊर्जा है, जो पोषक पदार्थ द्वारा मानव शरीर मे स्थानातरित कर दी जाती है।

उत्पादन प्रक्रिया में उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य की निरपेक्ष मात्रा को अभिव्यक्त करती है। सापेक्ष उत्पादित मात्रा, या अस्थिर पूजी की प्रतिशत वृद्धि, जाहिर है, अस्थिर पूजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात से निश्चित होती है, या उसे $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ के द्वारा व्यक्त किया जाता है। हम जो उदाहरण ले रखा है, उसमें यह अनुपात $\frac{९०}{९०}$ है, जिसका मतलब है १०० प्रतिशत की वृद्धि। अस्थिर पूजी के मूल्य की सापेक्ष वृद्धि, या अतिरिक्त मूल्य की सापेक्ष मात्रा, को म "अतिरिक्त मूल्य की दर" कहता हू।[1]

हम यह देख चुके ह कि मजदूर श्रम-प्रक्रिया के एक भाग में केवल अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, अर्थात केवल अपने जीवन-निर्वाह के साधनो का मूल्य, पैदा करता है। अब उसका काम चूकि सामाजिक श्रम-विभाजन पर आधारित एक व्यवस्था का अग होता है, इसलिए वह जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक जिन वस्तुओ का स्वय उपभोग करता है, उनको सीधे तौर पर ख़ुद पदा नहीं करता। उनके बजाय वह कोई ऐसा माल, मिसाल के लिए, सूत, पदा करता है, जिसका मूल्य इन आवश्यक वस्तुओ के मूल्य के बराबर होता है, या जिसका मूल्य उस मुद्रा के मूल्य के बराबर होता है, जिसके द्वारा ये आवश्यक वस्तुए खरीदी जा सकती ह। इस उद्देश्य के लिए खच होने वाला उसके दिन भर के श्रम का भाग उन आवश्यक वस्तुओ के मूल्य के अनुपात के अनुसार कम या ज्यादा होगा, जिनकी उसे औसतन हर दिन आवश्यकता होती है, या, जो कि एक ही बात है, वह उस श्रम-काल के अनुपात में कम या ज्यादा होगा, जिसकी इन आवश्यक वस्तुओ को पदा करने के लिए औसतन जरूरत होगी। यदि इन आवश्यक वस्तुओं का मूल्य औसतन छ घण्टे के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो मजदूर को इतना मूल्य पैदा करने के लिए औसतन छ घण्टे काम करना चाहिए। यदि वह पूजीपति के वास्ते काम करने के बजाय स्वतत्र रूप से खुद अपने लिए काम करता होता, तो भी अन्य बातो के समान रहते हुए उसे अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पैदा करने के लिए और उसके द्वारा जीवन निर्वाह के उन साधनो को प्राप्त करने के लिए, जिनकी उसे अपने को बनाये रखने – अथवा अपना पुनरुत्पादन जारी रखने – के वास्ते जरूरत होती है, इतने ही घण्टो तक श्रम करना पडता। लेकिन, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मजदूर अपने दिन भर के श्रम के जिस हिस्से में अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, मान लीजिये ३ शिलिंग, पदा करता है, उसमें वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के उस मूल्य का सम-मूल्य ही पदा करता है, जिसे पूजीपति पेशगी अदा कर चुका है।[2] इस तरह वह जो

[1] मै इस नाम का उसी ढग से प्रयोग करता हू, जिस ढग से अग्रेज लोग "rate of profit" "rate of interest" ("नफे की दर", "सूद की दर") का प्रयोग करते है। पुस्तक ३ मे हम देखेंगे कि अतिरिक्त मूल्य के नियमो को जानते ही मुनाफे की दर के लिए कोई रहस्यमयी बात नहीं रह जाती। परन्तु क्रम को उलट देने पर हम दोनो में से किसी भी चीज को नहीं समझ सकते है।

[2] [तीसरे जर्मन सस्करण में जोड़ा गया फुटनोट लेखक ने यहा अपने जमाने में प्रचलित अर्थशास्त्र सम्बधी भाषा का प्रयोग किया है। पाठक को याद होगा कि पृ० १८७ (वर्तमान संस्करण में पृ० १३८) पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वास्तव में पूजीपति मजदूर को "पेशगी" नहीं देता, बल्कि मजदूर पूजीपति को "पेशगी" देता है। – फ़्रे० ए०]

मूल्य उत्पन्न करता है, वह केवल मूल अस्थिर पूजी का स्थान ले लेता है। इसी कारण तीन शिलिंग के इस नये मूल्य का उत्पादन महज पुनरुत्पादन जसा मालूम होता है। इसलिए काय-दिवस के जिस हिस्से में यह पुनरुत्पादन होता है, उसे म "आवश्यक" श्रम काल कहता हू, और इस काल में खर्च किये जाने वाले श्रम को मैं "आवश्यक" श्रम कहता हू।[1] वह मजदूर के दष्टिकोण से आवश्यक होता है, क्योंकि वह उसके श्रम के विशिष्ट सामाजिक रूप से स्वतत्र होता है। और वह पूजी तथा पूजीपतियो के ससार के दृष्टिकोण से भी आवश्यक होता है, क्योंकि मजदूर के अस्तित्व के कायम रहने पर ही उनका अस्तित्व भी निर्भर करता है।

श्रम प्रक्रिया के दूसरे भाग में, यानी श्रम-प्रक्रिया के उस भाग में, जिसमें मजदूर का श्रम आवश्यक श्रम नहीं होता, यह तो सच कि मजदूर श्रम करता है, अर्थात श्रम शक्ति खच करता है, लेकिन उसका श्रम चूकि अब आवश्यक श्रम नहीं होता, इसलिए वह अब खुद अपने लिए मूल्य पैदा नहीं करता। अब वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, और पूजीपति के लिए उसका आकषण शून्य में से पदा की गयी किसी चीज के समान ही होता है। काम के दिन के इस हिस्से को मैंने अतिरिक्त श्रम काल का नाम दिया है, और इस काल में जो श्रम खच किया जाता है, उसे मने अतिरिक्त श्रम (surplus labour) का नाम दिया है। जिस प्रकार मूल्य को समुचित ढग से समझने के लिए उसे इतने घण्टो के श्रम का जमाव मात्र समझना आवश्यक है और जरूरी है कि उसे मूत्त रूप प्राप्त श्रम के सिवा और कुछ न समझा जाये, ठीक उसी प्रकार अतिरिक्त मूल्य को समझने के लिए यह जरूरी है कि उसे अतिरिक्त श्रम काल का जमाव मात्र समझा जाये और उसे मूर्त्त रूप प्राप्त अतिरिक्त श्रम के सिवा और कुछ न माना जाये। समाज के विभिन्न आर्थिक रूपो का मूल अतर—उदाहरण के लिए, दास-श्रम पर आधारित समाज और मजदूरी पर आधारित समाज का मूल अतर—केवल इस बात पर निभर करता है कि वास्तविक उत्पादक से, अर्थात मजदूर से, यह अतिरिक्त श्रम किस ढग से निचोडा जाता है।[2]

---

[1] इस रचना मे अभी तक हमने "आवश्यक श्रम-काल" का प्रयोग उस श्रम-काल के लिए किया है, जो किन्ही खास सामाजिक परिस्थितिया मे किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। आगे से हम उस श्रम काल के लिए भी इस नाम का प्रयाग करेंगे, जो श्रम शक्ति नामक एक खास माल के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। किसी एक पारिभाषिक शब्द को अलग अलग अर्थों मे प्रयोग करना असुविधा का कारण हो सकता है, लेकिन ऐसा काई विज्ञान नही है, जिसमे इस चीज़ से एकदम बचा जा सके। उदाहरण के लिए, गणित की निम्न शाखाओ से उसकी उच्च शाखाओ की तुलना कीजिये।

[2] हेर विल्हेल्म थ्यूसिडिडीज राश्चेर ने एक महान आविष्कार किया है। उन्हाने इस महत्त्वपूण बात का पता लगाया है कि यदि, एक तरफ, आजकल अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार का निर्माण और उसके फलस्वरूप पूजी का सचय पूजीपति की मितव्ययिता के कारण हाता है, तो, दूसरी तरफ, सभ्यता की निम्न अवस्थाओ मे बलवान निबल को बचाने के लिए मजबूर करता है। (उप० पु०, प० ७८।) क्या बचाने के लिए? श्रम? या वह फालतू धन, जिसका काई अस्तित्व नही है? क्या वजह है कि राश्चेर जैसे लाग अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति का कारण बताने के लिए केवल पूजीपति के न्यूनाधिक युक्तिसगत प्रतीत हाने वाले बहाना को बस दोहरा भर देत है? इसकी वजह उनके वास्तविक अज्ञान के अतिरिक्त यह है कि कुछ

एक तरफ चूकि अस्थिर पूजी का मूल्य तथा उस मूल्य द्वारा खरीदी हुई श्रम शक्ति का मूल्य बराबर होते हैं और इस श्रम शक्ति का मूल्य काम के दिन के आवश्यक भाग को निर्धारित करता है और दूसरी तरफ चूकि अतिरिक्त मूल्य काम के दिन के अतिरिक्त भाग के द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्थिर पूजी के साथ अतिरिक्त मूल्य का वही अनुपात होता है, जो आवश्यक श्रम के साथ अतिरिक्त श्रम का होता है, या, दूसरे शब्दो में, अतिरिक्त मूल्य की दर, अर्थात $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$। ये दोनो अनुपात, $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ और $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$, एक ही चीज को दो अलग अलग ढग से व्यक्त करते है। एक सूरत में वही चीज मूर्त्त रूप प्राप्त, समाविष्ट श्रम के रूप में, और दूसरी सूरत में वह जीवित, प्रवाहमान श्रम के रूप में व्यक्त की जाती है।

अत अतिरिक्त मूल्य की दर बिल्कुल ठीक-ठीक यह बताती है कि पूजी द्वारा श्रम शक्ति का – या पूजीपति द्वारा मजदूर का – किस मात्रा में शोषण हो रहा है।[1]

हम अपने उदाहरण में यह मानकर चल रहे है कि पैदावार का मूल्य = ४१० पौण्ड स्थिर पूजी + ९० पौण्ड अस्थिर पूजी + ९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य और मूल पूजी = ५०० पौण्ड। चूकि अतिरिक्त मूल्य = ९० पौण्ड और मूल पूजी = ५०० पौण्ड, इसलिए यदि हम प्रचलित ढग से हिसाब करें, जिसमें अतिरिक्त मूल्य की दर को मुनाफे की दर के साथ गडबडा दिया जाता है, तो अतिरिक्त मूल्य की दर १८ प्रतिशत बठती है, जो कि इतनी नीची है कि शायद मि० कैरी तथा अन्य समन्वयवादियो (harmonisers) को भी इसकी जानकारी से सुखद आश्चर्य हो। लेकिन असल में अतिरिक्त मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{पू}}$, या $\frac{\text{अ}}{\text{स्थि} + \text{अस्थि}}$, के बराबर नहीं होती, बल्कि वह $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ के बराबर होती है। और इसलिए यहा पर वह $\frac{९०}{५००}$ नहीं, बल्कि $\frac{९०}{९०}$, यानी १०० प्रतिशत है, जो कि शोषण की दिखावटी दर की पाच गुनी बठती है। जो उदाहरण हम मानकर चल रहे है, उसमें यद्यपि हमको काम के दिन की वास्तविक लम्बाई का ज्ञान नहीं है और न ही इसका ज्ञान है कि वह श्रम प्रक्रिया कितने दिन या कितने सप्ताह चलती है और कुल कितने मजदूरो से काम लिया जा रहा है, फिर भी अतिरिक्त

स्वार्थों के वकील होने के नाते ये लोग मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का वैज्ञानिक विश्लेपण करने और उससे किसी ऐसे नतीजे पर पहुचने से घबराते है, जो हो सकता है कि सत्ताधिकारियो को पसद न आये।

[1] यद्यपि अतिरिक्त मूल्य की दर बिल्कुल ठीक ठीक यह बता देती है कि श्रम शक्ति का किस मात्रा मे शोपण हो रहा है, परन्तु उससे यह कदापि नही मालूम होता कि कुल निरपेक्ष शोषण कितना हुआ है। मिसाल के लिए, यदि आवश्यक श्रम = ५ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ५ घण्टे, तो शोपण की दर १०० प्रतिशत है। परतु कुल शोपण ५ घण्टे का हुआ है। दूसरी ओर, यदि आवश्यक श्रम = ६ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ६ घण्टे, तो शोपण की दर तो पहले की तरह १०० प्रतिशत ही रहती है, मगर कुल शोपण अब २० प्रतिशत बढ जाता है और ५ से ६ घण्टे का हो जाता है।

मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ अपनी समान अभिव्यजना $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ के द्वारा हमको बिल्कुल ठीक-ठीक यह बता देती है कि काम के दिन के दो हिस्सो के बीच क्या सम्बध है। यहा पर यह सम्बध समानता का है, क्योकि दर १०० प्रतिशत है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि हमारे उदाहरण में मजदूर आधा दिन अपने लिए और आधा दिन पूजीपति के लिए काम करता है।

इसलिए, अतिरिक्त मूल्य की दर का हिसाब लगाने का तरीका सक्षेप में यह है। पहले हम पैदावार के कुल मूल्य को लेते है और स्थिर पूजी को, जो उसमें केवल पुन प्रकट होती है, शून्य के बराबर मान लेते है। जो कुछ बच रहता है, वही वह मूल्य होता है, जो माल के उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में सचमुच पैदा हुआ है। यदि अतिरिक्त मूल्य की राशि पहले से मालूम हो, तो इस बची हुई रक़म में से उसे घटाने पर हमें अस्थिर पूजी का पता चल जाता है। और, इसके विपरीत, यदि हमें अस्थिर पूजी की राशि का पहले से ज्ञान हो और अतिरिक्त मूल्य का पता लगाना हो, तो बची हुई रकम में से अस्थिर पूजी की राशि घटाकर हम उसे मालूम कर सकते ह। और यदि अस्थिर पूजी तथा अतिरिक्त मूल्य दोनो की राशि का हमें ज्ञान हो, तो हमारे लिए केवल अन्तिम क्रिया, अर्थात $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ का — यानी अस्थिर पूजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात का — पता लगाने की क्रिया ही बच रहती है।

यह तरीक़ा हालाकि इतना सरल है, फिर भी अगर हम चन्द मिसालो के जरिये पाठक को उसमें निहित नये सिद्धान्तो को लागू करने का थोडा अभ्यास करा दें, तो शायद गलत न होगा।

पहले हम एक कताई करने वाली मिल की मिसाल लेंगे, जिसमें १०,००० म्यूल तकुए हैं और जो अमरीकी कपास से न० ३२ का सूत कातती है और प्रति सप्ताह फी तकुआ १ पौण्ड सूत तयार करती है। हम मान लेते ह कि ६ प्रतिशत कपास कताई में जाया हो जाती है। ऐसी हालत में हर सप्ताह १०,६०० पौण्ड कपास खर्च होती है, जिसमें ६०० पौण्ड कपास जाया हो जाती है। अप्रल १८७१ में कपास का दाम ७$\frac{३}{४}$ पेंस फी पौण्ड था, इसलिए पूर्णांका में कच्चे माल पर ३४२ पौण्ड खर्च होते ह। तयारी सम्बन्धी मशीनों तथा तकुओ को चलाने वाली शक्ति-मशीन समेत १०,००० तकुओं की कुल लागत, मान लीजिये, एक पौण्ड प्रति तकुआ के हिसाब से १०,००० पौण्ड है। उनकी घिसाई हम १० प्रतिशत के हिसाब से १,००० पौण्ड सालाना लगाते ह, जो २० पौण्ड प्रति सप्ताह के बराबर बैठती है। इमारत का किराया हम ३०० पौण्ड सालाना, या ६ पौण्ड प्रति सप्ताह, मान लेते ह। खच होने वाला कोयला (४ पौण्ड प्रति अश्व-शक्ति की घण्टा के हिसाब से १०० अश्व-शक्ति तथा ६० घण्टे के लिए, और मिल को गरम करने के वास्ते खच किये गये कोयले को जोडकर) ११ टन प्रति सप्ताह बठता है, जिसपर ८ शिलिंग ६ पेंस फी टन की दर से ४$\frac{१}{२}$ पौण्ड प्रति सप्ताह खर्च होते हैं। गैस पर प्रति सप्ताह १ पौण्ड और तेल इत्यादि पर ४$\frac{१}{२}$ पौण्ड प्रति सप्ताह खर्च होता है। इन तमाम सहायक सामग्रियों की कुल लागत १० पौण्ड प्रति सप्ताह होती है। इसलिए एक सप्ताह की पैदावार

के मूल्य का स्थिर भाग ३७८ पौण्ड होता है। मजदूरी के रूप में प्रति सप्ताह ५२ पौण्ड खर्च होते हैं। सूत का दाम १२ $\frac{१}{४}$ पेंस फी पौण्ड है, जिसके अनुसार १०,००० पौण्ड सूत का मूल्य ५१० पौण्ड के बराबर होता है। इसलिए इस उदाहरण में अतिरिक्त मूल्य है ५१० पौण्ड−४३० पौण्ड=८० पौण्ड। पदावार के मूल्य के स्थिर भाग को हम शून्य के बराबर मान लेते है, क्योंकि वह मूल्य के सृजन में कोई हिस्सा नहीं लेता। बचते है १३२ पौण्ड, यानी प्रति सप्ताह १३२ पौण्ड का मूल्य पदा होता है। वह बराबर है ५२ पौण्ड अस्थिर पूजी + ८० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य के। इसलिए अतिरिक्त मूल्य की दर होती है $\frac{८०}{५२}$ = १५३$\frac{११}{१३}$ प्रतिशत। औसत श्रम के १० घण्टे के काम के दिन में परिणाम यह होता है आवश्यक श्रम = ३$\frac{३१}{३३}$ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ६$\frac{२}{३३}$ घण्टे।[1]

एक और मिसाल लीजिये। जकब ने १८१५ के वर्ष के लिए निम्नलिखित गणना की है। इसमें से कई मदो के आकडो का पहले ही समजन किया जा चुका है और इसलिए वह बहुत त्रुटिपूर्ण है, फिर भी ये आकडे हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त है। इस हिसाब में जकब यह मानकर चल रहे है कि गेहू का भाव ८ शिलिंग फी क्वार्टर है और गेहू की औसत उपज २२ बुशेल फी एकड है।

फी एकड कितना मूल्य पैदा होता है

	पौण्ड	शिलिंग	पेंस		पौण्ड	शिलिंग	पेंस
बीज	१	९	०	दशाश, कर एव टक्स	१	१	०
खाद	२	१०	०	लगान	१	८	०
मजदूरी	३	१०	०	किसान का मुनाफा तथा सूद	१	२	०
कुल जोड	७	९	०	कुल जोड	३	११	०

यदि यह मान लिया जाय कि पदावार का दाम वही है, जो उसका मूल्य है, तो हम यहा पाते है कि अतिरिक्त मूल्य मुनाफा, सूद, लगान आदि नामक कई मदो में बट जाता है। इन सबसे अलग अलग हमें कुछ लेना देना नहीं है। हम तो महज इन सब को एक साथ जोड लेते हैं, जिससे कुल अतिरिक्त मूल्य ३ पौण्ड ११ शिलिंग का होता है। ३ पौण्ड १९ शिलिंग की रकम, जो बीज और खाद पर खर्च होती है, स्थिर पूजी है, और उसे हम शून्य के बराबर मान लेते हैं। ३ पौण्ड १० शिलिंग की रकम बच जाती है, जो कि मूल अस्थिर पूजी है। और हम देखते

[1] ऊपर दिये गये आकड़ो पर भरोसा किया जा सकता है। वे मुझे मानचेस्टर की एक कताई मिल के मालिक से मिले थे। इगलैण्ड मे पहले इजन के सिलिंडर के व्यास से उसकी अश्व शक्ति का हिसाब लगाया जाता था। अब सूचक पर जो वास्तविक अश्व शक्ति दिखाई पड़ती है, वह पढ़ ली जाती है।

ह कि अब इसकी जगह ३ पौण्ड १० शिलिंग ० पेंस + ३ पौण्ड ११ शिलिंग ० पेंस का नया मूल्य पैदा हो गया है। इसलिए $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{३ पौण्ड ११ शिलिंग}}{\text{३ पौण्ड १० शिलिंग}}$, जिसका मतलब होता है कि यहा अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से अधिक की है। मजदूर अपने काम के दिन का आधे से ज्यादा भाग अतिरिक्त मूल्य पदा करने में लगाता है, जिसे विभिन्न व्यक्ति अलग अलग बहानो से आपस में बाट लेते हैं।[1]

अनुभाग २ – पैदावार के मूल्य के सघटकों का स्वय पैदावार के तदनुरूप सानुपातिक अशो द्वारा प्रतिनिधान

आइये, अब हम फिर उस उदाहरण की ओर लौट चले, जिसके द्वारा हमें यह बताया गया था कि पूजीपति किस प्रकार मुद्रा को पूजी में बदल डालता है।

१२ घण्टे के एक कार्य दिवस की पदावार २० पौण्ड सूत होती है, जिसका मूल्य ३० शिलिंग के बराबर है। इस मूल्य का कम से कम $\frac{८}{१०}$ भाग, अर्थात् २४ शिलिंग, उसमें उत्पादन के साधनो के मूल्य के केवल पुन प्रकट होने के कारण होता है (इन साधनो में से २० पौण्ड कपास का मूल्य २० शिलिंग है और घिसे हुए तकुए का मूल्य ४ शिलिंग है), अतएव यह स्थिर पूजी है। बचा हुआ $\frac{२}{१०}$ भाग, या ६ शिलिंग, वह नया मूल्य है, जो कताई की प्रक्रिया के दौरान में पदा हुआ है। इसमें से आधा मूल्य दिन भर की श्रम-शक्ति के मूल्य का – या अस्थिर पूजी का – स्थान लेता है। बाक़ी आधा भाग, यानी ३ शिलिंग, अतिरिक्त मूल्य होता है। चुनाचे, २० पौण्ड सूत का कुल मूल्य इन सघटको से मिलकर बना होता है

सूत का ३० शिलिंग मूल्य=२४ शिलिंग स्थिर पूजी + ३ शिलिंग अस्थिर पूजी + ३ शिलिंग अतिरिक्त मूल्य।

चूकि यह पूरा मूल्य उस २० पौण्ड सूत में मौजूद है, जो कताई की प्रक्रिया के द्वारा तयार हुआ है, इसलिए इस मूल्य के अलग-अलग सघटक अशो का निरूपण उस ढग से किया जा सकता है, मानो वे पदावार के तदनुरूप अशो में क्रमश मौजूद ह।

यदि २० पौण्ड सूत में ३० शिलिंग का मूल्य मौजूद है, तो इस मूल्य का $\frac{८}{१०}$ भाग, यानी २४ शिलिंग, जो कि उसका स्थिर अश है, पदावार के $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पौण्ड सूत में, है। इस १६ पौण्ड सूत में से १३$\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत कच्चे माल का – यानी २० शिलिंग की

[1] यहा केवल मिसाल के रूप मे यह सारा हिसाब लगाया गया है। वस्तुत हमने यहा यह मान लिया है कि दाम=मूल्य। किन्तु पुस्तक ३ मे हम देखेंगे कि औसत दामा के बारे मे भी हम इस तरह अत्यत सरल ढग से पूवकल्पना करके नही चल सकते।

कीमत की कपास का–प्रतिनिधित्व करेगा, और $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत ४ शिलिंग की क़ीमत के बराबर उत्पादन प्रक्रिया में घिस गये तकुए आदि का प्रतिनिधित्व करेगा।

इसलिए, २० पौण्ड सूत कातने में जो कुल कपास खर्च होती है, उसका प्रतिनिधित्व $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत करता है। यह सच है कि इस $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड से ज्यादा कपास नहीं होती, जिसकी क़ीमत $१३\frac{१}{३}$ शिलिंग होती है। लेकिन उसमें जो $६\frac{२}{३}$ शिलिंग का नया मूल्य मौजूद होता है, वह बाकी $६\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत की कताई में खर्च हुई कपास का सम-मूल्य होता है। असर यही होता है, जैसे इस $६\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत में कपास बिल्कुल न हो और पूरी की पूरी २० पौण्ड कपास $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में केन्द्रीभूत हो। और इस $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में न तो सहायक सामग्री तथा औजारो के मूल्य का एक भी कण और न ही उत्पादन प्रक्रिया के दौरान में पदा हुए मूल्य का लेश मात्र ही होता है।

इसी प्रकार, वह $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत, जिसमें स्थिर पूजी का बचा हुआ भाग, यानी ४ शिलिंग निहित हैं, वह उस सहायक सामग्री तथा श्रम के उन औजारों के मूल्य के सिवा और किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो २० पौण्ड सूत तैयार करने में खर्च हो चुके हैं।

अत हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि यद्यपि पैदावार का $\frac{८}{१०}$ भाग, या १६ पौण्ड सूत, एक उपयोगी वस्तु के रूप में कातने वाले के श्रम का वैसा ही फल होता है, जैसा कि इसी पैदावार का बाकी हिस्सा, फिर भी जब उसपर इस सम्बध में विचार किया जाता है, तब उसमें कताई की प्रक्रिया के दौरान में खर्च किया गया कोई श्रम नहीं होता और न ही तब वह उस श्रम का अवशोषण करता है। यह वैसी ही बात है, जैसे कपास बिना किसी की मदद के खुद-ब-खुद सूत में बदल गयी हो, जैसे उसने जो रूप धारण कर लिया है, वह केवल चालबाजी और धोखा हो। कारण कि जैसे ही हमारा पूजीपति इस सूत को २४ शिलिंग में बेच डालता है और इस मुद्रा से अपने उत्पादन के साधनो को बहाल कर देता है, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १६ पौण्ड सूत छद्म वेश में इतनी कपास और इतने तकुओ से अधिक और कुछ नहीं था।

दूसरी ओर, पदावार का बाकी $\frac{२}{१०}$ भाग, यानी ४ पौण्ड सूत, ६ शिलिंग के उस नये मूल्य के सिवा और किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो १२ घण्टे की कताई की प्रक्रिया के दौरान में उत्पन्न हुआ है। इस ४ पौण्ड सूत में कच्चे माल तथा श्रम के औजारो से जितना मूल्य स्थानातरित हुआ है, वह मानो बीच में ही रोककर उस १६ पौण्ड सूत में समाविष्ट कर दिया गया है, जो पहले कात डाला गया था। बात कुछ ऐसी लगती है, जैसे कि यह ४ पौण्ड

सूत कातने वाले ने हवा में से कात डाला हो या जैसे उसने यह ४ पौण्ड सूत उस कपास और उन तकुओं की मदद से तैयार किया हो, जिन्होंने प्रकृति की स्वयस्फूत देन होने के कारण पैदावार में तनिक भी मूल्य स्थानातरित नहीं किया है।

इस ४ पौण्ड सूत में वह सम्पूर्ण मूल्य सघटित होता है, जो कताई की प्रक्रिया में नया-नया तयार हुआ है। उसमें से आधा उत्पादन प्रक्रिया में खर्च हुए श्रम के मूल्य के सम-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, या यू कहिये कि उसमें से आधा ३ शिलिंग अस्थिर पूजी का प्रतिनिधित्व करता है, और बाक़ी आधा भाग ३ शिलिंग के अतिरिक्त मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

चूकि कातने वाले के काम के १२ घण्टे ६ शिलिंग में निहित होते हैं, इसलिए ३० शिलिंग के मूल्य के सूत में काम के ६० घण्टे निहित होंगे। और २० पौण्ड सूत में सचमुच श्रम-काल की यह मात्रा निहित होती है। कारण कि $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पौण्ड सूत में, ४८ घण्टे का वह श्रम निहित होता है, जो कताई की प्रक्रिया के आरम्भ होने के पहले ही उत्पादन के साधनो पर खच हो चुका था, और बाकी $\frac{२}{१०}$ भाग—या ४ पौण्ड सूत—में वह १२ घण्टे का काम निहित होता है, जो खुद कताई की प्रक्रिया के दौरान में किया गया था।

इसके पहले एक पृष्ठ पर हम यह देख चुके ह कि सूत का मूल्य उस सूत के उत्पादन के दौरान में पदा किये गये नये मूल्य और उत्पादन के साधनो में पहले से मौजूद मूल्य के जोड के बराबर होता है।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि पैदावार के मूल्य के विभिन्न सघटक अशो का, जो अपने-अपने काय की दृष्टि से एक दूसरे से भिन होते हैं, किस प्रकार स्वय पदावार के तदनुरूप सानुपातिक भागो द्वारा प्रतिनिधान किया जा सकता है।

पैदावार को इस तरह अलग अलग भागो में बाट देना, जिनमें से एक भाग केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, जो उत्पादन के साधनो पर पहले ही खच किया जा चुका है, या जिनमें से एक भाग केवल स्थिर पूजी का प्रतिनिधित्व करता है, एक और भाग केवल उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में खर्च किये आवश्यक श्रम का—या अस्थिर पूजी का—प्रतिनिधित्व करता है और एक और तथा अतिम भाग केवल उसी प्रक्रिया में खच किये गये अतिरिक्त श्रम का—या अतिरिक्त मूल्य का—ही प्रतिनिधित्व करता है,—पदावार को इस तरह अलग अलग भागो में बाट देना जितना सरल है, उतना ही महत्वपूर्ण है। आगे जब इस क्रिया को ऐसी पेचीदा समस्याओं पर लागू किया जायेगा, जिनको अभी तक हल नहीं किया जा सका है, तब यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

अभी ऊपर हमने जिस उदाहरण पर विचार किया है, उसमें हमने कुल पैदावार को, जो बनकर इस्तेमाल के लिए तैयार हो गयी थी, १२ घण्टे के काम के दिन का अन्तिम फल माना था। लेकिन इस कुल पैदावार का हम उसके उत्पादन की तमाम अवस्थाओ में अनुसरण कर सकते ह, और यदि हम हर अलग अलग अवस्था में तयार होने वाली आशिक पैदावार को अतिम या कुल पदावार के काय की दृष्टि से भिन भिन अश मानें, तो इस तरह भी हम उसी नतीजे पर पहुच जाते ह, जिसपर हम पहले पहुचे थे।

कातने वाला १२ घण्टे में २० पौण्ड सूत, या १ घण्टे में $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत तयार करता है। चुनाचे वह ८ घण्टे में $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड, या एक ऐसी आंशिक पदावार तयार करता है, जो मूल्य में उस तमाम कपास के बराबर होती है, जो दिन भर में काती जाती है। इसी तरह अगले १ घण्टे और ३६ मिनट की आंशिक पदावार $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत होती है। यह श्रम के उन औजारो के मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जो १२ घण्टे में खर्च हो जाते ह। उसके बाद के १ घण्टे १२ मिनट में कातने वाला ३ शिलिंग की कीमत का २ पौण्ड सूत तैयार करता है। यह मल्य उस पूरे मूल्य के बराबर होता है, जो वह अपने ६ घण्टे के आवश्यक श्रम से पदा करता है। अन्त में, वह आखिरी घण्टे तथा १२ मिनट में २ पौण्ड और सूत तयार कर देता है, जिसका मूल्य उस अतिरिक्त मूल्य के बराबर होता है, जो उसका अतिरिक्त श्रम आधे दिन में पदा कर देता है। हिसाब का यह ढग अंग्रेज कारखानेदार के रोजमर्रा के काम में आता है। वह कहेगा कि इस तरह उसे यह पता चल जाता है कि पहले ८ घण्टो में, काम के दिन के पहले $\frac{२}{३}$ भाग में, उसे अपनी कपास का मूल्य वापिस मिल जाता है और इस तरह बाकी घण्टों में उसे और चीजों का मूल्य मिलता जाता है। साथ ही यह हिसाब जोडने का बिल्कुल सही तरीका है। क्योंकि सच पूछिये तो यह वही तरीका है, जो ऊपर बताया जा चुका है। फर्क इतना है कि ऊपर यह तरीका उस स्थान पर लागू किया गया था, जिसमें सम्पूर्ण पैदावार के अलग-अलग भाग मानो बराबर बराबर पडे हुए थे, और यहा पर उसे उस काल पर लागू किया गया है, जिसमें ये अलग-अलग भाग मानो क्रमानुसार तयार होते हैं। परन्तु हिसाब के इस ढग के साथ-साथ दिमाग में कुछ बहुत ही बबर विचार भी आ सकते हैं,—खास कर उन दिमागों में, जितनी व्यावहारिक दृष्टि से मूल्य से मल्य पैदा करने की प्रक्रिया में उतनी ही दिलचस्पी है, जितनी कि सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रक्रिया को गलत ढग से समझने में है। ऐसे लोगो के दिमागों में यह विचार पदा हो सकता है कि, मिसाल के लिए, एक कातने वाला अपने काम के दिन के पहले ८ घण्टो में कपास का मूल्य पैदा करता है, या उसे बहाल करता है, अगले १ घण्टे और ३६ मिनट में वह श्रम के घिस जाने वाले औजारो का मूल्य पदा करता है, या उसे बहाल करता है, उसके बाद के १ घण्टे और १२ मिनट में वह मजदूरी का मूल्य पैदा करता है, या उसे लौटाता है, और कारखानेदार के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में वह केवल वह सुप्रसिद्ध "अन्तिम घण्टा" ही लगाता है। इस तरह, उस बेचारे कातने वाले से यह दोहरा चमत्कार सम्पन्न कराया जाता है कि वह न केवल कपास, तकुओं, भाप के इजन, कोयले तथा तेल आदि से कताई करने के साथ-साथ इन तमाम चीजों को पैदा भी करता जाता है, बल्कि वह काम के एक दिन को पाच दिनों में बदल देता है। कारण कि जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे ह, उसमें कच्चे माल तथा श्रम के औजारो के उत्पादन में बारह-बारह घण्टे के चार काम के दिनो की और उनको सूत में बदलने के लिए बारह घण्टे के ही एक और दिन की जरूरत होती है। मुनाफे के मोह में पडकर मनुष्य सहज ही ऐसे चमत्कारो में विश्वास करने लगता है, और उनको सत्य सिद्ध करने के लिए चाटुकार सिद्धान्तवेताओ की कभी कमी नहीं होती। इसका प्रमाण ऐतिहासिक ख्याति की यह निम्नलिखित घटना है।

अनुभाग ३ – सीनियर का "अन्तिम घण्टा"

नस्साउ डब्लयू० सीनियर को अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की आत्मा (bel-esprit) कहा जा सकता है, और वह जितने अपने आर्थिक "विज्ञान" के लिए प्रसिद्ध हैं, अपनी सुंदर शैली के लिए भी उतने ही विख्यात हैं। १८३६ के एक सुंदर प्रभात की बात है कि उनको आक्सफोर्ड से मानचेस्टर बुला भेजा गया, ताकि जो अर्थशास्त्र वह आक्सफोर्ड में पढ़ाया करते थे, मानचेस्टर में उसकी शिक्षा प्राप्त कर सकें। कारखानेदारों ने उनको न केवल उस Factory Act (फैक्टरी-कानून) का विरोध करने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना, जो अभी हाल में पास हुआ था, बल्कि उस दस घण्टे वाले आंदोलन का मुकाबला करने के लिए नियुक्त किया, जो फैक्टरी-कानून से भी ज्यादा खतरनाक था। व्यावहारिक मामलों में अपनी स्वाभाविक कुशाग्रता के कारण कारखानेदारों ने यह समझ लिया था कि विद्वान प्रोफेसर "wanted a good deal of finishing (विद्वान प्रोफेसर में "अभी कई आंच की कसर बाकी है")। इसीलिए उन लोगों ने प्रोफेसर साहब को लिखकर बुला भेजा था। प्रोफेसर साहब को मानचेस्टर के कारखानेदारों से जो भाषण सुनने को मिला, उसे उन्होंने एक पुस्तिका में लेखबद्ध कर दिया। उस पुस्तिका का शीर्षक था "*Letters on the Factory Act, as it affects the cotton manufacture*, London, 1837, ('फैक्टरी-कानून का सूती उद्योग पर जो असर पड़ता है, उसके सम्बंध में कुछ खत', लंदन, १८३७)। उसमें अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित उपदेशात्मक अंश भी पढ़ने को मिलता है

"मौजूदा क़ानून के मातहत, किसी ऐसी मिल में, जिसमें १८ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति काम करते हैं, ११$\frac{१}{२}$ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं कराया जा सकता, यानी ऐसी मिलों में सप्ताह में पांच दिन १२ घण्टे और शनिवार को नौ घण्टे काम कराया जा सकता है।

"अब निम्नलिखित विश्लेषण (!) से पता चलेगा कि जिस मिल में इस तरह काम कराया जाता है, उसमें कुल असल मुनाफा अंतिम घण्टे से प्राप्त होता है। मैं माने लेता हूं कि एक कारखानेदार ने १,००,००० पौण्ड की पूंजी लगायी है ८०,००० पौण्ड मिल और मशीनों में और २०,००० पौण्ड कच्चे माल और मजदूरी में। यदि यह मान लिया जाये कि पूरी पूंजी का साल में एक बार प्रत्यावर्तन हो जाता है और कुल मुनाफा १५ प्रतिशत का होता है, तो इस मिल की वार्षिक पैदावार १,१५,००० पौण्ड की कीमत का सामान होगी काम के तेईस अर्ध घण्टों में से प्रत्येक में इस १,१५,००० पौण्ड का $\frac{५}{११५}$ भाग, या $\frac{१}{२३}$ वां भाग तैयार होता है। इन तेईस $\frac{१}{२३}$ वें भागों में से, जो कुल मिलाकर १,१५,००० पौण्ड के बराबर होते हैं (constituting the whole १,१५,००० पौण्ड), बीस, यानी १,१५,००० पौण्ड में से १,००,००० पौण्ड, केवल मूल पूंजी को बहाल करते हैं, एक $\frac{१}{२३}$ वां भाग (या १,१५,००० पौण्ड में से ५,००० पौण्ड) मिल तथा मशीनों की घिसाई का हिसाब पूरा करता है। बाकी दो $\frac{१}{२३}$ वें भाग, अर्थात हर दिन के तेईस अर्ध घण्टों में से

अन्तिम दो अध घण्टे, १० प्रतिशत का असल मुनाफा पैदा करते ह। इसलिए (दामों के एक से रहते हुए) यदि फैक्टरी में साढ़े ग्यारह घण्टे के बजाय तेरह घण्टे काम कराया जा सकता और चालू पूजी में लगभग २,६०० पौण्ड और जोड दिये जायें, तो असल मुनाफे को दुगुने से भी ज्यादा किया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि काम के घण्टो में एक घण्टा प्रति दिन की कमी कर दी जाये, तो (दामो के एक से रहते हुए) असल मुनाफा नष्ट हो जायेगा, और यदि काम के घण्टो में डेढ घण्टे की कमी कर दी जाये, तो कुल मुनाफा भी नष्ट हो जायेगा।"[1]

[1] Senior, उप० पु०, पृ० १२, १३। हम उन असाधारण विचारा पर कोई टीका टिप्पणी नही करेगे, जिनका हमारे उद्देश्य के लिए कोई महत्व नही है। उदाहरण के लिए, हम इस कथन के बारे मे कुछ न कहेगे कि कारखानेदार उस रकम को भी अपने कुल या असल मुनाफे मे शामिल कर लेते हैं, जा मशीनो की घिसाई से होने वाले नुकसान का पूरा करने के लिए जरूरी होती है, या, दूसरे शब्दो मे, जिसकी मूल पूजी के एक भाग की स्थान-पूर्ति के लिए आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, यदि उनके दिये हुए आकडो की सचाई के बारे में कोई सवाल हो, तो हम उसको भी अनदेखा कर जाते हैं। लेओनाड होनर ने अपने "A Letter to Mr Senior etc", London 1837 ('मि० सीनियर के नाम एक पत्र, आदि', लन्दन, १८३७), मे यह बात सिद्ध कर दी है कि मि० सीनियर के दिये हुए आकडे उतने ही बेकार हैं, जितना कि उनका तथाकथित "विश्लेषण"। लेओनार्ड होनर १८३३ मे फैक्टरियो की जाच करने वाले कमिश्नरो मे से एक था और १८५६ तक वह फैक्टरियो का निरीक्षक—या कहना चाहिए, दोषान्वेषक रहा था। उसने अंग्रेज मजदूर-वर्ग की ऐसी सेवा की है, जिसे कभी नही भुलाया जा सकता। उसने न केवल क्रुद्ध कारखानेदारो के विरुद्ध, बल्कि उस मंत्रि-मडल के विरुद्ध भी आजीवन सघर्ष किया, जिसके लिए इस बात की अपेक्षा कि मजदूर (hands) मिलो मे कितने घण्टे काम करते हैं, इस बात का कहीं अधिक महत्त्व था कि उस सदन के निम्न सदन मे मिल-मालिको के कितने वोट मिलेगे।

सीनियर ने सिद्धान्त की दृष्टि से जो गलतिया की हैं, उनके अलावा उनका वक्तव्य बहुत उलझा हुआ भी है। वह सचमुच जो कुछ कहना चाहते थे, वह यह है कारखानेदार मजदूर से रोजाना ११ $\frac{१}{२}$ घण्टे, या २३ अध-घण्टे, काम लेता है। काम के दिन की तरह हम काम के वर्ष को भी ११ $\frac{१}{२}$ घण्टा—या २३ अध-घण्टा—का बना हुआ मान सकते हैं, बशर्ते कि वर्ष मे काम के जितने दिन हो, उनसे ११$\frac{१}{२}$ घण्टा—या २३ अध घण्टा—को गुणा कर दिया जाये। इस प्रकार इन गुणित २३ अध-घण्टा मे १,१५,००० पौण्ड की वार्षिक पैदावार होती है, इसलिए एक अध घण्टे मे १,१५,००० पौण्ड$\times\frac{१}{२३}$ की पैदावार होती है और २० अध घण्टा मे १,१५,०००$\times\frac{२०}{२३}$ पौण्ड=१,००,००० पौण्ड की पैदावार होती है, यानी २० अध घण्टा में केवल मूल पूजी बहाल होती है। बचन है ३ अध घण्टे, जिनसे १,१५,०००$\times$

और इसे प्रोफेसर साहब "विश्लेषण" कहते हैं! यदि कारखानेदारो की चीख-पुकार पर विश्वास करके उनका यह खयाल हो गया था कि मजदूर लोग दिन का अधिकाश मकानो, मशीनो, कपास, कोयला आदि के मूल्य के उत्पादन में—अर्थात उनके पुनरुत्पादन या उनकी बहाली में—खर्च करते हैं, तो उनका विश्लेषण बेकार था। उनको केवल यह उत्तर देना चाहिए था कि "महानुभावो! यदि आप लोग ११$\frac{१}{२}$ घण्टे के बजाय अपनी मिलें १० घण्टे चलाने लगेंगे, तो अन्य बातो के समान रहते हुए आपका कपास, मशीनो आदि का रोजाना खर्च भी उसी अनुपात में घट जायेगा। जितना आपका नुकसान होगा, उतनी ही बचत हो जायेगी। आपके मजदूरो को भविष्य में मूल पूजी को पैदा करने अथवा उसकी स्थान-पूर्त्ति के लिए पहले से डेढ घण्टा कम काम करना पडेगा।" दूसरी ओर, यदि प्रोफेसर साहब बिना और छानबीन किये कारखानेदारो की बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे, मगर इन मामलो के विशेषज्ञ होने के नाते विश्लेषण करना आवश्यक समझते थे, तो यह देखते हुए कि यह एक ऐसा सवाल है, जो सिर्फ काम के दिन की लम्बाई के साथ असल मुनाफे के सम्बध से ताल्लुक रखता है, उनको सबसे पहले कारखानेदारो से यह कहना चाहिए था कि उन्हे मशीनो, वर्कशापो, कच्चे माल और श्रम को एक ढेर में नहीं जमा कर देना चाहिए, बल्कि मकानो, मशीनो, कच्चे माल आदि में लगी हुई स्थिर पूजी को हिसाब में एक तरफ और मजदूरी की शकल में पेशगी दी गयी पूजी को दूसरी तरफ रखना चाहिए। यदि ऐसा करने पर प्रोफेसर साहब को यह पता चलता कि कारखानेदारो के हिसाब के मुताबिक मजदूर अपनी मजदूरी का २ अर्ध-घण्टो में पुनरुत्पादन कर देता है, या उसका स्थान भर देता है, तो फिर आगे उनको इस तरह विश्लेषण करना चाहिए था

आप के आकडो के अनुसार, मजदूर अपने अंतिम से पहले एक घण्टे में अपनी मजदूरी पैदा करता है और अंतिम घण्टे में आप लोगो का अतिरिक्त मूल्य, या असल मुनाफा, पैदा करता है। अब चूंकि समान अवधि में वह समान मूल्यो को पैदा करता है, इसलिए उसके अंतिम से पहले एक घण्टे की पैदावार का वही मूल्य होगा, जो उसके अंतिम घण्टे की पैदावार का होगा। इसके अलावा, वह कोई मूल्य तभी पैदा करता है, जब वह श्रम करता है और उसके श्रम की मात्रा उसके श्रम काल से मापी जाती है। आपके कथनानुसार,

---

$\frac{३}{२३}$ पौण्ड=१५,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यू कहिये कि बाकी तीन अर्ध घण्टा मे कुल मुनाफा होता है। इन ३ अर्ध घण्टा मे से १ मे १,१५,०००×$\frac{१}{२३}$ पौण्ड=५,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यू कहिये कि उनमे से १ अर्ध-घण्टे मे मशीनो की घिसाई पूरी होती है। बाकी २ अर्ध-घण्टा मे, अर्थात् अंतिम घण्टे मे, १,१५,०००× $\frac{२}{२३}$पौण्ड=१०,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यू कहिये कि अंतिम घण्टे मे असल मुनाफा होता है। सीनियर ने अपनी पुस्तिका मे पैदावार के अन्तिम$\frac{२}{२३}$ वें भाग को खुद काम के दिन के हिस्सा मे बदल डाला है।

श्रम-काल रोजाना ११$\frac{१}{२}$ घण्टे होता है। इन ११$\frac{१}{२}$ घण्टो में से मजदूर एक हिस्सा अपना मजदूरी पदा करने—या उसका स्थान भरने— में लगाता है और बाकी हिस्सा आपका असल मुनाफा पदा करने में खच करता है । उससे अधिक वह कुछ नहीं करता। लेकिन आप चूंकि यह मानकर चल रहे हैं कि मजदूर की मजदूरी और आपके लिए वह जो अतिरिक्त मूल्य तयार करता है, दोनो का मूल्य समान होता है, इसलिए यह बात साफ है कि वह अपना मजदूरी ५$\frac{३}{४}$ घण्टो में और आपका असल मुनाफा बाकी ५$\frac{३}{४}$ घण्टो में पदा करता है। फिर, २ घण्टो में जितना सूत तैयार होता है, उसका मूल्य चूंकि मजदूर की मजदूरी और आपके असल मुनाफे के जोड के बराबर होता है, इसलिए इस सूत के मूल्य की माप ११$\frac{१}{२}$ घण्टे होने चाहिए, जिनमें से ५$\frac{३}{४}$ घण्टे उस सूत के मूल्य की माप ह, जो अंतिम से पहले एक घण्टे में पैदा हुआ है, और ५$\frac{३}{४}$ घण्टे उस सूत के मूल्य की माप ह, जो अन्तिम घण्टे में पदा हुआ है। अब हम एक पेचीदा नुकते पर पहुच गये ह, इसलिए सावधान हो जाइये! अंतिम से पहला घण्टा काम के दिन के प्रथम घण्टे के समान एक साधारण घण्टा है, न तो वह उससे कम होता है और न ही ज्यादा। तब कातने वाला एक घण्टे में सूत की शकल में इतना मूल्य कैसे पैदा कर सकता है, जिसमें ५$\frac{३}{४}$ घण्टे का श्रम निहित है? सच तो यह है कि वह ऐसा कोई चमत्कार करके नहीं दिखाता। वह एक घण्टे में जो उपयोग मूल्य तयार करता है, वह है सूत की एक निश्चित मात्रा। इस सूत का मूल्य ५$\frac{३}{४}$ घण्टों द्वारा मापा जाता है, जिनमें से ४$\frac{३}{४}$ घण्टे बिना उसकी किसी मदद के उत्पादन के साधनों में—कपास, मशीनो आदि में—पहले ही से मौजूद थे। उसने केवल बाकी एक घण्टा उनन जोडा है। इसलिए उसकी मजदूरी चूकि ५$\frac{३}{४}$ घण्टे में पदा होती है और एक घण्टे में उत्पन्न सूत में भी ५$\frac{३}{४}$ घण्टे का काम निहित होता है, इसलिए यह किसी जादूगरी का नतीजा नहीं है कि ५$\frac{३}{४}$ घण्टे की कताई में वह जो मूल्य पदा करता है, वह एक घण्टे में काती गयी पदावार के मूल्य के बराबर होता है। यदि आपका यह खयाल है कि वह कपास, मशीनों आदि के मूल्या का पुनरुत्पादन करने या उनकी स्थान-पूर्त्ति में अपने काम के दिन का एक क्षण भी खच करता है, तो आप सरासर ग़लती कर रहे हैं। इसके विपरीत, यदि कपास तथा तकुओं के मूल्य स्वेच्छा से सूत में चले जाते हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उसका श्रम कपास तथा तकुओं को सूत में बदल देता है, या यू कहिये कि इसका कारण केवल यही है कि वह कताई करता है। इस नतीजे की वजह उसके श्रम की मात्रा नहीं, बल्कि उसका गुण है। यह सच है कि वह आधे घण्टे की अपेक्षा एक घण्टे में अधिक मूल्य सूत में स्थानांतरित

कर देता है, लेकिन वह सिफ इसलिए कि वह एक घण्टे में आधे घण्टे से ज्यादा कपास कात देता है। इसलिए, आप देखते ह कि आपका यह कथन कि मजदूर अंतिम से पहले एक घण्टे में अपनी मजदूरी का मूल्य और अंतिम घण्टे में आपका असल मुनाफा पैदा करता है, इससे अधिक और कुछ अर्थ नहीं रखता कि वह २ घण्टे में जो सूत तैयार करता है, चाहे वे दिन के पहले २ घण्टे हो या अंतिम २ घण्टे हो, उस सूत में ११$\frac{१}{२}$ घण्टे—या पूरे दिन—का श्रम निहित होता है, यानी उस सूत में दो घण्टे का उसका अपना काम और ९$\frac{१}{२}$ घण्टे का अन्य लोगो का काम निहित होता है। और मेरे इस कथन का कि मजदूर पहले ५$\frac{३}{४}$ घण्टो में अपनी मजदूरी और अंतिम ५$\frac{३}{४}$ घण्टो में आप लोगो का असल मुनाफा पदा करता है, केवल यह अर्थ है कि आप उसे पहले ५$\frac{३}{४}$ घण्टो में दाम तो देते हैं, मगर अंतिम ५$\frac{३}{४}$ घण्टो के दाम नहीं देते। श्रम-शक्ति के दाम के बजाय श्रम के दाम की बात मैं केवल इसलिए कर रहा हू कि इस समय म आप लोगो की शब्दावली का इस्तेमाल कर रहा हू। अब, महानुभावो, जिस श्रम काल के आप दाम देते ह, उसके साथ आप यदि उस श्रम काल की तुलना करें, जिसके दाम आप नहीं देते, तो आप पायेंगे कि उनका एक दूसरे के साथ वही अनुपात है, जो आधे दिन का आधे दिन के साथ होता है, इससे १०० प्रतिशत की दर निकलती है, जो मानना पडेगा कि बहुत ही बढ़िया दर है। इतना ही नहीं, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि आप अपने मजदूरो ('hands") से ११$\frac{१}{२}$ घण्टे के बजाय १३ घण्टे मेहनत कराने लगें और,—जसी कि आप से आशा की जा सकती है,—इस अतिरिक्त डेढ घण्टे में जो काम होता है, उसे यदि आप विशुद्ध अतिरिक्त श्रम मानें, तो अतिरिक्त श्रम ५$\frac{३}{४}$ घण्टे से बढकर ७$\frac{१}{४}$ घण्टो का हो जायेगा और अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढकर १२६$\frac{२}{२३}$ प्रतिशत हो जायेगी। इसलिए, आप यदि यह सोचते हें कि काम के दिन में इस तरह १$\frac{१}{२}$ घण्टा बढा देने से अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढ़कर २०० प्रतिशत या उससे भी ज्यादा हो जायेगी, या, दूसरे शब्दो में, वह बढ़कर "दुगुनी से भी ज्यादा" हो जायेगी, तो हम कहेंगे कि आप अत्यधिक आशावादी ह। दूसरी ओर, जब आपको यह डर सताता है कि श्रम के घण्टो को ११$\frac{१}{२}$ से घटाकर १० कर देने पर आपका असल मुनाफा सारे का सारा गायब हो जायेगा, तब आप अत्यधिक निराशावादी हो जाते हैं,—मनुष्य का हृदय सचमुच बडी ही विचित्र वस्तु होता है, और खास कर उस समय, जब लोग उसे धन की थैली में डाले फिरते हैं। आपका डर सवथा निराधार है। यदि

अन्य सब बातें पहले जैसी रहती है, तो अतिरिक्त श्रम ५$\frac{३}{४}$ घण्टों से कम होकर ४$\frac{३}{४}$ घण्टे का रह जायेगा, और इन ४$\frac{३}{४}$ घण्टों में आपको अतिरिक्त मूल्य की बहुत लाभदायक दर मिल जायेगी। इन ४$\frac{३}{४}$ घण्टों में आप ८२$\frac{१४}{२३}$ प्रतिशत की दर से अतिरिक्त मूल्य कमायेंगे। लेकिन यह भयानक "अन्तिम घण्टा", जिसके बारे में आपने इतनी कहानियां गढ़ रखी है, जितनी कि कयामत के दिन के पहले ईसा द्वारा एक सहस्र वर्षों तक राज्य करने की कल्पना में विश्वास करने वालो ने नहीं गढ़ीं, – वह "अन्तिम घण्टा" "all bosh" ("एकदम बकवास") है। यदि यह "अन्तिम घण्टा" जाता भी रहे, तो इससे न तो आपका असल मुनाफा खतम हो जायेगा और न ही जिन लड़के-लड़कियों को आपने नौकर रख रखा है, उनके दिमाग दूषित हो जायेंगे।[1] और जब कभी सचमुच आप लोगों का "अन्तिम घंटा" बजने

---

[1] यदि एक तरफ सीनियर ने यह साबित कर दिया था कि कारखानेदार का असल मुनाफा, अंग्रेजो के सूती उद्योग का अस्तित्व और दुनिया की मण्डी पर इंगलैण्ड का आधिपत्य – सब "काम के अंतिम घण्टे" पर निर्भर करते है, तो, दूसरी तरफ, डा० ऐण्ड्रयू उरे ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि बच्चो को और १८ वर्ष से कम आयु के लडके-लडकियो को पूरे १२ घण्टे तक फैक्टरी के स्नेह भरे एव विशुद्ध नैतिक वातावरण मे रखने के बजाय उनको एक घण्टा पहले ही बाहर निकालकर इस निर्मम एव तुच्छ ससार मे छोड दिया जायेगा, तो निठल्लेपन और व्यसनो के कारण उनकी आत्माओ को कभी मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी। १८४८ से ही फैक्टरी इंस्पेक्टर लोग इस "अंतिम" एव "निर्णायक घण्टे" को लेकर मालिको का मजाक बना रहे हैं। चुनांचे, मि० हौवेल ने अपनी ३१ मई १८५५ की रिपोर्ट मे लिखा है "यदि यह चातुर्यपूर्ण हिसाब (वह सीनियर को उद्धृत करते हैं) सही होता, तो १८५० से ही ब्रिटेन की प्रत्येक सूती फैक्टरी घाटे पर चलती होती।" ("*Reports of the Insp of Fact for the half year, ending 30th April 1855*" ['३० अप्रैल १८५५ को समाप्त होने वाली छमाही की फैक्टरियो के इंस्पेक्टरो की रिपोर्टें'], पृ० १९,२०।) १० घण्टे का बिल पास हो जाने के बाद, १८४८ मे, सन की कताई करने वाली कुछ मिलो के मालिको ने, जिनके कारखाने सख्या मे बहुत ही कम और डौर्सेट तथा सोमेर्सेट की सीमा पर जहां-तहां बिखरे हुए थे, अपने कुछ मजदूरो से जबर्दस्ती इस बिल के खिलाफ एक दरखास्त पर दस्तखत कराये। इस दरख्वास्त की एक धारा इस प्रकार थी "माता पिता के रूप मे आवेदकों का विचार है कि एक घण्टे का अतिरिक्त अवकाश उनके बच्चो के नैतिक पतन का कारण बन जायेगा, क्योंकि उनका यकीन है कि आलस्य व्यसन का जनक होता है।" इसके बारे मे ३१ अक्तूबर १८४८ की फैक्टरी रिपोर्ट मे कहा गया है "इन नेक एव कोमल-हृदय माता पिताओं के बच्चे सन कातने की जिन मिलो मे काम करते हैं, वे कच्चे माल के रेशे तथा धूल से इस बुरी तरह भरी रहती है कि कताई के कमरो मे १० मिनट खड़ा होना भी बहुत ही बुरा लगता है। कारण कि इन कमरो मे घुसते ही आपकी आखें, कान, नाक और मुह फौरन सन की धूल के इन कणों से भर जाते हैं, जिनसे बचना बड़ा असम्भव होता है, और आपको बड़ी तकलीफ हो सकती है। मशीनें इस धुआधुंध तेजी से काम करती हैं कि श्रम करने वाले को

लगे, तब आप लोग आक्सफोर्ड के उन प्रोफेसर साहब को याद कीजियेगा। और अब, सज्जनो, "हम आपसे विदा लेते ह, और भगवान करे, अब हमारी आपकी उस अधिक सुदर दुनिया में, मगर उसके पहले भेंट न हो।"

सीनियर ने "अंतिम घण्टे" के अपने युद्ध घोष का आविष्कार १८३६ में किया था।[1]

लगातार अपनी निपुणता और गति का प्रयोग करना पडता है, और सो भी कडे नियत्रण और अचूक निगरानी के वातावरण मे, और यह सचमुच बडी निदयता प्रतीत होती है कि मा वाप अपने उन बच्चो को "आलसी" बतायें, जिनको केवल भोजन का समय छोडकर पूरे १० घण्टे तक ऐसे वातावरण मे, ऐसे पेशे के साथ जकड दिया जाता है पडोस के गावा मे मजदूर जितनी देर काम करते हैं, ये बच्चे उससे ज्यादा देर तक काम करते हैं हमे साफ साफ कहना चाहिये कि "निठल्लेपन और व्यसन" की यह निदयतापूण चर्चा विशुद्ध पाखण्ड और अत्यन्त लज्जाहीन बगुलाभगती है लगभग १२ वप हुए उच्च अधिकारियो की अनुमति से सावजनिक रूप से और अत्यत गभीरतापूवक यह घोपणा की गयी थी कि कारखानेदार का सारा असल मुनाफा अतिम घण्टे के श्रम से निकलता है और इसलिये यदि काम के दिन मे एक घण्टे की कमी की जायेगी, तो उसका असल मुनाफा खतम हो जायेगा। जिस आत्मविश्वास के साथ यह घोपणा की गयी थी, उससे जनता के एक भाग को कुछ आश्चय हुआ था। हम कहते हैं कि जनता का वही भाग आज तो अपनी आखो पर विश्वास नही कर पायेगा, जब वह यह देखेगा कि "अतिम घण्टे" के गुणा के उस मूल आविष्कार का अब इतना सस्कार हो चुका है कि मुनाफे के साथ साथ उसमें नैतिकता भी शामिल हो गयी है, और चुनाचे अब यदि बच्चो के श्रम की अवधि को घटाकर पूरे १० घण्टे की कर दिया जाये, तो बच्चो के मालिको के असल मुनाफे के साथ साथ बच्चो की नैतिकता भी नष्ट हो जायेगी, क्योकि मुनाफा और नैतिकता दोना ही इस अतिम, इस निर्णायक घण्टे पर निभर करते हैं।" (देखिये *Repts Insp of Fact for 31st Oct, 1848* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० १०१।) इसी रिपाट मे आगे इन शुद्ध-हृदय कारखानेदारा की नैतिकता और पवित्रता के अनेक उदाहरण दिये गये हैं और बताया गया है कि पहले चन्द निस्सहाय मज़दूरा से इस तरह की दरखास्ता पर दस्तखत कराने के लिये और फिर इन दरखास्तो को उद्योग की एक पूरी शाखा या पूरी काउटी की दरखास्त के रूप मे ससद के सिर पर थोपने के लिये इन कारखानेदारा ने कैसी-कैसी तरकीबो, चालवाजिया और गीदड-भबकियो का और कैसी-कैसी खुशामद और धोखेधडी का प्रयोग किया। तथाकथित आर्थिक विज्ञान की वतमान अवस्था पर इस बात से काफी प्रकाश पडता है कि न तो खुद सीनियर, जिनको इतना श्रेय तो देना ही पडेगा कि बाद को उन्हाने फैक्टरी सम्बधी कानूनो का जोरदार समथन किया था, और न ही उनका पहले से आखिरी तक एक भी विरोधी सीनियर के "मौलिक आविष्कार" के गलत परिणामो को स्पष्ट नही कर पाया है। ये लोग सब के सब वास्तविक व्यवहार की दुहाई देते ह, मगर इस वास्तविक व्यवहार के असली कारण और उद्भव स्रोत रहस्या के आवरण मे छिपे रहते हैं।

[1] फिर भी यह समझना गलत होगा कि विद्वान प्रोफेसर का अपनी मानचेस्टर-यात्रा से कोई लाभ नही हुआ। *Letters on the Factory Act* ('फैक्टरी-कानून के सम्बध मे कुछ खत') मे उन्हाने "मुनाफे" और "सूद" और यहा तक कि something more ("कुछ और") के भी साथ मार

१५ अप्रल १८४८ के लन्दन के *"Economist"* में जेम्स विलसन ने यही नारा एक बार फिर बुलन्द किया। जेम्स विलसन अर्थशास्त्र की दुनिया में एक उच्चाधिकारी ह। इस बार यह नारा उन्होंने १० घण्टे के बिल के विरोध में बुलन्द किया।

अनुभाग ४ – अतिरिक्त पैदावार

पैदावार का जो भाग (अनुभाग २ में जो उदाहरण दिया गया है, उसमें २० पौण्ड का दसवा भाग, या २ पौण्ड सूत) अतिरिक्त मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, उसे हम "अतिरिक्त पैदावार" ("surplus produce") की सज्ञा देते हैं। जिस प्रकार अतिरिक्त मूल्य की दर इससे निर्धारित नहीं होती कि कुल पूजी के साथ उसका क्या सम्बध है, बल्कि वह पूजी के केवल अस्थिर भाग के साथ उसके सम्बध से निर्धारित होती है, उसी प्रकार अतिरिक्त पैदावार की सापेक्ष मात्रा इस बात से निर्धारित नहीं होती कि इस पैदावार का कुल पैदावार के बाकी हिस्से के साथ क्या अनुपात है, बल्कि वह इस बात से निर्धारित होती है कि इस पैदावार का कुल पैदावार के उस भाग के साथ क्या अनुपात है, जिसमें आवश्यक श्रम निहित है। पूजीवादी उत्पादन का मुख्य उद्देश्य एव लक्ष्य चूकि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र की दौलत इससे नहीं नापी जानी चाहिए कि कुल कितनी निरपेक्ष मात्रा का उत्पादन हुआ है, बल्कि वह इस बात से नापी जानी चाहिए कि अतिरिक्त पैदावार की सापेक्ष मात्रा कितनी है।[1]

असल मुनाफे को मजदूर के महज एक घण्टे के मुफ्त काम पर निर्भर बना दिया है। उसके एक साल पहले अपनी पुस्तक *Outlines of Political Economy* ('अर्थशास्त्र की रूपरेखा') मे, जो आक्सफोर्ड के विद्यार्थियो तथा सुसस्कृत कूपमण्डूको की शिक्षा के लिये लिखी गयी थी, उन्होने रिकार्डो के श्रम के द्वारा मूल्य को निर्धारित करने के मुकाबले मे यह "आविष्कार" किया था कि मुनाफा पूजीपति के श्रम से और सूद उसके त्याग से – या, दूसरे शब्दो मे, उसके 'abstinence ("परिवर्जन") से उत्पन्न होता है। चाल पुरानी थी, मगर "abstinence ("परिवर्जन") शब्द नया था। हेर रोश्चेर ने उसका जर्मन भाषा मे बिल्कुल सही अनुवाद Enthaltung किया है। उनके कुछ देशवासियो ने – जर्मनी के ऐरे गैरे नत्थू-खैरो ने, जिनका लैटिन का ज्ञान हेर रोश्चेर जैसा अच्छा नहीं है, – साधु सन्यासियो की तरह इस शब्द का अनुवाद "Entsagung ("परित्याग") कर डाला है।

[1] "जिस व्यक्ति की पूजी २०,००० पौण्ड है और जिसका मुनाफा २,००० पौण्ड सालाना है, उसके लिए इस बात का कोई महत्व नही होता कि उसकी पूजी १०० आदमियो को नौकर रखती है या १,००० को, और वे जो माल तैयार करते हैं, वह १०,००० पौण्ड मे बिकता है या २०,००० पौण्ड मे, बशर्ते कि उसका मुनाफा २,००० पौण्ड से कम न हो जाय। क्या राष्ट्र का वास्तविक हित भी ठीक इसी प्रकार का नही होता? यदि किसी राष्ट्र की असल आमदनी, उसका लगान और मुनाफा वही रहते हैं, तो इसका कोई महत्त्व नही है कि वह १ करोड निवासियो का राष्ट्र है या १ करोड २० लाख का।" (D Ricardo, उप० पु०, पृ० ४१६।) रिकार्डो के बहुत पहले आर्थर यग ने, जो अतिरिक्त पैदावार के तो कट्टर समर्थक थे, पर बाकी बातो मे आखें बन्द करके जो मन मे आता था, लिखते चले जाते थे और जिनकी ख्याति उनकी प्रतिभा के प्रतिलोम अनुपात मे है, कहा था एक आधुनिक राज्य मे इस तरह

आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम का जोड, अर्थात् जिस अवधि में मजदूर अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान भरता है और जिस अवधि में वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, उनका जोड ही वह वास्तविक समय होता है, जिसमें मजदूर काम करता है, अर्थात् उनका जोड काम का दिन (working day) होता है।

बटा हुआ कोई प्रान्त (जो पुरानी रोमन प्रथा के अनुसार छोटे-छोटे स्वतन्त्र किसानो मे बटा हो), उसमे चाहे जितनी अच्छी तरह खेती की जाती हो, आदमी पैदा करने (the mere purpose of breeding men) के सिवा और किस काम मे आ सकता है? और यह अपने मे बहुत ही निरर्थक काम है ("is a most useless purpose)।" (Arthur Young, "*Political Arithmetic &c*" [आर्थर यग, 'राजनीतिक गणित, इत्यादि'], London, 1774 पृ० ४७।)

"शुद्ध धन को श्रम करने वाले वर्ग के लिये हितकारी बताने की जोरदार प्रवृत्ति" होती है , "हालाकि, जाहिर है, शुद्ध होने के कारण ऐसा होना नही है।" यह प्रवृत्ति भी एक बहुत ही विचित्र चीज़ है। (Th Hopkins, '*On Rent of Land, &c*" [टोमस होपकिन्स, 'भूमि के लगान के विषय मे, इत्यादि'], London, 1828, पृ० १२६।)

दसवा अध्याय

काम का दिन

अनुभाग १ – काम के दिन की सीमाए

हम यह मानकर चले थे कि श्रम शक्ति अपने मूल्य के बराबर दामो पर ख
बेची जाती है। अन्य सब मालो की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन
आवश्यक श्रम काल से निर्धारित होता है। मजदूर के लिये दनिक जीवन निर्वाह वे
जितने साधनो की आवश्यकता होती है, यदि उनके उत्पादन में छ घण्टे लग जाते ह
दैनिक श्रम शक्ति को पैदा करने के लिये, या अपनी श्रम शक्ति की बिक्री से प्राप्त
पुनरुत्पादन करने के लिये, मजदूर को रोजाना औसतन छ घण्टे काम करना चा
तरह, उसके काम के दिन का आवश्यक भाग छ घण्टे का होता है, और इसलिये
अन्य परिस्थितियो में परिवतन नहीं होता, तब तक यह आवश्यक भाग एक निश्चित
रहता है। लेकिन इस निश्चित मात्रा के ज्ञान से अभी हमें यह नहीं मालूम होता कि
का दिन कितना लम्बा है।

मान लीजिये कि रेखा क–ख आवश्यक श्रम काल का प्रतिनिधित्व करती है
मान लीजिये, छ घण्टे के बराबर है। यदि क–ख के आगे श्रम १, ३ या ६ घण्टे
दिया जाये, तो हमारे पास तीन रेखाए और हो जाती हे

काम का दिन १	काम का दिन २	काम का दिन ३
क–––ख–ग	क–––ख––ग	क–––ख––ग

ये तीन रेखाए ७, ९ और १२ घण्टे के तीन अलग अलग काम के दिनो का प्रतिनि
ह। 'क ख' रेखा का 'ख ग' विस्तार अतिरिक्त श्रम की लम्बाई का प्रतिनिधित्व
काम का दिन चूकि 'क ख' + 'ख ग', या 'क ग' है, इसलिये वह 'ख ग' ना
मात्रा के बदलने के साथ-साथ बदलता रहता है। 'क ख' चूकि स्थिर है, इसलि
लगाकर यह हमेशा पता लगाया जा सकता है कि 'क ख' के साथ 'ख ग' का क्या

काम का दिन १ में यह अनुपात 'क ख' का $\frac{१}{६}$ है, काम के दिन २ में वह '

$\frac{३}{६}$ है और काम के दिन ३ में वह 'क ख' का $\frac{६}{६}$ है। इसके अलावा, चूकि

मूल्य की दर $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम-काल}}{\text{आवश्यक श्रम-काल}}$ के अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिये

के साथ 'ख ग' के अनुपात से मालूम हो जाती है। ऊपर जो तीन अलग-अलग काम के दिन दिये गये हैं, उनमें क्रमश यह दर $१६\frac{२}{३}$, ५० और १०० प्रतिशत है। दूसरी ओर, अकेली अतिरिक्त मूल्य की दर से हम यह नहीं जान सकते कि काम का दिन कितना लम्बा है। मिसाल के लिये, यदि यह दर १०० प्रतिशत हो, तो काम का दिन ८ घण्टे, १० घण्टे और १२ घण्टे या उससे ज्यादा का भी हो सकता है। इस दर से तो हम सिर्फ इतना ही जान पायेंगे कि काम के दिन के दो संघटक भाग—आवश्यक श्रम काल और अतिरिक्त श्रम काल—लम्बाई में बराबर हैं, परन्तु इन दो संघटक भागों में से प्रत्येक कितना लम्बा है, यह इस दर से मालूम नहीं हो पायेगा।

अतएव, काम का दिन कोई स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि एक अस्थिर मात्रा होता है। उसका एक भाग निश्चय ही स्वयं मजदूर की श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। लेकिन यह पूरी मात्रा अतिरिक्त श्रम की अवधि के साथ-साथ बदलती रहती है। इसलिये काम के दिन को निर्धारित तो किया जा सकता है, लेकिन वह खुद अपने में अनिश्चित होता है।[1]

यद्यपि काम का दिन कोई निश्चित नहीं, बल्कि एक परिवर्तनशील मात्रा होता है, फिर भी, दूसरी ओर, यह बात भी सही है कि उसमें कुछ खास सीमाओं के भीतर ही परिवर्तन हो सकते हैं। किन्तु उसकी अल्पतम सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता। जाहिर है, अगर विस्तार-रेखा 'ख ग' को, या अतिरिक्त श्रम को, शून्य के बराबर मान लिया जाये, तो एक अल्पतम सीमा मिल जाती है, अर्थात दिन का वह भाग, जिसमें मजदूर को खुद अपने जीवन निर्वाह के लिये लाजिमी तौर पर काम करना पड़ता है, उसके काम के दिन की अल्पतम सीमा हो जाता है। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर यह आवश्यक श्रम काम के दिन का केवल एक भाग ही हो सकता है, खुद काम का दिन इस अल्पतम सीमा में कभी परिणत नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, काम के दिन की एक अधिकतम सीमा होती है। उसे एक बिंदु से आगे नहीं खींचा जा सकता। यह अधिकतम सीमा दो बातों से निर्धारित होती है। पहली बात श्रम शक्ति की शारीरिक सीमा है। प्राकृतिक दिन के २४ घण्टों में मनुष्य अपनी शारीरिक जीवन शक्ति की केवल एक निश्चित मात्रा ही खर्च कर सकता है। इसी तरह एक घोड़ा भी हर दिन तो केवल ८ घण्टे ही काम कर सकता है। दिन के एक भाग में इस शक्ति को विश्राम करना चाहिये, सोना चाहिये। एक और भाग में आदमी को अपनी अन्य शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये, उसे भोजन करना, नहाना और कपड़े पहनना चाहिये। इन विशुद्ध शारीरिक सीमाओं के अलावा काम के दिन को लम्बा खींचने के रास्ते में कुछ नैतिक सीमाएं भी रुकावट डालती हैं। अपनी बौद्धिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी मजदूर को समय चाहिये, और इन आवश्यकताओं की संख्या तथा विस्तार समाज की सामान्य प्रगति द्वारा निर्धारित होते हैं।

---

[1] "एक दिन का श्रम अस्पष्ट वस्तु है, वह लम्बा भी हो सकता है और छोटा भी।" (*An Essay on Trade and Commerce Containing Observations on Taxes &c* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध, जिसमें करों के विषय में कुछ टिप्पणियां भी सम्मिलित हैं, इत्यादि'], (London 1770 पृ० ७३।)

इसलिये काम के दिन से सम्बन्धित परिवर्तन शारीरिक एव सामाजिक सीमाओं के भीतर होते हैं। लेकिन ये दोनो प्रकार की सीमाए बहुत लोचदार होती हैं, और दोना के भीतर बहुत काफी गुजाइश रहती है। चुनाचे हम कहीं तो काम का दिन ८ घण्टे का, कहीं १० घण्टे का और कहीं १२, १४, १६ या १८ घण्टे का पाते हैं। मतलब यह कि काम के दिन बहुत ही भिन्न लम्बाइयो के होते ह।

पूजीपति ने श्रम शक्ति दनिक दर पर खरीदी है। काम के एक दिन के लिये श्रम-शक्ति के उपयोग मूल्य पर पूजीपति का अधिकार होता है। इस प्रकार उसने दिन भर मजदूर से अपने लिये काम कराने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि काम के दिन की क्या परिभाषा है?[1]

काम का दिन हर हालत में प्राकृतिक दिन से छोटा होगा। लेकिन कितना छोटा? इस ultima Thule (अतिम बिन्दु) के बारे में—काम के दिन की अनिवाय सीमा के बारे में—पूजीपति के कुछ अपने विचार हैं। पूजीपति की शक्ल में वह महज मूर्तिमान पूजी होता है। उसकी आत्मा पूजी की आत्मा होती है। किन्तु पूजी केवल एक प्रेरणा से अनुप्राणित होती है। वह है उसकी मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रवृत्ति, वह है उसकी अपने स्थिर उपकरण—उत्पादन के साधनो—से अधिकतम मात्रा में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण कराने की प्रवृत्ति।[2]

पूजी मुर्दा श्रम होती है, जो डायन की तरह केवल जीवित श्रम को चूसकर ही जिन्दा रहता है, और वह जितना अधिक श्रम चूसता है, उतना ही फलता-फूलता है। मजदूर जिस समय तक काम करता है, उस समय तक पूजीपति उस श्रम शक्ति का उपभोग करता है, जिसे उसने मजदूर से खरीदा है।[3]

---

[1] यह प्रश्न सर रोबट पील के उस प्रसिद्ध प्रश्न से कहीं अधिक महत्वपूण है, जो उन्होंने बिर्मिंघम के चेम्बर आफ कामस से किया था। सर रोबट पील का प्रश्न था "पौंड क्या चीज है?" यह एक ऐसा प्रश्न था, जो केवल पूछा जा सकता था, तो इसलिये कि मुद्रा की प्रकृति के विषय मे पील भी उतने ही अधकार मे थे, जितने बिर्मिंघम के "नन्हे शिलिंग वाले" (मूल पाठ मे little shilling men का प्रयोग किया गया था, जिसके दो अर्थ हो सकते है एक तो "अवमूल्यन के समथक" और दूसरा "निकम्मे लोग")।

[2] "पूजीपति का उद्देश्य यह होता है कि उसने जितनी पूजी लगायी है, उससे अधिकतम मात्रा मे श्रम प्राप्त करने मे सफल हो (d obtenir du capital depense le plus forte somme de travail possible)।" (J G Courcelle Seneuil, *Traite theorique et pratique des entreprises industrielles*" दूसरा सस्करण, Paris 1857 पृ० ६३।)

[3] "यदि एक दिन मे एक घण्टे का श्रम जाया हो जाता है, तो व्यापारिक राज्य की कड़ी हानि होती है " "इस राज्य के श्रम करने वाले गरीबो मे विलास की वस्तुओ का बहुत बडे पमाने पर उपयोग होता है, कारखाना मे काम करने वाले लोगा मे यह बात खास तौर पर देखने मे आती है, जिसके कारण वे अपना बहुत सा समय भी खच कर डालते हैं, और समय का उपभोग सब से घातक उपभोग होता है।" (*An Essay on Trade and Commerce &c*" ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध, इत्यादि'], पृ० ४७ और १५३।)

मजदूर जो समय पूंजीपति को दे सकता है, यदि उसको वह खुद अपने हित में खर्च कर देता है, तो वह पूंजीपति को लूटता है।[1]

तब पूंजीपति मालो के विनिमय के नियम को अपना आधार बनाता है। अन्य सब खरीदारो की तरह वह भी अपने माल के उपयोग-मूल्य से अधिकतम लाभ उठाना चाहता है। पर तभी यकायक मजदूर की आवाज सुनाई पडती है, जो अभी तक उत्पादन-प्रक्रिया के शोर शराबे में दबी हुई थी। वह कहता है

मने जो माल तुम्हारे हाथ बेचा है, वह दूसरे मालो की इस भीड से इस बात में भिन्न है कि उसका उपयोग मूल्य का सृजन करता है, और वह मूल्य उसके अपने मूल्य से अधिक होता है। इसीलिये तो तुमने उसे खरीदा है। तुम्हारी दृष्टि से जो पूजी का स्वयस्फूत विस्तार है, वह मेरी दृष्टि से श्रम शक्ति का अतिरिक्त उपभोग है। मण्डी में तुम और मै केवल एक ही नियम मानते ह, और वह है मालो के विनिमय का नियम। और माल के उपभोग पर बेचने वाले का, जो माल को हस्तातरित कर चुका है, अधिकार नहीं होता, माल के उपभोग पर उस खरीदने वाले का अधिकार होता है, जिसने माल को हासिल कर लिया है। इसलिये मेरी दैनिक श्रम शक्ति के उपभोग पर तुम्हारा अधिकार है। लेकिन उसका जो दाम तुम हर रोज देते हो, वह इसके लिये काफी होना चाहिये कि म अपनी श्रम-शक्ति का रोजाना पुनरुत्पादन कर सकू और उसे फिर से बेच सकू। बढती हुई आयु इत्यादि के कारण शक्ति का जो स्वाभाविक ह्रास होता है, उसको छोडकर मेरे लिये यह सम्भव होना चाहिये कि मै हर नयी सुबह को पहले जैसे सामान्य बल, स्वास्थ्य तथा ताजगी के साथ काम कर सकू। तुम मुझे हर घडी "मितव्ययिता" और "परिवजन" का उपदेश सुनाते रहते हो। अच्छी बात है! अब म भी विवेक और मितव्ययिता से काम लूगा और अपनी एकमात्र सम्पत्ति – यानी अपनी श्रम शक्ति – के किसी भी प्रकार के मुर्खतापूण अपव्यय का परिवजन करूगा। म हर रोज अब केवल उतनी ही श्रम शक्ति खच करूगा, केवल उतनी ही श्रम शक्ति से काम करूगा, केवल उतनी ही श्रम-शक्ति को क्रियाशील बनाऊगा, जितनी उसकी सामान्य अवधि तथा स्वस्थ विकास के अनुरूप होगी। काम के दिन का मनमाना विस्तार करके, मुमकिन है, तुम एक ही दिन में इतनी श्रम शक्ति खच कर डालो, जिसे म तीन दिन में भी पुन प्राप्त न कर सकू। श्रम के रूप में तुम्हारा जितना लाभ होगा, श्रम के सार-तत्त्व के रूप में उतना ही मेरा नुकसान हो जायेगा। मेरी श्रम शक्ति का उपयोग करना एक बात है, और उसे लूटकर चौपट कर देना बिलकुल दूसरी बात है। यदि एक औसत मजदूर (उचित मात्रा में काम करते हुए) औसतन ३० वर्ष तक जिन्दा रह सकता है, तो मेरी श्रम-शक्ति का वह मूल्य, जो तुम मुझे रोज देते हो, उसके कुल मूल्य का $\frac{१}{३६५ \times ३०}$ या $\frac{१}{१०,९५०}$ वा भाग होता है। किन्तु यदि तुम मेरी श्रम शक्ति को ३० के बजाय १० वर्षों में ही खर्च कर डालते हो, तो

---

[1] 'Si le manouvrier libre prend un instant de repos l'economie sordide qui le suit des yeux avec inquietude, pretend qu'il la vole ["यदि हाथ से काम करने वाला स्वतत्र मजदूर क्षण भर के लिये विश्राम करने लगता है, तो लालची व्यवसायी, जो बडी बेचैनी से साथ उसे देख रहा है, दलील देता है कि मजदूर उसे लूट रहा है"]। (N Linguet, *Theorie des Lois Civiles &c* , London 1767 ग्रथ २, पृ० ४६६।)

तुम रोजाना मुझको मेरी श्रम-शक्ति के कुल मूल्य के $\frac{१}{३,६५०}$ के बजाय उसका $\frac{१}{१०,९५०}$, यानी उसके दैनिक मूल्य का केवल $\frac{१}{३}$ ही देते हो। इस तरह तुम मेरी वस्तु के मूल्य का $\frac{२}{३}$ भाग प्रति दिन लूट लेते हो। तुम मुझे दाम दोगे एक दिन की श्रम-शक्ति के, लेकिन इस्तेमाल करोगे ३ दिन की श्रम-शक्ति। यह हम लोगो के क़रार और विनिमय के नियम के खिलाफ है। इसलिये मै माग करता हू कि काम का दिन सामान्य लम्बाई का हो, और इस माग को मनवाने के लिये मै तुम्हारे हृदय को द्रवित करना नहीं चाहता, क्योंकि रुपये-पैसे के मामले में भावनाओ का कोई स्थान नहीं होता। मुमकिन है कि तुम एक आदर्श नागरिक हो, सम्भव है कि तुम पशु-निर्दयता निवारण-समिति के सदस्य भी हो और ऊपर से तुम्हारा साधुपन सारी दुनिया में विख्यात हो। लेकिन मेरे सामने खडे हुए तुम जिस चीज का प्रतिनिधित्व करते हो, उसकी छाती में हृदय का अभाव होता है। वहा जो कुछ धडकता सा लगता है, वह खुद मेरे दिल की आवाज है। मै सामान्य लम्बाई के काम के दिन की इसलिये माग करता हू कि दूसरे हर विक्रेता की तरह मै भी अपने माल का पूरा पूरा मूल्य चाहता हू।[1]

इस तरह, हम देखते है कि कुछ बहुत ही लोचदार सीमाओं के अलावा मालो के विनिमय का स्वरूप खुद काम के दिन पर, या अतिरिक्त श्रम पर, कोई प्रतिबध नहीं लगाता। पूजीपति जब काम के दिन को ज्यादा से ज्यादा लम्बा खींचना चाहता है, और मुमकिन हो, तो एक दिन के दो दिन बनाने की कोशिश करता है, तब वह खरीदार के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। दूसरी तरफ, उसके हाथ बेचा जाने वाला माल इस अजीब तरह का है कि उसका खरीदार एक सीमा से अधिक उसका उपयोग नहीं कर सकता, और जब मजदूर काम के दिन को घटाकर एक निश्चित एव सामान्य अवधि का दिन कर देना चाहता है, तब वह भी बेचने वाले के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। इसलिये, यहा असल में दो अधिकारो का विरोध सामने आता है, अधिकार से अधिकार टकराता है, और दोनो अधिकार ऐसे है, जिनपर विनिमय के नियम की मुहर लगी हुई है। जब समान अधिकारो की टक्कर होती है, तब बल प्रयोग द्वारा ही निर्णय होता है। यही कारण है कि पूजीवादी उत्पादन के इतिहास में, काम का दिन कितना लम्बा हो, इस प्रश्न का निर्णय एक सघर्ष के द्वारा होता है, जो सघर्ष सामूहिक पूजी – अर्थात पूजीपतियो के वर्ग – और सामूहिक श्रम – अर्थात मजदूर-वर्ग – के बीच चलता है।

---

[1] १८६०-६१ की लदन के राजगीरो की बडी हडताल काम के दिन को घटवाकर ६ घण्टे का कराने के लिये हुई थी। उस समय राजगीरो की समिति ने एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया था, जो हमारे इस मजदूर के उपरोक्त वक्तव्य से बहुत कुछ मिलता जुलता था। इस घोषणा पत्र मे हल्के व्यग्य के साथ इस बात का भी जिक्र था कि building masters (राजगीरों को नौकर रखने वाले मालिको) मे जो सबसे बडा मुनाफाखोर है, वह सर एम० पेटो नाम का व्यक्ति अपने साधुपन के लिये विख्यात है। (१८६७ के बाद इस पेटो का वही अन्त हुआ, जो स्ट्रूजबेग का हुआ था।)

कौम, जिसका उत्पादन अभी तक दास-श्रम, कृषि दास श्रम आदि की निम्न अवस्थाओं म हो ऐसी अतरराष्ट्रीय मण्डी के भवर में खिंच आती है, जिसमें उत्पादन की पूजीवादी का बोलबाला है, और जब निर्यात के लिये तैयार की गयी पैदावार की बिक्री करना ही प्रधान उद्देश्य हो जाता है, तो वैसे ही दास प्रथा, सामन्ती काल की हरी प्रथा आदि की विभीषिकाओ के साथ अत्यधिक परिश्रम की सभ्य विभीषिका भी आकर जुड जाती है। अमरीकी सघ के दक्षिणी राज्यो में जब तक उत्पादन का मुख्य उद्देश्य तात्कालिक था, तब तक वहा के हबशियो से जिस तरह काम लिया जाता था, उसका स्वरूप पितृसत्तात्मक ढग का था। लेकिन जिस अनुपात में कपास का निर्यात इन राज्यों का बनता गया, उसी अनुपात में हबशियो से अत्यधिक काम लेना और कभी-कभी तो उनकी जिदगी को ७ साल के परिश्रम में खच कर डालना स्वार्थ पर आधारित और पाई-पाई हिसाब रखने वाली एक व्यवस्था का अग बनता गया। तब श्रम करने वाले से उपयोगी की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने का सवाल नहीं रह गया था। तब तो खुद अतिरिक्त के उत्पादन का सवाल पैदा हो गया था। सामन्ती काल की हरी प्रथा के साथ भी यही हुआ जैसा कि डेन्यूब प्रदेश के राज्यो में देखने में आया (जो अब रूमानिया कहलाते ह)।

डेन्यूब प्रदेश के राज्यो में अतिरिक्त श्रम का जो मोह देखने में आया था, उसकी फैक्टरियो में पाये जाने वाले उसी प्रकार के मोह से तुलना करना विशेष रूप से रोचक है क्योंकि हरी प्रथा में अतिरिक्त श्रम का एक स्वतत्र तथा इन्द्रिय-गोचर रूप होता है।

मान लीजिये कि काम के दिन में ६ घण्टे आवश्यक श्रम के हैं और ६ घण्टे श्रम के। इसका मतलब यह हुआ कि स्वतत्र मजदूर हर सप्ताह पूजीपति को ६×६, या ३ घण्टे का अतिरिक्त श्रम देता है। यह वैसी ही बात है, जैसे वह सप्ताह में ३ दिन अपने लिये और ३ दिन पूजीपति के लिये मुफ्त काम करता हो। लेकिन यह बात खुले तौर पर दिखाई नहीं देती। अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम एक दूसरे में घुले मिले रहते ह। इसलिये इसी सम्बन्ध को मै मिसाल के लिये यह कहकर भी व्यक्त कर सकता हू कि मजदूर हर मिनट में ३० सेकण्ड अपने लिये काम करता है और ३० सेकण्ड पूजीपति के लिये, वग़ैरह, वग़ैरह। सामन्ती काल की हरी प्रथा की बात दूसरी है। वलेशिया का किसान खुद अपने जीवन निर्वाह के लिये जो आवश्यक श्रम करता है, वह उस अतिरिक्त श्रम से बिल्कुल साफ तौर पर अलग होता है, जो वह अपने सामन्त के लिये करता है। अपने लिये वह खुद अपने खेत पर श्रम करता है और सामन्त के लिये सामन्त के खेतो पर। इसलिये उसके श्रम काल के दोनो भागों का साथ-साथ और अलग अलग स्वतत्र अस्तित्व होता है। हरी-प्रथा में अतिरिक्त श्रम को बिल्कुल सही तौर पर आवश्यक श्रम से अलग कर दिया जाता है। लेकिन जहा तक आवश्यक श्रम के साथ अतिरिक्त श्रम के परिमाणात्मक सम्बन्ध का प्रश्न है, इससे कोई अन्तर नहीं पड सकता। सप्ताह में तीन दिन का अतिरिक्त श्रम, वह चाहे हरी कहलाये या मजदूरी, तीन दिन का श्रम ही रहता है, जिसके सम-मूल्य के रूप में खुद मजदूर को कुछ नहीं मिलता। लेकिन पूजीपति म अतिरिक्त श्रम का मोह जहा काम के दिन का अधिक से अधिक विस्तार करने के रूप में प्रकट होता है, वहा सामन्त में वह सीधे-सीधे हरी के दिनो की सख्या को बढ़ाने के अधिक सरल रूप में जाहिर होता है।[1]

---

[1] इसके बाद जो कुछ लिखा गया है, वह क्रीमिया के युद्ध के बाद के उत्पन्न परिवर्तनों के पहले रूमानियन प्रान्तो की स्थिति से सम्बन्ध रखता है।

डेन्यूब प्रदेश में हरी जिन्स के रूप में वसूल किये जाने वाले लगान तथा कृषि दास-प्रथा अन्य उपागों के साथ घुली-मिली रहती थी, परन्तु शासक वर्ग को दिये जाने वाले खिराज का अधिकाश हरी के रूप में होता था। जहा कहीं ऐसी स्थिति थी, वहा पर हरी-प्रथा कदाचित् ही कृषि दास प्रथा से उत्पन्न हुई थी। इसके विपरीत, ऐसी जगहों में बहुधा कृषि दास प्रथा का जन्म हरी प्रथा से हुआ था।[1] रूमानियन प्रान्तो में यही हुआ था। इन प्रान्तो में उत्पादन की मूल पद्धति सामूहिक भू-सम्पत्ति पर तो आधारित थी, पर वह स्लाव अथवा हिंदुस्तानी रूप के अनुरूप नहीं थी। भूमि के एक भाग को समाज के सदस्य निजी भूमि के रूप में अलग-अलग जोतते थे, एक और भाग, जो ager publicus (सावजनिक भूमि) कहलाता था, वे सब मिलकर जोतते थे। इस सामूहिक श्रम से जो पदावार होती थी, वह आशिक रूप से तो बुरी फसल या कोई और दुर्घटना हो जाने पर सुरक्षित कोष का काम देती थी और आशिक रूप में युद्ध, धम तथा अन्य सामूहिक कामो का खर्च चलाने के लिये सावजनिक भण्डार का काम करती थी। समय बीतने के साथ-साथ सनिक तथा धार्मिक अधिकारियो ने सामूहिक भूमि के साथ-साथ उसपर खर्च किये जाने वाले श्रम को भी हथिया लिया। स्वतंत्र किसान अपनी सामूहिक भूमि पर जो श्रम करते थे, वह सामूहिक भूमि चुराने वालो के लिये की जाने वाली हरी में बदल गया। यह हरी प्रथा विकसित होकर शीघ्र ही दासता के सम्बध में परिणत हो गयी, जिसका वास्तव में तो अस्तित्व था, पर कानूनी तौर पर उस वक्त तक नहीं था, जब तक कि ससार के मुक्तिदाता – रूस – ने कृषि दास-प्रथा का अन्त करने के बहाने उसे कानूनी नहीं करार दे दिया। १८३१ में रूसी जनरल किसेल्योव ने हरी प्रथा के जिस नियम-सग्रह की घोषणा की, जाहिर है, खुद सामन्तो ने ही उसका आदेश दिया था। इस प्रकार रूस ने एक ही झटके में डेयूब प्रदेश के प्रान्तो के धनिको को भी जीत लिया और सारे योरप के उदारपथी बौनो की कृतज्ञता भी प्राप्त कर ली।

हरी प्रथा के इस नियम-सग्रह का नाम था "*Reglement organique*"। उसके अनुसार, वलेशिया के प्रत्येक किसान को अपने तथाकथित जमींदार को जिन्स के रूप में तरह-तरह के अनेक छोटे छोटे करो के अलावा (१) १२ दिन का साधारण श्रम, (२) १ दिन का खेत का श्रम और (३) १ दिन का लकडी ढोने का श्रम देना पडता है। यानी कुल मिलाकर साल में १४ दिन का श्रम। लेकिन अर्थशास्त्र की गूढ़ समझ का परिचय देते हुए यहा

---

[1] यह बात जमनी और खास कर प्रशिया के एल्ब नदी के पूव के भाग के लिये भी सच है। १५ वी सदी मे जमनी का किसान लगभग हर जगह एक ऐसा आदमी था, जिसको पैदावार तथा श्रम के रूप मे कुछ लगान तो जरूर देना पडता था, पर वैसे, कम से कम व्यवहार मे, वह स्वतन्त्र था। ब्रैण्डनबुग, पोमेरानिया, साइलीशिया और पूर्वी प्रशिया मे नये-नये आकर बसे हुए जमन लोग तो कानून की नजरो मे भी स्वतन्त्र व्यक्ति माने जाते थे। किसानो के युद्ध मे अभिजात-वग की विजय होने से यह बात खतम हो गयी। उसके फलस्वरूप न सिफ दक्षिणी जमनी के युद्ध में पराजित होने वाले किसान फिर से गुलाम हो गये, बल्कि १६ वी सदी के मध्य से पूर्वी प्रशिया, ब्रैण्डनबुग, पोमेरानिया और साइलीशिया के और उसके बाद शीघ्र ही श्लेस्विग-होल्सटाइन के स्वतन्त्र किसान भी कृषि-दासो की अवस्था को पहुच गये। (Maurer *Fronhöfe*, iv vol —Meitzen, "*Der Boden des preussischen Staats* — Hanssen, '*Leibeigenshaft in Schleswig—Holstein* —फ्रे० ए०)

काम के दिन का साधारण श्रथ नहीं लगाया जाता, बल्कि एक श्रौसत दनिक पदावार के उत्पादन के लिये जितना समय श्रावश्यक होता है, यह काम का एक दिन माना जाता है। श्रौर यह श्रौसत दैनिक पैदावार इतनी चालाकी के साथ निर्धारित की जाती है कि कोई देव भी उसे १४ घण्टे में न पदा कर पाये। स्वय इस नियमावली में सच्चे रूसी व्यग्य का प्रदशन करते हुए बड़े नपे तुले शब्दो में यह बता दिया गया है कि काम के १२ दिनो का मतलब ३६ दिन के हाथ के श्रम की पदावार होता है, १ दिन के खेत के श्रम का श्रर्थ ३ दिन का श्रम होता है श्रौर इसी प्रकार १ दिन के लकडी ढोने के श्रम का श्रर्थ तीन दिन का श्रम होता है। दूसरे शब्दों में, कुल मिलाकर ४२ दिन की हरी करनी पडती है। इसमें तथाकथित "jobagie" श्रौर जोडनी पडेगी,—श्रसाधारण श्रवसरो पर सामन्त की जो चाकरी बजानी पडती है, यह उसका नाम है। प्रत्येक गाव को हर वर्ष श्रपनी जन-सख्या के श्रनुपात में एक निश्चित तादाद में लोग को इस प्रकार की सेवा के लिये देना पडता है। श्रनुमान किया जाता है कि वलेशिया के हरेक किसान के मत्थे इस श्रतिरिक्त हरी के १४ दिन पडते ह। इस प्रकार, नियम के श्रनुसार प्रत्येक किसान को वष में ५६ दिन हरी को नजर करने पडते ह। लेकिन वलेशिया में मौसम बहुत खराब होने के कारण, जहा तक खेती का सम्बध है, वर्ष केवल २१० दिन का होता है, जिनमें से ४० दिन इतवार के या उत्सवो के होते ह श्रौर श्रौसतन ३० दिन बुरे मौसम के कारण जाया हो जाते ह। यानी इस तरह २१० में ७० दिन गिने नहीं जाते। बचते हैं १४० दिन। इसलिये श्रावश्यक श्रम के साथ हरी का श्रनुपात होता है $\frac{५६}{८४}$, या ६६ $\frac{२}{३}$ प्रतिशत। श्रतिरिक्त मूल्य की यह दर उस दर से कहीं नीची है, जो इगलैण्ड के खेतिहर मजदूर या फक्टरी-मजदूर के श्रम का नियमन करती है। किन्तु यह तो केवल कानूनी हरी हुई। "*Reglement organique*" ने इगलैण्ड के फक्टरी-कानूनों से भी श्रधिक "उदार" भावना के साथ खुद श्रपने से बचने के सुगम साधन प्रस्तुत कर रखे ह। १२ दिन के ५६ दिन बनाने के बाद वह हरी के ५६ दिन में से प्रत्येक दिन के काम की इस तरह व्यवस्था करता है कि वह उसी दिन समाप्त न हो श्रौर उसका एक हिस्सा श्रगले रोज तक चले। मिसाल के लिए, एक दिन में एक निश्चित क्षेत्रफल की भूमि की निराई करनी पडती है। इस काम को पूरा करने के लिए, खास कर मक्का के खेतो में, इसका दुगुना समय चाहिये। खेती में कुछ तरह के श्रम के लिए कानूनी दिन का इस तरह श्रथ लगाया जाता है कि दिन मई में शुरू होकर श्रक्तूबर में खतम होता है। मोल्दाविया में इससे भी श्रधिक कठिन स्थिति है। एक सामन्त ने विजयोन्मत होकर कहा था "*Reglement organique*" के हरी के १२ दिन साल में ३६५ दिन के बराबर होते ह।[1]

यदि डेन्यूब प्रदेश के प्रान्तो का "*Reglement organique*" श्रतिरिक्त श्रम के लोभ की सकारात्मक श्रभिव्यजना थी, जिसको उसके प्रत्येक पैरे ने कानूनी मान्यता प्रदान की, तो इगलण्ड के Factory Acts (फक्टरी-कानूनो) को उसी लोभ की नकारात्मक श्रभिव्यजना समझना चाहिये। ये कानून पूजीपतियो तथा जमींदारो द्वारा शासित राज्य के बनाये हुए कुछ राजकीय नियमो के जरिये काम के दिन की लम्बाई पर जबदस्ती सीमा लगाकर

---

[1] इसका श्रौर विस्तृत वणन देखिये E Regnault के '*Histoire politique et Sociale des Principautes Danubiennes*, Paris 1855 मे (पृ० ३०४ श्रौर उससे श्रागे के पन्नों पर)।

श्रम शक्ति को अधाधुध चूसने की पूजी की प्रवृत्ति पर रोक लगाते हैं। उस मजदूर-आदोलन के अलावा, जो दिन प्रति दिन अधिक डरावना रूप धारण करता जा रहा है, कारखानो के मजदूरो के श्रम को सीमित करना उसी तरह आवश्यक हो गया था, जिस तरह इगलण्ड के खेतो में बनावटी खाद (*guano*) *का प्रयोग करना।* खेती में लालच की अधी जिस लूट ने धरती की उवरता को नष्ट कर दिया था, उसी ने उद्योग में राष्ट्र की जीवत शक्ति को मानो जड से उखाड दिया था। इगलण्ड में समय-समय पर फैलने वाली महामारिया इसका उतना ही स्पष्ट प्रमाण ह, जितना कि जर्मनी और फ्रास का गिरता हुआ सनिक स्तर।[1]

१८५० का Factory Act (फक्टरी कानून), जो आजकल (१८६७ में) लागू है, औसतन १० घण्टे के दिन की इजाजत देता है, यानी पहले पाच दिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक १२ घण्टे काम कराया जा सकता है, जिनमें आधे घण्टे की नाश्ते की और एक घण्टे की खाने को छुट्टी शामिल होती है, और इस तरह १०$\frac{१}{२}$ घण्टे काम के बचते ह, और शनिवार को सुबह छ बजे से तीसरे पहर २ बजे तक ८ घण्टे काम कराया जा सकता है, जिनमें से आधा घण्टा नाश्ते के लिए होता है। इस तरह काम के कुल ६० घण्टे बचते हैं,—पहले पाच दिन १०$\frac{१}{२}$ घण्टे रोजाना और आखिरी दिन ७$\frac{१}{२}$ घण्टे।[2] इन कानूनो के कुछ सरक्षक

---

[1] "यदि किसी प्रजाति के जीव अपनी प्रजाति के औसत आकार से अधिक वडे होते हैं, *तो आम तौर पर और कुछ सीमाओ के भीतर यह उनकी सम्पन्नता का प्रमाण होता है। जहा तक* मनुष्य का सम्बध है, यदि किन्ही भौतिक अथवा सामाजिक कारणा से उसका जितना विकास होना चाहिये, उतना नही होता, तो उसकी शारीरिक ऊचाई कम हा जाती है। योरप के उन सभी देशो मे, जिनमे अनिवाय सैनिक भरती जारी है, इस प्रथा के लागू होने के समय की अपेक्षा अब वयस्क पुरुपा की औसत ऊचाई कम हो गयी है और सैनिक सेवा के लिए उनकी सामा य योग्यता का स्तर गिर गया है। नाति (१७८६) के पहले फ्रास मे पैदल सेना मे भरती होने के लिए आवश्यक अल्पतम ऊचाई १६५ सेण्टीमीटर थी, १८१८ मे (१० माच के कानून द्वारा) उसे १५७ सेण्टीमीटर कर दिया गया, और २१ माच १८३२ के कानून के अनुसार उसे १५६ सेण्टीमीटर मे बदल दिया गया था। फ्रास मे औसतन आधे से ज्यादा आदमी ऊचाई कम होने या किसी अ य शारीरिक दुबलता के कारण फौज मे भरती नही किय जाते। १७८० मे सेक्सोनी मे सैनिक स्तर १७८ सेण्टीमीटर था। अब वह १५५ सेण्टीमीटर है। प्रशिया मे वह १५७ सेण्टीमीटर है। ६ मई १८६२ के बवेरियन गजट *Bayriche Zeitung* मे डा० मायेर का एक बयान छपा है। उसमे बताया गया है कि ६ वप के औसत का यह परिणाम है कि प्रशिया मे जा आदमी अनिवाय भरती मे बुलाये जाते हैं, उनमे एक हजार मे से ७१६ आदमी सैनिक सेवा के अयोग्य होते हैं,— ३१७ ऊचाई कम होने के कारण अयोग्य होते हैं और ३६६ शारीरिक दोपो के कारण १८५८ मे बलिन को जितने रगरूट देन चाहिये थे वह नही दे सका। उनमे १५६ आदमियो की कमी रह गयी।" (J von Liebig *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie* 1862 ७ वा सस्करण, खण्ड १, पृ० ११७, ११८।)

[2] १८५० के फैक्टरी कानून का इतिहास इसी अध्याय म आगे मिलेगा।

नियुक्त कर दिये गये ह, जो फैक्टरी-इस्पेक्टर कहलाते हैं। ये लोग सीधे गृह-मत्री के मातहत काम करते ह, और ससद के आदेशानुसार हर छमाही को उनकी रिपोर्टें प्रकाशित होती है। इन रिपोर्टों में अतिरिक्त श्रम के पूजीवादी लोभ के नियमित एव सरकारी आकडे मिल जाते है।

अब जरा इन फैक्टरी इस्पेक्टरो की बात सुनिये।[1]

"बेईमान मिल-मालिक सुबह को छ बजने के पन्द्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज्यादा) पहले काम शुरू करा देता है और शाम को ६ बजने के पन्द्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज्यादा) बाद मजदूरों को छोडता है। नाश्ते के वास्ते मजदूरों को बराय नाम जो आधा घण्टा दिया जाता है, उसमें से यह ५ मिनट शुरू में और ५ मिनट अन्त में काट लेता है, और खाने के वास्ते जो नाम मात्र का एक घण्टा मिलता है, उसमें से वह १० मिनट शुरू में और १० मिनट अन्त में काट लेता है। शनिवार को वह तीसरे पहर के २ बजने के पन्द्रह मिनट बाद तक (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज्यादा देर तक) काम कराता रहता है। इस प्रकार यह इतना श्रम मुफ्त में पा जाता है

सुबह ६ बजे के पहले	१५ मिनट
शाम को ६ बजे के बाद	१५ मिनट
नाश्ते के समय	१० मिनट
खाने के समय	२० मिनट
	६० मिनट

[1] इगलैण्ड मे आधुनिक उद्योगो के आरम्भ से १८४५ तक के काल का मैं जहा-तहा थोडा सा जिक्र भर करूगा। इस काल की जानकारी हासिल करने के लिए मैं पाठक को फ्रेडरिक एगेल्स की कृति "*Die Lage der arbeitenden Klasse in England*', Leipzig, 1845 पढने की सलाह दूगा। उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली की एगेल्स को कितनी मुकम्मिल समझ थी, इसका प्रमाण उन Factory Reports (फैक्टरी-रिपोर्टों), Reports on Mines (खानो की रिपोर्टों) आदि मे मिलता है, जो १८४५ से अब तक प्रकाशित हुई ह। और मजदूरो की हालत की छोटी से छोटी बातो का भी एगेल्स ने कितना चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, यह उनकी पुस्तक का Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) की उन सरकारी रिपोर्टों से बहुत सतही ढग से मुकाबला करने पर भी मालूम हो जाता है, जो उसके १८ २० बरस बाद (१८६३ १८६७ मे) प्रकाशित हुई थी। ये रिपोर्ट खास तौर पर उद्योग की उन शाखाओ से सम्बध रखती है, जिनपर फैक्टरी कानून १८६२ तक लागू नही हुए थे और जिनपर सच पूछिये, तो वे आज तक लागू नही हो पाये ह। इसलिए उद्योग की इन शाखाओ की जिन परिस्थितियो का एगेल्स ने वर्णन किया था, उनमे अधिकारियों के हस्तक्षेप से कोई परिवर्तन नही हुआ है, और यदि हुआ है, तो नही के बराबर। मैने अपनी ज्यादातर मिसालें १८४८ के बाद के उस स्वतत्र व्यापार के युग से ली है, उस स्वर्णिक युग से ली हैं, जिसके विषय मे स्वतत्र व्यापार की बडी फर्म के वे फेरीवाले, जो जितने जाहिल हैं, उतने ही कल्लादराज भी, इतनी लम्बी-लम्बी हाकते हैं कि जमीन आसमान एक कर देते है। बाकी, यहा पर यदि इगलैण्ड पर सबसे अधिक जोर दिया गया है, तो केवल इसलिए कि वह पूजीवादी उत्पादन का सर्वमान्य प्रतिनिधि है और केवल उसी के पास उन चीजो के आकडो का एक सतत क्रम मौजूद है, जिनपर हम यहा विचार कर रहे हैं।

पाच दिन में—३०० मिनट

शनिवार को सुबह ६ बजे के पहले	. १५ मिनट
नाश्ते के समय	१० मिनट
तीसरे पहर २ बजे के बाद	१५ मिनट
	४० मिनट
पूरे सप्ताह में	३४० मिनट

"यानी ५ घण्टे और ४० मिनट प्रति सप्ताह, जिसे यदि वर्ष के ५० सप्ताहो से गुणा कर दिया जाये (दो सप्ताह हम उतसवो के और कभी कभार काम बन्द हो जाने के छोड देते ह), तो वह कुल २७ दिन के बराबर होता है।"[1]

"यदि प्रति दिन पाच मिनट ज्यादा काम लिया जाये, तो सप्ताहो से गुणा करने पर वह साल भर में ढाई दिन की पैदावार के बराबर हो जाता है।"[2]

"सुबह को छ बजने के पहले, शाम को छ बजे के बाद और जो समय सामान्य रूप से नाश्ते तथा भोजन के लिए नियत होता है, उसके आरम्भ में और अन्त में थोडा-थोडा करके यदि कुल एक अतिरिक्त घण्टा बचा लिया जाता है, तो वह साल में लगभग १३ महीने काम लेने के बराबर हो जाता है।"[3]

अर्थ सकट के समय उत्पादन बीच में रुक जाता है, और फक्टरिया "कम समय", यानी सप्ताह के एक हिस्से के लिए ही, काम करने लगती हैं। परन्तु इन सकटो से, जाहिर है, काम के दिन को अधिक से अधिक लम्बा कर देने की प्रवृति पर कोई प्रभाव नहीं पडता। कारण कि व्यवसाय जितना मन्द पड जाता है, किये जाने वाले कारबार से उतना ही ज्यादा मुनाफा बनाना जरूरी हो जाता है। काम में जितना कम समय खच होता है, उसके उतने ही अधिक भाग को अतिरिक्त श्रम-काल में बदल देना आवश्यक हो जाता है।

चुनाचे, १८५७ से १८५८ तक जो अर्थ-सकट का काल आया था, उसके बारे में फैक्टरी-इस्पेक्टर की रिपोट में कहा गया है

"यह एक असगत सी बात प्रतीत हो सकती है कि जिन दिनो व्यापार की दशा इतनी बुरी हो, उन दिनो कहीं पर निश्चित घण्टो से ज्यादा मजदूरो से काम कराया जाये। लेकिन व्यापार की इस बुरी हालत के ही कारण बेईमान लोग उससे अनुचित लाभ उठाते ह, अतिरिक्त मुनाफा कमाते हैं "

---

[1] *Suggestions etc by Mr L Horner, Inspector of Factories* ('फैक्टरिया के इस्पेक्टर मि० एल० होनर के सुझाव, इत्यादि'), '*Factories Regulation Acts Ordered by the House of Commons to be printed 9th August, 1859* मे, पृ० ४, ५।

[2] "*Reports of the Inspectors of Factories for the half year October, 1856* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की छमाही रिपोर्ट, अक्तूबर, १८५६'), पृ० ३५।

[3] *Reports etc, 30th April 1858* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५८'), पृ० ६।

लेग्रोनाड होार ने बताया है कि "पहले छ महीनो में मेरे जिले में १२२ मिला के मालिकों ने उनसे नाता तोड लिया है, १४३ बद पडो ह," और फिर भी मजदूरो से कानूनी तौर पर निश्चित समय मे अधिक काम लिया जाता है।[1]

मि० हौवेल ने बताया है "बहुत दिनो तक तो व्यापार की मदी के कारण बहुत सी फैक्टरिया एकदम बद पडी रहीं और उनसे भी अधिक सख्या में कम समय तक काम करने लगीं। लेकिन इसकी शिकायतें मेरे पास अब भी पहले जितनी ही आती रहती हैं कि कानूनी तौर पर जो समय मजदूरो के विश्राम करने तथा भोजन के लिए नियत है, उसमें से हेरा-फेरी से दिन भर में आधे घण्टे या पौन घण्टे तक का उनका समय छीन लिया जाता है (snatched)।"

१८६१ से १८६५ तक कपास का जो भयानक सकट आया था, उस वक्त भी यही बात कुछ छोटे पैमाने पर देखने में आयी थी।[3]

"जब किसी फैक्टरी में लोग भोजन के समय या किसी और ग़ैर-कानूनी समय पर काम करते हुए पाये जाते हैं, तो कभी कभी यह बहाना बनाया जाता है कि क्या किया जाय, ये लोग नियत समय पर मिल के बाहर नहीं निकलते, और खास तौर पर शनिवार को तीसरे पहर के वक्त इन लोगो को काम (अपनी मशीनें साफ करने आदि का काम) बद करने के वास्ते मजबूर करने के लिए उनके साथ जबर्दस्ती करनी पडती है। मशीन बन्द हो जाने के बाद भी मजदूर फैक्टरी में ही काम करते रहते हैं, पर अगर मशीनें साफ करने आदि के लिए या तो सुबह छ बजे के पहले (जी हा!) और या शनिवार को तीसरे पहर के २ बजे के पहले काफी समय अलग कर दिया जाता, तो मजदूरो से इस तरह का काम न लेना पडता।"[4]

---

[1] 'Reports etc ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु०, पृ० १०।

[2] 'Reports, etc ' ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु० पृ० २५।

[3] '*Reports &c for the half year ending 30th April, 1861* ('३० अप्रैल १८६१ को समाप्त होने वाली छमाही की रिपोर्टें, इत्यादि')। देखिये '*Reports, &c 31st October 1862* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२') का परिशिष्ट न० २, पृ० ७, ५२, ५३। १८६३ की दूसरी छमाही मे फैक्टरी कानूना का अतिक्रमण करने वाली घटनाओं की सख्या बहुत बढ गयी। देखिये *Reports, &c , ending 31st October 1863* ('३१ अक्तूबर १८६३ को समाप्त होने वाली छमाही की रिपोर्टें, इत्यादि'), पृ० ७।

[4] "*Reports &c 31st October 1860*' ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६०') पृ० २३। अदालतो के सामने कारखानेदारा द्वारा दिये हुए बयानो के अनुसार, यदि मजदूरो के काम को बीच मे रोकने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो मजदूर एकदम बौखलाकर उसका विरोध करते हैं। एक विचित्र उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जून १८३६ के आरम्भ मे ड्यूज़बरी (यार्कशायर) के मजिस्ट्रेटो को सूचना मिली कि बेटले के आस-पास की ८ बडी मिलो के मालिको ने फैक्टरी-कानूनो को तोडा है। इनमे से कुछ महानुभावो पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने १२ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक की उम्र के ५ लडको से शुक्रवार को सुबह ६ बजे आरम्भ करके शनिवार को शाम के चार बजे तक काम लिया और उनको भोजन करने का समय तथा आधी रात का एक घण्टा सोने का समय छोडकर और एक भी मिनट आराम करने के लिए नहीं दिया। और इन बच्चो को ३० घण्टे का यह अनवरत श्रम "रद्दी घर" ("shoddy hole) के अन्दर करना पडा। "रद्दी घर" उस छोटी सी कोठरी को

"इससे (फैक्टरी-कानूनो को तोडकर मजदूरो से ज्यादा समय तक काम लेने से) जो नफा होता है, वह बहुतो के लिए इतने बडे लालच की चीज है कि वे उसके मोह का सवरण नहीं कर सकते। वे सोचते ह कि मुमकिन है कि वे पकड में न आयें, और जब वे यह देखते ह कि जो लोग पकडे जाते ह, उनको भी जुर्माने और खर्चे के तौर पर बहुत थोडे पसे देने पडते ह, तो वे सोचते हैं कि अगर पकडे भी गये, तब भी फायदे में ही रहेंगे [1], जिन कारखानो में दिन भर में कई बार छोटी-छोटी चोरिया करके ("by a multiplication of small thefts") अतिरिक्त समय कमाया जाता है, उनके खिलाफ मुकदमा दायर करने और इलजाम साबित करने में इस्पेक्टरो को ऐसी ऐसी कठिनाइयो का सामना करना पडता है, जिन पर काबू पाना उनके लिए असम्भव हो जाता है।"[2]

पूजी मजदूरो के भोजन तथा विश्राम करने के समय की जो ये "छोटी छोटी चोरिया" करती है, उनको फक्टरी-इस्पेक्टर "petty pilferings of minutes' ("मिनटो की छोटी-मोटी चोरिया")[3], "snatching a few minutes ("चन्द मिनट मार देना")[4] या, जसा कि खुद मजदूर अपनी खास बोली में कहते हैं, "nibbling and cribbling at meal-times ("भोजन का समय कुतर-कुतरकर चुरा लेना")[5] नामो से भी पुकारते ह।

कहते हैं, जिसमे ऊन के फटे-पुराने कपडो को फाड-फाडकर छोटे छोटे चियडे बनाये जाते हैं और जहा की हवा धूल और ऊन के रेशो वगैरह से इस बुरी तरह भरी रहती है कि वयस्क मजदूरो को भी अपने फेफडो का बचाने के लिए सदा मुह पर रूमाल बाधे रहना पडता है! अभियुक्त महानुभावो को क्वेकरो के समुदाय के मेम्बर होने के नाते धार्मिक सिद्धान्तो का इतना अधिक खयाल था कि वे ऐसे मामला मे ईश्वर की सौगध नही खा सकते थे। चुनाचे उन्होंने केवल इस बात की अभिपुष्टि की कि उन्होने तो इन अभागे बच्चो पर दया करके उनको चार घण्टे का समय सोने के लिए दिया था, मगर वे इतने जिद्दी थे कि बिस्तर पर लेटने को ही तैयार नही हुए। इन क्वेकर महानुभावो पर अदालत ने २० पौण्ड का जुर्माना किया। ड्रायडन ने शायद इन्ही लोगो के बारे मे यह लिखा था कि

> Fox full fraught in seeming sanctity
> That feared an oath but like the devil would lie
> That look d like Lent and had the holy leer,
> And durst not sin! before he said his prayer!
>
> ("सन्यासी का बाना धारे, खडी लोमडी मन को मारे!
> सत्य धर्म को शीश नवाये, झूठा की सिरमौर कहाये!
> व्रत-उपवास कभी ना टाला, नैना मे सयम की ज्वाला!
> जब तक प्रभु गुण गान न गा ले, पाप कर्म मे हाथ न डाले!")

[1] *Reports &c 31st October, 1856* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६') पृ० ३४।

[2] उप० पु०, प० ३५।

[3] उप० पु०, प० ४८।

[4] उप० पु०, पृ० ४८।

[5] उप० पु०, पृ० ४८।

यह बात साफ है कि इस वातावरण में अतिरिक्त श्रम द्वारा अतिरिक्त मूल्य का निर्माण कोई गुप्त बात नहीं होती। "यदि आप दिन भर में केवल दस मिनट तक मुझे मजदूरों से ज्यादा काम लेने की इजाजत दे दें",—एक बहुत ही प्रतिष्ठित मिल-मालिक ने मुझसे कहा था,—"तो आप मेरी जेब में हर साल एक हजार पौण्ड की रकम डाल देंगे।"[1] "क्षण मनाफे के तत्त्व होते है।"[2]

इस दृष्टि से इससे अधिक स्पष्ट चरित्रगत विशेषता और क्या हो सकता है कि पूरे वक्त काम करनेवाले मजदूरों को "full times" ("पूर्ण-कालिक") और १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को, जिनको केवल छ घण्टे काम करने की इजाजत है, "half times" ("अर्ध कालिक") की सज्ञा दी जाती है। यहा मजदूर मूर्तिमान श्रम-काल के सिवा और कुछ नहीं है। अलग अलग मजदूरों की तमाम व्यक्तिगत विशेषताए यहा पर "full times" ("पूर्ण कालिको") और "half times" ("अर्ध-कालिको") में लोप हो जाती है।[3]

अनुभाग ३ – अंग्रेजी उद्योग की वे शाखाए, जिनमे शोषण की कोई कानूनी सीमा नही है

अभी तक हमने उस विभाग में काम के दिन को लम्बा खींचने की प्रवृत्ति पर, इस मनुष्य रूपी भेडियो की अतिरिक्त श्रम की भूख पर, विचार किया है, जहा मजदूरो को इस भयानक ढग से चूसा जाता था कि, इगलैण्ड के एक पूजीवादी अर्थशास्त्री के शब्दो में, अमरीका के आदिवासियो पर स्पेनवासियो ने जो अत्याचार ढाये थे, वे भी उससे अधिक निर्दयतापूर्ण नहीं थे।[4] और उसके फलस्वरूप पूजी को आखिरकार कानूनी प्रतिबधों की जजीरो से जकड देना पडा। आइये, अब हम उत्पादन की उन शाखाओं पर विचार करें, जिनमें श्रम का शोषण या तो आज तक किसी भी प्रकार के प्रतिबधो से मुक्त है, या अभी हाल तक मुक्त था।

---

[1] उप० पु०, पृ० ४८।

[2] *Report of the Insp &c 30th April, 1860* ('इस्पेक्टर की रिपोर्ट इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'), पृ० ५६।

[3] फैक्टरियो और इस्पेक्टरो की रिपोर्टों मे, दोनो जगह इन्ही नामो का अधिकृत रूप से प्रयोग किया जाता है।

[4] "मिल मालिको का लालच उन्हे नफे के लोभ मे डालकर उनसे ऐसे ऐसे निर्दय काम कराता है कि शायद सोने के लोभ मे पडकर अमरीका को जीतने वाले स्पेनवासी भी उनसे ज्यादा बेरहमी के काम नही कर पाये थे।" (John Wade, *History of the Middle and Working Classes* [जान वेड, 'मध्य वर्ग और मजदूर-वर्ग का इतिहास]', तीसरा सस्करण, London, 1835 पृ०, ११४।) यह पुस्तक अर्थशास्त्र का एक तरह का गुटका है। और यदि उसके प्रकाशन के समय को ध्यान मे रखा जाये, तो उसके सैद्धान्तिक भाग के कुछ अश एकदम नये है, मिसाल के लिए, व्यापारिक सकटो से सम्बधित हिस्सा। लेकिन पुस्तक के ऐतिहासिक हिस्से मे बहुत हद तक सर एफ० एम० ईडेन की रचना 'गरीबों की अवस्था' (Sir F M Eden, *The State of the Poor* London 1797) की निर्लज्जतापूर्वक नकल की गयी है।

१४ जनवरी १८६० को नोटिंघम के सभा-भवन में एक सभा हुई थी। उसके अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए काउंटी-मजिस्ट्रेट मि० ब्राउटन चार्लटन ने कहा था "कि लैस के व्यापार से सम्बंध रखने वाले आबादी के एक हिस्से में ऐसी गरीबी और ऐसी कष्टप्रद स्थिति है, जो राज्य के अन्य भागों में, बल्कि कहना चाहिये कि पूरे सभ्य संसार में और कहीं पर नहीं पायी जाती नौ-नौ, दस-दस बरस के बच्चों को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गंदे बिस्तरों से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज में उनको सिर्फ इतने पैसे दिये जाते हैं, जिनसे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं। इन बच्चों के अंग दुर्बल होते जाते हैं, उनके ढांचे मानो छोटे और चेहरे खून की कमी से एकदम सफेद हो जाते हैं तथा उनकी मानवता का एक ऐसी पत्थर जैसी निद्रावस्था में सर्वथा लोप होता जाता है, जिसके बारे में सोचने से भी डर लगता है हमें इस बात से कोई आश्चर्य नहीं है कि मि० मैलट या कोई और कारखानेदार इस बहस का विरोध करने के लिए खडे हो जाते हैं रेवरेण्ड मोण्टेगू वैल्पी ने जिस व्यवस्था का वर्णन किया है, वह सामाजिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से निर्मम दासता की व्यवस्था है उस शहर के बारे में कोई क्या सोचेगा, जो यह मांग करने के लिए सार्वजनिक सभा करता है कि पुरुषों का श्रम-काल घटाकर अठारह घण्टे कर दिया जाये? हम वर्जीनिया और करोलिना के कपास-बागानों के मालिकों को अपने भाषणों में बहुत बुरा भला कहते हैं। क्या उनका हबशी व्यापार, उनका कोड़ा और मानव शरीरों की उनकी बिक्री मानव जाति के इस बलिदान से अधिक घृणित है, जो केवल इस उद्देश्य के लिए धीरे धीरे होता रहता है कि वेइल और कालर तैयार होते रहें और पूंजीपति खूब हाथ रंगते रहें?"[1]

पिछले २२ वर्ष में संसद के आदेश पर स्टेफर्डशायर के मिट्टी के बरतन बनाने के कारखानों (potteries) की तीन बार जांच हो चुकी है। जांच का नतीजा मि० स्क्रिवेन की १८४१ की उस रिपोर्ट में निहित है, जो उन्होंने *"Children's Employment Commissioners"* ("बाल-सेवायोजन आयोग के सदस्यों") को दी थी, इसका नतीजा डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की उस रिपोर्ट में निहित है, जो प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफसर के आदेश से प्रकाशित हुई थी (*"Public Health'* ['सार्वजनिक स्वास्थ्य'], तीसरी रिपोर्ट, ११२-११३), और, अंत में, इस जांच का नतीजा मि० लौंग की १८६२ की रिपोर्ट में दर्ज है, जो *"First Report of the Children's Employment Commission, of the 13th June, 1863"* ('बाल सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, १३ जून १८६३') में प्रकाशित हुई है। मेरे मतलब के लिए १८६० और १८६३ की रिपोर्टों से खुद शोषित बच्चों के बयानों के कुछ अंश उद्धृत कर देना ही काफी होगा। बच्चों की हालत से हम वयस्कों की और खास कर लडकियों और औरतों की हालत का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, और वह भी उद्योग की एक ऐसी शाखा में, जिसके मुकाबले में कपास की कताई का उद्योग एक बडा आरामदेह और स्वास्थ्यप्रद धंधा प्रतीत होता है।[2]

[1] '*Daily Telegraph*', १७ जनवरी १८६०।

[2] देखिये F Engels *Lage der arbeitenden Klasse in England* Leipzig, 1845 पृ० २४६-२५१।

यह बात साफ है कि इस वातावरण में अतिरिक्त श्रम द्वारा अतिरिक्त मूल्य का निर्माण कोई गुप्त बात नहीं होती। "यदि आप दिन भर में केवल दस मिनट तक मुझे मजदूरों से ज्यादा काम लेने की इजाजत दे दें", —एक बहुत ही प्रतिष्ठित मिल-मालिक ने मुझसे कहा था, —"तो आप मेरी जेब में हर साल एक हजार पौण्ड की रकम डाल देंगे।"[1] "क्षण मुनाफे के तत्त्व होते है।"[2]

इस दृष्टि से इससे अधिक स्पष्ट चरित्रगत विशेषता और क्या हो सकती है कि पूरे वक्त काम करनेवाले मजदूरों को "full times" ("पूर्ण-कालिक") और १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को, जिनको केवल छ घण्टे काम करने की इजाजत है, "half times" ("अर्ध कालिक") की सज्ञा दी जाती है। यहां मजदूर मूर्तिमान श्रम-काल के सिवा और कुछ नहीं है। अलग अलग मजदूरो की तमाम व्यक्तिगत विशेषताए यहां पर 'full times ("पूर्ण कालिको") और "half times" ("अर्ध-कालिको") में लोप हो जाती है।[3]

अनुभाग ३ – अग्रेजी उद्योग की वे शाखाए, जिनमे शोषण की कोई कानूनी सीमा नहीं है

अभी तक हमने उस विभाग में काम के दिन को लम्बा खींचने की प्रवृत्ति पर, इस मनुष्य रूपी भेडियो की अतिरिक्त श्रम की भूख पर, विचार किया है, जहा मजदूरो को इस भयानक ढग से चूसा जाता था कि, इगलण्ड के एक पूजीवादी अर्थशास्त्री के शब्दो में, अमरीका के आदिवासियो पर स्पेनवासियो ने जो अत्याचार ढाये थे, वे भी उससे अधिक निर्दयतापूर्ण नहीं थे।[4] और उसके फलस्वरूप पूजी को आखिरकार कानूनी प्रतिबधो की जजीरो से जकड देना पडा। आइये, अब हम उत्पादन की उन शाखाओ पर विचार करें, जिनमें श्रम का शोषण या तो आज तक किसी भी प्रकार के प्रतिबधो से मुक्त है, या अभी कल तक मुक्त था।

---

[1] उप० पु०, पृ० ४८।

[2] '*Report of the Insp &c 30th April, 1860* ('इसपेक्टर की रिपोर्ट इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'), पृ० ५६।

[3] फैक्टरियो और इसपेक्टरो की रिपोर्टों मे, दोनो जगह इन्ही नामो का अधिकृत रूप में प्रयोग किया जाता है।

[4] "मिल मालिको का लालच उन्हे नफे के लोभ मे डालकर उनसे ऐसे ऐसे निर्दय काम कराता है कि शायद सोने के लोभ मे पडकर अमरीका को जीतने वाले स्पेनवासी भी उनसे ज्यादा बेरहमी से काम नही कर पाये थे।" (John Wade "*History of the Middle and Working Classes*" [जान वेड, 'मध्य वर्ग और मजदूर वर्ग का इतिहास]', तीसरा सस्करण, London 1835 पृ०, ११४।) यह पुस्तक अर्थशास्त्र का एक तरह का गुटका है। और यदि उसके प्रकाशन के समय को ध्यान मे रखा जाये, तो उसके सैद्धान्तिक भाग के कुछ अश एकदम नये हैं, मिसाल के लिए, व्यापारिक सकटो से सम्बधित हिस्सा। लेकिन पुस्तक के ऐतिहासिक हिस्से मे बहुत हद तक सर एफ० एम० ईडेन की रचना 'गरीबों की अवस्था' (Sir F M Eden *The State of the Poor* London, 1797) की निर्लज्जतापूर्वक नकल की गयी है।

१४ जनवरी १८६० को नोटिघम के सभा-भवन में एक सभा हुई थी। उसके अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए काउटी-मजिस्ट्रेट मि० ब्राउटन चालटन ने कहा था "कि लस के व्यापार से सम्बध रखने वाले आबादी के एक हिस्से में ऐसी गरीबी और ऐसी कष्टप्रद स्थिति है, जो राज्य के अन्य भागों में, बल्कि कहना चाहिये कि पूरे सभ्य ससार में और कहीं पर नहीं पायी जाती नौ नौ, दस दस बरस के बच्चो को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गदे बिस्तरो से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज में उनको सिर्फ इतने पैसे दिये जाते है, जिनसे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते है। इन बच्चो के अग दुबल होते जाते है, उनके ढाचे मानो छोटे और चेहरे खून की कमी से एकदम सफेद हो जाते है तथा उनकी मानवता का एक ऐसी पत्थर जसी निद्रावस्था में सर्वथा लोप होता जाता है, जिसके बारे में सोचने से भी डर लगता है हमें इस बात से कोई आश्चय नहीं है कि मि० मलट या कोई और कारखानेदार इस बहस का विरोध करने के लिए खडे हो जाते हैं रेवरेण्ड मोण्टेगू वेल्पी ने जिस व्यवस्था का वर्णन किया है, वह सामाजिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से निमम दासता की व्यवस्था है उस शहर के बारे में कोई क्या सोचेगा, जो यह माग करने के लिए सावजनिक सभा करता है कि पुरुषो का श्रम काल घटाकर अठारह घण्टे कर दिया जाये? हम वर्जीनिया और करोलिना के कपास बागानो के मालिको को अपने भाषणो में बहुत बुरा-भला कहते हैं। क्या उनका हबशी-व्यापार, उनका कोडा और मानव शरीरो की उनकी बिक्री मानव जाति के इस बलिदान से अधिक घृणित है, जो केवल इस उद्देश्य के लिए धीरे धीरे होता रहता है कि वेइल और कालर तयार होते रहें और पूजीपति खूब हाथ रगते रहे?"[1]

पिछले २२ वष में ससद के आदेश पर स्टेफर्डशायर के मिट्टी के बतन बनाने के कारखानो (potteries) की तीन बार जाच हो चुकी है। जाच का नतीजा मि० स्क्रिवेन की १८४१ की उस रिपोर्ट में निहित है, जो उन्होने *"Children's Employment Commissioners"* ("बाल-सेवायोजन आयोग के सदस्यो") को दी थी, इसका नतीजा डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की उस रिपोर्ट में निहित है, जो प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफसर के आदेश से प्रकाशित हुई थी (*"Public Health"* ['सावजनिक स्वास्थ्य'], तीसरी रिपोर्ट, ११२-११३), और, अन्त में, इस जाच का नतीजा मि० लॉग की १८६२ की रिपोर्ट में दर्ज है, जो *"First Report of the Children's Employment Commission, of the 13th June, 1863* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, १३ जून १८६३') में प्रकाशित हुई है। मेरे मतलब के लिए १८६० और १८६३ की रिपोर्टों से खुद शोषित बच्चो के बयानो के कुछ अश उदधृत कर देना ही काफी होगा। बच्चो की हालत से हम वयस्को की और खास कर लडकियो और औरतो की हालत का कुछ अनुमान लगा सकते है, और वह भी उद्योग की एक ऐसी शाखा में, जिसके मुकाबले में कपास की कताई का उद्योग एक बडा आरामदेह और स्वास्थ्यप्रद धधा प्रतीत होता है।[2]

[1] *Daily Telegraph* १७ जनवरी १८६०।

[2] देखिये F Engels *'Lage der arbeitenden Klasse in England* Leipzig, 1845 पृ० २४९–२५१।

६ वर्ष के विलियम वुड ने जब काम करना आरम्भ किया था, तब उसकी उम्र ७ बरस और १० महीने की थी। शुरू से ही यह "ran moulds ("साचे ढोता था") (यानी साचे में ढली हुई वस्तुओ को सुखाने के कमरे में ले जाता था और फिर खाली साचों को वहा से वापिस लाता था)। हर रोज वह सुबह को छ बजे आता था और रात को ६ बजे काम करना बन्द करता था। उसने बताया "हफ्ते में छ दिन म रात को ६ बजे तक काम करता हू। ७ या ८ हफ्ते तक मने इस तरह काम किया है।" ७ वर्ष के बच्चे से पन्द्रह घण्टे रोजाना की मेहनत! १२ वष के जे० मुरे ने बताया "म मिट्टी छानता हूं और साचे ढोता हू (I turn jigger and run moulds)। म ६ बजे काम पर आता हू। कभी कभी ४ बजे ही। कल म पूरी रात काम करता रहा—आज सुबह छ बजे तक। म परसो रात से बिस्तर पर नहीं लेटा हू। कल रात ८ या ६ लडके और काम कर रहे थे। एक को छोडकर बाक़ी सब आज भी काम पर आये हैं। मुझे ३ शिलिंग और ६ पेंस मिलते ह। रात को काम करने के एवज में मुझे इससे ज्यादा नहीं मिलता। पिछले सप्ताह मने दो रात काम किया था।" फेर्नीहाऊ नामक दस वष के एक बालक न बताया "(भोजन के लिए) मुझे हमेशा एक घण्टा नहीं मिलता। कभी कभी, जसे बहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार को, केवल आधा घण्टा ही मिलता है।"[1]

डा० ग्रीनहाऊ ने बताया है कि ट्रेण्ट नदी पर स्थित-स्टोक (Stoke on Trent) और वोल्सटेण्टन नामक मिट्टी के बतन बनाने वाले डिस्ट्रिक्टो में लोगो की औसत जीवन-अवधि असाधारण रूप से कम होती है। यद्यपि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में २० वष से अधिक आयु के वयस्क पुरुषो का केवल ३६.६ प्रतिशत भाग और वोल्सटेण्टन डिस्ट्रिक्ट में केवल ३०.४ प्रतिशत भाग ही मिट्टी के बतन बनाने वाले कारखानो में काम करता है, तथापि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में इस आयु के पुरुषो में जितनी मौते होती ह, उनमें से आधी से ज्यादा और वोल्सटेण्टन डिस्ट्रिक्ट में कुल मौतो की लगभग $\frac{२}{५}$ सख्या मिट्टी के बतन बनाने वालो में फफडो की बीमारिया फलने के कारण होती ह। हेनले के एक डाक्टर बूथरोयड का कथन है "मिट्टी के बर्तन बनाने वालो की हर नयी पीढी पिछली पीढी के मुकाबले में क़द में छोटी और दुबल होती है।" इसी तरह मि० मबीन नामक एक और डाक्टर ने बताया है कि "२५ वष हुए मने मिट्टी के बतन बनाने वालो के बीच डाक्टरी करना शुरू किया था। तब से आज तक इन लोगो का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया है, जो खास तौर पर कद और चौडाई के कम हो जाने के रूप में जाहिर होता है।" ये तमाम वक्तव्य डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की रिपोर्ट से लिये गये ह।[2]

१८६३ में जाच कमिश्नरो ने जो रिपोट दी थी, उसका एक उद्धरण यह है। उत्तरी स्टेफ़डशायर के अस्पताल के बडे डाक्टर डा० जे० टी० आर्लेज ने बताया है "एक वग

---

[1] *Children s Employment Commission First report, etc 1863* ('बाल सेवायोजन आयोग की पहली रिपोट, इत्यादि, १८६३'), गवाहा के बयान, पृ० १६, १६, १८।

[2] *Public Health, 3rd report etc* ('सावजनिक स्वास्थ्य, तीसरी रिपोर्ट इत्यादि'), पृ० १०२, १०४, १०५।

के रूप में, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले—स्त्रिया और पुरुष दोनो—शारीरिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से ह्रास ग्रस्त लोग हैं। आम तौर पर उनका शारीरिक विकास रुक गया है, आकृति भोंडी हो गयी है और उनका वक्ष अक्सर बहुत ही कुरूप होता है। वे लोग वक्त से पहले बूढ़े हो जाते ह, और इसमें तो तनिक भी स देह नहीं कि उनकी उम्र बहुत छोटी होती है। इन लोगो में कफ की ज्यादती और खून की कमी होती है, और बार बार होने वाला मदाग्नि का हमला, जिगर और गुरदे की बीमारिया और गठिया रोग उनके शरीर की दुर्बलता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते ह। लेकिन जितनी बीमारिया ह, उनमें वे सबसे ज्यादा वक्ष-रोगो—निमोनिया, राजयक्ष्मा, श्वासनलीदाह और दमे—के शिकार होते ह। एक खास बीमारी सिर्फ इन्हीं लोगो में पायी जाती है। वह मिट्टी के बतन बनाने वालो का दमा या मिट्टी के बतन बनाने वालो की तपेदिक कहलाती है। मिट्टी के बतन बनाने वालो की दो तिहाई या उससे भी अधिक सख्या में ग्रथियो, या हड्डियो अथवा शरीर के अ य भागो की सूजन की बीमारी पायी जाती है यदि इस डिस्ट्रिक्ट की आबादी के शारीरिक ह्रास (degenerescence) ने और भी अधिक भयकर रूप धारण नहीं कर लिया है, तो इसका यह कारण है कि आस-पास के इलाको से नये लोग आते रहते ह और ब्याह शादी के जरिये ज्यादा त दुरुस्त नसलो के लोग उसमें शामिल होते रहते ह।"[1]

इसी अस्पताल के भूतपूव हाउस-सजन मि० चाल्स पास स ने कमिश्नर लोगों के नाम एक पत्र में अ य बातो के अलावा यह भी लिखा है कि "म आकडो के आधार पर नहीं, बल्कि केवल व्यक्तिगत पयवेक्षण के आधार पर ही कुछ कह सकता हू, पर तु मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि इन ग़रीब बच्चो को देखकर, जिनके स्वास्थ्य को या तो उनके माता-पिता के और या उनके मालिको के लालच को पूरा करने के लिए बलिदान कर दिया गया है, मुझे बार-बार बहुत गुस्सा आया है।" मि० पास स ने मिट्टी के बतन बनाने वालो को होने वाली बीमारियो के कारण गिनाये ह और उनका सार निकालते हुए कहा है कि सब बीमारियों का मूल कारण यह है कि इन लोगो को "बहुत ज्यादा देर तक" ("long hours) काम करना पडता है। कमीशन की रिपोट में यह विश्वास प्रकट किया गया है कि "एक ऐसे उद्योग के बारे में, जिसने पूरे ससार में इतना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है, बहुत दिनो तक यह नहीं कहना पडेगा कि उसकी महान सफलता के साथ-साथ उसमें काम करने वाले उन मजदूरों का, जिनके श्रम एव निपुणता के बल पर यह महान सफलता प्राप्त हुई है, शारीरिक ह्रास हुआ है, उनको बडे पमाने पर शारीरिक कष्ट उठाना पडा है और उनकी मौत जल्दी होने लगी है।"[2] और इगलण्ड के मिट्टी के बतन बनाने वाले कारखानो के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह स्कोटलण्ड के कारखानो के बारे में भी सच है।[3]

दियासलाइयो का उद्योग १८३३ से आरम्भ हुआ है। खुद दियासलाई में फास्फोरस लगाने की पद्धति के आविष्कार के बाद उसका श्रीगणेश हुआ। १८४५ के बाद से इगलैण्ड

---

[1] *Children s Employment Commission First Report etc 1863'* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोट, इत्यादि, १८६३'), पृ० २४।

[2] *Children s Employment Commission 1863* ('बाल-सेवायोजना आयोग १८६३'), पृ० २२ और XI (ग्यारह)।

[3] उप० पु०, पृ० XLVII (सैंतालीस)।

में इस उद्योग का तेजी से विकास हुआ है, और वह खास तौर पर लन्दन की घनी बस्ति में और साथ ही मानचेस्टर, बिर्मिंघम, लिवरपूल, ब्रिस्टल, नोविच, न्यूकेसल और ग्लास्गो में भी फैल गया है। उसके साथ साथ हनु-स्तंभ की बीमारी का वह खास रूप भी फैल गया है, जिसके बारे में वियेना के एक डाक्टर ने पता लगाया है कि यह बीमारी खास तौर पर दियासलाई बनाने वालो में पायी जाती है। इन मजदूरो की आधी संख्या तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों और अठारह वर्ष से कम उम्र के लडकों की है। यह उद्योग इतना गंदा और स्वास्थ्य के लिए इतना हानिकारक समझा जाता है कि मजदूर वर्ग का केवल सबसे गया-गुजरा हुआ हिस्सा,—यानी वे विधवाएं, जिन्हें आधा पेट खाकर रह जाना पडता है, और इसी प्रकार के अन्य लोग ही अपने बच्चों को, अपनी "फटे हाल, भूखी, जाहिल संतान" को, इस उद्योग में काम करने के लिए भेजते हैं।[1]

कमिश्नर व्हाइट ने जितने गवाहो के बयान लिये थे (१८६३ में), उनमें से २७० की उम्र १८ वर्ष से और ५० की उम्र १० वर्ष से कम थी तथा ५ केवल ६ वर्ष के थे। काम का दिन १२ से लेकर १४ या १५ घण्टे तक का था। रात को भी काम करना पडता था। भोजन का कोई समय निश्चित नहीं था। भोजन प्रायः काम के कमरो में ही करना पड़ता था, जो फास्फोरस के जहरीले धुए से भरे रहते थे। दांते यदि इस उद्योग को देखते, तो इसे अपने नरक से भी अधिक भयानक पाते।

दीवार पर मढे जाने वाले कागज के उद्योग में घटिया कागज मशीन से छापा जाता है और बढ़िया हाथ से (block-printing द्वारा)। इस व्यवसाय में सबसे ज्यादा तेजी अक्तूबर के शुरू से अप्रैल के अंत तक रहती है। इन महीनो में काम अंधाधुंध चलता है और ६ बजे सुबह से रात के १० बजे या उसके भी बाद तक बिना रुके बराबर जारी रहता है।

जे० लीच का बयान है कि "पिछले जाडो में उन्नीस में से छः लडकियां अत्यधिक काम करने के कारण बीमार पड गयीं और काम पर न आ सकीं। मैं उनको डांट डांटकर जगाये रखता हूं, वरना वे सब काम करते-करते ही सो जायें।" डब्लयू० डफी ने कहा है "मैंने यह वक्त भी देखा है, जब कोई भी बच्चा काम करने के लिए अपनी आंखें खुली नहीं रख पा रहा था। और बच्चे ही क्या, वास्तव में हममें से कोई भी अपनी आंखें खुली हुई नहीं रख सकता था।" जे० लाइटबोन का बयान है कि "मेरी उम्र १३ वर्ष है पिछले जाडो में हम लोग रात के ९ बजे तक काम करते थे और उसके पहले वाले जाडों में रात के १० बजे तक। जाडो में मेरे पैर इस बुरी तरह फट जाते थे कि मैं रोज रात को दर्द के मारे रोया करता था।" जी० ऐप्सडेन ने बताया है "मेरा यह लडका जब ७ वर्ष का था, तब मैं उसे अपनी पीठ पर चढाकर बर्फ पार करके कारखाने में ले जाया और वहां से लाया करता था। यहा वह रोज सोलह घण्टे काम करता था अक्सर वह मशीन के पास खडा रहता था और मैं उसे झुककर खाना खिलाता था, क्योंकि वह न तो मशीन के पास से हट सकता था और न ही बीच में काम बंद कर सकता था।" मानचेस्टर की एक फर्म के प्रबन्धकर्ता हिस्सेदार स्मिथ ने बताया है कि "हम लोग (उसका मतलब है "हमारे मजदूर", जो "हम लोगों" के लिए काम करते हैं) बराबर काम करते रहते हैं और खाना खाने के लिए भी बीच में नहीं रुकते, जिससे $10\frac{1}{2}$ घण्टे का दिन भर का काम

[1] उप० पृ०, पृ० LIV (फौवन)।

शाम को ४ ३० बजे ही खतम हो जाता है और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम होता है।"[1] (क्या यह मि० स्मिथ खुद भी इन १० $\frac{१}{२}$ घण्टो में भोजन नहीं करते?) "हम लोग (वही स्मिथ साहब बोल रहे ह) शाम के ६ बजने के पहले शायद कभी ही काम बन्द करते ह (मतलब यह कि "हम" शायद कभी ही "अपनी" श्रम शक्ति की मशीनो का उपयोग करना बद करते ह)। नतीजा यह होता है कि असल में हम लोग (यानी वही मि० स्मिथ) (iterum Crispinus) साल भर ओवरटाइम काम करते रहते हैं इन तमाम लोगो को, जिनमें बच्चे और बडे दोनो शामिल ह (जिनमें १५२ बच्चे तथा लडके और १४० वयस्क लोग ह), पिछले अठारह महीने से हर सप्ताह औसतन कम से कम ७ दिन और ५ घण्टे, या ७८ $\frac{१}{२}$ घण्टे प्रति सप्ताह, काम करना पडा है। इस वष (१८६२) की २ मई को जो छ सप्ताह समाप्त हुए, उनका औसत इससे भी ज्यादा बठता था, यानी इन छ सप्ताहो में उ हे प्रति सप्ताह ८ दिन—या ८४ घण्टे—काम करना पडा।" फिर भी यह मि० स्मिथ, जिनको pluralis majestatis (बहुवचन का प्रयोग करने) का इतना ज्यादा शौक है, मुस्कराते हुए फरमाते हैं कि "मशीन का काम बहुत मुश्किल नहीं होता।" इसी तरह ब्लाको से कागज की छपाई करने वाले कारखानो के मालिक कहते ह कि "हाथ का काम मशीन के काम से अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है।" कुल मिलाकर, सभी मालिक गुस्से से बौखला उठते हैं, जब कोई व्यक्ति "कम से कम भोजन के समय मशीनो को रोक देने" का सुझाव रखता है। बरो के दीवार पर मढ़ने का कागज तयार करने वाले एक कारखाने के मनेजर मि० ओटेले ने कहा है कि यदि इस तरह का कोई नियम बन जाये, "जिसके अनुसार, मान लीजिये, सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम कराया जा सके, तो हम लोगो को (!) बडी सुविधा हो जाये, लेकिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक का समय फैक्टरी में काम लेने के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारी मशीन भोजन के लिए हमेशा रोक दी जाती है (क्या कहने आपकी उदारता के!)। इससे कागज और रग की कभी कोई खास हानि नहीं होती। लेकिन,"—वह आगे बडी सहृदयता के साथ कहते ह,—"समय का नुकसान यदि लोगो को पस द नहीं आता, तो मैं इस बात को समझ सकता हू।" कमीशन की रिपोट में बडे भोलेपन के साथ यह मत प्रकट किया गया है कि कुछ "प्रमुख कम्पनियो" को समय खोने का, यानी दूसरो का श्रम हडपने के लिए समय न पाने का और इसलिए मुनाफा

---

[1] इसका वही अथ नही लगाना चाहिए, जो हमारे अतिरिक्त श्रम काल का होता है। ये महानुभाव १० $\frac{१}{२}$ घण्टे के श्रम को काम का सामा य दिन समझते हैं, जिसमे, ज़ाहिर है, सामा य अतिरिक्त श्रम भी शामिल होता है। इसके बाद "ओवरटाइम" शुरू होता है, जिसकी मजदूरी कुछ बेहतर दर पर दी जाती है। बाद को यह बात स्पष्ट होगी कि तथाकथित सामा य दिन मे जो श्रम खच होता है, मजदूर को उसके लिए कम मूल्य दिया जाता है और इसलिए "ओवरटाइम" महज मजदूर से थोडा और अतिरिक्त श्रम कराने का एक पूजीवादी हथकडा होता है। यदि काम के सामा य दिन मे खच की गयी श्रम शक्ति की उचित मजदूरी दे भी दी जाये, तब भी "ओवरटाइम" मजदूर से अतिरिक्त श्रम कराने की तरकीब ही रहेगा।

खो बठने का जो भय सता रहा है, वह इसके लिए पर्याप्त कारण नहीं समझा जा सकता कि १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को और १८ वय से कम उम्र के लडके-लडकियों को बिना खाये काम करने की इजाजत दी जाये या उनको काम के दौरान में ही इस तरह भोजन देने की इजाजत दी जाये, जिस तरह भाप के इजन को उत्पादन प्रक्रिया के दौरान में कोयला और पानी दिया जाता है, ऊन को साबुन खिलाया जाता है और पहिये को तेल पिलाया जाता है, – यानी जिस तरह श्रम के औजारो को सहायक सामग्री दी जाती है।[1]

इगलण्ड में उद्योग की किसी शाखा में उत्पादन का इतना पुरातन ढग इस्तेमाल नहीं किया जाता, जितना डबल रोटी बनाने में (हाल में मशीनों के जरिये रोटी बनाने की जो पद्धति चालू की गयी है, हम उसपर यहा विचार नहीं कर रहे ह)। डबल रोटी बनाने के व्यवसाय में तो ईसा के भी पूव का ढग इस्तेमाल किया जाता है। रोमन कवियो की रचनायें इसकी साक्षी हैं। परन्तु, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शुरू में पूजी को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं होती कि श्रम क्रिया का प्राविधिक स्वरूप कसा है। वह जैसा भी होता है, पूजी उसी रूप पर अधिकार करके अपना काम आरम्भ कर देती है।

खास तौर पर लदन में डबल रोटी में जैसी भयानक मिलावट की जाती है, इसपर पहले-पहल उस समय प्रकाश पडा, जब हाउस आफ कामस ने "खाद्य-पदार्थों में मिलावट" की जाच करने के लिए एक समिति नियुक्त की और उसने अपनी रिपोर्टें प्रकाशित कीं (१८५५-५६) और जब डा० हैस्सल की रचना "*Adulteration detected*" ('मिलावट पकडी गयी')[2] प्रकाशित हुई। इस रहस्योद्घाटन का परिणाम यह हुआ कि ६ अगस्त १८६० को "for preventing the adulteration of articles of food *and drink*" ("खाने-पीने की वस्तुओ में मिलावट रोकने के लिए") एक कानून बना दिया गया। पर यह कानून कभी अमल में नहीं आया, क्योकि वह स्वभावतया ऐसे प्रत्येक स्वतत्र व्यापारी पर कृपा दृष्टि रखता है, जो मिलावट वाली वस्तुओ को खरीद या बेच कर "ईमानदारी का पसा कमाना" ("to turn an honest penny) चाहता है।[3] इस समिति ने खुद न्यूनाधिक भोलेपन के साथ अपना यह विश्वास प्रकट किया कि स्वतत्र व्यापार का अर्थ मूलतया मिलावट मिली चीजो का व्यापार, या, – जसा कि अग्रेज लोग बडी बुद्धिमानी का परिचय देते हुए कहते हैं, – "गोलमाल" ("sophisticated) वस्तुओ का व्यापार, होता है। वस्तुत इस प्रकार

---

[1] *Children s Employment Commission 1863* ('बाल-सेवायोजन आयोग, १८६३'), गवाहों के बयान, पृ० १२३, १२४, १२५, १४० और LIV (चौवन)।

[2] फिटकरी का बारीक चूरा, जिसमे कभी-कभी नमक भी मिला रहता है, बाजार में आम बिकता है और bakers stuff ("रोटी बनाने वालो का मसाला") कहलाता है।

[3] कालिख कावन का एक सुपरिचित और बहुत ऊर्जापूण रूप है। चिमनिया साफ़ करने वाले उसे खाद के रूप मे अग्रेज काश्तकारो के हाथ बेच देते हैं। अब १८६२ मे अग्रेज जूरी को एक मुकदमे मे यह सवाल तै करना पडा कि वह कालिख, जिसमे खरीदार के पीठ पीछे ९० प्रतिशत धूल और रेत मिला दिया गया है, व्यापारिक अथ मे खरी कालिख है या कानूनी अथ मे मिलावट मिली कालिख है। जूरी मे जो amis du commerce ("व्यापार के मित्र") बैठे हुए थे, उन्होंने यह तै किया कि यह व्यापारिक अथ मे खरी कालिख है, और दायर करने वाले काश्तकार का मुकदमा खारिज कर दिया गया, जिसे ऊपर से मुकदमे का खच भी अदा करना पडा।

का गोलमाल करने वाले प्रोतेगोरस से भी अधिक दक्षता के साथ सफेद को काला और काले को सफेद कर सकते हैं और एलियाटिक्स से भी अधिक कुशलता के साथ ad oculos (आपकी आखो के सामने ही) यह प्रमाणित कर सकते है कि दुनिया में हर चीज महज दिखावटी होती है।[1]

बहर हाल, इस समिति ने जनता का ध्यान उस रोटी की ओर, जिसे वह रोज खाती थी, और रोटी बनाने के व्यवसाय की ओर खींचा था। उसके साथ-साथ लदन के रोटी बनाने वाले कारीगरो ने सावजनिक सभाओ के जरिये और ससद को दरखास्तें भेजकर इस बात का शोर मचाया कि उनके मालिक लोग उनसे बहुत ज्यादा काम लेते हैं, इत्यादि। यह शोर इतना जोरदार था कि मि० एच० एस० ट्रेमेनहीर को, जो १८६३ के उस कमीशन के सदस्य थे, जिसका पहले भी कई बार जिक्र आ चुका है, इस मामले की जाच करने के लिए शाही जाच-कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया। उनकी रिपोट[2] का तथा उन बयानो का, जो उनके सामने दिये गये थे, जनता के दिल पर भले ही कोई असर न पडा हो, पर उसके पेट में जरूर खलबली मच गयी। अग्रेज को अपनी बाइबल का सदा अच्छा ज्ञान होता है, और उसे यह खूब मालूम था कि जब तक आदमी भगवान की दया से किसी पूजीपति, जमींदार या बैठे-बिठाये मोटी तनखाह मारने वाले के घर में पैदा नहीं होता, तब तक उसे हमेशा अपनी मेहनत और पसीने की रोटी खानी पडती है। मगर उसे यह मालूम नहीं था कि यदि फिटकरी, रेत और अन्य जायकेदार खनिज पदार्थों की गिनती न भी की जाये, तो भी उसे हर रोज अपनी रोटी में फोडो का मवाद, आदमी का पसीना, मकडी के जाले, मरे हुए तिलचट्टे और सडा हुआ जमन खमीर खाना पडता है। चुनाचे परम पावन स्वतत्र व्यापार का कोई खयाल न करके रोटी बनाने का स्वतत्र व्यवसाय राजकीय इस्पेक्टरो के निरीक्षण में रख दिया गया (यह निश्चय ससद के १८६३ के अधिवेशन के बन्द होने के समय हुआ) और ससद के इसी कानून के जरिये रात के ९ बजे से सुबह के ५ बजे तक १८ वर्ष से कम उम्र के रोटी बनाने

---

[1] फ्रासीसी रसायनज्ञ चेवल्ये ने मालो के "गोलमाल" से सम्बध रखने वाली अपनी रचना मे जिन ६०० या उससे अधिक वस्तुओ पर विचार किया है, उनमे से अधिकतर मे उसने मिलावट के दस-दस, बीस-बीस और तीस-तीस अलग अलग तरीके गिनाये हैं। साथ ही उसने यह भी लिख दिया है कि उसे सब तरीको की जानकारी नही है और न ही उसने उन सब तरीको का जिक्र किया है, जिनको वह जानता है। उसने चीनी मे मिलावट के ६ तरीके, जैतून के तेल मे ९, मक्खन मे १०, नमक मे १२, दूध मे १९, रोटी मे २०, ब्राडी मे २३, आटे मे २४, चाकलेट मे २८, शराब मे ३० और काफी मे मिलावट करने के ३२ तरीके बताये हैं, इत्यादि। यहा तक कि खुद सवशक्तिमान परमेश्वर भी इस मुसीबत से नही बच पाया है। रूअद दे काद की रचना 'धार्मिक अनुष्ठानो की सामग्री मे मिलावट करने के विषय मे' (Rouard de Card *De la falsification des substances sacramentelles*, Paris 1856) देखिये।

[2] *Report &c relative to the grievances complained of by the journeymen bakers &c London 1862* ('रोटी बनाने वाले कारीगरो की शिकायतो आदि के बारे मे रिपाट, इत्यादि, लन्दन, १८६२) और '*Second Report &c London 1863* ('दूसरी रिपोट, इत्यादि, लन्दन, १८६३')।

वाले कारीगरो से काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। कानून की इस अन्तिम धारा से प्रकट होता है कि इस पुराने घरेलू ढग के व्यवसाय में मजदूरो से कैसा कमर-तोड काम लिया जाता था।

"लन्दन में रोटी बनाने वाले कारीगर का काम, आम तौर पर, रात को लगभग ग्यारह बजे शुरू होता है। उस समय वह आटा तयार करता है। यह बडी मेहनत का काम होता है। धान छोटा है या बडा और आटे को कितनी देर गूधना है, उसके अनुसार इस काम में आधे घण्टे से पौन घण्टे तक का समय लग जाता है। उसके बाद कारीगर आटा गूधने के तख्ते पर ही लेट जाता है, जिससे आटा घोलने की नाद के ढक्कन का भी काम लिया जाता है। वह आटे की एक बोरी अपने नीचे बिछा लेता है और एक बोरी को तह देकर तकिया बना लेता है। यहा वह दो एक घण्टे सोता है। फिर उठता है, तो पाच घण्टे तक लगातार बहुत तेजी के साथ काम करता रहता है। इस अरसे में वह नाद में से आटा बाहर निकालता है, उसे तोलता है, साचे में डालता है, तदूर में रखता है, छोटी रोटिया और बढ़िया रोटियां तैयार करके पकाता है, धान को तदूर के बाहर निकालता है, रोटियो को दूकान में सजाता है, वगैरह, वगैरह। जहा रोटी पकायी जाती है, उस कमरे का तापमान ७५ से लेकर ९० डिगरी तक रहता है, और छोटे कमरो में तापमान ७५ डिगरी के बजाय ९० डिगरी के ज्यादा नजदीक रहता है। जब डबल रोटी, छोटी रोटी आदि बनाने का काम समाप्त हो जाता है, तो उसके वितरण का काम शुरू होता है। रात भर इस तरह सख्त मेहनत करने के बाद कारीगरो का एक काफी बडा हिस्सा दिन में कई-कई घण्टे टोकरियो में भरी या ठेलों पर लदी रोटियो को इधर से उधर पहुचाने में व्यस्त रहता है और बीच-बीच में उसे रोटी पकाने के कमरे में पहुच जाना पडता है। इन कारीगरो को दोपहर के बाद १ बजे और ६ बजे के बीच छुट्टी मिलती है। तीसरे पहर को वे कब काम से छूटते ह, यह इस पर निर्भर करता है कि मौसम कौनसा है और उनके मालिक का धधा किस प्रकार का तथा कितना फला हुआ है। इसी बीच कुछ और कारीगरो को शाम तक रोटियो के नये धान तदूर से निकालने के लिए जुटे रहना पडता है [1] लन्दन में जिस मौसम में रोटियो का धधा खास तौर पर चमकता है, उस मौसम में वेस्ट एण्ड क्षेत्र के "पूरे दामो पर" रोटी बेचने वाले नानबाइयों के कारीगर आम तौर पर रात को ११ बजे काम आरम्भ करते हैं और दो एक छोटे छोटे (कभी-कभी तो बहुत छोटे) अवकाशो के साथ अगले रोज सुबह के ८ बजे तक रोटी पकाते रहते ह। उसके बाद वे दिन भर, यानी शाम के ४, ५, ६ और यहा तक कि ७ बजे तक, फिर रोटियां इधर से उधर ले जाने का काम करते हैं या कभी-कभी तीसरे पहर को उनको फिर रोटी पकाने के कमरे में घुसकर बिस्कुट बनाने में मदद करनी पडती है। काम खतम करने के बाद उनको कभी-कभी पाच छ घण्टे और कभी केवल चार-पाच घण्टे सोने के लिए मिलते ह, और उसके बाद फिर वही क्रम आरम्भ हो जाता है। शुक्रवार के दिन वे सदा कुछ जल्दी, यानी दस बजे के करीब, काम शुरू कर देते ह और कभी-कभी शनिवार की रात के ८ बजे तक और आम तौर पर रविवार की सुबह के ४ या ५ बजे तक लगातार रोटी पकाने या यहां-वहां पहुचाने में लगे रहते हैं। रविवार के दिन कारीगरो को दो या तीन बार दो-एक घण्टे के लिए आकर अगले दिन की रोटियों के लिए तयारी करनी पडती है 'Underselling masters

[1] उप० पु०, "*First Report etc*" ('पहली रिपार्ट, इत्यादि'), पृ० VI (८)।

(कम दामो पर रोटी बेचने वाले मालिक) (जो "पूरे भाव" से कम दामो पर अपनी रोटी बेच देते ह और जिनकी श्रेणी में, जसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लन्दन के तीन-चौथाई रोटी वाले आ जाते ह) जिन कारीगरो को नौकर रखते हैं, उनको आम तौर पर न सिफ ज्यादा देर तक काम करना पडता है, बल्कि उनका सारा काम रोटी पकाने के कमरे के भीतर ही होता है। कम दामो पर रोटी बेचने वाले मालिक आम तौर पर अपनी दूकानो पर ही रोटी बेच देते ह। मोदियो की दूकानो के सिवा वे अपनी रोटी और कहीं नहीं भेजते, और वहा भेजने के लिए वे आम तौर पर दूसरे मजदूरो से काम लेते ह। उनके घर-घर रोटी पहुचाने का प्रचलन नहीं है। जब सप्ताह समाप्त होने के करीब आता है, तब कारीगर लोग बृहस्पतिवार को रात के १० बजे शुरू करके शनिवार की रात तक लगातार काम करते चले जाते ह और बीच में महज जरा सी देर के लिए उनको एक छुट्टी मिलती है।"[1]

"Underselling masters (कम दामो पर रोटी बेचने वाले मालिको) की स्थिति को पूजीवादी दिमाग भी समझता है। "ये लोग कारीगरो से मुफ्त श्रम (the unpaid labour of the men) कराते ह और उसके सहारे प्रतियोगिता करते ह।"[2] और जाच कमीशन के सामने 'full priced baker" (पूरे दामो पर बेचने वाला) underselling (कम दामो पर बेचने वाले) अपने प्रतिद्वन्द्वियो की निन्दा करता है और कहता है कि वे लोग दूसरो के श्रम को चुराते ह और रोटी में मिलावट करते हैं। "वे यदि जिन्दा ह, तो केवल इसलिए कि वे एक तो जनता को धोखा देते हैं और, दूसरे, अपने कारीगरो को १२ घण्टे की मजदूरी देकर उनसे १८ घण्टे काम कराते ह।"[3]

रोटी में मिलावट किया जाना और नानबाइयो के एक ऐसे वर्ग का जन्म ले लेना, जो पूरे भाव से कम दामो पर अपनी रोटी बेच देता है, —यह १८ वीं सदी के शुरू में, उसी समय से आरम्भ हो गया था, जब इस व्यवसाय का सघीय स्वरूप नष्ट हो गया और रोटियो की दूकान के मालिक की नकेल आटे की चक्की के मालिक या आटे के आढती के रूप में पूजीपति के हाथो में पहुच गयी।[4] इस प्रकार इस व्यवसाय में पूजीवादी उत्पादन और काम के दिन को

---

[1] उप० पु०, प० LXXI (इकहत्तर)।

[2] George Read *The History of Baking* (जाज रीड, 'रोटी बनाने के व्यवसाय का इतिहास'), London, 1848 पृ० १६।

[3] *'Report (First), &c Evidence of the full priced' baker Cheeseman* ['(पहली) रिपोर्ट, इत्यादि। "पूरे दामो पर" रोटी बेचने वाले नानबाई चीज़मैन का बयान'], पृ० १०८।

[4] George Read, उप० पु०। १७वी सदी के अन्त मे और १८वी सदी के आरम्भ मे factors (आढती लोग) हर सम्भव व्यवसाय मे घुस गये थे, और उस समय भी आम तौर पर इन लोगो का 'public nuisances (एक "सामाजिक मुसीबत") समझा जाता था। चुनाचे, सोमेरसेट की काउटी के मजिस्ट्रेटो के त्रैमासिक अधिवेशन के दौरान Grand Jury (छोटी अदालत की जूरी) ने हाउस आफ कामन्स को एक दरखास्त दी थी, जिसमें अन्य बातो के अलावा यह भी कहा गया था कि "ब्लैकवेल हाल के ये आढती सावजनिक कष्ट का कारण बने हुए हैं और कपडे के व्यवसाय को हानि पहुचा रह हैं, और इसलिए एक सामाजिक मुसीबत के रूप मे इन लोगो को खतम कर देना चाहिये।" (*The Case of our English Wool, &c*" ['हमारे अंग्रेजी ऊन की हिमायत मे, इत्यादि'], London 1685, पृ० ६, ७।)

अधिक से अधिक लम्बा खींचने और रात को मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेने की पद्धति की नींव पड गयी, हालाकि रात के काम की प्रथा ने लदन में भी केवल १८२४ के बाद से ही अपने पाव अच्छी तरह जमाये है।[1]

अभी-अभी जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिये कि जाच कमीशन की रिपोर्ट ने रोटी बनाने वाले कारीगरो को कम उम्र तक जिदा रहने वाले उन मजदूरो की श्रेणी में क्यो रखा है, जो यदि सौभाग्यवश मजदूर-वर्ग के अधिकतर बच्चा की तरह असमय मृत्यु का शिकार नहीं हो जाते, तो ४२ वर्ष की उम्र तक बहुत मुश्किल से पहुचते है। और फिर भी रोटी बनाने के व्यवसाय में काम करने के इच्छुक उम्मीदवारो की सदा भीड लगी रहती है। लदन में इस व्यवसाय के लिये मजदूर प्राप्ति के स्रोत ह स्कोटलण्ड, इगलण्ड के पश्चिमी खेतिहर जिले और जर्मनी।

१८५८-६० में आयरलण्ड के रोटी बनाने वाले कारीगरो ने रात का और रविवार का काम बद कराने के लिये अपने खर्चे से बडी-बडी सभाए कीं। साधारण जनता ने भी—मसलन मई १८६० में डबलिन की सभा में—आयरलैण्डवासियों के प्रबल उत्साह के साथ उनका समर्थन किया। इस आदोलन के फलस्वरूप वेक्सफोड, किल्केनी, क्लामेल, वाटरफोड आदि स्थानों में केवल दिन में काम कराने का नियम सफलतापूर्वक लागू हो गया। "लिमरिक में, जहा कारीगरो की शिकायतें हद से ज्यादा बढ़ गयी थीं, रोटी की दूकानो के मालिका के विरोध के सामने आदोलन पराजित हो गया है। वहा इस आदोलन के सबसे बडे विरोधी वे मालिक थ, जिनके पास आटे की चक्किया ह। लिमरिक की मिसाल का ऐंनिस और टिप्परारी पर भी प्रतिगमनात्मक प्रभाव पडा। कोक में, जहा तीव्रतम वेग से भावनाओ का प्रदशन हुआ, मालिकों ने कारीगरो को काम से जवाब दे देने के अपने अधिकार का प्रयोग करके आदोलन को हरा दिया है। डबलिन में रोटी की दूकानो के मालिको ने आदोलन का बहुत डटकर विरोध किया है, और जो कारीगर आदोलन में अग्रणी थे, उन्हें यथाशक्ति हताश करके वे कारीगरा से उनके विश्वासो के विरुद्ध यह बात मनवाने में कामयाब हो गये ह कि वे इतवार को और रात को काम करना जारी रखेंगे।"[2]

आयरलण्ड की अग्रेजी हकूमत हमेशा जनता पर दमन करने के हथियारो से सजी रहती है और आम तौर पर वह उनका प्रदर्शन भी करती रहती है। पर उसी सरकार द्वारा नियुक्त की गयी इस समिति ने डबलिन, लिमरिक, कोक आदि नगरा के रोटी की दूकाना के निर्मम मालिका को बडी नम्रतापूवक समझाने-बुझाने की कोशिश की और, जसे वह किसी के अन्तिम सस्कार में भाग ले रही हो, बडे ही दु ख के अदाज में कहा "समिति को विश्वास है कि इन के घण्टे प्रकृति के नियमो से सीमित होते हैं और इन नियमो का उल्लघन करके कोई भी दण्ड से नहीं बच सकता। यदि रोटी की दूकानों के मालिक अपने कारीगरों को नौकरी से बर्खास्त कर दिये जाने का डर दिलाकर, उन्हें अपने धार्मिक विश्वासो तथा अपनी स्वस्थ भावनाओं का हनन करने के लिये और देश के क़ानूनों को तोडने के लिये मजबूर करते ह (यह सब

[1] "*First Report etc* ('पहली रिपोट, इत्यादि')।

[2] "*Report of Committee on the Baking Trade in Ireland for 1861*" ('आयरलैण्ड म रोटी बनाने के व्यवसाय की जाच करने के लिये नियुक्त की गयी कमिटी की रिपोट, १८६१')।

रविवार को काम करने के बारे में कहा जा रहा है), तो इसका केवल यही परिणाम होगा कि मजदूरो और मालिको के सम्बध बिगड जायेंगे और एक ऐसी मिसाल कायम होगी, जो धम, नतिकता और सामाजिक व्यवस्था के लिये खतरनाक है समिति का विश्वास है कि १२ घण्टे रोजाना से ज्यादा लगातार काम लेना मजदूर के घरेलू एव निजी जीवन में हस्तक्षेप करना है, यह हरेक मजदूर के घर में टाग अडाना और उसे पुत्र, भाई, पति और पिता के रूप में अपने पारिवारिक कतव्यों को पूरा न करने देना है, और इसलिये नैतिक दृष्टि से उसका परिणाम विनाशकारी होता है। यदि किसी मजदूर से १२ घण्टे से ज्यादा काम लिया जाता है, तो उसका स्वास्थ्य नष्ट होने लगता है, उसको बुढ़ापा बहुत जल्दी आ घेरता है और उसकी असमय मृत्यु हो जाती है। इस तरह, यह प्रथा मजदूरो के परिवारो को चौपट कर देती है और मजदूर-कुटुम्बो को ठीक उसी समय असहाय कर देती है, जब उनको देखरेख और सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।"[1]

अभी तक हमने आयरलण्ड का जिक्र किया है। आयरलण्ड के जलडमरूमध्य के दूसरी ओर, स्कोटलैण्ड में, खेतिहर मजदूर, या हलवाहा, इस बात का विरोध कर रहा है कि उससे बहुत ही बुरे मौसम में भी रोजाना १३-१४ घण्टे काम लिया जाता है और साथ ही (शनिवार को छुट्टी का पवित्र दिन मानने वालो के इस देश में) उसे रविवार को ४ घण्टे का अतिरिक्त काम करना पडता है।[2] और वहा लदन में तीन रेलवे मजदूर – एक गाड, एक इजन ड्राइवर और एक सिगनलमन – एक मजिस्ट्रेट के सामने खडे ह। रेल की एक भारी दुघटना में सकडो मुसा फिर आन की आन में मुल्के अदम को रवाना हो गये हैं। दुघटना का कारण है कमचारियो की लापरवाही। वे लोग जूरी के सामने एक आवाज से यह कहते हैं कि दस या बारह बरस पहले उनको केवल आठ घण्टे रोजाना काम करना पडता था। परतु पिछले पाच या छ सालो में उनसे १४, १८ और २० घण्टे तक काम लिया जाने लगा है, और जब कभी छुट्टियो के दिनो में काम का विशेष दबाव होता है और छुट्टिया मनाने वालो के लिये स्पेशल ट्रेनें चलती ह, तो अक्सर उनको बिना किसी अवकाश के ४० या ५० घण्टे तक लगातार काम करना पडता है।

---

[1] उप० पु०।

[2] ५ जनवरी १८६६ का एडिनबरा के नजदीक, लास्सवेड मे खेतिहर मजदूरा की एक सावजनिक सभा हुई। (देखिये *Workman s Advocate* का १३ जनवरी १८६६ का अक।) १८६५ खतम होते-होते स्कोटलैण्ड मे खेतिहर मजदूरा की एक ट्रेड-यूनियन बन गयी थी। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। माच १८६७ मे इगलैण्ड के बकिघमशायर नामक एक सबसे अधिक उत्पीडित खेतिहर जिले मे खेतिहर मजदूरो ने अपनी मजदूरी ९-१० शिलिग से बढाकर १२ शिलिग करवाने के लिये हडताल कर दी। (उपरोक्त अश से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि इगलैण्ड के खेतिहर मवहारा का जो आदोलन १८३० के हगामाखेज प्रदशना के कुचले जाने के बाद और खास तौर पर गरीबो के सम्बध मे नये कानूनो के जारी हो जाने के बाद पूरी तरह कुचल दिया गया था, वह उन्नीसवी सदी के सातवें दशक मे फिर आरम्भ हो गया था और १८७२ मे तो उसने युगातरकारी रूप धारण कर लिया था। इस ग्रथ के दूसरे खण्ड मे मै इसका और साथ ही उन सरकारी प्रकाशना का फिर जिक्र करूगा, जा १८६७ के बाद प्रकाशित हुए हैं और जिनमे इगलैण्ड के खेतिहर मजदूरा की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। – तीसरे सस्करण मे जोडा गया अश।)

ये मजदूर देव या दैत्य नहीं, बल्कि साधारण मनुष्य थे। आखिर एक ऐसा बिंदु आया, जब उनकी श्रम शक्ति जवाब दे गयी, चेतनाशून्यता ने उन्हें आ घेरा, उनके दिमाग ने सोचना और आंखों ने देखना बन्द कर दिया। पर thoroughly "respectable British jurymen (अंग्रेजी अदालत की जूरी के परम "सम्भ्रात" सदस्यों) ने उनके मुकदमे का यह फैसला दिया कि manslaughter (नर हत्या) का जुर्म लगाकर उनको तो सेशन अदालत के सिपुर्द कर दिया, और अपने निर्णय के साथ एक नम्र सा ऐसा अंग भी जोड दिया, जिसमें आशा प्रकट की गयी थी कि रेलों के पूंजीवादी मालिक भविष्य में श्रम शक्ति की पर्याप्त मात्रा खरीदने पर कुछ ज्यादा पैसा खर्च किया करेंगे और खरीदी हुई श्रम-शक्ति को चूसने में पहले से अधिक "मितव्ययिता", "कम-खर्ची" और "अपरिग्रह" का परिचय देंगे।[1]

---

[1] "*Reynolds Newspaper* २० जनवरी १८६६।—यही अखबार हर सप्ताह रेलों पर होने वाली नयी-नयी दुर्घटनाओं की पूरी सूची ऐसे "sensational headings ("सनसनीखेज शीर्षक") देकर छापता है, जैसे *Fearful and fatal accidents*, "*Appalling tragedies*" ('भयानक और सत्यानाशी दुर्घटनाएं', 'भयंकर दुर्घटनाएं') इत्यादि। दुर्घटनाओं के विषय में उत्तरी स्टैफर्डशायर लाइन पर काम करने वाले एक कर्मचारी ने लिखा है "हर आदमी जानता है कि अगर किसी रेलवे इंजिन का ड्राइवर और फायरमैन बराबर सतर्क न रहें, तो उसका क्या नतीजा होगा। पर जो आदमी २६ या ३० घण्टे से, मौसम की तमाम मुसीबतों को झेलते हुए और बिना एक क्षण आराम किये हुए, लगातार इस तरह का काम कर रहा है, वह बराबर सतर्क कैसे रह सकता है? नीचे जिस तरह की मिसाल दी गयी है, वैसी घटनाएं अक्सर होती रहती हैं। एक फायरमैन ने सोमवार की सुबह को बहुत तड़के ही काम शुरू कर दिया। जब उसने एक दिन का काम समाप्त किया, तब तक वह पूरे १४ घण्टे ५० मिनट काम कर चुका था। वह चाय भी नहीं पीने पाया था कि उसे फिर ड्यूटी पर बुला भेजा गया। जब अगली बार उसे काम से छुट्टी मिली, तब तक वह १४ घण्टे २५ मिनट और काम कर चुका था। इस तरह उसने बिना विराम के कुल २९ घण्टे १५ मिनट तक काम किया था। सप्ताह के बाकी दिन उसे इस तरह काम करना पड़ा: बुधवार को १५ घण्टे, बृहस्पतिवार को १५ घण्टे ३५ मिनट, शुक्रवार को १४ $\frac{1}{2}$ घण्टे और शनिवार को १४ घण्टे १० मिनट। इस तरह एक सप्ताह में उसने कुल ८८ घण्टे ४० मिनट काम किया। अब, जनाब, जरा सोचिये कि जब उसे इस तमाम काम के लिये केवल ६ $\frac{1}{4}$ दिन की मजदूरी मिली, तब उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा। यह सोचकर कि शायद हिसाब में गलती हो गयी है, वह टाइमकीपर के पास गया और उससे पूछा कि भई, एक दिन के काम का तुम क्या मतलब लगाते हो? उसको जवाब मिला कि जब भला चंगा आदमी १३ घण्टे काम करता है, तब एक दिन का काम पूरा होता है (यानी हफ्ते में ७८ घण्टे काम करना जरूरी है)। तब उसने कहा कि अच्छा, ७८ घण्टे प्रति सप्ताह से ज्यादा उसने जो काम किया है, उसके पैसे तो उसे मिलने चाहिए। जवाब मिला, नहीं मिलेंगे। परन्तु आखिर उससे कहा गया कि अच्छा, तुम्हें १० पेंस और दिये जायेंगे।" (*Reynolds Newspaper* ४ फरवरी १८६६।)

हत व्यक्तियो की आत्माए युलीसिस के चारो ओर इतने जोर-शोर से नहीं मडरा रही थीं, जितने जोर शोर से अलग अलग पेशो और उम्रो के मजदूरो और मजदूरिनो की यह पचमेल भीड हमारे चारो ओर मडरा रही है। इनकी बगल में दबे हुए सरकारी प्रकाशनो की ओर यदि ध्यान न भी दिया जाये, तो इनके चेहरो पर एक नजर डालते ही हम अत्यधिक परिश्रम के चिन्ह साफ देख सकते ह। इस भीड में से हम दो उदाहरण और लेगे। उनकी स्थिति में जो स्पष्ट भेद दिखाई देगा, उससे यह बात बिल्कुल साफ हो जायेगी कि पूजी की नजरो में सब आदमी बराबर ह। इनमें से एक टोपी बनाने वाली औरत है और दूसरा एक लोहार है।

जून १८६३ के आखिरी सप्ताह में लदन के सभी दैनिक पत्रो ने एक समाचार छापा और उसपर यह "sensational' (सनसनीखेज) शीर्षक दिया *"Death from simple over-work"* ('केवल अत्यधिक काम करने के कारण मत्यु')। यह मेरी एन वाल्कले नामक एक बीस वर्ष की टोपी बनाने वाली औरत की मृत्यु का समाचार था, जो कपडो की एक बहुत ही प्रतिष्ठित दूकान में काम करती थी, जिसका सचालन एलीज जसे सुदर नाम की एक महिला करती थी। वह पुरानी कहानी,[1] जिसे हम पहले भी अनेक बार सुन चुके ह, एक बार फिर दोहरायी गयी। यह लडकी अविराम औसतन १६$\frac{१}{२}$ घटे रोज काम करती थी, और जब व्यवसाय की तेजी या मौसम होता था, तो अक्सर उसे तीस-तीस घण्टे तक लगातार काम करना पडता था। जब उसकी श्रम शक्ति जवाब देने लगती थी, तो समय समय पर शेरी, पोर्ट या काफी पिलाकर उसे फिर काम में जुटा दिया जाता था। इन दिनो व्यापार खूब चमक रहा था। अभी हाल में विदेश से मगायी गयी युवरानी के सम्मान में बॉल नृत्य का एक समारोह होने वाला था, और जिन महिलाओं को उसमें भाग लेने के लिये निमन्त्रित किया गया था, उनके लिये फटाफट शानदार पोशाकें तैयार करना जरूरी था। मेरी एन वाल्कले ६० अन्य लडकियो के साथ २६$\frac{१}{२}$ घण्टे से अविराम काम कर रही थी। तीस-तीस लडकिया एक एक कमरे में बद थीं। और कमरा भी ऐसा कि उनको जितनी क्यूबिक फीट हवा मिलनी चाहिये थी, उसकी केवल एक तिहाई मिलती थी। सोने का कमरा लकडी के तख्ते लगाकर दाबुक के छोटे छोटे, दम घोटने वाले सूराखो में बाट दिया गया था। ऐसे प्रत्येक कबूतरखाने में रात को दो दो लडकियो को सोना पडता था।[2] और यह लदन की एक सबसे अच्छी टोपिया बनाने वाली दूकान थी।

---

[1] देखिये फ्रेडरिक एगेल्स की उपयुक्त रचना, पृ० २५३, २५४।

[2] Board of Health (सरकारी स्वास्थ्य बोर्ड) के सलाहकार डाक्टर डा० लेथेबी ने कहा था "हर वयस्क व्यक्ति के लिये सोने के कमरे में कम से कम ३०० क्यूबिक फीट और रहने के कमरे मे कम से कम ५०० क्यूबिक फीट हवा होनी चाहिये।" लदन के एक अस्पताल के बडे डाक्टर डा० रिचार्डसन ने कहा है "विभिन्न प्रकार का सीने पिरोने का काम करने वाली औरते, जिनमे टोपी बनाने वाली औरते, पोशाक सीने वाली औरते और साधारण दर्जिनें सभी शामिल हैं, तीन मुसीबतो का शिकार होती हैं अत्यधिक काम, हवा की कमी और या तो पर्याप्त भोजन का अभाव और या पाचनशक्ति का अभाव सीने पिरोने का काम पुरुषो की अपेक्षा प्राय स्त्रिया के अधिक अनुरूप है। परन्तु इस व्यवसाय में, खास तौर पर राजधानी मे, यह बुराई है कि उसपर लगभग छब्बीस पूजीपतियो का एकाधिकार

शुक्रवार को मेरी एन वालकले बीमार पडी और इतवार को मर गयी। श्रीमती एलीज को यह जानकर बहुत आश्चय हुआ कि वह बिना काम खतम किये इस दुनिया से चल दी। मि० राब नाम के एक डाक्टर साहब मरीज को देखने के लिये बुलाये गये थे, मगर वह तब पहुचे, जब रोगी की जान बचाना असम्भव था। मजिस्ट्रेट की अदालत में जूरी के सामने उन्होंने ईश्वर को हाजिर नाजिर मानकर यह बयान दिया कि "मेरी एन वालकले भीड से भरे एक कमरे म बहुत देर तक काम करने और एक बहुत ही छोटे, बेहवा कमरे में सोने के कारण मर गयी है।" डाक्टर को भद्रजनोचित व्यवहार सिखाने के उद्देश्य से जूरी ने निणय दिया कि "मृत स्त्री रक्ताघात से मरी है, लेकिन सदेह होता है कि भीड से भरे हुए कमरे में बहुत देर तक काम करने के कारण उसकी मौत जल्दी हो गयी, इत्यादि, इत्यादि।" स्वतत्र व्यापार के समर्थक कोबडेन और ब्राइट के मुखपत्र *"Morning Star"* ने इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा "हमारी ये गोरी दासिया, जो मेहनत करते करते कब्र में पहुच जाती ह, प्राय चुपचाप घुलती रहती हैं और अत में मर जाती है।"[1]

कायम है, जो पूजी से उत्पन्न सुविधाओ का लाभ (that spring from capital) उठाते हुए, श्रम को और चूसने के लिए नयी पूजी लगा सक्ते है (can bring in capital to force economy out of labour)। इस ताकत का पूरे वग पर असर पडता है। यदि कोई पोशाक सीने वाली औरत कुछ खरीदारो का काम नियमित रूप से पा सकती है, तो उसे ऐसी भयानक प्रतियोगिता का सामना करना पडता है कि वह अपने पर जमाये रखने के लिये काम करते-करते मौत के मुह मे पहुच जाती है, और यदि कोई दूसरी औरत उसकी मदद करती है, तो उससे भी इस औरत को वैसा ही कमर-तोड काम लेना पडता है। यदि वह फिर भी प्रतियोगिता मे असफल हो जाती है या यदि वह स्वतत्र रूप से उद्योग करना नही चाहती, तो उसे किसी दूकान मे शामिल हो जाना पडता है, जहा पर उसे मेहनत तो पहले से कम नही करनी पडती, मगर उसका पैसा सुरक्षित रहता है। यहा वह महज एक गुलाम बन जाती है और सदा समाज के उतार-चढावो के थपेडे खाया करती है। जब वह अपने घर पर काम करती थी, तो उसे एक कमरे मे बैठकर भूखो मरना पडता था या आधा पेट खाकर रह जाना पडता था। अब वह चौबीस घण्टे मे १५, १६ और १८ घण्टे मेहनत करती है, और वह भी ऐसी हवा मे, जिसे बर्दाश्त करना मुश्किल होता है, और ऐसा खाना खाकर, जो यदि अच्छा भी हो, तो शुद्ध हवा के अभाव मे कभी हजम नही हो सकता। तपेदिक, जो कि महज गदी हवा की बीमारी होती है, इन औरतो को खास तौर पर अपना शिकार बनाती है।" (Dr Richardson *Work and Overwork* [डा० रिचाडसन, 'काम और अत्यधिक काम'], *Social Science Review* ['समाज विज्ञान रिव्यू'], १ जुलाई १८६३।)

[1] *"Morning Star*, २३ जून १८६३। – *'The Times* ने ब्राइट आदि के मुकाबले में अमरीका के गुलामो के मालिको की हिमायत करने के लिये इस घटना का उपयोग किया। २ जुलाई १८६३ के एक सम्पादकीय लेख मे उसने लिखा "हममे से बहुत से लोग यह सोचते हैं कि जब हम खुद कोडे की मार की जगह पर भूख की मार का प्रयोग करके अपने देश की युवतियो से जबर्दस्ती काम लेते हैं और काम लेते-लेते उनको मार डालते हैं, तब हमें इसका कोई अधिकार नहीं है कि हम उन परिवारो पर आग बबूला होते फिरें, जो जन्म से

"काम करते करते मर जाना – यह केवल पोशाक बनाने वाली दूकानो का ही नियम नहीं है। हजारो अन्य स्थानो में भी यही होता है। बल्कि मै तो कहना चाहता था कि हर ऐसी जगह पर यही होता है, जहा कोई "फलता फूलता व्यवसाय" चलाना होता है मिसाल के लिये, लोहार को लीजिये। यदि कवियो की बातें सच्ची होतीं, तो लोहार से अधिक हसमुख, प्रसन्न और उत्साही आदमी और कोई नहीं हो सकता था। वह सुबह को तडके ही उठ जाता है और सूरज निकलने के पहिले अपने अहरन से चिंगारिया निकालने लगता है। वह जितना मजा लेकर खाता-पीता है और जितनी अच्छी नींद सोता है, वैसा खाना-पीना और वैसी नींद और किसी को नसीब नहीं हो सकती। यदि वह सयम के साथ काम करता है, तो शारीरिक दृष्टि से वस्तुत उसकी स्थिति और सभी मनुष्यो से अच्छी रहती है। परतु उसके पीछे-पीछे जरा किसी शहर या कस्बे में चलकर देखिये कि वहा इस ताकतवर आदमी पर काम का कैसा बोझा आकर पडता है और अपने देश के मृत्यु अनुपात में उसका क्या स्थान है। मरिलीबोन में एक हजार के पीछे लोहारो की वार्षिक मृत्यु दर ३१ है, जो पूरे देश के वयस्क पुरुषो की मौत की औसत दर से ११ अधिक है। लोहार का पेशा मानव कला के एक अग के रूप में सर्वथा नैसर्गिक है और मानव-उद्योग की एक शाखा के रूप में सर्वथा अनापत्तिजनक है, परतु फिर भी महज अत्यधिक काम के कारण वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। लोहार एक दिन में इतनी बार घन चला सकता है, इतने कदम चल सकता है, इतनी बार सास ले सकता है, इतना उत्पादन कर सकता है, और यह सब करते हुए वह औसतन, मान लीजिये, पचास वर्ष तक जिन्दा रह सकता है। पर उससे रोज इतनी ज्यादा बार घन चलवाया जाता है, उसे इतने अधिक कदम चलने के लिये मजबूर किया जाता है, इतनी जल्दी जल्दी सास लेने के लिये विवश किया जाता है कि इतना सब करने के लिये उसे अपने जीवन काल में कुल मिलाकर एक चौथाई भाग की वृद्धि कर

ही गुलामो से काम लेते आये है और जो कम से कम अपने गुलामो को अच्छा खाना देते है और उनसे कम काम लेते है।" *Standard* नामक एक अनुदार-दली पत्र ने इसी प्रकार रेवरेण्ड न्यूमैन हाल को बहुत बुरा-भला कहा "वह गुलामो के मालिको को तो शाप देते थे, पर उन भद्र पुरुषो के साथ बैठकर ईश्वर की प्रार्थना करते थे, जो लन्दन के गाडीवानो और कण्डक्टरो आदि से बिना किसी सकोच के १६ घण्टे रोज काम कराते है और उन्हे मजदूरी बहुत थोडी देते है।" अत मे, भविष्यवक्ता टोमस कार्लाइल बोले, जिनके बारे मे मैंने १८५० मे यह लिखा था कि Zum Teufel ist der Genius, der Kultus ist geblieben ("प्रतिभा का लोप हो गया है, उसकी पूजा बाकी है")। एक छोटी सी नीति-कथा मे वह अमरीकी गृह-युद्ध जैसी आधुनिक इतिहास की एकमात्र महान घटना को इस स्तर पर उतार लाये कि उत्तर मे रहने वाला पीटर दक्षिण मे रहने वाले पाल का केवल इसलिए सिर तोड देना चाहता है कि उत्तर वासी पीटर रोजाना के हिसाब से अपने मजदूरो को नौकर रखता है और दक्षिण-वासी पाल उनको पूरी जिन्दगी के लिये नौकर रखता है। (*Macmillan's Magazine* मे "*Ilias Americana in nuce*" शीर्षक लेख, अगस्त, १८६३।) इस प्रकार शहरी मजदूरो के लिये – पर देहाती मजदूरो के लिये कदापि नही – अनुदारपथी लोगो के दिलो मे सहानुभूति का जो बवण्डर उठ रहा था, वह आखिर फट ही पडा। और उसके अन्दर से निकली क्या? – दासता।

लेनी चाहिये। वह इसकी कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि कुछ समय तक २५ प्रतिशत अधिक काम निकालने की कोशिश में वह ५० वर्ष की उम्र के बजाय ३७ वर्ष की उम्र में ही मर जाता है।"[1]

अनुभाग ४ – दिन का काम और रात का काम। पालियों की प्रणाली

अतिरिक्त मूल्य के सृजन के दृष्टिकोण से स्थिर पूंजी – अथवा उत्पादन के साधनों-का अस्तित्व केवल श्रम का अवशोषण करने के लिये और श्रम के प्रत्येक बिन्दु के साथ समानुपातिक मात्रा में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करने के लिये होता है। जब उत्पादन के साधन यह काम नहीं करते, तब उनका मात्र अस्तित्व पूंजीपति के लिये अपेक्षाकृत नुकसान की बात हो जाता है, क्योंकि जितने समय तक वे बेकार पड़े रहते हैं, उतने समय तक उतनी पूंजी व्यर्थ लगी रहती है। और जब उनका इस्तेमाल बीच में रुक जाने का यह परिणाम होता है कि काम फिर से शुरू करने के समय उनपर नयी पूंजी खर्च करनी पड़ती है, तब यह नुकसान सकारात्मक और निरपेक्ष रूप धारण कर लेता है। काम के दिन को प्राकृतिक दिन की सीमाओं से आगे खींचकर और रात में भी काम लेकर इस नुकसान को थोड़ा ही कम किया जा सकता है। पूंजी में डायन की तरह श्रम के जीवित रक्त को चूसने की जो चाह होती है, रात में काम लेकर उसे केवल कुछ ही हद तक संतुष्ट किया जा सकता है। इसलिये पूंजीवादी उत्पादन में चौबीसों घण्टे काम लेने की स्वाभाविक प्रवृति होती है। लेकिन चूंकि एक ही व्यक्ति की श्रम शक्ति का दिन में भी और रात में भी लगातार शोषण करना शारीरिक दृष्टि से असम्भव होता है, इसलिये इस शारीरिक रुकावट पर काबू पाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ लोगों की शक्ति को दिन में चूसा जाये और कुछ लोगों की शक्ति को रात में। यह अदला-बदली कई प्रकार से की जा सकती है। मिसाल के लिये, ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि मजदूरों का एक भाग एक सप्ताह दिन में काम करे और दूसरे सप्ताह रात में। यह एक सुविदित बात है कि इस प्रकार की पालियों की प्रणाली का, जिसमें मजदूरों के दो दलों से बारी-बारी से दिन और रात में काम लिया जाता है, इंगलैण्ड के सूती उद्योग की भरी जवानी के दिनों में हर तरफ बोलबाला था, और, अन्य जगहों के अलावा, मास्को जिले के कपास की कताई करने वाले कारखानों में यह प्रणाली अब भी खूब जोरों से काम कर रही है। ब्रिटेन में उद्योग की ऐसी कई शाखाओं में, जो अभी तक "स्वतंत्र" हैं, जैसे इंगलैण्ड, वेल्स तथा स्कॉटलैण्ड की पिघलाने वाली भट्टियों में, लोहार की भट्टियों में, धातु की चादरें तैयार करने वाली मिलों में और धातु के अन्य कारखानों में, चौबीसों घण्टे चलने वाली इसी उत्पादन-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। यहां काम के छः दिनों के २४ घण्टों के अलावा रविवार के २४ घण्टों का अधिकतर भाग भी काम के समय में शामिल होता है। मजदूरों में मर्द और औरतें, वयस्क और बच्चे, लड़के और लड़कियां, सभी होते हैं। बच्चों और लड़कों की उम्र ८ वर्ष से (कहीं-कहीं पर ६ वर्ष से) शुरू करके १८ वर्ष तक की होती है।[2]

---

[1] Dr Richardson उप० पृ०।

[2] *Children's Employment Commission Third Report* ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'], London 1864 पृ० IV V VI (चार पांच, छ)।

उद्योग की कुछ शाखाओं में लड़कियों और औरतों को रात भर मर्दों के साथ काम करना पड़ता है।[1]

रात के काम का आम तौर पर जो खराब असर होता है,[2] उसके अलावा उत्पादन की

---

[1] "स्टेफ्फडशायर और दक्षिणी वेल्स, दोनो मे कोयला-खानो और कोक के ढेरो पर न सिर्फ दिन मे, बल्कि रात मे भी लडकिया और औरतो से काम लिया जाता है। ससद के सामने पेश की गयी कई रिपोर्टों मे बताया गया है कि इस प्रथा से बहुत भयानक बुराइया पैदा हो जाती हैं। ये स्त्रिया पुरुषो के साथ काम करती है। उनकी पोशाक पुरुषो की पोशाक से कोई खास भिन्न नही होती। वे सदा धूल और धुए से ढकी रहती हैं। और उनका स्त्रियो को शोभा न देने वाला जो काम करना पडता है, उससे अनिवार्य रूप से उनका आत्म सम्मान जाता रहता है और उससे उनमे चरित्रहीनता पैदा होने की आशका उत्पन्न हो जाती है।" (उप०, पु०, १६४, पृ० XXVI (छब्बीस)। देखिये *"Fourth Report (1865)'* ('चौथी रिपोर्ट (१८६५)'), ६१, पृ० XIII (तेरह)।) काच के कारखानो मे भी यही हालत है।

[2] एक इस्पात के कारखाने के मालिक ने, जो रात को बच्चो से काम लेता है, बताया कि "यह एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है कि जो लडके रात को काम करते हैं, वे दिन मे न तो सो सकते हैं और न ठीक तरह आराम कर सकते है, बल्कि सदा इधर-उधर दौडते रहते हैं।" (उप० पु०, *"Fourth Report* ('चौथी रिपोर्ट'), ६३, पृ० XIII (तेरह)।) शरीर के भरण-पोषण एव विकास के लिए सूरज की रोशनी कितनी आवश्यक है, इसके बारे मे एक डाक्टर ने लिखा है "प्रकाश शरीर के ऊतको को कडा करने और उनकी लोच बढाने मे उनपर सीधा प्रभाव डालता है। जब पशुओ की मास पेशियो को उचित मात्रा मे प्रकाश नही मिलता, तो वे नरम हो जाती हैं और उनकी लोच कम हो जाती है। स्नायु शक्ति का यदि पर्याप्त उद्दीपन नही प्राप्त होता, तो वह क्षीण होने लगती है। और लगता है, जैसे सारा विकास विकृत हो गया हो बच्चो के स्वास्थ्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दिन मे उनको रोशनी बराबर बहुतायत से मिलती रहे और कुछ समय तक सूरज की किरणें उनपर सीधे पडती रहे। प्रकाश अच्छे सुघटय रक्त के बनने मे मदद देता है और शरीर के तंतुओ को कडा करता है। साथ ही वह नेत्रो को भी बल देता है और इस प्रकार मस्तिष्क की विभिन्न क्रियाओ को तेज करता है।" यह अश वारसेस्टर के *"General Hospital* ('सामान्य अस्पताल') के बडे डाक्टर डब्लयू० स्ट्रेंज की रचना *Health* ('स्वास्थ्य') (१८६४) से लिया गया है। इन्ही डाक्टर साहब ने मि० व्हाइट नामक एक सरकारी जाच-कमिश्नर के नाम एक पत्र मे लिखा है "जब मै लकाशायर मे रहता था, तब मुझे यह देखने का मौका मिला था कि रात को काम करने का बच्चो पर क्या असर पडता है, और मुझे यह कहने मे कोई हिचकिचाहट नही है कि कुछ मालिक आम तौर पर जो कुछ कहने के शौकीन हैं, उसके बिल्कुल विपरीत, जिन बच्चो से रात मे काम लिया जाता है, उनका स्वास्थ्य बहुत जल्दी खराब हो जाता है।" (उप० पु०, २८४, पृ० ५५।) ऐसे प्रश्न पर भी कोई गम्भीर वाद विवाद खडा हो सकता है,—इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूजीपतियो और उनके मुसाहबो के दिमागो को पूजीवादी उत्पादन कितना कुद कर देता है।

प्रक्रिया के चौबीसो घण्टे जारी रहने से काम के सामान्य दिन की सीमाओं का अतिक्रमण करने की बडी सुविधा हो जाती है। मिसाल के लिये, उद्योग की जिन शाखाओ का ऊपर जिक्र किया गया है और जिनमें मजदूरो को बहुत थका देने वाला काम करना पडता है, उनमें रस्मी तौर पर हर मजदूर के लिये काम के दिन का यह मतलब होता है कि उसे या तो दिन को और या रात को बारह घण्टे काम करना चाहिए। परन्तु असल में उसे अवसर इससे कहीं ज्यादा काम करना पडता है। इगलण्ड की एक सरकारी रिपोट के अनुसार बहुत से उद्योगो में इस चीज ने "सचमुच डरावना" ("truly fearful) रूप धारण कर लिया है।[1]

इसी रिपोट में आगे लिखा है "निम्नलिखित अशो में जिस काम का वणन किया गया है, बहुत अधिक मात्रा में वह काम ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक की आयु के लडकों को करना पडता है यह एक बार समझ लेने के बाद हर आदमी लाजिमी तौर पर इसी नतीजे पर पहुचेगा कि माता पिता और मालिको की शक्ति का ऐसा दुरुपयोग अब और जारी नहीं रहने दिया जा सकता।"[2]

"यदि लडको से बारी बारी से दिन में और रात में काम लेने की प्रथा तनिक भी जारी हो जाती है, तो चाहे सामान्य रूप से इसका उपयोग किया जाये और चाहे किसी विशेष आवश्यकता के समय, उसका अनिवाय रूप से यह परिणाम होता है कि लडके अक्सर हद से ज्यादा देर तक काम करते रहते ह। कुछ जगहो में तो उनको इतनी ज्यादा देर तक काम करना पडता है, जो बच्चो के प्रति न केवल निदयता की बात है, बल्कि जिसके बारे में विश्वास तक करना कठिन है। अनेक लडको में से दो एक, जाहिर है, किसी न किसी कारण से अक्सर गैर हाजिर रहते ह। जब यह होता है, तो उनका स्थान एक या अधिक लडके ले लेते है, जो एक के बाद दूसरी पाली में भी काम करते हैं। यह बात कि यह एक जानी-मानी हुई प्रणाली है, एक बडी रोलिग मिल के मनेजर के उत्तर से स्पष्ट हो गयी। मने उससे पूछा कि दिन पाली या रात पाली में जो लडके अनुपस्थित रहते ह, उनके स्थान पर कौन काम करता है? उसने जवाब दिया "जनाब, मेरा खयाल है कि यह बात तो आपको भी उतनी ही अच्छी तरह मालूम होगी, जितनी मुझे।" और यह कहकर उसने असलियत तसलीम कर ली।"[3]

"एक रोलिग मिल में, जहा काम का नियत समय सुबह ६ बजे से शाम के ५$\frac{१}{२}$ बजे तक था, एक लडका हर हफ्ते लगभग चार दिन रात के कम से कम ८$\frac{१}{२}$ बजे तक काम करता था और छ महीने तक यही स्थिति चलती रही। एक दूसरा लडका, जब उसकी उम्र ६ बरस की थी, तो वह कभी कभी बारह-बारह घण्टे की तीन पालियो तक लगातार काम करता चला जाता था, और १० वर्ष का हो जाने पर वह कभी कभी दो दिन और दो रात तक लगातार काम करता रहता था।" एक तीसरा लडका है, "जिसकी उम्र अब १० वष है, वह हफ्ते में तीन दिन सुबह ६ बजे से रात के १२ बजे तक काम करता था और तीन दिन रात के ६ बजे तक।" "एक और लडका है, जिसकी उम्र अब १३ वष की है, वह पूरे एक

[1] उप० पु०, ५७, पृ० XII (बारह)।

[2] उप० पु०, "*Fourth Report (1865)* ['चौथी रिपोट (१८६५)'], ५८, पृ० XII (बारह)।

[3] उप० पु०।

सप्ताह तक रोज शाम के छ बजे से अगले दिन दोपहर के १२ बजे तक काम करता रहा, और कभी कभी तो वह तीन पालियो तक, यानी सोमवार की सुबह से मगल की रात तक, लगातार काम करता चला जाता था।" "एक और लडका है, जिसकी उम्र अब १२ [illegible] है। वह स्टवले के एक लोहे की ढलाई के कारखाने में पूरे चौदह दिन तक रोज [illegible] बजे से रात के १२ बजे तक काम करता रहा, और आखिर उसकी ताक़त ने जवाब दे [illegible]" "९ वर्ष के जार्ज ऐलिन्सवय ने बताया कि वह यहा पिछले शुक्रवार को तहखाने में [illegible] के लिये आया था। वह बोला 'अगले दिन हम लोगो को सुबह ३ बजे [illegible] था, इसलिये म रात भर यहीं रुका रहा। वसे म रहता हू यहा से पाच मील दूर। [illegible] भट्टी के फश पर एक ऐपरन बिछाकर सो गया, एक छोटा सा कोट था, [illegible] बाकी दो दिन म सुबह ६ बजे ही यहा पहुच गया था। बाप रे! सचमुच [illegible] है। यहा आने के पहले मने देहात के एक ऐसे ही कारखाने में एक बरस [illegible] था। वहा भी शनिवार की सुबह को ३ बजे काम शुरू कर देना पडता था—[illegible] को। पर वह कारखाना मेरे घर के बहुत नजदीक था, और मैं घर [illegible] दिन में सुबह ६ बजे काम शुरू करता था और शाम को ६ या ७ [illegible]'," इत्यादि, इत्यादि।[1]

आइये, अब जरा यह देखें कि २४ घण्टे काम लेने की प्रणाली के विषय में खुद पूजी क्या सोचती है। इस प्रणाली के चरम रूपो के बारे में—काम के दिन का "निर्दयतापूर्ण एवं अविश्वसनीय ढग से" विस्तार करने के रूप में इस प्रणाली का जो दुरुपयोग किया जाता है, उसके बारे में—पूजी स्वभावत चुप्पी साध लेती है। पूजी इस प्रणाली के केवल "सामान्य" रूप की ही चर्चा करती है।

पूछे गये, तो उसने जवाब दिया dog (कुत्ता), और रानी का नाम उसे मालूम नहीं था।" (*'Ch Employment Comm V Report, 1866* ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५वी रिपोट, १८६६'], पृ० ५५, अक २७८।) धातु-कर्मी कारखाना म जो व्यवस्था पायी जाती है और जिसका ऊपर वणन किया गया है, वही काच और कागज के कारखानो मे भी पायी जाती है। कागज़ की फैक्टरियो मे, जहा पर मशीन से कागज बनाया जाता है, चिथडे छाटने की प्रक्रिया को छोडकर बाकी सब प्रक्रियाओं मे रात मे काम कराया जाता है। कुछ फैक्टरियो मे पालियो की प्रणाली के द्वारा पूरे सप्ताह लगातार रात मे काम होता रहता है, वह साधारणतया रविवार की रात को शुरू होता है और अगले शनीचर की आधी रात तक चलता रहता है। जो मजदूर दिन-पाली मे काम करते है, वे हर हफ्ते ५ दिन बारह-बारह घण्टे काम करते हैं और १ दिन १ घण्टे, जो रात पाली मे काम करते हैं, वे ५ रातो तक १२ घण्टे और एक रात छ घण्टे काम करते है। दूसरे कारखानो मे जब साप्ताहिक पालियो का परिवतन किया जाता है, तो हर पाली लगातार २४ घण्टे काम करती है, यानी एक पाली सोमवार को ६ घण्टे और शनीचर को १८ घण्टे काम करके चौबीस घण्टे पूरे कर देती है। दूसरी फैक्टरियो मे एक बीच की व्यवस्था पायी जाती है, जिसमे कागज बनाने की मशीन पर काम करने वाले तमाम मजदूर हर रोज़ १५ या १६ घण्टे मेहनत करते है। जाच-कमिश्नर लार्ड ने कहा है कि इस प्रणाली मे, "मालूम होता है, १२ घण्टे की पाली और २४ घण्टे की पाली, दोनो की तमाम बुराइया आकर इकट्ठी हो गयी हैं।" १३ वष से कम के बच्चो से, १८ वष से कम के लडको, लडकियो से और स्त्रियो से भी रात मे काम लिया जाता है। १२ घण्टे वाली व्यवस्था मे कभी कभी, जब दूसरी पाली के कुछ आदमी काम पर नही आते, तो उन्हे २४ घण्टे की पालियो का काम निवटाना पडता है। जाच-कमिश्नरो के सामने दिये गये बयाना से यह बात साफ हो गयी है कि लडके-लडकियो को अक्सर ओवरटाइम काम करना पडता है, जो प्राय २४ घण्टे और यहा तक कि ३६ घण्टे तक भी लगातार चलता रहता है। काचन की अनवरत तथा सदा एक ढग से चलने वाली प्रक्रिया मे १२-१२ बरस की लडकिया काम करती पायी जाती हैं, जो पूरे महीने १४ घण्टे रोज़ काम करती है और जिनको "भोजन करने की मद्द आध घण्टे की २ या अधिक से अधिक ३ छुट्टिया के सिवा बीच मे एक भी नियमित अवकाश नहीं मिलता।" कुछ मिला मे, जहा नियमित रूप से चलने वाला रात का काम बिल्कुल बन्द कर दिया गया है, मजदूर-मजदूरिनो से भयानक रूप मे अत्यधिक काम लिया जाता है, "और अक्सर इस तरह का काम सबसे ज्यादा गन्दी, सबसे ज्यादा गरम और सबसे अधिक नीरस प्रक्रियाओ मे लिया जाता है।"(*Ch Employment Comm Report IV 1865* ['बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोट, १८६५'], पृ० XXXVIII (अडतीस) और XXXIX (उन्तालीस)।)

मेसर्स नेलर एण्ड विकस इस्पात तैयार करते हैं। उनके यहा ६०० और ७०० के बीच आदमी काम करते हैं। उनमें से केवल १० प्रतिशत की उम्र १८ वर्ष से कम है, और इनमें से भी केवल २० लडके रात को काम करते हैं। मेसर्स नेलर एण्ड विकस ने इस प्रणाली के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं "लडको को गरमी से कोई तकलीफ नहीं होती। तापमान शायद ८६° से ९०° तक रहता है भट्टी-खाने और रोलिंग मिल में मजदूर पाली पाली से दिन रात काम करते रहते हैं, पर बाकी सब विभागो में दिन में, यानी सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक, काम होता है। भट्टी-खाने में काम का समय १२ से १२ तक है। कुछ मजदूरो को सदा रात में ही काम करना पडता है, उनकी पाली नहीं बदलती जो लोग नियमित रूप से रात में काम करते हैं, उनका स्वास्थ्य उन लोगो से किसी तरह बुरा नहीं है, जो दिन में काम करते हैं। और सम्भवत यदि लोगो का छुट्टी का समय एक सा रहता है और उसमें बार-बार परिवर्तन नहीं होता, तो वे ज्यादा अच्छी नींद सो सकते हैं १८ वर्ष से कम उम्र के करीब २० लडके रात की पालियो में काम करते हैं १८ वर्ष से कम उम्र के इन लडको से रात को काम कराये बगैर शायद हमारा काम नहीं चल सकता। उनसे रात को काम न लेने के खिलाफ ऐतराज यह होगा कि उत्पादन का खर्चा बढ़ जायेगा हर विभाग के लिये निपुण मजदूर और फोरमन बहुत मुश्किल से मिलते हैं, मगर लडके किसी भी सख्या में मिल सकते हैं लेकिन हमारे यहा लडको का अनुपात इतना कम है कि यह विषय (अर्थात् रात के काम पर प्रतिबंध लगाने का विषय) हमारे लिये कोई दिलचस्पी या महत्व नहीं रखता।"[1]

मेसर्स जान ब्राउन एण्ड कम्पनी का एक इस्पात और लोहे का कारखाना है, जिसमें क़रीब ३,००० मर्द और लडके काम करते हैं। इसका कुछ काम, यानी लोहे का काम तथा इस्पात का ज्यादा भारी काम दिन रात पालियों में होता है। इस फर्म के एक हिस्सेदार, मि० जे० एलिस का कहना है कि "इस्पात के ज्यादा भारी काम के लिये हर दो आदमियो पर एक या दो लडके नौकर रखे जाते हैं।" इस कम्पनी ने १८ वर्ष से कम उम्र के ५०० से ज्यादा लडकों को नौकर रख रखा है, जिनमें से लगभग एक तिहाई—यानी १७०—की उम्र १३ वर्ष से भी कम है। बालकों को नौकर रखने के सम्बंध में क़ानून में जो परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया जा रहा था, उसके विषय में मि० एलिस ने कहा "यदि कोई इस तरह का नियम बना दिया जाये कि १८ वर्ष से कम उम्र का कोई व्यक्ति २४ घण्टे में १२ घण्टे से ज्यादा काम नहीं कर सकता, तो मुझे इसमें कोई बहुत आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होगी। लेकिन हमारी राय में १२ वर्ष की उम्र के ऊपर कोई रेखा खींचकर यह नहीं कहा जा सकता कि इससे कम उम्र के लडकों से रात को काम न लिया जाये। जो लडके हमारे यहाँ नौकर हैं उनसे रात को काम न लेने की अपेक्षा तो हम यह बेहतर समझेंगे कि १३ वर्ष से कम उम्र के, या यहाँ तक कि १४ वर्ष से कम उम्र के लडको को नौकर रखने पर ही रोक लगा दी जाये। जो लडके दिन-पाली में काम करते हैं, उनको अपनी बारी आने पर रात-पाली में भी काम करना होगा, क्योंकि मर्द लोग सदा रात को काम नहीं कर सकते,—उससे उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो जायेगी लेकिन हमारे विचार से, हर दूसरे हफ्ते में रात को काम

[1] "*Fourth Report &c 1865*" ('चौथी रिपोर्ट, इत्यादि, १८६५'), ७९, पृ० XII (बारह)।

करने में कोई बुराई नहीं है। (इसके विपरीत, अपने व्यवसाय के हितों को देखते हुए नेलर एण्ड विकस की यह राय थी कि लगातार रात को काम करने की अपेक्षा थोड़े-थोड़े दिन बाद रात को काम करना स्वास्थ्य के लिये ज्यादा हानिकारक होगा।) हमें ऐसे आदमी मिल जाते हैं, जो हर दूसरे सप्ताह में रात को काम करने को तैयार होते हैं, और ऐसे मिल जाते हैं, जो केवल दिन में काम करते हैं, और उनके स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं होता। १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों से रात को काम न लेने देने के खिलाफ हम इसलिये एतराज करते हैं कि उससे खर्चा बढ़ जायेगा, लेकिन हम और किसी कारण से उसपर एतराज नहीं करते। (कैसा निर्लज्ज भोलापन है यह!) हम समझते हैं कि इससे खर्चा इतना अधिक बढ़ जायेगा कि हमारा व्यवसाय उसे सहन नहीं कर पायेगा और वह सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकेगा। (The trade, with due regard to its being successfully carried out, could fairly bear! – कैसी चिकनी चुपड़ी बातें हैं!) यहां मजदूर मुश्किल से मिलते हैं, और यदि कोई ऐसा नियम बन गया, तो मुमकिन है कि मजदूरों की कमी हो जाय।" (अर्थात मुमकिन है कि तब मेसर्स एलिस ब्राउन एण्ड कम्पनी पर यह मुसीबत आ जाय कि उन्हें श्रम शक्ति का पूरा मूल्य चुकाना पड़े।)[1]

मेसर्स कम्मेल एण्ड कम्पनी का 'साइक्लोप्स स्टील एण्ड आयरन वर्क्स' उतने ही बड़े पैमाने का कारखाना है, जितने बड़े पैमाने का कारखाना मेसर्स जान ब्राउन एण्ड कम्पनी का है, जिसका हमने ऊपर जिक्र किया है। उसके मैनेजिंग डायरेक्टर ने सरकारी जांच-कमिश्नर मि० व्हाइट को अपना बयान लिखित रूप में दिया था। बाद को जब बयान की हस्तलिपि उनके पास दोहराने के लिये लौटकर आयी, तो वह उसे दाबकर बैठ गये। ऐसा करना उनके अनुकूल था। मगर मि० व्हाइट की याददाश्त अच्छी थी। उनको अच्छी तरह याद था कि साइक्लोप्स कम्पनी की राय यह थी कि बच्चों तथा लड़के-लड़कियों से रात में काम लेने पर प्रतिबंध लगाना "असम्भव है, क्योंकि वह तो उनके कारखाने को बंद कर देने के बराबर होगा", और फिर भी असलियत यह थी कि उनके यहां १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या ६ प्रतिशत से थोड़ी ही ज्यादा थी और १३ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या तो १ प्रतिशत से भी कम थी।[2]

मेसर्स सण्डसन ब्रदर्स एण्ड कम्पनी का एट्टरक्लिफ में इस्पात की रोलिंग मिल और भट्ठीखाना है। इसके मि० ई० एफ० सैण्डसन ने इसी प्रश्न पर यह मत प्रकट किया है: "यदि १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों को रात में काम करने से रोक दिया गया, तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी। सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि लड़कों की जगह मर्दों को नौकर रखने के कारण लागत बढ़ जायेगी। यह तो मैं नहीं कह सकता कि लागत कितनी बढ़ जायेगी, पर शायद यह इतनी नहीं बढ़ेगी कि उसके आधार पर कारखाने वाले इस्पात के दाम बढ़ा दें। नतीजा यह होगा कि यह बढ़ी हुई लागत कारखाने वालों को ही बर्दाश्त करनी पड़ेगी, क्योंकि, जाहिर है, मजदूर तो उसे देने को तैयार होंगे नहीं (कितने अजीब लोग हैं ये मजदूर भी!)।" मि० सण्डर्सन को इसका ज्ञान नहीं है कि उनके यहां जो बच्चे काम करते हैं, उन्हें वह कितनी मजदूरी देते हैं, लेकिन "कम उम्र लड़कों को शायद ४ शिलिंग से

[1] उप० पु०, ८०, पृ० XVI (सोलह)।
[2] उप० पु०, ८२, पृ० XVII (सत्रह)।

लेकर ५ शिलिंग तक फी हफ्ता मिलता है   लडको को इस तरह का काम करना होता है, जिसके लिये उनकी ताकत आम तौर पर (महज "generally, हमेशा नहीं) काफी होती है, और इसलिये लडको की जगह पर जब मर्दो को नौकर रखा जायेगा, तो उनकी ज्यादा ताकत से हमारा कोई फायदा न होगा, जिससे बढे हुए खर्चे का नुकसान पूरा हो सके, या यदि कुछ फायदा होगा, तो केवल उन च द जगहो पर, जहा धातु बहुत भारी होती है। मर्दों को यह पस द नहीं आयेगा कि उनके मातहत लडके काम नहीं करते, क्योकि लडको की जगह पर जो मद नौकर रखे जायेंगे, वे उतने आज्ञाकारी नहीं होगे। इसके अलावा, लडको को बचपन में ही धधा सीखना शुरू कर देना चाहिये। यदि उनको सिफ दिन में ही काम करने की इजाजत दी जायेगी, तो उससे यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा।" क्यो नहीं पूरा होगा? लडके दिन में काम करके धधा क्यो नहीं सीख सकते? वजह सुनिये "मर्द चूकि बारी-बारी से एक सप्ताह दिन में काम करेंगे और एक सप्ताह रात में, इसलिये आधे समय उनको अपने मातहत काम करने वाले लडको से अलग काम करना होगा, और लडको के जरिये वे जो नफा कमाते ह, उसका आधा उनके हाथ से निकल जायेगा। यह जानी-समझी बात है कि लडके जो मेहनत करते ह, उसके एक भाग के एवज में ही मर्द उनको काम सिखाते हे और इसलिये लडके उनको अपेक्षाकृत सस्ती दर पर मिल जाते हैं। इस नफे का आधा भाग हर आदमी के हाथ से जाता रहेगा।" दूसरे शब्दा में, मेसर्स सण्डसन आजकल वयस्क मजदूरो की मजदूरी का एक हिस्सा लडको के रात के काम के रूप में निबटा देते हैं, प्रतिबध लग जाने पर उनको यह हिस्सा अपनी जेब से देना होगा। इसलिये मेसर्स सण्डसन का नफा कुछ हद तक कम हो जायेगा। यही वह सण्डसन मार्का जोरदार कारण है, जिसके फलस्वरूप लडके दिन में काम करके अपना धधा नहीं सीख पायेंगे।[1] इसके अलावा, लडको की जगह पर तब वयस्क मजदूरो को रात में काम करना पडेगा, और वे रात का काम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे। वस्तुत कठिनाइया इतनी अधिक हो जायेंगी कि अ त में सम्भवतया रात का काम बिल्कुल ब द कर देना पडेगा, और, मि० ई० एफ० सण्डसन के शब्दो में, "जहा तक खुद *काम का सम्बध है, इससे हमें कोई परेशानी नहीं होगी, लेकिन* " आखिर मेसस सैण्डसन का उद्देश्य केवल इस्पात बनाना ही तो नहीं है। आखिर इस्पात बनाना अतिरिक्त मूल्य पदा करने का महज एक बहाना ही तो है। धातु गलाने की भट्ठियों और रोलिंग मिलो आदि को, कारखाने के मकानो और मशीनो को, लोहे और कोयले आदि को इस्पात में रूपा तरित होने के अलावा भी कुछ करना है। उनको अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करना है, और, जाहिर है, वे १२ घण्टे के मुकाबले में २४ घण्टे में ज्यादा अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करते ह। सच तो यह है कि भगवान की दया से और कानून के प्रताप से ये तमाम चीजें मेसस सण्डसन को मजदूरो की एक निश्चित सख्या के श्रम-काल को रोजाना चौबीस घण्टे इस्तेमाल करने का अधिकार दे देती ह, और जसे ही इन चीजो का श्रम का अवशोषण करने का काम बीच में रुक जाता है, वसे ही उनका पूजी का स्वरूप नष्ट हो जाता है और उनसे सिर्फ

[1] यह चिन्तन और तर्क का युग है। इस युग मे जो आदमी हर चीज का, वह आज चाहे कितनी खराब और पागलपन से भरी क्यो न हो, कोई अच्छा कारण नहीं बता सकता उस आदमी की कीमत ज्यादा नही समझी जाती। दुनिया मे आज तक जो कुछ गलत ढग से किया गया है, वह हमेशा सर्वोत्तम कारणो से किया गया है। (Hegel, उप० पु०, पृ०, -

सैण्डसन को विशुद्ध हानि होने लगती है। "पर तब हमारा यह नुकसान होगा कि इनकी कीमती मशीनें आधे समय बेकार पडी रहा करेंगी, और मौजूदा व्यवस्था के रहते हुए हम जितना काम कर लेते हैं, उतना काम करने के लिये हमें अपना कारखाना और मशीनें आज से दुगुनी कर देनी पडेंगी, जिसके फलस्वरूप हमें आज से दुगुनी पूजी लगानी पड जायगी।" परन्तु मेसर्स सैण्डर्सन एक ऐसा विशेषाधिकार क्यो चाहते हैं, जो उन दूसरे पूजीपतियों को नहीं प्राप्त है, जो केवल दिन में काम कराते ह और इसलिये जिनकी इमारतें, मशीनें, कच्चा माल वग़ैरह रात को "बेकार" पडे रहते हे? मेसस सण्डसन जसे सभी पजीपतियों की तरफ से ई० एफ० सैण्डसन इस प्रश्न का यह उत्तर देते ह "यह सच है कि जिन कारखानो में केवल दिन में काम होता है, उनमें भी मशीनें बेकार पडी रहती ह और उनसे इस तरह का नुक़सान होता है। लेकिन हम चूकि भट्टियो का इस्तेमाल करते ह, इसलिए हमारा उनसे ज्यादा नुकसान होगा। यदि हम भट्टियो को जलाये रखेंगे, तो इधन बकार खच होगा (जब कि आजकल केवल मजदूरो की जीवन-शक्ति खच होती है), और यदि हम उनको ठण्डा हो जाने देंगे, तो नये सिरे से आगे जलाने और भट्टियो को गरम करन में बहुत सा समय व्यर्थ जाया हो जायेगा (जब कि आठ आठ वर्ष के बच्चो को भी यदि सोने का समय नहीं मिलता, तो उससे सण्डसनो की कौम को अतिरिक्त श्रम काल मिल जाता है) और तापमान के परिवतन से खुद भट्टिया खराब हो जायेंगी" (जब कि मजदूरो की दिन और रात की पालियो के बदलते रहने से इन भट्टियो की कोई हानि नहीं होगी)।[1]

---

[1]उप० पु०, ८५, पृ० XVII (सत्रह)। काच के कारखानो के मालिको ने भी इसी प्रकार बडी सहृदयता का परिचय देते हुए बच्चो को नियत समय पर भोजन की छुट्टी देने के प्रस्ताव का इस बिना पर विरोध किया था कि यदि ऐसा किया गया, तो भट्टियों की गरमी का एक भाग "व्यथ जाया" हो जायेगा, जिससे उनका "सरासर नुकसान" होगा। इस दलील का जाच-कमिश्नर व्हाइट ने जवाब दिया है। उनका जवाब उरे, सीनियर आदि तथा राश्चेर के ढग के उनके जमन नक्कालो जैसा नही है, जिनका हृदय पूजीपति अपना सोना खच करने मे जिस "परिवजन", जिस "अपरिग्रह" और जिस "मितव्ययिता" का परिचय देते हैं और मानव-जीवन का व्यय करने मे जिस तैमूरशाही दरियादिली का प्रदशन करते हैं, उससे द्रवित हो उठता है। कमिश्नर व्हाइट ने लिखा है "यह मुमकिन है कि यदि भोजन का समय निश्चित कर दिया जायेगा, तो जितनी गरमी इस वक्त जाया होती है उससे थोडी ज्यादा गरमी जाया होने लगेगी, लेकिन यह नुकसान मुद्रा-मूल्य मे शायद जीवन शक्ति के उस अपव्यय ('the waste of animal power) के बराबर नही होगा, जो पूरे राज्य के काच के कारखानो मे नयी उम्र के लडको को आराम से खाना खाने और खान के बाद उसे हजम करने के लिये पर्याप्त विश्राम करने के लिये काफी समय न देन के फलस्वरूप हो रहा है।" (उप० पु०, पृ० VLV (पैतालीस)।) और यह १८६५ के "प्रगति के वर्ष" में हो रहा है! जिस शेड मे बोतलें और सीस-काच बनाया जाता है, उसमे काम करने वाले बच्चे को सामान उठाने और ले जाने म जो शक्ति खच करनी पडती है, हम यदि उसकी ओर कोई ध्यान न दें, तो भी उस बच्चे को अपने काम के दौरान मे हर ६ घण्टे में १५ से मील चलना पडता है! और काम अक्सर १४ या १५ घण्टे तक चलता रहता है! मास्को की बनाई मिलो की तरह काच के इन कारखाना मे से अनेक मे ६ घण्टे की पालियो की

अनुभाग ५—काम का सामान्य दिन प्राप्त करने का संघर्ष। —काम के दिन का विस्तार करने के विषय मे १४वी सदी के मध्य से १७वी सदी के अन्त तक बनाये गये अनिवार्य कानून

"काम के दिन का क्या अर्थ है? पूजी उस श्रम शक्ति का कितने समय तक उपभोग कर सकती है, जिसका दैनिक मूल्य उसने चुका रखा है? स्वय श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये जितना श्रम-काल आवश्यक है, काम के दिन को उसके आगे कितना खींचा जा सकता है?" हम यह देख चुके हैं कि इन तमाम सवालो का पूजी यह जवाब देती है कि काम के दिन में पूरे चौबीस घण्टे होते ह, जिनमें से आराम के वे चद घण्टे काट लिये जाते हैं, जिनके बिना श्रम शक्ति आगे काम करने से एकदम इनकार कर देती है। इसलिये यह एक स्वत स्पष्ट बात है कि मजदूर अपनी जिदगी भर श्रम शक्ति के सिवा और कुछ नहीं होता और इसलिये उसका वह सारा समय, जिसमें वह काम कर सकता है, प्रकृति और कानून के नियमो के अनुसार पूजी के आत्म विस्तार के लिये खच होना चाहिये। जो लोग मजदूर को शिक्षा के लिये, बौद्धिक विकास के लिये, सामाजिक कार्यों तथा सामाजिक आदान प्रदान के लिये, उसकी शारीरिक एव मानसिक शक्तियो के स्वच्छद विकास के लिये या यहा तक कि

व्यवस्था के अनुसार काम होता है। "सप्ताह का जो हिस्सा काम मे खच होता है, उसके दौरान मे एक बार मे ज्यादा से ज्यादा छ घण्टे लगातार आराम करने के लिये मिलते हैं, और घर से कारखाने तक आने-जाने मे, नहाने धोने और कपडे पहनने मे तथा भोजन करने मे जो समय जाता है, वह भी इही छ घण्टो मे से निकालना पडता है। इसलिये, आराम करने के लिये सचमुच बहुत ही कम समय मिलता है, और ताजा हवा मे घूमने और खेलने के लिये तो जरा भी समय नही मिलता। हा, अगर नीद का समय काटकर घूमा और खेला जाये, तो बात दूसरी है। मगर इन छोटे छोटे लडको के लिये, खास तौर पर इतनी ज्यादा गरमी मे ऐसा थका देने वाला काम करने के बाद, सोना बहुत जरूरी होता है और जो थोडी सी नीद ये लोग ले पाते हैं, वह भी अक्सर बीच मे ही टूट जाती है। लडका को रात को अक्सर बीच मे ही नियत समय पर उठने की चिता के कारण जाग जाना पडता है, और दिन मे वे शोर के कारण अच्छी तरह सो नही पाते। मि० व्हाइट ने कुछ ऐसे उदाहरण बताये हैं, जहा एक लडके को लगातार ३६ घण्टे तक काम करना पडा, १२ वष की उम्र के कुछ और लडको ने सुबह के २ बजे तक काम किया, फिर वे कारखाने मे ही सो गये और ५ बजे (सिफ ३ घण्टे सोने के बाद!) उठकर फिर काम मे लग गये। ट्रेमेनहीर और टुफनैल ने, जिहोने कमीशन की सामाय रिपोट का मसौदा तैयार किया था, कहा है "अपनी दिन-पाली या रात-पाली मे लडको, नौजवानो, लडकियो और औरतो को जितना काम करना पडता है, वह निश्चय ही एक असाधारण चीज है।" (उप० पु०, प० XLIII (तैंतालीस) और XLIV (चवालीस)।) उधर शायद काफी रात बीत जाने पर त्यागमूर्त्ति श्रीमान काच पूजी पोट शराब से मस्त होकर अपन से घर की ओर रवाना होते हैं और रास्ते में अहमकाना अदाज से गुनगुनाते जाते हैं Britons never never shall be slaves! ("न होंगे, न होंगे कभी ब्रिटेनवासी गुलाम!")

रविवार को विश्राम करने के लिये (ध्यान रहे, यह देश रविवार को विश्राम करने वालों का देश है!)[1] समय देने की बात करते ह, ये खयाली पुलाव पका रहे ह! लेकिन अनियंत्रित लोभ से अधी होकर अतिरिक्त श्रम के लिये वृक-मानव की तरह भूखी पूजी काम के दिन की न केवल नैतिक, बल्कि विशुद्ध शारीरिक सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाती है। पूजी शरीर की वृद्धि, विकास और भरण-पोषण के लिये आवश्यक समय को भी हडप लेती है। ताजा हवा और सूरज की धूप का सेवन करने के लिये जो समय चाहिये, वह उसे भी चुरा लेती है। वह भोजन के समय को लेकर हुज्जत करती है और जहा मुमकिन होता है, इस समय को भी उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल कर लेती है, जिससे मजदूर को काम के दौरान में उत्पादन के किसी साधन की तरह ही भोजन दिया जाता है, जैसे बायलर को कोयला और मशीन को ग्रीज और तेल दिया जाता है। अपनी शारीरिक शक्तियों में नयी जान डालने, नया बल भरने और ताजगी लाने के लिये मजदूर को गहरी नींद सोने की जरूरत होती है। मगर पूजी उसे थकन से एकदम चूर होकर केवल चद घण्टे निश्चल पडे रहने की इजाजत देती है, क्योंकि यदि वह यह भी न करे, तो मजदूर का शरीर काम करने से जवाब दे दे। काम के दिन की सीमाए इस बात से नहीं निर्धारित होती कि श्रम शक्ति को सामान्य अवस्था में रखने के लिये मजदूर को आराम करने के लिये कितना समय देना आवश्यक है, मजदूर के आराम करने के समय की सीमाए इस बात से निश्चित होती हैं कि मजदूर चाहे जितना ही यातनाप्रद काम करे और उससे चाहे कैसे ही जबदस्ती काम लिया जाये, और उसका काम चाहे जितना तकलीफदेह हो, श्रम-शक्ति का रोजाना अधिक से अधिक व्यय करना आवश्यक

---

[1] इगलैण्ड मे अब भी कभी-कभी यह होता है कि यदि देहाती इलाकों म कोई मजदूर रविवार को अपने झोपडे के सामने वाले बगीचे मे काम करता हुआ पाया जाता है, तो विश्राम के पवित्र दिन का उल्लघन करने के अपराध मे उसे जेल भेज दिया जाता है। पर यही मजदूर यदि रविवार के दिन धातु, कागज या काच के उस कारखाने मे काम करने न जाये, जहा वह नौकर है, तो भले ही वह अपनी धार्मिक भावना के कारण काम पर न गया हो, उसे करार तोडने का दोषी ठहराया जाता है और सजा सुना दी जाती है। यदि पूजी का विस्तार करने की प्रक्रिया के दौरान मे विश्राम के पवित्र दिन का उल्लघन किया जायेगा, तो धर्म भीरु ससद भी उसके खिलाफ कोई शिकायत न सुनेगी। लदन की मछली और मुर्गी अण्डो की दूकानो मे काम करने वाले दिन मजदूरो ने अगस्त १८६३ मे एक आवेदन पत्र के द्वारा यह माग की थी कि उनसे रविवार को काम लेने पर प्रतिबध लगा दिया जाये। इस आवेदन पत्र मे बताया गया है कि सप्ताह के पहले छ दिन उन्हे औसतन पद्रह घण्टे रोजाना काम करना पडता है और रविवार को ८-१० घण्टे। इसी आवेदन पत्र से यह भी पता चलता है कि एक्सटर हाल के अभिजात वर्गीय बगला भगतो मे कुछ ऐसे स्वाद प्रेमी भोजन भट्ट है, जो रविवार के इस काम (this Sunday labour) को खास बढावा देते है। ये "साधु-हृदय" लोग, जो "in cute curanda (अपने हित साधन मे) इतना उत्साह दिखाते हैं, व दूसरा के कठिन परिश्रम, दैन्य और भूख को अत्यत विनम्रता के साथ सहन करके ईसाई धर्म के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करते है। Obsequium ventris istis perniciosius est [उन (मजदूरो) के लिये जबान के चटखारे से प्यार करना बहुत खतरनाक होगा, क्योंकि इससे उनका सत्यानाश हो जायेगा]।

है। पूजी को इस बात की कोई चिता नहीं होती कि श्रम शक्ति कितने दिन तक जीवित रहेगी। उसको तो केवल और एकमात्र इस बात की चिता होती है कि काम के एक दिन में ज्यादा से ज्यादा श्रम-शक्ति खर्च कर डाली जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूजी मजदूर की जिदगी को वसे ही कम कर देती है, जसे लालची किसान अपनी धरती की उपज बढाने के लिये उसकी उर्वरता को नष्ट कर डालता है।

इस प्रकार, उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली (जो कि बुनियादी तौर पर अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन या अतिरिक्त श्रम का अवशोषण होती है) काम के दिन का विस्तार करने के साथ-साथ न केवल मानव-श्रम-शक्ति के विकास तथा काय करने के लिये आवश्यक साधारण नतिक एव शारीरिक परिस्थितियो से उसे वचित करके उसे पतन के गढ़े में धकेल देती है, बल्कि खुद इस श्रम शक्ति को भी वह समय से पहले ही थका डालती है और उसकी हत्या कर देती है।[1] वह किसी एक निश्चित अवधि में मजदूर का उत्पादन-काल बढाने के लिये उसके वास्तविक जीवन-काल को छोटा कर देती है।

लेकिन श्रम-शक्ति के मूल्य में उन मालो का मूल्य शामिल होता है, जो मजदूर के पुनरुत्पादन के लिये, या मजदूर-वग का अस्तित्व कायम रखने के लिये, आवश्यक होते हैं। इसलिये, पूजी आत्म-विस्तार के अनियन्त्रित मोह में पडकर काम के दिन का अनिवार्य रूप से जो अस्वाभाविक विस्तार करती है, उसके फलस्वरूप मजदूर के जीवन की अवधि और इसलिये उसकी श्रम शक्ति की अवधि यदि कम हो जाती है, तो उसकी जो शक्तिया खच हो गयी ह, उनकी कमी को और जल्दी पूरा करना होगा और श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन का खर्चा पहले से बढ जायेगा। यह उसी तरह की बात है, जसे कोई मशीन जितनी जल्दी घिस जाती है, उसके मूल्य के उतने ही बडे भाग के बराबर नया मूल्य रोज पैदा करना होता है। इसलिये लगता है कि खुद पूजी का हित भी इसी बात में है कि काम के दिन की लम्बाई सामान्य हो।

गुलामों का मालिक जसे घोडा खरीदता है, वसे ही वह मजदूर को भी खरीदता है। यदि उसका गुलाम मर जाता है, तो उसकी पूजी डूब जाती है, जिसके स्थान की पूर्ति केवल गुलामो की मण्डी में नयी पूजी खच करने से ही हो सकती है। किन्तु "जाजिया का धान का इलाका या मिसीसिपी नदी का दलदल मानव शरीर के लिये भले ही अत्यन्त घातक हो, पर इन इलाको की खेती के लिये इनसानो की जितनी जिदगियो का जाया होना जरूरी होता है, वे सख्या में इतनी अधिक नहीं होतीं कि बडी सख्या में हब्शियो का उत्पादन करने वाले वर्जीनिया और केण्टुकी के क्षेत्रो से उनकी कमी को पूरा न किया जा सके। इसके अलावा, जहा प्राकृतिक अवस्था में मितव्ययिता का खयाल गुलाम को जिदा रखना मालिक के हित में जरूरी बना देता है और इसलिये इस बात की थोडी गारण्टी कर देता है कि गुलाम के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जायेगा, वहा एक बार गुलामो का व्यापार शुरू हो जाने पर यही खयाल गुलाम से ज्यादा से ज्यादा मेहनत कराने की प्रेरणा देता है। कारण कि जब उसकी

---

[1] "अपनी पिछली रिपोर्टों मे हम ऐसे कई अनुभवी कारखानेदारो के बयानों का उद्धरण कर चुके हैं, जिन्होने यह माना था कि बहुत ज्यादा देर तक काम कराना, निश्चय ही मजदूरो की काय शक्ति समय से पहले समाप्त हो जाती है।" (फ़ै० रि०, ६८, पृ० XIII (तेरह)।)

जगह पर दूसरे स्थान से फौरन कोई नया गुलाम आ सकता है, तब इस बात का कम महत्व रह जाता है कि गुलाम कुल कितने दिन जिन्दा रहेगा, और महत्व इस बात का हो जाता है कि जब तक वह जिंदा है, तब तक वह कितनी पैदावार करता है। चुनाचे दूसरे मुल्कों से गुलाम मगाने वाले देशो में गुलामो से काम लेने वालो का यह उसूल है कि सबसे अच्छी अर्थ व्यवस्था वह होती है, जो मनुष्य-रूपी चल सम्पत्ति (human cattle) से कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा मेहनत कराने में कमयाब होती है। उष्णदेशीय संस्कृति के क्षेत्रों में, जहा एक साल का नफा अक्सर बाग़ानो में लगी हुई कुल पूजी के बराबर होता है, सबसे अधिक लापरवाही के साथ हब्शियो के जीवन की बलि दी जाती है। वेस्ट इण्डीज़ की खेती, जो सदियों से बेशुमार दौलत पैदा करती आ रही है, हब्शी नस्ल के लाखो करोडो आदमियों को खा गयी है। क्यूबा में, जिसकी आमदनी करोडो में गिनी जाती है और जिसके बाग़ानों के मालिक राजाओ की तरह रहते हैं, हम आज भी गुलामो को खराब से खराब खाना खाकर अनवरत अत्यधिक थकाने वाला कठिन परिश्रम करते हुए देखते हैं, जिसके फलस्वरूप उनका एक बड़ा भाग हर साल पूर्णत नष्ट हो जाता है।"[1]

Mutato nomine de te fabula narratur! (यह कहानी जनाब ही की है!) गुलामों के व्यापार की जगह पर मजदूरो की मण्डी, केण्टुकी और वर्जीनिया की जगह पर आयरलण्ड और इगलैण्ड, स्कोटलण्ड तथा वेल्स के खेतिहर डिस्ट्रिक्टो को और अफ्रीका की जगह पर जर्मनी को रख दीजिये। हम सुन चुके है कि ज्यादा काम करने के कारण लन्दन के रोटी बनाने वाले कारीगरो में मृत्यु-संख्या कितनी अधिक बढ गयी थी। फिर भी लन्दन की श्रम की मण्डी रोटी की दूकानो में मृत्यु का ग्रास बनने के इच्छुक जर्मन तथा अन्य मजदूरो से सदा ठसाठस भरी रहती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले मजदूर सबसे कम समय तक जिन्दा रहते है। पर क्या इससे मिट्टी के बर्तन बनाने वालों की कोई कमी महसूस होती है? मिट्टी के बर्तन बनाने की आधुनिक कला के आविष्कारक जोसिया वेजवुड खुद भी शुरू में एक साधारण मजदूर थे। उन्होने १७८५ में हाउस आफ कामन्स के सामने बयान देते हुए बताया था कि इस पूरे व्यवसाय में १५,००० से लेकर २०,००० तक आदमी काम करते है।[2] १८६१ में इगलैण्ड में इस उद्योग के केवल शहरी केन्द्रो की जन-संख्या १,०१,३०२ थी। "सूती कपडो का व्यवसाय नब्बे वर्ष से कायम है ... अग्रेजी नस्ल की तीन पीढियो से वह मौजूद है, और मेरा विश्वास है कि यदि मैं यह कहूं, तो ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी, कि इस दौरान में यह व्यवसाय कारखानो में काम करने वाले मजदूरों की नौ पीढ़ियो को हडप गया है।"[3]

इसमें सन्देह नहीं कि जब उद्योग धधो में असाधारण तेजी आती है, तब श्रम की मण्डी में मजदूरो की खासी कमी महसूस होने लगती है। मिसाल के लिए, १८३४ में ऐसी कमी महसूस हुई थी। पर उस वक्त कारखानेदारो ने Poor Law Commissioners

---

[1] J E Cairnes *The Slave Power* (जे० ए० केर्न्स, 'दास शक्ति'), London 1862 पृ० ११० १११।

[2] John Ward *The Borough of Stoke upon Trent* (जान वार्ड, 'ट्रेण्ट के तट पर स्टोक नगर का इतिहास'), London 1843 पृ० ४२।

[3] हाउस आफ कामन्स में फेर्राण्ड का भाषण, २७ अप्रैल १८६३।

(ग़रीबो के कानून के कमिश्नरो) के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि खेतिहर जिलो की "फालतू आबादी" को उत्तर में भेज दिया जाये, और इसके पक्ष में यह दलील दी गयी थी कि वहा "उसे कारखानेदार खपा लेंगे और इस्तेमाल कर डालेंगे।"[1] चुनाचे, "Poor Law Commissioners की अनुमति से एजेण्ट नियुक्त कर दिये गये थे मानचेस्टर में एक दफ्तर खोल दिया गया था। खेतिहर जिलो के जो मजदूर नौकरी चाहते थे, उनके नामो की सूचिया इस दफ्तर में भेज दी जाती थीं, और वहा पर उनके नाम रजिस्टरो में दर्ज कर लिये जाते थे। कारखानो के मालिक इन दफ्तरो में जाते थे, और इन सूचियो में से अपनी इच्छानुसार कुछ लोगो को छाट लेते थे। अपनी 'आवश्यकता के अनुसार' लोगो को छाट लेने के बाद वे हिदायतें जारी कर देते थे कि इन मजदूरो को मानचेस्टर भेज दिया जाये। सामान की गाठो की तरह इन मजदूरो पर भी लेबिल लगाकर उनको नहरो में चलने वाली नावो के जरिये, गाडियो के जरिये या पदल ही मानचेस्टर रवाना कर दिया जाता था, और उनमें से बहुत से बीच में ही खो जाते थे, या भूख से परेशान होकर रास्ते में ही बठ जाते थे। इस व्यवस्था ने एक नियमित व्यापार का रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ कामन्स मेरी बात पर विश्वास न करेगा, पर मैं आपसे कहता हू कि मानव-देहो का यह व्यापार उतने ही जोर-शोर से चलता था, इन मजदूरो की (मानचेस्टर के) कारखानेदारो के हाथ उतने ही नियमित रूप से बिक्री होती थी, जितने नियमित रूप से सयुक्त राज्य अमरीका के कपास की खेती करने वालो के हाथो गुलामो की बिक्री होती है १८६० में, 'कपास का व्यापार उन्नति के शिखर पर था ' तब कारखानेदारो को फिर मजदूरो की कमी महसूस होने लगी उन्होने 'गोश्त के एजेण्ट' कहलाने वाले लोगो से मजदूर मागे। इन एजेण्टो ने मजदूरो की तलाश में इगलण्ड के दक्षिणी पठारो में, डोर्सेटशायर की चरागाहो में, डेवनशायर के जगली मैदानो में, और विलशायर के गाय पालने वालो के बीच अपने आदमी भेजे, मगर बेसूद। फालतू आबादी पहले ही 'हजम हो चुकी थी'।" फ्रासीसी सधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद *"Bury Guardian"* नामक पत्र ने लिखा था कि "लकाशायर १०,००० नये मजदूरो को हजम कर सकता है, और अभी हमें ३०,००० या ४०,००० मजदूरो की आवश्यकता पडेगी।" जब ये "गोश्त के एजेण्ट और सब-एजेण्ट" खेतिहर जिलो में घूम घूमकर खाली हाथ लौट आये, तो "एक प्रतिनिधि-मण्डल लन्दन आया और माननीय महोदय के सामने (यानी Poor Law Board [ग़रीबो के कानून के बोड] के अध्यक्ष मि० विलियस के सामने) उपस्थित हुआ। वह चाहता था कि कुछ मुहताज-खानो में रहने वाले बच्चे लकाशायर की मिलो को मिल जायें।"[2]

---

[1] "सूती कपडा बनाने वाले कारखानेदारो ने ठीक इन्ही शब्दा का प्रयोग किया था।" – उप० पु०।

[2] उप० पु०। अपने बेहतरीन इरादो के बावजूद मि० विलियस को "कानूनन" कारखानेदारा की दरखास्त को मानने से इनकार कर देना पडा। परन्तु इन महानुभावो ने गरीबा के कानून के मातहत बनाये गये बोर्डो की कृपा-दृष्टि का उपयोग करके अपना काम बना लिया। फक्टरियो के इस्पक्टर मि० ए० रडग्रेव का कहना है कि जिस व्यवस्था के मातहत अनाथ बच्चा और गरीबा के बच्चो को 'कानूनन" शागिद (apprentices) समझा जाता था, उसमे इस बार "उसकी पुरानी बुराइया नही पायी जाती थी" (इन "बुराइया" के बारे

पूजीपति को अनुभव से जो कुछ मालूम होता है, वह यह है कि देश में जन-सख्या सदा आवश्यकता से अधिक होती है, यानी अतिरिक्त श्रम के अवशोषण करने वाली पूजी की तात्कालिक आवश्यकताओ की तुलना में जन सख्या हमेशा ज्यादा बनी रहती है, हालाकि यह आधिक

मे एगेल्स की उपयुक्त रचना देखिये), हालाकि एक जगह "स्कोटलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्ट से लकाशायर और चीशायर मे लायी गयी कुछ लडकिया और युवतियो के सिलसिले मे निश्चय ही इस व्यवस्था का दुरुपयोग किया गया था।" इस व्यवस्था के मातहत कारखानेदार एक निश्चित समय के लिये किसी मुहताज-खाने के अधिकारियो के साथ करार कर लेता था। वह मुहताज-खाने के बच्चो को रोटी-कपडा, रहने का स्थान और थोडे से पैसे नकद दे देता था। मि० रेड्ग्रैव के वक्तव्य का जो अश मैं यहा उद्धृत करने वाला हू, वह कुछ अजीब सा लगता है, खास तौर पर जब हम यह सोचते हैं कि जिस काल को इगलण्ड के सूती कपडे के व्यवसाय के लिये सबसे अधिक समृद्धि का काल समझा जाता है, उस काल मे भी १८६० का कोई और वर्ष मुकाबला नही कर सकता था और, इसके अलावा, उस वर्ष मजदूरी की दरे बहुत ही ऊची थी। कारण कि इगलैण्ड मे मजदूरो की यह बेहद बढी हुई माग ठीक उसी जमाने मे दिखाई पडी थी, जिस जमाने मे आयरलैण्ड जन विहीन हो गया था, इगलैण्ड और स्कोटलैण्ड के खेतिहर जिलो से बेशुमार लोग आस्ट्रेलिया और अमरीका चले गये थे और इगलैण्ड के कुछ खेतिहर जिलो मे कुछ हद तक तो खेतिहर मजदूरो की जीवन शक्ति के सर्वथा जवाब दे देने के फलस्वरूप और कुछ हद तक इस कारण कि इन जिलो की फालतू आबादी को इनसान के गोश्त के व्यापारियो ने पहले ही अन्यत्र पहुचा दिया था, आबादी सचमुच कम हो गयी थी। पर इस सब के बावजूद, मि० रेड्ग्रैव का कहना है "लेकिन इस प्रकार के श्रम की केवल उसी वक्त तलाश की जायेगी, जब और किसी प्रकार का श्रम नही मिलेगा, क्योकि यह बहुत महगा श्रम (high priced labour) होता है। १३ वर्ष की उम्र के एक लडके की साधारण मजदूरी ४ शिलिंग प्रति सप्ताह होगी, परन्तु ऐसे ५० या १०० लडको को रोटी कपडा, रहने का स्थान, दवा दारू देने तथा उनके ऊपर निगाह रखने वाले कर्मचारियो को नौकर रखने और साथ ही इन लडको को कुछ नकद मजदूरी देने के लिये ४ शिलिंग फी लडका प्रति सप्ताह की रकम हरगिज काफी नही होगी।" (*Report of the Insp'rs of Factories for 30th April, 1860* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टर की ३० अप्रैल १८६० की रिपोर्ट'], पृ० २७।) मि० रेडग्रेव हमे यह बताना भूल जाते हैं कि जब कारखानेदार एक साथ रहने वाले ५० या १०० लडको को ४ शिलिंग प्रति सप्ताह मे रोटी-कपडा, रहने का स्थान और दवा-दारू नही दे सकता, तब मजदूर अपने बच्चो को ये सब चीजें कैसे दे सकता है। इस उद्धरण से पाठक किन्ही गलत नतीजो पर न पहुच जायें, इसलिए मुझे यह बता देना चाहिये कि जब से इगलैण्ड के सूती कपडे के उद्योग पर श्रम-काल आदि का नियमन करने वाला १८५० का फैक्टरी-कानून लागू हो गया है, तब से उसे इगलैंड का आदर्श उद्योग मानना चाहिये। इगलैण्ड की कपडा मिलो मे काम करने वाले मजदूर की हालत अपने योरपीय भाई-बन्द की अपेक्षा हर दृष्टि से बेहतर है। "प्रशिया के कारखाने मे काम करनेवाला मजदूर अपने अग्रेजी प्रतिद्वद्वी के मुकाबले मे हर हफ्ते कम से कम दस घण्टे ज्यादा काम करता है, और यदि वह अपने घर पर बैठकर खुद अपने करघे पर काम करता है, तो उसका श्रम इन दस अतिरिक्त घटो तक भी सीमित नही होता।" (*Rep. of

मनुष्यो की कई ऐसी पीढियो का होता है, जिनके शरीर का विकास बीच में रुक गया है, जो बहुत थोडे समय ही जिदा रह पाती हैं, जिनमें एक पीढी बहुत जल्दी दूसरी पीढी का स्थान ले लेती है और जो मानो परिपक्वता को प्राप्त होने के पहले ही मसलकर फेंक दी जाती ह।[1] और, सचमुच, अनुभव से कोई भी बुद्धिमान पयवेक्षक यह देख सकता है कि ऐतिहासिक दष्टि से उत्पादन की जो पूजीवादी प्रणाली अभी कल ही पैदा हुई थी, उसने कितनी तेजी और कितनी मजबूती के साथ लोगो की जीवन शक्ति को जड से अपने शिकजे में जकड लिया है। अनुभव बताता है कि औद्योगिक जन-सख्या का यदि एकदम अधाधुध पतन नहीं हो रहा है, तो इसका केवल यही कारण है कि उसमें लगातार देहात के ऐसे आदिम तत्व शामिल होते रहते हैं, जो शारीरिक दृष्टि से अभी भ्रष्ट नहीं हुए ह। अनुभव से पता चलता है कि देहात से आये हुए मजदूर हालाकि सदा ताजा हवा में रहते आये ह और उनके बीच हालाकि principle of natural selection (प्राकृतिक वरण का सिद्धात) बडे शक्तिशाली ढग से काम कर रहा है और केवल सबसे ताकतवर व्यक्तियो को ही जीवित रहने का अवसर देता है, परन्तु इन मजदूरो ने भी अभी से मरना आरम्भ कर दिया है।[2] पूजी का हित इसी बात में है कि अपने इद गिद रहने वाले असख्य

Insp of Fact 31st Oct 1855' ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'], पृ० १०३।) ऊपर रेड्ग्रेव नामक जिस फैक्टरी इस्पेक्टर का जिक्र किया गया है, उहाने १८५१ की औद्योगिक प्रदशनी के बाद, कारखानो की हालत की जाच करने के लिये, योरपीय महाद्वीप की और विशेष कर फ्रास और जमनी की यात्रा की थी। प्रशिया के मजदूर के बारे मे उन्होंने लिखा है "उसे मजदूरी इतनी मिलती है, जा बहुत सादा भोजन और उन चद सुविधाओ को मुहय्या करने के लिए काफी हाती है, जिनकी उसका आदत है वह मोटा झोटा खाता है और खूब कडी मेहनत करता है, और इस तरह उसकी स्थिति अग्रेज मजदूर की स्थिति से खराब है।" (*Rep of Insp of Fact*, 31st October 1855 ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'] पृ० ८५।)

[1] जिनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है, वे "एक अजीब तेजी के साथ मरने लगते हैं, लेकिन जो मर जाते हैं, उनका स्थान तुरत ही भर जाता है, और व्यक्तियो का जो परिवतन इतनी जल्दी जल्दी होता रहता है, उससे पूरे चित्र मे कोई अन्तर नही पडता।" (*England and America* ['इगलैण्ड और अमरीका'], London 1833 खण्ड १, पृ० ५५। ई० जी० वेकफील्ड द्वारा लिखित।)

[2] देखिये *Public Health Sixth Report of the Medical Officer of the Privy Council 1863* ('सावजनिक स्वास्थ्य। प्रिवी काउसिल के मेडिकल अफसर की छ रिपाट १८६३')। लन्दन से १८६४ मे प्रकाशित। यह रिपोट खास तौर पर खेतिहर मजदूरो के बारे मे है। "सदरलैण्ड को आम तौर पर एक बहुत उन्नत काउण्टी समझा जाता है, लेकिन हाल की जाच-पडताल से पता लगा है कि यहा भी, ऐसे इलाको मे, जो किसी समय अपने जवानो और बहादुर सिपाहियो के लिये प्रसिद्ध थे, अब नसल खराब हो गयी है और केवल छोटे-छोटे ऐसे मनुष्य पैदा होते है, जिनकी बाढ मारी जा चुकी है। जो स्थान सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद हैं, जैसे समुद्र-किनारे के पहाडी इलाके, वहा पर भी इन लोगो के दुबले पतले, भूखे बच्चो के चेहरे उतने ही पीले पड गये हैं, जितने कि लन्दन की किसी गली के गन्दे वातावरण मे रहने वाले बच्चो के चेहरे होते है।" (W Th Thornton

मजदूरो की मुसीबतो की तरफ से हमेशा आखें मूदे रखे। अत यदि इनसान की नसल ह्रा होती जा रही है और एक दिन उसके एक्दम नष्ट हो जाने की आशका है, तो इस बात का पूजी के हृदय पर उतना ही प्रभाव पडता है, जितना इस बात का कि पथ्वी के एक दिन सूर्य से टकराकर खतम हो जाने की सम्भावना है। जब कभी शेयर-बाजार में सट्टा होता है और दाम तेजी से बढने लगते ह, तो हर आदमी जानता है कि अब किसी न किसी समय बाजार यकायक मन्दा हो जायेगा और भाव एकदम गिर जायेंगे, पर हर आदमी यही उम्मीद लगाये रहता है कि यह आने वाली मुसीबत उसके पडोसी के सिर पर पडेगी और वह खुद उसके पहले ही अपनी थैली भरकर किसी सुरक्षित स्थान में भाग जायेगा। Apres moi le deluge' (आप मरे जग प्रलय') – हर पूजीपति का और हर पूजीवादी राष्ट्र का यही मूल सिद्धात है। इसलिये पूजी जब तक समाज मजबूर नहीं कर देता, तब तक वह इसकी कतई कोई परवाह नहीं करती कि मजदूर का स्वास्थ्य कसा है या वह कितने दिन तक जिन्दा रह पायेगा।[1] जब कुछ लोग मजदूरों के शारीरिक एव नैतिक पतन का, उनकी असमय मृत्यु का और अत्यधिक काम की यातनाओं का शोर मचाते ह, तो पूजी उनको यह जवाब देती है इन बातो से हमें क्या सिर दद हो, जब उनसे हमारा मुनाफा बढता है? परतु यदि पूरी तसवीर पर गौर किया जाये, तो, सचमुच, यह सब अलग अलग पूजीपतियो की सद्भावना और दुर्भावना पर निभर नहीं करता। स्वतत्र प्रतियोगिता पूजीवादी उत्पादन के मूलभूत नियमो को अमल में लाती है, जो बाह्य एव अनिवार्य नियमो के रूप में हर अलग अलग पूजीपति पर लागू होते ह।[2]

Over population and its Remedy [डब्लयू० टी० थोनटन, 'जनाधिक्य और उसे दूर करने का उपाय'], London 1846 पृ० ७४, ७५।) वास्तव मे ता ये ता ... ३०,००० gallant Highlanders ("बहादुर पहाडियो") के समान है, जिनको ग्ला... ने वेश्याओ और चोरा के साथ-साथ अपनी wynds और closes (गलिया और अहाता) ... सुअरा की तरह बद कर रखा है।

[1] "देशवासिया का स्वास्थ्य हालाकि राष्ट्रीय पूजी का इतना महत्वपूण अग होता है मगर हमे यह मानना पडेगा कि मजदूरो के मालिको के वग ने राष्ट्र के इस कोष का ... एव भरण पोषण के लिये कोई खास कोशिश नही की है मजदूरो के स्वास्थ्य का मालि... ने तभी कुछ खयाल किया, जब उनको इसके लिये मजबूर कर दिया गया।" (*The Times* ५ नवम्बर १८६१।) 'वेस्ट राइडिंग के रहने वाले सारी दुनिया को कपडा पहनाने ला... मजदूरो के स्वास्थ्य की बलि दी गयी, और कुछ पीढिया के बाद तो पूरी नसल खराब हो जाने की सम्भावना थी। लेकिन फिर उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लाड शफ्टेसबरी के बिल ने बच्चो के काम के घण्टो को सीमित कर दिया," इत्यादि। (*Report of the Registrar General* for October 1861 ['रजिस्ट्रार जनरल की रिपोट, अक्तूबर १८६१'])।)

[2] "इसीलिये हम यह पाते हैं कि, मिसाल के लिये, १८६३ के आरम्भ म २६ ... कम्पनिया ने, जिनके स्टेफर्डशायर मे मिट्टी के बतन बनाने के अनेक कारखाने थे और जिनमें 'जोसिया वेजवुड एण्ड सन्स' नाम की फम भी शामिल थी, एक आवदन-पत्र के द्वारा ... कानून के बनाये जाने की माग की थी। दूसरे पूजीपतिया के साथ चलने वाली प्रतियोगिता उनको इस बात की इजाजत नही देती थी कि वे अपनी मर्जी से बच्चो के काम का समय सीमित कर दें, इत्यादि। चुनाचे उन्होंने लिखा था "उपयुक्त बुराइया पर हम ...

सामान्य लम्बाई के काम के दिन की स्थापना पूजीपति और मजदूर के सदियो तक के सघर्ष का फल है। इस सघर्ष के इतिहास में दो विरोधी प्रवृत्तिया दिखाई देती ह। मिसाल के लिये लीजिये, इगलण्ड के हमारे जमाने के फक्टरी-कानूनो की १४ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी के बीच तक के मजदूर नियमो से तुलना करके देखिये।[1] जहा आधुनिक फक्टरी-कानून काम के दिन को जबदस्ती छोटा कर देते ह, वहा पुराने नियम उसे जबदस्ती लम्बा करने की कोशिश करते थे। भ्रूणावस्था में, जब पूजी का विकास आरम्भ होता है, तब उसे quantum sufficit (पर्याप्त मात्रा) में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करने का अधिकार केवल आर्थिक सम्बधो के प्रताप से ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि उसे राज्य की सहायता से यह अधिकार प्राप्त करना पडता है। उस काल में पूजी जो दावे करती है, वे, जाहिर है, उन रियायतो के मुक़ाबले में बहुत छोटे मालूम पडते ह, जो पूजी को अपनी प्रौढावस्था में लडते झगडते और गुर्राते हुए भी आख़िर देनी ही पडती ह। सदिया बीत जाती ह, तब कहीं जाकर "स्वतत्र" मजदूर पूजीवादी उत्पादन के विकास के परिणामस्वरूप इस बात के लिये तयार होता है, यानी सामाजिक परिस्थितियो के द्वारा इस बात के लिये मजबूर कर दिया जाता है, कि जीवन के लिये आवश्यक चन्द वस्तुओ के दाम के एवज में अपना सम्पूर्ण सक्रिय जीवन, अपनी समस्त काय-क्षमता बेच डाले और अपने मूलभूत अधिकारो को कौडियो के मोल दे दे। इसलिये यह बात स्वाभाविक है कि १४ वीं सदी के मध्य से लेकर १७ वीं सदी के अन्त तक पूजी ने राज्य के बनाये हुए नियमो के ज़रिये वयस्क मज़दूरो के काम के दिन को जबदस्ती जितना लम्बा करने की कोशिश की थी, १९ वीं सदी के उत्तराध में राज्य ने बच्चो के ख़ून को पूजी में ढाले जाने से रोकने के लिये काम के दिन को

है, फिर भी हमारे लिए यह सम्भव नही है कि कारखानेदारा के बीच किसी समझौते की योजना के द्वारा इन बुराइयो को दूर कर दे इन तमाम वाता पर गौर करके हम इस नतीजे पर पहुचे हैं कि इस सम्बध मे कोई कानून बनाने की जरूरत है।" (*Children s Employment Commission 1st Report, 1863* ['बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोट, १८६३'], पृ० ३२२।) एक बिल्कुल ताजा मिसाल इससे कही ज्यादा दिलचस्प है। सूती कपडे के व्यवसाय मे तेज़ी आने पर जब कपास के दाम बढ गये, तो ब्लैकबर्न के कारखानेदारा ने आपस की रजामन्दी से एक निश्चित अवधि के लिये अपनी मिला के काम करने का समय कम कर दिया। यह अवधि नवम्बर १८७१ के आस पास समाप्त हो गयी। इस बीच इस समझौते के फलस्वरूप उत्पादन मे जो कमी आयी थी, उससे उन अधिक धनवान कारखानेदारा ने फायदा उठाया, जो कताई के साथ-साथ बुनाई भी करते थे। उन्होंने अपने व्यापार का विस्तार बढा लिया, और छोटे-छोटे मालिको को पीछे धकेलकर ये लोग मोटे मुनाफे कमाने लगे। तब छोटे मालिको ने परशानी मे मजदूरा से मदद मागी और उनसे कहा कि आप लोगा का ९ घण्टे की प्रणाली चालू करवाने के लिए डटकर आन्दोलन चलाना चाहिये और हम लोग इस काम म रुपये-पैसे से भी आप लोगो की मदद करेंगे।

[1] इन मज़दूर परिनियमा की तरह के नियम उसी वक्त फ्रास, नीदरलैण्डस तथा अन्य देशा मे भी बनाये गये थे। इगलैण्ड मे उनका पहले-पहल १८१३ मे रस्मी तौर पर मसूख किया गया, हालाकि उत्पादन के तरीका मे जो परिवतन आ गय थे, उन्हाने इन परिनियमा को बहुत पहले ही बेकार कर दिया था।

लगभग उतना ही छोटा करने की कोशिश की है। मिसाल के लिये, मस्साचुसेट्स के राज्य में, जो अभी हाल तक उत्तरी अमरीकी प्रजातन्त्र का सबसे स्वतन्त्र राज्य समझा जाता था, आज १२ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये श्रम की जो कानूनी सीमा घोषित की गयी है, वह इंगलैण्ड में १७ वीं सदी के मध्य में भी तन्दुरुस्त कारीगरों, हृष्ट पुष्ट मजदूरों और पहलवान लोहारों के लिये काम के दिन की सामान्य लम्बाई समझी जाती थी।[1]

पहला "*Statute of Labourers*" ['मजदूरों का परिनियम'] (एडवर्ड तृतीय के राज्य काल के २३ वें वर्ष में बनाया गया कानून, १३४९) बनाने का तात्कालिक बहाना (उसका कारण नहीं, क्योंकि बहाना खतम हो जाने के सदियों बाद तक इस तरह के कानून देश में लागू रहते है) प्लेग की वह महामारी थी, जिसने इंगलैण्ड के लोगों को एकदम तबाह कर दिया था और यह हालत पैदा कर दी थी कि, एक अनुदार दली लेखक के शब्दों में, "उचित मजदूरी पर (अर्थात ऐसी मजदूरी पर, जिससे मालिकों के पास पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त श्रम बचे रहे) मजदूरों को काम करने के लिये राजी करना इतना अधिक कठिन हो गया था कि परिस्थिति बिल्कुल असहनीय हो गयी थी।"[2] इसलिये जिस तरह कानून काम के दिन की सीमाओं को निश्चित कर देता था, उसी तरह वह उचित मजदूरी भी तै कर देता था। हमें यहां केवल काम के दिन की सीमाओं में दिलचस्पी

---

[1] "१२ वर्ष से कम उम्र के किसी बच्चे से किसी भी कारखाने में १० घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा।" (*General Statutes of Massachusetts* ['मैस्साचुसेट्स के सामान्य परिनियम'], ६३, अध्याय १२।) (ये परिनियम १८३६ और १८५८ के बीच पास हुए थे।) "तमाम सूती, ऊनी व रेशमी मिलों में, कागज, कांच और सन के कारखानों में या लोहे और पीतल की फैक्टरियों में १० घण्टे की अवधि तक किया गया श्रम कानून की नजरों में दिन भर का श्रम समझा जायेगा। और आज से यह कानून भी लागू होगा कि किसी भी फैक्टरी में किसी नाबालिग से १० घण्टे रोजाना या ६० घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं लिया जायेगा और आज से इस राज्य के किसी भी कारखाने में किसी ऐसे नाबालिग को काम करने की इजाजत नहीं होगी, जो १० वर्ष से कम उम्र का हो।" (*'State of New Jersey An Act to limit the hours of labour etc* ['न्यू जर्सी राज्य का श्रम के घण्टों को सीमित करने वाला कानून, इत्यादि'], धारा १ और २। ११ मार्च १८५१ को बनाया गया कानून।) "जिस नाबालिग की उम्र १२ वर्ष की हो गयी है, पर अभी १५ वर्ष से कम है, उससे किसी भी कारखाने में ११ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा और न ही उससे ५ बजे सुबह के पहले और ७ ३० बजे शाम के बाद काम कराया जायेगा। (*Revised Statutes of the State of Rhode Island &c* ['रहोड द्वीप के राज्य की संशोधित परिनियमावली, इत्यादि'], अध्याय १३९, धारा २३, १ जुलाई १८५७।)

[2] '*Sophisms of Free Trade* ('स्वतन्त्र व्यापार के कूट-तर्क'), ७ वां संस्करण, London 1850 पृ० २०५ ९ वां संस्करण, पृ० २५३। इस अनुदार-दली लेखक ने इसके अलावा यह भी स्वीकार किया है कि "मजदूरी का नियमन करने के लिए बनाये गये संसद के कानून, जो मजदूर के खिलाफ पड़ते थे और मालिक के हक में थे, ४६४ वर्ष के लम्बे अर्से तक लागू रहे। इस बीच आबादी बढ़ गयी। तब ये कानून अनावश्यक बन गये और बोझा मालूम होने लगे।" (उप० पु०, पृ० २०६।)

है। वे १४६६ के (हेनरी सातवें के राज्य-काल में बनाये गये) परिनियम में भी निर्धारित की गयी थीं। इस परिनियम के अनुसार (जिसपर लेकिन अमल नहीं हो सका) मार्च से लेकर सितम्बर तक तमाम कारीगरों (artificers) और खेत-मजदूरों के लिये काम का दिन सुबह को ५ बजे से शुरू होकर रात को ७ और ८ बजे के बीच खतम होना चाहिये था। लेकिन खाने के लिये अधिक समय दिया गया था १ घण्टा सुबह नाश्ते के लिये, $१\frac{१}{२}$ घण्टा भोजन के लिये और $\frac{१}{२}$ घण्टा तीसरे पहर के नाश्ते के लिये, यानी आजकल लागू फैक्टरी-कानूनों में जितना समय खाने के लिये दिया गया है, उससे ठीक दुगुना समय दिया गया था।[1] जाड़ों में काम ५ बजे शुरू होकर दिन छिपे तक चलना चाहिये था और नाश्ते-खाने आदि के अवकाशों की व्यवस्था गरमियों के ही समान थी। १५६२ का एलिजाबेथ के राज्य-काल का एक परिनियम है, जो "रोजाना या हफ्तेवार मजदूरी पर नौकर रखे गये" तमाम मजदूरों के काम के दिन की लम्बाई को तो नहीं छूता था, पर अवकाशों के समय को गरमियों में $२\frac{१}{२}$ घण्टे तक तथा जाड़ों में २ घण्टे तक सीमित कर देना चाहता था। इस परिनियम का कहना था कि भोजन का अवकाश केवल १ घण्टे का होना चाहिये और "तीसरे पहर को आधे का सोने का समय" केवल मई के मध्य से अगस्त के मध्य तक ही मजदूरों को दिया जाना चाहिये। अनुपस्थिति के हर एक घण्टे के लिये १ पेनी मजदूरी में से काट ली जानी चाहिये। लेकिन अमल में परिस्थितियां परिनियम की अपेक्षा मजदूरों के कहीं अधिक अनुकूल थीं। अर्थशास्त्र के जनक और कुछ हद तक सांख्यिकी के संस्थापक विलियम पेटी ने १७ वीं शताब्दी की अन्तिम तिहाई में प्रकाशित अपनी एक पुस्तिका में कहा था "मजदूर (*"labouring men"*, जिसका मतलब उस वक्त 'खेत-मजदूर' होता था) १० घण्टे रोजाना काम करते हैं और हर सप्ताह २० बार खाना खाते हैं, यानी काम के दिन ३ बार और इतवार को २ बार। इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि वे शुक्रवार की रात को उपवास कर सकें और ग्यारह बजे से एक बजे तक दो घण्टे खाने में खर्च करने के बजाय डेढ़ घण्टे में खाना खा लिया करें, तो इस तरह वे $\frac{१}{२०}$ अधिक काम करेंगे और $\frac{१}{२०}$ कम खर्च करेंगे, जिससे उपर्युक्त

---

[1] इस परिनियम के बारे में जे० वेड ने सच ही कहा है "(परिनियम के विषय में) उपर्युक्त वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि १४६६ में भोजन का खर्च कारीगर की एक तिहाई आमदनी और खेत मजदूर की आधी आमदनी के बराबर समझा जाता था, जिससे मालूम होता है कि उन दिनों मजदूरों में आजकल की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता थी। कारण कि आजकल तो मजदूरों और कारीगरों दोनों की मजदूरी का उससे कहीं बड़ा भाग खाने पर खर्च हो जाता है।" (J Wade, *History of the Middle and Working Classes* [जे० वेड, 'मध्य वर्ग तथा मजदूर वर्ग का इतिहास'], तीसरा संस्करण, London 1835 पृ० २४, २५, ५७७।) कुछ लोगों का मत है कि यह अन्तर इस बात के कारण है कि उन दिनों खाने और पहनने की चीजों के दामों के बीच कोई और सम्बंध था और आजकल कोई और सम्बंध है। पर यह मत कितना निराधार है, यह *Chronicon Preciosum etc* पर एक नजर डालते ही मालूम हो जाता है। देखिये Bishop Fleetwood द्वारा लिखित यह पुस्तक, पहला संस्करण, London 1707, दूसरा संस्करण, London 1745

(कर) वसूल किया जा सकेगा।"[1] जब डा० एण्ड्रयू उरे ने १८३३ के १२ घण्टे के बिल की निदा की थी और कहा था कि यह हमें अधकार-युग की ओर लौटाकर ले जाने वाला कदम है, तब उहोने क्या सही बात नहीं कही थी? यह सच है कि पेटी ने जिस परिनियम का जिक्र किया है, उसकी धाराए apprentices (शागिर्दों) पर भी लागू होती थीं। लेकिन १७ वीं सदी के अत में भी बच्चा मजदूरो की क्या हालत थी, यह नीचे लिखी शिकायत से साफ हो जाता है "जसा हमारे यहा, इस राज्य में, चलन है कि शागिद को सात बरस के लिये बाध दिया जाता है, वैसा उन लोगो के यहा (जमनी में) चलन नहीं है। वहा तीन या चार साल ही आम तौर पर काफी समझे जाते ह। और इसका कारण यह है कि वहा लोगो को पदा होने के समय से ही अपने पेशे की कुछ न कुछ शिक्षा मिलती रहती है, जिससे वे लोग काम के ज्यादा लायक हो जाते हैं और उनमें शिक्षा पाने की क्षमता आ जाती है। इसलिये वे ज्यादा जल्दी परिपक्व हो जाते ह और अपने धधे में दक्षता प्राप्त कर लेते ह। इसके विपरीत, यहा, इगलण्ड में, हमारे नौजवानो को शागिद की तरह भर्ती होने के पहले किसी चीज की शिक्षा नहीं दी जाती और इसलिये वे बहुत ही धीमी गति से प्रगति करते ह और उस्तादो के दर्जे तक पहुचने में उनको कहीं अधिक समय लग जाता है।"

फिर भी, १८ वीं सदी के अधिकाश तक, यानी आधुनिक उद्योगो तथा मशीनो का युग शुरू होने तक, इगलण्ड में पूजी श्रम शक्ति का साप्ताहिक मूल्य देकर मजदूर के पूरे सप्ताह पर कब्जा

---

[1] W Petty '*Political Anatomy of Ireland*' (विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'), 1672, १६९१ का सस्करण, *Verbum Sapienti* शीपक एक परिशिष्ट, पृ० १०।

A Discourse on the Necessity of Encouraging Mechanic Industry ('यात्रिक उद्योग को बढावा देने की आवश्यकता के सम्बध मे एक निबध'), London, 1690 पृ० १३। मकोले ने, जिन्होंने कि ह्विगो तथा पूजीपति वग के हित मे इगलैण्ड के इतिहास को तोड मरोड डाला है, कहा है 'समय से पहले ही बच्चो को काम मे लगा देने की प्रथा १७ वी सदी मे इतनी अधिक प्रचलित थी कि कारखाना की प्रणाली के विस्तार से मुकाबला करने पर वह लगभग अविश्वसनीय मालूम होती है। नोविच म, जो ऊनी कपडे के व्यवसाय का मुख्य केद्र था, छ बरस के नन्हे बच्चे को भी मेहनत करने के योग्य समझा जाता था। उस जमाने के कुछ लेखको ने, जिनमे से कुछ बडे ही दयावान व्यक्ति समझे जाते थे, इस बात का exultation ("बडे गव") के साथ जिक्र किया था कि अकेले एक शहर मे बहुत ही नन्ही उम्र के बच्चे बच्चिया हर साल इतनी दौलत पैदा कर देते है, जो उनके अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक रकम से १२,००० पौण्ड अधिक होती है। गुजरे हुए जमाने के इतिहास का हम जितना ध्यानपूवक अध्ययन करगे, उतना ही हम उन लोगा के मत के विरुद्ध होते जायेंगे, जिनका खयाल है कि हमारे जमाने मे तरह-तरह की नयी सामाजिक बुराइया पैदा हो गयी हैं नयी केवल वह बुद्धि और यह मानवता हैं, जो इन बुराइया की दवा का काम करती है।" ("*History of England*" ['इगलैण्ड का इतिहास'], खण्ड १, पृ० ४१७।) मकोले इसक आगे यह और भी जोड सकते थे कि १७ वीं सदी के "अत्यत सहृदय" amis du commerce (व्यापार के मित्रा) न इस बात पर exultation" ("बडा गव") प्रकट किया है कि हालैण्ड के एक मुहताज-खान

करने में कामयाब नहीं हुई थी। खेतिहर मजदूर इसके अपवाद थे। यदि मजदूर चार दिन की मजदूरी से पूरे सप्ताह अपना खर्च चला लेते थे, तो इस कारण से वे यह जरूरी नहीं समझते थे कि बाकी दो दिन पूजीपति के लिये काम किया करें। अग्रेज अर्थशास्त्रियो के एक दल ने पूजी के हित में मजदूरो की इस हठधर्मी की बहुत ही तीव्र शब्दो में निन्दा की है। एक दूसरे दल ने मजदूरो का समर्थन किया है। मिसाल के लिये, *"Essay on Trade and Commerce"* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध') के (पूर्व उद्धृत) लेखक और पोस्टलेथवेट की बहस की ओर ध्यान दीजिये, जिनके व्यापार के शब्दकोष की उन दिनो वैसी ही ख्याति थी, जैसी आजकल मैककुलक और मकग्रेगर की उसी जाति की रचनाओ की है।[1]

अन्य बातो के अलावा पोस्टलेथवेट ने कहा है "हम इन टिप्पणियो को उस बहुत पिटी हुई बात का उल्लेख किये बिना समाप्त नहीं कर सकते, जो आजकल बहुत ज्यादा लोगों के

मे एक चार वर्ष के बच्चे को नौकर रखा गया था, और vertu mise en pratique ("सद्गुणो के अभ्यास") का यह उदाहरण ऐडम स्मिथ के समय तक लिखी गयी मैकोले के ढग के सभी लेखको की मानवतावादी रचनाओ मे पर्याप्त समझा जाता था। यह सच है कि दस्तकारी की जगह पर हस्तनिर्माण का चलन शुरू होने पर बच्चो के शोषण के भी चिह्न दिखाई देने लगे। इस तरह का शोषण कुछ हद तक किसानो मे हमेशा पाया जाता था, और काश्तकार के कधे पर रखा हुआ जुआ जितना भारी होता था, उतना ही इस प्रकार का शोषण बढ जाता था। इस दृष्टि से पूजी की प्रवृत्ति बिल्कुल साफ है, लेकिन इस प्रवृत्ति के तथ्य अभी तक इतने कम हैं, जितने दो सिर वाले बच्चे। इसलिये 'amis du commerce ("व्यापार के मित्र") – भविष्यवक्ता – उनको खास जिक्र के लायक समझते हैं, exultation ("बडे गर्व") के साथ उनकी चर्चा करते हैं, और उनको खुद अपने और आने वाले जमाने के लिये मिसाल के रूप में पेश करते हैं। इस खुशामदी टट्टू और लच्छेदार बाते बनाने वाले स्कोटलैण्डवासी मैकोले ने कहा है "आजकल हम हर तरफ केवल प्रतिगमन की बाते सुनते हैं और केवल प्रगति की बाते देखते हैं।" क्या आखे और खास कर क्या कान पाये है आपने!

[1] मेहनत करने वाला पर तरह-तरह के आरोप लगाने वाला मे सबसे अधिक गुस्सा '*An Essay on Trade and Commerce, containing Observations on Taxes, &c* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध, जिसमे कर-व्यवस्था आदि पर भी कुछ टिप्पणिया शामिल हैं'] (London 1770) के उस गुमनाम लेखक का है, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। इस विषय पर यह लेखक अपनी पहले वाली पुस्तक *Considerations on Taxes* ['करो के विषय मे कुछ विचार'] (London 1765) मे भी लिख चुका है। इसी प्रकार का एक लेखक पोलोनियस आर्थर यग है, जो साख्यिकी के नाम पर ऐसी ऐसी बकवास करता है, जिसका जिक्र करना भी मुश्किल है। मजदूर वर्ग के समर्थको मे सर्वप्रमुख हैं जैकब वैण्डरलिण्ट, जिन्होने *Money Answers all Things* ['मुद्रा सब चीजो का जवाब है'] (London 1734) लिखी है, रेवरेण्ड नथेनियल फोस्टर, डी० डी०, जिन्होने *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions* ['खाद्य पदार्थों के मौजूदा ऊचे दामो के कारणो की जाच'] (London 1767) लिखी है, डा० प्राइस और खास तौर पर पोस्टलेथवेट, जिन्होने अपनी रचना *Great Britain s Commercial Interest explained and improved* [ग्रेट ब्रिटेन का व्यापारिक हित किस बात मे है और उसे कैसे आगे

मुह से सुनाई देने लगी है। वह यह कि यदि मेहनत करने वाले गरीब लोगो (industrious poor) को पाच दिन काम करके ही जीवन निर्वाह के लायक पसे मिल जाते हैं, तो वे पूरे छ दिन काम नहीं करेंगे। और इससे ये लोग यह नतीजा निकालते ह कि जो चीजें जीवन के लिये बिल्कुल आवश्यक ह, उनको भी कर लगाकर या किसी और तरीके से महगा बना देना चाहिये, जिससे मेहनत करने वाला दस्तकार और कारीगर हफ्ते में पूरे छ रोज लगातार मेहनत करने के लिये मजबूर हो जाय। म उन महान राजनीतिज्ञो की भावना से भिन्न भावना रखने की इजाजत चाहता हू, जो इस राज्य के मेहनतकश लोगो को सदा गुलामी में ("the perpetual slavery of the working people) रखने की कोशिश कर रहे ह। ये लोग उस ग्राम कहावत को भूल जाते ह कि 'all work and no play' (यदि चौबीस घण्टे काम किया जाये और मनोरजन न हो, तो दिमाग कुन्द हो जाता है)। क्या अंग्रेज लोगो को अपने दस्तकारो और कारीगरो की उस होशियारी और उस महारत पर घमण्ड नहीं रहा है, जिसकी वजह से इगलण्ड में बना हर तरह का माल इतना नाम पदा करने और इतनी साख कायम करने में कामयाब हुआ है? इस होशियारी और इस महारत की क्या वजह है? इसकी सम्भवतया इसके सिवा और कोई वजह नहीं थी कि यहा के मेहनत करने वाले अपने ढग से अपना मनोरजन और विश्राम कर लेते ह। यदि उनसे साल में बारहो महीने और हफ्ते में पूरे छ दिन लगातार मेहनत करायी जाती और बार-बार एक सा काम लिया जाता, तो क्या उनकी सारी होशियारी कुन्द न पड जाती और क्या वे सदा मुस्तद रहने और दक्षता का परिचय देने के बजाय सुस्त और बुद्धू न बन जाते? और सदा के लिये ऐसी गुलामी में फस जाने पर क्या हमारे कारीगरो की सारी ख्याति कायम रहने के बजाय नष्ट न हो जाती? और ऐसे कोल्हू के बलो (hard-driven animals) से हम कैसी कारीगरी की उम्मीद कर सकते थे? अंग्रेज मजदूरो में से बहुत से चार दिनो में उतना काम कर डालते ह, जितना एक फ्रासीसी मजदूर पाच या छ दिन में करेगा। परन्तु यदि अंग्रेजो को सदा गुलामो की तरह काम में जुते रहना है, तो हमें डर है कि फ्रासीसियो की तुलना में भी शारीरिक दृष्टि से उनका पतन हो जायेगा। हमारे लोग युद्ध में वीरता के लिये प्रसिद्ध ह। पर क्या हम यह नहीं कहते कि इसका कारण यह है कि उनके पेट में इगलण्ड का बढिया भुना हुआ गाय का गोश्त और पुडिंग होते ह और उनके दिल में अंग्रेजो की वधानिक स्वतन्त्रता की भावना होती है? और तब क्या यह सम्भव नहीं है कि हमारे दस्तकारो और कारीगरों के होशियारी और महारत में औरो से बेहतर होने की यह वजह हो कि उनको अपने जीवन की खुद व्यवस्था करने की स्वाधीनता और आजादी मिली हुई है? और म आशा करता हूँ कि हम यह अधिकार और वह अच्छा जीवन उनसे कभी न छीनेंगे, जो न केवल उनकी वीरता का, बल्कि उनकी दक्षता और चतुरता का भी स्रोत ह।"[1]

Essay on Trade and Commerce' ('व्यापार तथा वाणिज्य पर एक निबध') के लेखक ने इसका यह जवाब दिया है

बढाया जाये'] (दूसरा सस्करण, London 1755) की तरह *Universal Dictionary of Trade and Commerce*' ('व्यापार और वाणिज्य का सार्वभौमिक कोष') के परिशिष्ट मे भी इस विषय की चर्चा की है। खुद तथ्यो की सचाई का प्रमाण हम अन्य बहुत से लेखको से मिल जाता है, जिनमे जोसिया टुकर शामिल है।

[1] Postlethwayt उप० पु०, '*First Preliminary Discourse*' ('पहला प्रारम्भिक निबन्ध'), पृ० १४।

"यदि हर सातवें दिन को छुट्टी का दिन मानना एक ईश्वरीय विधान है, तो चूकि उसका मतलब यह भी होता है कि बाकी छ दिन मेहनत के" (जसा कि हम बाद को देखेंगे, उसका मतलब है पूजी के) "दिन माने जाने चाहिये, इसलिये आशा की जाती है कि इस नियम को लागू करने में कोई बेरहमी की बात नहीं समझी जायेगी यह बात हम कल कारखानो में काम करने वाली आबादी के अपने दुखद अनुभव से जानते ह कि इनसान में आम तौर पर आराम-तलबी और काहिली की प्रवृति होती है। जब तक खाने-पीने की चीजें बहुत ज्यादा महगी नहीं हो जातीं, तब तक ये लोग औसतन हफ्ते में चार दिन से ज्यादा काम नहीं करते गरीबो के लिये जितनी चीजें जरूरी ह, उन सबको एक मद में मान लीजिये, मिसाल के लिये, उन सब को गेहू क्ह लीजिये, या मान लीजिये कि एक बुशल गेहू की कीमत ५ शिलिंग है और वह (एक कारीगर) अपनी दिन भर की मेहनत से १ शिलिंग कमाता है। ऐसी हालत में उसे सप्ताह में केवल पाच दिन काम करना पडेगा। यदि एक बुशल गेहू की कीमत महज चार शिलिंग रह जाये, तो उसको केवल चार दिन काम करना पडेगा। लेकिन चूकि इस राज्य में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ के दामो की अपेक्षा मजदूरी की दरें कहीं अधिक ऊची ह, इसलिये जो कारीगर चार दिन मेहनत करता है, उसके पास इतनी अतिरिक्त मुद्रा हो जाती है कि हफ्ते के बाक़ी दिन वह लोट लगा सकता है मैं आशा करता हू कि मैंने यह प्रमाणित करने के लिए काफी तर्क दे दिये ह कि हफ्ते में छ दिन औसत दर्जे की मेहनत करना गुलामी नहीं है। हमारे खेत-मजदूर यही करते ह, और जहा तक कोई देख सकता है, हमारे देश में जितने भी मेहनत करने वाले ग़रीब लोग (labouring poor) हैं, उनमें खेत-मजदूर सबसे ज्यादा सुखी हैं।[1] लेकिन डच लोगो के देश में कल कारखानो में काम करने वाले मजदूर भी इतनी ही मेहनत करते ह और बहुत सुखी प्रतीत होते ह। फ्रासीसी लोग छुट्टियो को छोडकर ही इतनी मेहनत करते ह[2] लेकिन हमारे देश के लोगो ने अपना यह विचार बना लिया है कि अंग्रेज होने के कारण उनको योरप के और किसी भी देश के निवासियो से अधिक स्वतत्र और आजाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है। अब इस विचार से हमारे सनिको की वीरता पर जो अच्छा प्रभाव पडता है, वहा तक वह कुछ लाभप्रद हो सकता है, पर हमारे कल-कारखानो में काम करने वाले ग़रीबो के दिमाग़ो में यह विचार जितना कम स्थान पायेगा, खुद उनका और राज्य का उतना ही अधिक हित होगा। मेहनतकशो को अपने से बडो से खुद को स्वतत्र ("independent of their superiors') नहीं मानना चाहिये हमारे जैसे एक व्यापारी देश में, जहा आठ में से सात हिस्से आबादी उन लोगो की है, जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है और यदि है, तो नाम-मात्र के लिये, भीड को बावला

---

[1] *An Essay &c* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबन्ध, इत्यादि'), London 1770। लेखक ने इसी पुस्तिका के पृ० ९६ पर खुद यह बताया है कि १७७० में इगलैण्ड के खेत-मजदूरो का "सुख" किन किन बातो में निहित था। उसी के शब्दो में, 'उनकी शक्तिया ("their powers) हमेशा तनी रहती (upon the stretch) है, वे जितने कम पैसा में अपनी गुजर-बसर करते ह, उनसे कम पैसा में गुजर करना असम्भव है (they cannot live cheaper than they do), वे जितनी सख्त मेहनत करते हैं, उससे ज्यादा मेहनत करना नामुमकिन है (nor work harder)।"

[2] लगभग सभी परम्परागत छुट्टिया को काम के दिनो में बदलकर प्रोटेस्टेंट मत पूजी की उत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

देना बहुत ही ज्यादा खतरनाक बात है जब तक हमारे कल कारखानो में काम करने वाले ग़रीब लोग उसी रकम के एवज में, जो आजकल वे चार दिन में कमाते है, छ दिन तक मेहनत करने के लिये राजी नहीं हो जायेंगे, तब तक इस रोग का पूर्ण उपचार नहीं हो पायेगा।"[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये और "आलसीपन, अय्याशी और ज्यादती" का नाश करने, उद्योग की भावना को बढावा देने, "हमारे देश के कारखानो में श्रम के दाम को कम करने और जमीनो को गरीबो के भरण-पोषण के लिये लगाये गये करो के भारी बोझे से मुक्त करने के लिये" पूजी के हमारे इस वफादार समर्थक ने एक आजमाया हुआ तरीका सुझाया है वह यह कि जिन मजदूरा का सार्वजनिक खर्चे से भरण-पोषण होने लगे, या, सक्षेप में, जो मजदूर कगाल हो जायें, उनको पकडकर "एक आदर्श मुहताज-खाने" (an ideal workhouse) में बन्द कर दिया जाये। यह आदर्श मुहताज-खाना गरीबो के लिए आश्रय लेने का स्थान नहीं होगा, "जहा उनको खूब डटकर भोजन मिलेगा, बढिया-बढिया गरम कपडे पहनने को मिलेंगे और जहा उनको नहीं के बराबर काम करना पडेगा,"[2] बल्कि उसे एक "आतक-गृह" (house of terror) के रूप में बनाया जायेगा। इस "आतक-गृह" में, इस "आदर्श मुहताज-खाने में गरीब लोग १४ घण्टे रोज काम करेंगे, जिसमें से कुछ समय भोजन आदि के लिये छोड दिया जायेगा, मगर इस बात का खयाल रखा जायेगा कि हरेक को कम से कम १२ घण्टे की ठोस मेहनत जरूर करनी पडे।"[3]

१७७० के इस आदर्श मुहताज-खाने में, इस "आतक-गृह" में बारह घण्टे रोजाना काम कराने की बात थी। इसके ६३ वर्ष बाद, १८३३ में, जब इगलैण्ड की ससद ने उद्योग की चार शाखाओ में १३ वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक के बच्चो का काम का दिन घटाकर पूरे १२ घण्टे का कर दिया, तो ऐसा शोर मचा, जैसे इगलैण्ड के उद्योगो के लिये प्रलय का दिन आ गया हो। १८५२ में, जब लुई बोनापार्ट ने पूजीपति-वर्ग के बीच अपनी स्थिति को दृढ करने के लिये काम के कानूनी दिन को लम्बा करने की कोशिश की, तो फ्रास के लोगो ने एक आवाज से चिल्लाकर यह कहा कि "प्रजातन्त्र के कानूनो में से अब केवल एक ही अच्छा क़ानून बचा है, और वह है काम के दिन की सीमा १२ घण्टे निश्चित करने वाला क़ानून!"[4] ज्यूरिच में १० वर्ष से अधिक उम्र के बच्चो को १२ घण्टे से अधिक काम नहीं

---

[1] *An Essay*, &c ('व्यापार तथा वाणिज्य पर एक निबध इत्यादि'), London, 1770 पृ० १५, ४१, ९६, ९७, ५५, ५७, ६९।– जैकब वैण्डरलिण्ट ने १७३४ मे ही यह कह दिया था कि मेहनतकशो की काहिली के बारे मे पूजीपति जो इतना शोर मचाते हैं, उसकी असली वजह यह है कि वे लोग मजदूरो से उसी मजदूरी मे ४ के बजाय ६ दिन की मेहनत करा लेना चाहते हैं।

[2] उप० पु०, पृ० २४२।

[3] उप० पु०। लेखक का कहना है कि "स्वाधीनता के हमारे उत्साह भरे विचारो पर फ्रासीसी लोग हसते है।" (उप० पु०, पृ० ७८।)

[4] "वे लोग खास तौर पर १२ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम करने पर ऐतराज करते थे, क्योकि प्रजातन्त्र के कानूनो मे से अब एक ही अच्छा कानून उनके पास बचा है, और वह है काम के इन घण्टो को नियत करने वाला कानून।" (*"Rep of Insp of Fact* 31st October 1856" ['फैक्टरियो के इन्सपेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० ८०।') फ्रास का

करने दिया जाता। आरगों में १३ वर्ष और १६ वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के काम का समय १८६२ में $१२\frac{१}{२}$ घण्टे से घटाकर १२ घण्टे कर दिया गया था। आस्ट्रिया में १४ वर्ष से १६ वर्ष तक के बच्चों का काम का समय १८६० में $१२\frac{१}{२}$ घण्टे से १२ घण्टे कर दिया गया।[1] इसपर शायद मकौले "exultation (गर्वोल्लास) से चिल्लाकर कहेंगे वाह! १७७० से अब तक "कितनी जबर्दस्त प्रगति" हुई है!

१७७० की पूंजीवादी आत्मा कंगालों के लिये जिस "आतंक-गृह" का केवल सपना देखा करती थी, वह उसके चन्द साल बाद खुद औद्योगिक मजदूरों के लिये एक विराट "मुहताज-खाने" के रूप में चरितार्थ हो गया। इस "मुहताज-खाने" का नाम है "फैक्टरी"। और इस बार आदर्श वास्तविकता के सामने फीका पड गया था।

अनुभाग ६—काम का सामान्य दिन प्राप्त करने का संघर्ष। काम के समय का कानून द्वारा अनिवार्य रूप से सीमित कर दिया जाना। इंगलैण्ड के फैक्टरी-कानून—१८३३ से १८६४ तक

काम के दिन को बढ़ाकर उसकी सामान्य अधिकतम सीमा तक और फिर उससे भी आगे, १२ घण्टे के प्राकृतिक दिन की सीमा तक, ले जाने में पूंजी को कई शताब्दियों का समय लग गया।[2] उसके बाद, १८ वीं सदी की अंतिम तिहाई में, मशीनों की तथा आधुनिक उद्योग-

---

५ सितम्बर १८५० का बारह घण्टे का बिल, जो २ मार्च १८४८ की अस्थायी सरकार के एक फरमान का पूंजीवादी संस्करण है, बिना किसी अपवाद के सभी कारखानों पर लागू है। इस कानून के पहले फ्रांस में काम के दिन की कोई निश्चित सीमा नहीं थी। फैक्टरियों में १४ घण्टे, १५ घण्टे या उससे भी ज्यादा देर तक काम कराया जाता था। देखिये *Des classes ouvrieres en France pendant l annee 1848 Par M Blanqui*। यह अर्थशास्त्री ब्लांकी है, क्रांतिकारी ब्लांकी दूसरे थे। इन सज्जन को सरकार ने मजदूर वर्ग की हालत की जांच करने का काम सौंपा था।

[1] काम के दिन के नियमन के मामले में बेल्जियम आदर्श पूंजीवादी राज्य है। ब्रसेल्स में इंगलैण्ड के राजदूत बेल्डेन के लार्ड होवर्ड ने १२ मई १८६२ को Foreign Office (विदेश सचिवालय) को यह रिपोर्ट भेजी थी कि "मोशिये रोजर नामक मंत्री ने मुझे बताया है कि उनके देश में बच्चों के श्रम पर न तो किसी सामान्य कानून ने कोई सीमा लगा रखी है और न किसी स्थानीय कानून ने। उन्होंने मुझे बताया कि पिछले तीन वर्ष से सरकार संसद के प्रत्येक अधिवेशन में इस विषय का एक बिल पेश करने की सोचती आयी है, पर श्रम की अनियंत्रित स्वतंत्रता के सिद्धान्त से टकराने वाले किसी भी बिल का इतना जबर्दस्त विरोध होता है कि उसके सामने सरकार कुछ नहीं कर सकती।"

[2] "यह निश्चय ही बड़े दुःख की बात है कि किसी भी वर्ग को १२ घण्टे रोजाना मेहनत करनी पड़े। इसमें यदि भोजन का समय और घर से कारखाने तक आने जाने का समय और

धधो की उत्पत्ति होते ही काम के दिन को बढ़ाने के लिये ऐसी भयानक नोच-खसोट शुरू हुई कि लगता था, जसे हिमशिलास्खलन हो रहा हो। नतिकता और प्रकृति की सारी सीमाए, आयु और लिग भेद के तमाम बधन और दिन और रात की तमाम हदें तोड दी गयीं। यहा तक कि दिन और रात की धरणाए, जो पुराने परिनियमा में ग्रामीण जीवन की भाति सरल थीं, आपस में इतनी उलझ गयीं कि १८६० तक किसी भी अग्रेज जज को "न्यायिक दृष्टि से" यह निणय करने में कि दिन क्या है और रात क्या है, सुलेमानी बुद्धि की जरूरत होती थी।[1] इस काल में पूजी ने जी भर अपना विजयोत्सव मनाया।

उत्पादन की इस नयी व्यवस्था के शोर-शराबे से मजदूर-वग हतप्रभ होकर रह गया था। जब उसे कुछ होश आया, तो उसका प्रतिरोध आरम्भ हुआ। सबसे पहले बडे पमाने पर मशीनों के प्रयोग की मातृभूमि – इगलण्ड – में यह प्रतिरोध शुरू हुआ। लेकिन ३० वप तक मेहनतकश जनता जितनी भी रियायतें पाने में कामयाब हुई, वे सब नाम मात्र की थीं। १८०२ और १८३३ के बीच ससद ने मजदूरो के सम्बध में ५ कानून पास किये, लेकिन उसने यह चतुराई दिखायी कि इन कानूनो को अमल में लाने के लिये, उसके लिये आवश्यक अफसरो को तनखाह आदि देने के लिये उसने एक पेनी का भी खच मजूर नहीं किया।[2]

जोड दिया जाये, ता उसका असल मे यह मतलब होता है कि इन लोगा को २४ घण्टे मे से १४ घण्टे काम के लिय खच कर देने पडते है मजदूरा के स्वास्थ्य के प्रश्न पर न विचार करते हुए भी, मैं समझता हू, यह मानने मे किसी को भी हिचकिचाहट न होगी कि नतिक दृष्टिकोण से यह बात बहुत ही हानिकारक और बहुत ही शोचनीय है कि १३ वप की उम्र से ही – और जिन धधा पर कोई कानूनी प्रतिबध नही है, उनमे तो और भी कम उम्र से – मेहनतकश वर्गों का सारा समय हडप लिया जाता है और उनको बीच मे जरा भी छुट्टी नही मिलती इसलिये सावजनिक नैतिकता की रक्षा के लिये, देशवासियो को व्यवस्था प्रिय बनाने के लिये और साधारण जनता का जीवन का थोडा आनद देने के लिये यह बहुत जरूरी है कि सभी धधा मे काम के प्रत्येक दिन का कुछ भाग आराम और अवकाश के लिय सुरक्षित रहे।" (*'Reports of Insp of Fact for 31st Dec 1841* ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ दिसम्बर १८४१'], लेओनाड होर्नेर की रिपोट।)

[1] देखिये *Judgement of Mr J H Otway, Belfast Hilary Sessions, County Antrim 1860* ('बेल्फास्ट के मि० जे० एच० आटवे का फैसला। एण्ट्रिम काउटी की हिलारी सेशन अदालत, १८६०')।

[2] पूजीवादी बादशाह लुई फिलिप के शासन पर इस बात से काफी प्रकाश पडता है कि उसके राज्य काल मे जो एक फैक्टरी कानून पास हुआ, यानी २२ माच १८४१ का कानून, वह कभी अमल मे नही लाया गया। और यह कानून केवल बच्चो के श्रम से सम्बध रखता था। उसमे ८ वप से १२ वप तक के बच्चा के लिये ८ घण्टे रोज की सीमा, १२ वप से १६ वप तक के बच्चा के लिये १२ घण्टे रोज की सीमा और इसी प्रकार अय सीमाए निश्चित की गयी थीं। साथ ही अनक अपवादा के लिये स्थान रखा गया था, जिनके मातहत ८ वप के बच्चो से भी रात को काम लेने की इजाजत मिल जाती थी। एक ऐसे देश मे, जहा हर चूहे को पुलिस की निगरानी मे रहना पडता है, इस कानून को अमल मे लाने और उसकी देखरेख करने का काम amis du commerce ("व्यापार के मित्रो") की सदभावना के

ये पाचो कानून कभी अमल में नहीं आये। "सच तो यह है कि १८३३ के कानून के पहले लडके लडकियो और बच्चो से सारा दिन, सारी रात और ad libitum (इच्छा होने पर) दिन को भी और रात को भी लगातार काम कराया जाता था ("were worked)।"[1]

आधुनिक उद्योग धधो में काम का सामान्य दिन केवल १८३३ के फैक्टरी कानून के लागू होने पर जारी हुआ। यह कानून सूती, ऊनी, रेशमी तथा सन का कपडा तयार करने वाली फैक्टरियो पर लागू किया गया था। पूजी की भावना पर १८३३ से १८६४ तक के इगलैण्ड के फक्टरी-कानूनो के इतिहास से जितना प्रकाश पडता हे, उतना और किसी चीज से नहीं पडता।

१८३३ के कानून में फैक्टरियो के काम का साधारण दिन सुबह को साढे पाच बजे से रात के साढे आठ बजे तक नियत किया गया है। इन सीमाओ के भीतर, यानी १५ घण्टे की इस अवधि में, लडके लडकियो से (अर्थात १३ वप से १८ वर्ष तक के व्यक्तियो से) किसी भी समय काम कराया जा सकता है, बशर्ते कि किसी भी लडके या लडकी को किसी एक दिन १२ घण्टे से ज्यादा काम न करना पडे। इस नियम के कुछ अपवाद भी निश्चित कर दिये गये हैं। कानून की छठी धारा में कहा गया था "ऐसे हर व्यक्ति को, जिसपर उपर्युक्त प्रतिबध लगे है, हर रोज कम से कम डेढ घण्टे का समय भोजन आदि के लिये दिया जायेगा।" कुछ अपवादो को छोडकर, जिनका बाद में जिक्र आयेगा, ६ वर्ष से कम उम्र के बच्चो से काम लेने की मनाही कर दी गयी थी। ६ वप से १३ वप तक के बच्चो के काम के समय पर ८ घण्टे रोज की सीमा लगा दी गयी थी। इस क़ानून के अनुसार, रात के ८ ३० बजे से सुबह के ५ ३० बजे तक जो काम होता था, वह रात का काम माना जाता था। ६ वप से १८ वप तक के तमाम व्यक्तियो से रात का काम लेना मना था।

कानून बनाने वाले वयस्को की श्रम शक्ति का शोषण करने की पूजी की स्वतत्रता में या, यदि उन्हीं के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो "श्रम की स्वतत्रता" में जरा सा भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। उनको इसका इतना अधिक ख़याल था कि उन्होंने इसके लिये एक पूरी व्यवस्था रच डाली थी कि फैक्टरी-कानूनो का कोई ऐसा भयकर परिणाम न होने पाये।

२८ जून १८३३ की कमीशन के केन्द्रीय बोर्ड की पहली रिपोट में कहा गया है कि "फैक्टरी व्यवस्था का इस समय जिस प्रकार सचालन हो रहा है, उसका सबसे बडा दोष हमें यह लगा है कि उसमें बच्चो से भी वयस्को के बराबर समय तक काम कराया जाता है। यदि वयस्को के श्रम पर सीमा लगाने का विचार छोड दिया जाये, जिसके फलस्वरूप, हमारी राय में, जिस बुराई को हम दूर करने की कोशिश कर रहे ह, उससे भी बडी बुराई पदा हो जायेगी, तो इस बुराई को दूर करने का केवल एक यही उपाय बचता है कि बच्चो की दो पालिया बनाकर उनसे काम लेने की योजना तयार की जाये " चुनाचे "*System of Relays*

भरासे छोड दिया गया था। कही १८५३ मे जाकर सरकार से तनखाह पाने वाले एक इस्पक्टर की नियुक्ति की गयी, और वह भी केवल एक जिले म—यानी Departement du Nord (नोड के जिले) मे। फ्रासीसी समाज के विकास पर इस बात से भी कम प्रकाश नही पडता कि फ्रास मे लगभग हर सवाल पर जो अनेक कानून बनाये गये, उनमे १८४८ की क्रान्ति तक लुई फिलिप का यह कानून ही एक मात्र फैक्टरी-कानून था।

[1] '*Reports of Insp of Fact* 30th April 1860 ('फैक्टरियो के इस्पक्टरो की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६०'), पृ, ५०।

('पालियो की व्यवस्था') के नाम से यह "योजना" अमल में लायी गयी। मिसाल के लिये, सुबह के ५ ३० बजे से दोपहर के १ ३० बजे तक ६ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चो की एक पाली से काम लिया जाने लगा और दोपहर के १ ३० बजे से रात के ८ ३० बजे तक एक दूसरी पाली से।

बच्चो के काम के सम्बध में पिछले बाईस वर्ष में जितने कानून पास हुए थे, कारखानेदारो ने बेशर्मी से उन सबकी अवहेलना की थी। इसके इनाम के तौर पर कडवी गोली पर और चीनी चढायी गयी, ताकि वह उनको पसन्द आये। ससद ने फैसला कर दिया कि १ मार्च १८३४ के बाद ११ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा, १ मार्च १८३५ के बाद १२ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा और १ मार्च १८३६ के बाद १३ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा किसी फक्टरी में आठ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं कर पायेगा। यह "उदारतावाद", जिसमें "पूजी" का इतना अधिक खयाल रखा गया था, इसलिए और भी उल्लेखनीय है कि डा० फार्रे, सर ए० कालिड्ल, सर बी० ब्रोडी, सर एस० बेली, मि० गथरी आदि – लन्दन के सबसे अधिक प्रतिष्ठित physicians (डाक्टरो) और surgeons (सर्जनो) – ने हाउस आफ कामन्स के सामने बयान देते हुए कहा था कि इस मामले में देर करना खतरनाक है। डाक्टर फार्रे ने तो बहुत ही दो टूक बात कही थी "लोगो को असमय मार डालने के लिए जो भी तरीक़ा इस्तेमाल किया जाये, उसे रोकने के लिए क़ानून बनाना जरूरी है। और इसे (फक्टरियो की प्रणाली को) निश्चय ही लोगो को समय से पहले मार डालने का सबसे अधिक निर्दयतापूर्ण तरीका माना जाना चाहिये।"

जिस "सुधरी हुई" ससद ने कारखानेदारो के हितो का खयाल रखने में बहुत नजाकत दिखाते हुए १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को आगामी वर्षों में हर सप्ताह ७२ घण्टे फक्टरी के नरक में पिसने की सजा दी थी, उसी ने, दूसरी ओर, अपने मुक्ति-कानून के जरिये, जो इसी प्रकार बूद-बूद करके लोगो को आजादी का रस पिलाता था, बागानो के मालिको पर शुरू से ही यह प्रतिबंध लगा दिया कि वे किसी हबशी गुलाम से ४५ घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं ले सकते।

परन्तु पूजी को इस सब से सतोष नहीं हुआ था। उसने खूब शोर-शराबे के साथ आन्दोलन शुरू किया, जो कई बरस तक चलता रहा। यह आन्दोलन खास तौर पर उन लोगो की उम्र के बारे में था, जो बच्चे समझे जाते थे और इसलिये जिनसे ८ घण्टे से ज्यादा काम लेने की मनाही थी और जिनपर कुछ हद तक अनिवार्य शिक्षा के नियम भी लागू होते थे। पूजीवादी मानव-विज्ञान का कहना था कि बचपन १० वर्ष में या हद से हद ११ वर्ष में खतम हो जाता है। फक्टरी-कानून के पूरी तरह अमल में आने का समय, यानी १८३६ का निर्णायक वर्ष जितना नजदीक आता जाता था, कारखानेदारो की भीड उतनी ही अधिक पगलाती जाती थी। सच पूछिये, तो इन लोगो ने सरकार को डरा धमकाकर यहा तक झुका लिया कि १८३५ में वह बचपन की सीमा को १३ वर्ष से घटाकर १२ वर्ष कर देने की सोचने लगी। पर इसी बीच pressure from without (बाहरी दबाव) ने और भयानक रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ कामन्स की हिम्मत ने जवाब दे दिया। उसने १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को ८ घण्टे से अधिक पूजी के रथ के नीचे पिसने के लिये डालने से इनकार कर दिया, और १८३३ का क़ानून पूरी तरह अमल में आया। जून १८४४ तक उसमें कोई तबदीली नहीं हुई।

इस क़ानून ने फक्टरियो के काम का दस बरस तक नियमन किया – पहले आशिक रूप से, फिर पूरी तरह। इन दस वर्षों में फक्टरियो के इस्पेक्टरो ने जो रिपोर्टें सरकार को दीं, वे इस

बात की शिकायतों से भरी हुई है कि इस कानून को लागू करना असम्भव है। १८३३ के कानून ने यह बात पूजी के मालिकों की मर्जी पर छोड दी थी कि सुबह के ५ ३० बजे से शाम के ८ ३० बजे तक वे हर "युवा व्यक्ति" तथा हर "बच्चे" से उसका १२ घण्टे या ८ घण्टे का काम चाहे जिस समय शुरू करायें, चाहे जिस समय उसे बीच में रोक दें, चाहे जिस वक्त उससे फिर काम करने को कहें और चाहे जिस वक्त उसका काम समाप्त करा दें। इसी प्रकार उनको अलग अलग व्यक्तियों को अलग अलग समय पर भोजन की छुट्टी देने का भी अधिकार था। इस चीज से फायदा उठाते हुए इन महानुभावों ने शीघ्र ही एक नयी "पालियों की प्रणाली" ("system of relays) खोज निकाली, जिसके अनुसार मेहनत करने वाले जानवरों को किन्हीं निश्चित नाकों पर नहीं बदला जाता था, बल्कि लोग इन्हें कभी इस नाके पर तो कभी उस नाके पर बार-बार काम में जोतते रहते थे। इस प्रणाली के सौंदर्य पर विचार करने के लिये अभी हमारे पास समय नहीं है। हम बाद में फिर इसकी चर्चा करेंगे। लेकिन पहली ही नजर में एक बात साफ हो जाती है। वह यह कि इस नयी प्रणाली ने पूरे फैक्टरी-क़ानून को उठाकर ताक़ पर रख दिया। यह प्रणाली न केवल इस कानून की भावना, बल्कि उसकी शब्दावली तक की अवहेलना करती थी। इस प्रणाली में हर बच्चे या हर युवा व्यक्ति के लिये बहुत ही पेचीदा ढंग का अलग हिसाब रखा जाता था। अब भला सोचिये कि ऐसी हालत में फैक्टरी इन्स्पेक्टर इस बात की कैसे जाच कर सकते थे कि हर मजदूर से कानून द्वारा निश्चित सीमाओं के भीतर काम लिया जा रहा है या नहीं, और उसे कानून के अनुसार भोजन आदि के लिये पर्याप्त छुट्टी दी जाती है या नहीं? बहुत सी फैक्टरियो में वे ही पुरानी बबरताए फिर जारी हो गयीं, और उनको रोकने की या उनके लिये सजा देने की कोई तरकीब नहीं रही। सरकार के गृह-मत्री से एक भेंट (१८४४) के दौरान में फैक्टरी-इन्स्पेक्टरो ने साबित किया कि पालियों की इस नव-आविष्कृत प्रणाली के जारी रहते मजदूरो के काम पर किसी तरह का भी नियन्त्रण रखना असम्भव है।[1] परन्तु इस बीच परिस्थितिया बहुत बदल गयी थीं। चुनाव के लिये फैक्टरी-मजदूरो ने जिस प्रकार चार्टर का नारा अपना मुख्य राजनीतिक नारा बना लिया था, उसी प्रकार, खास तौर पर १८३८ के बाद से, १० घण्टे के बिल का नारा उन्होंने अपना मुख्य आर्थिक नारा बना लिया था। कुछ ऐसे कारखानेदारो ने भी ससद में आवेदन-पत्रों का ढेर लगा दिया था, जो १८३३ के कानून के अनुसार अपनी फैक्टरिया चलाते आये थे और इसलिये जिन्होंने इन आवेदन पत्रों में अपने उन बेईमान भाई बिरादरो की अनैतिक प्रतियोगिता की शिकायतें की थीं, जो अधिक सीनाजोर होने के कारण या कुछ विशेष प्रकार की स्थानीय परिस्थितियो से लाभ उठाकर कानून तोडने में कामयाब हो गये थे। इसके अलावा, हर अलग अलग कारखानेदार अपनी अपनी जगह पर चाहे जैसे बेलगाम ढग से अपने नफे के पुरातन लालच को पूरा करने में लगा हो, परन्तु कारखानेदारो के वर्ग के प्रवक्ताओ और राजनीतिक नेताओं ने उनको आदेश दिया कि अब से उनको अपने मजदूरो के साथ एक नये ढग से पेश आना चाहिये और उनसे एक नये ढग से बातचीत करनी चाहिये। यह इसलिये कि कारखानेदारो के राजनीतिक नेता अनाज के कानूनो को रद्द कराने के सघर्ष में लगे हुए थे और उसमें विजय प्राप्त करने के लिये उनको मजदूरो की सहायता की आवश्यकता थी। चुनाचे उन्होंने मजदूरो से वायदा किया कि यदि स्वतत्र व्यापार के स्वर्ण युग की विजय हो गयी, तो न सिर्फ उनको

---

[1] *Rept of Insp of Fact* 31st October 1849 ('फैक्टरियो के इन्स्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८४९') पृ० ६।

पहले से दुगुनी बडी डबल रोटी खाने को मिला करेगी, बल्कि दस घण्टे का बिल भी ससद में पास करा दिया जायेगा।[1] इसलिये, जब केवल १८३३ के कानून को अमली रूप देने के लिये एक कानून बनाने का सुझाव सामने आया, तो कारखानेदारो को उसका विरोध करने की और भी कम हिम्मत हुई। अनुदार दल के लोगो के सब से पवित्र अधिकार पर, यानी जमीन का लगान वसूल करने के अधिकार पर, चोट हो रही थी। अपने शत्रुओ की इन "नीच हरकतो"[2] को देखकर उनके हृदय परोपकारी क्रोध से भर गये और उन्होने खूब शोर मचाया।

७ जून १८४४ का अतिरिक्त फक्टरी-कानून इस तरह बना था। वह १० सितम्बर १८४४ को लागू हुआ। उससे मजदूरो के एक नये हिस्से को, यानी १८ वय से अधिक उम्र की औरतो को, सरक्षण प्राप्त हुआ। उनको हर बात में लडके-लडकियों के स्तर पर रख दिया गया। उनके काम के समय पर बारह घण्टे की सीमा लगा दी गयी, उनसे रात को काम लेने की मनाही कर दी गयी, इत्यादि। पहली बार कानून को वयस्कों के श्रम पर प्रत्यक्ष एव सरकारी रूप से नियत्रण लगाने के लिये बाध्य होना पडा। १८४४-४५ की फक्टरी रिपोर्ट में व्यग के साथ कहा गया है कि "वयस्क स्त्रियो के अधिकारो में इस प्रकार जो हस्तक्षेप किया गया है, उसपर उन्होने कभी खेद प्रकट किया हो, ऐसा कोई उदाहरण मुझे अभी तक देखने को नहीं मिला है।"[3] १३ वय से कम उम्र के बच्चो के काम का समय घटाकर ६$\frac{१}{२}$ घण्टे और कुछ खास परिस्थितियो में ७ घण्टे रोज कर दिया गया।[4]

"पालियो की इस खोटी प्रणाली" के दोषों का दूर करने के लिए इस क़ानून में अन्य नियमो के अलावा यह नियम भी रखा गया था कि "बच्चो और लडके लडकियो के काम के घण्टे उस समय से गिने जायेंगे, जब कोई भी बच्चा या लडकी-लडका सुबह को काम शुरू कर देगा।" चुनाचे, अगर 'क' नामक लडका, मिसाल के लिये, सुबह को ८ बजे काम शुरू कर देता है और 'ख' १० बजे शुरू करता है, तो भी 'ख' का काम का दिन उसी समय समाप्त होगा, जिस समय कि 'क' का। इसके अलावा यह भी नियम बना दिया गया था कि "समय का हिसाब किसी सार्वजनिक घडी के अनुसार रखा जायेगा।" मिसाल के लिये, फक्टरी के पास में जो रेलवे की घडी हो, फक्टरी की घडी उससे मिलायी जायेगी। फक्टरी का स्वामी एक ऐसा छपा हुआ नोटिस, "जो कि पढा जा सके", लटकायेगा, जिसमें बताया गया होगा कि काम कितने बजे शुरू होता है और कितने बजे खतम होता है और भोजन, नाश्ते आदि का क्या समय है। जो बच्चे १२ बजे दोपहर के पहले काम शुरू कर देते थे, १ बजे के बाद दोबारा उनसे काम

[1] *Rept of Insp of Fact*, 31st October 1848 ('फैक्टरिया के इसेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० ६८।

[2] लेओनार्ड होनर ने अपनी सरकारी रिपोर्टो मे ठीक इन्ही शब्दा का प्रयोग किया है। (*Reports of Insp of Fact* 31st October 1859 ['फैक्टरिया के इसपेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० ७।)

[3] *Rept*, &c 30th Sept 1844 ('फैक्टरिया के इसपक्टरा की रिपोर्टें, ३० सितम्बर १८४४'), पृ० १५।

[4] यदि बच्चे रोज काम नही करते, बल्कि एक दिन छोडकर काम करते ह, तो यह कानून उनसे १० घण्टे तक काम लेने की इजाजत देता है। इस धारा पर प्राय अमल नही हुआ।

कराने की इजाजत नहीं थी। इसलिए तीसरे पहर की पाली में वे बच्चे नहीं हो सकते थे, जो सुबह को काम कर चुके थे। नियम बना दिया गया था कि भोजन, नाश्ते आदि के लिए जो डेढ़ घण्टे का समय दिया जाता था, "उसमें से कम से कम एक घण्टा तीसरे पहर के तीन बजने के पहले ही दे देना जरूरी है और वह सब को एक ही वक्त पर दिया जाना चाहिये। दोपहर के १ बजने के पहले किसी बच्चे या लडके-लडकी से पाच घण्टे से ज्यादा काम उस वक्त तक नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उसे कम से कम $\frac{1}{2}$ घण्टे की खाने की छुट्टी नहीं दी जायेगी। उस समय (यानी खाने की छुट्टी के समय) किसी बच्चे को या किसी लडके अथवा लडकी को (या किसी स्त्री को) किसी भी ऐसे कमरे में नहीं रहने दिया जायेगा, जिसमें कोई उत्पादन प्रक्रिया जारी हो," इत्यादि।

हम यह देख चुके हैं कि ऐसी तफसीली हिदायतें, जिनमें काम का समय, उसकी सीमा और छुट्टी के वक्त मानो घडी की सुई देखकर सैनिक एकरूपता के साथ निर्धारित कर दिये गये थे, केवल ससद की कल्पना की उपज हरगिज नहीं थीं। उनका उत्पादन की आधुनिक प्रणाली के स्वाभाविक नियमो के रूप में परिस्थितियो में से धीरे धीरे विकास हुआ था। वर्षों के एक लम्बे सघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य द्वारा उनकी स्थापना हुई, उन्हे सरकारी मान्यता प्राप्त हुई तथा राज्य द्वारा उनकी घोषणा की गयी। उनका एक पहला नतीजा यह हुआ कि व्यवहार में फैक्टरियो में काम करने वाले वयस्क पुरुषो के काम के दिन पर भी वसी ही सीमाए लग गयीं, क्योंकि उत्पादन की अधिकतर प्रक्रियाओ में बच्चो, लडके-लडकियो और स्त्रियो का सहयोग अनिवार्य होता है। इसलिए, कुल मिलाकर, १८४४ और १८४७ के बीच फैक्टरी-कानून के मातहत उद्योग की सभी शाखाओ में आम तौर पर १२ घण्टे का दिन जारी हो गया।

परन्तु कारखानेदारो ने "प्रगति" का यह कदम उस वक्त तक नहीं उठने दिया, जब तक कि उसके एवज में "प्रतिगमन" का भी एक कदम नहीं उठाया गया। उनके उकसावे पर हाउस आफ कामन्स ने शोषण के योग्य बच्चों की उम्र ९ वर्ष से घटाकर ८ वर्ष कर दी, ताकि फैक्टरियो में काम करने के लिए बच्चों की वह अतिरिक्त सख्या भी सुनिश्चित हो जाये, जो पूजीपतियों को ईश्वरीय तथा मानवीय, दोनो प्रकार के कानूनो की दृष्टि से मिलनी चाहिये।[1]

इगलण्ड के आर्थिक इतिहास में १८४६-४७ का समय एक युगान्तरकारी समय है। इन वर्षों में अनाज के कानून रद्द कर दिये गये, कपास और अन्य कच्चे मालो पर लगी हुई चुगी मसूख कर दी गयी, स्वतत्र व्यापार के सिद्धान्त को तमाम कानूनो का पथ प्रदर्शक सिद्धान्त घोषित कर दिया गया,—और एक शब्द में कहा जाये, तो बस मानो स्वर्णयुग का आरम्भ हो गया। दूसरी ओर, इन्हीं वर्षों में चार्टिस्ट आन्दोलन और १० घण्टे की तहरीक अपनी परम सीमा पर पहुच गये। अनुदार दल के लोग तो कारखानेदार से बदला लेने के लिए बेकरार थे, उन्होंने इन आन्दोलनो का साथ दिया। स्वतत्र व्यापार के झूठ प्रिय समर्थकों की सेना ब्राइट और कोबडेन के नेतृत्व में जिद से अधी होकर १० घण्टे के बिल का बहुत समय से जोरदार विरोध

[1] "चूंकि बच्चो के काम के घण्टो मे कमी कर देने के फलस्वरूप उनको पहले से अधिक सख्या में नौकर रखना पडेगा, इसलिए समझा जाता था कि ८ वर्ष से लेकर ९ वर्ष तक के बच्चो की जो नयी सख्या फैक्टरियो में काम करने के लिये आयेगी, उससे यह बढी हुई माग पूरी हो जायेगी।" (उप० पु०, पृ० १३।)

करती रही थी। फिर भी यह बिल, जिसके लिये इतने दिनो से सघर्ष चल रहा था, ससद में पास हो गया।

८ जून १८४७ के नये फक्टरी-कानून के द्वारा निश्चय किया गया कि १ जुलाई १८४७ को (१३ वर्ष से १८ वर्ष तक के) "लडके-लडकियो" तथा सभी स्त्रियो के काम के घण्टा में एक प्रारम्भिक कमी करके ११ घण्टे की सीमा नियत कर दी जाये, पर १ मई १८४८ को काम के दिन पर निश्चित रूप से १० घण्टे की सीमा लगा दी जाये। दूसरी बातों में यह क़ानून १८३३ और १८४४ के क़ानूनों का सशोधन करता था और उन्हें पूर्ण बनाता था।

अब पूजी ने इस कानून को १ मई १८४८ को अमल में आने से रोकने के लिये एक प्रारम्भिक आदोलन छेडा। और मजदूरो को भी खुद अपनी सफलताओ को नष्ट करने में मदद देनी थी, जिसके लिये बहाना यह था कि वे अपने अनुभव से सबक सीख चुके ह। इस आदोलन के लिये बहुत चालाकी से वक्त चुना गया था। "याद रखना चाहिये कि पिछले दो वर्ष से फक्टरियो के मजदूर (१८४६-४७ के भयकर सकट के परिणामस्वरूप) सख्त तकलीफें उठा रहे हैं, क्योंकि बहुत सी मिलें कम समय काम कर रही थीं और बहुत सी एकदम बन्द हो गयी थीं। इसलिये मजदूरो की काफी बडी सख्या बहुत मुश्किल से दिन काट रही होगी। बहुतो पर कर्ज़ का भारी बोझ होगा। और इसलिये कोई भी यह समझ सकता था कि इस वक्त मजदूर ज्यादा देर तक काम करना पसन्द करेंगे, जिससे कि पिछले नुकसान को पूरा कर सकें, कर्ज़ अदा कर दें, गिरवी रखा हुआ फर्नीचर छुडा लायें या जो फर्नीचर बिक गया है, उसकी जगह पर नया ले आयें या अपने लिये तथा अपने परिवार के लिये नये कपडे खरीद ले।"[1]

इन परिस्थितियो का जो स्वाभाविक प्रभाव था, उसे कारखानेदारो ने मजदूरी में १० प्रतिशत की आम कटौती करके और भी उग्र बना देने की कोशिश की। यह कटौती मानो स्वतत्र व्यापार के नवीन युग के उदघाटन के उपलक्ष्य में की गयी थी। उसके बाद जब काम का दिन घटाकर ११ घण्टे का कर दिया गया, तो तुरत ही $8\frac{1}{3}$ प्रतिशत की एक और कटौती कर दी गयी, और जब अत में काम का दिन १० घण्टे तक सीमित कर दिया गया, तो मालिको ने इसकी दुगनी कटौती का ऐलान कर दिया। इस तरह, जहा कहीं भी परिस्थितियो ने इजाजत दी, वहा मजदूरी कम से कम २५ प्रतिशत घटा दी गयी।[2] इस प्रकार अच्छी तरह भूमिका तयार करने के बाद फक्टरी-मजदूरो के बीच १८४७ के कानून को मसूख कराने का आदोलन छेड दिया गया। इस कोशिश में न तो झूठ से गुरेज किया गया और न घूस से, और न ही धमकिया देने में कोई हिचकिचाहट दिखायी गयी। मगर कोई चीज काम नहीं आयी। मजदूरो से कोई आधी दजन आवेदन पत्र दिलाये गये थे, जिनमें "कानून उनके ऊपर जो अत्याचार कर

---

[1] '*Rep of Insp of Fact* 31st Oct 1848 ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० १६।

[2] "मैंने पाया कि जिन लोगा को १० शिलिग प्रति सप्ताह मिल रहे थे, उनकी मजदूरी मे १० प्रतिशत की कटौती के नाम पर १ शिलिग काट लिया गया, और बचे हुए ६ शिलिग मे से १ शिलिग ६ पेंस समय मे होने वाली कमी के काट लिये गय। इस तरह कुल मिलाकर २ शिलिग ६ पेंस की कटौती हुई। और फिर भी बहुत से मजदूर कहते थे कि उन्हें १० घण्टे ही काम करना पसन्द है।" (उप० पु० [पृष्ठ १६]।)

रहा है", उसकी शिकायत की गयी थी। जबानी जिरह होने पर स्वय प्राथियो ने यह कहा कि उनसे जबर्दस्ती दस्तखत कराये गये थे। "वे अपने को अत्याचार का शिकार होते तो अनुभव कर रहे थे, मगर इसका कारण फक्टरी-क़ानून नहीं था।"[1] परन्तु यदि कारखानेदारो को मजदूरो से अपनी मनचाही बातें कहलाने में कामयाबी नहीं मिली, तो वे खुद मजदूरो के नाम पर अखबारो में और ससद में और भी जोर से चिल्लाने लगे। उन्होने फक्टरी-इन्सपेक्टरो को इस तरह कोसना शुरू किया, जसे ये फ्रास की राष्ट्रीय परिषद के क्रातिकारी कमिश्नरो जसे कमचारी हो और अपने मानवतावादी दुराग्रहो की वेदी पर अभागे मजदूरो की निर्ममतापूवक बलि दे रहे हो। लेकिन यह चाल भी बेकार गयी। फैक्टरी-इन्स्पेक्टर लेओनाड होनर ने खुद और अपने सब इन्सपेक्टरो के जरिये लकाशायर की फक्टरियो में अनेक मजदूरो के बयान लिये। जितने लोगा के बयान लिये गये, उनमें से लगभग ७० प्रतिशत ने १० घण्टे का समथन किया, एक बहुत छोटी सख्या ने ११ घण्टे की ताईद की और एक नाम-मात्र की सख्या ने पुराने १२ घण्टों को ही पसन्द किया।[2]

एक और बडी "मित्रतापूण" चाल यह थी कि वयस्क पुरुषो से १२ से १५ घण्टे तक काम कराया जाता और फिर चारो ओर इसका ढोल पीटकर यह साबित किया जाता कि सवहारा की आन्तरिक इच्छा यही है। लेकिन उस "निमम" फैक्टरी इन्स्पेक्टर लियोनाड होनर के सामने यह तरकीब भी नहीं चली। ओवरटाइम काम करने वाले ज्यादातर मजदूरो ने कहा कि "हम तो कम मजदूरी पर दस घण्टे काम करना कहीं ज्यादा पसन्द करेंगे। पर हमारे सामने कोई और चारा नहीं था। हममें से इतने अधिक लोग बेकार थे (और कताई करने वाले इतने अधिक मजदूरो को दूसरे काम के अभाव में धागा जोडने का काम करना पड रहा है और उनको इतनी कम मजदूरी मिल रही है) कि यदि हम ज्यादा समय तक काम करने से इनकार करते, तो दूसरे लोग फौरन हमारी जगह लेने को आ जाते। इसलिये हमारे सामने सवाल यह था कि या तो ज्यादा समय तक काम करना मजूर करे और या नौकरी से हाथ धोने के लिये तयार हो जायें।"[3]

इस प्रकार, पूजी का प्रारम्भिक आन्दोलन असफल रहा, और दस घण्टे का कानून १ मई १८४८ को लागू हो गया। परन्तु इस बीच चार्टिस्ट पार्टी असफल हो गयी थी, उसके नेता गिरफ्तार हो गये थे और उसका सगठन छिन्न-भिन्न हो गया था, और उसके फलस्वरूप अग्रेज मजदूर-वर्ग को

---

[1] "'मैने इसपर (आवेदन पत्र पर) दस्तखत तो कर दिये थे, पर मैंने उसी वक्त यह कहा था कि मै एक गलत चीज पर दस्तखत कर रहा हू।' –'तब फिर तुमने उसपर क्या दस्तखत किये?'–'इसलिये कि अगर मै इनकार करता, तो मुझे नौकरी से जवाब मिल जाता।'–इसमे पता चलता है कि इस आदमी को 'अत्याचार' का तो अहसास था, पर वह फैक्टरी-कानून का अत्याचार नही था।" (उप० पु०, प० १०२।)

[2] उप० पु०, पृ० १७। मि० होनर के इलाके मे इस तरह १८१ फैक्टरियों के १०,२७० वयस्क मजदूरा के बयान लिये गये थे। इन लोगो ने जो कुछ कहा, वह अक्तूबर १८४८ को समाप्त हाने वाली छमाही की फैक्टरी रिपोर्टो के परिशिष्ट मे मिलेगा। इन बयानो म कुछ अन्य प्रश्ना के सम्बध म भी मूल्यवान सामग्री उपलब्ध है।

[3] उप० पु०। लेओनाड होनर ने खुद जो बयान इक्ट्ठा किये थे, वे अक ६९, ७०, ७१, ७२, ९२ और ९३ मे मिलते हैं, और सब इन्सपेक्टर ए० द्वारा इक्ट्ठा किये हुए बयान परिशिष्ट के अक ५१, ५२, ५८, ५९, ६२ और ७० मे देखे जा सकते हैं। एक कारखानेदार ने भी सच्ची बात कही है। देखिये अक १४ और अक २६५, उप० पु०।

खुद अपनी शक्ति में विश्वास नहीं रह गया था। इसके कुछ दिन बाद पेरिस में जून का विद्रोह हुआ और उसे खून में डुबो दिया गया, और इन घटनाओं ने योरपीय महाद्वीप की तरह इंगलण्ड में भी शासक वर्गों के सभी गुटों को – जमींदारों और पूंजीपतियों को, स्टाक एक्सचेंज के भेडियों और दूकानदारों को, सरक्षणवादियों और स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों को, सरकार और विरोधी दल को, पादरियों और स्वतंत्र चिंतकों को, कमसिन वेश्याओं और बुढ़िया साधुनियों को – एकताबद्ध कर दिया। वे सब सम्पत्ति, धर्म, परिवार और समाज की रक्षा करने के लिये एक झण्डे के नीचे आकर खड़े हो गये। मजदूर वर्ग को हर तरफ कोसा जाने लगा। उसे मानो कानून की नजरों में बागी घोषित कर दिया गया। अब कारखानेदारों को सभल-सभलकर चलने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वे न केवल १० घण्टे के कानून के खिलाफ, बल्कि उन तमाम क़ानूनों के खिलाफ खुली बगावत का झण्डा लेकर खड़े हो गये, जो १८३३ से उस समय तक श्रम शक्ति के "स्वतंत्र" शोषण को किसी हद तक सीमित करने के उद्देश्य से बनाये गये थे। यह छोटे पैमाने पर Proslavery Rebellion (गुलामी की प्रथा के समर्थन में विद्रोह) था, जिसे सारी लोक लाज और हया शर्म को ताक पर रखकर दो वर्ष से अधिक समय तक चलाया गया और जिसमें एक जबर्दस्त आतंकवादी स्फूर्ति का प्रदर्शन हुआ। यह आन्दोलन इसलिये और भी जोरदार ढंग से चलाया गया कि विद्रोही पूंजीपतियों को उसमें कुछ खोने का डर नहीं था, ज्यादा से ज्यादा जो चीज खोयी जा सकती थी, वह थी बस उनके मजदूरों की चमड़ी।

इसके बाद जो कुछ कहा गया है, उसे समझने के लिये हमें यह याद रखना होगा कि १८३३, १८४४ और १८४७ के फैक्टरी कानूनों ने जिस हद तक एक दूसरे में संशोधन नहीं कर दिया था, उस हद तक वे तीनों इस वक्त लागू थे, और उनमें से कोई भी १८ वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों के काम के दिन को सीमित नहीं करता था। हमें यह भी याद रखना होगा कि सुबह के ५ ३० बजे से लेकर रात के ८ ३० बजे तक १५ घण्टे का दिन १८३३ से ही कानूनी "दिन" समझा जाता था, जिसकी सीमाओं के भीतर लड़के लड़कियों और औरतों को कुछ निर्धारित परिस्थितियों में पहले १२ घण्टे और फिर १० घण्टे काम करना पड़ता था।

कारखानेदारों ने शुरूआत इस तरह की कि जो लड़के लड़कियां तथा औरतें उनके यहां काम करती थीं, उनमें से कुछ को और बहुत सी जगहों में तो उनकी आधी सख्या को उन्होंने काम से जवाब दे दिया। फिर उन्होंने वयस्क पुरुषों के लिये रात का काम, जो कि लगभग बन्द हो गया था, फिर से जारी कर दिया। और शोर यह मचाया कि क्या करें, दस घण्टे का कानून बन जाने के बाद अब उनके सामने और कोई चारा नहीं है।[1]

उनका दूसरा कदम भोजन आदि की कानूनी छुट्टी के बारे में था। उसकी कहानी फैक्टरी इंस्पेक्टरों के शब्दों में सुनिये "जब से काम के घण्टों पर १० घण्टे की सीमा लागू हो गयी है, तभी से फैक्टरियों के मालिकों का यह दावा है – हालांकि अभी उन्होंने व्यवहार में उसपर पूरी तरह अमल करना शुरू नहीं किया है – कि यदि यह मान लिया जाये कि काम का समय ६ बजे सुबह को शुरू होकर शाम को ७ बजे खतम होता है, तो वे (भोजन के लिये) एक घण्टा सुबह ६ बजे के पहले और आधा घण्टा शाम को ७ बजे के बाद मजदूरों को देकर कानून की हिदायतों को पूरा कर देते हैं। कुछ जगहों में वे अब भोजन के लिये एक घण्टा या आधा घण्टा देने लगे हैं,

---

[1] "*Reports &c for 31st October 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० १३३, १३४।

पर साथ ही उनका दावा है कि भोजन आदि के लिये जो डेढ घण्टे का समय दिया जाना चाहिये, उसके बारे में यह जरूरी नहीं है कि उसका कोई भाग फैक्टरी के काम के दिन के दौरान में दिया जाय।"[1] इसलिये, कारखानेदारो का कहना था कि भोजन के समय के बारे में १८४४ के क़ानून में जो अत्यन्त कडी धाराएं हैं, उनके मातहत मजदूर केवल फक्टरी में आने के पहले और फक्टरी से जाने के बाद – यानी केवल अपने घर पर ही – खा पी सकते ह। और मजदूर सुबह ६ बजने के पहले ही अपना खाना-पीना भला खतम क्यो न कर दें? मगर शाही वकीलो ने यही फैसला दिया कि कानून में भोजन आदि के लिये जो समय निर्धारित किया गया है, वह "काम के घण्टो के दौरान में अवकाश के रूप में दिया जाना चाहिये, और ६ बजे सुबह से शाम के ७ बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार १० घण्टे तक काम लेना कानून के खिलाफ समझा जायेगा।"[2]

इन सुन्दर प्रदशनो के बाद पूजी ने अपने विद्रोह की भूमिका के तौर पर एक ऐसा कदम उठाया, जो १८४४ के कानून की शब्दावली के अनुरूप था और इसलिये जो एक कानूनी कदम था।

१८४४ का कानून ८ वष से १३ वष तक के उन बच्चो से, जो दोपहर के पहले से काम कर रहे हो, दोपहर के १ बजे के बाद काम लेने से निश्चय ही मना करता था। मगर जिन बच्चो के काम का समय दोपहर के १२ बजे या उसके बाद शुरू होता था, उनके ६ $\frac{१}{२}$ घण्टे के काम का यह कानून किसी प्रकार नियमन नहीं करता था। ८ बरस के बच्चो का काम यदि दोपहर को शुरू होता हो, तो उनसे १२ बजे से १ बजे तक १ घण्टा, २ बजे से ४ बजे तक २ घण्टे, शाम के ५ बजे से रात के ८.३० बजे तक ३$\frac{१}{२}$ घण्टे, – इस तरह कुल मिलाकर ६$\frac{१}{२}$ घण्टे तक काम लिया जा सकता था। या इससे भी बेहतर व्यवस्था हो सकती थी। बच्चो से रात को ८.३० बजे तक वयस्क पुरुषो के साथ-साथ काम कराने के लिये कारखानेदारो को बस यह तरकीब करने की जरूरत थी कि वे उनसे दिन के २ बजे तक कोई काम न ले, और फिर वे उनको बिना किसी अवकाश के रात के ८.३० बजे तक बराबर फैक्टरी में रख सकते थे। "और यह बात साफ तौर पर मान ली गयी है कि मिल मालिको की अपनी मशीनो से दस घण्टे से ज्यादा काम लेने की इच्छा के कारण इंग्लण्ड में यह प्रथा पायी जाती है कि तमाम लडके-लडकियो और औरतो के फक्टरी से चले जाने के बाद पुरुषो के साथ-साथ बच्चो से भी काम लिया जाता है, और यदि फैक्टरी के मालिक चाहें, तो उनको रात के ८.३० बजे तक रोक लिया जाता है।"[3] मजदूरों और फैक्टरी इंस्पेक्टरो ने स्वास्थ्य विज्ञान तथा नतिक आधार पर इस प्रथा का विरोध किया, किन्तु पूजी ने उन्हें जवाब दिया कि

> 'My deeds upon my head' I crave the law,
> The penalty and forfeit of my bond"

---

[1] *Reports &c, for 30th April 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४८'), पृ० ४७।

[2] '*Reports &c for 31st October 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८') पृ० १३०।

[3] *Reports &c* ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु०, पृ० १४२।

("मेरा किया मेरे सिर पर,
म तो इसाफ चाहता हू।
मेरे रुक्के में जो कुछ लिखा है,
म बस वही चाहता हू।")

सच तो यह है कि २६ जुलाई १८५० को जो आकडे हाउस आफ कामस में पेश किये गये, उनके अनुसार तो इस तमाम विरोध के बावजूद १५ जुलाई १८५० को २५७ फक्टरियो में ३,७४२ बच्चे इस "प्रथा" का शिकार बने हुए थे।[1] परन्तु इतना ही काफी नहीं था। पूजी की वन बिलाव जसी तेज आखो ने यह भी खोज निकाला कि १८४४ का कानून दोपहर के पहले तो इस बात की इजाजत नहीं देता कि नाश्ते के लिये कम से कम आधे घण्टे की छुट्टी दिये बिना लगातार ५ घण्टे तक काम कराया जाये, मगर दोपहर के बाद के काम के वास्ते उसमें ऐसी शत नहीं है। चुनाचे, उसने आठ आठ बरस के बच्चो से न केवल २ बजे से लेकर रात के ८ ३० बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार काम कराने का, बल्कि इस पूरे अरसे में उनको भूखा रखने का भी हक हासिल कर लिया।

"Ay, his heart,
So says the bond

("मुझे दो कलेजा उसका –
बही में यही लिखा है!")[2]

इस प्रकार, जहा तक बच्चो के काम का सम्बध था, १८४४ के कानून की शब्दावली से शाइलोक की तरह चिपट जाने का उद्देश्य केवल यह था कि "लडके लडकियो और स्त्रियो" के सम्बध में भी इस कानून के खिलाफ खुल्लमखुल्ला विद्रोह शुरू हो जाये। पाठको को याद होगा कि इस कानून का मुख्य उद्देश्य एव ध्येय "झूठी relay system (पालियो की प्रणाली)"

---

[1] "*Reports &c, for 31st October, 1850* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५०'), पृ० ५, ६।

पूजी के विकसित रूप मे भी उसका वही स्वभाव रहता है, जो अविकसित रूप मे है। अमरीकी गह युद्ध के आरम्भ होने के कुछ ही समय पहले न्यू मैक्सिको के इलाके पर गुलामो के मालिको के प्रभाव के फलस्वरूप जो कोड थोप दिया गया था, उसमे यह कहा गया था कि पूजीपति चूकि मजदूर की श्रम शक्ति खरीद लेता है, इसलिये मजदूर "उसकी (पूजीपति की) मुद्रा होता है' (the labourer is his (the capitalist s) money)। रोम के अभिजात वग के लोगो मे यही दृष्टिकोण पाया जाता था। साधारण लोगो को वे जो मुद्रा कज पर दे देते थे, वह जीवन निर्वाह के साधनो के जरिये कजदारो के रक्त और मास म रूपान्तरित हो जाती थी। और इसलिये यह "रक्त और मास' उनकी "मुद्रा" होता था। दस तालिकाओ का शाइलाक मार्का कानून इसी विचार की उपज है। लिगुएत का खयाल है कि टाइबर नदी के उस पार अभिजात वग के महाजन समय समय पर कर्ज़दारो के मास का महाभोज किया करते थे। ईसाइयो के ख्रीष्ट भोज समारोह के सम्बध मे दौमेर की परिकल्पना की भाति हम इस परिकल्पना को भी अनिर्णीत छोड सकते है।

को बन्द कराना था। मालिको ने अपने विद्रोह का श्रीगणेश इस साधारण सी घोषणा से किया कि १८४४ के कानून की वे धाराए, जो मालिको को १५ घण्टे के दिन के चाहे जितने छोटे भाग में लडके-लडकियो तथा स्त्रियो से ad libitum (इच्छानुसार) काम लेने से रोकती ह, उस वक्त तक "अपेक्षाकृत हानिरहित" ("comparatively harmless') थीं, जब तक कि काम का समय १२ घण्टे निश्चित था। लेकिन दस घण्टे के कानून के मातहत तो ये धाराए भी उनके लिये "भारी मुसीबत" (hardship) बन जायेंगी।[1] मालिको ने फैक्टरी-इस्पेक्टरो को अत्यधिक शान्त ढग से सूचित कर दिया कि हम अपने को कानून की शब्दावली के ऊपर समझते ह और पुरानी प्रणाली अपने आप फिर से जारी कर देना चाहते हैं।[2] उन्होंने कहा कि यह काम हम खुद मजदूरो के हित में करना चाहते हैं, जो गलत सलाहकारो के कहने में आ गये हैं, और हमारा उद्देश्य यह है कि हम "उनको ज्यादा ऊची मजदूरी दे सकें"। मालिको का कहना था कि "दस घण्टे के क़ानून के मातहत चलते हुए ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक श्रेष्ठता को कायम रखने का बस यही एकमात्र सम्भव तरीका है।" "पालियो की व्यवस्था में, मुमकिन है, अनियमित बातो का पता लगाना थोडा कठिन हो जाये, लेकिन उससे क्या फक पडता ह? फक्टरियो के इस्पेक्टरो और सब-इस्पेक्टरों को थोडी सी परेशानी (some little trouble) से बचाने के लिये क्या इस देश के महान औद्योगिक हितो को गौण स्थान दिया जायेगा?"[3]

इन तमाम पतरेबाजियो से, जाहिर है, कोई फायदा न हुआ। फक्टरी-इस्पेक्टरो ने अदालतो के दरबार में जाकर गुहार मचायी। परन्तु शीघ्र ही मिल-मालिको ने दरखास्तो की ऐसी आधी उठायी कि गृह-मत्री सर जाज ग्रे की नाक में दम आ गया और उन्होंने ५ अगस्त १८४८ को एक गश्ती चिट्ठी भेजकर इस्पेक्टरो से कहा कि उनको "कानून की शब्दावली के खिलाफ जाने या पालिया बनाकर लडके-लडकियो से काम लेने के बारे में मिल-मालिको के विरुद्ध ऐसी सूरत में रिपोर्टें नहीं भेजनी चाहिये, जब कि यह यकीन करने का कोई आधार न हो कि इन लडके-लडकियो से सचमुच क़ानून द्वारा निश्चित समय से अधिक देर तक काम लिया गया है।" इसपर फक्टरी इस्पेक्टर जे० स्टुअर्ट ने पूरे स्कोटलण्ड में १५ घण्टे के फैक्टरी के दिन के दौरान में तथाकथित पालियो की प्रणाली के अनुसार काम लेने की इजाजत दे दी, और इस इलाके में इस प्रणाली का फिर पहले की तरह जोर-शोर से प्रचलन हो गया। दूसरी ओर, इग्लैण्ड के फैक्टरी-इस्पेक्टरो ने कहा कि *गृह-मत्री को इस तानाशाही ढग से कानून को मुअत्तल कर देने का कोई हक नहीं है*, और उन्होंने the proslavery rebellion (गुलामी की हिमायत में की गयी इस बग़ावत) के खिलाफ अपनी कानूनी कारवाइया जारी रखीं।

परन्तु पूजीपतियो को अदालत के सामने खडा करने से क्या लाभ था, जब कि अदालतें — यानी वे county magistrates (काउटी मजिस्ट्रेट), जिनको कौबेट ने "Great Unpaid

---

[1] *Reports &c, for 30st April, 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४८'), पृ० २८।

[2] चुनाचे, अन्य व्यक्तियो के अलावा, दानवीर ऐशवर्थ ने भी लेओनार्ड हानर का एक ऐसा क्वेकर-मार्का खत लिखा है, जिसे पढकर बहुत अफसोस होने लगता है। (*Reports &c April 1849*' ['रिपोर्टें, इत्यादि, अप्रैल १८४९'], पृ० ४।)

[3] उप० पु०, पृ० १४०।

("महान नि शुल्की") का नाम दिया था,—उनको फौरन निर्दोष करार दे देती थीं? इन अदालतो में मिल मालिक खुद ही अपने मुकदमो का फसला करते थे। एक मिसाल देखिये। कपास की कताई करने वाली कम्पनी—केर्शो, लीज एण्ड कम्पनी—के मालिक, एस्क्रिग नामक किन्हीं महाशय ने अपने डिस्ट्रिक्ट के फक्टरी इस्पेक्टर के सामने *relay system* (पालिया की व्यवस्था) की एक योजना पेश की, जिसे वह अपनी मिल में जारी करना चाहते थे। फक्टरी-इस्पेक्टर ने इस योजना को पास करने से इनकार कर दिया तो कुछ समय के लिये एस्क्रिग साहब चुप होकर बठ गये। उसके चन्द महीने बाद रोबिसन नाम के एक व्यक्ति को स्टोकपोट के नगर-मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। यह व्यक्ति भी कपास की कताई करने वाले किसी कारखाने का मालिक था और यदि एस्क्रिग का *Man Friday*" नौकर नहीं था, तो उनका सम्बधी अवश्य था। उसपर यह आरोप लगाया गया था कि उसने अपने कारखाने में पालियो की बिल्कुल वसी ही योजना जारी कर रखी है, जसी योजना एस्क्रिग ने तयार की थी। अदालत चार जजा की थी, उनमें से तीन कपास की कताई करने वाले कारखानो के मालिक थे, और उनके मुखिया वही एस्क्रिग महाशय थे। सो एस्क्रिग ने रोबिसन को निर्दोष कहकर छोड दिया और फिर सोचा कि जो बात रोबिसन के लिये सही थी, वह एस्क्रिग के लिये भी सही है। खुद अपने फसले की नजीर के बल पर उन्होंने तुरन्त ही अपने कारखाने में भी वह प्रणाली जारी कर दी।[1] जाहिर है, इस अदालत में जिस तरह के जज बठे थे, यह खुद कानून की खिलाफवरजी थी।[2] इस्पेक्टर होवेल ने कहा है कि "न्याय के नाम पर होने वाले इन नाटको का तुरन्त सुधार करने की आवश्यकता है—उसके लिये या तो क़ानून में इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाये, जिससे वह इन अदालतो के फसलो के अनुरूप हो जाये, और या इस क़ानून को लागू करने का अधिकार अपेक्षाकृत कम दोषपूर्ण ऐसी अदालतो को दिया जाये, जिनके सामने जब ऐसे मुकदमे आयें, तो उनके फसले कानून के अनुरूप हो। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हू, जब सरकार से वेतन पाने वाले मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जायेंगे।"[3]

शाही वकीलो ने घोषणा कर दी कि मालिको ने १८४८ के क़ानून की जो व्याख्या की है, वह बिल्कुल बेतुकी है। लेकिन जिन्होंने समाज के उद्धार का बीडा उठाया था, वे इस तरह हिम्मत हारने वाले नहीं थे। लेग्नोनार्ड होनर के शब्दो में, "मने सात अदालतो के सामने दस मुक़दमे दायर करके कानून को लागू करने की कोशिश की, पर जब इन दस में से केवल एक मुकदमे में मजिस्ट्रेट ने मेरा साथ दिया, तो म इस नतीजे पर पहुचा कि कानून तोडने वाला के खिलाफ अब और मुकदमे दायर करना बेकार है। १८४८ के कानून का वह भाग जो काम

---

[1] '*Reports &c for 30th April 1849* ('रिपोर्ट इत्यादि, ३० अप्रैल १८४६'), पृ० २१, २२। इसी तरह की और मिसाला के लिए देखिये उप० पु०, पृ० ४, ५।

[2] विलियम चतुथ के राज्य-काल के कानून न० १ और २ के अध्याय २४, धारा १० के अनुसार कपास की कताई या बुनाई करने वाली किसी भी मिल के मालिक को या मालिक के पिता, पुत्र अथवा भाई का ऐसे मुकदमों को जज की हैसियत से सुनने की मनाही थी, जो फैक्टरी से सम्बध रखते हा। यह कानून सर जान होबहाउस का फैक्टरी कानून भी कहलाता था।

[3] *Reports &c for 30th April 1849*' (रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४६') [पृ० २२]।

के घण्टो में एकरूपता लाने के उद्देश्य से बनाया गया था, अब मेरे डिस्ट्रिक्ट (लकाशायर) में लागू नहीं है। न ही जब हम पालियो में काम कराने वाली किसी मिल की जाच करने जाते हैं, तो मेरे सब इस्पेक्टरो के पास या मेरे पास यह पता लगाने का कोई तरीका है कि उस मिल में लडके-लडकिया या स्त्रिया १० घण्टे रोजाना से ज्यादा तो काम नहीं कर रहे हैं ३० अप्रैल के आकडो के अनुसार पालियो में काम कराने वाले मिल-मालिको की सख्या ११४ है, और कुछ समय से उनकी तादाद तेजी से बढती जा रही है। आम तौर पर, मिल के काम करने का वक्त बढाकर १३$\frac{१}{२}$ घण्टे, सुबह ६ बजे से रात के ७ $\frac{१}{२}$ बजे तक, कर दिया जाता है कुछ जगहो में १५ घण्टे, यानी सुबह ५$\frac{१}{२}$ बजे से रात के ८$\frac{१}{२}$ बजे तक, काम कराया जाता है।"[1] लेओनार्ड होनर के पास दिसम्बर १८४८ में ही ऐसे ६५ कारखानेदारो तथा २६ निरीक्षको की सूची तयार हो गयी थी, जिन्होने एकमत से यह घोषणा की थी कि इस relay system (पालियो की प्रणाली) के रहते हुए किसी भी प्रकार का निरीक्षण मजदूरो से अत्यधिक काम लेने की प्रथा को नहीं रोक सकता।[2] अब क्या होता था कि पन्द्रह घण्टो के दौरान में उन्हीं बच्चो और लडके-लडकियो से कभी कताई-घर में काम लिया जाता था, तो कभी बुनाई घर में, या उनको एक फक्टरी से दूसरी फक्टरी में घुमाया जाता था (shifted)।[3] एक ऐसी व्यवस्था पर नियत्रण रखना कसे सम्भव था, जो "पालियो की आड में, असल में, उन बहुत सी योजनाओ में से एक थी, जो मजदूरो की इधर से उधर और उधर से इधर नाना प्रकार से अदला-बदली करने और अलग अलग व्यक्तियो के काम और विश्राम के घण्टो को दिन भर बराबर बदलते रहने के लिये बनायी गयी थीं और जिनका नतीजा यह हुआ था कि एक वक्त पर एक कमरे में मजदूरो का एक पूरा जत्था कभी काम करता हुआ नहीं मिलता था।"[4]

लेकिन मजदूर से जो अत्यधिक काम सचमुच लिया जाता था, यदि उसकी बात न की जाये, तो भी यह तथाकथित relay system (पालियो की प्रणाली) पूजीवादी कल्पना की एक ऐसी उपज थी, जिससे फूरिये भी अपने 'Courtes Seances' (काम के सक्षिप्त प्रदशनो) के व्यगमय रेखाचित्रो में आगे नहीं बढ पाये ह। हा, इतना जरूर है कि उनके यहा जो "श्रम का आकर्षण" था, वह यहा "पूजी के आकषण" में बदल गया है। मिसाल के लिये, मिल मालिको की उन योजनाओ को देखिये, जिनकी प्रशसा करते हुए "प्रतिष्ठित" समाचारपत्रो ने कहा था कि ये योजनाए इस बात का नमूना ह कि "यदि थोडा

---

[1] *Reports, &c for 30th April 1849* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), प० ५।

[2] *Reports, &c, for 31st October 1849* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४९'), पृ० ६।

[3] *Reports &c for 30th April 1849* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९), पृ० २१।

[4] *Reports &c, for 31st October, 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर, १८४८'), प० ९५।

सा ध्यान दिया जाये और व्यवस्थित ढग से काम किया जाये, तो कैसी-कैसी सफलताएं प्राप्त की जा सकती है" (what a reasonable degree of care and method can accomplish")। मजदूरों को कभी-कभी १२ या १४ अलग अलग श्रेणियों में बांट दिया जाता था, और खुद इन श्रेणियों में जो लोग रखे गये थे, वे भी बराबर बदलते रहते थे। कारखाने के १५ घण्टे के दिन के दौरान पूंजी मजदूर को कभी ३० मिनट के लिये फैक्टरी में घसीट लाती थी, कभी एक घण्टे के लिये और उसके बाद फिर उसे बाहर धकेल देती थी, और कुछ समय बाद उसे फिर अन्दर ले जाती थी और उसके बाद फिर बाहर निकाल देती थी। इस तरह पूंजी उसे कभी यहां घुमाती थी, कभी वहां, समय के जरा जरा से टुकड़ों में उससे काम लेती थी, पर जब तक पूरे १० घण्टे का काम नहीं निकाल लेती थी, तब तक उसको अपने पंजों में से नहीं निकलने देती थी। जैसा कि रंगमंच पर होता है, वे ही व्यक्ति अलग अलग अंकों के विभिन्न दृश्यों में फिर फिर सामने आते थे। परन्तु जिस प्रकार जब तक नाटक चलता रहता है, तब तक अभिनेता पर रंगमंच का अधिकार रहता है, उसी प्रकार मजदूरों पर, घर से फैक्टरी तक आने-जाने के समय के अलावा, पूरे १५ घण्टे तक फैक्टरी का अधिकार रहता था। इस प्रकार, विश्राम के समय को जबर्दस्ती खाली बैठे रहने के समय में बदल दिया गया, जिसने नौजवानों को शराबखानों में और लड़कियों को चकला घरों में भेज दिया। मजदूरों की संख्या को बढ़ाये बिना अपनी मशीनों को १२ या १५ घण्टे तक चालू रखने के लिये पूंजीपति दिन प्रति दिन जो नयी तरकीबें निकालते थे, उनके साथ-साथ मजदूर को कभी वक्त के इस टुकड़े में जल्दी जल्दी अपना भोजन निगलना पड़ता था, तो कभी उस टुकड़े में। १० घण्टे के आन्दोलन के समय मिल मालिकों ने शोर मचाया था कि मजदूरों की भीड़, असल में, इस उम्मीद में आवेदन पत्र दे रही है कि उसे १० घण्टे के काम के एवज में १२ घण्टे की मजदूरी मिल जायेगी। पर अब उन्होंने तस्वीर का दूसरा रुख दिखलाया। वे श्रम शक्ति पर राज करते थे १२ या १५ घण्टे तक, पर उसके एवज में मजदूरी देते थे सिर्फ १० घण्टे की।[1] यही मामले का सार था, मालिकों की १० घण्टे के क़ानून की यही व्याख्या थी! ये स्वतंत्र व्यापार के वे ही पाखण्डी समर्थक थे, जिनके रोम रोम से मानवता के लिये उनका प्रेम टपका करता था और जिन्होंने अनाज के क़ानूनों के विरोध में चलने वाले आन्दोलन के काल में पूरे १० वर्ष तक मजदूरों को यह उपदेश सुनाया था और पाई पाई का हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया था कि यदि अनाज बिना किसी रोक थाम के देश में आने लगे, तो इंगलैण्ड के उद्योगों के पास इतने साधन मौजूद हैं कि जिनके द्वारा १० घण्टे का श्रम पूंजीपतियों को धनी बना देने के लिये बहुत काफी होगा।[2]

---

[1] देखिये *Reports &c for 30th April 1849* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), पृ०, ६। *Reports &c for 31st October 1848* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८') में फैक्टरी इंस्पेक्टर हौवेल और सौण्डर्स ने "shifting system ('स्थान परिवर्तन प्रणाली")" की जो विस्तृत व्याख्या की है, वह भी देखिये। उसके साथ साथ, १८४९ के वसन्त में ऐश्टन तथा आस पड़ोस के पादरियों ने shift system ("स्थान परिवर्तन प्रणाली") के विरुद्ध रानी को जो आवेदन पत्र दिया था, उसे भी देखना चाहिये।

[2] मिसाल के लिये, देखिये *The Factory Question and the Ten Hours Bill* (*'फैक्टरियों का सवाल और दस घण्टे का बिल'*), *R H Greg* (*आर० एच० ग्रेग*) द्वारा लिखित, [London] 1837।

पूजी का यह विद्रोह दो साल बाद आखिर विजयी हुआ, जब कि इगलैण्ड के सबसे ऊचे चार न्यायालयो में से एक ने, अर्थात Court of Exchequer (एक्शचेकर के न्यायालय) ने, ८ फरवरी १८५० के एक मुकदमे में यह फैसला सुना दिया कि कारखानेदार तो अवश्य १८४४ के क़ानून के अथ के खिलाफ काम कर रहे थे, पर खुद इस कानून में कुछ ऐसे शब्द थे, जो उसे निरथक बना देते थे। "इस फसले के द्वारा दस घण्टे का कानून रद्द कर दिया गया।"[1] बहुत से मालिक लडके-लडकियो और स्त्रियो से relay system (पालियो की प्रणाली) के अनुसार काम लेने में अभी तक घबराते थे, अब उन्होने घडल्ले से यह चीज शुरू कर दी।[2]

परन्तु पूजी की इस विजय के बाद, जो कि निर्णायक विजय मालूम होती थी, तुरत ही उसकी प्रतिक्रिया हुई। अभी तक मजदूर निष्क्रिय ढग से प्रतिरोध कर रहे थे, हालाकि यह प्रतिरोध न तो कभी ढीला पडता था और न बीच में रुकता ही था। लेकिन अब मजदूरो ने लकाशायर और योकशायर में डराने वाली सभाए करके अपना विरोध प्रकट किया। दस घण्टे के जिस कानून का इतना शोर मचाया गया था, अब पता चला कि वह कोरी धोखे की टट्टी और एक ससदीय चाल था और वास्तव में उसका कोई वजूद न था! फैक्टरी-इस्पेक्टरो ने सरकार को लगातार चेतावनी दी कि वर्गों का विरोध अविश्वसनीय सीमा तक तनावपूण हो गया है। कुछ मालिक भी बडबडाये "मजिस्ट्रेटो के परस्पर विरोधी फसलो के कारण सवथा असाधारण और अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। योकशायर में एक कानून लागू है, लकाशायर में दूसरा, लकाशायर के एक हल्के में एक कानून अमल में आता है, उससे बिल्कुल मिले हुए पडोसी हल्के पर दूसरा कानून लागू है। बडे बडे शहरो के कारखानेदारो के लिये कानून की खिलाफवर्ज़ी करना मुमकिन है, देहाती इलाको के कारखानेदारो को इतने आदमी ही नहीं मिलते कि वे उनसे relay system (पालियो की प्रणाली) के अनुसार काम ले सकें, और ऐसी स्थिति में मजदूरो को एक फैक्टरी से दूसरी फक्टरी में बदलते रहना तो उनके लिये और भी कम सम्भव है," इत्यादि। और, जाहिर है, पूजी का पहला जन्मसिद्ध अधिकार यह है कि सभी पूजीपतियो को श्रम-शक्ति का समान शोषण करने की सुविधा होनी चाहिये।

ऐसी परिस्थिति में मालिको और मजदूरो के बीच एक समझौता हो गया, जिसपर ५ अगस्त १८५० के अतिरिक्त फैक्टरी-कानून के रूप में ससद की मुहर भी लग गयी। "लडके-लडकियो और स्त्रियो" के लिये सप्ताह के पहले पाच दिन में काम का दिन १० घण्टे से बढाकर $१०\frac{१}{२}$ घण्टे का कर दिया गया और शनिवार को घटाकर $७\frac{१}{२}$ घण्टे का कर दिया

---

[1] F Engels *Die englische Zehnstundenbill* [फ्रे० एगेल्स, 'इगलैण्ड का दस घण्टे का बिल'] (काल मार्क्स द्वारा सम्पादित *Neue Rheinische Zeitung Politisch Ökonomische Revue* के अप्रैल १८५० के अक मे, पृ० १३)। इसी "उच्च" न्यायालय ने अमरीका के गृह-युद्ध के काल मे एक ऐसी शाब्दिक सदिग्धता का आविष्कार किया था, जिसने डाकामार जहाज़ो की हथियारबन्दी को रोकने के लिये बनाये गये कानून का मतलब बिल्कुल उलट दिया था।

[2] *Rep &c for 30th April 1850* ('रिपोर्ट', इत्यादि, ३० अप्रैल १८५०')।

गया। तै कर दिया गया कि काम सुबह के ६ बजे से शाम के ६ बजे तक[1] होगा और नाश्ते तथा भोजन के लिये बीच में कम से कम कुल $१\frac{१}{२}$ घण्टे के लिये रुका रहेगा, और नाश्ते तथा भोजन की छुट्टी सब मजदूरो को एक ही समय पर तथा १८४४ के कानून में निर्धारित नियमो के अनुसार दी जायेगी। इस कानून द्वारा relay system (पालियो की प्रणाली) का सदा के लिये अन्त हो गया।[2] बच्चो के श्रम पर १८४४ का कानून ही लागू रहा।

पहले की तरह इस बार भी मालिको के एक दल ने सर्वहारा के बच्चो के ऊपर विशेष प्रकार के सामन्ती अधिकार प्राप्त कर लिये। यह रेशम के कारखानो के मालिको का दल था। १८३३ में इन लोगो ने यह गीदड भभकी दी थी कि "यदि किसी भी उम्र के बच्चो से दस घण्टे रोजाना काम लेने की उनकी आजादी छीन ली गयी, तो उनके कारखाने बन्द हो जायेंगे" (if the liberty of working children of any age for 10 hours a day were taken away, it would stop their works)।[3] उनका कहना था कि १३ वर्ष से अधिक उम्र के बच्चो की पर्याप्त सख्या को खरीद सकना उनके लिये असम्भव होगा। चुनाचे, वे जो विशेष अधिकार चाहते थे, वह उन्हें मिल गया। बाद को छान-बीन करने पर पता चला कि उनका बहाना सरासर झूठा था।[4] लेकिन इससे उनके रास्ते में कोई रुकावट नहीं पडी। वे अगले दस बरस तक नन्हे नन्हे बच्चो के खून से रोजाना १० घण्टे रेशम की कताई करते रहे। ये बच्चे इतने छोटे होते थे कि उनको स्टूलो पर खडा करके उनसे काम लिया जाता था।[5] १८४४ के कानून ने इन मालिको से ११ वर्ष से कम उम्र के बच्चो से रोजाना $६\frac{१}{२}$ घण्टे से ज्यादा काम लेने की "आजादी" निश्चय ही "छीन ली थी"। पर, दूसरी ओर, इस कानून ने उनको ११ वर्ष से लेकर १३ वर्ष तक के बच्चो से १० घण्टे रोजाना काम लेने और उनको उस अनिवार्य शिक्षा के नियम से भी मुक्त कर देने का अधिकार दे दिया था, जो फैक्टरियों में काम करने वाले बाकी सब बच्चो पर लागू था। इस बार बहाना यह था कि "जिस कपडे को ये बच्चे बनाते है, उसकी नाजुक बनावट के लिये अत्यधिक कोमल स्पर्श की आवश्यकता होती है, जो बाल्यावस्था से ही फैक्टरियो में काम शुरू कर देने पर ही उनकी उगलियो में पैदा हो सकता है।"[6] जिस प्रकार दक्षिणी रूस में सींगदार ढोर खाल और चर्बी के लिये जिबह कर दिये जाते है, उसी प्रकार यहा इगलैण्ड में बच्चे अपनी नाजुक उगलियो के लिये जिबह होते रहे। अन्त में १८४४ में दिये गये इन

[1] जाडो में इसके बजाय सुबह के ७ बजे से शाम के ७ बजे तक काम लेने की इजाजत थी।

[2] "(१८५० का) मौजूदा कानून एक समझौते की तरह था, जिसके जरिये मजदूरो ने दस घण्टे के कानून की सुविधाओ को इस सुविधा के एवज में त्याग दिया था कि जिन लोगो के श्रम पर किसी प्रकार के प्रतिबध लगे है, उनके काम के आरम्भ तथा समाप्त होने के समय मे एकरूपता हो जायगी।" (*Reports &c for 30th April 1852* ['रिपोर्टे, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५२'] पृ० १४।)

[3] *Reports, &c for 30th Sept, 1844* ('रिपोर्टे, इत्यादि, ३० सितम्बर १८४४') पृ० १३।

[4] उप० पु०।

[5] उप० पु०।

[6] *Reports &c for 31st Oct, 1846* ('रिपोर्टे, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४६'), पृ० २०।

विशेषाधिकारों को १८५० में केवल रेशम बटने और रेशम लपेटने के विभागों तक ही सीमित कर दिया गया। लेकिन, पूजी की चूंकि "आज़ादी" छीन ली गयी थी, इसलिये उसके मुआवज़े के तौर पर ११ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों के काम का समय १० घण्टे से बढ़ाकर $१०\frac{१}{२}$ घण्टे कर दिया गया। बहाना यह था कि "रेशमी कपड़ा तैयार करने वाली मिलों में दूसरी तरह का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों की अपेक्षा हल्का काम करना पड़ता है, और अन्य दृष्टियों से भी यह स्वास्थ्य के लिये कम हानिकारक होता है।"[1] सरकार की तरफ से बाद को डाक्टरी जाच-पड़ताल हुई, तो उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि "रेशम के उद्योग वाले इलाकों में औसत मृत्यु-दर अत्यधिक ऊची है, और यहा की स्त्रियों में तो यह दर लकाशायर के सूती मिलों के इलाकों की दर से भी ऊची पहुच जाती है।" फैक्टरी इस्पेक्टर

[1] '*Reports, &c, for 31st Oct 1861*' ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६१'), पृ० २६।

[2] उप० पु०, पृ० २७। मोटे तौर पर जिन मजदूरों पर फैक्टरी-कानून लागू है, उन्होंने शारीरिक दृष्टि से बहुत उन्नति की है। सभी डाक्टर इस बात के साक्षी हैं, और विभिन्न अवसरों पर मैंने व्यक्तिगत रूप से जो कुछ देखा है, उससे भी मुझे इस बात की सचाई का विश्वास दिलाया है। फिर भी, और बच्चों के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जिस भयानक रफ्तार से उनकी मौतें होती हैं, उसको यदि अलग रखा जाये, तो भी डा० ग्रीनहाऊ की सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि "सामान्य स्वास्थ्य वाले खेतिहर इलाकों" की तुलना में औद्योगिक इलाकों में स्वास्थ्य की स्थिति बहुत खराब है। इसके प्रमाण के रूप में डा० ग्रीनहाऊ की १८६१ की रिपोर्ट में दी हुई यह तालिका देखिये

कारखानों में काम करने वाले वयस्क पुरुषों की प्रतिशत सख्या	फेफड़ों की बीमारी से मरने वाले पुरुषों की सख्या—प्रति १ लाख के पीछे	डिस्ट्रिक्ट का नाम	फेफड़ों की बीमारी से मरनेवाली स्त्रियों की सख्या—प्रति १ लाख के पीछे	कारखानों में काम करने वाली वयस्क स्त्रियों की प्रतिशत सख्या	स्त्रिया किस तरह का काम करती हैं
१४ ६	५९८	विगन	६४४	१८ ०	सूती
४२ ६	७०८	ब्लैकबर्न	७३४	३४ ९	सूती
३७ ३	५४७	हैलिफेक्स	५६४	२० ४	ऊनी
४१ ९	६११	ब्रेडफोर्ड	६०३	३० ०	ऊनी
३१ ०	६९१	मैक्लेसफील्ड	८०४	२६ ०	रेशमी
१४ ९	५८८	लीक	७०५	१७ २	रेशमी
३६ ६	७२१	ट्रेण्ट नदी के तट पर स्थित स्टोक	६६५	१९ ३	मिट्टी के बर्तन
३० ४	७२६	वूल्सटैण्टन	७२७	१३ ९	मिट्टी के बर्तन
	३०५	८ स्वस्थ खेतिहर डिस्ट्रिक्ट	३४०		

हर छ महीने के बाद इस स्थिति के विरोध में अपनी आवाज़ बुलन्द करता है, पर यह कुप्रथा आज तक ज्यो की त्यो चली आती है।[1]

सुबह ५ ३० बजे से रात के ८ ३० बजे तक के १५ घण्टे के काम के समय को १८५० के क़ानून ने केवल "लडके लडकियो और स्त्रियो" के लिये ६ बजे सुबह से ६ बजे शाम तक के १२ घण्टे के समय में बदल दिया। इसलिये, इस क़ानून का उन बच्चो पर कोई असर नहीं पडा, जिनसे हमेशा इस काल के आधा घण्टा पहले और २$\frac{१}{२}$ घण्टे बाद काम लिया जा सकता था। हा, इतना खयाल रखना जरूरी था कि कुल मिलाकर उनसे ६$\frac{१}{२}$ घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाये। जब बिल पर बहस चल रही थी, तो फक्टरी इस्पेक्टरो ने ससद के सामने इस बारे में आकडे पेश किये कि इस असगति से मालिक कितना बेजा फायदा उठा रहे ह। पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ। कारण कि पृष्ठभूमि में तो यह इच्छा थी कि व्यवसाय की समृद्धि का काल आने पर बच्चो की मदद से वयस्क पुरुषो से किसी न किसी तरह १५ घण्टे रोजाना काम कराया जाये। इसके बाद के तीन वर्षा के अनुभव से यह मालूम हुआ कि यदि ऐसी कोई कोशिश की जायेगी, तो वह वयस्क मजदूरो के विरोध के सामने कामयाब नहीं हो सकेगी।" इसलिये आखिर १८५३ में "सुबह को लडके-लडकियो तथा स्त्रियो के पहले और शाम को उनके बाद बच्चो से काम लेने" की मनाही करके १८५० के कानून को पूर्णता दी गयी। इस समय से १८५० का फैक्टरी-कानून कुछ अपवादो को छोडकर बाकी उन सभी मजदूरो के काम के दिन का नियमन करने लगा, जो उद्योग की उन शाखाओ में काम करते थे, जिनपर यह कानून लागू था।[2]

[1] यह बात सुविदित है कि इग्लैण्ड के "स्वतन्त्र व्यापार के समथको ने रेशम के उद्योग के सरक्षण के लिये लगायी गयी चुगी की मसूखी के सम्बन्ध मे कितनी अनाकानी दिखायी थी। पर अब यदि फ्रास से आने वाले रेशमी माल पर लगी हुई चुगी उसकी रक्षा नही करती, तो उसके बजाय इग्लैण्ड के कारखाना में काम करने वाले बच्चो के लिए सरक्षण का अभाव उसकी सहायता करता है।

[2] *Reports &c for 30th April 1853* ('रिपोर्ट', इत्यादि, ३० अप्रल १८५३'), पृ० ३१।

[3] १८५९ और १८६० इगलैण्ड के सूती उद्योग के परमोत्कप के वप थे। इन वर्षो में कुछ कारखानेदारा ने ओवरटाइम काम के लिये ऊची मजदूरी का लालच देकर वयस्क पुरुषा को काम के दिन के विस्तार के लिये राजी करने की कोशिश की। हाथ से चलने वाले म्यूल पर कताई करने वाले मजदूरो ने और अपने आप चलने वाले म्यूला की देखरेख करने वाले मजदूरा ने मालिको के पास एक दरखास्त भेजकर इस प्रयास का अत कर दिया। इस दरखास्त में उन्होने कहा था "यदि साफ साफ कहा जाये, तो हमारा जीवन हमारे लिये एक बोझा बन गया है, और जब तक हम लोगो को प्रति सप्ताह देश के बाकी मजदूरा से लगभग दो दिन [२० घण्टे] अधिक मिलो मे बन्द रखा जायेगा, तब तक हम अपने को कृषि दासा के समान समझते रहेंगे और हमें लगेगा कि हम एक ऐसी व्यवस्था को चिरस्थायी बना रहे हैं, जो हमारे लिये और आने वाली पीढिया के लिये हानिकारक है इसलिये इस दरखास्त के

इस वक्त तक पहले फैक्टरी-कानून को पास हुए आधी शताब्दी बीत चुकी थी।[1]

फैक्टरियों के सम्बंध में बनाये गये क़ानून पहली बार *'Printworks' Act of 1845"* ('१८४५ के कपड़े की छपाई करने वाले कारखानों के क़ानून') की शकल में अपने मूल-क्षेत्र से आगे बढ़े। पूंजी इस नयी "ज्यादती" से कितनी नाराज थी, यह इस कानून की एक-एक पंक्ति से जाहिर होता है। ८ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों और स्त्रियों के काम के दिन पर उसने १६ घण्टे की सीमा लगायी है। उसके अनुसार, इन बच्चों तथा स्त्रियों को सुबह ६ बजे से रात के १० बजे तक काम करना पड़ता है, और खाने, नाश्ते आदि के लिये भी उनको कोई छुट्टी देना क़ानूनन जरूरी नहीं है। १३ वर्ष से ऊपर के पुरुषों से यही क़ानून दिन-रात इच्छानुसार काम लेने की इजाजत देता है।[2] असल में, यह एक संसदीय गर्भ-पात है।[3]

परन्तु उद्योग की उन विशाल शाखाओं में, जो उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की विशिष्ट पैदावार हैं, मान्यता प्राप्त करके सिद्धान्त ने विजय प्राप्त की। १८५३ से १८६० तक फैक्टरी-मजदूरों के शारीरिक एवं नैतिक पुनरुत्थान के साथ-साथ इन शाखाओं का जैसा चमत्कारपूर्ण विकास हुआ, उसे एक अत्यन्त क्षीण-दृष्टि व्यक्ति भी देख सकता था। काम के दिन पर सीमा लगाने और उसका नियमन करने के कानून मिल-मालिकों से आधी शताब्दी तक गृह-युद्ध चलाकर क़दम-ब-क़दम मनवाये गये थे, पर अब वे खुद भी बड़ी डींग मारते हुए इस बात का जिक्र किया करते थे कि शोषण की जो शाखाएं अभी तक "स्वतंत्र" हैं, उनके

द्वारा हम अत्यन्त आदरपूर्वक आपको यह सूचना देना चाहते हैं कि बड़े दिन तथा नये साल की छुट्टियों के बाद जब हम फिर से काम आरम्भ करेंगे, तो हम ६० घण्टे प्रति सप्ताह काम करेंगे, उससे ज्यादा नहीं, या यूं कहिये कि हम छः बजे से छः बजे तक काम करेंगे और बीच में डेढ़ घण्टे की छुट्टी लेंगे।" (*'Reports &c for 30th April 1860* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'] पृ० ३०।)

[1] इस कानून की शब्दावली से उसका उल्लंघन करने की कितनी सुविधा हो गयी थी, यह जानने के लिये देखिये संसद का प्रकाशन *"Factories Regulation Acts* ('फैक्टरियों के नियमन के कानून') (६ अगस्त १८५९) और उसमें देखिये Leonard Horner (लेओनार्ड होर्नर) का लेख *'Suggestions for amending the Factory Acts to enable the inspectors to prevent illegal working now becoming very prevalent* ('इंस्पेक्टरों को आजकल अत्यन्त प्रचलित होते जाने वाले गैर-कानूनी काम को रोकने के योग्य बनाने के उद्देश्य से फैक्टरी-कानूनों में संशोधन करने के विषय में कुछ सुझाव')।

[2] "८ वर्ष और उससे अधिक उम्र के बच्चों से मेरे डिस्ट्रिक्ट में पिछले छः महीने से (१८५७) सचमुच सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम लिया जा रहा है।" (*Reports &c for 31st October 1857'* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५७'], पृ० ३९।)

[3] 'Printworks Act (कपड़े की छपाई करने वाले कारखानों का कानून) अपनी शिक्षा-सम्बंधी तथा श्रम की रक्षा करने वाली, दोनों प्रकार की धाराओं की दृष्टि से असफल रहा है,—यह बात अब सभी मानते हैं।" (*Reports &c for 31st October 1862* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५२।)

मुकाबले में उनकी अपनी शाखाओ की हालत कितनी अच्छी है।[1] "अर्थशास्त्र" के पाखण्डी प्रचारक अब यह कहते फिरते थे कि कानून द्वारा काम के दिन को निश्चित करने की आवश्यकता को महसूस करना—यह उनके "विज्ञान" का एक विशिष्ट एव नवीन आविष्कार था।[2] यह बात आसानी से समझ में आ जानी चाहिये कि जब कल कारखानो के मालिको ने अवश्यम्भावी के सामने सिर झुका दिया और उसे अनिवाय मानकर स्वीकार कर लिया, उसी समय से पूजी की प्रतिरोध की शक्ति धीरे धीरे कम होती गयी और साथ ही, प्रत्यक्ष रूप से इस सवाल में कोई दिलचस्पी न रखने वाले समाज के वर्गों से नये सहायक मिलने के साथ-साथ, मजदूर-वग की पूजी पर हमला करने की शक्ति बढती गयी। १८६० के बाद से इसीलिये अपेक्षाकृत तीव्र गति से प्रगति हुई है।

कपडा रगने और सफेद करने के सब के सब कारखाने १८६० में १८५० के फैक्टरी कानून के मातहत आ गये,[3] लस और जुर्राबें तयार करने वाले कारखानो पर यह क़ानून १८६१ में लागू हुआ।

---

[1] मिसाल के लिये, २४ माच १८६३ के *The Times* मे ई० पोटर का पत्र देखिये। *The Times* ने मि० पोटर को दस घण्टे के बिल के खिलाफ कारखानेदारो के विद्रोह का स्मरण करवाया था।

[2] अन्य व्यक्तियो के अलावा, *History of Prices* ('दामो का इतिहास') लिखने में टूके के सहयोगी तथा इस पुस्तक के सम्पादक मि० डब्लयू० न्यूमाच ने भी इसी प्रकार की बात कही है। कायरो की तरह जनमत के सामने सिर झुका देना भी क्या विज्ञान की प्रगति है?

[3] १८६० में जो कानून पास हुआ था, उसने कपडे रगने तथा सफेद करने के कारखानो के विषय में यह तै किया था कि १ अगस्त १८६१ से काम का दिन अस्थायी तौर पर १२ घण्टे का और १ अगस्त १८६२ से निश्चित रूप से १० घण्टे का माना जाये, यानी मजदूर साधारण दिनो को १०$\frac{१}{२}$ घण्टे और शनिवार को ७ $\frac{१}{२}$ घण्टे काम किया करे। लेकिन जब १८६२ का निर्णायक वष आया, तो फिर वही पुराना नाटक दोहराया गया। इसके अलावा, कारखानेदारो ने ससद को दरखास्त दी कि उन्हे और एक साल तक लडके-लडकियो तथा स्त्रिया से १२ घण्टे रोज काम लेने की इजाजत दी जाये। उन्होने लिखा था कि "व्यवसाय की वतमान अवस्था मे (यह कपास के अकाल का समय था) मजदूरा का इसमे बडा लाभ है कि वे १२ घण्टे रोजाना काम करे और जब मजदूरी कमा सकते है, कमा ले।" इस आशय का एक बिल भी ससद में पश कर दिया गया था, "और मुख्यतया यह स्कोटलैण्ड के कपडा सफेद करने के कारखानो के मजदूरा की कारवाइयो का नतीजा था कि बाद मे इस बिल का विचार छोड दिया गया था।" (*Reports &c for 31st October 1862* ['रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० १४ १५।) जब पूजी को उन्ही मजदूरा ने परास्त कर दिया, जिनके नाम पर बोलने का वह दावा करती थी, तो उसने वकीला के चश्मो की मदद से यह खोज की कि १८६० के कानून में, ससद के 'श्रम के सरक्षण' के उद्देश्य से बनाये गये अन्य कानूना की तरह, बहुत सी ऐसी अस्पष्ट बाते है, जिनके बहाने से वे calenderers (इस्तरी करने वाले मजदूरा) और finishers (फिनिश करने वाले मजदूरो) को इस कानून के क्षेत्र से अलग कर सकते हैं। अंग्रेजा का न्यायशास्त्र सदा पूजी का वफादार सेवक रहा है। उसन

बच्चो की नौकरी से सम्बधित कमीशन की पहली रिपोर्ट (१८६३) का परिणाम यह हुआ कि हर तरह की मिट्टी की चीजें बनाने वाले (केवल मिट्टी के बतन बनाने वाले ही नहीं), दियासलाइया बनाने वाले, कारतूसो की टोपिया और कारतूस बनाने वाले, कालीन बनाने वाले, फस्टियन कपडा काटने वाले (fustion cutting) और "finishing' (फिनिश करना) कहलाने वाली अन्य अनेक क्रियाओ को करने वाले कारखानो का भी यही हाल हुआ। १८६३ में खुली हवा में कपडे सफेद करने और रोटी बनाने के उद्योगो पर[1] कुछ

Court of Common Pleas (दीवानी मुकदमे निपटाने वाली अदालत) में इस मक्कारी पर अपनी मुहर लगा दी। फैक्टरी-इस्पेक्टरो की एक रिपोट में लिखा है "मजदूरो को इससे बडी निराशा हुई है वे शिकायत करते है कि उनसे अत्यधिक काम लिया जाता है, और यह बहुत खेद की बात है कि एक परिभाषा मे थोडी सी त्रुटि रह जाने के कारण कानून का स्पष्ट उद्देश्य धूल में मिल जाता है।" (उप० पु०, पृ० १८।)

[1] "खुली हवा में कपडे सफेद करने वाले कारखाने" यह झूठा बहाना बनाकर १८६० के कानून से बच गये थे कि उनमे औरते रात का काम नही करती। फैक्टरी-इस्पेक्टरा ने इस झूठ का भण्डाफोड किया और साथ ही मजदूरा ने दरखास्ते देकर ससद की यह गलतफहमी दूर कर दी कि खुली हवा में कपडे सफेद करने वाले कारखानो में घास के मैदाना की ठण्डी हवा का वातावरण रहता है। इस प्रकार के कारखाना मे कपडे सुखाने के कमरा मे ६० से १०० डिगरी फैरनहाइट [३२ से ३८ डिगरी सेटीग्रेड] तक का तापमान रहता था, और उनमे ज्यादातर लडकिया काम करती थी। ये लडकिया कभी-कभार सुखाने के कमरो से बाहर ताजा हवा में निकल आती थी, इसके लिये cooling (ठण्डा होना) शब्दावली का प्रयोग किया जाता था। फैक्टरी इस्पेक्टरा की एक रिपोट में लिखा है 'पन्द्रह लडकिया भट्ठियो मे काम करती है। लिनेन के लिये यहा ८० से ६० डिगरी [२७ से ३२ डिगरी सेंटीग्रेड] तक की और कैम्ब्रिक के लिये १०० डिगरी [३८ डिगरी सेटीग्रेड] तथा उससे ज्यादा की गरमी रहती है। १० वग-फीट के एक छोटे से कमरे मे, जिसके बीचाबीच एक बन्द भट्ठी होती है, बारह लडकिया इस्तरी और तह करती रहती है। भट्ठी में से भयानक गरमी निकलती रहती है, और लडकिया उसके इद गिद खडी हुई कैम्ब्रिक को जल्दी से सुखा-सुखाकर इस्तरी करने वाली लडकियो का देती जाती है। इन मजदूरिनो के काम के घण्टा की कोई सीमा नही है। यदि काम ज्यादा होता है, तो ये हर रात को ६ या १२ बजे तक काम करती रहती है।" (*Reports &c for 31st October 1862* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], प० ५६।) एक डाक्टर ने कहा है "ठण्डा होने के लिये कोई खास समय निश्चित नही है, लेकिन यदि तापमान बहुत बढ जाता है या मजदूरा के हाथ पसीने से खराब हो जाते है, तो उनको चन्द मिनट के लिये बाहर चले जाने की इजाजत दे दी जाती है भट्ठी पर काम करने वाली मजदूरिना की बीमारिया के इलाज का मुझे बहुत काफी अनुभव है, और यह अनुभव मुझे यह कहने पर मजबूर करता है कि सफाई की दृष्टि से इन लोगा का जिन परिस्थितिया में काम करना पडता है, वे उतनी अच्छी नही होती, जितनी अच्छी परिस्थितिया में कताई करने वाली मिलो की मजदूरिनें काम करती है (हालाकि पूजी ने ससद के नाम अपने आवेदन पत्रो मे भट्ठी पर काम करने वाली मजदूरिना की स्थिति का रूबेस की कलाकृति के समान बडा भडकीला चित्र खीचा था)। इन मजदूरिनो में जा बीमारिया सबसे

ऐसे खास कानून लागू कर दिये गये, जिनके मातहत पहले उद्योग में लडके लडकियो तथा स्त्रियो से रात को (रात के ८ बजे से सुबह के ६ बजे तक) काम लेने की मनाही कर दी गयी और दूसरे उद्योग में १८ वष से कम उम्र के रोटी बनाने वाले कारीगरो से रात के ६ बजे से सुबह के ५ बजे तक काम लेने पर प्रतिबध लगा दिया गया। इसी कमीशन ने बाद को कुछ ऐसे सुझाव दिये थे, जिनसे इस बात की आशका पैदा हो गयी थी कि खेती, खानो और परिवहन के साधनो को छोडकर इगलण्ड में उद्योग की बाकी सभी महत्त्वपूण शाखाओ की "स्वतत्रता" खतम हो जायेगी।[1] इन सुझावा का हम बाद में जिक्र करेंगे।

अनुभाग ७—काम के सामान्य दिन के लिये सघर्ष। अग्रेजी फैक्टरी-कानूनो की दूसरे देशो मे प्रतिक्रिया

पाठक को यह बात याद होगी कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना, या किसी न किसी तरह अतिरिक्त श्रम चूसना, पूजीवादी उत्पादन का विशिष्ट लक्ष्य एव उद्देश्य और उसका सार-तत्व होता है, श्रम के पूजी के आधीन हो जाने के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में

अधिक दखी जाती है, वे हैं तपदिक, सास की नलिया पर वम आ जाना, गर्भाशय का ठीक तरह से काम न करना, अपने अत्यधिक उग्र रूप मे हिस्टीरिया और गठिया। ये सारी बीमारिया, मेरे खयाल से, या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से उन कमरा की गदी और गरम हवा के कारण होती है जिनमें मजदूरिना का काम करना पडता है, आर उनकी दूमरी वजह यह है कि मजदूरिनो के पास काफी और आराम देह कपडे नही होते, जो जाडा मे घर लौटते समय ठण्डी और नम हवा से उनकी रक्षा कर सके।" (उप० पु०, प० ५६-५७।) १८६३ के अनुपूरक कानून के बारे में, जो कि खुली हवा में कपडे सफेद करने वाले कारखाना के मालिको के विरोध के वावजूद पास हुआ था, फैक्टरी-इस्पेक्टरो ने लिखा है "यह कानून न केवल मजदूरा का वह सरक्षण दने मे असफल रहा है, जो ऊपर मे दखने मे वह उनको देता है, बल्कि उसमें स्पष्टतया एक ऐसी धारा भी है, जिसकी शब्दावली कुछ इस प्रकार की प्रतीत होती है कि जब तक मजदूर रात को ८ बजे के बाद काम करते हुए नही पकडे जाते, तब तक उनको किसी प्रकार का भी सरक्षण नही मिल सकता, और यदि वे रात को ८ बजे के बाद काम भी करते है, तो इसका सबूत देने का तरीका इतना त्रुटिपूण है कि मुकदमे में मुश्किल से ही सजा हो पाती है।' (उप० पु०, प० ५२।) "इसलिये, यह कानून यदि जन कल्याण एव जन शिक्षा के किसी उद्देश्य से बनाया गया था, तो सभी दृष्टियो से वह असफल सिद्ध हुआ है। कारण कि स्त्रियो और बच्चा का भाजन की छुट्टी के साथ या उसके बिना ही १४ घण्टे रोज़ाना या शायद उससे भी ज्यादा काम करने की इजाजत दे देना—जिसका मतलब होता है उनको १४ घण्टे रोज़ाना या उससे भी ज्यादा काम करने के लिये मजबूर करना—और इस बात में न तो उम्र की किसी सीमा को मानना, न स्त्री और पुरुष में कोई भेद करना और न ही ऐसे कारखानो (कपडे सफेद करने और रगने के कारखाना) के अडोस-पडोस में रहने वाले परिवारा के सामाजिक रीति रिवाजा का कोई खयाल करना—यह, जाहिर है, जन कल्याण करना नही समझा जा सकता।' (*Reports &c for 30th April 1863* ['रिपार्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६३'], प० ४०।)

[1] **दूसरे सस्करण में जोडा गया फुटनोट** यह अश मैंने १८६६ में लिखा था। तब से फिर कुछ प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी है।

चाहे जसे परिवतन हो जायें, उनसे इस बात में कोई अतर नहीं आता। पाठक को याद होगा कि अभी हम जहा तक आये ह, वहा तक केवल स्वतत्र मजदूर ही और, इसलिये, केवल वही मजदूर, जिसे अपने मामलो का खुद प्रबध करने का कानूनी अधिकार प्राप्त है, एक माल के विक्रेता के रूप में पूजीपति के साथ एक करार करता है। इसलिये, हमने जो ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसमें यदि एक तरफ आधुनिक उद्योग की और दूसरी तरफ उन लोगो के श्रम की, जो शारीरिक एव कानूनी दृष्टि से नाबालिग ह, महत्त्वपूण भूमिकाए ह, तो पहला हमारी नजरो में श्रम के शोषण का एक खास विभाग मात्र था और दूसरा उस शोषण का एक विशेष रूप से उल्लेखनीय उदाहरण भर था। लेकिन , आगे हमारी खोज किस दिशा में बढेगी, इसपर अभी कुछ न कहकर, हम केवल उन ऐतिहासिक तथ्यो के आतरिक सम्बधो से भी कुछ निष्कर्ष निकाल सकते ह, जो हमारे सामने मौजूद ह

पहली बात। पूजी में काम के दिन का अधाधुध और सीमाहीन विस्तार करने की जो प्रबल इच्छा होती है, वह पहली बार उन उद्योगो में पूरी होती है, जिनमें पानी की ताकत, भाप और मशीनो ने सबसे शुरू में क्रान्ति पदा कर दी थी, वह सवप्रथम उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की प्रथम कृतियो में, यानी कपास, ऊन, सन और रेशम की कताई और बुनाई के उद्योगो में, पूरी होती है। उत्पादन की भौतिक प्रणाली में जो परिवतन हुए और उनके अनुरूप उत्पादको के सामाजिक सम्बधो में जो तबदीलिया आयीं,[1] उनसे पहले तो काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा खींचने की प्रवृत्ति पदा हुई और फिर उसके विरोध में यह माग उठी कि इस प्रवृत्ति पर समाज को नियत्रण रखना चाहिये और काम के दिन को तथा विराम के समय को क़ानून बनाकर सीमित कर देना चाहिये, उनका नियमन करना चाहिये और उनको सबके लिये एक सा बना देना चाहिये। इसलिये समाज द्वारा यह नियत्रण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाध में केवल अपवाद-स्वरूप बनाये गये कानूनो का रूप लेता है।[2] जब उत्पादन की नयी प्रणाली के इस आदिम क्षेत्र को जीत लिया गया, तो पता चला कि इस बीच में न केवल उत्पादन की अन्य बहुत सी शाखाओ में फैक्टरी व्यवस्था जारी कर दी गयी है, बल्कि जिन उद्योगो में कमोबेश ऐसे तरीके इस्तेमाल होते ह, जो एकदम व्यवहारातीत हो गये ह, जसे मिट्टी के बतन बनाने के उद्योग, काच बनाने के उद्योग आदि में तथा रोटी बनाने की तरह की पुराने ढग की दस्तकारियो में और यहा तक कि कीलें बनाने जसे तथाकथित घरेलू उद्योगो में भी[3] बहुत समय पहले से पूजीवादी शोषण का वसा ही पूण प्रभुत्व कायम हो गया

[1] "इन वर्गो (पूजीपतियो और मजदूरो) में स प्रत्येक का आचरण उस सापेक्ष परिस्थिति का फल है, जिसमे वह वग अपने को पाता है।" (*Reports &c , for 31st October 1848* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० ११३।)

[2] "जिन धधो में मजदूरो के काम पर प्रतिबध लगाये गये, वे भाप या पानी की ताकत से कपडा बनाने से सम्बधित थे। दो बाते थी, जिनस कोई भी उद्योग सरकारी निरीक्षण में आ जाता था एक भाप या पानी की ताकत का प्रयोग, और, दूसरे, कुछ खास तरह के कपडा का बनाया जाना।" (*Reports &c for 31st October 1864* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ८।)

[3] तथाकथित घरेलू उद्योगो की हालत के बारे में *Children s Employment Commission* (बाल सेवायोजन आयोग") की सबसे ताज़ा रिपोर्टों में विशेष रूप से मूल्यवान सामग्री मिलती है।

है, जसा खुद फक्टरियो पर कायम हो चुका था। इसलिये, धीरे धीरे कानूनो को अपना आपवादिक स्वरूप त्याग देना पडा या,—इगलण्ड की तरह, जहा पर कानून रोमन कुतकिया की तरह चलता है,—हर उस मकान को, जिसमें काम होता है, फक्टरी घोषित कर देना पडा।[1]

दूसरी बात। उत्पादन की कुछ शाखाओ में काम के दिन के नियमन का जो इतिहास रहा है और इस नियमन के प्रश्न को लेकर अय शाखाओ में आज भी जो सघर्ष चल रहा है, उसमें यह बात निर्णायक रूप से सिद्ध हो जाती है कि जब एक बार पूजीवादी उत्पादन एक खास मजिल पर पहुच जाता है, तो अकेले मजदूर में, यानी अपनी श्रम-शक्ति को "स्वतन्त्र" रूप से बेचने वाले मजदूर में, उसका तनिक भी विरोध करने की शक्ति नहीं रहती और वह उसके सामने *आत्म-समर्पण* कर देता है। इसलिये काम के सामान्य दिन को यदि मनवाया जा सका है, तो वह पूजीपति वग और मजदूर-वग के बीच न्यूनाधिक छदम वेश में चलने वाले एक लम्बे गृह युद्ध का फल है। चूकि यह सग्राम आधुनिक उद्योगो के मदान में चलता है, इसलिये वह पहले पहल इन उद्योगो की जमभूमि में—इगलण्ड में—शुरू हुआ। इगलण्ड के फैक्टरी मजदूर न केवल अग्रेज मजदूर वग के, वल्कि समस्त आधुनिक मजदूर-वग के अलमबरदार थे, और उनके सिद्धान्तवेताओ ने पहले पहल पूजी के सिद्धान्तवेताओ को चुनौती दी थी।[3] चुनाचे फक्टरी का दाशनिक उरे अग्रेज मजदूर वग के लिये यह एक चिरस्थायी अपमान

---

[1] पिछले अधिवेशन (१८६४) के कानून तरह तरह के बहुत से धधा से सम्बध रखते हैं, जिनके रीति रिवाज बहुत भिन्न भिन्न प्रकार के हैं, और अब कानूनी भाषा मे "फैक्टरी" कहलाने के लिये पहले की तरह यह जरूरी नही रह गया है कि मशीना में गति पैदा करने के लिये यात्रिक शक्ति का प्रयोग किया जाये।" (*Reports &c for 31st October 1864* ['रिपार्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ८।)

[2] योरपीय उदारतावाद के स्वर्ग—बेल्जियम—में इस आदोलन का कोई चिह्न दिखाई नही देता। यहा तक कि कोयला-खानो और धातुओ की खाना में भी पूजी दिन या रात के किसी भी हिस्से में और *किसी भी समय तक हर उम्र के मजदूरो और मजदूरिना को पूण "स्वतत्रता"* के साथ निचोडती रहती है। वहा काम करने वाले हर १००० व्यक्तिया में से ७३३ पुरुष होते हैं, ८८ स्त्रिया, १३५ लडके और ४४ सोलह वष से कम आयु की लडकिया, हवा भट्ठिया आदि पर काम करने वाले प्रत्येक १,००० व्यक्तिया में से ६८८ पुरुष होते हैं, १४६ स्त्रिया, ६८ लडके और ८५ सोलह वष से कम आयु की लडकिया। चित्र का पूरा करने के लिये उसमें यह और जाड दीजिये कि इस परिपक्व एव अपरिपक्व श्रम शक्ति का जो भयानक शापण हाता है, उसके एवज में बहुत ही कम मजदूरी मिलती है। पुरुष की औसत दैनिक मजदूरी २ शिलिंग ८ पेंस है, स्त्री की १ शिलिंग ८ पेंस और लडके की १ शिलिंग $2\frac{1}{2}$ पेंस। परिणाम यह है कि १८६३ में बेल्जियम न कोयले, लोह आदि के अपने निर्यात का परिमाण तथा मूल्य दाना को १८५० का लगभग दुगुना कर दिया था।

[3] राबट ओवेन न १८१० के कुछ समय बाद ही न केवल सिद्धान्त के रूप में फैक्टरिया के काम के दिन को सीमित करने की आवश्यकता स्वीकार की थी, बल्कि न्यू लनाक में स्थित अपनी फैक्टरी में सचमुच १० घण्टे का दिन जारी कर दिया था। लाग इस साम्यवादी स्वप्न-

की बात समझता है कि "श्रम की पूर्ण स्वतन्त्रता" के लिये पौरुष के साथ लड़ने वाली पूजी के मुकाबले में मजदूरों ने अपनी पताका पर "फक्टरी कानूनों की गुलामी" का नारा अंकित कर रखा था।[1]

फ्रांस लगड़ाता हुआ धीरे धीरे इंगलैण्ड के पीछे पीछे चल रहा है। फ्रांस का १२ घण्टे का कानून जिस अंग्रेजी कानून की नक़ल है, उसके मुकाबले में वह बहुत ही दोषपूर्ण है।[2] फिर भी, इस दुनिया में इस कानून को वजूद में लाने के लिये वहा फरवरी-क्रान्ति की आवश्यकता हुई। पर इन तमाम बातो के बावजूद फ्रांस की क्रान्तिकारी पद्धति में कुछ विशेष गुण है। वह एक बार हमेशा के लिये और बिना किसी भेद भाव के सभी कारखानों और फक्टरियो में काम के दिन पर एक सी सीमा लगा देती है, जब कि इंगलैण्ड के कानून बड़ी हिचकिचाहट दिखाते हुए कभी इस बात पर परिस्थितियों के दबाव के सामने झुक जाते हैं, तो कभी इस बात पर और परस्पर विरोधी धाराओं के एक बहुत ही उल्टे-सीधे गोरखधंधे में खोते जा रहे हैं।[3] इंगलैण्ड

लोक बनाने की कोशिश समझकर उसपर हंसते थे। इसी तरह, ओवेन ने "बच्चों की शिक्षा के साथ उत्पादक श्रम को जोड़ने" का जो प्रयत्न किया था और उन्होंने मजदूरों की जो प्रथम सहकार समितियां बनायी थी, उनपर भी लोग हंसे थे। आज वह पहला स्वप्न लोक फैक्टरी क़ानून बन गया है, दूसरे का हर "*Factory Act* (फैक्टरी कानून) में सरकारी तौर पर जिक्र रहता है और तीसरे का अभी से प्रतिक्रियावादी बकवास की आड़ के रूप में प्रयोग होने लगा है।

[1] Ure, *Philosophie des Manufactures'* (फ्रांसीसी अनुवाद), Paris 1836 खण्ड २, पृ० ३९, ४०, ६७, ७७ इत्यादि।

[2] १८५५ में पेरिस में जो अन्तरराष्ट्रीय सांख्यिकी सम्मेलन हुआ था, उसकी Compte Rendu (रिपोर्ट) में (पृष्ठ ३३२ पर) लिखा है "फ्रांस के उस कानून के अनुसार, जो फैक्टरियां और वर्कशापों में दैनिक श्रम के काल को १२ घण्टे तक सीमित कर देता है, यह जरूरी नहीं है कि यह १२ घण्टे का काम कुछ खास और पहले से निश्चित समय के अन्दर समाप्त हो जाये। केवल बच्चों के काम का समय तै है। उनसे केवल ५ बजे सुबह से ९ बजे रात तक ही काम लिया जा सकता है। इसलिये इस नाजुक सवाल पर कानून की खामोशी से मिल-मालिकों को शायद एक इतवार के दिन को छोड़कर बाकी पूरे हफ्ते अपने कारखानों को दिन-रात लगातार चलाने का जो हक मिल गया है, उसका कुछ मालिक पूरा पूरा इस्तेमाल करते हैं। इसके लिये वे मजदूरों की दो पालियां से काम लेते हैं, जिनमें से कोई पाली एक वक्त में १२ घण्टे से ज्यादा कारखाने में नहीं रहती, मगर फैक्टरी में दिन-रात काम होता रहता है। कानून का तकाजा पूरा हो जाता है, पर क्या मानवता का तकाजा भी पूरा हो जाता है?" "रात को काम करने का मानव शरीर पर जो घातक प्रभाव पड़ता है" उसके अलावा इस रिपोर्ट में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि "जब बहुत कम रोशनी वाली उन्हीं वर्कशापों में रात को स्त्रियों और पुरुषों को साथ-साथ काम करना पड़ता है, तो उसका बहुत ही घातक प्रभाव होता है।"

[3] "मिसाल के लिये, मेरे डिस्ट्रिक्ट में एक कारखानेदार है, जिसका एक ही कारखाना है और जो 'कपड़े सफेद करने और रंगने वाले कारखानों के कानून' के मातहत कपड़े सफेद करने वाला और रंगने वाला है, '*Print Works Act* ('कपड़े की छपाई करने वाले कारखानों

में जो अधिकार केवल बच्चा, नाबालिगो और स्त्रियो के नाम पर प्राप्त किया गया था और जो महज अभी हाल में एक सामान्य अधिकार के रूप में माना गया है,[1] उसे फ्रासीसी कानून में एक सिद्धान्त के रूप में घोषित कर दिया गया है।

उत्तरी अमरीका के सयुक्त राज्य में, जब तक प्रजातन्त्र के एक भाग को दास प्रथा कुरूप बनाये रही, तब तक मजदूरो का प्रत्येक स्वतन्त्र आन्दोलन लुञ्ज बना रहा। जहा काली चमडी के श्रम के माथे पर गुलामी की मुहर लगी हुई है, वहा सफेद चमडी का श्रम अपने को मुक्त नहीं कर सकता। परन्तु दास प्रथा की मृत्यु हो जाने पर तुरन्त ही एक नये जीवन का उदय हुआ। गृह युद्ध का पहला फल यह हुआ कि आठ घण्टे का आन्दोलन शुरू हो गया, जो रेल के इजन की तूफानी रफ्तार से एटलाटिक महासागर से प्रशान्त महासागर तक और न्यू इगलण्ड से कैलिफोर्निया तक फैल गया। बाल्टिमोर में General Congress of Labour (श्रम के सामान्य सम्मेलन) ने (१६ अगस्त १८६६ को) ऐलान कर दिया कि "आज पहली और सबसे बडी जरूरत इस बात की है कि इस देश के मजदूरो को पूजी की दासता से मुक्त करने के लिये एक ऐसा कानून पास किया जाये, जिसके मातहत अमरीकी सघ के सभी राज्या में काम का सामान्य दिन आठ घण्टे का हो जाये। हमने निश्चय कर लिया है कि जब तक यह गौरवशाली ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसके लिये प्रयत्न करते जायेंगे।" इसी समय 'अन्तरराष्ट्रीय मजदूर सघ' की काग्रेस ने जेनेवा

के कानून') के मातहत छपाई करने वाला है और *Factory Act* ('फैक्टरी कानून') के मातहत finisher (फिनिश करने वाला) है। (*Reports &c for 31st October 1861* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६१'], पृ० २०, मि० बेकर की रिपाट।) इन कानूनो की विभिन्न धाराओ और उनसे पैदा होने वाली पेचीदगियो को गिनाने के बाद मि० बेकर ने कहा है "इसस जाहिर है कि जब कभी कोई ऐसा कारखानेदार कानून से बचने की कोशिश करता है, तो ससद के इन तीनो कानूनो को लागू करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।" पर इससे वकीला का मुकदमे हासिल करना जरूर सुनिश्चित हो जाता है।

[1]इस प्रकार, अब कही फैक्टरी-इस्पेक्टरा की यह कहने की हिम्मत हुई है कि "(काम के दिन पर कानूनी सीमाए लगाने के विरोध मे पूजी की) इन आपत्तियो को श्रम के अधिकारा के व्यापक सिद्धान्त के सामने हार मान लेनी चाहिये एक समय आता है, जब मालिक का अपने मजदूर के श्रम पर अधिकार समाप्त हो जाता है, और यदि मजदूर थका न हो, तो भी मजदूर का समय उसका अपना समय हो जाता है।' (*Reports &c for 31st October 1862* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५४।)

[2]"हम, डक्क के मजदूर, ऐलान करते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में मजदूरा को जितने समय तक काम करना पडता है, वह बहुत ज्यादा है, और मजदूर के पास विश्राम करने तथा शिक्षा प्राप्त करने के लिये समय बचने की बात तो दूर रही, इतनी ज्यादा देर तक काम करने के फलस्वरूप वह दासता की एक ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जो गुलामी की प्रथा से थाडी ही बेहतर है (it plunges him into a condition of servitude but little better than slavery)। इसीलिये हम लोग फैसला करते हैं कि काम के दिन के लिये ८ घण्टे काफी हैं। और कानून को भी उनको काफी मान लेना चाहिये। इसीलिये हम इस शक्तिशाली साधन का—देश के समाचारपत्रा का—सहायता के लिये आवाहन कर रहे

में लन्दन की जनरल काउंसिल का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया कि "काम के दिन का सीमित किया जाना वह पहली शर्त है, जिसके बगैर सुधार और मुक्ति के और सभी प्रयत्न अवश्य ही निष्फल सिद्ध होंगे ... कांग्रेस का प्रस्ताव है कि काम के दिन की कानूनी सीमा आठ घण्टे हो।"

इस प्रकार, एटलाण्टिक महासागर के दोनों ओर मजदूर-वर्ग का जो आन्दोलन स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से स्वयंस्फूर्त ढंग से पैदा हुआ था, उसने अंग्रेज फैक्टरी-इंस्पेक्टर आर० जे० सौण्डर्स के इन शब्दों का समर्थन किया कि "जब तक श्रम के घण्टों को सीमित नहीं किया जाता और निर्धारित सीमा पर कड़ाई के साथ अमल नहीं किया जाता, तब तक समाज सुधार के आगे के कदम हरगिज नहीं उठाये जा सकते।"[1]

यह मानना पड़ेगा कि हमारे मजदूर ने जिस अवस्था में उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश किया था, वह उससे बिल्कुल भिन्न अवस्था में इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है। मण्डी में वह अपने माल – "श्रम शक्ति" – के मालिक के रूप में मालों के अन्य मालिकों के मुकाबले में खड़ा था। वहां उसकी हैसियत एक विक्रेता के मुकाबले में दूसरे विक्रेता की थी। जिस करार के द्वारा उसने अपनी श्रम शक्ति पूंजीपति के हाथ बेची थी, वह इस बात का मानो एक लिखित प्रमाण था कि उसे अपने को बेचने या न बेचने का पूर्ण अधिकार था। पर जब सौदा पक्का हो गया, तो पता चला कि मजदूर कोई "स्वतंत्र व्यक्ति" नहीं है। वह समझता था कि वह कुछ समय के वास्ते अपनी श्रम-शक्ति बेच देने के लिये स्वतंत्र है, अब पता चला कि जितने समय के वास्ते वह अपनी श्रम शक्ति बेचने के लिये स्वतंत्र है, वास्तव में वह समय वही है, जिसे बेचने के लिये उसे मजबूर होना पड़ता है,[2] और "जब तक शोषण करने के लिये एक भी मांस पेशी, एक

है, ... और इसीलिये जो लोग हमें इस काम में सहायता देने से इनकार करेंगे, हम उन सब को श्रम के सुधार और मजदूरों के अधिकारों का दुश्मन समझेंगे।" (डनक, न्यू यार्क राज्य, के मजदूरों का प्रस्ताव, १८६६।)

[1] *Reports, &c for 31st October 1848* ('रिपोर्टें', इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० ११२।

[2] "अक्सर यह कहा जाता है कि मजदूरों को संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि उनको तो अपनी एकमात्र सम्पत्ति को – अपने हाथों की मेहनत और अपने माथे के पसीने को – बेचे देने के मामले में स्वतंत्र व्यक्ति समझना चाहिये। लेकिन इन कारवाइयों के रूप में (पूंजी की, मिसाल के लिये, १८४८-५० की तिकड़मों के रूप में) हमें अन्य बातों के अलावा इस कथन की असत्यता का निर्विवाद प्रमाण मिल जाता है।" (*Reports &c for 30th April, 1850* ['रिपोर्टें', इत्यादि, ३० अप्रैल १८५०'], पृ० ४५।) "एक स्वतंत्र देश में भी स्वतंत्र श्रम (यदि उसके लिये इस शब्दावली का प्रयोग किया जा सकता है, तो) के संरक्षण के लिये कानून के सशक्त हाथों की जरूरत होती है।" (*Reports &c for 31st October, 1864* ['रिपोर्टें', इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ३४।) "खाने की छुट्टी के साथ या उसके बगैर १४ घण्टे तक काम करने की अनुमति देना मजदूरों को १४ घण्टे काम करने के वास्ते मजबूर कर देने के बराबर है," इत्यादि (*Reports, &c for 30th April 1863* ['रिपोर्टें', इत्यादि, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ४०।)

भी स्नायु, रक्त की एक भी बूद उसके शरीर में बाकी है,"[1] तब तक पूजी रूपी डायन उसे अपने पजो से मुक्त नहीं होने देगी। "यातनायें देने वाले सर्प" से अपनी "रक्षा" करने के लिये मजदूरो को एक साथ मिलकर सोचना होगा और एक वग के रूप में ऐसा कानून जबदस्ती पास कराना होगा, जो एक सवशक्तिमान सामाजिक बधन के रूप में खुद मजदूरो को पूजी के साथ स्वेच्छापूर्वक करार करके अपने आप को तथा अपने परिवारो को गुलामी और मौत के हाथो बेच देने से रोक देगा।[2] और इसलिये "मनुष्य के अहस्तातरणीय अधिकारो" की भारी भरकम सूची के स्थान पर अब कानून द्वारा सीमित काम के दिन का वह साधारण सा Magna Charta (महान अधिकार पत्र) सामने आता है, जो यह स्पष्ट कर देगा कि "जो समय मजदूर बेच देता है, वह समय कब समाप्त हो जाता है और उसका अपना समय कब आरम्भ होता है।"[3] Quantum mutatus ab illo! (चित्र में कितना बडा परिवतन हो गया है!)

---

[1] Friedrich Engels उप० पु०, पृ० ५।

[2] उद्योग की जिन शाखाओ मे १० घण्टे का कानून लागू है, उनमे उसने "भूतपूव देर तक काम करने वाले मज़दूरा के समय से पहले ही बूढे हो जाने की क्रिया का अत कर दिया है।" (*Reports &c, for 31st October, 1859* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६'], प० ४७।) "यह असम्भव है कि (फैक्टरिया मे) एक निश्चित समय से अधिक देर तक मशीना को चालू रखने के लिये पूजी का इस्तेमाल किया जाये और वहा काम करने वाले मजदूरा के स्वास्थ्य एव नैतिकता को हानि न पहुचे। और मजदूर खुद अपनी रक्षा करने की स्थिति में नही होते।" (उप० पु०, प० ८।)

[3] "इससे भी बडा वरदान यह है कि आखिर मजदूर के समय और उसके मालिक के समय का अतर स्पष्ट कर दिया गया है। अब मजदूर जानता है कि जो समय वह बेच दता है, वह कब समाप्त होता है और उसका अपना समय कब आरम्भ हो जाता है। और उसे चूकि इस बात का निश्चित पूव ज्ञान होता है, इसलिये वह अपने मिनटो का अपनी इच्छानुसार खच करने के लिये पहले से प्रबध कर सकता है। (उप० पु०, पृ० ५२।) "मजदूरो को अपने समय का खुद मालिक बनाकर (फैक्टरी कानूनो ने) उनको एक ऐसी नैतिक शक्ति द दी है, जो उनका अत मे राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेने के लक्ष्य की ओर ले जा रही है।" (उप० पु०, पृ० ४७।) दबे हुए व्यग्य के साथ और बहुत नपे-तुले शब्दा में फैक्टरी-इस्पक्टरा ने इस बात का सकेत किया है कि इस कानून ने असल में पूजीपति को भी उस पाशविक क्रूरता से मुक्त कर दिया है, जो उस व्यक्ति में स्वभावतया आ जाती है, जा केवल पूजी का मूत्त रूप होता है और उसन पूजीपति को थोडी सी "सस्कृति" प्राप्त करने का समय दे दिया है। इसके पहले "मालिक के पास रुपये के सिवा और किसी चीज के लिये समय नही था और नौकर के पास मेहनत के सिवा और किसी चीज के लिय समय नही था।" (उप० पु०, पृ० ४८।)

ग्यारहवा अध्याय

अतिरिक्त मूल्य की दर और अतिरिक्त मूल्य की राशि

पहले की तरह इस अध्याय में भी हम श्रम-शक्ति के मूल्य को और इसलिये काम के दिन के उस भाग को, जो उस श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन अथवा भरण पोषण के लिये आवश्यक होता है, स्थिर मात्राए मानकर चल रहे है।

इसके साथ साथ जब अतिरिक्त मूल्य की दर भी मालूम होती है, तब कोई मजदूर एक निश्चित अवधि में पूजीपति को जितना अतिरिक्त मूल्य देता है, उसकी राशि भी मालूम हो जाती है। मिसाल के लिये, यदि आवश्यक श्रम ६ घण्टे रोजाना का बैठता है, जो कि ३ शिलिंग के मूल्य के बराबर सोने की मात्रा में व्यक्त होता है, तो एक श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य अथवा एक श्रम शक्ति खरीदने में लगायी गयी पूजी का मूल्य ३ शिलिंग होगा। इसके अलावा, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर=१०० प्रतिशत, तो ३ शिलिंग की यह अस्थिर पूजी ३ शिलिंग की अतिरिक्त मूल्य की राशि पैदा करेगी, या यू कहिये कि मजदूर रोजाना ६ घण्टे के बराबर अतिरिक्त श्रम की राशि पूजीपति को देगा।

लेकिन किसी भी पूजीपति की अस्थिर पूजी उन तमाम श्रम-शक्तियो के कुल मूल्य की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना होती है, जिनसे वह एक साथ काम लेता है। इसलिये, जितनी श्रम शक्तियो से काम लिया जा रहा है, यदि उनकी सख्या से एक श्रम शक्ति के औसत मूल्य को गुणा कर दिया जाये, तो अस्थिर पूजी का मूल्य निकल आता है। इसलिये, श्रम-शक्ति का यदि मूल्य दिया गया हो, तो अस्थिर पूजी का परिमाण एक साथ काम पर लगाये गये कामगारो की सख्या के प्रत्यक्ष अनुपात के अनुरूप होगा। यदि एक श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य= ३ शिलिंग, तो रोजाना १०० श्रम शक्तियो का शोषण करने के लिये ३०० शिलिंग की पूजी लगानी पडेगी। और रोजाना 'स' श्रम शक्तियो का शोषण करने के लिये 'स' गुणा ३ शिलिंग की पूजी की आवश्यकता होगी।

इसी तरह, यदि ३ शिलिंग की अस्थिर पूजी से, जो कि एक श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य है, रोजाना ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, तो ३०० शिलिंग की अस्थिर पूजी से रोजाना ३०० शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा और "स" गुणा ३ शिलिंग की पूजी से रोजाना "स" गुणा ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा। इसलिये, एक मजदूर दिन भर में जितना अतिरिक्त मूल्य तैयार करता है, उसे यदि जितने मजदूर काम कर रहे है, उनकी सख्या से गुणा कर दिया जाये, तो मालूम हो जायेगा कि अतिरिक्त मूल्य की कुल कितनी राशि पैदा हुई है। परन्तु, इसके अलावा, जब श्रम-शक्ति का मूल्य पहले से मालूम है, तब चूकि किसी भी एक मजदूर के पैदा किये हुए अतिरिक्त मूल्य की राशि अतिरिक्त मूल्य की दर से निर्धारित होती है, इसलिये इससे निष्कर्ष के रूप में हमें यह नियम मिलता है कि यदि पेशगी लगायी गयी अस्थिर पूजी को अतिरिक्त मूल्य की दर से गुणा कर दिया जाये, तो उसका फल उत्पादित

अतिरिक्त मूल्य की राशि के बराबर होगा, या, दूसरे शब्दो में, एक पूजीपति द्वारा एक साथ जितनी श्रम शक्तियो का शोषण किया जाता है, उनकी सख्या तथा प्रत्येक अलग अलग श्रम शक्ति के शोषण की मात्रा के मिश्र अनुपात से ही अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि निर्धारित होगी।

मान लीजिये कि अतिरिक्त मूल्य की राशि 'अमू' है, प्रत्येक मजदूर अलग अलग एक औसत दिन में 'अ' अतिरिक्त मूल्य तयार करता है, एक मजदूर की श्रम शक्ति को खरीदने में रोज 'अस्थि' अस्थिर पूजी लगायी जाती है, कुल अस्थिर पूजी 'अपू' है, एक औसत श्रम शक्ति का मूल्य म' है, उसके शोषण की मात्रा $\frac{श्र'}{श्र}\left(\frac{अतिरिक्त\ श्रम}{आवश्यक\ श्रम}\right)$ है और काम करने वाले मजदूरा की सख्या 'स' है। तब

$$अमू = \begin{cases} \frac{अ}{अस्थि} \times अपू \\ म \times \frac{श्र'}{श्र} \times स \end{cases}$$

हम बराबर यह मानकर चल रहे हैं कि न सिर्फ एक औसत श्रम शक्ति का मूल्य स्थिर है, बल्कि पूजीपति जिन मजदूरो से काम ले रहा है, वे सब भी बिल्कुल औसत ढग के मजदूर ह। कुछ ऐसे अपवाद भी होते ह, जब शोषित मजदूरो की सख्या में जो वृद्धि होती है, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में उसके अनुपात में वृद्धि नहीं होती, परन्तु ऐसा तब होता है, जब श्रम शक्ति का मूल्य स्थिर नहीं रहता।

इसलिये अतिरिक्त मूल्य की एक निश्चित राशि के उत्पादन में यदि एक तत्व कम हो जाता है, तो उसकी क्षति दूसरे तत्व को बढाकर पूरी की जा सकती है। यदि अस्थिर पूजी घट जाती है और साथ ही अतिरिक्त मूल्य की दर उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो कुल जितना अतिरिक्त मूल्य पहले पदा होता था, उतना ही अब भी पदा होगा। जसा कि हम पहले मान चुके ह, यदि पूजीपति को रोजाना १०० मजदूरो का शोषण करने के लिये ३०० शिलिग की पूजी लगानी पडती है और यदि अतिरिक्त मूल्य की दर ५० प्रतिशत है, तो यह ३०० शिलिग की अस्थिर पूजी १५० शिलिग—या काम के १००×३ घण्टो—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पदा करेगी। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर दुगुनी हो जाती है, या काम का दिन ६ घण्टे से बढाकर ९ घण्टे के बजाय १२ घण्टे का कर दिया जाता है, और साथ ही अस्थिर पूजी घटाकर आधी, यानी १५० शिलिग, कर दी जाती है, तो भी वह १५० शिलिग—अथवा काम के ५०×६ घण्टो—के बराबर अतिरिक्त मूल्य ही पदा करेगी। इसलिये अस्थिर पूजी की कमी से जो क्षति होती है, उसे श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा को उसी अनुपात में बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है, या अगर काम करने वाले मजदूरा की सख्या में कमी आ जाती है, तो उसकी क्षति को उसी अनुपात में काम के दिन का विस्तार करके पूरा किया जा सकता है। इसलिये, कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर, पूजी कितने श्रम का शोषण कर सकती है, यह बात इससे स्वतत्र होती है कि उसे मजदूरो की कितनी बडी सख्या मिल सकती है।[1]

---

[1]मालूम होता है, घटिया किस्म के अर्थशास्त्रियो को इस प्राथमिक नियम का ज्ञान नही है। वे श्रम का बाजार भाव उसकी माग और पूर्ति से निर्धारित करना चाहते ह और समझते है कि इस तरह उन्होने एक ऐसा आलम्ब खोज निकाला है, जिससे वे आर्किमिदीज़ की तरह दुनिया को तो हिला नही पायेंगे, पर उसकी गति को रोक देंगे।

इसके विपरीत, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर के कम हो जाने के साथ साथ अस्थिर पूजी की मात्रा, या काम करने वाले मजदूरो की सख्या, उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि ज्यो की त्यो रहेगी।

फिर भी, काम करने वाले मजदूरो की सख्या में कमी आ जाने पर, या लगायी हुई अस्थिर पूजी की मात्रा घट जाने पर, उसकी क्षति को अतिरिक्त मूल्य की दर बढाकर, या काम के दिन को लम्बा करके, केवल कुछ दुर्लंघ्य सीमाओ के भीतर ही पूरा किया जा सकता है। श्रम शक्ति का मूल्य कुछ भी हो, मजदूरो के जीवन निर्वाह के लिये चाहे २ घण्टे का श्रम-काल आवश्यक हो और चाहे १० घण्टे का, एक मजदूर दिन प्रति दिन काम करके अधिक से अधिक जो मूल्य तयार कर सकता है, वह उस मूल्य से हमेशा कम होता है, जिसमें २४ घण्टे का श्रम निहित होता है। यदि २४ घण्टे के मूत रूप प्राप्त श्रम की मुद्रागत अभिव्यजना १२ शिलिग हो, तो मजदूर दिन भर में चाहे जितना मूल्य पैदा करे, वह सदा १२ शिलिग से कम ही होगा। हमने पहले यह माना था कि खुद श्रम शक्ति का पुनरुत्पादन करने के लिये, या श्रम-शक्ति की खरीद में लगायी गयी पूजी के मूल्य का स्थान भरने के लिये, रोजाना ६ घण्टे का काम आवश्यक होता है। इस मान्यता के अनुसार, १५०० शिलिग की अस्थिर पूजी, जो ५०० मजदूरो से काम लेती है, १२ घण्टे के काम के दिन और १०० प्रतिशत की अतिरिक्त मूल्य की दर के हिसाब से रोजाना १५०० शिलिग—या काम के ६×५०० घण्टा—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पदा करेगी। ३०० शिलिग की पूजी, जो १०० मजदूरो से २०० प्रतिशत की अतिरिक्त मूल्य की दर पर—या १८ घण्टे के काम के दिन के अनुसार —काम लेती है, केवल ६०० शिलिग—या काम के १२×१०० घण्टों—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पदा करेगी। और वह कुल जितना मूल्य पदा करेगी, यानी लगायी गयी अस्थिर पूजी तथा अतिरिक्त मूल्य का योग, दिन प्रति दिन काम करने के बाद भी कभी १२०० शिलिग की रकम—या काम के २४×१०० घण्टा—तक नहीं पहुच सकता। काम के औसत दिन की एक निरपेक्ष सीमा होती है, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह २४ घण्टे से हमेशा कम होता है। और उसकी इस निरपेक्ष सीमा से इस बात पर भी एक निरपेक्ष सीमा लग जाती है कि अस्थिर पूजी की कमी से पदा होने वाली क्षति को अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाकर कहा तक पूरा किया जा सकता है, या शोषित मजदूरो की सख्या घट जाने से होने वाली क्षति को श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा को बढाकर कहा तक पूरा किया जा सकता है। यह स्वत स्पष्ट नियम ऐसी बहुत सी घटनाओ को समझने के लिये महत्व रखता है, जो पूजी द्वारा अपने यहा काम करने वाले मजदूरो की सख्या को—या श्रम शक्ति में रूपान्तरित कर दिये गये अपने अस्थिर अग को—अधिक से अधिक कम कर देने की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। यह प्रवृत्ति (जिसपर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे) पूजी की इस दूसरी प्रवृत्ति से बराबर टकराती रहती है कि वह अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की कोशिश करती है। दूसरी ओर, यदि काम में लगायी गयी श्रम-शक्ति की राशि बढ जाती है, या अस्थिर पूजी की राशि बढ़ जाती है, पर अतिरिक्त मूल्य की दर में आयी हुई कमी के अनुपात में नहीं बढ़ती, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि कम हो जाती है।

कुल कितना अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा, यह चूकि दो बातों से निर्धारित होता है—अतिरिक्त मूल्य की दर से और पेशगी लगायी गयी अस्थिर पूजी की राशि से, इसलिये इसके निष्कर्ष के रूप में हमें एक तीसरा नियम मिलता है। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर, या श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा, और श्रम-शक्ति का मूल्य, या आवश्यक श्रम-काल की मात्रा, पहले,

से मालूम हो, तो यह बात स्पष्ट है कि अस्थिर पूजी जितनी ज्यादा होगी, उतना ही अधिक मूल्य पदा होगा और अतिरिक्त मूल्य की उतनी ही अधिक राशि होगी। यदि काम के दिन की सीमा मालूम हो और साथ ही उसके आवश्यक भाग की सीमा भी मालूम हो, तो यह बात कि कोई खास पूजीपति कुल कितना मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा, स्पष्टतया केवल इस बात पर निभर करेगी कि वह कुल कितने श्रम को गतिमान बना देता है। लेकिन यह बात ऊपर मानी हुई परिस्थितियो में श्रम शक्ति की राशि पर, या पूजीपति जिन मजदूरो का शोषण करता है, उनकी सख्या पर, निभर करती है, और खुद यह सख्या इस बात पर निभर करती है कि कुल कितनी अस्थिर पूजी लगायी गयी है। इसलिये, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर पहले से मालूम हो और श्रम शक्ति का मूल्य मालूम हो, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि कुल लगायी गयी अस्थिर पूजी की मात्रा के सीधे अनुपात में घटेगी बढेगी। अब हमें यह मालूम है कि पूजीपति अपनी पूजी को दो भागो में बाट देता है। एक भाग वह उत्पादन के साधनो पर खच करता है। यह उसकी पूजी का स्थिर भाग होता है। दूसरा भाग वह जीवित श्रम शक्ति पर खच करता है। यह भाग उसकी अस्थिर पूजी बन जाता है। सामाजिक उत्पादन की एक सी पद्धति के आधार पर उत्पादन की अलग अलग शाखाओ में पूजी का स्थिर तथा अस्थिर पूजी में बटवारा अलग-अलग ढग से होता है, और उत्पादन की एक ही शाखा में भी प्राविधिक परिस्थितियो में तथा उत्पादन की प्रक्रियाओ के सामाजिक योगो में परिवर्तन होने पर स्थिर और अस्थिर पूजी का अनुपात बदल जाता है। परन्तु कोई पूजी चाहे जिस अनुपात में स्थिर और अस्थिर भागो में बट जाये, चाहे उनका अनुपात १ २, या १ १०, या १ "स" हो, ऊपर बताये गये नियम पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता। कारण कि ऊपर हम जो विश्लेषण कर आये हैं, उसके अनुसार स्थिर पूजी का मूल्य पदावार के मूल्य में तो पुन प्रकट होता है, परन्तु वह नये पदा होने वाले मूल्य में प्रवेश नहीं करता, वह नव-उत्पादित मूल्य पदावार का भाग नहीं होता। कताई करने वाले १०० मजदूरो से काम लेने के लिये जितने कच्चे माल, जितने तकुओ आदि की जरूरत होती है, १००० मजदूरो से काम लेने के लिये, जाहिर है, उससे ज्यादा की जरूरत होगी। किन्तु उत्पादन के इन अतिरिक्त साधनो का मूल्य घट बढ सकता है या ज्यो का त्यो रह सकता है और कम या ज्यादा हो सकता है, पर उत्पादन के इन साधनों में गति पैदा करने वाली श्रम-शक्ति के द्वारा अतिरिक्त मूल्य के सृजन की प्रक्रिया पर इन साधनो के मूल्य का कोई प्रभाव नहीं पडता। इसलिये, ऊपर हमने जिस नियम पर विचार किया है, वह अब यह रूप धारण कर लेता है कि यदि श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो और उसके शोषण की मात्रा एक सी रहे, तो अलग अलग पूजियो से जो मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य पदा होता है, उनकी राशिया सीधे इस अनुपात में घटती बढती ह कि इन पूजियो के अस्थिर अशो की राशिया, अर्थात उन अशो की राशिया, जो कि जीवित श्रम शक्ति में रूपान्तरित कर दिये गये ह, कितनी छोटी या बडी ह।

तथ्यो के सतही निरीक्षण से हमें जो अनुभव प्राप्त होता है, यह नियम उस सब के खिलाफ जाता है। हर आदमी जानता है कि कपास की कताई करने वाला वह कारखानेदार, जो अपनी लगायी हुई पूरी पूजी के प्रतिशत भाग के हिसाब से बहुत अधिक स्थिर पूजी और बहुत थोडी अस्थिर पूजी का प्रयोग करता है, वह इस कारण उस नानबाई से कम मुनाफा – या अतिरिक्त मूल्य – नहीं कमाता, जो कि उसकी तुलना में बहुत अधिक अस्थिर पूजी और बहुत कम स्थिर पूजी का उपयोग करता है। ऊपर से ये परस्पर विरोधी बातें मालूम होती ह। इस पहेली को हल कर सकने के लिये अभी बहुत से बीच के नुक्तो को जानने की आवश्यकता है, जसे

सरल बीजगणित के दृष्टिकोण से यह समझने के लिये बहुत से बीच के बिन्दुओं को समझने की आवश्यकता होती है कि $\frac{0}{0}$ भी सचमुच कोई मात्रा हो सकती है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र इस नियम की स्थापना तो नहीं करता, पर नैसर्गिक भाव से उसे मानकर चलता है, क्योंकि यह मूल्य के सामान्य नियम का एक आवश्यक निष्कर्ष है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र एक जबदस्त अपकर्षण के द्वारा इस नियम को अपनी विरोधी घटनाओं से टकराने से बचाने की कोशिश करता है। हम बाद को[1] यह देखेंगे कि रिकार्डो के मत के अर्थशास्त्री किस तरह रास्ते के इस पत्थर से टकराकर गिर पड़े हैं। घटिया किस्म का अर्थशास्त्र, जिसने "सचमुच कुछ भी नहीं सीखा है," अन्य स्थलों की भांति यहां भी दिखावटी बातों का दामन थामे रहता है और उस नियम को अनदेखा कर देता है, जिससे इन बातों का नियमन होता है और जिसमें ये बातें स्पष्ट होती हैं। स्पिनोज़ा के मत के विरुद्ध घटिया किस्म के अर्थशास्त्र का विश्वास है कि "अज्ञान एक पर्याप्त कारण है"।

किसी समाज की कुल पूंजी के द्वारा जो श्रम दिन प्रति दिन गतिमान होता है, उसे एक सामूहिक काम का दिन माना जा सकता है। मिसाल के लिये, यदि मजदूरों की संख्या १० लाख है और एक मजदूर के काम का औसत दिन १० घण्टे का है, तो काम का सामाजिक दिन १ करोड़ घण्टे का होगा। यदि काम के इस दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो उसकी सीमाएं चाहे शारीरिक कारणों से निर्धारित हुई हों या सामाजिक कारणों से, अतिरिक्त मूल्य की राशि को केवल मजदूरों की संख्या में—यानी मेहनत करने वाली आबादी की संख्या में—वृद्धि करके ही बढ़ाया जा सकता है। यहां समाज की कुल पूंजी कितने अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन कर सकती है, उसकी गणितगत सीमा इस बात से निर्धारित होती है कि आबादी कितनी बढ़ सकती है। इसके विपरीत, यदि आबादी की संख्या पहले से निश्चित हो, तो यह सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि काम के दिन को कितना लम्बा खींचना मुमकिन है।[2] किन्तु आने वाले अध्याय में पाठक देखेंगे कि यह नियम अतिरिक्त मूल्य के केवल उसी रूप पर लागू होता है, जिसपर हमने अभी तक विचार किया है।

अभी तक हमने अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का जितना विवेचन किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुद्रा की या मूल्य की हर रकम को इच्छानुसार पूंजी में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार का रूपान्तरण करने के लिये, असल में, यह जरूरी होता है कि जो व्यक्ति मुद्रा अथवा मालों का मालिक है, उसके हाथ में पहले से ही कम से कम एक निश्चित मात्रा में मुद्रा अथवा विनिमय-मूल्य विद्यमान हो। अस्थिर पूंजी की यह अल्पतम मात्रा एक अकेली श्रम-शक्ति की लागत होती है, जिसका दिन प्रति दिन पूरे साल भर अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिये प्रयोग किया जाता है। यदि इस मजदूर के पास

---

[1] इसका और विस्तृत विवरण चौथी पुस्तक में मिलेगा।

[2] "समाज का श्रम, अर्थात् उसका आर्थिक समय, एक निश्चित परिमाण होता है। मान लीजिये कि यह दस लाख लोगों का दस घण्टे रोजाना या १ करोड़ घण्टे के बराबर है ... पूंजी की वृद्धि की अपनी सीमा होती है। किसी भी निश्चित काल में, आर्थिक समय का वास्तव में कितना उपयोग किया जाता है उसी पर यह निर्भर करता है कि पूंजी इस सीमा के कितने निकट पहुंच सकी है।" (*An Essay on the Political Economy of Nations* ['राष्ट्रों के अर्थशास्त्र पर एक निबंध'], London 1821 पृ० ४७, ४६।)

खुद अपने उत्पादन के साधन होते और वह मजदूर की तरह रहने में ही संतुष्ट होता, तो जितना समय उसके जीवन के साधनों के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक है, जैसे, मान लीजिये, ८ घण्टे रोजाना, तो उसे उससे ज्यादा काम करने की कोई आवश्यकता न होती। इसके अलावा, उसे उत्पादन के केवल इतने साधनों की ही जरूरत पड़ती, जो ८ घण्टे काम करने के लिये काफी होते। दूसरी ओर, पूंजीपति को, जो कि इन ८ घण्टों के अलावा उससे, मान लीजिये, ४ घण्टे का अतिरिक्त श्रम कराता है, उत्पादन के अतिरिक्त साधनों को मुहय्या करने के लिये कुछ अतिरिक्त रकम की जरूरत पड़ेगी। पर हम जिन बातों को मानकर चल रहे हैं, उनके अनुसार उसे केवल मजदूर की भांति रहने के लिये—उससे जरा भी अच्छी तरह नहीं, बल्कि अपनी केवल प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये—दो मजदूरों को नौकर रखना पड़ेगा,—तभी वह इतना अतिरिक्त मूल्य रोज हासिल कर पायेगा। और इस सूरत में महज जिन्दा रहना ही, न कि अपनी दौलत को बढ़ाना, उसके उत्पादन का लक्ष्य बन जायेगा, लेकिन पूंजीवादी उत्पादन में तो सदा दौलत बढ़ाने का उद्देश्य निहित होता है। यदि पूंजीपति साधारण मजदूर से केवल दुगुनी अच्छी तरह जीवन बसर करना चाहता है और साथ ही पैदा होने वाले अतिरिक्त मूल्य का आधा भाग पूंजी में बदल देना चाहता है, तो उसे मजदूरों की संख्या के साथ-साथ अपनी लगायी हुई पूंजी को भी पहले से आठगुनी कर देना होगा। जाहिर है, यह भी मुमकिन है कि अपने मजदूर की तरह वह खुद भी काम करने लगे और उत्पादन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने लगे, परन्तु तब वह पूंजीपति और मजदूर के बीच का महज कोई दोगला जीव बन जायेगा, तब वह "छोटा मालिक" कहलायेगा। पूंजीवादी उत्पादन की एक खास मंजिल पर यह जरूरी होता है कि जितने समय तक कोई पूंजीपति पूंजीपति की तरह, अर्थात मूर्तिमान पूंजी की तरह, काम करता है, उतना समय उसे पूरे का पूरा केवल दूसरों के श्रम को हस्तगत करने और इसलिये उसपर नियन्त्रण रखने में और इस श्रम की पैदावार को बेचने में खर्च करना चाहिये।[1] इसीलिये, मध्य युग के शिल्पी संघ किसी भी धंधे के उस्ताद को

---

[1] "काश्तकार अकेले अपने श्रम पर निर्भर नहीं रह सकता, और अगर वह रहेगा, तो मेरा मत है कि वह नुकसान उठायेगा। उसका काम तो यह होना चाहिये कि पूरी चीज पर सामान्य रूप से निगाह रखे। अनाज गाहने के लिये जो मजदूर नौकर रखा गया है, उसपर निगाह रखना जरूरी है, नहीं तो बहुत सा गल्ला माडा नहीं जायेगा और उतनी मजदूरी का नुकसान हो जायेगा, घास और खेत की कटाई और लुनाई आदि करने के लिये जो लोग नौकर रखे गये हैं, उनकी निगरानी करना जरूरी है, फिर काश्तकार को चाहिये कि अपने खेतों की मेड़ों का बराबर चक्कर लगाता रहे, उसे खयाल रखना चाहिये कि कहीं पर लापरवाही तो नहीं बरती जा रही है, जो जरूर बरती जायेगी, यदि वह एक ही जगह से चिपककर बैठा रहेगा।" (*An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions and the Size of Farms &c By a Farmer* ['खाद्य वस्तुओं के वर्तमान दामों और खेतों के आकार में क्या सम्बंध है, इस प्रश्न की जांच, इत्यादि। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], London 1773 पृ० १२।) यह किताब बहुत ही दिलचस्प है। इसमें capitalist farmer ("पूंजीवादी काश्तकार") या merchant farmer ("व्यापारी काश्तकार") की–जिसे बहुत साफ साफ इन्हीं नामों से पुकारा गया है–उत्पत्ति का अध्ययन किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि केवल रोजमर्रा की गुजर बसर में ही खप जाने वाले small farmer

पूंजीपति में रूपान्तरित हो जाने से रोकने की जबदस्ती कोशिश करते थे, और इसके लिये उन्होंने एक उस्ताद अधिक से अधिक कितने मजदूरों को नौकर रख सकता है, इसपर एक सीमा लगा दी थी और इस सीमा को बहुत नीचा रखा था। ऐसी सूरत में मुद्रा अथवा मालो का मालिक केवल उसी हालत में सचमुच पूंजीपति बन सकता है, जब उत्पादन में लगायी गयी कम से कम रकम मध्य युग की अधिकतम सीमा से बहुत अधिक हो। प्राकृतिक विज्ञान की तरह यहा भी ('तर्कशास्त्र' में) हेगेल द्वारा आविष्कृत उस नियम की सत्यता सिद्ध हो जाती है कि केवल परिमाणात्मक भेद एक बिन्दु से आगे पहुचकर गुणात्मक परिवतनो में बदल जाते ह।[1]

मुद्रा अथवा मालो वाले किसी एक व्यक्ति के पास अपने को पूजीपति में रूपान्तरित कर डालने के लिये मूल्य की कम से कम जो रकम होनी चाहिये, वह पूजीवादी उत्पादन के विकास की अलग अलग अवस्थाओ में बदलती रहती है, और किसी खास अवस्था में भी उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में उनकी विशिष्ट एव प्राविधिक परिस्थितियो के अनुसार अलग अलग रकमो की आवश्यकता होती है। उत्पादन के कुछ खास क्षेत्रो में पूजीवादी उत्पादन के आरम्भ में ही कम से कम इतनी पूजी की आवश्यकता होती है, जो उस वक्त तक किसी एक व्यक्ति के पास नहीं होती। इससे कुछ हद तक तो व्यक्तियो को राज्य की ओर से सहायता देने की प्रथा उत्पन्न होती है, जैसा कि कोलबेट के काल में फ्रास में देखने में आया था और जसा कि बहुत

("छोटे काश्तकार") के मुकाबले मे ऐसा काश्तकार खुद अपनी तारीफ के कैसे पुल बाधता है। "पूजीपतियो का वग शुरू से ही हाथ की मेहनत करने की आवश्यकता से आशिक रूप से मुक्त रहता है, और अत मे जाकर तो वह उससे पूणतया मुक्त हो जाता है।" (*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations By the Rev Richard Jones* ['राष्ट्रो के अथशास्त्र के विषय मे कुछ भाषणो की पाठ्य पुस्तक। रेवरण्ड रिचर्ड जोन्स द्वारा लिखित'], Hertford 1852 Lecture III [तीसरा भाषण], पृ० ३९।)

[1] आधुनिक रसायन विज्ञान का व्यूहाणविक सिद्धान्त, जिसका वैज्ञानिक प्रतिपादन पहली बार लौरेत और गेरहाड्ट ने किया था, किसी अन्य नियम पर आधारित नही है। (तीसरे सस्करण में जोडा गया हिस्सा।) — जो रसायनज्ञ नही है, उनके लिये यह वाक्य बहुत स्पष्ट नही है। उसके स्पष्टीकरण के लिये हम यह बताते है कि यहा लेखक काबन के यौगिको की उन सजातीय मालाओ (the homologous series of carbon compounds) की चर्चा कर रहा है, जिनको यह नाम पहले-पहल सी० गेरहाड्ट ने १८४३ में दिया था और जिनमे से प्रत्येक माला का अपना अलग बीजगणित का सामान्य सूत्र होता है। जैसे पैरेफिनो की माला का सूत्र है C^nH^{2n+}, साधारण एलकोहलो का $C^nH^{2n+2}O$, साधारण फैटी एसिडो का C^nH^nO और इसी तरह और भी बहुत से सूत्र हैं। इन मिसालो में व्यूहाणु सूत्र मे केवल परिमाणात्मक ढग से CH जोड देने पर हर बार गुणात्मक दृष्टि से एक बिल्कुल नया पदाथ तैयार हो जाता है। इस महत्वपूण तथ्य का पता लगाने में लौरेत और गेरहाड्ट का कितना भाग था (माक्स ने उसके महत्व को अधिक आका है), यह जानने के लिये Kopp की रचना *Entwicklung der Chemie* München 1873 पृ० ७०६, ७१६, और Schorlemmer (शोर्लेम्मेर) की रचना *The Rise and Development of Organic Chemistry* ('कावनिक रसायन विज्ञान का अभ्युदय और विकास'), London 1879 पृ० ५४ देखिये। — फ्रे० ए०

से जमन राज्यो में आज, हमारे काल में भी, देखा जा सकता है, और कुछ हद तक उनसे कुछ ऐसी कम्पनिया बन जाती ह, जिनको उद्योग एव व्यापार की कुछ खास शाखाओं का शोषण करने का कानूनी एकाधिकार प्राप्त होता है।[1] ये कम्पनिया हमारी आधुनिक सम्मिलित पूजी वाली (ज्वाइट स्टाक) कम्पनियो की पूवज थीं।

जसा कि हम देख चुके ह, उत्पादन की प्रक्रिया के भीतर पूजी ने श्रम के ऊपर, अर्थात कायरत श्रम शक्ति पर, या खुद मजदूर पर, अपना अधिकार जमा लिया था। मनिमान पूजी अथवा पूजीपति इस बात का खयाल रखता है कि मजदूर अपना काम नियमित ढग से तथा समुचित तेजी से करता है या नहीं।

इतना ही नहीं, पूजी श्रम के साथ जोर-जबदस्ती का एक सम्बध बन जाती है, जिसके द्वारा मजदूर-वग को उसके अपने जीवन की आवश्यकताओ के लिये जो थोडा सा काम करना जरूरी होता है, उससे ज्यादा काम करने के लिये मजबूर किया जाता है। दूसरों की क्रियाशीलता के पदा करने वाले के रूप में, अतिरिक्त श्रम चूसने वाले और श्रम शक्ति के शोषक के रूप में पूजी जिस मुस्तदी, निममता, सभी तरह की हदों को तोड देने की भावना और काय कुशलता का परिचय देती है, उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से जबदस्ती कराये गये श्रम पर आधारित इसके पहले की तमाम उत्पादन व्यवस्थाए फीकी पड जाती ह।

शुरू में पूजी उन प्राविधिक परिस्थितियो के आधार पर श्रम को अपने अधीन बनाती है, जो इतिहास के उस काल में पायी जाती ह। इसलिये, वह उत्पादन की प्रणाली में तुरन्त कोई परिवतन नहीं करती। अत अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के जिस रूप पर अभी तक हमने विचार किया है, यानी केवल काम के दिन का विस्तार करके अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना, वह स्वय उत्पादन की प्रणाली में होने वाले परिवतनो से स्वतत्र सिद्ध हुआ था। पुराने ढग की रोटियो की दूकानो में वह आधुनिक सूती मिलो से कम क्रियाशील नहीं था।

यदि हम साधारण श्रम प्रक्रिया की दष्टि से उत्पादन की क्रिया पर विचार करें, तो उत्पादन के साधनो के साथ मजदूर का सम्बध उनके इस गुण के कारण नहीं होता कि साधन पूजी ह, बल्कि वह इस कारण होता है कि उत्पादन के साधन मजदूर की खुद अपनी विवेकपूण उत्पादक कारवाई के साधन एव सामग्री मात्र ह। मिसाल के लिये, चमडा कमाने में मजदूर खालो के साथ केवल अपने श्रम की सामग्री के रूप में बर्ताव करता है। आखिर वह पूजीपति की खाल को नहीं कमाता। लेकिन जसे ही हम उत्पादन की प्रक्रिया पर अतिरिक्त मूल्य के सृजन की क्रिया की दृष्टि से विचार करना आरम्भ करते ह, वसे ही परिस्थिति एकदम बदल जाती है। तब उत्पादन के साधन फौरन दूसरो के श्रम का अवशोषण करने के साधनो में बदल जाते ह। अब मजदूर उत्पादन के साधनो से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मजदूर से काम लेते ह। अब अपनी उत्पादक कारवाई के भौतिक तत्वो के रूप में मजदूर उत्पादन के साधनो का नहीं उपयोग करता, बल्कि उत्पादन के साधन खुद मजदूर का अपनी जीवन क्रिया के लिये आवश्यक खमीर के रूप में उपयोग करते ह। और पूजी की जीवन प्रक्रिया निरन्तर स्वत विस्तार करते जाने वाले, अपने आप बढते जाने वाले मूल्य के रूप में मात्र उसकी गति के सिवा और कुछ नहीं होती। जो भट्ठिया और वकशाप रात को बेकार पडी रहती ह और जीवित श्रम का अवशोषण

---

[1] मार्टिन लथर ने इस प्रकार की कम्पनिया को die Gesellschaft Monopolia ("इजारेदार कम्पनी") का नाम दिया है।

नहीं करतीं, वे पूंजीपति को "महज नुक़सान" ("a mere loss") पहुचाती ह। इसलिये, यदि किसी के पास भट्ठिया और वकशाप हैं, तो फिर उसका मेहनत करने वालो के रात के श्रम पर कानूनी दावा हो जाता है। जब मुद्रा का उत्पादन की प्रक्रिया के भौतिक उपकरणो में, अर्थात् उत्पादन के साधनो में, रूपान्तरण हो जाता है, तो उत्पादन के साधन दूसरे लोगो के श्रम तथा अतिरिक्त श्रम पर स्वत्व और अधिकार के सूचक बन जाते ह। अन्त में एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि विकृतीकरण की यह क्रिया, जो पूजीवादी उत्पादन का एक विशिष्ट गुण और खास विशेषता हे, मृत और जीवित श्रम का सम्बध, मूल्य और मूल्य का सृजन करने वाली शक्ति का सम्बध एकदम उलट देना पूजीपतियो की चेतना में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। १८४८ और १८५० के बीच इगलण्ड के कल कारखानो के मालिको के विद्रोह के दिनो में "स्कोटलैण्ड के पश्चिमी भाग की एक सब से पुरानी और प्रतिष्ठित फम – मसस कारलाइल सन्स एण्ड कम्पनी – के, जिसका पैसले में सन का तथा सूती धागा तयार करने वाला एक कारखाना था और जिस कम्पनी को कायम हुए अब करीब करीब एक सदी होने को आयी थी, जो १७५२ से काम कर रही थी और जिसका एक ही खानदान की चार पीढिया सचालन कर चुकी थीं, – इस कम्पनी के अध्यक्ष" का, इस "अत्यन्त बुद्धिमान भद्र पुरुष" का *Glasgow Daily Mail'* के २५ अप्रल १८४६ के अक में एक पत्र[1] प्रकाशित किया गया था। पत्र का शीपक था *The relay system*" ('पालियो की प्रणाली')। अन्य बातो के अलावा बेतुकेपन की हद तक भोलेपन से भरा यह अश भी इस पत्र में था "अब हम इस पर विचार करे कि यदि फक्टरी के काम करने पर १० घण्टे की सीमा लगा दी गयी, तो कैसी-कैसी बुराइया पैदा हो जायेंगी ऐसा करने से मिल मालिक की समृद्धि और उसके भविष्य को कडी हानि पहुचेगी। यदि वह (यानी, उसका मजदूर) पहले १२ घण्टे काम करता था और अब केवल १० घण्टे काम कर सकता है, तो उसके कारखाने में लगी हुई हर १२ मशीनें या तकुए मानो सिकुडकर केवल १० मशीनें या तकुए बन जायेंगे (then every 12 machines or spindles in his establishment shrink to 10'), और यदि उसका कारखाना बेचा गया, तो उसकी कीमत केवल १० मशीनो के आधार पर लगायी जायेगी और इस तरह देश के प्रत्येक कारखाने के मूल्य में से उसका छठा भाग घट जायेगा।"[2]

पश्चिमी स्कोटलैण्ड के इस पूजीवादी मस्तिष्क ने "चार पीढियो" के सचित पूजीवादी गुण विरासत में पाये ह। उसके लिये उत्पादन के साधनो, तकुओ आदि का मूल्य पूजी के रूप में उनके

---

[1] '*Reports of Insp of Fact April 30th 1849* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८४६'), पृ० ५६।

[2] उप० पु०, पृ० ६०। फैक्टरी इस्पेक्टर स्टुअर्ट ने, जो खुद स्कोटलैण्डवासी हैं और जो अग्रेज फैक्टरी इस्पेक्टरो से भिन्न सोचने के पूजीवादी ढग से बहुत प्रभावित हैं, इस पत्र को अपनी रिपार्ट मे शामिल किया है और उसपर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "पालियो की प्रणाली का प्रयोग करने वाले किसी भी मिल-मालिक ने उसी व्यवसाय में लगे अपने सहयोगी मिल मालिको को कभी इतनी उपयोगी सूचना नहीं दी थी, जितनी इस पत्र में दी गयी है। जिन मिल-मालिको को अपने कारखानो में काम के घण्टो की व्यवस्था को बदलने म हिचकिचाहट होती है, उनके पूर्वग्रहो को दूर करने में यह पत्र सब से अधिक सफल हो सकता है।"

भाग ४

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

बारहवा अध्याय

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य की धारणा

काम के दिन के उस भाग को, जिसम केवल उस मूल्य का सम-मूल्य पैदा होता है, जो पूजीपति ने श्रम शक्ति के एवज में दिया है, हम अभी तक सदा एक स्थिर मात्रा मानते आये ह। और उत्पादन की कुछ खास परिस्थितियो में तथा समाज के आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में यह सचमुच एक स्थिर मात्रा होती भी है। जसा कि हमने ऊपर देखा था, काम के दिन के इस भाग के आगे, यानी अपने आवश्यक श्रम-काल के बाद, मजदूर २, ३, ४, ६ घण्टे काम कर सकता है, इत्यादि, इत्यादि। उसके आगे वह कितनी देर तक काम करता रहता है, इसपर अतिरिक्त मूल्य की दर और काम के दिन की लम्बाई निभर करती ह। हमने यह भी देखा था कि आवश्यक श्रम काल के स्थिर होते हुए भी काम के दिन की पूरी लम्बाई में परिवर्तन हो सकते ह। अब मान लीजिये, हमें यह मालूम है कि काम के दिन की लम्बाई कितनी है और वह आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम के बीच किस तरह बटी है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि 'क' से 'ग' तक की यह पूरी रेखा क——ख – ग १२ घण्टे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती है और उसका 'क' से 'ख' तक का भाग १० घण्टे के आवश्यक श्रम का और 'ख' से 'ग' तक का भाग २ घण्टे के अतिरिक्त श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। अब प्रश्न यह है कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन कैसे बढाया जा सकता है, अर्थात 'क' से 'ग' तक की रेखा को लम्बा किये बगैर, या उससे स्वतत्र ढग से, अतिरिक्त श्रम को कसे लम्बा किया जा सकता है?

हालाकि 'क' से 'ग' तक की रेखा की लम्बाई पहले से निश्चित है, फिर भी लगता है कि 'ख' से 'ग' तक की रेखा को और लम्बा किया जा सकता है। यदि उसे 'ग' से आगे खींचकर लम्बा करना सम्भव नहीं है, क्योकि 'ग' काम के दिन का – अर्थात् 'क' से 'ग' तक की रेखा का भी – अतिम बिदु है, तो उसके प्रस्थान बिदु ख' को 'क' की दिशा में पीछे धकेल कर उसे जरूर लम्बा किया जा सकता है। मान लीजियें, रेखा 'कख' ख ग' का 'ख'–ख' वाला भाग 'ख ग' का आधा है, या एक घण्टे के श्रम काल के बराबर है

हो, तो उसके आवश्यक श्रम-काल की अवधि भी मालूम हो जाती है। लेकिन काम के पूरे दिन में से आवश्यक श्रम-काल को घटाकर अतिरिक्त श्रम की अवधि का पता लगाया जाता है। बारह घण्टो में से दस घण्टे घटा दीजिये, तो दो बचते है, और यह समझ में नहीं आता कि पहले से निश्चित परिस्थितियो में अतिरिक्त श्रम को आखिर दो घण्टे से ज्यादा कैसे खींचा जा सकता है। निस्सन्देह, पूजीपति मजदूर को पाच शिलिग के बजाय चार शिलिग छ पेंस या उससे भी कम दे सकता है। चार शिलिग और छ पेंस के इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये नौ घण्टे का श्रम काल ही पर्याप्त होगा, और इसलिये तब पूजीपति को दो घण्टे के बजाय तीन घण्टे का अतिरिक्त श्रम मिलेगा और अतिरिक्त मूल्य एक शिलिग से बढ़कर अठारह पेंस का हो जायेगा। लेकिन यह सब कुछ केवल मजदूर की मजदूरी को उसकी श्रम शक्ति के मूल्य से भी नीचे गिराकर ही सम्भव हो सकेगा। वह नौ घण्टे में जो चार शिलिग और छ पेंस पैदा करेगा, उनसे वह पहले की तुलना में दस प्रतिशत कम जीवनोपयोगी वस्तुए खरीद सकेगा और इसलिये उसकी श्रम-शक्ति का समुचित पुनरुत्पादन नहीं हो पायेगा। इस सूरत में अतिरिक्त श्रम पहले से बढ तो जायेगा, परन्तु केवल अपनी सामान्य सीमाओ का अतिक्रमण करके, आवश्यक श्रम-काल के क्षेत्र के एक भाग को जबदस्ती हडपकर ही यहा उसका क्षेत्र बढ पायेगा। ठोस व्यवहार में यह तरीका एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। फिर भी, हम यहा उसपर विचार नहीं कर सकते, क्योकि हम यह मानकर चल रहे है कि श्रम शक्ति समेत सभी माल अपने पूरे मूल्य पर ही बेचे और खरीदे जाते है। यह मान लेने के बाद, श्रम शक्ति के उत्पादन के लिये अथवा उसके मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये जो श्रम काल आवश्यक है, उसे मजदूर की मजदूरी को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से नीचे गिराकर कम नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो श्रम शक्ति के इस मूल्य को ही नीचे गिराना होगा। यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त श्रम की वृद्धि केवल आवश्यक श्रम काल की कमी द्वारा ही सम्भव है। अतिरिक्त श्रम को बढा देने से आवश्यक श्रम-काल अपने आप नहीं घट जायेगा। जिस मिसाल को लेकर हम चल रहे है, उसमें यह आवश्यक है कि श्रम शक्ति के मूल्य में सचमुच दस प्रतिशत की कमी आ जाये, ताकि आवश्यक श्रम काल दस प्रतिशत घट जाये, अर्थात दस घण्टे से नौ घण्टे हो जाये, और ताकि इसके फलस्वरूप अतिरिक्त श्रम को दो घण्टे से बढाकर तीन घण्टे का कर दिया जाये।

किन्तु श्रम-शक्ति के मूल्य में इस प्रकार की कमी आने का यह मतलब होता है कि जीवन के लिये आवश्यक वे ही वस्तुए, जो पहले दस घण्टे में तैयार हुआ करती थीं, अब नौ घण्टे में तैयार हो सकती है। लेकिन श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हुए बिना ऐसा असम्भव है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि एक मोची एक खास तरह के औजारो की मदद से बारह

बेचता है, उतनी ही पाता है हर प्रकार के श्रम के सम्बध में यह होना लाजिमी है और यही असल मे होता है कि मजदूर के जीवन निवाह भर के लिये जो कुछ है, बस उसी पर उसकी मजदूरी सीमित हो जाती है।"] (Turgot *Reflexions &c* , Oevres Daire का सस्करण, ग्रथ १, प० १०।) "जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ का दाम ही असल में श्रम के उत्पादन का खर्चा होता है।' (Malthus *Inquiry into &c Rent* [माल्यूस', 'लगान की प्रकृति और प्रगति और उसका नियमन करने वाले सिद्धान्तो की जाच'], London 1815 पृ० ४८, फुटनोट।)

घण्टे के एक काम के दिन में एक जोडी जूते तैयार कर देता है। यदि उसे इतने ही समय में दो जोडी जूते तयार करने ह, तो उसके लिये जरूरी है कि उसके श्रम की उत्पादकता पहले से दुगुनी हो जाये। और यह उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके औजारो में या उसके काम करने के ढग में या दोनो बातो में कुछ परिवर्तन नहीं आ जाता। इसलिये, उसके श्रम की उत्पादकता को दुगुना करने के लिये जरूरी है कि उत्पादन की परिस्थितियो में, यानी उसकी उत्पादन की प्रणाली में और खुद श्रम प्रक्रिया में, क्रांति हो गयी हो। श्रम की उत्पादकता के बढ जाने से हमारा आम तौर पर यह मतलब होता है कि श्रम-प्रक्रिया में कोई ऐसा परिवर्तन हो गया है, जिससे किसी माल के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल में कमी आ गयी है और श्रम की एक निश्चित मात्रा को पहले से अधिक मात्रा में उपयोग मूल्य पैदा करने की क्षमता प्राप्त हो गयी है।[1] केवल काम के दिन को लम्बा करके पदा किये गये अतिरिक्त मूल्य पर विचार करते हुए हम अभी तक सदा यह मानकर चलते रहे ह कि उत्पादन की प्रणाली पहले से निश्चित है और उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन जब आवश्यक श्रम को अतिरिक्त श्रम में परिणत करके अतिरिक्त मूल्य पदा करना होता है, तब पूजी के लिये यह हरगिज काफी नहीं होता कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसे जिस रूप में श्रम प्रक्रिया मिली है, उसी रूप में उसे स्वीकार कर ले और फिर केवल प्रक्रिया की अवधि को बढा दे। पहले उसे श्रम प्रक्रिया की प्राविधिक एव सामाजिक परिस्थितियो में और उसके फलस्वरूप स्वय उत्पादन की प्रणाली में क्रान्ति पदा करनी होगी, उसके बाद ही श्रम की उत्पादकता बढ सकेगी। श्रम शक्ति का मूल्य केवल इसी तरह घटाया जा सकता है, और काम के दिन का जो भाग इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक है, उसे छोटा किया जा सकता है।

काम के दिन को लम्बा करके जो अतिरिक्त मूल्य पदा किया जाता है, उसे मने निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का नाम दिया है। दूसरी ओर, जो अतिरिक्त मूल्य आवश्यक श्रम-काल *के घटा दिये जाने और काम के दिन के दो हिस्सो की लम्बाई में तदनुरूप परिवर्तन हो जाने* के फलस्वरूप पैदा होता है, उसे म सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य की सज्ञा देता हू।

श्रम शक्ति के मूल्य को कम करने के लिये उद्योग की उन शाखाओ में श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होनी चाहिये, जिनकी पदावार श्रम शक्ति के मूल्य को निर्धारित करती है और, इसलिये,

[1] Quando si perfezionano le arti, che non e altro che la scoperta di nuove vie onde si possa compiere una manufattura con meno gente o (che e lo stesso) in minor tempo di prima ["जब कलाओ का विकास होता है, उसका मतलब यह होना है कि कुछ ऐसे नये तरीके ईजाद हो जाते है, जिनसे कोई चीज पहले से कम मजदूरो की मदद से या (जो एक ही बात है) पहले से कम समय में तैयार की जा सकती है।"] (Galiani *'Della Moneta*, ग्रथ ३, Custodi का सग्रह *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica*, Parte Moderna Milano 1803 पृ० १५८, १५६।) L'economie sur les frais de production ne peut donc etre autre chose que l'economie *sur la quantité* de travail employé pour produire ['केवल उत्पादन में उपयोग किये जाने वाले श्रम की मात्रा में बचत करके ही उत्पादन के खर्च मे बचत की जा सकती है।'] (Sismondi *Études etc*" ग्रथ १, पृ० २२।)

जिनकी पैदावार या तो जीवन निर्वाह के प्रचलित साधनो में शामिल है या इन साधनो का स्थान लेने की क्षमता रखती है। लेकिन किसी भी माल का मूल्य न केवल उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, जो मजदूर प्रत्यक्ष रूप में उस माल पर खर्च करता है, बल्कि वह उस श्रम से भी निर्धारित होता है, जो उत्पादन के साधनो में लगा है। उदाहरण के लिये, एक जोडी जूतो का मूल्य न केवल मोची के श्रम पर, बल्कि चमडे, मोम, धागे आदि के मूल्य पर भी निभर करता है। इसलिये, जो उद्योग श्रम के उन औजारो को और उस कच्चे माल को तैयार करते ह, जिनकी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन में स्थिर पूजी के भौतिक तत्वो के रूप में जरूरत होती है, उनमें श्रम की उत्पादकता के बढ जाने और उसके फलस्वरूप इन उद्योगो के तयार किये हुए मालो के सस्ता हो जाने से भी श्रम-शक्ति का मूल्य गिर सकता है। परन्तु यदि उद्योग की उन शाखाओ में श्रम की उत्पादकता बढेगी, जो न तो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुए तयार करती ह और न ही ऐसी वस्तुओ के उत्पादन के साधन तयार करती हैं, तो उससे श्रम शक्ति के मूल्य में कोई तबदीली नहीं आयेगी।

जो माल सस्ता हो जाता है, वह, जाहिर है, श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल उसी अनुपात में कमी कर पाता है, जिस अनुपात में वह माल श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में इस्तेमाल होता है। मिसाल के लिये, कमीजें जीवन निर्वाह का एक आवश्यक साधन होती हैं, परन्तु वे बहुत से साधनो में से केवल एक ह। यदि जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओ को लिया जाये, तो उनमें तरह-तरह के बहुत से माल शामिल होते हैं, जिनमें से हरेक किसी खास उद्योग की पदावार होता है और जिनमें से हरेक का मूल्य श्रम शक्ति के मूल्य का एक सघटक भाग होता है। श्रम-शक्ति का यह मूल्य अपने पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल में कमी आ जाने पर घट जाता है। और उसमें कुल कितनी कमी आयी है, वह इन तमाम अलग अलग उद्योगो के आवश्यक श्रम काल में हुई सब कमियो को जोडने पर मालूम हो जायेगी। यहा हमने इस सामान्य परिणाम को इस तरह पेश किया है, जसे हर उद्योग के श्रम काल में इस खास तात्कालिक उद्देश्य को सामने रखकर कमी की गयी हो। जब कभी कोई पूजीपति श्रम की उत्पादकता को बढाकर, उदाहरण के लिये, मान लीजिये, कमीजो को सस्ता करता है, तब यह हरगिज जरूरी नहीं है कि उसका उद्देश्य श्रम शक्ति के मूल्य को घटाना और आवश्यक श्रम-काल को pro tanto (तदनुपात) छोटा कर देना हो। लेकिन जिस हद तक कि उसके काम का यह नतीजा होता है, केवल उसी हद तक वह अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर को ऊपर उठाने में सहायक होता है।[1] पूजी की सामान्य एव अनिवाय प्रवृत्तियो और उनकी अभिव्यक्ति के ठोस रूपो में भेद होता है, जिसे हमें सदा याद रखना चाहिये।

पूजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियम पूजी की अलग अलग राशियो की गतियो में किस ढग से व्यक्त होते ह और किस तरह ये वहा प्रतियोगिता के बलपूवक अमल में आने वाले नियमो की तरह प्रकट होते ह तथा अलग-अलग पूजीपतियो के मस्तिष्क एव चेतना में उनके कार्यों के

[1] "मान लीजिये कि किसी कारखानेदार की पैदावार मशीनो मे सुधार हो जाने के फलस्वरूप दुगुनी हो जाती है तब वह अपनी पूरी आय के पहले से कम भाग द्वारा अपने मजदूरो को कपडे पहना सकेगा और इस प्रकार उसका मुनाफा बढ जायेगा। लेकिन उसपर कोई और प्रभाव नही पडेगा।" (Ramsay, *An Essay on the Distribution of Wealth*, London 1821 पृ० १६८, १६६।)

निर्देशक के रूप में प्रवेश करते है,—इस विषय पर विचार करने का हमारा यहा कोई इरादा नहीं है। लेकिन इतनी बात साफ है कि जिस तरह ग्रहो और नक्षत्रो की प्रकट गति को केवल वही आदमी समझ सकता है, जो उनकी वास्तविक गति से परिचित है, अर्थात जो उनकी उस गति से परिचित है, जिसका इंद्रियो को प्रत्यक्ष बोध नहीं होता, उसी तरह प्रतियोगिता का वज्ञानिक विश्लेषण उस वक्त तक सम्भव नहीं है, जब तक कि हमें पूजी के आतरिक स्वभाव का ज्ञान न हो। फिर भी, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को बेहतर ढग से समझने के लिये हम नीचे लिखी बातें और कहे देते हैं, जिनके आधार के तौर पर हम ऊपर जिन नतीजो पर पहुच चुके ह, उनके सिवा और कोई बात मानकर नहीं चल रहे ह।

यदि एक घण्टे का श्रम छ पेंस में निहित होता है, तो १२ घण्टे के एक काम के दिन में छ शिलिंग का मूल्य तैयार होगा। मान लीजिये कि श्रम की वर्तमान उत्पादकता के साथ इन १२ घण्टो में १२ वस्तुए तैयार होती हैं। और मान लीजिये कि इन में से हर वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के जो साधन खर्च होते ह, उनका मूल्य छ पेंस है। ऐसी हालत में हर वस्तु का मूल्य एक शिलिंग होगा छ पेंस उत्पादन के साधनो के मूल्य के और छ पेंस उस नये मूल्य के, जो इन साधनो से काम करते समय जुड गया है। अब मान लीजिये कि कोई पूजीपति श्रम की उत्पादकता को दुगुनी कर देने में कामयाब हो जाता है और १२ घण्टे के काम के दिन में १२ वस्तुओ की जगह पर २४ वस्तुए तैयार करने लगता है। तब यदि उत्पादन के साधनो का मूल्य पहले जितना ही रहता है, तो हर वस्तु का मूल्य घटकर नौ पेंस रह जायेगा, जिसमें से छ पेंस उत्पादन के साधनो के मूल्य के होंगे और ३ पेन्स उन नयें मूल्य के होंगे, जो श्रम ने उनमें जोड दिया है। श्रम की उत्पादकता के दुगुनी हो जाने के बावजूद दिन भर का श्रम अब भी पहले की तरह छ शिलिंग का ही नया मूल्य पदा करता है, उससे अधिक नहीं, किंतु अब यह छ शिलिंग का नया मूल्य पहले से दुगुनी वस्तुओं में बट जाता है। अब हर वस्तु में इस मूल्य के $\frac{१}{१२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{२४}$ भाग निहित होता है, अब हर वस्तु में छ पेंस के बजाय केवल तीन पेंस का मूल्य निहित होता है, या,—जो कि एक ही बात है,—यू कहिये कि उत्पादन के साधनो के प्रत्येक वस्तु में रूपातरित होते समय अब एक घण्टे के श्रम काल के बजाय केवल आधे घण्टे का श्रम काल ही उनमें नया जुडता है। अब इन वस्तुओं में से पत्येक का अलग अलग मूल्य उनके सामाजिक मूल्य से कम हो गया है। दूसरे शब्दो में, औसत ढग की सामाजिक परिस्थितियो में इस प्रकार की अधिकाश वस्तुओ के उत्पादन में जितना श्रम काल खच होता है, इन वस्तुओ में उससे कम श्रम काल खच हुआ है। औसतन हर वस्तु की लागत १ शिलिंग होती है, और वह २ घण्टे के सामाजिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। परतु उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का प्रयोग होने पर हरेक में केवल नौ पेंस की लागत लगती है, या हरेक में केवल $१\frac{१}{२}$ घण्टे का श्रम निहित होता है। परतु किसी भी माल का वास्तविक मूल्य उसका व्यक्तिगत मूल्य नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्य होता है, अर्थात किसी भी माल का वास्तविक मूल्य इससे नहीं निर्धारित होता कि हर अलग अलग सूरत में उत्पादक को उस वस्तु पर कितना श्रम-काल खच करना पडा है, बल्कि यह इससे निर्धारित होता है कि उसके माल के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम-काल आवश्यक है। इसलिये, जिस पूजीपति ने नयी पद्धति का उपयोग किया है, वह यदि अपना माल उसके एक शिलिंग के सामाजिक मूल्य पर बेचता है, तो वह उसे

उसके व्यक्तिगत मूल्य से तीन पेंस अधिक पर बेचता है और इस तरह तीन पेंस का अधिक अतिरिक्त मूल्य कमा लेगा। दूसरी ओर, जहा तक इस पूजीपति का सम्बध है, अब १२ वस्तुओ के बजाय २४ वस्तुए १२ घण्टे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिये, उसे अब अगर काम के एक दिन की पदावार से छुटकारा पाना है, तो माग को पहले से दुगुनी हो जाना चाहिये, अर्थात मण्डी को पहले से दुगुना बडा हो जाना चाहिये। अन्य बातो के समान रहते हुए उसके मालो के लिए पहले से अधिक बडी मण्डी केवल उसी हालत में मिल सकती है, जब उनके दाम घटा दिये जायें। इसलिये वह अपने मालो को उनके व्यक्तिगत मूल्य से कुछ अधिक पर, किन्तु उनके सामाजिक मूल्य से कुछ कम पर,—जैसे कि मान लीजिये कि दस पेंस प्रति वस्तु के भाव पर,—बेचेगा। इस तरह भी वह प्रत्येक वस्तु पर एक पेनी का फालतू अतिरिक्त मूल्य तो कमा ही लेता है। उसके मालो की जीवन-निर्वाह के उन आवश्यक साधनो में, जो श्रम-शक्ति का सामान्य मूल्य निर्धारित करने में भाग लेते है, गिनती होती है या नहीं, इसका इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पडता कि इस तरह अतिरिक्त मूल्य में जो वृद्धि होती है, वह उसकी जेब में चली जाती है। इसलिये, वस्तु चाहे श्रम शक्ति के सामान्य मूल्य निर्धारण में भाग ले या न ले, हर पूजीपति का हित इसी में होता है कि श्रम की उत्पादकता को बढाकर अपने मालो को सस्ता कर दे।

फिर भी ऐसी सूरत में भी अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये आवश्यक श्रम काल को घटाना पडता है और चुनाचे अतिरिक्त श्रम को उतना ही बढाना पडता है।[1] मान लीजिये कि आवश्यक श्रम काल १० घण्टे का है, एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य पाच शिलिंग है, अतिरिक्त श्रम-काल २ घण्टे का है और रोजाना एक शिलिंग के बराबर अतिरिक्त मूल्य पदा होता है। परन्तु पूजीपति अब २४ वस्तुए तैयार करता है, जिनको वह दस पेंस प्रति वस्तु के भाव से बेचता है और इस तरह कुल बीस शिलिंग पाता है। उत्पादन के साधनो का मूल्य चूकि बारह शिलिंग है, इसलिये इनमें से $१४\frac{२}{५}$ वस्तुए केवल पेशगी लगायी गयी स्थिर *पूजी की स्थान-पूर्ति के काम में आती है। १२ घण्टे के काम के दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व* करती है $९\frac{३}{५}$ वस्तुए। श्रम शक्ति का दाम चूकि पाच शिलिंग है, इसलिये छ वस्तुए आवश्यक श्रम काल का और $३\frac{३}{५}$ वस्तुए अतिरिक्त श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिये आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम का अनुपात, जो औसत ढग की सामाजिक परिस्थितियो में ५ १ था,

---

[1] "किसी भी आदमी का मुनाफा इस बात पर नही निर्भर करता कि दूसरे आदमियो के श्रम की कितनी पैदावार पर उसका अधिकार है, बल्कि वह इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे आदमियो के श्रम पर उसका कितना अधिकार है। यदि उसके मजदूरो की मजदूरी ज्यो की त्यो रहती है, पर वह अपना माल पहले से अधिक दामो में बेच सकता है, तो जाहिर है कि उसे फायदा होता है तब वह जो कुछ पैदा करता है, उसका पहले से छोटा भाग उस श्रम को हरकत में लाने के लिये काफी होता है और चुनाचे उसका पहले से बडा भाग खुद अपने लिये बच रहता है।" (*Outlines of Pol Econ* ['अर्थशास्त्र की रूपरेखा'], London 1832 पृ० ४९ ५०।)

अब केवल ५ ३ रह जाता है। एक और तरह भी हम इस नतीजे पर पहुच सकते ह। १२ घण्टे के काम के दिन की पदावार का मूल्य बीस शिलिंग है। इसमें से बारह शिलिंग उत्पादन के साधनो के मूल्य के होते ह, जो केवल पुन प्रकट हुआ है। बचते हैं आठ शिलिंग, जो मुद्रा के रूप में दिन भर में नये पदा हुए मूल्य की अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार का औसत ढग का सामाजिक श्रम जिस रकम में अभिव्यक्त होता है, उससे यह रकम ज्यादा है। औसत ढग का बारह घण्टे का सामाजिक श्रम केवल छ शिलिंग में अभिव्यक्त होता है। जिस श्रम की उत्पादकता असामान्य ढग से बढ़ गयी है, वह पहले से अधिक तीव्रता के साथ किये गये श्रम की तरह काम करता है। इसी प्रकार का औसत ढग का सामाजिक श्रम एक निश्चित अवधि में जितना मूल्य पदा करता है, यह श्रम उसी अवधि में उससे अधिक मूल्य पदा कर देता है। (देखिये अध्याय १, अनुभाग २, पृ० ५८ ५६।) परन्तु हमारा पूजीपति एक दिन की श्रम शक्ति के मूल्य के तौर पर अब भी पहले की तरह केवल पाच शिलिंग ही देता है। इसलिये, इस मूल्य को पुन पदा करने के लिये अब मजदूर को १० घण्टे के बजाय केवल ७$\frac{१}{२}$ घण्टे ही काम करना पडता है। चुनाचे उसके अतिरिक्त श्रम में २$\frac{१}{२}$ घण्टे की वृद्धि हो जाती है, और वह जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, वह एक शिलिंग से बढकर तीन शिलिंग हो जाता है। इसलिये, जो पूजीपति उत्पादन की उन्नत पद्धति का प्रयोग करता है, वह उसी धधे के अन्य पूजीपतियो की अपेक्षा काम के दिन के ज्यादा बडे हिस्से पर अतिरिक्त श्रम के रूप में अधिकार कर लेता है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में लगे हुए सभी पूजीपति सामूहिक रूप से जो कुछ करते ह, वही यह पूजीपति व्यक्तिगत रूप से कर डालता है। किन्तु, दूसरी ओर, जैसे ही उत्पादन की यह नयी पद्धति पूरे धधे की सामान्य पद्धति बन जाती है और उसके फलस्वरूप जसे ही पहले की अपेक्षा सस्ते में तैयार हो जाने वाले माल के व्यक्तिगत मूल्य तथा उसके सामाजिक मूल्य का अन्तर जाता रहता है, वसे ही यह फालतू अतिरिक्त मूल्य भी गायब हो जाता है। श्रम काल के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने का नियम, जो उत्पादन की नयी पद्धति का प्रयोग करने वाले पूजीपति पर इस तरह लागू होता है कि वह उसे अपना माल सामाजिक मूल्य से कम पर बेचने के लिये मजबूर कर देता है, वही नियम प्रतियोगिता के जबदस्ती अमल में आने वाले नियम के रूप में उसके प्रतिद्वद्वियो को भी इस नयी पद्धति का प्रयोग करने के लिये मजबूर कर देता है।[1] इसलिये, अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर पर इस पूरी प्रक्रिया का केवल उसी समय प्रभाव पडता है, जब श्रम की

---

[1] "यदि मेरा पडोसी कम श्रम से ज्यादा पैदावार तैयार कराके अपना माल सस्ते दामो मे बेच सकता है, तो मुझे भी किसी न किसी तरकीब से उतने ही सस्ते भाव पर अपना माल बेचना चाहिये। चुनाचे जब कभी कोई कला, धधा या मशीन अपेक्षाकृत कम मजदूरो के श्रम से और चुनाचे पहले से अधिक सस्ते में काम करने लगती है, तब दूसरे लोगो में भी इस बात की चाह या होड सी पैदा हो जाती है कि या तो उसी तरह की कला, धधे अथवा मशीन का प्रयोग करें और या उससे मिलती-जुलती कोई और चीज खोज निकाले, ताकि हर आदमी की स्थिति बराबर हो जाये और कोई आदमी अपने पडोसी स सस्ते भाव पर माल न बेच सके।" (*The Advantages of the East India Trade to England* [इगलण्ड को ईस्ट इण्डिया के व्यापार से होने वाला लाभ'], London 1720 पृ० ६७।)

उत्पादकता में होनेवाली वृद्धि उत्पादन की उन शाखाओ में भी दिखाई देने लगती है, जिनका उन मालो से सम्बध है, जो जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो का भाग ह और इसलिये जो श्रम शक्ति के मूल्य के तत्व होते ह, और जब यह वृद्धि इन मालो को सस्ता कर देती है।

मालो का मूल्य श्रम की उत्पादकता के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। और श्रम-शक्ति के मूल्य के लिये भी यह बात सच है, क्योकि वह मालो के मूल्यो पर निभर करता है। इसके विपरीत, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य इस उत्पादकता के अनुलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। यह बढती हुई उत्पादकता के साथ बढता और गिरती हुई उत्पादकता के साथ घटता है। यदि मुद्रा का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो १२ घण्टे के औसत ढग के सामाजिक काम के दिन में सदा उतना ही नया मूल्य – यानी यहा पर छ शिलिग ही – पैदा होगा, चाहे यह रक़म अतिरिक्त मूल्य तथा मजदूरी के बीच किसी भी तरह बट जाये। परतु यदि उत्पादकता बढ जाने के फलस्वरूप जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ का मूल्य गिर जाये और इसलिये एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य पाच शिलिग से घटकर तीन शिलिग रह जाये, तो अतिरिक्त मूल्य एक शिलिग से बढकर तीन शिलिग हो जाता है। पहले श्रम शक्ति के मूल्य का पुनरुत्पादन करने के लिये दस घण्टे जरूरी थे, अब केवल छ घण्टे जरूरी ह। चार घण्टे मुक्त हो जाते ह, और उनको अतिरिक्त श्रम के क्षेत्र में शामिल किया जा सकता है। अतएव पूजी में सदा इसकी चाह और उसमें सदा यह प्रवृति निहित रहती है कि मालो को सस्ता करने तथा उनको सस्ता करके खुद मजदूर को सस्ता करने के उद्देश्य से श्रम की उत्पादकता को अधिक से अधिक बढाती जाये।[1]

किसी माल का मूल्य खुद अपने में पूजीपति के लिये कोई दिलचस्पी नहीं रखता। उसकी दिलचस्पी तो महज इस माल में निहित अतिरिक्त मूल्य में होती है, जिसे इस माल को बेचकर पाया जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य पाने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पेशगी लगाया गया मूल्य वापिस आ जाता है। अब चूकि सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य श्रम की उत्पादकता के विकास के अनुलोम अनुपात में बढ़ता है, जब कि, दूसरी ओर, माला का मूल्य उसी अनुपात में

---

[1] "मजदूर का खर्चा जिस अनुपात में भी कम हो जायेगा, उसकी मजदूरी उसी अनुपात में घट जायेगी, बशर्ते कि उसके साथ-साथ उद्योग पर लगे हुए प्रतिबध हटा लिये गये हा।" (*Considerations concerning Taking off the Bounty on Corn Exported &c*' ['अनाज का निर्यात करने वाले व्यापारियो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता को बद करने के विषय में कुछ विचार, इत्यादि'), London 1753 पृ० ७।) "व्यापार के हित में यह आवश्यक है कि अनाज और सभी खाद्य वस्तुए यथासभव सस्ती हा, क्याकि यदि कोई कारण इन चीजो को महगा बना देता है, तो वह श्रम को भी महगा कर देता है जिन देशा में उद्यागो पर कोई प्रतिबध नही लगा है, उन सभी देशा में खाद्य वस्तुग्रा के दाम का श्रम के दाम पर प्रभाव पडना लाजिमी है। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुग्रा के सस्ता हो जाने पर श्रम हमेशा सस्ता हा जायेगा।" (उप० पु०, पृ० ३।) "उत्पादन की शक्तिया जितनी बढ जाती है, मजदूरी उसी अनुपात में कम हो जाती है। यह सच है कि मशीनें जीवन के लिये आवश्यक वस्तुग्रा का सस्ता कर देती ह, पर साथ ही वे मजदूर को भी सस्ता कर देती है।' (*A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation*' ['प्रतियोगिता और सहकारिता के तुलनात्मक लाभा पर एक पुरस्कृत निबध'] London 1834 प० २७।)

घटता जाता है, चूंकि एक ही क्रिया मालो को सस्ता कर देती है और साथ ही उनमें निहित अतिरिक्त मूल्य को बढा देती है, इसलिये यहा पर हमें इस समस्या का हल मिल जाता है कि पूजीपति, जिसका एकमात्र उद्देश्य विनिमय मूल्य का उत्पादन करना होता है, क्यो मालों के विनिमय मूल्य को सदा घटाने की कोशिश में लगा रहता है? यही वह पहेली थी, जिसके द्वारा अर्थशास्त्र का एक सस्थापक, क्वेज़ने, अपने विरोधियो को सताया करता था और जिसे वे कभी बूझ न पाते थे। क्वेज़ने कहता था "तुम लोग यह मानते हो कि औद्योगिक पदावार के निर्माण में उत्पादन को कोई हानि पहुचाये बिना खर्चे को और श्रम की लागत को जितना कम किया जा सकता है, उससे उतना ही अधिक लाभ होता है, क्योंकि इस तरह तयार वस्तु का दाम घट जाता है। और, फिर भी, तुम यह समझते हो कि मजदूरो के श्रम से पदा होने वाली दौलत का उत्पादन वास्तव में उनकी पदावार के विनिमय-मूल्य को बढाकर किया जाता है।"[1]

इसलिये, पूजीवादी उत्पादन में जब श्रम की उत्पादकता को बढाकर उसकी बचत की जाती है, तब इसका उद्देश्य काम के दिन को छोटा करना नहीं होता। इसका उद्देश्य केवल यह होता है कि मालो की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल को घटा दिया जाये। मजदूर के श्रम की उत्पादकता के बढ जाने पर यदि वह, मान लीजिये, पहले से दस गुना माल तयार करने लगता है और इस तरह हर वस्तु पर पहले का केवल

---

[1] Ils conviennent que plus on peut sans prejudice epargner de frais ou de travaux dispendieux dans la fabrication des ouvrages des artisans, plus cette epargne est profitable par la diminution des prix de ces ouvrages Cependant ils croient que la production de richesse qui resulte des travaux des artisans consiste dans l augmentation de la valeur venale de leurs ouvrages (Quesnay, *Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans* Daire का सस्करण, Paris 1846 पृ० १८८, १८९।)

[2] Ces speculateurs si economes du travail des ouvriers qu il faudrait qu ils payassent ["इन सट्टेबाजा को जब मजदूरा के श्रम के दाम देने पडते हैं, तब वे उसका उपयोग करने में बडी कमखर्ची दिखाते हैं।"] (J N Bidaut, *Du Monopole qui s etablit dans les arts industriels et le commerce*, Paris 1828 पृ० १३।) 'मालिक हमेशा समय और श्रम की बचत करने की कोशिश में रहेगा।" (Dugald Stewart, *Works*, ed by Sir W Hamilton Edinburgh v viii 1855 *Lectures on Polit Econ* [डूगल्ड स्टीवट, 'अथशास्त्र पर कुछ भाषण', सर डब्लयू० हैमिलटन द्वारा सम्पादित 'रचनाए' मे, एडिनबरा, खण्ड ८, १८५५], प० ३१८।) "उनका (पूजीपतिया का) हित इसमे है कि जिन मजदूरा को उन्हाने नौकर रखा है, उनकी उत्पादक शक्तिया अधिक से अधिक हा। उनका ध्यान एक तरह से सदा केवल इस शक्ति को बढाने मे ही लगा रहता है।" (*Text book of Lectures on the Political Economy of Nations By the Rev Richard Jones* ['राष्ट्रा के अथशास्त्र के विषय में कुछ भाषणो की पाठ्य पुस्तक। रेवरण्ड रिचड जोस द्वारा लिखित], Hertford 1852 Lecture III (तीसरा भाषण) [पृ० ३९]।)

$\frac{१}{१०}$ श्रम काल खर्च करता है, तो इससे इसके पहले की तरह पूरे १२ घण्टे तक काम करने में कोई रुकावट नहीं आती और न ही इन १२ घण्टो में १२० के बजाय १,२०० वस्तुए तयार करने में कोई बाधा पडती है। यही नहीं, इसके साथ-साथ उसके काम के दिन को और लम्बा खींचा जा सकता है, जसे कि, मान लीजिये, १४ घण्टे तक, ताकि १,४०० वस्तुए तयार करायी जा सकें। अतएव, मक्कुलक, उरे, सीनियर et tutti quanti (और उनकी नसल के अन्य) अर्थशास्त्रियो के ग्रथो में हमें यदि एक पृष्ठ पर यह पढने को मिलता है कि मजदूर को पूजी का इसके लिये अनुगृहीत होना चाहिये कि वह उसकी उत्पादकता को बढा देती है, क्योंकि उससे आवश्यक श्रम काल घट जाता है, तो अगले ही पृष्ठ पर हम यह भी पढ सकते ह कि मजदूर को अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये आगे से १० के बजाय १५ घण्टे रोज काम करना चाहिये। पूजीवादी उत्पादन की सीमाओ के भीतर श्रम की उत्पादकता को बढाने की तमाम कोशिशो का उद्देश्य यह होता है कि काम के दिन के उस भाग को छोटा कर दिया जाये, जिसमें मजदूर को खुद अपने हित में काम करना पडता है, और उसे घटाकर दिन के उस भाग को बडा कर दिया जाये, जिसमें मजदूर को पूजीपति के लिये मुफ्त काम करने की आजादी रहती है। मालो को सस्ता किये बिना यह चीज किस हद तक की जा सकती है, यह सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की विशिष्ट प्रणालियो का अध्ययन करने पर प्रकट होगा। अब हम इन विशिष्ट प्रणालियो पर विचार करना आरम्भ करते ह।

तेरहवा अध्याय

सहकारिता

जसा कि हम ऊपर देख चुके ह, पूजीवादी उत्पादन केवल उसी समय आरम्भ होता है, जब प्रत्येक अलग अलग पूजी मजदूरो की एक अपेक्षाकृत बडी सख्या से एक साथ काम लेने लगती है और उसके फलस्वरूप जब एक व्यापक पैमाने पर श्रम प्रक्रिया चलती है और इस तरह अपेक्षाकृत बडी मात्राओ में पदावार होती है। जब अपेक्षाकृत बडी सख्या में मजदूर एक समय में और एक जगह पर (आपको यही पसन्द हो, तो एक ही ढग के श्रम के क्षेत्र में) इकट्ठा काम करते ह और एक ही पूजीपति के मातहत एक ढग का माल तयार करते ह, तब इतिहास एव तक दोनो की दृष्टि से पूजीवादी उत्पादन का श्रीगणेश हो जाता है। जहा तक खुद उत्पादन की प्रणाली का सम्बध है, हस्तनिर्माण शब्द का यदि उसके मौलिक अथ में उपयोग किया जाये, तो उसकी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में और शिल्पी सघो की दस्तकारियो में इसके सिवाय और बहुत कम अन्तर होता है कि हस्तनिर्माण में पूजी की एक ही राशि मजदूरो की अपेक्षाकृत बडी सख्या से एक साथ काम लेती है। मध्य युग के उस्ताद दस्तकार की वकशाप केवल पहले से बडा आकार धारण कर लेती है।

इसलिये, शुरू में केवल परिमाणात्मक अन्तर होता है। हम ऊपर यह बता चुके ह कि किसी निश्चित पूजी द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य का पता लगाने के लिये प्रत्येक मजदूर द्वारा पदा किये गये अतिरिक्त मूल्य को एक साथ काम करने वाले मजदूरो की सख्या से *गुणा कर देना काफी होता है। खुद मजदूरो की सख्या से न तो अतिरिक्त मूल्य की दर में* कोई फक पडता है और न ही श्रम शक्ति के शोषण की मात्रा में कोई अन्तर आता है। यदि १२ घण्टे का काम का दिन छ शिलिंग में निहित हो, तो ऐसे १२०० दिन १२०० गुने छ शिलिंग में निहित होगे। एक सूरत में १२×१२०० काम के घण्टे और दूसरी सूरत में ऐसे १२ घण्टे पैदावार में निहित होते ह। मूल्य के उत्पादन में मजदूरो की प्रत्येक सख्या उतने अलग अलग मजदूरो के बराबर ही मानी जाती है, और इसलिये चाहे १२०० आदमी अलग अलग काम करे और चाहे वे एक पूजीपति के नियन्त्रण में मिलकर काम करें, उससे जो मूल्य पदा होता है, उसमें कोई फक नहीं पडता।

फिर भी, कुछ सीमाओ के भीतर, एक परिवतन जरूर हो जाता है। मूल्य में मूत्त होने वाला श्रम औसत सामाजिक स्तर का श्रम होता है। चुनाचे उसमें औसत श्रम शक्ति खच होती है। लेकिन कोई भी औसत मात्रा एक ही तरह की, परन्तु भिन्न भिन्न परिमाण वाली अनेक अलग अलग मात्राओ का औसत होती है। हर उद्योग में हर अलग अलग मजदूर, चाहे उसका नाम पीटर हो या पौल, औसत मजदूर से भिन्न होता है। जब कभी मजदूरो की एक खास अल्पतम सख्या से एक साथ काम लिया जाता है, तब ये व्यक्तिगत भिन्नताए - या, गणित की शब्दावली में, "भूल चूक" - एक दूसरे की क्षतिपूर्ति कर देती ह और गायब हो

जाती है। प्रसिद्ध कूटताकिक एव चाटुकार एडमण्ड बर्क तो काश्तकार के रूप में अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर इस हद तक दावा करते ह कि पाच खेत मजदूरो की "जैसी छोटी टुकडी" में भी तमाम व्यक्तिगत भिनताए शायब हो जाती ह और इसलिये अगर किन्हीं भी पाच वयस्क खेत-मजदूरो से एक साथ काम कराया जाये, तो वे समान समय में उतना ही काम करेंगे, जितना कोई और पाच करेंगे।[1] बहरहाल जो भी हो, इतनी बात स्पष्ट है कि जिनसे एक साथ काम लिया जा रहा है, ऐसे मजदूरो की एक अपेक्षाकृत बडी सख्या के सामूहिक काम के दिन को इन मजदूरो की सख्या से भाग देने पर औसत सामाजिक श्रम का एक दिन निकल आता है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि प्रत्येक व्यक्ति का काम का दिन १२ घण्टे का है। तब एक साथ काम करने वाले १२ व्यक्तियो का सामूहिक काम का दिन १४४ घण्टो के बराबर होगा। और हालाकि इन एक दजन आदमियो में से प्रत्येक अलग अलग आदमी का श्रम औसत ढग के सामाजिक श्रम से कुछ कम या अधिक होगा और इसलिये हालाकि उनमें से हरेक को एक सी क्रिया को पूरा करने में अलग-अलग समय लगेगा, फिर भी चूकि हरेक का काम का दिन १४४ घण्टे के सामूहिक दिन का $\frac{१}{१२}$ वा भाग है, इसलिये उसमें एक औसत ढग के सामाजिक काम के दिन के गुण मौजूद होगे। किन्तु इन १२ आदमियो से काम लेने वाले पूजीपति के दृष्टिकोण से काम का दिन पूरे दजन भर आदमियो का दिन होता है। और ये १२ आदमी चाहे अपने काम में एक दूसरे की मदद करें और चाहे इन आदमियो के काम में केवल इतना सम्बध हो कि वे सब एक पूजीपति के लिये काम कर रहे ह, प्रत्येक अलग अलग आदमी का दिन इस सामूहिक काम के दिन का एक पूरकभाजक भाग होता है। परन्तु यदि इन १२ आदमियो की छ जोडियो से छ छोटे-छोटे मालिक काम लेते ह, तो यह बात केवल सयोग पर ही निभर करेगी कि इनमें से हरेक मालिक दूसरो के समान मूल्य पदा कर पाता है या नहीं और इसलिये अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर के अनुसार अतिरिक्त मूल्य कमा पाता है या नहीं। हर अलग अलग सूरत में थोडा बहुत फक रहेगा। किसी माल के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से जितना समय लगना चाहिये, यदि किसी मजदूर का उस की अपेक्षा बहुत अधिक समय लग जाता है, तो उसका आवश्यक श्रम काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक औसत श्रम काल से काफी भिन होगा और इसलिये न तो उसका श्रम औसत श्रम माना जायेगा और न ही उसकी श्रम शक्ति औसत श्रम शक्ति मानी जायेगी। तब वह श्रम शक्ति या तो बिल्कुल न बिक पायेगी, और बिकेगी, तो औसत मूल्य से कम दाम पर।

---

[1] "बल, दक्षता और ईमानदारी की दृष्टि से निस्सदेह एक आदमी के श्रम और दूसरे आदमी के श्रम के मूल्य में बहुत अतर होता है। लेकिन मेरा जितना अनुभव है, उसके आधार पर मुझे पूण विश्वास है कि कोई भी पाच आदमी कुल मिलाकर उतना ही श्रम करेंगे जितना कोई भी अन्य पाच जीवन की उपर्युक्त अवस्थाओ में करेंगे। अर्थात ऐसे पाच आदमियो मे एक ऐसा होगा, जिसम एक अच्छे मजदूर के सारे गुण मौजूद होगे, एक खराब मजदूर होगा और बाकी तीन पहले और अन्तिम मजदूर के बीच के स्तर के होगे। चुनाचे, पाच मजदूरो की छोटी सी टुकडी से भी आप वह पूरा काम ले सकेंगे, जो कोई भी पाच आदमी कर सकते है।" (E Burke उप० पु०, प० १५, १६।) औसत व्यक्ति के विषय में क्वेतलेत से तुलना कीजिये।

इसलिये सदा यह मानकर चला जाता है कि हर प्रकार के श्रम में एक अल्पतम स्तर की निपुणता होती है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, पूजीवादी उत्पादन के पास इस अल्पतम स्तर को निर्धारित करने का साधन प्राप्त होता है। फिर भी यह अल्पतम स्तर औसत स्तर से भिन्न होता है, हालाकि पूजीपति को श्रमशक्ति का औसत मूल्य देना पडता है। इसलिये ऊपर जिन छ छोटे छोटे मालिको का जिक्र किया गया था, उनमें से एक अतिरिक्त मूल्य की औसत दर से कुछ अधिक और दूसरा उससे कुछ कम चूस पायेगा। पूरे समाज के पमाने पर तो ये भिन्नताए एक दूसरे की क्षतिपूर्ति कर देंगी, पर अलग अलग मालिको के लिये यह बात नहीं हो पायगी। इस प्रकार, मूल्य के उत्पादन के नियम प्रत्येक अलग अलग उत्पादक के लिये केवल उसी दशा में पूरी तरह अमल में आते ह, जब वह पूजीपति की तरह उत्पादन करता है और बहुत से मजदूरो से एक साथ काम लेता है, जिनके श्रम पर उसके सामूहिक रूप के कारण तुरत ही औसत सामाजिक श्रम की छाप लग जाती है।[1]

काम के तरीके में यदि कोई परिवतन न किया जाये, तो भी अगर बडी सख्या में मजदूरो से एक साथ काम लिया जाता है, तो श्रम प्रक्रिया की भौतिक परिस्थितियो में क्राति हो जाती है। ये मजदूर जिन मकानो में काम करते हैं, वे साथ मिलकर या बारी-बारी से जो कच्चा माल, औज़ार और बतन इस्तेमाल करते हैं, कच्चा माल जिन गोदामो में जमा करके रखा जाता है,—सक्षेप में कहिये, तो उत्पादन के साधनो का एक भाग अब सामूहिक ढग से खच किया जाता है। एक तरफ तो उत्पादन के इन साधनो के विनिमय-मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती, क्योकि किसी माल का उपयोग मूल्य यदि पहले से अधिक पूर्णता तथा उपयोगी ढग से खच किया जाये, तो उससे उसका विनिमय-मूल्य नहीं बढ जाता। दूसरी ओर, इन साधनो का सामूहिक ढग से और इसलिये पहले से बडे पमाने पर इस्तेमाल होता है। जिस कमरे में एक अकेला बुनकर अपने दो सहायको के साथ, काम करता है, उससे वह कमरा लाजिमी तौर पर बडा होगा, जिसमें बीस बुनकर बीस करघो पर काम करते ह। लेकिन हर दो बुनकरो के लिये एक कमरे के हिसाब से दस कमरे बनाने की अपेक्षा बीस व्यक्तियो के लिये एक वकशाप बनाने में कम श्रम लगता है, चुनाचे, उत्पादन के जो साधन बडे पमाने पर सामूहिक ढग से इस्तेमाल होने के लिये एक जगह पर सकेन्द्रित कर दिये जाते ह, उनका मूल्य इन साधनो के विस्तार एव परिवर्धित उपयोगिता के अनुलोम अनुपात में नहीं बढता। जब उनका सामूहिक ढग से उपयोग किया जाता है, तो वे पदावार की प्रत्येक इकाई में अपने मूल्य का पहले से अपेक्षाकृत छोटा भाग स्थानातरित करते हैं। इसका कुछ हद तक तो यह कारण होता है कि वह कुल मूल्य, जो ये साधन स्थानातरित करते ह, अब पदावार की पहले से अधिक मात्रा पर फल जाता है, और कुछ हद तक इसकी यह वजह है कि हालाकि निरपेक्ष ढग से देखने पर उत्पादन के अलग अलग साधनो की अपेक्षा इन साधनो का मूल्य अधिक होता

[1] प्रोफेसर रोश्चेर ने खोज निकालने का दावा किया है कि जब श्रीमती रोश्चेर सीने पिरोने का काम करने वाली एक औरत से दो दिन तक काम लेती है, तो वह एक दिन तक साथ काम करने वाली दो औरतो से ज्यादा काम करती है। विद्वान प्राफेसर को शिशु गृह में बैठकर, या ऐसी परिस्थितियो में, जहा पर मुख्य पात्र—पूजीपति—ही अनुपस्थित है, पूजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन नही करना चाहिये (Roscher Die Grundlagen der Nationalökonomie तीसरा सस्करण, 1858 पृ० ८८—८६)।

है, परन्तु यदि क्रिया में उनके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से देखा जाये, तो उनका मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है। इस कारण स्थिर पूजी के एक भाग का मूल्य गिर जाता है, और जितना अधिक यह मूल्य गिरता है, उसी अनुपात में माल का कुल मूल्य भी कम हो जाता है। असर उत्पादन के साधनो की लागत कम हो जाने के समान होता है। इन साधनो के इस्तेमाल में जो बचत होती है, उसका एकमात्र कारण यह है कि मजदूरा की एक बडी सख्या मिलकर उनका उपयोग करती है। इतना ही नहीं, सामाजिक श्रम की एक आवश्यक शत होने का यह खास गुण, जिसके कारण इन साधनो में और अलग अलग काम करने वाले स्वतत्र मजदूरो या छोटे-छोटे मालिको के बिखरे हुए तथा अपेक्षाकृत अधिक महगे उत्पादन के साधना में एक विशेष अतर पैदा हो जाता है,—यह गुण उस सूरत में भी इन साधनो में आ जाता है, जब एक जगह पर इकट्ठा बहुत से मजदूर एक दूसरे की मदद नहीं करते, बल्कि केवल एक स्थान पर काम करते ह। श्रम के औजारो का एक भाग खुद श्रम प्रक्रिया के पहले ही यह सामाजिक स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

उत्पादन के साधनो के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, उसपर दो पहलुओ से विचार करना जरूरी है। एक तो यह कि उससे माल सस्ते हो जाते ह और इस तरह श्रम शक्ति का मूल्य गिर जाता है। दूसरे यह कि उससे व्यवसाय में लगायी गयी कुल पूजी के साथ, यानी स्थिर और अस्थिर पूजी के मूल्यो के जोड के साथ, अतिरिक्त मूल्य का अनुपात बदल जाता है। जब तक हम तीसरी पुस्तक पर नहीं पहुचते, तब तक हम इस दूसरे पहलू पर विचार नहीं करेंगे। वतमान प्रश्न से सम्बधित बहुत सी अन्य बातो को भी हम उसी पुस्तक के लिये छोडे दे रहे ह, ताकि वहा पर सही सदभ में उनपर विचार कर सके। हमारा विश्लेषण जिस प्रकार आगे बढ रहा है, वह हमें विषय वस्तु को इस तरह बाट देने के लिये मजबूर कर रहा है, और इस तरह का बटवारा पूजीवादी उत्पादन की भावना के सवथा अनुरूप है। कारण कि उत्पादन की इस प्रणाली में चूकि मजदूर को श्रम के औजार अपने से स्वतत्र, किसी और व्यक्ति की सम्पति के रूप में विद्यमान मिलते ह, इसलिये जहा तक इस मजदूर का सम्बध है, इन औजारो के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, वह एक अलग क्रिया होती है, जिसका उससे कोई ताल्लुक नहीं होता और इसलिये जिसका मजदूर की अपनी व्यक्तिगत उत्पादकता को बढाने के तरीको से भी कोई सम्बध नहीं होता।

जब बहुत से मजदूर इकट्ठा साथ साथ काम करते ह, तब वे सब चाहे एक ही प्रक्रिया में या अलग अलग, परतु सम्बधित प्रक्रियाओ में भाग लेते हो, तो कहा जाता है कि ये लोग सहकारी ह, या सहकारी ढग से काम कर रहे हैं।[1]

जिस प्रकार घुडसवार सेना के एक दस्ते की आक्रमण-शक्ति या पैदल सेना की एक रेजिमेण्ट की रक्षा-शक्ति अलग अलग घुडसवार या पदल सनिको की आक्रमण अथवा रक्षा-शक्तियो के जोड से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है, उसी प्रकार अलग अलग काम करने वाले मजदूरा की यात्रिक शक्तियो का कुल जोड उस सामाजिक शक्ति से बिलकुल भिन्न होता है, जो उस समय पदा होती है, जब बहुत से मजदूर एक ही अविभाजित क्रिया में, जैसे कि भारी बोझ उठाने, पहिया घुमाने या कोई रुकावट हटाने में, एक साथ हिस्सा लेते

---

[1] Concours de forces ["शक्तियो का सगम"]। (Destutt de Tracy *Traite de la Volonte et de ses Effets*, Paris 1826, पृ० ८०।)

है।[1] ऐसी सूरतो में मिल जुलकर किये गये श्रम का जो परिणाम होता है, वह अलग अलग व्यक्तियो के श्रम से या तो क़तई नहीं पदा किया जा सकता और या केवल अत्यधिक समय खर्च करके या महज बहुत ही तुच्छ पैमाने पर पैदा किया जा सकता है। यहा पर सहकारिता के द्वारा न केवल व्यक्ति की उत्पादक शक्ति में वृद्धि हो जाती है, बल्कि एक नयी शक्ति का—अर्थात जनता की सामूहिक शक्ति का—जन्म हो जाता है।[2]

बहुत सी शक्तियो के मिलाप से जो एक नयी ताकत पदा होती है, उसके अलावा अधिकतर उद्योगो में महज सामाजिक सम्पर्क ही एक ऐसी होड पैदा कर देता है और तबीयत के जोश (animal spirit) को इतना बढ़ा देता है कि हर मजदूर की व्यक्तिगत कार्यकुशलता पहले से बढ जाती है। यही कारण है कि १२ घण्टे तक अलग अलग काम करने वाले बारह आदमियो या लगातार बारह दिन तक काम करने वाले एक आदमी के मुकाबले में साथ मिलकर काम करने वाले एक दजन व्यक्ति १४४ घण्टे के अपने सामूहिक काम के दिन में कहीं ज्यादा पैदावार करेंगे।[3] इसका कारण यह है कि, जसा कि

---

[1] "अनेक क्रियाए इतने सरल ढग की हैं कि उनको भागो में बाटना असम्भव होता है, परन्तु उनको कई जोडी हाथा के सहकार के बिना सम्पन्न नही किया जा सकता। किसी बडे पेड को उठाकर गाडी पर लादना इसकी एक मिसाल है　　सक्षेप में, हर वह काम इसी मद में आता है, जिसे उस वक्त तक नही किया जा सकता, जब तक कि कई जोडी हाथ एक ही समय पर और एक ही अविभाजित काम में एक दूसरे की मदद न करे।" (E G Wakefield, *A View of the Art of Colonisation* ['ई० जी० वेकफील्ड, 'उपनिवेशीकरण की कला पर एक दृष्टिकोण'], London, 1849 पृ० १६८।)

[2] "एक टन के वजन को एक आदमी नही उठा सकता, उसके लिये दस आदमियो का जोर लगाना होगा। परन्तु यदि १०० आदमी हो, तो वे केवल एक-एक उगली के जार से उसे उठा सकते हैं।" (John Bellers *"Proposals for Raising a Colledge of Industry* [जान बैलेस, 'उद्योग का कालिज खोलने के लिये सुझाव'], London, 1696, पृ० २१।)

[3] जब दस काश्तकारो के द्वारा ३० एकड के एक-एक खेत पर काम करने के लिये नौकर रखे जाने के बजाय उतने ही मजदूर केवल एक काश्तकार के द्वारा ३०० एकड के खेत पर काम करने के लिये नौकर रखे जाते हैं, तब "नौकरो के अनुपात से भी एक लाभ होता है, जिसे व्यावहारिक व्यक्तियो के अलावा कोई और आसानी से नही समझ सकता। क्योकि आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो १ और ४ का अनुपात है, वही ३ और १२ का है, पर व्यवहार में ऐसा नही होता। कारण कि फसल काटने के समय और अनेक अन्य क्रियाओं में, जिनको बहुत से मजदूरो को एक साथ काम में लगाकर जल्दी से पूरा कर डालना आवश्यक होता है, इस तरह ज्यादा अच्छा और ज्यादा तेज काम होता है। मिसाल के लिये, यदि फसल काटने के समय २ ड्राइवर, २ लादने वाले, २ जैली से भूसा उठाने वाले, २ समेटने वाले और बाकी लोग या तो गल्ले के ढेर पर या खलिहान में काम करे, तो मजदूरा की इतनी ही बडी सख्या अलग अलग जत्था में बटकर अलग अलग खेतो पर जितना काम करेगी, ये उसका दुगुना काम कर डालेंगे।" (*An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions and the Size of Farms* By a Farmer" ['खाद्य-पदार्थों के मौजूदा दामा और खेता के आकार के बीच पाये जाने वाले सम्बध की जाच। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], London, 1773 पृ० ७, ८।)

अरस्तू का मत है, मनुष्य यदि राजनीतिक पशु[1] नहीं है, तो वह सामाजिक पशु तो हर हालत में है।

यह हो सकता है कि बहुत से आदमी एक वक्त में एक ही काम में या एक तरह के काम में लगे हो, मगर फिर भी उनमें से हरेक का श्रम सामूहिक श्रम के एक भाग के रूप में श्रम प्रक्रिया की एक विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हो और सहकारिता के फलस्वरूप उनके श्रम की विषय वस्तु अपेक्षाकृत अधिक तेज रफ्तार के साथ श्रम-प्रक्रिया की सभी अवस्थाओ में से गुजर जाती हो। मिसाल के लिये, यदि एक दर्जन मजदूर सीढी पर एक पंक्ति में खडे होकर पत्थर नीचे से ऊपर पहुचाते ह, तो उनमें से हरेक एक सा ही काम करता है, मगर फिर भी उन सब के अलग अलग काम एक पूर्ण क्रिया के सम्बद्ध भाग बन जाते ह। ये एक पूर्ण क्रिया की विशिष्ट अवस्थाए होती हैं, जिनमें से हर पत्थर को गुजरना पडता है। और इसकी अपेक्षा कि हर आदमी अलग अलग पत्थर उठाकर सीढी पर चढता, एक पंक्ति में खडे हुए आदमियो के २४ हाथो द्वारा पत्थर कहीं ज्यादा जल्दी ऊपर पहुच जाते ह।[2] इस प्रकार, चीज को उतने ही फासले तक अपेक्षाकृत कम समय में पहुचाया जाता है। फिर, मिसाल के लिये, जब कभी मकान बनाने के लिये कई तरफ से एक साथ काम शुरू कर दिया जाता है, तब श्रम का समेकन हो जाता है, हालाकि यहा भी सहकार करने वाले राज एक ही या एक सा ही काम करते हैं। एक राज १२ दिन तक, या १४४ घण्टे तक, काम करके मकान बनाने

---

[1] यदि बिल्कुल सही सही कहा जाये, तो अरस्तू की परिभाषा यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही शहरी नागरिक होता है। प्राचीन काल के समाज के लिये यह उतनी ही लाक्षणिक परिभाषा है, जितनी याकी समाज के लिये फ्रैंकलिन की यह परिभाषा थी कि मनुष्य औजार बनाने वाला पशु है।

[2] 'On doit encore remarquer que cette division partielle de travail peut se faire quand même les ouvriers sont occupes d'une même besogne Des maçons par exemple occupes a faire passer de mains en mains des briques a un echafaudage superieur, font tous la meme besogne et pourtant il existe parmi eux une espece de division de travail, qui consiste en ce que chacun d eux fait passer la brique par un espace donne et que tous ensemble la font parvenir beaucoup plus promptement a l endroit marque qu ils ne le feraient si chacun d eux portait sa brique separement jusqu a l'echafaudage superieur' ["इसके अलावा यह भी कहना चाहिये कि ऐसा आशिक श्रम विभाजन इस सूरत में भी हो सकता है, जब सारे मजदूर एक ही काम को सम्पन्न कर रहे हो। हम ईंटें ले जाने वाले मजदूरा का उदाहरण ले सकते हैं। ईंटो को एक हाथ से दूसरे हाथ में देकर ऊचे मचानो पर पहुचाते हुए ये लोग एक ही प्रकार का काम करते हैं। फिर भी उनके बीच कुछ हद तक श्रम विभाजन होता है। यह श्रम विभाजन इस बात में निहित है कि उन मजदूरो में से हरेक एक निश्चित फासले तक ईंट पहुचाता है और वे सब मिलकर एक ही इट को मचान पर उस स्थिति की तुलना में, यदि उनमें से हरेक स्वतन्त्र रूप से काम करे, अधिक तेज रफ्तार से पहुचाते हैं।"] (F Skarbek, *Theorie des richesses sociales* दूसरा सस्करण, Paris, 1840 ग्रन्थ १, पृ० ९७, ९८।)

में जितनी प्रगति करता, १२ राज १४४ घण्टे के अपने सामूहिक काम के दिन में उससे कहीं अधिक प्रगति करने में सफल होते ह। इसका कारण यह हे कि जब बहुत से आदमी साथ मिलकर काम करते ह, तब मानो उनके समूह के आगे और पीछे दोनो तरफ हाथ और आखें लग जाती ह और कुछ हद तक वह समूह सवव्यापी हो जाता है। काम के विभिन्न भाग एक साथ प्रगति करने लगते ह।

उपर्युक्त उदाहरणो में हमने इस बात पर जोर दिया है कि लोग एक ही या एक तरह का ही काम कर रहे ह। यह इसलिये कि सामूहिक श्रम का यह सबसे सरल रूप सहकारिता में और यहा तक कि उसकी सम्पूणतया विकसित अवस्था में भी बहुत बडी भूमिका अदा करता है। यदि काम पेचीदा ढग का हो, तो महज अनेक मजदूरो की सहकारिता से यह सम्भव हो जाता है कि अलग अलग क्रियाए अलग अलग आदमियो को सौप दी जायें, ताकि वे सब एक साथ सम्पन्न होती रहे। इस प्रकार, पूरे काम को समाप्त करने के लिये पहले से कम समय जरूरी होता है।[1]

बहुत से उद्योगो में श्रम प्रक्रिया के रूप से निर्धारित कुछ ऐसे नाजुक क्षण आते ह, जब कुछ खास नतीजे हासिल करना जरूरी होता है। मिसाल के लिये, यदि भेडो के किसी रेवड के बाल उतारने ह या गेहू का खेत काटकर फसल इकट्ठी करनी है, तो पदावार की मात्रा और गुण इस बात पर निभर करेगे कि काम एक खास समय पर शुरू करके एक निश्चित अवधि में खतम कर दिया जाता है या नहीं। ऐसी सूरत में यह पहले से त होता है कि काम कितने समय में पूरा हो जाना चाहिये, जसा कि हेरिग मछली पकडने के बारे में होता है। एक अकेला आदमी तो, मान लीजिये, १२ घण्टे से ज्यादा बडा काम का दिन प्राकृतिक दिन में से नहीं निकाल सकता, मगर सहकार करने वाले १०० आदमी काम के दिन को १२०० घण्टे तक बढा सकते ह। काम को बहुत थोडे समय में पूरा कर देना आवश्यक है, पर निर्णायक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम एक साथ उत्पादन के क्षेत्र में लगा देने से समय की इस कमी को पूरा किया जा सकता है। काम सही समय पर पूरा हो जाता है, क्योकि काम के अनेक सयुक्त दिनो का एक साथ उपयोग किया जाता है। काम कितना कारगर होगा, यह मजदूरो की सख्या पर निभर करता है। परन्तु यदि अलग अलग काम करने वाले मजदूरो से इतना

---

[1] Est il question d executer un travail complique plusieurs choses doivent etre faites simultanement L un en fait une pendant que l autre en fait une autre et tous contribuent a l effet qu un seul homme n aurait pu produire L un rame pendant que l autre tient le gouvernail et qu un troisieme jette le filet ou harponne le poisson et la peche a un succes impossible sans ce concours ['यदि कोई पचीदा ढग का काम करना है, तो एक ही समय में कई चीजें करनी चाहियें। जब तक एक आदमी एक चीज करता है, तब तक दूसरा आदमी दूसरी चीज कर डालता है, और सब मिलकर ऐसा असर पैदा करते है, जो एक अकेला व्यक्ति कभी नहीं पैदा कर सकता है। एक आदमी नाव खेता है, दूसरा पतवार सभालता है, तीसरा जाल डालता है या मछली को काटे में फसाता है, -और मछली पकडने का यह सयुक्त उद्योग जितना सफल होता है, उतना सम्भवतया शक्तियो के इस मिलाप के अभाव में वह कभी नहीं हो सकता था।'] (Destutt de Tracy उप० पु०, पृ० ७८।)

ही काम इतने ही समय में कराया जाये, तो जितने मजदूरो की आवश्यकता होगी, उससे यह सख्या हमेशा कम होगी।[1] इस प्रकार की सहकारिता के अभाव का ही यह नतीजा है कि सयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भाग में बहुत सारा अनाज और भारत के उन हिस्सो में, जहा अग्रेजी शासन ने पुराने ग्राम-समुदायो को नष्ट कर दिया है, बहुत सारी कपास हर साल बरबाद हो जाती है।[2]

सहकारिता के कारण एक ओर तो अधिक विस्तृत क्षेत्र में काम करना सम्भव होता है, जिसके फलस्वरूप कुछ खास तरह के कामो में सहकारिता नितात आवश्यक हो जाती है, जसे पानी के निकास का बदोबस्त करने में, बाध बनाने में, सिचाई का प्रबध करने में और नहरें तथा सडकें बनाने और रेलें बिछाने में। दूसरी ओर, सहकारिता से उत्पादन का अनुमाप बढाने के साथ साथ उसके क्षेत्र को अपेक्षाकृत कम करना सम्भव हो जाता है। उत्पादन के अनुमाप को बढाने के साथ साथ तथा उसके फलस्वरूप उसके क्षेत्र को कम कर देने से बहुत सा अनुपयोगी खच बच जाता हे। यह सम्भव इसलिये होता है कि बहुत से मजदूर एक जगह इक्ट्ठा कर दिये जाते ह, अनेक क्रियाए एक साथ सम्पन्न हो जाती ह और उत्पादन के साधन एक जगह सकेन्द्रित कर दिये जाते ह।[3]

---

[1] "इस काम को (खेती के काम को) नाजुक क्षण में पूरा कर देने से उतना ही अधिक लाभ हाता है।" (*An Inquiry into the Connection between the present Price of Provisions and the Size of Farms* By a Farmer ['खाद्य पदार्थों के मौजूदा दामो और खेता के आकार के बीच पाये जाने वाले सम्बध की जाच। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], पृ० ९।) "खेती में समय से अधिक महत्वपूण और कोई चीज नही होती।" (Liebig *Ueber Theorie und Praxis in der Landwirschaft* 1856 पृ० २३।)

[2] "अगली बुराई वह है, जिसको हमें एक ऐसे देश में पाने की बहुत ही कम आशा हो सकती है, जो सम्भवतया चीन और इगलैण्ड के सिवा दुनिया के और किसी भी देश से अधिक श्रम का निर्यात करता है। वह बहुत बुराई यह है कि यहा कपास चुनने के लिये पयाप्त सख्या मे मजदूर पाना असम्भव है। इसका नतीजा यह है कि वडे भारी परिमाण मे फसल बिना चुनी रह जाती है, और एक हिस्सा जमीन से उठाया जाता है, जो नीचे गिरकर बदरग हो जाता है और कुछ हद तक सड जाता है। यानी मौसम के वक्त पयाप्त श्रम न मिलन के कारण काश्तकार को असल में उस फसल के एक बडे हिस्से से हाथ धोने पडते हैं, जिसकी इगलैण्ड इतनी व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा कर रहा है।" (*Bengal* Hurkaru Bi Monthly Overland Summary of News 22nd July 1861 ['बगाल हरकारू'। स्थल माग से आने वाला समाचारो का द्वैमासिक साराश, २२ जुलाई १८६१]।)

[3] कृषि की प्रगति का यह परिणाम हुआ है कि "वह तमाम पूजी और श्रम, जा पहले ५०० एकड में बिखरे रहते थे, और शायद उससे भी ज्यादा अब १०० एकड की ज्यादा अच्छी तरह जोताई करने के लिये सकेन्द्रित कर दिये जाते हैं।" यद्यपि "जितनी पूजी और जितने श्रम से काम लिया जाता है, उनकी मात्रा का देखते हुए स्थान छोटा हाता है, परन्तु पहले एक अकेला स्वतव उत्पादन कर्त्ता उत्पादन के जिस क्षेत्र का स्वामी होता था या वह जिस क्षेत्र पर काम करता था, उसकी तुलना में उत्पादन का क्षेत्र बडा हो जाता है।' (R Jones *An Essay on the Distribution of Wealth* part I On Rent [आर० जान्स, 'धन के वितरण पर एक निबध,' भाग १, 'लगान के विषय में'], London 1831 पृ० १९१।)

अलग अलग काम करने वाले मजदूरो के काम के दिनो के जोड की अपेक्षा काम का एक सयुक्त दिन अधिक मात्रा में उपयोग-मूल्यो को पदा करता है, और इसलिये यह किसी भी खास तरह के उपयोगी प्रभाव के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को कम कर देता है। काम का सयुक्त दिन किसी काय विशेष में यह बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति चाहे इसलिये प्राप्त कर ले कि वह श्रम की यात्रिक शक्ति को बढ़ा देता है, या इसलिये कि वह उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार कर देता है, या इसलिये कि वह उत्पादन के अनुमाप की तुलना में उसके क्षेत्र को कम कर देता है, या इसलिये कि वह नाजुक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम काम में लगा देता है, या इसलिये कि वह व्यक्तियो के बीच होड की भावना को जगा देता है तथा उनकी तबीयत के जोश को बढ़ा देता है, या इसलिये कि वह अनेक मनुष्यो द्वारा की जाने वाली एक तरह की क्रियाओ पर निरतरता और बहुरूपता की छाप अकित कर देता है, या इसलिये कि वह विभिन्न क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करता है, या इसलिये कि वह उत्पादन के साधनो का सामूहिक उपयोग करके उनका मितव्ययिता के साथ खच करता है, या इसलिये कि वह व्यक्तिगत श्रम को औसत सामाजिक श्रम का रूप दे देता है,—उत्पादक शक्ति की वृद्धि का इनमें से कोई भी कारण हो, काम के सयुक्त दिन की विशिष्ट उत्पादक शक्ति हर हालत में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति, अथवा सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्ति, होती है। यह शक्ति स्वय सहकारिता के कारण उत्पन्न होती है। जब मजदूर सुनियोजित ढग से दूसरो के साथ सहकार करता है, तब वह अपने व्यक्तित्व की शृखलाओ को उतारकर फेंक देता है और अपनी नसल की क्षमताओ को विकसित करने में सफल होता है।[1]

एक सामान्य नियम के रूप में, मजदूर उस वक्त तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनको इकट्ठा नहीं कर दिया जाता। उनका एक स्थान पर एकत्रित होना उनकी सहकारिता की आवश्यक शत होता है। इसलिये मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर उस समय तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनसे एक ही पूजी, एक ही पूजीपति साथ साथ काम नहीं लेता और, इसलिये, जब तक कि वह उनकी श्रम शक्तियो को एक साथ नहीं खरीद लेता। उत्पादन की प्रक्रिया के लिये मजदूरो के एक जगह पर इकट्ठा होने के पहले यह जरूरी है कि एक दिन का या एक सप्ताह का, जैसी कि आवश्यकता हो, इन श्रम शक्तियो का मूल्य, या इन मजदूरो की मजदूरी, पूजीपति की जेब में मौजूद हो। चाहे एक दिन के लिये ही सही, पर ३०० मजदूरो को एक साथ मजदूरी देने के लिये जो पूजी लगानी

[1] 'La forza di ciascuno uomo e minima ma la riunione delle minime forze forma una forza totale maggiore anche della somma delle forze medesime fino a che le forze per essere riunite possono diminuere il tempo ed accrescere lo spazio della loro azione ["प्रत्येक मनुष्य की शक्तिया बहुत अल्प होती हैं, लेकिन इन नन्ही नन्ही शक्तियों के सयोजन से जो फल मिलता है, वह इन्ही शक्तियो के केवल अकगणित के ढग के योग से बहुत बडा होता है, इसी कारण जब शक्तिया सयुक्त हो जाती हैं, तब वे अपना काम पहले से कम समय में करने लगती हैं और उसका प्रभाव अधिक व्यापक हो जाता है।"] (P Verry की रचना *Meditazioni Sulla Economia Politica* पर जी० आर० कार्ली की एक टिप्पणी, *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica Parte Moderna*, ग्रन्थ १५, Milano, 1804 पृ० १९६।)

पडती है, वह उससे कहीं अधिक होती है, जो मजदूरो की अपेक्षाकृत कम सख्या को पूरे साल भर प्रति सप्ताह मजदूरी देने के लिये आवश्यक होती है। इसलिये, सहकार करने वाले मजदूरो की सख्या अथवा सहकारिता का पैमाना सबसे पहले इस बात पर निभर करता है कि कोई खास पूजीपति श्रम-शक्ति खरीदने पर कितनी पूजी खर्च कर सकता है, या, दूसरे शब्दो में, किसी खास पूजीपति का कितने मजदूरो के जीवन निर्वाह के साधनो पर अधिकार है।

और जो बात अस्थिर पूजी के लिये सच है, वही स्थिर पूजी के लिये भी सच है। मिसाल के लिये, १०-१० व्यक्तियो से काम लेने वाले ३० पूजीपतियो में से हरेक कच्चे माल पर जितना खर्च करता है, ३०० व्यक्तियो से काम लेने वाले एक पूजीपति को कच्चे माल पर उसका तीस-गुना खर्च करना पडेगा। यह सच है कि सामूहिक ढग से उपयोग में आने वाले श्रम के औजारो का मूल्य तथा परिमाण उसी रफ्तार से नहीं बढ़ते, जिस रफ्तार से मजदूरो की तादाद बढती है, मगर फिर भी वे काफी बढ़ जाते ह। इसलिये, अलग अलग पूजीपतियो के हाथो में उत्पादन के बहुत सारे साधनो का केंद्रीभूत हो जाना मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो की सहकारिता की एक आवश्यक भौतिक शर्त है, और सहकारिता का विस्तार अथवा उत्पादन का पैमाना इस केंद्रीकरण के विस्तार पर निभर करता है।

इसके पहले हम एक अध्याय में यह देख चुके ह कि केवल पूजी की एक खास अल्पतम मात्रा के होने पर ही यह सम्भव होता है कि मजदूरो की जिस सख्या से काम लिया जा रहा है और, इसलिये, जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, वह इसके लिये पर्याप्त हो कि मालिक खुद शारीरिक श्रम करने से मुक्त हो जाये, अपने को छोटे मालिक से पूजीपति में बदल डाले और इस प्रकार पूजीवादी उत्पादन बाक़ायदा क़ायम हो जाये। अब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पूजी की एक खास अल्पतम मात्रा की उपस्थिति बहुत सी अलग अलग चलने वाली स्वतन्त्र प्रक्रियाओ के एक सयुक्त सामाजिक प्रक्रिया में परिणत हो जाने की भी एक आवश्यक शत है।

हमने यह भी देखा था कि शुरू में श्रम के लिये पूजी की अधीनता केवल इस बात का एक रस्मी नतीजा थी कि मजदूर खुद अपने लिये काम करने के बजाय पूजीपति के लिये और इस कारण पूजीपति के मातहत काम करने लगा था। पर मजदूरी पर काम करने वाले बहुत से मजदूरो के सहकार से पूजी का प्रभुत्व खुद श्रम प्रक्रिया के सम्पन्न होने की आवश्यक शत बन जाता है,—वह उत्पादन की आवश्यक शत बन जाता है। अब उत्पादन के क्षेत्र में पूजीपति का शासन रण क्षेत्र में सेनापति के शासन के समान ही अनिवाय हो जाता है।

बडे पमाने के सयुक्त श्रम को एक ऐसे सचालनकर्ता अधिकारी की न्यूनाधिक आवश्यकता रहती है, जो अलग अलग व्यक्तियो की कारवाइयों के बीच ताल मेल बैठा सके और उन सामान्य कामों को कर सके, जिनका करना सयुक्त सघटन के उस काय के कारण आवश्यक हो जाता है, जो इस सयुक्त सघटन के अलग अलग अगो के कार्य से बिल्कुल भिन्न होता है। अकेला वायोलिनवादक खुद अपना सचालक होता है, परन्तु वाद्य वृन्द के लिये अलग से एक सचालक की आवश्यकता होती है। जिस क्षण से पूजी के नियन्त्रण में काम करने वाला श्रम सहकारी श्रम बन जाता है, उसी क्षण से सचालन करने, देख-रेख रखने तथा ताल मेल बैठाने का काम पूजी का कार्य बन जाता है। एक बार पूजी का काय बन जाने पर उसमें कुछ खास विशेषताए पदा हो जाती ह।

पूजीवादी उत्पादन का मुख्य प्रयोजन, उसका लक्ष्य एव उद्देश्य अधिक से अधिक मात्रा

में अतिरिक्त मूल्य निचोड़ना[1] और इसलिये श्रम शक्ति का अधिकतम शोषण करना होता है। जसे जसे सहकार करने वाले मजदूरों की सख्या बढ़ती जाती है, वैसे वसे पूंजी के प्रभुत्व के विरुद्ध उनका प्रतिरोध और उसके साथ साथ पूंजी के लिये इस प्रतिरोध पर बलपूर्वक काबू पाने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। श्रम पर पूंजीपति का नियन्त्रण न केवल सामाजिक श्रम प्रक्रिया से उत्पन्न एक विशिष्ट काय है, जो इस प्रक्रिया की एक खास विशेषता है, बल्कि इसके साथ ही वह सामाजिक श्रम प्रक्रिया के शोषण से जुड़ा हुआ एक खास काय है, और इसलिये उसकी जड़ें शोषक तथा उस जीवन्त एव श्रम रत कच्चे माल के अनिवाय विरोध में पायी जाती ह, जिसका वह शोषण करता है।

फिर, जिस अनुपात में उत्पादन के उन साधनों की राशि बढ़ती जाती है, जो अब मजदूर की सम्पत्ति नहीं ह, बल्कि पूंजीपति की सम्पत्ति बन गये ह, उसी अनुपात में इन साधनों के समुचित प्रयोग पर किसी तरह का सफल नियन्त्रण रखने की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इसके अलावा, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की सहकारिता को समूचे तौर पर वह पूंजी जन्म देती है, जो उनको नौकर रखती है। उनका एक सयुक्त उत्पादक सस्था में मिल जाना और उनके व्यक्तिगत कामों के बीच सम्बध का स्थापित हो जाना — ये मजदूरों के लिये बाहरी और परायी बाते ह, ये बातें खुद मजदूरों के कामों का नतीजा नहीं ह, बल्कि उस पूंजीपति के काम का नतीजा ह, जिसने उनको एक जगह लाकर इकट्ठा किया है और जो उनको एक जगह इकट्ठा रखता है। इसलिये, मजदूरों के विविध प्रकार के श्रम के बीच जो सम्बध होता है, वह उनके सामने भावगत रूप से पूंजीपति की एक पहले से सोची हुई योजना के रूप में प्रकट होता है, और व्यवहार में वह सब पर एक ही पूंजीपति के प्राधिकार के रूप में, एक अन्य व्यक्ति की शक्तिशाली इच्छा के रूप में उनके सामने आता है, जो उनकी क्रियाशीलता को अपने उद्देश्य के आधीन बना लेता है। इसलिये, स्वय उत्पादन की प्रक्रिया के दोहरे स्वरूप के कारण, जो कि एक ओर तो उपयोग मूल्यों को पदा करने की सामाजिक प्रक्रिया होती हे और, दूसरी ओर, अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया होती है, पूंजीपति का नियन्त्रण भी अपने सार-तत्व में दोहरे प्रकार का होता है। इस नियन्त्रण का रूप

---

[1] मुनाफा व्यापार का एकमात्र लक्ष्य होता है।" (J Vanderlint *Money answers all Things* [जे० वैण्डरलिण्ट, 'मुद्रा सब चीजों का जवाब है'] London 1734 पृ० ११।)

सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूक पत्र *Spectator* ने लिखा है कि 'मानचेस्टर की वायरवर्क कम्पनी' में पूंजीपति और मजदूरों के बीच किसी तरह की साझेदारी कायम हो जाने के बाद "पहला नतीजा यह हुआ कि सामान का जाया किया जाना यकायक कम हो गया, क्योंकि किसी भी अन्य मालिक की तरह मजदूर यह सोचने लगे कि अपनी सम्पत्ति को खुद क्या जाया करें। और डूब जाने वाले ऋण के बाद शायद सामान के जाया होने से ही कारखानेदारों का सबसे ज्यादा नुकसान होता है।" (*Spectator* २६ मई १८६६।) इसी अखबार की राय में राचडेल में होने वाले सहकारी प्रयोगों का मुख्य दोष यह है कि 'उनसे यह प्रमाणित हुआ है कि मजदूरों की सस्थाए कारखानों, मिलों और उद्योग के लगभग सभी रूपों का सफलता के साथ प्रबध कर सकती हैं, और साथ ही उनसे मजदूरों की दशा में तुरन्त सुधार हो गया, लेकिन उन्होंने मालिकों के लिये कोई साफ स्थान नहीं छोड़ा।" *Quelle horreur!* (कितनी भयानक बात है!)

नियुग्न होता है। जसे-जसे सहकारिता का पमाना बढ़ता जाता है, वसे वसे यह निरकुशता अपने विशिष्ट अनोखे रूप धारण करती जाती है। जिस प्रकार शुरू में, जसे ही पूजीपति की पूजी उस अल्पतम मात्रा के स्तर पर पहुच जाती है, जिसपर पूजीवादी उत्पादन बाक़ायदा आरम्भ हो जाता है, वसे ही खुद पूजीपति सचमुच श्रम करने की आवश्यकता से मुक्त हो जाता है और उसी प्रकार अब यह अलग अलग मजदूरो तथा मजदूरो के दलो पर सीधे और लगातार निगाह रखने का काम एक खास तरह के वेतन भोगी कमचारियो को सौंप देता है। पूजीपति की कमान में चलने वाली मजदूरो की औद्योगिक सेना को भी वास्तविक सेना की भांति अफसरो (मैनेजरो) और जमादारो (फारमैनो, निरीक्षका आदि) की आवश्यकता पडती है, जो काम के दौरान में पूजीपति की तरफ से इस सेना को आदेश दिया करते ह। मजदूरो पर निगरानी रखना इन लोगो का जाना-माना और एकमात्र काम बन जाता है। जब कोई अथ शास्त्री अलग अलग काम करने वाले किसानो और दस्तकारा की उत्पादन प्रणाली का दासो के श्रम से चलने वाले उत्पादन से मुकाबला करता है, तो निगरानी रखने के इस श्रम की गिनती वह उत्पादन के faux frais (अनुत्पादक खच) में करता है।[1] लेकिन जब वही अथशास्त्री उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली पर विचार करने बठता है, तब वह, इसके विपरीत, श्रम प्रक्रिया के सहकारी स्वरूप के कारण जो नियत्रण रखने का काय आवश्यक हो गया है, उसे नियत्रण रखने के उस बिल्कुल भिन्न कार्य के साथ मिला देता है, जो श्रम प्रक्रिया के पूजीवादी स्वरूप तथा पूजीपति और मजदूर के बीच पाये जाने वाले विरोध के कारण जरूरी हो जाता है।[2] कोई आदमी इसलिये पूजीपति नहीं होता कि वह उद्योग का नेता है, — इसके विपरीत, वह उद्योग का नेता इसलिये होता है कि वह पूजीपति है। उद्योग का नेतत्व करना पूजी का गुण है, जिस प्रकार साम ती काल में सेनापति और न्यायाधीश का काम करना भू-सम्पत्ति के गुण थे।[3]

मजदूर उस वक्त तक अपनी श्रम शक्ति का स्वामी रहता है, जब तक कि वह पूजीपति

---

[1] प्रोफेसर केन्स ने यह कहने के बाद कि उत्तरी अमरीका के दक्षिणी राज्या मे दासा के जरिये होने वाले उत्पादन की यह एक खास विशेषता है कि superintendence of labour ("मजदूरा पर निगरानी") रखनी पडती है, आगे यह कहा है कि '(उत्तर का) भूस्वामी किसान क्योकि अपनी मेहनत की पूरी पैदावार का खुद मालिक होता है, इसलिये उसे परिश्रम करने के लिये किसी और प्रेरणा की आवश्यकता नही होती। यहा निगरानी रखने की कतई जरूरत नही होती।" (Cairnes उप० पु०, पृ ४८, ४९।)

[2] सर जेम्स स्टीवर्ट एक ऐसे लेखक हैं, जिनमें उत्पादन की विभिन्न प्रणालिया के बीच पाये जान वाले विशिष्ट सामाजिक भेदा को पहचानने की विलक्षण क्षमता है। उन्होंने लिखा है "कारखाना के क्षेत्र में बडे पैमाने के व्यवसाय निजी उद्योग को जो चौपट कर देते हैं, उसका इसके सिवा और क्या कारण है कि वे गुलामी की सरलता के अधिक नजदीक पहुच जाते है?" (*Principles of Political Economy* ['अथशास्त्र के सिद्धान्त'], London 1767 खण्ड १, पृ० १६७, १६८।)

[3] इसलिये आगस्त कात और उनके मत के लोगा ने जिस तरह यह प्रमाणित कर दिया है कि पूजी के स्वामिया की ससार को सदा आवश्यकता बनी रहेगी, उसी प्रकार वे यह भी प्रमाणित कर सकते थे कि साम ती प्रभुओ का होना एक शाश्वत आवश्यकता है।

के हाथो उसकी बिक्री का सौदा त नहीं कर देता। और उसके पास जो कुछ है,– अर्थात उसकी व्यक्तिगत, पृथक श्रम शक्ति,– उससे अधिक यह कुछ नहीं बेच सकता। इस स्थिति में इस बात से कोई अंतर नहीं पडता कि पूजीपति एक आदमी की श्रम-शक्ति खरीदने के बजाय १०० आदमियो की श्रम-शक्ति खरीदता है और एक आदमी से क़रार करने के बजाय १०० असम्बद्ध व्यक्तियो से अलग अलग क़रार करता है। उसे इस बात का अधिकार है कि वह १०० व्यक्तियो को काम पर लगाये और उन्हें सहकारी न बनने दे। वह उन्हें १०० स्वतत्र श्रम शक्तियो का मूल्य तो दे देता है, पर वह उन्हें सौ व्यक्तियों की सयुक्त श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं देता। एक दूसरे से स्वतत्र होने के कारण सब मजदूर अलग-अलग व्यक्ति मात्र होते हैं, जो पूजीपति के साथ तो सम्बध कायम करते हैं, पर आपस में नहीं करते। यह सहकारिता केवल श्रम प्रक्रिया के साथ आरम्भ होती है, लेकिन तब तक उनका अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। उस प्रक्रिया में प्रवेश करने के बाद वे पूजी में समाविष्ट हो जाते ह। सहकार करने वालो के रूप में, एक कार्यरत सघटन के सदस्यो के रूप में, वे पूजी के अस्तित्व के विशिष्ट रूप मात्र होते ह। इसलिये सहकारिता में काम करते हुए मजदूर अपने में जिस उत्पादक शक्ति का विकास करता है, वह पूजी की उत्पादक शक्ति होती है। जब कभी मजदूरो को कुछ खास परिस्थितियो में काम करना पडता है, तब यह शक्ति अपने आप और मुफ्त में पदा हो जाती है, और पूजी ही मजदूरो के लिये ऐसी परिस्थितिया पदा करती है। चकि इस शक्ति के पदा होने में पूजी का कुछ खच नहीं होता और चूकि, दूसरी तरफ, मजदूर का श्रम जब तक पूजी की सम्पत्ति नहीं बन जाता, तब तक वह अपने आप इस शक्ति को विकसित नहीं करता, इसलिये यह एक ऐसी शक्ति के रूप में सामने आती है, जो मानो स्वय प्रकृति ने पूजी को प्रदान कर रखी हो, इसलिये वह एक ऐसी उत्पादक शक्ति के रूप में सामने आती है, जो पूजी में निहित प्रतीत होती है।

सरल सहकारिता की विराट उपलब्धिया प्राचीन काल के एशिया-वासियो, मिस्रवासियो और एश्शूरियावासियो के बृहत् निर्माण कार्यों में देखी जा सकती हैं। "बीते हुए जमाने में अक्सर ऐसा हुआ है कि इन पूर्वी राज्यो के पास अपने असैनिक एव सैनिक कार्यों का खच भरने के बाद अतिरिक्त धन बच रहा। उसे वे अपने वैभव का प्रदशन करने वाले या किन्हीं उपयोगी निर्माण कार्यों में खर्च कर सकते थे। इनके निर्माण में चूकि वे देश की खेती न करने वाली लगभग पूरी आबादी के हाथो और भुजाओ से काम ले सकते थे, इसलिये वे ऐसे महान स्मारको का निर्माण करने में सफल हुए ह, जो आज भी इन राज्यो की शक्ति की ओर इगित करते हैं। नील नदी की उवर उपत्यका खेती न करने वाली एक बहुत बडी आबादी के लिये भोजन पैदा कर देती थी, और यह भोजन, जिसपर राजा का और पुरोहितो का अधिकार होता था, उन बडे बडे स्मारको के निर्माण का साधन बन जाता था, जिनसे देश भरा हुआ था उन दैत्याकार मूर्तियो और भयानक बोझो को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह ले जाने में, जिनके परिवहन की बात सोचकर ही आदमी आश्चर्यचकित रह जाता है, एक तरह से केवल मानव श्रम को ही अधाधुध खच किया गया था काम के लिये मजदूरो की सख्या और उनके प्रयत्नो का केन्द्रीकरण पर्याप्त होता था। हम महासागर के गभ में से प्रवाल-शैल-मालाओ को ऊपर उठकर द्वीपों और दृढ़ भूमि का रूप धारण करते हुए देखते ह, परन्तु फिर भी इन प्रवालो को वहा जमा करने वाला प्रत्येक जीव बहुत ही छोटा, निबल और हीन होता है। एशिया के किसी भी राजतत्र के खेती न करने वाले मजदूर काम पर

अपनी व्यक्तिगत शारीरिक मेहनत के सिवा लगभग और कुछ भी साथ लेकर नहीं आते थे, परन्तु उनकी सख्या ही उनकी शक्ति होती थी, और इस विशाल सख्या का सचालन करने वाली ताकत ने ऐसे-ऐसे राजमहल, मदिर, पिरामिड और अनगिनत दैत्याकार मूर्तियां खडी कर दीं, जिनके अवशेष आज भी हमें हतप्रभ और आश्चर्यचकित कर देते ह। इस विशाल सख्या का पेट जिस आमदनी से भरा जाता था, वह चूकि किसी एक व्यक्ति या चद व्यक्तियों के हाथो में ही सीमित होती थी, इसीलिये ऐसे ऐसे विराट निर्माण-काय सम्भव हो पाते थे।[1] एशियाई तथा मिस्री राजाओ और एत्रूरिया के पुरोहित राजाओं आदि की यह शक्ति आधुनिक समाज में पूजीपतियों को हस्तांतरित हो गयी है, चाहे वह पूजीपति कोई एक व्यक्ति हो और चाहे वह सम्मिलित पूजी की कम्पनियो की तरह का कोई सामूहिक पूजीपति हो।

मानव विकास के नवोदय के काल में शिकार से जीविका कमाने वाली नसलो में[2] या, मान लीजिये, हिदुस्तानी ग्राम-समुदायो की खेती में हमें जिस प्रकार की सहकारिता देखने को मिलती है, वह एक ओर तो इस बात पर आधारित थी कि उत्पादन के साधनो पर सब का सामूहिक स्वामित्व होता था, और, दूसरी ओर, वह इस तथ्य पर आधारित थी कि इन समाजों में व्यक्ति अपने कबीले अथवा अपने ग्राम-समुदाय की नाभि-नाल से अपने को काटकर अलग नहीं कर पाया था, जिस तरह शहद की मक्खी अपने छत्ते से अपना नाता नहीं तोड पाती, उस तरह वह भी अपने क़बीले या ग्राम-समुदाय से सम्बध विच्छेद नहीं कर पाया था। इस प्रकार की सहकारिता उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के कारण पूजीवादी सहकारिता से भिन्न होती है। प्राचीन काल में, मध्य युग में, और आधुनिक उपनिवेशो में इक्की-दुक्की जगहो पर जिस बडे पैमाने की सहकारिता का प्रयोग किया गया है, वह प्रभुत्व और दासत्व और मुख्यतया गुलामी के सम्बधो पर आधारित है। इसके विपरीत, सहकारिता का पूजीवादी रूप शुरु से आखिर तक यह मानकर चलता है कि पूजी के हाथो अपनी श्रम शक्ति बेचकर मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर स्वतत्र होता है। किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह रूप किसानो की खेती और स्वतत्र दस्तकारियो के विरोध में विकसित हुआ है, चाहे ये दस्तकारिया शिल्पी-सघो में सगठित हों या न हो।[3] किसानो की खेती तथा स्वतत्र दस्तकारियो के दृष्टिकोण

---

[1] R Jones "*Text book of Lectures, etc* (आर० जोन्स, 'भाषणो की पाठ्य-पुस्तक, इत्यादि'), Hertford, 1852, पृ० ७७, ७८। लदन में और योरप की अन्य राजधानिया में प्राचीन असीरिया, मिस्र तथा अन्य देशा के जो सग्रह मिलते हैं, उनकी मदद से हम अपनी आखो से देख सकते हैं कि यह सहकारी श्रम किस तरह किया जाता था।

[2] लिगुएत ने शायद सही बात कही थी, जब उन्होने अपनी रचना '*Theorie des Lois Civiles*' में यह घोषणा की थी कि शिकार करना सहकारिता का पहला रूप था और इनसान का शिकार (युद्ध) शिकार का एक सबसे प्राचीन रूप था।

[3] छोटे पैमाने की किसाना की खेती और स्वतत्र दस्तकारिया, ये दोनो मिलकर उत्पादन की सामती प्रणाली का आधार बनाती हैं, और सामती व्यवस्था के भग हा जाने के बाद ये पूजीवादी प्रणाली के साथ साथ पायी जाती हैं। इसके अलावा, वे प्राचीन ससार के समुदाया के सर्वोत्तम काल में उनका भी आर्थिक आधार बनी हुई थी। यह वह काल था, जब भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का आदिम रूप नष्ट हो गया था, पर उत्पादन में अभी गुलामी की प्रथा का पूरा दौर दौरा कायम नही हुआ था।

से पूजीवादी सहकारिता सहकारिता के एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप की तरह प्रकट नहीं होती, बल्कि यह लगता है, जसे खुद सहकारिता ही एक ऐसा ऐतिहासिक रूप हो, जो उत्पादन की पूजीवादी उत्पादन प्रक्रिया की एक खास विशेषता है और जो इस प्रणाली को और सब प्रणालियो से भिन्न बना देता है।

जिस प्रकार सहकारिता से विकसित हो जाने वाली श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति पूजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार अलग अलग स्वतत्र मजदूरो या यहा तक कि छोटे-छोटे मालिको द्वारा चलायी जाने वाली उत्पादन प्रक्रिया के मुकाबले में खुद सहकारिता उत्पादन की पूजीवादी प्रक्रिया का एक विशिष्ट रूप प्रतीत होती है। पूजी के आधीन हो जाने पर वास्तविक श्रम प्रक्रिया में यह पहला परिवतन होता है। यह परिवतन स्वयस्फूत ढग से होता है। मजदूरी पर काम करने वाले बहुत से मजदूरो से एक ही प्रक्रिया में एक साथ काम लेना, जो इस परिवर्तन की आवश्यक शत है, पूजीवादी उत्पादन का भी प्रस्थान-बिन्दु है। और यह बिन्दु स्वय पूजी के जन्म से मेल खाता है। तब यदि, एक तरफ, इतिहास में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली श्रम प्रक्रिया के एक सामाजिक प्रक्रिया में रूपान्तरित होने की एक आवश्यक शत के रूप में हमारे सामने आती है, तो, दूसरी तरफ, श्रम प्रक्रिया का यह सामाजिक रूप इस तरह हमारे सामने आता है, जसे पूजी ने श्रम की उत्पादकता को बढाकर उसका अधिक लाभदायक ढग से शोषण करने के लिये यह तरीका निकाला हो।

अभी तक हम सहकारिता के जिस प्राथमिक रूप पर विचार करते रहे ह, उसमें सहकारिता अनिवाय रूप से बडे पैमाने के हर प्रकार के उत्पादन की सहगामिनी होती है, परन्तु वह खुद अपने में किसी ऐसे स्थिर रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती, जो उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के विकास के किसी खास युग की विशेषता हो। यह वह अधिक से अधिक केवल दो युगो में करती है, और तब भी पूरी तरह नहीं। एक हस्तनिर्माण के उस प्रारम्भिक काल में, जब वह बहुत कुछ दस्तकारियो से मिलता जुलता था,[1] दूसरे, बडे पमाने की उस प्रकार की खेती के काल में, जो हस्तनिर्माण के युग के अनुरूप थी और जो किसान की खेती से *मुख्यतया इस बात में भिन्न थी कि उसमें* बहुत से मजदूरो से *एक साथ काम लिया जाता* था और उनके इस्तेमाल के लिये बहुत सारे उत्पादन के साधन एक जगह पर इकट्ठा कर दिये जाते थे। उत्पादन की जिन शाखाओ में पूजी बडे पमाने पर इस्तेमाल होती है और श्रम-विभाजन तथा मशीनो की भूमिका गौण होती है, उनमें हमेशा सरल सहकारिता प्रमुख रूप से पायी जाती है।

उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का बुनियादी रूप सदा सहकारिता का होता है। फिर भी उत्पादन की इस प्रणाली के अधिक विकसित रूपो के साथ-साथ सहकारिता का प्राथमिक रूप भी पूजीवादी उत्पादन के एक विशिष्ट रूप की तरह कायम रहता है।

---

[1] 'क्या काम की उन्नति का तरीका यह नही है कि एक ही काम साथ मिलकर करनवाले बहुत से लोगो की सयुक्त निपुणता, उद्योग एव स्पर्द्धा स लाभ उठाया जाये? और क्या किसी और तरीके से इगलैण्ड अपने ऊनी उद्योग का विकास के इस ऊचे स्तर पर पहुचा सकता था?" (Berkeley *The Querist* [बर्कले, 'प्रश्नकर्ता'] London 1751 पृ० ५६, पैराग्राफ ५२१।)

चौदहवा अध्याय

श्रम का विभाजन और हस्तनिर्माण (MANUFACTURE)

अनुभाग १ – हस्तनिर्माण की दोहरी उत्पत्ति

श्रम के विभाजन पर आधारित सहकारिता का प्रतिनिधि रूप हस्तनिर्माण है, और जिसे हस्तनिर्माण का वास्तविक काल कहा जा सकता है, उस पूरे काल में पूजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का यही विशिष्ट रूप प्रचलित रहा है। यह काल मोटे तौर पर १६ वीं शताब्दी के मध्य से १८ वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई तक माना जाता है।

हस्तनिर्माण दो तरह शुरू होता है

(१) एक अकेले पूजीपति के नियत्रण में एक वर्कशाप के भीतर कुछ ऐसे मजदूरो के इकट्ठा कर दिये जाने के फलस्वरूप, जो वसे तो अनेक प्रकार की स्वतत्र दस्तकारियो का काम करते ह, पर किसी खास वस्तु को तैयार होने के पहले उन सभी के हाथो में से गुजरना पडता है। मिसाल के लिये, बग्घी पहले बहुत से स्वतत्र कारीगरो के श्रम की पदावार हुआ करती थी, जसे पहियें बनाने वाले, साज तयार करने वाले, दर्जी, ताले बनाने वाले, गद्दी-तकिये बनाने वाले, खराद का काम करने वाले, झालर बनाने वाले, खिडकियो में शीशे लगाने वाले, रगने वाले, पालिश करने वाले, मुलम्मा चढाने वाले, वगरह, वगरह। लेकिन बग्घियो के हस्तनिर्माण में सारे कारीगर एक मकान में इकट्ठा कर दिये जाते ह, जहा उनमें से हरेक अपना काम करके दूसरे के हाथो में सौंपता जाता है। यह सच है कि बग्घी के तयार होने के पहले उसपर मुलम्मा नहीं चढाया जा सकता। लेकिन यदि कई बग्घिया एक साथ बनायी जा रही हो, तो जब तक बाकी बग्घिया पहले की प्रक्रियाओ में से गुजर रही होंगी, तब तक कुछ पर मुलम्मा चढाया जा रहा होगा। अभी तक हम लोग सरल सहकारिता के क्षेत्र के ही भीतर हैं, जिसे मनुष्यो और वस्तुओ के रूप में अपनी सारी सामग्री पहले से तयार मिलती है। लेकिन बहुत जल्द एक महत्वपूण परिवतन हो जाता है। दर्जी, ताले बनाने वाला और दूसरे तमाम कारीगर क्योकि अब केवल बग्घी बनाने में ही लगे हुए ह, इसलिये उनमें से हरेक की अपनी पुरानी दस्तकारी का काम पूरी तरह करने की योग्यता अभ्यास न रहने के कारण जाती रहती है। लेकिन दूसरी ओर, उसका काम चूकि एक लीक में सीमित हो जाता है, इसलिये वह इस सकुचित काय क्षेत्र के लिये सबसे अधिक उपयुक्त रूप धारण कर लेता है। शुरू में बग्घिया का हस्तनिर्माण बहुत सी स्वतत्र दस्तकारियो का जोड होता है। धीरे धीरे बग्घी बनाने की क्रिया बहुत सी तफसीली क्रियाओ में बट जाती है, जिनमें से हरेक क्रिया एक खास मजदूर का विशिष्ट काय बन जाती है, और ये मजदूर मिलकर सम्पूण हस्तनिर्माण करते ह। इसी तरह कपडे का हस्तनिर्माण तथा अन्य प्रकार के अनेक

हस्तनिर्माण भी विभिन्न दस्तकारियो को एक अकेले पूजीपति के नियत्रण में इकट्ठा करके शुरू हुए थे।[1]

(२) हस्तनिर्माण इसके ठीक उल्टे ढग से भी जन्म लेता है,—यानी इस तरह कि एक पूजीपति एक वर्कशाप के भीतर ऐसे अनेक कारीगरो से एक साथ काम लेने लगता है, जो सब के सब एक ही या एक तरह का ही काम करते हैं, जैसे कागज बनाना, टाइप ढालना या सुइया बनाना। यह सहकारिता का सबसे अधिक प्रारम्भिक रूप होता है। इनमें से प्रत्येक कारीगर (शायद एक या दो शागिर्द मजदूरो की मदद से) पूरा माल तैयार करता है, और इसलिये उसके उत्पादन से सम्बन्धित जितनी भी आवश्यक क्रियाए होती हैं, वह बारी-बारी से उन सब को करता है। अब भी वह अपने पुराने दस्तकारी के ढग से काम करता है। लेकिन बहुत जल्द बाह्य परिस्थितियो के कारण एक स्थान पर इतने सारे मजदूरो के केन्द्रीकरण का, उनके एक साथ काम करने का एक नया उपयोग होने लगता है। शायद पहले से अधिक मात्रा में माल तैयार करके एक निश्चित समय के भीतर दे देना है। इसलिये काम को फिर से बाटा जाता

---

[1] एक अधिक आधुनिक उदाहरण देखिये। लिओस और नाइम्स की रेशम की कताई और बुनाई est toute patriarcale elle emploie beaucoup de femmes et d'enfants, mais sans les epuiser ni les corrompre elle les laisse dans leur belles vallées de la Drôme, du Var de l'Isere de Vaucluse, pour y elever des vers et devider leurs cocons jamais elle n entre dans une veritable fabrique Pour être aussi bien observe le principe de la division du travail s y revêt d un caractere special Il y a bien des devideuses des moulineurs, des teinturiers des encolleurs, puis des tisserands mais ils ne sont pas reunis dans un meme etablissement, ne depen dent pas d un même maitre, tous ils sont independants [बहुत पितृसत्तात्मक ढग का व्यवसाय है। उसमें औरतो और बच्चो की एक बडी सख्या काम करती है, पर वह न तो उनकी शक्ति और न उनके स्वास्थ्य को ही एकदम बरबाद करता है। वह उनको द्रोम, वार, इज़ेर और वोक्लूज़ की उनकी सुदर तराइयो में ही रहने देता है, जहा वे रेशम के कीडो को पालते हैं और उनके कोयो से रेशम निकालते हैं। वह उन्हे कभी किसी सचमुच की फैक्टरी में लाकर नही जमा करता। अधिक निकट से अध्ययन करने पर हम पायेंगे कि यहा श्रम विभाजन के सिद्धात की अपनी विलक्षणतायें हैं। इस व्यवसाय में कोयो से रेशम निकालने वाले, रेशम का धागा बनाने वाले, रगने वाले, कलफ देने वाले, बुनने वाले बडी सख्या में काम करते हैं, पर वे किसी एक कारखाने में इकट्ठा नही किये जाते, वे किसी एक मालिक पर निभर नही रहते, बल्कि वे सब स्वतत्र होते हैं"]। (A Blanqui *Cours d Econ Industrielle* Recueilli par A Blaise Paris 1838-39 पृ० ७६।) जिस समय ब्लाक्वी ने यह लिखा था, उसके बाद विभिन्न स्वतत्र मजदूरो को, कुछ हद तक, फैक्टरियो में एकजुट कर दिया गया है। [और जिस समय मार्क्स ने उपर्युक्त वाक्य लिखा था, तब से अब तक इन फैक्टरियो पर शक्ति से चलने वाले करघे ने चढाई कर दी है, और इस समय—१८८६ में—तो वह बडी तेजी से हाथ से चलने वाले करघे का स्थान लेता जा रहा है। (**चौथे जर्मन सस्करण में जोडा गया फुटनोट** इस सम्बध में क्रेफ़ेल्ड के रेशम-उद्योग की भी अपनी एक कहानी है।)—फ़े० ए०]

है। एक आदमी के बारी-बारी से विभिन्न क्रियाओ को पूरा करने के बजाय अब इन क्रियाओ को असम्बद्ध, अलग अलग क्रियाओ में बदल दिया जाता है, जो साथ-साथ चलती हैं। हर क्रिया एक अलग कारीगर को सौंप दी जाती है, और इन सारी क्रियायें में सहकार करने वाले मजदूर एक साथ काम करते हुए पूरी करते ह। सयोगवश होने वाला काम का यह नये ढग का बटवारा फिर दोहराया जाता है, उसके अपने फायदे जाहिर होते हैं, और धीरे धीरे यह स्थायित्व प्राप्त करके सुनियोजित श्रम विभाजन बन जाता है। अब माल एक स्वतत्र कारीगर की व्यक्तिगत पैदावार न रहकर अनेक कारीगरो के समुदाय की सामाजिक पैदावार बन जाता है, जिनमें से प्रत्येक कारीगर उत्पादन क्रिया की सघटक आशिक क्रियाओ में से एक को और केवल एक को ही पूरा करता है। जब जर्मनी के कागज बनानेवालो के किसी शिल्पी-सघ का कोई सदस्य काम करता था, तब जो क्रियाए एक कारीगर के बारी-बारी से किये जाने वाले कामो के रूप में एक दूसरे में सविलीन हो जाती थीं, वे ही क्रियाए हालण्ड के कागज के हस्तनिर्माण में अनेक आशिक क्रियाओ का रूप धारण कर लेती ह, जिनको सहकार करने वाले बहुत से मजदूर साथ-साथ करते रहते हैं। नूरेम्बर्ग के शिल्पी-सघ का सुई बनाने वाला कारीगर ही वह आधार शिला था, जिसपर इगलण्ड के सुइयो के हस्तनिर्माण की इमारत खडी की गयी। लेकिन नूरेम्बग में जहा एक अकेला कारीगर एक के बाद दूसरी, शायद २० क्रियाओ का क्रम पूरा करता था, वहा इगलण्ड में वह समय आने में बहुत देर नहीं लगी, जब २० सुई बनाने वाले साथ-साथ तो काम करते थे, पर उनमें से हरेक इन २० क्रियाओ में से केवल एक क्रिया को ही पूरा करता था। थोडा और अनुभव प्राप्त होने पर तो इन २० क्रियाओ में से हरेक को भी छोटे छोटे भागो में बाट दिया गया और हर भाग को अलग करके एक अलग मजदूर की खास जिम्मेदारी बना दिया गया।

इसलिये, हस्तनिर्माण का उद्भव, दस्तकारियो में से इसका विकास दो तरह से हुआ है। एक ओर तो वह विविध प्रकार की कुछ ऐसी स्वतत्र दस्तकारियो के एक में जुड जाने से शुरू होता है, जिनकी स्वतन्त्रता जाती रहती है और जिनका इस हद तक विशिष्टीकरण हो जाता है कि वे किसी खास माल के उत्पादन की मात्र अनुपूरक एव आशिक क्रियाओ में परिणत होकर रह जाती हैं। दूसरी ओर, वह एक दस्तकारी के कारीगरो की सहकारिता से भी शुरू होता है। इस खास दस्तकारी को वह उसकी बहुत सी तफसीली क्रियाओ में बाट देता है और इन क्रियाओ को इस हद तक एक दूसरे से अलग और स्वतत्र कर देता है कि हर क्रिया एक खास मजदूर का विशिष्ट काय बन जाती है। इसलिये, हस्तनिर्माण एक तरफ या तो उत्पादन की किसी प्रक्रिया में श्रम का विभाजन शुरू कर देता है और या उसे और विकसित कर देता है, और, दूसरी तरफ, वह ऐसी दस्तकारियो को एक में जोड देता है, जो पहले अलग अलग थीं। लेकिन वह शुरू चाहे जहा से भी हो, उसका अतिम रूप सदा एक सा होता है, यानी वह एक ऐसा उत्पादक यत्र बन जाता है, जिसके अग मनुष्य होते ह।

हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन को सही तौर पर समझने के लिये नीचे दी गयी बातो को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। पहली बात यह है कि यहा जब उत्पादन की कोई प्रक्रिया एक दूसरे के बाद आने वाली अनेक प्रक्रियाओ में बट जाती है, तो उसका सदा यह मतलब होता है कि एक दस्तकारी बारी-बारी से सम्पन्न की जाने वाली हाथ की कुछ प्रक्रियाओ में परिणत हो जाती है। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया, वह चाहे सश्लिष्ट ढग की हो या सरल ढग की, हाथ से ही की जाती है, उसका दस्तकारी का रूप क़ायम रहता है और इसलिये वह हर अलग-

अलग मजदूर की अपने औज़ारो से काम लेने की शक्ति, निपुणता, फुर्ती और दक्षता पर निभर करती हे। आधार अब भी दस्तकारी का ही रहता है। इस सकुचित प्राविधिक आधार के कारण औद्योगिक उत्पादन की किसी भी खास प्रक्रिया का सचमुच कोई वज्ञानिक विश्लेषण करना असम्भव होता है, कारण कि अब भी यह बात आवश्यक होती है कि पैदावार जिन तफसीली प्रक्रियाओ में से गुजरती है, उनमें से हरेक को इस लायक होना चाहिये कि उसे हाथ से किया जा सके, और उनमें से हरेक प्रक्रिया को अपने ढग से एक अलग दस्तकारी बन जाने के योग्य होना चाहिये। इस तरह, चूकि उत्पादन की प्रक्रिया का आधार अब भी दस्तकार की निपुणता ही रहती हे, इसीलिये हर मजदूर को केवल एक आशिक कार्य खास तौर पर सौंप दिया जाता है और उसके बाकी जीवन के लिये उसकी श्रम शक्ति इस तफसीली कार्य को सम्पन्न करने का साधन बन जाती हे।

दूसरी बात यह है कि श्रम का यह विभाजन एक खास ढग की सहकारिता होता है, और उसकी बहुत सी उपलब्धिया सहकारिता के सामान्य स्वरूप से, न कि उसके इस विशिष्ट रूप से प्राप्त होती ह।

अनुभाग २ –
तफसीली काम करने वाला मजदूर और उसके औजार

अब यदि हम थोडे और विस्तार के साथ इस मामले पर विचार करे, तो पहले तो यह बात साफ है कि जो मजदूर अपनी सारी जिदगी एक ही सरल सा काम करता रहता है, वह अपने पूरे शरीर को उस काम के एक विशिष्टीकृत एव स्वसचालित यत्र में बदल देता है। चुनाचे, उसे यह काम पूरा करने में उस कारीगर की अपेक्षा कम समय लगता है, जो बहुत से काम बारी बारी से करता है। लेकिन वह सामूहिक मजदूर, जो हस्तनिर्माण का सजीव यत्र होता है, केवल इस प्रकार के, तफसीली काम करने वाले, विशिष्टीकृत मजदूरो का ही समूह होता है। इसलिये, स्वतत्र दस्तकारी की अपेक्षा हस्तनिर्माण एक निश्चित समय में अधिक पदावार तयार कर देता है, या यू कहिये कि उसमें श्रम की उत्पादक शक्ति बढ जाती है।[1] इसके अलावा, यह आशिक काय जब एक बार एक विशिष्ट व्यक्ति की खास जिम्मेदारी बन जाता है, तब उसमें जो तरीके इस्तेमाल किये जाते ह, उनका भी पूण विकास हो जाता है। मजदूर चूकि बार बार वही एक सरल काय करता है और उसपर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किये रहता है, इसलिये उसका अपना अनुभव उसे यह सिखा देता है कि कम से कम मेहनत करके अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कसे सम्भव है। लेकिन चूकि किसी भी एक वक्त में मजदूरो की कई पीढ़िया उपस्थित होती हैं और किसी खास वस्तु के हस्तनिर्माण में साथ मिलकर काम करती ह, इसलिये इस तरह जो प्राविधिक निपुणता प्राप्त होती है, मजदूर धधे से सम्बन्धित जो गुर सीखते ह, वे स्थायित्व

[1] 'कोई ऐसा हस्तनिमाण, जिसमें तरह तरह के काम करने होते है, जितनी अधिक अच्छी तरह विभिन्न कारीगरो में बाट दिया जायेगा, और उनको सौप दिया जायेगा वह लाज़िमी तौर पर उतने ही बेहतर ढग से होगा, उसमें उतनी ही अधिक फुर्ती दिखाई देगी और उतना ही कम वक्त तथा कम श्रम खच होगा।' (*The Advantages of the East India Trade*" ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], London 1720 पृ० ७१।)

प्राप्त कर लेते ह, सचित होते जाते ह और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते जाते ह।[1] हस्तनिर्माण, असल में, तफसीली काम करने वाले मजदूर की निपुणता को इस तरह पैदा करता है कि विभिन्न धधो में जो भेद हस्तनिर्माण के पहले ही पैदा हो गये थे और जो उसे समाज में पहले से तैयार मिले थे, उनको यह वर्कशाप के भीतर पुन पैदा कर देता है और सुनियोजित ढग से विकसित करता हुआ पराकाष्ठा पर पहुचा देता है। दूसरी ओर, एक आशिक काय का किसी एक व्यक्ति के पूरे जीवन के लिये उसका धधा बन जाना पुराने जमाने की समाज-व्यवस्थाओ की धधा को पुश्तनी बना देने की प्रवृत्ति के अनुरूप होता है, जो या तो उनको अलग-अलग वर्णों का रूप दे देती थी और या जहा कहीं कुछ खास ऐतिहासिक परिस्थितिया व्यक्ति में अपना धधा इस तरह बदलने की प्रवृत्ति पदा कर देती थीं, जो वण व्यवस्था के अनुरूप नहीं होता था, यहा उनको शिल्पी सघो में बाघ देती थी। जिस प्राकृतिक नियम के अनुसार वनस्पतियो और पशुओ का विभिन्न जातियो और प्रकारो में विभेदककरण हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियम के फलस्वरूप अलग अलग वण और शिल्पी संघ पदा हो जाते ह। अन्तर केवल यह होता है कि जब उनका विकास एक खास मजिल पर पहुच जाता है, तो वर्णों का पतृक स्वरूप और शिल्पी सघो का अनन्य रूप, समाज के एक क़ानून के रूप में स्थापित हो जाता है।[2] "उत्कृष्टता में ढाका की मलमल और चमकदार तथा टिकाऊ रगो में कारोमण्डल की दरेस तथा अन्य क्टपीस से बेहतर कपडा अभी तक कोई तैयार नहीं हो सका है। फिर भी इन कपडो के उत्पादन में न तो पूजी इस्तेमाल होती है, न मशीनें, न श्रम का विभाजन और न ही वे तरीके, जिनसे योरप के हस्तनिर्माण करने वालो को इतनी सुविधा हो जाती है। वहा तो बुनकर महज एक पृथक व्यक्ति होता है। कोई ग्राहक आडर देता है, तो वह कपडा बुनने बठ जाता है और अत्यन्त कुघड बनावट का एक ऐसा करघा इस्तेमाल करता है, जो कभी कभी तो चन्द टहनियो या लकडी के डडो को जोड-जोडकर ही बना लिया जाता है। यहा तक कि ताना लपेटने की भी उसके पास कोई तरकीब नहीं होती। इसलिये करघे को उसकी पूरी लम्बाई तक

[1] "सुगम श्रम दूसरे से मिली हुई निपुणता होती है।" (Th Hodgskin *Popular Political Economy* [टोमस हाजस्किन, "सुबोध अर्थशास्त्र"], London 1827 पृ० ४८।)

[2] "मिस्र में कलाओ का भी समुचित विकास हुआ है। कारण कि वही एक ऐसा देश है, जहा कारीगरो को नागरिको के किसी दूसरे वग के मामलो में टाग अडाने की इजाज़त नही थी, बल्कि वे केवल वही धधा करते हैं, जो कानून के अनुसार उनके गोत्र का पैतृक धधा होता है दूसरे देशो में यह देखा जाता है कि व्यवसायी लोग अपना ध्यान बहुत ज्यादा चीजो में बाट देते हैं। कभी वे खेती में हाथ आजमाते हैं, तो कभी व्यापार में हाथ डालते हैं, और कभी एक साथ दो या तीन धधो को हाथ में ले लेते हैं। स्वतत्र देशो में तो वे प्राय लोक सभाओ में ही भाग लिया करते हैं इसके विपरीत, मिस्र में यदि कोई भी कारीगर राज्य के मामलो में दखल देता है या एक साथ कई धधे करने लगता है, तो उसे सख्त सजा दी जाती है। इस प्रकार, कारीगर वहा सदा अपने-अपने धधे में लगे रहते हैं और इस बात में कोई चीज़ खलल नही डाल सकती इसके अलावा, कारीगरो का चूकि अपने बाप-दादो से अनेक नियम विरासत में मिलते हैं, इसलिये वे सदा नये नये तरीको का आविष्कार करने के लिये उत्सुक रहते हैं।" (*Diodor s von Sicilien Historische Bibliothek* पुस्तक १, अध्याय ७४ [पृ० ११७, ११८]।)

खींचकर रखना पडता है, और वह इतना ज्यादा वडा हो जाता है कि कपडा बुनने वाले की झोपडी में समा नही पाता और इस कारण बुनकर को बाहर खुले में अपना धधा करना पडता है, जहा मौसम की हर तबदीली उसके काम में वाधा वनती है।"[1] मकडी की तरह हिंदू को भी यह दक्षता केवल उस विशेष नपुण्य से प्राप्त होती है, जो पीढी दर पीढी सचित होता है और बाप से बेटे को मिलता जाता है। और फिर भी इस प्रकार के हिंदू बुनकर का काम हस्तनिर्माण करने वाले मजदूर की तुलना में बहुत पेचीदा ढग का काम होता है।

जो कारीगर एक तैयार चीज के उत्पादन के लिये आवश्यक विविध प्रकार की तमाम आशिक क्रियाओ को बारी-बारी से करता है, उसे कभी अपनी जगह बदलनी पडती है और कभी अपने औजार बदलने पडते हैं। एक क्रिया को छोडकर दूसरी क्रिया आरम्भ करने में उसके श्रम का प्रवाह बीच में रुक जाता है और उसके काम के दिन में मानो कुछ दरारें पदा हो जाती ह। जसे ही वह कारीगर पूरे दिन के लिये एक ही क्रिया से बाध दिया जाता है, वसे ही ये दरारें भर जाती ह। जिस अनुपात में उसके काम में होने वाले परिवतन कम होते जाते ह, उसी अनुपात में ये दरारे गायब होती जाती ह। उसके फलस्वरूप उत्पादक शक्ति में जो वद्धि होती है, उसका या तो यह कारण होता है कि एक निश्चित समय में पहले से ज्यादा श्रम शक्ति खच होने लगती है, — अर्थात श्रम की तीव्रता बढ जाती है, — और या उसकी यह वजह होती है कि अनुत्पादक ढग से खच होने वाली श्रम शक्ति की मात्रा कम हो जाती है। विश्रामावस्था से गति में परिवतन होने पर हर बार शक्ति का जो अतिरिक्त व्यय होता है, उसे एक बार सामा य वेग प्राप्त हो जाने के बाद श्रम की अवधि को लम्बा खींचकर पूरा कर लिया जाता है। दूसरी ओर, बराबर एक ही ढग का श्रम करते रहने से मनुष्य की तबीयत के जोश की तेजी और प्रवाह में कमी आ जाती हे, जब कि, दूसरी ओर, महज काम की तबदीली से ही उसमें ताजगी आ जाती है और उसे आनन्द प्राप्त होने लगता है।

श्रम की उत्पादकता न केवल मजदूर की निपुणता पर, बल्कि उसके औजारो की श्रेष्ठता पर भी निभर करती है। एक ही तरह के औजार, — जसे चाकू, बरमे, गिमलेट, हथौडे आदि, — अलग अलग तरह की क्रियाओ में इस्तेमाल किये जा सकते ह। और एक ही क्रिया में उसी औजार से कई तरह के काम लिये जा सकते ह। लेकिन जसे ही किसी श्रम क्रिया की विभिन्न उप क्रियाए एक दूसरे से अलग कर दी जाती ह और हर आशिक उप क्रिया तफसीली काम करने वाले मजदूर के हाथ में एक उपयुक्त एव विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेती है, वसे ही उन औजारो में, जिनसे पहले एक से अधिक तरह के काम लिये जाते थे, कुछ परिवर्तन करने जरूरी हो जाते ह। ये परिवतन किस दिशा में होंगे, यह औजार के अपरिवर्तित रूप से पदा होने वाली कठिनाइयो द्वारा निर्धारित होता है। हस्तनिर्माण की यह एक खास विशेषता है कि उसमें श्रम के औजारो में भेदकरण हो जाता है, — ऐसा भेदकरण, जिससे एक खास ढग के औजार कुछ

---

[1] "*Historical and Descriptive Account of British India etc* by Hugh Murray James Wilson etc Edinburgh 1832 ('ब्रिटिश हिंदुस्तान का ऐतिहासिक और वणनात्मक विवरण, इत्यादि', ह्यूह मरे और जेम्स विलसन इत्यादि द्वारा लिखित, एडिनबरा, १८३२), खण्ड २, पृ० ४४६। हिंदुस्तानी करघा सीधा खडा होता है, यानी ताना ऊर्ध्वाधर दिशा में खिचा रहता है।

निश्चित ढग की शक्ले हासिल कर लेते ह, जिनमें से हरेक शक्ल एक विशिष्ट प्रयोजन के अनुरूप होती है। हस्तनिर्माण की यह भी एक ख़ास विशेषता है कि उसमें इन औज़ारो का विशिष्टीकरण हो जाता है, जिससे हर ख़ास औज़ार केवल एक ख़ास तरह का तफसीली काम करने वाले मजदूर के हाथो में ही पूरी तरह इस्तेमाल हो सकता है। अकेले बिर्मिघम में ५०० प्रकार के हथौडे तैयार होते हैं, और न सिर्फ उनमें से हरेक किसी विशेष प्रक्रिया में काम आने के लिये बनाया जाता है, बल्कि अक्सर कई प्रकार के हथौडे एक ही प्रक्रिया की केवल कई अलग-अलग उपक्रियाओ में काम आते ह। हस्तनिर्माण का काल श्रम के औज़ारो को तफसीली काम करने वाले प्रत्येक मजदूर के विशिष्ट कार्य के अनुरूप ढालकर उन्हे सरल बना देता है, उनमें सुधार करता है और उनकी सख्या को बढा देता है।[1] इस प्रकार हस्तनिर्माण साथ ही मशीनो के अस्तित्व के लिये आवश्यक एक भौतिक परिस्थिति को भी तयार कर देता है, क्योकि मशीनें सरल औज़ारो का ही योग होती ह।

तफसीली काम करने वाला मजदूर और उसके औज़ार हस्तनिर्माण के सरलतम तत्व ह। आइये, अब हम हस्तनिर्माण के सम्पूर्ण रूप पर विचार करे।

अनुभाग ३ — हस्तनिर्माण के दो बुनियादी रूप विविध हस्तनिर्माण और क्रमिक हस्तनिर्माण

हस्तनिर्माण के सगठन के दो बुनियादी रूप होते ह, जो कभी कभी एक दूसरे में मिल जाने के बावजूद मूलतया अलग-अलग ढग के रहते ह। इतना ही नहीं, वे बाद को हस्तनिर्माण के मशीनो से चलने वाले आधुनिक उद्योगो में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया में दो बिल्कुल विशिष्ट भूमिकाएं अदा करते ह। यह दोहरा स्वरूप उत्पादित वस्तु के रूप से उत्पन्न होता है। यह वस्तु या तो स्वतत्र रूप से तयार की गयी कुछ आशिक पदार्थो को महज यान्त्रिक ढग से जोड देने का नतीजा होती है और या उसका सम्पूरित रूप अनेक सम्बद्ध क्रियाओ और दक्ष प्रयोगो के एक क्रम का फल होता है।

उदाहरण के लिये, रेल के इजन में ५,००० से अधिक स्वतत्र पुर्जे होते ह। परन्तु उसको प्रथम प्रकार के वास्तविक हस्तनिर्माण का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योकि वह आधुनिक

---

[1] डार्विन ने जातियो की उत्पत्ति सम्बधी अपनी युगान्तरकारी रचना मे पौधो और पशुओ की प्राकृतिक इन्द्रियो की चर्चा करते हुए कहा है "जब तक एक ही इन्द्रिय का कई प्रकार के काम करने पडते हैं, तब तक उसकी परिवर्तनशीलता का एक आधार सम्भवतया इस बात में मिल सकता है कि केवल एक खास उद्देश्य के लिये काम आने वाली इन्द्रिया की तुलना मे इस स्थिति में प्राकृतिक वरण हर छोटे रूप परिवर्तन को सुरक्षित रखने या दबा देने में कम एहतियात बरतता है। चुनांचे, जिन चाकुओ मे विभिन्न प्रकार की सभी चीजे काटी जा सकती ह, वे मोटे तौर पर एक ही शक्ल के हो सकते हैं, पर जो औज़ार केवल एक ही तरह के काम मे आ सकता है, उसके हर अलग अलग ढग के इस्तेमाल के लिये उसकी एक अलग शक्ल का होना जरूरी होता है।" (Charles Darwin *The Origin of Species etc* London 1859 पृ० १४९)

ढग के मशीनो से चलने वाले उद्योग की पदावार होता है। परन्तु घडी से ऐसे उदाहरण का काम लिया जा सकता है। विलियम पेटी ने हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन को स्पष्ट करने के लिये उसका इस्तेमाल किया था। पहले घडी नूरेम्बग के किसी कारीगर की व्यक्तिगत पदावार हुआ करती थी, पर अब वह तफसीली काम करने वाले मजदूरो की एक बहुत बडी सख्या की सामाजिक पदावार बन गयी है,—जसे बडी कमानी बनाने वाले, घडी का चेहरा बनाने वाले, चक्करदार कमानी बनाने वाले, मणिया लगाने के लिये सूराख करने वाले, रबी-लीवर बनाने वाले, घडी की सुइया बनाने वाले, घडी का केस बनाने वाले, पेच बनाने वाले, मुलम्मा चढाने वाले और फिर इनके अनेक उपवग होते ह, जसे पहिये बनाने वाले (पीतल के पहिये और इस्पात के पहिये बनाने वाले अलग अलग), पिन बनाने वाले, हरकत करने वाले पुर्जों को बनाने वाले, acheveur de pignon (वह कारीगर, जो धुरी पर पहिये लगाता है, पहलो को पालिश करता है, इत्यादि), कीलक बनाने वाले, planteur de finissage (वह कारीगर, जो पहिये और कमानिया लगाता है), finisseur de barillet (वह कारीगर, जो पहियो में दात बनाता है, सही आकार के सूराख बनाता है, इत्यादि), एस्केपमेंट—अथवा चालक शक्ति को नियामक से जोडने का यत्र—बनाने वाले कारीगर, सिलिण्डर-नुमा एस्केपमेंट के लिये सिलिण्डर बनाने वाले, एस्केपमेंट के पहिये बनाने वाले, घडी की गति का नियमन करने वाला चक्र बनाने वाले, raquette (घडी का नियमन करने वाला यत्र) बनाने वाले, planteur d echappement (असली एस्केपमेंट बनाने वाले), उसके बाद आते ह repasseur de barillet (वह कारीगर, जो कमानी के लिये बक्स आदि तैयार करता है), इस्पात पर पालिश करने वाले, पहियो पर पालिश करने वाले, पेचो पर पालिश करने वाले, अक अकित करने वाले, घडी के चेहरे पर मीनाकारी करने वाले (जो ताम्बे पर मीना गलाकर लगाते ह), fabricant de pendants (वह छल्ला बनाने वाला कारीगर, जिससे केस टागा जाता है), finisseur de charniere (जो ढक्कन में पीतल का कुलाबा आदि लगाता है), faiseur de secret (जो उन कमानियो को लगाता है, जिनसे ढक्कन खुलता है), graveur (नक्श खोदने वाला), ciseleur (तक्षण करने वाला), polisseur de boite (घडी के केस पर पालिश करने वाला), इत्यादि, इत्यादि, और सब के अन्त में repasseur, जो पूरी घडी को जोडकर उसे चालू हालत में सौंप देता है। घडी के केवल कुछ ही हिस्से कई आदमियो के हाथो में से गुजरते ह। और ये तमाम membra disjecta (अलग अलग टुकडे) पहली बार केवल उस हाथ में एक जगह इकट्ठा होते ह, जो उन्हें जोडकर एक यान्त्रिक इकाई तयार कर देता है। इस प्रकार की अन्य समस्त तयार वस्तुओ की तरह इस उदाहरण में भी तयार वस्तु तथा उसके नाना प्रकार के अनेक तत्वो के बीच जो बाह्य सम्बध होता है, उसके फलस्वरूप तफसीली काम करने वाले मजदूर एक वर्कशाप में इकट्ठा किये जाते ह या नहीं, यह केवल सयोग पर निभर करता है। इसके अलावा, तफसीली काम बहुत सी स्वतन्त्र दस्तकारियो की तरह किये जा सकते ह, जसा कि वौद तथा न्यूफशतेल के कैण्टनो में होता है, जब कि जेनेवा में घडियो की बडी बडी हस्तनिर्माणशालाए हैं, जिनमें तफसीली काम करने वाले मजदूर किसी एक पूजीपति के नियन्त्रण में प्रत्यक्ष रूप से सहकार करते ह। पर घडी का चेहरा, कमानिया और केस इन हस्तनिर्माण शालाओ में भी बहुत कम ही बनते ह। मजदूरो का केन्द्रीकरण करके एक कारखानेदार के रूप में व्यवसाय चलाना घडियो के धधे में केवल कुछ असाधारण परिस्थितियो में ही लाभदायक होता है। इसका कारण यह है कि जो मजदूर अपने घर पर काम करना चाहते ह, उनके बीच ज्यादा

जोर से होड चलती है, और काम के विविध क्रियाओ में बटे रहने के कारण सामूहिक श्रम के औजारो का उपयोग करने की बहुत कम सम्भावना रह जाती है, और पूजीपति काम को छितराकर वकशाप पर होने वाले खच को बचा लेता है, इत्यादि, इत्यादि।[1] पर इन सब बातो के बावजूद तफसीली काम करने वाला जो मजदूर घर पर काम करते हुए भी किसी पूजीपति (कारखानेदार या etablisseur के लिये काम करता है, उसकी स्थिति उस स्वतन्त्र कारीगर की स्थिति से बहुत भिन्न होती है, जो खुद अपने गाहको के लिये काम करता है।"

हस्तनिर्माण का दूसरा प्रकार, जो उसका विकसित रूप होता है, ऐसी वस्तुए तयार करता है, जो विकास की परस्पर सम्बद्ध अवस्थाओ में से गुजरती हैं और जिनको एक के बाद दूसरी अनेक क्रियाओ के क्रम में से निकलना पडता है। मिसाल के लिये, सुइयो के हस्तनिर्माण में तार तफसीली काम करने वाले ७२ और कभी-कभी तो ९२ विभिन्न मजदूरो के हाथो तक से गुजरता है।

इस तरह का हस्तनिर्माण एक बार शुरू हो जाने पर जिस हद तक बिखरी हुई दस्तकारियो को जोड देता है, उस हद तक यह उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओ को एक दूसरे से अलग करने वाली दूरी को कम कर देता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने में जो समय लगता था, वह कम हो जाता है, और इस अवस्था परिवतन में जो श्रम लगता था, वह भी कम हो

---

[1] १८५४ में जेनेवा मे ८०,००० घडिया तैयार हुई थी, जो न्यूफशैतेल के कैण्टन में होने वाले उत्पादन का पाचवा हिस्सा भी नही होती। अकेले ला शो द फाद मे, जिसे घडियो की एक बहुत बडी हस्तनिर्माणशाला समझा जा सकता है, हर साल जेनेवा से दुगुनी घडिया बनती हैं। १८५० से १८६१ तक जेनेवा में ७,२०,००० घडिया तैयार हुई। देखिये *Reports by H M s Secretaries of Embassy and Legation on the Manufactures Commerce &c* ('हस्तनिर्माण, वाणिज्य आदि के विषय में बादशाह सलामत के राजदूतावासो तथा दूतावासो के मन्त्रियो की रिपोर्टें') के १८६३ के अक ६ में *"Report from Geneva on the Watch Trade"* ('घडियो के व्यवसाय के बारे में जेनेवा की रिपोर्ट')। जब किन्ही ऐसी वस्तुओ का उत्पादन, जो केवल इकट्ठा जोड दिये जाने वाले हिस्सो से मिलकर बनती है, अलग अलग क्रियाओ में बाट दिया जाता है, तब इन क्रियाओ मे कोई सम्बध न होने के कारण ही इस प्रकार के हस्तनिर्माण को मशीनो से चलने वाले आधुनिक उद्योग की शाखा में रूपान्तरित कर देना बहुत कठिन हो जाता है। पर घडियो के साथ तो इसके अलावा दो कठिनाइया और भी है। एक तो यह कि उनके पुर्जे बहुत छोटे और नाजुक होते हैं। दूसरी यह कि घडिया विलास की वस्तुए समझी जाती हैं, इसलिये वे नाना प्रकार की होती हैं। यहा तक कि लन्दन की सब से अच्छी कम्पनियो में साल भर में मुश्किल से एक दजन घडिया एक प्रकार की बनती हैं। मैसस वैचेरोन एण्ड कास्टेटिन की घडियो की फैक्टरी मे, जहा मशीनो का सफलतापूवक प्रयोग किया गया है, आकार तथा आकृति की दृष्टि से अधिक से अधिक तीन या चार प्रकार की घडिया बनायी जाती हैं।

"घडी बनाना विविध प्रकार के हस्तनिर्माण का प्रतिनिधि उदाहरण है। दस्तकारियो के उप-विभाजन के फलस्वरूप श्रम के औजारो का जो उपयुक्त भेदकरण तथा विशिष्टीकरण हो जाता है, उसके बहुत यथातथ्य अध्ययन के लिये घडी बनाने के व्यवसाय में बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

जाता है।[1] दस्तकारी के मुकाबले में उसकी उत्पादक शक्ति बढ जाती है, और यह वृद्धि हस्तनिर्माण के सामान्य सहकारी स्वरूप के कारण होती है। दूसरी ओर, श्रम विभाजन के लिये, जो हस्तनिर्माण का विशिष्ट सिद्धान्त है, यह आवश्यक होता है कि उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरे से अलग कर दिया जाये और एक दूसरे से स्वतन्त्र बना दिया जाये। पृथक कार्यों के बीच सम्बन्ध जोडने और बनाये रखने के लिये वस्तु का एक हाथ से दूसरे हाथ और एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया तक निरन्तर लाना-ले जाना जरूरी हो जाता है। मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग की दृष्टि से यह आवश्यकता एक विशिष्ट एव महगी बुराई के रूप में सामने आती है और वह भी ऐसी बुराई के रूप में, जो हस्तनिर्माण के सिद्धान्त में निहित है।[2]

यदि हम अपना ध्यान कच्चे माल की किसी खास राशि पर ही केन्द्रित करे, जैसे कि यदि हम कागज के हस्तनिर्माण में रद्दी कपडो की या सुइयो के हस्तनिर्माण में तार की किसी खास राशि की ओर ही ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि उसे उत्पादन क्रिया के पूरा होने के पहले तफसीली काम करने वाले अनेक मजदूरो के हाथो और क्रमश अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पडता है। दूसरी ओर, यदि हम पूरी वर्कशाप पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि कच्चा माल एक ही समय पर उत्पादन की सभी अवस्थाओं में से गुजर रहा है। सामूहिक मजदूर अपने बहुत से हाथों में से कुछ में एक तरह के औजार लेकर तार खींचता है, तो उसके साथ साथ कुछ और हाथो में भिन्न प्रकार के औजार लेकर वह तार को सीधा करता है, कुछ और हाथों से उसे काटता है, अन्य हाथो से उसकी नोक बनाता है, इत्यादि, इत्यादि। अलग अलग तफसीली क्रियाए, जो पहले समय की दृष्टि से क्रमानुसार सम्पन्न होती थीं, अब एक साथ चलती हैं और स्थान की दृष्टि से साथ साथ सम्पन्न होने वाली क्रियाए बन जाती हैं। इसलिये अब उतने ही समय में तैयार मालो की पहले से अधिक प्रमात्रा का उत्पादन होता है।[3] यह सच है कि तफसीली क्रियाओं का इस तरह एक साथ चलना पूरी क्रिया के सामान्य सहकारी स्वरूप का परिणाम होता है। परन्तु सहकारिता के लिये आवश्यक परिस्थितियां हस्तनिर्माण को केवल पहले से तैयार ही नहीं

---

[1] "जब लोग एक दूसरे के इतने नजदीक रहते हैं, तो लाना-ले जाना लाजिमी तौर पर कम हो जाता है।" (*The Advantages of the East India Trade* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], पृ० १०६।)

[2] 'हाथ के श्रम का उपयोग करने के फलस्वरूप हस्तनिर्माण की विभिन्न अवस्थाओं के पृथक हो जाने से उत्पादन की लागत बहुत ज्यादा बढ जाती है। नुकसान मुख्यतया केवल वस्तुओं को एक क्रिया से हटाकर दूसरी क्रिया तक ले जाने के कारण ही होता है। (*The Industry of Nations* ['राष्ट्रों का उद्योग'], London 1855 भाग २, पृ० २००।)

[3] "यह (श्रम का विभाजन) काम को उसकी विभिन्न शाखाओं में बाटकर कुछ समय की भी बचत कर देता है, क्योंकि ये तमाम शाखाए तब एक ही समय में कार्यान्वित की जा सकती हैं उन तमाम विभिन्न क्रियाओं का, जिनको पहले एक व्यक्ति एक एक करके पूरा करता था, अब एक साथ पूरा किया जाता है जिसका नतीजा यह होता है कि पहले जितने समय में केवल एक पिन या तो काटा जाता था और या उसकी नोक बनायी जाती थी अब उतने समय में बहुत सारे पिन पूरी तरह बनाकर तैयार किये जा सकते हैं।" (Dugold Stewart उप० पु०, पृ० ३१९।)

मिल जातीं, दस्तकारी के श्रम का उपविभाजन करके कुछ हद तक वह खुद भी ऐसी परिस्थितिया पैदा कर देता है। दूसरी ओर, हस्तनिर्माण महज हर मजदूर को तफसील के केवल एक आशिक काय से जोडकर ही श्रम क्रिया का यह सामाजिक सगठन सम्पन कर पाता है।

तफसीली काम करने वाले हर मजदूर की आशिक पदावार चूकि एक ही तयार वस्तु के विकास की एक विशेष अवस्था मात्र होती है, इसलिये हर मजदूर या मजदूरो का हरेक दल किसी अय मजदूर या अय दल के लिये कच्चा माल तैयार करता है। एक के श्रम का फल दूसरे के श्रम का प्रस्थान बिदु होता है। इसलिये एक मजदूर प्रत्यक्ष रूप से दूसरे को रोजी देता है। अभीष्ट प्रभाव पदा करने के लिये हर आशिक क्रिया के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक है, यह अनुभव से मालूम हो जाता है, और पूरे हस्तनिर्माण का यत्र इस मायता पर आधारित होता है कि एक निश्चित समय में एक निश्चित परिणाम हासिल किया जायेगा। इस मायता के आधार पर ही नाना प्रकार की अनुपूरक श्रम क्रियाए एक ही समय में, बिना रुके और साथ-साथ चलती रह सकती ह। यह बात स्पष्ट है कि ये क्रियाए और इसलिये उनको सम्पन करने वाले मजदूर चूकि प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर निभर रहते ह, इसलिये उनमें से हरेक इसके लिये मजबूर होता है कि अपने काम पर आवश्यक समय से अधिक न खच करे, और इस तरह यहा श्रम की एक ऐसी निरतरता, एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था[1] और यहा तक कि एक ऐसी तीव्रता पदा हो जाती है, जसी स्वतत्र दस्तकारी में या यहा तक कि सरल सहकारिता में भी नहीं पायी जाती। नियम है कि किसी माल पर जो श्रम काल खच किया जाये, वह उसके उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम काल से अधिक नहीं होना चाहिये। मालो के उत्पादन में साधारण तौर पर ऐसा मालूम होता है कि यह नियम केवल प्रतियोगिता के प्रभाव से ही स्थापित हो जाता है। कारण कि यदि हम बहुत सतही ढग से अपनी बात कहे, तो हर उत्पादक अपना माल बाजार-भाव पर बेचने के लिये मजबूर होता है। इसके विपरीत, हस्तनिर्माण में एक निश्चित समय में पैदावार की एक निश्चित प्रमात्रा तैयार कर देना स्वय उत्पादन की क्रिया का एक प्राविधिक नियम होता है।*

लेकिन अलग अलग क्रियाओ में अलग-अलग समय लगता है और इसलिये उनके द्वारा समान समय में आशिक पदावार की असमान मात्राए तयार होती ह। अत, यदि एक मजदूर को बार-बार एक ही क्रिया सम्पन करनी है, तो हरेक क्रिया के लिये अलग अलग सख्या में मजदूर होने चाहिये। मिसाल के लिये, टाइप के हस्तनिर्माण में एक घिसने वाले पर चार ढालने वाले और दो तोडने वाले होते ह ढालने वाला फी घण्टा २,००० टाइप ढालता है, तोडने वाला ४,००० टाइप तोडता है और घिसने वाला ८,००० टाइप पर पालिश करता है। यहा पर

---

[1] "प्रत्येक हस्तनिर्माण में जितने अधिक प्रकार के कारीगर काम करते है प्रत्येक काम उतनी ही अधिक व्यवस्था और नियमितता से होना है, और हर काम को लाजिमी तौर पर कम समय मे पूरा कर देना पडता है और पहले से कम श्रम खच होता है।" (*The Advantages* &c ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], पृ० ६८।)

* पर, इसके बावजूद, उद्योग की बहुत सी शाखाओ मे हस्तनिर्माण-प्रणाली के रहते हुए भी यह बात बडे ही अपूण ढग मे देखने मे आती है, क्योकि उसे निश्चित रूप से यह मालूम नही होता कि उत्पादन की क्रिया की सामाय रासायनिक एव भौतिक परिस्थितिया पर कैसे नियत्रण रखा जाये।

फिर हम सहकारिता के सिद्धान्त को उसके सरलतम रूप में देखते है, यानी एक ही चीज़ करने वाले बहुत से ग्रादमियो से एक साथ काम लिया जाता है। ग्रतर केवल यह है कि ग्रब यह सिद्धान्त एक समन्वित सम्बध की ग्रभिव्यक्ति है। हस्तनिर्माण में जैसा श्रम विभाजन कार्यान्वित होता है, वह न केवल सामाजिक एव सामूहिक मजदूर के गुणात्मक दृष्टि से भिन्न भागो को सरल बनाता है ग्रौर उनकी सख्या को बढा देता है, बल्कि वह एक ऐसा निश्चित गणितीय सम्बध ग्रथवा ग्रनुपात भी पैदा कर देता है, जो इन भागो की परिमाणात्मक सीमा का नियमन करता है,—यानी वह हर तफसीली काम के लिये मजदूरो की तुलनात्मक सख्या, ग्रथवा मजदूरो के दल का तुलनात्मक ग्राकार, निश्चित कर देता है। सामाजिक श्रम क्रिया के गुणात्मक उप-विभाजन के साथ साथ वह इस क्रिया के लिये एक परिमाणात्मक नियम तथा ग्रनुपातिता का भी विकास कर देता है।

जब एक बार प्रयोग के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि किसी खास पैमाने पर उत्पादन करते हुए विभिन्न दलो में तफसीली काम करने वाले मजदूरो की सख्या का क्या सही ग्रनुपात होगा, तब केवल प्रत्येक विशिष्ट दल के किसी गुणज का प्रयोग करके ही इस पमाने को बढाया जा सकता है।[1] ऊपर से यह बात भी है कि कुछ खास तरह के कामो को वही व्यक्ति जितनी ग्रच्छी तरह छोटे पमाने पर करता है, उतनी ही ग्रच्छी तरह बडे पमाने पर कर सकता है। इसकी मिसाले है देख-रेख करने का श्रम, ग्राशिक पदावार को एक ग्रवस्था से दूसरी ग्रवस्था तक लाना—ले जाना, इत्यादि। इस प्रकार के कामो को ग्रलग ग्रलग कर देना ग्रौर उनको किसी खास मजदूर को सौंप देना उस समय तक लाभदायक सिद्ध नहीं होता, जब तक कि इसके पहले काम में लगे हुए मजदूरो की सख्या में वद्धि नहीं हो जाती। पर इस वृद्धि का प्रत्येक दल पर सानुपातिक प्रभाव पडना चाहिये।

मजदूरो का वह दल, जिसे ग्रौरो से ग्रलग करके कोई खास तफसीली काम सौंप दिया गया है, सदृश तत्वो से मिलकर बना होता है, ग्रौर वह खुद पूरे यन्त्र का एक सघटक भाग होता है। किन्तु बहुत सी हस्तनिर्माणशालाग्रो में यह दल स्वय ही श्रम का एक सगठित निकाय होता है, ग्रौर पूरा यन्त्र ऐसे प्राथमिक सघटनो के बार बार दोहराये जाने ग्रथवा गुणन का फल होता है। मिसाल के लिये काच की बोतलो के हस्तनिर्माण को लीजिये। उसे तीन बुनियादी तौर पर भिन्न ग्रवस्थाग्रो में बाटा जा सकता है। पहली प्रारम्भिक ग्रवस्था होती है, जिसमें काच के सघटको को तैयार किया जाता है,—रेत ग्रौर चूने ग्रादि को मिलाया जाता हे,—ग्रौर उनको गलाकर काच की एक तरल राशि तयार की जाती है।[2] इस पहली ग्रवस्था में—ग्रौर साथ ही

---

[1] "जब (प्रत्येक हस्तनिर्माणशाला की पैदावार के विशिष्ट स्वरूप के ग्राधार पर) यह पता लगा लिया जाता है कि उसे कितनी क्रियाग्रो मे बाट देना सबसे ग्रधिक लाभदायक होगा, तथा काम पर लगाये जाने वाले व्यक्तियो की सख्या भी मालूम हो जाती है, तब ग्रन्य ऐसी तमाम हस्तनिर्माणशालाए, जो इस सख्या के किसी प्रत्यक्ष गुणज से काम नही लेती, ज्यादा लागत लगाकर वही वस्तु तैयार करेगी इस तरह हस्तनिर्माणशालाग्रो के ग्राकार को बडा करने का एक कारण पैदा हो जाता है।" (C Babbage *On the Economy of Machinery* [सी० बबेज, 'मशीनो के ग्रथशास्त्र के विषय में'], पहला सस्करण, Lordon 1832 ग्रध्याय २१, पृ० १७२-१७३।)

[2] इगलैण्ड मे काच को गलाने की भट्ठी काच की उस भट्ठी से ग्रलग होती है, जिसमें काच से बोतल बनायी जाती हैं। बेल्जियम मे वही भट्ठी दोनो काम देती है।

बोतलों को सुखाने वाली भट्ठी में से निकालने, छांटने और पक करने आदि की अंतिम अवस्था में भी – तफसीली काम करने वाले बहुत से मजदूरों से काम लिया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में यह अवस्था आती है, जिसे सचमुच काच को गलाने की अवस्था का नाम दिया जा सकता है और जिसमें उस तरल राशि से बोतलें बनायी जाती हैं। भट्ठी के हर मुंह पर एक दल काम करता है, जिसे "hole" ("सूराख") कहते हैं। उसमें एक bottle maker (बोतल बनानेवाला) या finisher (फिनिश करनेवाला) होता है, एक blower (फुलानेवाला), एक gatherer (इकट्ठा करनेवाला), एक putter up (रखनेवाला) या whetter off (घिसनेवाला) और एक taker in (ले जानेवाला) होता है। तफसीली काम करने वाले ये पांच मजदूर एक ऐसे काम-रत संघटन की पांच विशेष इंद्रियों के समान होते हैं, जो केवल एक इकाई के रूप में ही काम करता है और इसलिये जो केवल पांचों आदमियों के प्रत्यक्ष सहकार द्वारा ही कार्य कर सकता है। उसका यदि एक भी सदस्य अनुपस्थित हो, तो पूरे संघटन को जैसे लकवा मार जाता है। किंतु काच की एक भट्ठी के कई मुंह होते हैं (इंगलैण्ड में एक भट्ठी के ४ से ६ मुंह तक होते हैं), जिनमें से हरेक में काच गलाने का एक मिट्टी का बर्तन होता है, जिसमें गला हुआ काच भरा रहता है, और हरेक मुंह पर इसी प्रकार का पांच मजदूरों का एक दल काम करता है। प्रत्येक दल का संगठन श्रम विभाजन पर आधारित होता है, मगर अलग अलग दलों के बीच सरल सहकारिता का सम्बंध होता है, यह सहकारिता भट्ठी नामक उत्पादन के एक साधन के सामूहिक उपयोग द्वारा उसका अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग कराती है। इस प्रकार की एक भट्ठी, मय अपने ४-६ दलों के, एक काच घर कहलाती है, और काच की एक हस्तनिर्माणशाला में ऐसे कई काच घर और प्रारम्भिक तथा अंतिम अवस्थाओं के लिये आवश्यक उपकरण तथा मजदूर होते हैं।

अंत में, जिस प्रकार हस्तनिर्माण कुछ हद तक विविध प्रकार की दस्तकारियों के एक में मिल जाने से शुरू होता है, इसी प्रकार वह विकसित होकर विविध प्रकार के हस्तनिर्माणों के योग में भी बदल जाता है। उदाहरण के लिये, इंगलैण्ड के अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर काच का हस्तनिर्माण करने वाले काच गलाने के मिट्टी के बर्तन अपने लिये खुद तैयार करते हैं, क्योंकि काच बनाने की क्रिया में उनकी सफलता या असफलता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि ये बर्तन कितने अच्छे हैं। यहां उत्पादन के एक साधन का हस्तनिर्माण भी पैदावार के हस्तनिर्माण के साथ जुड़ जाता है। दूसरी ओर, पैदावार का हस्तनिर्माण कुछ ऐसे अन्य हस्तनिर्माणों के साथ जोड़ा जा सकता है, जिनके लिये यह पैदावार कच्चे माल का काम करती है, या जिनकी पैदावार के साथ खुद इस पैदावार को बाद में मिला दिया जाता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि सीसे काच का हस्तनिर्माण काच काटने तथा पीतल ढालने के हस्तनिर्माण के साथ जोड़ दिया जाता है, – पीतल ढालने के साथ इसलिये कि काच की बनी विभिन्न वस्तुओं के लिये धातु के चौखटों की आवश्यकता होती है। इस तरह जो विभिन्न प्रकार के हस्तनिर्माण एक दूसरे के साथ जोड़ दिये जाते हैं, वे एक अपेक्षाकृत बड़े हस्तनिर्माण के कमोबेश अलग अलग विभाग बन जाते हैं, परन्तु साथ ही वे स्वतंत्र क्रियायें रहते हैं, जिनमें से हरेक का अपना अलग ढंग का श्रम विभाजन होता है। हस्तनिर्माणों के इस प्रकार के योग से जो बहुत तरह का लाभ होता है, उसके बावजूद यह चीज खुद अपनी बुनियाद पर विकसित होकर एक पूर्ण प्राविधिक व्यवस्था कभी नहीं बन पाती। यह केवल तभी होता है, जब वह मशीनों से चलने वाले उद्योग में परिणत हो जाती है।

हस्तनिर्माण के काल के शुरू में इस सिद्धांत की स्थापना हुई और उसे मान्यता प्राप्त हुई थी कि मालो के उत्पादन में आवश्यक श्रम-काल को कम करने की कोशिश करनी चाहिये,[1] और खास तौर पर कुछ सरल ढंग की प्रारम्भिक क्रियाओ के लिये, जिनको बडे पैमाने पर सम्पन्न करना आवश्यक होता है और जिनमें बहुत ताक़त इस्तेमाल करने की जरूरत पडती है, जहा तहा मशीनो का इस्तेमाल शुरू हो गया था। उदाहरण के लिये, कागज के हस्तनिर्माण के प्रारम्भिक काल में रद्दी चियडो के कागज की मिलो के द्वारा टुकडे किये जाते थे, और धातु के कारखानो में खनिज कूटने का काम कूटने की मशीनो से लिया जाता था।[2] और रोमन साम्राज्य ने तो पन चक्की के रूप में दुनिया को सभी प्रकार की मशीनो का प्राथमिक रूप दे दिया था।[3]

दस्तकारी के युग से हमें कुतुबनुमा, बारूद, टाइप की छपाई और अपने आप चलने वाली घडी के महान आविष्कार विरासत में मिले हैं। लेकिन मोटे तौर पर उस युग में मशीनो ने वह गौण भूमिका ही अदा की थी, जो ऐडम स्मिथ ने श्रम विभाजन की तुलना में उनके लिये नियत की है।[4] १७ वीं सदी में मशीनो का जो इक्का-दुक्का इस्तेमाल होने लगा, उसका बहुत ही भारी महत्व था, क्योंकि उससे उस काल के महान गणितज्ञो को यांत्रिकी के विज्ञान के सृजन की प्रेरणा एव व्यावहारिक आधार प्राप्त हुए थे।

तफसीली काम करने वाले अनेक मजदूरो के योग से जो सामूहिक मजदूर तयार होता

---

[1] इसके उदाहरण डब्लयू० पेटी, जान बैलेस तथा एण्ड्रयू यारण्टन की रचनाओ मे, *The Advantages of the East India Trade* ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ') मे, और यदि अन्य लोगो का जिक्र न भी किया जाये, तो जे० वैण्डरलिण्ट की रचना मे देखे जा सकते है।

[2] १६ वी शताब्दी के अन्तिम दिनो मे भी फ्रास मे खनिज को कूटने और धोने के लिये खरल और छलनी इस्तेमाल की जाती थी।

[3] आटा पीसने की मिल के इतिहास मे मशीनो के विकास के पूरे इतिहास की रूपरेखा मिल जाती है। इगलैण्ड मे फैक्टरी आज भी *mill* ("चक्की") कहलाती है। वर्तमान शताब्दी के पहले दशक की जर्मन भाषा की औद्योगिक पुस्तको में न केवल प्रकृति की शक्तियो से चलने वाली तमाम मशीनो के लिये, बल्कि उन तमाम हस्तनिर्माणशालाओ के लिये भी, जिनमे मशीनो के ढग के यत्र इस्तेमाल किये जाते हैं, mühle ("चक्की") शब्द का प्रयोग किया जाता था।

[4] जैसा कि इस रचना की चौथी पुस्तक मे हमे और विस्तार के साथ मालूम होगा, श्रम विभाजन के विषय मे ऐडम स्मिथ ने कोई भी नयी प्रस्थापना पेश नही की है। परन्तु जो बात उनको हस्तनिर्माण के युग का सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री बना देती है, वह यह है कि वह श्रम विभाजन पर निरन्तर जोर देते रहते है। मशीनो के लिये उन्होने जो गौण भूमिका नियत की है, उसके कारण मशीनो से चलने वाले आधुनिक उद्योग के शुरू के दिनो मे लौडेरडेल और बाद के एक काल मे उरे को उनका खण्डन करने का अवसर मिला। ऐडम स्मिथ ने यह गलती भी की है कि श्रम के औजारो के उस भेदकरण का, जिसमे खुद तफसीली काम करने वाले मजदूर भी सक्रिय भाग लेते है, उन्होने मशीनो के आविष्कार के साथ गड्ड मड्ड कर दिया है, जब कि असल मे मशीनो के आविष्कार मे हस्तनिर्माणशालाओ के मजदूर भाग नही लेते, बल्कि विद्वान लोग, दस्तकार और यहा तक कि किसान (ब्रिण्डले) भाग लेते है।

है, यह एक ऐसा यत्र है, जो हस्तनिर्माण के काल की एक खास विशेषता है। किसी माल का उत्पादक बारी-बारी से जो विविध प्रकार की क्रियाए सम्पन्न करता है श्रौर जो उत्पादन के दौरान में एक दूसरे में मिलकर एक हो जाती ह, वे उत्पादक से अनेक तरह की मागें करती ह। एक क्रिया में उसे अधिक शक्ति खर्च करनी पडती है, दूसरी में अधिक निपुणता की आवश्यकता होती है श्रौर किसी अन्य क्रिया में उसे अधिक ध्यान से काम करना पडता है। श्रौर किसी एक व्यक्ति में ये सारे गुण समान मात्रा में नहीं होते। जब हस्तनिर्माण एक बार विभिन्न क्रियाओं को अलग करके एक दूसरे से स्वतत्र एव पृथक कर देता है, तो मजदूर भी अपने सबसे प्रमुख गुणो के आधार पर अलग अलग किस्मो श्रौर दलो में बाट दिये जाते हैं। अब यदि एक श्रोर उनके स्वाभाविक गुणों से वह बुनियाद तैयार होती है, जिसपर श्रम का विभाजन खडा किया जाता है, तो, दूसरी श्रोर, जब हस्तनिर्माण एक बार शुरू हो जाता है, तो वह खुद मजदूरो में कुछ ऐसी नयी शक्तियो को विकसित कर देता है, जो अपने स्वभाव से ही केवल कुछ सीमित श्रौर खास ढग के कामो के लिये उपयुक्त होती ह। अब सामूहिक मजदूर के पास वे सारे गुण समान रूप से श्रेष्ठतम मात्रा में मौजूद होते ह, जिनकी उत्पादन के लिये आवश्यकता है, श्रौर यह अपनी इद्रियो से, यानी विशिष्ट मजदूरो अथवा मजदूरो के विशिष्ट दलो से, केवल उनके खास काम कराके इन तमाम को अधिक से अधिक मितव्ययिता के साथ खर्च करता है।[1] तफसीली काम करने वाले मजदूर जब किसी सामूहिक मजदूर का भाग हो जाता है, तो उसका एकागीपन श्रौर उसके दोष उसके गुण बन जाते ह।[2] केवल एक ही चीज करने की आदत उसे एक ऐसे श्रौजार में बदल देती है, जो कभी खता नहीं खाता, श्रौर पूरे यत्र के साथ उसका जो सम्बध होता है, यह उसे मशीन के पुर्जों की नियमितता के साथ काम करने के लिये विवश कर देता है।[3]

सामूहिक मजदूर को चूकि सरल श्रौर जटिल, भारी श्रौर हल्के, दोनो प्रकार के काम करने होते ह, इसलिये उसकी इद्रिया में, उसकी वैयक्तिक श्रम शक्तियो में, अलग अलग

---

[1] "कारखानेदार काम का अलग-अलग क्रियाओ म बाट देता है, जिनमे से हरक के लिये अलग अलग मात्रा मे निपुणता की या शक्ति की आवश्यकता होती है। श्रौर तब वह निपुणता तथा शक्ति दोनो की ठीक वह मात्रा खरीद सकता है, जिसकी प्रत्येक क्रिया के लिये आवश्यकता है। इसके मुकाबले में, यदि पूरा काम एक मजदूर को करना पडे, तो उस एक व्यक्ति मे इतनी निपुणता होनी चाहिये कि वह इस वस्तु का उत्पादन जिन क्रियाओ मे बटा हुआ है, उनमे से सबसे अधिक जटिल क्रिया को कर सके, श्रौर इतना बल होना चाहिये कि वह उनमे से सबसे अधिक श्रमसाध्य क्रिया को भी सम्पन्न कर सके।" (Ch Babbage, उप० पु०, अध्याय १६।)

[2] उदाहरण के लिये, अक्सर मजदूरा की किन्ही खास मास पेशिया का असाधारण विकास हो जाता है, हड्डिया मुड जाती है, इत्यादि।

[3] एक जाच कमिश्नर ने यह प्रश्न पूछा था कि नौजवानो को किस तरह बराबर काम म लगाकर रखा जाता है। काच की एक हस्तनिर्माणशाला के जनरल मैनेजर मि० विलियम माशल ने इसका यह बिलकुल सही उत्तर दिया था कि "वे अपने काम के प्रति लापरवाही नही दिखा सकते। एक बार काम शुरू कर देने के बाद उनको बराबर काम करते रहना पडता है। वे तो बिल्कुल मशीन के पुर्जों की तरह होते है।" (*Children s Empl Comm*, 4th Rep 1865 ['बाल सेवायोजन आयोग, चौथी रिपोर्ट, १८६५'], पृ० २४७।)

मूल्य होना चाहिये। अतएव, हस्तनिर्माण में श्रम शक्तियों का एक श्रेणी क्रम विकसित हो जाता है, जिसके अनुरूप मजदूरियों का भी एक क्रम होता है। यदि, एक ओर, अलग-अलग मजदूर पूरे जीवन के लिये एक सीमित ढंग के काम के लिये वक्फ हो जाते हैं, तो, दूसरी ओर, श्रेणी क्रम की अलग अलग क्रियाएं मजदूरों की स्वाभाविक तथा उपार्जित, दोनों प्रकार की क्षमताओं के अनुसार उनमें बांट दी जाती हैं।[1] किन्तु उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में कुछ ऐसे सरल काम भी होते हैं, जिनको करने की क्षमता हर आदमी में होती है। पर अब इन कामों का भी क्रियाशीलता के अपेक्षाकृत अधिक सारगर्भित क्षणों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और वे खास तौर पर नियुक्त किये गये मजदूरों के विशिष्ट काम बनकर रह जाते हैं। इसलिये हस्तनिर्माण जिस दस्तकारी पर भी अधिकार कर लेता है, उसी में वह तथाकथित अनिपुण मजदूरों का एक वर्ग पैदा कर देता है, जब कि दस्तकारी में इस वर्ग के लिये कभी कोई स्थान नहीं होता था। यदि हस्तनिर्माण आदमी की सम्पूर्ण कार्य-शक्ति को खतम करके उसकी एकांगी विशेषता को पूर्णतया विकसित कर देता है, तो उसके साथ साथ वह सभी प्रकार के विकास के अभाव को भी एक विशेषता में परिणत करना आरम्भ कर देता है। मजदूरों के श्रेणी क्रम के साथ-साथ निपुण तथा अनिपुण मजदूरों का यह सरल विभाजन भी सामने आता है। अनिपुण मजदूरों के लिये काम सीखने के काल के खर्च की जरूरत नहीं रहती, निपुण मजदूरों के लिये दस्तकारों की तुलना में यह खर्चा कम हो जाता है, क्योंकि उनके काम पहले से अधिक सरल हो जाते हैं। दोनों सूरतों में श्रम शक्ति का मूल्य गिर जाता है।[2] जब कभी श्रम क्रिया के विच्छेदन के फलस्वरूप ऐसे नये और व्यापक काम पैदा हो जाते हैं, जिनका दस्तकारियों में या तो कोई स्थान नहीं था या था, तो बहुत कम, तब यह नियम लागू नहीं होता। काम को सीखने की अवधि का खर्चा कम हो जाने या बिल्कुल गायब हो जाने से श्रम शक्ति के मूल्य में जो गिराव आता है, उसका मतलब यह होता है कि पूंजी के हित में अतिरिक्त मूल्य

---

[1] डा० उरे ने अपनी जिस रचना में मशीनों से चलने वाले उद्योग को ईश्वरीय चमत्कार के पद पर आसीन कर दिया है, उसमें उन्होंने हस्तनिर्माण के विशिष्ट स्वरूप की ओर निर्देश करने में अपने से पहले के अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा, जिनकी इस विषय का खण्डन मण्डन करने में डा० उरे जैसी रुचि नहीं थी, अधिक कुशाग्रता का परिचय दिया है और यहां तक कि अपने समकालीन अर्थशास्त्रियों से भी अधिक कुशाग्रता दिखायी है। उदाहरण के लिये बबेज को ही लीजिये, जो गणितज्ञ तथा यान्त्रिकी विज्ञान के विद्वान के रूप में उरे से श्रेष्ठ हैं, पर जिन्होंने मशीनों से चलने वाले उद्योग की विवेचना केवल हस्तनिर्माण की दृष्टि से की है। उरे ने लिखा है "प्रत्येक प्रकार के श्रम को समुचित मूल्य तथा लागत का एक मजदूर स्वाभाविक ढंग से मिल जाता है। यह चीज श्रम विभाजन का सार तत्व है।" दूसरी ओर, उरे ने इस विभाजन को "मनुष्यों की अलग अलग ढंग की योग्यताओं के अनुरूप श्रम का अनुकूलन" कहा है और अंत में उन्होंने पूरी हस्तनिर्माण प्रणाली को "श्रम के विभाजन अथवा श्रम स्थापन की प्रणाली" तथा "निपुणता की अलग अलग मात्राओं में श्रम के विभाजन" इत्यादि के रूप में वर्णन किया है। (Ure उप० पु०, पृ० १६-२३, विभिन्न स्थानों पर।)

[2] "हर दस्तकार क्योंकि... अब एक काम में अभ्यास द्वारा पारंगत बन सकता है, इसलिये वह पहले से सस्ता मजदूर हो जाता है।" (Ure, उप० पु०, पृ० १६।)

सीधे तौर पर उतना ही बढ़ जाता है। कारण कि हर वह चीज, जो श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को छोटा कर देती है, वह अतिरिक्त श्रम के क्षेत्र को विस्तृत कर देती है।

अनुभाग ४ –
हस्तनिर्माण मे श्रम-विभाजन और समाज मे श्रम-विभाजन

हमने पहले हस्तनिर्माण की उत्पत्ति पर विचार किया, फिर उसके सरल तत्वो पर – तफसीली काम करने वाले मजदूर तथा उसके औजारो पर – और अत में इस यत्र के सम्पूर्ण स्वरूप पर। अब हम थोडा इस विषय पर विचार करेंगे कि हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम विभाजन और उस सामाजिक श्रम विभाजन के बीच क्या सम्बध है, जो मालो की सभी प्रकार की उत्पादन-व्यवस्थाओ का आधार होता है।

यदि हम केवल श्रम की ओर ही ध्यान दें, तो जब सामाजिक उत्पादन को उसके मुख्य भागो में, अथवा प्रजातियों में, जैसे कि खेती, उद्योगो आदि में बाट दिया जाता है, तब हम उसे सामान्य श्रम विभाजन कह सकते हैं, और जब ये प्रजातिया जातियो तथा उप जातियो में बाट दी जाती ह, तब हम उसे विशिष्ट श्रम विभाजन कह सकते ह, और वकशाप के भीतर जो श्रम विभाजन होता है, उसे हम व्यष्टिगत या तफसीली श्रम विभाजन कह सकते ह।[1]

---

[1] "श्रम विभाजन अत्यधिक भिन्न प्रकार के धधो को अलग करने के रूप मे आरम्भ होता है और उस विभाजन तक बढता चला जाता है, जिसमे कई मजदूर एक ही पैदावार की तैयारी के काम को आपस मे बाट लेते हैं, जैसा कि हस्तनिर्माण मे होता है।" (Storch *Cours d Econ , Pol* , पेरिस सस्करण, ग्रथ १, पृ० १७३।) Nous rencontrons chez les peuples parvenus a un certain degre de civilisation trois genres de divisions d industrie la premiere, que nous nommerons generale amene la distinction des producteurs en agriculteurs, manufacturiers et commerçants elle se rap porte aux trois principales branches d'industrie nationale la seconde qu on pourrait appeler speciale, est la division de chaque genre d industrie en especes la troisieme division d industrie, celle enfin qu on devrait qualifier de division de la besogne ou de travail proprement dit est celle qui s etablit dans les arts et les metiers separes qui s etablit dans la plupart des manu factures et des ateliers ["जो कौमें सभ्यता की एक खास मजिल तक पहुच गयी हैं, उनमे यहा हमे श्रम का तीन प्रकार का विभाजन मिलता है। पहला वह, जिसे हम सामान्य विभाजन कहगे और जिसमें खेती, उद्योग और व्यापार सम्बधी उत्पादको के बीच भेद किया जाता है, जा कि राष्ट्रीय उत्पादन की तीन प्रमुख शाखायें हैं। दूसरा वह, जिसे विशिष्ट विभाजन कहा जा सकता है और जिसमें प्रत्येक प्रकार का श्रम अपनी जातियो मे बाट दिया जाता है और, अत मे, श्रम का तीसरा विभाजन वह, जिसे सचमुच धधा का अथवा कामो का विभाजन कहा जा सकता है और जो विभाजन अलग अलग कलाओ या धधो के भीतर होता है तथा जो अधिकतर हस्तनिर्माणशालाओ और वकशापो के भीतर पाया जाता है।"] (Skarbeck उप० पु०, प० ८४, ८५।)

समाज में जो श्रम विभाजन होता है और उसके अनुरूप अलग-अलग व्यक्ति जिस प्रकार एक खास धधे से बध जाते ह, वह ठीक हस्तनिर्माण की तरह दो विरोधी प्रस्थान बिंदुओं से विकसित होता है। परिवार के भीतर[1] – और कुछ और विकास होने के बाद कबीले के भीतर – लिंग और आयु के भेदो के कारण एक प्रकार का श्रम विभाजन स्वाभाविक ढग से पदा हो जाता है, और इसलिए यह श्रम विभाजन विशुद्ध देहव्यापारिक कारणो पर आधारित होता है। समुदाय का विस्तार होने, आबादी के बढ़ने और खास तौर से विभिन्न कबीलो के बीच झगडे होने तथा एक कबीले के दूसरे कबीले के द्वारा जीत लिये जाने पर इस विभाजन की सामग्री भी बढ जाती है। दूसरी ओर, जसा कि म पहले भी कह चुका हू, जहा-जहा विभिन्न परिवार, कबीले तथा समुदाय एक-दूसरे के सम्पर्क में आते ह, उन बिंदुओ पर पैदावारो का विनिमय आरम्भ हो जाता है। कारण कि सभ्यता के आरम्भ में अलग अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार, कबीले आदि स्वतत्र हैसियत के साथ एक दूसरे से मिलते थे। अलग अलग समुदायों को अपने प्राकृतिक वातावरण में अलग अलग प्रकार के उत्पादन के और जीविका के साधन मिलते ह। इसलिए उनकी उत्पादन की प्रणालिया, रहन-सहन की प्रणालिया और उनकी पैदावार भी अलग अलग ढग की होती ह। जब विभिन्न समुदायो का एक दूसरे से सम्पर्क कायम होता है, तब इस स्वयस्फूत ढग से विकसित भेद के कारण ही उनके बीच पदावारो का पारस्परिक विनिमय होने लगता है और तब पैदावार की ये वस्तुए धीरे-धीरे मालो में बदल जाती ह। विनिमय खुद उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो के बीच कोई भेद पदा नहीं करता, बल्कि जो भेद पहले से मौजूद होते ह, वह उनके बीच बस एक सम्बध स्थापित कर देता है और इस तरह उनको एक परिवर्धित समाज के सामूहिक उत्पादन की न्यूनाधिक अन्योन्याश्रित शाखाओ में बदल देता है। परिवर्धित समाज में सामाजिक श्रम विभाजन उत्पादन के उन अलग अलग क्षेत्रो के बीच होने वाले विनिमय से पदा होता है, जो मूलतया एक दूसरे से पृथक और स्वतत्र होते ह। परन्तु परिवार या कबीले में, जहा प्रस्थान बिंदु देहव्यापारीय श्रम विभाजन है, प्रधानतया दूसरे समुदायो के साथ मालो का विनिमय होने के कारण एक गठी हुई इकाई की विशिष्ट इंद्रिया ढोली पड जाती हैं, टूटकर अलग हो जाती हैं और अत में एक दूसरे से इतनी पृथक हो जाती ह कि विभिन्न प्रकार के कामो के बीच केवल मालो के रूप में उनकी पदावारो के विनिमय का ही एकमात्र नाता रह जाता है। एक जगह जो पहले स्वावलम्बी था, उसे अवलम्बी बना दिया जाता है, दूसरी जगह जो पहले अवलम्बी था, उसे स्वावलम्बी कर दिया जाता है।

ऐसे प्रत्येक श्रम विभाजन का आधार, जो अच्छी तरह विकसित हो चुका है और जो मालो के विनिमय के कारण अस्तित्व में आया है, शहर और देहात का अलगाव होता

---

[1] तीसरे सस्करण का फुटनोट बाद को मनुष्य की आदिम कालीन अवस्था का बहुत गहरा अध्ययन करने के बाद लेखक इस नतीजे पर पहुचा कि असल मे परिवार ने विकसित होकर कबीले का रूप नही धारण किया था, बल्कि, इसके विपरीत, कबीला ही मानव समुदाय का आदिम एव स्वयस्फूत ढग से विकसित रूप था, जिसका आधार रक्त सम्बध था और जब कबीले के सूत्र पहले पहल ढीले पडने शुरू हुए, तब उसी मे से परिवार के विविध प्रकार के अनेक रूप निकले थे। – फ्रे० ए०

है।[1] यह तक कहा जा सकता है कि समाज के पूरे आर्थिक इतिहास का साराश इस विरोध की प्रगति में निहित है। लेकिन फिलहाल हम इस विषय की चर्चा न करके आगे बढते है।

जिस तरह हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह भौतिक शर्त आवश्यक होती है कि एक खास सख्या में मजदूरो से एक साथ काम लिया जाये, उसी तरह समाज में श्रम विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जन-सख्या काफी बडी और काफी घनी हो। कारण कि यहा पर आबादी की सख्या और घनत्व वही काम करते है, जो वर्कशाप में मजदूरो का एक खास सख्या में इकट्ठा होना।[2] फिर भी यह घनत्व न्यूनाधिक सापेक्ष ही होता है। यदि अपेक्षाकृत हल्की आबादी वाले किसी देश में सचार के साधन खूब विकसित है और किसी दूसरे देश में अपेक्षाकृत अधिक आबादी के होते हुए भी यदि सचार के साधन कम विकसित है, तो पहले प्रकार के देश में अधिक घनी आबादी समझी जायेगी, और इस अर्थ में, मिसाल के लिए अमरीकी सघ के उत्तरी राज्यो की आबादी हिंदुस्तान की आबादी से अधिक घनी है।[3]

चूकि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के अस्तित्व में आने के पहले यह आवश्यक है कि मालो का उत्पादन और परिचलन जारी हो गया हो, इसलिए हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन होने के पहले यह जरूरी है कि समाज में साधारण रूप से श्रम विभाजन पहले ही विकास के एक खास स्तर पर पहुच चुका हो। उसकी उल्टी बात को यदि लिया जाये, तो हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम विभाजन की समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन पर प्रतिक्रिया होती है, उसके फलस्वरूप वह विकास करता है और उसका गुणन होता है। साथ ही, श्रम के औजारो के भेदकरण के साथ-साथ इन औजारो को तयार करने वाले उद्योगो का भेदकरण भी

---

[1] सर जेम्स स्टीवर्ट ही ऐसे अर्थशास्त्री है, जिन्होने इस विषय का सबसे अच्छा विवेचन किया है। उनकी पुस्तक का, जो '*Wealth of Nations*' ('राष्ट्रो का धन') के दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी, आज भी लोगो को कितना कम ज्ञान है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि माल्थूस के प्रशसको को यह भी मालूम नही कि जन सख्या के बारे मे माल्थूस की पुस्तक मे, उसके विशुद्ध आलकारिक भाग को छोडकर, स्टीवर्ट की रचना के उद्धरणो तथा उससे कुछ कम मात्रा मे वैलेस तथा टाउनसेण्ड की रचनाओ के उद्धरणो के सिवा और कुछ नही है।

[2] "जन सख्या के घनत्व की एक ऐसी खास मात्रा सामाजिक आदान प्रदान के लिए तथा साथ ही शक्तियो के उस योग के लिए भी उपयुक्त होती है, जिसके द्वारा श्रम की उपज बढा दी जाती है।" (James Mill उप० पु०, पृ० ५०।) "जैसे-जैसे मजदूरो की सख्या बढती है, वैसे वैसे समाज की उत्पादक शक्ति भी इस वृद्धि के मिश्र अनुपात मे बढती जाती है, क्योकि वह श्रम विभाजन के प्रभाव से गुणित हो जाती है।" (Th Hodgskin, उप० पु०, पृ० १२५-१२६।)

[3] १८६१ के बाद कपास की माग बहुत बढ जाने के फलस्वरूप हिंदुस्तान के कुछ घनी आबादी वाले इलाको मे चावल की खेती को कम करके कपास की पैदावार बढायी गयी। उसका नतीजा यह हुआ कि विभिन्न क्षेत्रो मे स्थानीय ढग के अकाल पडने लगे, क्योकि सचार के साधनो के दोषपूर्ण होने के कारण एक इलाके मे चावल की कमी होने पर दूसरे इलाके से चावल मगाना सम्भव नही हुआ।

अधिकाधिक बढता जाता है।[1] यदि किसी ऐसे उद्योग पर, जो पहले अन्य उद्योगो के साथ सम्बधित अवस्था में – या तो एक प्रमुख या एक गौण उद्योग के रूप में – किसी एक उत्पादक के द्वारा चलाया जाता था, हस्तनिर्माण-प्रणाली का अधिकार हो जाता है, तो इन उद्योगों का पारस्परिक सम्बध तत्काल ही टूट जाता है और वे एक दूसरे से स्वतत्र हो जाते ह। यदि यह प्रणाली किसी माल के उत्पादन की किसी एक खास अवस्था पर अधिकार कर लेती है, तो उसके उत्पादन की बाकी अवस्थाए स्वतत्र उद्योगों में बदल जाती ह। हम पहले ही यह कह चुके ह कि जहा तयार वस्तु महज आपस में जोड दिये गये कई एक भागो की बना होती है, वहा पर तफसीली काम खुद पुन सचमुच अलग अलग दस्तकारियो का रूप धारण कर सकते ह। हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन को और अच्छी तरह कार्यान्वित करने के लिए उत्पादन की कोई एक शाखा उसके कच्चे माल के विभिन्न प्रकारो के अनुसार अथवा एक ही कच्चे माल द्वारा धारण किये गये विभिन्न रूपो के अनुसार बहुत से और कुछ हद तक तो सवथा नये हस्तनिर्माणो में बाट दी जाती है। चुनाचे, अकेले फ्रास में १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में १०० अलग-अलग प्रकार के रेशमी कपडे बुने जाते थे, और एविग्नौन में तो यह कानून लागू था कि "हर शागिर्द को केवल एक किस्म का कपडा तैयार करना सीखना चाहिए और उसे एक साथ कई किस्म के कपडे तैयार करना नहीं सीखना चाहिए।" श्रम के क्षेत्रीय विभाजन को, जो उत्पादन की कुछ खास शाखाओ को देश के कुछ खास जिलो तक सीमित कर देता है, हस्तनिर्माण की प्रणाली से नया प्रोत्साहन प्राप्त होता है, क्योकि यह प्रणाली हर प्रकार की विशेष सुविधा से लाभ उठाती है।[2] हस्तनिर्माण के युग के लिए जिन सामान्य परिस्थितियो का होना आवश्यक है, उनमें औपनिवेशिक व्यवस्था तथा दुनिया की मण्डियो का खुल जाना भी शामिल है, और इन दोनो ही बातो से समाज में श्रम विभाजन के विकास को बहुत मदद मिलती है। यहा हम इस बात पर पूरी तरह विचार नहीं कर सकते कि श्रम विभाजन किस प्रकार न केवल आर्थिक क्षेत्र पर, बल्कि समाज के अन्य तमाम क्षेत्रो पर भी अधिकार कर लेता है और हर जगह वह किस तरह आदमियो को छाटने और उनका विशिष्टीकरण करने और मनुष्य की अन्य तमाम क्षमताओ को नष्ट करके उसकी केवल एक क्षमता का विकास करने की सर्वग्राही प्रणाली की नींव डालता है, जिसे देखकर ही ऐडम स्मिथ के गुरू ए० फर्गुसन ने यह कहा था कि "हमारी कौम गुलामो की कौम बन गयी है, और हमारे यहा कोई स्वतत्र नागरिक नहीं है।"[3]

---

[1] चुनाचे बुनकरो की ढरकिया बनाना १७ वी सदी मे ही हालैण्ड के उद्योग की एक विशेष शाखा बन गया था।

[2] "क्या इगलैण्ड का ऊनी हस्तनिमाण कई एक ऐसे हिस्सो या शाखाओ मे नही बट गया है, जिनपर उन खास स्थानो का अधिकार हो गया है, जहा केवल अथवा मुख्यतया उसी प्रकार का सामान तैयार होता है, जैसे सोमरसेटशायर मे महीन कपडे, योर्कशायर मे मोटा कपडा, एक्सटर मे लम्बा कपडा, सडबरी मे स्वा नामक कपडा, नौरविक म क्रेप, केण्डल में सूत के ताने और ऊन के बाने का कपडा, व्हिटनी मे कम्बल और उसी तरह अन्य प्रकार के कपडे अन्य स्थानो मे तैयार होते हैं।" (Berkeley, *The Querist* [बर्कले, 'प्रश्नकर्ता'], 1750 पैराग्राफ ५२०।)

[3] A Ferguson *History of Civil Society* (ए० फर्गुसन, 'सभ्य समाज का इतिहास'), Edinburgh 1767 भाग ४, अनुभाग २, पृ० २८५।

लेकिन, समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन और एक वकशाप के भीतर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के बीच जो बहुत सी समानताए और सम्बध दिखाई देते हैं, उन सब के बावजूद ये दोनो न केवल मात्रा में, बल्कि मूल प्रकृति में भी भिन्न होते हैं। दोनो का सादृश्य सबसे अधिक निर्विवाद रूप में वहा सामने आता है, जहा व्यवसाय की विभिन्न शाखाए एक अदृश्य सम्बध से जुडी होती हैं। उदाहरण के लिए, ढोर पालने वाला खालें तयार करता है, चमडा पकाने वाला खालो से चमडा तैयार करता है और मोची चमडे के जूते बनाता है। यहा पर प्रत्येक जो वस्तु तयार करता है, उसे बनाकर वह केवल उसके अन्तिम रूप की ओर एक कदम उठाता है, और यह अतिम रूप सब के सयुक्त श्रम की पदावार होता है। इसके अलावा, वे तमाम उद्योग भी हैं, जो ढोर पालने वाले, चमडा पकाने वाले और मोची को उत्पादन के साधन उपलब्ध कराते हैं। अब ऐडम स्मिथ की तरह हम भी बडी आसानी से यह कल्पना कर सकते ह कि उपर्युक्त सामाजिक श्रम-विभाजन और हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का अतर केवल एक मनोगत अतर है, जिसका अस्तित्व केवल दर्शक के लिए ही है। हस्तनिर्माण में दर्शक एक दृष्टि में तमाम क्रियाओ को एक ही स्थान में सम्पन्न होते हुए देख सकता है, जब कि ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें काम चूकि बहुत लम्बे-चौडे क्षेत्र में फैला हुआ होता है और श्रम की प्रत्येक शाखा में चूकि लोगो की एक बडी सख्या काम करती है, इसलिए इन शाखाओं का सम्बध आखो से ओझल हो जाता है।[1] लेकिन ढोर पालने वाले, चमडा पकाने वाले और मोची के स्वतत्र श्रमो को जोडने वाली क्या चीज है? वह यह तथ्य है कि इन सब की अलग-अलग पदावार माल होती है। दूसरी ओर, हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का खास लक्षण बनने वाली क्या चीज होती है? यह तथ्य कि तफसीली काम करने वाला मजदूर कोई माल तैयार नहीं करता। तफसीली काम

---

[1] ऐडम स्मिथ ने कहा है कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, उसमें इसलिए अधिक श्रम विभाजन मालूम पडता है कि "जो लोग काम की अलग-अलग शाखाओ मे नौकर रखे जाते हैं, वे अक्सर एक ही वकशाप मे इकट्ठा किये जा सकते है और तुरत दर्शक की निगाह के सामने लाये जा सकते हैं। इसके विपरीत, उन बडे-बडे हस्तनिर्माणो में(!), जिनको अधिकतर लोगो की अधिकतर आवश्यकताओ को पूरा करना है, काम की प्रत्येक अलग अलग शाखा मे इतनी बडी सख्या मे मजदूरो को नौकर रखा जाता है कि उन सब को एक वकशाप मे इकट्ठा करना असम्भव होता है इनमे विभाजन इतना स्पष्ट नही होता।" (A Smith, *Wealth of Nations* [ऐ० स्मिथ, 'राष्ट्रो का धन'], पुस्तक १, अध्याय १।) इसी अध्याय का वह प्रसिद्ध अश, जो इन शब्दो के साथ आरम्भ होता है कि "किसी सभ्य तथा समृद्ध देश म किसी अत्यत साधारण कारीगर या दिन मजदूर के निवास-स्थान को देखिये", इत्यादि, और जिसमे आगे चलकर यह वर्णन मिलता है कि एक साधारण मजदूर की आवश्यकताओ को पूरा करने म विभिन्न प्रकार के कितने अधिक उद्योग भाग लेते हैं,—यह पूरा अश लगभग शब्दश बी० दे मैंदवील की रचना *"Fable of the Bees or Private Vices Public Benefits* ('मधु मक्खियो की उपकथा, अथवा निजी व्यसन, सार्वजनिक लाभ') मे उनकी "टिप्पणियो" से लिया गया है (पहला सस्करण, बिना टिप्पणियो के, १७०६, टिप्पणियो सहित, १७१४)।

[2] "अब कोई ऐसी चीज नही रह जाती, जिसे हम व्यक्तिगत श्रम का स्वाभाविक पुरस्कार कह सकें। अब तो प्रत्येक मजदूर एक पूरी इकाई का कोई न कोई भाग पैदा करता है, और

करने वाले सभी मजदूरो की सयुक्त पैदावार ही माल होती है।[1] समाज में श्रम विभाजन उद्योग की अलग-अलग शाखाओ की पैदावार की खरीद और बिक्री के फलस्वरूप शुरू होता है, जब कि एक वर्कशाप के भीतर तरह-तरह के तफसीली कामो के बीच पाया जाने वाला सम्बध इस कारण होता है कि कई मजदूरो ने अपनी श्रम शक्ति एक पूजीपति के हाथ बेच दी है, जो उसका एक सयुक्त श्रम-शक्ति के रूप में प्रयोग कर रहा है। वर्कशाप के भीतर श्रम विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधनो का एक पूजीपति के हाथो में केन्द्रीकरण हो गया है, समाज में श्रम विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधन मालो के बहुत से स्वतत्र उत्पादको के बीच बिखर गये है। जहा वर्कशाप के भीतर सानुपातितता का लौह नियम मजदूरो की एक निश्चित सख्या को कुछ निश्चित कामो के आधीन बना देता है, वहा वर्कशाप के बाहर, समाज में, उत्पादको तथा उनके उत्पादन के साधनो को उद्योग की विभिन्न शाखाओ के बीच बाटने के मामले में सयोग और मनमानी का राज रहता है। यह सच है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो में निरतर एक सतुलन पर पहुचने की प्रवृत्ति होती है। कारण कि एक ओर तो जहा किसी भी माल के प्रत्येक उत्पादक को किसी सामाजिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कोई उपयोग-मूल्य पैदा करना पडता है,—और इन आवश्यकताओ के विस्तार में परिमाणात्मक दृष्टि से अतर होते हुए भी उनके बीच एक अदरूनी सम्बध होता है, जो उनके अनुपातो को एक नियमित व्यवस्था का रूप दे देता है, तथा यह व्यवस्था

प्रत्येक भाग का चूकि अपने मे कोई मूल्य अथवा उपयोगिता नही होती, इसलिए ऐसी कोई चीज नही होती, जिसे पकडकर मजदूर यह कह सके कि "यह मेरी पैदावार है, इसे मै अपने पास रखूगा।" ("*Labour Defended against the Claims of Capital* ['पूजी के दावो के मुकाबले मे श्रम का समर्थन'], London, 1825 पृ० २५।) इस प्रशसनीय रचना के लेखक टोमस होजस्किन है। मै उनको पहले भी उद्धृत कर चुका हू।

[1] समाज मे और हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का यह भेद व्यावहारिक रूप मे याकियो के सामने प्रकट हुआ था। गृह-युद्ध के काल मे वाशिग्टन मे जिन नये करो को सोचकर निकाला गया था, उनमें से एक "सभी औद्योगिक पैदावारो पर" लगने वाली ६ प्रतिशत की चुगी थी। सवाल पैदा हुआ कि औद्योगिक पैदावार क्या है? विधान-सभा ने जवाब दिया पैदा चीज तब होती है, "जब वह बनायी जाती है" (when it is made) और चीज बनती उस वक्त है, जब वह बिक्री के लिए तैयार हो जाती है। अब बहुत सी मिसालो मे से एक को लीजिये। इसके पहले न्यू यार्क और फिलेडेलफिया के कारखानेदारो को छतरियो को मय उनके तमाम सामान के "बनाने" की आदत थी। लेकिन छतरी चूकि विविध भागो से मिल-जुलकर बनी एक वस्तु (mixtum compositum) है, इसलिए धीरे धीरे ये भाग खुद अलग अलग स्थानो मे स्वतत्र रूप से सचालित अनेक उद्योगो की पैदावार बन गये। छतरियो की हस्तनिर्माणशाला मे ये भाग अलग अलग मालो के रूप मे प्रवेश करते थे, और वहा उन्हे एक मे जोड दिया जाता था। इस तरह जोडी गयी वस्तुओ को याकियो ने 'assembled articles ("समवायाजित वस्तुए") का नाम दिया है, जो नाम उनके सर्वथा उपयुक्त है, क्योकि उनके रूप मे "करो का समवायाजन" (an assemblage of taxes) कर दिया जाता है। इस प्रकार, छतरी पहले अपने प्रत्येक अश पर और फिर खुद अपने पूरे दाम पर ६ प्रतिशत की चुगी का 'समवायाजन' करती है।

स्वयस्फूत ढग से विकसित होती है,—और, दूसरी ओर, अत में मालो के मूल्य का नियम यह तै करता है कि समाज काम का कुल जितना समय खच कर सकता है, मालो के प्रत्येक विशिष्ट वग पर वह उसका कितना भाग खच करेगा। लेकिन उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो की सतुलन पर पहुचने की यह अनवरत प्रवृत्ति केवल सतुलन के लगातार बिगडते रहने के कारण प्रतिक्रिया के रूप में ही अमल में आती है। वर्कशाप के भीतर जिस निगम्य (a priori) अथवा तर्कगम्य प्रणाली के आधार पर श्रम विभाजन नियमित रूप से कार्यान्वित होता है, वह समाज के श्रम विभाजन में एक अनुभवगम्य (a posteriori) अथवा उदगम्य आवश्यकता, प्रकृति द्वारा अनिवाय बना दी गयी आवश्यकता, बन जाती है, जो उत्पादको की नियम विहीन मनमानी को नियत्रण में रखती है और मण्डी के भावो के बैरोमीटर के उतार चढाव में देखी जा सकती है। वकशाप के भीतर श्रम विभाजन का मतलब मजदूरा पर पूजीपति का निविवाद अधिकार होता है, और वे एक ऐसे यत्र के पुर्जे भर होते ह, जो पूजीपति के स्वामित्व में है। समाज का श्रम विभाजन मालों के उन स्वतत्र उत्पादकों को एक दूसरे के सम्पक में लाता है, जो प्रतियोगिता के सिवा और किसी का प्राधिकार नहीं मानते, जो केवल अपने पारस्परिक हितो के दबाव की उस जबर्दस्ती को मानते हैं, जिसका महत्त्व पशु-जगत में bellum omnium contra omnes (सबके खिलाफ सब का युद्ध) के समान है, जो प्रत्येक जाति के अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियो को न्यूनाधिक सुरक्षित रखता है। जो पूजीवादी दिमाग वकशाप के भीतर होने वाले श्रम विभाजन की, मजदूर का समस्त जीवन एक आशिक क्रिया के लिए समपित हो जाने की और उसके पूणतया पूजी के आधीन बन जाने की प्रशसा करता है और कहता है कि यह श्रम का एक ऐसा सगठन है, जिससे उसकी उत्पादकता बढ जाती है, वही पूजीवादी दिमाग जब उत्पादन की क्रिया का सामाजिक नियत्रण तथा नियमन करने की कोई भी सजग कोशिश की जाती है, तो उसकी उतने ही जोर-शोर से निन्दा करता है और कहता है कि यह सम्पत्ति के अधिकार, स्वाधीनता तथा पूजीपतियो के अनियन्त्रित ढग से इच्छानुसार काम करने के हक जैसी पवित्र वस्तुओ का अतिक्रमण करने की कोशिश है। यह एक बहुत सारगभित बात है कि फक्टरी व्यवस्था के बडे जोशीले समथको के पास समाज के श्रम का सामान्य सगठन करने के विचार के विरुद्ध इससे ज्यादा जोरदार और कोई दलील नहीं है कि यदि ऐसा किया गया, तो पूरा समाज एक बहुत बडा कारखाना बन जायेगा।

यदि पूजीवादी उत्पादन वाले समाज में सामाजिक श्रम विभाजन की अराजकता और वकशाप के श्रम विभाजन की निरकुशता एक दूसरे के अस्तित्व के लिए आवश्यक होती ह, तो, इसके विपरीत, समाज के उन प्रारम्भिक रूपो में, जिन में धधो का अलगाव स्वयस्फूत्त ढग से इस तरह बढ़ा है कि पहले उसका विकास हुआ, फिर उसका स्फटिकीकरण हो गया और अन्त में उसने क़ानून के द्वारा स्थायित्व प्राप्त कर लिया,—ऐसी समाज व्यवस्थाओ में हम एक तरफ तो एक मान्य एव अधिकृत योजना के अनुसार समाज के श्रम के सगठन का नमूना पाते ह, और, दूसरी तरफ, हम यह देखते ह कि वर्कशाप के भीतर होने वाला श्रम विभाजन उनमें एकदम गायब है या कम से कम उसका महत्त्व एक बौनानुमा या इक्का दुक्का तथा आकस्मिक ढग से विकसित रूप ही उनमें पाया जाता है।[1]

---

[1] On peut etablir en regle generale que moins l autorite preside a la division du travail dans l interieur de la societe plus la division du travail se

हिन्दुस्तान के वे छोटे-छोटे तथा अत्यन्त प्राचीन ग्राम-समुदाय, जिनमें से कुछ आज तक कायम ह, जमीन पर सामूहिक स्वामित्य, खेती तथा दस्तकारी के मिलाप और एक ऐसे श्रम विभाजन पर आधारित ह, जो कभी नहीं बदलता, और जो जब कभी एक नया ग्राम-समुदाय आरम्भ किया जाता है, तो पहले से बनी बनायी और तयार योजना के रूप में काम में आता है। सौ से लेकर कई हजार एकड तक के रकबे में फले हुए इन ग्राम-समुदायों में से प्रत्येक एक गठी हुई इकाई होता है, जो अपनी जरूरत की सभी चीजें पदा कर लेती है। पदावार का मुख्य भाग सीधे तौर पर समुदाय के ही उपयोग में आता है, और वह माल का रूप धारण नहीं करता। इसलिए यहा पर उत्पादन उस श्रम विभाजन से स्वतन्त्र होता है, जो मालो के विनिमय ने मोटे तौर पर पूरे हिन्दुस्तानी समाज में चालू कर दिया है। केवल अतिरिक्त पदावार ही माल बनती है, और यहा तक कि उसका भी एक हिस्सा उस वक्त तक माल नहीं बनता, जब तक कि वह राज्य के हाथो में नहीं पहुच जाता। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह रीति चली आ रही है कि इस पैदावार का एक निश्चित भाग सदा जिन्स की शकल में दिये जाने वाले लगान के तौर पर राज्य के पास पहुच जाता है। हिन्दुस्तान के अलग अलग हिस्सों में इन समुदायो का विधान अलग अलग ढग का है। जिनका सबसे सरल विधान है, उन समुदायो में जमीन को सब मिलकर जोतते ह और पैदावार सदस्यों के बीच बाट ली जाती है। इसके साथ-साथ हर कुटुम्ब में सहायक धधो के रूप में कताई और बुनाई होती हैं। इस प्रकार, उन आम लोगो के साथ-साथ, जो सदा एक ही प्रकार के काम में लगे रहते हैं, एक "मुखिया" होता है, जो जज, पुलिस और वसूलदार का काम एक साथ करता है, एक पटवारी होता है, जो खेती-बारी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने कागजो में दज करता जाता है, एक और कमचारी होता है, जो अपराधियो पर मुक़दमा चलाता है, अजनबी मुसाफिरो की हिफाजत करता है और उनको अगले गाव तक सकुशल पहुचा आता है, पहरेदार होता है, जो पडोस के समुदायो से सरहद की रक्षा करता है, आबपाशी का हाकिम होता है, जो सिचाई के लिये पचायती तालाबो से पानी बाटता है, ब्राह्मण होता है, जो धार्मिक अनुष्ठान कराता है, पाठशाला का पडित होता है, जो बच्चो को बालू पर लिखना-पढ़ना सिखाता है, पचाग वाला ब्राह्मण या ज्योतिषी होता है, जो बोवाई और कटाई और खेत के अन्य हर काम के लिये मुहूरत विचारता है, एक लोहार और एक बढई होते ह, जो खेती के तमाम औजार बनाते ह और उनकी मरम्मत करते ह, कुम्हार होता है, जो सारे गाव के लिये बतन भाडे तयार करता है, नाई होता है, धोबी होता है, जो कपडे धोता है, सुनार

---

developpe dans l interieur de l atelier et plus elle y est soumise a l autorite d un seul Ainsi l autorite dans l atelier et celle dans la societe par rapport a la division du travail sont en raison inverse l une de l autre' ["एक सामान्य नियम के रूप मे हम यह कह सकते है कि समाज के भीतर पाये जाने वाले श्रम विभाजन मे प्राधिकार का प्रभुत्व जितना कम होता है, वकशाप में श्रम विभाजन उतना ही अधिक विकसित हो जाता है और वह उतना ही एक अकेले व्यक्ति के प्राधिकार के अधीन बन जाता है। इस प्रकार, जहा तक श्रम विभाजन का सम्बध है, वकशाप मे प्राधिकार और समाज म प्राधिकार एक दूसरे के प्रतिलाभ अनुपात में होते हैं।"] (Karl Marx, *Misere*, &c [कार्ल मार्क्स, 'दशन की दरिद्रता'] Paris, 1847 पृ० १३०–१३१।)

होता है और कहीं कहीं पर कवि भी होता है, जो कुछ समुदायो में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पडित का स्थान ले लेता है। इन एक दजन व्यक्तियो की जीविका पूरे समुदाय के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ जाती है, तो खाली पडी जमीन पर पुराने समुदाय के ढाचे के मुताबिक एक नये समुदाय की नींव डाल दी जाती है। पूरे ढाचे से एक सुनियोजित श्रम-विभाजन का प्रमाण मिलता है। किंतु इस प्रकार का विभाजन हस्तनिर्माण में असम्भव होता है, क्योंकि यहा तो लोहार और बढई आदि के सामने एक ऐसी मण्डी होती है, जो कभी नहीं बदलती, और अधिक से अधिक केवल यह अतर होता है कि गावा के आकार के अनुसार एक के बजाय दो दो या तीन-तीन लोहार और बढई आदि हो जाते हैं।[1] ग्राम-समुदाय में जिस नियम के अनुसार श्रम-विभाजन का नियमन होता है, वह एक प्राकृतिक नियम की भाति काम करता है, जिसके आडे कोई नहीं आ सकता, और साथ ही हर अलग अलग कारीगर—जैसे लोहार, बढई आदि—अपनी वकशाप में अपनी दस्तकारी की सारी क्रियाए परम्परागत ढग से, किन्तु स्वतत्र रूप से करता चलता है और अपने ऊपर किसी अन्य व्यक्ति का प्राधिकार नहीं मानता। इन आत्म निभर ग्राम-समुदायो में, जो लगातार एक ही रूप के समुदायो में पुन प्रकट होते रहते हैं, और जब अकस्मात बरबाद हो जाते ह, तो उसी स्थान पर और उसी नाम से फिर खडे हो जाते ह,[2]—इन ग्राम समुदायो में उत्पादन का सगठन बहुत ही सरल ढग का होता है, और उसकी यह सरलता ही एशियाई समाजो की अपरिवतनशीलता की कुजी है, उस अपरिवतनशीलता की, जिसके बिल्कुल विपरीत एशियाई राज्य सदा बिगडते और बनते रहते ह और राजवशो में होने वाले परिवतन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। राजनीति के आकाश में जो तूफानी बादल उठते ह, वे समाज के आर्थिक तत्वो के ढाचे को नहीं छू पाते।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, कोई उस्ताद अधिक से अधिक कितने शागिर्दो और मजदूर कारीगरो को नौकर रख सकता है, शिल्पी सघो के नियम इसकी एक सीमा निश्चित

---

[1] लेफ्टिनेट कनल Mark Wilks *Historical Sketches of the South of India*' (माक वाइल्क्स, 'हिदुस्तान के दक्षिण के ऐतिहासिक रेखा चित्र'), London 1810–1817 खण्ड १, पृ० ११८–२००। हिदुस्तानी ग्राम-समुदाय के विभिन्न रूपो का एक अच्छा वणन १८५२ मे लदन से प्रकाशित जाज कैम्पबेल की रचना 'आधुनिक हिदुस्तान' (George Campbell, *Modern India*, London 1852) मे मिलता है।

[2] "इस देश के निवासी अत्यन्त प्राचीन काल से इस सरल रूप के अन्तगत रह रहे हैं। गावा की सीमाओ मे कभी-कभार ही कोई परिवतन होता है, और यद्यपि खुद इन गावा को कभी-कभी युद्ध, अकाल तथा महामारी से हानि पहुची है और यहा तक कि वे तबाह भी हो गये हैं, परन्तु गाव का वही नाम, वे ही सीमाए, वे ही हित और यहा तक कि वे ही कुटुम्ब भी सदिया तक चलते गये हैं। उनके निवासी राज्यो के छिन्न भिन्न हो जाने और बट जाने से कभी परेशान नही होते, जब तक गाव पूरा कायम रहता है, तब तक उन्हे इस बात की कोई चिता नही होती कि उनका गाव किस राज्य को सौंप दिया गया है या किस राजा के अधिकार मे पहुच गया है, गाव की अदरूनी अथ-व्यवस्था ज्यो की त्यो रहती है।" (Th. Stamford Raffles, जावा के भूतपूव लेफ्टिनेंट-गवनर, *The History of Java* ['जावा का इतिहास'], London, 1817 खण्ड १, पृ० २८५।)

कर देते थे, और इस तरह ये नियम उस्ताद को पूजीपति नहीं बनने देते थे। इसके अलावा, वह जिस धधे का उस्ताद होता था, उसके सिवा किसी और दस्तकारी का काम वह अपने कारीगरो से नहीं करा सकता था। स्वतत्र पूजी का केवल एक ही रूप था, जिसके सम्पर्क में ये शिल्पी सघ आते थे। वह था सौदागरो की पूजी का रूप। पर उसके प्रत्येक अतिक्रमण को शिल्पी सघो के जोरदार प्रतिरोध का मुकाबला करना पडता था। सौदागर हर प्रकार का माल खरीद सकता था, परन्तु श्रम को माल के रूप में वह नहीं खरीद सकता था। वह यदि दस्तकारियो की पदावार के व्यापारी के रूप में जिन्दा था, तो केवल इसीलिये कि शिल्पी सघो को उसके अस्तित्व पर कोई आपत्ति नहीं थी। यदि परिस्थितियो के कारण श्रम का और विभाजन करना जरूरी हो जाता था, तो पहले से मौजूद शिल्पी सघ उपसघो में बट जाते थे या पुराने सघो के साथ साथ नये सघो की स्थापना कर दी जाती थी। यह सब होता था, मगर किसी एक वर्कशाप में तरह-तरह की अनेक दस्तकारिया केन्द्रीभूत नहीं हो पाती थीं। इसलिये, शिल्पी सघो के सगठन ने दस्तकारियो को एक दूसरे से अलग और पृथक करके तथा उनका विकास करके हस्तनिर्माण के अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियो को तयार करने में चाहे जितनी सहायता की हो, पर उसके अन्तर्गत वर्कशाप के भीतर श्रम विभाजन कभी नहीं हो सकता था। सामान्यत मजदूर अपने उत्पादन के साधनो के साथ घनिष्ठ रूप से जुडा रहता था, जसे घोघा अपने खोल से जुडा रहता है, और, इस प्रकार, हस्तनिर्माण के मुख्य आधार का अभाव था, यानी मजदूर अपने उत्पादन के साधनो से अलग नहीं हुआ था और ये साधन पूजी में परिवर्तित नहीं हुए थे।

मोटे तौर पर समाज में श्रम विभाजन का होना–चाहे वह मालो के विनिमय का फल हो या न हो–समाज की अत्यन्त भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओ की एक समान विशेषता है। परन्तु वर्कशाप का श्रम विभाजन, जैसा कि हस्तनिर्माण में होता है, केवल उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली की ही एक विशिष्ट पदावार है।

अनुभाग ५ –
हस्तनिर्माण का पूजीवादी स्वरूप

बडी सख्या में मजदूरो का एक पूजीपति के नियन्त्रण में काम करना जिस तरह से खास तौर पर हस्तनिर्माण का, उसी तरह से वह आम तौर पर सभी प्रकार की सहकारिता का भी स्वाभाविक प्रस्थान बिंदु होता है। परन्तु हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन मजदूरो की सख्या की इस वृद्धि को एक प्राविधिक आवश्यकता बना देता है। यहा पर पहले से स्थापित श्रम विभाजन ने ही यह त कर रखा है कि किसी पूजीपति के लिये कम से कम कितने मजदूरो को नौकर रखना जरूरी है। दूसरी ओर, और अधिक श्रम विभाजन से केवल उसी समय लाभ उठाया जा सकता है, जब मजदूरो की सख्या में और वृद्धि कर दी जाये, और यह केवल इसी तरह हो सकता है कि हम तफसीली काम करने वाले विभिन्न दलो के गुणजो को जोडते जायें। परन्तु जब व्यवसाय में लगी हुई पूजी के अस्थिर भाग में वृद्धि होती है, तो उसके स्थिर भाग में–वर्कशापो, औजारो आदि में और खास कर कच्चे माल में–भी वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। कच्चे माल की माग मजदूरो की सख्या की तुलना में कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है। एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा कितने कच्चे माल

उपयोग करेगी, इसकी मात्रा उसी अनुपात में बढती है, जिस अनुपात में श्रम के विभाजन के फलस्वरूप श्रम की उत्पादक शक्ति बढ जाती है। इसलिये, स्वय हस्तनिर्माण के स्वरूप के आधार पर यह नियम बन जाता है कि प्रत्येक पूजीपति के पास कम से कम जितनी पूजी होना आवश्यक होता है, उसकी मात्रा सदा बढती जानी चाहिये, दूसरे शब्दो में, उत्पादन और जीवन निर्वाह के सामाजिक साधनो का पूजी में अधिकाधिक विस्तृत पैमाने पर रूपान्तरण होना चाहिये।[1]

सरल सहकारिता की तरह हस्तनिर्माण में भी सामूहिक कायकारी सघटन पूजी के अस्तित्व का एक रूप होता है। तफसीली काम करने वाले अनेक मजदूरो से मिलकर जो यत्र बनता है, वह पूजीपति की सम्पत्ति होता है। इसलिये मजदूरो के योग से जो उत्पादक शक्ति पदा होती है, वह पूजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है। सही अथ में हस्तनिर्माण न केवल भूतपूव स्वतन्त्र मजदूरो को पूजी के अनुशासन तथा समादेश के आधीन बना देता है, बल्कि खुद मजदूरो में भी एक श्रेणी-क्रम पदा कर देता है। सरल सहकारिता व्यक्ति की काय प्रणाली में प्राय कोई खास परिवतन नहीं करती, पर हस्तनिर्माण उसमें एक पूरी क्रान्ति पदा कर देता है और श्रम-शक्ति की जडो तक पहुच जाता है। वह मजदूर की एक तफसीली क्षमता का विकास करने के लिये उसकी अन्य समस्त क्षमताओ और नसगिक भावनाओ को नष्ट करके उसे उसी तरह एक लुज-पुज, कुरूप प्राणी में बदल देता है, जिस तरह ला प्लाता के राज्यो में एक खाल या थोडी सी चर्बी के लिये लोग एक पूरे जानवर को मार डालते हैं। न सिफ तफसीली काम अलग अलग व्यक्तियो में बाट दिया जाता है, बल्कि खुद व्यक्ति को भी एक आशिक क्रिया की स्वचालित मोटर बना दिया जाता है,[2] और इस प्रकार मेनेनियस एग्रिप्पा की वह बेतुकी उपकथा भी चरिताथ हो जाती है, जिसमें मनुष्य को उसके शरीर का एक अश

---

[1] "इतना काफी नही है कि दस्तकारियो के उप विभाजन के लिये आवश्यक पूजी" (लेखक को यहा असल मे "जीवन निर्वाह के तथा उत्पादन के आवश्यक साधन" कहना चाहिये था) 'समाज मे पहले से तैयार हो। इसके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि यह पूजी मालिका के पास इतनी मात्रा मे सचित हो जाये, जो उनके लिये अपनी कारवाइयो को बडे पैमाने पर करने के लिये काफी हो विभाजन जितना बढता जाता है, मजदूरा की एक निश्चित सख्या को बराबर काम देते रहने के लिये यह उतना ही जरूरी हाता जाता है कि औजारो, कच्चे माल आदि के रूप मे पहले से अधिक पूजी लगायी जाये।" (Storch *Cours d Economie Politique* पेरिस सस्करण, ग्रथ १, पृ० २५०, २५१।) La concentration des instruments de production et la division du travail sont aussi inseparables l une de l autre que le sont dans le regime politique la concentration des pouvoirs publics et la division des interets prives ' ["राजनीतिक जीवन के क्षेत्र मे सावजनिक शक्ति के केन्द्रीकरण और निजी हितो के विभाजन मे जैसा अविच्छिन्न सम्बध है, उत्पादन के औजारो के केन्द्रीकरण और श्रम के विभाजन के बीच उससे कम अविच्छिन्न सम्बध नही है।"] (Karl Marx उप० पु०, पृ० १३४।)

[2] डूगल्ड स्टीवट ने हस्तनिर्माण करने वाले मजदूरा को "living automatons employed in the details of the work ("तफसीली ढग के कामो मे लगी हुइ जीवित स्वसचालित मशीनें") कहा है। (उप० पु०, पृ० ३१८।)

मात्र बना दिया गया था।[1] यदि शुरू-शुरू में मजदूर अपनी श्रम-शक्ति इसलिये पूजी को बेचता है कि उसके पास माल पदा करने के भौतिक साधन नहीं होते, तो अब खुद उसकी श्रम-शक्ति उस वक्त तक काम करने से इनकार कर देती है, जब तक कि उसे पूजीपति के हाथ नहीं बेच दिया जाता। अब वह केवल उसी वातावरण में काम कर सकती है, जो उसकी बिक्री के बाद पूजीपति की वर्कशाप में पाया जाता है। हस्तनिर्माण करने वाला मजदूर स्वभावत चूकि स्वतन्त्र ढग से कोई चीज तैयार करने के लायक़ नहीं रह जाता, इसलिये यह केवल पूजीपति की वर्कशाप के एक गौणाग के रूप में ही अपनी उत्पादक क्रियाशीलता का विकास कर सकता है।[2] जिस तरह यहूदियो के माथे पर इसका चिन्ह अकित हो गया था कि वे जेहोवाह की सम्पत्ति ह, उसी तरह श्रम विभाजन हस्तनिर्माण करने वाले मजदूर के माथे पर यह छाप अकित कर देता है कि यह शख्स पूजी को सम्पत्ति है।

जगली आदमी के लिये युद्ध की पूरी कला अपनी व्यक्तिगत चालाकी का प्रयोग करने में निहित होती है। इसी प्रकार स्वतन्त्र किसान या दस्तकार भी चाहे जितनी कम मात्रा में सही, पर अपने ज्ञान, निर्णय शक्ति और इच्छा शक्ति का कुछ न कुछ प्रयोग करता ही है। परन्तु अब, हस्तनिर्माण में, केवल पूरी वर्कशाप को ही इन सारी क्षमताओ की जरूरत होती है। उत्पादन में बुद्धि का एक दिशा में इसलिये विकास होता है कि अन्य बहुत सी दिशाओ में वह गायब हो जाती है। तफसीली काम करने वाले मजदूर जिन क्षमताओं को खो देते ह, वे मजदूरो को नौकर रखने वाली पूजी में केन्द्रीभूत हो जाती ह।[3] हस्तनिर्माणो में होने वाले श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप ही मजदूर को उत्पादन की भौतिक क्रिया की बौद्धिक शक्तियो का किसी दूसरे की सम्पत्ति और मजदूर पर शासन करने वाली एक ताकत के रूप में सामना करना पडता है। यह अलगाव सरल सहकारिता में आरम्भ होता है, जहा पर अकेले एक मजदूर के मुक़ाबले में पूजीपति सम्बद्ध श्रम की एकता और इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

---

[1] मूगा मे प्रत्येक मूगा वास्तव मे पूरे समूह के पेट का काम करता है, परन्तु रोमन अभिजातवर्गीय व्यक्ति की तरह समूह का आहार खुद नही हडप जाता, बल्कि समूह को आहार देता है।

[2] L ouvrier qui porte dans ses bras tout un metier peut aller par tout exercer son industrie et trouver des moyens de subsister l autre n est qu un accessoire qui separe de ses confreres n a plus ni capacite ni independance et qui se trouve force d accepter la loi qu'on juge a propos de lui imposer ["जिस मजदूर मे एक पूरी दस्तकारी की योग्यता होती है, वह कही भी अपना धधा कर सकता है और जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त कर सकता है। पर दूसरे प्रकार का मजदूर (हस्तनिर्माण करने वाला मजदूर) एक सहायक से अधिक और कुछ नही होता। अपने साथियो से अलग हो जाने पर उसमे न तो योग्यता रहती है और न स्वाधीनता, और इसलिये लोग उसपर जैसे भी नियम लादना चाह, वह उन्ह मानने के लिये मजबूर हाता है।"] (Storch उप० पु०, सेण्ट पीटसबुग सस्करण, १८१५, ग्रथ १, पृ० २०४।)

[3] A Ferguson उप० पु०, प० २८१ "दूसरे ने जा खो दिया है सम्भव है, पहले ने वह प्राप्त कर लिया हो।'

हस्तनिर्माण में, जो कि मजदूर को महज एक तफसीली काम करने वाला मजदूर बना देता है, यह अलगाव और बढ जाता है। आधुनिक उद्योग में, जो विज्ञान को श्रम से बिल्कुल अलग उत्पादक शक्ति बना देता है और उसे पूजी की सेवा में जोत देता है, यह अलगाव पूरा हो जाता है।[1]

हस्तनिर्माण में सामूहिक मजदूर को और उसके जरिये पूजी को सामाजिक उत्पादक शक्ति की दृष्टि से धनी बनाने के लिये हर अलग अलग मजदूर को व्यक्तिगत उत्पादक शक्तियो के मामले में गरीब बना देना पडता है। "अज्ञान भी अधविश्वास के साथ-साथ उद्योग की मा है। चिन्तन और कल्पना गलती कर सकते हैं, पर हाथ या पर को हिलाने की आदत दोनो से स्वतत्र होती है। चुनाचे, हस्तनिर्माण सबसे अधिक वहा फलते फूलते ह, जहा मस्तिष्क से कम से कम परामर्श लिया जाता है और जहा वकशाप एक इजन की तरह होती है, जिसके पुर्जे इनसान होते हैं।"[2] सच बात तो यह है कि १८ वीं सदी के मध्य में कुछ इने गिने कारखानेदार ऐसी क्रियाओ के लिये, जो व्यापारिक रहस्य होती थीं, अध-मूढ व्यक्तियो को नौकर रखना पसन्द करते थे।[3]

ऐडम स्मिथ ने कहा है "अधिकतर मनुष्यो की समझ-बूझ की सरचना अनिवाय रूप से उनके साधारण धधो द्वारा होती है। जिस आदमी का पूरा जीवन चन्द सरल सी क्रियाओ को सम्पन्न करने में खर्च हो जाता है उसको अपनी समझ-बूझ पर जोर डालने का कोई मौका नहीं मिलता ऐसा आदमी आम तौर पर इतना मूख और जाहिल हो जाता है, जितना कोई मनुष्य कभी हो सकता है।" तफसीली काम करने वाले मजदूर की मूखता का वणन करने के बाद ऐडम स्मिथ आगे लिखते ह "उसके निश्चल जीवन की एकरसता स्वाभाविक रूप से उसके मन के साहस को कुठित कर देती है यहा तक कि वह उसके शरीर की क्रियाशीलता को भी कुठित कर देती है, और जिसमें वह पला है, एक उस धधे को छोडकर अन्य किसी भी धधे में तेजी और लगन के साथ अपनी शक्ति का प्रयोग करने के उसे अयोग्य बना देती है। इस तरह खुद अपने विशेष धधे में उसकी निपुणता कुछ इस तरह की प्रतीत होती है, जसे वह उसके बौद्धिक, सामाजिक एव सामरिक गुणो की बलि देकर प्राप्त की गयी हो। परतु हर उन्नत और सभ्य समाज में श्रमजीवी गरीबो को (the labouring poor),

---

[1] "ज्ञानी व्यक्ति और उत्पादक मजदूर एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं, और ज्ञान मजदूर के हाथ मे उसकी उत्पादक शक्तिया बढाने के लिए श्रम की परिचारिका के रूप मे काम करने के बजाय लगभग हर जगह श्रम के विरोध में खडा हो गया है और उनकी (मजदूरो की) मास-पेशियो की शक्तियो को सवथा यात्रिक एव आज्ञाकारी बना देने के उद्देश्य से उनको सुनियोजित ढग से धोखा देता है और गुमराह करता है।" (W Thompson, '*An Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth* [डब्लयू० टौम्पसन, 'धन के बटवारे के सिद्धान्तो की जाच'], London 1824 पृ० २७४।)

[2] A Ferguson उप० पु०, प० २८०।

[3] J D Tuckett '*A History of the Past and Present State of the Labouring Population*' [जे० डी० टकेट्ट, 'श्रमजीवी आबादी की भूतकालिक तथा वतमान अवस्था का इतिहास'], London 1846 (ग्रन्थ १, पृ० २७४)।

यानी जनता के अधिकतर भाग को, अनिवार्य रूप से इसी अवस्था को पहुच जाना पड़ता है।"[1] श्रम विभाजन के कारण जन साधारण पूर्ण पतन के गर्त में न गिर जायें, इसके लिये ऐडम स्मिथ की सलाह है कि राज्य को जनता की शिक्षा का प्रबंध करना चाहिये, परन्तु सोच समझकर और बहुत ही सूक्ष्म प्रमात्राओं में। ऐडम स्मिथ के फ्रांसीसी अनुवादक तथा टीकाकार जी० गार्नियर ने, जो पहले फ्रांसीसी साम्राज्य के काल में बड़े स्वाभाविक ढग से सेनेटर बन गये थे, इस मामले में उतने ही स्वाभाविक ढग से ऐडम स्मिथ का विरोध किया है। उन्होंने कहा है कि जनता को शिक्षा देने से श्रम विभाजन के पहले नियम का अतिक्रमण होता है, और यदि ऐसा हुआ, तो "हमारी पूरी समाज-व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी।" उनका कहना है कि "श्रम के अन्य सभी विभाजनों की तरह हाथ के श्रम और दिमाग के श्रम का विभाजन[2] भी उसी अनुपात में अधिक स्पष्ट और निर्णायक रूप धारण करता जाता है, जिस अनुपात में समाज (गार्नियर ने पूजी, भू-सम्पत्ति तथा उनके राज्य के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है, जो ठीक ही है) अधिक धनी होता जाता है। श्रम का यह विभाजन अन्य किसी भी विभाजन की तरह भूत काल का प्रभाव और भावी प्रगति का कारण होता है   तब क्या सरकार को इस श्रम विभाजन के विरोध में काम करना और उसके स्वाभाविक विकास को रोकना चाहिये? क्या सरकार को सार्वजनिक मुद्रा का एक भाग श्रम के दो ऐसे वर्गों को, जिनकी प्रवृत्ति विभाजन और अलगाव की है, जबरदस्ती आपस में गड्ड-मड्ड कर देने और मिलाकर रखने की कोशिश में खर्च कर देना चाहिये?"[3]

शरीर और मस्तिष्क का कुछ हद तक लुज हो जाना तो पूरे समाज में होने वाले श्रम विभाजन में भी अनिवार्य है। लेकिन हस्तनिर्माण चूकि श्रम की शाखाओ के इस सामाजिक अलगाव को कहीं ज्यादा दूर तक ले जाता है और इसके अलावा चूकि अपने खास तरह के श्रम विभाजन के द्वारा वह व्यक्ति के जीवन की जडो पर प्रहार करता है, इसलिये यह पहला श्रम विभाजन

[1] A Smith, "*Wealth of Nations* (ऐडम स्मिथ, 'राष्ट्रों का धन'), पुस्तक ५, अध्याय १, लेख २। ऐडम स्मिथ चूकि ए० फर्गुसन के शिष्य थे, जिन्होंने श्रम विभाजन से पैदा होने वाली बुराइयों पर प्रकाश डाला था, इसलिये इस सवाल पर उनका दिमाग बिल्कुल साफ था। अपनी पुस्तक की भूमिका मे, जहा उन्होंने श्रम विभाजन की ex professo (बहुत होशियारी से) प्रशसा की है, उन्होंने इस बात की ओर महज सरसरी ढग से इशारा किया है कि श्रम विभाजन से सामाजिक असमानताए पैदा हो जाती हैं। और ५ वी पुस्तक के पहले, जिसका विषय राज्य की आय है, उन्होंने इस विषय के सम्बध मे फर्गुसन को कहा उद्धृत नही किया है। मैंने अपनी रचना *Misere de la Philosophie* ('दर्शन की दरिद्रता') मे इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि फर्गुसन, ऐ० स्मिथ, लेमोते और से की श्रम विभाजन सम्बधी आलोचनाओ के बीच क्या ऐतिहासिक सम्बध है, और पहली बार यह प्रमाणित किया है कि हस्तनिर्माण में जिस प्रकार का श्रम विभाजन होता है, वह उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट रूप है।

[2] फर्गुसन ने उप० पु०, पृ० २८१, मे पहले ही यह कह दिया था कि "और अलगाव के इस युग मे चिन्तन खुद एक खास धधा बन सकता है।"

[3] G Garnier ऐडम स्मिथ की पुस्तक के उनके अनुवाद का खण्ड ५, पृ० ४–५।

है, जो औद्योगिक व्याधि विज्ञान के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है और इस विज्ञान का श्रीगणेश करता है।[1]

"किसी आदमी का उप विभाजन कर देना उसे प्राणदण्ड दे देने के समान है, बशर्ते कि वह इस दण्ड के योग्य हो, अन्यथा यह उसकी हत्या कर देने के बराबर है श्रम का उप विभाजन एक कौम की हत्या कर देता है।"[2]

श्रम विभाजन पर आधारित सहकारिता, या दूसरे शब्दो में कहिये, तो हस्तनिर्माण एक स्वयस्फूर्त सघटन के रूप में आरम्भ होता है। जैसे ही वह कुछ स्थिरता तथा विस्तार प्राप्त कर लेता है, वैसे ही वह पूजीवादी उत्पादन का मान्य, नियमित एव सुनियोजित रूप बन जाता है। इतिहास से इस बात का पता चलता है कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, उसमें जो विशिष्ट प्रकार का श्रम विभाजन पाया जाता है, वह पहले अनुभव से, यानी मानो पात्रो के पीठ पीछे, सबसे उपयुक्त रूप प्राप्त कर लेता है और फिर शिल्पी सघो की दस्तकारियो की तरह एक बार इस रूप का पता लगा लेने के बाद सदा उससे चिपके रहने की कोशिश करता है और जहा-तहा सदियो तक अपना यही रूप बनाये रखता है। छोटी मोटी बातो में होने वाली तबदीलियो को छोडकर इस रूप में कोई परिवतन केवल श्रम के औजारो में होने वाली किसी क्रान्ति के कारण ही होता है। आधुनिक हस्तनिर्माण जहा कहीं भी शुरू होता है,—मैं यहा मशीनो पर आधारित आधुनिक उद्योग की चर्चा नहीं कर

---

[1] पैडुआ मे व्यावहारिक चिकित्सा के प्रोफेसर रैमेज़ीनी ने अपनी रचना *De morbis artificum* ('मजदूरो की बीमारिया') १७१३ मे प्रकाशित की थी। उसका फ्रासीसी अनुवाद १७८१ मे हुआ, और १८४१ मे वह *Encyclopedie des Sciences Medicales 7me Dis Auteurs Classiques* मे पुन मुद्रित की गयी। उन्होने मजदूरो की बीमारिया की जो सूची बनायी थी, उसे मशीनो से चलने वाले आधुनिक उद्योग के युग ने, जाहिर है, बहुत बढा दिया है। देखिये *Hygiene physique et morale de l ouvrier dans les grandes villes en general et dans la ville de Lyon en particulier Par le Dr A L Fonteret Paris 1858* और '*Die Krankheiten welche verschiednen Ständen, Altern und Geschlechtern eigenthumlich sind* ६ खण्ड, Ulm 1860 और इसी प्रकार की कुछ अन्य पुस्तकें। १८५४ मे Society of Arts (धधा की परिषद) ने औद्योगिक बीमारियो की जाच करने के लिये एक जाच आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने जो कागज़ पत्र जमा किये थे, उनकी सूची '*Twickenham Economic Museum* ('ट्विक्नेनहेम के आर्थिक सग्रहालय') के सूचीपत्र मे देखी जा सकती है। '*Reports on Public Health* ('सावजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टें') नामक सरकारी पकाशन भी अत्यन्त महत्वपूण है। इसके अलावा, एडुअड राइख (Eduard Reich) एम० डी०, की रचना *Ueber die Entartung des Menschen* Erlargen 1868 भी देखिये।

[2] (D Urquhart, "*Familiar Words* [डी० उर्कुहार्ट, 'सुपरिचित शब्द'] London 1855 पृ० ११९।) श्रम विभाजन के विषय में हेगेल के बहुत ही रूढि विरोधी विचार हैं। अपनी '*Rechtsphilosophie* (दूसरा सस्करण, Berlin 1840, पृ० २४७) में उन्होंने कहा है "सबसे पहले सुशिक्षित लोगो से हमारा अभिप्राय उन व्यक्तियो से होता है, जो हर वह काम कर सकते हैं, जो दूसरे लोग कर सकते हैं।"

रहा हू, –वहीं पर उसे या तो उस सघटन के अवयव, जिससे उसे काम लेना है, इधर उधर बिखरे हुए पहले से तैयार मिल जाते ह, जिनको उसे केवल जमा कर देना होता है, –जसा कि बडे शहरो में कपडे के हस्तनिर्माण में होता है, –और या वह महज किसी दस्तकारी (जसे जिल्दसाजी) की विभिन्न क्रियाओ को केवल कुछ खास व्यक्तियों को सौंपकर बडा आसानी से विभाजन के सिद्धान्त को व्यवहार में ला सकता है। ऐसी सूरत में एक सप्ताह का अनुभव ही अलग अलग कामो के लिये आवश्यक मजदूरा की सख्याओ का अनुपात निर्धारित करने के लिये काफी होता है।[1]

दस्तकारियो को छिन्न भिन्न करके, श्रम के औजारो का विशिष्टीकरण करके, तफसीली काम करने वाले मजदूरो को जन्म देकर और उनको जत्येबन्द करके तथा एक सयुक्त यन्त्र का रूप देकर हस्तनिर्माण में होने वाला श्रम-विभाजन उत्पादन की सामाजिक क्रिया में एक गुणात्मक पद सोपान और परिमाणात्मक अनुपात पैदा कर देता है। इसके फलस्वरूप वह समाज के श्रम का एक निश्चित सगठन पैदा कर देता है और साथ ही उसके द्वारा समाज में नयी उत्पादक शक्तियो को विकसित करता है। श्रम विभाजन अपने विशिष्ट पूजीवादी रूप में, –और जसी परिस्थितिया पहले से मौजूद थीं, उनमें वह पूजीवादी रूप के सिवा और कोई रूप नहीं धारण कर सकता था, –केवल सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने या मजदूर के मत्थे पूजी के आत्म-विस्तार को और तेज करने की ही एक खास पद्धति होता है। इसी पूजी को प्राय सामाजिक धन, 'wealth of nations' ("राष्ट्रो का धन") आदि कहा जाता है। अपने पूजीवादी रूप में श्रम विभाजन न केवल मजदूर के बजाय पूजीपति के हित में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है, बल्कि वह मजदूरो को लुज बनाकर यह काय सम्पन्न करता है। वह श्रम के ऊपर पूजी की प्रभुता के लिये नयी परिस्थितिया पदा कर देता है। इसलिये, यदि एक तरफ वह ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रगतिशील कदम तथा समाज के आर्थिक विकास की एक जरूरी मजिल के रूप में सामने आता है, तो, दूसरी तरफ, वह शोषण की एक सुसस्कृत एव सभ्य प्रणाली भी है।

एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र ने पहले पहल हस्तनिर्माण के काल में जन्म लिया था। वह सामाजिक श्रम विभाजन को केवल हस्तनिर्माण के दृष्टिकोण से ही देखता है[2] और इसे केवल श्रम की एक निश्चित मात्रा की बदौलत पहले से अधिक माल तयार करने और

---

[1] यह सरल विश्वास कि अलग-अलग पूजीपति श्रम का विभाजन करने मे किसी निगम्य (a priori) आविष्कार प्रतिभा का प्रयोग करते हैं, आजकल केवल हेर रोश्चेर के ढग के जमन प्रोफेसरा में ही पाया जाता है। हेर रोश्चेर यह मानकर चलते हैं कि श्रम-विभाजन का विचार पूजीपति के दिमाग से बना-बनाया तैयार निकलता है, जिस तरह मिनर्वा जुपिटर के माथे से निकली थी, और इसके एवज मे हेर रोश्चेर पूजीपति को 'विभिन्न प्रकार की मजदूरिया" (diverse Arbeitslöhne) समर्पित कर देते हैं। श्रम विभाजन का छोटे पैमाने पर प्रयोग किया जायगा या बडे पैमाने पर, यह, असल मे, पूजीपति की प्रतिभा पर नहीं, बल्कि उसकी थैली के आकार पर निर्भर करता है।

[2] पेटी तथा *Advantages of the East India Trade* ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ') के गुमनाम लेखक जैसे पुरान लेखक हस्तनिर्माण मे इस्तेमाल होन वाले श्रम विभाजन के पूजीवादी स्वरूप का ऐडम स्मिथ से अधिक स्पष्टता के साथ निरूपण करते हैं।

इस तरह मालो को सस्ता करने तथा पूजी के सचय में तेजी लाने का ही केवल साधन समझता है। मात्रा तथा विनिमय-मूल्य पर ज़ोर देने की इस प्रवृत्ति के बिल्कुल विपरीत प्राचीन काल के लेखक केवल गुण तथा उपयोग-मूल्य पर जोर देते हैं।[1] उनका कहना है कि उत्पादन की सामाजिक शाखाओ के अलग-अलग हो जाने के फलस्वरूप माल पहले से बेहतर तयार होते है, मनुष्यो की अलग अलग प्रकार की प्रवृत्तियो तथा प्रतिभाओ को उनके उपयुक्त क्षेत्र मिल जाता है,[2] और बहरहाल बिना किसी प्रतिबध के कभी कहीं कोई महत्वपूर्ण काम नहीं किया जा सकता है।[3] इसलिये श्रम-विभाजन से पैदावार और उत्पादक, दोनो का सुधार होता है।

---

[1] आधुनिक लेखको मे १८ वी सदी के चन्द लेखको को इसका अपवाद माना जा सकता है, जैसे बेकारिया और जेम्स हैरिस, जो श्रम विभाजन के सम्बध मे लगभग पूरी तरह प्राचीन काल के लेखको का अनुकरण करते हैं। चुनाचे बेकारिया ने लिखा है 'Ciascuno prova coll' esperienza, che applicando la mano e l ingegno sempre allo stesso genere di opere e di produtte egli piu facili, piu abbondanti e migliori ne traca risul tati di quello che se ciascuno isolatamente le cose tutte a se necessarie sol tanto facesse Dividendosi in tal maniera per la comune e privata utilita gli uomini in varie classi e condizioni' ["यह दैनिक अनुभव की बात है कि जो आदमी अपने हाथो तथा अपनी बुद्धि का सदा एकही प्रकार के काम मे और एक ही तरह की पैदावार तैयार करने मे उपयोग करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा, जो अपनी जरूरत की बहुत सारी चीज़ो को खुद बनाता है, ज्यादा आसानी से और बेहतर काम कर सकेगा और ज्यादा पैदावार तैयार कर सकेगा और इस प्रकार मनुष्या का विभिन्न वर्गो और श्रेणियो मे विभाजन हो जाता है, जिससे सावजनिक और निजी हित आगे बढते हैं।"] (Cesare Beccaria, *Elementi di Econ Pubblica*, Custodi का सग्रह, Parte Moderna ग्रथ ११, पृ० २८।) जेम्स हैरिस ने, जो बाद को मालमसबरी के अर्ल हो गये थे और जो सेण्ट पीटसबुर्ग के अपने राजदूतावास की *Diaries* ('डायरियो') के लिये विख्यात है, अपनी रचना *'Dialogue Concerning Happiness* ('सुख विषयक सम्वाद') (London 1741, बाद को *"Three Treatises &c'* ['तीन रचनाए, आदि'] के लन्दन से १७७२ में प्रकाशित तीसरे सस्करण मे पुन मुद्रित) के एक फुटनोट मे लिखा है "समाज को (धधा के विभाजन के द्वारा) प्राकृतिक सिद्ध करने के लिए दिया गया पूरा तर्क प्लेटो के 'प्रजातत्र' के दूसरे भाग से लिया गया है।"

[2] चुनाचे होमर ने 'ओडीसी' मे लिखा है «Ἄλλος γάρ τ' ἄλλοισιν ἀνὴρ ἐπιτέρπεται ἔργοις» ("लोग असमान होते हैं—ये एक चीज को पसन्द करते हैं, वे दूसरी को") (XIV 228), और आकिलोकस ने सेक्सटस एम्पीरिकस की रचना मे यही बात कही है «ἄλλος ἄλλῳ ἐπ' ἔργῳ καρδίην ἰαίνεται» ("विभिन्न आदमियो को अलग-अलग कामो मे आनन्द आता है")।

[3] «Πολλ' ἠπίστατο ἔργα, κακῶς δ' ἠπίστατο πάντα» ("जो सब कामो मे टाग लडाता है, वह कोई काम नही सीख पाता।")—मालो के उत्पादक के रूप में प्रत्येक एथेसनिवासी अपने को स्पार्टावालो से श्रेष्ठ समझता था, क्योकि स्पार्टावालो के पास लडाई के समय आदमी तो काफी होते थे, पर रुपया नही होता था। पेरिक्लीज ने एथेंसवासियो को

यदि ये लेखक कभी कभार पदावार की मात्रा में होने वाली वृद्धि का जिक्र करते भी ह, तो केवल इस सदभ में कि उपयोग-मूल्यो की पहले से अधिक बहुतायत हो जाती है। विनिमय मूल्य अथवा मालो के पहले से सस्ते हो जाने के बारे में उनकी रचनाओ में एक शब्द भी नहीं मिलता। प्लेटो,[1] जो कि श्रम-विभाजन को वह नींव समझते ह, जिसपर समाज का वर्गों में

पेलेपोनीशियन युद्ध के लिये भडकाते हुए जो भाषण दिया था, उसके दौरान में थ्यूसिडिडाज ने उससे यह भी कहलवाया है कि σώμασί τε ἑτοιμότεροι οἱ αυτουργοί τῶν ἀνθρωπων ἢ κρημασι πολεμειν» ("जा लोग अपने उपभोग के लिये खुद वस्तुए बनाते हैं, वे युद्ध क समय अपनी सम्पत्ति की अपेक्षा अपनी जान ज्यादा आसानी से जोखिम मे डालने को तयार हो जाते हैं") (थ्यूसिडिडीज, भाग १, अध्याय ४१)। फिर भी भौतिक उत्पादन के मामल में भी एथेसवासियो का आदश αατασχεια (आत्मनिभरता) था, न कि श्रम विभाजन παρ ων γαρ το, ευ, παρα τουτωνκαί τὸ αὔταρκες ("सामान और स्वतत्रता का एक ही स्रोत है")। यहा यह बता देना जरूरी है कि ३० अत्याचारियो के पतन के समय भी एथेस मे ५,००० ऐसे आदमी नही थे, जिनके पास कोई भू-सम्पत्ति न हो।

[1]प्लेटो की राय में समाज में श्रम विभाजन इसलिये होता है कि हर व्यक्ति की आवश्यकताए तो बहुत सी, पर उनकी क्षमताए बहुत सीमित होती हैं। उनका मुख्य जोर इस बात पर है कि काम को मजदूर के अनुसार ढालना गलत है, मजदूर को काम के अनुसार अपने को ढालना चाहिये। पर यदि मजदूर एक समय में कई धधे करेगा, तो उनमें से एक न एक धधा गौण हो जायेगा और तब लाजिमी तौर पर काम का मजदूर के अनुसार ढालने की कोशिश की जायेगी। Οὐ γάρ ἐθέλει τὸ πραττόμενον την τοῦ πράττοντος σχολην περιμένειν ἀλλ ἀνάγκη τὸν πράττοντα τῷ πραττομένῳ ἐπακολουθεῖν μη ἐν παρέρ-γου μερει—Ἀνάγκη—Εκ δη τουτν πλειω τε ἕκαστα γίγνεται καὶ καλλιον καὶ ῥᾶον, ὅταν εἰ ἓν κατα φυσιν καὶ ἐν καιρῷ σκολην τῶν ἄλλων ἄγων πράττῃ ["कारण, काम इस बात का इतजार नही करेगा कि काम करने वाले को फुरसत मिले, तो वह उसमें हाथ लगाये। यह तो काम करने वाले का फर्ज है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसका अनुकरण करे और काम को अपना प्रथम उद्देश्य समझे।—उसे यही करना चाहिये।—और यदि ऐसा है, तो हमें इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि जब एक आदमी केवल वह काम करता है, जो उसके लिये स्वाभाविक है, और उसे सही वक्त पर करता है तथा बाकी कामो को औरो के लिये छोड देता है, तब सब चीजें ज्यादा बहुतायत से, ज्यादा आसानी से और बेहतर तैयार होती हैं।"] (*De Republica* ['प्रजातत्र'], खण्ड १, Baiter, Orelli etc का दूसरा सस्करण।) इसी प्रकार थ्यूसिडिडीज (उप० पु०, अध्याय १४२) ने भी लिखा है कि "अन्य किसी भी धधे की तरह जहाजरानी भी एक धधा है, और उसे परिस्थितियो की आवश्यकतानुसार एक गौण धधे के रूप में कोई नही कर सकता। नही, बल्कि कहना चाहिये कि इस धधे के साथ अन्य गौण धधे नहीं किये जा सकते।' प्लेटो का कहना है कि यदि काम को मजदूर का इतजार करना पडता है, तो क्रिया का नाजुक क्षण हाथ से निकल जाता है और वस्तु खराब हो जाती है, "ἔργου καιρὸν διόλλυται" ("काम का फल बरबाद हो जायेगा')। इगलैण्ड के कपडे सफेद करने के कारखानो के मालिक सभी मजदूरो के लिये भोजन का एक समय निश्चित करने वाली फैक्टरी-कानून की धारा का जो विरोध कर रहे

विभाजन आधारित होता है, केवल उपयोग-मूल्य पर जोर देने का यह रुख क्सेनोफोन[1] की भांति ही सुस्पष्टता के साथ अपनाते हैं, जो अपनी पूंजीवादी प्रवृत्ति के कारण वर्कशाप में होने वाले श्रम विभाजन के ज्यादा नजदीक पहुंच जाते हैं। प्लेटो के प्रजातन्त्र में जहा तक राज्य के निर्माणकारी सिद्धान्त के रूप में श्रम-विभाजन की चर्चा की गयी है, वहा तक प्लेटो का प्रजातन्त्र केवल मिश्र की वर्ण व्यवस्था का ही एक एथेंसीय आदर्श रूप है। प्लेटो के बहुत से समकालीन लोगों के लिये भी मिश्र एक औद्योगिक देश के नमूने का काम कर चुका है। अन्य लोगो के अलावा आइसोक्रेटस[2] का भी यही विचार

है, उसमें भी हमें प्लेटो का यही विचार फिर से सुनाई पड रहा है। इन लोगो का व्यवसाय मजदूरो की सुविधा का इतजार नही कर सकता, क्योंकि उनके कारखानो में "झुलसाने, धोने, सफेद करने, इस्तरी करने, भाप से इस्तरी करने और रगने की जो क्रियाए होनी हैं, उनमें से कोई भी किसी एक निश्चित क्षण पर नुकसान के खतरे के बिना नही रोकी जा सकती सभी मजदूरो के लिये यदि भोजन का कोई एक समय निश्चित किया गया, तो कभी-कभी अपूर्ण क्रिया के कारण बहुत कीमती सामान के नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो जायेगा।" Le platonisme ou va t il se nicher! (इसके बाद अब और कहा पर हमें प्लेटोवाद के दर्शन होंगे!)

[1]क्सेनोफोन का कहना है कि ईरान के राजा के लिये तैयार किये गये भोजन में से कुछ पा जाना न केवल सम्मान की बात है, बल्कि यह भोजन अन्य भोजन से अधिक स्वादिष्ट होता है। "और इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। कारण कि जिस तरह बडे शहरों में अन्य कलाओं का खास विकास होता है, उसी तरह शाही भोजन भी एक खास ढग से तैयार किया जाता है। कारण कि छोटे शहरों में चारपाइया, दरवाजे, हल और मेज, सब एक ही आदमी बनाता है, और अक्सर तो घर भी वही बना देता है, और यदि उसके जीवन-निर्वाह के लायक ग्राहक मिल जाते हैं, तो वह खूब सतुष्ट रहता है। जो आदमी इतने बहुत से काम एक साथ करता हो, उसके लिये उन सब को अच्छी तरह करना सर्वथा असम्भव है। परन्तु बडे शहरों में, जहा हरेक को बहुत से खरीदार मिल सकते हैं, एक आदमी के जीवन-निर्वाह के लिये केवल एक धधा ही काफी होता है। नही, बल्कि अक्सर तो एक पूरे धधे की भी जरूरत नही होती, एक आदमी मर्दो के लिये जूते बनाता है, तो दूसरा आदमी औरतो के लिये। कहीं-कही पर एक आदमी जूते सीकर जीविका कमाता है, तो दूसरा जूतो के लिये चमडा काटकर गुजर करता है, एक आदमी कपडे की कटाई के सिवा और दूसरा कटे हुए टुकडो को सीने के सिवा और कुछ नही करता। तो इससे हम अनिवार्य रूप से इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो आदमी सबसे सरल ढग का काम करता है, वह निस्सन्देह उसे सबसे बेहतर करता है। भोजन बनाने की कला के लिये भी यही बात सच है।" (Xenophon *Cyropaedia* ग्रथ ८, अध्याय २।) क्सेनोफोन ने यहा केवल इस बात पर जोर दिया है कि पहले से कितना अच्छा उपयोग मूल्य तैयार हो सकेगा, हालांकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि श्रम विभाजन के सोपान क्रम मण्डी के विस्तार पर निर्भर करते हैं।

[2]"उसने (बुसाइरिस ने) उन सब को विशेष वर्णो मे बाट दिया था उसका आदेश था कि एक व्यक्ति को सदा एक ही धधा करना चाहिये। यह इसलिये कि बुसाइरिस को यह मालूम था कि जो लोग अपना धधा बदलते रहते हैं, वे किसी धधे में निपुण नही हो

था, और रोमन साम्राज्य के काल के यूनानियो के लिये भी मिश्र का यही महत्व बना रहा था।[1]

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, अर्थात जिस काल में पूजीवादी उत्पादन का मुख्य रूप हस्तनिर्माण का होता है, उस काल में हस्तनिर्माण की विशिष्ट प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के रास्ते में बहुत सी बाधाए आती हैं। यद्यपि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, हस्तनिर्माण मजदूरो में वर्गों का एक सोपान क्रम पैदा करने के साथ-साथ उनके बीच निपुण और अनिपुण मजदूरो का एक सरल अलगाव भी पैदा कर देता है, तथापि निपुण मजदूरो का प्रभाव बहुत अधिक होने के कारण अनिपुण मजदूरो की सख्या बहुत सीमित रहती है। यद्यपि हस्तनिर्माण तफसीली कामो को श्रम के जीवित यन्त्रो की अलग-अलग स्तर की परिपक्वता, शक्ति और विकास के अनुरूप बना देता है, जिससे स्त्रियो और बच्चो का शोषण करने में मदद मिलती है, फिर भी मोटे तौर पर यह प्रवृत्ति पुरुष मजदूरो की आदतो तथा उनके प्रतिरोध से टकराकर चकनाचूर हो जाती है। यद्यपि दस्तकारियो के छोटे छोटे कामों में बट जाने से मजदूर को तैयार करने का खर्चा कम हो जाता है और इस तरह उसका मूल्य गिर जाता है, पर ज्यादा मुश्किल ढग के तफसीली काम के लिये अब भी ज्यादा लम्बे समय तक काम सीखने की जरूरत पडती है, और कहीं कहीं तो अनावश्यक होने पर भी मजदूर ईर्ष्यावश उसके लिये इसरार करते हैं। मिसाल के लिये, इगलैण्ड में हम पाते हैं कि हस्तनिर्माण के काल के अन्त तक वहा पर काम सीखने के ऐसे कानून लागू रहे, जिनके मातहत हर मजदूर को सात साल तक शागिर्दी करनी पडती थी, और जब तक आधुनिक उद्योग का काल आरम्भ नहीं हो गया, तब तक इन कानूनो को एक तरफ नहीं फेंका गया। दस्तकारी की निपुणता चूकि हस्तनिर्माण का आधार है और चूकि मोटे तौर पर हस्तनिर्माण के यन्त्र के पास खुद मजदूरो से अलग कोई ढाचा नहीं होता, इसलिये पूजी को लगातार मजदूरो की अवज्ञा से कुश्ती लडनी पडती है। मित्र उरे ने लिखा है "मानव-स्वभाव के अवगुणो का यह परिणाम होता है कि मजदूर जितना अधिक निपुण होता है, उसके उतनी ही ज्यादा मनमानी करने और बेकाबू हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है, और इसलिये जाहिर है कि वह उस यान्त्रिक व्यवस्था का अग बनने के उतना ही कम योग्य रह जाता है, जिसमें काम करते हुए वह पूरे यन्त्र को भारी नुक़सान पहुचा सकता है।"[2] इसलिये हस्तनिर्माण के पूरे काल में हम मजदूरो

पाते, मगर जो लोग सदा एक ही धधे मे लगे रहते हैं, वे उसका अधिक से अधिक पूर्ण विकास करने मे सफल होते हैं। कलाओ और दस्तकारियो के मामले में तो हम यह तक पायेंगे कि एक उस्ताद एक नौसिखुए के मुकाबले में हमेशा जितना आगे रहता है, ये लोग अपने प्रतिद्वद्वियो के मुकाबले में उससे भी ज्यादा आगे निकल गये हैं, और राजतन्त्र को तथा अपने राज्य की अन्य सस्थाओ को कायम रखने के लिये उन्होने जो उपाय निकाले हैं, वे इतने प्रशसनीय हैं कि सब से अधिक विख्यात दार्शनिक भी जब इस विषय की चर्चा करने बैठते हैं, तो अन्य राज्यो की अपेक्षा मिश्री राज्य की सगठना की अधिक प्रशसा करते हैं।' (Isocrates *Busiris* (आइसाक्रेटस, 'बुसाइरिस'), अध्याय ८।)

[1] देखिये Diodorus Siculus (*'Diodor's V Sicilien Historische Bibliothek'* ग्रन्थ १, 1831)।

[2] Ure उप० पु०, पृ० २०।

में अनुशासन के अभाव की शिकायत सुनते रहते हैं।[1] और इस विषय में यदि हमारे पास तत्कालीन लेखकों की रचनाओं का प्रमाण न भी होता, तो भी इस प्रकार के साधारण तथ्य से ही कि १६ वीं शताब्दी और आधुनिक उद्योग के युग के बीच के काल में पूंजी कभी हस्तनिर्माण करने वाले मजदूरों के समस्त प्राप्य श्रम-काल की मालिक नहीं बन पायी, या इससे कि हस्तनिर्माण प्राय अल्पजीवी होते थे और एक देश से दूसरे देश को आते जाते रहने वाले मजदूरों के साथ-साथ अपना स्थान बदलते रहते थे, इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। "*Essay on Trade and Commerce* ('व्यापार और वाणिज्य पर निबंध') के उस लेखक ने, जिसे हम कई बार उद्धृत कर चुके हैं, १७७० में घोषणा की "व्यवस्था किसी न किसी तरह क़ायम करनी ही पड़ेगी।" इसके ६६ वर्ष बाद डा० एण्ड्रयू उरे मानो उसके शब्दों को दोहराते हुए फिर मांग करते हैं "व्यवस्था होनी चाहिये।" उनके शब्दों में, "श्रम-विभाजन की पंडिताऊ रूढ़ि पर आधारित" हस्तनिर्माण में "व्यवस्था" का अभाव था, और "व्यवस्था आर्कराइट ने पैदा की है।"

इसके साथ-साथ हस्तनिर्माण या तो समाज के उत्पादन पर पूरी तरह अधिकार करने में असमर्थ रहता था और या वह इस उत्पादन की अंतरात्मा में क्रांति नहीं पैदा कर पाता था। वह शहर की दस्तकारियों और देहात के घरेलू उद्योगों की विशाल नींव पर एक आर्थिक कलाकृति के रूप में सिर उठाये हुए खड़ा था। जब उसके विकास की एक खास मंजिल आयी, तो यह संकुचित प्राविधिक आधार, जिसपर हस्तनिर्माण टिका हुआ था, उत्पादन की उन आवश्यकताओं से टकराने लगा, जिनको स्वयं उसी ने जन्म दिया था।

हस्तनिर्माण की एक सबसे अधिक परिष्कृत सृष्टि वह वर्कशाप थी, जिस में खुद श्रम के औज़ारों का उत्पादन होता था और जिसमें खास तौर पर वे पेचीदा यान्त्रिक उपकरण तयार किये जाते थे, जो उस समय तक उत्पादन में इस्तेमाल होने लगे थे। उरे ने कहा है कि "ऐसी वर्कशाप बहुसंख्यक सोपानों सहित श्रम विभाजन का परिचय देती थी। रेती, बरमा, खराद का अलग-अलग मजदूर था, जो सोपान-क्रम के अनुसार अपनी निपुणता के स्तर के आधार पर एक या दूसरे ढंग से दूसरे मजदूरों से सम्बन्धित था।" (पृ० २११) यह वर्कशाप, जो हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन की पैदावार थी, मशीनें तैयार करती थी। ये मशीनें ही सामाजिक उत्पादन के नियामक सिद्धान्त के रूप में दस्तकार के काम को उठाकर अलग फेंक देती हैं। इस प्रकार एक तरफ तो मजदूर को सारी उम्र के लिये एक तफसीली काम से बांध देने का प्राविधिक कारण समाप्त हो गया। दूसरी तरफ, वे बंधन टूट गये, जो स्वयं इस सिद्धान्त ने पूंजी के प्रभुत्व पर लगा रखे थे।

---

[1] हालैण्ड की अपेक्षा फ्रांस के लिये और फ्रांस की अपेक्षा इंगलैण्ड के लिये यह बात अधिक सच है।

भाग ४ – (पूर्वानुवद्ध)

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

पन्द्रहवा अध्याय

मशीनें और आधुनिक उद्योग

अनुभाग १ – मशीनो का विकास

जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक *'Principles of Political Economy"* ('अर्थशास्त्र के सिद्धात') में कहा है "अभी तक जितने यात्रिक आविष्कार हुए ह, उनसे किसी भी मनप्यु की[1] दिन भर की मेहनत जरा भी हल्की हो गयी हो, यह एक काफी सशयास्पद बात है।" किन्तु मशीनो के पूजीवादी उपयोग का यह उद्देश्य तो कदापि नहीं है। श्रम की उत्पादकता में होने वाली दूसरी प्रत्येक वृद्धि की भाति मशीनो का भी उद्देश्य माला को सस्ता बनाना और काम के दिन के उस भाग को छोटा करके, जिसमें मजदूर खुद अपने लिये काम करता है, उस दूसरे भाग को लम्बा कर देना होता है, जो वह उसका सम-मूल्य पाये बिना ही पूजीपति को दे देता है। सक्षेप में, मशीने अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन होती ह।

हस्तनिर्माण में उत्पादन की प्रणाली में होने वाली क्राति श्रम-शक्ति से शुरु होती है, आधुनिक उद्योग में वह श्रम के औजारो से शुरू होती है। इसलिये सब से पहले हमें यह पता लगाना है कि श्रम के औजार औजारो से मशीनो में कसे बदल गये, या यह कि मशीन और दस्तकारी के औजारो में क्या फर्क होता है? हमारा सम्बध यहा पर केवल उल्लेखनीय एव सामान्य विशेषताओ से है, क्योंकि जिस प्रकार भूगर्भ विज्ञान के युगो को एक दूसरे से अलग करने वाली कोई कठोर और निश्चित सीमा-रेखाए नहीं होतीं, उसी प्रकार समाज के इतिहास के युगों को अलग करने वाली भी नहीं होतीं।

गणित और यात्रिकी के विद्वान औजार को सरल मशीन और मशीन को सश्लिष्ट औजार कहते हैं, और इगलैण्ड के कुछ अर्थशास्त्री भी उन्हीं का अनुकरण करते ह। वे उनमें कोई बुनियादी अन्तर नहीं देखते, और यहा तक कि उन्होने सरल ढग की यात्रिक शक्तिया को,

---

[1] मिल का यहा असल में यह कहना चाहिये था "किसी भी ऐसे मनुप्य की, जो दूसरा के श्रम पर जीवित नही रहता," क्याकि मशीनो ने धनी मुफ्तखोग की सख्या निस्सन्देह वहुत वढा दी है।

जसे लीवर, ढालू समतल, पेच, पच्चर आदि को भी मशीन का नाम दे दिया है।[1] प्रत्येक मशीन असल में इन सरल शक्तियो का ही योग होती है, भले ही उन पर किसी भी प्रकार का आवरण डाल दिया गया हो। आर्थिक दृष्टिकोण से इस व्याख्या का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तत्व का अभाव है। औज़ार और मशीन के अंतर की एक और व्याख्या यह है कि औज़ार की चालक शक्ति मनुष्य होता है, जब कि मशीन की चालक शक्ति मनुष्य से भिन्न कोई चीज होती है, जसे, मिसाल के लिये, कोई जानवर, पानी, हवा, आदि, आदि। इस मत के अनुसार, बलो द्वारा खींचा जाने वाला हल, जो एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न युगो में समान रूप से पाया जाता है, मशीन है, मगर Claussen's circular loom (क्लौस्सेन का वृत्ताकार करघा), जिसपर केवल एक मजदूर काम करता है और जो एक मिनट में ९६,००० फन्दे बुनता है, महज औज़ार है। इतना ही नहीं, यही loom (करघा) जब हाथ से चलाया जायेगा, तो औज़ार माना जायेगा, मगर यदि उसे भाप से चलाया गया, तो वह मशीन हो जायेगा। और चूकि पशु-शक्ति का प्रयोग मनुष्य के सब से पहले आविष्कारों में से है, इसलिये मशीनो के द्वारा होने वाला उत्पादन, इस मत के अनुसार, दस्तकारियो वाले उत्पादन के भी पहले शुरू हो गया था। १७३५ में जब जान व्याट्ट ने अपनी कातने की मशीन तैयार की और १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया तो उन्होंने आदमी के बजाय गधे के द्वारा इसके चलाये जाने के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा था, मगर फिर भी यह काम गधे के ही जिम्मे पडा। व्याट्ट ने उसका वर्णन इस तरह किया था कि यह "बिना उगलियो के कातने की" मशीन है।[3]

---

[1] उदाहरण के लिये, देखिये हट्टन की रचना 'गणित का पाठ्यक्रम' (Hutton, "*Course of Mathematics*, खण्ड १–२)।

[2] "इस दृष्टिकोण से हम औज़ार और मशीन के बीच एक स्पष्ट सीमा-रेखा खीच सकते है। फावडे, हथौडे, छेनिया आदि और लीवरो और पेचो के योग– इन सब में, और अन्य बातो में वे चाहे जितने पेचीदा क्यो न हो, चालक शक्ति मनुष्य होता है ये सारी चीजे औज़ारो की मद में आती है। लेकिन हल, जो पशु शक्ति से खीचा जाता है, और पवन चक्की आदि को मशीनो की मद में रखना पडेगा।" (Wilhelm Schulz *Die Bewegung der Produktion*, Zurich 1843 पृ० ३८।) अनेक दृष्टियो से यह पुस्तक पठनीय है।

[3] व्याट्ट के काल के पहले भी मशीनो का इस्तेमाल हो चुका था, हालाकि वे मशीनें बहुत अधूरे ढग की थी। इटली में वे शायद सबसे पहले सामने आयी थी। यदि प्रौद्योगिकी का कोई आलोचनात्मक इतिहास लिखा जाये, तो उससे यह बात स्पष्ट हो जाये कि १८ वी सदी के किसी भी आविष्कार को किसी एक व्यक्ति का काम समझना कितना गलत है। अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नही लिखी गयी है। डार्विन ने प्रकृति की प्रौद्योगिकी के इतिहास में, यानी पौधो और पशुओ की उन इन्द्रियो के निर्माण के इतिहास में, जो उनके भरण पोषण के लिये उत्पादन के साधनो का काम करती है, हमारी रुचि पैदा कर दी है। तब क्या मनुष्य की उत्पादक इन्द्रियो का इतिहास—उन इन्द्रियो का इतिहास, जो समस्त सामाजिक सगठन का आधार होती है,—इस योग्य नही है कि उसकी ओर भी हम उतना ही ध्यान दें? और क्या इस तरह का इतिहास तैयार करना ज्यादा आसान नही होगा, क्योकि, जैसा कि विको ने

पूरी तरह विकसित सभी मशीनें तीन बुनियादी तौर पर भिन्न भागो की बनी होती हैं एक–मोटर-यन्त्र, दूसरा–सचालक यन्त्र और, अन्त में, तीसरा–औजार या कार्यकारी यन्त्र। मोटर-यन्त्र वह होता है, जो पूरी मशीन को गति में लाता है। वह या तो खुद अपनी चालक शक्ति पैदा करता है, जैसा कि भाप से चलने वाला इजन, गरम हवा से चलने वाला इजन, विद्युत-चुम्बकीय मशीन आदि करते है, और या उसे पहले से मौजूद किसी प्राकृतिक शक्ति से आवेग प्राप्त होता है, जैसे पन चक्की को ऊचाई पर से नीचे गिरने वाले पानी से और पवन-चक्की को हवा से आवेग प्राप्त होता है, इत्यादि। सचालक यन्त्र गतिपालक चक्रो, ईषासहति, दत-चक्रो, घिरनियो, पट्टो, रस्सियो, पट्टियो, दातो वाले छोटे पहियो और अनेक प्रकार के योक्त्रो का बना होता है। वह गति का नियमन करता है, जहा आवश्यकता होती है, वहा उसका रूप बदल देता है, जसे कि अनुरेख गति को वृत्तीय गति में बदल देता है, और गति का विभाजन करके उसे कार्यकारी यन्त्रो में बाट देता है। सम्पूर्ण मशीन के ये पहले दो भाग केवल कार्यकारी यन्त्रो को गति में लाने के लिये होते हैं, जिस गति के द्वारा श्रम की विषय वस्तु पर अधिकार करके उसे इच्छानुसार परिवर्तित कर दिया जाता है। औजार या कार्यकारी यन्त्र मशीन का वह भाग है, जिससे १८ वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ हुई थी। और आज तक जब कभी कोई दस्तकारी या हस्तनिर्माण मशीन से चलने वाले उद्योग में रूपान्तरित किया जाता है, तो सदा इसी हिस्से से परिवर्तन आरम्भ होता है।

कार्यकारी यन्त्र का ज्यादा नजदीक से अध्ययन करने पर हम एक सामान्य नियम के तौर पर, हालाकि काफी बदले हुए रूप में, वही उपकरण और औजार पाते है, दस्तकार या हस्तनिर्माण करने वाला मजदूर जिनका इस्तेमाल करता था। अन्तर केवल इतना होता है कि मनुष्य के औजार होने के बजाय ये एक यन्त्र के औजार होते हैं, या यू कहिये कि वे यान्त्रिक औजार होते हैं। या तो पूरी मशीन दस्तकारी के पुराने औजार का एक कमोबेश बदला हुआ यान्त्रिक सस्करण मात्र होती है, जैसा कि, उदाहरण के लिये, शक्ति से चलने वाला करघा

कहा है, मानव-इतिहास प्राकृतिक इतिहास से केवल इसी बात में भिन्न है कि उसका निर्माण हमने किया है, जब कि प्राकृतिक इतिहास का निर्माण हमने नही किया है? प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार पर और उत्पादन की उस क्रिया पर प्रकाश डालती है, जिससे वह अपना जीवन निर्वाह करता है और इस तरह वह उसके सामाजिक सम्बधो तथा उनसे पैदा होने वाली मानसिक अवधारणाओ के निर्माण की प्रणाली को भी खोलकर रख देती है।[1] यहा तक कि धर्म का इतिहास लिखने में भी यदि इस भौतिक आधार का ध्यान में नही रखा जाता, तो ऐसा प्रत्येक इतिहास आलोचनात्मक दृष्टि से वचित हो जाता है। असल मे जीवन के वास्तविक सम्बधो से इन सम्बधो के तदनुरूप दैविक सम्बधो का विकास करने की अपेक्षा धर्म की धूमिल सृष्टि का विश्लेषण करके उसके लौकिक सार का पता लगाना कही अधिक आसान है। यही एकमात्र भौतिकवादी पद्धति है, और इसलिये यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। प्राकृतिक विज्ञान का अमूर्त भौतिकवाद ऐसा भौतिकवाद है, जो इतिहास तथा उसकी प्रक्रिया को अपने क्षेत्र से बाहर रखता है। जब कभी उसके प्रवक्ता अपने विशेष विषय की सीमाओ के बाहर कदम रखते हैं, तब उनकी अमूर्त एव वैचारिक अवधारणाओ मे इस भौतिकवाद की त्रुटिया तुरन्त स्पष्ट हो जाती हैं।

होता है,[1] और या मशीन के ढाचे में लगे हुए कार्यकारी औज़ार हमारे पुराने परिचित औज़ार होते ह। कताई करने वाले म्यूल में लगे हुए तकुए, मोज़े बुनने के करघे में लगी हुई सुइया, आराकशी की मशीन में लगे हुए आरे, काटने वाली मशीन में लगे हुए चाकू इसी तरह के औज़ार हैं। इन औज़ारो और मशीन के मुख्य ढांचे का भेद उनके जन्म से ही चला आता है, क्योंकि ये औज़ार अब भी प्राय दस्तकारी अथवा हस्तनिर्माण के द्वारा ही तैयार होते रहते ह और बाद को मशीन के ढांचे में, जो कि मशीनो द्वारा तैयार होता है, जोड़ दिये जाते ह। इसलिये, मशीन असल में एक ऐसा यत्र होती है, जो गतिमान होने के बाद अपने औज़ारो से वही क्रियाए करता है, जो पहले मज़दूर इसी तरह के औज़ारो के द्वारा करते थे। चालक शक्ति चाहे मनुष्य से प्राप्त होती हो, चाहे किसी अन्य मशीन से, इससे इस सिलसिले में कोई अन्तर नहीं आता। जिस क्षण कोई औज़ार मनुष्य से लेकर किसी यत्र में जोड़ दिया जाता है, बस उसी क्षण से महज़ औज़ार का स्थान मशीन ले लेती है। यहां तक कि जहा पर खुद मनुष्य ही मूल चालक बना रहता है, वहा पर भी यह अन्तर तुरन्त ध्यान आकर्षित करता है। जिन औज़ारो को आदमी खुद इस्तेमाल कर सकता है, उनकी सख्या उत्पादन के उसके अपने प्राकृतिक औज़ारो की सख्या से, यानी उसकी शारीरिक इद्रियो की सख्या से, सीमित होती है। जर्मनी में लोगो ने पहले एक कातने वाले से दो चर्खों को चलवाने की कोशिश की, यानी वे चाहते थे कि मज़दूर अपने दोनो हाथो और अपने दोनो परो से एक साथ काम करे। यह बहुत मुश्किल साबित हुआ। बाद को परो से चलाया जाने वाला चर्खा ईजाद किया गया, जिसमें दो तकुए लगे थे, पर कताई करने में प्रवीण ऐसे मज़दूर, जो एक साथ दो धागे निकाल सकते हो, लगभग उतने ही दुलभ थे, जितने दो सिर वाले इनसान। दूसरी ओर, जेनी अपने जन्म काल से ही १२ – १८ तकुओ से कताई करती थी और मोज़े बुनने का करघा कई हज़ार सुइयों से एक साथ बुनाई करता है। मशीन एक साथ जितने औज़ारो से काम ले सकती है, उनकी सख्या शुरू से ही उन सीमाओ से मुक्त हो जाती है, जो दस्तकारो के औज़ारो पर उसकी इद्रियो के रूप में लगी रहती हैं।

हाथ के बहुत से औज़ारो में मात्र चालक शक्ति रूपी मनुष्य और मज़दूर रूपी मनुष्य – या औज़ारो से सचमुच काम लेने वाले कारीगर रूपी मनुष्य – का भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये, पैर केवल चर्खे की चालक शक्ति का काम करता है, जब कि हाथ, तकुए से काम लेता हुआ और धागे को खींचता और ऐंठता हुआ, कताई की वास्तविक क्रिया को

---

[1] खास तौर पर उसके आदिम रूप में तो पहली दृष्टि में ही प्राचीन काल का करघा नजर आ जाता है। अपने आधुनिक रूप में शक्ति से चलने वाले करघे में कुछ मौलिक परिवतन हो गये हैं।

[2] अभी पिछले पन्द्रह बरस स ही (यानी लगभग १८५० से) मशीनो के इन औज़ारा का अधिकाश इगलैण्ड मे मशीना के द्वारा तैयार होने लगा है। और अब भी इन औज़ारा को मशीन बनाने वाले कारखानेदार तैयार नही करते। इस तरह के यान्त्रिक औज़ारा को बनाने वाली मशीना की कुछ मिसालें ये हैं automatic bobbin making engine (स्वचालित मशीनो की फिरकिया बनाने वाली मशीन), card setting engine (धुनाई का औज़ार बनाने वाली मशीन), तुरी बनाने वाली मशीनें और म्यूल तथा थ्रोसल के तकुओ को गढने वाली मशीनें।

सम्पन्न करता है। औद्योगिक क्रान्ति दस्तकार के औजार के इस अंतिम भाग पर सब से पहले अधिकार करती है, और अपनी आखो से मशीन को बराबर देखते रहने और उसकी ग़लतियो को अपने हाथो से ठीक कर देने का जो नया श्रम अब मजदूर को करना पडता है, उसके अलावा उसके जिम्मे केवल यह यान्त्रिक भूमिका ही रह जाती है कि वह मशीन की चालक शक्ति के रूप में काम आये। दूसरी ओर, जिन औजारो के सम्बध में मनुष्य सदा एक सरल चालक शक्ति का काम करता रहा है,–जसा कि वह, मिसाल के लिये, चक्की की कुहनी पकडकर घुमाने,[1] पम्प चलाने, धौंकनी का हैंडिल ऊपर-नीचे चलाने, कुडी में सोटे से पीटने आदि के समय करता है,–उन औजारो के लिये शीघ्र ही पशु, पानी[2] या हवा का चालक शक्तियो के रूप में उपयोग करने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। कहीं कहीं पर हस्तनिर्माण के काल के बहुत पहले और कुछ हद तक उस काल में भी ये औजार मशीनो का रूप धारण कर लेते हैं, लेकिन उससे उत्पादन की पद्धति में कोई क्रान्ति नहीं होती। किन्तु आधुनिक उद्योग के काल में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हाथ से चलाये जाने वाले साधनो के रूप में भी ये औजार मशीनों का रूप धारण कर चुके हैं। मिसाल के लिये, जिन पम्पो से डच लोगो ने १८३६–३७ में हार्लेम झील को ख़ाली कर दिया था, वे साधारण पम्पो के सिद्धान्त के अनुसार ही बनाये गये थे। अन्तर केवल यह था कि उनके पिस्टन आदमियो द्वारा नहीं, बल्कि भाप के दत्याकार इजनों द्वारा चलाये जाते थे। इगलण्ड में लोहार की साधारण तथा अत्यन्त अविकसित धौंकनी कभी कभी अपने दस्ते को किसी भाप के इजन के साथ जोडकर इजन-धौंकनी बन जाती है। खुद भाप के इजन से, जसा कि वह १७ वीं सदी के अन्त में, हस्तनिर्माण के काल में, अपने आविष्कार के समय था और जैसा कि वह १७८० तक बना रहा,[3] किसी प्रकार की औद्योगिक

[1] मूसा ने कहा है "जो बैल अनाज माडता है, उसके मुह पर कभी छीका मत चढा।" पर, इसके विपरीत, जमनी के ईसाई दानवीर, जब वे अर्द्ध-दासा से आटा पीसन की क्रिया मे चालक शक्ति का काम लेते थे, तो उनके गले में लकडी का एक तख्ता बाध देते थे, ताकि वे हाथ से उठाकर आटा मुह में न डाल सकें।

[2] डच लोग यदि चालक शक्ति के रूप में हवा का उपयोग करने पर मजबूर हो गय, तो इसका कुछ हद तक तो यह कारण था कि उनके देश में ऐसी नदियो की कमी थी, जो काफी ऊचाई से गिरती हा, और कुछ हद तक यह कारण था कि उन्हे अक्सर अन्य क्षेत्रों में पानी की आवश्यकता से अधिक प्रचुरता के विरुद्ध सघर्ष करना होता था। पवन चक्की खुद उन्हें जमनी से मिली थी, जहा पर उसके आविष्कार से सामन्तो, पादरियो और सम्राट के बीच इस बात पर एक अच्छा-खासा झगडा शुरू हो गया था कि हवा उनमें से किसकी "सम्पत्ति है"। सारे जमनी में शोर मच गया कि हवा लोगो को गुलामी में जकड देती है, जब कि वही हवा हालैण्ड को आज़ादी दे रही थी। वहा हवा के द्वारा हालैण्ड वासी गुलामी में नही जकडे गये, बल्कि जमीन हालैण्ड वासिया की गुलाम बना दी गयी। १८३६ में भी हालैण्ड में ६,००० अश्व शक्ति की १२,००० पवन चक्किया देश की दो तिहाई भूमि को फिर से दलदल बन जाने से बचाने के लिये इस्तेमाल हो रही थी।

[3] वाट्ट के पहले तथाकथित एक दिश क्रिय इजन का आविष्कार होने पर भाप का इजन बहुत कुछ सुधर गया था, पर इस रूप में वह महज पानी ऊपर उठाने और नमक की खाना में से नमक का पानी निकालने की मशीन बना रहा।

क्रान्ति का आरम्भ नहीं हुआ था। इसके विपरीत, मशीनो के आविष्कार के कारण भाप के इजनो के रूप में क्रान्ति होना आवश्यक हो गया था। जिस क्षण मनुष्य अपने श्रम की विषय वस्तु पर किसी औज़ार के ज़रिये काम करने के बजाय किसी औज़ार-मशीन की चालक शक्ति बन जाता है, बस उसी क्षण से चालक शक्ति का मनुष्य की मास-पेशियो के रूप में होना महज एक सयोग हो जाता है। उतनी ही आसानी से वह हवा, पानी या भाप का रूप भी धारण कर सकती है। पर, जाहिर है, ऐसा होने पर उस यत्र में, जो शुरू में केवल मनुष्य के द्वारा चलाये जाने के लिये बनाया गया था, बहुत बडी प्राविधिक तबदीलिया हो जाती ह। आजकल ऐसी सभी मशीनें, जिनका प्रचार होना अभी बाकी है, जसे सीने की मशीनें या डबल रोटी बनाने की मशीनें आदि, जब तक कि उनके स्वरूप के कारण ही छोटे पैमाने पर उनका उपयोग असम्भव न हो, इस तरह बनायी जाती ह कि वे मानव चालक शक्ति और विशुद्ध यान्त्रिक चालक शक्ति दोनो के द्वारा चलायी जा सकें।

औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश करने वाली मशीन अकेले एक औज़ार से काम करने वाले मजदूर के स्थान पर एक ऐसा यत्र स्थापित कर देती है, जो इसी प्रकार के कई औज़ारो से एक साथ काम करता है और जो केवल एक चालक शक्ति द्वारा ही गति में लाया जाता है, उस शक्ति का रूप चाहे कुछ भी हो।[1] यह मशीन तो होती है, पर अभी वह मशीनो से होने वाले उत्पादन का केवल एक प्राथमिक तत्व ही होती है।

मशीन के आकार में तथा वह जिन औज़ारो से काम करती है, उनकी सख्या में वृद्धि हो जाने पर उसे चलाने के लिये पहले से अधिक भारी भरकम यत्र की आवश्यकता होती है, और इस यत्र के लिये, उसके प्रतिरोध पर काबू पाने के वास्ते, मनुष्य से अधिक बलवान चालक शक्ति की जरूरत होती है। इसके अलावा, यह बात तो है ही कि समरूप निरन्तर गति पदा करने के लिये मनुष्य बहुत अच्छा साधन नहीं है। मगर मान लीजिये कि मनुष्य केवल एक मोटर के रूप में काम कर रहा है और उसके औज़ार का स्थान किसी मशीन ने ले लिया है। ऐसी हालत में जाहिर है कि उसका स्थान प्राकृतिक शक्तिया ले सकती ह। *हस्तनिर्माण के काल से जितनी चालक शक्तिया विरासत में मिली थीं, उनमें अश्व-शक्ति* सबसे खराब थी। कुछ हद तक तो इसलिये कि अश्व का खुद अपना भी एक मस्तिष्क होता है, और कुछ हद तक इसलिये कि वह बहुत महगा होता है और कारखानो में बहुत सीमित पैमाने पर ही उसका उपयोग किया जा सकता है।[2] फिर भी आधुनिक उद्योग के बाल्य काल में घोडे का

[1] "इन तमाम सरल औज़ारो का योग जब किसी एक मोटर द्वारा हरकत में लाया जाता है, तो वह मशीन बन जाता है।" (Babbage उप० पु० [पृ० १३६])।

[2] जनवरी १८६१ में जान सी० मौटन ने Society of Arts (धधो की परिषद) के सामने "खेती में इस्तेमाल होने वाली शक्तिया" के विषय में एक निबध पढा था। उसमें उन्होने कहा है "हर ऐसे सुधार के फलस्वरूप, जिससे जमीन की समरूपता बढती है, भाप का इजन विशुद्ध यान्त्रिक शक्ति के उत्पादन मे अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगता है   अश्व शक्ति वहा आवश्यक होती है, जहा कही टेढी मेढी मेंडा तथा अन्य रुकावटो के कारण समरूप कार्य में बाधा पडती है। इस तरह की रुकावटें दिन ब दिन मिटती जा रही है। ऐसे कार्यों में, जिनमें वास्तविक बल की अपेक्षा इच्छा शक्ति के उपयोग की अधिक आवश्यकता होती है, एकमात्र वही शक्ति इस्तेमाल हो सकती है, जिसपर प्रत्येक क्षण मानव मस्तिष्क का नियत्रण

काफी व्यापक पैमाने पर उपयोग किया गया था। इसका एक प्रमाण तो यह है कि "अश्व-शक्ति" शब्द आज तक यान्त्रिक शक्ति के नाम के रूप में जीवित है। इसके साथ-साथ, उसका दूसरा प्रमाण समकालीन काश्तकारो की शिकायतें थीं।

हवा बहुत अनिश्चित रहती थी, और उसपर नियन्त्रण करना भी सम्भव नहीं था। इसके अलावा, इगलैण्ड में, जो कि आधुनिक उद्योग का जन्म-स्थान है, हस्तनिर्माण के काल में भी पानी की शक्ति का ज्यादा इस्तेमाल होता था। एक अकेली पन चक्की से आटा पीसने की दो चक्किया चलाने की कोशिशें १७ वीं सदी में ही हो चुकी थीं। लेकिन योक्त्र या गियर का आकार इतना बढ़ गया था कि पानी की शक्ति उसे सभाल नहीं पाती थी और वह अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी। यह कठिनाई भी एक कारण थी, जिसने घर्षण के नियमो का अधिक सही अध्ययन आवश्यक बनाया। इसी प्रकार जो चक्किया एक लीवर को दबाकर और खींचकर गति में लायी जाती थीं, उनमें चालक शक्ति से पदा होने वाली अनियमितता के फलस्वरूप गतिपालक चक्र के सिद्धान्त ने जन्म लिया और उसका उपयोग आरम्भ हुआ। इसने बाद में आधुनिक उद्योग में बहुत बडी भूमिका अदा की।[1] इस प्रकार, हस्तनिर्माण के काल में आधुनिक यान्त्रिक उद्योग के प्रथम वैज्ञानिक एव प्राविधिक तत्व विकसित किये गये। आकराइट की थ्रौसल कताई-मशीन शुरू से ही पानी के जरिये चलायी जाती थी। लेकिन इस सब के बावजूद प्रमुख चालक शक्ति के रूप में पानी का उपयोग करने में बहुत कठिनाइयो का सामना करना पडता था। पानी की शक्ति को इच्छानुसार बढाया नहीं जा सकता था, कुछ खास मौसमो में वह बेकार हो जाती थी, और सबसे बडी बात यह थी कि बुनियादी तौर पर यह एक स्थानीय ढग की शक्ति

रहता है। अर्थात ऐसे कार्यों में केवल मनुष्य शक्ति ही उपयोग में आ सकती है।" इसके बाद मि० मौटन भाप-शक्ति, अश्व-शक्ति और मनुष्य शक्ति को उस इकाई में परिवर्तित कर देते है, जो भाप के इजनो में आम तौर पर इस्तेमाल होती है। ३३,००० पौण्ड वजन को एक मिनट में एक फुट ऊपर उठाने के लिए जो शक्ति आवश्यक होती है, वही यह इकाई है। फिर वह हिसाब लगाकर दिखाते है कि जब भाप के इजन से एक अश्व-शक्ति ली जाती है, तो उसकी लागत ३ पेंस प्रति घण्टा बैठती है, और जब वह घोडे से ली जाती है, तो उसकी लागत $५\frac{१}{२}$ पेंस प्रति घण्टा होती है। इतना ही नही, यदि हम किसी घोडे का स्वास्थ्य ठीक रखना चाहते है, तो हम उससे ८ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नही ले सकते। इसलिये, यदि भाप की शक्ति का उपयोग किया जाये, तो जमीन के जोतने-बोने में इस्तेमाल होने वाले हर सात घोडो में से कम से कम तीन घोडो के बिना ही काम चल सकता है। और भाप की शक्ति में पूरे एक साल में जो खर्च होगा, वह इन तीन घोडो के उन तीन या चार महीना के खर्च से ज्यादा नही होगा, जिनमें उनसे सक्रिय रूप से काम लिया जा सकता था। अन्त में, खेती की जिन क्रियाओ में भाप की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है, उनमें उसके इस्तेमाल से अश्व शक्ति की अपेक्षा काम का स्तर ऊचा हो जाता है। एक भाप के इजन का काम करने के लिये ६६ आदमियो की जरूरत होगी, जिनपर कुल १५ शिलिग फी घण्टा खर्च होंगे, जब कि एक घोडे का काम करने के लिये ३२ आदमियो की जरूरत होगी, जिनपर कुल ८ शिलिग फी घण्टा खर्च होंगे।

[1] फौलहाबेर, १६२५, दे कौज, १[illegible]

थी।[1] वाट्ट के दूसरे और भाप के तथाकथित उभय-क्रिया इंजन का आविष्कार होने तक कोई ऐसा मूल चालक नहीं बनाया जा सका था, जो कोयला और पानी खर्च करके खुद अपनी शक्ति पैदा कर लेता हो, जिसकी शक्ति पूर्णतया मनुष्य के नियंत्रण में हो, जिसे एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाना सम्भव हो, जो संचलन के साधन के रूप में काम में आ सकता हो, जो शहरी हो, न कि पन-चक्की की तरह देहाती, जो पन-चक्कियों की तरह पूरे देहात में बिखरा हुआ न हो, बल्कि जिसके द्वारा उत्पादन को शहरों में केन्द्रीभूत किया जा सके,[2] जिसका सार्वत्रिक प्राविधिक उपयोग किया जा सके और जिसके निवास-स्थान पर स्थानीय परिस्थितियों का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ता हो। वाट्ट ने अप्रैल १७८४ में अपने आविष्कार के उपयोग का जो एकाधिकार-पत्र प्राप्त किया था, उसके विवरण से प्रकट होता है कि उनकी प्रतिभा कितनी महान कोटि की थी। उस विवरण में वाट्ट के बनाये हुए भाप के इंजन का एक विशिष्ट प्रयोजन के आविष्कार के रूप में वर्णन नहीं किया गया था, बल्कि उसमें कहा गया है कि यांत्रिक उद्योग में इस आविष्कार का सार्वत्रिक उपयोग हो सकता है। उसमें वाट्ट ने उसके बहुत से उपयोग गिनाये हैं, जिनमें से बहुत से तो आधी शताब्दी बाद तक भी कार्यान्वित नहीं हो पाये थे। इसकी एक मिसाल है भाप का हथौड़ा। फिर भी वाट्ट को भाप के इंजन के जहाजरानी में इस्तेमाल हो सकने के बारे में सन्देह था। पर उनके उत्तराधिकारी बूल्टन और वाट्ट ने १८५१ की प्रदर्शनी में महासागरों में चलने वाले जहाजों के लिये विराट आकार के भाप के इंजन बनाकर भेजे थे।

जब मनुष्य के हाथ के औजार किसी यांत्रिक उपकरण के—अर्थात मशीन के—औजारों में बदल गये, तो चालक यंत्र ने भी तुरन्त ही एक ऐसा स्वतंत्र रूप प्राप्त कर लिया, जो मानव-शक्ति की सीमाओं से सर्वथा मुक्त था। इसके बाद वह एक अकेली मशीन, जिसपर हम अभी तक विचार करते रहे हैं, मशीनों से होने वाले उत्पादन का मात्र एक तत्व बन गयी। अब एक चालक यंत्र बहुत सी मशीनों को एक साथ चलाने लगा। एक साथ जितनी मशीनें चलायी जाती हैं, उनकी संख्या के साथ-साथ चालक यंत्र भी विकसित होता जाता है, और संचालक यंत्र एक बहुत फैलता हुआ उपकरण बन जाता है।

---

[1] जल शक्ति के औद्योगिक उपयोग पर पहले जो अनेक बंधन लगे हुए थे, उनमें से कई एक से उसे आधुनिक टर्बाइन (जल-चक्र) ने मुक्त कर दिया है।

[2] "कपड़े के हस्तनिर्माण के शुरू के दिनों में कारखाना उस स्थान पर बनाया जाता था, जहां इतनी ऊंचाई से गिरने वाली कोई नदी होती थी, जिससे पन-चक्की को चलाना सम्भव होता था। और हालांकि पानी से चलने वाली मिलों की स्थापना से हस्तनिर्माण की घरेलू व्यवस्था का विघटन आरम्भ हो गया था, परन्तु फिर भी मिलें चूंकि अनिवार्य रूप से नदियों के तट पर खोली जाती थीं और अक्सर दो मिलों के बीच काफी फासला होता था, इसलिये वे एक शहरी व्यवस्था का नहीं, बल्कि एक देहाती व्यवस्था का ही भाग थीं। और जब तक नदी का स्थान भाप की शक्ति ने नहीं ले लिया, तब तक कारखानों को शहरों में, और ऐसे स्थानों में इकट्ठा नहीं किया जा सका, जहां पर भाप के उत्पादन के लिये आवश्यक कोयला और पानी पर्याप्त मात्रा में मिलते थे। भाप का इंजन ही कारखाना वाले शहरों का जनक है।" (ए० रेडग्रेव *Reports of Inspectors of Factories for 30th April, 1860* ['फैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६०'], पृ० ३६।)

अब हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि एक ही प्रकार की अनेक मशीनो के सहकार और मशीनो की एक सश्लिष्ट प्रणाली में क्या भेद है।

पहली सूरत में पूरी वस्तु एक मशीन से तयार होती है। यह मशीन तरह-तरह की उन तमाम क्रियाओ को कर डालती है, जिन्हें पहले या तो कोई एक दस्तकार अपने औजार से करता था, जसे, मिसाल के लिये, बुनकर अपने करघे द्वारा, या जिनको कई दस्तकार एक के बाद एक अलग अलग रूप से अथवा हस्तनिर्माण की किसी प्रणाली के सदस्यो के रूप में करते थे।[1] मिसाल के लिये, लिफाफो के हस्तनिर्माण में एक आदमी भाजने वाले औजार से कागज की तह करता था, दूसरा गोद लगाता था, तीसरा वह सिरा मोड देता था, जिसपर कोई चिह्न अकित करना होता था, चौथा चिह्न अकित कर देता था और इसी तरह अन्य लोग अन्य प्रकार के काम करते जाते थे, और इनमें से प्रत्येक क्रिया के लिये लिफाफे को एक नये हाथ में पहुचना पडता था। पर लिफाफे बनाने वाली एक अकेली मशीन अब ये सारी क्रियाए एक साथ करती जाती है और एक घण्टे में ३,००० लिफाफे बनाकर फेंक देती है। १८६२ की लन्दन की प्रदर्शनी में कागज की थैलिया बनाने वाली एक मशीन दिखायी गयी थी। वह कागज काटती थी, चिपकाती थी, मोडती थी और एक मिनट में ३०० थैलिया तैयार कर देती थी। यहा उस पूरी क्रिया को, जो कि हस्तनिर्माण के रूप में कई उपक्रियाओ में बटी हुई थी, अनेक औजारो के योग से काम लेने वाली एक अकेली मशीन पूरा कर डालती है। अब, ऐसी मशीन चाहे किसी सश्लिष्ट ढग के हाथ के औजार का नवीन रूप मात्र हो या चाहे वह हस्तनिर्माण द्वारा विशिष्टीकृत अनेक प्रकार के सरल औजारो का योग हो, दोनो सूरतो में फक्टरी में, यानी उस वर्कशाप में, जिसमें केवल मशीनो का ही इस्तेमाल होता है, हमारी एक बार फिर सरल सहकारिता से भेंट होती है। और यदि फिलहाल मजदूर को एक तरफ छोड दिया जाये, तो यह सहकारिता सबसे पहले एक ही प्रकार की कई एक साथ काम करने वाली मशीनो के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने के रूप में हमारे सामने आती है। चुनाचे, बुनाई की फैक्टरी साथ-साथ काम करने वाले कई शक्ति-चालित करघो की और सिलाई की फक्टरी एक ही मकान के अन्दर काम करने वाली सीने की बहुत सी मशीनो की बनी होती है। लेकिन यहा पर पूरी व्यवस्था में एक प्राविधिक एकता होती है, क्योकि सब मशीनो को एक समान मूल चालक के स्पन्दनो से, सचालक यत्र के माध्यम द्वारा एक साथ और बराबर मात्रा में आवेग प्राप्त होता है। और यह सचालक यत्र भी कुछ हद तक सब मशीनो का साझा ही होता है, क्योकि उसकी केवल विशिष्ट उप-शाखाए ही प्रत्येक मशीन से जा मिलती ह। इसलिये, जिस प्रकार कई औजार किसी एक मशीन की इन्द्रिया होते ह, उसी प्रकार एक ही तरह की कई मशीनें चालक यत्र की इन्द्रिया होती ह।

[1] हस्तनिर्माण में होने वाले श्रम-विभाजन की दृष्टि से बुनाई कोई सरल श्रम नही था, बल्कि, इसके विपरीत, वह एक पेचीदे ढग का हाथ का श्रम था। और इसलिये ताकत से चलने वाला करघा एक ऐसी मशीन है, जो बहुत पेचीदे ढग का काम करती है। यह समझना बिल्कुल गलत है कि आधुनिक मशीनो ने शुरू में केवल उन क्रियाओ पर अधिकार किया था जिनका श्रम विभाजन ने सरल बना दिया था। हस्तनिर्माण के काल में कताई और बुनाई नयी प्रजातियो में बट गयी थी और उनके औजारो में बहुत से परिवतन और सुधार कर दिये गये थे लेकिन खुद श्रम किसी तरह नही बटा था, और वह उस समय भी दस्तकारी ही बना हुआ था। इसलिये श्रम नही, बल्कि श्रम का औजार मशीन के प्रस्थान बिंदु का काम करता है।

लेकिन जिसे सचमुच "मशीनो की सहति" कहा जा सकता है, वह इन स्वतत्र मशीनो का स्थान उस वक्त तक नहीं ले सकती, जब तक कि श्रम की विषय वस्तु उन तफसीली क्रियाओ के एक सम्बद्ध क्रम से नहीं गुजरती, जिनको एक दूसरे का काम पूरा करने वाली, नाना प्रकार की अनेक मशीनो की एक पूरी माला सम्पन्न करती है। यहा पर फिर वही श्रम विभाजन के द्वारा सम्पन्न होने वाली सहकारिता दिखाई देती है, जो हस्तनिर्माण की मुख्य विशेषता है। किन्तु अब यहा तफसीली काम करने वाली मशीनो का योग होता है। तरह-तरह के तफसीली काम करने वाले मजदूरो के औजार, – जैसे ऊन के हस्तनिर्माण में ऊन छाटने वालो, ऊन साफ करने वालो और ऊन कातने वालो आदि के औजार, – अब विशिष्टीकृत मशीनो के औजारो में बदल जाते है, जिनमें से प्रत्येक मशीन पूरी प्रणाली की एक विशिष्ट इन्द्रिय होती है, जो एक खास काम करती है। उद्योग की जिन शाखाओ में मशीनो की सहति का पहले पहल उपयोग शुरू होता है, उनमें, मोटे तौर पर, स्वय हस्तनिर्माण उत्पादन की क्रिया का विभाजन तथा, इसलिये, सगठन करने के लिये एक प्राकृतिक आधार प्रस्तुत कर देता है।[1] फिर भी एक मूलभूत अतर तुरत प्रकट हो जाता है। हस्तनिर्माण में हर खास तफसीली क्रिया मजदूरो को या तो अकेले और या दल बनाकर अपने दस्तकारी के औजारो से पूरी करनी पडती है। उसमें एक ओर यदि मजदूर को उत्पादन प्रक्रिया के अनुरूप ढाला जाता है, तो, दूसरी ओर, उत्पादन प्रक्रिया को भी पहले ही से मजदूर के योग्य बना दिया गया था। श्रम विभाजन का यह मनोगत सिद्धात मशीनो से होने वाले उत्पादन में लागू नहीं होता। यहा तो पूरी क्रिया को अलग करके उसका वस्तुगत ढग से अध्ययन किया जाता है, यानी इस बात का खयाल किये बिना कि यह क्रिया

---

[1] यान्त्रिक उद्योग के युग के पहले ऊन का हस्तनिर्माण इगलैण्ड का सबसे प्रमुख हस्तनिर्माण था। यही कारण है कि अठारहवी सदी के पूर्वाध में इस उद्योग मे सबसे अधिक प्रयोग किये गये। ऊन के सम्बध में जो अनुभव प्राप्त हुआ, उसका लाभ कपास ने उठाया, जिसे मशीन में डालने के वास्ते तैयार करने में कम एहतियात की जरूरत होती है। इसी तरह, बाद को मशीनो के द्वारा ऊन की कताई-बुनाई मशीनो के द्वारा कपास की कताई और बुनाई के रास्ते पर चलकर विकसित हुई। ऊन के हस्तनिर्माण के कुछ खास तफसीली काम, जैसे ऊन साफ करने का काम, १८५६ और १८६६ के बीच के दस वर्षों में ही फैक्टरी व्यवस्था में शामिल किये गये हैं। "ऊन साफ करने की मशीन के और खास तौर पर लिस्टर की मशीन के इस्तेमाल में आने के समय से ही ऊन साफ करने की क्रिया में बडे व्यापक पैमाने पर शक्ति का उपयोग हो रहा है और उसका निस्सदेह यह प्रभाव हुआ है कि मजदूरो की एक बहुत बडी सख्या बेकार हो गयी है। पहले ऊन को हाथ से साफ किया जाता था, और वह भी बहुधा साफ करने वाले की झोपडी में। अब वह आम तौर पर कारखाने में साफ किया जाता है, और कुछ खास तरह के कामो को छोडकर, जिनमे अब भी हाथ से साफ किया गया ऊन ही पसद किया जाता है, अब हाथ के श्रम के लिये स्थान नही रह गया। हाथ से ऊन साफ करने वाले बहुत से कारीगरो को कारखानो में नौकरी मिल गयी, लेकिन हाथ से साफ करने वालो की पैदावार मशीनो की पैदावार के अनुपात में इतनी कम बैठती है कि हाथ से ऊन साफ करने वाले कारीगरो की एक बहुत बडी सख्या को रोजी मिलना अब असम्भव हो गया है।" (*"Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1856* ['फैक्टरियो के इन्सपेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० १६।)

मानव-हाथो को पूरी करनी होगी, उसका विश्लेषण किया जाता है और उसको उसकी सघटक उपक्रियाओ में बाट दिया जाता है और हर तफसीली उपक्रिया को कार्यान्वित करने तथा सारी उपक्रियाओ को एक सम्पूर्ण इकाई में जोडने की समस्या को मशीनो तथा रसायन विज्ञान आदि की सहायता से हल किया जाता है।[1] लेकिन जाहिर है कि इस सूरत में भी बडे पमाने पर अनुभव सचय करके सिद्धात को पूर्णता प्रदान करना आवश्यक होता है। तफसीली काम करने वाली हर मशीन क्रम में अगले नम्बर की मशीन को कच्चा माल तयार करके देती है, और चूकि तमाम मशीनें एक साथ काम करती होती ह, इसलिये पदावार सदा अपने निर्माण की विभिन्न अवस्थाओ में से गुजरती रहती है और साथ ही वह निरन्तर एक परिवर्तनकालीन दशा में, एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था में प्रवेश करने की दशा में, बनी रहती है। जिस प्रकार हस्तनिर्माण में तफसीली काम करने वाले मजदूरो की प्रत्यक्ष सहकारिता विशिष्ट दलो की सख्या के बीच एक अनुपात स्थापित कर देती है, ठीक उसी प्रकार मशीनो की सगठित सहति में भी, जहा तफसीली काम करने वाली एक मशीन सदा किसी दूसरी मशीन को काम में लगाये रहती है, मशीनो की सख्या, आकार तथा गति के बीच एक निश्चित अनुपात क़ायम हो जाता है। सामूहिक मशीन अब नाना प्रकार की मशीनो तथा मशीनो के दलो की एक सगठित सहति होती है, और वह उतनी ही पूण होती जाती है, जितनी उत्पादन की पूरी क्रिया एक निरतर चलने वाली क्रिया बनती जाती है, अर्थात् कच्चे माल के उत्पादन प्रक्रिया की पहली अवस्था से अतिम अवस्था तक गुजरने में जितने कम व्याघात होते हैं, या, दूसरे शब्दो में, जितना उसके एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुचने का काय मनुष्य के हाथो के द्वारा नहीं, बल्कि खुद मशीनो के द्वारा सम्पन्न होता है। हस्तनिर्माण में हर तफसीली उपक्रिया का पथक कर दिया जाना श्रम विभाजन के स्वरूप के कारण अनिवाय हो जाता है, पर एक पूरी तरह विकसित फक्टरी में, इसके विपरीत, इन क्रियाओ की अविच्छिनता अनिवाय होती है।

मशीनो की सहति चाहे केवल एक ही प्रकार की मशीनो की सहकारिता पर आधारित हो, जैसा कि बुनाई में होता है, और चाहे अलग अलग प्रकार की मशीनो के योग पर आधारित हो, जैसा कि कताई में होता है, वह खुद जब कभी किसी स्वचालित मूल चालक के द्वारा चलायी जाती है, तब सदा एक बडा लम्बा चौडा स्वचालित यत्र बन जाती है। लेकिन जहा कोई फैक्टरी पूरी की पूरी खुद अपने भाप के इजन द्वारा चलायी जाती है, वहा पर भी या तो कुछ खास मशीनो को अपने कुछ खास सचलनो के लिये मजदूर की मदद की आवश्यकता हो सकती है (स्वचालित म्यूल का आविष्कार होने के पहले म्यूल के आधार को इधर से उधर दौडाने में इस तरह की मदद की जरूरत होती थी, और महीन कताई करने वाली मिलो में उसकी आज भी आवश्यकता होती है) और या किसी मशीन के काम करने के लिये यह जरूरी हो सकता है कि उसके कुछ खास हिस्सो से मजदूर हाथ के औजारो की तरह काम ले। जब तक slide rest (फिसलने वाला आधार) स्वचालित नहीं हो गया, तब तक मशीन बनाने वालो की वकशापो में यही सूरत होती थी। जब कोई मशीन बिना आदमी की मदद के कच्चे

---

[1] "अतएव, फैक्टरी व्यवस्था का सिद्धात यह है कि कारीगरा के बीच श्रम का विभाजन अथवा क्रम भाजन करने के वजाय किसी क्रिया को उसके मौलिक सघटका में विभक्त कर दिया जाये।" (Andrew Ure *The Philosophy of Manufactures* [एण्ड्रयू उरे, 'उद्योगो का दशन'], London 1835 पृ० २०।)

माल का परिष्कार करने के लिये आवश्यक समस्त क्रियाओ को पूरा करने लगती है और जब उसे आदमी की केवल देखरेख की ही आवश्यकता रह जाती है, तब मशीनो की स्वचालित सहति तैयार हो जाती है। इस सहति की तफसीली बातो में निरन्तर सुधार किया जा सकता है। मिसाल के लिये, वह उपकरण, जो धागे के टूटते ही कताई की मशीन को चलने से रोक देता है, और वह self-acting stop (स्वचालित रोक), जो शठल बोबिन में बाना खतम हो जाते ही ताकत से चलने वाले करघे को रोक देती है,—इस प्रकार के सुधार काफी आधुनिक आविष्कारो के फल ह। उत्पादन की निरन्तरता तथा स्वत चलन के सिद्धान्त का उपयोग—इन दोनो बातो के उदाहरण के रूप में हम कागज की किसी आधुनिक मिल को ले सकते ह। कागज उद्योग में आम तौर पर हम न केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों पर आधारित उत्पादन की अलग अलग प्रणालियो के भेदो का विस्तार के साथ उपयोगी अध्ययन कर सकते हैं, बल्कि उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियो का इन प्रणालियो से जो सम्बध होता है, उसका भी तफसील के साथ अध्ययन कर सकते हैं। कारण कि पुराने जमाने में जमनी में जिस तरह कागज बनाया जाता था, वह दस्तकारी के ढग के उत्पादन का नमूना था, १७ वीं सदी में हालण्ड में और १८ वीं सदी में फ्रास में जिस तरह कागज बनाया जाता था, वह हस्तनिर्माण की मिसाल था, और आधुनिक इगलैण्ड में कागज तयार करने का ढग स्वचालित उत्पादन का नमूना है, इसके अलावा, हिन्दुस्तान और चीन में इसी उद्योग के दो प्राचीन एशियाई रूप आज भी मौजूद ह।

मशीनो की ऐसी सगठित सहति, जिसे सचालक यन्त्र के द्वारा एक केन्द्रीय स्वचालित यन्त्र से गति प्राप्त होती है, मशीनो से होने वाले उत्पादन का सबसे अधिक विकसित रूप होती है। यहा पर अलग-अलग काम करने वाली मशीनो के बजाय एक यान्त्रिक दैत्य होता है, जिसकी देह पूरी फैक्टरियो को भर देती है और जिसकी राक्षसी शक्ति, जो शुरू में उसके दैत्याकार अवयवो की नपी-तुली और धीमी गति के आवरण के पीछे छिपी हुई थी, आखिर अब उसकी असख्य कायकारी इन्द्रियो के कोलाहलपूर्ण आवत्तन के रूप में फूट पडती है।

इससे पहले कि ऐसे मजदूर, जिनका एकमात्र धधा म्यूल और भाप के इजन बनाना था, दिखाई दिये, दुनिया में म्यूल और भाप के इजन आये। यह उसी तरह की बात है जसे दर्जियो के पदा होने के बहुत पहले से लोग कपडे पहन रहे थे। किन्तु यदि वौकासन, आकराइट, वाट्ट तथा अन्य व्यक्तियो के आविष्कार व्यावहारिक सिद्ध हुए, तो केवल इसीलिये कि इन आविष्कारको के लिये हस्तनिर्माण के काल ने पहले से ही निपुण यान्त्रिक मजदूरो की एक काफी बडी सख्या तयार कर रखी थी। इनमें से कुछ मजदूर विभिन्न धधो के स्वतत्र दस्तकार थे, दूसरे ऐसे हस्तनिर्माणो में एकत्रित हो गये थे, जिनमें, जसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रम विभाजन का कडाई के साथ उपयोग किया जाता था। जैसे-जसे आविष्कारो की सख्या बढती गयी और नयी-नयी ईजाद की गयी मशीनो की माग में वृद्धि होती गयी, वसे-वसे मशीन बनाने वाला उद्योग अधिकाधिक अनेक स्वतत्र शाखाओ में बटता गया और इन हस्तनिर्माणों में श्रम विभाजन का अधिकाधिक विकास होता गया। इस तरह यहा पर हम देखते ह कि हस्तनिर्माण में आधुनिक उद्योग का तात्कालिक प्राविधिक आधार था। हस्तनिर्माण ने ही वे मशीनें तयार की थीं, जिनके जरिये आधुनिक उद्योग ने उत्पादन के उन क्षेत्रो में, जिनपर उसने सबसे पहले अधिकार किया था, दस्तकारी तथा हस्तनिर्माण की प्रणालियो का अन्त कर दिया। इसलिये, घटनाओं के स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार फक्टरियो की व्यवस्था एक अपर्याप्त नींव पर

खडी हुई थी। जब इस व्यवस्था का एक खास हद तक विकास हो गया, तो उसे इस नींव को, जो उसे पहले से तैयार मिली थी और जो इस बीच पुराने ढर्रे पर ही विकसित हो गयी थी, उखाड देना पडा और अपने लिये खुद एक ऐसा आधार तयार करना पडा, जो उसके उत्पादन के तरीक़ो के अनुरूप था। जिस प्रकार जब तक मशीन केवल मनुष्य की शक्ति से ही चलती है, तब तक वह वामनाकार बनी रहती है, और जिस प्रकार जब तक प्राचीन काल की चालक शक्तियो का स्थान–अर्थात पशुओ, हवा और यहा तक कि पानी का भी स्थान–भाप के इजन ने नहीं ले लिया, तब तक मशीनो की किसी भी सहति का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका, उसी प्रकार जब तक आधुनिक उद्योग के उत्पादन के विशिष्ट साधन–मशीन–का अस्तित्व व्यक्तिगत बल और व्यक्तिगत निपुणता पर निभर था और जब तक उसका अस्तित्व हस्तनिर्माणो में तफसीली काम करने वाले मजदूरो और दस्तकारियो के हाथ से काम करने वाले कारीगरो की मास-पेशियो के विकास, दृष्टि की तीक्ष्णता और अपने वामनाकार औज़ारो से काम करने में उनकी हाथ की सफाई पर निर्भर करता था, तब तक आधुनिक उद्योग के पूण विकास को मानो लकवा मारे रहा। इस तरह जो मशीनें बनायी जाती थीं, वे बहुत महगी पडती थीं, और यह एक ऐसी बात है, जिसका पूजीपति को हमेशा खयाल रहता है। पर इसके अलावा यह बात भी साफ है कि मशीनो का इस्तेमाल करने वाले उद्योगो के विस्तार की और उत्पादन के नये क्षेत्रों पर मशीनो की चढ़ाई की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि मजदूरो के एक खास वग की सख्या में कितनी वृद्धि होती है, जब कि यह खास वग अपने धधे के लगभग कलापूण स्वरूप के कारण अपनी सख्या को एक ही झटके में नहीं, केवल धीरे-धीरे ही बढा सकता था। इतना ही नहीं, विकास की एक विशेष अवस्था पर पहुचकर आधुनिक उद्योग प्रौद्योगिक दृष्टि से उस आधार के साथ मेल नहीं खा पाया, जो दस्तकारी तथा हस्तनिर्माण ने उसके लिये तयार किया था। मूल चालको का, सचालक यत्रो का और खुद मशीनो का आकार बढता गया। ये मशीनें जितनी ही हाथ के श्रम से बनायी गयी उन आदिम मशीनो के नमूनो से भिन्न होती गयीं और जितनी ही वे एक ऐसा रूप धारण करती गयीं, जो काम की परिस्थितियो[1] के सिवा और किसी बात से प्रभावित नहीं होता, उनके छोटे छोटे हिस्सो की जटिलता, अनेकरूपता और

---

[1] शक्ति से चलने वाला करघा पहले मुख्यतया लकडी का बनाया जाता था। अपने सुधरे हुए रूप में वह लोहे का बनाया जाता है। उत्पादन के औजारो के पुराने रूप शुरू-शुरू में अपने नये रूपा को कितना अधिक प्रभावित करते थे, यह बात अन्य चीजो के अलावा शक्ति से चलने वाले मौजूदा करघे की पुराने करघे के साथ बहुत ही सतही ढग से तुलना करने पर भी देखी जा सकती है, यह बात हवा भट्ठी को धौंकने वाले आधुनिक यत्र का साधारण धौंकनी की उस प्रथम निकम्मी यात्रिक पुनरावत्ति से मुकाबला करने पर भी स्पष्ट हो जाती है, और इस बात पर सबसे अधिक प्रकाश शायद उन कोशिशा से पडता है, जो रेल के वतमान इजन का आविष्कार होने के पहले एक ऐसा इजन बनाने के लिये की गयी थी, जिसके दो पैर ऐसे हो, जिनको वह घोडे की तरह बारी-बारी से ज़मीन से उठा सके। जब यात्रिकी के विज्ञान का काफी विकास हो जाता है और बहुत सारा व्यावहारिक अनुभव इकट्ठा हो जाता है केवल तभी किसी मशीन का रूप पूरी तरह यात्रिक सिद्धान्तो के अनुसार तै हो पाता है और केवल तभी वह उस औजार के परम्परागत रूप से मुक्त हो पाती है, जिसने उसको जन्म दिया है।

नियमितता भी उतनी ही बढती गयीं। स्वत चलन की प्रणाली का अधिकाधिक विकास होता गया। दिन-ब दिन पहले से अधिक ऊष्मसह पदार्थ का – जैसे लकडी के बजाय लोहे का – प्रयोग अनिवाय बनता गया। परन्तु परिस्थितियो के प्रभाव से अपने आप उत्पन्न हो गयी इन तमाम समस्याओ का हल करने में एक रुकावट का हर जगह सामना करना पडता था। वह उन व्यक्तिगत सीमाओ की रुकावट थी, जिन्हें हस्तनिर्माण का सामूहिक मजदूर भी कुछ हद तक ही दूर कर सका था, लेकिन उनसे पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था। हस्तनिर्माण ऐसी मशीनें कभी नहीं बना सकता था, जैसे आधुनिक द्रवचालित दाबक, ताक़त से चलने वाला आधुनिक करघा और धुनाई की आधुनिक मशीन।

जब उद्योग के किसी एक क्षेत्र में उत्पादन की प्रणाली में मौलिक क्रान्ति हो जाती है, तो अन्य क्षेत्रो में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। यह सबसे पहले उद्योग की उन शाखाओ में होता है, जो एक ही प्रक्रिया की अलग अलग अवस्थाए होने के नाते तो जुडी हुई होती हैं, पर साथ ही जो सामाजिक श्रम विभाजन के द्वारा एक दूसरे से इस तरह अलग कर दी गयो ह कि उनमें से प्रत्येक एक स्वतन्त्र माल तयार करती है। चुनाचे, जब कताई मशीनों से होने लगी, तो मशीनो से बुनाई करना भी आवश्यक हो गया, और फिर दोनो ने मिलकर कपडे सफेद करने के धधे में और कपडो की छपाई और रगाई में भी वह यान्त्रिक तथा रासायनिक क्रान्ति आवश्यक बना दी, जो बाद को सम्पन्न हुई। दूसरी ओर, इसी तरह कपास की कताई में क्रान्ति होने पर बिनौलो को रूई से अलग करने के लिये कपास ओटने की कल का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। कताई की मशीनो के लिये आजकल जिस बहुत पैमाने पर रूई का उत्पादन करना जरूरी हो गया है, वह केवल इसी आविष्कार के फलस्वरूप सम्भव हुआ था।[1] इससे भी अधिक विशेष रूप से, जब उद्योग तथा खेती की उत्पादन प्रणालियो में क्रान्ति हुई, तो उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया की सामान्य परिस्थितियो में – अर्थात सचार और परिवहन के साधनो में – भी एक क्रान्ति का होना आवश्यक हो गया। फूरिये के शब्दो में, जिस समाज की pivot (धुरी) सहायक घरेलू उद्योगो समेत छोटे पैमाने की खेती और शहरो की दस्तकारिया थी, उस समाज में जिस प्रकार के सचार और परिवहन के साधन थे, वे हस्तनिर्माण के काल के उत्पादन की आवश्यकताओ के लिये, जिसमें सामाजिक श्रम का विस्तारित विभाजन था, जिसके श्रम के औजारो और मजदूरो का केन्द्रीकरण हो गया था और जिसके लिये उपनिवेशो में मडिया तयार हो गयी थीं, इतने अधिक अपर्याप्त थे कि उनमें सचमुच क्रान्तिकारी परिवतन हो गये। इसी प्रकार हस्तनिर्माण के काल से आधुनिक उद्योग को सचार और परिवहन के जो साधन मिले, वे इस नये ढग के उद्योग के लिये, जिसमें तूफानी गति से उत्पादन होता है, जिसका विस्तार बहुत लम्बा-चौडा है, जो पूजी और श्रम को सदा उत्पादन के एक क्षेत्र से निकालकर दूसरे क्षेत्र में डालता रहता है और जिसके पूरे ससार की मण्डियो से नवोत्पादित सम्बध स्थापित हो चुके

---

[1] एलि व्हिटने की बनायी हुई cotton gin (कपास ओटने की कल) में अभी हाल तक जितने कम मौलिक परिवतन हुए थे, उतने कम परिवतन १८ वी सदी की किसी और मशीन में नहीं हुए थे। यह केवल (१८५६ के बाद के) पिछले दस वर्षों की ही बात है कि अल्वानी, न्यू यार्क के निवासी, मि० एमेरी नामक एक और अमरीकी व्यक्ति ने व्हिटने की कल में एक ऐसा सुधार करके, जो जितना कारगर है, उतना ही सरल भी है, उसे बीते जमाने की चीज बना दिया।

ह, शीघ्र ही असहनीय बाधायें बन गये। इसलिये, समुद्र में चलने वाले वाष्प जलपोतो की बनावट में जो मूलभूत परिवतन किये गये, उनके अलावा नदियो में चलने वाले स्टीमरो, रेलो और समुद्र में चलने वाले वाष्प-जलपोतो की एक पूरी व्यवस्था और तार प्रणाली के जम से सचार और परिवहन के साधन धीरे-धीरे यान्त्रिक उद्योग की उत्पादन पद्धतियो के अनुरूप बन गये। लेकिन अब लोहे की जिन भारी राशियो को गढना, जोडना, काटना, बरमाना और ढालना पडता था, उनके लिये दैत्याकार मशीनो की आवश्यकता हुई, जिनको बनाने के लिये हस्तनिर्माण के काल के तरीके सवथा अपर्याप्त थे।

चुनाचे, आधुनिक उद्योग को उत्पादन के अपने इस विशिष्ट औजार को – अर्थात मशीन को – खुद अपने हाथ में लेना पडा और मशीनो के द्वारा मशीनें बनानी पडीं। जब तक उसने यह नहीं किया, तब तक वह अपने लिये एक समुचित प्राविधिक आधार नहीं तयार कर पाया और न अपने परो पर ही खडा हो पाया। इधर मशीनो का उपयोग बढ़ता गया, उधर उसी के साथ-साथ वर्तमान शताब्दी के शुरू के बीस-तीस वर्षों में मशीनो ने धीरे धीरे मशीनो के निर्माण पर भी अधिकार कर लिया। लेकिन यह बात १८६६ के पहले के दस वर्षों में ही देखने में आयी कि रेलो और समुद्र में चलने वाले जहाजो का बहुत ही बडे पमाने पर निर्माण करने के लिये वे दत्याकार मशीनें तयार होने लगीं, जो आजकल मूल चालको के निर्माण में इस्तेमाल होती ह।

मशीनो द्वारा मशीनें तयार करने के लिये सबसे अधिक जरूरी चीज यह थी कि कोई ऐसा मूल चालक मिले, जो किसी भी मात्रा में बल का प्रयोग कर सके और फिर भी जो पूरी तरह नियत्रण में रहे। भाप के इजन ने यह जरूरत पहले ही से पूरी कर दी थी। लेकिन इसके साथ-साथ मशीनो के तफसीली हिस्सो के लिये आवश्यक, रेखागणित की दृष्टि से बिल्कुल नपी-तुली सीधी रेखाए, समतल, वृत, बेलन, कोन और गोले बनाने की आवश्यकता थी। यह समस्या हेनरी मौड्स्ले ने इस शताब्दी के पहले दशक में slide rest (फिसलने वाले आधार) का आविष्कार करके हल कर दी। यह औजार शीघ्र ही स्वचालित बना दिया गया, और खराद के अलावा, जिसके लिये वह शुरू शुरू में बनाया गया था, वह कुछ सशोधित रूप में कतिपय अन्य निर्माणकारी मशीनो में भी इस्तेमाल होने लगा। यह यान्त्रिक उपकरण किसी विशेष औजार का नहीं, बल्कि खुद आदमी के हाथ का स्थान ले लेता है। आदमी का हाथ काटने वाले औजार को पकडकर उसकी धार लोहे या अन्य किसी पदार्थ से लगाता था और इस तरह उस पदार्थ को कोई निश्चित रूप दे देता था। अब यह काम यह यान्त्रिक उपकरण करने लगता है। इस प्रकार, मशीनो के अलग-अलग हिस्सो को "इतनी आसानी और फुर्ती के साथ और इतने नपे-तुले ढग से" बनाया जाने लगा, "जिसका अधिक से अधिक निपुण मजदूर के हाथ में सचित अनुभव भी मुक़ाबला नहीं कर सकता था।"[1]

---

[1] *The Industry of Nations* (*'राष्ट्रा का उद्योग'*), London 1855 *भाग* २, पृ० २३९। इस पुस्तक मे यह भी लिखा है "खरादो में लगा यह उपकरण ऊपर से चाहे जितना सरल और महत्त्वहीन प्रतीत होता हो, पर हमारा विचार है कि यदि हम यह कह, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि मशीना के उपयोग का सुधार तथा विस्तार करने में इस उपकरण ने उतना ही प्रभाव डाला है, जितना खुद भाप के इजन में वाट्ट के किये सुधारो ने डाला था। उसका इस्तेमाल होने पर सभी मशीनें तुरत ही पहले से अच्छी बन गयी, सस्ती हो गयी और आविष्कार तथा सुधार को वहुत प्रोत्साहन मिला।"

अब यदि हम अपना ध्यान मशीनो के निर्माण में इस्तेमाल होने वाली मशीनो के उस भाग पर केन्द्रित करें, जो कार्यकारी औजार का काम करता है, तो एक बार फिर हाथ के औजार हमारे सामने आते है, मगर इस बार उनका आकार बहुत बडा होता है। बरमाने की मशीन का कार्यकारी भाग एक बहुत बडा बरमा होता है, जो भाप के इजन द्वारा चलाया जाता है। दूसरी ओर, इस मशीन के बिना भाप के बडे इजनो और द्रवचालित दाबको के बेलन नहीं बनाये जा सकते थे। यात्रिक खराद केवल पर से चलाये जानेवाले साधारण खराद का ही एक दत्याकार नवसस्करण है, रदा करने वाली मशीन लोहे के एक बढ़ई के समान होती है,—वह उन्हीं औजारो से काम करती है, जिनको बढ़ई का काम करने वाला मनुष्य लकडी पर इस्तेमाल करता है, लन्दन के घाटो पर जिस औजार से लकडी के पतले पत्तर काटे जाते है, वह असल में एक बहुत बडा उस्तरा है, कतरने वाली मशीन, जो लोहे को उतनी ही आसानी से कतर डालती है, जितनी आसानी से दर्जी की कची कपडा काटती है, एक दैत्याकार कची होती है, और भाप के हथौडे का सिरा एक साधारण हथौडे के ही समान होता है, मगर वह इतना भारी होता है कि खुद थोर—स्कडिनेविया के निवासियो का एक बिजली-देवता—भी उससे काम न ले पाता।[1] भाप के ये हथौडे नाज़मिथ के आविष्कार है, और उनमें से एक हथौडा ६ टन से भी अधिक भारी है और वह ३६ टन के अहरन पर ७ फिट की सीधी ऊचाई से गिरता है। उसके लिये ग्रेनाइट पत्थर की एक सिल का चूरा कर देना बच्चो के खेल के समान है। मगर साथ ही वह दो चार बार बहुत हल्की सी थाप देकर एक कील को भी मुलायम लकडी में गाड सकता है।[2]

जब श्रम के औजार मशीनो का रूप धारण कर लेते है, तब मानव-शक्ति के स्थान पर प्राकृतिक शक्तियो का और अनुभव सिद्ध रीति के बजाय विज्ञान का सजग उपयोग करना आवश्यक हो जाता है। हस्तनिर्माण में सामाजिक श्रम प्रक्रिया का विशुद्ध मनोगत सगठन किया जाता है,—उसमें बहुत से तफसीली काम करने वाले मजदूरो को जोड दिया जाता है, आधुनिक उद्योग के पास अपनी मशीनो की सहति के रूप में एक ऐसा उत्पादक सघटन होता है, जो विशुद्ध वस्तुगत सगठन है और जिसमें मजदूर पहले से तयार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियो का एक उपाग मात्र बन जाता है। सरल सहकारिता में और यहा तक कि श्रम विभाजन पर आधारित सहकारिता में भी सामूहिक मजदूर का अलग अलग काम करने वाले मजदूरो का स्थान ले लेना न्यूनाधिक रूप में एक आकस्मिक बात प्रतीत होता है। लेकिन कुछ अपवादो को छोडकर, जिनका बाद में जिक्र किया जायेगा, मशीने केवल सम्बद्ध श्रम के द्वारा, केवल सामूहिक श्रम के द्वारा ही काम करती है। इसलिये, जहा मशीनो का इस्तेमाल होता है, वहा श्रम क्रिया का सहकारी स्वरूप खुद श्रम के औजार के कारण एक प्राविधिक आवश्यकता बन जाता है।

---

[1] इनमें से एक मशीन, जो लन्दन में padde wheel shafts (जहाज चलाने की चर्खी के धुरे) गढने के काम में आती है, "थोर" कहलाती है। वह १६$\frac{1}{2}$ टन का धुरा उतनी ही आसानी से गढ देती है जितनी आसानी से लुहार घोडे की नाल गढता है।

[2] लकडी का काम करने वाली मशीनें, जो छोटे पैमाने पर भी इस्तेमाल हो सकती है, प्राय अमरीकी आविष्कार है।

अनुभाग २—मशीनो द्वारा पैदावार मे स्थानातरित कर दिया गया मूल्य

हम यह देख चुके ह कि सहकारिता तथा श्रम विभाजन से जो उत्पादक शक्तिया उत्पन्न होती ह, उनमें पूजी का एक पैसा भी खच नहीं होता। ये तो सामाजिक श्रम की स्वाभाविक शक्तिया होती ह। इसी प्रकार, जब भाप, पानी आदि भौतिक शक्तियो का उत्पादक क्रियाओ में उपयोग होता है, तब उनपर कुछ खच नहीं होता। लेकिन जिस तरह आदमी को सास लेने के लिये फेफडो की जरूरत होती है, उसी तरह उसे भौतिक शक्तियो का उत्पादक ढग से उपयोग करने के लिये आदमी के हाथ की बनी किसी चीज की जरूरत होती है। पानी की शक्ति का उपयोग करने के लिये पन चक्की की और भाप की प्रत्यास्थता से लाभ उठाने के लिये भाप के इजन की आवश्यक्ता होती है। जब एक बार किसी विद्युत धारा के क्षेत्र में चुम्बक की सुई के विचलन का नियम या जिस लोहे के चारो ओर कोई विद्युत धारा बह रही हो, उसके चुम्बक बन जाने का नियम मालूम हो जाता है, तब फिर उसके बाद इन नियमो पर एक पाई भी खच नहीं होती।[1] लेकिन तार प्रणाली आदि में इन नियमो का उपयोग करने के लिये एक बहुत कीमती और विस्तत उपकरण की आवश्यक्ता होती है। जसा कि हम ऊपर देख चुके ह, औजार को मशीन नष्ट नहीं कर देती। मानव-शरीर के एक छोटे से, वामनाकार औजार के बजाय वह फलकर और बढकर आदमी के बनाये हुए एक यत्र का औजार बन जाता है। अब पूजी मजदूर से काम लेती है, तो उसे हाथ के औजार से नहीं, बल्कि एक ऐसी मशीन से काम करना पडता है, जो खुद उस औजार को चलाती है। इसलिये, यद्यपि यह बात पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती है कि आधुनिक उद्योग विराट भौतिक शक्तियो और प्राकृतिक विज्ञान दोनो का उत्पादन की क्रिया में समावेश करके श्रम की उत्पादकता में असाधारण वृद्धि कर देता है, तथापि यह बात इतनी स्पष्ट कदापि नहीं होती कि यह पहले से बढी हुई उत्पादक शक्ति पहले से अधिक श्रम खच करके नहीं खरीदी जाती। स्थिर पूजी के दूसरे हरेक सघटक की भाति मशीने भी कोई नया मूल्य नहीं पदा करतीं, बल्कि वे जिस पैदावार को तैयार करने में मदद देती ह, उसको खुद अपना मूल्य समर्पित कर देती ह। जिस हद तक मशीन का मूल्य होता है और उसके परिणामस्वरूप जिस हद तक वह अपना मूल्य पदावार को दे देती है, उस हद तक वह उस पदावार के मूल्य का एक तत्व बन जाती है। पदावार पहले से सस्ती होने के बजाय मशीन के मूल्य के अनुपात में पहले से महगी हो जाती है। और आज यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योग के ये विशिष्ट

[1] आम तौर पर विज्ञान पर पूजीपति का एक पैसा खच नही होता। मगर इस बात से पूजीपति के विज्ञान से लाभ उठाने में कोई रुकावट नही पडती। जिस प्रकार पूजी दूसरा के श्रम पर अधिकार कर लेती है, उसी प्रकार वह दूसरा के विज्ञान पर भी कब्जा कर लेती है। लेकिन विज्ञान पर अथवा भौतिक धन पर पूजीवादी हस्तगतकरण और व्यक्तिगत हस्तगतकरण दो बिल्कुल अलग-अलग चीजे होती हैं। खुद डा० उरे ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि मशीनो का उपयोग करने वाले उनके प्रिय कारखानेदारा में यात्रिक विज्ञान का तनिक सा भी ज्ञान नही पाया जाता, और इगलैण्ड के रासायनिक कारखाना के मालिका में रसायन विज्ञान का कैसा आश्चयजनक अज्ञान पाया जाता है, इसके बारे में लीबिग एक पूरी कथा सुना सकते हैं।

श्रम के औज़ार, अर्थात् मशीने और मशीनो की सहतिया इतने अधिक मूल्य से लदी होती ह कि दस्तकारियो और हस्तनिर्माणो में इस्तेमाल होने वाले औज़ारो का उनसे कोई मुकाबला हो ही नहीं सकता।

सब से पहली बात, जिसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये, यह है कि मशीने श्रम प्रक्रिया में सदा पूरी की पूरी प्रवेश करती है, पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वे थोडा-थोडा करके प्रवेश करती हैं। वे घिसाई छिजाई के फलस्वरूप औसतन जितना मूल्य खो देती ह, उससे अधिक मूल्य कभी पदावार में नहीं जोडतीं। इसलिये, किसी मशीन के मूल्य में और वह मशीन किसी निश्चित समय में जितना मूल्य पदावार में स्थानातरित कर देती है, उसमें बहुत बडा अन्तर होता है। श्रम-प्रक्रिया में मशीन के जीवन की अवधि जितनी लम्बी होती है, उतना ही यह अतर भी अधिक होता है। जैसा कि हम ऊपर भी देख चुके हैं, यह निस्सदेह सच है कि श्रम का प्रत्येक औज़ार श्रम क्रिया में पूरे का पूरा प्रवेश करता है, मगर मूल्य पदा करने की क्रिया में वह केवल थोडा थोडा करके और घिसाई छिजाई के फलस्वरूप होने वाली अपनी औसत दैनिक क्षति के अनुपात में ही प्रवेश करता है। लेकिन समूचे उपकरण और उसकी दनिक घिसाई छिजाई का यह अतर साधारण औज़ार की अपेक्षा मशीन में कहीं ज्यादा होता है, क्योंकि एक तो मशीन ज्यादा टिकाऊ पदार्थ की बनी हुई होने के कारण अधिक समय तक चलती है, दूसरे, उसका उपयोग विशुद्ध वैज्ञानिक नियमो द्वारा नियन्त्रित होने के कारण उसके कल-पुर्जों की घिसाई कम होती है और उसके द्वारा उपभोग की जाने वाली सामग्री में मितव्ययिता होती है, और अन्तिम बात यह कि उसका उत्पादन का क्षेत्र औज़ार के क्षेत्र की तुलना में कहीं अधिक बडा होता है। चाहे मशीन हो और चाहे औज़ार हो, यदि हम इसका हिसाब लगा लेते हैं कि उनकी औसत दनिक लागत कितनी बैठती है, — यानी वे अपनी औसत दनिक घिसाई के द्वारा कितना मूल्य उत्पादन में स्थानातरित कर देते ह, — और यह भी समझ लेते हैं कि वे जो तेल, कोयला आदि सहायक पदाथ खच करते हैं, उनपर कितना खच होगा, तो उसके बाद मशीन या औज़ार अपना काम ठीक उन शक्तियो की भाति मुफ्त करते हैं, जिनको प्रकृति मनुष्य की सहायता के बिना प्रस्तुत कर देती है। औज़ार की तुलना में मशीनो की उत्पादक शक्ति जितनी अधिक होती है, औज़ार की अपेक्षा वे उतनी ही ज्यादा मुफ्त सेवा करती ह। आधुनिक उद्योग में मनुष्य पहली बार अपने पिछले श्रम की पदावार से बडे पैमाने पर प्रकृति की शक्तियो की भाति मुफ्त काम कराने में सफल हुआ है।[1]

---

[1] मशीना के इस प्रभाव पर रिकार्डो ने इतना अधिक जोर दिया है (हालाकि अन्य बातो में वह श्रम प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की क्रिया के सामान्य अन्तर की ओर जितना अधिक ध्यान देते हैं, उन्होने उससे अधिक ध्यान मशीना की ओर नही दिया है) कि कभी-कभी तो जो मूल्य मशीनें पैदावार को समर्पित कर देनी हैं, वह उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, और वह मशीना का प्राकृतिक शक्तिया की हैसियत दे देते हैं। चुनाचे उन्होने लिखा है "प्राकृतिक शक्तिया और मशीनें हमारी जा सेवाए करती हैं, ऐडम स्मिथ उनका महत्व कही पर भी कम करके नही आकते, लेकिन वे जो मूल्य माला में जोडती हैं, स्मिथ उसके स्वरूप में जरूर फक करते हैं, जा उचित ही है ये शक्तिया चूकि अपना काम मुफ्त करती हैं, इसलिये वे हम जा मदद दती हैं, उससे विनिमय मूल्य में कोई वद्धि नहीं हाती।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ३३६, ३३७।) रिकार्डो का यह मत,

सहकारिता और हस्तनिर्माण पर विचार करते समय हम यह बता चुके हैं कि उत्पादन के कुछ खास तत्व – मसलन इमारते – सामूहिक ढग से इस्तेमाल होने के कारण अलग-अलग काम करने वाले मजदूरो के बिखरे हुए उत्पादन के साधनो की तुलना में अधिक मितव्ययिता के साथ खच होते ह और इसलिये वे पदावार को पहले से सस्ती बना देते हैं। मशीनो की सहति में न केवल मशीन का ढाचा उसके अनेक कायकारी कल-पुर्जों के द्वारा सामूहिक ढग से इस्तेमाल किया जाता है, बल्कि मूल चालक और उसके साथ-साथ सचारक यन्त्र का एक भाग भी अनेक कायकारी मशीनो के द्वारा सामूहिक ढग से इस्तेमाल किया जाता है।

यदि हमें यह पहले से मालूम है कि मशीनो का मूल्य और वे रोजाना जितना मूल्य पदावार में स्थानातरित कर देती हैं, उनमें कितना अतर है, तो यह स्थानातरित मूल्य पैदावार को कितना महगा बना देगा, यह सबसे पहले इस बात पर निभर करता है कि पदावार का आकार – अर्थात् उसका विस्तार – कितना बडा है। ब्लैकबन-निवासी मि० बेंस ने १८५८ में प्रकाशित अपने एक भाषण में यह अनुमान लगाया है कि "प्रत्येक वास्तविक यान्त्रिक अश्व शक्ति[1] तैयारी सम्बधी सभी सहायक उपकरणो सहित ४५० स्वचालित म्यूल-तकुओ

जाहिर है, उस हद तक सही है, जिस हद तक कि उससे जे० बी० से के इस मत का खण्डन होता है कि मशीने मूल्य पैदा करने के रूप मे हमारी "सेवा" करती है और वह मूल्य "मुनाफे" का एक भाग होता है।

[1] एक अश्व शक्ति ३३,००० फुट-पौंड प्रति मिनट की शक्ति के बराबर होती है, यानी वह उस शक्ति के बराबर होती है, जो एक मिनट में ३३,००० पौंड वजन को एक फुट ऊपर उठा सकती है या जो एक मिनट में एक पौण्ड वज़न को ३३,००० फुट ऊपर उठा सकती है। पाठ में इसी अश्व-शक्ति का जिक्र किया गया है। साधारण भाषा में और कही-कही पर इस पुस्तक में दिये गये उद्धरणो में भी एक ही इजन की "नाम मात्र की" और "व्यावसायिक", अथवा "निदिप्ट", अश्व शक्ति में भेद किया गया है। पुरानी, अथवा नाम मात्र की, अश्व-शक्ति का केवल पिस्टन के आघात की लम्बाई और बेलन के व्यास के आधार पर हिसाब लगाया जाता है और भाप की दाब और पिस्टन की गति का कोई खयाल नही रखा जाता। व्यवहार में वह यह व्यक्त करता है कि यदि इस इजन को भाप की वैसी ही कम दाब और पिस्टन की वैसी ही गति से चलाया जाये, जैसी बूल्टन और वाट्ट के जमाने में इस्तेमाल होती थी, तो यह इजन ५० अश्व शक्ति का काम करेगा। लेकिन उस जमाने के मुकाबले में अब भाप की दाब और पिस्टन की गति बहुत बढ गयी है। आजकल यह नापने के लिये कि किसी इजन में कितनी ताकत है, एक सूचक का आविष्कार किया गया है, जो बता देता है कि बेलन में भाप की दाब कितनी है। पिस्टन की गति आसानी से मालूम हो जाती है। इस तरह, किसी इजन की "निदिप्ट", अथवा "व्यावसायिक", अश्व-शक्ति गणित के एक सूत्र के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसका बेलन के व्यास, आघात की लम्बाई, पिस्टन की गति और भाप की दाब, सबसे सम्बध होता है और जो यह बता देता है कि यह इजन एक मिनट में ३३,००० पौण्ड वजन के सचमुच किस गुणज को ऊपर उठा देगा। इसलिये "नाम मात्र की" एक अश्व शक्ति तीन, चार या यहा तक कि पाच "निदिप्ट", अथवा "वास्तविक", अश्व-शक्तिया का भी काय कर सकती है। आगे के पृष्ठा में जो अनेक उदधरण दिये गये हैं, उनको स्पष्ट करने क उद्देश्य से यह बात यहा कही गयी है। – फ्रे० ए०

को चला सकती है, या वह २०० थ्रौसल-तकुग्रो को चला सकती है, या वह ४० इची कपडे के १५ करघो को तानी करने, माडी देनें ग्रादि के उपकरणो समेत चला सकती है।" एक ग्रश्व-शक्ति की दनिक लागत ग्रौर इस शक्ति द्वारा गति प्राप्त करने वाली मशीनो की घिसाई छिजाई पहली सूरत में ४५० म्यूल-तकुग्रो की पैदावार पर, दूसरी सूरत में २०० थ्रौसल-तकुग्रो की पदावार पर ग्रौर तीसरी सूरत में शक्ति से चलने वाले १५ करघो की पदावार पर फल जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि इस प्रकार की घिसाई-छिजाई से एक पौण्ड सूत या एक गज कपडे में बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में मूल्य स्थानातरित होता है। ऊपर जिस भाप के हथौडे का जिक्र किया गया था, उसके बारे में भी यही बात सच है। उसकी दनिक घिसाई छिजाई, उसका कोयले का खच ग्रादि चूकि लोहे की उन विराट राशियो पर फैल जाता है, जिनको यह हथौडा एक दिन में कूट-पीटकर फेंक देता है, इसलिये एक हड्रेडवेट लोहे में बहुत थोडा सा ही मूल्य जुडता है, लेकिन यदि यह दैत्याकार ग्रौजार कीलें गाडने के लिये इस्तेमाल किया जाये, तो, जाहिर है, बहुत ग्रधिक मूल्य स्थानातरित हो जायेगा।

यदि किसी मशीन की काम करने की क्षमता,–ग्रर्थात् उसके कायकारी पुर्जों की सख्या या, जहा पर बल का प्रश्न हो, वहा पर उनकी मात्रा,–हमें पहले से मालूम हो, तो उसकी पैदावार की मात्रा उसके कार्यकारी पुर्जों के वेग पर निभर करेगी, उदाहरण के लिये, वह तकुग्रो की गति पर या एक मिनट में हथौडा कितने प्रहार करता है, उनकी सख्या पर निभर करेगी। इन दैत्याकार हथौडो में से बहुत से एक मिनट में सत्तर बार ग्राघात करते ह, ग्रौर राइडर की तकुए गढने की पेटेंट मशीन ग्रपने छोटे-छोटे हथौडो से एक मिनट में ७०० ग्राघात करती है।

यदि यह मालूम हो कि मशीनें किस रफ्तार से ग्रपना मूल्य पदावार में स्थानातरित कर रही ह, तो इस प्रकार स्थानातरित हो जाने वाले मूल्य की मात्रा मशीनो के कुल मूल्य पर निभर करेगी।[1] मशीनो में जितना कम श्रम लगा होगा, वे उतना ही कम मूल्य पदावार को देंगी। मशीने जितना कम मूल्य पैदावार को देंगी, वे उतनी ही ग्रधिक उत्पादक होंगी ग्रौर उनकी सेवाए प्राकृतिक शक्तियो की सेवाग्रो से उतनी ही ग्रधिक मिलती जुलती होंगी। लेकिन जब मशीनो का उत्पादन मशीनो से होने लगता है, तब विस्तार तथा काय-क्षमता की तुलना में उनका मूल्य कम हो जाता है।

---

[1] जिस पाठक के मन में पूजीवादी धारणाग्रो ने घर कर रखा है, उसे यह देखकर स्वभावतया काफी ग्राश्चय होगा कि यहा पर उस "सूद" का कोई जिक्र नही किया गया है, जो मशीन ग्रपने पूजीगत मूल्य के ग्रनुपात में पैदावार में जोड देती है। किन्तु यह बात ग्रासानी से समझी जा सकती है कि जिस तरह स्थिर पूजी का कोई ग्रन्य भाग नया मूल्य नही पदा करता, उसी तरह चूकि मशीन भी कोई नया मूल्य नही उत्पन्न करती, इसलिये वह "सूद" के नाम म कोई मूल्य पैदावार में नही जोड सकती। यहा पर यह बात भी स्पष्ट है कि जिस जगह हम लाग ग्रतिरिक्त मूल्य के उत्पादन पर विचार कर रहे हैं, वहा हम ग्रतिरिक्त मूल्य के "सूद" नामक किसी भाग का ग्रस्तित्व a priori (पहले स) मानकर नही चल सकते। हिसाब लगाने की वह पूजीवादी प्रणाली क्या है, जो primâ facie (पहली ही दृष्टि में) बिल्कुल बेतुकी ग्रौर मूल्य के सजन के नियमो के सवथा प्रतिकूल प्रतीत होती है, यह इस रचना की तीसरी पुस्तक में समझाया जायेगा।

यदि दस्तकारियो अथवा हस्तनिर्माणो द्वारा तैयार किये गये मालो के दामो का और उसी प्रकार के मशीनो द्वारा तयार किये गये मालो के दामो का विश्लेषण और मुकाबला किया जाये, तो आम तौर पर यह पता चलेगा कि मशीनो की पदावार में श्रम के औजारो द्वारा स्थानातरित मूल्य सापेक्ष दृष्टि से तो बढ जाता है, पर निरपेक्ष दृष्टि से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी निरपेक्ष मात्रा तो घट जाती है, मगर पदावार के कुल मूल्य की तुलना में, – उदाहरण के लिये, एक पौण्ड सूत के कुल मूल्य की तुलना में, – उसकी मात्रा बढ जाती है।[1]

---

[1] जब मशीनें उन घोडो तथा अन्य पशुओ को अनावश्यक बना देती हैं, जिनको पदार्थ का रूप बदल देने वाली मशीनो के रूप मे नही, बल्कि केवल चालक शक्तियो के रूप मे इस्तेमाल किया जाता है, तब मूल्य का वह हिस्सा, जो मशीनो द्वारा जोडा गया है, सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनो दृष्टियो से कम हो जाता है। यहा पर चलते-चलते यह भी बता दिया जाये कि देकार्ते ने मात्र मशीनो के रूप मे पशुओ की परिभाषा करते समय हस्तनिर्माण के काल के दृष्टिकोण से काम लिया था, जब कि मध्य युग की दृष्टि मे पशु मनुष्य के सहायक थे, जैसा कि वे फान हैलेर को उनकी पुस्तक *'Restauration der Staatswissenschaften* मे प्रतीत हुए थे। देकार्ते की रचना *"Discours de la Methode* से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बेकन की भाति उन्होंने भी यह अनुमान कर लिया था कि चिंतन की बदली हुई पद्धतियो के फलस्वरूप उत्पादन के रूप मे परिवर्तन हो जायेगा और मनुष्य प्रकृति को व्यावहारिक ढग से अपने आधीन बना लेगा। उस पुस्तक मे देकार्ते ने लिखा है Il est possible de parvenir a des connaissances fort utiles a la vie, et qu au lieu de cette philosophie specula tive qu on enseigne dans les ecoles on en peut trouver une pratique par laquelle connaissant la force et les actions du feu de l eau, de l air des astres et de tous les autres corps qui nous environnent aussi distinctement que nous connaissons les divers metiers de nos artisans nous les pourrions employer en meme façon a tous les usages auxquels ils sont propres et ainsi nous rendre comme maitres et possesseurs de la nature और इस तरह contri buer au perfectionnement de la vie humaine ["ऐसा ज्ञान प्राप्त करना भी (उन विधियो द्वारा, जिनको उन्होने दर्शन मे समावेश किया) सम्भव है, जो जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा, और तब स्कूलो मे आजकल जो काल्पनिक दर्शन पढाया जाता है, उसके स्थान पर एक व्यावहारिक दर्शन पढाया जायेगा, जिसके द्वारा आग, पानी हवा और नक्षत्रो की तथा हमारे इद गिर्द और जितनी वस्तुए हैं, उन सब की शक्ति एव कार्य का उतना ही अच्छा ज्ञान प्राप्त करके, जितना अच्छा ज्ञान हमें अपने दस्तकारो की विभिन्न दस्तकारियो का प्राप्त है, हम उनको उसी तरह उन तमाम कामो मे उपयोग कर सकेंगे जिनके लिये वे उपयुक्त है, और इस प्रकार हम प्रकृति के स्वामी और मालिक बन जायेंगे' और इस तरह "मानव जीवन का अधिक से अधिक विकास करने मे योग देंगे।"] सर डडली नार्थ की रचना *Discourses upon Trade* ('व्यापार के सम्बंध मे कुछ प्रवचन') (१६९१) मे कहा गया है कि देकार्ते की पद्धति ने अर्थशास्त्र को सोने, व्यापार आदि के विषय म पुरानी कपोल कल्पित कथाओ और अंधविश्वासो से भरे विचारो से मुक्त करना आरम्भ कर दिया था। लेकिन मोटे तौर पर देखा जाये, तो शुरू के दिनो के अंग्रेज अर्थशास्त्रियो

यह बात स्पष्ट है कि जहा पर किसी मशीन को तयार करने में उतना ही श्रम लग जाता है, जितना श्रम उस मशीन का उपयोग करने से बचता है, वहा पर श्रम के स्थान परिवतन के सिवा और कुछ नहीं होता। इसीलिये उससे किसी माल को तयार करने के लिये आवश्यक कुल श्रम में कोई कमी नहीं आती और न ही श्रम की उत्पादकता में कोई वृद्धि होती है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि किसी मशीन में जितना श्रम लगता है और उससे जितने श्रम की बचत होती है, इन दोनो का अन्तर, अर्थात उसकी उत्पादकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसके अपने मूल्य में और जिस औजार का वह स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अन्तर है। जब तक किसी मशीन पर खर्च किया गया श्रम और चुनाचे उसके मूल्य का वह भाग, जो पदावार में जुड जाता है, उस मूल्य से कम रहता है, जो मजदूर अपने औजार से पैदावार में जोड देता था, तब तक मशीन के उपयोग से श्रम की सदा कुछ न कुछ बचत ही होती है। इसलिये किसी भी मशीन की उत्पादकता उस मानव-श्रम शक्ति से नापी जाती है, जिसका वह मशीन स्थान ले लेती है। मि० बेस के हिसाब के अनुसार, तैयारी करने वाली मशीनो सहित ४५० म्यूल-तकुओ के लिये, जो एक अश्व-शक्ति के द्वारा चलाये जाते ह, २ १/२ मजदूरो की आवश्यकता होती है।[1] प्रत्येक self-acting mule spindle (स्वचालित म्यूल-तकुआ) १० घण्टे काम करके (औसत नम्बर या मोटाई का) १३ औंस सूत तयार करता है। इसलिये २ १/२ मजदूर हर हफ्ते ३६५ ५/८ पौण्ड सूत कात देते ह। अतएव, यदि काम के दौरान में जाया हो जाने वाली कपास की ओर ध्यान न दिया जाये, तो ३६६ पौण्ड कपास सूत में बदले जाने के दौरान में केवल १५० घण्टे के श्रम का – यानी दस घण्टे रोजाना के हिसाब से केवल १५ दिन के श्रम का ही अवशोषण करती है। लेकिन यदि चर्खा इस्तेमाल करने पर मान लीजिये कि कोई हाथ से कताई करने वाला मजदूर साठ घण्टे में तेरह औंस सूत तैयार करता है, तो वही ३६६ पौंड कपास दस घण्टे रोजाना के हिसाब से २,७०० दिन के – या २७,००० घण्टे के – श्रम का अवशोषण करेगी[2] छींट की छपाई (block-printing) का पुराना तरीका ठप्पा के जरिये हाथ से छपाई करने का था। जहा

न अपने दार्शनिको के रूप मे बेकन और हौब्स का समथन किया था, जब कि बाद के काल मे इगलैण्ट, फ्रास और इटली मे लॉक को अर्थशास्त्र का κατ᾽ἐξοχην (सवश्रेष्ठ) दार्शनिक माना जाता था।

[1] एस्सेन के व्यापार-मडल की वार्षिक रिपोट (१८६३) के अनुसार, क्रुप्प के ढलवा इस्पात के कारखाने मे, जिसमे १६१ भट्ठिया, बत्तीस भाप के इजन (१८०० मे लगभग कुल इतने ही भाप के इजन पूरे मानचेस्टर मे काम कर रहे थे), चौदह भाप के हथौडे (जो कुल १,२३६ अश्व शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे), उनचास भट्ठिया, २०३ यान्त्रिक औजार और लगभग २,४०० मजदूर थे, १८६२ म कुल १ करोड ३० लाख पौण्ड ढलवा इस्पात तैयार हुआ था। यहा एक अश्व शक्ति के पीछे दो मजदूर भी नही होते।

[2] बैबेज का अनुमान है कि जावा मे केवल कताई का श्रम कपास के मूल्य मे ११७ प्रतिशत की वृद्धि कर देता है। इसी काल (१८३२) मे महीन सूत के उद्योग मे मशीनो ने और श्रम ने कुल मिलाकर कपास मे जो मूल्य जोडा था, वह कपास के मूल्य के लगभग ३३ प्रतिशत के बराबर बैठा था। (*'On the Economy of Machinery* ['मशीनो की अर्थ प्रणाली के विषय में'] London 1832 पृ० १६५, १६६।)

इस तरीक़े के स्थान पर मशीन से छपाई होने लगी है, वहा एक मशीन एक पुरुष या लडके की मदद से एक घण्टे में चार रगो की जितनी छींट छाप देती है, उतनी पहले कहीं २०० आदमी छाप पाते थे।[1] एलि व्हिटने ने cotton gin (कपास ओटने की मशीन) का आविष्कार १७९३ में किया था। उसके पहले एक पौण्ड कपास के बिनौले अलग करने में औसतन एक दिन का श्रम ख़र्च हो जाता था। व्हिटने के आविष्कार के फलस्वरूप एक हब्शी औरत रोज़ाना १०० पौण्ड कपास ओटने लगी, और तब से अब तक cotton gin (कपास ओटने की मशीन) की कार्य-क्षमता बहुत बढ गयी है। पहले एक पौण्ड कच्ची रुई तयार करने में ५० सेट ख़च होते थे। इस आविष्कार के बाद उसमें पहले से अधिक अवेतन श्रम शामिल होने लगा, और इसलिए वह १० सेंट में बेची जाती थी और फिर भी उससे पहले से ज्यादा मुनाफा होता था। हिंदुस्तान में रुई को बिनौलो से अलग करने के लिए चरखी इस्तेमाल की जाती है, जो आधी मशीन और आधी औज़ार होती है, उसकी मदद से एक आदमी और एक औरत रोज़ाना २८ पौण्ड कपास साफ कर सकते ह। पर अभी कुछ बरस हुए डा० फोर्ब्स ने जिस प्रकार की चरखी का आविष्कार किया है, उसकी मदद से एक आदमी और एक लडका दिन भर में २५० पौण्ड रुई तैयार कर सकते है। यदि उसे चलाने के लिए बैल, भाप या पानी इस्तेमाल किया जाये, तो फिर उसमें कपास डालने के लिए ही चद लडके-लडकियो की जरूरत होती है। इस तरह की सोलह मशीनें जब बलो द्वारा चलायी जाती ह, तो वे एक दिन में उतना काम करती ह, जितना काम पहले ७५० आदमी करते थे।[2]

जैसा कि पहले भी कहा चुका है, भाप से चलने वाला एक हल एक घण्टे में तीन पेंस की लागत पर जितना काम कर देता है, उतना काम पहले ६६ आदमी कर पाते थे, जिसमें १५ शिलिंग की लागत लगती थी। म एक ग़लत धारणा को दूर कर देने के उद्देश्य से इस उदाहरण को एक बार फिर ले रहा हू। ६६ आदमी एक घण्टे में कुल जितना श्रम ख़च कर देते ह, ये १५ शिलिंग मुद्रा के रूप में कदापि उस सब की अभिव्यजना नहीं ह। यदि आवश्यक श्रम के प्रति अतिरिक्त श्रम का अनुपात १०० प्रतिशत हो, तो ये ६६ आदमी एक घण्टे में ३० शिलिंग का मूल्य पदा करेंगे, हालांकि उनकी मजदूरी, यानी १५ शिलिंग केवल आधे घण्टे के श्रम का ही प्रतिनिधित्व करेंगे। अब मान लीजिये कि किसी मशीन की लागत उन १५० आदमियो की एक वर्ष की मजदूरी के बराबर है, जिनका वह स्थान ले लेती है,— जसे कि मान लीजिये कि उसकी लागत ३,००० पौंड है। ये ३,००० पौण्ड उस श्रम की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना नहीं ह, जो ये १५० आदमी इस मशीन का आविष्कार होने के पहले पदावार में जोड देते थे, बल्कि वे तो उनके साल भर के श्रम के केवल उस भाग की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना हैं, जो ख़ुद इन लोगो के ऊपर ख़च हुआ था और जिसका प्रतिनिधित्व उनकी मजदूरी करती थी। दूसरी ओर, मशीन के मुद्रा मूल्य के रूप में ये ३,००० पौण्ड उसके उत्पादन में ख़च किये गये समस्त श्रम को अभिव्यक्त करते ह, और उसमें इससे कोई अतर

---

[1] मशीन की छपाई से रग की भी बचत होती है।

[2] इस सम्बध मे हिंदुस्तान की सरकार के पैदावारा के रिपोटर, डा० वाटसन ने १७ अप्रैल १८६० का धधा की परिषद के सामने जो निबध पढा था, उसे (Paper, read by Dr Watson, Reporter on Products to the Government of India before the Society of Arts 17th April 1860) देखिये।

नहीं पड़ता कि इस श्रम का कितना भाग मजदूरों की मजदूरी पर खर्च हुआ है और कितना पूंजीपति का अतिरिक्त मूल्य बन गया है। इसलिए, मशीन की लागत यदि उस श्रम-शक्ति की लागत के बराबर है, जिसका वह स्थान ले लेती है, तो भी उसमें मूर्त हुआ श्रम उस जीवित श्रम से बहुत कम होता है, जिसका वह मशीन स्थान ले लेती है।[1]

केवल पदावार को सस्ता करने के उद्देश्य से मशीनों का उपयोग इस तरह सीमित हो जाता है कि ये मशीनें जिस श्रम का स्थान लेंगी, उनको पदा करने में उससे कम श्रम खर्च होना चाहिए। किन्तु पूंजीपति के लिए तो यह उपयोग और भी सीमित हो जाता है। वह श्रम की कीमत नहीं देता, बल्कि केवल उस श्रम-शक्ति का मूल्य देता है, जिससे वह काम लेता है। इसलिए वह किसी मशीन का कितना उपयोग कर पायेगा, यह इस बात से सीमित हो जाता है कि मशीन के मूल्य में और वह जिस श्रम-शक्ति का स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अन्तर है। चूंकि दिन भर के काम का आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम में विभाजन अलग अलग देशों में और यहां तक कि एक ही देश में अलग अलग कालों में या उद्योग की अलग अलग शाखाओं में अलग अलग ढंग से होता है और, इसके अलावा, चूंकि मजदूर की वास्तविक मजदूरी एक समय उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे गिर जाती है और दूसरे समय उसके ऊपर उठ जाती है, इसलिए मशीन को तयार करने के लिए जितना श्रम आवश्यक होता है और वह कुल जितने श्रम का स्थान ले लेती है, उनका अन्तर स्थिर रहते हुए भी यह मुमकिन है कि मशीन के मूल्य तथा जिस श्रम-शक्ति की जगह यह मशीन लेती है, उस श्रम-शक्ति के मूल्य का यह अन्तर बहुत घटता-बढ़ता रहे।[2] परन्तु कोई माल तयार करने में पूंजीपति को कितनी लागत लगानी पड़ती है, यह केवल इसी अन्तर से निर्धारित होता है, और वह प्रतियोगिता के दबाव के जरिये उसके आचरण को प्रभावित करता है। इसीलिए आजकल इंगलैण्ड में जिन मशीनों का आविष्कार हो रहा है, वे केवल उत्तरी अमरीका में इस्तेमाल की जाती हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में जर्मनी में जिन मशीनों का आविष्कार होता था, वे केवल हालैण्ड में इस्तेमाल की जाती थीं, और अठारहवीं शताब्दी के बहुत से फ्रांसीसी आविष्कारों से केवल इंगलैण्ड में ही लाभ उठाया गया था। पुराने देशों में जब उद्योग की किन्हीं शाखाओं में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, तो वह दूसरी शाखाओं में श्रम का ऐसा आधिक्य पैदा कर देता है कि इन शाखाओं में मजदूरी श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे गिर जाती है और इस वजह से मशीनों का उपयोग करना कठिन हो जाता है, और पूंजीपति के दृष्टिकोण से, जिसका मुनाफा तमाम श्रम में कमी करके नहीं, बल्कि केवल उस श्रम में कमी करके पदा होता है, जिसकी उसे कीमत देनी पड़ती है, मशीनों का उपयोग करना अनावश्यक और अक्सर असम्भव हो जाता है। इंगलैण्ड में ऊनी उद्योग की कुछ शाखाओं में बच्चों को नौकर रखने के सम्बन्ध में हाल के कुछ वर्षों में काफी कमी आ गयी है और कहीं कहीं तो बच्चों का नौकर रखा जाना एकदम बन्द हो

---

[1] "ये मूक साधन (मशीनें) जिस श्रम का स्थान ले लेते हैं, वे सदा उससे कहीं कम श्रम की पैदावार होते हैं, यहां तक कि जहां दोनों का मुद्रा मूल्य बराबर होता है, वहां पर भी यही बात होती है।" (Ricardo उप० पु०, पृ० ४०।)

[2] इसीलिए पूंजीवादी समाज में मशीनों के उपयोग की जितनी सम्भावना हो सकती है, साम्यवादी समाज में उससे बहुत भिन्न प्रकार की सम्भावना होगी।

गया है। ऐसा क्यो हुआ? इसलिए कि फैक्टरी-कानूनो ने बच्चो की दो पालियो से काम लेना जरूरी बना दिया था – एक पाली से ६ घण्टे, दूसरी से चार घण्टे, या दोनो से पाच पाच घण्टे। लेकिन बच्चो के मा-बाप ने "half-timers" ("आधे समय काम करने वालो") को "full-timers" ("पूरा समय काम करने वालो") की अपेक्षा सस्ते में बेचने से इनकार कर दिया। इसलिए half-timers" ("आधे समय काम करने वालो") के स्थान पर मशीनें आ गयीं।[1] खानो में १० वर्ष से कम उम्र के बच्चो और औरतो के काम करने पर रोक लगायी जाने के पहले पूजीपति नगी औरतो और लडकिया से अक्सर पुरुषो के साथ-साथ काम लेना अपनी नैतिकता के सर्वथा अनुकूल समझते थे, और उनके बही खातो की दृष्टि से तो यह और भी उचित था। इसीलिए उनको उपर्युक्त कानून बन जाने के बाद ही अपनी खानो में मशीनें इस्तेमाल करने का ख्याल आया। याकियो ने पत्थर तोडने की एक मशीन ईजाद की है। पर अग्रेज लोग इस मशीन का उपयोग नहीं करते। वह इसलिए कि जो wretch" ("अभागा")[2] यह काम करता है, उसे उसके श्रम के केवल इतने कम भाग की कीमत मिलती है कि मशीनो का उपयोग करने पर पूजीपति की उत्पादन की लागत एकदम बढ जायेगी।[3] इगलण्ड में अब भी नहरो में चलने वाली नावो को खींचने के लिए घोडो के बजाय कभी कभी औरतो को इस्तेमाल किया जाता है।[4] यह इसलिए कि घोडो तथा मशीनो को पैदा करने में कितना श्रम लगेगा, उसका तो ठीक ठीक अनुमान लगाया जा सकता

---

[1] मजदूरो को नौकर रखने वाले लोग तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चा की दो पालियो को अनावश्यक रूप से नही रखे रहगे वास्तव मे, कारखानेदारा का एक वर्ग, यानी ऊन की कताई करने वाले तो अब तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चा को, अर्थात् half timers (आधे समय काम करने वाला) को, बहुत कम ही नौकर रखते हैं। इन लोगो ने तरह-तरह की नयी और पहले से बेहतर मशीनें लगा ली हैं, जिन्होंने बच्चो को (यानी १३ वर्ष से कम उम्र के मजदूरा का) नौकर रखना बिल्कुल अनावश्यक बना दिया है। मिसाल के लिए मैं एक प्रक्रिया का जिक्र करूगा, जिससे स्पष्ट हो जायेगा कि बच्चो को नौकर रखने मे यह कमी क्या आ गयी है। इस प्रक्रिया मे काम आने वाली पुरानी मशीनो के साथ एक नया उपकरण और जोड दिया गया है। उसे piecing machine (धागे जोडने वाली मशीन) कहा जाता है और उसके जरिये हर मशीन की विशिष्टता के अनुसार आधे समय काम करने वाले चार से लेकर छ बच्चो तक का काम (१३ वर्ष से अधिक उम्र का) एक लडका पूरा कर देता है Half time system (आधे समय काम करने की प्रणाली) से piecing machine (धागे जोडने की मशीन) के आविष्कार को 'प्रोत्साहन' मिला।' (*Reports of Insp of Fact for 31st Oct 1858* ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८']।)

[2] 'खेतिहर मजदूरो के लिए अग्रेजो के अर्थशास्त्र में wretch' ("अभागा') शब्द के प्रयोग को ही मान्यता मिली हुई है।

[3] "मशीनो का अक्सर उस वक्त तक कोई इस्तेमाल नही हो सकता, जब तक कि श्रम (लेखक का मतलब यहा मजदूरी से है) बहुत चढ नहीं जाता।" (Ricardo उप० पु०, पृ० ४७९।)

[4] देखिये '*Report of the Social Science Congress at Edinburgh October 1863* ('एडिनबरा मे हुए समाज विज्ञान-सम्मेलन की रिपोर्ट, अक्तूबर १८६३')।

है, लेकिन फालतू आबादी की औरतों को जीवित रखने में इतना कम श्रम लगता है कि उसका हिसाब लगाने की भी कोई खास जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि मशीनो की भूमि-इगलैण्ड—में मानव-श्रम-शक्ति का अत्यन्त निकृष्ट कामो के लिए जसा लज्जाजनक एव घोर अपव्यय किया जाता है, वैसा और किसी देश में नहीं किया जाता।

अनुभाग ३—मजदूर पर मशीनो का प्राथमिक प्रभाव

जसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, आधुनिक उद्योग का प्रस्थान-बिन्दु श्रम के औजारो में होने वाली क्रान्ति होती है, और यह क्रान्ति अपना सबसे अधिक विकसित रूप फक्टरी में पायी जाने वाली मशीनो की सगठित सहति में प्राप्त करती है। इस वस्तुगत सघटन में मानव सामग्री का किस प्रकार समावेश किया जाता है, इसकी छानबीन करने के पहले आइये, हम यह देखें कि इस क्रान्ति का खुद मजदूर पर सामान्यतया क्या प्रभाव पडता है।

क) पूजी द्वारा अनुपूरक श्रम-शक्ति पर अधिकार। —स्त्रियो और बच्चो का काम पर लगाया जाना

जिस हद तक मशीनें मास-पेशियो की शक्ति को अनावश्यक बना देती ह, उस हद तक मशीने मास-पेशियो की बहुत थोडी शक्ति रखने वाले मजदूरो को और उन मजदूरो को नौकरी देने का साधन बन जाती ह, जिनका शारीरिक विकास तो अपूण है, पर जिनके अवयव और भी लोचदार हैं। इसलिए मशीनो का इस्तेमाल करने वाले पूजीपतियो को सबसे पहले स्त्रियों और बच्चो के श्रम की तलाश होती थी। अतएव, श्रम तया श्रम-जीवियो का स्थान लेने के लिए जिस विराट यत्र का आविष्कार हुआ था, वह तुरन्त ही मजदूर के परिवार के प्रत्येक सदस्य को, बिना किसी आयु-भेद या लिग-भेद के, पूजी के प्रत्यक्ष दासो में भर्ती करके मजदूरी करने वालो की सख्या को बढाने का साधन बन गया। उसके बाद से बच्चो को पूजीपति के लिए जो अनिवार्य काम करना पडता था, उसने न केवल बच्चो के खेल-कूद का स्थान छीन लिया, बल्कि परिवार की जीविका के लिए घर पर रहकर किये जाने वाले कुछ सीमित ढग के स्वतत्र श्रम का भी स्थान ले लिया।[1]

---

[1] जिन दिनो अमरीकी गृह युद्ध के कारण कपास का सकट पैदा हो गया था, उन्ही दिनो इगलैण्ड की सरकार ने डा० एडवड स्मिथ को सूती मिलो मे काम करने वाले मजदूरो की सफाई सम्बधी हालत की जाच करने के लिए लकाशायर, चेशायर और अन्य स्थानो पर भेजा था। डा० स्मिथ ने रिपोट दी कि इस बात के अलावा कि मजदूरो को कारखानो के वातावरण से हटा दिया गया है, कुछ और प्रकार का लाभ भी हुआ है। स्त्रियो को अब अपने बच्चो को "गोडफ्रे का शरबत" (Godfrey s cordial) नाम का जहर नही पिलाना पडता, बल्कि उन्हे अपने बच्चो को दूध पिलाने के लिए काफी अवकाश मिल जाता है। उनको खाना पकाने का ढग सीखने के लिए वक्त मिल गया है। दुर्भाग्यवश यह कला उन्होने ऐसे समय पर सीखी है, जब उनके पास पकाने के लिये कुछ नही है। परन्तु इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घर पर परिवार के लालन पालन के लिए जो श्रम आवश्यक था, पूजी ने अपना विस्तार

श्रम शक्ति का मूल्य केवल इसी बात से निर्धारित नहीं होता था कि अकेले वयस्क मजदूर को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है, बल्कि इस बात से भी कि मजदूर के परिवार को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है। मशीनें उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य को श्रम की मण्डी में लाकर पटक देती ह और इस तरह मजदूर की श्रम-शक्ति के मूल्य को उसके पूरे परिवार पर फला देती ह। इस प्रकार, मशीनें उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य को कम कर देती ह। यह मुमकिन है कि पहले परिवार के मुखिया की श्रम-शक्ति को खरीदने में जितना खर्चा होता था, अब चार सदस्यो के पूरे परिवार की श्रम-शक्ति को खरीदने में उससे कुछ अधिक खर्चा हो, लेकिन उसके एवज में एक दिन के श्रम की जगह पर चार दिन का श्रम मिल जाता है, और चार दिन का अतिरिक्त श्रम एक दिन के अतिरिक्त श्रम से जितना अधिक होता है, उसी अनुपात में इन चार दिनो के श्रम का दाम गिर जाता है। परिवार को जीवित रखने के लिए अब चार व्यक्तियो को न केवल श्रम, बल्कि पूजीपति के लिए अतिरिक्त श्रम भी करना पडता है। इस प्रकार, हम देखते ह कि मशीनें उस मानव-सामग्री में, जो पूजी की शोषक शक्ति का प्रधान लक्ष्य होती है, वृद्धि करने के साथ साथ[1] शोषण की मात्रा में भी वृद्धि कर देती ह।

करने के उद्देश्य से किस प्रकार उसपर भी अधिकार कर लिया था। सीने-पिराने के स्कूला म मजदूरो की बेटिया को सिलाई सिखाने के लिए भी इस सकट का उपयोग किया गया। जो सारी दुनिया के लिए कातती हैं, उनको सिलाई सीखने का मौका तब मिला, जब अमरीका मे एक क्राति हो गयी और सारा ससार आर्थिक सकट मे फस गया।

[1] "पुरुषा की जगह पर स्त्रियो की भर्ती और सबसे अधिक वयस्क मजदूरा की जगह पर बच्चा की भर्ती के फलस्वरूप मजदूरा की सख्या मे भारी वद्धि हो गयी है। परिपक्व आयु के १८ शिलिग से लेकर ४५ शिलिग तक की साप्ताहिक मजदूरी पाने वाले पुरुप का स्थान तेरह-तेरह वप की तीन लडकिया ले लेती हैं, जिनको ६ शिलिग से लेकर ८ शिलिग तक प्रति सप्ताह की मजदूरी देनी पडती है।" (Th de Quincey *'The Logic of Political Economy* [टोमस दे क्विसी, 'अर्थशास्त्र का तर्क'], London, 1844, पृ० १४७ से सम्बधित नोट।) चूकि कुछ पारिवारिक काम, जैसे बच्चो की देखभाल करना और उनको दूध पिलाना, पूरी तरह बद नही किये जा सकते, इसलिए पूजी जिन माताओ को छीन लेती है, उनको इन जरूरता को पूरा करने के लिए कोई और तरकीब निकालनी पडती है। सीने पिरोने और मरम्मत करने के घरेलू काम के स्थान पर अब बनी-बनायी तैयार चीजें खरीदनी पडती हैं। इसलिए, घर मे खच होने वाले श्रम मे कमी आने के साथ-साथ मुद्रा के खच मे वृद्धि हो जाती है। परिवार के भरण पोषण का खच बढ जाता है, और वह आमदनी मे जो थोडी बढती हुई है, उसका सफाया कर देता है। इसके अलावा, जीवन निर्वाह के साधनो को तैयार करने तथा खच करने मे विवेक और मितव्ययिता से काम लेना असम्भव हो जाता है। इन तथ्यो पर सरकारी अर्थशास्त्र ने तो पर्दा डाल रखा है, परन्तु *Reports of Inspectors of Factories'* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपोर्टों') मे, *Children s Employment Commission* ('बाल-सेवायोजन आयोग') की रिपोर्टों मे और खास तौर पर *'Reports on Public Health* (*'सावजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टों'*) मे इनसे सम्बध रखने वाली बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

मजदूर और पूंजीपति के बीच जो क़रार होता है, जो उनके पारस्परिक सम्बधो को विधिवत् निश्चित करता है, मशीनें उसमें भी एक पूरी क्रान्ति पदा कर देती ह। माला के विनिमय को अपना आधार बनाते हुए हम सबसे पहले यह मानकर चल रहे थे कि पूजीपति और मजदूर स्वतत्र व्यक्तियो के रूप में, मालो के स्वतत्र मालिको की तरह, एक दूसरे से मिलते ह, एक के पास मुद्रा और उत्पादन के साधन होते ह, दूसरे के पास श्रम शक्ति। परतु अब पूजीपति बच्चो और कम-उम्र लडके-लडकियो को खरीदने लगती है। पहले मजदूर खुद अपनी श्रम शक्ति बेचता था, जिसका वह कम से कम नाम-मात्र के लिए एक स्वतत्र व्यक्ति के रूप में सौदा कर सकता था। पर अब वह अपनी पत्नी और अपने बच्चे को बेचने लगता है। वह गुलामो का व्यापार करने वाला बन जाता है।[1] बच्चो के श्रम की माग का रूप अक्सर हबशी गुलामो की माग के समान होता है, जिनके बारे में पहले अमरीकी पत्र-पत्रिकाओ में विज्ञापन निकला करते थे। इगलण्ड के एक फैक्टरी इस्पेक्टर ने कहा है "मेरे डिस्ट्रिक्ट के एक सबसे महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर के स्थानीय पत्र में प्रकाशित एक विज्ञापन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया गया है। इस विज्ञापन की नक्ल इस तरह है १२ से २० तक लडके-लडकिया चाहियें, देखने में १३ वर्ष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए। मजदूरी ४ शिलिग प्रति सप्ताह होगी। दरखास्त भेजियें, इत्यादि।" "देखने में १३ वष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए" इसलिए लिखा गया है कि Factory Act (फक्टरी-कानून) के मुताबिक १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को केवल ६ घण्टे काम करने की इजाजत थी। सरकारी तौर पर

[1] इगलैण्ड की फैक्टरियो मे काम करने वाली स्त्रियो और बच्चा के श्रम के घण्टा को पुरुष मजदूरा ने पूजी से जबरदस्ती कम कराया था। परन्तु इस महत्वपूण तथ्य के बिल्कुल विपरीत *Children s Employment Commission* ('बाल सेवायोजन आयोग') की सबस ताजा रिपोर्टों मे बच्चा की खरीद-फरोख्त के सम्बध मे मजदूर मा-बापो मे कुछ ऐसी प्रवृत्तिया का प्रमाण मिलता है, जिनको देखकर सचमुच बहुत ग्लानि होती है और जो गुलामो का व्यापार करने वाला की पवृत्तिया से बिल्कुल मिलती हे। परन्तु इन्ही रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि बगुलाभगत पूजीपति इस पाशविकता की निन्दा करने मे कभी नही हिचकिचाता, जिसे खुद उसी ने पैदा किया है, जिसको वह सदा कायम रखता है, जिससे वह लाभ उठाता है और, इसके अतिरिक्त, जिसको उसने "श्रम की स्वतत्रता" का सुन्दर नाम दे रखा है। "वे खुद अपनी राटी कमाने तक के लिए भी शिशु-श्रम की सहायता लेते हैं। इन बच्चो मे इतनी शक्ति नही होती कि वयस्का के योग्य इस मेहनत को वर्दाश्त कर सकें, अपने भावी जीवन के लिए उनको किसी से शिक्षा नही मिलती, इसलिए वे भौतिक और नैतिक दृष्टि से एक दूषित परिस्थिति मे डाल दिये गये हैं। एक यहूदी इतिहासकार ने टाइटस द्वारा जेरुसलम को जीत लेने की चर्चा करते हुए लिखा है कि जब हम यह देखते हैं कि जेरुसलम की एक निदयी मा ने सवभक्षी भूख को सतुष्ट करने के लिए खुद अपनी सन्तान की बलि दे दी थी, तब हम इस बात पर काई आश्चय नही होता कि जेरुसलम को इस बुरी तरह नष्ट कर दिया गया।" (*Public Economy Concentrated* [सावजनिक अर्थशास्त्र का सार'], Carlisle, 1833, पृ० ६६।)

[2] ए० रेड्ग्रेव, '*Rep of Insp of Fact 31st Oct 1858* ('फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपार्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ४०, ४१।

नियुक्त किये गये किसी डाक्टर को उनकी उम्र की जाच करके प्रमाण-पत्र देना पडता था। इसलिए यह कारखानेदार ऐसे बच्चे चाहता है, जो देखने में अभी से १३ वप के मालूम हो। फक्टरियो में काम करने वाले १३ वप से कम उम्र के बच्चो की सख्या में अक्सर जो यकायक भारी कमी आ जाती है और जो इगलैण्ड के पिछले २० वप के आकडो में आश्चयजनक रूप से व्यक्त हुई है, उसका अधिकतर भाग खुद फैक्टरी इस्पेक्टरो के कथानुसार certifying surgeons (प्रमाण पत्र देने वाले डाक्टरो) के काम का परिणाम है। ये लोग पूजीपति के शोषण के मोह और बच्चो के मा-बापो के घृणित लालच का ख़याल करके बच्चो की उम्र ज्यादा लिख देते थे। *बेथनल ग्रीन के बदनाम डिस्ट्रिक्ट में हर सोमवार और मगलवार की सुबह को एक पैंठ* लगती है, जिसमें ६ वप और उससे अधिक उम्र के लडके और लडकिया अपने को रेशम के कारखानों के मालिको के हाथ किराये पर उठाते ह। "भाव आम तौर पर होता है १ गिलिग ८ पेस प्रति सप्ताह (यह रकम मा-बापो की जेब में चली जाती है) और २ पेंस और चाय मेरे लिए।" यह करार केवल एक सप्ताह तक चलता है। इस पठ में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है और जो दृश्य उपस्थित होता है, वह सचमुच लज्जा की बात है।[1] इगलैण्ड में अक्सर ऐसा भी हुआ है कि औरतें मुहताज ख़ानो से बच्चो को ले गयी ह और जो भी २ शिलिग ६ पेंस प्रति सप्ताह देने को तैयार हुआ, उसी के हाथ उनको सौंप दिया।[2] ब्रिटेन में तमाम कानूनो के बावजूद २,००० से अधिक लडको को उनके मा-बापो ने चिमनी साफ़ करने की जिदा मशीनो का काम करने के लिए बेच दिया है (हालाकि अब उनका स्थान लेने के लिए अनेक मशीनें मौजूद ह)।[3] मशीनो ने श्रम शक्ति के ग्राहक तथा विक्रेता के क़ानूनी सम्बधो में जो क्राति पदा कर दी है और जिसके फलस्वरूप इस पूरे सौदे का रूप अब दो स्वतत्र व्यक्तियो के करार का रूप नहीं रह गया है, उससे इगलैण्ड की [illegible] को न्याय के सिद्धाता के नाम पर कारखानो में राज्य के हस्तक्षेप के लिए बहाना [illegible]। जब कभी क़ानून किन्हीं ऐसे उद्योगो में बच्चो के श्रम पर ६ घण्टे की सीमा [illegible] लगाता है, जिनमें पहले ऐसा प्रतिबध लागू नहीं था, तब कारखानेदार हमेशा [illegible] करते हैं। ये कहते ह कि जिस उद्योग पर यह कानून लागू कर दिया [illegible] है, [illegible] काम करने वाले बहुत से बच्चो को उनके मा बाप वहा से हटाकर ऐसे उद्योगों में [illegible] हैं, जिनमें अब भी "श्रम की स्वतत्रता" का राज्य है, यानी जहा १३ [illegible] के बच्चों या वयस्क लोगो के बराबर काम करना पडता है और इसलिए [illegible] दामा पर बेचा जा सकता है। लेकिन पूजी चूकि अपने स्वभाववश [illegible] करती है, चूकि वह उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रम के शोषण की समान [illegible] की माग करती है, इसलिए

---

[1] *Children s Employment Com[illegible] [illegible] Report"* ('[illegible] आयाग की पाचवी रिपोट'), London 1[illegible] [illegible], [illegible] ३१। [चौथे [illegible] फुटनोट बेथनल ग्रीन का रेशम का [illegible] गया है।—[illegible]

[2] *Children s Employment C[illegible] Third Report"* ([illegible] आयोग की तीसरी रिपाट') Lond[illegible] [illegible], [illegible] १/।

[3] I c Fifth Report ('[illegible] की पाचवीं रिपो[illegible] (बाईस), अक १३७।

जब उद्योग की किसी एक शाखा में बच्चो के श्रम पर कानून द्वारा सीमा लगा दी जाती है, तो यह उद्योगो की अन्य शाखाओ में भी सीमा लगाने का कारण बन जाता है।

पहले प्रत्यक्ष रूप से उन कारखानों में, जो मशीनो के आधार पर खडे हो जाते है, और फिर अप्रत्यक्ष रूप से उद्योग की बाकी तमाम शाखाओ में मशीने जिन बच्चा और लडके लडकियो को और साथ ही जिन स्त्रियो को पूजी के शोषण का शिकार बना देती है, उनका जो शारीरिक पतन होता है, उसकी ओर हम पहले भी सकेत कर चुके हैं। इसलिए यहा पर हम केवल एक ही बात की सविस्तार चर्चा करेंगे। वह यह कि मजदूरो के बच्चो के जीवन के शुरू के चद वर्षों में उनकी मृत्यु-सख्या बेहद बढ जाती है। जन्म और मृत्यु की रजिस्टरी के लिए इगलण्ड जिन डिस्ट्रिक्टो में बटा हुआ है, उनमें से सोलह डिस्ट्रिक्टो में एक वर्ष से कम उम्र के हर १ लाख जीवित बच्चो के पीछे साल भर में औसतन केवल ९,००० मौते होती है (एक डिस्ट्रिक्ट में केवल ७,०४७ मौते होती है), २४ डिस्ट्रिक्टो में मौतो की सख्या १०,००० से ज्यादा, पर ११,००० से कम है, ३९ डिस्ट्रिक्टो में वह ११,००० से ज्यादा, पर १२,००० से कम है, ४८ डिस्ट्रिक्टो में वह १२,००० से ज्यादा, पर १३,००० से कम है, २२ डिस्ट्रिक्टो में वह २०,००० से ज्यादा है, २५ डिस्ट्रिक्टो में वह २१,००० से ज्यादा है, १७ डिस्ट्रिक्टो में वह २२,००० से ज्यादा है, ११ डिस्ट्रिक्टो में वह २३,००० से ज्यादा है, हू, वोल्वरहैम्पटन, लाइन-नदी तट पर-स्थित ऐश्टन और प्रेस्टन नामक डिस्ट्रिक्टो में २४,००० से ज्यादा है, नोटिघम, स्टोकपोट और ब्रडफड में वह २५,००० से ज्यादा है, विसबीच में वह २६,००० है और मानचेस्टर में २६,१२५ है।[1] जैसा कि १८६१ की एक सरकारी डाक्टरी जाच से प्रकट हुआ था, स्थानीय कारणो के अलावा इस भारी मृत्यु सख्या का मुख्य कारण यह है कि बच्चो की माताओ को घर से बाहर काम करने जाना पडता है, और उनकी अनुपस्थिति में बच्चो के प्रति लापरवाही बरती जाती है और उनके साथ बुरा बरताव किया जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि उनको काफी भोजन नहीं मिलता, खराब भोजन मिलता है और अक्सर अफीम मिली कोई दवा चटाकर सुला दिया जाता है। इसके अतिरिक्त मा और बच्चे के बीच एक अजीब सा खिचाव पदा हो जाता है, और उसके फलस्वरूप अक्सर मातायें जान-बूझकर बच्चो को भूखा मार डालती है और जहर दे देती है।[2] जिन खेतिहर डिस्ट्रिक्टो में "नौकरी करने वाली औरतो की सख्या कम से कम है, वहा, दूसरी ओर, मृत्यु-अनुपात बहुत कम है।"[3] लेकिन १८६१ के जाच कमीशन से यह अप्रत्याशित बात मालूम हुई कि उत्तरी सागर से मिले हुए कुछ विशुद्ध खेतीहर डिस्ट्रिक्टो में एक वर्ष से कम उम्र के

---

[1] *Sixth Report on Public Health* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'), London 1864 पृ० ३४।

[2] "उससे (१८६१ की जाच से) इसके अलावा यह पता चला कि जहा एक तरफ उपर्युक्त परिस्थितियो में माताओ के अपने धधो मे लगे रहने का यह अर्थ होता है कि उनको अपने बच्चो के प्रति लापरवाही बरतनी पडती है और वे उनका ठीक इतजाम नहीं कर पाती और बच्चे इस चीज का शिकार हो जाते हैं, वहा, दूसरी ओर, अपनी सतान की ओर माताओ का रुख भी बहुत अस्वाभाविक हो जाता है,—वे आम तौर पर बच्चो की मौत की कोई नहीं परवाह करती और कभी-कभी तो खुद इसकी पक्की व्यवस्था कर देती हैं" (उप० पु०)।

[3] उप० पु०, पृ० ४५४।

बच्चो का मृत्यु-अनुपात कारखानो वाले सबसे खराब डिस्ट्रिक्टो के मृत्यु अनुपात के लगभग बराबर है। चुनाचे डा० जूलियन हण्टर को मौके पर जाकर स्थिति की जाच करने के लिए नियुक्त किया गया। उनकी रिपोट *Sixth Report on Public Health*" ('सावजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोट')[1] में शामिल है। उस वक्त तक यह समझा जाता था कि बच्चे मौसमी बुखार और कछार तया दलदल वाले डिस्ट्रिक्टो में फलने वाली बीमारियो के शिकार हो जाते ह। परतु इस जाच से बिल्कुल उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि जाडो में दलदल और गमियो में बहुत खराब सी चरागाह बनी रहने वाली जमीन को जब खूब गल्ला पदा करने वाली उपजाऊ जमीन में बदल दिया जाता है, तब उसके फलस्वरूप ऐसे इलाको से जहा, एक तरफ, मौसमी बुखार भाग जाता है, वहा, दूसरी तरफ, शिशुओ की मृत्यु-दर असाधारण रूप से बढ जाती है।" डा० हण्टर ने इस डिस्ट्रिक्ट के ७० डाक्टरो के बयान लिये थे। इस प्रश्न पर सब का "आश्चयजनक रूप से एकमत था"। सच तो यह है कि खेती की प्रणाली में क्रान्ति होने के फलस्वरूप वहा पर भी औद्योगिक व्यवस्था जारी हो गयी थी। विवाहित स्त्रिया लडके-लडकियो के साथ-साथ टोलियो में काम करती ह। काश्तकार के लिए एक व्यक्ति, जिसे undertaker" ("ठेकेदार") कहते ह, एक निश्चित रकम के एवज में इन स्त्रियो की व्यवस्था करता है और पूरी टोली का ठेका ले लेता है। "ये टोलिया अपने गाव से कभी कभी तो कई मील दूर जाकर काम करती ह। सुबह शाम वे आप को सडको पर मिलेंगी। ये औरतें छोटे-छोटे लहगें, उपयुक्त ढग के कोट और जूते और कभी-कभी पतलूने भी पहने रहती ह। वे इतनी स्वस्थ और बलवान दिखाई देती ह कि दशक को आश्चर्य होता है, परन्तु उसके साथ-साथ उनमें आदत के रूप में एक अनतिकता का रग भी स्पष्ट दिखाई देता है, और लगता है, जसे इन स्त्रियो को इसकी तनिक भी चिता नहीं है कि इस स्वतत्र एव व्यस्त जीवन से उनको जो इतना प्रेम हो गया है, उसका उनके उन अभागे बच्चो के लिए क्सा भयानक परिणाम हो रहा है, जो उनकी अनुपस्थिति में घर पर अकेले बिलखते रहते ह।"[3] इस प्रकार, फक्टरियो वाले डिस्ट्रिक्टो की प्रत्येक बात यहा पर भी दिखाई देने लगती है। अतर केवल इतना होता है कि यहा गुप्त शिशु-हत्याए और बच्चो को अफीम-मिली दवाए चटाना और भी अधिक प्रचलित ह।[4] प्रिवी काउसिल के डाक्टर और सावजनिक

---

[1] उप० पु०, पृ० ४५४-४६३। *Report by Dr Henry Julian Hunter on the excessive mortality of infants in some rural districts of England* ('इगलैण्ड के कुछ देहाती डिस्ट्रिक्टा मे शिशुओ की अत्यधिक मृत्यु-सख्या के विषय मे डा० हनरी जूलियन हण्टर की रिपाट')।

[2] उप० पु०, प० ३५ और पृ० ४५५, ४५६।

[3] उप० पु०, प० ४५६।

[4] फैक्टरिया वाले डिस्ट्रिक्टा की तरह खेतिहर डिस्ट्रिक्टा मे भी वयस्क मजदूरा मे,—स्त्रिया और पुरुषो, दोना म,—अफीम का उपयोग दिन-ब दिन बढता जा रहा है। अफीम मिली दवाओ की बिक्री की वृद्धि कुछ उत्साही थोक व्यापारिया का मुख्य उद्देश्य है। दवाफराश उन्ह बिक्री की सबसे महत्त्वपूण चीज समझते है।" (उप० पु०, पृ० ४५६।) जा बच्चे अफीम मिली दवाए खाते है, वे "सूखकर नन्हे-नन्हे बूढ़ो के समान बन जात है" या 'जरा जरा मे बन्दर प्रतीत होने लगते है।" (उप० पु०, प० ४६०।) हिन्दुस्तान और चीन न इगलैण्ड मे किस तरह बदला लिया है, यह यहा साफ हो जाता है।

स्वास्थ्य की रिपोर्टों के प्रधान सम्पादक, डा० साइमन ने कहा है "जब कहीं पर वयस्क स्त्रियो से बडे पैमाने पर कारखानो में काम कराया जाता है, तो मुझे हमेशा यह भय होता है कि इसका बहुत अनिष्टकर परिणाम होगा। इसका कारण यह है कि मुझे इस चीज से पैदा होने वाली बुराइयो का अच्छा ज्ञान है।"[1] मि० बेकर नामक एक फक्टरी-इन्स्पेक्टर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है "इगलैण्ड के कारखानो वाले डिस्ट्रिक्टो के लिए यह सचमुच बडे सौभाग्य की बात होगी, जब बाल बच्चो वाली प्रत्येक विवाहित स्त्री को किसी भी कपडा मिल में काम करने की मनाही कर दी जायेगी।"[2]

पूजीवादी शोषण स्त्रियो और बच्चो को जिस घोर नैतिक पतन के गढ़े में धकेल देता है, उसका फ्रे० एगेल्स ने अपनी पुस्तक *"Lage der Arbeitenden Klasse Englands"* ('इगलैण्ड के मजदूर-वग की हालत') में तथा अन्य लेखको ने इतना सुविस्तृत वणन किया है कि इस स्थान पर केवल उसका जिक्र कर देना ही काफी होगा। परन्तु अपरिपक्व मनुष्यों को महज अतिरिक्त मूल्य पैदा करने वाली मशीनो में बदलकर बनावटी ढग से जो बौद्धिक शून्यता पदा कर दी गयी थी और जो उस स्वाभाविक अज्ञान से बिल्कुल भिन्न थी, जिसमें मनुष्य का मस्तिष्क परती जमीन की तरह खाली तो पडा रहता है, पर उसकी विकास करने की क्षमता, उसकी स्वाभाविक उवरता नष्ट नहीं हो जाती,—इस मनोदशा ने अत में इगलण्ड की ससद तक को यह नियम बनाने के लिए विवश कर दिया कि ऐसे तमाम उद्योगो में, जिनपर फक्टरी-कानून लागू ह, १४ वय से कम उम्र के बच्चो को केवल उसी समय "उत्पादक" ढग से नौकर रखा जा सकेगा, जब साथ ही उनकी प्राथमिक शिक्षा का भी बन्दोवस्त कर दिया जायेगा। पूजीवादी उत्पादन किस भावना से उत्प्रेरित होता है, यह इस बात से पूणतया स्पष्ट हो जाता है कि फक्टरी-कानूनो की तथाकथित शिक्षा सम्बधी धाराओं की शब्दावली अत्यन्त हास्यास्पद है, इन धाराओ को लागू करने वाला कोई प्रशासन-यन्त्र नहीं है, जिससे इन धाराओ की अनिवायता महज एक कागजी चीज बनकर रह जाती है, कारखानेदार खुद इन धाराओ का डटकर विरोध कर रहे ह और व्यवहार में उनसे बचने के लिए तरह तरह की तरकीबें करते ह और चालें चलते ह। "इसके लिए महज ससद ही दोषी है। उसने एक धोखे से भरा क़ानून (delusive law) बनाया है। ऊपर से देखने में लगता है कि इस क़ानून ने फक्टरियो में काम करने वाले सभी बच्चो को शिक्षा देना जरूरी बना दिया है। पर उसमें ऐसी कोई धारा नहीं है, जिससे सचमुच इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। उसमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा गया है कि सप्ताह के कुछ खास दिन बच्चे कुछ निश्चित घण्टो के लिए (तीन घण्टो के लिए) स्कूल नामक एक स्थान की चारदीवारी के भीतर बन्द कर दिये जायेंगे और बच्चों को नौकर रखने वाला कारखानेदार उसके द्वारा नियुक्त स्कूल मास्टर या मास्टरानी के पद पर काम करने वाले एक व्यक्ति से हर हफ्ते इस बात के प्रमाण-पत्र पर दस्तखत करा लेगा।"[3] १८४४ के सशोधित फक्टरी कानून के पास होने के पहले

---

[1] उप० पु०, प० ३७।

[2] *"Rep of Insp of Fact* for 31*st Oct* 1862 ('फैक्टरियो के इन्सपक्टरो की रिपोर्ट ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ५६। मि० बेकर पहले डाक्टर थे।

[3] लियोनार्ड हानर *"Reports of Inspectors of Factories for 30th June 1857"* ('फैक्टरियो के इन्सपक्टरो की रिपोर्ट, ३० जून १८५७'), पृ० १७।

अक्सर यह होता था कि स्कूल में बच्चो की हाजिरी के प्रमाण पत्र पर स्कूल का मास्टर या मास्टरानी हस्ताक्षर नहीं करते थे, बल्कि सिफ एक चिह्न बना देते थे, क्योंकि वे खुद लिखना नहीं जानते थे। लेग्रोनार्ड होनर ने लिखा है "एक बार म एक ऐसा स्थान देखने गया, जो स्कूल कहलाता था और जहा से बच्चो की हाजिरी के प्रमाण-पत्र भी जारी हुए थे। मुझे इस स्कूल के मास्टर का अज्ञान देखकर इतना आश्चय हुआ कि म उससे यह पूछ ही बठा कि 'कहिये, जनाव, आप पढना तो जानते हैं?' उसने जवाब दिया 'हा, कुछ-कुछ (summat)।' और फिर मानो प्रमाण पत्र देने के अपने अधिकार का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसने कहा 'बहरहाल, में अपने विद्यार्थियो से तो पहले हू ही।'" जब १८४४ का विल तैयार हो रहा था, उस समय फक्टरी इस्पेक्टरो ने उन स्थानो का सवाल उठाया, जो स्कूल कहलाते थे और जिनकी स्थिति बहुत लज्जाजनक थी तथा जिनके प्रमाण पत्रो को उन्हें कानून के आदेश-पालन के रूप में स्वीकार करना पडता था। परन्तु उनकी तमाम कोशिशो का केवल इतना ही परिणाम हुआ कि १८४४ के कानून के पास हो जाने के बाद यह नियम बन गया कि "स्कूल के प्रमाण-पत्र में खुद स्कूल-मास्टर की लिखावट में अक होने चाहिए, जिसे अपना पूरा नाम, पिता का नाम और कुल का नाम भी अपने हाथ से लिखना होगा।"[1] स्कोटलैण्ड के फैक्टरी-इस्पेक्टर सर जान किनकेड ने भी इसी प्रकार के एक अनुभव का वणन किया है। "हम जो पहला स्कूल देखने गये, उसका बन्दोबस्त श्रीमती ऐन किलिन के हाथ में था। हमने जब उनसे अपने नाम का वण विन्यास करने को कहा, तो वह फौरन ग़लती कर बठीं। उन्होंने अपने नाम को "सी" (C) अक्षर से शुरु किया। लेकिन उसके बाद फौरन ही उन्होंने अपनी भूल सुधारी और कहा कि उनका नाम "के" (K) अक्षर से शुरू होता है। किन्तु स्कूल के प्रमाण पत्रो में जब हमने उनके हस्ताक्षर देखे, तो पता चला कि वे अपने नाम को तरह-तरह से लिखती रही हैं और उनकी लिखावट से इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि उनमें बच्चो को पढ़ाने की योग्यता नहीं है। यह बात तो उन्होंने खुद भी स्वीकार की कि रजिस्टर भरना उनके बस की बात नहीं है ... एक दूसरे स्कूल में मने देखा कि स्कूल का कमरा १५ फीट लम्बा और १० फीट चौडा है और इतने स्थान में ७५ बच्चे भरे हुए कुछ बडबड-बडबड कर रहे हैं, जिसे सुनकर समझना असम्भव है।"[2] "लेकिन यह केवल इन उपर्युक्त दयनीय स्थानो में ही नहीं होता कि बच्चो को किसी काम की शिक्षा नहीं मिलती और फिर भी स्कूल में हाजिरी के प्रमाण-पत्र दे दिये जाते ह। बहुत से स्कूलो में शिक्षक योग्य हैं, पर उसकी सब कोशिशें बेकार रहती हैं, क्योंकि ३ वष के शिशुओ से शुरु करके सभी उम्रो के बच्चो की वह बेशुमार भीड उसको कुछ नहीं करने देती। वह बहुत मुश्किल से ही अपनी गुजर-बसर कर पाता है, और यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि उस जरा से स्थान में वह अधिक से अधिक कितने बच्चो को ठूस सकता है, क्योंकि इन बच्चो से मिलने वाली पेनियो के सहारे ही उसकी जीविका चलती है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन स्कूलो में फर्नीचर का अभाव होता है, किताबो की और पढाई की अन्य सामग्री की कमी रहती है और घुटन

---

[1] लेओनार्ड होनर, *Reports of Inspectors of Factories for 31st October 1855* ('फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'), पृ० १८, १९।

[2] सर जान किनकेड, *Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1858* ('फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ३१, ३२।

और शोर के वातावरण का बेचारे बच्चो के मन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। म बहुत से ऐसे स्कूलो में हो आया हू, जहा मने देखा कि बच्चो की पक्तियो की पक्तिया बठी ह और वे कुछ भी कर नहीं रहे ह, पर स्कूल की हाजिरी के लिए इतना काफी माना जाता है और सरकारी आकडो में ऐसे बच्चो को शिक्षित (educated) दिखाया जाता है।"[1] स्कोटलण्ड में कारखानेदार इसकी जी-तोड कोशिश करते ह कि वे उन बच्चा के बिना ही काम चला लें, जिनको स्कूल भेजना जरूरी होता है। "अब यह बात साबित करने के लिए और दलीलो की जरूरत नहीं है कि फैक्टरी-कानून की शिक्षा-सम्बधी धाराओ का, जो मिल मालिको को इतनी नापसद हैं, प्राय यह नतीजा होता है कि इन बच्चो को न तो नौकरी मिलती है और न वह शिक्षा, जो यह कानून उनको देना चाहता था।"[2] कपडा छापने के कारखानो में, जिनपर एक विशेष क़ानून लागू है, यह बात बहुत ही भयानक रूप धारण कर लेती है। इस विशेष कानून के अनुसार "कपडा छापने के किसी कारखाने में नौकर होने के पहले हर बच्चे के लिए यह जरूरी होता है कि उसने नौकरी के प्रथम दिन के पहले छ महीने के दौरान कम से कम ३० दिन और कम से कम १५० घण्टे तक किसी स्कूल में हाजिरी दी हो, और कपडा छापने के कारखाने में नौकरी करने के दौरान में भी उसे हर छ महीने में कम से कम एक बार ३० दिन और १५० घण्टे की यह हाजिरी पूरी करके दिखानी होगी स्कूल में हाजिरी का समय सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे के बीच होना चाहिये। यदि एक दिन में कोई बच्चा २ $\frac{१}{२}$ घण्टे से कम या ५ घण्टे से ज्यादा स्कूल में उपस्थित रहेगा, तो वह समय १५० घण्टो में शामिल नहीं किया जायेगा। साधारणतया बच्चे ३० दिन तक सुबह को और तीसरे पहर को रोज कम से कम पाच घण्टे स्कूल में हाजिर रहते ह, और ३० दिन पूरे हो जाने के बाद, जब १५० घण्टे की कानूनी अवधि पूरी हो जाती है, या, इन लोगो की भाषा में, खानापुरी हो जाने के बाद, वे कपडा छापने के कारखाने में लौट आते ह, जहा वे छ महीने तक काम करते रहते ह, और छ महीने पूरे हो जाने पर स्कूल की हाजिरी की एक नयी किस्त शुरू हो जाती है, और जब तक दोबारा खानापुरी नहीं हो जाती, तब तक वे फिर स्कूल में हाजिरी बजाते रहते ह बहुत से लडके कानून द्वारा निर्धारित घण्टे स्कूल में बिताकर कपडा छापने के कारखाने में काम करने चले जाते ह और छ महीने का काम पूरा करने के बाद जब वहा से लौटते ह, तो वे उसी हालत में होते ह, जिस हालत में वे पहली बार कपडा छापने के कारखानो में काम करने वाले लडको के रूप में स्कूल में हाजिर हुए थे, और पहली बार स्कूल में बठकर उन्होने जो कुछ पाया था, उस सब को खो आते हैं कपडा छापने के दूसरे कारखानो में स्कूल में बच्चो की हाजिरी पूरी तरह इस बात पर निभर करती है कि कारखाने का काम उसकी इजाजत देता है या नहीं। हर छ महीने के पीछे जो १५० घण्टे की हाजिरी आवश्यक होती है, वह ३ घण्टे से लेकर ५ घण्टो तक की बहुत सी फली हुई किस्तो में पूरी कर दी जाती है। कभी कभी तो ये किस्ते पूरे छ महीनो

[1] लेओनाड होनर, *Reports &c for 31st Oct 1857* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५७'), पृ० १७, १८।

[2] सर जान क्निकेड, *Reports &c 31st Oct 1856* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६), पृ० ६६।

पर फैला दी जाती है मिसाल के लिये, एक दिन की हाजिरी सुबह ८ से ११ बजे तक की हो सकती है, दूसरे दिन की १ बजे दोपहर से शाम के ४ बजे तक की, और फिर मुमकिन है कि कई रोज तक बच्चा स्कूल में मुह न दिखाये, उसके बाद वह तीसरे पहर के ३ बजे से शाम के ६ बजे तक स्कूल में बैठ सकता है, इस तरह ३ या ४ दिन तक या एक सप्ताह तक लगातार स्कूल में आने के बाद वह ३ सप्ताह या एक महीने तक गर हाजिर रह सकता है, और उसके बाद जब कभी उसका मालिक उसे काम कम होने पर छुट्टी दे दे, वह कभी कभार स्कूल में जा सकता है, और जब तक १५० घण्टे का वह किस्सा पूरा नहीं हो जाता, तब तक बच्चा कभी स्कूल से कारखाने में और कभी कारखाने से स्कूल में इसी तरह धक्के खाता रहता है।"[1]

स्त्रियो और बच्चो को अत्यधिक सख्या में मजदूरो में भर्ती करके मशीनें आखिर पुरुष मजदूरो के उस प्रतिरोध को तोड देती है, जिसका पूजी के निरकुश शासन को हस्तनिर्माण के काल में लगातार सामना करना पडा था।[2]

---

[1] ए० रेड्ग्रेव, *Reports of Inspectors of Factories for 31st October 1857"* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५७'), पृ० ४१–४२। जिन उद्योगो पर खास फैक्टरी कानून (कपडा छापने के कारखानो का वह विशेष कानून [Print Works Act] नहा, जिसका यहा जिक्र किया गया है) कुछ समय से लागू है, उनमे शिक्षा सम्बधी धाराओ के रास्ते की रुकावटो को हाल के कुछ वर्षो में दूर कर दिया गया है। जिन उद्योगो पर यह कानून लागू नही है, उनमें अब भी काच के कारखाने के मालिक मि० जे० गेडडेज़ के विचारो का ही दौर-दौरा है। इन सज्जन ने जाच-आयोग के एक सदस्य, मि० व्हाइट से कहा था "जहा तक मैं देख सकता हू, पिछले कुछ वर्षो से मजदूर वग का एक भाग जो पहले से अधिक शिक्षा प्राप्त कर रहा है, वह एक बडी भारी बुराई है। यह एक खतरनाक चीज़ है, क्योकि वह मजदूरो को आजाद बना देती है।" (*Children s Empl Comm Fourth Report* ['बाल सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'], London, 1865, प० २५३।)

"मि० ई० नामक एक कारखानेदार ने मुझे यह सूचना दी कि वह शक्ति से चलने वाले अपने करघो पर काम करने के लिये केवल स्त्रियो को ही नौकर रखते हैं और उनमे भी विवाहित स्त्रियो को वह ज्यादा तरजीह देते हैं,—खास तौर पर उन स्त्रियो को, जिनके परिवार अपनी जीविका के लिये उन्ही पर निर्भर होते हैं। ये स्त्रिया अविवाहित स्त्रियो की तुलना मे अधिक ध्यान लगाकर काम करती हैं, अधिक विनयी होती हैं और जीवन की आवश्यकताओ को प्राप्त करने के लिये उनको मजबूर होकर ज्यादा से ज्यादा मेहनत करनी पडती है। इस प्रकार, नारी के गुणो को,—उसके विशिष्ट गुणो को,—ऐसा रूप दे दिया जाता है कि वे खुद उसी के लिये घातक बन जाते हैं। इस प्रकार नारी के स्वभाव मे जो कुछ भी अत्यन्त कर्तव्य पालन की भावना और ममता से भरा है, उसे उसके लिये दासता का साधन और यातनाओ का कारण बना दिया जाता है।" (*Ten Hours Factory Bill The Speech of Lord Ashley, 15th March* ['दस घण्टे का फैक्टरी बिल, लार्ड ऐशले का भाषण, १५ मार्च'], London 1844 प० २०।)

ख) काम के दिन का लम्बा कर दिया जाना

यदि मशीनें श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने का – अर्थात् किसी माल के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल को छोटा करने का – सबसे शक्तिशाली साधन हैं, तो जिन उद्योगों पर वे पहले पहल चढ़ाई करती हैं, उनमें वे पूंजीपति के हाथों में मानव प्रकृति की तमाम सीमाओं का अतिक्रमण करके काम के दिन को लम्बा खींचने का सबसे शक्तिशाली साधन बन जाती हैं। मशीनें एक तरफ़ तो ऐसी नयी परिस्थितियां पैदा कर देती हैं, जिनमें पूंजी को अपनी इस अनवरत प्रवृत्ति को खुली छूट दे देने का अवसर मिल जाता है, और, दूसरी तरफ़, वे दूसरों के श्रम को हड़पने की पूंजी की भूख को तेज़ करने के लिये नये उद्देश्य पैदा कर देती हैं।

सबसे पहली बात यह है कि मशीनों के रूप में श्रम के औज़ार स्वचालित बन जाते हैं। वे ऐसी चीज़ें बन जाते हैं, जो मज़दूर से स्वाधीन रहते हुए खुद हरकत करती और चलती हैं। और इस समय से ही श्रम के औज़ार एक औद्योगिक perpetuum mobile (चिरंतन चालक शक्ति) बन जाते हैं। यदि इस शक्ति की देखरेख करने वाले इंसानों के निर्बल शरीरों तथा दृढ़ इच्छाओं के रूप में कुछ प्राकृतिक रुकावटें उसके रास्ते में न आ खड़ी होतीं, तो यह शक्ति निरंतर काम करती रहती। पूंजी के रूप में, – और चूंकि वह पूंजी है, इसलिये स्वचालित यंत्र को पूंजीपति की शकल में बुद्धि और इच्छा शक्ति मिल जाती है, – उसमें यह इच्छा पैदा हो जाती है कि मनुष्य रूपी उस प्रतिकारक, किंतु लोचदार प्राकृतिक रुकावट के प्रतिरोध को कम से कम कर दे।[1] इसके अतिरिक्त, मशीन का काम चूंकि ऊपर से देखने में हल्का होता है और उसके लिये नौकर रखी गयी स्त्रियां और बच्चे चूंकि अधिक विनयी और दब्बू होते हैं, इसलिये भी यह प्रतिरोध कुछ कम हो जाता है।[2] जैसा कि हम ऊपर

---

[1] "जब से आम तौर पर मशीनों का इस्तेमाल होने लगा है, तब से इन्सानों से इतना ज्यादा काम लिया जाने लगा है, जो उनकी औसत शक्ति से बहुत ज्यादा होता है।" (Rob Owen, '*Observations on the Effects of the Manufacturing System* [रोबर्ट ओवन, 'कारखानेदारी व्यवस्था के प्रभावों के विषय में कुछ विचार'], दूसरा संस्करण, London 1817 [पृ० १६]।)

[2] अंग्रेज लोगों में किसी भी चीज की अभिव्यंजना के सबसे प्रारम्भिक रूप को उसके अस्तित्व का कारण समझने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के कारण वे अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि फैक्टरियों में अगर बहुत ज्यादा देर तक काम कराया जाता है, तो इसका कारण यह है कि फैक्टरी-व्यवस्था के बाल्य-काल में पूंजीपति मुहताजखानों और अनाथालयों से बेशुमार बच्चों को उठा लाया करते थे और इस डकैती के ज़रिये उनको शोषण के लिये ऐसी सामग्री मिल जाती थी, जो उनके विरोध में कभी चीं तक नहीं करती थी। मिसाल के लिये, फील्डेन ने, जो खुद भी एक कारखानेदार हैं, कहा है "यह स्पष्ट है कि काम के ये लम्बे घण्टे इस बात का परिणाम हैं कि देश के विभिन्न भागों में कारखानों के मालिकों को इतनी अधिक संख्या में मुहताज बच्चे मिल गये थे कि उनको मजदूरों की कोई परवाह नहीं रह गयी थी और इस प्रकार प्राप्त की गयी अभागी सामग्री की मदद से एक बार कोई रिवाज कायम करके वे फिर उसे अपने पड़ोसियों पर अधिक आसानी से लाद सकते थे।" (J Fielden "*The Curse of the Factory System*" [जे० फील्डेन, 'फैक्टरी-व्यवस्था का अभिशाप'] London 1836 पृ० ११।)

देख चुके हैं, मशीनो की उत्पादकता उस मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में होती है, जिसे ये पैदावार में स्थानांतरित कर देती है। मशीन का जीवन जितना लम्बा होता है, उसके द्वारा स्थानांतरित किया गया मूल्य पैदावार की उतनी ही अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और इस मूल्य का जो भाग हर अकेले माल में जुड़ता है, वह उतना ही कम हो जाता है। किन्तु किसी भी मशीन का सक्रिय जीवन-काल स्पष्ट रूप से काम के दिन की लम्बाई –या दैनिक श्रम प्रक्रिया की लम्बाई –और जितने दिनो तक यह प्रक्रिया चलायी जाती है, उनके गुणनफल पर निर्भर करता है।

किसी भी मशीन की घिसाई छिजाई ठीक-ठीक उसके कार्य-काल के अनुपात में नहीं घटती-बढ़ती। और यदि ऐसा हो भी, तो $७\frac{१}{२}$ वर्ष तक १६ घण्टे रोज काम करने वाली मशीन का कार्य-काल उतना ही होगा और वह कुल पैदावार में उतना ही मूल्य स्थानांतरित करेगी, जितना इस मशीन का कार्य-काल उस हालत में होगा और जितना मूल्य वह उस हालत में स्थानांतरित करेगी, जब उससे १५ वर्ष तक केवल ८ घण्टे रोज काम लिया जायेगा। लेकिन दूसरी सूरत की अपेक्षा पहली सूरत में मशीन के मूल्य का पुनरुत्पादन दुगुनी तेजी से हो जायेगा और मशीन का इस तरह उपयोग करके पूंजीपति $७\frac{१}{२}$ वर्षों में ही उतना अतिरिक्त मूल्य कमा लेगा, जितना दूसरी सूरत में वह १५ वर्षों में कमा पायेगा।

मशीन की भौतिक घिसाई दो तरह की होती है। एक उपयोग के कारण होती है, जैसे सिक्के परिचलन में घिस जाते हैं। दूसरी उपयोग न होने के कारण होती है, जैसे अगर कोई तलवार बहुत दिन तक म्यान में पड़ी रहे, तो उसमें जंग लग जाता है। यह दूसरी प्रकार की घिसाई प्राकृतिक तत्वों के कारण होती है। पहली प्रकार की घिसाई न्यूनाधिक मशीन के उपयोग के अनुलोम अनुपात में होती है, दूसरी प्रकार की घिसाई कुछ हद तक इसी चीज के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[1]

लेकिन भौतिक घिसाई छिजाई के अलावा मशीन उस क्रिया से भी गुजरती है, जिसे हम नैतिक मूल्य ह्रास की क्रिया कह सकते हैं। उसका विनिमय-मूल्य या तो इसलिये कम हो जाता है कि उसी तरह की मशीनें उसकी अपेक्षा सस्ती तैयार होने लगती हैं और या इसलिये कि उससे बेहतर मशीनें उससे प्रतियोगिता करने लगती हैं।[2] दोनों सूरतों में, मशीन चाहे जितनी

स्त्रियों के श्रम के विषय में सौण्डर्स नामक फैक्टरी इंस्पेक्टर ने १८४४ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है "मजदूर औरतों में कुछ ऐसी औरतें हैं, जिनको दो चार रोज छोड़कर बाकी कई-कई हफ्ते तक लगातार सुबह ६ बजे से आधी रात तक काम करना पड़ता है और जिनको बीच में केवल भोजन करने के लिये २ घण्टे से भी कम की एक छुट्टी मिलती है। इस तरह, इन स्त्रियों के पास हफ्ते में पांच दिन कारखाने से घर तक आने जाने और बिस्तर पर लेटकर आराम करने के लिये २४ घण्टे में से केवल ६ घण्टे बचते हैं।"

[1] "धातु का कोई यंत्र निष्क्रिय पड़ा रहेगा, तो उसके चलन वाले नाजुक कल-पुर्जों को नुकसान पहुंच सकता है।" (Ure उप० पु०, पृ० २८१)

[2] मानचेस्टर के कताई के कारखाने के जिस मालिक (Manchester Spinner) का ऊपर भी जिक्र किया जा चुका है, उसने (*The Times* के २६ नवम्बर १८६२ के अंक में) इस

ख) काम के दिन का लम्बा कर दिया जाना

यदि मशीने श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने का – अर्थात किसी माल के उत्पादन क लिय आवश्यक श्रम काल को छोटा करने का – सबसे शक्तिशाली साधन ह, तो जिन उद्योगों पर वे पहले पहल चढ़ाई करती ह, उनमें वे पूजीपति के हाथो में मानव प्रकृति की तमाम सीमाश्रो का अतिक्रमण करके काम के दिन को लम्बा खींचने का सबसे शक्तिशाली साधन बन जाती ह। मशीनें एक तरफ तो ऐसी नयी परिस्थितिया पदा कर देती हैं, जिनमें पूजी की अपनी इस अनवरत प्रवत्ति को खुली छूट दे देने का अवसर मिल जाता है, और, दूसरी तरफ, वे दूसरा के श्रम को हडपने की पूजी की भूख को तेज करने के लिये नये उद्देश्य पदा कर देती ह।

सबसे पहली बात यह है कि मशीनो के रूप में श्रम के औजार स्वचालित बन जाते ह। वे ऐसी चीजें बन जाते हैं, जो मजदूर से स्वाधीन रहते हुए खुद हरकत करती और चलती ह। और इस समय से ही श्रम के औजार एक औद्योगिक perpetuum mobili (चिरन्तन चालक शक्ति) बन जाते ह। यदि इस शक्ति की देखरेख करने वाले इन्साना के निबल शरीरो तया दृढ इच्छाश्रो के रूप में कुछ प्राकृतिक रुकावटें उसके रास्ते में न आ खड़ी होतीं, तो यह शक्ति निरन्तर काम करती रहती। पूजी के रूप में, – और चूकि वह पूजी है इसलिये स्वचालित यत्र को पूजीपति की शक्ल में बुद्धि और इच्छा शक्ति मिल जाती है, – उसमें यह इच्छा पैदा हो जाती है कि मनुष्य रूपी उस प्रतिकारक, किन्तु लोचदार प्राकृतिक रुकावट के प्रतिरोध को कम से कम कर दे।[1] इसके अतिरिक्त, मशीन का काम चूकि ऊपर से देखने में हल्का होता है और उसके लिये नौकर रखी गयी स्त्रिया और बच्चे चूकि अधिक विनयी और दब्बू होते ह, इसलिये भी यह प्रतिरोध कुछ कम हो जाता है।[2] जसा कि हम ऊपर

---

[1] "जब से आम तौर पर मशीना का इस्तेमाल होने लगा है, तब से इन्साना से इतना ज्यादा काम लिया जाने लगा है, जो उनकी औसत शक्ति से बहुत ज्यादा होता है।" (Rob Owen, *Observations on the Effects of the Manufacturing System* [रोबट आवन, 'कारखानेदारी व्यवस्था के प्रभावा के विषय मे कुछ विचार'], दूसरा सस्करण, London 1817 [पृ० १६]।)

[2] अग्रेज लोगो मे किसी भी चीज की अभिव्यजना के सबसे प्रारम्भिक रूप को उसके अस्तित्व का कारण समझने की प्रवृत्ति है। इस प्रवत्ति के कारण वे अक्सर यह कहते सुने जात ह कि फैक्टरिया मे अगर बहुत ज्यादा देर तक काम कराया जाता है, तो इसका कारण यह है कि फैक्टरी-व्यवस्था के बाल्य-काल मे पूजीपति मुहताजखानो और अनाथालया से बेशुमार बच्चा को उठा लाया करते थे और इस डकैती के जरिये उनको शोषण के लिये ऐसी सामग्री मिल जाती था, जो उनके विरोध मे कभी ची तक नही करती थी। मिसाल के लिये, फील्डेन ने, जो खुद भी एक कारखानेदार हैं, कहा है "यह स्पष्ट है कि काम के ये लम्बे घण्टे इस बात का परिणाम हैं कि देश के विभिन्न भागा स कारखानो के मालिका को इतनी अधिक सख्या म मुहताज बच्चे मिल गये थे कि उनको मजदूरो की कोई परवाह नही रह गयी थी, और इस प्रकार प्राप्त की गयी अभागी सामग्री की मदद से एक बार कोई रिवाज कायम करके वे फिर उस अपने पडोसिया पर अधिक आसानी से लाद सकत थे।" (J Fielden *The Curse of the Factory System* [जे० फील्डेन, फक्टरी-व्यवस्था का अभिशाप'], London, 1836 पृ० ११।)

देख चुके हैं, मशीनों की उत्पादकता उस मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में होती है, जिसे वे पैदावार में स्थानांतरित कर देती हैं। मशीन का जीवन जितना लम्बा होता है, उसके द्वारा स्थानांतरित किया गया मूल्य पैदावार की उतनी ही अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और इस मूल्य का जो अंश हर अकेले माल में जुड़ता है, वह उतना ही कम हो जाता है। किन्तु किसी भी मशीन का सक्रिय जीवन-काल स्पष्ट रूप से काम के दिन की लम्बाई – या दैनिक श्रम-प्रक्रिया की लम्बाई – और जितने दिनों तक यह प्रक्रिया चलायी जाती है, उनके गुणनफल पर निर्भर करता है।

किसी भी मशीन की घिसाई-छिजाई ठीक-ठीक उसके कार्य-काल के अनुपात में नहीं घटती-बढ़ती। और यदि ऐसा हो भी, तो $7\frac{1}{2}$ वर्ष तक १६ घण्टे रोज काम करने वाली मशीन का कार्य-काल उतना ही होगा और यह कुल पैदावार में उतना ही मूल्य स्थानांतरित करेगी, जितना इस मशीन का कार्य-काल उस हालत में होगा और जितना मूल्य वह उस हालत में स्थानांतरित करेगी, जब उससे १५ वर्ष तक केवल ८ घण्टे रोज काम लिया जायेगा। लेकिन दूसरी सूरत की अपेक्षा पहली सूरत में मशीन के मूल्य का पुनरुत्पादन दुगुनी तेजी से हो जायेगा और मशीन का इस तरह उपयोग करके पूंजीपति $7\frac{1}{2}$ वर्षों में ही उतना अतिरिक्त मूल्य कमा लेगा, जितना दूसरी सूरत में वह १५ वर्षों में कमा पायेगा।

मशीन की भौतिक घिसाई दो तरह की होती है। एक उपयोग के कारण होती है, जैसे सिक्के परिचलन में घिस जाते हैं। दूसरी उपयोग न होने के कारण होती है, जैसे अगर कोई तलवार बहुत दिन तक म्यान में पड़ी रहे, तो उसमें जंग लग जाता है। यह दूसरी प्रकार की घिसाई प्राकृतिक तत्वों के कारण होती है। पहली प्रकार की घिसाई न्यूनाधिक मशीन के उपयोग के अनुलोम अनुपात में होती है, दूसरी प्रकार की घिसाई कुछ हद तक इसी चीज के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[1]

लेकिन भौतिक घिसाई छिजाई के अलावा मशीन उस क्रिया से भी गुजरती है, जिसे हम नैतिक मूल्य ह्रास की क्रिया कह सकते हैं। उसका विनिमय-मूल्य या तो इसलिये कम हो जाता है कि उसी तरह की मशीनें उसकी अपेक्षा सस्ती तैयार होने लगती हैं और या इसलिये कि उससे बेहतर मशीनें उससे प्रतियोगिता करने लगती हैं।[2] दोनों सूरतों में, मशीन चाहे जितनी

स्त्रियों के श्रम के विषय में सौण्डर्स नामक फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर ने १८४४ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है "मजदूर औरतों में कुछ ऐसी औरतें हैं, जिनको दो-चार रोज छोड़कर बाकी कई कई हफ्ते तक लगातार सुबह ६ बजे से आधी रात तक काम करना पड़ता है और जिनको बीच में केवल भोजन करने के लिये २ घण्टे से भी कम की एक छुट्टी मिलती है। इस तरह, इन स्त्रियों के पास हफ्ते में पांच दिन कारखाने से घर तक आने-जाने और बिस्तर पर लेटकर आराम करने के लिये २४ घण्टे में से केवल ६ घण्टे बचते हैं।"

[1] "धातु का कोई यंत्र निष्क्रिय पड़ा रहेगा, तो उसके चलने वाले नाजुक कल-पुर्जों को नुकसान पहुंच सकता है।" (Ure उप० पु०, पृ० २८१)

[2] मानचेस्टर के कताई के कारखाने के जिस मालिक (Manchester Spinner) का ऊपर भी जिक्र किया जा चुका है, उसने (*The Times* के २६ नवम्बर १८६२ के अंक में) इस

कम-उम्र और जिन्दगी से भरी-पूरी हो, उसका मूल्य तब इस बात से निर्धारित नहीं होगा कि उसमें कितने श्रम ने सचमुच भौतिक रूप धारण किया है, बल्कि इस बात से निर्धारित होगा कि उसके पुनरुत्पादन के लिये या उससे बेहतर मशीन के उत्पादन के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक होता है। इसलिये ऐसी हालत में मशीन के मूल्य में न्यूनाधिक कमी आ जाती है। उसके कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में जितना कम समय लगेगा, उतना ही उसके नैतिक मूल्य-ह्रास का कम खतरा रहेगा, और काम का दिन जितना अधिक लम्बा होगा, मशीन के कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में उतना ही कम समय लगेगा। जब किसी उद्योग में मशीन का इस्तेमाल पहले पहल शुरू होता है, तो उसका अधिक सस्ते में पुनरुत्पादन करने का एक के बाद दूसरा तरीका ईजाद होने लगता है[1] और न केवल मशीन के अलग-अलग हिस्सों और कल-पुर्जों में, बल्कि उसकी पूरी बनावट में नये नये सुधार होते रहते ह। इसलिये मशीनो के जीवन के एकदम प्रारम्भिक दिनो में काम के दिन को लम्बा खींचने की इच्छा पैदा करने वाला यह विशिष्ट कारण सबसे अधिक जोर दिखाता है।[2]

यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो और अन्य सब परिस्थितिया समान रह, तो पहले से दुगुनी सख्या में मजदूरो का शोषण करने के लिये स्थिर पूजी के न केवल मशीनो और मकानो में लगे भाग को, बल्कि उस भाग को भी दुगुना करना पडता है, जो कच्चे माल और सहायक पदार्थों में लगाया जाता है। दूसरी ओर, काम के दिन को लम्बा करने पर मशीनो और मकानो में लगी हुई पूजी में बिना कोई परिवर्तन किये हुए ही पहले से बडे पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है।[3] इसलिये, वैसी हालत में न सिर्फ अतिरिक्त मूल्य बढ जाता

विषय में यह लिखा है "इसका (यानी "मशीनो के खराब हो जाने के लिये पहले से ही पैसा निकालकर अलग रख देने" का) यह उद्देश्य भी होता है कि मशीनें चूकि घिसने के पहले ही नयी और बेहतर बनावट की मशीनो का आविष्कार हो जाने के फलस्वरूप पुरानी पड जाती ह, इसलिये इससे निरतर होने वाले नुक्सान को पूरा करने की पहले से व्यवस्था कर दी जाये।'

[1] "मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया गया है कि जब किसी नयी मशीन का आविष्कार होता है, तो उस प्रकार की पहली मशीन बनाने मे वैसी ही दूसरी मशीन की अपेक्षा लगभग पाच गुना खर्चा लग जाता है।" (Babbage उप० पु०, पृ० २११।)

[2] "अभी बहुत दिन नही हुए हैं, जब कि पेटेण्ट-शुदा जाली बनाने के ढाचा मे इतने बडे बडे सुधार कर दिये गये थे कि जिस मशीन मे १,२०० पौण्ड की लागत लगी थी, वह अच्छी हालत म होने हुए भी उसके चन्द साल बाद ही केवल ६० पौण्ड मे बिकती थी एक के बाद दूसरा सुधार इतनी जल्दी जल्दी हो रहा था कि मशीनें तैयार नही हो पाती थी और उसके पहले ही खरीदार उन्हे उनको बनाने वालो के पास छोडकर खुद अलग हो जाते थे, क्योंकि इस बीच नये सुधार उनकी उपयोगिता को कम कर देते थे।" (Babbage उप० पु०, पृ० २३३।) चुनाचे, तरक्की के इन तूफानी दिनो मे रेशमी जाली बनाने वाले कारखानदारो ने शीघ्र ही मजदूरो की दो पालियो से काम लेना शुरू कर दिया और इस तरह काम के दिन को आठ घण्टे से चौबीस घण्टे का कर दिया।

[3] 'यह बात स्वत स्पष्ट है कि मडियो के उतार-चढाव और माग के बारी-बारी से बढने घटने के बीच बार-बार ऐसे अवसर आते हैं, जब कारखानेदार अतिरिक्त अचल पूजी लगाये बिना ही अतिरिक्त चल पूजी का उपयोग कर सकता है बशर्ते कि मकानो और मशीनो पर

है, बल्कि उसे प्राप्त करने में जो खर्चा लगता था, वह कम हो जाता है। यह सच है कि काम के दिन को लम्बा करने पर हर बार कमोबेश यह बात होती है, मगर जिस विशेष परिस्थिति पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें अधिक उल्लेखनीय परिवतन होता है, क्योकि यहा पर पूजी का वह भाग अपेक्षाकृत अधिक होता है, जो श्रम के औजारो में बदल दिया गया है।[1] फैक्टरियो की व्यवस्था का विकास पूजी के एक लगातार बढ़ते हुए भाग को एक ऐसे रूप में स्थिर कर देता है, जिसमें एक ओर तो उसका मूल्य लगातार खुद अपना विस्तार कर सकता है और, दूसरी ओर, जिसमें वह जीवित श्रम के साथ सम्पर्क खोते ही अपने उपयोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनो को खो देता है। मि० ऐशवर्थ नामक एक बडे कपडा मिल-मालिक ने प्रोफेसर नस्साऊ डबलयू० सीनियर से कहा था "जब कोई मजदूर फावडा उठाकर रख देता है, तो उस काल के लिये वह अठारह पेन्स की पूजी को व्यर्थ बना देता है। पर जब हमारा कोई आदमी मिल छोडकर चला जाता है, तो वह उस पूजी को व्यय बना देता है, जिसमें १ लाख पौण्ड की लागत लगी है।" जरा कल्पना तो कीजिये! १,००,००० पौण्ड की पूजी को एक क्षण के लिये भी "व्यय" बना दिया गया, तो कितना भारी नुकसान होगा! सचमुच, यह तो भयानक बात है कि हमारा कोई भी आदमी कभी फैक्टरी छोडकर जाये! जसा कि सीनियर ने ऐशवथ की यह सीख सुनने के बाद साफ-साफ कहा था, मशीनो का बढता हुआ उपयोग यह "वाछनीय" बना देता है कि काम के दिन को अधिकाधिक लम्बा किया जाये।[3]

मशीनें सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पदा करती हैं न केवल इस तरह कि वे श्रम-शक्ति के मूल्य को प्रत्यक्ष रूप से कम कर देती ह और उसके पुनरुत्पादन में भाग लेने वाले मालो को सस्ता

...रक्त खर्चा किये बिना ही कच्चे माल की अतिरिक्त मात्राओ का उपयोग करना सम्भव हो।" ...rrens *On Wages and Combination* [आर० टोरेन्स, 'मजदूरी और सघो के ...'], London 1834 प० ६४।)

[1] इस परिस्थिति का यहा केवल पूणता की दृष्टि से जिक्र कर दिया गया है, क्योकि जब ...तीसरी पुस्तक पर नही पहुचता, तब तक मैं मुनाफे की दर पर – अर्थात पेशगी लगायी ...ल पूजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात पर – विचार नही करूगा।

[2] Senoir *Letters on the Factory Act* (सीनियर, 'फैक्टरी कानून के सम्वध ...ठ खत'), London 1837 पृ० १३, १४।

[3] "चल पूजी के साथ अचल पूजी का अनुपात बहुत ऊचा होने के कारण काम के लम्बे घण्टे वाछनीय हो जाते हैं।" मशीना आदि का उपयोग बढ जाने पर "लम्बे घण्टा तक काम कराने की प्रेरणा अधिक बलवती हो जायेगी, क्योकि यही एक ऐसा तरीका है, जिससे अचल पूजी के एक बडे भाग को लाभदायक बनाया जा सकता है।" (उप० पु०, प० ११–१३।) "किसी भी मिल के कुछ खर्चे ऐसे होते हैं जो, चाहे मिल पूरे समय काम करे या चाहे कम समय तक चले, एक से रहते हैं, जैसे, मिसाल के लिये, लगान, टैक्स और कर, आग का बीमा, अनेक स्थायी कमचारियो का वेतन, मशीनो का ह्रास और कारखाने के ऐसे अन्य खर्चे, जिनका मुनाफे के साथ अनुपात उत्पादन के घटन के साथ साथ बढता जाता है।" (*Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1862* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६२'], प० १६।)

बनाकर अप्रत्यक्ष रूप से खुद उसको भी सस्ता बना देती हैं, बल्कि इस तरह भी कि जब किसी उद्योग में कहीं एकाध जगह पर मशीनो का उपयोग होने लगता है, तब इन मशीनो का मालिक जिस श्रम से काम लेता है, वह अपेक्षाकृत ऊचे दर्जे और ऊची कार्य-क्षमता का श्रम बन जाता है, पदावार का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य से कुछ अधिक हो जाता है और इस प्रकार पूजीपति इस स्थिति में होता है कि एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य दिन भर की पदावार के पहले से कम भाग से पूरा कर दे। परिवतन के इस काल में, जब मशीनो के इस्तेमाल पर एक तरह से किन्हीं इने गिने पूजीपतियो का इजारा होता है, असाधारण ढग के मुनाफे होते ह और पूजीपति काम के दिन को भरसक लम्बा करके "अपने इस पहले प्यार के वसत से" अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। मुनाफा जितना ज्यादा होता है, उसको मुनाफा पाने की भूख भी उतनी ही बढ जाती है।

जसे-जैसे किसी खास उद्योग में मशीनो का उपयोग अधिकाधिक सामान्य होता जाता है, वैसे वैसे पदावार का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य के स्तर के निकट आता जाता है और यह नियम अपना जोर दिखाता है कि अतिरिक्त मूल्य उस श्रम शक्ति से पदा नहीं होता, जिसका स्थान मशीनो ने ले लिया है, बल्कि वह उस श्रम-शक्ति से उत्पन्न होता है, जो सचमुच मशीनो से काम लेने के लिये नौकर रखी गयी है। अतिरिक्त मूल्य एकमात्र अस्थिर पूजी से ही उत्पन्न होता है, और हम यह देख चुके ह कि अतिरिक्त मूल्य की मात्रा दो बातो पर निर्भर करती है, यानी एक तो अतिरिक्त मूल्य की दर पर और, दूसरे, जिन मजदूरों से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी सख्या पर। यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर इस बात से निर्धारित होती है कि एक दिन में आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम की तुलनात्मक अवधि कितनी है। उधर, जिन मजदूरा से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी सख्या स्थिर पूजी के साथ अस्थिर पूजी के अनुपात पर निभर करती है। अब मशीनो के उपयोग से श्रम की उत्पादकता बढ जाने के फलस्वरूप आवश्यक श्रम के मुकाबले में अतिरिक्त श्रम चाहे जितना बढ़ जाये, यह बात साफ है कि यह केवल इसी तरह सम्भव होता है कि पूजी की एक निश्चित मात्रा मजदूरो की जिस सख्या से काम लेती है, उस में कमी आ जाती है। जो पहले अस्थिर पूजी था और श्रम शक्ति पर खर्च किया गया था, वह अब मशीनो में बदल दिया जाता है, और मशीनें स्थिर पूजी होने के कारण अतिरिक्त मूल्य पदा नहीं करतीं। मिसाल के लिये, २४ मजदूरो में से जितना अतिरिक्त मूल्य चूसा जा सकता है, २ मजदूरो में से उतना सम्भव नहीं। यदि इन २४ आदमियो में से हरेक १२ घण्टे में केवल १ घण्टा अतिरिक्त श्रम करता है, तो २४ आदमी कुल मिलाकर २४ घण्टो के बराबर अतिरिक्त श्रम करेंगे, जब कि २४ घण्टे का श्रम दो आदमियो का कुल श्रम है। इसलिये, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में मशीना के उपयोग में एक भीतरी विरोध निहित होता है, क्योंकि पूजी की एक निश्चित मात्रा द्वारा पदा किया गया अतिरिक्त मूल्य जिन दो बातो पर निभर करता है, उनमें से एक को – यानी अतिरिक्त मूल्य की दर को – उस वक्त तक नहीं बढ़ाया जा सकता, जब तक कि दूसरी को – यानी मजदूरो की सख्या को – घटा न दिया जाये। जसे ही किसी खास उद्योग में मशीनो का आम तौर पर उपयोग होने के फलस्वरूप मशीन से तयार होने वाले माल का मूल्य उसी प्रकार के अन्य सब माला के मूल्य का नियमन करने लगता है, वसे ही यह भीतरी विरोध सामने आ जाता है। और फिर यह विरोध ही पूजीपति को इस बात के लिये मजबूर

कर देता है, –हालांकि उसकी चेतना में यह चीज नहीं होती,[1] – कि वह काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा कर दे, ताकि उसके मजदूरों की सख्या में जो तुलनात्मक कमी आ गयी है, उसकी क्षति न केवल सापेक्ष अतिरिक्त श्रम में, बल्कि निरपेक्ष अतिरिक्त श्रम में भी वृद्धि करके पूरी कर दी जाये।

अत मशीनो के पूजीवादी उपयोग से यदि एक ओर काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा कर देने की प्रेरणा देने वाले नये और शक्तिशाली कारण उत्पन्न हो जाते है और सामाजिक कार्यकारी सघटन के स्वरूप के साथ-साथ श्रम के तरीके भी मौलिक रूप से इस तरह बदल जाते हैं कि इस प्रवृत्ति का सारा विरोध खतम हो जाता है, तो, दूसरी ओर, उससे कुछ हद तक तो मजदूर-वर्ग के उन नये हिस्सो तक पूजीपति की पहुच हो जाने के फलस्वरूप, जिनतक पहले उसकी पहुच नहीं थी, और कुछ हद तक उन मजदूरो के मुक्त हो जाने के फलस्वरूप, जिनका स्थान मशीनें ले लेती ह, काम करने वालो की एक फालतू आबादी[2] पैदा हो जाती है, जिसे मजबूर होकर पूजी का हुक्म बजाना पडता है। इसीलिये हमें आधुनिक उद्योग के इतिहास में यह विलक्षण बात दिखाई पडती है कि काम के दिन को लम्बा करने के रास्ते में जितनी नैतिक और प्राकृतिक बाधाए होती ह, मशीनें उन सब को हटाकर साफ कर देती ह। इसीलिये हमें यह आर्थिक विरोधाभास दिखाई देता है कि श्रम काल को छोटा करने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र ही मजदूर और उसके परिवार के समय का एक एक क्षण पूजीपति को सौंप देने का सबसे अधिक कारगर अस्त्र बन जाता है, ताकि वह इस समय का अपनी पूजी के मूल्य का विस्तार करने के लिये उपयोग कर सके। प्राचीन काल के सबसे महान विचारक, अरस्तू ने मानो स्वप्न देखते हुए लिखा था "जिस प्रकार देदेलस के बनाये हुए यत्र अपने आप चला करते थे, या हेफेस्तोस की तिपाइया खुद अपने पवित्र काय में व्यस्त हो जाती थीं, उसी प्रकार यदि प्रत्येक औजार भी उसके बुलाये जाते ही या यहा तक कि खुद अपनी मर्जी से अपने योग्य काम को पूरा कर दिया करे, यदि बुनकरो की नलिया अपने आप बुनाई करने लगें, तो न तो उस्तादो के लिये शागिर्दों की जरूरत रहेगी और न ही मालिकों के लिये गुलामो की।"[3] और अनाज पीसने की पन-चक्की का आविष्कार सभी प्रकार की मशीनो का प्राथमिक रूप था। सिसेरो के काल के ऐंतीपत्रोस नामक एक कवि ने उस आविष्कार का यह कहकर अभिनदन किया था कि वह गुलाम स्त्रियो को मुक्त कर देगा और इस प्रकार स्वण-युग वापिस ले आयेगा।[4] ये काफिर बेचारे! जसा कि विद्वान बास्तियात ने और उनके पहले उनसे भी अधिक बुद्धिमान मक्कुलक ने पता लगाया था,

---

[1] पूजीपतिया मे और उन अथशास्त्रिया मे, जिनके दिमागा मे पूजीपतिया के विचार भर हुए ह, इस भीतरी विराध की चेतना क्या नही होती, यह बात तीसरी पुस्तक के प्रथम भाग से स्पष्ट होगी।

[2] रिकार्डो का एक सबसे बडा गुण यह है कि उन्हाने मशीना को केवल माल तैयार करने के साधन के रूप मे ही नही देखा, बल्कि उनका यह रूप भी पहचाना कि वे redundant population ("फालतू आबादी") पैदा करने का साधन होती हैं।

[3] F Biese *'Die Philosophie des Aristoteles* खड २, Berlin 1842 पृ० ४०८।

[4] नीचे मैं इस कविता का स्तोलबग का किया हुआ अनुवाद द रहा हू, क्योंकि श्रम विभाजन से सम्बधित उपर्युक्त उद्धरणा की ही भाति यह कविता भी प्राचीन काल के नाना और

उस जमाने के लोगो को अर्थशास्त्र और ईसाई धम का जरा भी ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिये, वे यह नहीं समझ पाये थे कि मशीनें काम के दिन को लम्बा करने का सबसे सफल साधन होती ह। वे लोग गुलामी को शायद इस तक के आधार पर उचित समझ लेते थे कि एक की गुलामी दूसरे के पूर्ण विकास का साधन है। लेकिन उनको चूंकि ईसाई धम की देन नहीं प्राप्त थी, इसलिये जनता की गुलामी का केवल इसलिये समथन करने की उनमें क्षमता नहीं हो सकती थी कि उससे चद असभ्य, अध शिक्षित नये रईस eminent spinners" ("प्रसिद्ध कताई करने वाले"), 'extensive sausage-makers ("बडे पैमाने पर सासेज बनाने वाले") और 'influential shoe-black dealers" (प्रभावशाली बूट पालिश बेचने वाले") बन जायेंगे।

ग) श्रम का और अधिक तीव्र कर दिया जाना

पूंजी के हाथ में आने पर मशीनें काम के दिन को जिस अनुचित ढग से लम्बा कर देती ह, उसकी समाज पर प्रतिक्रिया होती है, जिसके जीवन के स्रोतो के लिये सकट पदा हो जाता है। और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप काम का एक साधारण दिन निश्चित होता है, जिसकी लम्बाई कानून द्वारा तै कर दी जाती है। बस उसी समय से वह चीज बहुत महत्व प्राप्त कर लेती है, जिसकी हम पहले भी चर्चा कर चुके हे और जिसे श्रम का तीव्रीकरण कहते ह। हमने निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का जो विश्लेषण किया था, उसका मूलतया केवल श्रम के प्रसार अथवा उसकी अवधि से सम्बध था और उसकी तीव्रता को हम स्थिर मानते रहे थे। अब हम इस विषय पर विचार करेगे कि अपेक्षाकृत अधिक समय तक किये जाने वाले श्रम का स्थान अपेक्षाकृत अधिक तीव्र श्रम कसे ले सकता है और किस हद तक ले सकता है।

यह बात स्वत स्पष्ट है कि जिस अनुपात में मशीनो का उपयोग फैलता जाता है और मशीनो से काम करने के आदी मजदूरो के एक विशेष वग का अनुभव सचित होता जाता है, वसे वसे

आधुनिक काल के लोगो के विचारो के परस्पर विरोधी स्वरूप का बिल्कुल स्पष्ट कर देती है।

Schonet der mahlenden Hand o Mullerinnen und schlafet
Sanft! es verkunde der Hahn euch den Morgen umsonst!
Dao hat die Arbeit der Madchen den Nymphen befohlen
Und jetzt hupfen sie leicht uber die Rader dahin
Daß die erschütterten Achsen mit ihren Speichen sich walzen
Und im Kreise die Last drehen des walzenden Steins
Laßt uns leben das Leben der Vater und laßt uns der Gaben
Arbeitslos uns freun welche die Gottin uns schenkt

("आटा पीसने वाली लडकियो, अब उस हाथ को विश्राम करने दो, जिस स तुम चक्की पीसती हो, और धीरे से सो जाओ! मुर्गा बाग देकर सूरज निकलने का ऐलान करे, ता भी मत उठो! देवी ने अप्सराओ का लडकियो का काम करन का आदेश दिया है, और अब वे पहिया पर हल्के हल्के उछल रही है, जिसस उनके धुरे आरा समेत घूम रहे हैं और चक्की के भारी पत्थरो को घुमा रहे हैं। आओ, अब हम भी अपने पूवजा का सा जीवन बितायें, काम बद करके आराम कर और दवी के प्रसाद से लाभ उठायें।") (Gedichte aus dem Griechischen übersetzt von Christian Graf zu Stolberg Hamburg 1782 [पृ० ३१०]।)

उसके एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में श्रम की तेजी और तीव्रता भी बढती जाती है। चुनांचे इंगलैण्ड में आधी सदी के दौरान काम के दिन की लम्बाई बढने के साथ-साथ फैक्टरी मजदूरों के श्रम की तीव्रता भी बढती गयी है। फिर भी पाठक यह बात बहुत आसानी से समझ सकेंगे कि जहां कहीं श्रम ठहर-ठहरकर नहीं किया जाता, बल्कि एक अपरिवर्तनीय एकरूपता के साथ रोज दोहराया जाता है, वहां अनिवार्य रूप से एक बिंदु ऐसा आयेगा, जब काम के दिन को और लम्बा करना तथा श्रम को और तीव्र बनाना, ये दोनों चीजें एक दूसरे का इस तरह अपवर्जन कर देंगी कि काम के दिन को लम्बा करना केवल उसी हालत में सम्भव होगा, जब श्रम की तीव्रता कुछ कम कर दी जायेगी, और श्रम की तीव्रता को बढाना केवल उसी हालत में सम्भव होगा, जब काम का दिन कुछ छोटा कर दिया जायेगा। जब मजदूर-वर्ग के धीरे धीरे बढते हुए विद्रोह ने संसद को श्रम के घण्टों को अनिवार्य रूप से छोटा कर देने के लिये मजबूर कर दिया और जब संसद ने जो सचमुच फैक्टरियां कहला सकती थीं, उनमें काम का एक सामान्य दिन लागू कर दिया, यानी जब काम के दिन को लम्बा करके अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को बढाना एक बार हमेशा के लिये रोक दिया गया, तो बस उसी क्षण से पूंजी अपनी पूरी ताकत के साथ मशीनों में जल्दी जल्दी और सुधार करके सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में जुट गयी। इसके साथ-साथ सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के स्वरूप में भी एक परिवर्तन हो गया। मोटे तौर पर, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का तरीका यह है कि मजदूर की उत्पादक शक्ति बढा दी जाये, ताकि वह एक निश्चित समय में पहले जितना ही श्रम खर्च करके पहले से अधिक पैदावार तैयार कर दिया करे। श्रम-काल अब भी कुल पैदावार में वही मूल्य स्थानांतरित करता है, जो वह पहले करता था, परंतु विनिमय-मूल्य की यह अपरिवर्तित मात्रा अब पहले से अधिक उपयोग-मूल्यों पर फैल जाती है, इसलिये हर अकेले माल का मूल्य पहले से गिर जाता है। किन्तु जब श्रम के घण्टों को अनिवार्य रूप से कम कर दिया जाता है, तब स्थिति इससे भिन्न होती है। उससे उत्पादक शक्ति के विकास के लिये और उत्पादन के साधनों में मितव्ययिता बरतने के लिये जो जबर्दस्त बढावा मिलता है, उससे मजदूर के लिये यह जरूरी हो जाता है कि वह एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम करे, उससे श्रम शक्ति का तनाव बढ जाता है और काम के दिन के छिद्र पहले से अधिक भर दिये जाते हैं,—या यूं कहिये कि श्रम का इस हद तक सघनन कर दिया जाता है, जो केवल छोटे दिन में ही सम्भव है। इसके बाद से यदि एक निश्चित अवधि में पहले से अधिक मात्रा में श्रम का सघनन हो जाता है, तो उसे वही समझा जाता है, जो वह सचमुच होता है, यानी उसे अधिक मात्रा का श्रम ही समझा जाता है। श्रम के विस्तार की—अर्थात् उसकी अवधि की—एक माप तो पहले ही थी, अब उसके अलावा श्रम की तीव्रता को या उसके सघनन अथवा घनता को भी मापा जाने लगता है।[1] दस घण्टे के काम के दिन के पहले से अधिक सघन घण्टे में बारह घण्टे के काम

---

[1] जाहिर है कि अलग अलग उद्योगों में श्रम की तीव्रता में सदा अंतर होता है। लेकिन, जैसा कि ऐडम स्मिथ ने सिद्ध करके दिखाया है, इस तरह के अंतर कुछ हद तक हर प्रकार के श्रम की कुछ विशिष्ट, किन्तु गौण परिस्थितियों के कारण दूर हो जाते हैं। लेकिन इस सूरत में मूल्य की माप के रूप में श्रम-काल पर केवल उसी हद तक कुछ प्रभाव पडता है, जिस हद तक कि श्रम की अवधि और उसकी तीव्रता की मात्रा श्रम की उसी एक मात्रा की दो परस्पर विरोधी एवं परस्पर अपवर्जी अभिव्यंजनाएं होती हैं।

के दिन के अपेक्षाकृत अधिक सरध्र घण्टे की अपेक्षा अधिक श्रम होता है, अर्थात उसमें श्रम शक्ति की अधिक मात्रा खर्च होती है। इसलिये इस प्रकार के एक घण्टे की पदावार में उतना ही या उससे भी अधिक मूल्य होता है, जितना दूसरे प्रकार के $१\frac{१}{५}$ घण्टे की पदावार में होता है। श्रम की बढी हुई उत्पादकता से पैदावार में जो वृद्धि होती है, उसके अलावा अब यह अन्तर भी आ जाता है कि पहले चार घण्टे के अतिरिक्त श्रम और आठ घण्टे के आवश्यक श्रम से मूल्य की जितनी मात्रा पैदा होती थी, अब उतनी ही मात्रा, मिसाल के लिये, $३\frac{१}{३}$ घण्टे के अतिरिक्त श्रम और $६\frac{२}{३}$ घण्टे के आवश्यक श्रम से पूजीपति के लिये तयार हो जाती है।

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि श्रम को तीव्र कैसे किया जाता है?

काम के दिन को छोटा करने का पहला प्रभाव इस स्वत स्पष्ट नियम के कारण पदा होता है कि श्रम शक्ति की कार्यक्षमता उसके खच की अवधि के प्रतिलोम अनुपात में होती है। इसलिये अवधि को कम करने से जो कुछ नुक़सान होता है, वह कुछ सीमाओ के भीतर श्रम शक्ति के बढते हुए तनाव के फलस्वरूप पूरा हो जाता है। मजदूर सचमुच पहले से अधिक श्रम शक्ति खच करेगा, पूजीपति उसको मजदूरी देने की विशेष पद्धति के द्वारा उसे सुनिश्चित कर देता है।[1] मिट्टी के बर्तन बनाने के और ऐसे ही अन्य उद्योगो पर, जिनमें मशीनो की कोई भूमिका नहीं होती और यदि होती है, तो बहुत कम, फैक्टरी-कानून के लागू होने से यह बात सिद्ध हो गयी है कि महज काम के दिन को छोटा कर देने से श्रम की नियमितता, एकरूपता, काय-व्यवस्था, निरतरता और ऊर्जा आश्चयजनक रूप से बढ़ जाती ह।[2] लेकिन जिसको सचमुच फक्टरी कहा जा सकता है और जहा मशीनो की निरतर एव एकरूप गति पर निभर रहने के कारण मजदूर में पहले से ही कठोरतम अनुशासन पदा हो जाता है, वहा भी काम के दिन को छोटा कर देन का यही प्रभाव हुआ होगा, इसमें काफी सदेह था। इसीलिये, १८४४ में जब काम के दिन को छोटा करके बारह घण्टे से कम का कर देने के सवाल पर बहस चल रही थी, तो मालिको न लगभग एक आवाज से यह ऐलान किया था कि "अलग-अलग कमरो में उनके फोरमन इस बात का पूरा खयाल रखते ह कि मजदूर जरा भी वक्त जाया न करे" तथा "मजदूर आजकल जित सतकता और ध्यान के साथ काम करते ह (the extent of vigilance and attention on the part of the workmen"), उसमें मुश्किल से ही कोई वृद्धि हो सकती है" और इसलिये, जब तक मशीनों की रफ्तार और अन्य परिस्थितियो में कोई परिवतन नहीं किया जाता, तब तक "किसी भी सुव्यवस्थित फक्टरी में यह आशा करना कि मजदूरो के ज्यादा ध्यान देने से ही कोई महत्वपूण परिणाम निकल आयेगा, बिल्कुल बेतुकी बात है।"[3] परन्तु विभिन्न प्रयोगो ने इस कथन को झूठा सिद्ध कर

---

[1] खास तौर पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के द्वारा। इस पद्धति का अध्ययन हम इस पुस्तक के भाग ६ मे करेंगे।

[2] देखिये *Rep of Insp of Fact for 31st October 1865* ('फैक्टरियो के इसपेक्टरो की रिपार्टें, ३१ अक्तूबर १८६५')।

[3] "*Rep of Insp of Fact for 1844 and the quarter ending 30th April 1845*" ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपार्टें, १८४४ की और ३० अप्रैल १८४५ को समाप्त होने वाले तिमाही की'), पृ० २०–२१।

दिया। मि० रोबर्ट गाडनर ने २० अप्रल १८४४ को प्रेस्टन में स्थित अपनी दो बडी फैक्टरियो में श्रम के घण्टे बारह से घटाकर ग्यारह घण्टे रोजाना कर दिये थे। साल भर तक इस तरह काम करने का नतीजा यह निकला कि "पहले जितनी ही पदावार हुई और उसमें पहले जितनी ही लागत लगी, और मजदूर पहले बारह घण्टे में जितनी मजदूरी कमाते थे, वही मजदूरी उन्होंने ग्यारह घण्टे में कमा ली।"[1] कताई और बुनाई के विभागो में जो प्रयोग किये गये, उनकी मैं यहा चर्चा नहीं करूगा, क्योंकि उनके साथ-साथ मशीनो की चाल भी २ प्रतिशत बढा दी गयी थी। परन्तु बुनाई-विभाग में, जहा पर हम यह भी बता दें कि बहुत कामदार और बढिया सामान तैयार होता है, काम की परिस्थितियो में जरा सा भी परिवर्तन नहीं हुआ था। वहा पर इस प्रयोग का यह नतीजा निकला "६ जनवरी से २० अप्रैल १८४४ तक बारह घण्टे के दिन के अनुसार काम हुआ और हर मजदूर की औसत साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग १ $\frac{१}{२}$ पेंस बठी, २० अप्रैल से २९ जून १८४४ तक ग्यारह घण्टे के दिन के अनुसार काम किया गया और तब औसत साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग ३ $\frac{१}{२}$ पेंस बैठी।"[2] यहा पर पहले बारह घण्टे में जितनी पैदावार होती थी, ग्यारह घण्टे में उससे ज्यादा पैदावार हुई, और वह पूणतया इस कारण हुई कि मजदूरो ने अधिक लगन के साथ काम किया और समय का मितव्ययिता के साथ उपयोग किया। उनको यदि पहले जितनी मजदूरी और एक घण्टे का अधिक अवकाश मिला, तो पूजीपति के लिये पहले जितनी ही पैदावार तयार हो गयी और साथ ही एक घण्टे में जितना कोयला, गस तथा अन्य वस्तुए खर्च होती थीं, उनकी बचत हो गयी। मेसस होराक्स एण्ड जेक्सन की मिलों में भी इसी प्रकार के प्रयोग किये गये और उनमें भी समान रूप से सफलता मिली।[3]

श्रम के घण्टो को कम कर देने से सबसे पहले तो श्रम के सघटन के लिये आवश्यक मनोगत परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि उसके बाद मजदूर एक निश्चित समय में पहले से अधिक शक्ति खच कर सकता है। जैसे ही श्रम के घण्टे अनिवाय रूप से कम कर दिये जाते हैं, वैसे ही मशीनें पूजी के हाथो में एक निश्चित समय में नियमित रूप से पहले से अधिक श्रम कराने का वस्तुगत साधन बन जाती ह। यह दो तरह से किया जाता है मशीनो की रफ्तार बढाकर और एक मजदूर को पहले से अधिक सख्या में मशीनो पर लगाकर। मशीनो की बनावट में भी सुधार करना आवश्यक होता है। कुछ हद तक तो इसलिये कि उसके बगैर मजदूर पर पहले से ज्यादा दबाव नहीं डाला जा सकता, और कुछ हद तक इसलिये कि श्रम के घण्टो

[1] उप० पु०, प० १९। कार्यानुसार मजदूरी की दर मे चूकि कोई परिवतन नही हुआ था, इसलिये साप्ताहिक मजदूरी पैदावार की मात्रा पर निभर करती थी।

[2] उप० पु०, पृ० २०।

[3] इन प्रयोगो मे नैतिक तत्व की भी एक महत्वपूण भूमिका थी। मजदूरो न फैक्टरी इन्सपेक्टर को बताया "अब हम ज्यादा उत्साह से काम करते हैं, अब इस पुरस्कार की आशा सदा हमे प्रोत्साहित करती रहती है कि रात को हम जल्दी घर लौट सकेंगे, और धागे जोडने वाले सबसे कमसिन लडके से लेकर सबसे बूढे मजदूर तक पूरी मिल मे जिन्दादिली का वातावरण रहता है और हम सब एक दूसरे की बहुत मदद करते हैं।" (उप० पु०, पृ० २१।)

में कमी हो जाने के फलस्वरूप पूजीपति को उत्पादन के खर्च पर ज्यादा से ज्यादा कडी नजर रखनी पडती है। भाप के इजन में जो सुधार हुए हैं, उनसे पिस्टन की रफ्तार बढ़ गयी है और साथ ही यह मुमकिन हो गया है कि उसी इजन में पहले जितना या उससे भी कम कोयला खर्च करते हुए पहले से अधिक सख्या में मशीनें चलायी जायें। यह शक्ति के खर्च में पहले से अधिक मितव्ययिता बरतने के कारण सम्भव होता है। सचालक यन्त्र में जो सुधार हुए ह, उन्होने घर्षण को कम कर दिया है, और–जो आधुनिक मशीनो और पुरानी मशीनो का सबसे उल्लेखनीय भेद है–इन सुधारो ने ईषा-सहति के व्यास और भार को घटाकर एक अल्पतम स्तर पर पहुचा दिया है, जो अधिकाधिक कम होता जाता है। अन्तिम बात यह है कि कार्यकारी मशीनों में जो सुधार हुए हैं, उन्होंने इन मशीनो के आकार को कम करने के साथ-साथ उनकी रफ्तार तथा कार्य-क्षमता को बढ़ा दिया है, जसा कि शक्ति से चलने वाले आधुनिक करघे में हुआ है, या उनके ढाचे के आकार को बढाने के साथ-साथ उनके कार्यकारी पुर्जों की सख्या तथा विस्तार में भी वृद्धि कर दी है, जसा कि कताई करने वाले म्यूलो में हुआ है, और या उन्होंने इन कार्यकारी पुर्जों में ऐसी बारीक तबदीलिया करके, जो दिखाई तक नहीं देतीं, उनकी रफ्तार बढा दी है,–मिसाल के लिये, दस साल पहले self-acting mules (स्वचालित म्यूलों) में इसी तरह की तबदीलियो के फलस्वरूप तकुओ की रफ्तार में $\frac{१}{५}$ की वृद्धि हो गयी थी।

इगलैण्ड में १८३२ में काम के दिन को घटाकर बारह घण्टे का किया गया था। १८३६ में एक कारखानेदार ने कहा "तीस या चालीस बरस पहले की तुलना में अब फक्टरियों में कहीं अधिक श्रम किया जाता है। इसका कारण यह है कि मशीनो की रफ्तार बहुत ज्यादा बढ़ा दी गयी है, और उसकी वजह से अब मजदूरो को पहले से कहीं अधिक ध्यान लगाकर काम करना पडता है और अधिक क्रियाशीलता दिखानी पडती है।"[1] १८४४ में लार्ड ऐशले ने, जो अब लार्ड शैफ्टेसबरी कहलाते हैं, हाउस आफ कामन्स में निम्नलिखित बातें कहीं थीं और उनके समर्थन में लिखित प्रमाण पेश किये थे

"औद्योगिक प्रक्रियाओ में लगे हुए लोग इन प्रक्रियाओ के शुरू के दिनो की अपेक्षा आजकल तीनगुना अधिक काम करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मशीनो ने ऐसा ऐसा काम पूरा कर दिया है, जिसमें करोडो मनुष्यो की मास पेशियो को लगना पडता। किन्तु इसके साथ-साथ मशीनों ने उन लोगो के श्रम को भी बहुत अधिक (prodigiously) बढ़ा दिया है, जो उनकी डरावनी हरकतो के ताबे रहते ह यदि १२ घण्टे के काम के दिन के अनुसार हिसाब लगाया जाये, तो १८२५ में न० ४० के सूत की कताई करने वाले एक जोडी म्यूलो का अनुसरण करने में ८ मील पदल चलना पडता था। १८३२ में इसी नम्बर के सूत का धागा तयार करने वाले एक जोडी म्यूलो का अनुसरण करने में २० मील और अक्सर उससे भी ज्यादा चलना आवश्यक हो गया था। १८२५ में कताई करने वाला मजदूर प्रत्येक म्यूल पर रोजाना ८२० बार धागा तानता था, यानी प्रत्येक दिन उसे कुल १,६४० बार धागा तानना पडता था। १८३२ में वह हर म्यूल पर २,२०० बार, यानी दिन भर में कुल ४,४०० बार, धागा तानता था। १८४४ में उसे प्रत्येक म्यूल पर २,४०० बार, यानी कुल ४,८०० बार, धागा तानना पडता है,

[1] John Fielden, *The Curse of the Factory System* (जान फील्डेन, 'फैक्टरी-व्यवस्था का अभिशाप'), London 1836 पृ० ३२।

और कहीं-कहीं पर तो इससे भी अधिक मात्रा में श्रम (amount of labour) की आवश्यकता होती है १८४२ में एक और दस्तावेज मेरे पास आयी, जिसमें लिखा था कि श्रम अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, और वह केवल इसलिये नहीं कि मजदूर को पहले से अधिक दूरी तक चलना पडता है, बल्कि इसलिये भी कि अब पहले से कहीं अधिक मात्रा में पैदावार तयार होती है और उसके अनुपात में मजदूरो की सख्या पहले से बहुत कम रह गयी है, और, इसके अलावा, इसका यह कारण भी है कि अब अक्सर पहले से घटिया किस्म की कपास की कताई की जाती है, जिसके साथ काम करना अधिक कठिन होता है धुनाई विभाग के श्रम में भी बहुत वृद्धि हो गयी है। वहां जो काम पहले दो व्यक्तियो के बीच बटा रहता था, उसे अब एक व्यक्ति करता है। बुनाई-विभाग में, जहा बहुत बडी तादाद में आदमी काम करते ह और उनमें भी स्त्रियो की सख्या अधिक होती है, पिछले च द सालो में कताई करने वाली मशीन की बढी हुई रफ्तार के कारण श्रम में पूरे १० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। १८३८ में हर हफ्ते १८,००० hanks (लच्छे) सूत काता जाता था, १८४३ में २१,००० hanks (लच्छे) सूत काता जाने लगा था। १८१६ में शक्ति से चलने वाले करघे से जो बुनाई की जाती थी उसमें प्रति मिनट ६० फ दे डाले जाते थे,–१८४२ में १४० फदे डाले जाने लगे थे, जिससे पता चलता है कि श्रम में कितनी भारी वद्धि हो गयी थी।"[1]

बारह घण्टो के क़ानून के मातहत १८४४ में ही श्रम की तीव्रता जिस ऊचे स्तर पर पहुच गयी थी, उसे देखते हुए अग्रेज कारखानेदारो का यह कथन उचित प्रतीत होता था कि इस दिशा में अब और प्रगति करना असम्भव है और इसलिये अब यदि श्रम के घण्टो में और कमी की जायेगी, तो हर कमी का मतलब होगा पहले से कम उत्पादन । उनकी दलीलें स्पष्टतया कितनी सही मालम होती थीं, यह कारखानेदारो पर सदव कडी निगाह रखने वाले फक्टरी इस्पेक्टर लेओनाड होनर के उसी काल के निम्नलिखित वक्तव्य से प्रकट हो जाता है-

"अब चूकि पदावार की मात्रा मुख्यतया मशीनो की रफ्तार पर निभर करती है, इसलिये मिल-मालिक के हित में यह है कि वह मशीनो को ज्यादा से ज्यादा तेज रफ्तार से चलाये, पर निम्नलिखित बातो का सदा ध्यान रखे मशीनो को बहुत जल्दी खराब हो जाने से बचाया जाये, जो सामान तयार किया जा रहा हो, उसका स्तर न गिरे, और मजदूर मशीन की गति का अनुसरण करने में लगातार जितनी ताकत खच कर सकता है, उसे उससे ज्यादा ताकत न खच करनी पडे। इसलिये, किसी भी फक्टरी के मालिक को जिन सबसे महत्वपूर्ण समस्याओ को हल करना पडता है उनमें से एक यह मालूम करना होता है कि ऊपर बतायी गयी बातो का ख़याल रखते हुए वह ज्यादा से ज्यादा किस रफ्तार से अपनी मशीनो को चला सकता है। अक्सर वह पाता है कि वह अपनी मशीनो को हद से ज्यादा तेज रफ्तार पर चलाने लगा है और उनकी बढी हुई रफ्तार से जो फायदा होता है, टूट फूट और ख़राब काम के फलस्वरूप उससे कहीं ज्यादा नुकसान हो जाता है, और इसलिये उसे रफ्तार कम करने के लिये मजबूर होना पडता है। चुनाचे म इस नतीजे पर पहुचा कि चूकि एक क्रियाशील एव बुद्धिमान मिल-मालिक यह पता लगा लेगा कि मशीनों की ज्यादा से ज्यादा क्या रफ्तार हो

[1] *'Ten Hours Factory Bill The Speech of Iord Ashley, 15th March* ('दस घण्टे का फैक्टरी बिल, लाड ऐशले का भाषण, १५ माच), London 1844 पृ० ६–६, विभिन्न स्थानो पर।

सकती है, इसलिये ग्यारह घण्टे में बारह घण्टे के बराबर पदावार तयार करना सम्भव न होगा। इसके अलावा, मने यह भी खुद ही मान लिया कि जिस मज़दूर को कार्यानुसार मज़दूरी मिलती है, वह ज्यादा से ज्यादा ज़ोर लगाकर काम करेगा, बशर्ते कि उसमें लगातार इसी रफ्तार से काम करने की शक्ति हो।"[1] अतएव, होनर इस परिणाम पर पहुचे कि यदि काम के घण्टो को बारह से कम किया जायेगा, तो उत्पादन अनिवाय रूप से घट जायेगा।[2] इसके दस वष बाद उन्होंने १८४५ के अपने मत का हवाला देते हुए बताया कि उस वष उन्होंने मशीनो को और मनुष्य की श्रम शक्ति की प्रत्यास्थता को कितना कम करके आका था, हालाकि असल में काम के दिन को अनिवाय रूप से छोटा करके इन दोनो को एक साथ उनकी चरम सीमा तक खींचा जाता है।

अब हम उस काल पर आते ह, जो १८४७ में इगलण्ड की सूती, ऊनी, रेशमी और पटसन की मिलो में दस घण्टे का कानून लागू हो जाने के बाद आरम्भ हुआ।

"तकुओ की रफ्तार में थ्रौसला में ५०० और म्यूलो में १,००० परिक्रमण प्रति मिनट की वृद्धि हो गयी है, अर्थात थ्रौसल तकुए की रफ्तार, जो १८३९ में ४,५०० बार प्रति मिनट थी, अब (१८६२ में) ५,००० बार प्रति मिनट हो गयी है, और म्यूल-तकुए की रफ्तार, जो पहले ५,००० थी, अब ६,००० बार प्रति मिनट हो गयी है। इस तरह थ्रौसल-तकुए की रफतार में $\frac{१}{१०}$ और म्यूल-तकुए की रफ्तार में $\frac{१}{५}$ की वद्धि हो गयी है।"[3] मानचेस्टर के नज़दीक पट्रिक्रोफ्ट के प्रसिद्ध सिविल इजीनियर जेम्स नाज़मिथ ने १८५२ में लेओनार्ड होनर को एक खत लिखकर यह समझाया था कि १८४८ और १८५२ के बीच भाप के इजन में किस प्रकार के सुधार हो गये थे। यह बताने के बाद कि भाप के इजनो की अश्व शक्ति का सरकारी काग़ज़ो में सदा १८२८ के इसी प्रकार के इजनो की अश्व शक्ति के आधार पर अनुमान लगाया जाता है[4] और इसलिये वह केवल नाम-मात्र की अश्व-शक्ति होती है और उनकी

---

[1] '*Rep of Insp of Fact for Quarter ending 30th September 1844 and from 1st October, 1844 to 30th April 1845* ('३० सितम्बर १८४४ को समाप्त हान वाले त्रिमास और १ अक्तूबर १८४४ से ३० अप्रैल १८४५ तक की फैक्टरी इस्पेक्टरो की रिपोर्टें'), पृ० २०।

[2] उप० पु०, पृ० २२।

[3] *Rep of Insp of Fact for 31st October, 1862* ("फैक्टरी इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'), प० ६२।

[4] १८६२ के *Parliamentary Return* ('ससदीय विवरण') म यह चीज बदल दी गयी थी। उसमे आधुनिक भाप के इजना और पन चक्किया की नाम मात्र की अश्व शक्ति के स्थान पर उनकी वास्तविक अश्व शक्ति दी गयी थी। इसके अलावा, अब गुणन करने वाले तकुआ का कताई करने वाल तकुआ मे नही शामिल किया जाता (जैसा कि १८३९, १८५० और १८५६ के *Returns* ('विवरणा') मे किया गया था), इसके अलावा, ऊनी मिला क विवरण मे *gigs* (राए उठान वाली मशीनें) भी जोड दी गयी हैं, एक तरफ पाट और सन की मिला म और दूसरी तरफ पनकम की मिला में भेद किया गया है, और अन्तिम बात यह कि रिपार्ट म मोजा का बुनाई को पहली बार शामिल किया गया है।

वास्तविक अश्व शक्ति की ओर केवल सकेत ही कर सकती है, उन्होने आगे कहा "मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि पहले ही जितने वजन की भाप के इजन वाली मशीनो से आजकल हम औसतन कम से कम ५० प्रतिशत अधिक काम ले रहे हैं और भाप के जिन इजनो से २२० फीट प्रति मिनट की सीमित रफ्तार के दिनो में ५० अश्व शक्ति मिल पाती थी, ठीक उन्हीं इजनो से बहुत सी जगहो में आजकल १०० अश्व-शक्ति से भी अधिक मिल जाती है " "१०० अश्व शक्ति के भाप के आधुनिक इजन को अब पहले से कहीं अधिक जोर के साथ चलाया जा सकता है। यह उसकी बनावट तथा बायलरो की बनावट और धारिता आदि से सम्बधित सुधारो का परिणाम है " "यद्यपि अश्व शक्ति के अनुपात में अब भी पहले जितने मजदूरो से काम लिया जाता है, मशीनो के अनुपात में अब पहले से कम मजदूरो से काम लिया जाता है।"[1] "१८५० में ब्रिटेन की फक्टरियो में १,५६,३८,७१६ तकुओ और ३,०१,४४५ करघो में गति पैदा करने के लिये नाम-मात्र की १,३४,२१७ अश्व शक्ति का उपयोग किया जाता था। १८५६ में तकुओं और करघो की सख्या क्रमश ३,३५,०३,५८० और ३,६९,२०५ थी। यह मानकर कि नाम-मात्र की एक अश्व शक्ति में १८५६ में भी वही बल था, जो १८५० में था, इतने तकुओ और करघो के लिये १,७५,००० अश्वो के बराबर शक्ति की आवश्यकता होती; परन्तु १८५६ के विवरण से पता चलता है कि असल में केवल १,६१,४३५ अश्व-शक्ति इस्तेमाल हुई थी। १८५० के विवरण के आधार पर हिसाब लगाते हुए १८५६ में फैक्टरियो को जितनी अश्व-शक्ति की आवश्यकता होनी चाहिये थी, यह उससे १०,००० अश्व शक्ति कम थी।" इस प्रकार, (१८५६ के) विवरण से जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे पता चलता है कि फैक्टरी व्यवस्था तेजी के साथ बढ रही[1] है, अश्व शक्ति के अनुपात में यद्यपि अब भी पहले जितने ही मजदूरों से काम लिया जाता है, पर मशीनो के अनुपात में पहले से कम मजदूरो से काम लिया जाता है, और शक्ति का मितव्ययितापूण प्रयोग तथा अन्य तरीको के फलस्वरूप अब भाप के इजन से पहले से अधिक भारी मशीनो को चलाया जा सकता है, और मशीनो में तथा उद्योग के तरीको में सुधार करके, मशीनो की रफ्तार बढ़ाकर और तरह तरह की अन्य तरकीबो से पहले से अधिक मात्रा में काम निकाला जा सकता है।"[3]

"हर प्रकार की मशीनो में जो बडे-बडे सुधार हो गये हैं, उनसे उनकी उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रम के घण्टो में कमी कर दिये जाने से इन सुधारों को बढावा मिला है। इन सुधारो का और साथ ही मजदूर को जो पहले से अधिक कडी मेहनत करनी पड रही है, उसका यह परिणाम हुआ है कि पहले से छोटे (पहले से दो घण्टे कम या $\frac{१}{६}$ छोटे) काम के दिन में अब कम से कम उतनी पैदावार जरूर तयार हो जाती है, जितनी पहले अधिक लम्बे काम के दिन में तयार हुआ करती थी।"[4]

---

[1] *Rep of Insp of Fact for 31st October 1856* ('फैक्टरी-इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १३–१४, २०, और १८५२ की रिपोर्ट, पृ० २३।

[2] उप० पु०, प० १४–१५।

[3] उप० पु०, प० २०।

[4] *Reports, &c, for 31st October 1858* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५८'), प० ९–१०। *Reports &c for 30th April 1860* (रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रल १८६०'), पृ० ३० और आगे के पष्ठो से तुलना कीजिये।

श्रम शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने के साथ-साथ कारखानेदारों की दौलत कितनी अधिक बढ़ गयी थी, यह जानने के लिये केवल एक तथ्य को जान लेना काफी है। वह यह कि जहा १८३८ से १८५० तक इगलण्ड की सूती मिलों तथा अन्य फैक्टरियों में ३२ प्रतिशत की औसत सानुपातिक वृद्धि हुई थी, वहा १८५० से १८५६ तक उनमें ८६ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी।

लेकिन १८४८ से १८५६ तक दस घण्टे के काम के दिन के प्रभाव के कारण इगलण्ड के उद्योगो ने चाहे जितनी प्रगति की हो, वह १८५६ से १८६२ तक के अगले ६ सालों की प्रगति के मुकाबले में कुछ भी नहीं थी। मिसाल के लिये, रेशम की फक्टरियो में १८५६ में १०,९३,७९९ तकुए थे, १८६२ में उनकी सख्या १३,८८,५४४ हो गयी, १८५६ में उनमें ९,२६० करघे थे, १८६२ में उनकी सख्या १०,७०९ हो गयी। लेकिन मजदूरो की सख्या, जो १८५६ में ५६,१३१ थी, १८६२ में ५२, ४२९ रह गयी। इसलिये, तकुओं की सख्या में २६ ९ प्रतिशत और करघो की सख्या में १५ ६ की वृद्धि हुई, पर मजदूरो की सख्या में ७ प्रतिशत की कमी हो गयी। १८५० में बटे हुए ऊन का कपडा तैयार करने वाली मिलों में ८,७५,८३० तकुओ से काम लिया जा रहा था, १८५६ में उनकी सख्या १३,२४,५४९ हो गयी (यानी ५१ २ प्रतिशत की वृद्धि हुई) और १८६२ में यह सख्या १२,८६,१७२ रह गयी (यानी २ ७ प्रतिशत की कमी आ गयी)। लेकिन गुणन करने वाले जो तकुए १८५६ की सख्या में तो शामिल हैं, पर १८६२ की सख्या में शामिल नहीं हैं, यदि उनको हम अलग कर दें, तो पता लगेगा कि १८५६ के बाद तकुओ की सख्या लगभग स्थिर रही है। दूसरी ओर, १८५० के बाद तकुओ और करघो की रफ्तार बहुत सी जगहों में दुगुनी कर दी गयी थी। बटे हुए ऊन का कपडा तयार करने वाली मिलो में जो शक्ति से चलने वाले करघे इस्तेमाल किये जाते हैं, उनकी सख्या १८५० में ३२,६१७ थी, १८५६ में ३८,९५६ और १८६२ में ४३,०४८। मजदूरो की सख्या १८५० में ७९,७३७ थी, १८५६ में ८७,७९४ और १८६२ में ८६,०६३। इनमें शामिल १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चो की सख्या १८५० में ९,९५६, १८५६ में ११,२२८ और १८६२ में १३,१७८ थी। इसलिये, इस बात के बावजूद कि १८५६ की अपेक्षा १८६२ में करघो की सख्या बहुत बढ़ गयी थी, मजदूरो की कुल सख्या घट गयी थी और शोषित बच्चो की सख्या में वृद्धि हो गयी थी।[1]

२७ अप्रल १८६३ को मि० फेरॉण्ड ने हाउस आफ कामन्स में कहा था "लकाशायर और चीशायर के १६ डिस्ट्रिक्टो के जिन प्रतिनिधियो की ओर से मैं यहां बोल रहा हू, उन्होंने मुझे सूचना दी है कि मशीनो में जो सुधार हुए ह, उनके फलस्वरूप फैक्टरियो में काम लगातार बढ़ता जा रहा है। पहले एक आदमी दो सहायको की मदद से दो करघो पर काम करता था, अब इसके बजाय एक आदमी बिना किसी सहायक के तीन करघो पर काम करता है, और एक आदमी का चार करघो को सम्भालना भी कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। ऊपर जो तथ्य दिये गये ह, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बारह घण्टे का काम अब १० घण्टे

---

[1] '*Reports of Insp of Fact for 31st Oct 1862* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० १०० और १३०।

से कम में ही पूरा हो जाता है। इसलिये यह स्वत स्पष्ट है कि पिछले १० सालो में फैक्टरी में काम करने वाले मजदूर का श्रम कितना अधिक बढ गया है।"[1]

इसलिये, हालाकि फैक्टरी इस्पेक्टर १८४४ और १८५० के कानूनो के परिणामो की सदा प्रशसा ही करते हैं और उनका प्रशसा करना न्यायसगत भी है, परन्तु साथ ही वे यह भी स्वीकार करते ह कि श्रम के घण्टो में कमी करने के फलस्वरूप श्रम अभी से इतना अधिक तीव्र कर दिया गया है कि उससे मजदूर के स्वास्थ्य को और उसकी काम करने की क्षमता को हानि पहुचने लगी है। "अधिकतर सूती मिलो, बटे हुए ऊन का कपडा तयार करने वाली मिलो और रेशम की मिलो में पिछले चन्द सालो में मशीनो की गति बहुत तेज कर दी गयी है, और उनपर सतोषजनक ढग से काम करने के लिये जो उत्तेजित मन स्थिति आवश्यक होती है, यह आदमी को एकदम थका डालती है। मुझे लगता है कि डा० ग्रीनहाऊ ने फेफडो की बीमारी से मरने वालो की हद से ज्यादा बढ़ी हुई जिस सख्या की ओर इस विषय की अपनी हाल की एक रिपोर्ट में सकेत किया है, उसका एक कारण यह उत्तेजित मन स्थिति भी हो, तो कोई आश्चय न होगा।"[2] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि श्रम के घण्टो को लम्बा करने की एक बार हमेशा के लिये मनाही हो जाने के बाद जो प्रवृत्ति तुरन्त ही पूजीपति को विधिपूर्वक श्रम की तीव्रता बढ़ाकर अपनी क्षति-पूर्ति करने के लिये मजबूर कर देती है और जो प्रवृत्ति उसे मशीनो में होने वाले प्रत्येक सुधार को मजदूर को चूस डालने के अधिक कारगर साधन में बदल देने के लिये विवश कर देती है, वही प्रवृत्ति शीघ्र ही एक ऐसी हालत अनिवाय रूप से पदा कर देगी, जिसमें श्रम के घण्टों को फिर से घटाना लाजिमी हो जायेगा।[3] इगलैण्ड के उद्योगों ने १८३३ से १८४७ तक, जब कि काम का दिन १२ घण्टे का था, जो प्रगति की थी, उसने फैक्टरी-व्यवस्था के पहले-पहल चालू होने के बाद के उन पचास वर्षों की

---

[1] शक्ति से चलने वाले दो आधुनिक करघो पर आजकल एक बुनकर ६० घण्टे के एक सप्ताह मे एक खास किस्म, लम्बाई और चौडाई के २६ टुकडे तैयार करता है, जब कि शक्ति से चलने वाले पुराने करघे पर वह ४ टुकडो से ज्यादा नही तैयार कर पाता था। इस तरह के कपडे का एक टुकडा बुनने का खच १८५० के बाद ही २ शिलिग ६ पेन्स से घटकर ५$\frac{1}{8}$ पेन्स रह गया था।

"तीस वष पहले (१८४१ मे) धागे जोडने वाले तीन आदमिया के साथ कताई करने वाले एक मजदूर को ३०० से ३२४ तकुओ तक के एक जोडी म्यूलो से अधिक पर काम नही करना पडता था। इस वक्त (१८७१ में) उसे धागे जोडने वाले पाच आदमिया की मदद से २,२०० तकुओ की ओर ध्यान देना पडता है, और १८४१ मे वह जितना सूत तैयार किया करता था, अब उससे कम से कम सात-गुना अधिक सूत उसे तैयार करना पडता है।" (एलेक्जाण्डर रेडग्रेव, फैक्टरी-इस्पेक्टर,—"*Journal of the Society of Arts* ['धधो की समिति की पत्रिका'] के ५ जनवरी १८७२ के अक मे।)

[2] *Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1861* ('फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६१'), पृ० २५, २६।

[3] लकाशायर के फैक्टरी मजदूरा मे अब (१८६७ मे) ८ घण्टे के काम के दिन का आन्दोलन शुरू हो गया है।

प्रगति को बहुत पीछे छोड दिया था, जब कि काम के दिन की कोई सीमा नहीं थी। लेकिन १८४८ से अब तक १० घण्टे के दिन के फलस्वरूप उद्योगो ने जो उन्नति की है, उसने १८३३ से १८४७ तक के १२ घण्टे के जमाने की प्रगति को और भी अधिक पीछे छोड दिया है।[1]

---

[1] नीचे दिये हुए कुछ आकडो से पता चलेगा कि १८४८ से अब तक ब्रिटेन की "फक्टरियो" मे कितनी वृद्धि हुई है

	निर्यातित मात्रा, १८४८	निर्यातित मात्रा, १८५१	निर्यातित मात्रा, १८६०	निर्यातित मात्रा, १८६५
कपास				
	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
सूत	१३,५८,३१,१६२	१४,३६,६६,१०६	१९,७३,४३,६५५	१०,३७,५१,४५५
		पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
सीने का धागा		४३,९२,१७६	६२,९७,५५४	४६,४८,६११
	गज	गज	गज	गज
सूती कपडा	१,०९,१३,७३,९३०	१,५४,३१,६१,७८९	२,७७,६२,१८,४२७	२,०१,५२,३७,८५१
फ्लक्स और सन				
	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
धागा	१,१७,२२,१८२	१,८८,४१,३२६	३,१२,१०,६१२	३,६७,७७,३३४
	गज	गज	गज	गज
कपडा	८,८९,०१,५१९	१२,९१,०६,७५३	१४,३९,९६,७७३	२४,७०,१२,५२९
रेशम				
	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
धागा	४,६६,८२५	४,६२,५१३	८,९७,४०२	८,१२,५८९
		गज	गज	गज
कपडा		११,८१,४५५	१३,०७,२९३	२८,६९,८३७
ऊन				
		पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
ऊनी धागा और बटा हुआ धागा		१,४६ ७०,८८०	२,७५,३३,९६८	३,१६,६९,२६७
		गज	गज	गज
कपडा		२४,११,२०,९७३	१९,०३,८१,५३७	२७,८८,३७ ४३८

अनुभाग ४ – फैक्टरी

इस अध्याय के शुरू में हमने उस चीज का अध्ययन किया था, जिसे हम फक्टरी का शरीर कह सकते हैं, अर्थात वहा हमने एक सहति में सगठित मशीनो का अध्ययन किया था। वहा हमने देखा था कि मशीनें स्त्रियो और बच्चो के श्रम पर अधिकार करके किस प्रकार उन

	निर्यातित मूल्य, १८४८	निर्यातित मूल्य, १८५१	निर्यातित मूल्य, १८६०	निर्यातित मूल्य, १८६५
कपास	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड
सूत	५६,२७,८३१	६६,३४,०२६	९८,७०,८७५	१,०३,५१,०४९
कपडा	१,६७,५३,३६९	२,३४,५४,८१०	४,२१,४१,५०५	४,६६,०३,७९६
फ्लक्स और सन				
धागा	४,९३,४४९	९,५१,४२६	१८,०१,२७२	२५,०५,४९७
कपडा	२८,०२,७८९	४१,०७,३९६	४८,०४,८०३	९१,५५,३१८
रेशम				
धागा		१,९५,३८०	९,१८,३४२	७ ६८,०६७
कपडा	७७,७८९	११,३०,३९८	१५,८७,३०३	१४,०९,२२१
ऊन				
धागा	७,७६,९७५	१४,८४,५४४	३८,४३,४५०	५४,२४ ०१७
कपडा	५७,३३,८२८	८३,७७,१८३	१,२१,५६,९९८	२,०१,०२,२५९

ये सरकारी प्रकाशन देखिये *Statistical Abstract of the United Kingdom* ('ब्रिटेन का साख्यिकीय सक्षेप'), अक ८ और १३, London 1861 और 1866। लकाशायर मे मिलो की सख्या मे १८३९ और १८५० के बीच केवल ४ प्रतिशत की; १८५० और १८५६ के बीच १९ प्रतिशत की और १८५६ तथा १८६२ के बीच ३३ प्रतिशत की वद्धि हुई, जब कि ग्यारह-ग्यारह वर्ष के इन दोनो कालो मे से प्रत्येक मे मजदूरो की सख्या निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ गयी, मगर सापेक्ष दृष्टि से घट गयी। (देखिये *Rep of Insp of Fact for 31st Oct, 1862* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ६३।) लकाशायर मे सूती धधे का जोर है। इस डिस्ट्रिक्ट मे सूती धधे का आकार कितना विशाल है, इसका कुछ आभास हमे इस बात से मिल सकता है कि ब्रिटेन मे कपडे की कुल जितनी फैक्टरिया है, उनका ४५ २ प्रतिशत भाग, तकुओ का ८३ ३ प्रतिशत भाग, शक्ति से चलने वाले करघा का ८१ ४ प्रतिशत भाग, यात्रिक अश्व शक्ति का ७२ ६ प्रतिशत भाग और कपडे के धधे मे काम करने वाले तमाम मजदूरो का ५८ २ प्रतिशत भाग यहा केंद्रित है। (उप० पु०, पृ० ६२-६३।)

मनुष्यो की सख्या में वृद्धि कर देती ह, जो पूजीवादी शोषण की सामग्री बन जाते ह, वे किस तरह श्रम के घण्टो को अनुचित ढग से बढ़ाकर मजदूर के उस सारे समय को हडप जाती ह, जिसे वह बेच सकता है, और, अन्त में, मशीनो की उन्नति, जिसके कारण अधिकाधिक कम समय में उत्पादन में भारी वृद्धि कर देना सम्भव होता है, किस प्रकार मजदूर से विधिपूर्वक अपेक्षाकृत कम समय में अधिक काम कराने—या श्रम-शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने—का साधन बन जाती है। यहा हम पूरी की पूरी फक्टरी और उसके सबसे अधिक विकसित रूप पर विचार करेंगे।

स्वचालित फक्टरी का यशगान करने वाले डा० उरे ने उसका, एक ओर, इस तरह वर्णन किया है कि फैक्टरी "वयस्क और कम उम्र अनेक प्रकार के मजदूरो की सयुक्त सहकारिता होती है, जो बडी तत्पर निपुणता के साथ उत्पादक मशीनो की एक ऐसी सहति की देखरेख करते हैं, जिसको एक केन्द्रीय शक्ति (मूल चालक) "लगातार चलाती रहती है", और, दूसरी ओर, उन्होने कहा है कि फैक्टरी "एक विशाल स्वचालित यत्र है, जो विभिन्न यान्त्रिक और बौद्धिक अवयवो का बना हुआ होता है, जो किसी एक वस्तु को तयार करने के उद्देश्य से एक दूसरे के निरन्तर सहयोग में काम करते हैं और जो सब के सब एक स्वनियमित चालक शक्ति के आधीन रहते हैं।" ये दो वर्णन कदापि एक से नहीं ह। एक में सामूहिक मजदूर, या श्रम का सामाजिक निकाय, प्रभावशाली कर्ता के रूप में सामने आता है और स्वचालित यत्र की स्थिति केवल कम की होती है। दूसरे में स्वचालित यत्र स्वय कर्ता है और मजदूर उसके सचेतन अवयव मात्र ह, जो उसके अचेतन अवयवो के साथ समन्वित होते हैं और जो अचेतन अवयवो के साथ-साथ केन्द्रीय चालक शक्ति के अधीन होते ह। पहला वणन बडे पमाने के मशीनों के प्रत्येक सम्भव उपयोग पर लागू होता है, दूसरा विशेष रूप से पूजी द्वारा मशीनो के उपयोग पर और इसलिये आधुनिक फक्टरी-व्यवस्था पर लागू हाता है। इसीलिये उरे उस केन्द्रीय मशीन को, जिससे गति प्राप्त होती है, केवल एक स्वचालित यत्र ही नहीं, बल्कि एक निरकुश शासक भी कहना पसन्द करते हैं। उन्होंने लिखा है "इन लम्बे चौडे हालों में भाप की दयालु शक्ति खुशी-खुशी काम करने वाले अपने असख्य नौकरों से काम लेती है।"[1]

औजार के साथ-साथ औजार से काम लेने की मजदूर की निपुणता भी मशीन के पास पहुच जाती है। औजार की क्षमताओ को उन बधनो से मुक्त कर दिया जाता है, जो मानव श्रम शक्ति के साथ अभिन्न रूप से जुडी हुई ह। इस प्रकार वह प्राविधिक आधार नष्ट हो जाता है, जिसकी नींव पर हस्तनिर्माण में श्रम विभाजन हुआ था। चुनाचे, विशिष्टीकृत मजदूरों के उस पद-सोपान के स्थान पर, जो हस्तनिर्माण की विशेषता है, स्वचालित फैक्टरी में मशीनों की देखरेख करनेवाले मजदूरों के प्रत्येक काम को बस एक ही स्तर पर पहुचा देने की प्रवृत्ति काम करती है,[2] और तफसीली काम करने वाले मजदूरो के बीच बनावटी ढग से पैदा किये गये भेदों का स्थान आयु और लिंग के प्राकृतिक भेद ले लेते ह।

फैक्टरी में जिस हद तक श्रम विभाजन पुन प्रकट होता, उस हद तक उसका मूलतया

---

[1] Ure उप० पु०, पृ० १८।

[2] Ure उप० पु०, पृ० ३१। देखिये Karl Marx *Misère de la Philosophie* (काल माक्र्स, 'दर्शन की दरिद्रता'), Paris 1847, पृ० १४०-४१।

यह रूप होता है कि मजदूर विशिष्टीकृत मशीनो के बीच बाट दिये जाते ह और मजदूरो के समूह, जो दलो में सगठित नहीं होते, फक्टरी के अलग अलग विभागो में बाट दिये जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक विभाग में वे साथ-साथ रखी हुई एक ही प्रकार की बहुत सी मशीनो पर काम करते हैं, इसलिये उनके बीच केवल साधारण सहयोग होता है। उस सगठित दल का स्थान, जो हस्तनिर्माण की विशेषता था, अब हेड मजदूर और उसके चन्द सहायको का सम्बध ग्रहण कर लेता है। बुनियादी विभाजन यह होता है कि एक तरफ तो वे मजदूर होते ह, जो सचमुच मशीनो पर काम करते ह (और जिनमें इजन की देखभाल करने वाले कुछ लोग भी शामिल होते हैं), और दूसरी तरफ इन मजदूरों के महज सहायक होते ह (जिनमें लगभग सभी केवल बच्चे होते हैं)। सहायको में कमोवेश उन सभी feeders (कच्चा माल देने वालो) को भी गिना जाता है, जो वह सामग्री मशीनो तक पहुचाते ह, जिसपर काम किया जाता है। इन दो मुख्य वर्गों के अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियो का एक वर्ग होता है, जिनका काम सभी मशीनों की देखभाल और समय-समय पर उनकी मरम्मत करना होता है। मिसाल के लियें, इजीनियर, मिस्त्री, बढ़ई आदि इस वर्ग में आते ह। सख्या की दृष्टि से यह वर्ग महत्वहीन होता है। ये एक अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के मजदूर होते ह। उनमें से कुछ को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त हुई है, दूसरों को बचपन से ही एक खास धधे की शिक्षा मिली है। यह वर्ग फक्टरी के मजदूरो के वर्ग से बिल्कुल अलग होता है, उसे केवल उनके साथ जोड दिया जाता है।[1] श्रम का यह विभाजन विशुद्ध प्राविधिक विभाजन होता है।

किसी मशीन पर काम कर सकने के लिये मजदूर को बचपन से ही शिक्षा मिलनी चाहिये, ताकि वह खुद अपनी क्रियाओं को एक स्वचालित यत्र की एकरूप एव निरन्तर गति के अनुसार ढालना सीख जाये। जब सभी मशीनो का, कुल मिलाकर, एक दूसरे के साथ-साथ और सहयोग में काम करने वाली विभिन्न प्रकार की मशीनो की एक सहति का रूप होता है, तब उनपर आधारित सहकारिता के लिये यह आवश्यक होता है कि मजदूरो के विभिन्न दल अलग-अलग प्रकार की मशीनो के बीच बाट दिये जायें। लेकिन मशीनो का उपयोग करने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि हस्तनिर्माण के ढग पर एक खास आदमी को लगातार एक खास काम के साथ बाधे रखकर इस विभाजन को स्थायी रूप दे दिया जाये।[2] इस पूरी

---

[1] इगलैण्ड के फैक्टरी-कानून ने इस अतिम वग के मजदूरा को अपने काय-क्षेत्र से अलग कर दिया है, हालाकि ससदीय विवरणो में न केवल इजीनियर, मिस्त्री आदि को, वल्कि मैनेजर, सेल्समैन, चपरासी, गोदामी, गाठ बाधने वाले आदि का भी, और सक्षेप में कहा जाये, तो खुद फैक्टरी के मालिक को छोडकर बाकी सभी लोगो को साफ तौर पर फैक्टरी-मजदूरा की मद में शामिल किया जाता है। आकडो के रूप में यह सोद्देश्य भ्रामक प्रयास जैसा लगता है (अन्य जगहो पर भी जिसे सविस्तार भ्रामक सिद्ध करना सम्भव होगा)।

[2] उरे भी यह बात स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं कि "जरूरत होने पर' मैनेजर मजदूरा को अपनी इच्छानुसार एक मशीन से हटाकर दूसरी मशीन पर लगा सकता है, और फिर उरे विजय की भावना के साथ घोषणा करते हैं "इस प्रकार का परिवतन उस पुरानी रूढि के बिल्कुल उल्टा पडता है, जिसके अनुसार श्रम का विभाजन कर दिया जाता है और एक मजदूर को सुई का मुह बनाने का काम और दूसरे को नोक तेज करने का काम सौंप दिया जाता है।" बेहतर होता, यदि उरे अपने से यह प्रश्न करते कि स्वचालित फैक्टरी में केवल "जरूरत होने पर ही" इस "पुरानी रूढि" को क्यो त्यागा जाता था।

सहति की गति चूकि मजदूर से नहीं, बल्कि मशीनो से आती है, इसलिये काम को बीच में रोके बिना किसी भी समय पर व्यक्तियो की अदला-बदली की जा सकती है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण relays system (पालियो की प्रणाली) में मिलता है, जिसे कारखानेदारा ने १८४८–१८५० में अपने विद्रोह के समय चालू किया था। अन्त में, चूकि लडके-लडकिया मशीन का काम बहुत जल्दी सीख लेते ह, इसलिये मजदूरो के किसी खास वग को केवल मशीनो पर काम करने के लिये सिखा पढाकर तैयार करने की भी कोई जरूरत नहीं रहती।[1] जहा तक महज सहायको का सम्बध है, मिल में कुछ हद तक उनका स्थान मशीनें ले सकती ह,[2] और इस तरह का काम चूकि बहुत ही सरल ढग का होता है, इसलिये जिन व्यक्तियो के कधो पर इस अरुचिकर काम का बोझा पडता है, उनमें तेजी से और लगातार परिवर्तन किये जा सकते ह।

[1] जब व्यवसाय की दशा बहुत ही शोचनीय होती है, जैसी कि अमरीकी गृह-युद्ध के दिनो में थी, तब कभी-कभी पूजीपति फैक्टरी मजदूर से सख्त से सख्त काम, जैसे सडक बनाना इत्यादि, लेने लगता है। १८६२ और उसके बाद के वर्षों में इगलैण्ड में सूती मिलो के बेकार मज़दूरा के लिये जो ateliers nationaux ("राष्ट्रीय वर्कशापे") खोली गयी थी, वे १८४८ में फ्रास मे खोली गयी राष्ट्रीय वकशापा से इस बात में भिन्न थी कि जहा फ्रास में मजदूरो को राज्य के खर्चे पर अनुत्पादक काम करना पडता था, इगलैण्ड की "राष्ट्रीय वकशापा" में मजदूरो को पूजीपति के हित में नगरपालिका का उत्पादक काम करना होता था, और वे नियमित मज़दूरो के मुकाबले में सस्ते पडते थे और इस तरह उनसे इन मज़दूरा के साथ प्रतियोगिता करा दी जाती थी। "सूती मिलो के मजदूरा की शारीरिक अवस्था में निस्सन्देह सुधार हो गया है। जहा तक पुरुषो का सम्बध है, मै समझता हू इसका कारण यह है कि इन लोगो से बाहर खुली हवा में लोक-निर्माण का काम लिया जाता है।" (*'Rep of Insp of Fact, 31st Oct 1863* ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'], पृ० ५९।) यहा लेखक प्रेस्टन फैक्टरी के मज़दूरा का जिक्र कर रहा है, जिनसे प्रेस्टन के खादर में काम लिया जा रहा था।

[2] इसका एक उदाहरण वे तरह-तरह के यात्रिक उपकरण है, जिनसे १८४४ के कानून के बाद से बच्चा के श्रम के स्थान पर काम लिया जाने लगा है। जैसा ही यह होने लगेगा कि खुद कारखानेदारो के बच्चो को मिल मे सहायको के रूप में शिक्षा लेनी पडा करेगी, वैस ही यात्रिकी के इम लगभग अनवेषित क्षेत्र में असाधारण प्रगति होगी। "मशीना में self acting mules (स्वचालित म्यूल) शायद उतने ही खतरनाक होते है, जितनी और मशीनें। उनसे जो दुघटनाए होती है, उनके शिकार प्राय छोटे छोटे बच्चे होते हैं, क्यांकि व जब म्यूल चलते रहते हैं, तब उनके नीचे रेग-रेगकर फश की सफाई करते है। इन minders" (म्यूलो पर काम करने वाला) में से कुछ पर इस जुम के लिये जुर्माना भी हा चुका है, पर इससे काई सामान्य लाभ नही हुआ है। यदि मशीनें बनाने वाले किसी ऐसे सफाई करने वाले स्वचालित यत्र का आविष्कार कर देते, जिसका उपयोग करने पर नन्हे नन्हे बच्चा को मशीना के नीचे रेगकर जाने की जरूरत न रहती, तो मजदूरा की सुरक्षा के लिये उठाये गये कदमा में यह एक बहुत उपयोगी नया कदम होता।" (*Reports of Insp of Fact for 31st Oct 1866*" ['फैक्टरिया के इस्पक्टरा की रिपार्ट, ३१ अक्तूबर १८६६'], पृ० ६३।)

इसलिये प्राविधिक दृष्टि से यद्यपि मशीनें श्रम विभाजन की पुरानी प्रणाली का तख्ता उलट देती हैं, परन्तु हस्तनिर्माण से विरासत में मिली एक परम्परागत आदत के रूप में वह फैक्टरी में जीवित रहती है और बाद को पूंजी उसको सुनियोजित ढंग से और नये सिरे से संवारकर श्रम शक्ति का शोषण करने के साधन के तौर पर एक और भी भयानक रूप में स्थापित कर देती है। सारे जीवन एक ही औजार से काम करने की विशिष्टता अब सारे जीवन एक ही मशीन की सेवा करने की विशिष्टता बन जाती है। मशीनों का अब मजदूर को उसके बचपन से ही तफसीली काम करने वाली किसी मशीन का अंग बना देने के उद्देश्य से दुरुपयोग किया जाता है।[1] इस तरह, न केवल मजदूर के पुनरुत्पादन का खर्च बहुत कुछ कम हो जाता है, बल्कि उसके साथ-साथ पूरी फैक्टरी पर और इसलिये पूंजीपति पर मजदूर की निस्सहाय निर्भरता भी पूर्णता को पहुंच जाती है। अन्य प्रत्येक स्थान की भांति यहां पर भी हमें इस बात को समझना चाहिये कि उत्पादन की सामाजिक क्रिया के विकास के फलस्वरूप उत्पादकता में जो वृद्धि होती है और इस क्रिया के पूंजीवादी शोषण के कारण उत्पादकता में जो वृद्धि होती है, उनमें भेद होता है। दस्तकारियों तथा हस्तनिर्माण में मजदूर औजार को इस्तेमाल करता है, फैक्टरी में मशीन मजदूर को इस्तेमाल करती है। वहां श्रम के औजारों की क्रियायें मजदूर से शुरू होती हैं, यहां पर उसे खुद मशीन की क्रियाओं का अनुकरण करना पड़ता है। हस्तनिर्माण में मजदूर एक जीवित संघटन के अंग होते हैं। फैक्टरी में मजदूरों से स्वतंत्र एक निर्जीव यंत्र होता है और मजदूर इस यंत्र के मात्र जीवित उपांगों में बदल जाते हैं। "अन्तहीन श्रम और मेहनत का वह नीरस नित्यक्रम, जिसमें एक ही यान्त्रिक क्रिया को बार-बार दोहराना पड़ता है, सिसाइफस के श्रम के समान होता है। सिसाइफस के पत्थर की तरह यहां पर श्रम का बोझा बार-बार सदा इस थके हुए मजदूर पर ही आकर गिरता है।"[2] फैक्टरी का काम जहां स्नायु मण्डल को हद से ज्यादा थका डालता है, वहां उसके साथ-साथ उसमें मांस-पेशियों की

---

[1] प्रूधां की विलक्षण धारणा के खण्डन के लिये इतना काफी है। वह मशीन का अर्थ यह नहीं लगाते कि वह श्रम के साधनों का योग होती है, बल्कि यह कि खुद मजदूर के हित में तफसीली क्रियाओं का समन्वय ही मशीन होता है।

[2] F Engels उप० पु०, पृ० २१७। स्वतंत्र व्यापार के मि० मोलिनारी जैसे एक साधारण तथा आशावादी समर्थक ने भी यहां तक कह डाला है कि Un homme s use plus vite en surveillant quinze heures par jour, l evolution uniforme d un mecanisme qu en exerçant dans le même espace de temps se force physique Ce travail de surveillance qui servirait peut etre d utile gymnastique a l intelligence, s il n etait pas trop prolonge detruit a la longue par son exces, et l intelligence et le corps même ["जब कोई आदमी पन्द्रह घण्टे रोजाना किसी यंत्र की एकरूपी क्रियाओं की देखरेख करता है, तो वह उस आदमी की अपेक्षा अधिक जल्दी थक जाता है, जो इतने ही समय तक खुद अपनी शारीरिक शक्तियों से काम लेता है। देखरेख का यह काम अगर अनुचित ढंग से बहुत देर तक न खींचा जाता, तो शायद बुद्धि के विकास में सहायक होता। पर यहां पर वह अंत में अपने अतिरेक से मन और शरीर दोनों को नष्ट कर डालता है।"] (G de Molinari, *Études Économiques* Paris 1846)

विविध प्रकार की चेष्टाओं की कोई जरूरत नहीं रहती और वह शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार की क्रियाशीलता के प्रत्येक कण का अपहरण कर लेता है।[1] मशीन से श्रम कुछ हल्का हो जाता है, पर यह चीज भी यहा पर एक ढग की यातना बन जाती है, क्योंकि मशीन मजदूर को काम से मुक्त नहीं करती, बल्कि काम की सारी दिलचस्पी खतम कर देती है। हर प्रकार का पूंजीवादी उत्पादन जिस हद तक न सिर्फ श्रम-प्रक्रिया, बल्कि अतिरिक्त मूल्य पदा करने की प्रक्रिया भी होता है, उस हद तक उसमें एक समान विशेषता होती है। वह यह कि उसमें मजदूर श्रम के औजारो से नहीं, बल्कि श्रम के औजार मजदूर से काम लेते ह। लेकिन यह विपयण पहले-पहल केवल फक्टरी व्यवस्था में ही प्राविधिक एव इंद्रियगम्य वास्तविकता' प्राप्त करता है। एक स्वचालित यत्र में रूपातरित हो जाने के फलस्वरूप श्रम का औजार श्रम प्रक्रिया में पूजी की शकल में, यानी उस मृत श्रम के रूप में मजदूर के सामने खडा होता है, जो जोवित श्रम-शक्ति पर हावी रहता है और चूस-चूसकर उसका सत निकाल लेता है। जसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, हाथ के श्रम से उत्पादन को बौद्धिक शक्तियो के अलग कर दिये जाने और इन शक्तियो के श्रम पर पूजी के आधिपत्य में बदल जाने की क्रिया अन्तिम रूप से उस आधुनिक उद्योग के द्वारा पूर्णता प्राप्त करती है, जो मशीनो के आधार पर खडा किया जाता है। फैक्टरी के हर अलग-अलग महत्वहीन मजदूर की व्यक्तिगत एव विशेष निपुणता उस विज्ञान के, उन विराट भौतिक शक्तियो के तथा श्रम की उस विशाल राशि के सम्मुख एक अत्यणु मात्रा बनकर रह जाती है, जो फक्टरी-यत्र में निहित होती ह और इस यत्र के साथ-साथ जिनके कारण "मालिक" (master) के हाथ में इतनी बडी ताक्त होती है। इस "मालिक" के मस्तिष्क में मशीनो के तथा उनपर उसके एकाधिकार के बीच एक अविच्छनीय एक्ता होती है, और इसलिये जब कभी उसका अपने मजदूरो से कोई झगडा होता है, तो वह बडे तिरस्कार के भाव से उनसे कहता है "फैक्टरी के मजदूरो को यह तथ्य अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि उनका श्रम वास्तव में एक होन कोटि का निपुण श्रम है और दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिये इस से अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम निपुणता रखने वाले किसी विशेषज्ञ से थोडी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इसमे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मजदूर के श्रम तथा निपुणता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती ह, और यह निपुणता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है और कोई भी साधारण खेत-मजदूर उसे प्राप्त कर सकता है।"[2] मजदूर चूकि श्रम के औजारो की एकरूपी गति की प्राविधिक अधीनता में फस जाता है और मजदूरों में चूकि स्त्री और पुरुष दोनो और हर उम्र के व्यक्ति होते ह और इसलिये चूकि उनके समुदाय की बनावट एक विचित्र ढग की

---

[1] F Engels उप० पु०, पृ० २१६।

[2] "*The Master Spinners and Manufacturers Defence Fund Report of the Committee*" ('कताई करने वाली मिलो के मालिको और कारखानेदारो का सुरक्षा कोष। – समिति की रिपोर्ट'), Manchester 1854 पृ० १७। आगे हम देखेंगे कि "मालिक जब अपने 'जीवन्त' स्वचालित यत्र को खो बैठने का खतरा देखता है, तब वह एक बिल्कुल दूसरा राग भी अलाप सकता है।

होती है, इसलिये उनमें सिपाहियो की बारक (निवास-स्थान) जसा अनुशासन पैदा हो जाता है। यह अनुशासन फैक्टरी में एक पूण व्यवस्था का रुप प्राप्त कर लेता है, और उसमें दूसरो के काम की देखरेख करने का उपर्युक्त श्रम पूरी तरह विकसित हो जाता है। इससे मजदूर काम करने वालो और काम की देखरेख करने वालो में, औद्योगिक सेना के साधारण सिपाहियो और हवलदारो में बट जाते ह। "(स्वचालित फक्टरी में) मुख्य कठिनाई सबसे अधिक इस बात को लेकर होती थी कि मनुष्यो को अनियमित ढग से काम करने की आदतो को छोडकर सश्लिष्ट स्वचालित यन्त्र की अपरिवर्तनीय नियमितता के साथ अपने को एकाकार कर देने की शिक्षा कसे दी जाये। फैक्टरी के श्रम की आवश्यक्ताओ के अनुरुप फैक्टरी-अनुशासन की एक सफल नियमावली को तयार करने और फिर उसे लागू करने के इस अति-दुष्कर काय को आकराइट ने पूरा किया, और यह उनकी महान उपलब्धि है! आज भी, जब कि पूरी व्यवस्था बहुत अच्छी तरह सगठित की जा चुकी है और उसका श्रम अधिक से अधिक हल्का हो गया है, जो लोग तरुणावस्था को पार कर गये ह, उनको फक्टरी के उपयोगी मजदूर बनाना लगभग असम्भव होता है।"[1] फैक्टरी की इस नियमावली में पूजी निजी कानून बनाने वाले व्यक्ति की तरह और अपनी इच्छा के अनुसार अपने मजदूरो पर कायम अपने निरकुश शासन को क़ानून का रूप दे देती है। पर इस निरकुशता के साथ उत्तरदायित्व का वह विभाजन जुडा हुआ नहीं होता, जो अन्य मामलो में पूजीपति-वग को इतना अधिक पसन्द है, और न ही उसके साथ प्रतिनिधान की वह प्रणाली जुडी हुई होती है, जो पूजीपति वर्ग को और भी ज्यादा पसन्द है। यह नियमावली श्रम प्रक्रिया के उस सामाजिक नियमन का पूजीवादी व्यग-चित्र मात्र होती है, जो एक विशाल अनुमाप की सहकारिता में और श्रम के औजारो के—विशेष कर मशीनो के—सामूहिक उपयोग में आवश्यक होता है। गुलामो को मार-मारकर काम लेनेवाले सरदार के कोडे का स्थान फोरमैन का जुर्मानो का रजिस्टर ले लेता है। सभी प्रकार के दण्ड स्वाभाविक ढग से जुर्माना का और मजदूरी में कटौतियो का रूप धारण कर लेते ह, और फैक्टरी के लाइकरगस की विधिकारी प्रतिभा ऐसी व्यवस्था करती है कि जहा तक सम्भव है, उनके बनाये हुए कानूनो का पालन होने की अपेक्षा उनके उल्लघन से उन्हें अधिक लाभ होता है।[2]

---

[1] Ure, उप०, पु०, प० १५। जो कोई भी आकराइट की जीवनी से परिचित है, वह इस प्रतिभाशाली नाई को कभी "उदारमना" नही कहेगा। १८ वी सदी में जितने महान आविष्कारक हुए हैं, उनमें दूसरे लोगा के आविष्कारा का सबसे बडा चार और सबसे अधिक नीच व्यक्ति निर्विवाद रूप से यह आकराइट ही था।

[2] "पूजीपति वग ने सर्वहारा को जिस गुलामी में जकड दिया है, उसपर जितना अधिक प्रकाश फैक्टरी-व्यवस्था में पडता है, उतना और कही नही पडता। इस व्यवस्था में हर प्रकार की स्वाधीनता—कानूनी तौर पर और वास्तव में, दोना तरह—खतम हा जाती है। मजदूर को सुबह साढे पाच बजे फैक्टरी में हाजिर होना पडता है। यदि उसे दो चार मिनट की भी देर हो जाती है, तो सजा मिलती है। यदि वह १० मिनट देर से पहुचता है, तो उसे नाश्ते की छुट्टी के समय तक फैक्टरी में नहा घुसने दिया जाता है, और इस तरह उसकी चौथाई दिन की मजदूरी मारी जाती है। उसे मालिक के हुक्म पर खाना, पीना और सोना पडता है फैक्टरी की निरकुश घटी उसे बिस्तर से उठा देती है, नाश्ते और खाने के बीच

यहा हम उन भौतिक परिस्थितियो का केवल जिक्र ही करेंगे, जिनमें फक्टरियों के मजदूरो को श्रम करना पडता है। फक्टरियो में तापमान कृत्रिम रूप से बढ़ा दिया जाता है, हवा में धूल भर जाती है और शोर के मारे कान फटे जाते है। इन तमाम चीजो से मजदूर

मे छुडवा देती है। और मिल में उसपर क्या गुजरती है? वहा हर चीज मालिक की उगली के इशारे पर नाचती है। वह जैसे चाहता है, वैसे नियम बनाता है, नियमावली में अपना इच्छानुसार परिवतन करता रहता है और नयी बात जोडता रहता है, और अगर वह बिलुल वेहूदा बाते उसमें शामिल कर लेता है, तब भी अदालतें मजदूर से यही कहती हैं कि तुमने यह करार अपनी इच्छा से किया है, अब तो तुम्ह उसका पालन करना ही होगा नौ वष की आयु से मृत्यु तक इन मजदूरा को हर घडी यह मानसिक और शारीरिक यातना सहन करनी पडती है।" (F Engels उप० पु०, पृ० २१७ और उसके आगे के पष्ठ।) "अदालतें कैसे फैसले करती हैं", इसके मैं दो उदाहरण दूगा। एक उदाहरण १८६६ के अतिम दिनो का शेफील्ड का है। उस शहर में एक मजदूर था, जिसने इस्पात के एक कारखाने में २ साल तक काम करने का करार किया था। अपने मालिक से झगडा हो जाने के फलस्वरूप वह कारखाना छोडकर चला गया और उसने ऐलान कर दिया कि अब वह किसी हालत में भी इस मालिक के लिये काम नही करेगा। उसपर करार भग करने का मुकदमा चला और दो महीने की कैद हो गयी। (यदि कोई मालिक करार भग करता है, तो उसपर केवल दीवानी का मुकदमा चलाया जा सकता है। और उसको सिवाय इसके और कोइ खतरा नही होता कि शायद कुछ रकम हरजाने की देनी पड जाये।) मजदूर दो महीने की जेल काटकर बाहर आया, तो मालिक ने उससे फिर कहा कि करार के अनुसार मेरे कारखाने में आकर काम करो। मजदूर ने कहा नही, मुझे इस करार को तोडने की सजा मिल चुकी है, अब मैं काम नही करूगा। मालिक ने उसपर फिर मुकदमा दायर कर दिया। अदालत ने इस बार भी मजदूर को ही दोषी ठहराया, हालाकि मि० शी नामक एक जज ने सावजनिक रूप से इस कानूनी विभीषिका की सख्त निदा की, जिसके द्वारा किसी भी मनुष्य को एक ही अपराध या जुम के लिये जब तक वह जिदा रहता है, थोडे थोडे समय के बाद बार बार दण्ड दिया जा सकता है। यह फैसला *Great Unpaid* –ज़िलो के अवैतनिक न्यायाधीशो–ने नहीं, बल्कि लदन के एक सबसे ऊचे न्यायालय ने सुनाया था।–[चौथे जमन सस्करण में जोडा गया **फुटनोट** इस स्थिति का अब अत कर दिया गया है। कुछ अपवादो को छोडकर,–मिसाल के लिये, जैसे गैस के सावजनिक कारखानो को छोडकर,–बाकी सब जगह करार भग करने के मामले में अग्रेज मजदूर की स्थिति अब मालिको के समान बना दी गयी है और उसपर भी केवल दीवानी अदालत में ही मुकदमा चलाया जा सकता है।–फ्रे० ए०] दूसरा उदाहरण नवम्बर १८६३ के अतिम दिनो का विल्टशायर का है। वहा वेस्टबरी लेह नामक स्थान में लेग्रोवर की कपडा मिल के हैरप नामक मालिक की ३० बुनकरा ने, जो शक्ति से चलने वाले करघो पर काम करती थी, हडताल कर दी। कारण यह था कि हैरप साहब का यह आदत थी कि वह सुबह को देरी से काम पर आने वाली मजदूरा की मजदूरी में कटौती कर दिया करते थे। कामगारिन यदि २ मिनट देर स आती था, ता ६ पेंस की, ३ मिनट देर से आती थी, तो १ शिलिग की, और दस मिनट देर से आती थी, ता १ शिलिग ६ पेंस की कटौती हो जाती थी। यानी, कटौती की दर ६ शिलिग फी

की प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय पर समान मात्रा में आघात लगता है। और मशीनों की भीड में मजदूर की जान जाने या हाथ-पैर कटने का जो खतरा हमेशा बना रहता है, वह अलग है। जिस तरह एक के बाद दूसरा मौसम आता है, उसी नियमित ढग से फैक्टरिया भी समय समय पर

घण्टा और ४ पौण्ड १० शिलिंग प्रति दिन की बैठती थी, जब कि बुनकरो की मजदूरी, यदि वर्ष का औसत निकालकर देखा जाये, तो कभी १० शिलिंग–१२ शिलिंग फी हफ्ता से ज्यादा नही होती थी। इसके अलावा, हैरप ने सीटी बजाकर काम आरम्भ करने का समय सूचित करने के लिये एक लडके को नियुक्त कर रखा था। वह अक्सर सुबह को ६ बजने के पहले ही सीटी बजा देता था, और अगर सीटी बन्द होने के समय तक सब कामगारिने कारखाने में नही पहुच जाती थी, तो कारखाने के फाटक बन्द कर दिये जाते थे, और जो कामगारिने बाहर रह जाती थी, उनपर जुर्माना कर दिया जाता था। कारखाने में चूकि कोई घडी नही थी, इसलिये अभागी कामगारिनो को हैरप द्वारा प्रोत्तेजित उस टाइम कीपर लडके की दया पर निभर रहना पडता था। हडताल करने वाली कामगारिनो का, जिनमें कम-उम्र लडकिया और कुटुम्ब परिवार वाली माताए भी थी, यह कहना था कि वे फिर से काम शुरू करने को तैयार हैं, बशर्ते कि टाइम कीपर की जगह पर कारखाने में एक घडी लगा दी जाये और जुर्माने एक ज्यादा मुनासिब दर के अनुसार किये] जायें।] हैरप ने १९ स्त्रियो और लडकिया पर करार भग करने का मुकदमा दायर कर दिया।] अदालत में उपस्थित सभी लोगो को यह देखकर बहुत क्रोध आया कि इनमें से हर स्त्री तथा हर लडकी से ६ पेंस जुर्माने के और २ शिलिंग ६ पेंस मुकदमे के खर्च के वसूल किये गये।] हैरप अदालत से चला, तो एक भीड फबतिया कसती हुई उसके पीछे पीछे चल रही थी। – कारखानेदारा की एक प्रिय तरकीब यह है कि मजदूर जिस सामग्री पर मेहनत करते हैं, उसमें कुछ खराबी होने पर वे मजदूरा को सजा देते हैं और उनकी मजदूरी में से पैसे काट लेते हैं। १८६६ में इस प्रथा के फलस्वरूप इगलैण्ड के मिट्टी के बतन बनाने वाले डिस्ट्रिक्टो में एक आम हडताल हो गयी। '*Ch Empl Com* ['बाल सेवायोजन आयोग'] (१८६३–१८६६) की रिपोर्टों में ऐसे उदाहरण बताये गये हैं, जिनमें मजदूर को न सिर्फ कोई मजदूरी नही मिली, बल्कि ऊपर से वह अपने श्रम के द्वारा और जुर्माने के नियमा के फलस्वरूप अपने योग्य मालिक का बुरी तरह कर्जदार भी बन गया। हाल में कपास का सकट आने के समय भी मजदूरा की मजदूरी काटने के मामले मे फैक्टरिया के निरकुश मालिका की दूरदर्शिता के अनेक उदाहरण देखने को मिले थे। फैक्टरियो के इस्पेक्टर मि० आर० बेकर ने कहा है "अभी हाल में खुद मुझको एक सूती मिल के मालिक के खिलाफ मुकदमा दायर करना पडा है। गरीबी के इन कष्टदायक दिनो में भी उसने अपने कुछ कम उम्र मजदूरा की मजदूरी में से डाक्टर के सर्टीफिकेट की फीस के १०-१० पेंस काट लिये थे (जिसके लिये खुद उसको केवल ६ पेंस देने पडे थे), जब कि कानून उसको केवल ३ पेंस काटने की इजाजत देता था और प्रथा के अनुसार कुछ भी नही कटा जाता और मुझे एक और मालिक का पता चला है, जो भी यही चीज करना चाहता है, मगर कानून की लपेट में नही आना चाहता। उसके यहा जो गरीब बच्चे काम करते हैं, जैसे ही डाक्टर उनको इस धधे के योग्य करार दे देता है, वैसे ही यह मालिक उनको कपास की बुनाई की रहस्यमयी कला सिखाने की फीस के रूप में उनसे १ शिलिंग प्रति व्यक्ति वसूल करना शुरू कर देता है। इसलिये, हडतालो जैसी असाधारण घटनाओ के कुछ अन्तर्भूत कारण

औद्योगिक सग्राम में हताहत होने वाले मजदूरो की सूचियां प्रकाशित किया करती है।[1] फक्टरी व्यवस्था में उत्पादन के सामाजिक साधनो की मितव्ययिता का इस तरह जबदस्ती विकास किय जाता है, जसे तापगहो में पौधो को बनावटी ढग से बढ़ाया जाता है। यह मितव्ययिता पूर्ज

हो सकते है। इन कारणा को समझे बिना आजकल के जैसे समय में हडताला जैसी असाधारण *घटनाओ को समझना असम्भव है।"* *यहा मि० बेकर डार्विन के शक्ति से चलने वाल करघ* पर काम करने वाले बुनकरा की उस हडताल का जिक्र कर रहे] हैं, जो जून १८६३ में हुई थी। (*"Reports of Insp of Fact for 30 April, 1863* ['फैक्टरिया के इसपक्टरा की रिपोर्टे, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ५०–५१।) इन रिपोर्टों पर जो तारीखें पडी रहता हैं, उनमें इन तारीखा से सदा आगे का हाल रहता है।

[1] खतरनाक मशीना से मजदूरो के बचाव की जा व्यवस्था फैक्टरी-कानूना ने की है, उसका लाभकारी प्रभाव हुआ है। "लेकिन   अब कुछ ऐसे कारणा से दुघटनाए होने लगी हैं, जिनका बीस वप पहले अस्तित्व नही था। मिसाल के लिये, अब खास तौर पर मशीना की बढी हुई रफ्तार के कारण बहुत सी दुघटनाए होने लगी हैं। अब पहिया, बेलना, तकुआ और ढरकिया को पहले से बढी हुई रफ्तार पर चलाया जाता है और उनकी रफ्तार बराबर बढती ही जा रही है। इसलिये अब उगलिया को टूटा हुआ धागा पकडने के लिये अपनी हरकता में पहले से अधिक तेजी और फुर्ती दिखानी पडती है, क्याकि धागा पकडने मे यदि जरा भी असमजस या सुस्ती दिखायी जाती है, तो उगलियो से हाथ धोना पडता है   मजदूरा में अपना काम जल्दी से पूरा कर डालने की जो उत्सुकता रहती है, उसके कारण भी बहुत सी दुघटनाए होती हैं। यह याद रखना चाहिये कि कारखानेदारो के लिये इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि उनकी मशीनें बराबर चलती रहे, यानी वे सदा सूत और सामान तयार करती रह। यदि एक मिनट के लिये भी उनका चलना रुक जाता है, तो न सिफ शक्ति का नुकसान होता है, बल्कि उत्पादन की भी हानि होती है, और फोरमैन लोग, जिनको सदा *ज्यादा से ज्यादा मात्रा में काम निकालने की फिक्र रहती है*, मजदूरो से *हमेशा मशीनें* चालू रखने को कहा करते हैं। और मशीनो को चालू रखने का उन मजदूरो के लिये भी कम महत्त्व नही है जिनको पैदावार के वजन या माप के हिसाब से मजदूरी मिलती है। चुनाचे, यद्यपि बहुत सी फैक्टरियो मे, बल्कि कहना चाहिये कि अधिकतर फैक्टरियो में, चलती हुई मशीना को साफ करने की सख्त मनाही है, फिर भी यदि सब फैक्टरिया में नही, तो ज्यादातर फैक्टरियो में यह आम रिवाज है कि जब मशीनें चलती रहती हैं, तब मजदूर उनमे से कूडा निकाला करते हैं और उनके बेलनो और पहियो को साफ किया करते हैं, और कोई उन्हें ऐसा करने से नही रोकता। इस प्रकार पिछले छ महीना में केवल इस एक कारण से ९०६ दुघटनाए हुई हैं   हालाकि सफाई का बहुत-कुछ काम लगातार रोजाना होता रहता है, फिर भी शनिवार का दिन इस काम के लिए खास तौर पर अलग कर दिया जाता है और उस दिन मशीनो की खूब अच्छी तरह सफाई की जाती है, और इस काम का बडा हिस्सा उस वक्त किया जाता है, जब मशीनें चलती रहती हैं। सफाई के काम की चूकि कोई मजदूरी नही मिलती, इसलिये मजदूर उसे यथासम्भव जल्दी से खतम कर डालना चाहते ह। चुनाचे शुक्रवार और खास तौर पर शनिवार के बराबर बडी सख्या में दुघटनाए और किसी दिन नही होती। सप्ताह के पहले चार दिन दुघटनाओ की सख्या का जो औसत रहता है, शुक्रवार को

के हाथ में कायरत मजदूर के जीवन के लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु की सुनियोजित लूट में बदल जाती है। मजदूर के काम करने की जगह अधिकाधिक छोटी होती जाती है, रोशनी और हवा कम होती जाती है और उत्पादक क्रिया के खतरनाक एव हानिकारक उपकरणो से उसके बचाव की व्यवस्था में अधिकाधिक काट छाट होती रहती है। मजदूर के आराम के उपकरणो में जो काट छाट होती है, वह अलग है।[1] जब फूरिये फक्टरियो को "परिष्कृत जेलखाने" कहते ह, तो क्या ग़लती करते ह ?[2]

उससे १२ प्रतिशत अधिक और शनिवार को पहले पाच दिन के औसत से २५ प्रतिशत अधिक दुघटनाए होती है, या यदि शनिवार के काम के घण्टा का खयाल रखा जाये, —क्याकि शनिवार को $७\frac{१}{२}$ घण्टे और वाकी दिन $१०\frac{१}{२}$ घण्टे काम होता है, —ता शनिवार को वाकी पाच दिन के औसत से ६५ प्रतिशत अधिक दुघटनाए होती है।" (*Rep of Insp of Fact 31st Oct, 1866* ['फैक्टरियो के इस्पक्टरा की रिपोर्ट, ३१ अक्तूवर १८६६'], पृ० ६, १५,१६, १७।)

[1] फैक्टरी कानून की उन धाराग्रा के खिलाफ, जिनके द्वारा खतरनाक मशीनो से मजदूरा के बचाव की व्यवस्था की गयी है, इगलैण्ड के कारखानेदारो ने हाल में जो आदोलन चलाया था, उसका मै तीसरी पुस्तक के भाग १ मे वणन करूगा। फिलहाल लेग्रोनाड होनर की सरकारी रिपोट का यह एक उदधरण दे दना काफी हागा "कुछ मिल मालिको को मैने कुछ दुघटनाग्रो का अक्षम्य लापरवाही के साथ जिक्र करते हुए सुना है। मिसाल के लिये, जब किसी मजदूर की उगली कट जाती है, ये लोग इस तरह उसका जिक्र करते है, जैसे काई वहुत ही महत्त्वहीन वात हो। मजदूर की जीविका और उसका भविष्य उसकी उगलिया पर इतना अधिक निभर करते है कि उसकी एक भी उगली का कट जाना उसके लिये वहुत भयानक वात होती है। जव कभी मैने मिल-मालिको को ऐसी विवेकहीन वाते करते सुना है, तब मैने प्राय उनसे यह प्रश्न किया है कि, मान लीजिये, आपका एक नये मजदूर की आवश्यकता है और इस एक जगह के लिये दो मजदूर आपके पास आते है, और दोना की याग्यता अय सब वाता में तो एक सी है, पर एक मजदूर का एक अगूठा या एक उगली कटी हुई है, ऐसी हालत मे आप उनमें से किस मजदूर को नौकर रखेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देने में मालिका का कभी कोई हिचकिचाहट नही हुई "कारखानेदारा ने सुन रखा है कि "यह कानून झूठमूठ की परोपकारी भावना से प्रेरित होकर वनाया गया है, और उसके खिलाफ उनके मन में वहुत से गलत ढग के पूवग्रह है।" (*Rep of Insp of Fact 31st Oct 1855* ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूवर १८५५']।) ये कारखानेदार बडे हाशियार लोग है, और गुलामा के मालिका के विद्रोह के सम्वध में उहाने जो उत्साह दिखाया था, वह अकारण नही था।

[2] जिन फैक्टरिया पर सवसे अधिक समय से फैक्टरी-कानून लागू है, उनमें श्रम के घण्टा के अनिवाय रूप से सीमित कर दिये जाने तथा अय नियमा के फलस्वरूप वहुत सी पुरानी बुराइया अव दूर हो गयी है। मशीना में जो सुधार हो गये है, उनके कारण भी कुछ हद तक यह जरूरी हो जाता है कि "मकाना का निमाण पहले स बेहतर ढग से किया जाये, और इससे मजदूरा का लाभ हाता है। (देखिये *Rep of Insp of Fact for 31st Oct, 1863* [फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्ट, ३१ अक्तूवर १८६३'], पृ० १०६।)

अनुभाग ५—मजदूर और मशीन के बीच चलने वाला संघर्ष

पूंजीपति और मजदूर का संघर्ष पूंजी के जन्म के साथ ही शुरू हुआ। हस्तनिर्माण के समूचे काल में यह प्रकोप दिखाता रहा।[1] लेकिन यह बात केवल मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद ही देखने में आयी है कि मजदूर खुद श्रम के औजार से—पूंजी के मूर्त रूप से—लड़ने लगा है। साधनों का यह विशिष्ट रूप चूंकि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का भौतिक आधार होता है, इसलिये मजदूर उसके खिलाफ विद्रोह कर उठता है।

१७ वीं सदी में लगभग पूरे योरप में रिबन-करघे के खिलाफ मजदूरों के विद्रोह हुए थे। यह मशीन फीते और झालर बनाने के काम में आती थी और जर्मनी में Bandmühle, Schnurmühle और Mühlenstuhl कहलाती थी। इन मशीनों का आविष्कार जर्मनी में हुआ था। एक पुस्तक में, जो वेनिस से १६३६ में प्रकाशित हुई थी, पर जो लिखी १५७९ में गयी थी, पादरी लसेलोत्ती ने लिखा है "डांजिग निवासी एण्टनी मुलर ने लगभग ५० वर्ष हुए उस शहर में एक बहुत ही बढ़िया मशीन देखी थी, जो ४ से लेकर ६ टुकड़े तक एक बार में बुन डालती थी। लेकिन शहर के मेयर को यह डर था कि इस आविष्कार के फलस्वरूप कहीं बहुत से मजदूर सड़कों पर बेकार न फिरें, और चुनांचे उसने गुप्त रूप से आविष्कारक का गला घुटवाकर या उसे नदी में फिकवाकर मार डाला।" लेडेन में यह मशीन पहली बार १६२९ में इस्तेमाल हुई। वहां फीते तैयार करने वाले बुनकरों के बलवों ने आखिर शहर की कौंसिल को उसपर प्रतिबंध लगाने के लिये मजबूर कर दिया। लेडेन में इस मशीन का इस्तेमाल पहले पहल किस तरह शुरू हुआ, इसका जिक्र करते हुए बोक्सहोर्न ने अपनी रचना '*Institutiones Politicae*" (१६६३) में लिखा है In hac urbe, ante hos viginti circiter annos instrumentum quidam invenerunt textorium, quo solus plus panni et facilius conficere poterat, quam plures aequali tempore Hinc turbae ortae et querulae textorum, tandemque usus hujus instrumenti a magistratu prohibitus est" ("इस शहर में लगभग बीस वर्ष हुए बुनाई की एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ था, जिससे एक आदमी इतने फीते तैयार कर डालता था, जितने पहले उतने ही समय में बहुत से आदमी नहीं तैयार कर पाते

---

[1] अन्य पुस्तकों के अलावा देखिये जान हाउटन की रचना 'उन्नत खेती और व्यापार' (John Houghton, *Husbandry and Trade Improved*, London 1727) तथा *The Advantages of the East India Trade 1720* ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ, १७२०') और जान बैलेस की वह पुस्तक जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं (John Bellers '*Proposals for Raising a College of Industry* London 1696)। "मालिक और उनके मजदूर दुर्भाग्यवश सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। मालिकों की इच्छा हमेशा यह होती है कि अपना काम अधिक से अधिक सस्ते में करा लें, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे हर तरह की जुगत से काम लेते हैं। उधर मजदूरों को उतनी ही फिक्र इस बात की रहती है कि मौका हाथ आते ही अपने मालिकों को अपनी पहले से बढ़ी हुई मांगों को मानने के लिये मजबूर कर दें।" (*An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions* ['खाद्य पदार्थों के वर्तमान ऊंचे दामों के कारणों की जांच'], पृ० ६१—६२। इस पुस्तक के लेखक, पादरी नथैनियल फोस्टर, मजदूरों के खासे पक्षपाती हैं।)

थे, और ये फीते पहले से बेहतर किस्म के होते थे। चुनाचे स्थानीय पमाने पर अनेक उपद्रव होने लगे, बुनकरो ने शोर मचाया, और आखिर शहर की कौंसिल ने इस औजार के उपयोग पर प्रतिबध लगा दिया")। १६३२, १६३९ आदि में इस करघे पर न्यूनाधिक रूप में प्रतिबध लगाने वाले अनेक आदेश जारी करने के बाद हालैण्ड की स्टेटस जनरल ने आखिर १५ दिसम्बर १६६१ के आदेश के जरिये कुछ शर्तों के साथ उसके उपयोग की इजाजत दे दी। १६७६ में कोलोन में भी इस औजार पर प्रतिबध लगा दिया गया। इगलैण्ड में इसी समय उसके उपयोग के फलस्वरूप मजदूरो के उपद्रव हो रहे थे। १९ फरवरी १६८५ के एक शाही फरमान के जरिये सारे जमनी में उसके इस्तेमाल की मनाही कर दी गयी। हैम्बग में सेनेट के हुक्म पर उसे सावजनिक रूप से जलाया गया। सम्राट् चार्ल्स छठे ने ९ फरवरी १७१९ को १६८५ के आदेश को फिर से जारी किया, और सैक्सोनी की एलेक्टोरट में १७६५ तक उसका खुल्लमखुल्ला इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं दी गयी। यह मशीन, जिसने योरप की नींव हिला दी, असल में म्यूल की और शक्ति से चलने वाले करघे की और १८ वीं सदी की औद्योगिक क्राति की पूवज थी। उसकी मदद से एक सर्वथा अनुभवहीन लडका केवल करघे की मूठ को आगे-पीछे करके उसकी सारी ढरकियो सहित पूरे करघे में गति पदा कर सकता था, और इस मशीन का सुधरा हुआ रूप एक बार में ४० से ५० टुकडे तक तयार कर डालता था।

लन्दन के नजदीक एक डच व्यक्ति ने हवा से चलने वाली लकडी चीरने की एक मशीन लगा रखी थी। १६३० के लगभग उसे लोगो ने नष्ट कर डाला। यहा तक कि १८ वीं सदी के शुरू में भी पानी से चलने वाली लकडी चीरने की मशीन बहुत मुश्किल से ही ससद का समथन पाने वाली जनता के विरोध पर क़ाबू पा सकी। १७५८ में एवेरेट ने पानी की शक्ति से चलने वाली ऊन कतरने की पहली मशीन बनाकर खडी ही की थी कि १ लाख ऐसे व्यक्तियो ने, जो बेकार हो गये थे, उसमें आग लगा दी। पचास हजार मजदूरो ने, जो पहले ऊन धुनकर जीविका कमाया करते थे, आकराइट की बनायी हुई धुनने और तूमने की मशीनो के खिलाफ ससद को एक दरखास्त भेजी। वतमान शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों में इगलैण्ड के कल कारखानो वाले डिस्ट्रिक्टो में मुख्यतया शक्ति से चलने वाले करघे का उपयोग आरम्भ हो जाने के कारण बडे विशाल पैमाने पर मशीनो को नष्ट किया गया था। यही आन्दोलन लुड्डाइट आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उससे सिडमाउथ, कसलरीह और उन सरीखे व्यक्तियो को जकोबिन-विरोधी सरकारो को बल प्रयोग के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी कदम उठाने का बहाना मिल गया। काफी समय बीत जाने और बहुत-कुछ अनुभव प्राप्त करने के बाद ही मजदूर यह समझ पाये कि मशीनों में और पूजी के द्वारा मशीनो के उपयोग में भेद होता है और उन्हें उत्पादन के भौतिक औजारो पर नहीं, बल्कि उनके उपयोग की प्रणाली पर अपने प्रहार करने चाहिये।[1]

हस्तनिर्माण में मजदूरो के सवाल पर होने वाले झगडे हस्तनिर्माण के अस्तित्व को पहले से मान लेते थे, और उनका उद्देश्य किसी भी अथ में हस्तनिर्माण के अस्तित्व पर प्रहार करना नहीं होता था। नये हस्तनिर्माणो की स्थापना का विरोध शिल्पी सघो तथा विशेषाधिकार

---

[1] पुराने ढग के उद्योगो में मशीनो के खिलाफ मजदूरो के बलवे आज भी यदा-कदा बबर स्वरूप धारण कर लेते हैं। मसलन १८६५ में शेफील्ड के रेती बनाने वालो के उपद्रव का रूप भी ऐसा ही हो गया था।

प्राप्त नगरो की ओर से होता था, न कि मजदूरो की ओर से। इसीलिये, हस्तनिर्माण के काल के लेखक काम में लगे हुए मजदूरो का स्थान ले लेने के साधन के रूप में नहीं, बल्कि मुख्यतया मजदूरो की कमी को पूरा करने के साधन के रूप में श्रम-विभाजन की चर्चा करते है। यह भेद स्वत स्पष्ट है। यदि यह कहा जाये कि आजकल इगलैण्ड में ५,००,००० व्यक्ति म्यूलो के द्वारा जितनी कपास कातते है, उतनी कपास पुराने चर्खे से कातने के लिये १० करोड आदमियो की आवश्यकता होगी, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि म्यूलो ने उन करोडो आदमियो का स्थान ले लिया है, जो कभी पैदा नही हुए थे। इसका केवल यह अर्थ होता है कि कताई की मशीनों का स्थान लेने के लिये कई करोड आदमियो की जरूरत होगी। दूसरी ओर, यदि हम यह कहते है कि इगलण्ड में शक्ति से चलने वाले करघे ने ८,००,००० बुनकरो को बेरोजगार कर दिया, तो हम पहले से मौजूद किन्हीं मशीनो का जिक्र नहीं करते, जिनका स्थान मजदूरो की एक निश्चित संख्या को लेना होगा, बल्कि पहले से मौजूद उन बुनकरो की संख्या का जिक्र करते है, जिनका स्थान सचमुच करघो ने ले लिया था या जिनको उन्होंने बेकार कर दिया था। हस्तनिर्माण के काल का आधार भी दस्तकारी का श्रम ही था, हालाकि उसमें श्रम विभाजन ने कुछ परिवर्तन कर दिया था। मध्य युग से विरासत में मिले हुए शहरी कारीगरो की अपेक्षाकृत छोटी संख्या के कारण नयी औपनिवेशिक मण्डियो की मागो को संतुष्ट करना सम्भव न था। और जिनको वास्तव में हस्तनिर्माण कहा जा सकता था, ऐसे व्यवसायो ने देहात की उस आबादी के लिये उत्पादन के नये क्षेत्र खोल दिये थे, जिसे सामन्ती व्यवस्था के विसर्जन ने जमीन से भगा दिया था। इसलिये उस वक्त वर्कशाप के भीतर पाये जाने वाले श्रम विभाजन तथा सहकारिता की ओर इस सकारात्मक दृष्टि से अधिक देखा जाता था कि इन चीजो से मजदूरो का श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है।[1] आधुनिक उद्योग के काल के बहुत पहले सहकारिता और चन्द आद

---

[1] सर जेम्स स्टीवर्ट ने भी मशीनो को ठीक इसी अर्थ में समझा है। 'Je considere donc les machines comme des moyens d augmenter (virtuellement) le nombre des gens industrieux qu on n est pas oblige de nourrir En quoi l effet d une machine differe t il de celui de nouveaux habitants? ["इसलिये मैं मशीनो को मेहनत करने वाला की संख्या को बढाने का एक ऐसा साधन समझता हू, जिसमें नये मजदूरो को खिलाने पिलाने का खर्चा बर्दाश्त नही करना पडता मशीनो का प्रभाव आबादी के बढने के प्रभाव से किस बात में भिन्न होता है?"] (Sir James Steuart *An Inquiry into the Principles of Political Economy* ['अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की जाच'], फ्रासीसी अनुवाद, खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय १९।) इससे अधिक भोलेपन का परिचय पेटी देते हैं। वह कहते हैं कि मशीनें "बहुपत्नी प्रथा" का स्थान ले लेती है। यह दृष्टिकोण अधिक से अधिक संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागो पर ही लागू होता है। दूसरी ओर, 'किसी एक व्यक्ति का श्रम कम करने के उद्देश्य से मशीनो का बहुत मुश्किल से ही कभी सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उनके उपयोग से जितने समय की बचत होगी, उससे अधिक समय उनके बनाने में जाया हो जायेगा। मशीनें केवल उसी हालत में उपयोगी होती हैं, जब वे लोगो की बडी संख्या पर प्रभाव डालती हैं और जब एक मशीन हजारो के काम में मदद दे सकती है। चुनाचे मशीनें सबसे अधिक घनी आबादी वाले देशो में पायी जाती हैं, जहा बेकार लोगो की संख्या

मियो के हाथो में श्रम के औजारो का केन्द्रीकरण हो जाने के फलस्वरूप अनेक ऐसे देशो में, जिनमें इन तरीको को खेती में इस्तेमाल किया गया था, उत्पादन की प्रणालियो में बडी बडी आकस्मिक क्रातिया जबदस्ती हो गयी थीं और उनके फलस्वरूप देहात की आबादी के जीवन की परिस्थितियो में और उसके जीविका के साधनो में भी बहुत बडे बडे परिवतन हो गये थे। लेकिन शुरू-शुरू में यह सघर्ष पूजी और मजदूरो की अपेक्षा बडे और छोटे भू-स्वामियो के बीच ज्यादा होता है। दूसरी ओर, जब मजदूरो का स्थान श्रम के औजार – या भेडें और घोडे आदि – ले लेते ह, तब ऐसी स्थिति में शुरू-शुरू में औद्योगिक क्राति की भूमिका के रूप में प्रत्यक्ष रूप से बल का प्रयोग किया जाता है। पहले मजदूरो को जमीन से खदेड दिया जाता है, फिर भेडें आ जाती ह। [बडे पैमाने की खेती की स्थापना के लिये क्षेत्र तैयार करने की क्रिया में पहला कदम जमीन की बडे पैमाने की नोच-खसोट होती है, जैसी कि इगलण्ड में हुई थी।[1] इसलिये खेती में होने वाला यह उलट-फेर शुरू-शुरू में राजनीतिक क्राति अधिक प्रतीत होता है।

जब श्रम का औजार मशीन का रूप धारण कर लेता है, तब वह तत्काल ही खुद मजदूर का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है।[2] मशीनो के द्वारा पूजी का अपने आप जो विस्तार होता है, वह इसके बाद से उन मजदूरो की सख्या के अनुलोम अनुपात में होता है, जिनकी जीविका के साधनो को इन मशीनो ने नष्ट कर दिया है। पूजीवादी उत्पादन की पूरी व्यवस्था इस तथ्य पर आधारित है कि मजदूर अपनी श्रम शक्ति को माल के रूप में बेचता है। श्रम विभाजन इस श्रम शक्ति को एक खास औजार से काम लेने की निपुणता में परिणत करके उसका विशिष्टीकरण कर देता है। जैसे ही इस औजार से काम लेना किसी मशीन का कार्य बन जाता है, वसे ही मजदूर की श्रम शक्ति के उपयोग-मूल्य के साथ-साथ उसका विनिमय-मूल्य भी गायब हो जाता है। उस कागजी मुद्रा की तरह, जिसे क़ानून बनाकर चलन के बाहर फेंक दिया गया है, यह मजदूर भी अब बिकने के लायक नहीं रहता। इस प्रकार, मशीनें मजदूर-वग के जिस भाग को फालतू बना देती ह, अर्थात जिस भाग की पूजी के आत्म विस्तार के लिये तात्कालिक आवश्यकता नहीं रहती, वह या तो मशीनो के साथ पुरानी दस्तकारियो और हस्तनिर्माणो की असमान प्रतियोगिता में परास्त होकर नेस्त-नाबूद हो जाता है और या उद्योग की उन समस्त शाखाओ में बाढ के पानी की तरह भर जाता है, जिनतक उसकी अधिक आसानी से पहुच सम्भव होती है।

सबसे ज्यादा होती है मशीनो का उपयोग आदमियो की कमी के कारण नही होता, बल्कि वह इस बात पर निभर करता है कि किस आसानी के साथ आदमियो को बडी सख्याओ में काम करने के लिये इकट्ठा किया जा सकता है।" (Piercy Ravenstone, *Thoughts on the Funding System and its Effects* [पियर्सी रैवेनस्टोन, 'निधिपन प्रणाली तथा उसके प्रभावो के विषय में कुछ विचार'], London 1824 पृ० ४५।)

[1] [चौथे जमन सस्करण में जोडा गया फुटनोट यह बात जमनी पर भी लागू होती है। जमनी में जहा कही बडे पैमाने की खेती पायी जाती है, यानी खास तौर पर पूर्वी भाग में, वहा यह जागीरो को खाली कराने (Bauernlegen) की उस प्रथा क कारण अस्तित्व मे आ सकी है, जो १६ वी सदी से ही प्रचलित है और जिसने १६४८ के बाद से खास तौर पर जोर पकड लिया है। – फ्रे० ए०]

[2] "मशीनो और श्रम के बीच बराबर प्रतियोगिता चला करती है।" (Ricardo उप० पु०, प० ४७६।)

वह श्रम की मण्डी को पाट देता है और श्रम शक्ति के दाम को उसके मूल्य के नीचे गिरा देता है। मजदूरो को यह कहकर बहुत दिलासा दिया जाता है कि एक तो उनका कष्ट केवल अस्थायी कष्ट (a temporary inconvenience') है और, दूसरे, मशीनें उत्पादन के किसी भी खास क्षेत्र पर बहुत धीरे-धीरे ही अधिकार करती हैं, जिससे उनके विनाशकारी प्रभाव की व्यापकता एव तीव्रता कम हो जाती है। पहला आश्वासन दूसरे आश्वासन को खतम कर देता है। जब मशीने किसी उद्योग पर धीरे धीरे अधिकार करती हैं, तब उन मशीनो से प्रतियोगिता करने वाले कारीगरो को स्थायी रूप से मुसीबत आ जाती है। जब परिवतन तेजी से होता है, तब उसका प्रभाव बहुत तीव्र होता है और बहुत बडी सख्या में लोग उसके शिकार हो जाते हैं। इगलण्ड में हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरो का जिस प्रकार धीरे धीरे विनाश हुआ, उससे अधिक भयानक घटना इतिहास में और कोई नहीं मिलती। उनके विनाश की यह क्रिया कई दशको तक चलती रही और अन्त में १८३८ में पूर्ण हुई। उनमें से बहुत से भूखो मर गये। बहुत से कुटुम्ब-परिवार वाले बुनकर बहुत समय तक ढाई पेन्स रोजाना की मजदूरी पर एडिया रगडते रहे।[1] दूसरी ओर, इगलैण्ड की बनी हुई सूती मशीनो ने हिन्दुस्तान पर बडा तीव्र प्रभाव डाला। वहा के गवर्नर-जनरल ने १८३४-३५ में रिपोर्ट भेजी थी कि "जसा

[1] इगलैण्ड में हाथ की बुनाई और शक्ति की मदद से होने वाली बुनाई के बीच जो प्रतियोगिता चल रही थी, उसे १८३३ में गरीबो का कानून पास होने के पहले कुछ समय के लिये *लम्बा कर दिया गया था।* वह इस तरह कि *जिन कारीगरो की मजदूरी* आवश्यक अल्पतम से भी नीचे गिर गयी थी, उनको चच की ओर से सावजनिक सहायता दे दी जाती थी। "रेवरेण्ड मि० टनर १८२७ में कल-कारखाना वाले चेशायर डिस्ट्रिक्ट में विल्मस्लो नामक स्थान के पादरी थे। परावास सम्बधी समिति के प्रश्नो तथा मि० टनर के उत्तरो से पता चलता है कि मशीनो के खिलाफ मानव-श्रम की प्रतियोगिता को किस तरह कायम रखा जाता था। 'प्रश्न क्या शक्ति से चलने वाले करघे का उपयोग हाथ के करघे के उपयोग का स्थान नही ले लेता? उत्तर निस्सन्देह वह उसका स्थान ले लेता है। यदि हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरो को अपनी मजदूरी में कटौती मजूर करने के लिये तयार न कर दिया जाता, तो शक्ति से चलने वाला करघा हाथ के करघे के उपयोग का और भी अधिक स्थान ले लेता।' 'प्रश्न लेकिन कटौती मजूर करके बुनकर ने ऐसी मजदूरी स्वीकार कर ली है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिये अपर्याप्त है, और वह बाकी के लिये चच की ओर से सावजनिक सहायता का सहारा लेता है? उत्तर हा, यह बात सही है, और सच पूछिये, तो हाथ के करघे और शक्ति से चलने वाले करघे की प्रतियोगिता को गरीबो की सहायता के लिये वसूल किये जाने वाले करो के जरिये ही जारी रखा जाता है।' इस प्रकार, मशीनो के इस्तेमाल से मेहनत करने वालो का यह लाभ होता है कि वे पतन के गड्ढे में धकेल देने वाले दिवालियापन के शिकार हो जाते हैं या परावासी बन जाते हैं और प्रतिष्ठावान तथा किसी हद तक स्वतन्त्र कारीगरो से मनुष्य को अधोगति को पहुचाने वाला दान की रोटी खाकर जिन्दा रहने वाले और सदा गिडगिडाते रहने वाले मुहताजो में बदल जाते हैं। और इसे ये लोग अस्थायी असुविधा कहते हैं।" ('A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co operation ['प्रतियोगिता और सहकारिता के तुलनात्मक गुणो के विषय में एक पुरस्कृत निबध'], London 1834, पृ० २९।)

मुसीबत यहां आयी है, वाणिज्य के इतिहास में उसकी मिसाल मिलनी मुश्किल है। हिंदुस्तान के मैदान सूती कपडा बुनने वालो की हड्डियो से सफेद हो गये हैं।" इन बुनकरो को इस "नश्वर" ससार से विदा करके मशीनो ने निस्सन्देह उन्हें केवल "एक अस्थायी असुविधा" दी थी। फिर मशीनें चूकि सदा उत्पादन के नये क्षेत्रो पर अधिकार जमाया करती हैं, इसलिये उनका अस्थायी प्रभाव वास्तव में स्थायी होता है। इसलिये, मोटे तौर पर, उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली मजदूर के मुकाबले में श्रम के औजारो को स्वतत्रता और अलगाव का जो स्वरूप दे देती है, वह मशीनों के द्वारा विकसित होकर भरपूर विरोध बन जाता है।[1] अतएव मशीनो के आने के बाद ही मजदूर पहली बार श्रम के औजारो के खिलाफ उग्र विद्रोह करता है।

श्रम का औजार मजदूर को धराशायी कर देता है। जब कभी मशीनें नयी-नयी इस्तेमाल होती हैं और उनकी पुराने वक्तो से विरासत में मिली दस्तकारियो और हस्तनिर्माणो से प्रतियोगिता आरम्भ होती है, तब मजदूर और श्रम के औजार का यह प्रत्यक्ष विरोध सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सामने आता है। मगर आधुनिक उद्योग में भी मशीनो के निरतर सुधार और स्वचलन की प्रणाली के विकास का सदृश प्रभाव होता है। "उन्नत मशीनो का उद्देश्य यह होता है कि हाथ के श्रम को कम कर दें और इस बात की व्यवस्था करें कि कोई क्रिया या उत्पादन की कोई कडी मानव-उपकरण के बजाय लोहे के बने उपकरण की सहायता से सम्पन्न हो जाया करे।"[2] "अभी तक हाथ से चलायी जाने वाली मशीन को अब शक्ति द्वारा चलाना — यह लगभग रोजमर्रा की बात हो गयी है मशीनो में इस तरह के छोटे-छोटे सुधार, जिनका उद्देश्य यह होता है कि शक्ति के खर्च में बचत हो, उतने ही समय में पहले से ज्यादा काम निकले, या मशीन किसी बच्चे का, स्त्री का या पुरुष का स्थान ले ले, — इस तरह के सुधार बराबर होते रहते हैं और यद्यपि ऊपर से देखने में उनका बहुत महत्व मालूम नहीं होता, तथापि उनके परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं।"[3] "जब कभी किसी क्रिया में एक खास तरह की पटुता और हाथ की मजबूती की आवश्यकता होती है, तब उसे जितनी जल्दी सम्भव होता है, चतुर मजदूर के हाथ से निकाल लिया जाता है, जिसके अनेक प्रकार की अनियमितताए करने की सम्भावना रहती है। यह क्रिया एक खास तरह के ऐसे यत्र को सौंप दी जाती है,

---

[1] "जिस कारण से देश का राजस्व" (अर्थात्, जैसा कि रिकार्डो ने इसी अश में समझाया है, जमीदारो और पूजीपतियो की आय, क्योकि आर्थिक दृष्टिकोण से वही Wealth of the Nation [राष्ट्र की दौलत] होती है) "बढ सकता है, उसी का साथ साथ यह भी नतीजा हो सकता है कि आबादी फालतू और मजदूर की हालत खराब हो जाये।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४६९।) "मशीनो में जो भी सुधार होता है, उसका निरतर यह उद्देश्य और यह प्रवृत्ति होती है कि मनुष्य के श्रम की तनिक भी आवश्यकता न रहे या वयस्क पुरुषो के श्रम के स्थान पर स्त्रियो और बच्चो के श्रम का अथवा निपुण मजदूरो के श्रम की जगह पर अनिपुण मजदूरो के श्रम का उपयोग करके श्रम का दाम घटा दिया जाये।" (Ure उप० पु०, ग्रथ १, पृ० ३५।)

[2] *Reports of Inspectors of Factories for 31st October 1858* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ४३।

[3] *Reports of Inspectors of Factories for 31st October 1856* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १५।

जो इस हद तक खुद अपना नियमन कर लेता है कि एक बच्चा भी उसकी देखरेख का काम कर सकता है।"[1] "स्वचालित प्रणाली चालू होने पर निपुण श्रम अधिकाधिक स्थान च्युत होता जाता है।"[2] "मशीनो में जो सुधार होते हैं, उनका केवल यही असर नहीं होता कि एक खास तरह की पदावार तयार करने के लिये वयस्क श्रम की पहले जितनी मात्रा से काम लेने की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि उसका यह असर भी होता है कि एक प्रकार के मानव-श्रम के स्थान पर दूसरे प्रकार के मानव श्रम से—अधिक निपुण श्रम के स्थान पर कम निपुण श्रम से, वयस्क श्रम के स्थान पर बच्चो के श्रम से, पुरुषो के स्थान पर स्त्रियो के श्रम से—काम लिया जान लगता है। और इस सब का यह नतीजा होता है कि मजदूरी की दर में नयी गडबड पदा हो जाती है।"[3] "साधारण म्यूल के स्थान पर स्वचालित म्यूल लगा देने का असर यह होता है कि कताई करने वाले अधिकतर पुरुषो को जवाब दे दिया जाता है और लडके लडकिया तथा बच्चो को बरकरार रखा जाता है।"[4] जब काम का दिन पहले से छोटा कर दिया गया था, तब उसके दबाव के फलस्वरूप फक्टरी व्यवस्था ने जिन वामन डगो से प्रगति की थी, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सचित व्यावहारिक अनुभव, तयार यात्रिक साधनो और अनवरत प्राविधिक प्रगति के कारण फैक्टरी व्यवस्था का कैसे असाधारण वेग से विस्तार होने लगता है। परन्तु १८६० में भी, जो कि इगलैण्ड के सूती उद्योग के चरमोत्कर्ष का वर्ष था, कौन यह कल्पना कर सकता था कि अगले तीन साल में अमरीकी गृह युद्ध का अकुश लगने के फलस्वरूप मशीनो में इस तूफानी गति से सुधार होंगे और उनके परिणामस्वरूप मजदूरो की बहुत बडी सख्या को काम से जवाब मिल जायेगा? इस विषय के सम्बध में फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टों से कुछ उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। मानचेस्टर के एक कारखानेदार ने कहा है "हमारे पास पहले धुनने की ७५ मशीने थीं, अब १२ ह, जो पहले जितना ही काम करती ह अब हम पहले

---

[1] Ure उप० पु०, पृ० १६। "ईंटे बनाने मे जो मशीनें इस्तेमाल की जाती ह, उनका यह बहुत बडा लाभ होता है कि मालिक निपुण मजदूरो से पूणतया स्वतत्र हो जाता है।" ('*Ch Empl Comm V Report* ['बाल सेवायोजन आयोग की पाचवी रिपाट'], London 1866, पृ०, १३०, अक ४६।) Great Northern Railway के मशीन विभाग के अधीक्षक, मि० स्टुर्रोक ने रेल के इजन आदि के निर्माण के बारे में कहा है "दिन प्रति दिन महगे (expensive) अग्रेज मजदूरो को अधिकाधिक कम इस्तेमाल किया जा रहा है। इगलैण्ड की वकशापो में पहले से बेहतर औजारो के इस्तेमाल के जरिये उत्पादन बढाया जा रहा है, और इन औजारो के लिये निम्न कोटि के श्रम (a low class of labour) की आवश्यकता होती है पहले इजनो के सभी पुर्जे अनिवाय रूप से मजदूरो के निपुण श्रम द्वारा तैयार किये जाते थे। अब इजनो के पुर्जे कम निपुण श्रम से तैयार हो जाते ह, पर औजार अच्छे इस्तेमाल किये जाते हैं। औजारो से मेरा मतलब इजीनियर की मशीनो, खराद, रदा करने वाली मशीनो, बरमा और इसी तरह के [illegible] से है।" (*Royal Com on Railways*" ['रेलो की जाच [illegible] मीशन [illegible] 1867 Minutes of Evidence [साक्ष्य विवरण], नाट [illegible]

[2] Ure उप० पु०, पृ० [illegible]

[3] Ure उप० पु०, पृ०

[4] Ure उप० [illegible] पृ०

से ,१४ कम मजदूरो से काम ले रहे ह , जिससे मजदूरी में १० पौण्ड प्रति सप्ताह की बचत हो जाती है। हमारा अनुमान है कि जितनी कपास हम इस्तेमाल करते ह , उसमें अब पहले से १० प्रतिशत कम कपास जाया हुआ करेगी।" "मानचेस्टर की एक दूसरी महीन कताई करने वाली मिल में मुझे बताया गया कि रफ्तार को बढाकर और कुछ स्वचालित क्रियाओ के उपयोग के द्वारा एक विभाग के मजदूरो की सख्या में चौथाई की कमी कर दी गयी है, एक दूसरे विभाग में आधे से ज्यादा मजदूर हटा दिये गये ह , और दूसरी धुनाई की मशीन के स्थान पर तूमने की मशीन का इस्तेमाल करके धुनाई विभाग में पहले जितने आदमी काम करते थे, उनमें काफी कमी कर दी गयी है।" अनुमान है कि कताई करने वाली एक और मिल श्रम में १० प्रतिशत की बचत करने में सफल हुई है। मानचेस्टर में कताई का व्यवसाय करने वाली फम मेसस गिल्मूर ने बताया है "हमारा विचार है कि हमारे *blowing department* (हवा घर) में नयी मशीनो के फलस्वरूप मजदूरी और मजदूरो के खच में पूरी एक तिहाई की कमी हो गयी है जैक-फ्रेम और ड्राइग फ्रेम वाले विभाग का खर्चा लगभग एक तिहाई कम हो गया है और मजदूरों की सख्या में भी एक तिहाई की कमी हो गयी है, कताई-विभाग के खर्चे में करीब एक तिहाई की कमी आ गयी है। परन्तु इतना ही सब नहीं है। जब हमारा सूत कारखानेदारो के पास पहुचेगा, तो नयी मशीनो के प्रयोग के फलस्वरूप वह पहले से इतना बेहतर सूत होगा कि वे लोग पुरानी मशीनो से तयार किये हुए सूत से जितना और जसा कपडा तयार किया करते थे, अब उससे कहीं अधिक और कहीं बेहतर किस्म का कपडा तयार कर सकेंगे।"[1] इसी रिपोट में मि० रेड्ग्रेव ने आगे कहा है "उत्पादन के बढने के साथ साथ मजदूरो की सख्या में, असल में, बराबर कमी होती जा रही है। ऊनी मिलो में यह कमी कुछ समय पहले ही शुरू हो गयी थी और अब भी जारी है। च द दिन पहले की बात है कि रोशडेल के पास के एक स्कूल के मास्टर ने मुझे बताया कि लडकियो के स्कूल में विद्यार्थियो की सख्या में जो भारी कमी हो गयी है, उसका कारण केवल सकट ही नहीं है, बल्कि उसका कारण यह भी है कि ऊनी मिलो की मशीनो में बहुत सी तबदीलिया हो गयी ह , जिनके परिणामस्वरूप कम समय काम करने वाले ७० मजदूरो की छटनी हो गयी है।"[2]

---

[1] *Rep Insp Fact , 31st Oct 1863* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपार्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'), पृ० १०८, १०९।

उप० पु०, प० १०९। कपास-सकट के समय मशीनो मे बहुत तेज़ी से जो सुधार हुए, उनकी मदद से अग्रेज कारखानेदारा ने अमरीकी गह-युद्ध समाप्त होने के तत्काल बाद ही और देखते ही देखते एक बार फिर सारी दुनिया की मडियो को अपने माल से पाट दिया। १८६६ के अतिम छ महीना में यह हालत हो गयी थी कि कपडे को बेच सकना लगभग असम्भव हो गया था। तब हि दुस्तान और चीन को माल भेजना शुरू हुआ, जिससे स्वभावतया मडिया में माला की इफरात और भी बढ गयी। १८६७ के शुरू मे कारखानेदारा ने इस कठिनाई से निकलने के लिये उसी उपाय का सहारा लिया, जिसका वे अक्सर सहारा लिया करते हैं,—यानी उ होने मजदूरो की मजदूरी में ५ प्रतिशत की कटौती कर दी। मजदूरा न इसका विरोध किया और कहा कि समस्या का एकमात्र हल यह है कि उनसे कम समय काम लिया जाये और सप्ताह में ४ दिन काम कराया जाये। और मजदूरो की बात ही सही थी। उद्योग के आत्म नियुक्त सेनापति मालिक कुछ समय तक तो अपनी बात पर डटे रहे, पर बाद

निम्नलिखित तालिका से पता चलेगा कि अमरीकी गृहयुद्ध के कारण इगलैण्ड के सूती उद्योग में जो यान्त्रिक सुधार किये गये, उनका कुल मिलाकर क्या परिणाम हुआ।

फैक्टरियो की सख्या

	१८५८	१८६१	१८६८
इगलैण्ड और वेल्स	२,०४६	२,७१५	२,४०५
स्काटलैण्ड	१५२	१६३	१३१
आयरलैण्ड	१२	९	१३
सयुक्तागल राज्य	२,२१०	२,८८७	२,५४९

शक्ति से चलने वाले करघो की सख्या

	१८५८	१८६१	१८६८
इगलण्ड और वेल्स	२,७५,५९०	३,६८,१२५	३,४४,७१९
स्काटलैण्ड	२१,६२४	३०,११०	३१,८६४
आयरलण्ड	१,६३३	१,७५७	२,७४६
सयुक्तागल राज्य	२,९८,८४७	३,९९,९९२	३,७९,३२९

तकुओ की सख्या

	१८५८	१८६१	१८६८
इगलण्ड और वेल्स	२,५८,१८,५७६	२,८३,५२,१५२	३,०४,७८,२२८
स्काटलैण्ड	२०,४१,१२९	१९,१५,३९८	१३,९७,५४६
आयरलैण्ड	१,५०,५१२	१,१९,९४४	१,२४,२४०
सयुक्तागल राज्य	२,८०,१०,२१७	३,०३,८७,४६४	३,२०,००,०१४

फक्टरियो में काम करने वाले व्यक्तियो की सख्या

	१८५८	१८६१	१८६८
इगलण्ड और वेल्स	३,४१,१७०	४,०७,५९८	३,५७,०५२
स्काटलण्ड	३४,६९८	४१,२३७	३९,८०९
आयरलण्ड	३,३४५	२,७३४	४,२०३
सयुक्तागल राज्य	३,७९,२१३	४,५१,५६९	४,०१,०६४

में उनको मजदूरा से कम समय काम लेने के लिये राजी होना पड़ा। कुछ स्थाना में मालिकों ने काम का समय कम करने के साथ-साथ मजदूरी भी घटा दी, अन्य स्थाना म मजदूरी वही रही, मगर समय घट गया।

इस तरह, १८६१ और १८६८ के बीच ३३८ सूती फैक्टरियां गायब हो गयीं। दूसरे शब्दों में, पहले से बडे पमाने की अधिक उत्पादक मशीनें पूजीपतियों की पहले से छोटी सख्या के हाथों में केंद्रित हो गयीं। शक्ति से चलने वाले करघों की सख्या में २०,६६३ की कमी आ गयी। लेकिन इसी काल में चूकि उनकी पैदावार पहले से बढ़ गयी, इसलिये इसका यही मतलब है कि सुधरे हुए करघे के द्वारा पुराने करघे की अपेक्षा अधिक पैदावार होने लगी होगी। अंतिम बात यह है कि तकुओं की सख्या में तो १६,१२,५४१ की वृद्धि हो गयी, पर मजदूरों की सख्या में ५०,५०५ की कमी आ गयी। कपास के सकट ने मजदूरों पर जो "अस्थायी" मुसीबत ढायी थी, वह मशीनों की तेज एव अनवरत प्रगति के फलस्वरूप और भी बढ़ गयी और अस्थायी से स्थायी मुसीबत बन गयी।

परन्तु मशीनें न केवल मजदूर के एक ऐसे प्रतिद्वद्वी का ही काम करती ह, जो मजदूर को परास्त कर देता है और जो उसे सदा बेकार बना देने पर तुला रहता है, वे मजदूर से बर रखने वाली एक शक्ति का भी काम करती ह। पूजी ढोल पीटकर इस बात का ऐलान और इसी रूप में मशीनों का उपयोग किया करती है। हडतालों को, पूजी के निरकुश शासन के खिलाफ मजदूर-वग के समय-समय पर फूट पडने वाले उन विद्रोहों को कुचलने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र मशीनें होती हैं।[1] गैस्केल का कहना है कि भाप का इजन शुरू से ही मानव-शक्ति का बरी था। इसी बरी के कारण पूजीपति उन मजदूरों की बढती हुई मागों को अपने परों तले कुचलने में सफल हुआ, जिनसे नवजात फैक्टरी व्यवस्था के लिये सकट का खतरा पदा हो गया था।[2] १८३० के बाद से आज तक पूजी के हाथ में मजदूर-वग के विद्रोहों को कुचलने के अस्त्र देने के एकमात्र उद्देश्य से कुल जितने आविष्कार हुए ह, उनका एक अच्छा-खासा इतिहास तैयार किया जा सकता है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार self acting mule (स्वचालित म्यूल) का है, क्योंकि उसने स्वचालित यत्र व्यवस्था के इतिहास में एक नये युग का श्रीगणेश किया था।[3]

भाप से चलने वाले हथौडे के आविष्कारक नाजमिथ ने मशीनों में जो सुधार किये थे, वे १८५१ की इजीनियरों की व्यापक और लम्बी हडतालों के फलस्वरूप व्यवहार में आये थे। नाजमिथ ने इन सुधारों के विषय में Trades' Union Commission (ट्रेड यूनियन कमीशन) के सामने यह बयान दिया था "हमारे आधुनिक यान्त्रिक सुधारों की खास विशेषता यह है कि स्वचालित औजारों वाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है। अब यांत्रिक काम करने वाले प्रत्येक मजदूर को जैसा काम करना पडता है, वह एक लडका भी कर सकता है। अब

---

[1] "ब्लान फ्लिट काच की बोतलें बनाने के व्यवसाय मे मालिक और मजदूर का सम्बध एक बराबर जारी रहने वाली हडताल के समान होता है।" इसी कारण प्रेस्ड काच के निर्माण को बहुत बढावा मिला है, जिसमे मुख्य त्रियाए मशीनों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। न्यूकैसल की एक फम जो पहले ३,५०,००० पौण्ड फ्लिट काच तैयार किया करती थी, अब उसके स्थान पर ३०,००,५०० पौण्ड प्रेस्ड काच तैयार करती है। (*Ch Empl Comm Fourth Rep* 1865 ['बाल सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट, १८६५'], पृ० २६२ २६३।)

[2] Gaskell *The Manufacturing Population of England* (गैस्केल, 'कारखाना में काम करने वाली इगलैण्ड की आबादी'), London 1833 पृ० ३,४।

[3] डब्ल्यू० फेयरबेन ने मशीनों के निर्माण मे मशीनों के उपयोग के कई महत्वपूर्ण ढग निकाले थे। इसका कारण यह था कि खुद उसकी अपनी वर्कशाप में कई हडतालें हो चुकी थीं।

उसे खुद काम नहीं करना होता, बल्कि मशीन के सुदर श्रम की देखरेख करनी होती है। केवल अपनी निपुणता पर निर्भर करने वाले मजदूरो का पूरा वर्ग अब समाप्त हो गया है। पहले म हर कारीगर के पीछे चार लडको को नौकर रखता था। अब इन नये यान्त्रिक आविष्कारो के फलस्वरूप मने वयस्क मजदूरो की सख्या को १,५०० से घटाकर ७५० कर दी है। नतीजा यह हुआ है कि मेरे मुनाफे में काफी इजाफा हो गया है।"

छींट की छपाई में इस्तेमाल होने वाली एक मशीन का जिक्र करते हुए उरे ने कहा है "आखिरकार पूजीपतियो ने इस असहनीय दासता से" (यानी, मजदूरो के साथ किये गये करारो की उन शर्तों से, जो पूजीपतियो की दृष्टि में बहुत सख्त थीं) "मुक्ति पाने के लिये विज्ञान की शक्ति का सहारा लिया, और उसके द्वारा शीघ्र ही, जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर की गौण इद्रियो पर शासन करता है, उसी प्रकार का पूजीपतियो का भी न्यायोचित शासन पुन स्थापित हो गया।" ताना तयार करने की एक मशीन के आविष्कार की चर्चा करते हुए उरे ने लिखा है "तब उन सघबद्ध असतुष्ट लोगो को, जो समझते थे कि श्रम विभाजन की पुरानी सीमा रेखाओ के पीछे उनकी मोर्चेबदी इतनी मजबूत है कि उसमें कोई व्यक्ति जरा भी दरार नहीं डाल सकता, – उनको पता चला कि शत्रु की फौज बाजू से निकलकर उनके पीछे पहुच गयी है और नयी यान्त्रिक कार्य-नीति न उनकी मोर्चेबदी को बिल्कुल बेकार बना दिया, और तब इन लोगो को मजबूर होकर इसीमें अपनी भलाई दिखाई दी कि आत्म-समर्पण कर दें।" Self-acting mule (स्वचालित म्यूल) के आविष्कार के बारे में उरे ने कहा है "यह आविष्कार उद्योगरत वर्गों में पुन अनुशासन स्थापित करने का काम करेगा यह आविष्कार उस महान सिद्धान्त की पुष्टि करता है, जिसका पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है, – वह यह कि जब कभी पूजी विज्ञान को अपना सेवक बना लेती है, तब ढीठ मजदूरो को सदा थोडा विनम्रता का पाठ सीखना पडता है।"[1] यद्यपि उरे की यह रचना ३० वर्ष पहले, उस समय प्रकाशित हुई थी, जब फक्टरी व्यवस्था का अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था, तथापि वह फक्टरी की भावना को आज भी पूरी तरह अभिव्यक्त करता है। कारण कि इस रचना में न केवल उसकी आस्थाहीनता सर्वथा अनावृत रूप में सामने आ जाती है, बल्कि वह पूजीवादी मस्तिष्क के मूलतापूर्ण विरोधो को भी बडे भोलेपन के साथ बिना सोचे-समझे खोलकर रख देती है। उदाहरण के लिये, इस उपर्युक्त "सिद्धान्त" का प्रतिपादन करने के बाद कि विज्ञान को अपना सेवक बनाकर पूजी उसकी मदद से सदा ढीठ मजदूर को विनम्र बना देती है, उरे इस बात पर अपना क्रोध प्रकट करते ह कि "उसपर (भौतिक-यान्त्रिक विज्ञान पर) यह आरोप लगाया जाता है कि वह धनी पूजीपति के हाथ में गरीबो को सताने का साधन बन जाता है।" फिर मशीनो के तेज विकास से मजदूरो को कितना लाभ होता है, इस सम्बन्ध में श्रमजीवियो को एक लम्बा उपदेश सुनाने के बाद उरे उनको चेतावनी देते ह कि वे अपनी जिद्द तथा अपनी हडतालो से विकास की इस गति को और तेज बना रहे ह। उरे ने लिखा है "इस प्रकार की तीव्र उथल पुथल अदूरदर्शी मनुष्य को खुद अपने को सताने वाले व्यक्ति के घृणास्पद रूप में पेश करती है।" पर इसके कुछ पहले उन्होंने इसकी उल्टी बात कही है "यदि फक्टरी-मजदूरो में पाये जाने वाले गलत विचारो के कारण इस तरह की तेज टक्करें न होतीं और काम बार-बार बीच में न रुक जाया करता, तो फक्टरी व्यवस्था का और भी तेजी से विकास होता, जिससे सबको लाभ पहुचता।" आगे उन्होंने फिर यह कहा है कि "ग्रेट ब्रिटेन के

---

[1] Ure उप० पु०, पृ० ३६८–३७०।

सूती कपडे की बुनाई के डिस्ट्रिक्टों की आबादी के लिये यही सौभाग्य की बात है कि यहा मशीनों में क्रमिक सुधार हो रहे हैं।" "कहा जाता है कि इनसे" (मशीनो में होने वाले सुधारो से) "वयस्क मजदूरो की कमाई की दर गिर जाती है, क्योंकि उनके एक भाग को काम से जवाब मिल जाता है और इस तरह उनके श्रम के लिये जो माग रह जाती है, उसकी तुलना में वयस्क मजदूरों की सख्या आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है। निश्चय ही इससे बच्चो के श्रम की माग बढ जाती है और उनकी मजदूरी की दर चढ जाती है।" दूसरी ओर, सबको दिलासा देने वाला यह लेखक बच्चो की कम मजदूरी को इस बिना पर उचित सिद्ध करने की कोशिश करता है कि बच्चो की कम मजदूरी उनके मा-बाप को उन्हें बहुत छोटी उम्र में फैक्टरी में काम करने के लिये भेजने से रोकती है। उरे की इस पूरी पुस्तक से इस बात की पुष्टि होती है कि काम के दिन की लम्बाई पर किसी प्रकार की सीमा या प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिये। यह देखकर कि ससद ने १३ वर्ष के बच्चो से १२-१२ घण्टे रोजाना काम लेकर उनको थका डालने की मनाही कर दी है, उरे की उदारपथी आत्मा को मध्य युग के सबसे अधिक अंधकारमय दिनो की याद आ जाती है। पर फिर भी वह मजदूरो से यह कहने में नहीं चूकते कि उन्हें विधाता को इसके लिये धन्यवाद देना चाहिये कि उसने मशीनो के द्वारा उन्हे अपने "शाश्वत हितो" के बारे में सोचने का अवकाश प्रदान किया है।[1]

अनुभाग ६ –
मशीनो द्वारा विस्थापित मजदूरो की क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त

जेम्स मिल, मैक्कुलक, टोरेन्स, सीनियर, जान स्टुअर्ट मिल और उनके अलावा अन्य बहुत से पूजीवादी अर्थशास्त्रियो का दावा है कि ऐसी सभी मशीनें, जो मजदूरो को विस्थापित कर देती हैं, इसके साथ-साथ और अनिवार्य रूप से इतनी मात्रा में पूजी को भी मुक्त कर देती हैं, जो ठीक इन्हीं विस्थापित मजदूरो को नौकर रखने के लिये काफी होती है।[2]

मान लीजिये कि एक पूजीपति ने क़ालीन बनाने की एक फैक्टरी में १०० मजदूरो को ३० पौण्ड सालाना के वेतन पर नौकर रखा है। ऐसी हालत में उसकी अस्थिर पूजी, जो वह हर साल लगा देता है, ३,००० पौण्ड बैठती है। यह भी मान लीजिये कि वह अपने ५० मजदूरो को जवाब दे देता है और बाक़ी ५० को नयी मशीनो पर काम करने के लिये लगा देता है, जिनपर उसे १,५०० पौण्ड ख़र्च करने पडे हैं। हिसाब को सरल रखने के लिये यहां पर हम मकानो, कोयला आदि की ओर कोई ध्यान नहीं देंगे। अब यह और मान लीजिये कि कच्चे माल पर इस परिवर्तन के पहले भी और अब भी हर साल ३,००० पौण्ड ख़र्च होते हैं।[3] क्या इस

---

[1] Ure उप० पु०, पृ० ३६८, ७, ३७०, २८०, २८१, ३२१, ३७०, ४७५।

[2] शुरू में रिकार्डो की भी यही राय थी, लेकिन बाद को उन्होंने अपनी उस वैज्ञानिक निष्पक्षता और सत्य के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण देते हुए, जो उनके खास गुण थे, साफ तौर पर यह कह दिया था कि उन्होंने अपना पुराना मत त्याग दिया है। देखिये उप० पु०, अध्याय XXXI (इक्तीस), 'On Machinery'।

[3] पाठक को यह याद रखना चाहिये कि मैंने यहा बिल्कुल उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों के ढंग का ही उदाहरण दिया है।

रूपान्तरण से कोई पूजी मुक्त हो जाती है? परिवर्तन के पहले ६,००० पौण्ड की कुल पूजी का आधा भाग स्थिर पूजी का और आधा अस्थिर पूजी का था। परिवतन के बाद उसमें ४,५०० पौण्ड स्थिर पूजी के होते ह (३,००० पौण्ड कच्चे माल के और १,५०० पौण्ड मशीनो के) और १,५०० पौण्ड अस्थिर पूजी के। यानी अस्थिर पूजी कुल पूजी की आधी होने के बजाय केवल चौथाई रह जाती है। पूजी का मुक्त होना तो दूर रहा, यहा उल्टे उसका एक भाग इस तरह फस जाता है कि उसका श्रम शक्ति से विनिमय नहीं किया जा सकता। अस्थिर पूजी स्थिर पूजी में बदल जाती है। यदि अन्य बातें समान रहें, तो ६,००० पौण्ड की पूजी भविष्य में ५० आदमियो से ज्यादा को नौकर नहीं रख पायेगी। मशीनो में होने वाले प्रत्येक सुधार के साथ वह पहले से कम मजदूरो को नौकर रखती है। यदि नयी मशीनो पर उतना खर्च नहीं होता, जितना उस श्रम-शक्ति तया उन औजारो पर होता था, जिनका इन नयी मशीनो ने स्थान ले लिया है, यदि, उदाहरण के लिये, १,५०० पौण्ड के बजाय नयी मशीनो पर केवल १,००० पौण्ड ही खच होते हैं, तब १,००० पौण्ड की अस्थिर पूजी तो स्थिर पूजी में बदल जायेगी और ५०० पौण्ड की पूजी मुक्त हो जायेगी। यदि यह मान लिया जाये कि मजदूरी में कोई तबदीली नहीं होती, तो यह दूसरी रकम इसके लिये काफी होगी कि जिन ५० मजदूरो को काम से जवाब मिल गया है, उनमें से लगभग १६ को फिर से नौकर रख लिया जाये। नहीं, बल्कि १६ से भी कम को ही नौकर रखा जा सकेगा, क्योकि ५०० पौण्ड की इस रकम को पूजी के रूप में इस्तेमाल होने के लिये इसके एक हिस्से को अब स्थिर पूजी बन जाना होगा, और उसके बाद जो कुछ बचेगा, केवल वही श्रम-शक्ति पर खर्च किया जा सकेगा।

लेकिन इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि नयी मशीनें बनाने में पहले से अधिक यान्त्रिको को नौकरी मिल जाती है। तब क्या यह कहा जा सकता है कि जिन कालीन बनाने वाले कारीगरो की रोजी छिन गयी है, इस तरह उनकी क्षति पूर्ति हो जायेगी? अधिक से अधिक अनुकूल परिस्थितियो में भी मशीनो के उपयोग से जितने मजदूरो को जवाब मिल जाता है, मशीनें बनाने में उससे कम सख्या में ही मजदूरो को काम मिलता है। १,५०० पौण्ड की यह रक़म, जो पहले क़ालीन बनाने वाले उन कारीगरो की मजदूरी का प्रतिनिधित्व करती थी, जिनको जवाब दे दिया गया है, अब मशीनो के रूप में इन चीजो का प्रतिनिधित्व करती है (१) इन मशीनो को बनाने में इस्तेमाल किये गये उत्पादन के साधनो का मूल्य, (२) इनको बनाने में जिन यान्त्रिको से काम लिया गया, उनकी मजदूरी, और (३) वह अतिरिक्त मूल्य, जो इन मजदूरो के "मालिक" के हिस्से में पडा। इसके अलावा, जब तक मशीनें एकदम घिस नहीं जातीं, तब तक उनकी जगह पर नयी मशीनें लगाना जरूरी नहीं होता। इसलिये, मशीनें बनाने वाले मजदूरों की पहले से बढी हुई सख्या के रोजगार को लगातार क़ायम रखने के लिये यह जरूरी है कि क़ालीन तयार करने वाले एक पूजीपति के बाद दूसरा पूजीपति मजदूरों को जवाब देता जाये और उनकी जगह पर मशीनें लगाता जाये।

असल में, इस व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्री जब पूजी के मुक्त कर दिये जाने की चर्चा करते ह, तब उनका यह मतलब नहीं होता। उनके दिमाग़ में, असल में, मजदूरों के जीवन निर्वाह के मुक्त कर दिये गये साधन होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मशीनें न केवल ५० आदमियों को मुक्त कर देती हैं, जिनको अब दूसरे पूजीपति इस्तेमाल कर सकते ह, बल्कि इसके साथ-साथ वे १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन निर्वाह के साधनों को मजदूरों के उपभोग की परिधि के बाहर खींच लेती ह और इस प्रकार

उन को भी मुक्त कर देती ह। इसलिये, इस साधारण तथ्य का–जो कोई नया तथ्य कदापि नहीं है–कि मशीनें मजदूरो को उनके जीवन-निर्वाह के साधनो से अलग कर देती ह, अथशास्त्र की भाषा में यह अथ होता है कि मशीने मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनो को आजाद कर देती हैं, या इन साधनो को मजदूर को नौकरी देने के लिये पूजी में बदल देती ह। इसलिये, जैसा कि आप खुद देख सकते ह, असली महत्व बात का नहीं, बात करने के ढग का होता है। Nominibus mollire licet mala (बुरी चीजो को अच्छे नामो की रामनामी उढायी जानी चाहिये)।

इस सिद्धात का अथ यह है कि १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन निर्वाह के साधन वह पूजी थे, जिसका विस्तार उन ५० आदमियो के श्रम के द्वारा हो रहा था, जिनको जवाब दे दिया गया है। और इसलिये जसे ही इन मजदूरो की जबर्दस्ती की छुट्टी आरम्भ होती है, वैसे ही इस पूजी का उपयोग में आना बद हो जाता है, और जब तक उसे कोई ऐसा नया क्षेत्र नहीं मिल जाता, जहा वह फिर उन्हीं ५० आदमियो के द्वारा उत्पादक ढग से खच की जा सके, तब तक उसे चन नहीं आता। और इसलिये देर या सबेर इस पूजी का और उन मजदूरो का फिर से इकट्ठा होना जरूरी है, और उनके इकट्ठा होने पर ही पूरी क्षति पूति हो सकती है। चुनाचे, मशीनें जिन मजदूरो को विस्थापित कर देती हैं, उनके कष्ट उतने ही क्षण भगुर होते ह जितनी क्षण-भगुर इस दुनिया की दौलत होती है।

जहा तक नौकरी से हटाये गये मजदूरो का सम्बध है, १,५०० पौंड के मूल्य के ये जीवन निर्वाह के साधन कभी पूजी नहीं थे। इन मजदूरो के सामने जो चीज पूजी बनकर आयी थी, वह थी १,५०० पौण्ड की रकम, जो बाद को मशीनो पर खच कर दी गयी। जरा और ध्यान से देखने पर आप पायेंगे कि यह रकम उन कालीनो के एक भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जिनको वे ५० आदमी, जिनको अब जवाब मिल गया है, साल भर में तयार करते थे। यह रकम उन कालीनो के उस भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जो मजदूरो को अपने मालिक से कालीनो के बजाय मुद्रा की शकल में बतौर मजदूरी के मिल जाता था। मुद्रा की शकल में इन कालीनों से मजदूर १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन निर्वाह के साधन खरीद लेते थे। इसलिये, जहा तक इन मजदूरो का सम्बध है, जीवन निर्वाह के ये साधन पूजी नहीं, बल्कि माल थे, और इन मालो के सिलसिले में मजदूर मजदूरी लेकर मेहनत करने वाले नहीं, बल्कि खरीदार थे। अब चूकि उनको मशीनो ने खरीदने के साधनो से "मुक्त" कर दिया है, इसलिये वे खरीदारो से न-खरीदने वालो में बदल जाते हैं। चुनाचे उन मालो की माग में कमी हो जाती है–और voila tout (बस, बात खतम हो जाती है)। यदि किसी अन्य क्षेत्र में माग की वृद्धि से इस कमी की क्षति-पूर्ति नहीं हो जाती, तो माला का बाजार भाव गिर जाता है। यदि कुछ समय तक यही स्थिति बनी रहती है और उसका विस्तार कुछ और बढ जाता है, तो इन मालो के उत्पादन में लगे हुए मजदूरो को काम से जवाब मिल जाता है। जो पूजी पहले जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो के उत्पादन में लगी हुई थी, उसका किसी और रूप में पुनरुत्पादन होना आवश्यक हो जाता है। इधर दाम गिरते ह और पूजी विस्थापित होती है, उधर जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो के उत्पादन में लगे मजदूरो को उनकी मजदूरी के एक भाग से "मुक्त" कर दिया जाता है। इसलिये, यह साबित करने के बजाय कि जब मशीनें मजदूर को उसके जीवन निर्वाह के साधनो से मुक्त कर देती ह, तब वे उसके साथ-साथ इन साधनो को ऐसी पूजी में बदल देती ह, जो मजदूर को फिर नौकर रख सकती है, पूजीवादी

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन-निर्वाह के साधनो से मजदूर को "मुक्त कर देने" की जिम्मेदारी खुद मशीनो पर नहीं होती। मशीनें तो उस शाखा में उत्पादन को बढाती ह और सस्ता कर देती ह, जिसपर वे अधिकार कर लेती ह, और शुरू-शुरू में अन्य शाखाओ में तयार होने वाले जीवन निर्वाह के साधनो में मशीनो के कारण कोई तबदीली नहीं आती। इसलिये, जिन मजदूरो को काम से जवाब मिल गया है, उनके लिये समाज के पास मशीनो का उपयोग आरम्भ होने के बाद यदि अधिक नहीं, तो कम से कम उतनी जीवनोपयोगी वस्तुए अवश्य होती हैं, जितनी इसके पहले उसके पास थीं। और वार्षिक पैदावार का जो बडा भारी हिस्सा काम न करने वाले लोग जाया कर देते ह, वह अलग है। और पूजीवादी व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्री असल में इसी नुक्ते को अपना आधार बनाते हैं! उनका कहना है कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग के साथ जो असगतिया और विरोध अभिन्न रूप से जुडे हुए ह, वे चूकि खुद मशीनो से नहीं, बल्कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग से पदा होते ह, इसलिये, वास्तव में, उनका कोई अस्तित्व नहीं होता! इसलिये, मशीनो पर यदि अलग से विचार किया जाये, तो उनसे श्रम के घण्टे छोटे हो जाते ह, लेकिन पूजी की सेवा में लग जाने पर उनसे श्रम के घण्टे लम्बे हो जाते ह, मशीन खुद श्रम को हल्का करती है, मगर जब पूजी उससे काम लेती है, तब वह श्रम की तीव्रता को बढा देती है, मशीन खुद प्रकृति की शक्तियो पर मनुष्य की विजय का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु पूजी के हाथो में पहुचकर वह मनुष्य को इन शक्तियो का दास बना देती है, मशीन खुद उत्पादको की दौलत में वृद्धि करती है, लेकिन पूजी के हाथो में पहुचकर यह उत्पादको को कगाल बना देती है,—पूजीवादी अर्थशास्त्री का दावा है कि इन तमाम और इनके अलावा कुछ अन्य कारणों से भी, और अधिक झझट में पडे बिना ही, यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तमाम असगतिया वास्तविकता का महज दिखावटी रूप ह और असल में उनका न तो कोई वास्तविक और न कोई सैद्धान्तिक अस्तित्व है। इस प्रकार, वह आगे की सारी माथापच्ची से बच जाता है, और उससे भी बडी बात यह है, कि वह अपने विरोधियो के बारे में घोषित कर देता है कि वे इतने मूर्ख हैं कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग के विरुद्ध लडने के बजाय खुद मशीनो से लडते ह।

इसमें सन्देह नहीं कि पूजीवादी अर्थशास्त्री कभी इस बात से इनकार नहीं करता कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग से कुछ अस्थायी असुविधा हो सकती है। लेकिन हर सिक्के का दूसरा रुख भी तो होता है! पूजीवादी अर्थशास्त्री के विचार से पूजी के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा मशीनो का उपयोग असम्भव है। इसलिये, पूजीवादी अर्थशास्त्री की नजरो में, मशीनों द्वारा मजदूर का शोषण और मजदूर द्वारा मशीनो का शोषण, दोनो समान ही बातें ह। अतएव जो कोई भी मशीनो के पूजीवादी उपयोग से पदा होने वाली वास्तविक परिस्थिति का भण्डाफोड करता है, वह मशीनो के किसी भी प्रकार के उपयोग का विरोधी है और सामाजिक प्रगति का शत्रु है।[1] प्रसिद्ध

---

[1] अन्य व्यक्तियो के अलावा मैक्कुलक भी शेखी बघारने के साथ-साथ इस तरह की बेतुकी बकवास करने की कला के परम आचार्य हैं। उन्होंने ८ वर्ष के बच्चे के भोलेपन का प्रदर्शन करते हुए लिखा है "यदि मजदूर की निपुणता का अधिकाधिक बढाते जाना लाभदायक है, ताकि उसमें पहले जितने या पहले से कम श्रम के द्वारा उत्तरोत्तर बढती हुई मात्रा में माल तयार करने की सामर्थ्य पैदा होती जाये, तो इस फल की प्राप्ति में जिन मशीनो से उसे सबसे अधिक कारगर सहायता मिल सकती हो, उनकी मदद लेना भी लाभदायक होना चाहिये।'

व्यवस्था के ये वकील पूर्ति और माग के अपने नपे-तुले नियम के द्वारा यह प्रमाणित कर देते है कि मशीनें उत्पादन के न केवल उस क्षेत्र में मजदूरो को बेरोजगार बना देती है, जिसमें वे खुद इस्तेमाल की जाती हैं, बल्कि वे उन क्षेत्रो के मजदूरो की भी रोजी छीन लेती है, जिनमें वे इस्तेमाल नहीं की जा रही है।

अर्थशास्त्रियो के आशावाद ने जिन वास्तविक तथ्यो को इस हास्यास्पद रूप में पेश किया है, वे इस प्रकार है मशीनें जिन मजदूरो को वर्कशाप से निकालकर बाहर कर देती है, वे श्रम की मण्डी में मारे-मारे फिरते है और वहा उन बेकार मजदूरो की सख्या को बढाते है, जिनसे पूजीपति जब चाहे काम ले सकते हैं। इस पुस्तक के भाग ७ में पाठक देखेंगे कि मशीनों का यह प्रभाव, जिसे अर्थशास्त्री मजदूर-वर्ग की क्षति पूर्ति के रूप में पेश करते है, वास्तव में, इसके विपरीत, मजदूरो के लिये एक अत्यन्त भयानक विपत्ति होता है। फिलहाल म केवल इतना ही कहूगा कि इसमें शक नहीं कि जिन मजदूरो को उद्योग की किसी एक शाखा से जवाब मिल जाता है, वे किसी और शाखा में नौकरी की तलाश कर सकते हैं। पर यदि उनको नौकरी मिल जाती है और यदि इस प्रकार वे जीवन निर्वाह के साधनो के साथ पुन अपना सम्बध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं, तो यह केवल किसी नयी एव अतिरिक्त पूजी, जो विनियोजन के लिये उत्सुक है, की मध्यस्थता से ही सम्भव होता है। जिस पूजी ने उनको पहले नौकरी दे रखी थी और जो बाद को मशीनो में बदल गयी थी, उसकी मध्यस्थता से यह कदापि सम्भव नहीं होता। और यदि उनको नौकरी मिल जाती है, तब भी, जरा सोचिये कि उनका भविष्य कितना अधकारमय रहता है! इन अभागो को तो श्रम-विभाजन ने लुज बना रखा है, इसलिये अपने पुराने धधे के बाहर उनकी बहुत कम कीमत रह जाती है, और घटिया किस्म के च उद्योगो को छोडकर, जिनमें बहुत कम मजदूरी पाने वाले मजदूरो की सदा जरूरत से ज्यादा इफरात रहती है, उनको और किसी उद्योग में जगह नहीं मिलती।[1] इसके अलावा, उद्योग की प्रत्येक शाखा हर वर्ष मजदूरो की एक नयी धारा को अपनी ओर खींचती है। इस शाखा में जो जगहे खाली होती है, उनको इस धारा से भर लिया जाता है, और शाखा का विस्तार करने में भी ये आदमी काम में आते है। जैसे ही मशीनें उद्योग की किसी खास शाखा में नौकरी करने वाले मजदूरो के एक हिस्से को मुक्त कर देती हैं, वैसे ही ये रिजर्व मजदूर भी नौकरी के नये क्षेत्रो में चले जाते है और अन्य शाखाओ में लग जाते है। इस बीच, जो लोग गह में बेकार हुए थे, वे परिवर्तन के काल में प्राय भूख का शिकार बनकर खतम हो जाते है।

---

[1] जे० बी० से की फुसफुसी बातो के जवाब में रिकार्डो के एक शिष्य ने इस विषय के सम्बध मे यह लिखा है "जहा श्रम विभाजन का अच्छा विकास होता है, वहा मजदूर का निपुणता से केवल उसी खास शाखा मे काम लिया जा सकता है, जिस शाखा म वह निपुणता प्राप्त की गयी है। मजदूर खुद भी एक ढग की मशीन होता है। इसलिये, तोते की तरह बार बार यह रटते रहने से तनिक भी सहायता नही मिलती कि चीजो मे स्वय अपना स्तर तलाश कर लेने की प्रवृत्ति होती है। यदि हम अपने इद गिर्द आखें दौडाकर देखें, तो लाजिमी तौर पर यह पायेंगे कि चीजो को बहुत समय तक अपना स्तर नही मिलता, और जब वह स्तर मिल भी जाता है, तब वह क्रिया के आरम्भ होने के समय से सदा नीचे का स्तर होता है।" (*"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand &c* ['माग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तो की समीक्षा, आदि'], London 1821 पृ० ७२।)

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन निर्वाह के साधनो से मजदूर को "मुक्त कर देने" की जिम्मेदारी खुद मशीनो पर नहीं होती। मशीनें तो उस शाखा में उत्पादन को बढाती हैं और सस्ता कर देती ह, जिसपर वे अधिकार कर लेती हैं, और शुरू-शुरू में अन्य शाखाओ में तयार होने वाले जीवन निर्वाह के साधनो में मशीनो के कारण कोई तबदीली नहीं आती। इसलिये, जिन मजदूरो को काम से जवाब मिल गया है, उनके लिये समाज के पास मशीनो का उपयोग आरम्भ होने के बाद यदि अधिक नहीं, तो कम से कम उतनी जीवनोपयोगी वस्तुए अवश्य होती ह, जितनी इसके पहले उसके पास थीं। और वार्षिक पदावार का जो बडा भारी हिस्सा काम न करने वाले लोग जाया कर देते ह, वह अलग है। और पूजीवादी व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्री असल में इसी नुक्ते को अपना आधार बनाते ह! उनका कहना है कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग के साथ जो असगतिया और विरोध अभिन्न रूप से जुडे हुए हैं, वे चूकि खुद मशीनो से नहीं, बल्कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग से पैदा होते ह, इसलिये, वास्तव में, उनका कोई अस्तित्व नहीं होता! इसलिये, मशीनो पर यदि अलग से विचार किया जाये, तो उनसे श्रम के घण्टे छोटे हो जाते ह, लेकिन पूजी की सेवा में लग जाने पर उनसे श्रम के घण्टे लम्बे हो जाते ह, मशीन खुद श्रम को हल्का करती है, मगर जब पूजी उससे काम लेती है, तब वह श्रम की तीव्रता को बढा देती है, मशीन खुद प्रकृति की शक्तियो पर मनुष्य की विजय का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु पूजी के हाथो में पहुचकर वह मनुष्य को इन शक्तियो का दास बना देती है, मशीन खुद उत्पादको की दौलत में वृद्धि करती है, लेकिन पूजी के हाथो में पहुचकर वह उत्पादकों को कगाल बना देती है,—पूजीवादी अर्थशास्त्री का दावा है कि इन तमाम और इनके अलावा कुछ अन्य कारणो से भी, और अधिक झझट में पडे बिना ही, यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तमाम असगतिया वास्तविकता का महज दिखावटी रूप ह और असल में उनका न तो कोई वास्तविक और न कोई सद्धातिक अस्तित्व है। इस प्रकार, यह आगे की सारी माथापच्ची से बच जाता है, और उससे भी बडी बात यह है, कि वह अपने विरोधियो के बारे में घोषित कर देता है कि वे इतने मूर्ख ह कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग के विरुद्ध लडने के बजाय खुद मशीनो से लडते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पूजीवादी अर्थशास्त्री कभी इस बात से इनकार नहीं करता कि मशीनो के पूजीवादी उपयोग से कुछ अस्थायी असुविधा हो सकती है। लेकिन हर सिक्के का दूसरा रुख भी तो होता है! पूजीवादी अर्थशास्त्री के विचार से पूजी के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा मशीनों का उपयोग असम्भव है। इसलिये, पूजीवादी अर्थशास्त्री की नजरो में, मशीनो द्वारा मजदूर का शोषण और मजदूर द्वारा मशीनो का शोषण, दोनों समान ही बातें हैं। अतएव जो कोई भी मशीनो के पूजीवादी उपयोग से पैदा होने वाली वास्तविक परिस्थिति का भण्डाफोड करता है, वह मशीनो के किसी भी प्रकार के उपयोग का विरोधी है और सामाजिक प्रगति का शत्रु है।[1] प्रसिद्ध

---

[1] अन्य व्यक्तियो के अलावा मैककुलक भी शेखी बघारने के साथ-साथ इस तरह की बेतुकी बकवास करने की कला के परम आचार्य हैं। उन्होंने ८ वर्ष के बच्चे के भोलेपन का प्रदर्शन करते हुए लिखा है "यदि मजदूर की निपुणता को अधिकाधिक बढाते जाना लाभदायक है, ताकि उसमें पहले जितने या पहले से कम श्रम के द्वारा उत्तरोत्तर बढती हुई मात्रा में माल तयार करने की सामर्थ्य पैदा होती जाये, तो इस फल की प्राप्ति में जिन मशीनो से उसे सबसे अधिक कारगर सहायता मिल सकती हो, उनकी मदद लेना भी लाभदायक होना चाहिये।'

बिल साइक्स की दलील भी ठीक इसी तरह की थी। उसने कहा था "जूरी के सदस्यो! इसमें शक नहीं कि सौदागर का गला काटा गया है। मगर इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, दोष चाकू का है। इस जरा सी अस्थायी असुविधा के कारण क्या हमें चाकू का उपयोग बन्द कर देना चाहिये? जरा सोचिये तो! बिना चाकू के खेती और व्यापार की क्या दशा होगी? शरीर-रचना का ज्ञान प्राप्त करने में चाकू से जितनी सहायता मिलती है, क्या शल्य क्रिया में भी उससे उतनी ही सहायता नहीं मिलती? और, इसके अलावा, क्या खुशी की दावत में भी चाकू काम में नहीं आता? यदि आप चाकू का प्रयोग बन्द कर देंगे, तो आप हमें बबरता के गढ़े में धकेल देंगे।"[1]

जिन उद्योगो में मशीने इस्तेमाल होने लगती ह, उनमें यद्यपि वे लाजिमी तौर पर मजदूरो को बेकार बना देती ह, तथापि, इस बात के बावजूद, यह मुमकिन है कि अन्य उद्योगो में मशीनो के कारण पहले से ज्यादा आदमी नौकर रखे जाने लगें। किन्तु इस प्रभाव में और तथाकथित क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त में कोई समानता नहीं है। चूकि मशीन से तयार की गयी प्रत्येक वस्तु हाथ से तयार की गयी उसी प्रकार की वस्तु से सस्ती होती है, इसलिये हम इस अचूक नियम पर पहुच जाते ह यदि मशीनो से तैयार की गयी किसी वस्तु की कुल मात्रा दस्तकारी या हस्तनिर्माण के द्वारा बनायी गयी उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर रहती है, जिसका मशीनो द्वारा तयार की गयी वस्तु ने स्थान ले लिया है, तो उसके उत्पादन में खच किया गया कुल श्रम पहले से घट जाता है। श्रम के उपकरणो – मशीनो, कोयले और इसी प्रकार की अन्य चीजो – पर जो नया श्रम खच होता है, वह उस श्रम से लाजिमी तौर पर कम होता है, जिसे मशीनो के प्रयोग ने बेकार बना दिया है। यदि ऐसा न हो, तो मशीन की पदावार उतनी ही महगी रहे, जितनी हाथ के श्रम की पैदावार होती है, या हो सकता है कि उससे भी अधिक महगी हो जाये। लेकिन, असल में, मशीनो के द्वारा पहले से कम मजदूरो की मदद से जो वस्तु तयार की जाती है, उसकी कुल मात्रा हाथ से बनायी गयी उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर नहीं होती, जिसका मशीन की बनायी वस्तु ने स्थान ग्रहण कर लिया है, बल्कि वह उससे बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। मान लीजिये कि पहले जितने बुनकर हाथ से काम करके १,००,००० गज कपडा तयार कर सकते थे, उनसे कम बुनकर शक्ति से चलने वाले करघो पर ४,००,००० गज कपडा तयार कर देते ह। पदावार पहले से चौगुनी हो जाती है। उसमें पहले से चौगुना कच्चा माल लगता है। इसलिये कच्चे माल का उत्पादन पहले से चौगुना हो जाना चाहिये। लेकिन जहा तक श्रम के उपकरणो का सम्बध है, जसे कि मकान, कोयला, मशीने इत्यादि, उनपर यह बात लागू नहीं होती। उनके उत्पादन के लिये जिस अधिक श्रम की आवश्यकता होती है, वह एक सीमा से आगे नहीं बढ सकता, और यह सीमा इस बात पर निभर करती है कि मशीन से बनायी गयी वस्तु की मात्रा में और उतने ही मजदूरो द्वारा हाथ से बनायी गयी इसी वस्तु की मात्रा में कितना अन्तर होता है।

(MacCulloch *Princ of Pol Econ* [मैक्कुलक, 'अथशास्त्र के सिद्धान्त'], London 1830 पृ० १६६।)

[1] "कताई की मशीन के आविष्कार ने हिंदुस्तान को बरबाद कर दिया है। पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई खास नही छूता" (A Thiers *De la propriété*, Paris 1848 पृ० २७५) श्री थियेर ने यहा पर कताई की मशीन को शक्ति से चलने वाले करघे के साथ गडबडा दिया है, "पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई खास नही छूता।"

इसलिये, जसे जसे किसी उद्योग में मशीनो के उपयोग का विस्तार होता जाता है, वसे-वैसे उसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि इस उद्योग को उत्पादन के साधन देने वाले दूसरे उद्योगो में उत्पादन बढ जाता है। इस तरह कितने नये मजदूरो को नौकरी मिल जायेगी, यह काम के दिन की लम्बाई तथा श्रम की तीव्रता को पहले से निश्चित मानते हुए इस बात पर निर्भर करता है कि जो पूजी इस्तेमाल की जा रही है, उसकी सरचना किस प्रकार की है, यानी उसके अस्थिर सघटक के साथ उसके स्थिर सघटक का क्या अनुपात है। यह अनुपात खुद बहुत कुछ इस बात के साथ बदलता रहता है कि मशीनो ने इन धधो पर किस हद तक अधिकार जमा लिया है या वे उनपर किस हद तक अधिकार जमाती जा रही ह। कोयले और धातु की खानो में काम करने के लिये मजबूर लोगो की सख्या में इगलैण्ड की फैक्टरी व्यवस्था की प्रगति के फलस्वरूप बहुत भारी वृद्धि हो गयी थी, किन्तु पिछले कुछ दशको में खानो में नयी मशीनो के इस्तेमाल के कारण मजदूरो की सख्या की यह वद्धि कुछ मद पड गयी है।[1] मशीन के साथ-साथ एक नये प्रकार का मजदूर जन्म लेता है। हमारा मतलब मशीन को बनाने वाले से है। हम यह पहले ही देख चुके ह कि उत्पादन की इस शाखा पर भी मशीनो ने एक ऐसे पमाने पर अधिकार कर लिया है, जो दिन ब दिन बढता ही जाता है।[2] जहा तक कच्चे माल का सम्बध है,[3] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कपास की कताई में जो तेज उन्नति हुई है, उसने न केवल सयुक्त राज्य अमरीका में कपास की खेती को उष्णदेशीय प्रचुरता के साथ बढ़ा दिया है और उसके साथ-साथ अफ्रीका के दासो के व्यापार में तेजी ला दी है, बल्कि उसके फलस्वरूप सीमान्त के उन राज्यो में, जिनमें दास प्रथा पायी जाती है, गुलामो को पालना लोगो का मुख्य व्यवसाय बन गया है। १७६० में सयुक्त राज्य अमरीका में गुलामो की पहली गणना की गयी थी। उस समय उनकी सख्या ६,६७,००० थी। १८६१ तक उनकी सख्या लगभग ४० लाख तक पहुंच गयी थी। दूसरी ओर, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इगलड में ऊनी

[1] १८६१ की जन-गणना के अनुसार (देखिये खण्ड २, लन्दन, १८६३) इगलैण्ड और वेल्स की कोयला-खाना मे नौकरी करने वालो की सख्या २,४६,६१३ बैठती थी, जिनमे से ७३,५४६ की आयु २० वष से कम और १,७३,०६७ की आयु २० वष से अधिक थी। २० वष से कम आयु के मजदूरो मे ८३५ की आयु ५ वष और १० वष के बीच, ३०,७०१ की आयु १० और १५ वष के बीच और ४२,०१० की आयु १५ और १६ वष के बीच थी। लोहे, ताम्बे, सीसे और टिन की खानो में और अन्य हर प्रकार की धातु खानो मे काम करने वालो की कुल सख्या ३,१६,२२२ थी।

[2] इगलैंड और वेल्स में १८६१ मे ६०,८०७ व्यक्ति मशीन बनाने के धधे मे लगे हुए थे। मालिक लोग और क्लक आदि तथा तमाम एजेन्ट और इस उद्योग से सम्बधित व्यावसायिक लोग इस सख्या मे सम्मिलित ह, लेकिन सिलाई की मशीना जैसी छोटी छोटी मशीन बनाने वाले और साथ ही मशीनो के तकुओ जैसे कायकारी पुर्जो को बनाने वाले इस सख्या के बाहर थे। असैनिक इजीनियरो की कुल सख्या ३,३२६ बैठती थी।

[3] लोहा चूकि एक सबसे महत्वपूण कच्चा माल है, इसलिये मै यहा पर यह बता दू कि १८६१ में इगलैण्ड और वेल्स मे १,२५,७७१ व्यक्ति लोहा ढालते थे, जिनमे से १,२३,४३० पुरुष थे और २,३४१ स्त्रिया। पुरुषो मे ३०,८१० की आयु २० वष से कम और ६२,६२० की आयु २० वष से अधिक थी।

मिलो के खुलने और उसके साथ साथ खेती-योग्य जमीन के धीरे-धीरे भेडो की चरागाहो में बदल जाने के फलस्वरूप खेती के मजदूरो की एक बडी सख्या फालतू हो गयी है, जिसके कारण मजदूरो को बडी तादाद में शहरो की ओर भाग जाना पडा है। पिछले बीस वर्ष में आयरलण्ड की आबादी घटते घटते लगभग आधी रह गयी है, और इस वक्त वहा के रहने वालो की सख्या को और भी घटा देने की क्रिया जारी है, ताकि वह ठीक ठीक उस स्तर पर पहुच जाये, जिसकी आयरलण्ड के जमींदारो और इगलण्ड के ऊनी मिल मालिको को आवश्यकता है।

श्रम की विषय वस्तु को उत्पादन क्रिया के सम्पूर्ण होने के पहले जिन प्रारम्भिक अथवा अतर्कालीन अवस्थाओ में से गुजरना पडता है, जब उनमें से किन्हीं अवस्थाओ में मशीनो का उपयोग किया जाता है, तब उनमें पहले से अधिक सामग्री तैयार होने लगती है और उसके साथ साथ उन दस्तकारियो या हस्तनिर्माणो में श्रम की माग बढ जाती है, जिनको इन मशीनो की पदावार की आवश्यकता होती है। मिसाल के लिये, जब कताई मशीनो से होने लगी, तब उससे इतना सस्ता और इतनी बहुतायत के साथ सूत तैयार हुआ कि शुरू शुरू में हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकर पूरे समय काम करने लगे और उनके खच में भी कोई वृद्धि नहीं हुई। चुनाचे इन बुनकरो की कमाई पहले से बढ गयी।[1] उसका नतीजा यह हुआ कि कपास की कताई के धधे में लोगो की सख्या बराबर बढती गयी, और यह क्रिया उस वक्त तक जारी रही, जब तक कि आखिर शक्ति से चलने वाले करघे ने उन ८,००,००० बुनकरो को कुचल नहीं दिया, जिनको जेनी, थ्रौसल और म्यूल ने जन्म दिया था। इसी तरह जब मशीनो के कारण पोशाको के कपडे बहुतायत से तैयार होने लगे, तो दर्जियो, दर्जिनों और सीने पिरोने का काम करने वाली औरतो की सख्या में वृद्धि होने लगी, और वह उस वक्त तक होती रही, जब तक कि सीने की मशीन बाजार में नहीं आ गयी।

मजदूरो की अपेक्षाकृत कम सख्या की मदद से मशीनो से जो कच्चे माल, अतरकालीन पैदावार और श्रम के औजार आदि तैयार किये जाते ह, उनकी मात्रा जिस अनुपात में बढ़ती है, उसी अनुपात में इन कच्चे मालो तथा अतरकालीन पदावार की आगे की तयारी असख्य शाखाओ में बट जाती है। सामाजिक उत्पादन की विविधता बढ़ जाती है। हस्तनिर्माण सामाजिक श्रम विभाजन को जितना आगे ले गया था, फैक्टरी व्यवस्था उसको उससे कहीं अधिक आगे ले जाती है, क्योकि वह जिन उद्योगो पर भी अधिकार कर लेती है, उनकी उत्पादकता में हस्तनिर्माण की अपेक्षा कहीं अधिक वद्धि कर देती है।

मशीनो का तात्कालिक परिणाम यह होता है कि अतिरिक्त मूल्य में और पदावार की उस राशि में वृद्धि हो जाती है, जिसमें अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। और जसे-जसे उन तमाम चीजो की बहुतायत होती जाती है, जिनको पूजीपति और उनपर आश्रित व्यक्ति इस्तेमाल करते ह, वसे-वसे समाज की इन श्रेणियो की सख्या भी बढ़ती जाती है। एक ओर, इन लोगों की दौलत बढ़ती जाती है। दूसरी ओर, जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ को तयार करने के

---

[1] "पिछली शताब्दी के अन्त म और वतमान शताब्दी के आरम्भ म चार वयस्क व्यक्तियो का परिवार, जो दो बच्चो से सूत लपटवाने का काम लेता था, रोजाना दस घण्टे का श्रम करके एक सप्ताह म ४ पौण्ड कमा लेता था। यदि काम बहुत जरूरी होता था, तो थोडी ज्यादा आमदनी हो जाती थी ... उसके पहले इन लोगो के पास हमेशा सूत की कमी रहती थी।' (Gaskell उप० पु०, पृ० २५-२७।)

लिये अब मजदूरो की अपेक्षाकृत कम सख्या जरूरी होती है। इन दोनो बातो का यह परिणाम होता है कि विलास की नयी आवश्यकताओ के पदा होने के साथ-साथ आवश्यकताओ को पूरा करने के साधन भी पदा होते जाते ह। समाज की पैदावार का पहले से बडा हिस्सा अतिरिक्त पदावार में बदल जाता है, और अतिरिक्त पदावार का पहले से बडा हिस्सा नाना प्रकार के परिष्कृत रूपो में उपभोग के निमित चला जाता है। दूसरे शब्दो में, विलास की वस्तुओ का उत्पादन बढ़ जाता है।[1] इसी प्रकार, आधुनिक उद्योग दुनिया की मण्डियो के साथ जो नये सम्बध स्थापित कर देता है, उनसे भी पैदावार विविध प्रकार के नये परिष्कृत रूप धारण कर लेती है। न केवल देशी पैदावार के साथ पहले से अधिक मात्रा में विलास की विदेशी वस्तुओ का विनिमय होने लगता है, बल्कि देशी उद्योगो में पहले से अधिक मात्रा में विदेशी कच्चे मालो, सामग्रियो और अतर्कालीन पदावारो का उत्पादन के साधनो के रूप में उपयोग होने लगता है। दुनिया की मडियो के साथ इन सम्बधो के स्थापित हो जाने के फलस्वरूप सामान लाने-ले जाने के धधे नाना प्रकार की शाखाओ में बट जाते ह और उनमें श्रम की माग बढ़ जाती है।[2]

उत्पादन तथा जीवन निर्वाह के साधनो में जो वृद्धि होती है और उसके साथ साथ मजदूरो की सख्या में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उनके फलस्वरूप नहरें बनाने, डाक तैयार करने, सुरगें खोदने और इसी प्रकार के केवल सुदूर भविष्य में फल देने वाले अन्य कामो में श्रम की माग बढ जाती है। या तो मशीनो के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में और या मशीनो से उत्पन्न सामान्य औद्योगिक परिवतनो के फलस्वरूप उत्पादन की सवथा नयी शाखाए पदा हो जाती ह, जो श्रम के नये क्षेत्र पैदा कर देती ह। लेकिन सामान्य उत्पादन में इन शाखाओ को जो स्थान प्राप्त होता है, वह अधिक से अधिक विकसित देशो में भी महत्वपूण नहीं होता। इन शाखाओ में नौकरी पाने वाले मजदूरो की सख्या सीधे इस बात पर निभर करती है कि इन उद्योगो ने सबसे अधिक अपरिष्कृत ढग के हाथ के श्रम की कितनी बडी माग को जन्म दिया है। आजकल इस प्रकार के मुख्य उद्योग ये ह गस तयार करने वाले कारखाने, तार-व्यवस्था, फोटोग्राफी, भाप से चलने वाले जहाज और रेलें। इगलड और वेल्स की १८६१ की जन गणना के अनुसार उस समय गस उद्योग में काम करन वाले लोगो की सख्या १५,२११ थी (इनमें गस के कारखानो में काम करने वाले मजदूर, आवश्यक यात्रिक उपकरण तयार करने वाले मजदूर, गैस कम्पनियो के कमचारी इत्यादि शामिल थे), तार-व्यवस्था में २,३९९, फोटोग्राफी में २,३६६, भाप से चलने वाले जहाजो में ३,५७० और रेलो में ७०,५९९ व्यक्ति काम कर रहे थे, जिनमें खुदाई का काम करने वाले ऐसे अनिपुण मजदूरो की, जिनको न्यूनाधिक रूप में स्थायी नौकरी प्राप्त थी, और पूरे प्रशासकीय एव वाणिज्यिक कर्मचारी दल की सख्या लगभग २८,००० बठती थी। इसलिये, इन पाच नये उद्योगो में कुल मिलाकर ९४,१४५ व्यक्तियो को रोजगार हासिल था।

---

[1] F Engels ने अपनी रचना '*Lage &c*' मे बताया है कि विलास की इन वस्तुओ को जो लोग तैयार करते है, उनमे से एक बडी सख्या बहुत मुसीबत का जीवन बिताती है। इसके अलावा *Reports of the Children s Employment Commission* ('बाल-सेवायोजन आयोग की रिपोर्टें') मे भी इसके अनेक उदाहरण मिलते है।

[2] १८६१ मे इगलैण्ड और वेल्स मे ९४,६६५ मल्लाह व्यापारिक बेडे मे काम कर रहे थे।

अन्तिम बात यह है कि आधुनिक उद्योगो की असाधारण उत्पादकता के कारण, जिसके साथ साथ उत्पादन के अन्य सभी क्षेत्रो में श्रम-शक्ति का पहले से अधिक व्यापक और पहले से अधिक तीव्र शोषण होने लगता है, मजदूर वर्ग के अधिकाधिक बडे हिस्से से अनुत्पादक ढग का काम लेना सम्भव होता जाता है और इसके फलस्वरूप प्राचीन काल के घरेलू दासो का नौकर-वर्ग के नाम से, जिसमें नौकर-नौकरानिया, टहलुए आदि शामिल होते हैं, निरन्तर बढते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होने लगता है। १८६१ की जन गणना के अनुसार, इगलण्ड और वेल्स की आबादी २,००,६६,२२४ थी। उसमें ६७,७६,२५६ पुरुष थे और १,०२,८६,६६५ स्त्रिया थीं। इस सख्या में से यदि हम उन लोगो की तादाद घटा दें, जो या तो बहुत अधिक आयु होने के कारण और या बहुत कम आयु के कारण काम नहीं कर सकते थे, उत्पादन में भाग न लेने वाली सभी स्त्रियो, लडकें-लडकियो और बच्चो की गणना न करें, "वचारिक" धधो में लगे हुए *व्यक्तियो को, जसे सरकारी कर्मचारियो*, पादरियो, वकीलो, सिपाहियों आदि को,—घटा दें, और इसके अलावा, यदि हम उन लोगो को भी अलग कर दें, जिनका लगान, सूद आदि के रूप में दूसरो के श्रम को हडपने के सिवाय और कोई धधा नहीं है, और, अत में, कगालो, आवारा लोगो और अपराधियो को भी एक तरफ छोड दें, तो मोटे तौर पर अस्सी लाख व्यक्ति बच रहते ह, जिनमें प्रत्येक आयु की स्त्रिया और पुरुष दोनो शामिल हे। उद्योगो, वाणिज्य तथा वित्त-प्रबध में किसी भी रूप में लगा हुआ प्रत्येक पूजीपति भी इस सख्या में शामिल होता है। इन ८० लाख व्यक्तियो में हे

खेतिहर मजदूर (जिनमें गडरिये, फार्मों के नौकर और किसानो के घरो में काम करने वाली नौकरानिया भी शामिल ह)	१०,६८,२६१
वे तमाम लोग, जो सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने वाली मिलो में, फ्लक्स, सन, रेशम और पाट की फैक्टरियो में, और मशीनो से मोजे और लस बनाने के धधो में काम करते ह	६,४२,६०७[1]
वे तमाम लोग, जो कोयला-खानो और धातु की खानो में काम करते ह	५,६५,८३५
वे तमाम लोग, जो धातु के कारखानो (पिघलाऊ भट्ठियो, रोलिग मिलो आदि) में और हर तरह का धातु का सामान तैयार करने वाले कारखानो में काम करते ह	३,९६,९९८[2]
नौकर-वग	१२,०८,६४८[3]

[1] इनमे से १३ वप से अधिक उम्र के केवल १,७७,५९६ ही पुरुप हैं।

[2] इनमे से ३०,५०१ स्त्रिया हैं।

[3] इनमे से १,३७,४४७ पुरुप हैं। १२,०८,६४८ की इस सख्या मे ऐसे किसी व्यक्ति को शामिल नहीं किया गया है, जो किसी के घर मे नौकरी नही करता। १८६१ और १८७० के बीच पुरुप नौकरो की सख्या लगभग दुगुनी हो गयी। वह २,६७,६७१ पर पहुच गयी। १८४७ मे, (जमीदारो की शिकारगाहो में) शिकार के पशुओ की देखरेख करने वालो की

कपडा मिलो और खानो में काम करने वाले सभी व्यक्तियो की सख्या कुल मिलाकर १२,०८,४४२ होती है। कपडा मिलो और धातु के उद्योगो में काम करने वाले सभी व्यक्तियो की कुल सख्या १०,३९,६०५ बठती है। दोनो सख्याए आधुनिक काल के घरेलू दास दासियो की सख्या से कम हं। मशीनो के पूजीवादी उपयोग का कसा शानदार परिणाम है यह!

अनुभाग ७—फैक्टरी-व्यवस्था द्वारा मजदूरो का प्रतिकर्षण और आकर्षण। —सूती उद्योग मे सकट

वे सभी अथशास्त्री, जिनका थोडा सा भी नाम है, यह बात स्वीकार करते ह कि नयी मशीनो का इस्तेमाल होने से उन पुरानी दस्तकारियो और हस्तनिर्माणो के मजदूरो पर बहुत घातक प्रभाव पडता है, जिनसे ये मशीने शुरू-शुरू में प्रतियोगिता करती हैं। लगभग सभी अर्थशास्त्री फक्टरी-मजदूर की दासता पर दुख प्रकट करते ह। और फिर वे कौनसी बडी चाल चलते ह? यह कि जब मशीनो के प्रयोग के प्रारम्भिक काल की और उनके विकास काल की विभीषिकाए कुछ मद पड जाती ह, तब श्रम के दासो की सख्या घटने के बजाय अत में बढ जाती है। जी हा, अथशास्त्र इसी वीभत्स सिद्धात पर, जो ऐसे प्रत्येक "परोपकारी" को बीभत्स प्रतीत होता है, जो पूजीवादी उत्पादन की प्रकृति विरचित शाश्वत आवश्यकता में विश्वास करता है,—अथशास्त्र इसी सिद्धात पर बेहद खुश है कि मशीनो पर आधारित फक्टरी-व्यवस्था शुरू में जितने मजदूरो को बेकार बनाकर सडको पर फेंक्ती है, वह विकास और परिवतन के एक काल के बाद, अपने चरमोत्कष के समय, उससे अधिक मजदूरो को पीसती है।[1]

सख्या २,६६४ थी। १८६६ तक वह ४,६२१ पर पहुच गयी। लन्दन में निम्न मध्य वग के घरो मे जो नौजवान लडकिया नौकरानियो का काम करती है, उनको आम बोलचाल की भापा मे slaveys (या "दासिया") कहा जाता है।

[1] गानिल्ह ने, इसके विपरीत, फैक्टरी-व्यवस्था का अतिम परिणाम यह समझा था कि मजदूरो की सख्या में निरपेक्षत कमी आ जाती है और उसके एवज मे gens honnetes ("भले लोगो") की सख्या बढ जाती है, जो अपनी सुप्रसिद्ध "perfectibilite perfectible' ("विकासशील विकासशीलता") का विकास करते रहते है। गानिल्ह उत्पादन की गति को तो बहुत कम समझ पाये हैं, पर कम से कम वह इतना जरूर महसूस करते है कि यदि मशीनो के इस्तेमाल से काम धधे मे लगे मजदूर कगाल बन जाते है और यदि मशीना के विकास से जितने मजदूरा की रोटी छिनी है, उससे अधिक श्रम के दास पैदा हो जाते है, तो मशीन अवश्य ही बहुत घातक किस्म की चीजें होगी। गानिल्ह के दृष्टिकोण की बेहूदगी को खोलकर रखने का इसके सिवाय और कोई तरीका नही है कि खुद उन्ही के शब्दा को उद्धृत कर दिया जाये Les classes condamnees a produire et a consommer diminuent et les classes qui dirigent le travail qui soulagent, consolent, et eclairent toute la population se multiplient et s approprient tous les bienfaits qui resultent de la diminution des frais du travail de l abondance des productions et du

जैसा कि हम इगलैण्ड की बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने वाली मिलो और रेशम की फैक्टरियो के सिलसिले में देख चुके है, यह सच है कि कुछ सूरतो में फक्टरी व्यवस्था का असाधारण विस्तार होने पर उसके विकास की एक खास अवस्था में इन उद्योगो में काम करने वाले मजदूरो की सख्या में केवल सापेक्ष ही नहीं, बल्कि निरपेक्ष कमी भी आ जाती है। १८६० में ससद के आदेश पर सयुक्तागल राज्य की तमाम फैक्टरियो की एक विशेष गणना की गयी थी। उस समय लकाशायर, चेशायर और योकशायर के उन हिस्सो में, जो मि० बेकर नामक फक्टरी इस्पेक्टर के क्षेत्र में आते थे, ६५२ फक्टरिया थीं। इनमें से ५७० फक्टरियो में शक्ति से चलने वाले ८५,६२२ करघे तथा ६८,१६,१४६ तकुए थे (गुणन करने वाले तकुए इस सख्या में शामिल नहीं थे), और उनमें २७,४३९ अश्वशक्ति (भाप) और १,३९० अश्व शक्ति (पानी) से तथा ९४,११९ व्यक्तियो से काम लिया जाता था। १८६५ में इन्हीं फैक्टरियो में ९५,१६३ करघे और ७०,२५,०३१ तकुए लगे थे, और वे २८,९२५ अश्व शक्ति की भाप की ताकत तथा १,४४५ अश्वशक्ति की पानी की ताकत से और ८८,९१३ व्यक्तियो से काम लेती थीं। इसलिये, १८६० और १८६५ के बीच करघो की सख्या में ११ प्रतिशत की, तकुओ की सख्या में ३ प्रतिशत की और इजन शक्ति में ३ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी और साथ ही काम करने वाले व्यक्तियो की सख्या में ५$\frac{१}{२}$ प्रतिशत की कमी आ गयी थी।[1] १८५२ और १८६२ के बीच इगलैण्ड में ऊन के कारखानो का काफी

---

bon marche des consommations Dans cette direction l espece humaine s eleve aux plus hautes conceptions du genie penetre dans les profondeurs mysterieuses de la religion, etablit les principes salutaires de la morale (which consists in s approprier tous les bienfaits, &c) les lois tutelaires de la liberte (liberty of les classes condamnees a produire?) et du pouvoir de l obeissance et de la justice du devoir et de l'humanite ["जिन वर्गों को पैदा करना और खर्च करना पडता है, उनकी सख्या कम हो जाती है, और जो वर्ग श्रम का सचालन करते है और जो पूरी आबादी को सहायता, दिलासा और शिक्षा देते है, उनकी सख्या बढ जाती है और श्रम की लागत मे कमी आ जाने से, पैदावार की बहुतायत से और उपभोग की वस्तुओ के सस्ती हो जाने से जितने प्रकार के लाभ होते है, उन सब पर ये वर्ग अधिकार कर लेते है। इस दिशा मे मनुष्य जाति प्रतिभा के उच्चतम स्तर पर पहुच जाती है, धर्म की रहस्यमयी गहराइयो तक पैठती है और नैतिकता के हितकारी सिद्धान्तो को" (जिनके मातहत परजीवी वर्ग "सभी प्रकार के लाभ इत्यादि पर अधिकार कर लेते है"), "स्वतत्रता के सरक्षक नियमो को" (सम्भवतया उन कुछ खास वर्गों की स्वतत्रता के नियमो को, जिन्हें सदा "पैदा करना पडता है"?) "और सत्ता, आज्ञापालन, न्याय, कर्तव्य तथा मानवता के नियमो को स्थापित करता है"]। यह बकवास आपको M Ch Ganilh की रचना *Des Systèmes d Economie Politique* &c दूसरा सस्करण, Paris 1821, ग्रथ १ मे मिल सकती है, देखिये पृ० २२४ और पृ० २१२ भी।

[1] *Reports of Insp of Fact 31 Oct 1865* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ५८ और उसके आगे के पृष्ठ। किन्तु इसके साथ-साथ ११० नयी

विस्तार हुआ था, पर उनमें काम करने वाले मजदूरो की सख्या ज्यो की त्यो रही थी। इससे पता चलता है कि नयी मशीनो के उपयोग ने किस हद तक बीते हुए कालो के श्रम का स्थान ले लिया था।[1] कुछ सूरतो में काम करने वाले मजदूरो की सख्या में केवल दिखावटी वृद्धि होती है, यानी यह वृद्धि पहले से कायम फक्टरियो के विस्तार के कारण नहीं होती, बल्कि इसलिये होती है कि मशीने धीरे धीरे सम्बधित धधो पर भी अधिकार कर लेती ह। उदाहरण के लिये, १८३८ और १८५६ के बीच सूती व्यवसाय में शक्ति से चलने वाले करघो तथा उनपर काम करने वाले मजदूरो की सख्या में जो वृद्धि हुई थी, उसका कारण केवल यह था कि उद्योग की इस शाखा का विस्तार हो गया था, लेकिन कुछ अन्य धधो में करघो और मजदूरो की वृद्धि इसलिये हुई थी कि पहले आदमियो द्वारा चलाये जाने वाले कालीन बुनने वाले, फीते तयार करने वाले और सन का कपडा तयार करने वाले करघो में अब भाप की ताकत इस्तेमाल होने लगी थी। इसलिये, इन धधो में काम करने वाले मजदूरा की सख्या में जो वद्धि हुई थी, वह केवल इस बात का प्रतीक थी कि कुल मजदूरो की सख्या में कमी आ गयी है। अन्तिम बात यह है कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमने इस तथ्य को सदा अलग रखा है कि धातु के उद्योगो को छोडकर बाकी सब जगह फक्टरी मजदूरो के वग में सबसे बडी सख्या (१८ वष से कम उम्र के) लडके लडकियो, औरता और बच्चो की होती है।

फिर भी, इस बात के बावजूद कि मशीनें मजदूरो की एक बहुत बडी सख्या को सचमुच विस्थापित कर देती ह और एक तरह से उनकी जगह ले लेती ह, हम यह बात समझ सकते ह कि किसी खास उद्योग में नयी मिलो के बनने और पुरानी मिलो का विस्तार होने के फलस्वरूप फक्टरी मजदूरो की सख्या किस तरह हस्तनिर्माण करने वाले उन मजदूरो और दस्तकारो की सख्या से बढ सकती है, जिनका इन फक्टरी मजदूरो ने स्थान ले लिया है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि प्रति सप्ताह ५०० पौण्ड की पूजी से उत्पादन की पुरानी प्रणाली के अनुसार काम लिया जाता है और इसके पाच में से दो हिस्से स्थिर पूजी के और तीन हिस्से अस्थिर पूजी के ह। कहने का मतलब यह है कि ५०० पौण्ड की पूजी में से २००

मिलो की शक्ल म मजदूरो की एक पहले से बढी हुई सख्या को नौकरी देने के साधन तैयार हो गये थे, जिनमे ११,६२५ करघे और ६,२८,५७६ तकुए लगे थे और जो कुल २,६६५ अश्व शक्ति की भाप और पानी की ताकत का इस्तेमाल करती थी।

[1] *Reports etc, for 31st October 1862* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ७६। १८७१ के अन्त मे फैक्टरी इस्पेक्टर मि० ए० रेड्ग्रेव ने ब्रेडफोड के New Mechanic's Institution मे एक भाषण देते हुए कहा था "पिछले कुछ समय से मेरा ध्यान इस बात की ओर जा रहा है कि ऊनी फैक्टरिया की शक्ल सूरत बदली हुई दिखाई देती है। पहले उनमे औरते और बच्चे भरे रहते थे। अब लगता है, जैसे सारा काम मशीने कर डालती है। मैंने एक कारखानेदार से इसका कारण पूछा, तो उसने मुझे यह जवाब दिया 'पुरानी व्यवस्था मे मैंने ६३ व्यक्तियो को नौकर रख रखा था। सुधरी हुई मशीन लग जाने के बाद मैंने मजदूरो की सख्या को घटाकर ३३ कर दिया, और हाल मे कुछ नवीन एव व्यापक परिवतना के फलस्वरूप मै इन ३३ को घटाकर १३ कर देने में सफल हुआ हू।'"

[2] देखिये '*Reports &c 31st Oct 1856* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १६।

पौण्ड उत्पादन के साधनो में लगा दिये जाते हैं और ३०० पौण्ड १ पौण्ड फ़ी आदमी के हिसा श्रम-शक्ति पर खर्च कर दिये जाते हैं। जब मशीनो का इस्तेमाल होने लगता है, तो इस की सरचना बदल जाती है। हम यह मान लेते हैं कि उसके पाच में से चार हिस्से स्थिर के हो जाते ह और अस्थिर पूजी केवल एक हिस्सा रह जाती है, जिसका मतलब यह है अब श्रम-शक्ति पर केवल १०० पौण्ड ही खर्च किये जाते ह। चुनाचे, दो तिहाइ मजदूर जवाब मिल जाता है। अब यदि व्यवसाय का विस्तार हो जाता है और उसमें लगी हुई पूजी पहले जसी परिस्थितियो में ही बढकर १,५०० पौण्ड हो जाती है, तो मजदूरों का बढ़कर ३००, अर्थात उतनी ही हो जायेगी, जितनी वह मशीनो के इस्तेमाल के पहले यदि पूजी में और भी वृद्धि होती है और वह २,००० पौण्ड हो जाती है, तो ४०० मज़ से काम लिया जायेगा, अर्थात् पुरानी व्यवस्था में जितने आदमी काम करते थे, उनसे ए तिहाई ज्यादा मजदूर नौकर रखे जायेंगे। इस तरह, असल में तो मजदूरो की सख्या में की वृद्धि हो जाती है, पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये, तो उसमें ८०० की कमी आ ग है, क्योकि पुरानी व्यवस्था में २,००० पौण्ड की पूजी को ४०० के बजाय १,२०० मज़ को नौकर रखना पडता। इसलिये, मजदूरो की सख्या में वास्तव में वृद्धि होने पर भी तुलनात्म कमी आ सकती है। ऊपर हम यह मानकर चल रहे थे कि कुल पूजी तो बढ जाती है, उसकी सरचना ज्यो की त्यो रहती है, क्योकि उत्पादन की परिस्थितिया एक सी रहती है लेकिन हम पहले ही यह देख चुके ह कि मशीनो के उपयोग में जब कभी प्रगति होती है, तो पूजी का स्थिर अश, यानी वह भाग, जो मशीनो, कच्चे माल आदि में लगाया जाता है, बढ जाता है और अस्थिर अश, यानी वह भाग, जो श्रम शक्ति पर खर्च किया जाता है, घ जाता है। हम यह भी जानते ह कि उत्पादन की किसी भी अन्य व्यवस्था में फक्टरी व्यवस्था के समान निरन्तर सुधार नहीं होता और उद्योग में लगी पूजी की सरचना भी इस निरन्तर ढग से अन्य किसी व्यवस्था में नहीं बदलती जाती। किन्तु इन परिवतनो के बीच में बार-बार अवकाश का समय आता रहता है, जब पहले से मौजूद प्राविधिक आधार पर फक्टरियो का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है। ऐसी अवधियो के दौरान कामगारों की सख्या बढ़ जाती है। चुनांचे, १८३५ में सयुक्तांगल राज्य की सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तयार करने वाली मिलो तथा पलक्स और रेशम की फक्टरियो में मजदूरो की कुल सख्या केवल ३,५४,६८४ थी, जब कि १८६१ में अकेले शक्ति से चलने वाले करघों पर काम करने वाले बुनकरो की सख्या (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनो और आठ वष से ऊपर की हर आयु के मजदूर शामिल थे) २,३०,६५४ हो गयी थी। निश्चय ही उस समय यह वद्धि कम महत्वपूण मालूम होती है, जब हम यह याद करते ह कि १८३८ तक हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरो की सख्या उनके परिवारो के लोगों समेत ८,००,००० थी।[1] और एशिया तथा योरपीय

[1] "हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरा की यातनाओ की एक शाही आयोग न जांच की थी, लेकिन यद्यपि उनके कष्टा को सब ने स्वीकार किया और उनपर दुख भी प्रकट किया, तथापि उनकी दशा का सुधारने का प्रश्न सयाग तथा समय के परिवतना के हाथ मे छोड दिया गया, और शायद ऐसा करना आवश्यक भी था। अब' (२० वष बाद!) "यह आशा की जा सकती है कि सयाग ने और समय के परिवतना ने इन कष्टा का लगभग (nearly) दूर कर दिया हागा, और बहुत मुमकिन है कि इसका कारण यह हा कि बनमान काल म

महाद्वीप में जो बुनकर बेकार हो गये थे, उनकी सख्या अलग है।

इस विषय पर मुझे दो चार बाते और कहनी ह। उनके सिलसिले में मैं उन सम्बधो का जिक्र करूगा, जो सचमुच पाये जाते हैं और जिनके अस्तित्व पर हमारी सद्धान्तिक खोज अभी तक प्रकाश नहीं डाल पायी है।

जब तक उद्योग की किसी शाखा में फक्टरी व्यवस्था पुरानी दस्तकारियो या हस्तनिर्माण के स्थान पर विस्तृत होती जाती है, तब तक इस सघर्ष का परिणाम उतना ही निश्चित रहता है, जितना निश्चित तीर और कमान से लडने वाली सेना के साथ बन्दूको से लस सेना की मुठभेड का परिणाम होता है। यह पहला काल, जिसमें मशीने अपने काय क्षेत्र को जीतती ह, निर्णायक महत्व का होता है, क्योंकि इस काल से असाधारण मुनाफे कमाने में मदद मिलती है। इन मुनाफो के कारण न केवल पहले से तेज गति से सचय करना सम्भव होता है, बल्कि ये मुनाफे उस अधिक सामाजिक पूजी के एक बडे हिस्से को भी उत्पादन के इस क्षेत्र में खींच लेते ह, जो बराबर पैदा होती और अपने लिये नित नये क्षेत्रो की तलाश में रहती है। तेज और अधाधुध कारवाइयो के इस पहले काल से जो विशेष लाभ होते ह, वे उत्पादन के प्रत्येक ऐसे क्षेत्र में महसूस किये जाते ह, जिनपर मशीनें चढाई कर देती हैं। लेकिन जसे ही फक्टरी-व्यवस्था एक खास हद तक सुविस्तृत आधार और परिपक्वता प्राप्त कर लेती है और खास तौर पर जसे ही उसका प्राविधिक आधार – मशीनें – भी खुद मशीनो के द्वारा तैयार होने लगता है, जसे ही कोयला खानो और लोहे की खानो में, धातु के उद्योगो में और यातायात के साधनो में क्रान्ति पदा हो जाती है, – सक्षेप में, जसे ही आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादन करने के लिये आवश्यक सामान्य परिस्थितिया तयार हो जाती ह, वसे ही उत्पादन की यह प्रणाली एक ऐसा लोच और यकायक छलाग मारकर विस्तार करने की ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, जिसके रास्ते में कच्चे माल की पूर्ति और पदावार की बिक्री के सवालो को छोडकर और कोई कठिनाई आडे नहीं आती। एक ओर तो मशीनो का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति उसी तरह बढ जाती है, जिस तरह cotton gin (कपास ओटने की मशीन) का इस्तेमाल होने पर कपास का उत्पादन बढ गया था।[1] दूसरी ओर, मशीनो से तयार की जाने वाली वस्तुए चूकि सस्ती होती ह और साथ ही चूकि यातायात और सचार के साधनो में बहुत सुधार हो जाता है, इसलिये ये चीजें विदेशी मडियो को जीतने का अस्त्र बन जाती ह। दूसरे देशो के दस्तकारी के उत्पादन को बरबाद करके मशीनें उनको जबदस्ती कच्चा माल पैदा करने वाले क्षेत्रो में बदल देती ह। इस प्रकार, ईस्ट इण्डिया को ब्रिटेन के वास्ते कपास, ऊन, सन और पाट और नील पदा करने के लिये मजबूर किया गया।[2]

शक्ति से चलने वाले करघे ने बहुत विस्तार प्राप्त कर लिया है।" (*'Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1856* ['फैक्टरियो के इसपेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० ५१।)

[1] कच्चे माल के उत्पादन पर मशीनें अन्य जिन तरीको से असर डालती हैं, उनका जिक्र तीसरी पुस्तक में किया जायेगा।

[2] हिन्दुस्तान से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

१८४६	३,४५,४०,१४३ पौण्ड
१८६०	२०,४१,४१,१६८ पौण्ड
१८६५	४४,५६,४७,६०० पौण्ड

पौण्ड उत्पादन के साधनो में लगा दिये जाते हैं और ३०० पौण्ड १ पौण्ड फी आदमी के हिसाब से श्रम शक्ति पर खर्च कर दिये जाते हैं। जब मशीनो का इस्तेमाल होने लगता है, तो इस पूंजी की सरचना बदल जाती है। हम यह मान लेते ह कि उसके पाच में से चार हिस्से स्थिर पूंजी के हो जाते हैं और अस्थिर पूंजी केवल एक हिस्सा रह जाती है, जिसका मतलब यह है कि अब श्रम-शक्ति पर केवल १०० पौण्ड ही खर्च किये जाते ह। चुनाचे, दो तिहाई मजदूरो को जवाब मिल जाता है। अब यदि व्यवसाय का विस्तार हो जाता है और उसमें लगी हुई कुल पूंजी पहले जैसी परिस्थितियो में ही बढ़कर १,५०० पौण्ड हो जाती है, तो मजदूरो की सख्या बढकर ३००, अर्थात उतनी ही हो जायेगी, जितनी वह मशीनो के इस्तेमाल के पहले थी। यदि पूंजी में और भी वृद्धि होती है और वह २,००० पौण्ड हो जाती है, तो ४०० मजदूरो से काम लिया जायेगा, अर्थात पुरानी व्यवस्था में जितने आदमी काम करते थे, उनसे एक तिहाई ज्यादा मजदूर नौकर रखे जायेंगे। इस तरह, असल में तो मजदूरो की सख्या में १०० की वृद्धि हो जाती है, पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये, तो उसमें ८०० की कमी आ जाती है, क्योकि पुरानी व्यवस्था में २,००० पौण्ड की पूंजी को ४०० के बजाय १,२०० मजदूरो को नौकर रखना पडता। इसलिये, मजदूरो की सख्या में वास्तव में वृद्धि होने पर भी तुलनात्मक कमी आ सकती है। ऊपर हम यह मानकर चल रहे थे कि कुल पूंजी तो बढ जाती है, पर उसकी सरचना ज्यो की त्यो रहती है, क्योकि उत्पादन की परिस्थितिया एक सी रहती ह। लेकिन हम पहले ही यह देख चुके हैं कि मशीनो के उपयोग में जब कभी प्रगति होती है, तो पूंजी का स्थिर अश, यानी वह भाग, जो मशीनो, कच्चे माल आदि में लगाया जाता है, बढ जाता है और अस्थिर अश, यानी वह भाग, जो श्रम शक्ति पर खच किया जाता है, घट जाता है। हम यह भी जानते ह कि उत्पादन की किसी भी अन्य व्यवस्था में फक्टरी व्यवस्था के समान निरतर सुधार नहीं होता और उद्योग में लगी पूंजी की सरचना भी इस निरतर ढग से अन्य किसी व्यवस्था में नहीं बदलती जाती। किन्तु इन परिवतनो के बीच में बार-बार अवकाश का समय आता रहता है, जब पहले से मौजूद प्राविधिक आधार पर फक्टरियो का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है। ऐसी अवधियो के दौरान कामगारो की सख्या बढ जाती है। चुनाचे, १८३५ में सयुक्तागल राज्य की सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तयार करने वाली मिलो तथा फ्लक्स और रेशम की फक्टरियो में मजदूरो की कुल सख्या केवल ३,५४,६८४ थी, जब कि १८६१ में अकेले शक्ति से चलने वाले करघो पर काम करने वाले बुनकरो की सख्या (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनो और आठ वष से ऊपर की हर आयु के मजदूर शामिल थे) २,३०,६५४ हो गयी थी। निश्चय ही उस समय यह वृद्धि कम महत्वपूर्ण मालूम होती है, जब हम यह याद करते हैं कि १८३८ तक हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरो की सख्या उनके परिवारो के लोगो समेत ८,००,००० थी।[1] और एशिया तथा योरपाय

[1] "हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरो की यातनाओ की एक शाही आयोग ने जाच की थी, लेकिन यद्यपि उनके कष्टो को सब ने स्वीकार किया और उनपर दुख भी प्रकट किया, तथापि उनकी दशा को सुधारने का प्रश्न सयोग तथा समय के परिवतनो के हाथ में छोड दिया गया, और शायद ऐसा करना आवश्यक भी था। अब" (२० वष बाद!) "यह आशा की जा सकती है कि सयोग ने और समय के परिवतनो ने इन कष्टो को लगभग (nearly) दूर कर दिया होगा, और बहुत मुमकिन है कि इसका कारण यह हो कि वतमान काल में

महाद्वीप में जो बुनकर बेकार हो गये थे, उनकी सख्या अलग है।

इस विषय पर मुझे दो-चार बाते और कहनी ह। उनके सिलसिले में म उन सम्बधो का जिक्र करूगा, जो सचमुच पाये जाते ह और जिनके अस्तित्व पर हमारी सद्धान्तिक खोज अभी तक प्रकाश नहीं डाल पायी है।

जब तक उद्योग की किसी शाखा में फैक्टरी-व्यवस्था पुरानी दस्तकारियो या हस्तनिर्माण के स्थान पर विस्तृत होती जाती है, तब तक इस सघष का परिणाम उतना ही निश्चित रहता है, जितना निश्चित तीर और कमान से लडने वाली सेना के साथ बन्दूको से लैस सेना की मुठभेड का परिणाम होता है। यह पहला काल, जिसमें मशीनें अपने कार्य क्षेत्र को जीतती हैं, निर्णायक महत्व का होता है, क्योकि इस काल से असाधारण मुनाफे कमाने में मदद मिलती है। इन मुनाफो के कारण न केवल पहले से तेज गति से सचय करना सम्भव होता है, बल्कि ये मुनाफे उस अधिक सामाजिक पूजी के एक बडे हिस्से को भी उत्पादन के इस क्षेत्र में खींच लेते ह, जो बराबर पदा होती और अपने लिये नित नये क्षेत्रो की तलाश में रहती है। तेज और अधाधुध कार्रवाइयो के इस पहले काल से जो विशेष लाभ होते ह, वे उत्पादन के प्रत्येक ऐसे क्षेत्र में महसूस किये जाते ह, जिनपर मशीनें चढाई कर देती ह। लेकिन जसे ही फैक्टरी व्यवस्था एक खास हद तक सुविस्तृत आधार और परिपक्वता प्राप्त कर लेती है और खास तौर पर जसे ही उसका प्राविधिक आधार – मशीनें – भी खुद मशीनो के द्वारा तयार होने लगता है, जसे ही कोयला खानो और लोहे की खानो में, धातु के उद्योगो में और यातायात के साधनो में क्रान्ति पैदा हो जाती है, – सक्षेप में, जसे ही आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादन करने के लिये आवश्यक सामान्य परिस्थितिया तयार हो जाती ह, वसे ही उत्पादन की यह प्रणाली एक ऐसा लोच और यकायक छलाग मारकर विस्तार करने की ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, जिसके रास्ते में कच्चे माल की पूर्ति और पैदावार की बिक्री के सवालो को छोडकर और कोई कठिनाई आडे नहीं आती। एक ओर तो मशीनो का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति उसी तरह बढ जाती है, जिस तरह cotton gin (कपास ओटने की मशीन) का इस्तेमाल होने पर कपास का उत्पादन बढ गया था।[1] दूसरी ओर, मशीनो से तयार की जाने वाली वस्तुए चूकि सस्ती होती हे और साथ ही चूकि यातायात और सचार के साधनो में बहुत सुधार हो जाता है, इसलिये ये चीजें विदेशी मडियो को जीतने का अस्त्र बन जाती ह। दूसरे देशों के दस्तकारी के उत्पादन को बरबाद करके मशीनें उनको जबदस्ती कच्चा माल पदा करने वाले क्षेत्रो में बदल देती ह। इस प्रकार, ईस्ट इण्डिया को ब्रिटेन के वास्ते कपास, ऊन, सन और पाट और नील पदा करने के लिये मजबूर किया गया।[2]

शक्ति से चलने वाले करघे ने बहुत विस्तार प्राप्त कर लिया है।" (*Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1856* ['फैक्टरियो के इस्पक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० १५।)

[1] कच्चे माल के उत्पादन पर मशीनें अन्य जिन तरीको से असर डालती हैं, उनका जिक्र तीसरी पुस्तक में किया जायेगा।

[2] हिन्दुस्तान से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

१८४६	३,४५,४०,१४३ पौण्ड
१८६०	२०,४१,४१,१६८ पौण्ड
१८६५	४४,५६,४७,६०० पौण्ड

उन तमाम देशो में, जहा आधुनिक उद्योग ने जड पकड ली है, वह मजदूरों के एक हि को लगातार "फालतू" बनाता चलता है और इस तरह परावास तथा विदेशा में जाकर बर को बढावा देता है, जिसके फलस्वरूप विदेश स्वदेश के वास्ते कच्चा माल पदा करने वा बस्तियो में बदल जाते हैं, जैसे कि, मिसाल के लिये, आस्ट्रेलिया ऊन पैदा करने वाले उपनिवे में बदल गया है।[1] एक नया और अतरराष्ट्रीय श्रम विभाजन हो जाता है, जो आधुनिक उद्य के मुख्य केद्रो की आवश्यकताओ के अनुरूप होता है। यह श्रम विभाजन भूगोल के एक भा को मुख्यतया कृषि उत्पादन का क्षेत्र बना देता है, जो दूसरे भाग को, जो कि मुख्यत औद्योगिक क्षेत्र बना रहता है, कच्चा माल दिया करता है। इस विकास के साथ-साथ खेती कुछ मौलिक परिवतन हो जाते ह, जिनपर और विचार करने की फिलहाल आवश्यकता नहीं है।

मि० ग्लैड्स्टन के प्रस्ताव पर हाउस आफ कामस ने १७ फरवरी १८६७ को इ बात के आकडे तयार करने का आदेश दिया कि सयुक्ताराल राज्य में १८३१ और १८६६

हिंदुस्तान से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

१८४६	४५,७०,५८१ पौण्ड
१८६०	२,०२,१४,१७३ पौण्ड
१८६५	२,०६,७६,१११ पौण्ड

[1] केप प्रदेश से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

१८४६	२६,५८,४५७ पौण्ड
१८६०	१,६५,७४,३४५ पौण्ड
१८६५	२,९६,२०,६२३ पौण्ड

आस्ट्रेलिया से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

१८४६	२,१७,८९,३४६ पौण्ड
१८६०	५,९१,६६,६१६ पौण्ड
१८६५	१०,९७,३४,२६१ पौण्ड

"सयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक विकास खुद योरप के और विशेषकर इगलण्ड के आधुनिक उद्योग का फल है। अमरीका के सयुक्त राज्यो को उनके वतमान रूप में (१८६६ मे) अब भी योरप का उपनिवेश ही समझना चाहिये। [चौथे जमन सस्करण में जोडा गया फुटनोट तब से अब तक सयुक्त राज्य अमरीका दुनिया का दूसरे नम्बर का औद्योगिक देश बन गया है, परन्तु इससे भी उसका औपनिवेशिक स्वरूप पूरी तरह दूर नही हुआ है।— फ्रे० ए०]

सयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

१८४६	४०,१९,४६,३९३ पौण्ड
१८५२	७६,५६,३०,५४३ पौण्ड
१८५९	९६,१७,०७,२६४ पौण्ड
१८६०	१,११,५८ ९०,६०८ पौण्ड

बीच विभिन्न प्रकार के कुल कितने अनाज, मक्का और आटे का आयात हुआ और यहां से निर्यात किया गया है। इस जाच का जो नतीजा निकला, उसका सारांश मैं नीचे दे रहा हू। आटे की मात्रा ग़ल्ले के क्वाटरों में बदल दी गयी है। (देखिये पृ० ५१२।)

फैक्टरी-व्यवस्था में यकायक छलांग मारकर विस्तृत होने की जो प्रचण्ड शक्ति होती है, उसका तथा इस व्यवस्था के दुनिया की मण्डियो पर निर्भर रहने का लाजिमी नतीजा यह होता है कि उत्पादन अंधाधुंध होता है, जिसके फलस्वरूप मण्डियां माल से अट जाती हैं, और तब मण्डियो के सिकुड जाने के कारण उत्पादन को लकवा मार जाता है। आधुनिक उद्योग का जीवन सयत क्रियाशीलता, समृद्धि, अति-उत्पादन, सकट और ठहराव के एक क्रम का रूप धारण कर लेता है। मशीनो के कारण नौकरी के बारे में, और इसलिये मजदूरो के जीवन की परिस्थितियो में जो अनिश्चितता तथा अस्थिरता पदा हो जाती है, यह औद्योगिक चक्र के इन नियतकालिक परिवतनो के कारण उनके जीवन की सामान्य बात बन जाती है। समृद्धि के कालो को छोडकर पूजीपतियो के बीच सदा मण्डियो की, हिस्सा बाट के लिये अत्यन्त तीव्र सघर्ष चला करता है। हरेक का हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी पैदावार कितनी सस्ती है। इस सघर्ष से नयी नयी, सुधरी हुई मशीनो का इस्तेमाल करने के मामले में होड शुरू हो जाती है, ताकि उनसे श्रम शक्ति के स्थान पर काम लिया जा सके, और उत्पादन के नये तरीके इस्तेमाल करने के मामले में भी होड चलने लगती है। इसके अलावा, हर औद्योगिक चक्र के दौरान में एक ऐसा समय भी आता है, जब मालो को सस्ता करने के लिये मजदूरी को जबदस्ती घटाकर श्रम शक्ति के मूल्य से भी कम कर देने की कोशिश की जाती है।[1]

सयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को ग़ल्ले आदि का निर्यात

	१८५०	१८६२
गेहू (हण्ड्रेडवेट में)	१,६२,०२,३१२	४,१०,३३,५०३
जौ "	३६,६६,६१३	६६,२४,८००
जई "	३१,७४,८०१	४४,२६,६६४
रई "	३,८८,७४६	७,१०८
आटा "	३८,१९,४४०	७२,०७,११३
मोथी "	१,०५४	१९,५७१
मक्का "	५४,७३,१६१	१,१६,९४,८१८
Bere या bigg " (एक किस्म का जौ)	२,०३९	७,६७५
मटर "	८,११,६२०	१०,२४,७२२
सेम की फलिया "	१८,२२,९७२	२०,३७,१३७
कुल निर्यात	३,४३,६५,८०१	७,४०,८३,३५१

[1] लीसेस्टर के जूते बनाने वालों ने, जो तालाबन्दी के कारण बेरोजगार हो गये थे, जुलाई १८६६ में Trade Societies of England ("इंगलैण्ड की धंधों की समितियां") से एक अपील की थी। उसमें कहा गया था "बीस वर्ष हुए जब सीने के बजाय रिपट करने की प्रथा का

पचवर्षीय अवधियां और १८६६ का वर्ष

वार्षिक औसत	१८३१ – – १८३५	१८३६ – – १८४०	१८४१ – – १८४५	१८४६ – – १८५०	१८५१ – – १८५५	१८५६ – – १८६०	१८६१ – – १८६५	१८६६
आयात क्वाटरों में)	१०,९६,३७३	२३,८९,७२९	२८,४३,८६५	८७,७६,५५२	८३,४५,२३७	१,०९,१२,६१२	१,५०,०९,८७१	१,६४,५७,३४०
निर्यात	२,२५,३६३	२,५१,७७०	१,३९,०५६	१,५५,४६१	३,०७,४९१	३,४१,१५०	३,०२,७५४	२,१६,२१८
निर्यात से आयात का आधिक्य	८,७१,११०	२१,३७,९५९	२७,०४,८०९	८६,२१,०९१	८०,३७,७४६	१,०५,७२,४६२	१,४७,०७,११७	१,६२,४१,१२२
आबादी								
प्रत्येक काल का वार्षिक औसत	२,४६,२१,१०७	२,५९,२९,५०७	२,७२,६२,५६९	२,७७,९७,५९८	२,७५,७२,९२३	२,८३,९१,५४४	२,९३,८१,४६०	२,९९,३५,४०४
देशी पदावार के अलावा साल भर में फी आदमी औसतन और कितने गल्ले वगैरह का उपभोग हुआ (क्वाटरों में)	० ०३६	० ०८२	० ०९९	० ३१०	० २९१	० ३७२	० ५४३	० ५४३

इसलिये, फैक्टरी-मजदूरों की संख्या में वृद्धि होने की एक आवश्यक शर्त यह है कि मिलों में लगी हुई पूंजी की मात्रा में उससे कहीं अधिक तेजी के साथ वृद्धि हो। किंतु पूंजी की वृद्धि औद्योगिक चक्र के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करती है। इसके अलावा, समय-समय पर यह वृद्धि प्राविधिक प्रगति के कारण रुक जाती है, क्योंकि यदि एक समय प्राविधिक प्रगति एक तरह से नये मजदूरों का काम करती है, तो दूसरे समय वह पुराने मजदूरों को सचमुच विस्थापित कर देती है। यान्त्रिक उद्योग में इस प्रकार जो गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, उनके कारण लगातार फैक्टरी के मजदूरों को जवाब मिलता रहता है या नये मजदूरों के लिये फैक्टरी के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। इसके विपरीत, जब फैक्टरियों का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तब न केवल उन मजदूरों को फिर से काम मिल जाता है, जिनको पहले जवाब मिल गया था, बल्कि मजदूरों के नये जत्थे भी रोजी पा जाते हैं। इस प्रकार, मजदूरों के आकर्षण और प्रतिकर्षण, दोनों प्रकार की क्रिया लगातार चलती रहती है। उन्हें कभी इसका सहारा लेना पड़ता है, तो कभी उसका। और इसके साथ-साथ औद्योगिक सेना के सिपाहियों के लिंग, आयु तथा निपुणता में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं।

आरम्भ हुआ, तो लीसेस्टर के जूता के धंधे में क्रांति हो गयी। उन दिनों अच्छी मजदूरी कमायी जा सकती थी। अलग अलग फर्मों के बीच सबसे अधिक साफ सुथरा माल तैयार करने की बड़ी होड़ चलती थी। किंतु उसके कुछ समय बाद ही एक ज्यादा खराब किस्म की होड़ होने लगी। इस बात की होड़ होने लगी कि देखें, कौन किससे कम भाव पर बाजार में अपना माल बेच सकता है। इसके खतरनाक नतीजे जल्द ही इस शक्ल में सामने आये कि मजदूरी में कटौतियां होने लगीं। श्रम के दामों में इतनी तेजी से गिराव आया कि आजकल बहुत सी फर्में पुराने दिनों की केवल आधी मजदूरी देती हैं। और फिर भी, यद्यपि मजदूरी बराबर नीचे गिरती जा रही है, तथापि मुनाफे मजदूरी की दर में होने वाले हर परिवर्तन के साथ बढ़ते हुए लगते हैं।" — जब व्यवसाय के लिये मंदी का वक्त आता है, तब उससे भी कारखानेदार फायदा उठाते हैं। वे मजदूरी को हद से ज्यादा कम करके, यानी मजदूर के जीवन निर्वाह के साधनों को प्रत्यक्ष रूप से लूटकर, असाधारण मुनाफे कमाने की कोशिश करते हैं। एक उदाहरण देखिये (इसका कोवेण्ट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग के संकट से सम्बंध है): "मुझे मजदूरों के साथ-साथ कारखानेदारों से भी जो सूचना मिली है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता या अन्य कारणों से मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, उससे कहीं अधिक कटौती कर दी गयी है... अधिकतर बुनकर पहले से ३० से ४० प्रतिशत तक कम मजदूरी पर काम कर रहे हैं। पांच साल पहले फीते के जिस टुकड़े को बनाने के लिये बुनकर को ६ शिलिंग या ७ शिलिंग मिल जाते थे, अब उसके लिये केवल ३ शिलिंग ३ पेंस या ३ शिलिंग ६ पेंस मिलते हैं। अन्य प्रकार के काम की मजदूरी आजकल २ शिलिंग या २ शिलिंग ३ पेंस है, पहले वह ४ शिलिंग और ४ शिलिंग ३ पेंस थी। मांग को बढ़ाने के लिये मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, मालूम होता है, उससे अधिक कटौती कर दी गयी है। वास्तव में अनेक प्रकार के फीतों की बुनाई के खर्चे में जो कमी आ गयी है, निश्चय ही उसके साथ साथ तैयार माल के बाजार-भाव में उसके अनुरूप कमी नहीं की गयी है।" (मि० एफ० डी० लांगे की रिपोर्ट, *Ch Emp Com V Rep 1866* ['बाल सेवायोजन आयोग की पांचवीं रिपोर्ट, १८६६'], पृ० ११४, अंक १।)

पचवर्षीय अवधियां और १८६६ का वर्ष

वार्षिक औसत	१८३१ – – १८३५	१८३६ – – १८४०	१८४१ – – १८४५	१८४६ – – १८५०	१८५१ – – १८५५	१८५६ – – १८६०	१८६१ – – १८६५	१८६६
आयात (क्वार्टरों में)	१०,९६,३७३	२३,८९,७२९	२८,४३,८६५	८७,७६,५५२	८३,४५,२३७	१,०९,१२,६१२	१,५०,०९,८७१	१,६४,५७,३४०
निर्यात	२,२५,२६३	२,५१,७७०	१,३९,०५६	१,५५,४६१	३,०७,४९१	३,४१,१५०	३,०२,७५४	२,१६,२१८
निर्यात से आयात का आधिक्य	८,७१,११०	२१,३७,९५९	२७,०४,८०९	८६,२१,०९१	८०,३७,७४६	१,०५,७२,४६२	१,४७,०७,११७	१,६२,४१,१२२
आबादी								
प्रत्येक काल का वार्षिक औसत	२,४६,२१,१०७	२,५९,२९,५०७	२,७२,६२,५६९	२,७७,९७,५९८	२,७५,७२,९२३	२,८३,९१,५४४	२,९३,८१,४६०	२,९९,३५,४०४
देशी पैदावार के अलावा साल भर में फी आदमी औसतन और कितने गल्ले वग़ैरह का उपभोग हुआ (क्वार्टरों में)	० ०३६	० ०८२	० ०९९	० ३१०	० २९१	० ३७२	० ५४३	० ५४३

इसलिये, फक्टरी-मजदूरो की सख्या में वृद्धि होने की एक आवश्यक शत यह है कि मिलो में लगी हुई पूजी की मात्रा में उससे कहीं अधिक तेजी के साथ वृद्धि हो। कितु पूजी की वद्धि औद्योगिक चक्र के उतार चढाव पर निभर करती है। इसके अलावा, समय समय पर यह वद्धि प्राविधिक प्रगति के कारण रुक जाती है, क्योकि यदि एक समय प्राविधिक प्रगति एक तरह से नये मजदूरो का काम करती है, तो दूसरे समय वह पुराने मजदूरो को सचमुच विस्थापित कर देती है। यात्रिक उद्योग में इस प्रकार जो गुणात्मक परिवतन होते ह, उनके कारण लगातार फक्टरी के मजदूरो को जवाब मिलता रहता है या नये मजदूरो के लिये फक्टरी के दरवाजे बद हो जाते ह। इसके विपरीत, जब फैक्टरियो का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तब न केवल उन मजदूरो को फिर से काम मिल जाता है, जिनको पहले जवाब मिल गया था, बल्कि मजदूरो के नये जत्थे भी रोजी पा जाते ह। इस प्रकार, मजदूरो के आकर्षण और प्रतिकषण, दोनो प्रकार की क्रिया लगातार चलती रहती है। उन्हे कभी इसका सहारा लेना पडता है, तो कभी उसका। और इसके साथ-साथ औद्योगिक सेना के सिपाहियो के लिग, आयु तथा निपुणता में लगातार परिवतन होते रहते ह।

आरम्भ हुआ, तो लीसेस्टर के जूता के धधे मे क्राति हो गयी। उन दिनो अच्छी मजदूरी कमायी जा सकती थी। अलग अलग फर्मो के बीच सबसे अधिक साफ सुथरा माल तैयार करने की बडी होड चलती थी। कितु उसके कुछ समय बाद ही एक ज्यादा खराब किस्म की होड होने लगी। इस बात की होड होने लगी कि देखें, कौन किससे कम भाव पर बाजार में अपना माल बेच सकता है। इसके खतरनाक नतीजे जल्द ही इस शकल म सामने आये कि मजदूरी मे कटौतिया होने लगी। श्रम के दामा मे इतनी तेजी से गिराव आया कि आजकल बहुत सी फर्में पुराने दिना की केवल आधी मजदूरी देती है। और फिर भी, यद्यपि मजदूरी बराबर नीचे गिरती जा रही है, तथापि मुनाफे मजदूरी की दर म होने वाले हर परिवतन के साथ बढते हुए लगते है।" – जब व्यवसाय के लिये मदी का वक्त आता है, तब उससे भी कारखानेदार फायदा उठाते है। वे मजदूरी का हद से ज्यादा कम करके, यानी मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधना को प्रत्यक्ष रूप से लूटकर, असाधारण मुनाफे कमाने की कोशिश करते है। एक उदाहरण देखिये (इसका कोवण्ट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग के सकट से सम्बध है) "मुझे मजदूरा के साथ साथ कारखानेदारो से भी जो सूचना मिली है, उससे इस बात मे कोई सदेह नही रह जाता कि विदेशी उत्पादका की प्रतियोगिता या अय कारणा से मजदूरी मे जितनी कटौती करना आवश्यक था, उससे कही अधिक कटौती कर दी गयी है अधिकतर बुनकर पहले से ३० से ४० प्रतिशत तक कम मजदूरी पर काम कर रहे है। पाच साल पहले फीते के जिस टुकडे को बनाने के लिय बुनकर को ६ शिलिग या ७ शिलिग मिल जाते थे, अब उसके लिये केवल ३ शिलिग ३ पेंस या ३ शिलिग ६ पेंस मिलते है। अय प्रकार के काम की मजदूरी आजकल २ शिलिग या २ शिलिग ३ पेंस है, पहले वह ४ शिलिग और ४ शिलिग ३ पेस थी। माग का बढाने के लिये मजदूरी मे जितनी कटौती करना आवश्यक था, मालूम होता है, उससे अधिक कटौती कर दी गयी है। वास्तव मे अनेक प्रकार के फीता की बुनाई के खर्च में जो कमी आ गयी है, निश्चय ही उसके साथ साथ तैयार माल के बाजार भाव में उसके अनुरूप कमी नही की गयी है।" (मि० एफ० डी० लोगें की रिपोट, *Ch Emp Com V Rep 1866* ['बाल सेवायोजन आयोग की पाचवी रिपोट, १८६६'], पृ० ११४, अक ११)

फैक्टरी मजदूरो के भाग्य की कुछ जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि इगलण्ड के सूती उद्योग के इतिहास का जल्दी से सिहावलोकन कर डाला जाये।

१७७० से लेकर १८१५ तक इस धधे में केवल ५ वर्ष के लिये मदी या ठहराव रहा। ४५ वर्ष के इस काल में अग्रेज कारखानेदारो का मशीनों पर और दुनिया की मण्डिया पर एकाधिकार था। १८१५ से १८२१ तक मन्दी रही। १८२२ और १८२३ समृद्धि के वर्ष थे। १८२४ में ट्रेड-यूनियनो के खिलाफ बनाये गये क़ानूनो को रद्द कर दिया गया और हर जगह फक्टरियो का बडा विस्तार हुआ। १८२५ में सकट आया। १८२६ में फक्टरी-मजदूरो की हालत बहुत खराब हो गयी और जगह जगह पर मजदूरो के उपद्रव हुए। १८२७ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ। १८२८ में शक्ति से चलने वाले करघो की सख्या में और निर्यात में भारी वृद्धि हुई। १८२९ में निर्यात, खास कर हिन्दुस्तान को जाने वाला निर्यात, पिछले सभी वर्षों से बढ गया। १८३० में मण्डिया माल से अट गयीं और हर तरफ मुसीबत आ गयी। १८३१ से १८३३ तक लगातार मदी रही और ईस्ट इण्डिया कम्पनी से हिन्दुस्तान और चीन के साथ व्यापार करने का एकाधिकार छीन लिया गया। १८३४ में फक्टरियो और मशीनो की सख्या में भारी वृद्धि हुई और मजदूरो की कमी हुई। ग़रीबो के बारे में जो नया कानून बना, उससे खेतिहर मजदूरो को औद्योगिक डिस्ट्रिक्टो में जाकर बस जाने के लिये बढ़ावा मिला। देहाती इलाके बच्चो से खाली हो गये। लडकियो से वेश्या-वृत्ति कराने के लिये उनकी बिक्री शुरू हो गयी। १८३५ महान समृद्धि का वर्ष था, पर इसी समय हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकर भूखो मर रहे थे। १८३६ महान समृद्धि का वर्ष था। १८३७ और १८३८ मदी और सकट के वर्ष थे। १८३९ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८४० में भयानक मदी आयी और ऐसे भयकर मजदूर उपद्रव हुए, जिनको दबाने के लिये सेना को बुलाना पडा। १८४१ और १८४२ में फैक्टरी मजदूरो को भयानक कष्ट उठाना पडा। १८४२ में कारखानेदारो ने ग़ल्ले के क़ानून को मसूख कराने के लिये फक्टरियो में ताले डाल दिये। मजदूर हजारो की सख्या में लकाशायर और याकशायर के शहरो में भर गये। वहा से फौज ने उन्हें जबदस्ती बाहर निकाला, और उनके नेताओ पर लाक्स्टर में मुकदमा चलाया गया। १८४३ बडी मुसीबत का वर्ष था। १८४४ में फिर पुनरुत्थान हुआ। १८४५ में महान समृद्धि का काल आया। १८४६ में शुरू में स्थिति का सुधरना जारी रहा, फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी, ग़ल्ले के कानून मसूख कर दिये गये। १८४७ में सकट आया, big loaf" ("मोटी रोटी") के सम्मान में मजदूरी में सामान्य रूप से १० प्रतिशत और उससे भी अधिक की कटौती कर दी गयी। १८४८ में मदी जारी रही, मानचेस्टर सनिक सरक्षण में रहा। १८४९ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८५० में समृद्धि का समय आया। १८५१ में दाम गिरे, मजदूरी गिरी और अक्सर हडतालें हुईं। १८५२ में परिस्थिति सुधरनी शुरू हुई, पर हडतालें जारी रहीं, कारखानेदारो ने धमकी दी कि वे विदेशो से मजदूर बुला लेंगे। १८५३ में निर्यात बढने लगे, ८ महीने तक हडताल चली और प्रेस्टन में मजदूरो को भयानक ग़रीबी का सामना करना पडा। १८५४ में फिर समृद्धि का समय आ गया और मण्डिया माल से अट गयीं। १८५५ में बराबर सयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और पूरब की मण्डियो से लोगो के दिवाले निकलने की खबरें आती रहीं। १८५६ महान समृद्धि का वर्ष रहा। १८५७ में सकट आया। १८५८ में कुछ सुधार हुआ। १८५९ में फिर महान समृद्धि का समय आया, फक्टरियो की सख्या में वृद्धि हो गयी। १८६० में इगलैण्ड का सूती धधा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुचा, इस साल हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया

तथा अन्य देशो की मण्डिया माल से इस बुरी तरह अट गयीं कि १८६३ तक भी वे इस माल को पूरी तरह हजम नहीं कर सकीं, व्यापार की फ्रासीसी सधि सम्पन्न हुई, फक्टरियो और मशीनो की सख्या में बहुत भारी वृद्धि हुई। १८६१ में कुछ समय तक समद्धि जारी रही, फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, अमरीका का गृह-युद्ध छिड गया, कपास का अकाल पड गया। १८६२ से १८६३ तक व्यवसाय पूरी तरह चौपट रहा।

कपास के अकाल का इतिहास इतना अर्थपूर्ण है कि उसपर थोडा विचार किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। १८६० और १८६१ में दुनिया की मण्डियो की हालत की जो अलामत देखने को मिली थीं, उनसे पता चलता है कि कारखानेदारो के दृष्टिकोण से कपास का अकाल बिल्कुल ठीक समय पर आया था, और उन्हें कुछ हद तक उससे लाभ हुआ था। इस तथ्य को मानचेस्टर की व्यापार-परिषद (चेम्बर आफ कामस) की रिपोर्टों में स्वीकार किया गया, पालमस्टन और डरबी ने ससद में उसकी घोषणा की और घटनाओं ने उसे प्रमाणित कर दिया।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि सयुक्तागल राज्य में १८६१ में जो २,८८७ सूती मिलें थीं, उनमें से अनेक का आकार छोटा था। मि० ए० रेड्ग्रेव की रिपोट के मुताबिक, उनके जिले में जो २,१०६ मिलें थीं, उनमें से ३९२ – या १९ प्रतिशत – में प्रति मिल दस अश्व शक्ति से कम, ३४५ – या १६ प्रतिशत – में प्रति मिल १० अश्व शक्ति या उससे अधिक, पर २० अश्व शक्ति से कम ताकत इस्तेमाल होती थी और १,३७२ मिले २० अश्व शक्ति या उससे अधिक ताकत का प्रयोग करती थीं।[2] छोटी मिलो में से अधिकतर इससे ज्यादा कुछ नहीं थीं कि वहा छप्पर डालकर बुनाई का इतजाम कर दिया गया था। १८५८ के बाद जब समद्धि का काल आया था, तब इन्हें बनवाया गया था। इनमें से ज्यादातर सट्टेबाजो द्वारा बनवायी गयी थीं। एक सट्टेबाज सूत लाता था, दूसरा मशीनें और तीसरा मकान खडा कर देता था। और उनको चलाते थे लोग थे, जो मिलो में overlookers (फोरमन) रह चुके थे, या कम साधनो वाले ऐसे ही लोग। इन छोटे छोटे कारखानेदारो में से अधिकतर का जल्दी ही दिवाला निकल गया। उस व्यापारिक सकट में भी उनका यही हाल हुआ होता, जो केवल कपास के अकाल के कारण रुक गया था। यद्यपि कारखानेदारो की कुल सख्या का एक तिहाई भाग इन छोटे छोटे कारखानेदारो का था, तथापि उनकी मिलों में सूती धधे में लगी हुई कुल पूजी का अपेक्षाकृत बहुत छोटा भाग ही लगा हुआ था। जहा तक काम के बीच में रुक जाने का सवाल है, प्रामाणिक अनुमानो से प्रतीत होता है कि अक्तूबर १८६२ में ६०.३ प्रतिशत तकुए और ५८ प्रतिशत करघे बेकार खडे थे। ये आकडे पूरे सूती धधे के सम्बध में ह, और जाहिर है कि अलग अलग डिस्ट्रिक्टो की स्थिति जानने के लिये उनमें काफी सशोधन करना होगा। बहुत कम मिलें पूरे समय (६० घण्टे प्रति सप्ताह) काम करती थीं। बाक़ी रुक-रुककर चलती थीं। जिन चन्द मिलो में पूरे समय काम होता था और आम तौर पर कार्यानुसार मजदूरी मिलती थी, उनमें भी मजदूरो की मजदूरी अनिवाय रूप से कम हो गयी थी। इसका कारण यह था कि अच्छी कपास की जगह पर खराब क़िस्म की कपास इस्तेमाल होने लगी थी, जसे (महीन सूत कातने वाली मिलो में) Sea Island की कपास की जगह पर मिश्री कपास, अमरीकी और मिश्री कपास की

---

[1] देखिये *Reports of Insp of Fact 31st October 1862* ('फक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ३०।

[2] उप० पु०, पृ० १९।

जगह पर सूरत की कपास और शुद्ध कपास की जगह पर सूरत की कपास तथा रद्दी कपास को मिलाकर इस्तेमाल किया जाने लगा था। सूरत की कपास का रेशा छोटा था और वह काफी गदी हालत में आती थी। उसका धागा ज्यादा कमजोर होता था। ताने में माडी लगाने के लिए जो आटा इस्तेमाल होता था, उसकी जगह पर तरह-तरह के दूसरे मोटे तत्त्व इस्तेमाल किये जाने लगे थे। इन सब कारणो से मशीनो की रफ्तार कम हो गयी थी, या एक बुनकर अब पहले जितने करघो की देखभाल नहीं कर पाता था, और मशीनो में पाये जाने वाले दोषो के कारण जो श्रम करना पडता था, उसमें भी वृद्धि हो गयी थी। इन सब कारणो से पहले से कम मात्रा में पदावार होने लगी थी और उसके फलस्वरूप कार्यानुसार मिलने वाली मजदूरी कम हो गयी थी। जब सूरती कपास इस्तेमाल की जाती थी, तब पूरे समय काम करने वाले मजदूरो को २० प्रतिशत, ३० प्रतिशत या उससे भी अधिक का नुकसान होता था। किन्तु, इसके अलावा, अधिकतर कारखानेदारो ने वसे भी कार्यानुसार मजदूरी की दर में ५, ७ $\frac{१}{२}$ और १० प्रतिशत तक की कटौती कर दी थी। इसलिये हम उन मजदूरो की दशा की कल्पना कर सकते ह, जिनसे सप्ताह में केवल ३ दिन, ३ $\frac{१}{२}$ दिन या ४ दिन अथवा दिन भर में केवल ६ घण्टे काम कराया जाता था। १८६३ तक स्थिति में कुछ सुधार हो गया था। पर उस वर्ष भी कताई करने वाले मजदूरो और बुनकरो की साप्ताहिक मजदूरी ३ शिलिंग ४ पेंस, ३ शिलिंग १० पेंस, ४ शिलिंग ६ पेंस और ५ शिलिंग १ पेंस थी।[1] लेकिन इस अत्यत शोचनीय स्थिति में भी मिल मालिक की आविष्कारक प्रतिभा ने कभी विश्राम नहीं किया। वह निरतर मजदूरी में कटौती करने की नयी नयी तरकीबें निकालता रहा। ये कटौतिया कुछ हद तक तयार वस्तु में पायी जाने वाली खराबियो के बहाने से की जाती थीं, हालांकि, असल में, ये खराबिया मिल मालिक की खराब कपास और अनुपयुक्त मशीनो के कारण पैदा होती थीं। इसके अलावा, जहां कहीं मजदूरो के रहने के घरों का मालिक भी कारखानेदार ही होता था, वहा वह उनकी तुच्छ मजदूरी में से पैसे काटकर अपना किराया वसूल कर लेता था। मि० रेडग्रव बताते ह कि स्वचालित म्यूलो की एक जोडी की देखरेख करने वाले मजदूर (self acting minders) "पूरे एक पखवारे तक काम करके ८ शिलिंग ११ पेंस कमाते थे और इस रकम में से घर का किराया काट लिया जाता था। लेकिन कारखानेदार उनपर मेहरबानी करके आधा किराया लौटा देता था। मजदूरो को ६ शिलिंग ११ पेंस की रकम मिलती थी। बहुत सी जगहो में १८६२ के अंतिम दिनों में स्वचालित म्यूलो की जोडी की देखरेख करने वाले मजदूरो की आमदनी ५ शिलिंग से लेकर ९ शिलिंग प्रति सप्ताह तक और बुनकरो की २ शिलिंग से लेकर ६ शिलिंग तक बठती थी।" मजदूर जब कम समय काम करते थे, तब भी उनकी मजदूरी में से किराये की रकम अक्सर काट ली जाती थी।[3] इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, यदि लकाशायर के कुछ हिस्सो में भूख से पदा होने वाले एक तरह के बुखार ने महामारी का रूप धारण कर

---

[1] *Rep Insp of Fact, 31st October 1863* ('फैक्टरियो के इंसपेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'), पृ० ४१-४५।

[2] उप० पु०, पृ० ४१-४२।

[3] उप० पु०, पृ० ५७।

लिया था। पर इन तमाम बातो से अधिक अथपूण वह क्राति है, जो मजदूरो की कीमत पर उत्पादन की क्रिया में हुई। जसे शरीर रचना विज्ञान के विशेषज्ञ मेंढको पर प्रयोग करते ह, वैसे ही इन मजदूरो के शरीरो पर प्रयोग (experimenta in corpore vili) किये गये। मि० रेडग्रव ने बताया है "यद्यपि मने यहा पर कई मिलो के मजदूरो की वास्तविक कमाई का उल्लेख किया है, परतु इसका यह अथ नहीं है कि वे लगातार हर सप्ताह यही रकम कमाते ह। कारखानेदार लोग जो तरह-तरह के प्रयोग लगातार किया करते ह, उनकी वजह से मजदूरो को बडे उतार-चढाव का शिकार होना पडता है कपास में जसी मिलावट होती है, उसके अनुसार उनकी कमाई घटती बढती रहती है। कभी कभी उसमें और उनकी पुराने दिनो की कमाई में केवल १५ प्रतिशत का ही अतर रह जाता है, और फिर एक दो सप्ताह के भीतर ही उसमें ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक की कमी आ जाती है।"[1] ये प्रयोग केवल मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनो को कम करके ही नहीं किये जाते थे। मजदूर की पाचो इद्रियो को भी इसका दण्ड भुगतना पडता था। "जो लोग सूरती कपास से कताई करते ह, उनको बहुत ज्यादा शिकायतें ह। उन्होंने मुझे बताया है कि कपास की गाठें खोलने पर उनमें से एक असहनीय बदबू निकलती है, जिससे मजदूरो को कै होने लगती है कपास मिलाने, तूमने और धुनने के कमरो में जो धूल और गदगी उसमें से निकलती है, वह मुह, नाक, आखो और कानो में विकार पैदा कर देती है, और मजदूरो को खासी हो जाती है तथा सास लेने में कठिनाई होने लगती है। मजदूरो में चम रोग भी पाया जाता है, जो इसमें सदेह नहीं कि सूरती कपास की गदगी से पदा होने वाले विकार से फैलता है इस कपास का रेशा बहुत छोटा होने के कारण वनस्पति से बनी और चमडे से बनी दोनो प्रकार की माडी बहुत अधिक मात्रा में इस्तेमाल की जाती है धूल के कारण ब्राकाइटिस की बीमारी बहुत होती है। इसी कारण अक्सर गला दुखने लगता है और सूज जाता है। बाना अक्सर टूटता रहता है, और हर बार बुनकर को ढरकी के छेद में मुह लगाकर बाने को बाहर खींचना पडता है। इससे मतली और मदाग्नि हो जाती है।" दूसरी ओर, आटे की जगह पर जो अधिक भारी पदाथ इस्तेमाल किये जाते थे, वे कारखानेदारो के लिये फारचुनेटस की थली बन गये थे, क्योकि उनसे सूत का वजन बढ गया था। इन पदार्थों के कारण "कताई के बाद १५ पौण्ड कच्चे माल का वजन २६ पौंड हो जाता था।" फक्टरियो के इस्पेक्टरो की ३० अप्रल १८६४ की रिपोट में हमें यह पढने को मिलता है "इस व्यवसाय में इस खास तरकीब से आजकल इतना ज्यादा फायदा उठाया जा रहा है कि वह निन्द्य है। ८ पौण्ड वजन के एक कपडे के बारे में मुझे एक अधिकारी व्यक्ति से यह मालूम हुआ कि उसमें $५\frac{१}{२}$ पौण्ड कपास और $२\frac{३}{४}$ पौण्ड माडी लगी है। एक और कपडा है, जिसका वजन $५\frac{१}{४}$ पौण्ड है और जिसमें २ पौण्ड माडी लगी है। ये दोनो विदेशो को भेजने के लिये बनाये गये कमीजो के साधारण कपडे थे। दूसरी किस्मो के कपडो में कभी-कभी ५० प्रतिशत तक माडी जोड दी जाती थी। कारखानेदार यहा तक कह सकता था—और वह अक्सर इसकी डींग मारा करता था—कि उसने जिस भाव पर सूत खरीदा था, अपना कपडा वह उससे भी

[1] उप० पु०, पृ० ५०-५१।
[2] उप० पु०, प० ६२ ६३।

कम भाव पर बेचता है और फिर भी धनी हुआ जाता है।"[1] लेकिन केवल मिलों के अदर मिल मालिको और बाहर नगरपालिकाओ द्वारा किये जाने वाले प्रयोगा, मजदूरी में कटौतियो और बेरोजगारी, अभाव और भीख की रोटी और हाउस आफ लाडस तथा हाउस आफ कामस के प्रशस्ति भाषणो के कारण ही मजदूरो को दुख उठाना नहीं पडता था। "वे अभागी नारिया, जो कपास के अकाल के फलस्वरूप अकाल आरम्भ होते ही बेकार हो गयी थीं, समाज से बहिष्कृत हो गयी ह, और अब हालाकि व्यवसाय में फिर से जान पड गयी है और काम की भी कोई कमी नहीं है, पर वे आज भी उसी अभागी श्रेणी की सदस्याए बनी हुई ह और आगे भी उनके इसी श्रेणी में पडे रहने की सम्भावना है। नगर में कम-उम्र वेश्याओं की सख्या जितनी आजकल बढ गयी है, उतनी मने पिछले २५ वष में कभी नहीं देखी थी।"

इस तरह हम देखते हैं कि १७७० से १८१५ तक—इगलण्ड के सूती व्यवसाय के पहले ४५ वर्षों में—केवल ५ वष सक्ट और ठहराव के थे। परन्तु यह एकाधिकार का काल था। १८१६ से १८६३ तक का दूसरा काल ४८ वष का था। उसमें से २८ वष मदी और ठहराव के वष थे, और उनके मुकाबले में केवल २० वष व्यवसाय के पुनरुत्थान और समृद्धि के थे। १८१५ और १८३० के बीच योरपीय महाद्वीप और सयुक्त राष्ट्र अमरीका से प्रतियोगिता छिड गयी। १८३३ के बाद "मनुष्य-जाति का विनाश करके" (हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले हिन्दुस्तानी बुनकरो की पूरी की पूरी आबादी को मिटाकर) एशिया की मण्डियो का बलपूर्वक विस्तार किया गया है। गल्ले के क़ानूनो के रद्द कर दिये जाने के बाद, १८४६ से १८६३ तक, ७ वष यदि साधारण क्रियाशीलता और समृद्धि का काल रहता है, तो ९ वष मदी और ठहराव में गुजरते हैं। समृद्धि के वर्षों में भी वयस्क पुरुष मजदूरो की क्या दशा रहती थी, इसका कुछ ज्ञान नीचे दिये गये फुटनोट से प्राप्त हो सकता है।[3]

---

[1] *Rep, &c, 30th April 1864* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६४'), पृ० २७।

[2] बोल्टन के चीफ कास्टेबल, मि० हैरिस के एक पत्र से। देखिये "*Rep of Insp of Fact, 31st October, 1865* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ६१ ६२।

[3] लकाशायर आदि के फैक्टरी-मजदूरो ने सगठित परावास का आयोजन करने वाली एक सस्था बनाने के उद्देश्य से १८६३ में एक अपील प्रकाशित की थी। इस अपील में हमे यह पढने को मिलता है "इस बात से तो अब इने गिने लोग ही इनकार करेंगे कि मजदूरा को उनकी मौजूदा तबाह हालत से ऊपर उठाने के लिये यह बिल्कुल ज़रूरी है कि बडे पैमाने पर उनके परावास की व्यवस्था की जाये। लेकिन यह स्पष्ट करने के लिये कि परावास के एक निरन्तर प्रवाह की हर घडी आवश्यकता रहती है और उसके बिना साधारण काल में भी मजदूरो के लिये अपनी स्थिति को बनाये रखना असम्भव हो जाता है, हम निम्नलिखित तथ्यो की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं १८१४ में जो सूती सामान विदेशो को भेजा गया था, उसका सरकारी मूल्य १,७६,६५,३७८ पौण्ड था, जब कि बाजार मे वह असल मे २,००,७०,८२४ पौण्ड की कीमत पर बेचा जा सकता था। १८५८ मे जो सूती सामान विदेशो को भेजा गया, उसका सरकारी मूल्य १८,२२,२१,६८१ पौण्ड था, लेकिन उसका वास्तविक मूल्य, या वह मूल्य, जिसपर, उसे बाजार मे बेचा जा सकता था, केवल ४,३०,०१,३२२ पौण्ड था। यानी पहले से दस गुना सामान अधिक पुरानी कीमत के दुगने से थोडे ज्यादा दाम लेकर बेच दिया

अनुभाग ८ – आधुनिक उद्योग द्वारा हस्तनिर्माण, दस्तकारियो और घरेलू उद्योग मे की गयी क्रान्ति

(क) दस्तकारी और श्रम विभाजन पर आधारित सहकारिता का पतन

हम यह देख चुके हैं कि दस्तकारियो पर आधारित सहकारिता को और दस्तकारी श्रम के विभाजन पर आधारित हस्तनिर्माण को मशीनें किस तरह समाप्त कर देती है। पहले ढग की मिसाल है घास काटने की मशीन। वह घास काटने वाले व्यक्तियो की सहकारिता का स्थान ले लेती है। दूसरे ढग की एक अच्छी मिसाल है सुइया बनाने की मशीन। ऐडम स्मिथ के अनुसार, उनके जमाने में १० आदमी सहकार करते हुए एक दिन में ४८,००० से अधिक सुइया तैयार कर देते थे। दूसरी ओर, सुइया बनाने की एक अकेली मशीन ११ घण्टे के काम के दिन में १,४५,००० सुइया बना डालती है। एक औरत या लडकी ऐसी चार मशीनो की देखभाल करती है, और इस तरह वह दिन भर में लगभग ६,००,००० सुइया या एक सप्ताह में ३०,००,००० से अधिक सुइया तयार कर देती है।[1] जब कोई मशीन सहकारिता या हस्तनिर्माण का स्थान ले लेती है, तब इस तरह की एक अकेली मशीन दस्तकारी के ढग के उद्योग का खुद एक आधार बन सकती है। फिर भी दस्तकारी की ओर इस तरह लौटकर भी महज फ़क्टरी व्यवस्था की ओर ही कदम बढाया जाता है, और जैसे ही मशीनो को चलाने के लिये मानव-मास-पेशियो के बजाय भाप

गया था। सामान्य रूप से देश के लिये और विशेष रूप से फैक्टरी मजदूरो के लिये यदि इतना अहितकर परिणाम हुआ, तो उसके पीछे कई कारण मिलकर काम कर रहे थे। अगर परिस्थितिया इजाजत देती, तो हम इन कारणो को अधिक स्पष्टता के साथ आपके सामने रखते। बहरहाल, अभी इतना ही कह देना काफी है कि इनमें से सबसे स्पष्ट कारण यह है कि श्रम का निरतर आधिक्य रहता है। यदि यह न होता, तो ऐसा सत्यानाशी व्यवसाय, जिसे नष्ट होने से बचाने के लिये एक निरतर बढती हुई मण्डी की आवश्यकता होती है, कभी जारी न रह पाता। वतमान व्यवस्था मे व्यवसाय मे समय-समय पर आने वाला ठहराव उतना ही अवश्यम्भावी होता है, जितनी मौत, और इन ठहरावो से हमारी सूती मिला मे ताला पड सकता है। लेकिन मानव-मस्तिष्क निरतर काम करता रहता है, और यद्यपि हमारा विश्वास है कि जब हम यह कहते है कि पिछले २५ वर्षों मे ६० लाख व्यक्ति इस देश को छोडकर चले गये है, तब हम वास्तविकता को कुछ कम करके ही पेश कर रहे है, तथापि जनसख्या मे जो प्राकृतिक वृद्धि होती रहती है और पैदावार को सस्ता करने के लिये श्रम का जो विस्थापन होता रहता है, उसके कारण अधिक से अधिक समृद्धि के दिनो मे भी वयस्क पुरुषो की एक बडी भारी सख्या को फैक्टरियो में किसी भी शत पर काम नही मिलता।" (*Reports of Insp of Fact 30th April 1863* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ५१ ५२।) बाद के एक अध्याय में हम देखेंगे कि जब सूती व्यवसाय पर सकट आया था, उन दिना हमारे मित्र कारखानेदारो ने मजदूरो के परावास को रोकने के लिये हर मुमकिन कोशिश की थी और यहा तक कि राज्य के हस्तक्षेप का भी सहारा लिया था।

[1] *Ch Empl Comm III Report 1864* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोट, १८६४'), पृ० १०८, अक ४४७।

कम भाव पर बेचता है और फिर भी धनी हुआ जाता है।"[1] लेकिन केवल मिलो के अन्दर मिल-मालिको और बाहर नगरपालिकाओ द्वारा किये जाने वाले प्रयोगो, मजदूरी में कटौतियो और बेरोजगारी, अभाव और भीख की रोटी और हाउस आफ लाडस तथा हाउस आफ कामस के प्रशस्ति भाषणो के कारण ही मजदूरो को दुख उठाना नहीं पडता था। "वे अभागी नारिया, जो कपास के अकाल के फलस्वरूप अकाल आरम्भ होते ही बेकार हो गयी थीं, समाज से बहिष्कृत हो गयी ह, और अब हालाकि व्यवसाय में फिर से जान पड गयी है और काम की भी कोई कमी नहीं है, पर वे आज भी उसी अभागी श्रेणी की सदस्याए बनी हुई ह और आगे भी उनके इसी श्रेणी में पडे रहने की सम्भावना है। नगर में कम-उम्र वेश्याओ की सख्या जितनी आजकल बढ गयी है, उतनी मने पिछले २५ वष में कभी नहीं देखी थी।"[2]

इस तरह हम देखते ह कि १७७० से १८१५ तक – इगलण्ड के सूती व्यवसाय के पहले ४५ वर्षो में – केवल ५ वष सकट और ठहराव के थे। परतु यह एकाधिकार का काल था। १८१६ से १८६३ तक का दूसरा काल ४८ वष का था। उसमें से २८ वष मदी और ठहराव के वष थे, और उनके मुकाबले में केवल २० वष व्यवसाय के पुनरुत्थान और समद्धि के थे। १८१५ और १८३० के बीच योरपीय महाद्वीप और सयुक्त राष्ट्र अमरीका से प्रतियोगिता छिड गयी। १८३३ के बाद "मनुष्य जाति का विनाश करके" (हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले हिदुस्तानी बुनकरो की पूरी की पूरी आबादी को मिटाकर) एशिया की मण्डियो का बलपूवक विस्तार किया गया है। ग़ल्ले के कानूनो के रद्द कर दिये जाने के बाद, १८४६ से १८६३ तक, ७ वष यदि साधारण क्रियाशीलता और समृद्धि का काल रहता है, तो ९ वष मदी और ठहराव में गुजरते ह। समृद्धि के वर्षो में भी वयस्क पुरुष मजदूरो की क्या दशा रहती थी, इसका कुछ ज्ञान नीचे दिये गये फुटनोट से प्राप्त हो सकता है।[3]

---

[1] *Rep &c 30th April 1864* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६४'), पृ० २७।

[2] बोल्टन के चीफ कास्टेबल, मि० हैरिस के एक पत्र से। देखिये '*Rep of Insp of Fact 31st October 1865* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ६१ ६२।

[3] लकाशायर आदि के फैक्टरी-मजदूरा ने सगठित परावास का आयोजन करने वाली एक सस्था बनाने के उद्देश्य से १८६३ में एक अपील प्रकाशित की थी। इस अपील में हमे यह पढने को मिलता है "इस बात से तो अब इने गिने लोग ही इनकार करेगे कि मजदूरा को उनकी मौजूदा तबाह हालत से ऊपर उठाने के लिये यह बिल्कुल जरूरी है कि बडे पैमाने पर उनके परावास की व्यवस्था की जाये। लेकिन यह स्पष्ट करने के लिये कि परावास के एक निरन्तर प्रवाह की हर घडी आवश्यकता रहती है और उसके बिना साधारण काल में भी मजदूरो के लिये अपनी स्थिति को बनाये रखना असम्भव हो जाता है, हम निम्नलिखित तथ्यो की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं १८१४ में जो सूती सामान विदेशा को भेजा गया था, उसका सरकारी मूल्य १,७६,६५,३७८ पौण्ड था, जब कि बाजार म वह असल मे २,००,७०,८२४ पौण्ड की क़ीमत पर बेचा जा सकता था। १८५८ मे जो सूती सामान विदेशा को भेजा गया, उसका सरकारी मूल्य १८,२२,२१,६८१ पौण्ड था, लेकिन उसका वास्तविक मूल्य, या वह मूल्य, जिसपर, उसे बाजार म बेचा जा सकता था, केवल ४,३०,०१,३२२ पौण्ड था। यानी पहले से दस गुना सामान अधिक पुरानी क़ीमत के दुगने से थोडे ज्यादा दाम लेकर बेच दिया

अनभाग ८—आधुनिक उद्योग द्वारा हस्तनिर्माण, दस्तकारियो और घरेलू उद्योग मे की गयी क्रान्ति

(क) दस्तकारी और श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता का पतन

हम यह देख चुके ह कि दस्तकारियो पर आधारित सहकारिता को और दस्तकारी श्रम के विभाजन पर आधारित हस्तनिर्माण को मशीनें किस तरह समाप्त कर देती ह। पहले ढग की मिसाल है घास काटने की मशीन। वह घास काटने वाले व्यक्तियो की सहकारिता का स्थान ले लेती है। दूसरे ढग की एक अच्छी मिसाल है सुइया बनाने की मशीन। ऐडम स्मिथ के अनुसार, उनके जमाने में १० आदमी सहकार करते हुए एक दिन में ४८,००० से अधिक सुइया तयार कर देते थे। दूसरी ओर, सुइया बनाने की एक अकेली मशीन ११ घण्टे के काम के दिन में १,४५,००० सुइया बना डालती है। एक औरत या लडकी ऐसी चार मशीनो की देखभाल करती है, और इस तरह वह दिन भर में लगभग ६,००,००० सुइया या एक सप्ताह में ३०,००,००० से अधिक सुइया तयार कर देती है।[1] जब कोई मशीन सहकारिता या हस्तनिर्माण का स्थान ले लेती है, तब इस तरह की एक अकेली मशीन दस्तकारी के ढग के उद्योग का खुद एक आधार बन सकती है। फिर भी दस्तकारी की ओर इस तरह लौटकर भी महज फ़ैक्टरी-व्यवस्था की ओर ही क़दम बढाया जाता है, और जैसे ही मशीनो को चलाने के लिये मानव मास पेशियो के बजाय भाप

गया था। सामान्य रूप से देश के लिये और विशेष रूप से फैक्टरी मजदूरी के लिये यदि इतना अहितकर परिणाम हुआ, तो उसके पीछे कई कारण मिलकर काम कर रहे थे। अगर परिस्थितिया इजाजत देती, तो हम इन कारणो को अधिक स्पष्टता के साथ आपके सामने रखते। बहरहाल, अभी इतना ही कह देना काफी है कि इनमें से सबसे स्पष्ट कारण यह है कि श्रम का निरन्तर आधिक्य रहता है। यदि यह न होता, तो ऐसा सत्यानाशी व्यवसाय, जिसे नष्ट होने से बचाने के लिये एक निरन्तर बढती हुई मण्डी की आवश्यकता होती है, कभी जारी न रह पाता। वतमान व्यवस्था मे व्यवसाय मे समय-समय पर आने वाला ठहराव उतना ही अवश्यम्भावी होता है, जितनी मौत, और इन ठहरावो से हमारी सूती मिलो मे ताला पड सकता है। लेकिन मानव मस्तिष्क निरतर काम करता रहता है, और यद्यपि हमारा विश्वास है कि जब हम यह कहते हैं कि पिछले २५ वर्षों मे ६० लाख व्यक्ति इस देश को छोडकर चले गये हैं, तब हम वास्तविकता को कुछ कम करके ही पेश कर रहे हैं, तथापि जनसख्या मे जो प्राकृतिक वृद्धि होती रहती है और पैदावार को सस्ता करने के लिये श्रम का जो विस्थापन होता रहता है, उसके कारण अधिक से अधिक समृद्धि के दिनो मे भी वयस्क पुरुषो की एक बडी भारी सख्या को फैक्टरियो में किसी भी शत पर काम नही मिलता।" (*Reports of Insp of Fact, 30th April, 1863* ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ५१-५२।) बाद के एक अध्याय मे हम देखेंगे कि जब सूती व्यवसाय पर सकट आया था, उन दिनो हमारे मिल कारखानेदारो ने मजदूरो के परावास को रोकने के लिये हर मुमकिन कोशिश की थी और यहा तक कि राज्य के हस्तक्षेप का भी सहारा लिया था।

[1] '*Ch Empl Comm III Report 1864*' ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० १०८, अक ४४७।

या पानी जैसी किसी यान्त्रिक चालक शक्ति से काम लिया जाने लगता है, वसे ही यह फक्टरी व्यवस्था अस्तित्व में आ जाती है। जहा तहा कोई उद्योग यान्त्रिक शक्ति से भी छोटे पमाने पर चलाया जा सकता है, पर किसी भी हालत में यह स्थिति बहुत दिनो तक नहीं रहती। इस प्रकार का छोटे पैमाने का उद्योग या तो भाप की शक्ति किराये पर लेकर चलाया जा सकता है, जैसा कि बिरमिघम के कुछ धधो में होता है, या छोटे ताप इजनो का उपयोग करके चलाया जा सकता है, जैसा कि बुनाई की कुछ शाखाओ में होता है।[1] कोवेण्ट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग में "कुटीर फक्टरियो" का प्रयोग किया गया था। एक आगन में चारो ओर झोपडिया की पक्तिया खडी कर दी गयी थीं, बीच में engine house (इजन का घर) बनाया गया था और इजन को धुरो के जरिये झोपडियो में रखे हुए करघो से जोड दिया गया था। शक्ति के एवज में फी करघा एक निश्चित रक़म किराये के तौर पर देनी पडती थी। करघे चाहे चले या न चले, साप्ताहिक किराया हर हालत में देना होता था। हर झोपडी में २ से ६ तक करघे होते थे। उनमें से कुछ बुनकर की सम्पत्ति होते थे, कुछ को वह उधार खरीद लेता था और कुछ किराये पर ले लेता था। इन कुटीर फैक्टरियो और असली फैक्टरी के बीच १२ साल तक सघप चलता रहा। यह सघप अत में ३०० कुटीर फक्टरियो को तबाह करके ही समाप्त हुआ।[2] जहा कहीं पर स्वय उत्पादन प्रक्रिया के स्वरूप के कारण बडे पमाने का उत्पादन आवश्यक नहीं था, वहा पर पिछले कुछ दशको में जिन नये उद्योगो – मसलन लिफाफे बनाने के उद्योग, लोहे के क़लम बनाने के उद्योग इत्यादि – का जन्म हुआ है, वे फक्टरी अवस्था तक पहुचने के पूर्व आम तौर पर पहले दस्तकारी की और फिर हस्तनिर्माण की दो छोटी छोटी अतरकालीन अवस्थाओ में से गुजरे ह। जहा हस्तनिर्माण के द्वारा किसी वस्तु का उत्पादन कुछ आनुक्रमिक क्रियाओ का एक क्रम न होकर अनेक असम्बद्ध प्रक्रियाओ के रूप में होता है, वहा यह सक्रमण बहुत कठिनाई से होता है। इस बात से लोहे के कलम बनाने वाली फक्टरिया खोलने के रास्ते में बडी मुश्किले पदा हो गयी थीं। फिर भी करीब १५ वप पहले एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ, जो बिल्कुल अलग अलग ६ क्रियाए एक बार में पूरी कर डालती थी। शुरू-शुरू में जो लोहे के कलम दस्तकारी की प्रणाली के अनुसार बनाये गये थे, वे १८२० में ७ पौण्ड ४ शिलिंग फी गुरुस (१२ दजन) के भाव पर बिके थे। १८३० में वे हस्तनिर्माण के द्वारा बनाये जाने लगे, तो उनका भाव ८ शिलिंग फी गुरूस हो गया। और आजकल फक्टरी व्यवस्था २ से लेकर ६ पेंस फी गुरुस तक के भाव पर इन कलमो को थोक व्यापारियो को बेच देती है।[3]

---

[1] सयुक्त राज्य अमरीका मे इस तरह अक्सर दस्तकारियो को मशीनो के आधार पर पुन चालू कर दिया जाता है, और इसलिये वहा पर जब वह अवश्यम्भावी परिवतन होगा तथा फैक्टरी-व्यवस्था कायम होगी, तब वहा केन्द्रीकरण की क्रिया ऐसे प्रचण्ड वेग से चलेगी कि यूरोप और यहा तक कि इगलैण्ड भी पीछे छूट जायेगा।

[2] देखिये *Rep of Insp of Fact 31st Oct 1865* ('फैक्टरियो के इस्पक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ६४।

[3] मि० गिलाट ने बिमिंघम म पहली बडी पैमाने की लोहे के कलम बनाने की फैक्टरी खडी की थी। यह फैक्टरी १८५१ मे ही हर साल १८ करोड कलम तैयार करने लगी थी और १२० टन इस्पात खच करती थी। सयुक्त राज्य में इस उद्योग का एकाधिकार बिमिंघम को मिला हुआ है, और वह आजकल अरबो कलम तैयार कर रहा है। १८६१ की जन-गणना के अनुसार, इस उद्योग मे १४२८ व्यक्ति काम करते थे, जिनमे से १,२६८ लडकिया और स्त्रिया थी, जिनकी आयु ५ वप से आरम्भ होती थी।

(ख) हस्तनिर्माण और घरेलू उद्योगो पर फैक्टरी-व्यवस्था की प्रतिक्रिया

फैक्टरी व्यवस्था के विकास के साथ-साथ खेती में भी क्रान्ति हो जाती है, और इन दोनो घटनाओ के साथ-साथ उद्योग की अन्य तमाम शाखाओ में न केवल उत्पादन बढ जाता है, बल्कि उसका स्वरूप ही बदल जाता है। फक्टरी व्यवस्था में व्यावहारिक रूप पाने वाला यह सिद्धान्त कि उत्पादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करके उसे उसकी सघटक अवस्थाओ में बाट देना चाहिये और इस तरह जो समस्याए सामने आयें, उनको यान्त्रिकी, रसायन और प्राकृतिक विज्ञान की सभी शाखाओ का प्रयोग करके हल करना चाहिये, — यह सिद्धात अब हर जगह निर्णायक सिद्धान्त बन जाता है। चुनाचे मशीनें पहले सामान तैयार करने वाले उद्योगो की किसी एक तफसीली प्रक्रिया में घुस जाती ह और फिर किसी दूसरी प्रक्रिया में प्रवेश कर जाती ह। इस प्रकार इन उद्योगो की व्यवस्था का वह ठोस स्फटिक, जो पुराने श्रम विभाजन पर आधारित था, घुल जाता है और निरतर होने वाले परिवतनो के लिये रास्ता खुल जाता है। इससे बिल्कुल अलग ढग से सामूहिक मजदूर की बनावट में मौलिक परिवतन हो जाता है, मिलकर काम करने वाले व्यक्ति बदल जाते हैं। हस्तनिर्माण काल के विपरीत अब आगे से श्रम विभाजन का आधार यह होता है कि जहा कहीं भी सम्भव होता है, वहा पर स्त्रियो, हर उम्र के बच्चो तथा अनिपुण मजदूरो से और यदि सक्षेप में कहें, तो "cheap labour" (सस्ते श्रम) से काम लिया जाता है, — इगलण्ड में इस प्रकार के मजदूरो के लिये इसी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। यह बात न केवल हर प्रकार के बडे पमाने के उत्पादन पर, — उसमें चाहे मशीनें इस्तेमाल की जाती हो या नहीं, — बल्कि तथाकथित घरेलू उद्योगो पर भी लागू होती है, वे चाहे मजदूरो के घरो में चलाये जाते हो और चाहे छोटे-छोटे कारखानो में। आधुनिक काल के इस तथाकथित घरेलू उद्योग और पुराने ढग के घरेलू उद्योग में नाम के सिवा और कोई समानता नहीं है। पुराने ढग का घरेलू उद्योग अपने अस्तित्व के लिये स्वतत्र शहरी दस्तकारियो, स्वतत्र किसान की खेती और इनसे भी अधिक इस बात पर निभर था कि मजदूर और उसके परिवार के पास रहने का अपना मकान होता था। पुराने ढग का वह उद्योग फक्टरी, हस्तनिर्माणशाला या गोदाम के एक बाहरी विभाग में बदल दिया गया है। पूजी फक्टरी-मजदूरो, हस्तनिर्माण करने वाले कारीगरो और दस्तकारो को तो एक जगह पर बडी सख्या में इकट्ठा करके उनका सचालन तो करती है, उनके अलावा वह कुछ अदृश्य सूत्रो के द्वारा एक और सेना को भी गतिमान बना देती है। यह है घरेलू उद्योगो के मजदूरो की सेना, जो बडे-बडे शहरों में रहते ह और देहातो में भी फले हुए ह। एक मिसाल देखिये लडनडरी में मैसस टिल्ली की एक कमीजो की फैक्टरी है। उसके १,००० मजदूर खुद फक्टरी के अदर काम करते ह और ९,००० देहात में बिखरे हुए ह तथा अपने अपने घरो में बठकर काम करते ह।[1]

आधुनिक हस्तनिर्माण में फैक्टरी की तुलना में ज्यादा बेशर्मी के साथ सस्ती और अपरिपक्व श्रम शक्ति का शोषण किया जाता है। इसका कारण यह है कि फक्टरी-व्यवस्था के प्राविधिक आधार — अर्थात मास पेशियो की शक्ति के स्थान पर मशीनो से काम लेने और श्रम के हल्के स्वरूप — का हस्तनिर्माण में लगभग सवथा अभाव होता है और इसके साथ-साथ स्त्रियो

---

[1] *"Children s Employment Commission 2nd Report 1864'* ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोट, १८६४'), पृ० LXVIII (अडसठ), अक ४१२।

और बहुत ही कम उम्र बच्चो को अत्यत अविवेकपूण ढग से जहरीले अथवा हानिकारक पदार्थों के प्रभाव का शिकार बनने दिया जाता है। हस्तनिर्माण की अपेक्षा तथाकथित घरेलू उद्योग में यह शोषण और भी बेशर्मी के साथ किया जाता है। इसका कारण यह है कि मजदूर जितना अधिक बिखर जाते ह, उतना ही उनकी प्रतिरोध करने की शक्ति कम हो जाती है। इसका यह भी कारण है कि इस तथाकथित घरेलू उद्योग में मालिक और मजदूर के बीच बहुत सारे मुफ्तखोर लुटेरे घुस आते ह। फिर घरेलू उद्योग को सदा या तो फक्टरी व्यवस्था के साथ प्रतियोगिता करनी पडती है, या उत्पादन की उसी शाखा में हस्तनिर्माण के साथ। इसके साथ-साथ इसकी यह वजह भी है कि ग़रीबी मजदूर से स्थान, प्रकाश और शुद्ध वायु आदि वे तमाम चीजें छीन लेती है, जो उसके श्रम के लिये अत्यत आवश्यक होती ह। फिर मजदूरो का नौकरी पाना अधिकाधिक अनिश्चित होता जाता है। और अंतिम कारण यह है कि आधुनिक उद्योग और खेती मजदूरो की जिस विशाल सख्या को "फालतू" बना देती ह, उसका आखिरी सहारा ये घरेलू उद्योग होते ह और इसलिये यहा पर काम पाने के लिये मजदूरो की होड चरम सीमा पर पहुच जाती है। फक्टरी व्यवस्था में ही सबसे पहले सुनियोजित ढग से उत्पादन के साधनो के खच में मितव्ययिता बरती जाती है। और उसके साथ-साथ वहा पर शुरू से ही आखें बद करके श्रम शक्ति का अपव्यय किया जाता है और श्रम के लिये जो परिस्थितिया सामान्य रूप में आवश्यक होती ह, उन्हें छीन लिया जाता है। अब उद्योग की किसी खास शाखा में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति तथा उत्पादन क्रियाओ के योग के लिये आवश्यक प्राविधिक आधार जितने कम विकसित होते ह, उस शाखा में इस प्रकार की मितव्ययिता का विरोधी और घातक स्वरूप उतना ही अधिक खुलकर सामने आ जाता है।

(ग) आधुनिक हस्तनिर्माण

ऊपर जिन सिद्धान्तो की स्थापना की गयी है, अब म उनके उदाहरण प्रस्तुत करूगा। असल में तो पाठक काम के दिन वाले अध्याय में दिये गये अनेक उदाहरणो से पहले ही परिचित है। बिर्मिंघम और उसके आस-पडोस में धातु का सामान तयार करने वाले हस्तनिर्माणो में १०,००० स्त्रियो के अलावा ३०,००० बच्चे और लडके काम करते ह, और उनमें से अधिकतर से भारी काम लिया जाता है। वहा उनको पीतल की ढलाई करने वाले कारखानो में, बटन बनाने वाली फक्टरियो में और मीनाकारी करने वाले, जस्ते की कलई चढ़ाने वाले और लाख की पालिश करने वाले कारखानो में काम करते हुए देखा जा सकता है। इन सभी कारखानो में बडी अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितिया होती हैं।[1] लदन के कुछ ऐसे छापेखानो में, जहा अखबार और किताबें छपती ह, वयस्क मजदूरो और बच्चो, दोनो से ही इतना अधिक श्रम कराया जाता है कि लोगो ने इन्हें "क़साई घरो" का मनहूस नाम दे रखा है। जिल्दसाजी में भी इसी तरह की ज्यादतिया की जाती ह, वहा मुख्यतया स्त्रिया, लडकियां और बच्चे

---

[1] और आजकल तो बच्चो से शेफील्ड के रेती बनाने वाले कारखानो मे भी काम लिया जाता है।

[2] "*Ch Empl Comm V Rep 1866* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट, १८६६'), पृ० ३, अक २४, पृ० ६, अक ५५, ५६, पृ० ७, अक ५६,६०।

इनका शिकार बनते हैं। लडके-लडकियो को रस्सी बटने के कारखानो में भारी काम करना पडता है और नमक की खानो में, मोमबत्तियो की हस्तनिर्माणशालाओ में और रासायनिक कारखानो में रात को काम करना पडता है, रेशम की बुनाई के व्यवसाय में, जब यह धधा मशीनो द्वारा नहीं किया जाता, तो करघा चलाते-चलाते लडके-लडकियो का दम निकल जाता है।[1] एक सब से ज्यादा शर्मनाक, सबसे अधिक गदा और सबसे कम मजदूरी वाला श्रम चीथडो को छाटने का है, इस काम के लिये औरतो और लडकियो को ज्यादा तरजीह दी जाती है। यह एक सुविदित बात है कि ब्रिटेन में चीथडो का उसका अपना एक विशाल भण्डार तो है ही, उसके अलावा वह पूरे ससार के चीथडो के व्यापार की मण्डी बना हुआ है। यहा जापान, दक्षिणी अमरीका के सुदूर राज्यो और कनारी द्वीपो से चीथडे आते ह। लेकिन चीथडो की पूर्ति के मुख्य केन्द्र ह जर्मनी, फ्रास, रूस, इटली, मिश्र, तुर्की, बेल्जियम और हालण्ड। ये चीथडे खाद बनाने, बिस्तर के गद्दे बनाने और shoddy (कतरनो से बनने वाला कपडा) तयार करने के काम में आते ह और कागज़ बनाने के व्यवसाय में कच्चे माल की तरह इस्तेमाल होते ह। जो लोग चीथडो को छाटने का काम करते हैं, वे चेचक तथा छूत की अन्य बीमारियो को फैलाने वाले माध्यम का काम करते हैं और इन बीमारियो के वे खुद पहले शिकार बनते हैं।[2] मजदूरो से किस तरह कमर-तोड काम लिया जाता है, उनको कितना कठिन और अनुपयुक्त श्रम करना पडता है और इस प्रकार के श्रम का उनपर बचपन से ही कितना बुरा प्रभाव पडता है और वह कसे उन्हें पशु समान बना देता है, इसकी अच्छी मिसाले आप न सिर्फ कोयला खानो में तथा आम तौर पर सभी खानो में, बल्कि खपरल और ईंट बनाने के उद्योग में भी देख सकते हैं। इस उद्योग की मशीनो का अभी हाल में आविष्कार हुआ है और इगलण्ड में अभी केवल जहा-तहा ही उनका उपयोग शुरू हुआ है। इस व्यवसाय में मई और सितम्बर के बीच के दिनो में काम सुबह को ५ बजे शुरू होता है और रात के ८ बजे तक चलता रहता है, और जहा ईंटें खुली हवा में सुखायी जाती हैं, वहा अक्सर सुबह के ४ बजे से रात के ६ बजे तक काम होता रहता है। यदि सुबह के ५ बजे से रात के ७ बजे तक काम कराया जाये, तो वह "कम" और "हल्का" काम समझा जाता है। छ छ और यहा तक कि चार-चार बरस के लडको और लडकियो से काम लिया जाता है। ये बच्चे भी वयस्क मजदूरों के बराबर घण्टो तक काम करते हैं, और अक्सर बच्चो से और भी ज्यादा देर तक काम कराया जाता है। काम बहुत सख्त होता है और गरमियों की तपन थकान को और भी बढ़ा देती है। मिसाल के लिये, मोस्ले में खपरैल बनाने का एक भट्ठा है। वहा एक औरत, जिसकी उम्र २४ बरस की थी, रोजाना २,००० खपरैलें बनाया करती थी। २ नन्ही-नन्ही लडकिया उसकी मदद करती थीं। वे मिट्टी ढोकर उसके पास ले जाती थीं और खपरैलो का ढेर लगाती थीं। ये जरा जरा सी लडकिया ३० फुट की गहराई से मिट्टी उठाकर गढे के ढालू किनारो पर चढ़ती थीं

---

[1] उप० पु०, पृ० ११४, ११५, अक ६,७। कमीशन के सदस्य ने ठीक ही कहा है कि यद्यपि आम तौर पर मशीनें मनुष्य का स्थान ले रही हैं, तथापि इस व्यवसाय में अक्षरश लडके-लडकिया मशीनो का स्थान ले रहे हैं।

[2] चीथडो के व्यवसाय की रिपोर्ट और बहुत सी तफसीली बातो के लिये देखिये "*Public Health, VIII Rep* ('सावजनिक स्वास्थ्य की ८ वी रिपोर्ट'), London 1866, परिशिष्ट, पृ० १९६–२०८।

श्रौर फिर ऊपर श्राकर २१० फुट की दूरी तक चलती थीं श्रौर इस तरह रोजाना १० टन बोझा ढोती थीं। खपरलो के भट्ठे की इस नरक-भूमि में से कोई बच्चा गुजर जाये श्रौर उसका घोर नैतिक पतन न हो, यह असम्भव है इन बच्चो को बाल्यावस्था से ही गदी जबान सुनने की श्रादत हो जाती है, उनका विकास अनजाने में गदी, फूहड श्रौर बेशर्मी की श्रादतो के बीच होता है, वे श्राधे जगली हो जाते ह श्रौर बडे होकर उच्छृखल, बदमाश श्रौर श्रावारा हो जाते ह नतिक पतन का एक भयानक कारण उनके जीवन का ढग होता है। साचे में खपरैल ढालने वाला हरेक कारीगर (moulder), जो सदा एक निपुण मजदूर श्रौर एक जत्थे का मुखिया होता है, श्रपने ७ मातहतो को श्रपनी झोपडी में रहने के लिये स्थान देता है श्रौर उनकी रोटी का प्रबध करता है। उसके मातहत काम करने वाले इन पुरुषो, लडको श्रौर लडकियो को, वे चाहे उसके परिवार के सदस्य हो या न हो, उसी एक झोपडे में सोना पडता है। हर झोपडे में श्राम तौर पर दो श्रौर कभी कभी ३ कोठरिया होती ह, जो सब की सब नीचे वाली मजिल में होती ह श्रौर जिनमें ताजा हवा बहुत ही कम होती है। ये लोग दिन भर के काम के बाद इतना ज्यादा थक जाते हैं कि फिर वे न तो स्वास्थ्य श्रौर सफाई के नियमो का तनिक भी पालन करते ह श्रौर न ही मर्यादा का कोई खयाल रखते ह। इन झोपडियो में से बहुत सी गदगी, कूडे श्रौर धूल का नमूना होती ह . कम उम्र लडकियो से इस प्रकार का काम लेने वाली इस व्यवस्था की सब से बडी बुराई यह है कि वह सदा इन लडकियो को उनके बचपन से ही श्रौर बाद के उनके समस्त जीवन के लिये हद से ज्यादा बिगडे हुए लोगो के साथ बाध देती है। इसके पहले कि प्रकृति उनको यह सिखा सके कि वे नारिया ह, ये लडकिया उद्दण्ड श्रौर गदी बातें बकने वाले लडको (rough, foul-mouthed boys") में बदल जाती ह। कपडो के नाम पर चद गदे चीथडे उनके बदन पर लटकते रहते ह, उनकी टागें घुटनो के भी बहुत ऊपर तक नगी रहती ह, बाल श्रौर चेहरा मल से ढका रहता है। वे मर्यादा तथा लज्जा की प्रत्येक भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखना सीख जाती ह। खाने की छुट्टी के समय वे खेतो में चित लेटी रहती ह या पास की नहर में लडको को नहाते हुए देखा करती ह। जब उनकी दिन भर की सख्त मेहनत श्राखिर खतम होती है, तो वे कुछ बेहतर कपडे पहन पहनकर मर्दों के साथ शराबखानो की तरफ चल देती ह। "ऐसी हालत में यह स्वाभाविक ही है कि इस पूरे वर्ग में बचपन से ही हद से ज्यादा शराब पी जाती है।" सबसे खराब बात यह है कि ईंटें बनाने वाले खुद भी श्रपने बारे में निराश हो जाते ह। उनमें से एक श्रपेक्षाकृत भले श्रादमी ने साउथालफील्ड के एक पादरी से कहा था कि जनाब, किसी ईंटें बनाने वाले को सुधारने की कोशिश करना शैतान को सुधारने के बराबर है।[1]

जहा तक इस बात का ताल्लुक है कि श्राधुनिक हस्तनिर्माण में (जिसमें म श्रसली फक्टरियो को छोडकर बडे पमाने के बाकी सभी कारखानों को शामिल करता हू) श्रम के लिये श्रावश्यक वस्तुश्रो के सम्बध में पूजी किस प्रकार की मितव्ययिता बरतती है, इस विषय से सम्बधित सरकारी सामग्री सावजनिक स्वास्थ्य की चौथी (१८६१) श्रौर छठी (१८६३)

[1] *Ch Empl Comm V Rep, 1866"* ('बाल-सवायाजन श्रायाग की ५ वा रिपाट, १८६६'), पृ० XVI–XVII (सालह–श्रठारह), श्रक ८६–९७, श्रौर पृ० १३०–१३३, श्रक ३९–७१। इसके मलावा, *III Rep 1864* ('तीसरी रिपाट, १८६४') के पृ० ४८, ५६ भी दखिये।

रिपोर्टों में बहुतायत से मिल जाती है। वहा हमें workshops (कारखानो) का और खास तौर पर छापेखानो तथा दर्जी-घरो का जैसा लोमहर्षक वर्णन पढने को मिलता है, उसके सामने हमारे उपन्यासकारो की अत्यन्त घिनौनी कल्पनाए भी फीकी पड जाती है। इसका मजदूरो के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पडता है, वह स्वतःस्पष्ट है। Privy Council के प्रधान डाक्टर और *Public Health Reports*" ('सावजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टों') के सरकारी सम्पादक डा० साइमन ने कहा है "अपनी चौथी रिपोर्ट (१८६१) में मैंने यह बताया था कि किस तरह व्यावहारिक रूप में मजदूरो के लिये सफाई के सम्बध में अपने पहले अधिकार पर भी इसरार करना असम्भव हो गया है। अर्थात् वे यह भी माग नहीं कर सकते कि मालिक उनको चाहे जिस काम के लिये कारखाने में इकट्ठा करे, पर जहा तक यह बात उसपर निर्भर करती है, उसको ऐसी तमाम अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियो से मजदूरो को मुक्त कर देना चाहिये, जिनको दूर किया जा सकता है। मने बताया था कि सफाई के मामले में मजदूर खुद अपने साथ यह न्याय करने में तो असमथ होते ही हैं, सफाई-विभाग की पुलिस के वेतन पाने वाले अधिकारियो से भी उनको कोई कारगर मदद नहीं मिल पाती असख्य मजदूरो और मजदूरिनो का जीवन अन्तहीन कष्ट में बीतता है, जो महज उनके धधे से उत्पन्न होता है, उनको व्यथ की यातनाए उठानी पडती ह, और आखिर उनकी असमय मृत्यु हो जाती है।"[1] कारखानो की कोठरियो का मजदूरो के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पडता है, उसके एक उदाहरण के रूप में डा० साइमन ने मृत्यु-सख्या के आकडो की निम्नलिखित तालिका दी है।[2]

अलग अलग उद्योगो में हर आयु के कुल कितने व्यक्ति काम करते ह	स्वास्थ्य की दृष्टि से अलग अलग उद्योग एक दूसरे की तुलना में	मृत्यु सख्या (प्रति १ लाख व्यक्ति)		
		२५ और ३५ वर्ष की आयु के बीच	३५ और ४५ वर्ष की आयु के बीच	४५ और ५५ वर्ष की आयु के बीच
९,५८,२६५	इगलण्ड और वेल्स में खेती	७४३	८०५	१,१४५
२२,३०१ पुरुष १२,३७९ स्त्रिया	लन्दन के दर्जी घर	९५८	१,२६२	२,०९३
१३,८०३	लन्दन के छापेखाने	८९४	१,७४७	२,३६७

[1] *Public Health Sixth Rep* ('सावजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोट'), London 1864, पृ० २९,३१।

[2] उप० पु०, पृ० ३०। डाक्टर साइमन ने लिखा है कि लन्दन के दर्जियो और छपाई का काम करने वाले मजदूरो की २५ वर्ष और ३५ वर्ष के बीच की मृत्यु-सख्या वास्तव में इससे भी कहीं अधिक बैठती है। कारण कि लन्दन के दर्जी घरो और छापेखानो के मालिक ३० वर्ष तक की आयु के बहुत से नौजवानो को "शागिर्दो" और improvers (थोडे पारिश्रमिक पर काम सीखने वालो) के रूप में देहात से मगा लेते हैं। ये लोग धधा सीखने के उद्देश्य से लन्दन चले आते हैं। जन-गणना में ये लोग लन्दनवासियो में गिने जाते हैं, और इस तरह लन्दन की जिस कुल आबादी के अनुपात में इस शहर की मृत्यु-सख्या निकाली जाती है,

घ) आधुनिक घरेलू उद्योग

अब मैं तथाकथित घरेलू उद्योग पर आता हूं। इस क्षेत्र में पूजी आधुनिक यांत्रिक उद्योग की पृष्ठ-भूमि में अपना शोषण चक्र चलाती है। यहा ऐसी-ऐसी रोंगटे खडे कर देने वाली बाते पायी जाती है, उनका कुछ आभास पाने के लिये हमें कीलें बनाने के व्यवसाय[1] की ओर मुडना पडेगा, जो इंगलण्ड के चन्द दूर के गावों में केन्द्रित है और जो ऊपर से देखने में एक काफी सुंदर और मनोरम धधा प्रतीत होता है। किन्तु यहा पर लैस बनाने और सूखी घास की बुनी हुई चीजें बनाने के उद्योगो की उन शाखाओ से ही कुछ उदाहरण दे देना काफी होगा, जिनमें अभी मशीनें इस्तेमाल नहीं की जातीं और जिनकी अभी उन शाखाओं से प्रतियोगिता नहीं होती, जो फैक्टरियो अथवा हस्तनिर्माणशालाओ में केन्द्रित हो गयी है।

इंगलण्ड में कुल १,५०,००० व्यक्ति लेस के उत्पादन में लगे हुए है। १८६१ का फैक्टरी-कानून इनमें से लगभग १०,००० पर लागू होता है। बाकी १,४०,००० प्राय स्त्रिया, लडके-लडकिया और बच्चे बच्चिया है। परन्तु लडकियो और बच्चियो की अपेक्षा लडको और बच्चो की सख्या कम है। शोषण की इस सस्ती सामग्री के स्वास्थ्य का क्या हाल था, यह नीचे दी गयी तालिका से साफ हो जायेगा। यह तालिका नौटिंघम के General Dispensary (सामान्य अस्पताल) के चिकित्सक डा० ट्रूमन की तयार की हुई है। उनके यहा ६८६ लेस बनाने वाली मजदूरिने इलाज कराने आती थीं, जिनमें से अधिकतर की उम्र १७ और २४ वर्ष के बीच थी। इन ६८६ स्त्रियो में तपेदिक की बीमारों की सख्या इस प्रकार थी

१८५२ – ४५ में १	१८५७ – १३ में १
१८५३ – २८ में १	१८५८ – १५ में १
१८५४ – १७ में १	१८५९ – ९ में १
१८५५ – १८ में १	१८६० – ८ में १
१८५६ – १५ में १	१८६१ – ८ में १[2]

तपेदिक की बीमारो की सख्या ने जिस तरह प्रगति की है, उससे प्रगतिवादियो में सबसे अधिक आशावादी व्यक्तियो का और जर्मनी के स्वतंत्र व्यापार के फेरीवालो में झूठ के अपेक्षाकृत बडे सौदागरो का भी मुह बद हो जाना चाहिये।

१८६१ का फैक्टरी-कानून सचमुच लेस बनाने के श्रम का उस हद तक नियमन करता है, जिस हद तक कि यह श्रम मशीनो के द्वारा किया जाता है, और इंगलण्ड में आम तौर

वह तो इन लोगो के कारण बढ जाती है, पर उसके अनुपात में मौतो की सख्या नही बढती। इन नौजवानो मे से अधिकतर, असल मे, देहात को लौट जाते हैं, और जब कोई गम्भीर बीमारी उन्हे आ घेरती है, तब तो खास तौर पर वे ऐसा ही करते है। (उप० पु०।)

[1] मेरा मतलब यहा पर हथौडे से पीट पीटकर बनायी जाने वाली कीलो से है, न कि उनसे, जो मशीनो के द्वारा काटकर बनायी जाती हैं। देखिये *Child Empl Comm Third Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), पृ० XI (ग्यारह), पृ० XIX (उन्नीस), अक १२५-१३०, पृ० ५२ अक ११, पृ० ११४, अक ४८७, पृ० १३७, अक ६७४।

[2] *Ch Empl Comm II Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट'), पृ० XXII (बाईस), अक १६६।

पर यह श्रम मशीनो के द्वारा ही किया जाता है। अब हम केवल उन मजदूरो की दशा की जाच करेगे, जो अपने घरो पर बैठकर काम करते ह और जो हस्तनिर्माणशालाओ या गोदामो में काम नहीं करते। और यहा हम इस व्यवसाय की जिन शाखाओ पर विचार करेगे, वे दो श्रेणियो में बट जाती हैं, यानी (१) फिनिश करने वाली शाखाए और (२) मरम्मत करने वाली शाखाए। पहली श्रेणी में मशीन के बने हुए लस पर फिनिश की जाती है, और उसमें अनेक उपशाखाए शामिल हैं।

लस पर फिनिश करने का काम (lace finishing) या तो उन मकानो में किया जाता ह, जो 'mistresses' houses ("मालकिनो के मकान") कहलाते हैं, या मजदूरिने अपने घर पर ही अपने बच्चो की मदद से या उसके बिना यह काम पूरा कर देती हैं। "मालकिन के मकान" की मालकिन खुद भी गरीब होती है। जिस कोठरी में काम होता है, वह किसी निजी घर में होती है। मालकिन कारखानेदारो से या गोदामो के मालिको से काम ले जाती है और कोठरी के आकार तथा काम की घटती-बढती माग को ध्यान में रखते हुए औरतो, लडकियो और छोटे-छोटे बच्चो को नौकर रख लेती है। इन कोठरियो में काम करने वाली मजदूरिनो की सख्या कहीं २० से ४० तक और कहीं १० से २० तक होती है। बच्चे औसतन ६ वष की उम्र में काम करना शुरू कर देते हैं, पर बहुत सी जगहो में ५ वष से भी कम के बच्चे होते ह। काम के घण्टे साधारणतया सुबह ८ बजे से रात के ८ बजे तक होते हैं, बीच में $१\frac{१}{२}$ घण्टे की खाने की छुट्टी मिलती है, जिसका कोई समय निश्चित नहीं होता, और अक्सर उन्हीं गदी कोठरियो में खाना खाया जाता है। जब व्यवसाय में तेजी रहती है, तब अक्सर सुबह के ८ बजे या यहा तक कि ६ बजे ही काम शुरू हो जाता है और रात के १०, ११ या १२ बजे तक चलता रहता है। इगलण्ड की फौजी बारको में हर फौजी को कानूनन ५०० – ६०० घन-फुट स्थान दिया जाता है, फौजी अस्पतालो में हर व्यक्ति के लिये १,२०० घन फुट की व्यवस्था रहती है। लेकिन इन गदी कोठरियो में, जहा लस को फिनिश देने का काम होता है, हर व्यक्ति के लिये केवल ३७ से लेकर १०० घन-फुट तक ही स्थान होता है। साथ ही गैस की रोशनिया हवा की आक्सिजन को खा जाती ह। हालाकि इन कोठरियो का फश टाइलो या पत्थरो का बना होता है, फिर भी लैस को साफ रखने के लिये बच्चो को अक्सर जाडो में भी अदर आने के पहले जूते उतार देने पडते ह। "नोटिघम में यह कोई असाधारण बात कदापि नहीं है कि १४ से २० तक बच्चे एक ऐसी तग कोठरी में भरे हो, जो शायद १२ वग फुट से अधिक की नहीं है, और दिन के २४ घण्टो में से १५ घण्टे तक काम करते रहते हो, और काम भी ऐसा, जो एक तो खुद ही इतना थका देने वाला और नीरस हो कि आदमी का कचूमर निकाल दे और, दूसरे, जिसे हर प्रकार से अस्वास्थ्यप्रद वातावरण में करना पडे सबसे नन्हे बच्चे भी तनावपूण वातावरण में और इतना ध्यान लगाकर तथा ऐसी फुर्ती के साथ काम करते ह कि देखकर आश्चय होता है। वे मुश्किल से ही कभी अपनी उगलियो को कोई आराम देते हैं या अपनी गति को धीमी करते ह। यदि उनसे कोई सवाल किया जाता है, तब भी वे इस उद्देश्य से कि एक क्षण भी बरबाद न हो जाये, अपनी आखें कभी काम से नहीं हटाते।" मालकिन जसे-जसे काम के घण्टो को लम्बा करती जाती है, वसे-वसे अकुश के रूप में अधिकाधिक डण्डे का प्रयोग करने लगती है। "यह धधा बडा ही नीरस, आखो पर बहुत जोर डालने वाला और शरीर को सदा एक

ही स्थिति में रखने के कारण बहुत ही थका देने वाला है। इस धधे में लगे हुए बच्चे अधिकाधिक थक्ते जाते ह और कई घण्टो की लम्बी कैद की समाप्ति का समय निकट आने तक चिडियो के समान बेचैन हो उठते ह। उनका काम क्या है, सरासर गुलामी ह" ('Their work is like slavery")।[1] जब औरते और उनके बच्चे अपने घर पर, जिसका आजकल मतलब है किराये की कोठरी और अक्सर तो केवल एक बरसाती, काम करते ह, तब यदि सम्भव हो सक्ता है, तो स्थिति और भी खराब होती है। नोटिंघम को यदि केद्र माना जाये, तो ८० मील के अध व्यास का जो वृत्त बनता है, उसमें इस तरह का काम बाटा जाता है। बच्चे जब रात को ९ या १० बजे गोदामो के बाहर निकलते ह, तो अक्सर उनको लस का एक एक बण्डल घर पर बठकर पूरा करने के लिये थमा दिया जाता है। बगुलाभगत पूजीपति, जिसका प्रतिनिधित्व उसका कोई कमचारी यहा पर करता है, हर बच्चे को एक एक बण्डल देने के साथ-साथ यह पाखण्डपूण वाक्य भी कहता जाता है कि "यह मा के लिये है", हालाकि वह अच्छी तरह जानता है कि इन अभागे बच्चो को भी रात को जागकर मा की मदद करनी पडेगी।"

तकिये का लस बनाने का धधा मुख्यतया इगलण्ड के दो खेतिहर इलाको में होता है। उनमें से एक हौनिटन नामक लस का इलाका है, जो डेवनशायर के दक्षिणी किनारे पर २० से ३० मील तक फला हुआ है और जिसमें उत्तरी डेवन के भी कुछ स्थान शामिल ह। दूसरे इलाके में बकिघम, बेडफोड और नोथम्पटन के जिलो का अधिकतर भाग और साथ ही इनसे मिले हुए ओक्सफोडशायर तथा हटिंगडनशायर के कुछ हिस्से भी शामिल ह। काम प्राय खेतिहर मजदूरो की झोपडियो में होता है। बहुत से कारखानेदार ३,००० से भी अधिक लस बनाने वालो से काम लेते ह। लस बनाने वालो में मुख्यतया बालिकायें और युवा लडकिया होती ह, उनमें लडका एक नहीं होता। लस पर फिनिश करने के धधे (lace finishing) के सम्बध में हमने जिन परिस्थितियो का वणन किया है, वे सब यहा पर भी पायी जाती ह। केवल इतना अतर होता है कि mistresses' houses" ("मालकिनो के मकानो") के स्थान पर यहा 'lace-schools ("लस के स्कूल") होते ह, जिनको गरीब औरते अपने झोपडो में कायम कर देती ह। पाच वष की उम्र से और अक्सर तो इसके भी पहले से बच्चे यहा काम शुरू करते ह और बारह या पद्रह वष के होने तक काम करते ह। बिल्कुल नहे बच्चे पहले वष चार से आठ घण्टे तक काम करते ह, बाद को उनके काम का समय छ बजे सुबह से रात के आठ या दस बजे तक हो जाता है। "जिन कोठरिया में काम होता है, वे आम तौर पर छोटे-छोटे झोपडो की उन साधारण कोठरियो के समान होती ह, जिनको लोग रहने के लिये इस्तेमाल करते ह। इसलिये कि हवा के तेज झोके अदर न आयें, चिमनी का मुह बद कर दिया जाता है। कोठरी के अदर जो लोग काम करते ह, वे महज अपने बदन की गरमी से ही गरम रहते ह। जाडो में भी अक्सर यही स्थिति होती है। अय स्थानो में तथाकथित स्कूलो की ये कोठरिया सामान रखने की छोटी छोटी कोठरियो के समान होती ह, जिनमें उन्हें गर्माने के लिये कोई अगीठी भी नहीं होती

---

[1] *Ch Empl Comm II Rep 1864* ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोट, १८६४'), पृ० XIX (उन्नीस), XX (बीस), XXI (इक्कीस)।

उप० पु०, पृ० XXI (इक्कीस), XXII (बाइस)।

इन कोठरियो में अक्सर हद से ज्यादा भीड होती है और उसके कारण हवा एकदम दूषित हो जाती है। छोटे-छोटे झोपडो के आस-पास आम तौर पर पायी जाने वाली नालियो, पाखानो, सडी गली चीजो और गन्दगी का जो घातक प्रभाव होता है, वह अलग है।" स्थान की तगी का हाल सुनिये "लस के एक स्कूल में १८ लडकिया और एक मालकिन काम करती ह, हर व्यक्ति के हिस्से में ३५ घन फुट स्थान आता है। एक और स्कूल में, जहा सदा असहनीय बदबू पायी जाती है, १८ व्यक्ति काम करते हैं, जिनमें से हरेक के हिस्से में २४$\frac{१}{२}$ घन-फुट स्थान आता है। इस उद्योग में दो-दो और ढाई-ढाई बरस की उम्र के बच्चे भी काम करते हुए पाये जाते ह।"[1]

बकिंघम और बेडफोर्ड की काउण्टियो में जिस स्थान पर लस बनाने का धधा समाप्त हो जाता है, उस स्थान से सूखी घास की बुनी हुई चीजें बनाने का काम आरम्भ हो जाता है। यह धधा हेर्टफोर्डशायर के एक बडे हिस्से में और एसेक्स के पश्चिमी तथा उत्तरी भागो में फैला हुआ है। १८६१ में सूखी घास की बुनी हुई चीजें और सूखी घास के टोप बनाने के व्यवसाय में लगे हुए थे ४०,०४३ व्यक्ति। इनमें से ३,८१५ तो हर उम्र के पुरुष थे और बाकी सब औरतें, लडकिया और बच्चिया थीं। इनमें १४,९१३ की उम्र २० वष से कम थी, और उनमें से लगभग ७,००० बच्चिया थीं। लस के स्कूलो की जगह पर यहा 'straw-plait schools' ("सूखी घास की बुनाई के स्कूल") ह। बच्चे आम तौर पर अपने चौथे वर्ष में और ३ और ४ वर्ष की उम्र के बीच में ही सूखी घास की बुनाई का काम सीखना शुरू कर देते हैं। शिक्षा उनको, जाहिर है, तनिक भी नहीं मिलती। बच्चे खुद प्राथमिक स्कूलो को natural schools' ("प्राकृतिक स्कूल") कहते हैं, ताकि उनको कोई इन बुनाई के स्कूलो के साथ, इन खून चूसने वाली सस्थाओ के साथ न गडबडा दे, जिनमें बच्चो को केवल उनकी अधभूखी माताओ द्वारा निश्चित काम को पूरा कर देने के उद्देश्य से रखा जाता है। साधारणतया इन बच्चो को रोज ३० गज बुनाई करनी पडती है। और जब स्कूल का समय समाप्त हो जाता है, तब उनकी माताए अक्सर उनसे घर पर काम कराती हैं, और बच्चे रात के १०, ११ और १२ बजे तक काम करते रहते ह। बच्चो को बार-बार मुह से घास को नम करना पडता है, जो उनका मुह काट देती है और उगलियो को जखमी कर देती है। डा० बलड लन्दन के सभी डाक्टरो की यह सामूहिक राय बताते ह कि सोने या काम के कमरे में हर व्यक्ति को कम से ३०० घन-फुट स्थान मिलना चाहिये। लेकिन स्थान के मामले में सूखी घास की बुनाई के स्कूलो में लस बनाने के स्कूलो से भी अधिक उदारता दिखायी जाती है। यहा "हर व्यक्ति को १२$\frac{२}{३}$, १७, १८$\frac{१}{२}$ तथा २२ घन फुट से कम स्थान मिलता है।" जाच आयोग के मि० व्हाइट नामक एक सदस्य ने बताया है कि यदि एक बच्चे को ३ फुट लम्बे, ३ फुट चौडे और ३ फुट ऊचे बक्स में बन्द कर दिया जाये, तो बच्चा जितनी जगह लेगा, १२$\frac{२}{३}$ घन फुट उसके आधे से भी कम होता है। १२ या १४ बरस की उम्र तक बच्चे इस प्रकार के जीवन का आनन्द लेते ह। उनके अध भूखे, अभागे मा-बापो को इसके सिवाय

[1] उप० पु०, पृ० XXIX (उनतीस), XXX (तीस)।

ग्रौर किसी बात की चिन्ता नहीं होती कि ग्रपने बच्चो के जरिये वे जितना ज्यादा से ज्यादा कमा सकते हो, कमा लें। बच्चे बडे होते है, तो मा-बाप की एक कौडी बराबर भी परवाह नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है, ग्रौर घर छोडकर चल देते ह। "कोई ग्राश्चय नहीं, यदि उस ग्राबादी में, जिसका लालन-पालन इस तरह होता है, सदा जहालत ग्रौर दुराचार का बोलबला रहता है   उनकी नैतिकता निम्नतम स्तर पर रहती है   ग्रौरतो की एक बडी सख्या के हरामी बच्चे होते हैं, ग्रौर वह भी इतनी ग्रपरिपक्व ग्रवस्था में कि दुराचार के ग्राकडो की सबसे ग्रधिक जानकारी रखने वाले व्यक्ति भी देख कर स्तम्भित रह जाते हैं।"[1] ग्रौर इन ग्रादश परिवारो की भूमि सारे योरप का ग्रादश ईसाई देश मानी जाती है,—कम से कम काउट मोंटालेम्बट का तो यही खयाल है, जो निश्चय ही ईसाई धर्म के एक ग्रधिकारी विद्वान ह!

उपर्युक्त उद्योगों में जो मजदूरी मिलती है, वह बहुत ही कम होती है (सूखी घास की बुनाई के स्कूलो में बच्चों को ३ शिलिंग की मजदूरी भी कभी-कभार ही मिलती है), ऊपर से हर जगह ग्रौर खास तौर पर लस बनाने वाले डिस्ट्रिक्टो में truck system (जरूरत का सामान मालिक की दूकान से खरीदने की प्रणाली) का प्रचार है, जिसका नतीजा यह होता है कि नाम को जो मजदूरी मिलती है, ग्रसल में वह ग्रौर भी कम हो जाती है।[2]

(च) ग्राधुनिक हस्तनिर्माण तथा घरेलू उद्योग का ग्राधुनिक यान्त्रिक उद्योग में परिवतन। इन उद्योगो पर फक्टरी-कानूनो के लागू हो जाने के कारण इस क्रान्ति का ग्रौर भी तेज हो जाना

स्त्रियो ग्रौर बच्चो के श्रम का सरासर दुरुपयोग करके, काम करने ग्रौर जिन्दा रहने की सामान्य रूप से ग्रावश्यक परिस्थितियो को छीनकर ग्रौर सवथा पाशविक ढग से ग्रत्यधिक काम कराके तथा रात को काम लेकर श्रम-शक्ति को सस्ता करने की जो कोशिशें की जाती ह, वे ग्राखिर *कुछ ऐसी प्राकृतिक बाधाग्रो से टकराती ह, जिनको रास्ते से हटाना ग्रसम्भव* हो जाता है। इन तरीको को ग्रपना ग्राधार बनाकर मालो को सस्ता करने ग्रौर ग्राम तौर पर पूजीवादी शोषण करने की जो कोशिशें की जाती ह, वे भी ग्राखिर को इसी तरह की बाधाग्रो से टकराकर रुक जाती ह। जसे ही यह ग्रवस्था ग्राती है,—ग्रौर उसके ग्राने में बहुत वष लग जाते ह,—वसे ही मशीनो के उपयोग की घडी ग्रा जाती है, ग्रौर उसी समय से बिखरे हुए घरेलू उद्योग तथा साथ ही हस्तनिर्माण भी जल्दी जल्दी फक्टरी उद्योग में परिवर्तित होने लगते ह।

इस प्रकार के परिवतन का एक बहुत ही विराट पमाने का उदाहरण हमें "wearing apparel" (पहनने की पोशाकें) बनाने के उद्योग की शक्ल में देखने को मिलता है। Children s Employment

---

[1] उप० पु०, पृ० XL (चालीस), XLI (इकतालीस)।

[2] *Child Empl Comm I Rep 1863* ('बाल-सेवायोजन ग्रायोग की पहली रिपोट, १८६३'), पृ १८५।

Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) ने उद्योगो का जो वर्गीकरण किया है, उसके अनुसार इस उद्योग में ये लोग शामिल हैं सूखी घास के टोप बनाने वाले, औरतो के टोप बनाने वाले, टोपिया बनाने वाले, दर्जी, milliners (जनानी टोपिया बनाने वाले), dressmakers (जनाने कपडे सीने वाले), क़मीजें सीने वाले, कोर्सेट सीने वाले, दस्ताने बनाने वाले और जूते बनाने वाले। इनके अलावा बहुत सी गौण शाखाए–जैसे नेक-टाई बनाना, कालर बनाना इत्यादि–भी इसी उद्योग में शामिल है। इगलैण्ड और वेल्स में इन उद्योगो में काम करने वाली औरतो और लडकियो की सख्या १८६१ में ५,८६,२९९ थी, जिनमें से कम से कम १,१५,२४२ की उम्र २० वर्ष से कम थी और १६,६५० की उम्र १५ वर्ष से कम थी। १८६१ में पूरे सयुक्तांगल राज्य में इन मजदूरिनो की सख्या ७,५०,३३४ थी। टोप बनाने, जूते बनाने, दस्ताने बनाने और दर्जी का काम करने वाले पुरुषो की सख्या इगलण्ड और वेल्स में ४,३७,९६९ थी। इनमें से १४,९६४ की आयु १५ वर्ष से कम, ८९,२८५ की आयु १५ और २० वर्ष के बीच और ३,३३,११७ की आयु २० वर्ष से ऊपर थी। बहुत सी छोटी छोटी शाखाए इन सख्याओ में शामिल नहीं ह। लेकिन इन सख्याओ को इसी रूप में लीजिये। तब १८६१ की जन-गणना के अनुसार केवल इगलण्ड और वेल्स में उन लोगो की सख्या कुल मिलाकर १०,२४,२७७ पर पहुच जाती है। लगभग इतने ही व्यक्ति खेती और पशु-पालन में लगे हुए ह। अब हमारी समझ में यह बात आनी शुरू होती है कि मशीनो के जादू से जो बेशुमार सामान तैयार होता है और ये मशीनें मजदूरों की जिस विशाल सख्या को हर तरह के रोजगार से मुक्त कर देती ह, उनका आखिर क्या होता है।

'Wearing apparel" (पहनने की पोशाको) का उत्पादन कुछ हद तक तो उन हस्तनिर्माणशालाओ में होता है, जिनके काम के कमरो में केवल उस श्रम विभाजन का पुनरुत्पादन कर दिया जाता है, जिसके membra disjecta (अलग अलग अग और अवयव) पहले से तैयार मिल गये थे। कुछ हद तक वह छोटे-छोटे उस्ताद कारीगरो के द्वारा सम्पन्न होता है। लेकिन ये लोग अब पहले की तरह सीधे उपभोगियो के लिये नहीं, बल्कि हस्तनिर्माणशालाओ और गोदामो के लिये काम करते हैं। और यह बात इस हद तक बढ जाती है कि पूरे के पूरे शहर और देहाती इलाक़े कुछ खास शाखाओ के उत्पादन में व्यस्त हो जाते हैं,–मसलन जूते बनाना,–और यह उनका खास धधा बन जाता है। और, अन्त में तथाकथित घरेलू मजदूर बहुत बडे पैमाने पर इस प्रकार का उत्पादन करते हैं। इन लोगो की हैसियत हस्तनिर्माणशालाओ, गोदामो और यहा तक कि अपेक्षाकृत छोटे मालिकों के कारखानों के बाहरी विभाग की होती है।[1]

कच्चे माल आदि की पूर्ति यान्त्रिक उद्योग करता है। सस्ते मजदूरो की विशाल सख्या (taillable a merci et miséricorde" [जो विजेता की दया और क्रोध पर निर्भर करते ह]) में वे व्यक्ति होते हैं, जिनको यान्त्रिक उद्योग तथा उन्नत खेती ने "मुक्त" कर दिया है। इस श्रेणी की हस्तनिर्माणशालाओ के जन्म का मुख्य कारण पूजीपतियो की यह आवश्यकता थी कि उनके पास एक ऐसी सेना पहले से तयार हो, जो माग की प्रत्येक वृद्धि

[1] इगलैण्ड में millinery और dressmaking (जनानी टोपिया और जनाने कपडे बनाने) का काम प्राय मालिक के मकान के अन्दर होता है। कुछ हद तक तो उसी मकान में रहने वाली मजदूरिनें और कुछ हद तक कही और रहने वाली कामगारिनें यह काम करती है।

को पूरा कर सके।[1] फिर भी इन हस्तनिर्माणा ने बिखरी हुई दस्तकारियो और घरेलू उद्योगों को एक व्यापक आधार के रूप में जीवित रहने दिया था। श्रम की इन शालाओं में यदि बहुत अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता था और उनकी तयार की हुई वस्तुए यदि अधिकाधिक सस्ती होती जाती थीं, तो इसके मुख्य कारण पहले भी यही थे और आज भी यही ह कि मजदूरो को कम से कम मजदूरी दी जाती है, जो अत्यन्त हीनावस्था में केवल जिन्दा रहने भर के लिये ही काफी होती है, और काम के समय को मानव-शरीर के सहन की आखिरी हद तक बढ़ा दिया जाता है। यदि मण्डियो का लगातार विस्तार हो रहा था और आज भी रोजाना हो रहा है, तो, असल में, उसकी वजह यह है कि इनसान का पसीना और खून बहुत सस्ता है और उनको आसानी से माल में बदल दिया जाता है। इगलण्ड की औपनिवेशिक मण्डियो के विस्तार के सम्बन्ध में तो यह बात खास तौर पर लागू होती है। इन मण्डियो में इगलण्ड के बने माल के अलावा अग्रेजी रुचि तथा अग्रेजी आदतो का भी बोलबाला है। और आखिर क्रान्तिक बिन्दु आ ही गया। एक ऐसी अवस्था आ पहुची, जब पुरानी प्रणाली का आधार, यानी मजदूरों का शोषण करने में सरासर बेरहमी दिखाना और उसके साथ-साथ न्यूनाधिक रूप में एक सुनियोजित श्रम विभाजन का इस्तेमाल करना—ये दोनो बातें फलती हुई मण्डियो के लिये और उनसे भी ज्यादा तेजी के साथ बढ़ती हुई पूजीपतियों की प्रतियोगिता के लिये नाकाफी साबित होने लगीं। मशीनों के आगमन की घडी आ पहुची। जिस मशीन ने निर्णायक रूप में क्रान्ति पदा की और जिसने उत्पादन के इस क्षेत्र की सभी शाखाओ को—पोशाक बनाने, दर्जीगीरी, जूते बनाने, सीने, टोप बनाने और अन्य बहुत सी शाखाओ को—समान मात्रा में प्रभावित किया, वह थी सीने की मशीन।

सीने की मशीन का मजदूरो पर उसी प्रकार का तात्कालिक प्रभाव होता है, जिस प्रकार का प्रभाव उन तमाम मशीनो का हुआ है, जिन्होंने आधुनिक उद्योग के जन्म के बाद से व्यवसाय की नयी शाखाओ पर अधिकार किया है। बहुत ही कम उम्र बच्चो को जवाब दे दिया जाता है। अपने घरो पर बठकर काम करने वाले मजदूरो के मुक़ाबले में, जिनमें से बहुत से तो हद से ज्यादा ग़रीब (the poorest of the poor") होते हैं, मशीन से काम करने वाले मजदूरो की मजदूरी बढ जाती है। जिन दस्तकारो की हालत पहले अपेक्षाकृत अच्छी थी और जिनसे अब मशीन प्रतियोगिता करने लगती है, उनकी मजदूरी गिर जाती है। मशीना से काम करने वाले नये मजदूरो में केवल लडकिया और कम उम्र की औरतें होती ह। अपेक्षाकृत भारी काम पर पुरुषो का पहले जो इजारा कायम था, उसे ये मजदूरिनें यान्त्रिक शक्ति की मदद से खतम कर देती ह, और साथ ही वे अपेक्षाकृत हल्के काम से बहुत सी बूढ़ी औरतो और बहुत कम उम्र के बच्चो को हटा देती ह। हाथ से काम करने वाले मजदूरो में जो सबसे ज्यादा कमजोर होते ह, वे इस जबदस्त प्रतियोगिता में कुचल दिये जाते ह। पिछले दस वर्षों में लन्दन में भूख के कारण प्राण दे देने वालो की सख्या की भयानक वद्धि मशीन की सिलाई के प्रसार

---

[1] जाच-कमीशन के मि० व्हाइट नामक सदस्य फौजी कपडे तयार करने वाली एक हस्तनिर्माणशाला को देखने गये थे, जिसमें १,००० से १,२०० तक व्यक्ति काम करत थे। इनमें लगभग सभी स्त्रिया थी। इसके अलावा, मि० व्हाइट जूते बनाने वाली एक हस्तनिर्माणशाला भी देखने गये थे, जिसमें १,३०० व्यक्ति काम करते थे। इनमे लगभग आधी सख्या बच्चा और लडके लडकियो की थी।

के समानान्तर चलती है।[1] मशीन का वजन, आकार और विशेष बनावट कैसी है, इसके अनुसार नयी मजदूरिनें उसे या तो हाथों और पैरों दोनों से चलाती हैं और या केवल हाथों से, वे कभी बैठकर मशीन चलाती हैं, तो कभी खड़ी होकर, और इस तरह बहुत भारी श्रम-शक्ति खर्च कर डालती हैं। काम के लम्बे घण्टों के कारण उनका धंधा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है, हालांकि अधिकतर जगहों में उनको पुरानी व्यवस्था के समान देर तक काम नहीं करना पड़ता। उन संकरी और तंग कोठरियों में, जिनमें पहले ही से बहुत ज्यादा भीड़ थी, जहां कहीं सिलाई की मशीन भी दाखिल हो जाती है, वहां स्वास्थ्य के लिये पहले से भी अधिक हानिकारक परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं। मि० लोर्ड ने कहा है "नीची छत वाले उन कमरों में, जिनमें ३० से ४० तक मजदूर मशीनों पर काम करते रहते हैं, घुसना भी असहनीय होता है . वहां की गरमी खौफनाक होती है। कुछ हद तक वह गैस के उन चूल्हों के कारण होती है, जो इस्तरी को गरम करने के लिये इस्तेमाल किये जाते हैं ऐसी जगहों में जब मजदूरों के काम के घण्टे सामान्य ढंग के होते हैं, अर्थात जब उन्हें सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे तक काम करना होता है, तब भी ३ या ४ व्यक्ति रोजाना नियमित रूप से बेहोश हो जाते हैं।"[2]

उत्पादन के औजारों में क्रान्ति हो जाने के एक लाजिमी नतीजे के तौर पर औद्योगिक तरीकों में जो क्रान्ति होती है, वह नाना प्रकार के परिवर्तनकालीन रूपों के द्वारा सम्पन्न होती है। कहां कौनसा रूप सामने आता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सिलाई की मशीन का उद्योग की इस शाखा में या उस शाखा में किस सीमा तक प्रसार हुआ है, वह कितने समय से इस्तेमाल हो रही है, उसके इस्तेमाल होने के पहले मजदूरों की क्या हालत थी, उस शाखा में हस्तनिर्माण का जोर था या दस्तकारियों का अथवा घरेलू उद्योग का, और जिन कमरों में काम होता है, उनका क्या किराया है[3], इत्यादि, इत्यादि। मिसाल के लिये, पोशाक तयार करने की शाखा में, जहां श्रम प्रायः पहले से ही मुख्यतया सरल सहकारिता के अनुसार संगठित था, सिलाई की मशीन ने शुरू-शुरू में हस्तनिर्माण करने वाले इस उद्योग में केवल एक नवीन तत्व का काम किया था। दर्जीगीरी, कमीजें बनाने और जूते बनाने आदि के

---

[1] एक मिसाल देखिये। "*Registrar General* की २६ फरवरी १८६४ की मौतों की साप्ताहिक रिपोर्ट में भूख से होने वाली ५ मौतों का जिक्र है। इसी दिन *The Times* ने इस तरह की एक और मौत का समाचार छापा था। यानी एक सप्ताह में ६ व्यक्ति भूख के शिकार हुए।"

[2] *Child Empl Comm Second Rep 1864* ('बाल सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० LXVII (सड़सठ), अंक ४०६-६, पृ० ८४, अंक १२४, पृ० LXXIII (तिहत्तर), अंक ४४१, पृ० ६८, अंक ६, पृ० ८४, अंक १२६, पृ० ७८, अंक ८५, पृ० ७६, अंक ६६, पृ० LXXII (बहत्तर), अंक ४८३।

[3] "मालूम होता है कि आखिर में जाकर यह बात इसी से तै होती है कि इन कमरों का कितना किराया देना पड़ता है। और इसलिये छोटे-छोटे मालिकों और परिवारों को ठेके पर काम देने की पुरानी प्रणाली सबसे ज्यादा देर तक राजधानियों में कायम रहती है और वहां जल्दी से जल्दी उसकी ओर कदम लौटाया जाता है।" (उप० पु०, पृ० ८३, अंक १२३।) इस उद्धरण की अन्तिम बात केवल जूते बनाने के व्यवसाय पर लागू होती है।

व्यवसायो में तमाम रूप आपस में मिले हुए हैं। यहा वह व्यवस्था पायी जाती है, जिसे सचमुच फक्टरी व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था में बीच के लोगो को पूजीपति en chef (मुख्य पूजीपति) से कच्चा माल मिलता है, और वे १० से ५० तक या उससे भी ज्यादा मजदूरो को "कमरा" या "बरसातियो" में अपनी मशीनो पर काम करने के लिये इकट्ठा कर लेते हैं। अन्त में, कुछ ऐसे स्थान भी हैं, जहा पर वही हालत है, जो सभी स्थानो में पदा हो जाती है, जहा मशीनें किसी सहति में सगठित नहीं होतीं और जहा बहुत ही छोटे पैमाने पर भी उनको इस्तेमाल किया जा सकता है। यहा दस्तकार और घरेलू मजदूर अपने परिवार के लोगो के साथ या बाहर के थोडे से श्रम की मदद से खुद अपनी सिलाई की मशीनों को इस्तेमाल करते हैं।[1] इगलण्ड में जो व्यवस्था सचमुच पायी जाती है, वह यह है कि पूजीपति अपने मकान पर मशीनो की एक बडी सख्या जमा कर लेता है और फिर इन मशीनों की पदावार को घरेलू मजदूरो के बीच बाट देता है, ताकि वे उसपर आगे काम कर सके।[2] किंतु सक्रान्तिकालीन रूपो की विविधता से वास्तविक फक्टरी व्यवस्था में रूपान्तरित हो जाने की प्रवृति पर पर्दा नहीं पड पाता। स्वय सिलाई की मशीन का स्वरूप ही इस प्रवृति का पोषण करता है। इस मशीन के नाना प्रकार के उपयोग होते ह। इससे एक ही धधे की जो बहुत सी शाखाए पहले एक दूसरे से अलग अलग थीं, उनको एक छत के नीचे और एक प्रबध के मातहत केन्द्रीभूत करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इसमें इस बात से भी मदद मिलती है कि शुरू की तयारी का सुई का काम और अन्य कुछ क्रियाए सबसे अधिक सुविधा के साथ उसी मकान में सम्पन्न हो सकती ह, जिसमें मशीन लगी है। साथ ही हाथ से सीने वालो का और खुद अपनी मशीनो पर काम करने वाले घरेलू मजदूरो का लाजिमी तौर पर दिवाला निकल जाने से भी इस बात में मदद मिलती है। कुछ हद तक उनका यह हाल हो भी चुका है। सिलाई की मशीनो में लगी हुई पूजी की मात्रा बराबर बढती जाती है।[3] इससे मशीन से तयार होने वाली वस्तुओ के उत्पादन को बढावा मिलता है, और मण्डिया उनसे अट जाती ह। तब घरेलू मजदूरो को मालूम हो जाता है कि अब उनके लिये अपनी मशीनें बेच देने का समय आ गया है। खुद सिलाई की मशीनो का अति उत्पादन होने लगता है, जिसकी वजह से उत्पादको को अपनी मशीनें बेचने की इतनी ज्यादा फिक्र हो जाती है कि वे उनको हफ्तेवार किराये पर उठाने लगते ह। इस तरह जो खौफनाक प्रतियोगिता शुरू होती है, उसमें मशीनो के छोटे-छोटे मालिक एकदम पिस जाते ह।[4] मशीनों की बनावट में भी बराबर परिवर्तन होते रहते ह, और वे अधिकाधिक सस्ती होती जाती हैं। इससे पुराने ढग की मशीनों का दिन-ब दिन मूल्य ह्रास होता जाता है, और वे बहुत ही कम दामो पर बडी भारी सख्या में बडे पूजीपतियो के हाथों बिकने लगती ह, क्योंकि अब महज वे ही उनको इस्तेमाल करके मुनाफा कमा सकते ह। अन्त

[1] दस्ताने बनाने के व्यवसाय में और अन्य ऐसे उद्योगा में, जिनके मजदूरा की हालत इतनी ज्यादा खराब हाती है कि उनमें और कगालो में काई भेद नही किया जा सकता, यह बात नही होती।

[2] उप० पु०, पृ० ८३, अक १२२।

[3] अकेले लीसस्टर के बूटा और जूता के थोक व्यवसाय में ही १८६४ में सिलाई की ८०० मशीनें इस्तमाल हा रही थी।

[4] उप० पु०, पृ० ८४, अक १२४।

में, इस प्रकार की अन्य तमाम क्रान्तियो के समान इस क्रान्ति में भी मनुष्य के स्थान पर भाप के इंजन का प्रयोग पुरानी व्यवस्था को अंतिम रूप से खतम कर देता है। शुरू में भाप की शक्ति के उपयोग के रास्ते में केवल प्राविधिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है, जैसे कि मशीनो में स्थिरता का अभाव होता है, उनकी चाल पर नियंत्रण रखना कठिन होता है, ज्यादा हल्की मशीनें बहुत जल्दी घिस जाती हैं, इत्यादि। इन तमाम कठिनाइयो को अनुभव द्वारा बहुत जल्द दूर कर दिया जाता है।[1] यदि, एक ओर, बडी-बडी हस्तनिर्माणशालाओ में बहुत सी मशीनो के केन्द्रीकरण से भाप की शक्ति के इस्तेमाल को बढ़ावा मिलता है, तो, दूसरी ओर, मानव मास-पेशियों के साथ भाप की जो प्रतियोगिता चलती है, उससे बडी बडी फैक्टरियो में मजदूरो और मशीनो के केन्द्रीकरण में तेजी आ जाती है। इस प्रकार, इंगलैण्ड में इस वक्त न केवल पहनने की पोशाको के विराट उद्योग में, बल्कि ऊपर जिन उद्योगों का जिक्र किया गया है, उनमें से अधिकतर में हस्तनिर्माण, दस्तकारियो और घरेलू काम के फैक्टरी-व्यवस्था में बदल जाने की क्रिया सम्पन्न हो रही है। और इसके बहुत पहले ही उत्पादन के इन तीनो रूपो में से प्रत्येक, आधुनिक उद्योग के प्रभाव से पूर्णतया परिवर्तित एवं असंगठित होकर, फैक्टरी-व्यवस्था की तमाम विभीषिकाओ का पुनरुत्पादन कर चुका है और यहा तक कि फैक्टरी-व्यवस्था से भी अधिक उग्र रूप में उसके तमाम अवगुणो को पैदा कर चुका है, हालांकि फैक्टरी-व्यवस्था में सामाजिक प्रगति के जो तत्व निहित होते हैं, उनमें से कोई इन रूपो में नहीं दिखाई दिया है।[2]

यह औद्योगिक क्रान्ति स्वयस्फूर्त ढग से होती है, पर फैक्टरी-कानूनो को उन तमाम उद्योगो पर लागू करके, जिन में स्त्रियो, लडके-लडकियो और बच्चो को नौकर रखा जाता है, इस क्रांति को बनावटी ढग से भी आगे बढाया जाता है। जब काम के दिन की लम्बाई, विराम के समय और काम के आरम्भ और समाप्त होने के समय का अनिवार्य रूप से नियमन होने लगता है, बच्चो की पालियो की प्रणाली पर नियंत्रण लग जाता है और एक निश्चित आयु से कम के बच्चो को नौकर रखने की मनाही हो जाती है, इत्यादि, इत्यादि, तब एक तरफ तो पहले

[1] उदाहरण देखिये पिमलिको (लन्दन) की फौजी पोशाको की फैक्टरी, लण्डनडरी में टिल्ली एंड हेण्डरसन की कमीजो की फैक्टरी और लिमेरिक में मैसर्स टेट की कपडा की फैक्टरी, जिसमें लगभग १,२०० मजदूर काम करते हैं।

[2] "फैक्टरी-व्यवस्था की ओर प्रवृत्ति" (उप० पु०, पृ० LXVII (सडसठ))। "इस वक्त पूरा धधा सक्रमण की अवस्था से गुजर रहा है, और उसमें वही परिवर्तन हो रहा है, जो लैस के धधे में और बुनाई आदि मे हो चुका है" (उप० पु०, अक ४०५)। "एक पूर्ण क्रान्ति" (उप० पु०, पृ० XLVI [छियालीस], नोट ३१८)। जिस समय १८४० का Child Empl Comm (बाल-सेवायोजन आयोग) काम कर रहा था, उस समय तक मोजे बनाने का काम हाथ से ही किया जाता था। १८४६ के बाद से तरह-तरह की मशीनें इस्तेमाल होने लगी हैं, जो आजकल भाप से चलायी जाती हैं। इंगलैण्ड में मोजे बनाने का काम करने वाले व्यक्तियो की कुल सख्या, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनो तथा ३ वर्ष से ऊपर सभी उम्रो के लोग शामिल थे, १८६२ में १,२९,००० थी। ११ फरवरी १८६२ के Parliamentary Return (ससदीय विवरण) के अनुसार इनमें से केवल ४,०६३ फैक्टरी-कानूनो के मातहत काम कर रहे थे।

से ज्यादा मशीनें जरूरी हो जाती हैं[1] और मास पेशियो के स्थान पर चालक शक्ति के रूप में भाप का उपयोग करने की आवश्यकता पैदा हो जाती है[2]। और, दूसरी तरफ, समय की क्षति को पूरा करने के उद्देश्य से उत्पादन के उन साधनो का विस्तार हो जाता है, जिनका सामूहिक ढग से इस्तेमाल किया जाता है, जसे भट्ठिया, मकान आदि, —सक्षेप में कहा जाये, तो सब उत्पादन के साधनो का पहले से अधिक केद्रीकरण हो जाता है और उसके अनुरूप पहले से बडी सख्या में मजदूर इकट्ठा कर दिये जाते ह। जब कभी किसी हस्तनिर्माण पर फक्टरी कानून के लागू होने का खतरा पैदा होता है, तब उसकी ओर से बार-बार और बडे जोरो के साथ खास एतराज असल में यह किया जाता है कि फैक्टरी-कानून लागू हो जाने के बाद पुराने पमाने पर धधा करने के लिये पहले से ज्यादा पूजी लगानी पडेगी। लेकिन जहा तक तथाकथित घरेलू उद्योगो और उनके तथा हस्तनिर्माण के बीच पाये जाने वाले अतर्कालीन रूपो का सम्बध है, जैसे ही काम के दिन पर और बच्चो को नौकर रखने पर सीमाए लगा दी जाती ह, वसे ही ये उद्योग चौपट हो जाते हैं। वे प्रतियोगिता में केवल उसी समय तक खडे रह सकते ह, जब तक कि उनको सस्ती श्रम-शक्ति का निर्बाध शोषण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

फक्टरी व्यवस्था के अस्तित्व के लिये जो शर्तें अत्यत आवश्यक ह, उनमें से एक यह है कि फल पहले से निश्चित होना चाहिये, अर्थात यह मालूम होना चाहिये कि इतने समय में मालो की इतनी मात्रा तैयार हो जायेगी या अमुक उपयोगी प्रभाव पदा हो सकेगा। जहा काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित होती है, वहा यह शर्त खास तौर पर जरूरी हो जाती है। इसके अलावा, कानून के अनुसार क्योकि काम के दिन को बीच-बीच में रोक देना जरूरी होता है, इसलिये पहले से ही यह मान लिया जाता है कि काम को समय-समय पर यकायक बीच में रोक देने से उस वस्तु को कोई हानि नहीं पहुचेगी, जो उत्पादन की क्रिया में से गुजर रही है। जाहिर है, उन उद्योगो की अपेक्षा जिनमें रासायनिक एव भौतिक क्रियाओ का भी भाग होता है, विशुद्ध रूप से यात्रिक उद्योगो में फल अधिक निश्चित रहता है और काम को बीच में रोक देना अधिक सहज होता है, मिसाल के लिये, मिट्टी के बतनो के धधे, कपडे सफेद करने के व्यवसाय, रोटी पकाने में और धातु के अधिकतर उद्योगो में चूकि रासायनिक एव भौतिक क्रियाओ का भी प्रयोग किया जाता है, इसलिये उनमें काम का फल उतना निश्चित नहीं होता और न ही उनमें काम को उतनी आसानी से बीच में रोका जा सकता है। जहा कहीं काम के दिन की लम्बाई पर कोई सीमा नहीं लगी होती, जहा कहीं रात को काम

---

[1] मिसाल के लिये, मिट्टी के बतनो के व्यवसाय में, ग्लासगो की Britain Pottery के मालिक, मैसर्स कोक्रेन ने बताया था कि "उत्पादन की मात्रा को बनाये रखने के लिये हम अब बडे पैमाने पर उन मशीनो का प्रयोग करने लगे हैं, जिनपर अनिपुण मजदूर काम करते हैं। और दिन प्रति दिन हमारा यह विश्वास बढता जाता है कि पुरानी पद्धति की अपेक्षा इस तरह हम अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं।" (*Rep of Insp of Fact 31st Oct 1865* ['फैक्टरियो के इन्सपक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १३।) "फक्टरी-कानूनो का असर यह हुआ है कि मशीनो का प्रयोग और भी बढा देना पडा है।" (उप० पु०, प० १३–१४।)

[2] चुनाचे, मिट्टी के बतनो के व्यवसाय पर फैक्टरी-कानून के लागू हो जाने के बाद hand moved jiggers (हाथ की छलनियो) के स्थान पर power jiggers (शक्ति से चलने वाली छलनियो) की सख्या में भारी वृद्धि हो गयी है।

कराया जाता है और मानव-जीवन का अनियन्त्रित ढग से अपव्यय किया जाता है, वहा यदि काम के स्वरूप के कारण काम के ढग को सुधारने में जरा सी भी कठिनाई महसूस होती है, तो उसे लोग शीघ्र ही प्रकृति की बनायी हुई एक शाश्वत बाधा समझने लगते ह। इस प्रकार की शाश्वत बाधाओ को फक्टरी-कानून जिस निश्चित रूप से हटा देता है, उससे अधिक निश्चित रूप में कोई जहर हानिकारक कीडो को नहीं मारता। "असम्भव बातो" के बारे में हमारे मित्र, मिट्टी के बर्तनो के कारखानो के मालिको के समान अय किसी ने इतना अधिक शोर नहीं मचाया था। किंतु १८६४ में उनपर भी कानून लागू हो गया, और सोलह महीने के अदर ही सारी "असम्भव बातें" सम्भव हो गयीं। इस कानून के लागू होने के फलस्वरूप "बर्तनो पर रोगन चढाने का मसाला (slip) तैयार करने के लिये सुखाने के बजाय दबाने वाला तरीका इस्तेमाल होने लगा, जो पहले तरीके से बेहतर है, बर्तनो को कच्ची हालत में ही सुखाने के लिये नये ढग की भट्ठिया बनायी जाने लगीं, इत्यादि इत्यादि। ऐसी प्रत्येक घटना का मिट्टी के बर्तन बनाने की कला के लिये भारी महत्व है, और वह एक ऐसी प्रगति की सूचक है, जिसका पिछली शताब्दी कतई मुकाबला नहीं कर सकती थी इससे खुद भट्ठियो तक का तापमान कम हो गया है, जिससे ईंधन में बहुत काफी बचत होने लगी है और बतन पहले से अच्छे पकते ह।"[1] तमाम भविष्यवाणियो के बावजूद फक्टरी-कानून लागू होने के परिणामस्वरूप बतनो की लागत नहीं बढी, मगर पदावार की मात्रा अवश्य बढ गयी, सो भी इस हद तक कि दिसम्बर १८६५ के साथ पूरे होने वाले बारह महीनो में जो निर्यात हुआ, उसका मूल्य पिछले तीन वर्षों के औसत निर्यात के मूल्य से १,३८,६२८ पौण्ड ज्यादा बढा। दियासलाइयो के हस्तनिर्माण में यह बात नितात आवश्यक समझी जाती थी कि लडके अपना भोजन भसकने के समय भी दियासलाइयो को गली हुई फासफरोस में डुबो-डुबोकर रखने का काम बराबर करते रहें, हालाकि इससे फासफोरस का विषैला वाष्प उनकी नाक और मुह में घुसता रहता था। फक्टरी-कानून (१८६४) ने इस उद्योग में समय की बचत को जरूरी बना दिया, और चुनाचे दियासलाइया फासफरोस में डुबोने के लिये एक मशीन (dipping machine) का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। इस मशीन से जो भाप उठती है, वह मजदूरो के सम्पक में नहीं आ सकती है।[2] इसी तरह लस के हस्तनिर्माण की उन शाखाओ में, जिनपर अभी फैक्टरी-कानून लागू नहीं हुआ है, यह कहा जाता है कि विभिन्न प्रकार के लसो को सुखाने के लिये चूकि अलग अलग समय की आवश्यकता होती है और चूकि यह समय तीन मिनट से लेकर एक घण्टा या उससे ज्यादा तक कुछ भी हो सकता है, इसलिये खाने की छुट्टी किसी एक निश्चित समय पर नहीं दी जा सकती। Children s Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) ने इस दलील का यह जवाब दिया है "इस धधे में जो परिस्थितिया पायी जाती ह, वे ठीक उन परिस्थितियो के अनुरूप ह, जो कागज रगने वालो के धधे में पायी जाती ह,

---

[1] *Reports of Insp of Fact 31st Oct , 1865* ('फैक्टरियो के [illegible] रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ९६ और १२७।

[2] दियासलाई बनाने के व्यवसाय में इस मशीन के तथा अय मशी[illegible] यह परिणाम हुआ कि अकेले एक विभाग में २३० लडके लडकियो का [illegible] की आयु के ३२ लडके लडकिया ने ले लिया। इस तरह श्रम की जो [illegible] हुई, [illegible] १८६५ में भाप की शक्ति का प्रयोग करके और भी आगे बढा दिया गया।

जिसपर हम अपनी पहली रिपोर्ट में विचार कर चुके हैं। इस धधे के प्रमुख कारखानेदारो का कहना था कि वे जिस तरह की सामग्री इस्तेमाल करते ह और जिन विविध प्रकार की क्रियाओ का उपयोग करते ह, उनके कारण वे भारी नुक़सान उठाये बिना किसी एक निश्चित समय पर भोजन की छुट्टी के लिये काम को बीच में नहीं रोक सकते। परतु गवाहिया लेने पर पता चला कि यदि आवश्यक सतर्कता बरती जाये और पहले से सब प्रबध कर लिया जाये, तो जिस कठिनाई का डर है, उसे दूर किया जा सकता है। और चुनाचे ससद के वर्तमान अधिवेशन में Factory Acts Extension Act (फक्टरी क़ानूनों के विस्तार का क़ानून) पास कर दिया गया, जिसकी छठी धारा की उपधारा ६ के अनुसार इन कारखानेदारो को सूचित कर दिया गया है कि इस क़ानून के पास हो जाने के अठारह महीने के अन्दर उनको फक्टरी-कानूनो के मुताबिक भोजन की छुट्टी का समय निश्चित कर देना होगा।"[1] कानून पास हुआ ही था कि हमारे मित्र कारखानेदारो को यह पता चला "हस्तनिर्माण की हमारी शाखा पर फक्टरी-कानूनो के लागू होने से हमें जिन असुविधाओं के पदा होने का डर था, वे,—मुझे यह कहते हुए खुशी होती है,—पैदा नहीं हुईं। उत्पादन में जरा भी रुकावट नहीं पडी, सक्षेप में, हम उतने ही समय में पहले से ज्यादा उत्पादन करने लगे हैं।"[2] स्पष्ट है कि इगलैण्ड की धारा-सभा, जिसपर कोई भी यह आरोप लगाने का दुस्साहस नहीं करेगा कि उसमें प्रतिभा का अतिरेक है, अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुच गयी है कि काम के दिन पर नियत्रण लगाने और उसका नियमन करने के रास्ते में खुद उत्पादन प्रक्रिया के स्वरूप से पैदा होने वाली जितनी तथाकथित बाधाओ का रोना रोया जाता है, उन सब को दूर कर देने के लिये एक सरल सा कानून, जिसको मानना सब के लिये जरूरी हो, पर्याप्त होता है। इसलिये जब किसी खास उद्योग पर फैक्टरी-कानून लागू किया जाता है, तब उसके लिये छ महीने से अठारह महीने तक की एक ऐसी अवधि नियत कर दी जाती है, जिसमें कारखानेदारो को उन तमाम प्राविधिक बाधाओ को हटा देना पडता है, जिनसे कानून के अमल में आने में रुकावट पड सकती है। मिराबो की वह प्रसिद्ध उक्ति "Impossible' ne me dites jamais ce bête de mot! ("असम्भव' इस मूर्खतापूर्ण शब्द का मेरे सामने कभी व्यवहार मत करना!") —आधुनिक प्रौद्योगिकी पर खास तौर पर लागू होती है। परतु ये फक्टरी-क़ानून हालांकि उन भौतिक तत्वो को बनावटी ढग से परिपक्व कर देते ह, जो हस्तनिर्माण व्यवस्था के फक्टरी व्यवस्था में रूपातरित हो जाने के लिये आवश्यक होते ह, फिर भी चूकि उनकी वजह से पहले से ज्यादा पूजी लगाना आवश्यक हो जाता है, इसलिये इसके साथ-साथ छोटे-छोटे मालिको के पतन तथा पूजी के सकेन्द्रण की क्रिया में भी तेजी आ जाती है।[3]

---

[1] '*Ch Empl Comm II Rep 1864* ('बाल सेवायोजन कमीशन की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), प० IX (नौ), अक ५०।

[2] *Rep of Insp of Fact 31st Oct 1865* ('फैक्टरी इस्पक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), प० २२।

[3] "परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि यद्यपि ये सुधार कुछ प्रतिष्ठाना में पूरी तौर पर कार्यान्वित हो चुके है, तथापि वे सब जगह नही पाये जाते, और पुरानी हस्तनिर्माणशालाओ में म बहुत सी ऐसी हैं, जिनमें ये सुधार उस वक्त तक अमल में नही लाये जा सकते, जब तक कि इतना खर्चा न किया जाये, जो इन हस्तनिर्माणशालाओ के मौजूदा मालिका में स बहुतो क बूते के बाहर है।" सब इस्पक्टर मे ने लिखा है "इस प्रकार के कानून के लागू होने पर (जैसा

विशुद्ध रूप से प्राविधिक बाधाओ के अलावा, जिन्हें प्राविधिक साधनो के द्वारा हटाया जा सकता है, खुद मजदूरो की अनियमित आदतो के कारण भी श्रम के घण्टो का नियमन करना मुश्किल हो जाता है। यह मुश्किल खास तौर पर वहा देखने को मिलती है, जहा कार्यानुसार मजदूरी का अधिक चलन है और जहा दिन या सप्ताह के एक भाग में यदि समय की कुछ हानि हो जाती है, तो वह बाद को ओवरटाइम काम करके या रात को काम करके पूरी कर दी जाती है। यह एक ऐसी क्रिया है, जो वयस्क मजदूर को पशु-तुल्य बना देती है और उसकी पत्नी तथा बच्चो को बरबाद कर देती है।[1] श्रम-शक्ति खर्च करने में नियमितता का यह अभाव यद्यपि एक ही तरह के नीरस काम की नागवार थकन की प्राकृतिक एव तीव्र प्रतिक्रिया होता है, परन्तु उसके साथ-साथ इससे भी अधिक मात्रा में वह उत्पादन की अराजकता से पैदा होता है,—उस अराजकता से, जो खुद पूजीपति द्वारा श्रम-शक्ति के अनियन्त्रित शोषण की सूचक होती है। औद्योगिक चक्र में जो नियतकालिक सामान्य परिवर्तन आते रहते हैं और हर उद्योग पर मण्डियो के जिन विशिष्ट उतार-चढ़ावो का असर पडा करता है, उनके अलावा हमें उस चीज का भी ध्यान रखना होगा, जो "अनुकूल मौसम" कहलाती है और जो या तो इस बात पर निर्भर करती है कि वर्ष के कुछ खास मौसम समुद्री परिवहन के लिये उपयुक्त होते हैं और वे एक निश्चित समय पर आते हैं, और या जो फैशन पर और उन बडे आडरो पर निर्भर करती है जो यकायक मिल जाते हैं और जिनको कम से कम समय में पूरा कर देना पडता है। रेल और तार व्यवस्था के विस्तार के साथ इस तरह के आर्डर देने की आदत और जोर पकड लेती है। "रेल व्यवस्था का देश भर में प्रसार हो जाने से फौरी आडर देने की आदत को बहुत प्रोत्साहन मिला है। अब खरीदार ग्लासगो, मानचेस्टर और एडिनबरा से चौदह दिन में एक

कि फैक्टरी-कानूनो के विस्तार का कानून है) जो अस्थायी अव्यवस्था अनिवार्य रूप से पैदा होती है और जो असल में प्रत्यक्ष रूप से उन बुराइयो की सूचक होती है, जिनको दूर करना इस कानून का उद्देश्य था, उस अस्थायी अव्यवस्था के बावजूद मैं खुश हुए बिना नही रह सकता हू, इत्यादि।" (*"Rep of Insp of Fact , 31st Oct 1865* ['फैक्टरी-इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० ९६, ९७)।

[1] उदाहरण के लिये, पिघलाऊ भट्टियो के सिलसिले में यह स्थिति है कि "सप्ताह के अन्तिम दिनो में आम तौर पर काम की अवधि बहुत ज्यादा बढा दी जाती है, क्योकि मजदूरो को सोमवार को तथा कभी-कभी मगलवार को भी कुछ समय तक या पूरा दिन काहिली में बिता देने की आदत पडी हुई है।" (*Child Empl Comm III Rep* ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'], पृ० VI [छ]।) "छोटे छोटे मालिको के यहा आम तौर पर काम के घण्टे बहुत अनियमित होते हैं। वे दो-दो या तीन-तीन दिन जाया कर देते हैं और फिर इस क्षति को पूरा करने के लिये रात भर काम करते हैं यदि उनके बच्चे होते हैं, तो वे सदा उनसे भी काम लेते हैं।" (उप० पु०, पृ० VII [सात]।) "काम पर आने में नियमितता का अभाव होता है, जिसे देर तक काम करके समय की क्षति को पूरा कर देने की सम्भावना तथा प्रचलित प्रथा से प्रोत्साहन मिलता है।" (उप० पु०, पृ० XVIII [अठारह]) "बिमिघम में अत्यधिक समय जाया हो जाता है कुछ समय मजदूर काहिली में बिता देते है, बाकी समय वे गुलामो की तरह मेहनत करते हैं।' (उप० पु०, पृ० XI [ग्यारह]।)

बार या कुछ इसी प्रकार की अवधि के बाद शहर के थोक व्यापार करने वाले उन गोदामो में पहुचते ह, जिन्हे हम माल देते ह, और पहले की तरह स्टाक से खरीदने के बजाय फौरी आडर देते ह, जिनको फौरन पूरा करना होता है। बरसो पहले हम व्यापार में शिथिलता के समय हमेशा काम करते रह सकते थे, ताकि अगले मौसम की माग को पूरा करने के लिये माल तैयार कर ले, पर अब कोई पहले से नहीं कह सकता कि अगला मौसम आने पर माग क्या होगी।"[1]

जिन फक्टरियो और हस्तनिर्माणशालाओ पर अभी तक फक्टरी कानून लागू नहीं हुए ह, उनमें यकायक मिलने वाले आडरो के परिणामस्वरूप समय-समय पर, यानी तथाकथित "मौसम" के आने पर, मजदूरो से भयानक हद तक अधिक काम लिया जाता है। फैक्टरी के, हस्तनिर्माण-शाला के और गोदाम के बाहरी विभाग में काम करने वाले तथाकथित घरेलू मजदूर, जिनका रोजगार बहुत अच्छी परिस्थितियो में भी बडा अनियमित होता है, अपने कच्चे माल और अपने आर्डरो के लिये पूरी तरह से पूजीपति की सनक पर निर्भर करते ह। और इस उद्योग में पूजीपति को अपने मकानो और मशीनो के मूल्य ह्रास की कोई चिता नहीं होती, उसका हाथ बिल्कुल खुला रहता है, और काम को बीच में रोक देने से खुद मजदूर की खाल के लिये पदा होने वाले खतरे के सिवा उसे कोई जोखिम नहीं उठानी पडती। अत यहा पर वह एक ऐसी रिजव औद्योगिक सेना का निर्माण करने के लिये सुनियोजित ढग से कोशिश करने लगता है, जो एक क्षण की सूचना पर काम में जुट जाने के लिये तयार रहे। वष के एक भाग में वह इस सेना से अत्यत अमानवीय श्रम करावे उसे नष्टप्राय कर देता है, और दूसरे भाग में वह उसे काम न दे कर भूखो मारता है। "जब कभी यकायक अतिरिक्त काम कराने की आवश्यकता होती है, तब मालिक लोग घरेलू काम की अभ्यासगत अनियमितता से लाभ उठाते ह, और काम रात के ११ बजे, १२ बजे या २ बजे तक, या, जैसा कि आम तौर पर कहा जाता है, "चौबीसो घण्टे" चलता रहता है, और वह भी उन मुहल्लो में जहा "बदबू इतनी ज्यादा होती है कि तमाचे की तरह आपके मुह पर आकर लगती है" (the stench is enough to knock you down)। "आप दरवाजे तक जाते हैं, शायद दरवाजा खोलते भी ह, पर आगे नहीं बढ़ पाते, आपकी हिम्मत जवाब दे देती है।"[2] एक गवाह ने, जो जूते बनाता था, अपने मालिको का जिक्र करते हुए कहा था "वे अजीब ढग के लोग ह। वे समझते ह कि अगर कोई लडका साल में छ महीने लगभग खाली हाथ बठा रहता है, तो बाकी छ महीने यदि उससे अत्यधिक काम भी लिया जाये, तो उसे कोई नुक्सान नहीं पहुचेगा।"[3]

कुछ ऐसी "प्रथाए ह, जिनका प्रचार व्यवसाय के विकास के साथ बढता गया है"

---

[1] *Child Empl Comm IV Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपाट'), पृ० XXXII (बत्तीस)। "रल-व्यवस्था के प्रसार को यकायक आडर देने की इस प्रथा के विस्तार के लिये बहुत हद तक जिम्मेदार बताया जाता है, जिसके फलस्वरूप काम में बहुत जल्दी की जाती है, भोजन की छुट्टी का कोई खयाल नहीं रखा जाता और मजदूरो का देर तक काम करना पडता है।" (उप० पु०, पृ० XXXI [इकत्तीस]।)

[2] *Ch Empl Comm IV Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपाट'), पृ० XXXV (पैंतीस), अक २३५, २३७।

[3] "*Ch Empl Comm IV Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपाट'), पृ० १२७, अक ५६।

('usages which have grown with the growth of trade"), और उन्हें भी, प्राविधिक बाधाओं की तरह ही, गरजमन्द पूंजीपति काम के स्वरूप से उत्पन्न प्राकृतिक बाधाओं के रूप में पेश करते थे और करते हैं। जब सूती व्यवसाय के स्वामियों के लिये पहली बार फ़ैक्टरी-क़ानूनों का ख़तरा पैदा हुआ था, तो उन्होंने ख़ास तौर पर इस तरह का शोर मचाया था। यद्यपि अन्य किसी भी उद्योग की अपेक्षा उनका उद्योग नौ परिवहन पर अधिक निर्भर करता है, तथापि अनुभव ने उनके प्रचार को झूठा सिद्ध कर दिया है। उस समय से जब कभी मालिकों ने किसी रुकावट का बहाना बनाया है, तब फ़ैक्टरी इंस्पेक्टरों ने उसे सदा महज़ धोखे की टट्टी समझा है।[1] पूरी ईमानदारी के साथ काम करने वाले Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) की खोज से यह सिद्ध हो जाता है कि काम के घण्टों के नियमन का कुछ उद्योगों में यह फल हुआ है कि पहले से ही काम में लगे हुए श्रम को अब पूरे साल पर अधिक समतुलित रूप में फैला दिया जाता है[2], कि फ़ैशन की अर्थहीन और घातक सनक पर, उस सनक पर, जो आधुनिक उद्योग की व्यवस्था से कतई मेल नहीं खाती, इस नियमन के रूप में पहली बार एक विवेकसंगत लगाम लगायी गयी थी,[3] कि महासागरों के नौ-परिवहन और आम तौर पर संचार के सभी प्रकार के साधनों के विकास के फलस्वरूप वह प्राविधिक आधार

[1] "जहाज में माल भेजने के जो आर्डर मिलते हैं, उनको यदि ठीक समय पर पूरा नहीं किया जाता, तो व्यवसाय में बड़ी हानि होती है। मुझे याद है कि १८३२ और १८३३ में फ़ैक्टरी-मालिकों की यह एक प्रिय दलील हुआ करती थी। अब इस विषय पर जो कुछ भी कहा जा सकता है, उसमें वह ज़ोर नहीं हो सकता, जो उस समय तक हुआ करता था, जब तक कि भाप ने हर दूरी को आधा नहीं कर दिया था और यातायात के नये नियमों की स्थापना नहीं कर दी थी। उन दिनों जब इस तर्क को प्रमाण की कसौटी पर कसा गया था, तो वह सर्वथा असफल रहा था, और अब भी यदि उसे परखकर देखा जाये, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह झूठा ही सिद्ध होगा।" (*Reports of Insp of Fact*, *31 Oct 1862* ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५४, ५५।)

[2] '*Ch Empl Comm IV Rep* ('बाल सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'), पृ० XVIII (अठारह), अंक ११८।

[3] जान वैलेस ने १६९९ में ही यह कह दिया था कि "फ़ैशन की अनिश्चितता से अवश्य ही ज़रूरतमन्द गरीबों की संख्या में वृद्धि होती है। उसमें दो बड़ी बुराइयां होती हैं। पहली यह कि कारीगर जाड़ों में काम के अभाव से बहुत दुःखी रहते हैं, जब तक वसन्त नहीं आ जाता और यह नहीं मालूम हो जाता कि तब क्या फ़ैशन होगा, उस वक्त तक कपड़ों के सौदागर तथा उस्ताद बुनकर अपना स्टाक बाहर निकालने की हिम्मत नहीं करते और इसलिये कारीगरों को काम नहीं दे पाते। दूसरी बुराई यह है कि वसन्त में कारीगर काफ़ी नहीं होते, लेकिन उस्ताद बुनकरों को तीन या छः महीने के अन्दर राज्य के पूरे व्यापार की पूर्ति कर देने के लिये बहुत सारे शागिर्दों को भर्ती करना पड़ता है, जिससे खेती में हलवाहों की कमी हो जाती है, देहाती इलाके मजदूरों से खाली हो जाते हैं और शहर प्रायः भिखारियों से भर जाते हैं, और जो लोग भीख मांगने में सकुचाते हैं, वे जाड़ों में भूखा मरने लगते हैं।" (*Essays about the Poor, Manufactures &c* ['गरीबों, हस्तनिर्माणों आदि के विषय में निबंध'] पृ० ९।)

नष्ट हो गया है, जिसके सहारे मौसमी काम सचमुच खडा हुआ था,[1] कि जब पहले से बडे मकान बनने लगते ह, नयी मशीनें लगायी जाती हैं, काम में लगे हुए मजदूरो की सख्या में वृद्धि होती है[2] और जब इन सब बातो के परिणामस्वरूप थोक व्यापार करने की प्रणाली में तबदीलिया हो जाती हैं,[3] तो बाक़ी तमाम तथाकथित अजेय कठिनाइयां भी गायब हो जाती ह। लेकिन, इन तमाम बातो के बावजूद, पूजी ऐसी तबदीलियो को कभी दिल से स्वीकार नहीं करती,— और यह बात खुद उसके प्रतिनिधि भी बार-बार तसलीम कर चुके ह। पूजी तभी इन्हें स्वीकारती है, जब ससद श्रम के घण्टो का अनिवार्य रूप से नियमन करने के लिये कोई सामान्य क़ानून बना देती है और पूजी पर उस क़ानून का दबाव पडता है।[4]

अनुभाग ९ — फ़ैक्टरी-कानून। — उनकी सफाई और शिक्षा से सम्बध रखने वाली धाराए। — इगलैण्ड मे उनका सामान्य प्रसार

उत्पादन की प्रक्रिया के स्वयस्फूत ढग से विकसित रूप के विरुद्ध समाज की पहली सचेतन एव विधिवत प्रतिक्रिया फक्टरी-कानूनो के रूप में सामने आती है। जैसा कि हम देख चुके ह, फक्टरी-कानून सूत, स्वचालित यत्र और बिजली से काम करने वाली तार-व्यवस्था के समान

---

[1] *Ch Empl Comm V Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट'), पृ० १७१, अक ३४।

[2] निर्यात का काम करने वाली ब्रैडफोड की कुछ कम्पनिया की गवाही इस प्रकार है "इन परिस्थितियो मे यह बात साफ है कि काम पूरा करने के लिये किसी भी लडके से सुबह ८ बजे से शाम के ७ या ७ ३० बजे से ज्यादा देर तक काम कराने की कोई जरूरत नही है। यह केवल अतिरिक्त मजदूरो को नौकर रखने और अतिरिक्त पूजी लगाने का सवाल है। यदि कुछ मालिक इतने लालची न हो, तो लडको को इतनी देर तक काम न करना पडे। एक अतिरिक्त मशीन पर केवल १६ या १८ पौण्ड खच होते हैं। मजदूरो से आजकल जो ओवरटाइम काम कराया जाता है, उसका अधिकाश उपकरणो की कमी और स्थान के अभाव का परिणाम होता है।" ('बाल सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट', पृ० १७१, अक ३५, ३६, ३८।)

[3] उप० पु०। लन्दन का एक कारखानेदार है, जो यह समझता है कि श्रम के घण्टो का अनिवार्य नियमन कारखानेदारो से मजदूरो की रक्षा और खुद कारखानेदारो की थोक व्यापारियो से रक्षा के लिये जरूरी है। उसने कहा है "हमारे व्यवसाय मे जो दबाव दिखाई दे रहा है, वह उन व्यापारियो का पैदा किया हुआ है, जो, मिसाल के लिये, अपना सामान पालदार जहाज से भेजना चाहते हैं, ताकि वह एक खास मौसम मे अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुच जाये और साथ ही पालदार जहाज और भाप से चलने वाले जहाज के किराये मे जो अन्तर होता है, वह भी उनकी जेब मे पहुच जाये, या जो अपने प्रतिद्वन्द्वियो से पहले विदेशी मण्डी मे पहुच जाने के उद्देश्य से भाप के दो जहाजो मे से जो पहले रवाना होने वाला होता है, उसको चुन लेते हैं।"

[4] एक कारखानेदार के शब्दो मे, "इस चीज से इस कीमत पर बचा जा सकता है कि ससद के बनाये हुए किसी सामान्य कानून के दबाव के फलस्वरूप कारखाने का विस्तार करना जरूरी हो जाये।" (उप० पु०, पृ० X [दस], अक ३८।)

आधुनिक उद्योग की ही अनिवाय पैदावार है। इन क़ानूनो के इगलैण्ड में विस्तार पर विचार करने के पहले हम फैक्टरी-कानूनो की कुछ खास धाराओ पर, जो काम के घण्टो से सम्बधित नहीं ह, सक्षेप में विचार करेंगे।

सफाई से सम्बध रखने वाली धाराओ की शब्दावली इस ढग की है कि पूजीपति बडी आसानी से अपने बचाव की तरकीब निकाल लेते ह। इसके अलावा, इन धाराओ का क्षेत्र बहुत ही अपर्याप्त है, और सच पूछिये, तो ये धाराए केवल दीवारो पर सफेदी कराने, कुछ अय मामलो में सफाई रखने, ताजा हवा के लिये रोशनदानो की व्यवस्था करने और खतरनाक मशीनो से मजदूरो के बचाव का प्रबध करने से सम्बध रखने वाली धाराओ तक ही सीमित ह। मालिको ने इन धाराओ का, जिनके कारण उनको अपने मजदूरो के अगो के बचाव के उपकरणो पर कुछ खर्चा करना पड रहा था, दीवानो की तरह जो जबदस्त विरोध किया था, उसकी हम तीसरी पुस्तक में फिर चर्चा करेंगे। उनके इस विरोध से स्वतत्र व्यापार की उस रूढ़ि पर भी एक नया और तीखा प्रकाश पडता है, जिसका यह कहना है कि विरोधी हितो वाले समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के सिवाय और किसी चीज की चिता न करते हुए अनिवार्य रूप से सब के कल्याण के लिये काम करता है। यहा एक उदाहरण काफी होगा। पाठक को मालूम है कि पिछले २० वर्षों में फ्लक्स के उद्योग का बहुत विस्तार हुआ है और इस विस्तार के साथ आयरलैंड में scutching mills (फ्लक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलो) की सख्या भी बढ गयी है। १८६४ में उस देश में १,८०० ऐसी mills (मिले) थीं। शरद और शीत ऋतु में वहा नियमित रूप से स्त्रियो और लडके लडकियो को, पास पडोस के छोटे काश्तकारो की पत्नियो और पुत्र पुत्रियो को, जिनका मशीनो के बिलकुल आदी न होने वाले वर्ग से सम्बध होता है, खेतो से उठाकर scutching mills (फ्लक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलो) के बेलनो के बीच में फ्लैक्स डालने का काम करने के लिये नौकर रखा जाता है। इन मिलो में जितनी और जैसी भायानक दुघटनाए होती ह, उनकी मशीनों के इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। कोक के निकट किल्डिनान में स्थित इस तरह की एक मिल में १८५२ और १८५६ के बीच छ दुघटनाए ऐसी हुईं, जिनमें मजदूरो की जान गयी, और साठ दुघटनाओं में वे लुज-पुज हुए। इन तमाम दुघटनाओ को कुछ शिलिग के सस्ते और बहुत ही सरल उपकरण लगाकर रोका जा सकता था। डाउनपैट्रिक में फैक्टरियो को सर्टीफिकेट देने वाले डाक्टर (certifying surgeon) डा० डब्लयू० व्हाइट ने १५ दिसम्बर १८६५ की अपनी रिपोट में लिखा है 'scutching mills (फ्लैक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलो) में घटने वाली गम्भीर दुर्घटनाए बहुत डरावनी क़िस्म की होती ह। बहुत सी दुघटनाओ में शरीर का चौथाई भाग धड से अलग हो जाता है, और उसके फलस्वरूप या तो आदमी मर जाता है और या उसे बाकी जीवन लाचार और मुहताज बनकर दु ख भोगना पडता है। देश में मिलो की सख्या में वृद्धि हो जाने से, जाहिर है, इन भयानक परिणामों की और वृद्धि होगी, और यदि इन मिलो को कानून के मातहत कर दिया जाये, तो बडा भारी उपकार हो। मुझे विश्वास है कि scutching mills (फ्लक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलो) का यदि समुचित रूप से निरीक्षण हो, तो आजकल जाने वाली जानो और भेंट चढ़ने वाले अगों को बचाया जा सकता है।"[1]

---

[1] उप० पु०, पृ० XV (पद्रह), अक ७२ और उसके आगे के अक।

उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का असली स्वरूप इसकी अपेक्षा और किस बात से अधिक स्पष्ट हो सकता था कि सफाई रखने और मजदूरो की स्वास्थ्य रक्षा के लिये बहुत ही मामूली से उपकरण लगवाने के लिये भी ससद द्वारा कानून बनवाकर उसके साथ जबदस्ती करनी पडती है? जहा तक मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारखानो का सम्बध है, १८६४ के फक्टरी-कानून ने "२०० से अधिक कारखानो में सफाई और सफेदी करवा दी ह। इनमें से बहुत से कारखानो में २० वप से सफाई नहीं हुई थी और कुछ को तो कभी भी साफ नहीं किया गया था (यह है पूजीपति का "परिवजन"!) । इन कारखानो में २७,८०० कारीगर काम करते हैं, जो अभी तक मेहनत के लम्बे दिन और अक्सर लम्बी रातें इस सडाध से भरे वातावरण में बिताया करते थे, जिसने इस धधे को, जो औरो की तुलना में कम हानिकारक धधा है, बीमारियो और मौत का कारण बना रखा था। कानून से साफ हवा के इन्तजाम में बहुत सुधार हो गया है।"[1] इसके साथ-साथ कानून के इस हिस्से से यह बात भी एकदम साफ हो जाती है कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक बिन्दु के आगे कोई विवेकसगत सुधार नहीं किया जा सकता। यह बात बारबार कही जा चुकी है कि अग्रेज डाक्टरो की यह सवसम्मत राय है कि जहा पर काम लगातार होता हो, वहा पर हर व्यक्ति के लिये कम से कम ५०० घन फुट स्थान होना चाहिये। इन फक्टरी-कानूनो से उनकी अनिवाय धाराओ के कारण अप्रत्यक्ष रूप से छोटे छोटे कारखानो के फक्टरियो में बदल जाने की क्रिया में तेजी आ जाती है और इस तरह छोटे पूजीपतियो के स्वामित्व के अधिकारो पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रहार होता है तथा बडे पूजीपतियो को एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। अब यदि हर कारखाने में प्रत्येक मजदूर के लिये समुचित स्थान रखना अनिवाय बना दिया जाये, तो एक झटके में हजारो की सख्या में छोटे मालिको की सम्पत्ति का प्रत्यक्ष रूप से अपहरण हो जायेगा! उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली की जड – अर्थात श्रम शक्ति की "स्वतत्र" खरीदारी और उपभोग के द्वारा छोटी या बडी, हर प्रकार की पूजी के आत्म विस्तार – पर ही चोट होगी। चुनाचे ५०० वग फुट के स्थान के इस लक्ष्य तक पहुचने के पहले ही फक्टरी-कानूनो में गतिरोध पदा हो जाता है। सफाई-विभाग के अफसर, औद्योगिक जाच कमिश्नर, फैक्टरी इस्पेक्टर, सब बार बार यही राग अलापते ह कि ५०० वग फुट स्थान अत्यतावश्यक है, और यह रोना रोते हैं कि पूजी से यह स्थान पाना असम्भव है। इस प्रकार, वे असल में यह घोपणा करते ह कि मजदूरो में तपेदिक और फेफडे की अन्य बीमारियो का होना पूजी के अस्तित्व की एक आवश्यक शत है।[2]

---

[1] *Rep Insp Fact 31st October 1865* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरा की रिपार्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० १२७।

[2] प्रयोग करके यह पता लगाया गया है कि जब कोई औसत किस्म का तदरुस्त आदमी औसत तीव्रता का सास लेता है, तो वह लगभग २५ घन इच हवा खच कर डालता है, और एक मिनट में लगभग २० बार सास ली जाती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति २४ घण्टे मे ७,२०,००० घन इच, या ४१६ घन फुट हवा अपने अदर ले जाता है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि जो हवा एक बार मनुष्य के शरीर के अदर चली जाती है, वह उस वक्त तक फिर सास लेने के काम नही आ सकती, जब तक कि वह प्रकृति के विराट कारखाने मे शुद्ध नही कर दी जाती। वलेटिन और ब्रुनेर के प्रयोगो के अनुसार, स्वस्थ आदमी हर घटा १,३०० घन इच कार्बोनिक एसिड हवा मे छोडता है, यानी २४ घण्टे मे एक आदमी के फेफडे ८ आउस ठास कावन हवा मे फेंक देते हैं। "हर आदमी के पास कम से कम ८०० घन फुट स्थान होना चाहिये।' (Huxley पृ० १०५)

फक्टरी-कानून की शिक्षा-सम्बधी धाराए कुल मिलाकर भले ही तुच्छ प्रतीत होती हो, पर उनसे यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि प्राथमिक शिक्षा बच्चो को नौकर रखने की एक निताल आवश्यक शर्त बना दी गयी है।[1] इन धाराओ की सफलता से पहली बार यह प्रमाणित हुआ कि हाथ के श्रम के साथ शिक्षा और व्यायाम[2] को जोडना सम्भव है और इसलिये शिक्षा और व्यायाम के साथ हाथ का श्रम भी जोडा जा सकता है। स्कूल मास्टरो से पूछताछ करने पर फैक्टरी इस्पेक्टरो को शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि यद्यपि फक्टरी में काम करने वाले बच्चो को नियमित रूप से स्कूलो में पढने वाले विद्यार्थियो की केवल आधी शिक्षा ही मिलती है, तथापि वे उन विद्यार्थियो के बराबर और अक्सर उनसे भी अधिक सीख जाते ह। "इसका कारण यह साधारण तथ्य है कि केवल आधे दिन स्कूल में बठने के कारण ये बच्चे हमेशा ताजा रहते ह और शिक्षा प्राप्त करने के लिये वे लगभग सदैव ही तैयार तथा राजी होते ह। वे जिस व्यवस्था के अनुसार काम करते ह, – यानी आधे दिन हाथ का श्रम करना और आधे दिन स्कूल में पढना, – उससे श्रम और पढाई दोनो एक दूसरे के सम्बध में विश्राम और राहत का रूप धारण कर लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि दोनो काम बच्चे के लिये अधिक सुखकर बन जाते हैं। यदि बच्चे से लगातार श्रम या पढाई करायी जाती, तो ऐसा न होता। यह बात बिल्कुल साफ है कि जो लडका (खास तौर पर गरमियो के मौसम में) सुबह से स्कूल में पढ रहा है, वह उस लडके का मुकाबला नहीं कर सकता, जो अपने काम से ताजा और उल्लासपूर्ण दिमाग लिये हुए लौटता है।"[3] इस विषय में और जानकारी सीनियर के उस

---

[1] इगलैण्ड के फैक्टरी कानून के मुताबिक मा बाप १४ वप से कम उम्र के वच्चा को उन फैक्टरिया मे, जिनपर फैक्टरी-कानून लागू है, उस वक्त तक काम करने के लिये नही भेज सक्ते, जव तक कि उसके साथ-साथ वे उनको प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति नही दे देते। कानून की धाराओ का पालन करने की जिम्मेदारी कारखानेदार पर हाती है। 'फैक्टरी मे दी जाने वाली शिक्षा अनिवाय है, और वह श्रम की एक आवश्यक शत है।" (*Rep Insp Fact 31 st Oct 1865* ['फैक्टरी इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १११।)

[2] फैक्टरी मे काम करने वाले बच्चा और मुहताज विद्यार्थिया की अनिवाय शिक्षा के साथ-साथ व्यायाम (और लडको के लिये कवायद) का प्रबध करने के जो अत्यत हितकारी परिणाम हुए है, उनकी जानकारी पाने के लिये एन० डब्लयू० सीनियर का वह भापण देखिये, जा उन्होने The National Association for the Promotion of Social Science ('सामाजिक विज्ञान की उन्नति के लिये बनायी गयी राष्ट्रीय सस्था') की सातवी वार्षिक काग्रेस के सामने दिया था। यह भापण *Report of Proceedings &c* ('कायवाही, आदि, की रिपार्ट'), London 1863 मे प्रकाशित हुआ है। देखिये पृ० ६३, ६४। *Rep Insp Fact 31st Oct 1865* ('फैक्टरी इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ११८, ११६, १२०, १२६ और उसके आगे के पृष्ठ भी देखिये।

[3] *Rep Insp Fact 31st Oct 1865* ('फैक्टरी इस्पक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ११८। रेशम के कारखाने के एक मालिक ने Children s Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) के सदस्या को वडे भोलेपन के साथ बताया था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुदक्ष मजदूर तैयार करने का असली गुर यह है कि वचपन से ही

भाषण से मिल सकती है, जो उन्होने १८६३ में एडिनबरा में सामाजिक विज्ञान काग्रेस के सामने दिया था। उसमें सीनियर ने अन्य बातो के अलावा यह भी बताया है कि उच्च और मध्य श्रेणियो के बच्चो को स्कूलो में जो नीरस और व्यर्थ के लिये लम्बा समय बिताना पडता है, उससे शिक्षक का श्रम किस तरह फिजूल ही बढ़ जाता है, और शिक्षक किस तरह "न केवल अनुपयोगी ढग से, बल्कि सर्वथा हानिकारक ढग से बच्चो के समय, स्वास्थ्य और शक्ति का अपव्यय किया करता है।"[1] जैसा कि रोबर्ट ओवेन ने विस्तार के साथ हमें बताया है, फैक्टरी व्यवस्था में से भावी शिक्षा की कली फूटती है, —उस शिक्षा की, जो एक निश्चित आयु से ऊपर के प्रत्येक बच्चे के लिये शिक्षा और व्यायाम के साथ-साथ उससे कोई उत्पादक श्रम कराने का भी प्रबध करेगी, और यह केवल इसलिये नहीं किया जायेगा कि यह उत्पादन की कार्य-क्षमता को बढाने का एक तरीका है, बल्कि इसलिये भी कि पूरी तरह विकसित मानव के उत्पादन का यह एकमात्र तरीका है।

जैसा कि हम देख चुके है, आधुनिक उद्योग प्राविधिक साधनो के द्वारा हस्तनिर्माण के उस श्रम विभाजन को समाप्त कर देता है, जिसके अतर्गत हर आदमी जीवन भर के लिये एक अकेली तफसीली क्रिया से बध जाता है। साथ ही इस उद्योग का पूजीवादी रूप इसी श्रम-विभाजन को पहले से भी अधिक भयानक शकल में पुन पैदा कर देता है। जिसे सचमुच फैक्टरी कहा जा सकता है, उसमें मजदूर को मशीन का जीवित उपाग बनाकर ऐसा किया जाता है, और फैक्टरी के बाहर हर जगह कुछ हद तक मशीनो तथा मशीन पर काम करने

शिक्षा और श्रम को जोड दिया जाये। जाहिर है, काम बहुत कठिन, नागवार या स्वास्थ्य के लिये हानिकारक नही होना चाहिये। परतु शिक्षा और श्रम के मिलाप के लाभदायक होने के बारे मे मुझे जरा भी सन्देह नही है। इसलिये कि मेरे बच्चो की शिक्षा मे विविधता आ सके, मैं चाहता हू कि वे पढाई के साथ साथ कुछ काम भी किया करे और खेले कूदे भी।" (*Ch Empl Comm V Rep* ['*बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट*'], पृ० ८२, अक ३६।)

[1] Senior, उप० पु०, प० ६६। आधुनिक उद्योग एक खास स्तर पर पहुचकर उत्पादन की प्रणाली मे तथा उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियो मे जो क्रांति पैदा कर देता है, उसके द्वारा वह किस तरह लोगो के दिमागो मे भी इनकिलाब पैदा कर सकता है, इसकी एक अच्छी मिसाल सीनियर के १८६३ के भाषण की, १८३३ के फैक्टरी-कानून की उन्होने जो तीव्र आलोचना की थी, उससे तुलना करके देखी जा सकती है। इसका एक और उदाहरण देखना हो, तो उपर्युक्त काग्रेस के विचारो की इस तथ्य से तुलना कीजिये कि इगलैण्ड के कुछ देहाती जिलो मे गरीब मा-बापो को अपने बच्चो को शिक्षा देने की मुमानियत है, और यदि वे यह प्रतिबध तोडते है, तो उनको भूख से तडप-तडपकर मर जाना पडता है। मिसाल के लिये, मि० स्नेल के कथनानुसार, सामरसेटशायर की यह रोजमर्रा की घटना है कि जब कोई गरीब आदमी चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता मागता है, तो उसे अपने बच्चो को स्कूल से हटा लेने के लिये मजबूर किया जाता है। फेल्थम के पादरी मि० वाल्लास्टन ने भी कुछ इस तरह के उदाहरण बताये है, जहा कुछ परिवारो को इस बिना पर किसी भी तरह की सहायता देने से इनकार कर दिया गया था कि "वे अपने बच्चो को स्कूल भेजते है।"

वाले मजदूरो का इक्का दुक्का उपयोग करके[1] और कुछ हद तक स्त्रियो और बच्चो के श्रम का तथा आम तौर पर सस्ते अनिपुण श्रम का उपयोग करके और इस तरह एक नये आधार पर श्रम विभाजन को पुन स्थापित करके यह चीज की जाती है।

हस्तनिर्माण के श्रम-विभाजन और आधुनिक उद्योग के तरीको में पाया जाने वाला विरोध बलपूवक सामने आता है। अय बातो के अलावा, वह इस भयानक तथ्य में व्यक्त होता है कि आधुनिक फैक्टरियो और हस्तनिर्माणो में जिन बच्चो से काम लिया जाता है, उनमें से अधिकतर अपने अत्यन्त प्रारम्भिक वर्षों से ही सरलतम क्रियाओ से बध जाते ह, वर्षों तक उनका शोषण होता रहता है, पर उनको एक भी ऐसा काम नहीं सिखाया जाता, जो उनको बाद में इसी हस्तनिर्माण या फक्टरी में भी किसी मसरफ का बना देता। मिसाल के लिये, इगलण्ड में टाइप की छपाई के व्यवसाय में पहले पुराने हस्तनिर्माणो और दस्तकारियो से मिलती जुलती यह व्यवस्था थी कि काम सीखने वाले मजदूरो को हल्के काम से क्रमश अधिकाधिक कठिन काम दिया जाता था। इस तरह वे शिक्षा के एक पूरे दौर से गुजरते थे और अत में छपाई में निपुण बन जाते थे। उनके धधे की यह एक आवश्यक शर्त थी कि उनमें से हर आदमी पढना और लिखना जानता हो। पर छपाई की मशीन ने आकर ये सारी बाते बदल दीं। यह मशीन दो प्रकार के मजदूरो से काम लेती है एक तो वयस्क मजदूरो से, जो मशीन की देखभाल करते ह, और, दूसरे, प्राय ११ से १७ वष तक के लडको से, जिनका एकमात्र काम यह होता है कि वे या तो कागज के ताव मशीन के नीचे बिछाते जाते ह और या मशीन से छप छपकर निकलने वाले तावो को उठाकर रखते जाते हैं। खास तौर पर लन्दन में ये लडके यह थकाने वाला काम हफ्ते में कई दिन रोजाना १४, १५ और १६ घण्टे तक लगातार करते जाते हैं, और अक्सर वे ३६ घण्टे तक यह काम करते ह और बीच में भोजन और सोने के लिये उनको केवल २ घण्टे की छुट्टी मिलती है।[2] उनमें से अधिकतर पढना नहीं जानते, और आम तौर पर वे पूरे जगली और बहुत ही असाधारण ढग के जीव होते हैं। "उन्हें जो काम करना पडता है, उसे सीखने के लिये किसी प्रकार की बौद्धिक शिक्षा की आवश्यकता

---

[1] जहा कही आदमियो के द्वारा चलायी जाने वाली दस्तकारी की मशीने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यान्त्रिक शक्ति द्वारा चलायी जाने वाली अधिक विकसित मशीनो से प्रतियोगिता करती ह, वहा मशीन चलाने वाले मजदूर के सम्बध मे एक बहुत बडा परिवतन हो जाता है। शुरू शुरू मे भाप का इजन इस मजदूर का स्थान ले लेता है, बाद को उसे भाप के इजन का स्थान लेना पडता है। चुनाचे, तनाव बहुत बढ जाता है और खच होने वाली श्रम शक्ति की माला बेहद बढ जाती है। और उन बच्चो के सम्बध मे यह बात खास तौर पर देखने मे आती है, जिनको यह यातना भोगनी पडती है। जाच-कमीशन के सदस्य मि० लोगे ने कोवेण्ट्री और उसके आस पडोस मे १० से १५ वष तक के बच्चो को पट्टी से चलने वाले करघे चलाते हुए देखा था। इतना ही नही, इससे भी छोटे बच्चो को कुछ छोटी मशीनें चलानी पड रही थीं। "यह असाधारण रूप से थका देने वाला काम है। लडका महज भाप की शक्ति का एवजी होता है।" (*Ch Empl Comm V Rep 1866* ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट, १८६६'], पृ० ११४, अक ६।) सरकारी रिपोट ने उसे "गुलामी की इस व्यवस्था" का नाम दिया है। उसके घातक परिणामो के बारे मे देखिये उप० पु०, पृ० ११४ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] उप० पु०, पृ० ३, अक २४।

नहीं होती। इस काम में निपुणता के लिये बहुत कम और चतुराई के लिये उससे भी कम गुंजाइश होती है। इस नाते कि वे लड़के होते हैं, उनकी मजदूरी अधिक ही होती है, पर उनकी आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसमें सानुपातिक वृद्धि नहीं होती और उनमें से अधिकतर यह आशा नहीं बांध सकते कि किसी दिन उनको मशीन की देखरेख करने वाले मजदूर का बेहतर मजदूरी और ज्यादा जिम्मेदारी वाला पद मिल जायेगा, – कारण कि हर मशीन की देखरेख करने के लिये जहां केवल एक मजदूर होता है, वहां उसके मातहत कम से कम दो और अक्सर चार लड़के काम करते हैं।"[1] यह काम बच्चे ही करते हैं, और जब उनकी उम्र बढ़ जाती है, यानी १७ के करीब हो जाती है, तो उनको छापेखानों से जवाब मिल जाता है। तब उनके अपराधियों की सेना में भर्ती होने की सम्भावना हो जाती है। कई बार उनको कहीं और नौकरी दिलवाने की कोशिश की गयी, पर उनकी जहालत और वहशीपन के कारण और उनके मानसिक एवं शारीरिक पतन के कारण कोई कोशिश कामयाब नहीं हुई।

हस्तनिर्माण करने वाले कारखानों के भीतर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के लिये जो बात सच है, समाज के भीतर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के लिये भी वही सच है। जब तक दस्तकारी और हस्तनिर्माण सामाजिक उत्पादन का सामान्य मूलाधार रहते हैं, तब तक उत्पादक का उत्पादन की केवल एक विशिष्ट शाखा के अधीन रहना और उसके धंधे की बहुरूपता का छिन्न भिन्न हो जाना[2] आगे के विकास का एक आवश्यक कदम होता है। इस मूलाधार के सहारे उत्पादन की हर अलग अलग शाखा अनुभव के द्वारा वह खास रूप प्राप्त कर लेती है, जो प्राविधिक दृष्टि से उसके लिये उपयुक्त होता है, उसको धीरे धीरे विकसित करती जाती है, और जैसे ही यह रूप एक निश्चित मात्रा में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वैसे ही उसका तीव्रता के साथ स्फटिकीकरण हो जाता है। वाणिज्य से जो नया कच्चा माल मिलने लगता है, उसके अतिरिक्त केवल एक ही चीज़ है, जो जहां तहां कुछ परिवर्तन कर देती है। वह है श्रम के औजारों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन। परन्तु अनुभव से एक बार निश्चित हो जाने के बाद श्रम के औजारों का रूप भी पथरा जाता है, जो इस बात से साबित है कि अनेक औजार पिछले कई हजार वर्षों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को एक ही रूप में मिलते गये हैं। यह बात बहुत अर्थ रखती है कि अठारहवीं सदी तक भी अलग अलग

---

[1] उप० पु०, पृ० ७, नोट ६०।

[2] "यह बहुत वर्ष पहले की बात नहीं है कि स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश के कुछ भागों में, सांख्यिकीय विवरण के अनुसार, हर किसान खुद अपने हाथ से कमाये हुए चमड़े के जूते बनाकर पहना करता था। बहुत से गड़रिये और किसान भी अपने बीवी बच्चों के साथ ऐसे कपड़े पहनकर गिरजाघर में पहुंचते थे, जिन्हें केवल उन्हीं के हाथों ने छुआ होता था, क्योंकि उनका ऊन वे खुद अपनी भेड़ों को मूड़कर तैयार करते थे और फ्लैक्स उनके अपने खेतों में उगा था। यह भी बताया जाता है कि इन कपड़ों को तैयार करने के लिये सूजा, सुई, अंगुश्ताना और बुनाई में इस्तेमाल होने वाले लोहे की कल के कुछ इने गिने हिस्सों को छोड़कर और कोई भी चीज़ खरीदी नहीं जाती थी। रंग भी स्त्रियों द्वारा मुख्यतया पेड़ों, झाड़ियों और जड़ी-बूटियों से तैयार किये जाते थे।" (Dugald Stewart, Works [रचनाएं] Hamilton का संस्करण, खण्ड ८, पृ० ३२७-३२८।)

धंधे 'mysteries' (mysteres) (भेद) कहलाते थे।[1] इन भेदों को केवल वे ही लोग जान सकते थे, जिन्हें विधिवत् दीक्षा मिल चुकी थी,—और कोई उनको नहीं जान सकता था। परन्तु आधुनिक उद्योग ने उस नकाब को तार-तार कर अलग कर दिया, जिसने उत्पादन की सामाजिक क्रिया को ख़ुद मनुष्यों की आंखों से छिपा रखा था और जिसके कारण उत्पादन की स्वयंस्फूर्त ढंग से बंटी हुई विभिन्न शाखाएं केवल बाहरी आदमियों के लिये ही नहीं, बल्कि दीक्षितों के लिये भी पहेलियां बनी हुई थीं। आधुनिक उद्योग ने हर क्रिया को उसकी संघटक गतियों में बांट देने के सिद्धान्त का अनुसरण किया और ऐसा करते हुए इस बात का कोई ख़याल नहीं किया कि मनुष्य का हाथ इन गतियों को कैसे सम्पन्न कर पायेगा। इस सिद्धान्त ने प्रौद्योगिकी के नये आधुनिक विज्ञान को जन्म दिया। औद्योगिक प्रक्रियाओं के नाना प्रकार के, प्रकटतः असम्बद्ध प्रतीत होने वाले और पथराये हुए रूप निश्चित ढंग के उपयोगी प्रभाव पैदा करने के लिये प्राकृतिक विज्ञान को सचेतन और सुनियोजित ढंग से प्रयोग करने के तरीक़ों में परिणत हो गये। प्रौद्योगिकी ने गति के उन थोड़े से मौलिक रूपों का भी पता लगाया, जिनमें से किसी न किसी रूप में ही मानव शरीर की प्रत्येक उत्पादक कारवाई व्यक्त होती है, हालांकि मानव-शरीर नाना प्रकार के औज़ारों को इस्तेमाल करता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे यांत्रिकी का विज्ञान अधिक से अधिक संश्लिष्ट मशीनों में भी सरल यांत्रिक शक्तियों की निरन्तर पुनरावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं देखता।

आधुनिक उद्योग किसी भी प्रक्रिया के वर्तमान रूप को कभी उसका अंतिम रूप नहीं समझता और न ही व्यवहार में उसे ऐसा मानता है। इसलिये इस उद्योग का प्राविधिक आधार क्रांतिकारी ढंग का है, जब कि इसके पहले वाली उत्पादन की तमाम प्रणालियां बुनियादी तौर पर रूढ़िवादी थीं।[2] आधुनिक उद्योग मशीनों, रासायनिक क्रियाओं तथा अन्य तरीक़ों के द्वारा

---

[1] एटिएन बोयलियो की प्रसिद्ध रचना 'Livre des metiers' में हम यह प्रदिष्ट पाते हैं कि जब किसी कारीगर को उस्तादों की श्रेणी में प्रवेश करने की अनुमति मिलती थी, तब उसे यह सौगंध खानी पड़ती थी कि वह "अपने भाइयों से भाइयों जैसा प्यार करेगा, उनके अपने धंधों में उनकी सहायता करेगा, कभी जान-बूझकर अपने व्यवसाय के भेद नहीं खोलेगा और इसके अलावा सब के हितों का ध्यान रखते हुए कभी अपने माल की प्रशंसा करने के लिये दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं के अवगुणों की ओर खरीदार का ध्यान आकर्षित नहीं करेगा।"

[2] "उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व असंभव है, और इस तरह उत्पादन के सम्बंधों में और उनके साथ साथ तमाम सामाजिक सम्बंधों में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। पुराने ज़माने के तमाम औद्योगिक वर्गों की बात बिलकुल उल्टी थी। उत्पादन के पुराने तरीक़ों को ज्यों का त्यों बनाये रखना उनके जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रांतिकारी परिवर्तन, सामाजिक सम्बंधों में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अस्थिरता और हलचल—पूंजीवादी युग की ये मुख्य विशेषताएं हैं, जो पहले के सभी युगों से उसे भिन्न बना देती हैं। अपने तमाम प्राचीन और पूज्य कहलाने वाले पूर्वग्रहों तथा मतों के साथ सब गतिहीन और जड़ सम्बंध समाप्त कर दिये जाते हैं। नये सम्बंधों के बनने में देर नहीं होती कि वे भी पुराने पड़ जाते हैं, उनके रूढ़ हो जाने की नौबत ही नहीं आ पाती। जिन चीज़ों को ठोस समझा जाता था, वे हवा में उड़ जाती हैं, जिन्हें पवित्र माना जाता था, वे भू लुंठित हो रही हैं, और अन्त में मनुष्य मजबूर हो जाता है कि वह

न केवल उत्पादन के प्राविधिक आधार में, बल्कि मजदूर के कार्यों में और श्रम प्रक्रिया के सामाजिक सयोजनो में भी लगातार तबदीलिया कर रहा है। साथ ही वह इस तरह समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन में भी क्राति पैदा कर देता है और पूजी की राशियो को तथा मजदूरो के समूहो को उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा में निरतर स्थानातरित करता रहता है। लेकिन इसलिये आधुनिक उद्योग खुद अपने स्वरूप के कारण यदि श्रम के निरतर परिवतन, काम के रूप में लगातार तबदीली और मजदूरो में सावत्रिक गतिशीलता को जरूरी बना देता है, तो, दूसरी ओर, अपने पूजीवादी रूप में आधुनिक उद्योग पुराने श्रम विभाजन को, उसके अस्थीकृत विशेषीकरण के साथ, पुन पदा कर देता है। हम यह देख चुके ह कि आधुनिक उद्योग की प्राविधिक आवश्यक्ताओ और उसके पूजीवादी रूप में निहित सामाजिक स्वरूप के बीच पाया जाने वाला यह परम विरोध किस तरह मजदूर के सम्बध में हर प्रकार की स्थिरता और निश्चितता को खतम कर देता है और किस तरह वह सदा मजदूर को उसके श्रम के औजारो से वचित करके जीवन निर्वाह के साधनो को उससे छीन लेने[1] और उसके तफसीली काम को अनावश्यक बनाकर खुद उसको फालतू बना देने की धमकी दिया करता है। हम यह भी देख चुके ह कि यह विरोध किस तरह उस डरावनी वस्तु का—उस रिजव औद्योगिक सेना का—निर्माण करके अपना गुस्सा निकालता है, जिसे केवल इसलिये मुसीबत में रखा जाता है कि वह सदा पूजी के काम में आने के लिये तयार रहे। हम देख चुके ह कि यह विरोध किस तरह मजदूर-वग के अनवरत बलिदानो में, श्रम-शक्ति के अधाधुध अपव्यय में और उस सामाजिक अराजकता द्वारा ढायी गयी तबाही के रूप में अपना क्रोध व्यक्त करता है, जो हर आर्थिक प्रगति को एक सामाजिक विपत्ति में परिणत कर देती है। यह हुआ उसका नकारात्मक पहलू। लेकिन यदि, एक ओर, काम में होने वाले परिवतन इस समय एक प्राकृतिक नियम की तरह जबदस्ती अपना असर दिखाते ह और यदि वे उस प्राकृतिक नियम की भाति, जिसका हर बिदु पर विरोध हो रहा है, एक अधी शक्ति के रूप में मिटाते और नाश करते हुए अमल में आते ह," तो, दूसरी ओर, आधुनिक उद्योग जिन विपत्तियो को ढाता

अपने जीवन की सच्ची परिस्थितियो और दूसरो के साथ अपने सम्बधो पर गभीरता के साथ विचार करे।" (F Engels und Karl Marx, *Manifest der Kommunistischen Partei* [फ्रे० एगेल्स और काल मार्क्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र'], London 1848 पृ० ५।)

[1] You take my life
When you do take the means whereby I live

["जब तुम मेरे जीविका के साधन छीन लेते हो, तब असल मे तुम मेरे प्राण हर लेते हो।"] (शेक्सपियर।)

एक फ्रासीसी मजदूर ने सान फ्रासिस्को से लौटकर यह लिखा है "कैलिफोनिया मे मन जितने अलग अलग तरह के धधे किये, म कभी विश्वास नही कर सकता था कि मुझम इतने प्रकार के काम करने की क्षमता है। मेरा दृढ विश्वास था कि मैं टाइप की छपाई के सिवा और किसी काम के लायक नही हू पर जब एक बार मैं दुस्साहसी लोगो की दुनिया में पहुच गया, जो कमीज की तरह अपना धधा बदलते ह, तब, जाहिर है, जिस तरह दूसरे लोग करते थे, उसी तरह मैंने भी करना शुरू कर दिया। खान के काम से चूकि काफी कमाई नही हुई, इसलिये मैं

है, उनके द्वारा वह सबसे यह मनवा लेता है कि काम में बराबर परिवतन होते रहना और इसलिये मजदूर में विविध प्रकार के काम करने की योग्यता का होना तथा इस कारण उसकी विभिन्न प्रकार की क्षमताओ का अधिक से अधिक विकास होना उत्पादन का एक मौलिक नियम है। उत्पादन की प्रणाली को इस नियम के सामान्य काय के अनुकूल बनाने का सवाल समाज की जिन्दगी और मौत का सवाल बन जाता है। वस्तुत आधुनिक उद्योग समाज को मौत की धमकी देकर इसके लिये मजबूर करता है कि आजकल के तफसीली काम करने वाले मजदूर को, जो जीवन भर एक ही, बहुत तुच्छ क्रिया को दुहरा दुहराकर पगु हो गया है और इस प्रकार इनसान का एक अश भर रह गया है, एक पूर्णतया विकसित ऐसे व्यक्ति में बदल दे, जो अनेक प्रकार का श्रम करने की योग्यता रखता हो, जो उत्पादन में होने वाले किसी भी परिवतन के लिये तयार हो और जिसके लिये उसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न सामाजिक काय केवल अपनी प्राकृतिक एव उपार्जित क्षमताओ को स्वतन्त्रतापूवक व्यवहार में लाने की प्रणालिया भर हो।

इस क्रान्ति को पैदा करने के लिये एक क़दम पहले ही से स्वयस्फूत ढग से उठाया जा चुका है। यह है प्राविधिक एव कृषि स्कूलो और 'ecoles d'enseignement professionnel" (व्यावसायिक स्कूलो) की स्थापना, जिनमें मजदूरो के बच्चो को प्रौद्योगिकी की, और श्रम के विभिन्न औजारो का व्यावहारिक उपयोग करने की थोडी-बहुत शिक्षा मिल जाती है। फैक्टरी कानून के रूप में पूजी से जो पहली और बहुत तुच्छ रियायत छीनी गयी है, उसमें फैक्टरी के काम के साथ-साथ केवल प्राथमिक शिक्षा देने की ही बात है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि जब मजदूर-वग सत्ता पर अधिकार कर लेगा, जो कि अनिवाय है, तब सद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ढग की प्राविधिक शिक्षा मजदूरो के स्कूलो में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इस तरह की क्रान्तिकारी उथल पुथल, *जिसके अन्तिम परिणाम के रूप में पुराना श्रम विभाजन खतम हो जायेगा*, उत्पादन के पूजीवादी रूप के और इस रूप में मजदूर की जो आर्थिक हैसियत है, उसके बिल्कुल खिलाफ पडती है। परन्तु उत्पादन के किसी भी निश्चित रूप में निहित विरोधो का ऐतिहासिक विकास ही एकमात्र ऐसा तरीका है, जिसके जरिये उत्पादन का वह रूप मिट सकता है और एक नया रूप स्थापित हो सकता है। Ne sutor ultra crepidam" ("मोची को अपने कलबूत से ही चिपके रहना चाहिये") – दस्तकारी सम्बन्धी बुद्धि का यह nec plus ultra (चमत्कारपूण सूत्र) उसी क्षण से सरासर बकवास बन गया है, जब से घडीसाज वाट्ट ने भाप के इजन का, नाई आकराइट ने थ्रौसल का और सुनार फुल्टन ने भाप से चलने वाले जहाज का आविष्कार किया है।[1]

उसे छोडकर शहर मे चला आया, जहा मैंने बारी बारी से छपाई, छत डालने और नलो की मरम्मत करने आदि का काम किया। इस प्रकार मुझे मालूम हुआ कि मैं किसी भी तरह का काम कर सकता हू, और इसके फलस्वरूप अब मैं अपने को घोघा कम और इनसान ज्यादा महसूस करता हू।" (A Corbon, "*De l enseignement professionnel*", दूसरा सस्करण, पृ० ५०।)

[1]जान बैलेस ने, जो अथशास्त्र के इतिहास मे एक आश्चयजनक घटना के रूप मे प्रकट हुए थे, १७ वी शताब्दी के अन्त मे यह बात सबसे अधिक स्पष्टता के साथ समझी थी कि

जब तक फक्टरी-क़ानून फक्टरियो, हस्तनिर्माणशाल
तक ही सीमित रहते ह, तब तक केवल इतना ही सम
पूजी के शोषण करने के अधिकार में हस्तक्षेप किया जा
श्रम" का भी नियमन किया जाने लगता है,[1] तब तुरत
इस तरह तो patria potestas पर – मां-बाप के
रहा है। इगलण्ड की दयालु हृदय ससद बहुत दिनो तक
रही। परतु तथ्यो के प्रभाव ने उसे आखिर इस बात को
ही दिया कि आधुनिक उद्योग ने उस आर्थिक आधार को
और उस व्यवस्था के लिये उपयुक्त पारिवारिक श्रम टिके
पारिवारिक बधनो को भी ढीला कर दिया है।
आवश्यक हो गया। १८६६ के Ch Empl Comm (
रिपोर्ट में कहा गया है "हमारे सामने जितनी
सभी से यह बात स्पष्ट है और इतनी अधिक स्पष्ट ह
बच्चो और बच्चियो दोनो को उनके मा-बापो से बचाने
और किसी व्यक्ति से बचाने की नहीं।" बच्चो के श्रम का
आम तौर पर और तथाकथित घरेलू श्रम की प्रथा खास
है कि मा-बापो को अपनी कम-उम्र और सुकुमार सन्तान
प्राप्त है और वे बिना किसी रोक-टोक के उनका
बच्चो को महज़ हर सप्ताह इतना पसा कमाने वाली
अधिकार नहीं होना चाहिये इसलिये जहा कहीं ऐसी

शिक्षा की वतमान व्यवस्था तथा श्रम विभाजन का अत
के दो विरोधी छोरो पर अतिपुष्टिता और अपुष्टिता पैदा
बैलेस ने यह भी लिखा है 'निकम्मा पाडित्य काहिली का
होता शारीरिक श्रम ईश्वर की बनायी हुई एक आदिम
स्वास्थ्य के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना उसको
क्योकि आदमी आराम से रहकर जिन तकलीफो से बचने
बीमारिया की शकल मे आ घेरती हैं जीवन के
और चिन्तन उसे प्रज्वलित करता है यदि बच्चो से
काम ही लिया जाता है' (यहा पर मानो भविष्य की
उसके आधुनिक नक्कालो की करतूतो के विरुद्ध पहले ही
बच्चे मूख के मूख रह जाते ह।" (*Proposals for Rais*
of all Useful Trades and Husbandry ['सभी
उद्योग का एक कालिज खोलने के सम्बध मे कुछ सुझाव'], १

[1] जैसा कि हम लैस बनाने और सूखी घास की बुनी
देख चुके हैं, इस प्रकार का श्रम प्राय छोटे छोटे
विमिघम आदि के धातु के धधो म इस तरह के श्रम का
किया जा सकता है।

लडकियो को एक प्राकृतिक अधिकार के रूप में ससद से यह माग करने का हक़ होना चाहिये कि उनसे कोई ऐसा काम न लिया जाये, जो उनकी शारीरिक शक्ति को समय से पहले ही नष्ट कर देता हो और जो बौद्धिक तथा नैतिक जीवो के रूप में उनको पतन के गर्त में गिरा देता हो।"[1] किन्तु बच्चो के श्रम का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष पूजीवादी शोषण इसलिये नहीं शुरू हुआ था कि मा-बाप अपने अधिकारो का दुरुपयोग करने लगे थे, बल्कि, इसके विपरीत, यह शोषण की पूजीवादी प्रणाली थी, जिसने मा-बापो के अधिकार के आर्थिक आधार को नष्ट करके इस अधिकार के उपयोग को उसके घातक दुरुपयोग में परिणत कर दिया था। पूजीवादी व्यवस्था में पुराने पारिवारिक बधनो का टूटना चाहे जितना भयकर और घृणित क्यो न प्रतीत होता हो, परतु आधुनिक उद्योग स्त्रियों, लडके-लडकियो और बच्चे-बच्चियो को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरुष के सम्बधो के एक अधिक ऊचे रूप के लिये एक नया आर्थिक आधार तयार कर देता है। जाहिर है, परिवार के ट्यूटौनिक-ईसाई रूप को उसका अतिम और शाश्वत रूप समझना उतनी ही बेतुकी बात है, जितना यह समझना कि परिवार के प्राचीन रोम, प्राचीन यूनान अथवा पूर्व के रूप उसके अतिम और शाश्वत रूप थे, क्योकि ये तमाम रूप तो असल में परिवार के ऐतिहासिक विकास क्रम की कडिया ह। इसके अलावा, यह बात भी साफ है कि यदि काम करने वालो के सामूहिक दल में स्त्री और पुरुष दोनो और हर उम्र के व्यक्ति शामिल हो, तो उपयुक्त परिस्थितिया होने पर यह तथ्य लाजिमी तौर पर मानवीय विकास का कारण बन जायेगा, हालांकि अपने स्वयस्फूत ढग से विकसित, पाशविक, पूजीवादी रूप में, जहा उत्पादन की क्रिया मजदूर के लिये नहीं होती, बल्कि मजदूर का अस्तित्व उत्पादन की क्रिया के लिये होता है, यह तथ्य समाज में दुराचार और दासता का विष फलाने का कारण बन जाता है।[2]

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, फैक्टरी-कानूनो का सामान्यकरण करने की, अर्थात् उनको केवल मशीनो की पहली पदावार – यात्रिक कताई-बुनाई – से सम्बध रखने वाले अपवादस्वरूप क़ानूनो के बजाय पूरे सामाजिक उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले क़ानूनो में बदल देने की, आवश्यकता आधुनिक उद्योग के ऐतिहासिक विकास के ढग से पदा हुई। आधुनिक उद्योग के पृष्ठभाग में हस्तनिर्माण, दस्तकारी तथा घरेलू उद्योग का परम्परागत रूप एकदम बदल जाता है। हस्तनिर्माण निरतर फक्टरी व्यवस्था में और दस्तकारियां हस्तनिर्माणो में रूपान्तरित होती जाती हैं। और अतिम बात यह है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये, तो दस्तकारी तथा घरेलू उद्योगो के क्षेत्र बहुत ही थोडे समय में सरासर नरक बन जाते हैं, जहा पूजीवादी शोषण को जी भरकर ज्यादतिया करने की छूट मिल जाती है। दो बातें ह, जो अत में एकदम पासा पलट देती ह। एक तो बार-बार यह अनुभव होता है कि जब कभी एक बिंदु पर पूजी पर कोई कानूनी

[1] *Ch Empl Comm V Rep'* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोर्ट'), पृ० XXV (पचीस), अक १६२, और II Rep ('दूसरी रिपोर्ट'), पृ० XXXVIII (अडतीस), अक २८५ और २८६, पृ० XXV (पच्चीस) तथा XXVI (छब्बीस), अक १६१।

[2] "फैक्टरी का श्रम भी घरेलू श्रम जितना ही और शायद उससे भी अधिक शुद्ध और अधिक अच्छा हो सकता है।" ('*Rep Insp Fact , 31st October 1865* ['फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १२६।)

नियत्रण लगा दिया जाता है, तो तुरत ही वह अन्य बिदुओ पर और भी जोर-शोर से इस क्षति की पूर्ति करने लगती है।[1] दूसरे, पूंजीपति यह शोर मचाते है कि प्रतियोगिता की शर्तें सब के लिये बराबर होनी चाहिये, अर्थात श्रम के सभी प्रकार के शोषण पर समान नियत्रण लगाया जाना चाहिये।[2] इस सम्बध में दो टूटे हुए दिलो की चीख पुकार सुनिये। ब्रिस्टल के मसस कुक्सले ने, जो कीले, जजीरें आदि तयार करते ह, अपने कारखाने में अपने आप फक्टरी-कानून के नियमो को लागू कर दिया है। "आस पडोस के कारखानो में चूकि अभी तक पुरानी अनियमित प्रणाली ही चली आती है, इसलिये मसस कुक्सले को इस कठिनाई का सामना करना पडता है कि उनके यहा काम करने वाले लडको को शाम को ६ बजे के बाद लोग किसी और कारखाने में काम करने के लिये फुसला (enticed) ले जाते ह। ऐसी स्थिति में वे स्वभावतया यह कहते ह कि 'यह बडी बेइसाफी है और इससे हमारा बहुत नुकसान होता है, क्योकि इससे लडके की ताकत का एक हिस्सा खच हो जाता है, जब कि हमें उससे पूरा फायदा उठाने का मौका होना चाहिये था।'"[3] (लन्दन के कागज के बक्स और थले बनाने वाले) मि० सिम्पसन ने Ch Empl Comm. (बाल सेवायोजन आयोग) के सदस्यो के सामने कहा था कि "म" (कानूनी हस्तक्षेप की माग करते हुए) "किसी भी आवेदन पत्र पर हस्ताक्षर करने को तयार हू । जो स्थिति इस समय है, उसके अनुसार शाम को अपना कारखाना बन्द करने के बाद मुझे रात को हमेशा यह खयाल परेशान किया करता है (he always felt restless at night") कि कहीं दूसरे कारखानेदार ज्यादा देर तक न काम कर रहे हों और कहीं ऐसा न हो कि इस तरह वे मेरे आडर छीन ले जायें।"[4] इस सवाल से ताल्लुक रखने वाली गवाहियो का सार निकालते हुए Ch Empl Comm. (बाल सेवायोजन आयोग) ने लिखा है "यदि बडे मालिको की फक्टरियो पर कानून का नियत्रण लागू कर दिया जाता है, मगर व्यवसाय की उसी शाखा के अपेक्षाकृत छोटे कारखानो में श्रम के घण्टो पर कोई कानूनी प्रतिबध नहीं लगाया जाता, तो यह बडे मालिको के साथ अन्याय होगा, और श्रम के घण्टो के सम्बध में असमान परिस्थितियो में प्रतियोगिता होने से जो अन्याय होगा, उसके अतिरिक्त बडे बडे कारखानेदारो को एक यह नुक्सान भी होगा कि उनके यहा काम करने के बजाय लडके लडकिया और स्त्रिया उन कारखानो में चले जायेंगे, जिनको क़ानून के नियमो से छूट मिली हुई है। इसके अलावा, छोटे कारखानो की सख्या में बडी तेजी से वृद्धि होने लगेगी, हालाकि लोगो के स्वस्थ्य, आराम, शिक्षा तथा सामान्य सुधार की दृष्टि से ये कारखाने लगभग अनिवाय रूप से सब से कम उपयुक्त होते हे।"[5]

---

[1] *Rep Insp Fact 31st October 1865* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपार्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० २७-३२।

[2] *Rep of Insp of Fact* ('फैक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट') मे इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

[3] *Ch Empl Comm V Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट'), पृ० X (दस), अक ३५।

[4] *Ch Empl Comm V Rep* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोट'), पृ० IX (नौ), अक २८।

[5] उप० पु०, पृ० XXV (पच्चीस), अक १६५ १६७। छोटे पैमाने के उद्योगो की तुलना म बड़े पैमाने के उद्योगो से जो लाभ होते है, उनके लिये देखिये *Ch Empl Comm*

अपनी अंतिम रिपोर्ट में Ch Empl Comm (बाल सेवायोजन आयोग) ने १४,००,००० से अधिक बच्चो, लडके लडकियो और स्त्रियो पर फक्टरी-कानून लागू करने का सुझाव दिया है। इनमें से लगभग आधे ऐसे ह, जिनका छोटे उद्योगो में और तथाकथित घरेलू काम के द्वारा शोषण हो रहा है।[1] आयोग ने लिखा है "परतु यदि ससद को बच्चो, लडके-लडकियो और स्त्रियो की उस पूरी सख्या को, जिसका हमने ऊपर जिक्र किया है, कानून के सरक्षण में रख देना उचित प्रतीत हो तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसा कानून न केवल बच्चो और दुबल व्यक्तियो के लिये, जिन्हे सरक्षण देना इसका फौरी उद्देश्य है, अत्यन्त हितकारी सिद्ध होगा, बल्कि उससे उन वयस्क मजदूरो को भी बहुत लाभ पहुचेगा, जिनकी सख्या और भी बडी होती है और जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो ढग से इन तमाम धधो में तत्काल ही इस कानून के असर के नीचे आ जायेंगे। इस तरह का कानून इन तमाम मजदूरो के लिये काम के नियमित और सीमित घण्टे अनिवार्य बना देगा, इस क़ानून के फलस्वरूप मजदूरो के काम के स्थान स्वास्थ्यप्रद एव स्वच्छ दशा में रखे जाने लगेंगे, अतएव उससे मजदूरो की शारीरिक शक्ति के उस भण्डार की सुरक्षा और वृद्धि में सहायता मिलेगी, जिसपर उनका अपना कल्याण और उनके देश का कल्याण इतना अधिक निभर करता है, इस प्रकार के कानून से नयी पीढी बचपन में ही अत्यधिक श्रम करने से बच जायेगी, जो उनके बदन का सारा सत सोख डालता है और उनको असमय ही बूढा बना देता है, और, अत में, इस तरह का क़ानून नयी पीढ़ी के लिये कम से कम १३ वष की आयु तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर सुनिश्चित करेगा, और इस तरह यह कानून उस भयानक जहालत का अन्त कर देगा जिसका हमारे सहायक कमिश्नरो की रिपोर्टों में इतना सच्चा चित्र देखने को मिलता है और जिसे देखकर हरेक को अत्यधिक कष्ट और राष्ट्रीय पतन की तीव्र अनुभूति का होना अनिवाय है।"[2]

अनुदार* दल के मन्त्रिमण्डल ने ५ फरवरी १८६७ को शाही अभिभाषण के रूप में यह

III Rep' ('बाल सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), प० १३, अक १४४, पृ० २५, अक १२१, पृ० २६, अक १२५, प० २७, अक १४०, इत्यादि।

[1] आयोग ने जिन धधो पर कानून लागू करने का सुझाव दिया है, उनकी सूची इस प्रकार है लैस बनाना, मोजे बुनना, सूखी घास की बुनी हुई वस्तुए तैयार करना, पहनने के कपडो का हस्तनिर्माण तथा उसकी अनेक उपशाखाए, बनावटी फूल बनाना, जूते बनाना, टोप बनाना, दस्ताने बनाना, दर्जीगीरी, पिघलाऊ भट्ठियो से लेकर सुई बनाने के कारखानो तक धातु का काम करने वाले हर तरह के कारखाने, कागज़ की मिलें, काच के कारखाने, तम्बाकू के कारखाने, रबड के कारखाने, धागे बटना (बुनाई के लिये), हाथ से कालीन बनाना, छाते और छतरिया बनाना, तकुए और फिरकिया बनाना, टाइप की छपाई, जिल्दसाजी, लेखनसामग्री (stationery जिसमें कागज के थैले, काड, रगीन कागज आदि भी शामिल है) बनाना, रस्सिया बनाना, काले पत्थर (jet) के ज़ेवर बनाना, इटे बनाना, रेशम का हस्तनिर्माण, कोवेण्टरी की बुनाई, नमक के कारखाने, चरबी की बत्तिया बनाना, सीमेट के कारखाने, चीनी साफ करने वाली मिलें, बिस्कुट बनाना, लकडी से सम्बधित अनेक उद्योग और दूसरे मिले-जुले धधे।

[2] उप० पु०, पृ० XXV (पच्चीस), अक १६६।

* यहा पर ("अनुदार दल के मन्त्रिमण्डल " से "सीनियर के शब्दो में" तक) अग्रेजी पाठ जिसके अनुसार हिन्दी पाठ है, चौथे जमन सस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। — सम्पा०

ऐलान किया कि उसने औद्योगिक जाच आयोग की सिफारिशो को बिलो का रूप दे दिया है।[1] ऐसा होने के पहले, २० वर्ष तक एक नया प्रयोग (experimentum in corpore vili) चलता रहा था, जिसका खमियाजा मजदूर वर्ग को उठाना पडा था, उसके बाद कहीं जाकर यह ऐलान हो सका था। ससद ने बच्चो के श्रम के बारे में जाच करने के लिए १८४० में ही एक आयोग नियुक्त कर दिया था। सीनियर के शब्दो में, इस आयोग की १८४२ की रिपोर्ट से "मालिको और मा-बापो के लोभ, स्वार्थ और निर्दयता का और लडके लडकियो तथा बच्चो के कष्ट, पतन और विनाश का एक ऐसा भयानक चित्र सामने आया, जैसा इसके पहले कभी नहीं आया था ऐसा भी समझा जा सकता है कि यह रिपोर्ट एक बीते हुए युग की विभीषिकाओ का वर्णन करती है। परन्तु दुर्भाग्य से हमारे पास इस बात का प्रमाण मौजूद है कि ये विभीषिकाए आज भी ज्यो की त्यो मौजूद है। लगभग २ वर्ष हुए हाडविक ने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें बताया गया है कि १८४२ में जिन बुराइयों का रोना रोया गया, वे आज भी उसी तरह फल-फूल रही है। मजदूर-वर्ग के बच्चों के आचरण तथा स्वास्थ्य के प्रति आम तौर पर कैसी लापरवाही बरती जाती है, इसका प्रमाण यह है कि यह रिपोर्ट २० वर्ष तक यो ही पडी रही और किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया, और इस बीच वे बच्चे, जिनको इस बात का तनिक भी आभास नहीं दिया गया था कि नैतिकता शब्द का क्या अर्थ होता है, और जिनमें न तो ज्ञान था, न धर्म और न ही स्वाभाविक स्नेह, वे मौजूदा पीढ़ी के मा-बाप बन गये।"[2]

अब चूकि सामाजिक परिस्थितियो में परिवर्तन हो गया था, इसलिये ससद को १८४० के आयोग की मागो की भाति १८६२ के आयोग की मागो को भी टाल देने की हिम्मत नहीं हुई। चुनाचे, आयोग ने अभी अपनी रिपोर्टों का केवल एक भाग ही प्रकाशित किया था कि १८६४ में मिट्टी का सामान (जिसमें मिट्टी के बर्तन भी शामिल थे) बनाने वाले उद्योगों पर, दीवार पर मढ़ने वाला कागज, दियासलाइया, कारतूस और टोपिया बनाने वालो पर और फस्टियन काटने वालो पर वे क़ानून लागू कर दिये गये, जो कपडा उद्योगो पर लागू थे। ५ फरवरी १८६७ को अनुदार दलीय मन्त्रिमण्डल ने शाही अभिभाषण में ऐलान किया कि अब जाच आयोग की, जिसने अपना काम १८६६ में समाप्त कर दिया था, सिफारिशो पर आधारित बिल ससद में पेश किये जा रहे है।

---

[1] Factory Acts Extension Act (फैक्टरी कानूनो के प्रसार का कानून) १२ अगस्त १८६७ को पास हुआ था। उसके द्वारा धातु की ढलाई, गढाई और धातु का काम करने वाले तमाम कारखानो का, जिनमे मशीनें बनाने वाले कारखाने भी शामिल थे, नियमन किया गया था। इसके अलावा, काच, कागज, गटापारचा, रबड और तम्बाकू के कारखानो पर, छापेखाना पर, जिल्दसाज़ी का काम करने वाले कारखानो पर और, अत में, ५० से अधिक व्यक्तियो से काम लेने वाले सभी कारखानो पर भी यह कानून लागू किया गया था।—१७ अगस्त १८६७ को पास किया गया Hours of Labour Regulation Act (श्रम के घण्टो का नियमन करने वाला कानून) अपेक्षाकृत छोटे कारखानो और तथाकथित घरेलू काम का नियमन करता है।

इन कानूनो की और १८७२ के नये Mining Act (खानो के कानून) की मैं दूसरे खण्ड मे पुन चर्चा करूगा।

[2] Senior *Social Science Congress* (सीनियर, 'सामाजिक विज्ञान की काग्रेस'), पृ० ५५-५८।

१५ अगस्त १८६७ को Factory Acts Extension Act (फैक्टरी-कानूनो के प्रसार के क़ानून) को और २१ अगस्त को Workshops' Regulation Act (वर्कशाप नियमन-कानून) को शाही स्वीकृति मिल गयी। पहला क़ानून बड़े और दूसरा छोटे उद्योगो से सम्बध रखता है।

पहला क़ानून पिघलाऊ-भट्ठियो, लोहे और ताम्बे की मिलो, ढलाई का काम करने वाले कारखानो और यन्त्रशालाओ, धातु का काम करने वाली हस्तनिर्माणशालाओ, गटापारचा के कारखानो, काग़ज की मिलो, काच के कारखानो, तम्बाकू का सामान तयार करने वाली हस्तनिर्माणशालाओ, टाइप की छपाई (जिसमें अखबार भी शामिल थे), जिल्दसाजी, – और सक्षेप में कहिये, तो इस प्रकार की उन सभी औद्योगिक सस्थाओ पर लागू होता है, जिनमें ५० या ५० से अधिक व्यक्तियो से साल भर में कम से कम १०० दिन एक साथ काम लिया जाता है।

Workshops' Regulation Act (वर्कशाप नियमन-कानून) के काम-क्षेत्र का कुछ आभास देने के लिये हम उसकी व्याख्या सम्बधी धारा से निम्नलिखित अश उदधृत करेंगे

"दस्तकारी हाथ के किसी भी श्रम को कहा जायेगा, बशर्ते कि वह व्यवसाय की तरह या लाभ के हेतु या कोई वस्तु या किसी वस्तु का कोई भाग बनाने के सिलसिले में, या किसी वस्तु को बिक्री के वास्ते तयार करने के उद्देश्य से उसमें तबदीली करने, मरम्मत करने, सजावट करने, फिनिश देने या किसी और प्रकार उसका अनुकूलन करने के दौरान में या उसके सम्बध में किया गया हो।"

"वर्कशाप किसी भी कमरे को या स्थान को कहा जायेगा, वह खुला हो या ढका हो, बशर्ते कि उसमें कोई बच्चा, लडका या लडकी अथवा स्त्री किसी दस्तकारी का काम करती हो और बशर्ते कि जिस व्यक्ति ने ऐसे किसी बच्चे, लडके या लडकी अथवा स्त्री को नौकर रख रखा है, उसको इस कमरे या स्थान में प्रवेश करने तथा उसपर अपना नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त हो।"

"नौकर होने का मतलब होगा किसी भी तरह का दस्तकारी का काम करना, वह चाहे मजदूरी लेकर किया जाये या बिना मजदूरी के और चाहे किसी मालिक के मातहत किया जाये या, निम्नलिखित परिभाषा के अनुसार, किसी जनक के मातहत।"

"जनक का अर्थ होगा मा बाप, सरक्षक या वह व्यक्ति, जिसकी अधीनता या नियन्त्रण में कोई बच्चा, लडका या लडकी है।"

७ वीं धारा में इस कानून की धाराओ को तोडकर बच्चों, लडके लडकियो अथवा स्त्रियो को नौकर रखने वालो पर जुर्माना करने की व्यवस्था की गयी है। इस धारा के अनुसार, ऐसी स्थिति में न केवल वर्कशाप के मालिक पर, वह चाहे जनक की श्रेणी में आता हो या नहीं, जुर्माना होगा, बल्कि "बच्चे, लडके-लडकी अथवा स्त्री के जनक और उसके श्रम से प्रत्यक्ष लाभ उठाने वाले या उसपर नियन्त्रण रखने वाले किसी भी व्यक्ति पर" भी जुर्माना किया जा सकेगा।

Factory Acts Extension Act (फैक्टरी-कानूनो के प्रसार का कानून), जिसका बडे बडे कारखानो पर प्रभाव पडता है, उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा फैक्टरी-कानून था, क्योंकि उसमें बहुत सी बातो में त्रुटिपूर्ण छूट दे दी गयी है और कायरतापूर्ण ढग से मालिको से समझौता कर लिया गया है।

Workshops' Regulation Act (वर्कशाप नियमन कानून) अपनी सारी तफसीलों की दृष्टि से एक बहुत ही तुच्छ सा कानून था। नगरपालिका के अधिकारियों तथा स्थानीय अधिकारियों को इस कानून को अमल में लाने की जिम्मेदारी दी गयी थी। उनके हाथों में वह महज कागज का एक टुकड़ा बनकर रह गया। १८७१ में संसद ने इन लोगों से यह अधिकार छीन लिया और उसे फैक्टरी इंस्पेक्टरों को सौंप दिया। इस प्रकार, उनके क्षेत्र में एक झटके में ही एक लाख वर्कशापों और ईंट के तीन सौ भट्ठों की वृद्धि कर दी गयी। पर साथ ही फैक्टरी इंस्पेक्टरों को, जिनके पास पहले से ही कर्मचारियों की बेहद कमी थी, आठ नये सहायकों से अधिक न देने की सावधानी बरती गयी।[1]

अतएव, १८६७ के अंग्रेजी कानूनों में जो बातें सबसे ज्यादा ध्यान आकर्षित करती हैं, उनमें से एक तो यह है कि शासक वर्गों की संसद को पूंजीवादी शोषण की ज्यादतियों के खिलाफ इतने बड़े पैमाने पर और ऐसे असाधारण ढंग के कदम सिद्धान्त के रूप में उठाने के लिये मजबूर होना पड़ा, और दूसरी बात यह है कि अमली तौर पर इन कदमों को उठाते हुए उसने बेहद हिचकिचाहट, अनिच्छा और बेईमानी का परिचय दिया।

१८६२ के औद्योगिक जांच आयोग ने खानों के उद्योग का नव नियमन करने का भी सुझाव दिया था। अन्य उद्योगों की तुलना में इस उद्योग की एक असाधारण विशेषता है कि उसमें जमींदार और पूंजीपति के हित जुड़ जाते थे। इन दो हितों के विरोध से फैक्टरी-कानूनों को सहायता मिली थी, और खानों के सम्बंध में क़ानून बनाने के सिलसिले में टालमटूल और वाक्-छल के प्रदर्शन का असली कारण इसी विरोध का अभाव था।

१८४० के जांच आयोग ने ऐसी ऐसी भयानक और लोमहर्षक बातों का भण्डाफोड़ किया था और उससे सारे योरप में ऐसी बदनामी हो गयी थी कि संसद ने आखिर अपनी आत्मा की आवाज को शान्त करने के लिये १८४२ का Mining Act (खानों का कानून) पास कर दिया। इस कानून में केवल १० वर्ष से कम उम्र के बच्चों तथा स्त्रियों से खानों में जमीन की सतह के नीचे काम लेने की मनाही करके ही संतोष कर लिया गया था।

इसके बाद एक और कानून – १८६० का Mines Inspecting Act (खानों के निरीक्षण का कानून) – बनाया गया। इस क़ानून में इस बात की व्यवस्था की गयी कि विशेष रूप से नियुक्त सार्वजनिक अफ़सर खानों का निरीक्षण किया करेंगे और १० तथा १२ वर्ष के बीच की उम्र के लड़कों से तब तक काम नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उनके पास स्कूल का प्रमाण-पत्र नहीं होगा या जब तक कि वे कुछ निश्चित घण्टे स्कूल में नहीं बितायेंगे। पर निरीक्षण करने वाले इंस्पेक्टरों की संख्या चूंकि मजाक की हद तक कम थी और चूंकि उनको नहीं के बराबर अधिकार दिये गये थे, और कुछ अन्य कारणों से, जिनपर आगे प्रकाश पड़ेगा, यह क़ानून महज कागजी कारवाई बनकर रह गया।

खानों के सम्बंध में एक सबसे ताजा सरकारी प्रकाशन है *Report from the Select Committee on Mines, together with &c Evidence, 23rd*

---

[1] फैक्टरी इंस्पेक्टरों के कार्यालय में काम करने वाले कर्मचारियों में २ इंस्पेक्टर, २ सहायक इंस्पेक्टर और ४१ सब इंस्पेक्टर थे। १८७१ में आठ नये सब इंस्पेक्टर नियुक्त किये गये। इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड में इन कानूनों को अमल में लाने का कुल खर्चा १८७१–१८७२ में २५,३४७ पौण्ड से अधिक नहीं बैठा था, जिसमें कानून भंग करने वाले मालिकों पर चलाये गये मुकदमों का कानूनी खर्च भी शामिल था।

July, 1866" ('खानों के बारे में प्रवर समिति की रिपोर्ट, मय ... के। गवाहियां, २३ जुलाई १८६६')। इस रिपोर्ट को एक संसदीय समिति ने तयार किया है, जिसके सदस्य हाउस आफ कामन्स के सदस्यों में से चुने गये थे और जिनको गवाहों को तलब करने और उनके बयान लेने का अधिकार दिया गया था। यह बडे आकार की एक मोटी पोथी है। रिपोर्ट खुद केवल पाच पक्तियो में पूरी हो जाती है, जिनमें कहा गया है कि समिति को कुछ नहीं कहना है, और यह कि अभी और गवाहों के बयान लेने की जरूरत है!

गवाहों के बयान लेने का तरीक़ा ऐसा था, जिसे देखकर अग्रेजी अदालतो में गवाहों की जिरह (cross examination) की याद आती थी, जहा वकील गवाह को डराने, उलझाने और घबराहट में डाल देने के लिये उसके साथ गुस्ताखी करता है, उससे अप्रत्याशित, गोलमोल और उलझन में डाल देने वाले सवाल पूछता है, जिनका विषय से कोई सम्बध नहीं होता, और उससे घुमा फिराकर हासिल किये गये जवाब को मनमाने अर्थ पहनाने की कोशिश करता है। इस जाच में समिति के सदस्य खुद गवाहों से जिरह करते थे, और उनमें खानो के मालिक और खानों का उपयोग करने वाले पूजीपति दोनो शामिल थे, गवाह ज्यादातर कोयला-खानो में काम करने वाले मजदूर थे। यह पूरा नाटक पूजी की भावना का एक इतना अच्छा उदाहरण है कि इस रिपोर्ट के कुछ उद्धरण हम पाठक के सामने प्रस्तुत किये बिना नहीं रह सकते। पूरी सामग्री को सक्षिप्त रूप में पेश करने के लिये मैंने इन उद्धरणो का वर्गीकरण कर दिया है। म यह भी कह दू कि सरकारी प्रकाशनो में हर सवाल और उसके जवाब पर नम्बर पडा हुआ है।

१) खानो में १० वर्ष और उससे अधिक आयु के लडको को नौकर रखना—खानो में काम प्राय १४ या १५ घण्टे चलता है, जिसमें आने-जाने का समय भी शामिल है, कभी कभी तो सुबह के ३, ४ और ५ बजे से शाम के ५ और ६ बजे तक काम चलता रहता है (न० ६, ४५२, ८३)। वयस्क मजदूर आठ-आठ घण्टे की दो पालियो में काम करते ह, लेकिन खर्च के कारण लडको के लिये ऐसी व्यवस्था नहीं होती (न ८०, २०३, २०४)। छोटे लडको से मुख्यतया खान के विभिन्न भागो में रोशनदान का काम करने वाले दरवाजो को खोलने और बद करने का काम लिया जाता है, बडे लडको से कोयला ढोने आदि का ज्यादा भारी काम कराया जाता है (न० १२२, ७३६, १७४७)। ये लडके १८ या २२ वर्ष की आयु तक जमीन की सतह के नीचे रोजाना इतनी देर तक काम करते रहते हैं। उसके बाद उनको खान खोदने वालो का वास्तविक काम मिल जाता है (न० १६१)। बच्चो और लडके-लडकियो के साथ आजकल जसा खराब व्यवहार किया जाता है और उनसे जसी कडी मेहनत करायी जाती है, वैसा इसके पहले कभी देखने में नहीं आया था (न० १६६३-१६६७)। खान-कामगार लगभग एक स्वर से यह माग करते ह कि ससद एक क़ानून बनाकर खानो में १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को नौकर रखने की मनाही कर दे। और अब हस्सी विवियन (जो खुद भी खानो का उपयोग करते हैं) प्रश्न करते हैं "क्या मजदूर की राय उसके परिवार की गरीबी पर निर्भर नहीं करेगी?"—मि० ब्रूस "आपके विचार में १२ और १४ वर्ष के बीच की उम्र के जिस बच्चे का जनक चोट खा गया है, या बीमार है, या जिसका बाप मर गया है और केवल मा जिन्दा है, उसको अपने परिवार के पालन-पोषण के लिये १ शिलिंग ७ पेंस रोजाना कमाने से रोक देना क्या अन्याय नहीं होगा? क्या आप चाहते ह कि सब के लिये एक सामान्य नियम बनाया जाये? क्या आप यह सिफारिश करने के लिये तयार ह कि १२ और १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चो से, उनके मा बापो की चाहे कुछ भी हालत हो, कानून बनाकर काम लेने की

बिल्कुल मनाही कर दी जाये?" "हा।" (न० १०७-११०।) विवियन "मान लीजिये कि १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चो से काम लेने की मनाही करते हुए एक कानून बना दिया जाता है। तब क्या इसकी सम्भावना नहीं है कि बच्चो के मा-बाप अपनी सतान के लिये किसी और क्षेत्र में, – उदाहरण के लिये, हस्तनिर्माण में, – नौकरी तलाश करने लगेंगे?" "म समझता हू कि आम तौर पर ऐसा नहीं होगा।" (न० १७४।) किन्नेड "कुछ लडके दरवाजो की देख भाल करते ह न?" "जी, हा।" "क्या ऐसा नहीं होता कि जब कभी दरवाजा खोला या बन्द किया जाता है, तब हर बार हवा का एक बहुत तेज झोका आता है?" "जी हा, आम तौर पर ऐसा ही होता है।" "सुनने में तो यह बहुत आसान लगता है, पर, असल में, तो यह बहुत तक्लीफदेह चीज है न?" "लडका वहा इस तरह कद रहता है, जसे जेलखाने की कोठरी में बन्द हो।" पूजीपति विवियन "जब कभी किसी लडके को मोमबत्ती मिल जाती है, तब क्या वह पढ नहीं सकता?" "जी हा, वह पढ़ सकता है, बशर्ते कि उसके पास मोमबत्तिया हा मेरा खयाल है, यदि उसे पढते हुए पाया गया, तो उसपर डाट पड जायेगी। वह खान में काम करने के लिये आता है। उसे अपना एक फर्ज पूरा करना होता है और सबसे पहले अपने काम में ध्यान लगाना पडता है। नहीं, म समझता हू, उसे खान में पढने की इजाजत नहीं मिलेगी।" (न० १३६, १४१, १४३, १५८, १६०।)

२) शिक्षा – फक्टरियो की तरह खानो में काम करने वाले मजदूर भी अपने बच्चो की अनिवार्य शिक्षा के लिये एक कानून बनवाना चाहते ह। उनका कहना है कि १८६० के कानून की वह धारा बिल्कुल निरर्थक है, जिसके अनुसार १० और १२ वर्ष के लडको को नौकर रखने के पहले स्कूल के प्रमाण पत्र की आवश्यकता होती है। इस विषय में गवाहो से जो जिरह की गयी है, वह सचमुच बडी अजीब है। "इसकी (कानून की) आवश्यकता मालिको या मा बापो के खिलाफ ज्यादा है?" "म समझता हू, इसकी दोनो के खिलाफ आवश्यकता है।" "क्या आप यह नहीं कह सकते कि दोनो में से किसके खिलाफ इसकी ज्यादा आवश्यकता है?" "नहीं, इस सवाल का जवाब देना मेरे लिये मुश्किल है।" (न० ११५, ११६।) "क्या मालिकों की तरफ से इस इच्छा का कोई आभास मिलता है कि लडका से इतने समय काम कराया जाये, जिससे वे स्कूल भी जा सकें?" "नहीं, इसके लिये काम के समय में कभी कोई कमी नहीं की जाती।" (न० १३७।) मि० किन्नेड "आपके विचार में क्या कोयला-खानो के मजदूर आम तौर पर अपनी शिक्षा में प्रगति कर लेते ह? क्या आपको कुछ ऐसे लोगो की मिसाल मालूम है, जिन्होंने खानो में काम शुरु करने के बाद शिक्षा के मामले में बहुत प्रगति की हो? और क्या इसकी अपेक्षा यह नहीं देखा जाता कि वे उल्टे पिछड जाते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा लिखा होता है, वह भी भूल जाते ह?" "वे आम तौर पर और खराब हो जाते ह। उनमें सुधार नहीं होता, बल्कि बुरी आदतें आ जाती ह। वे शराब पीना और जुआ खेलना शुरु कर देते ह और इसी तरह की और आदतें सीख जाते ह और फिर एकदम चौपट हो जाते ह।" (न० २११।) "क्या वे इस तरह की (मजदूरो को शिक्षा देने की) कोई कोशिश रात के स्कूल खुलवाकर करते ह?" "कुछ इनी गिनी कोयला-खानें ही ऐसी हैं, जहा पर रात के स्कूल चलते हैं। शायद वहा कुछ लडके इन स्कूलो में जाते ह। मगर उस वक्त तक लडके शारीरिक दृष्टि से इतना अधिक थक जाते ह कि स्कूल में पढने से कोई लाभ नहीं होता।" (न० ४५४।) पूंजीपति निष्कर्ष निकालता है "तो इसका मतलब यह हुआ कि आप शिक्षा के खिलाफ ह?" "हरगिज नहीं, मगर," वगैरह-वगैरह। (न० ४४३।) "मगर क्या उनके लिये (मालिकों के

लिये) उनकी (स्कूल के प्रमाण-पत्रो की) माग करना लाजिमी नहीं है?" "कानून की निगाह में तो यह जरूरी है, लेकिन मैं नहीं जानता कि मालिक सचमुच ऐसे प्रमाण-पत्रो की माग करते हैं।" "तब आपकी राय यह है कि प्रमाण-पत्र देखने के सम्बध में क़ानून की धारा पर कोयला-खानो में आम तौर पर अमल नहीं हो रहा।" "हा, इसपर अमल नहीं हो रहा है।" (न० ४४३, ४४४।) "क्या इस सवाल में (शिक्षा में) मजदूर बहुत अधिक दिलचस्पी लेते है?" "हा, ज्यादातर मजदूरो को इस सवाल में बहुत दिलचस्पी है।" (न० ७१७।) "क्या वे इसके लिये बहुत उत्सुक है कि इस कानून को अमल में लाया जाये?" "हां, अधिकतर उत्सुक है।" (न० ७१८।) "क्या आपके खयाल से इस देश में कोई भी क़ानून, जो आप बनाते है, उस वक्त तक सचमुच अमल में आ सकता है, जब तक कि इस देश के लोग उसको अमल में लाने के काम में मदद नहीं करते?" "ऐसे बहुत से लोग हो सकते है, जो लडको से काम लेने का विरोध करना चाहते हो, पर ऐसा करने पर वे शायद उनकी आखो में खटकने लगेंगे।" (न० ७२०।) "किनकी आखो में खटकने लगेंगे?" "अपने मालिको की आखो में।" (न० ७२१।) "क्या आपका यह खयाल है कि मालिक कानून का पालन करने वाले आदमी को दोषी समझेंगे?" "मेरे खयाल में, वे जरूर उसको दोषी समझेंगे।" (न० ७२२।) "क्या आपने किसी ऐसे मजदूर का जिक्र सुना है, जिसने १० और १२ वर्ष के बीच की उम्र के किसी ऐसे लडके से, जो पढ़ना लिखना न जानता हो, काम लेने पर एतराज किया हो?" "मजदूरो का ऐसा करने का अधिकार नहीं है।" (न० १२३।) "क्या आप चाहेंगे कि इस मामले में ससद हस्तक्षेप करे?" "मेरी राय में, अगर कोयला खानो में काम करने वाले मजदूरो के बच्चों की शिक्षा के मामले में कोई कारगर चीज करनी है, तो ससद के बनाये हुए किसी कानून के जरिये शिक्षा अनिवार्य कर देनी होगी।" (न० १६३४।) "केवल कोयला-मजदूरो के लिये ही आप ऐसी कानूनी बाध्यता चाहते है या ग्रेट ब्रिटेन के सभी मजदूरो के लिये?" "मैं तो कोयला-मजदूरो की तरफ से बोलने के लिये यहा आया हू।" (न० १६३६।) "कोयला-खानो में काम करने वाले लडको और अन्य लडको में आप भेद क्या करते है?" "इसलिये कि मेरी राय में कोयला-खानो में काम करने वाले लडके औरो से भिन्न है।" (न० १६३८।) "किस दृष्टि से?" "शारीरिक दृष्टि से।" (न० १६३९।) "अन्य प्रकार के लडको की अपेक्षा उनके लिये शिक्षा क्यो अधिक महत्वपूर्ण है?" "यह तो मैं नहीं जानता कि उनके लिये शिक्षा का अधिक महत्व है, लेकिन खानो के अन्दर अत्यधिक मेहनत करने के कारण वहा नौकरी करने वाले लडको को रविवारीय स्कूलो में, या दिन के स्कूलो में शिक्षा प्राप्त करने का कम मौका मिलता है।" (न० १६४०।) "पर इस ढग के सवाल पर उसे और सब चीजो से अलग करके विचार करना तो असम्भव है न?" (न० १६४४।) "क्या स्कूल सख्या में काफी है?" "नहीं" (न० १६४६।) "यदि राज्य हर बच्चे को स्कूल भेजना अनिवार्य बना दे, तो क्या बच्चो के लिये स्कूल काफी होगे?" "नहीं, लेकिन मेरा खयाल है कि अगर आवश्यक परिस्थितिया पैदा हो जायें, तो स्कूल भी खुल जायेंगे।" (न० १६४७।) "मैं समझता हू कि उनमें से कुछ (लडके) तो बिलकुल पढ़ लिख नहीं सकते?" "उनमें से अधिकतर नहीं पढ़ लिख सकते खुद वयस्क मजदूरो में से भी अधिकतर पढ़ना लिखना नहीं जानते।" (न० ७०५, ७२५।)

३) स्त्रियो को नौकर रखना – १८४२ के बाद से जमीन की सतह के नीचे स्त्रियो से काम लेना बन्द हो गया है, लेकिन जमीन की सतह पर उनसे कोयला लादने, टबो को

नहरों और माल गाडियों तक ले जाने, छाटने आदि का काम लिया जाता है। पिछले तीन या चार वर्षों में उनकी सख्या में बडी वृद्धि हो गयी है। (न० १७२७।) ये स्त्रिया प्राय खानो में काम करने वाले मजदूरो की पत्निया, पुत्रिया और विधवाए होती ह, और उनकी आयु १२ वर्ष से लेकर ५० या ६० वर्ष तक होती हैं। (न० ६४५, १७७९।) "स्त्रिया से काम लेने के विषय में खान-मजदूरो की क्या भावना है?" "म समझता हू, वे आम तौर पर इसे बुरा समझते ह।" (न० ६४८।) "आपको इस में क्या एतराज है?" "म समझता हू, यह चीज नारी जाति के लिये अपमानजनक है।" (न० ६४९) "उनकी पोशाक भी अजीब होती है न?" "जी हा, उसे मर्दों की पोशाक कहना ज्यादा सही होगा, और मेरे खयाल में इस पोशाक से कम से कम कुछ स्त्रियो में तो हया शर्म बाकी नहीं रहती।" "क्या स्त्रिया तम्बाकू भी पीती ह?" "जी हा, कुछ स्त्रिया पीती ह।" "और म समझता हू, यह बहुत गदा काम है?" "बहुत गदा।" "वे स्याह हो जाती होंगी?" "जी हा, जमीन के नीचे खान में काम करने वालो के समान स्याह ये हो जाती ह म समझता हू, बच्चो वाली औरतें (और यहा काम करने वाली बहुत सारी औरतो के पास बच्चे हैं) अपने बच्चो के प्रति अपना कतव्य पूरा नहीं कर पातीं।" (न० ६५०–६५४, ७०१।) "क्या आपके खयाल में इन विधवाओ को इतनी ही मजदूरी (८ शिलिंग से १० शिलिंग प्रति सप्ताह तक) देने वाली नौकरी कहीं और मिल सकती है?" "इस बारे में मे कुछ नहीं कह सकता।" (न० ७०९।) "और फिर भी आप चाहेंगे" (ओ सगदिल इनसान!) "कि वे यहा काम करके अपनी जीविका न कमाया करें?" "जी हा, म यही चाहूगा।" (न० ७१०।) "स्त्रियो को नौकर रखने के बारे में डिस्ट्रिक्ट में आम भावना क्या है?" "भावना यह है कि यह काम स्त्रियो के लिये अपमानजनक है, और खान-मजदूरो के रूप में हम स्त्रियो को खानों के किनारे काम करते हुए देखना नहीं चाहते, नारी जाति का कुछ अधिक आदर करना चाहते ह काम का कुछ भाग तो बहुत ही कठिन होता है। इनमें से कुछ लडकियो ने एक एक दिन में १० १० टन बोझ उठाया है।" (न० १७१५, १७१७।) "क्या आपके विचार में फक्टरियो में काम करने वाली स्त्रियो की तुलना में खानो के आस-पास काम करने वाली स्त्रिया नतिकता की दृष्टि से ज्यादा खराब होती ह?" " फक्टरियो में काम करने वाली लडकियो की अपेक्षा यहा बुरी लडकियो का अनुपात कुछ अधिक हो सकता है।" (न० १७३२।) "लेकिन आप फक्टरियो में पायी जाने वाली नतिकता के स्तर से भी सतुष्ट तो नहीं ह?" "नहीं।" (न० १७३३।) "तब क्या आप फैक्टरियो में भी स्त्रियो को नौकर रखने की मनाही कर देंगे?" "नहीं, म उसकी मनाही नहीं करूगा।" (न० १७३४।) "क्यों नहीं?" "म समझता हू, मिलो में काम करना उनके लिये अधिक सम्मान की बात है।" (न० १७३५।) "फिर भी, आपके विचार में, उनकी नतिकता को तो धक्का लगता ही है?" "उतना नहीं, जितना खानो के किनारे काम करने पर, लेकिन मेरा मत सामाजिक पक्ष पर अधिक आधारित है, म केवल नतिकता के आधार पर बात नहीं कर रहा हू। सामाजिक दृष्टि से लडकियो का जो पतन होता है, वह बहुत ही लज्जाजनक है। जब ये ४०० या ५०० लडकिया कोयला-मजदूरो की पत्निया बन जाती ह, तब इस पतन के कारण पुरुषों को बहुत दुख उठाना पडता है, और वे घर छोडकर चले जाते ह और शराब पीने लगते ह।" (न० १७३६।) "पर जब आप कोयला-खानो में स्त्रियो को नौकर रखने की मनाही कर देंगे, तब तो आपको लोहे का काम करने वाले कारखानों में भी इसकी मनाही कर देनी होगी?" "म किसी और धधे के बारे में कुछ नहीं कह सकता।" (न० १७३७।)

"क्या लोहे के कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों की स्थिति में और खानों में ज़मीन की सतह के ऊपर काम करने वाली स्त्रियों की स्थिति में आपको कोई अंतर दिखाई देता है?" "मैंने ऐसी कोई जांच नहीं की।" (नं० १७४०।) "क्या आप कोई ऐसी बात देखते हैं, जिससे एक श्रेणी और दूसरी श्रेणी में फ़र्क़ पैदा हो जाता हो?" "मैंने ऐसी कोई बात जांची नहीं, लेकिन अपने डिस्ट्रिक्ट में मैं घर-घर घूमा हूं और यह जानता हूं कि वहां हालत बहुत ही शोचनीय है..." (नं० १७४१।) "क्या आप हर ऐसी जगह पर स्त्रियों को नौकर रखने की मनाही करना चाहेंगे, जहां उससे उनका पतन होता हो?" "मैं समझता हूं, उससे इस तरह हानि होगी कि अंग्रेज़ों में जो सर्वोत्तम भावनाएं पायी जाती हैं, वे उनको माता की शिक्षा से प्राप्त हुई हैं..." (नं० १७५०।) "यह बात तो कृषि कार्यों पर भी उतनी ही लागू होती है न?" "जी हां, पर वह केवल दो मौसमों की नौकरी होती है, और यहां पर हमें चारों मौसमों में काम करना पड़ता है।" (नं० १७५१।) "वे अक्सर दिन रात काम करती हैं और एकदम भीग जाती हैं, उनकी देह खोखली और स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।" "इस मामले की आपने शायद कोई खास जांच-पड़ताल नहीं की है?" "राह चलते जो कुछ भी मेरी आंखों के सामने से गुज़रा है, उसे मैंने अवश्य देखा है, और निश्चय ही मैंने कहीं भी कोई ऐसी चीज़ नहीं देखी है, जो खानों के किनारे काम करने वाली औरतों की हालत की बराबरी कर सके... यह तो मर्दों का काम है... खूब मज़बूत मर्दों का।" (नं० १७५३, १७६३, १७६४।) "तो इस पूरे सवाल पर आप का यह विचार है कि कोयला-मज़दूरों का श्रेष्ठ भाग अपने को कुछ ऊपर उठाना और इनसान बनना चाहता है, लेकिन इस चीज़ में उसे स्त्रियों से कोई मदद नहीं मिलती और उल्टे वे उसको नीचे की ओर खींचती हैं?" "जी हां।" (नं० १८०८।) इन पूंजीपतियों के कुछ और छलपूर्ण सवालों के बाद आखिर यह बात खुल गयी कि विधवाओं, ग़रीब परिवारों आदि के प्रति उनकी "सहानुभूति" का क्या रहस्य है। "खान का मालिक कुछ महानुभावों को काम की देखभाल करने के लिये नियुक्त कर देता है, और मालिक की नज़रों में ऊपर उठने के लिये इन लोगों की यह नीति होती है कि अधिक से अधिक मितव्ययिता करके दिखायें, और जहां मर्द को २ शिलिंग ६ पेंस रोज़ाना की मज़दूरी देनी पड़ेगी, वहां इन लड़कियों को १ शिलिंग से १ शिलिंग ६ पेंस तक देने से ही काम चल जाता है।" (नं० १८१६।)

४) मौत के सबब की जांच करने वाली अदालत की कारवाई – "कोई दुर्घटना हो जाने पर आपके डिस्ट्रिक्ट में मौत का सबब जांचने वाली अदालत में तफ़्तीश की कारवाई जिस तरह होती है, क्या मज़दूर उसपर विश्वास करते हैं?" "नहीं, मज़दूर उसपर विश्वास नहीं करते।" (नं० ३६०।) "क्यों नहीं करते?" "मुख्यतया इसलिये कि इस अदालत के लिये आम तौर पर जो लोग चुने जाते हैं, उनको खानों के बारे में और इस तरह की अन्य चीज़ों के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती।" "क्या मज़दूरों को कभी जूरी का काम करने के लिये नहीं बुलाया जाता?" "जहां तक मुझे जानकारी है, गवाहों के अतिरिक्त वे और किसी हैसियत में कभी नहीं बुलाये जाते।" "जूरी का काम करने के लिए आम तौर पर कौन लोग बुलाये जाते हैं?" "आम तौर पर आस-पड़ोस के व्यापारी... जो अपनी स्थिति के कारण कभी कभी उन लोगों के प्रभाव में आ जाते हैं, जिनके लिये वे काम करते हैं... यानी उनपर कारखानों के मालिकों का असर पड़ जाता है। वे आम तौर पर ऐसे लोग होते हैं, जिनको कोई जानकारी नहीं होती, और उनके सामने जो गवाह पेश होते हैं, वे उनकी बातों को या उनकी शब्दावली आदि को नहीं समझ पाते।" "क्या आप ऐसे व्यक्तियों का जूरी में होना पसन्द करेंगे, जो

खान-उद्योग में काम कर चुके ह ? " "जी हा, आंशिक रूप में उनका (मजदूरो का) खयाल है कि फसला आम तौर पर गवाहो के बयानों के मुताबिक नहीं होता।" (न० ३६१, ३६४, ३६६, ३६८, ३७१, ३७५।) "जूरी बुलाने का एक बडा उद्देश्य यह है न कि वह निष्पक्ष हो ? " "जी, म तो ऐसा ही समझता हू।" "यदि जूरी के सदस्यो में से अधिकतर मजदूर हो, तो क्या आपके खयाल में ऐसी जूरी निष्पक्ष होगी ? " "मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती, जिसके कारण मजदूरो को पक्षपात करना पडेगा खान के काम-काज की उनको लाजिमी तौर पर बेहतर जानकारी होती है।" आपका क्या खयाल है कि क्या उनमें मजदूरो के पक्ष में बहुत ज्यादा सख्त फसले देने की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी ? " "नहीं, मेरा ऐसा विचार नहीं है।" (न० ३७८, ३७९, ३८०।)

५) झूठे बाट और झूठे गज – मजदूरो की माग है कि उनको मजदूरी चौदह दिन में एक बार के बजाय हफ्ते में एक बार दी जाये और उसका हिसाब टबो के घन मान के आधार पर नहीं, बल्कि टबो में भरे हुए कोयले के वजन के आधार पर लगाया जाये। उनकी यह भी माग है कि झूठे बाटो वगैरह से उनकी रक्षा की जाये। (न० १०७१।) "अगर टबो का आकार बेईमानी से बढा दिया जाता है, तो मजदूर चौदह दिन का नोटिस देकर काम छोड सकता है ? " "लेकिन यदि वह किसी और जगह काम करने जाता है, तो वहा भी यही हालत है।" (न० १०७१।) "लेकिन मजदूर वह जगह तो छोड सकता है, जहा उसके साथ बेईमानी की गयी है ? " "मगर यह तो एक आम बेईमानी है। वह जहा जाता है, वहीं उसे यह अन्याय सहन करना पडता है।" (न० १०७२) "कोई भी मजदूर १४ दिन का नोटिस देकर काम छोड सकता है या नहीं ? " "हा, वह छोड सकता है।" (न० १०७३।) और ये लोग फिर भी सतुष्ट नहीं हैं![1]

६) खानो का निरीक्षण – खानो में विस्फोट होते ह, तो मजदूर हताहत हो जाते ह। मगर उनके लिये यही एक मुसीबत नहीं है। (न० २३४ और उसके आगे के प्रश्नोत्तर।) "हमारे साथियो को इसकी बहुत शिकायत है कि खानो में ताजा हवा आने का बहुत खराब इतजाम है उसका प्रबध आम तौर पर इतना ज्यादा खराब है कि मजदूर मुश्किल से सास ले पाते ह। कुछ समय तक खानो में काम करने के बाद वे हर किस्म के काम के लिये बेकार हो जाते ह। बल्कि सच पूछिये, तो खान के जिस हिस्से में म काम करता हू, वहा काम करने वाले बहुत से मजदूरो को कुछ समय तक नौकरी करने के बाद इसी कारण काम छोडकर घर चले जाना पडा है जहा विस्फोटक गस नहीं होती, वहा ताजा हवा के आने की व्यवस्था इतनी खराब होती है कि उसके फलस्वरूप कुछ मजदूर हफ्तो के लिये बेकार हो गये ह मुख्य नालियो में आम तौर पर काफी हवा होती है, पर जिन स्थानो पर मजदूर काम करते हैं, वहा तक हवा ले जाने की कोई कोशिश नहीं की जाती।" "तब आप इस्पेक्टर से क्यो नहीं कहते ? " "सच पूछिये, तो इस्पेक्टर से इसकी चर्चा करने में बहुत से आदमी डरते ह। कई बार ऐसा हुआ है कि इस्पेक्टर से इस बात की शिकायत करने वाले लोग बलि चढ गये ह और नौकरी खो बठे ह।" "क्यो ? क्या शिकायत करने वाले मजदूर का नाम नोट हो जाता है ? " "जी हा।" "और उसको किसी और खान में भी काम नहीं मिलता ? " "जी हा।" "क्या आपकी राय में आपके आस-पडोस की खानो का इतना काफी निरीक्षण होता रहता है कि उनके द्वारा कानून की धाराओ का सुनिश्चित पालन करवाया जा सके ? " "जी नहीं, उनका जरा भी निरीक्षण नहीं होता एक खान सात बरस से काम कर रही है और उसका निरीक्षण करने के लिये

केवल एक बार इस्पेक्टर आया है जिस डिस्ट्रिक्ट में म रहता हू, वहा इस्पेक्टरो की सख्या पर्याप्त नहीं है। ७० वष से अधिक आयु के एक वृद्ध व्यक्ति को १३० से अधिक कोयला-खानो का निरीक्षण करने का काम मिला हुआ है।" "आप चाहते ह कि सब इस्पेक्टरो की भी एक श्रेणी हो?" "जी हा।" (न० २३४, २४१, २५१, २५४, २७४, २७५, ५५४, २७६, २९३।) "लेकिन क्या आपके खयाल में सरकार के लिये इस्पेक्टरो की इतनी बडी सेना को नौकर रखना सम्भव होगा, जो बिना मजदूरो से कोई इत्तिला पाये वे सारे काम कर सके, जो आप उससे कराना चाहते ह?" "नहीं, म समझता हू, यह बिलकुल असम्भव हे" "इस्पेक्टर ज्यादा जल्दी जल्दी आयें, तो बेहतर होगा?" "जी हा, और उनको बिना बुलाये आना चाहिये।" (न० २८०, २७७।) "आपके विचार में, इन इस्पेक्टरो से इतनी जल्दी-जल्दी कोयला खानो का निरीक्षण कराने का यह असर तो नहीं होगा कि ताजा हवा के उचित इतजाम की जिम्मेदारी (!) कोयला खानो के मालिको से हटकर सरकारी कमचारियो के कधो पर आ जायेगी?" "जी नहीं, मै ऐसा नहीं समझता। मेरे विचार में इस्पेक्टरो का काम यह होना चाहिये कि पहले से मौजूद कानूनो को अमली जामा पहनायें।" (न० २८५।) "जब आप सब इस्पेक्टरो की बात करते ह, तो क्या आपका यह मतलब है कि वर्तमान इस्पेक्टरो से कम योग्यता वाले व्यक्तियो को कम तनखाह पर नियुक्त किया जाये?" "अगर बेहतर आदमी मिल सके, तो मै यह नहीं चाहूगा कि कम योग्यता वाले आदमी नियुक्त किये जायें।" (न० २९४।) "आप महज ज्यादा इस्पेक्टर चाहते ह या अपेक्षाकृत निम्न वर्ग के व्यक्तियो को इस्पेक्टरो के रूप में चाहते है?" "ऐसा आदमी होना चाहिये, जो बराबर घूमता रहे और इसका खयाल रखे कि सब चीजें ठीक ह या नहीं, और जिसे खुद अपने बारे में डर न लगता हो।" (न० २९५।) "यदि आपकी यह इच्छा पूरी हो जाये और एक निम्न श्रेणी के इस्पेक्टर नियुक्त कर दिये जायें, तो क्या निपुणता के अभाव आदि से कोई खतरा नहीं होगा?" "नहीं, मेरे विचार में तो ऐसा कोई खतरा नहीं है। मै समझता हू, सरकार इसका खयाल रखेगी और इस पद पर सही आदमियो को नियुक्त करेगी।" (न० २९७।) इस तरह की जिरह आखिर समिति के अध्यक्ष को भी नागवार मालूम होती है, और वह बीच में बोल उठता है "आप यह चाहते है न कि कुछ ऐसे लोग हो, जो खान की तमाम तफसीली बातो की जांच कर सकें, एक एक कोने में घुसकर हर चीज को देख सकें और असलियत का पता लगा सकें और ये लोग मुख्य इस्पेक्टर को रिपोट दिया करें और वह तब उनके बताये हुए तथ्यों पर अपने वज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में विचार किया करे?" (न० २९८, २९९।) "यदि इन तमाम पुरानी खानो में ताजा हवा का इतजाम किया गया, तो क्या इसमें बहुत ज्यादा खर्चा नहीं आ जायेगा?" "हा, खर्चा तो होगा, पर साथ ही मनुष्यो के जीवन की सुरक्षा की व्यवस्था भी हो जायेगी।" (न० ५३१।) एक खान-मजदूर ने १८६० के कानून की १३ वीं धारा पर आपत्ति की। उसने कहा "आजकल यदि खानों का इस्पेक्टर यह पाता है कि खान का कोई हिस्सा इस लायक नहीं है कि वहा काम किया जाये, तो उसे खान-मालिक को और गृह-मंत्री को रिपोर्ट भेजनी पडती है। उसके बाद २० दिन का समय मालिक को इस मामले की जांच करने के लिये दिया जाता है। २० दिन पूरे हो जाने पर मालिक को यह अधिकार होता है कि खान में कोई भी तबदीली करने से इनकार कर दे। लेकिन ऐसा करने पर [illegible] को गृह मन्त्री को सूचना देनी पडती है और साथ ही पांच इंजीनियरों का नामजद [illegible] है। खुद मालिक के नामजद किये हुए इन पाच इंजीनियरों में से [illegible]

मध्यस्थ पंच के रूप में नियुक्त कर देता है। हम तो यह समझते हैं कि इस प्रकार एक तरह से खुद मालिक ही अपना पंच नियुक्त कर देता है।" (नं० ५८१।) जो पूंजीपति गवाह से जिरह कर रहा है, यह खुद भी खान का मालिक है यह पूछता है "पर क्या यह एक महज खयाली एतराज है?" (नं० ५८६।) "तब तो खान इंजीनियरों की ईमानदारी के बारे में आपकी राय बहुत अच्छी नहीं है?" "उनका रुख निश्चय ही अन्याय और बेइंसाफी का होता है"। (नं० ५८८।) "क्या खानों के इंजीनियरों का एक प्रकार से सार्वजनिक व्यक्तित्व नहीं होता और क्या आपके विचार में यह सच नहीं है कि आपको जैसी आशंका है, वैसा पक्षपात ये इंजीनियर कभी नहीं करेंगे?" "इन लोगों के व्यक्तिगत चरित्र के बारे में आपने जिस प्रकार का प्रश्न किया है, मैं उसका उत्तर देना नहीं चाहता। मेरा विश्वास है कि बहुत से मामलों में वे निश्चय ही बहुत अधिक पक्षपात करेंगे, और जहां इनसानों की जान दांव पर लगी हुई है, वहां उन्हें ऐसा करने का कोई मौका नहीं होना चाहिये।" (नं० ५८९।) पर इसी पूंजीपति को यह प्रश्न करने में कोई संकोच नहीं हुआ "आपके खयाल में क्या विस्फोट से मालिक की कोई हानि नहीं होती?" और अन्त में यह पूछता है "लंकाशायर के आप मजदूर लोग क्या सरकार का मुंह जोहे बिना खुद अपनी मदद नहीं कर सकते?" "नहीं।" (नं० १०४२।)

१८६५ में ब्रिटेन में ३,२१७ कोयला-खानें थीं और १२ इंस्पेक्टर। यार्कशायर के एक खान मालिक ने (*The Times*" के २६ जनवरी १८६७ के अंक में) खुद हिसाब लगाया है कि यदि इंस्पेक्टरों के दफ्तर के काम को, जिसमें उनका सारा समय चला जाता है, ध्यान में न रखा जाये, तो भी प्रत्येक खान का दस वर्ष में केवल एक बार निरीक्षण किया जा सकता है। तब क्या आश्चर्य है यदि पिछले दस वर्षों में विस्फोटों की संख्या और प्रभाव-क्षेत्र में बराबर वृद्धि होती गयी है (और कभी कभी तो एक एक विस्फोट में दो-दो सौ, तीन-तीन सौ आदमियों की जान चली जाती है)? यह है "स्वतंत्र" पूंजीवादी उत्पादन के मजे!*

१८७२ में जो बहुत त्रुटिपूर्ण क़ानून पास हुआ, वह पहला क़ानून है, जो खानों में नौकरी करने वाले बच्चों के श्रम के घण्टों का नियमन करता है और तथाकथित दुर्घटनाओं के लिये किसी हद तक शोषकों और मालिकों को जिम्मेदार ठहराता है।

जो बच्चे, लड़के लड़कियां और स्त्रियां खेती का काम करने के लिये नौकर रखे जाते हैं, उनकी हालत की जांच करने के लिये १८६७ में एक राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। खेती में फैक्टरी-कानूनों के सिद्धान्तों को, मगर संशोधित रूप में, लागू करने की कई कोशिशें हो चुकी हैं, पर अभी तक वे पूरी तरह असफल होती रही हैं। यहां पर मैं केवल इस बात की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि इन सिद्धान्तों को आम तौर पर सभी क्षेत्रों में लागू करने की एक अरोध्य प्रवृत्ति पायी जाती है।

यदि मजदूर वर्ग के मस्तिष्क एवं शरीर की सुरक्षा के उद्देश्य से सभी धंधों पर आम तौर से फैक्टरी-कानूनों का लागू किया जाना एक अवश्यम्भावी बात बन गया है, तो, दूसरी ओर, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, फैक्टरी कानूनों का यह विस्तार अलग अलग काम करने

---

*यह वाक्य अंग्रेजी पाठ में, जिसके अनुसार हिंदी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार जोड़ दिया गया है। –सम्पा०

वाले बहुत से छोटे छोटे उद्योगो के बडे पैमाने के थोडे से सयुक्त उद्योगो में परिवर्तित हो जाने की क्रिया को और तेज कर देता है और इस तरह पूजी के केन्द्रीकरण और फक्टरी-व्यवस्था के एकछत्र प्रभुत्व की स्थापना को बहुत गति प्रदान करता है। यह विस्तार उन प्राचीन तथा अन्तर्कालीन, दोनो प्रकार के रूपो को नष्ट कर देता है, जिन्होने अभी तक पूजी के प्रभुत्व पर आशिक रूप से पर्दा डाल रखा था, और उनके स्थान पर पूजी का प्रत्यक्ष और खुला आधिपत्य स्थापित कर देता है। परन्तु ऐसा करके वह इस आधिपत्य के प्रत्यक्ष विरोध को भी एक सामान्य रूप दे देता है। प्रत्येक अलग-अलग कारखाने में जहा वह अनिवाय रूप से एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था और मितव्ययिता को व्यवहार में लाता है, वहा वह काम के दिन पर सीमा लगाकर तथा उसका नियमन करके और इस तरह प्राविधिक प्रगति को बहुत तेज बनाकर पूरे पूजीवादी उत्पादन की अराजकता और मुसीबतो को, श्रम की तीव्रता को और मजदूर के साथ मशीनो की प्रतियोगिता को और बढा देता है। छोटे और घरेलू उद्योगो को नष्ट करके यह "फालतू आबादी" के आखिरी सहारे को खतम कर देता है और उसके साथ साथ पूरे सामाजिक सघटन के एकमात्र बचे हुए सुरक्षा माग को भी बद कर देता है। भौतिक परिस्थितियो को और पूरे समाज के पैमाने पर उत्पादन की क्रियाओ के योग को परिपक्व बना कर यह उत्पादन के पूजीवादी रूप के विरोधो और असगतियो को परिपक्व करता है और इस तरह एक नये समाज के निर्माण के लिये आवश्यक तत्वो के साथ साथ पुराने समाज को नष्ट कर देने वाली शक्तियो को भी तयार करता है।[1]

---

[1] राबट ओवन सहकारी फैक्टरिया और दूकाना के जन्मदाता थे, किन्तु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, अपने अनुयायियो की तरह उनके मन में इस विषय में कोई भ्रम नही था कि परिवतन के इन इक्के दुक्के तत्वो का असल मे क्या महत्व है। उन्हाने न केवल व्यवहार मे फैक्टरी-व्यवस्था को अपने प्रयोगा का एकमात्र आधार बनाया था, बल्कि सैद्धान्तिक रूप मे इस व्यवस्था को सामाजिक क्रान्ति का प्रस्थान बिन्दु घोषित किया था। लेडेन विश्वविद्यालय मे अथशास्त्र के प्रोफेसर, हेर विस्सेरिंग ने जब अपनी रचना *Handboek van Praktische Staatshuishoudkunde* १८६०–६२, में, जिसमें अप्रामाणिक अथशास्त्र की तमाम महत्वहीन बातो का दुहरा दिया गया है, फैक्टरी व्यवस्था के मुकाबले मे दस्तकारियो का जोरदार समथन किया था, तब मालूम होता है, उनके मन में इस बात का कुछ आभास था। [चौथे जमन सस्करण में जोडा गया अश एक दूसरे के विरोधी Factory Acts (फैक्टरी कानूना), Factory Extension Act (फैक्टरी विस्तार कानून) और Workshops Act (वकशाप-कानून) के रूप में जो कानूनी गडबड-झाला तैयार हुआ था (पष्ठ ३१४) (इस सस्करण का पष्ठ ३४१), वह अन्त मे असह्य हो गया, और चुनाचे १८७८ के Factory and Workshop Act (फैक्टरी और वकशाप कानून) ने इन *तमाम कानूनो को एक नयी सहिता का* रूप दे दिया। जाहिर है, हम इस स्थान पर इगलैण्ड की वतमान औद्योगिक सहिता की कोई विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत नही कर सकते। यहा निम्नलिखित टिप्पणिया पर्याप्त हागी । यह कानून इतनी तरह की फैक्टरियो पर लागू है

(१) कपडा मिला पर। इनके सम्बध में स्थिति लगभग वही है, जो पहले थी। १० वप से अधिक आयु के बच्चा को ५ $\frac{१}{२}$ घण्टे प्रति दिन *या शनिवार की छुट्टी* और ६ घण्टे प्रति

अनुभाग १० – आधुनिक उद्योग और खेती

आधुनिक उद्योग ने खेती में और खेतिहर उत्पादको के सामाजिक सम्बधो में जो क्रान्ति पैदा कर दी है, उसपर हम बाद में विचार करेंगे। इस स्थान पर हम पूर्वानुमान के रूप में कुछ परिणामो की ओर सकेत भर करेंगे। खेती में मशीनो के प्रयोग का मजदूरो के शरीरो पर फक्टरी मजदूरो के समान घातक प्रभाव नहीं होता, किन्तु, जसा कि हम बाद में विस्तार से देखेंगे, मजदूरो का स्थान लेने में मशीनें यहा फक्टरियो से ज्यादा तेजी दिखाती हैं और यहा इसका विरोध भी कम होता है। मिसाल के लिये, कम्ब्रिज और सफोक की काउटियो में खेती का रकबा पिछले २० वर्षों में (१८६८ तक) बहुत अधिक बढ़ गया है, पर इसी काल में

दिन काम करने की इजाज़त है। लडके लडकिया तथा स्त्रियो को ५ दिन १० घण्टे रोज़ और शनिवार को अधिक से अधिक ६ $\frac{१}{२}$ घण्टे काम करने की इजाजत है।

(२) अन्य प्रकार की मिला पर। इनके लिये बनाये गये कानूनो को न० १ के लिये बनाये गये क़ानूनो के अधिक समान कर दिया गया है। फिर भी अनेक बातो मे पूजीपतियो को छूट दे दी गयी है, और कुछ खास परिस्थितिया मे गृह मन्त्रालय इस छूट के क्षेत्र को और बढा सकता है।

(३) उन वर्कशापो पर, जिनकी इस कानून मे भी वही परिभाषा है, जो पुराने कानून में थी। जहा तक उनमे काम करने वाले बच्चो, लडके लडकियो और स्त्रियो का सम्बन्ध है, वर्कशापो को लगभग उसी श्रेणी मे रखा गया है, जिस श्रेणी मे कपडा मिलो के सिवा अन्य प्रकार की मिलें आती हैं, लेकिन उनको भी कुछ बातो मे विशेष छूट दे दी गयी हैं।

(४) उन वर्कशापो पर, जिनमे बच्चे या लडके-लडकिया काम नही करती और जिनम केवल १८ वर्ष से अधिक आयु के स्त्री-पुरुषो से ही काम लिया जाता है। उन्हे और भी अधिक सुविधाए प्राप्त है।

(५) घरेलू वर्कशापो (Domestic Workshops) पर, जिनमे केवल परिवार के सदस्य ही अपने घर पर बैठकर काम करते हैं। इनके लिये और भी ढीले नियम बनाये गये है और ऊपर से यह प्रतिबध लगा दिया गया है कि जिन कमरा मे काम करने के साथ साथ मजदूर रहते भी ह, उनमे कोई इंस्पेक्टर बिना मत्री या जज की इजाजत के प्रवेश नही कर सकता। अतिम बात यह है कि सूखी घास की बुनी हुई वस्तुए तैयार करने, लैस बनाने और दस्ताने बनाने के धधा को पूरी आज़ादी दे दी गयी है। लेकिन इन तमाम खामियों के बावजूद, यह कानून और स्विस राज्य मण्डल का २३ मार्च १८७७ को पास किया गया फैक्टरी कानून इस क्षेत्र के और सब कानूनो से कही बेहतर है। इन दो सहिताओ की तुलना विशेष रूप से उपयोगी होगा, क्योकि उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि कानून बनाने की इन दो भिन्न पद्धतियो के गुण अवगुण क्या हैं। इनमें से इगलण्ड की "ऐतिहासिक" पद्धति है, जो जब-तब आवश्यक होने पर एक के बाद दूसरे मामले मे हस्तक्षेप करती हुई बढती है, और दूसरी यूरपीय महाद्वीप की फ्रासीसी क्रान्ति की परम्पराओ पर आधारित पद्धति है, जो सामान्यीकरण का अधिक प्रयोग करती है। दुर्भाग्यवश इगलैण्ड की नियमावली इन्स्पेक्टरो की कमी के कारण वर्कशापो के सम्बध मे अभी तक प्राय एक कागज़ी चीज ही बनी हुई है।—फ़्रे० ए०।]

देहाती आबादी न केवल तुलनात्मक, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी घट गयी है। सयुक्त राज्य अमरीका में अभी तक केवल प्रभावत ही खेती की मशीनें मजदूरो का स्थान ले लेती ह, दूसरे शब्दो में, उनकी मदद से किसान पहले से बडे रकबे में खेती कर सकता है, लेकिन उनकी वजह से पहले से काम करने वाले मजदूरो को जवाब नहीं मिल जाता। १८६१ में इगलण्ड और वेल्स में खेती की मशीनो के बनाने में लगे हुए व्यक्तियो की सख्या १,०३४ थी, जब कि खेती की मशीनो और भाप के इजनो का इस्तेमाल करने वाले खेतिहर मजदूरो की सख्या १,२०५ से अधिक नहीं थी।

खेती के क्षेत्र पर आधुनिक उद्योग का जैसा क्रातिकारी प्रभाव पडता है, वसा और कहीं नहीं पडता। उसका कारण यह है कि आधुनिक उद्योग पुराने समाज के आधार-स्तम्भ—यानी किसान—को नष्ट कर देता है और उसके स्थान पर मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूर को स्थापित करता है। इस प्रकार, सामाजिक परिवतनो की चाह और वर्गों के विरोध गावो में भी शहरो के स्तर पर पहुच गये ह। खेती के पुराने, अविवेकपूण तरीक़ो के स्थान पर वैज्ञानिक तरीके इस्तेमाल होने लगते हैं। खेती और हस्तनिर्माण के शैशव काल में जिस नाते ने इन दोनो को साथ बाध रखा था, पूजीवादी उत्पादन उसे एकदम तोडकर फेंक देता है। परन्तु इसके साथ-साथ वह भविष्य में सम्पन्न होने वाले एक अधिक ऊचे समन्वय—यानी अपने अस्थायी अलगाव के दौरान में प्रत्येक ने जो अधिक पूणता प्राप्त की है, उसके आधार पर कृषि और उद्योग के मिलाप—के लिये भौतिक परिस्थितिया भी तैयार कर देता है। पूजीवादी उत्पादन आबादी को बडे-बडे केन्द्रो में केन्द्रीभूत करके और शहरी आबादी का पलडा अधिकाधिक भारी बनाकर एक ओर तो समाज की ऐतिहासिक चालक शक्ति का केन्द्रीकरण कर देता है, और, दूसरी ओर, वह मनुष्य तथा धरती के बीच पदार्थ के परिचलन को अस्त व्यस्त कर देता है, अर्थात् भोजन कपडे के रूप में मनुष्य धरती के जिन तत्वो को खच कर डालता है, उन्हें धरती में लौटने से रोक देता है, और इसलिये वह उन शर्तों का उल्लघन करता है, जो धरती को सदा उपजाऊ बनाने के लिये आवश्यक हैं। इस तरह वह शहरी मजदूर के स्वास्थ्य को और देहाती मजदूर के बौद्धिक जीवन को एक साथ चौपट कर देता है।[1] परन्तु पदाथ के इस परिचलन के लिये जो परिस्थितिया खुद-ब-खुद तयार हो गयी थीं, उनको अस्त व्यस्त करने के साथ-साथ पूजीवादी उत्पादन बडी शान के साथ इस बात का तकाजा करता है कि इस परिचलन को एक व्यवस्था के रूप में, सामाजिक उत्पादन के एक नियामक कानून के रूप में, और एक ऐसी शक्ल में पुन कायम किया जाये, जो मानव जाति के पूण विकास के लिये उपयुक्त हो। हस्तनिर्माण की तरह खेती में भी उत्पादन के रूपान्तरण और पूजी के आधिपत्य की स्थापना का अर्थ साथ ही यह भी होता है कि उत्पादक की हत्या हो जाती है,

---

[1] "आप लोगो ने कौम को असभ्य भाडा और बौने हिजडो के दो विरोधी पक्षो मे बाट दिया है। हे भगवान! एक राष्ट्र खेतिहर और व्यापारिक हितो मे बटा हुआ है और फिर भी अपने होश हवास दुरुस्त बताता है। नही, बल्कि जाग्रत और सभ्य होने का दावा करता है और कहता है कि न सिफ इस बेहूदा और अस्वाभाविक विभाजन के बावजूद ऐसा है, बल्कि यह इस विभाजन का ही परिणाम है।" (David Urquhart उप० पु०, पृ० ११९।) इस उद्धरण से उस प्रकार की आलोचना की शक्ति और कमजोरी दोना एक साथ प्रकट हो जाती हैं, जो वतमान को आककर उसकी निन्दा करना तो जानती है, पर उसको समझ नही सकती।

श्रम का औजार मजदूर को गुलाम बनाने, उसका शोषण करने और उसको गरीब बनाने का साधन बन जाता है, और श्रम प्रक्रियाओ का सामाजिक सयोजन और सगठन मजदूर की व्यक्तिगत जीवन-शक्ति, स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को कुचलकर खतम कर देने की सगठित पद्धति का रूप ले लेते ह। देहाती मजदूर पहले से बड़े रकबे में बिखर जाते ह, जिससे उनकी प्रतिरोध की शक्ति टूट जाती है, जब कि उधर शहरी मजदूरो की शक्ति केन्द्रीकरण के कारण बढ जाती है। शहरी उद्योगो की भाति आधुनिक खेती में भी काम में लगाये हुए श्रम की उत्पादकता और मात्रा में वृद्धि तो होती है, पर इस कीमत पर कि श्रम शक्ति खुद तबाह और बीमारियो से नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त, पूजीवादी खेती में जो भी प्रगति होती है, वह न केवल मजदूर को, बल्कि धरती को लूटने की कला की भी प्रगति होती है, एक *निश्चित समय के वास्ते धरती की उवरता बढाने के लिये उठाया जाने वाला हर क़दम साथ* ही इस उर्वरता के स्थायी स्रोतो को नष्ट कर देने का कदम होता है। मिसाल के लिये, सयुक्त राज्य अमरीका की तरह जितना अधिक कोई देश आधुनिक उद्योग की नींव पर अपने विकास का श्रीगणेश करता है, वहा विनाश की यह प्रक्रिया उतनी ही अधिक तेज होती है।[1]

---

[1] देखिये Liebig की रचना *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie* (सातवा सस्करण, १८६२), और विशेषकर उसके पहले खण्ड में *Einleitung in die Naturgesetze des Feldbaus* ('खेती के प्राकृतिक नियमो का परिचय')। लीबिग की एक अमर देन यह है कि उन्होने प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से आधुनिक खेती के नकारात्मक अथवा विनाशकारी पहलू का विवेचन किया है। उन्होने खेती के इतिहास का जो साराश प्रस्तुत किया है उसमें भी, कुछ भोडी गलतिया के बावजूद, प्रकाश की चमक दिखाई देती है। किन्तु यह दुख की बात है कि उन्होने नीचे दिये गये कुछ उद्धरणो के समान अटकलपच्चू बाते कहने का भी दुस्साहस किया है। '*मिट्टी को ज्यादा भुरभुरी बना देने और अक्सर हल चलाने से सरध्र मिट्टी के भीतर* वायु के परिचलन मे सहायता मिलती है, और धरती का जो हिस्सा वायुमण्डल के प्रभाव के लिये खुला रहता है, उसका रकबा बढ जाता है और उसे नव जीवन प्राप्त हो जाता है। लेकिन यह देखना कठिन नही है कि भूमि की उपज भूमि पर खर्च किये गये श्रम के अनुपात मे नही बढ सकती, बल्कि उसके अनुपात मे वह बहुत कम बढती है। इस नियम का"—आगे लीबिग कहते ह—"सबसे पहले जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी रचना *Principles of Pol Econ*' ('अर्थशास्त्र के सिद्धात') (खण्ड १, पृ० १७) में इस प्रकार प्रतिपादन किया था 'यह खेती के उद्योग का सार्वत्रिक नियम है कि caeteris paribus (अन्य बातो के समान रहते हुए) भूमि की उपज मजदूरो की सख्या की वृद्धि के ह्रासमान अनुपात में बढती है' (मिल ने यहा पर रिकार्डो के अनुयायियो द्वारा प्रतिपादित नियम का गलत रूप में प्रयोग किया है, कारण कि the decrease of the labourers employed ["काम करने वाले मजदूरो की सख्या में होने वाली कमी"] चूकि इगलैण्ड मे खेती की प्रगति के साथ कदम से कदम मिलाकर हुई थी, इसलिये यह नियम, जिसका इगलैण्ड मे आविष्कार हुआ और जिसे इगलैण्ड पर ही लागू करने की कोशिश की गयी, उस देश पर हरगिज लागू नही होता था)। यह बात बहुत उल्लेखनीय है क्योकि मिल को इस नियम के कारणो का ज्ञान नहीं था (Liebig उप० पु०, खण्ड १, पृ० १४३ और नोट)। लीबिग ने "श्रम" शब्द का गलत अर्थ लगाया है। अर्थशास्त्र में इस शब्द

इसलिये, पजीवादी उत्पादन प्रौद्योगिकी का और उत्पादन की विभिन्न क्रियाओ को जोडकर एक सामाजिक इकाई का रूप देने की कला का विकास तो करता है, पर यह काम केवल समस्त धन सम्पदा के मूल स्रोतों को –धरती को और मजदूर को–सोखकर करता है।

का जो अर्थ है, लीबिग ने उसका उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ लगाया है। पर इसके अलावा यह बात भी अवश्य ही "बहुत उल्लेखनीय" है कि जिस सिद्धात को सबसे पहले जेम्स ऐण्डरसन ने ऐडम स्मिथ के काल में प्रकाशित किया था और जिसको १९ वी शताब्दी के आरम्भ होने तक विभिन्न ग्रथो मे बार बार दोहराया गया था, लीबिग ने जान स्टुअर्ट मिल को उसका प्रथम प्रतिपादक बना दिया है, १८१५ मे साहित्यिक चोरी की कला के आचार्य माल्थूस ने (उनका जन-सख्या वाला पूरे का पूरा सिद्धान्त बेशर्मी के साथ चुराया हुआ है) इस सिद्धात को अपनी सम्पत्ति बताया था, वेस्ट ने ऐण्डरसन के साथ-साथ और स्वतत्र रूप से इसका विकास किया था, १८१७ मे रिकार्डो ने इस सिद्धान्त को मूल्य के सामान्य सिद्धात के साथ जोड दिया था, और तब इस सिद्धान्त ने रिकार्डो के सिद्धात के नाम से सारी दुनिया का चक्कर लगाया था, १८२० में जान स्टुअर्ट मिल के पिता, जेम्स मिल ने उसका अप्रामाणिक रूप प्रस्तुत किया था, और, अन्त मे, जान स्टुअर्ट मिल आदि ने एक ऐसी रूढि के रूप म उसका पुनरुत्पादन किया था, जो उस वक्त तक एक अत्यन्त साधारण बात बन गयी थी और जिसकी हर स्कूली लडके को जानकारी थी। इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि जान स्टुअर्ट मिल की सर्वथा "उल्लेखनीय" प्रतिष्ठा लगभग पूरी तरह इस प्रकार की quid pro quos (हेरफेरी) पर ही आधारित है।

भाग ५

निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

सोलहवा अध्याय

निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य

श्रम प्रक्रिया पर हमने पहले (देखिये सातवा अध्याय) अमूर्त ढग से, उसके ऐतिहासिक रूपो से उसको अलग करके, मनुष्य और प्रकृति के बीच चलने वाली एक प्रक्रिया के रूप में विचार किया था। वहा, पृ० २०६ पर, हमने कहा था "यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल के दृष्टिकोण से विचार करे, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औजार और श्रम की विषय वस्तु दोनो उत्पादन के साधन होते ह और श्रम खुद उत्पादक श्रम होता है।" और उसी पृष्ठ के दूसरे फुटनोट में हमने यह और जोडा था "अकेले श्रम प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है,—यह तरीका उत्पादन की पूजीवादी प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष रूप से हरगिज लागू नहीं होता।" अब हम इस विषय की आगे व्याख्या करते ह।

श्रम प्रक्रिया जहा तक विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत होती है, वहा तक वही एक मजदूर उन सारे कार्यों को करता है, जो बाद को अलग अलग हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी जीविका के लिये किन्हीं प्राकृतिक वस्तुओ को हस्तगत कर लेता है, तब उस पर उसका केवल अपना ही नियत्रण रहता है, और किसी का नहीं। बाद को दूसरे लोग उसका नियत्रण करने लगते ह। एक अकेला आदमी खुद अपने मस्तिष्क के नियत्रण में अपनी मासपेशियो से काम लिये बिना प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क और हाथ एक दूसरे की सेवा करते ह, उसी प्रकार श्रम प्रक्रिया में हाथ का श्रम मस्तिष्क के श्रम के साथ जुडा रहता है। बाद में उनका साथ छूट जाता है, और वे एक दूसरे के जानी दुश्मन तक हो जाते ह। तब पैदावार प्रत्यक्ष रूप में एक व्यक्ति की पैदावार न रहकर सामाजिक पैदावार बन जाती है, जिसे एक सामूहिक मजदूर, यानी बहुत से मजदूरो का योग, सामूहिक ढग से पैदा करता है, और इनमें से प्रत्येक मजदूर का अपने श्रम को विषय-वस्तु के हस्त-साधन में कम या ज्यादा केवल एक भाग होता है। जैसे-जैसे श्रम प्रक्रिया का सहकारी स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसके एक अनिवार्य परिणाम के रूप में उत्पादक श्रम तथा उसके कर्ता—उत्पादक मजदूर—के विषय में हमारी अवधारणा विस्तृत होती जाती है। उत्पादक ढग से श्रम करने के लिये अब यह आवश्यक नहीं रहता कि आप खुद अपने हाथ से काम करें।

अब तो यदि आप किसी सामूहिक मजदूर की एक इन्द्रिय के रूप में उसका कोई गौण काम कर देते हैं, तो वही काफी होता है। उत्पादक श्रम की वह पहली परिभाषा, जो ऊपर दी गयी है और जो खुद भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के स्वरूप से निकाली गयी थी, एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में सामूहिक मजदूर के लिये अब भी सही रहती है। परन्तु इस समूह के अलग-अलग सदस्य के लिये यह परिभाषा अब सही नहीं रहती।

किन्तु, दूसरी ओर, उत्पादक श्रम की हमारी अवधारणा संकुचित हो जाती है। पूंजीवादी उत्पादन केवल मालों का उत्पादन नहीं होता। वह बुनियादी तौर पर अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है। मजदूर खुद अपने लिये नहीं, बल्कि पूंजी के लिये पैदा करता है। इसलिये अब उसके लिये केवल पैदा करना ही काफी नहीं होता। उसे अतिरिक्त मूल्य पैदा करना होता है। केवल वही मजदूर उत्पादक माना जाता है, जो पूंजीपति के लिये अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है और जो इस तरह पूंजी के आत्म विस्तार में हाथ बटाता है। यदि हम भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र के बाहर से एक मिसाल लें, तो स्कूल-मास्टर उस वक्त उत्पादक मजदूर माना जायेगा, जब वह अपने विद्यार्थियों के दिमागों की ठुकाई पिटाई करने के अलावा स्कूल के मालिक का धन बढ़ाने के लिये घोड़े की तरह कसकर मेहनत करेगा। मालिक ने यदि सोसेज की फैक्टरी के बजाय पढाई की फैक्टरी में अपनी पूंजी लगा रखी है, तो उससे इस सम्बध में कोई अन्तर नहीं पडता। इसलिये उत्पादक मजदूर की अवधारणा का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि काम तथा उसके उपयोगी प्रभाव के बीच और मजदूर तथा श्रम के फल के बीच एक सम्बध होता है, बल्कि उसका यह अर्थ भी होता है कि यहा उत्पादन का एक विशिष्ट सामाजिक सम्बध होता है, जिसका एक ऐतिहासिक क्रिया के द्वारा जन्म हुआ है और जिसने मजदूर को अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का प्रत्यक्ष साधन बना दिया है। इसलिये उत्पादक मजदूर होना कोई सौभाग्य न होकर दुर्भाग्य की बात है। इस ग्रथ की चौथी पुस्तक में हमने सिद्धान्त के इतिहास का विवेचन किया है। वहा यह बात और स्पष्ट हो जायेगी कि प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों ने अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को सदा उत्पादक मजदूर का एक विशिष्ट लक्षण माना है। इसलिये जसे-जसे अतिरिक्त मूल्य के स्वरूप की उनकी समझ बदलती जाती है, वैसे-वैसे उनकी उत्पादक मजदूर की परिभाषा में भी परिवर्तन होता जाता है। चुनाचे फिजिओक्रेटों का कहना था कि केवल खेती का श्रम ही उत्पादक होता है, क्योंकि उनकी राय में केवल उसी श्रम से अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है। और उनकी यह राय इसलिये थी कि उनकी नजरों में लगान के सिवा अतिरिक्त मूल्य के अस्तित्व का कोई और रूप नहीं है।

काम के दिन को उस बिन्दु के आगे खींच ले जाना, जहा तक मजदूर केवल अपनी श्रम शक्ति के मूल्य का सम-मूल्य ही पैदा कर पाता है, और पूंजी का इस अतिरिक्त श्रम पर अधिकार कर लेना—यह निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन है। इस प्रकार का उत्पादन पूंजीवादी व्यवस्था का सामान्य मूलाधार और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का प्रस्थान-बिन्दु है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन यह मानकर चलता है कि काम का दिन पहले से ही दो भागों में—आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम में—बटा हुआ है। अतिरिक्त श्रम को बढाने के लिये आवश्यक श्रम को ऐसे तरीकों से छोटा कर दिया जाता है, जिनसे मजदूरी का सम मूल्य पहले की अपेक्षा कम समय में तैयार हो जाता है। निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन मात्र काम के दिन की लम्बाई पर निर्भर करता है, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन श्रम की प्राविधिक प्रक्रियाओं और समाज की बनावट में मूलभूत क्रान्ति पैदा कर देता

है। इसलिये, वह उत्पादन की एक विशिष्ट प्रणाली–पूजीवादी प्रणाली–को पूर्वाधार मान लेता है, श्रम के औपचारिक रूप से पूजी के अधीन हो जाने के फलस्वरूप जो बुनियाद तयार हुई थी, उसके आधार पर इस प्रणाली का, मय उसके तरीको, साधनो और परिस्थितियो के, स्वयस्फूत ढग से जन्म और विकास हुआ है। इस विकास के दौरान में पूजी के मातहत श्रम की औपचारिक अधीनता के स्थान पर वास्तविक अधीनता स्थापित हो जाती है।

यहा पर कुछ ऐसे अतर्कालीन रूपो की ओर सकेत भर कर देना काफी होगा, जिनमें उत्पादक के साथ सीधे तौर पर जबदस्ती करके अतिरिक्त मूल्य हासिल नहीं किया जाता और जिनमें खुद उत्पादक को भी अभी तक औपचारिक रूप से पूजी के अधीन नहीं बनाया जाता। ऐसे रूपो में श्रम प्रक्रिया पर अभी पूजी का प्रत्यक्ष नियत्रण कायम नहीं होता है। पुराने परम्परागत ढग से अपनी दस्तकारियो और खेती का सचालन करने वाले स्वतत्र उत्पादकों के साथ-साथ सूदखोर महाजन या सौदागर भी, मय अपनी महाजनी पूजी या सौदागरी पूजी के, कायम रहता है और परजीवी की तरह स्वतत्र उत्पादको का रक्त चूसता है। जब किसी समाज में शोषण के इस रूप का प्रभुत्व होता है, तो फिर वहा उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली नहीं हो सकती। लेकिन यह रूप उस प्रणाली की ओर बढने के लिये एक अतर्कालीन कदम का काम कर सकता है, जसा कि उसने मध्य युग के अन्तिम दिनो में किया था। अतिम बात यह है कि आधुनिक उद्योग की पृष्ठभूमि में जहा-तहा कुछ दरमियानी रूपो का पुनरुत्पादन मुमकिन है, हालाकि उनका रग रूप बिल्कुल बदल जाता है, मसलन आधुनिक "घरेलू उद्योग" से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यदि, एक ओर, निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिये श्रम का केवल औपचारिक रूप से पूजी के अधीन हो जाना काफी होता है,–मिसाल के लिये, यदि उसके लिये केवल इतना ही काफी होता है कि वे दस्तकार, जो पहले खुद अपने वास्ते या किसी उस्ताद के शागिद की तरह काम किया करते थे, अब किसी पूजीपति के प्रत्यक्ष नियत्रण में मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूर बन जायें,–तो, दूसरी ओर, हम यह भी देख चुके ह कि किस प्रकार *सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पदा करने के तरीके उसके साथ साथ निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य पदा करने* के भी तरीके होते ह। नहीं, बल्कि हमें यह भी पता चला था कि काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा खींचना आधुनिक उद्योग का एक खास फल है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन की विशिष्ट पूजीवादी प्रणाली जसे ही उत्पादन की किसी एक पूरी शाखा पर अधिकार कर लेती है, वसे ही वह केवल सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पदा करने का साधन नहीं रह जाती, और जब वह उत्पादन की सभी महत्वपूण शाखाओ पर अधिकार कर लेती है, तब तो उसका यह रूप और भी कम रह जाता है। तब वह उत्पादन का सामान्य, सामाजिक दृष्टि से प्रधान रूप बन जाती है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पदा करने के एक खास तरीके के रूप में वह केवल उसी हद तक कारगर साबित होती है, जिस हद तक कि वह उन उद्योगो पर अधिकार करती जाती है, जो पहले केवल औपचारिक रूप से पूजी के अधीन थे, यानी जिस हद तक कि वह अपने क्षेत्र का विस्तार करती हुई अपना प्रचार करती चलती है। दूसरे, इस रूप में वह केवल उस हद तक कारगर साबित होती है जिस हद तक उसके अधिकार में आये हुए उद्योगो में, उत्पादन के तरीको में होने वाली तबदीलियो के फलस्वरूप, क्रातिकारी परिवतन होते जाते ह।

एक दृष्टि से निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का भेद मिथ्या मालूम होता है। सापेक्ष

अतिरिक्त मूल्य भी निरपेक्ष होता है, क्योंकि उसके लिये काम के दिन को खुद मजदूर के अस्तित्व के लिये आवश्यक श्रम-काल के आगे निरपेक्ष ढग से खींचना जरूरी होता है। निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य सापेक्ष होता है, क्योंकि उसके लिये श्रम की उत्पादकता का एक ऐसा विकास आवश्यक होता है, जो आवश्यक श्रम-काल को काम के दिन के एक भाग तक ही सीमित बना रहने दे। परन्तु यदि हम अतिरिक्त मूल्य के व्यवहार को ध्यान में रखें, तो यह दिखावटी एकरूपता गायब हो जाती है। उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के एक बार कायम हो जाने और सामान्य बन जाने के बाद जब कभी अतिरिक्त मूल्य की दर को ऊपर उठाने का सवाल सामने आता है, तब निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का भेद हमेशा अपना जोर दिखाता है। यह मान लेने के बाद कि श्रम शक्ति की उजरत उसके मूल्य के अनुसार दी जाती है, हमारे सामने ये दो विकल्प आते हैं एक यह कि यदि श्रम की उत्पादकता और उसकी सामान्य तीव्रता पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर को ऊपर उठाने का केवल एक यही तरीका है कि सचमुच काम के दिन को लम्बा खींचा जाये, और दूसरा यह कि यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर को केवल काम के दिन के दो सघटक भागो की–अर्थात आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम की–तुलनात्मक मात्राओ में परिवतन करके ही अधिक किया जा सकता है। यदि मजदूरी को श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे नहीं गिर जाना है, तो ऐसा परिवतन लाने के लिये या तो श्रम की उत्पादकता या उसकी तीव्रता में तबदीली करनी होगी।

यदि मजदूर को अपना सारा समय अपने तथा अपने बाल-बच्चो के जीवन निर्वाह के आवश्यक साधन पदा करने में दे देना पडे, तो दूसरो के वास्ते मुफ्त में काम करने के लिये उसके पास कोई समय न बचेगा। जब तक उसके श्रम में एक खास दर्जे की उत्पादकता नही होती, तब तक उसके पास ऐसा कोई फालतू समय नहीं हो सकता, और जब तक उसके पास ऐसा फालतू समय नहीं होता, तब तक वह कोई अतिरिक्त श्रम नहीं कर सकता और इसलिये तब तक न तो पूजीपति हो सकते ह, न गुलामो के मालिक और न ही सामती प्रभु, – थोडे में यो कहा जा सकता है कि फालतू समय के अभाव में बडे मालिको का कोई भी वग नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार, हम यह कह सकते ह कि अतिरिक्त मूल्य का एक प्राकृतिक आधार होता है। पर यह बात हम केवल इस अत्यत सामान्य अथ में ही कह सकते ह कि जिस प्रकार यदि कोई आदमी दूसरे आदमी का मास खाना चाहता है, तो कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा उसके रास्ते में नहीं आती, जो उसके लिये अपनी इच्छा को पूरा करना असम्भव बना दे और जिसपर काबू पाना उसके लिये नामुमकिन हो, उसी प्रकार यदि कोई आदमी अपने जीवन निर्वाह के लिये श्रम करने का बोझा अपने सिर से उतारकर किसी दूसरे आदमी के सिर पर लादना

---

[1] "एक विशिष्ट वग के रूप मे मालिक पूजीपतिया का अस्तित्व ही उद्योग की उत्पादकता पर निभर करता है।" (Ramsay उप० पु०, पृ० २०६।) "यदि हर आदमी का श्रम केवल उसका अपना भोजन तैयार करने के लिये ही पर्याप्त होता, तो किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का होना असम्भव था। (Ravenstone उप० पु०, प० १४, १५।)

हाल में अनुमान लगाया गया है कि दुनिया के जिन हिस्सा की खोज हो चुकी है, उनम कम से कम ४,००,००० आदमखोर रहते हैं।

चाहता है, तो उसके रास्ते में भी कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा नहीं आ सकती, जो उसके लिये ऐसा करना सर्वथा असम्भव बना दे। श्रम की उत्पादकता का ऐतिहासिक ढंग से विकास हुआ है, और, जैसा कि कभी कभी देखने में आता है, उसके साथ किन्हीं रहस्यवादी विचारों को हरगिज नहीं जोडना चाहिये। जब मनुष्य पशुओं के स्तर से ऊपर उठ जाते हैं और इसलिये जब उनके श्रम का कुछ हद तक समाजीकरण हो जाता है, केवल तभी ऐसी स्थिति पैदा होती है, जिसमें एक आदमी का अतिरिक्त श्रम दूसरे आदमी के अस्तित्व की शर्त बन जाता है। सभ्यता के उदय के काल में श्रम की उत्पादकता बहुत कम होती है, पर उसके साथ-साथ आवश्यकताएं भी कम होती हैं, वे तो उनको पूरा करने के साधनों के साथ-साथ और उनके द्वारा बढती हैं। इसके अलावा, उस प्रारम्भिक काल में समाज का दूसरों के श्रम पर जीवित रहने वाला भाग प्रत्यक्ष उत्पादकों की विशाल संख्या के मुकाबले में बहुत ही छोटा था। श्रम की उत्पादकता में प्रगति होने के साथ साथ समाज का यह छोटा सा भाग निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से बढता जाता है।[1] इसके अतिरिक्त, पूंजी, मय उन सम्बंधों के, जो उसके साथ साथ चलते हैं, एक ऐसी आर्थिक भूमि में जन्म लेती है, जो खुद विकास की एक लम्बी क्रिया का फल होती है। श्रम की उत्पादकता, जो पूंजी की नींव और उसके प्रस्थान बिंदु का काम करती है, प्रकृति की नहीं, सदियों पुराने इतिहास की देन है।

सामाजिक उत्पादन के रूप के न्यूनाधिक विकास के अलावा श्रम की उत्पादकता भौतिक परिस्थितियों से भी सीमित होती है। ये सारी परिस्थितियां खुद मनुष्य की गठन से (नस्ल आदि से) और उसके इर्द गिर्द के प्राकृतिक वातावरण से सम्बंध रखती हैं। बाहरी भौतिक परिस्थितियां दो बडी आर्थिक श्रेणियों में बंट जाती हैं (१) जीवन निर्वाह के साधनों के रूप में पायी जाने वाली प्राकृतिक सम्पदा, अर्थात उपजाऊ धरती, मछलियों आदि से भरी हुई नदियां, सागर और तालाब आदि, और (२) श्रम के साधनों के रूप में पायी जाने वाली प्राकृतिक सम्पदा, जैसे जल प्रपात, नावें ले जाने योग्य नदियां, जंगली लकडी, धातु, कोयला आदि। सभ्यता के उदय काल में पहली श्रेणी पासा पलटती है, विकास की अधिक ऊंची अवस्था में दूसरी श्रेणी का निर्णायक महत्त्व होता है। मिसाल के लिये, इंगलैण्ड का हिंदुस्तान के साथ मुकाबला कीजिये या प्राचीन काल के एथेंस और कोरिन्थ की काले सागर के किनारे के देशों से तुलना कीजिये।

तत्काल संतुष्टि की मांग करने वाली प्राकृतिक आवश्यकताओं की संख्या जितनी कम होती है और भूमि की स्वाभाविक उर्वरता जितनी ज्यादा तथा जलवायु जितना अधिक उपयुक्त होता है, उत्पादक के जीवन निर्वाह तथा पुनरुत्पादन के लिये उतना ही कम श्रम काल आवश्यक होता है। और इसलिये खुद अपने लिये वह जो श्रम करता है, उसके मुकाबले में वह दूसरों के लिये उतना ही अधिक श्रम कर सकता है। दिओदोरस ने बहुत दिन पहले प्राचीन मिस्र के निवासियों के सम्बंध में यह कहा था "अपने बच्चों के लालन पालन में उनको इतना कम

---

[1] "अमरीका के आदिवासियों में लगभग हर चीज मजदूर की होती है, सौ में से ९९ हिस्से मजदूर के हिसाब में जाते हैं। इंगलैण्ड में शायद $\frac{2}{3}$ भी मजदूर के हिस्से में नहीं पडता।" (*The Advantages of the East India Trade &c* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ, इत्यादि'], पृ० ७३।)

कष्ट उठाना पडता है और इस काम में उनका इतना कम खर्चा होता है कि विश्वास नहीं किया जा सकता। उनको जो भोजन सबसे ज्यादा आसानी से मिल जाता है, वे उसी को पकाकर अपने बच्चो के लिये तैयार कर देते ह। साथ ही वे श्रीपत्र के तने का निचला हिस्सा, जहा तक वह आग में भूना जा सकता है, और दलदल में उगने वाले पौधो की जडें उबालकर तथा भूनकर बच्चो को खाने को दे देते हैं। अधिकतर बच्चे नगे पैर और उघारे बदन घूमते हैं, क्योकि यहा की वायु बडी शान्त-मन्द होती है। इसलिये, बच्चे के बडे होने तक मा-बाप को उसके ऊपर कुल मिलाकर बीस दिरम से ज्यादा नहीं खर्च करने पडते। यही वह मुख्य कारण है, जिसके फलस्वरूप मिस्र की आबादी इतनी ज्यादा है और इसीलिये वहा निर्माण के इतने बडे वडे कार्य किये जा सकते है।"[1] फिर भी प्राचीन मिश्र के विशाल निर्माण कार्यों का मुख्य कारण उसकी बडी आबादी नहीं, बल्कि यह है कि इस आबादी का एक बडा हिस्सा किसी भी काम में लगाये जाने के लिये आसानी से उपलब्ध था। जिस तरह किसी एक मजदूर को जितना कम आवश्यक श्रम करना पडता है, वह उतना ही अधिक अतिरिक्त श्रम कर सकता है। उसी प्रकार किसी भी देश को काम करने वाली आबादी को भी जितना कम आवश्यक श्रम करना पडता है, वह उतना ही अधिक अतिरिक्त श्रम कर सकती है। जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो के उत्पादन के लिये देश की आबादी के जितने ही छोटे भाग की जरूरत होती है, उसके उतने ही बडे भाग को और कामो में लगाया जा सकता है।

इसलिये, हम जब एक बार पूजीवादी उत्पादन का अस्तित्व मान लेते हैं और अगर काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो तथा अन्य सब बातें ज्यो की त्यो रहें, तो अतिरिक्त श्रम की मात्रा श्रम की भौतिक परिस्थितियो के साथ-साथ और खास तौर पर भूमि की उवरता के साथ-साथ घटती-बढती जायेगी। लेकिन इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि सबसे अधिक उपजाऊ भूमि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के विकास के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होती है। यह प्रणाली तो प्रकृति पर मनुष्य के आधिपत्य पर आधारित है। जहा प्रकृति बहुत मुक्तहस्त होती है, वहा तो वह "मनुष्य को सदा हाथ पकडकर चलाती है, जसे बच्चे को चलाया जाता है।" वहा मनुष्य को अपना विकास करने की कोई आवश्यक्ता ही प्रतीत नहीं होती।[2] पूजी की मातृभूमि उष्ण कटिबध नहीं, जहा वनस्पति का बाहुल्य होता है,

[1] Diodorus, उप० पु०, ग्रथ १, अध्याय ८० (पृ० १२६)।

[2] "इनमे से पहला तत्व (अर्थात् प्राकृतिक सम्पदा) जितना अधिक श्रेष्ठ और हितकारी होता है, वह लोगा को उतना ही अधिक लापरवाह और घमण्डी वना देता है और उनमे ज्यादती करने की प्रवृत्ति पैदा कर दता है, जब कि दूसरा तत्व सतकता, साहित्य, कलाओ और नीति को जन्म देता है।" (*Englands Treasure by Foreign Trade Or the Balance of our Foreign Trade is the Rule of our Treasure Written by Thomas Mun of London merchant and now published for the common good by his son John Mun* ['इगलैण्ड को विदेशी व्यापार से मिलने वाला धन, अथवा हमारे विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ ही हमारे खजाने का मूल है। लन्दन निवासी टोमस मुन, सौदागर, द्वारा लिखित और उसके पुत्र जान मुन द्वारा सब की भलाई के उद्देश्य से प्रकाशित'] London 1669 पृ० १८१, १८२।) "किसी भी कौम के लिये मैं इससे वडे और किसी अभिशाप की कल्पना नही कर सकता कि वह भूमि के किसी ऐसे टुकडे

वल्कि समशीतोष्ण कटिबंध है। सामाजिक श्रम विभाजन का भौतिक आधार केवल भूमि की उवरता से नहीं, बल्कि भूमि की विभिन्नता, प्राकृतिक पदावार की विविधता और मौसमों की अदला-बदली से तयार होता है। और ये ही चीजें प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन पैदा करके आदमी को अपनी आवश्यकताओ, अपनी क्षमताओ और श्रम करने के अपने साधनो और प्रणालियो को बढाने के लिये अकुश लगाती रहती ह। किसी प्राकृतिक शक्ति को मनुष्य के हाथो के द्वारा समाज के नियन्त्रण में लाने, उसका मितव्ययिता के साथ उपयोग करने, उसको हस्तगत करने या उसको बडे पमाने पर अपने आधीन बनाने की आवश्यकता ही उद्योग के इतिहास में पहले पहल निर्णायक भूमिका अदा करती है। इसके उदाहरण हैं मिश्र,[1] लोम्बार्डी और हालण्ड की सिचाई की व्यवस्थाए या हिन्दुस्तान और ईरान, जहा इनसान की बनायी हुई नहरो के द्वारा सिचाई की ऐसी व्यवस्था की गयी है कि न केवल भूमि को उसके लिये नितान्त आवश्यक पानी मिल जाता है, बल्कि पहाडो से लायी हुई तलछट के रूप में उसको खनिज खाद भी प्राप्त हो जाती है। अरबो के राज्य में स्पेन और सिसिली में यदि उद्योग इतना फल-फूल रहा था, तो इसका रहस्य अरबो की सिचाई की व्यवस्था में निहित था।

पर फेंक दी जाये, जहा भरण पोषण और भोजन की वस्तुओ का उत्पादन ज्यादा हद तक स्वयस्फूर्त ढग से होता हो और जहा का जलवायु ऐसा हो कि कपडे पहनने और ओढने की न तो आवश्यकता हो और न उनके बारे मे कोई खास चिन्ता ही जरूरी हो दूसरी दिशा मे भी ज्यादती हो सकती है। जो धरती बहुत श्रम करने पर भी कुछ नही पदा करती, वह भी बिना किसी श्रम के बहुत कुछ पैदा करने वाली धरती के समान ही खराब होती है।" *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions* (['खाद्य पदार्थो के मौजूदा ऊचे दामो के कारणो की जाच'], London 1767, पृ० १०१)

[1] नील नदी में पानी कब चढेगा और कब उतरेगा, इसकी भविष्यवाणी करने की आवश्यकता से मिश्री ज्योतिष का जन्म हुआ, और उसके साथ-साथ वहा खेती के सचालको के रूप मे पुरोहितो का आधिपत्य कायम हो गया। Le solstice est le moment de l annee ou commence la crue du Nil et celui que les Egyptiens ont dû observer avec le plus d attention C etait cette annee tropique qu il leur importait de marquer pour se diriger dans leurs operations agricoles Ils durent donc chercher dans le ciel un signe apparent de son retour ["अयनान्त वह समय होता है, जब नील नदी में पानी चढना शुरू होता है, और मिश्रवासी इस क्षण की सबसे अधिक ध्यानपूर्वक बाट जोहते थे अपनी खेती की क्रियाओ को ठीक समय पर शुरू और खतम करने के लिए उनको इस सायन वर्ष का पचाग बनाने की आवश्यकता थी। अतएव सायन वर्ष के फिर लौटने की स्पष्ट सूचना उनको आकाश में खोजनी पडी"] (Cuvier, *Discours sur les revolutions du globe* Hoefer का सस्करण, Paris 1863 पृ० १४१)।

हिन्दुस्तान के छोटे छोटे, असम्बद्ध उत्पादक सघटनो के ऊपर राज्य की सत्ता का एक भौतिक आधार सिचाई की जल पूर्ति का नियमन था। हिन्दुस्तान के मुसलमान शासक इस बात को अपने अंग्रेज उत्तराधिकारियो की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझते थे। इस सिलसिले में १८६६ के अकाल को याद कर लेना काफी है, जिसमें बगाल प्रेसीडेंसी के उडीसा डिस्ट्रिक्ट मे दस लाख से ज्यादा हिन्दुओ की जान चली गयी थी।

केवल उपयुक्त प्राकृतिक परिस्थितियो से अतिरिक्त श्रम और इसलिये अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त पैदावार की सम्भावना भर पैदा होती थी, उनसे इनकी वास्तविकता कभी अस्तित्व में नहीं आती थीं। श्रम की प्राकृतिक परिस्थितियो में जो अतर होता है, उसका यह परिणाम होता है कि श्रम की एक ही मात्रा अलग अलग देशो में अलग अलग परिमाण में मानव आवश्यकताओ को पूरा करती है,[1] और चुनाचे अय बातो के समान रहते हुए आवश्यक श्रम-काल की मात्रा हर स्थान में अलग होती है। ये परिस्थितिया अतिरिक्त श्रम पर केवल प्राकृतिक सीमाओ के रूप में प्रभाव डालती ह, अर्थात वे उन बिदुओ को निर्धारित कर देती ह, जहा से दूसरो के लिये किया जाने वाला श्रम आरम्भ हो सकता है। उद्योग जितनी प्रगति करता जाता है, ये प्राकृतिक सीमाए उतनी ही पीछे हटती जाती ह। पश्चिमी योरप के हमारे समाज में मजदूर खुद अपनी जीविका के लिये काम करने का अधिकार केवल अतिरिक्त श्रम के रूप में उसकी कीमत चुकाकर ही खरीदता है, और इसलिये यहा यह विचार बडी आसानी से जड जमा लेता है कि अतिरिक्त पदावार पदा करना मानव श्रम का एक स्वाभाविक गुण है।[2] मगर, मिसाल के लिये, एशियाई द्वीप-समूह के पूर्वी द्वीपो के किसी निवासी को ले लीजिये, जहा साबूदाना जगलो में खुदरौ पैदा होता है। "यहा के निवासी पहले पेड में सूराख करके यह निश्चित कर लेते ह कि गूदा पक गया है या नहीं। फिर वे तने को काट डालते ह और उसके कई टुकडे बना लेते ह। गूदा निकाला जाता है, पानी में मिलाया और छाना जाता है। तब वह साबूदाने के रूप में इस्तेमाल में आने के लिये एकदम तयार हो जाता है। एक पेड से आम तौर पर ३०० पौण्ड साबूदाना तयार होता है, कभी कभी ५०० से ६०० पौण्ड तक निकल आता है। सो हमारे यहा लोग जिस तरह जगलो में जाकर जलाने की लकडी काट लाते ह,

---

[1] "दुनिया में कोई ऐसे दो देश नही है, जो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ की एक समान सख्या को समान बहुतायत के साथ मुहैया करते हो और जो इस काम मे श्रम की समान मात्रा खच करते हो। मनुष्य जिस जलवायु में रहते है, उसकी कठोरता या समशीतोष्णता के साथ उनकी आवश्यकताए भी बढ या घट जाती है। चुनाचे, अलग अलग देशा के निवासिया को आवश्यकता से विवश होकर जितना व्यापार करना पडता है, उसका अनुपात हर देश मे एक सा नही हो सकता, और हर देश के अनुपात में औरा से कितना अतर रहता है, इसका गरमी या ठण्ड की मात्रा का देखकर जिस हद तक पता लगाया जा सकता है, उससे ज्यादा सही तौर पर पता लगाने का कोई व्यावहारिक तरीका नही है। और इससे यह सामाय निष्कप निकाला जा सकता है कि लोगा की एक निश्चित सख्या के लिये ठण्डे जलवायु के देशा में सबसे अधिक और गरम जलवायु के देशो मे सबसे कम मात्रा में श्रम की आवश्यकता होती है। कारण कि ठण्डे जलवायु के दशो में न केवल मनुष्या का ज्यादा कपडा की, बल्कि धरती को भी ज्यादा जुताई बुवाई की जरूरत पडती है।" (*An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest* ['सूद की स्वाभाविक दर के निर्णायक कारणा पर एक निबध'], *London 1750* पृ० ५६।) इस युगातरकारी गुमनाम रचना के लेखक जे० मैस्सी है। ह्यूम ने अपना सूद का सिद्धात इसी पुस्तक से लिया है।

[2] प्रूधा ने कहा है Chaque travail doit laisser un excédant ["श्रम को हमेशा कुछ न कुछ फालतू पैदावार तैयार करनी चाहिये"] (लगता है, जैसे यह भी नागरिक के अधिकारो तथा कतव्या में शामिल हो!)।

उसी तरह वहा के लोग जगलो से अपने लिये रोटी काट लाते ह।"[1] अब मान लीजिये कि पूर्वी द्वीप समूह के रोटी काटकर लाने वाले इस मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यक्ताओ को पूरा करने के लिये प्रति सप्ताह १२ घण्टे काम करना पडता है। उसके लिये प्रकृति की प्रत्यक्ष देन अवकाश का बाहुल्य है। पर इस अवकाश का खुद अपने वास्ते भी वह केवल उसी वक्त उत्पादक ढग से उपयोग कर सकता है, जब ऐतिहासिक घटनाओ का एक पूरा क्रम पहले ही गुजर गया हो, और किन्हीं दूसरे आदमियो के लिये वह यह अवकाश तभी खर्च करेगा, जब उसके साथ जबदस्ती की जायेगी। यदि पूजीवादी उत्पादन चालू कर दिया जाये, तो इस भले आदमी को एक दिन के काम की पैदावार अपने वास्ते पाने के लिये हफ्ते में शायद ६ दिन काम करना पडेगा। प्रकृति की उदारता इसका कोई कारण नहीं बता सकती कि तब इस आदमी को हफ्ते में ६ दिन क्यो काम करना पडेगा या ५ दिन का अतिरिक्त श्रम क्यो किसी दूसरे को सौप देना पडेगा। प्रकृति की उदारता तो केवल इतना ही स्पष्ट करती है कि क्यो उसका आवश्यक श्रम-काल सप्ताह में केवल एक दिन तक ही सीमित रहता है। परन्तु किसी भी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अतिरिक्त पैदावार मानव श्रम में निहित किसी गुप्त गुण से उत्पन्न हुई है।

सो, इस तरह, न केवल ऐतिहासिक ढग से विकसित श्रम की सामाजिक उत्पादकता, बल्कि उसकी स्वाभाविक उत्पादकता भी उस पूजी की उत्पादकता प्रतीत होती है, जिसमें उस श्रम का समावेश हो गया है।

रिकार्डो को इसकी चिन्ता कभी नहीं हुई कि अतिरिक्त मूल्य का उद्भव स्रोत क्या है। वह तो उसे एक ऐसी चीज समझते ह, जो उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली में निहित है, और उनकी दृष्टि में पूजीवादी प्रणाली सामाजिक उत्पादन की स्वाभाविक प्रणाली है। वह जब कभी श्रम की उत्पादकता की चर्चा करते ह, तो उसमें अतिरिक्त मूल्य के कारण की नहीं, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य का परिमाण निर्धारित करने वाले कारण की खोज करते ह। दूसरी ओर, रिकार्डो के अनुयायियो ने खुले आम यह घोषणा कर दी है कि मुनाफे का (यहा पढिये अतिरिक्त मूल्य का) मूल कारण श्रम की उत्पादकता है। यह उन व्यापारवादियों के मुकाबले में तो हर हालत में एक प्रगतिशील विचार है, जो यह समझते थे कि पदावार की लागत और पदावार के दाम का अन्तर विनिमय कार्य के दौरान में पदा हो जाता है और उसका कारण यह है कि पदावार की बिक्री के समय खरीदार से उसके मूल्य से अधिक वसूल कर लिया जाता है। पर रिकार्डो के अनुयायी भी समस्या से कन्नी काट गये थे, उन्होने उसे हल नहीं किया था। सच पूछिये, तो ये पूजीवादी अर्थशास्त्री सहज ही यह समझ गये थे—और उनका यह समझना सही भी था—कि अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति के विकट प्रश्न को ज्यादा कुरेदना बहुत खतरनाक है। लेकिन हम जान स्टुअर्ट मिल के बारे में क्या कहें, जो अपने काम के आधार पर दावा तो करते हैं व्यापारवादियो से बहुत श्रेष्ठ होने का, पर वसे रिकार्डो की मृत्यु के आधी शताब्दी बाद भद्दे ढग से केवल उन लोगों की गोलमोल बातो को दुहराया करते ह, जिन्होने सबसे पहले रिकार्डो के सिद्धान्तो को अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में उनको विकृत करके पेश किया था?

---

[1] F Schouw, *Die Erde, die Pflanzen und der Mensch* दूसरा सस्करण, Leipzig 1854 पृ० १४८।

मिल ने लिखा है "मुनाफे का कारण यह है कि श्रम के भरण-पोषण के लिये जितना जरूरी है, वह उससे अधिक पैदा कर देता है।" यहा तक तो वही पुराना राग है, पर मिल अपनी तरफ से भी कुछ जोडना चाहते ह, सो वह आगे कहते हैं "प्रमेय का रूप बदलकर हम यह कह सकते हैं कि पूजी के मुनाफा देने का कारण यह है कि भोजन, कपडा सामान और औजारो को तयार करने में जितना समय लगता है, ये सब चीजें उससे ज्यादा समय तक काम में आती रहती ह।" यहा मिल ने श्रम-काल की अवधि को उसकी पैदावार के इस्तेमाल की अवधि के साथ गडबडा दिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अगर एक रोटी पकाने वाले की पदावार केवल एक दिन चलती है, तो वह अपने मजदूरो से मशीन बनाने वाले के बराबर मुनाफा कभी हासिल नहीं कर सकता, जिसकी पैदावार २० वष तक या उससे भी ज्यादा चल जाती है। जाहिर है, इतनी बात तो सच है ही कि पक्षियो को घोसला बनाने में जितना समय लग जाता है, अगर घोसला उतने से अधिक समय न टिक पाये, तो परिन्दे घोसले बनाना बन्द कर दें।

इस मौलिक सत्य की एक बार स्थापना हो जाने के बाद मिल व्यापारवादियो पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते ह। वह लिखते हैं "इस प्रकार, हम देखते ह कि मुनाफा विनिमय की घटना से नहीं, बल्कि श्रम की उत्पादक शक्ति से उत्पन्न होता है, और किसी भी देश का सामान्य मुनाफा, वहा विनिमय होता हो या नहीं, सदा श्रम की उत्पादक शक्ति से निर्धारित होता है। यदि धधो का विभाजन न हो, तो खरीदना-बेचना भी नहीं होगा, मगर मुनाफा फिर भी होगा।" इसलिये, मिल की दृष्टि में विनिमय, खरीदना और बेचना – पूजीवादी उत्पादन की ये सामान्य परिस्थितिया – एक घटना मात्र ह, और श्रम शक्ति का क्रय विक्रय न होने पर भी मुनाफा जरूर होगा!

वह आगे लिखते हैं "यदि देश के मजदूर मिलकर अपनी मजदूरी से बीस प्रतिशत ज्यादा पदा कर देते ह, तो चीजो के दाम कुछ भी हो या न हो, मुनाफा बीस प्रतिशत का होगा।" यह एक ओर तो एक असाधारण ढग की पुनरुक्ति है, क्योकि अगर मजदूर पूजीपति के लिये २० प्रतिशत का अतिरिक्त मूल्य पदा कर देते ह, तो जाहिर है कि मजदूरो की कुल मजदूरी के साथ उसके मुनाफे का २० १०० का अनुपात होगा। दूसरी ओर, यह कहना बिलकुल ग़लत है कि "मुनाफा बीस प्रतिशत का होगा"। मुनाफा इससे हमेशा कम होगा, क्योकि वह सदा पूजी के कुल जोड पर निकाला जायेगा। मिसाल के लिये, अगर पूजीपति ने ५०० पौण्ड की पूजी लगायी है, जिसमें से ४०० पौण्ड उत्पादन के साधनो पर खर्च हुए ह और १०० पौण्ड मजदूरी पर और यदि अतिरिक्त मूल्य की दर २० प्रतिशत है, तो मुनाफे की दर २० ५००, अर्थात ४ प्रतिशत होगी, न कि २० प्रतिशत।

इसके बाद हमें इसकी एक बडी बढ़िया मिसाल देखने को मिलती है कि मिल सामाजिक उत्पादन के विभिन्न ऐतिहासिक रूपो के साथ कसे पेश आते ह। वह लिखते हैं "मैं बराबर वह परिस्थिति मानकर चल रहा हू, जो कुछ अपवादो को छोडकर सारे ससार में पायी जाती है, जहा मजदूरा और पूजीपतियो के दो अलग अलग वग होते ह। यानी मैं बराबर यह मानकर चल रहा हू कि मय मजदूर की उजरत के सारा खर्चा पूजीपति करता है।" यह भी एक अजीब ढग का दृष्टि-भ्रम है कि मिल को सारे ससार में वह स्थिति दिखाई देती है, जो अभी तक हमारी धरती के चन्द खास खास स्थानो पर ही पायी जाती है। बहरहाल हम अपनी बात पूरी करें। मिल यह मानने को तयार ह कि "उसका ऐसा करना किसी नसगिक आवश्यकता के

कारण जरूरी नहीं है।"* इसके विपरीत, "मजदूर चाहे, तो अपनी मजदूरी के उस सारे भाग के लिये, जो महज जीवन की आवश्यकताओ से अधिक होता है, उत्पादन पूरा होने तक ठहर सकता है। और यदि अस्थायी रूप से अपने भरण-पोषण के लिये काफी पसा उसके हाथ में हो तो वह पूरी मजदूरी के लिये भी ठहर सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में मजदूर व्यवसाय को चलाने के लिये आवश्यक पसे का एक भाग अपने पास से देकर असल में इस हद तक खुद पूजीपति की भूमिका अदा करने लगता है।" थोडा और आगे वढकर मिल यह भी कह सकते थे कि जो मजदूर न केवल अपनी जीवन की आवश्यकताओ को खुद पूरा कर लेता है, बल्कि उत्पादन के साधन भी मुहैया कर लेता है, वह असल में खुद अपना मजदूर होता है। और तव वह यह भी वह सकते थे कि अमरीका का खुदकाश्त करने वाला किसान महज कृषि दास होता है, जो सामत के वजाय खुद अपने लिये वेगार करता है।

इस प्रकार, साफ साफ यह साबित करने के बाद कि अगर पूजीवादी उत्पादन का अस्तित्व न हो, तो भी वह हमेशा कायम रहेगा, मिल बडी सुसगतता का परिचय देते हुए इसके विपरीत यह भी प्रमाणित कर देते ह कि जहा पर पूजीवादी उत्पादन क़ायम है, वहा भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। "और पहली स्थिति में भी" (जहा पूजीपति मजदूर को जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुए देता है) "उसको" (मजदूर को) "उसी रोशनी में देखा जा सकता है," अर्थात उसको भी पूजीपति समझा जा सकता है, "क्योकि वह अपना श्रम बाजार भाव से कम कीमत पर दे देता है (!) और इसलिये यह समझा जा सकता है कि उसके श्रम के बाजार भाव तथा उसकी मजदूरी में जो अतर होता है, वह रकम (?) मजदूर अपने मालिक को उधार दे देता है, जिसका उसे सूद मिल जाता है, इत्यादि।"[1] वास्तव में मजदूर एक हफ्ते आदि तक अपना श्रम पूजीपति को मुफ्त में पेशगी देता रहता है, और हफ्ते आदि के अत में उसे बाजार भाव के अनुसार उसके दाम मिल जातेह। और यह चीज है, जो, मिल के कथनानुसार, मजदूर को पूजीपति में बदल देती है। समतल मदान में साधारण टीले भी पहाडियो जसे मालूम होते ह, और आजकल के क्षीण-बुद्धि पूजीपति वग की दिमागी समतलता उसके महान दिमागो की ऊचाई से नापी जा सकती है।

---

* २८ नवम्बर १८७८ के अपने पत्र मे मार्क्स ने एन० एफ० डेनियलसन (निकोलाई ओन) को जो सुझाव दिया था, उसके आधार पर इस परे का "यह भी एक अजीब ढग का दृष्टि भ्रम" से लकर "किसी नसगिक आवश्यकता के कारण जरूरी नही है' तक का अश इस तरह होना चाहिये 'मि० मिल यह मानने को तैयार है कि एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था मे भी, जहा मजदूरा और पूजीपतियो के दो अलग अलग वग है पूजीपति का यह करना सवथा जरूरी नही है। —रूसी सस्करण में मार्क्सवाद लेनिनवाद इस्टीट्यूट का नोट।

[1] J St Mill *Principles of Pol Econ* (जान स्टुअर्ट मिल, 'अथशास्त्र के सिद्धात'), London 1868 पृ० २५२ २५३, विभिन्न स्थाना पर।

सत्रहवां अध्याय

श्रम-शक्ति के दाम में और अतिरिक्त मूल्य में होने वाले परिमाणात्मक परिवर्तन

श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन के लिये आवश्यक उन वस्तुओ के मूल्य से निर्धारित होता है, जिनकी औसत ढग के मजदूर को आदतन जरूरत होती है। किसी भी खास समाज के एक खास युग में इन आवश्यक वस्तुओ की मात्रा पहले से मालूम होती है, और इसलिये उसे हम एक स्थिर मात्रा मान सकते ह। परिवतन इस मात्रा के मूल्य में होता है। इसके अलावा, दो चीजें और ह, जो श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने में भाग लेती ह। उनमें से एक है श्रम शक्ति का विकास करने का खच, जो उत्पादन की प्रणाली के साथ बदलता रहता है। दूसरी चीज है श्रम शक्ति की प्राकृतिक विविधरूपता, अर्थात पुरुषो और स्त्रियो, बच्चो और वयस्को के श्रम में पाया जाने वाला भेद। उत्पादन की प्रणाली यह जरूरी बना देती है कि विभिन्न प्रकार की श्रम शक्तियो से काम लिया जाये, और अलग अलग तरह की श्रम शक्तियो से काम लेने पर मजदूर के परिवार के भरण-पोषण के खर्चे में और वयस्क पुरुष की श्रम-शक्ति के मूल्य में बहुत अ तर पड जाता है। लेकिन नीचे जो विश्लेषण किया गया है, उसमें इन दोनो चीजो को अलग रखकर समस्या की छान-बीन की गयी है।[1]

म यह मानकर चलता हू कि (१) माल अपने मूल्य पर बिकते ह और (२) श्रम शक्ति का दाम कभी कभार उसके मूल्य के ऊपर तो उठ जाता है, पर उसके नीचे कभी नहीं गिरता।

हम यह देख चुके ह कि इन दो बातो को मान लेने के बाद अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के दाम के सापेक्ष परिमाण तीन बातो से निर्धारित होते ह (१) काम के दिन की लम्बाई, या श्रम के विस्तार का परिमाण, (२) श्रम की सामान्य तीव्रता, या उसकी तीव्रता का परिमाण, जिसके फलस्वरूप एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा खच हो जाती है, और (३) श्रम की उत्पादकता, जिसके फलस्वरूप श्रम की एक निश्चित प्रमात्रा एक निश्चित समय में पैदावार की कम या अधिक प्रमात्रा पदा कर सकती है, जो इस पर निभर करती है कि उत्पादन की परिस्थितियो का कितना विकास हो गया है। इन तीनो तत्वो में से एक तत्व स्थिर है और बाकी दो तत्व बदलते रहते ह, या दो तत्व स्थिर ह और एक बदलता रहता है और या तीनो एक साथ बदलते रहते हैं,—इसके अनुसार, जाहिर है, तीनो तत्वो के बहुत

---

[1] तीसरे जमन सस्करण का फुटनोट पृ० ३६०—३६३ पर जिस उदाहरण पर विचार किया गया था, उसको, जाहिर है, यहा छोड दिया गया है।— फ्रे० ए०

भिन्न प्रकार के योग हो सकते ह। और इस बात से इन योगो की सख्या और भी बढ़ जाती है कि जब ये तीनो तत्व एक साथ बदलते हैं, तब मुमकिन है कि उनके परिवर्तन की मात्रा और दिशा भिन्न भिन्न हो। नीचे हमने इनमें से केवल महत्वपूण योगो पर विचार किया है।

१ काम के दिन की लम्बाई और श्रम की तीव्रता स्थिर रहती है, श्रम की उत्पादकता बदलती जाती है

जब हम यह मानकर चलते ह, तब श्रम शक्ति का मूल्य और अतिरिक्त मूल्य का परिमाण तीन नियमो के अनुसार निर्धारित होते ह

(१) श्रम की उत्पादकता और उसके साथ-साथ पैदावार की राशि और प्रत्येक अलग अलग माल के दाम में चाहे जितने परिवतन होते रहें, एक खास लम्बाई का काम का दिन मूल्य की हमेशा एक ही मात्रा पैदा करता है।

मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन में छ शिलिंग का मूल्य पदा होता है, तो हालाकि पैदावार की राशि तो श्रम की उत्पादकता के साथ घटती-बढ़ती रहेगी, मगर उसका केवल यही नतीजा होगा कि छ शिलिंग जिस मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, वह वस्तुओ की पहले से कम या अधिक सख्या पर फैल जायेगा।

(२) अतिरिक्त-मूल्य और श्रम-शक्ति का मूल्य उल्टी दिशाओ में घटते-बढते ह। श्रम की उत्पादकता में जो परिवर्तन आता है, जो घटा-बढ़ी होती है, वह श्रम-शक्ति के मूल्य को उल्टी दिशा में और अतिरिक्त मूल्य को उसी दिशा में बदल देती है।

मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन में छ शिलिंग का मूल्य पदा होता है। यह एक स्थिर मात्रा है, जो अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य का जोड होती है, जिनमें से श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान मजदूर एक सम-मूल्य के द्वारा भर देता है। यह बात स्वत स्पष्ट है कि जब कोई स्थिर मात्रा दो हिस्सो के जुडने से तयार होती है, तब उनमें से कोई हिस्सा उस वक्त तक नहीं बढ़ सकता, जब तक कि दूसरा हिस्सा उतना ही घट न जाये। मान लीजिये, शुरू में दोनो हिस्से बराबर ह श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है और अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिंग है। अब श्रम शक्ति का मूल्य उस वक्त तक तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग का नहीं रह जाता। और अतिरिक्त मूल्य तीन शिलिंग से बढकर चार शिलिंग उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग नहीं रह जाता। इसलिये, इन परिस्थितियो में अतिरिक्त मूल्य के या श्रम शक्ति के मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में उस वक्त तक कोई परिवतन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणो में भी, यानी एक दूसरे की तुलना में भी उनके परिमाणो में, परिवतन नहीं हो जाता। वे दोनो एक साथ न तो घट सकते ह और न बढ़ सकते ह।

इसके अलावा, श्रम-शक्ति का मूल्य उस वक्त तक गिर नहीं सकता और चुनाचे अतिरिक्त मूल्य उस वक्त तक बढ़ नहीं सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता नहीं बढ़ जाता। ऊपर जो मिसाल हमने ली थी, उसमें श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से गिरकर दो शिलिंग उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता में इतनी वृद्धि न हो जाये, जिससे

४ घण्टे में जीवन के लिये आवश्यक उतनी ही वस्तुए तयार होने लगें, जितनी पहले ६ घण्टे में तयार होती थीं। दूसरी ओर, श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता में इतनी कमी नहीं आ जाती, जिससे पहले छ घण्टे में जीवन के लिये आवश्यक जितनी वस्तुए तैयार हो जाया करती थीं, उनको तैयार करने में आठ घण्टे लगने लगें। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है, तब श्रम-शक्ति के मूल्य में गिराव आ जाता है और उसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य बढ जाता है, और, दूसरी ओर, जब श्रम की उत्पादकता कम हो जाती है, तब श्रम-शक्ति का मूल्य बढ जाता है और अतिरिक्त मूल्य में गिराव आ जाता है।

इस नियम की स्थापना करते हुए रिकार्डो एक बात को भूल गये थे। वह यह कि यद्यपि अतिरिक्त मूल्य अथवा अतिरिक्त श्रम के परिमाण में परिवतन होने से श्रम शक्ति के मूल्य के परिमाण में अथवा आवश्यक श्रम की मात्रा में उल्टी दिशा में परिवतन हो जाता है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि दोनो परिवतन एक अनुपात में होते ह। उनमें एक ही मात्रा की घटा-बढ़ी होती है। परन्तु उनकी आनुपातिक वृद्धि या कमी इस बात पर निभर करती है कि श्रम की उत्पादकता में परिवतन होने से पहले उनके मूल परिमाण क्या थे। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग हो अथवा आवश्यक श्रम काल ८ घण्टे का हो और अतिरिक्त मूल्य २ शिलिंग हो अथवा अतिरिक्त श्रम ४ घण्टे का हो, और अगर श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य गिरकर ३ शिलिंग रह जाये या आवश्यक श्रम घटकर ६ घण्टे का हो जाये, तो अतिरिक्त मूल्य बढकर ३ शिलिंग का हो जायेगा, या यू कहिये कि अतिरिक्त श्रम बढ़कर ६ घण्टे का हो जायेगा। परिवतन की मात्रा एक ही है। एक में १ शिलिंग या २ घण्टे की वृद्धि हो जाती है, दूसरे में उतनी ही कमी आ जाती है। पर हर अवस्था में परिमाण का आनुपातिक परिवतन भिन्न है। जहा श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें जहा $\frac{१}{४}$ या २५ प्रतिशत की कमी आती है, वहा अतिरिक्त मूल्य २ शिलिंग से बढ़कर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें $\frac{१}{२}$ या ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम की उत्पादकता में परिवतन होने पर अतिरिक्त मूल्य में जो आनुपातिक वृद्धि या कमी आती है, वह इस बात पर निभर करती है कि शुरू में काम के दिन का वह हिस्सा कितना बडा था, जिसने अतिरिक्त मूल्य में मूत रूप धारण किया है। यह हिस्सा जितना छोटा होता है, आनुपातिक परिवर्तन उतना ही बडा होता है, यह हिस्सा जितना बडा होता है, आनुपातिक परिवतन उतना ही छोटा होता है।

(३) अतिरिक्त मूल्य में जो वृद्धि या कमी आती है, वह सदा श्रम-शक्ति के मूल्य की तदनुरूप कमी या वृद्धि का परिणाम ही होती है, उसका कारण कभी नहीं होती।[1]

[1] इस तीसरे नियम मे अन्य बातो के अलावा मैक्कुलक ने यह बेतुकी बात भी और जोड दी है कि पूजीपति को जो कर देने होते हैं, यदि उनको मसूख कर दिया जाये, तो श्रम शक्ति के मूल्य में किसी गिराव के बिना भी अतिरिक्त मूल्य मे वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार के करो को मसूख कर देने से उस अतिरिक्त मूल्य की मात्रा में कोई भी परिवतन नही आता जिसे पूजीपति पहली ही बार मे मजदूर से निकाल लेता है। उससे तो केवल वह

काम का दिन चूंकि परिमाण में स्थिर है और उसका प्रतिनिधित्व स्थिर मात्रा का एक मूल्य करता है, चूंकि अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ श्रम-शक्ति के मूल्य में उल्टी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, और चूंकि श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल श्रम की उत्पादकता में परिवर्तन आने के फलस्वरूप ही कोई तबदीली हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिये इन सब बातों से साफ साफ यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी हालत में अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में होने वाले उल्टी दिशा के परिवर्तन से उत्पन्न होता है। तब, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यदि श्रम-शक्ति के मूल्य में और अतिरिक्त मूल्य में निरपेक्ष परिमाण का कोई परिवर्तन उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणों में भी परिवर्तन नहीं हो जाता, तो इससे अब यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके सापेक्ष परिमाणों में उस वक्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पहले श्रम शक्ति के निरपेक्ष परिमाण में तबदीली नहीं हो जाती।

तीसरे नियम के अनुसार, अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में परिवर्तन होने के पहले यह जरूरी है कि श्रम-शक्ति के मूल्य में कुछ घटा-बढ़ी हो, जो घटा-बढ़ी श्रम की उत्पादकता में तबदीली आने के कारण होती है। अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में परिवर्तन की सीमा श्रम शक्ति का बदला हुआ मूल्य तय करता है। परन्तु, इसके बावजूद, उस समय भी, जब परिस्थितियां इस नियम को अमल में आने की इजाजत देती हैं, कुछ गौण घटा-बढ़ी भी हो सकती है। मिसाल के लिये, यदि श्रम की उत्पादकता के बढ़ जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, या आवश्यक श्रम काल ८ घण्टे से घटकर ६ घण्टे रह जाता है, तो सम्भव है कि श्रम शक्ति का दाम ३ शिलिंग ८ पेंस, ३ शिलिंग ६ पेंस या ३ शिलिंग २ पेंस के नीचे न गिरे और चुनांचे अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग ४ पेंस, ३ शिलिंग ६ पेंस या ३ शिलिंग १० पेंस के ऊपर न बढ़ पाये। यह गिराव, जिसकी निम्नतम सीमा ३ शिलिंग (श्रम शक्ति का नया मूल्य) है, असल में कितना होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि एक तरफ पूंजी के दबाव और दूसरी तरफ मजदूर के प्रतिरोध में किसका पलड़ा भारी रहता है।

श्रम शक्ति का मूल्य जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के मूल्य से निर्धारित होता है। श्रम की उत्पादकता के साथ इन वस्तुओं का परिमाण नहीं, बल्कि उनका मूल्य बदलता है। लेकिन यह मुमकिन है कि उत्पादकता में वृद्धि हो जाने के कारण श्रम-शक्ति के दाम या अतिरिक्त मूल्य में कोई परिवर्तन हुए बिना ही मजदूर और पूंजीपति दोनों साथ साथ जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा को हस्तगत करने में सफल हो जायें। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग हो और आवश्यक श्रम काल ६ घण्टे का हो और

बदलता है, जिसके अनुसार इस अतिरिक्त मूल्य का पूंजीपति और अन्य व्यक्तियों के बीच बंटवारा होता है। फलतः इससे अतिरिक्त मूल्य और श्रम शक्ति के मूल्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए मैक्कुलक ने जो अपवाद बताया है, उससे केवल यही प्रमाणित होता है कि उन्होंने नियम को गलत समझा है। रिकार्डो को अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में मैक्कुलक पर अक्सर यह मुसीबत नाजिल होती है ठीक इसी प्रकार ऐडम स्मिथ का अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में जे० बी० से अक्सर ऐडम स्मिथ के सिद्धान्तों का गलत मतलब लगा बैठते हैं।

इसी तरह यदि अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिंग का हो और अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे का हो, तब यदि अतिरिक्त श्रम के साथ आवश्यक श्रम का अनुपात बदले बिना ही श्रम की उत्पादकता पहले से दुगुनी कर दी जाये, तो अतिरिक्त मूल्य और श्रम शक्ति के दाम में कोई परिमाणात्मक परिवतन नहीं होगा। उसका केवल इतना ही फल होगा कि अतिरिक्त मूल्य और श्रम शक्ति का दाम, दोनो पहले से दुगुने उपयोग मूल्यो का प्रतिनिधित्व करेंगे, पर ये उपयोग मूल्य पहले से दुगुने सस्ते हो जायेंगे। यद्यपि श्रम शक्ति का दाम तो नहीं बदलेगा, तथापि वह अपने मूल्य से अधिक होगा। श्रम शक्ति के नये मूल्य को देखते हुए उसके दाम की निम्नतम सीमा १ शिलिंग ६ पेंस है। यदि उसका दाम इतना नीचे न गिरे, बल्कि २ शिलिंग १० पेंस, या २ शिलिंग ६ पेंस हो जाये, तब यह गिरा हुआ दाम भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ की पहले से अधिक मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगा। इस तरह, श्रम की उत्पादकता के बढने के साथ साथ यह भी मुमकिन है कि श्रम शक्ति का दाम गिरता जाये और फिर भी, इस गिराव के साथ-साथ, मजदूर के जीवन निर्वाह के साधनो की राशि लगातार बढती जाये। लेकिन ऐसा होने पर भी श्रम-शक्ति के मूल्य में जो गिराव आयेगा, उसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य में तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी, और इस तरह मजदूर की स्थिति और पूजीपति की स्थिति के बीच की खाई बराबर चौडी होती जायेगी।[1]

ऊपर हमने जिन तीन नियमो का जिक्र किया है, उनकी सबसे पहले रिकार्डो ने सम्यक रूप में स्थापना की थी। लेकिन वह नीचे दी गयी गलतिया कर गये (१) ये नियम जिन विशेष परिस्थितियो में लागू होते ह, उनको रिकार्डो पूजीवादी उत्पादन की सामान्य एव एकमात्र परिस्थितिया समझ बठे ह। उनके खयाल में न तो काम के दिन की लम्बाई में कोई परिवतन हो सकता है और न श्रम की तीव्रता में, चुनाचे, उनकी दृष्टि में केवल एक ही तत्व है, जो बदल सकता है, – वह है श्रम की उत्पादकता। (२) दूसरी गलती यह है – और इस गलती ने उनके विश्लेषण को पहली गलती की अपेक्षा अधिक विकृत किया है – कि अन्य अथशास्त्रियो की तरह उन्होने भी अतिरिक्त मूल्य पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया, अर्थात् अतिरिक्त मूल्य के मुनाफा, लगान आदि जो कई विशिष्ट रूप होते ह, उनसे अलग करके उन्होने कभी अतिरिक्त मूल्य पर विचार नहीं किया। इसीलिये उन्होने अतिरिक्त मूल्य की दर के नियमो को और मुनाफे की दर के नियमो को आपस में गडडमड्ड कर दिया है। जसा कि हम पहले भी कह चुके ह, मुनाफे की दर यह बताती है कि जो कुल पूजी लगायी गयी है, उसके साथ अतिरिक्त मूल्य का क्या अनुपात है, उधर अतिरिक्त मूल्य की दर यह बताती है कि इस पूजी के अस्थिर भाग के साथ अतिरिक्त मूल्य का क्या अनुपात है। मान लीजिये कि ५०० पौण्ड की एक पूजी (पू) में कच्चा माल, श्रम के औजार आदि (स्थि) के ४०० पौण्ड और मजदूरी (अस्थि) के १०० पौण्ड शामिल ह, और, इसके अलावा, अतिरिक्त मूल्य (अ) १०० पौण्ड का होता है।

[1] "जब उद्योग की उत्पादकता में कोई परिवतन होता है और श्रम और पूजी की एक निश्चित मात्रा से पहले की अपेक्षा कम या अधिक पैदावार होने लगती है, तब यह मुमकिन है कि मजदूरी के अनुपात मे साफ-साफ कोई परिवतन आ जाये, पर वह अनुपात जिस परिमाण का प्रतिनिधित्व करता है, वह ज्यो का त्यो रहे, या अनुपात ज्यो का त्यो रहे, पर मजदूरी की मात्रा मे परिवतन आ जाये।" (*Outlines of Political Economy &c* ['अथशास्त्र की रूपरेखा, आदि'] पृ० ६७।)

तब अतिरिक्त मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{१०० पौण्ड}}{\text{१०० पौण्ड}}$ = १०० प्रतिशत। लेकिन मुनाफे की दर $\frac{\text{अ}}{\text{पू}} = \frac{\text{१०० पौण्ड}}{\text{५०० पौण्ड}}$ = २० प्रतिशत। इसके अतिरिक्त यह बात भी स्पष्ट है कि मुनाफे की दर ऐसी बातों पर निर्भर कर सकती है, जिनका अतिरिक्त मूल्य की दर पर कोई प्रभाव नहीं पडता। म तीसरी पुस्तक में स्पष्ट करूंगा कि अतिरिक्त मूल्य की एक दर निश्चित होते हुए भी मुनाफे की अनेक दरें हो सकती हैं और कुछ खास परिस्थितियो में मुनाफे की एक दर में अतिरिक्त मूल्य की विभिन्न दरें व्यक्त हो सकती ह।

२ काम का दिन स्थिर रहता है, श्रम की उत्पादकता स्थिर रहती है, श्रम की तीव्रता मे परिवर्तन होता हे

श्रम की बढ़ी हुई तीव्रता का अर्थ यह होता है कि एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम खर्च हो जाता है। इसलिये, कम तीव्र श्रम का एक दिन जितनी पैदावार में निहित होता है, अधिक तीव्र श्रम का दिन उससे अधिक पदावार में निहित होगा, बशर्ते कि काम के दिन की लम्बाई वही रहे। यह सच है कि अगर श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाये, तो भी एक निश्चित लम्बाई के काम के दिन में पहले से अधिक पदावार तैयार होने लगती है। लेकिन इस सूरत में हर अलग-अलग पैदावार का मूल्य गिर जायेगा, क्योंकि अब उस में पहले से कम श्रम लगेगा। इसके विपरीत, पहली सूरत में, यह मूल्य ज्यो का त्यो रहता है, क्योंकि हर वस्तु में अब भी पहले जितना ही श्रम लगता है। यहा पदावार की सख्या में तो वृद्धि हो जाती है, पर उसके साथ-साथ हर पदावार के व्यक्तिगत दाम में कोई गिराव नहीं आता। पदावार की सख्या के साथ-साथ उनके दामो का जोड भी बढता जाता है। लेकिन उत्पादकता के बढ़ने पर एक निश्चित मूल्य पैदावार की पहले से अधिक राशि पर फल जाता है। इसलिये, काम के दिन की लम्बाई यदि स्थिर रहे, तो पहले से बढ़ी हुई तीव्रता का एक दिन का श्रम पहले से अधिक मूल्य में निहित होगा और यदि मुद्रा का मूल्य ज्यो का त्यो रहता है, तो वह पहले से अधिक मुद्रा में निहित होगा। अब जो मूल्य पदा होगा, वह पहले से कितना कम या कितना ज्यादा होगा, यह इस बात पर निभर करेगा कि अब श्रम की तीव्रता समाज में पायी जाने वाली साधारण तीव्रता से कितनी कम या ज्यादा हो गयी है। इसलिये, अब एक निश्चित लम्बाई का काम का दिन एक स्थिर मूल्य नहीं, बल्कि एक अस्थिर मूल्य पदा करता है। साधारण तीव्रता के १२ घण्टे के दिन में, मान लीजिये, ६ शिलिंग का मूल्य पदा होता है, लेकिन तीव्रता बढ़ जाने पर ७ शिलिंग, ८ शिलिंग या उससे भी अधिक मूल्य पदा हो सकता है। यह बात साफ है कि अगर एक दिन के श्रम से तयार होने वाला मूल्य ६ शिलिंग से बढ़कर ८ शिलिंग हो जाता है, तो यह मूल्य जिन दो भागों में बटा रहता है, यानी श्रम-शक्ति का दाम और अतिरिक्त-मूल्य, ये दोनों साथ-साथ और या तो समान मात्रा में, या असमान मात्रा में बढ़ सकते हैं। हो सकता है कि ये दोनों एक साथ ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग हो जायें। यहां श्रम-शक्ति के दाम में होने वाली वृद्धि का लाजिमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से बढ़ गया है। इसके विपरीत, दाम के बढ़ने के साथ-साथ

मूल्य गिर सकता है। जहा कहीं श्रम-शक्ति के दाम में होने वाली वृद्धि से उसको पहले से अधिक घिसाई की क्षति-पूर्ति नहीं होती, वहा सदा यही होता है।

हम जानते है कि कुछ अस्थिर अपवादो को छोडकर श्रम की उत्पादकता में आने वाली किसी भी तबदीली से श्रम शक्ति के मूल्य में और इसलिये अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में उस वक्त तक कोई परिवतन नहीं होता, जब तक कि इस तबदीली का जिन उद्योगो पर प्रभाव पडता है, उनमें वे वस्तुए न तयार होती हो, जिनको मजदूर आदतन इस्तेमाल करते ह। लेकिन हम जिस सूरत पर विचार कर रहे ह, उसमें यह शत लागू नहीं होती। कारण कि जब परिवतन या तो श्रम की अवधि में होता है और या उसकी तीव्रता में, तब उस श्रम से पदा होने वाले मूल्य के परिमाण में सदा तदनुरूप परिवतन हो जाता है, जो उस वस्तु के स्वरूप से स्वतत्र होता है, जिसमें यह मूल्य निहित है।

यदि श्रम की तीव्रता उद्योग की प्रत्येक शाखा में एक साथ और समान मात्रा में बढ जाये, तो नयी और पहले से बढी हुई तीव्रता समाज की साधारण तीव्रता बन जायेगी, और तब उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जायेगा। परन्तु, फिर भी, ऐसा होने पर भी, अलग अलग देशो में श्रम की तीव्रता अलग अलग होगी और उससे अतरराष्ट्रीय क्षेत्र में मूल्य का नियम जिस ढग से व्यवहार में आता है, उसमें कुछ परिवतन हो जायेगा। एक देश का काम का दिन अधिक तीव्र श्रम का होगा, और मुद्रा की एक अपेक्षाकृत बडी रकम उसका प्रतिनिधित्व करेगी। दूसरे देश का काम का दिन अपेक्षाकृत कम तीव्र श्रम का होगा, और मुद्रा की एक अपेक्षाकृत छोटी रकम उसका प्रतिनिधित्व करेगी।[1]

३ श्रम की उत्पादकता और तीव्रता स्थिर रहती है, काम के दिन की लम्बाई बदलती रहती है

काम का दिन दो तरह से बदल सकता है। उसको पहले से *अधिक लम्बा या* पहले से छोटा कर दिया जा सकता है। इस वक्त हमारे पास जो सामग्री मौजूद है, उसके आधार पर और पृ० ५८३-५८४ पर हमने जो बातें पहले से मान ली ह, उनकी सीमाओ के भीतर रहते हुए नीचे लिखे नियम हमारे सामने आते ह

(१) काम के दिन की लम्बाई जितनी होती है, वह उसी के अनुपात में कम या ज्यादा मात्रा में मूल्य पदा करता है। इस प्रकार यह मूल्य की एक स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि अस्थिर मात्रा पदा करता है।

---

[1] 'अय बाता के समान रहते हुए अग्रेज कारखानेदार एक निश्चित समय में किसी भी *विदेशी कारखानेदार के मुकाबले में ज्यादा काम निकाल सकता है,* जिससे यहा तक कि भिन्न-भिन्न प्रकार के काम के दिना – जैसे इगलैण्ड मे ६० घण्टे और अय देशा मे ७२ या ८० घण्टे प्रति सप्ताह – से पैदा होनेवाला अन्तर भी पूरा हो जाता है।" (*Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1855*' ['फैक्टरिया के इस्पक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'], पृ० ६५।) इगलैंड के काम के घण्टे और योरप के काम के घण्टे में जो यह गुणात्मक अन्तर पाया जाता है, उसे कम करने का सबसे अचूक तरीका यह है कि एक कानून बनाकर योरप की फैक्टरियो में काम के दिन की लम्बाई परिमाणात्मक ढग से कम कर दी जाये।

(२) अतिरिक्त मूल्य के परिमाण और श्रम शक्ति के मूल्य के परिमाण के पारस्परिक सम्बध में जो भी तबदीली आती है, वह अतिरिक्त श्रम के निरपेक्ष परिमाण में और इसलिये अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में परिवतन होने के फलस्वरूप आती है।

(३) श्रम शक्ति की घिसाई पर अतिरिक्त श्रम को लम्बा खींचने की जो प्रतिक्रिया होती है, श्रम शक्ति का निरपेक्ष मूल्य केवल उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही बदल सकता है। इसलिये श्रम-शक्ति के निरपेक्ष मूल्य में होने वाला प्रत्येक परिवतन अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाले परिवतन का कारण कभी न होकर सदा उसका परिणाम होता है।

हम सबसे पहले उस सूरत को लेते ह, जब काम का दिन छोटा कर दिया जाता है।

(१) जब उपर्युक्त परिस्थितियो में काम का दिन छोटा किया जाता है, तो श्रम शक्ति का मूल्य और उसके साथ-साथ आवश्यक श्रम काल ज्यो के त्यो बने रहते ह। पर अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्य कम हो जाते ह। अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के साथ साथ उसका सापेक्ष परिमाण भी कम हो जाता है, अर्थात् उसका परिमाण श्रम शक्ति के मूल्य की तुलना में कम हो जाता है, जिसका परिमाण ज्यो का त्यो रहता है। इस स्थिति में पूजीपति किसी भी तरह के नुकसान से केवल इसी प्रकार बच सकता है कि श्रम शक्ति के दाम को उसके मूल्य से भी कम कर दे।

काम के दिन को छोटा करने के विरुद्ध आम तौर पर जितनी दलीलें दी जाती ह, उन सब में यह मान लिया जाता है कि काम का दिन उन परिस्थितियो में छोटा किया जाता है, जिनको हम यहा मानकर चल रहे ह। वास्तव में इसका उल्टा होता है। श्रम की उत्पादकता और तीव्रता का परिवतन या तो काम के दिन के छोटा किये जाने के पहले या तुरत उसके बाद हो जाता है।[1]

(२) मान लीजिये कि काम के दिन को लम्बा कर दिया जाता है। फर्ज कीजिये कि आवश्यक श्रम काल ६ घण्टे का है, या श्रम शक्ति का मूल्य ३ शिलिग है। और मान लीजिये कि अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे का होता है, या अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिग का होता है। तब काम का पूरा दिन १२ घण्टे का होगा और वह ६ शिलिग के मूल्य में निहित होगा। अब यदि काम के दिन को २ घण्टे और बढा दिया जाये और श्रम शक्ति का दाम ज्यो का त्या रहे, तो अतिरिक्त मूल्य निरपेक्ष और सापेक्ष दोनो दृष्टियो से बढ़ जायेगा। श्रम शक्ति के मूल्य में यद्यपि कोई निरपेक्ष परिवतन नहीं होता, तथापि वह सापेक्ष दृष्टि से गिर जाता है। जिन परिस्थितियो को हम १ में मान कर चले थे, उनके अ तगत श्रम शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में उस वक्त तक कोई परिवतन नहीं हो सकता था, जब तक कि उसके निरपेक्ष परिमाण में भी परिवतन नहीं हो जाता। यहा पर, उसके विपरीत, श्रम शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में होने वाला परिवतन अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के परिवतन का नतीजा होता है।

---

[1] 'इसकी क्षति-पूर्ति करने वाली कुछ परिस्थितिया होती हैं जिनपर Ten Hours Act (दस घण्टे के कानून) के अमल मे आने से कुछ प्रकाश पडा है।" (*Rep of Insp of Fact for 31st Oct 1848* [फैक्टरियो के इन्सपेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० ७।)

चूकि वह मूल्य, जिसमें दिन भर का श्रम निहित होता है, दिन की लम्बाई के साथ-साथ बढता जाता है, इसलिये यह बात स्पष्ट है कि अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति का दाम दोनो समान या असमान मात्राओ में एक साथ बढ सकते ह। इसलिये, इन दोनो का साथ-साथ बढ़ना दो सूरतो में मुमकिन होता है एक, उस वक्त, जब काम के दिन को सचमुच लम्बा किया जाता है, और, दूसरे, उस वक्त, जब श्रम की तीव्रता बढ़ जाती है, जिसके साथ साथ काम के दिन की लम्बाई नहीं बढायी जाती।

जब काम के दिन की लम्बाई बढायी जाती है, तब श्रम शक्ति का दाम उसके मूल्य के भी नीचे गिर सकता है, हालाकि मुमकिन है कि यह दाम नामचारे के लिये ज्यो का त्यो रहे, या यहा तक कि कुछ बढ भी जाये। पाठक को याद होगा कि एक दिन की श्रम शक्ति के मूल्य का अनुमान इस आधार पर लगाया जाता है कि सामान्यतया उसकी औसत अवधि कितनी होती है, या मजदूर सामान्यतया कितने समय तक जिन्दा रहते ह, और मनुष्य की प्रकृति के अनुसार सगठित शारीरिक पदार्थ सामान्यतया किस प्रकार गति में रूपान्तरित होता है।[1] काम के दिन के लम्बा कर दिये जाने पर श्रम-शक्ति की घिसाई अनिवार्य रूप से बढ जाती है, पर एक बिन्दु तक बढी हुई मजदूरी देकर इसकी क्षतिपूर्ति की जा सकती है। लेकिन इस बिन्दु के आगे घिसाई गुणोत्तर श्रेढी के अनुसार बढती जाती है और श्रम शक्ति के सामान्य पुनरुत्पादन और उसके व्यवहार में आने के लिये जितनी परिस्थितिया आवश्यक होती ह, वे सब अस्त व्यस्त हो जाती ह। तब श्रम-शक्ति का दाम और उसके शोषण की मात्रा सम्मेय राशिया नहीं रहतीं।

४ श्रम की अवधि, उत्पादकता और तीव्रता मे एक साथ परिवर्तन होते है

यह बात स्पष्ट है कि इस स्थिति में कई प्रकार के योग सम्भव है। किन्हीं भी दो तत्वो में परिवर्तन हो सकते ह और तीसरा तत्व स्थिर रह सकता है, या तीनो में एकबारगी परिवर्तन हो सकता है। वे तीनो एक ही या अलग अलग मात्राओ में बदल सकते ह, वे एक दिशा में या भिन्न भिन्न दिशाओ में बदल सकते ह, जिसका यह नतीजा हो सकता है कि तीनो तत्वो के परिवर्तन पूरी तरह या आशिक रूप में एक दूसरे के असर को खतम कर दें। फिर भी १, २ और ३ में दिये गये निष्कर्षों के आधार पर प्रत्येक सम्भव दशा का विश्लेषण किया जा सकता है। बारी बारी से एक एक तत्व को अस्थिर और बाकी दो तत्वो को वक्ती तौर पर स्थिर मानकर हर सम्भव योग के प्रभाव का पता लगाया जा सकता है। इसलिये यहा पर हम केवल दो महत्त्वपूर्ण उदाहरणो पर ही और वह भी बहुत सक्षेप में विचार करेंगे।

---

[1] "एक आदमी २४ घण्टे मे कितना श्रम करता है, उसका कुछ मोटा सा अनुमान यह देखकर लगाया जा सकता है कि उसके शरीर मे कौन कौन से रासायनिक परिवर्तन हो गये है। पदार्थ के बदले हुए रूपो से यह मालूम हो जायेगा कि उनके पहले कितनी जीवन शक्ति व्यवहार मे आ चुकी है।" (Grove, "*On the Correlation of Physical Forces* [ग्रोव, 'भौतिक शक्तिया के पारस्परिक सम्बध के विषय में']।)

(१) श्रम की उत्पादकता के घटने के साथ-साथ काम का दिन लम्बा होता जाता है

जब हम श्रम की उत्पादकता के घटने की बात करते हैं, तब हमारा मतलब यहा पर केवल उन उद्योगो से होता है, जिनकी पदावार श्रम-शक्ति के मूल्य को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिये, श्रम की उत्पादकता में इस प्रकार की कमी भूमि की उवरता के घट जाने और उसके कारण भूमि की उपज के उतनो ही महगी हो जाने के कारण आ सकती है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है और एक दिन में ६ शिलिंग का मूल्य तयार होता है, जिसमें से आधा श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान भरता है और आधा अतिरिक्त मूल्य होता है। मान लीजिये कि भूमि की उपज की बढ़ी हुई महगाई के कारण श्रम शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग से बढकर ४ शिलिंग और इसलिये आवश्यक श्रम ६ घण्टे से बढ़कर ८ घण्टे का हो जाता है। यदि काम के दिन की लम्बाई में कोई परिवतन न किया जाये, तो ऐसा होने पर अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे से कम होकर ४ घण्टे का रह जायेगा और अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग हो जायेगा। यदि काम का दिन २ घण्टे बढ़ा दिया जाये, यानी १२ घण्टे से १४ घण्टे का कर दिया जाये, तो अतिरिक्त श्रम पहले की तरह ६ घण्टे का, और अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग का ही बना रहेगा। लेकिन श्रम शक्ति के मूल्य की तुलना में, जो कि आवश्यक श्रम काल से नापा जाता है, अतिरिक्त मूल्य घट जायेगा। यदि काम का दिन ४ घण्टे बढा दिया जाये, यानी १२ घण्टे से १६ घण्टे का कर दिया जाये, तो अतिरिक्त मूल्य और श्रम शक्ति के मूल्य के और अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम के आनुपातिक परिमाण ज्यो के त्यो बने रहेंगे, मगर अतिरिक्त मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग और अतिरिक्त श्रम का निरपेक्ष परिमाण ६ घण्टे से बढ़कर ८ घण्टे हो जायेगा, जो कि ३३ $\frac{१}{३}$ प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसलिये, जब श्रम की उत्पादकता घट जाती है और साथ ही काम का दिन लम्बा कर दिया जाता है, तो मुमकिन है कि अतिरिक्त मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ज्यो का त्यो रहे, और साथ ही उसका सापेक्ष परिमाण घट जाये, या उसका सापेक्ष परिमाण ज्यो का त्यो बना रहे, पर साथ ही उसका निरपेक्ष परिमाण बढ जाये, और या अगर काम के दिन की लम्बाई में बहुत काफी वृद्धि कर दी जाती है, तो यह भी मुमकिन है कि अतिरिक्त मूल्य का सापेक्ष परिमाण और निरपेक्ष परिमाण दोनो बढ जायें।

१७९९ और १८१५ के बीच के काल में इंगलण्ड में खाने-पीने की वस्तुओ के दाम बढ़ जाने के कारण मजदूरी में नामचारे की बढ़ती हो गयी थी, हालांकि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के रूप में असल मजदूरी में कमी आ गयी थी। इस तथ्य से वेस्ट और रिकार्डो दोनो ने यह निष्कर्ष निकाला कि खेतिहर श्रम की उत्पादकता घट जाने के कारण अतिरिक्त मूल्य की दर में गिराव आ गया है। इस तथ्य का केवल उनकी कल्पना में ही अस्तित्व था, परन्तु उन्होंने उसे मजदूरी, मुनाफो और लगान के सापेक्ष परिमाणो की अपनी छान बीन का प्रस्थान बिंदु बना डाला। मगर वास्तव में उस काल में श्रम की तीव्रता बढ जाने और काम का दिन लम्बा कर दिये जाने के कारण अतिरिक्त मूल्य का सापेक्ष परिमाण और निरपेक्ष परिमाण दोनो बढ़ गये थे। यह वह काल था, जब श्रम के घण्टों को बर्बरता की हद तक बढा देने का अधिकार स्वीकार किया

गया था[1] और जिसकी खास विशेषता यह थी कि यहा पर अगर पूजी का बडी तेजी के साथ सचय हो रहा था, तो वहा पर कगाली बढ रही थी।[2]

---

[1] "अनाज और श्रम बहुत कम साथ-साथ चलते हैं, लेकिन एक स्पष्ट सीमा है, जिसके बाद उनको अलग नही किया जा सकता। जहा तक श्रमजीवी वर्गों की उस असाधारण मेहनत का ताल्लुक है, जो वे महगाई के दिनो मे करते हैं और जिससे मजदूरी में वह गिराव आ जाता है, जिसकी ओर गवाहियो मे (यानी १८१४-१५ की ससदीय जाच-समिति के सामने दी गयी गवाहियो मे) ध्यान आकर्षित किया गया है, जिन व्यक्तियो ने वह मेहनत की, वे प्रशसा के पात्र हैं और उससे निश्चय ही पूजी के विकास मे सहायता मिली है। लेकिन जिस मनुष्य मे थोडी भी मानवता है, वह यह नही चाहेगा कि यह असाधारण मेहनत कभी रुके नही और लगातार चलती ही रहे। अस्थायी सहायता के रूप मे यह एक बडी उत्तम चीज है, परन्तु यदि वह लगातार चलती जाती है, तो उसके उसी तरह के नतीजे होंगे, जैसे किसी देश की आबादी के चरम सीमा तक पहुचने और खुराक की कमी के कारण होते हैं।" (Malthus, "*Inquiry into the Nature and Progress of Rent*" [माल्थूस, 'लगान के स्वरूप तथा प्रगति की समीक्षा'], London, 1815 पृ० ४८, नोट।) माल्थूस सम्मान के पात्र हैं, क्योकि उन्होने श्रम के घण्टो के बढाये जाने पर जोर दिया है। अपनी पुस्तिका मे अन्यत्र भी उन्होने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जब कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियो ने तो अत्यन्त स्पष्ट प्रमाणो के होते हुए भी काम के दिन की लम्बाई की अपरिवर्तनशीलता को अपनी तमाम छान-बीन का मूलाधार बनाया है। परन्तु माल्थूस जिन दकियानूसी हितो की सेवा करते थे, उन्होंने उनको यह नही देखने दिया कि काम के दिन की लम्बाई को मनमाने ढग से बढाते जाने का, मशीनो के असाधारण विकास और स्त्रियो और बच्चो के शोषण के साथ मिलकर, लाजिमी तौर पर यह नतीजा होगा कि मजदूर-वर्ग का एक बडा भाग "फालतू" बन जायेगा, और खास तौर पर जब कभी युद्ध बन्द हो जायेगा तथा दुनिया की मण्डियो पर इगलैण्ड का एकाधिकार खतम हो जायेगा, तब तो यह बात और भी जोरो के साथ होगी। जाहिर है, माल्थूस जिन शासक वर्गों की पुजारी की तरह पूजा करते थे, यह बात उनके लिये अधिक सुविधाजनक और उनके हितो के अधिक अनुकूल थी कि पूजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक नियमो की छान बीन करने की अपेक्षा इस "जनाधिक्य" को प्रकृति के शाश्वत नियमो के आधार पर ही अनिवार्य सिद्ध करके मामले को रफा-दफा कर दिया जाये।

[2] "युद्ध के दौरान मे पूजी के बढने का एक प्रधान कारण यह था कि श्रमजीवी वर्गों को, जिनकी सख्या प्रत्येक समाज मे सबसे अधिक रहती है, इस काल मे पहले से ज्यादा मेहनत करनी पडी और शायद पहले से ज्यादा तकलीफें भी उठानी पडी। परिस्थितियो से मजबूर होकर पहले से अधिक सख्या मे स्त्रियो और बच्चो को सख्त मेहनत के काम करने पडे, और इसी कारण पहले से काम करने वाले मजदूरो को अपने समय का पहले से बडा भाग उत्पादन बढाने मे लगाना पडा।" ("*Essays on Pol Econ, in which are illustrated the Principal Causes of the Present National Distress*" ['अर्थशास्त्र पर निबध, जिसमे वर्तमान राष्ट्रीय विपत्ति के प्रधान कारणो का निदर्शन किया गया है'], London 1830 पृ० २४८।)

(२) श्रम की तीव्रता श्रौर उत्पादकता बढ़ती जाती है श्रौर साथ ही काम का दिन छोटा होता जाता है

बढ़ी हुई उत्पादकता श्रौर श्रम की पहले से अधिक तीव्रता दोनो का एक सा असर होता है। उन दोनो से एक निश्चित समय में पदा होने वाली वस्तुश्रो की राशि में वृद्धि हो जाती है। इसलिये, दोना ही काम के दिन के उस भाग को छोटा कर देती ह, जिसकी मजदूर को अपने जीवन निर्वाह के साधन, या उनका सम-मूल्य, पदा करने के लिये आवश्यकता होती है। काम के दिन के इस आवश्यक, किन्तु सकोचनशील भाग से काम के दिन की अल्पतम लम्बाई निर्धारित होती है। यदि काम का पूरा दिन सिकुडकर बस इस भाग की लम्बाई जितना ही रह जाये, तो अतिरिक्त श्रम गायब हो जायेगा, – ऐसा समापन पूजी के राज्य में बिलकुल असम्भव है। केवल उत्पादन के पूजीवाद रूप को नष्ट करके ही काम के दिन की लम्बाई को घटाकर आवश्यक श्रम-काल के बराबर लाया जा सकता है। लेकिन ऐसा होने पर भी, आवश्यक श्रम-काल अपनी सीमाओं से आगे बढ़ जायेगा। यह इसलिये कि एक श्रोर तो "जीवन निर्वाह के साधनो" की अवधारणा में बहुत सी नयी वस्तुए शामिल हो जायेंगी श्रौर मजदूर पहले से बिल्कुल भिन्न जीवन-स्तर की माग करने लगेगा। दूसरी श्रोर, इसलिये कि आजकल जो कुछ अतिरिक्त श्रम है, उसका एक हिस्सा आवश्यक श्रम में गिना जाने लगेगा। यहा मेरा मतलब उस श्रम से है, जो आरक्षित एव सचित निधि का सग्रह करने के लिये किया जाता है।

श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ जाती है, काम का दिन उतना ही छोटा हो जाता है, श्रौर काम का दिन जितना छोटा हो जाता है, श्रम की तीव्रता उतनी ही अधिक बढ़ सकती है। सामाजिक दृष्टिकोण से, उत्पादकता उसी अनुपात में बढ़ती है, जिस अनुपात में श्रम के खर्च में मितव्ययिता बरती जाती है। श्रम के खच में मितव्ययिता बरतने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि उत्पादन के साधनो का उपयोग करने में मितव्ययिता बरती जाये, बल्कि यह भी कि हर प्रकार के अनुपयोगी श्रम से बचा जाये। जहा, एक तरफ, उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली हर अलग अलग व्यवसाय में मितव्ययिता बरतना जरूरी बना देती है, वहा, दूसरी तरफ, उसकी प्रतियोगिता की अराजकतापूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का तथा उत्पादन के साधनो का हद से ज्यादा अपव्यय होता है श्रौर, इसके अलावा, पूजीवादी उत्पादन बहुत से ऐसे धधे पदा कर देता है, जो इस समय भले ही नितान्त आवश्यक प्रतीत होते हो, पर खुद अपने में अनावश्यक होते ह।

यदि श्रम की तीव्रता श्रौर उत्पादकता पहले से निश्चित हो, तो समाज के सभी समर्थ सदस्यो के बीच जसे-जसे काम का विभाजन अधिकाधिक समतुलित रूप में किया जाता है श्रौर जसे-जसे किसी खास वग से श्रम का प्राकृतिक बोझा अपने कधो से हटाकर समाज के किसी अन्य स्तर के कधो पर डाल देने की क्षमता छीन ली जाती है, वसे-वसे समाज को भौतिक उत्पादन में अधिकाधिक कम समय लगाना पडता है श्रौर उसके फलस्वरूप व्यक्ति के स्वतन्त्र, बौद्धिक एव सामाजिक विकास के लिये उतना ही अधिक समय मिलने लगता है। इस दिशा में काम के दिन को अधिकाधिक छोटा करते जाने की क्रिया पर आखिर एक सीमा का प्रतिबध लग ही जाता है। वह है श्रम के सामान्यकरण की सीमा। पूजीवादी समाज में जनता के सम्पूर्ण जीवन को श्रम-काल में बदलकर एक वग के लिये अवकाश प्राप्त किया जाता है।

अठारहवा अध्याय

अतिरिक्त मूल्य की दर के विभिन्न सूत्र

हम यह देख चुके ह कि अतिरिक्त मूल्य की दर को निम्नलिखित सूत्रो के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

$$१)\quad \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{अस्थिर पूजी}}\left(\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}\right)=\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{श्रम शक्ति का मूल्य}}=\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$$

इन सूत्रो में से पहले दो में उसी चीज को मूल्यो के अनुपात के रूप में व्यक्त किया गया है, जिसे तीसरे सूत्र में इन मूल्यो के उत्पादन में जितना समय लगा है, उसके अनुपात के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक दूसरे के लिये अनुपूरक का काम करने वाले ये तीनो सूत्र अत्यन्त निश्चित ढग के नपे-तुले सूत्र हैं। इसलिये हम यह पाते हैं कि प्रामाणिक अर्थशास्त्र में इन सूत्रो का सचेतन ढग से तो नहीं, किन्तु सार रूप में प्रतिपादन किया गया है। वहा हमें इनसे व्युत्पन्न निम्नलिखित सूत्र मिलते ह

$$२)\quad \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{काम का दिन}}=\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{पैदावार का मूल्य}}=\frac{\text{अतिरिक्त पैदावार}}{\text{कुल पैदावार}}$$

यहा एक ही अनुपात तीन तरह व्यक्त किया गया है श्रम-कालो के अनुपात की तरह, ये श्रम काल जिन मूल्यो में निहित ह, उन मूल्यो के अनुपात की तरह, और ये मूल्य जिन पदावारों में निहित ह, उन पैदावारो के अनुपात की तरह। जाहिर है, यहा यह मानकर चला जाता है कि "पैदावार का मूल्य" केवल वह मूल्य है, जो काम के दिन के दौरान में नया-नया पदा हुआ है, और पदावार के मूल्य के स्थिर भाग को इससे अलग रखा जाता है।

इन (२ के) तमाम सूत्रो में श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा, अथवा अतिरिक्त मूल्य की दर, गलत ढग से व्यक्त की गयी है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है। तब पिछले उदाहरणा में हम जितनी बातो को मानकर चले थे, उन सब को फिर मानकर चलते हुए श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा निम्नलिखित अनुपातो में व्यक्त होगी

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{६ घण्टे का आवश्यक श्रम}}=\frac{\text{३ शिलिग का अतिरिक्त मूल्य}}{\text{३ शिलिग की अस्थिर पूजी}}=\text{१०० प्रतिशत}$$

लेकिन २ के सूत्रो से बहुत भिन्न निष्कर्ष निकलता है

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{१२ घण्टे का काम का दिन}}=\frac{\text{३ शिलिग का अतिरिक्त मूल्य}}{\text{६ शिलिग के बराबर उत्पादित मूल्य}}=\text{५० प्रतिशत}$$

ये व्युत्पन्न सूत्र असल में केवल उस अनुपात को व्यक्त करते हैं, जिसके अनुसार काम का दिन या उसके दौरान उत्पादित मूल्य पूजीपति और मजदूर के बीच बट जाता है। यदि इन सूत्रो को पूजी के आत्मविस्तार की मात्रा की प्रत्यक्ष अभिव्यजनाए समझा जाये, तो यह गलत नियम लागू हो जायेगा कि अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य १०० प्रतिशत तक पहुच सकता है।[1] चूकि अतिरिक्त श्रम काम के दिन का एक अशोपभाजक मात्र होता है, या चूकि अतिरिक्त मूल्य उत्पादित मूल्य का एक अशोपभाजक मात्र होता है, इसलिये यह अनिवाय है कि अतिरिक्त श्रम सदा काम के दिन से कम होगा, या यू कहिये कि अतिरिक्त मूल्य सदा कुल उत्पादित मूल्य से कम होगा। किन्तु १०० १०० के अनुपात पर पहुचने के लिये दोनो को बराबर होना पडेगा। और यदि अतिरिक्त श्रम को पूरा दिन (अर्थात किसी भी सप्ताह या वष का एक औसत दिन) हजम कर लेना है, तो आवश्यक श्रम को शून्य हो जाना पडेगा। परन्तु यदि आवश्यक श्रम नहीं रहेगा, तो अतिरिक्त श्रम भी गायब हो जायेगा, क्योंकि वह आवश्यक श्रम का ही एक धित है। इसलिये अनुपात $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{काम का दिन}}$ या $\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{उत्पादित मूल्य}}$ कभी $\frac{१००}{१००}$ की सीमा तक नहीं पहुच सकता, और उसका $\frac{१००+क}{१००}$ तक पहुचना तो और भी कठिन है। परन्तु

---

[1] मिसाल के लिये, देखिये *Dritter Brief an v Kirchmann von Rodbertus Widerlegung der Ricardo schen Lehre von der Grundrente und Begründung einer neuen Rententheorie*, Berlin, 1851। मै इस पत्र का बाद मे जिक्र करूगा। इसका लगान का सिद्धान्त तो गलत है, पर उसके बावजूद पत्र का लेखक पूजीवादी उत्पादन के स्वरूप का समझने म सफल हुआ है। [तीसरे जमन सस्करण में जोडा गया फुटनोट इससे यह भी देखा जा सकता है कि जब कभी माक्स को अपने पूवजो मे वास्तविक प्रगति या नये और सही विचारो की थोडी सी भी झलक दिखाई देती थी, तो वह उनके बारे मे कितनी अच्छी राय व्यक्त करते थे। बाद को रुड० मेयर के नाम रोड्बटस के पत्रो के प्रकाशित होने पर ज्ञात हुआ कि माक्स ने रोड्बटस की ऊपर जो प्रशसा की है, उसमे कुछ काट छाट करनी होगी। इन पत्रो का एक अश इस प्रकार है "पूजी को न केवल श्रम से, बल्कि खुद अपने आप से भी बचाना होगा, और इसका सबसे अच्छा तरीका यह है कि औद्योगिक पूजीपति की कारवाइयो को कुछ ऐसी आर्थिक तथा राजनीतिक जिम्मेदारिया समझा जाये, जो उसको पूजी के साथ साथ सौंप दी गयी है, और उसके मुनाफे को एक तरह की तनखाह समझा जाये, क्योंकि अभी तक हम किसी और सामाजिक सगठन से परिचित नही है। लेकिन तनखाहो का नियमन किया जा सकता है, और यदि उनके कारण मजदूरी मे बहुत ज्यादा कमी हो जाती है, तो उनमे कटौती भी की जा सकती है। समाज पर माक्स की चढाई – उनकी पुस्तक को यह नाम दिया जा सकता है – से बचना ही पडेगा कुल मिलाकर माक्स की पुस्तक मे पूजी का इतना विवेचन नही, जितना पूजी के वतमान रूप पर हमला किया गया है। इस रूप को उन्होने स्वय पूजी की अवधारणा के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया है।" (*Briefe &c, von Dr Rodbertus Jagetzow herausgg von Dr Rud Meyer* Berlin 1881 खण्ड १, पृ० १११, रोडबटस का ४८ वा पत्र।) अपने 'सामाजिक पत्रो" मे रोड्बटस ने जो साहसी प्रहार किये थे, वे सिकुडते सिकुडते अन्त में इस तरह की पिटी पिटायी बातें बनकर रह गये थे। – फ्रें०ए०]

अतिरिक्त मूल्य की दर के लिये, जो श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा को अभिव्यक्त करती है, यह बात सच नहीं है। मिसाल के लिये, ए० दे लाबोर्दे के अनुमान पर विचार कीजिये, जिसके अनुसार अंग्रेज खेतिहर मजदूर को पैदावार का[1] या उसके मूल्य का केवल $\frac{१}{४}$ भाग मिलता है, जब कि कृषि पूंजीपति उसका $\frac{३}{४}$ भाग ले लेता है। लूट का यह माल बाद को पूंजीपति, जमींदार और अन्य लोगों के बीच किस तरह बांटा जाता है, वह एक अलग सवाल है। एल० दे लावेगर्ने के अनुमान के अनुसार अंग्रेज खेतिहर मजदूर के अतिरिक्त श्रम का उसके आवश्यक श्रम के साथ ३ : १ का अनुपात रहता है, जिसका मतलब यह होता है कि उसके शोषण की दर ३०० प्रतिशत है।

काम के दिन को परिमाण में स्थिर मानने का यह मन-पसन्द तरीक़ा २ के सूत्रों के उपयोग के द्वारा एक जमी हुई रूढ़ि बन गया है, क्योंकि इन सूत्रों में अतिरिक्त श्रम की एक निश्चित लम्बाई के काम के दिन से सदा तुलना की जाती है। जब केवल उत्पादित मूल्य के पुनर्विभाजन की ओर ही ध्यान दिया जाता है, तब भी यही होता है। काम का जो दिन पहले ही एक निश्चित मूल्य में मूर्त हो चुका है, वह अनिवार्य रूप से एक निश्चित लम्बाई का ही दिन होगा।

अतिरिक्त मूल्य और श्रम शक्ति के मूल्य को उत्पादित मूल्य के अंशों के रूप में पेश करने की आदत खुद उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से उत्पन्न हुई है, और उसका महत्व बाद को स्पष्ट होगा। यह आदत खास उस सौदे पर पर्दा डाल देती है, जो पूंजी का विशिष्ट लक्षण होता है, अर्थात यह आदत जीवित श्रम-शक्ति के साथ अस्थिर पूंजी के विनिमय पर और उसके फलस्वरूप मजदूर को पैदावार से वंचित कर देने की क्रिया पर पर्दा डाल देती है। वास्तविक सम्बंध की जगह पर हम इस सम्बंध का केवल एक दिखावटी और झूठा रूप देखने लगते हैं, जिसमें मजदूर और पूंजीपति पैदावार के निर्माण में जो अलग अलग तत्व देते हैं, उनके अनुपात में वे पैदावार को आपस में बांट लेते हैं।[2]

इसके अलावा, २ के सूत्रों को किसी भी समय पुनः १ के सूत्रों में बदला जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि हमारे पास यह अनुपात है

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{१२ घण्टे का काम का दिन}}$$

---

[1] पैदावार का जो भाग केवल स्थिर पूंजी की स्थान पूर्ति करता है, उसे, बेशक, इस हिसाब से अलग रखा गया है। मि० एल० दे लावेगर्ने इंगलैण्ड के अंध-प्रशंसक थे। उनमें पूंजीपति के हिस्से को बहुत ज्यादा नहीं, बल्कि बहुत कम आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

[2] पूंजीवादी उत्पादन के सभी सुविकसित रूप चूंकि सहकारिता के रूप होते हैं, इसलिए, जाहिर है, इससे अधिक आसान और कोई चीज नहीं है कि उनको उनके विरोधी स्वरूप से अलग कर दिया जाये और मानो मंत्र पढ़कर उनको स्वतंत्र सहयोग के किसी रूप में बदल दिया जाये, जैसा कि ए० दे लाबोर्दे ने अपनी पुस्तक *De L'Esprit d Association dans tous les intérets de la communauté*" (Paris 1818) में किया है। अमरीकी लेखक एच० केरी तो गुलामी से पैदा होने वाले सम्बंधों के साथ भी कभी कभी यह बाजीगरी का हाथ इसी कामयाबी के साथ दिखा देते हैं।

और आवश्यक श्रम-काल १२ घण्टे में से अतिरिक्त श्रम के ६ घण्टे घटाने से मालूम हो जाता है, तो हम नीचे लिखे परिणाम पर पहुचते ह

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{६ घण्टे का आवश्यक श्रम}} = \frac{१००}{१००}$$

एक तीसरा सूत्र भी है, जिसका म जहा-तहा पहले ही जिक्र कर चुका हू। वह यह है

$$३) \quad \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{श्रम-शक्ति का मूल्य}} = \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}} = \frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}$$

ऊपर हम जो विश्लेषण कर चुके ह, उसके बाद इसकी कोई सम्भावना नहीं होनी चाहिये कि हम $\frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}$ से गुमराह होकर यह समझ बैठें कि पूजीपति श्रम-शक्ति की नहीं, बल्कि श्रम की कीमत चुकाता है। यह सूत्र $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ का ही एक लोकगम्य रूप है। जिस हद तक दाम मूल्य के बराबर होता है, उस हद तक पूजीपति श्रम शक्ति का मूल्य चुकाता है, और बदले में उसे स्वय जीवित श्रम-शक्ति से अपनी इच्छानुसार काम लेने का अधिकार मिल जाता है। फलोपभोग का यह अधिकार दो कालो पर फला होता है। एक काल में मजदूर वह मूल्य पदा करता है, जो केवल उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर होता है, यानी वह उसका सम-मूल्य पदा करता है। पूजीपति ने श्रम शक्ति का जो दाम पेशगी दिया था, उसके एवज में इस काल में उसे उसी दाम की पदावार मिल जाती है। यह उसी तरह की बात है जसे उसने बनी-बनायी तयार पैदावार बाजार में खरीद ली हो। दूसरे काल में, जो अतिरिक्त श्रम का काल होता है, श्रम शक्ति के फलोपभोग का अधिकार पूजीपति के लिये एक ऐसा मूल्य पदा कर देता है, जिसके एवज में उसे कोई सम-मूल्य नहीं देना पडता है।[1] इस काल में होने वाला श्रम-शक्ति का व्यय उसे मुफ्त में मिल जाता है। अतिरिक्त श्रम को इसी अर्थ में अवेतन श्रम कहा जा सकता है।

इसलिये केवल श्रम कराने का अधिकार ही पूजी नहीं है, जसा कि ऐडम स्मिथ समझते ह। मूलतया, अवेतन श्रम कराने का अधिकार पूजी है। हर प्रकार का अतिरिक्त मूल्य, वह स्फटिकीकरण के बाद चाहे जो रूप (मुनाफा, सूद या लगान) धारण कर ले, वास्तव में अवेतन श्रम का मूत रूप होता है। इस प्रकार एक निश्चित मात्रा में दूसरो के अवेतन श्रम पर पूजी के अधिकार में उसके आत्म विस्तार का रहस्य निहित है।

---

[1] यद्यपि फिजिओक्रेट अतिरिक्त मूल्य के रहस्य मे नही पैठ सके थे, तथापि इतनी बात उनके दिमाग़ में साफ थी कि अतिरिक्त मूल्य une richesse independante et disponible qu il n a point achetee et qu il vend ["एक ऐसा स्वतत्र और क्रय-योग्य धन है, जिसे उसके मालिक ने खरीदा नही है, पर जिसे वह बेचता है"]। (Turgot, *Reflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses* पृ० ११।)

भाग ६

मज़दूरी

उन्नीसवा अध्याय

श्रम-शक्ति के मूल्य (और क्रमश दाम) का मज़दूरी में रूपान्तरण

पूजीवादी समाज को सतही नजर से देखिये, तो मजदूर की मजदूरी उसके श्रम का दाम प्रतीत होती है, लगता है जसे श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा दे दी जाती है। इसीलिये लोग आम तौर पर श्रम के मूल्य की बात करते ह और मुद्रा के रूप में इस मूल्य की अभिव्यजना को उसका आवश्यक अथवा स्वाभाविक दाम कहते ह। दूसरी ओर, वे श्रम के बाजार-भाव का, अर्थात दामो का भी जिक्र करते ह, जो श्रम के स्वाभाविक दाम के ऊपर-नीचे चढते-उतरते रहते ह।

लेकिन माल का मूल्य क्या होता है? उसके उत्पादन में खर्च होने वाले सामाजिक श्रम का वस्तुगत रूप। और इस मूल्य की मात्रा को हम नापते कसे ह? उसमें निहित श्रम की मात्रा के द्वारा। तब, मिसाल के लिये, १२ घण्टे के काम के दिन का मूल्य कसे तै होगा? १२ घण्टे के काम के दिन में निहित १२ काम के घण्टो से। पर यह तो बिल्कुल बेतुकी पुनरुक्ति है।[1]

---

[1] "मि० रिकार्डो, काफी चतुराई का परिचय देते हुए, उस कठिनाई से बच जाते है, जो पहली दृष्टि मे लगता था कि उनके सिद्धात के लिये एक रोडा बन जायेगी, — वह यह कि मूल्य उस श्रम की मात्रा पर निभर करता है, जो उत्पादन मे लगा है। यदि इस सिद्धात को दृढता के साथ माना जाये, तो हम इस नतीजे पर पहुच जाते है कि श्रम का मूल्य श्रम की उस मात्रा पर निभर करेगा, जो उसको पैदा करने मे लगा है, जो कि, जाहिर है, एक बेतुकी बात है। इसलिये, हाथ की एक अच्छी सफाई दिखाते हुए, मि० रिकार्डो श्रम के मूल्य को मज़दूरी के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा पर निभर बना देते है, या, यदि स्वय उनकी भाषा का प्रयोग किया जाये, तो वह यह कहते है कि श्रम के मूल्य का अनुमान लगाने के लिये यह देखना होगा कि मजदूरी पैदा करने के लिये श्रम की कितनी मात्रा चाहिये, जिससे उनका मतलब यह है कि मजदूर को जो मुद्रा या जो माल दिये जाते है, उनको पैदा करने के लिये कितने श्रम की आवश्यकता है। यह तो उसी तरह की बात है, जैसे कोई यह कहे कि कपडे का मूल्य उसके उत्पादन मे लगाये गये श्रम की मात्रा से नही, बल्कि जिस चादी के साथ कपडे का विनिमय होता है, उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है।" (*A Critical Dissertation on the Nature &c, of Value* ['मूल्य के स्वरूप आदि के विषय मे एक आलोचनात्मक प्रबंध'], पृ० ५०, ५१।)

माल के रूप में मण्डी में बिकने के वास्ते श्रम के लिये यह हर हालत में जरूरी है कि बिकने के पहले उसका सचमुच अस्तित्व हो। परंतु यदि मजदूर खुद श्रम को एक स्वतंत्र वस्तुगत अस्तित्व दे सकता, तो वह श्रम न बेचकर माल बेचता।[1]

इन असगतियो के अलावा, यदि जीवित श्रम के साथ मुद्रा का—अर्थात भौतिक रूप प्राप्त श्रम का—प्रत्यक्ष विनिमय किया जायेगा, तो यह या तो मूल्य के नियम को नष्ट कर देगा, जिसका पूजीवादी उत्पादन के आधार पर स्वतंत्र विकास आरम्भ ही होता है, और या वह स्वय पूजीवादी उत्पादन को खतम कर देगा, जो कि प्रत्यक्ष रूप में मजदूरी लेकर किये जाने वाले श्रम पर टिका हुआ है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि १२ घण्टे का काम का दिन ६ शिलिंग के मुद्रा-मूल्य में निहित हुआ है। अब या तो सम-मूल्यो का विनिमय होता है, और उस दशा में मजदूर को १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग मिल जाते है। इस स्थिति में उसके श्रम का दाम उसकी पैदावार के दाम के बराबर होगा। और इस सूरत में वह अपने श्रम के खरीदार के वास्ते जरा भी अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा कर पायेगा और ६ शिलिंग की वह रकम पूजी में रूपान्तरित नहीं होगी। यानी पूजीवादी उत्पादन का आधार ही गायब हो जायेगा। परतु मजदूर तो इसी आधार पर अपना श्रम बेचता है, और इसी आधार पर उसका श्रम मजदूरी का श्रम है। और या उसे १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग से कम, अर्थात १२ घण्टे के श्रम से कम मिलता है। यानी बारह घण्टे के श्रम का १० घण्टे के श्रम के साथ, ६ घण्टे के श्रम के साथ या उससे भी कम श्रम के साथ विनिमय किया जाता है। असमान मात्राओ का यह समानीकरण केवल मूल्य के निर्धारण का ही अत नहीं कर देता। ऐसी आत्मविनाशी असगति का तो किसी नियम के रूप में प्रतिपादन या स्थापना भी नहीं की जा सकती।[2]

यह कहने से कोई लाभ न होगा कि अधिक श्रम का कम श्रम के साथ इसलिये विनिमय होता है कि दोनो के रूप में अतर है और उनमें से एक मूर्त रूप प्राप्त और दूसरा जीवित श्रम है।[3]

---

[1] "यदि आप श्रम को माल मानते है, तो उसमे माल की तरह यह बात नही होती कि विनिमय करने के पहले उसको पैदा करना जरूरी हो और फिर उसे मण्डी मे लाया जाये, जहा उसका अन्य मालो के साथ, उस समय वे माल जिस जिस मात्रा मे मण्डी में मौजूद हा, उसके अनुपात मे उसका विनिमय किया जाये। श्रम ता उसी क्षण पैदा होता है, जिस क्षण वह मण्डी मे लाया जाता है, नही, बल्कि श्रम को तो पैदा करने के पहले ही मण्डी मे ले आते हैं।" (*Observations on Certain Verbal Disputes etc*' ['कुछ शाब्दिक विवादा पर टिप्पणिया, आदि'], पृ० ७५, ७६।)

[2] "श्रम को एक प्रकार का माल और श्रम की उपज पूजी को एक अन्य प्रकार का माल मानते हुए यदि इन दोनो माला के मूल्यो का श्रम की समान मात्राओ के द्वारा नियमन होता हो, तो श्रम की एक निश्चित मात्रा का पूजी की उस मात्रा के साथ विनिमय हागा जिसके उत्पादन मे भी श्रम की यही मात्रा लगी है। जो श्रम पहले हो चुका है, उसका समान मात्रा के वतमान श्रम से विनिमय होगा। लेकिन अन्य मालो के सम्बध में श्रम का मूल्य श्रम की समान मात्राओ के द्वारा निर्धारित नही होता।" (ई० जी० वेकफील्ड, ऐडम स्मिथ के *Wealth of Nations* ['राष्ट्रो का धन'] के अपने सस्करण मे, खण्ड १, London 1836 प० २३१, नाट।)

[3] Il a fallu convenir que toutes les fois qu il echangerait du travail fait contre du travail a faire le dernier (le capitaliste) aurait une valeur superieure

यह बात इसलिए और भी बेतुकी है कि किसी भी माल का मूल्य उस श्रम की मात्रा से नहीं निर्धारित होता, जिसने सचमुच उसमें मूत रूप धारण किया है, बल्कि वह उस जीवन्त श्रम की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता है, जो इस माल के उत्पादन के लिये आवश्यक होता है। मान लीजिये कि कोई माल काम के ६ घण्टो का प्रतिनिधित्व करता है। यदि कोई ऐसा आविष्कार हो जाये, जिससे वह ३ घण्टे में तैयार होने लगे, तो जो माल पहले तैयार हो चुका है, उसका मूल्य भी पहले का आधा रह जायेगा। यह माल पहले ६ घण्टे के आवश्यक माने जाने वाले सामाजिक श्रम की जगह अब ३ घण्टे का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी माल के मूल्य की मात्रा उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा से, न कि उस श्रम के मूत रूप से निर्धारित होती है।

मण्डी में मुद्रा के मालिक का जिससे सीधे तौर पर सामना होता है, वह असल में श्रम नहीं, बल्कि मजदूर होता है। मजदूर जो चीज बेचता है, वह उसकी श्रम-शक्ति होती है। जैसे ही उसका श्रम सचमुच आरम्भ होता है, वसे ही वह मजदूर की सम्पत्ति नहीं रह जाता और इसलिये तब मजदूर उसे नहीं बेच सकता। श्रम मूल्य का सार और उसकी अन्तर्भूत माप होता है, पर खुद उसका कोई मूल्य नहीं होता।[1]

जब हम "श्रम का मूल्य" शब्दो का प्रयोग करते हैं, तब मूल्य का भाव न केवल पूरी तरह खतम हो जाता है, बल्कि वास्तव में उलट दिया जाता है। ये शब्द पृथ्वी के मूल्य की चर्चा करने के समान काल्पनिक ह। किन्तु इस प्रकार की काल्पनिक अभिव्यजनाए स्वय उत्पादन के सम्बधो से उत्पन्न होती ह। ये परिकल्पनाए मौलिक सम्बधो के इन्द्रियगम्य रूपो के लिये हैं। अथशास्त्र के सिवा प्रत्येक विज्ञान में यह बात काफी सुविदित है कि अपने दिखावटी रूप में चीजें अक्सर उल्टी नजर आती ह।[2]

---

au premier (le travailleur) ["सत्र को यह मानना पडा है" (यह एक नये ढग का contrat social ["सामाजिक करार"] है!) "कि जहा कही कार्यान्वित श्रम का ऐसे श्रम के साथ विनिमय किया जाता है, जो भविष्य मे किया जाने वाला है, वहा पहला (पूजीपति) दूसरे (मजदूर) से अधिक मूल्य प्राप्त करेगा"]। (Simonde de Sismondi, *De la Richesse Commerciale* Geneve 1803 ग्रथ १, पृ० ३७।)

[1] "मूल्य का एकमात्र मापदण्ड – श्रम हर प्रकार के धन का जनक होता है, वह माल नही होता।" (Th Hodgskin, '*Popul Polit Econ* [टामस होजस्किन, 'सरल अथशास्त्र'], पृ० १८६।)

[2] दूसरी ओर, इस प्रकार के शब्दा को केवल कवियोचित अनियमितता बताना महज अपने विश्लेषण के निकम्मेपन को साबित करना है। इसीलिये जब प्रूधो ने यह लिखा कि, Le travail est dit valoir non pas en tant que marchandise lui meme, mais en vue des valeurs qu on suppose renfermees puissanciellement en lui La valeur du travail est une expression figuree ("हम जो यह कहते हैं कि श्रम का मूल्य होता है, वह इसलिये नही कि श्रम खुद बिक्री की चीज होता है, बल्कि हम यह उन मूल्यो का खयाल करके कहते हैं, जो सम्भावित रूप मे श्रम मे निहित समझे जाते हैं। श्रम का मूल्य एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति है"), इत्यादि, – तो मैंने जवाब मे यह कहा था कि, Dans le travail marchandise qui est d une realite effrayante *il (Proudhon) ne voit qu une ellipse grammati*

प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने "श्रम का दाम" नामक परिकल्पना रोजमर्रा के जीवन से, बिना इसकी आगे छान-बीन किये, आखें बन्द करके उधार ले ली और फिर बस यह प्रश्न कर डाला कि यह दाम किस तरह निर्धारित होता है। शीघ्र ही उसने यह स्वीकार कर लिया कि माग और पूर्ति के सम्बधो में जो परिवर्तन आते रहते है, उनसे अन्य तमाम मालो की तरह श्रम के दाम के विषय में भी उसकी तबदीलियो—यानी एक निश्चित मध्यमान के ऊपर-नीचे बाजार भाव के उतार चढावो—के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता। यदि माग और पूर्ति का सतुलन हो जाता है और अन्य बातें सब ज्यो की त्यो रहती है, तो दामो का उतार-चढ़ाव बन्द हो जाता है। परन्तु तब माग और पूर्ति से भी कोई चीज समझ में नहीं आती। जब माग और पूर्ति सतुलन की अवस्था में होती है, उस समय निर्धारित होने वाला दाम श्रम का स्वाभाविक दाम होता है, जो माग और पूर्ति के सम्बध से स्वतत्र रूप में निर्धारित होता है। और यह दाम किस तरह निर्धारित होता है—यही तो सवाल है। या जब एक अधिक लम्बे काल के—जसे एक वर्ष के—

---

cale Donc, toute la societe actuelle fondee sur le travail marchandise, est de sormais fondee sur une license poetique sur une expression figuree La societe veut elle eliminer tous les inconvenients, qui la travaillent, eh bien! qu elle elimine les termes malsonnant qu elle change de langage, et pour cela elle n a qu a s'adresser a l Academie pour lui demander une nouvelle edition de son dictionnaire ["बिक्री की चीज के रूप मे श्रम एक भयानक वास्तविकता है, परन्तु उन्हें (प्रूधो को) उसमे कहने के एक सक्षिप्त ढग के सिवा और कुछ दिखाई नही देता। इसलिये उनके अनुसार हमे यह मानकर चलना पडेगा कि आजकल के इस पूरे समाज को, जो बिक्री की चीज के रूप मे श्रम पर आधारित है, आगे से कवियोचित अनियमितता पर, एक अलकारिक शब्दावली पर आधारित समझना चाहिये। समाज जितनी असुविधाओ से पीडित है, यदि वह उन सब से छुटकारा पाना चाहता है, तो, ठीक है, उसे तमाम कर्कश शब्दो से छुटकारा पा लेना चाहिये और कहने के ढग को बदल देना चाहिये। इस सबके लिये उसे सिर्फ इतना ही करना है कि अकादमी को एक आवेदन-पत्र भेजकर उससे अपने शब्दकोष का एक नया सस्करण प्रकाशित करने का अनुरोध करे"] (Karl Marx, *Misere de la Philosophie* [कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की दरिद्रता'], पृ० ३४, ३५)। जाहिर है, यदि यह मानकर चला जाये कि मूल्य का अर्थ कुछ नही होता, तो और भी सुविधा हो जायेगी। तब हम बिना किसी कठिनाई के प्रत्येक वस्तु को इस परिकल्पना मे सम्मिलित कर सकेंगे। उदाहरण के लिये, जे० बी० से ठीक यही करते है। Valeur ("मूल्य") क्या होता है? उत्तर C est ce qu une chose vaut' ("किसी चीज की कीमत उसका मूल्य होती है')। और prix' ("दाम") क्या होता है? उत्तर La valeur d une chose exprimee en monnaie (किसी चीज का मूल्य जब मुद्रा में अभिव्यक्त होता है, तब वह उसका दाम होता है")। और le travail de la terre ("भूमि की जुताई-बुवाई") करने के लिये une valeur ('मूल्य") क्यो देना होता है? "Parce qu on y met un prix ("क्योकि हम उसके दाम लगा देते है")। इसलिये, मूल्य किसी चीज की कीमत को कहते है, और भूमि का "मूल्य इसलिये होता है कि उसका मूल्य "मुद्रा मे अभिव्यक्त किया जाता है"। चीजें जैसी है, वैसी क्या है और किस तरह अस्तित्व मे आयी हैं, इस सब का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का यह निश्चय ही बहुत सहज तरीका है।

बाजार-भावो के उतार-चढ़ावो पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि वे एक दूसरे का असर बराबर कर देते हैं और इस तरह एक मध्यक औसत मात्रा बच रहती है, जो अपेक्षाकृत रूप से एक स्थिर मात्रा होती है। इस मात्रा में एक दूसरे की क्षति-पूर्ति करने वाले जो परिवतन आते रहते ह, स्वभावतया उनके सिवा किसी और तत्व के द्वारा इस मात्रा को निर्धारित करना आवश्यक था। यह दाम, जो श्रम के आकस्मिक बाजार-भावो पर अत में हमेशा हावी हो जाता है और जिसे फिजिओक्रेटो ने श्रम का "आवश्यक दाम" कहा था और ऐडम स्मिथ ने "स्वाभाविक दाम" का नाम दिया था, वह अन्य तमाम मालो के दामो की तरह मुद्रा के रूप में श्रम के मूल्य की अभिव्यजना के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र ने इस तरह श्रम के आकस्मिक दामो की तह में पैठकर श्रम के मूल्य तक पहुच पाने की आशा की। अन्य मालो की तरह श्रम का यह मूल्य उत्पादन की लागत से निर्धारित होता था। परन्तु मजदूर के उत्पादन की – अर्थात खुद मजदूर का उत्पादन अथवा पुनरुत्पादन करने की – लागत क्या होती है? अचेतन ढग से इस प्रश्न ने अर्थशास्त्र में मौलिक प्रश्न का स्थान ले लिया, क्योंकि खुद श्रम के उत्पादन के खर्चे की तलाश सदा एक अध-कूप में चक्कर लगाती रही और उससे बाहर वह कभी न निकल सकी। इसलिये, अर्थशास्त्री जिसे श्रम का मूल्य कहते ह, वह असल में श्रम-शक्ति का मूल्य होता है, जिसका अस्तित्व मजदूर के व्यक्तित्व में होता है। यह श्रम शक्ति अपने कार्य से, अर्थात श्रम से, उतनी ही भिन्न होती है, जितनी मशीन, वह जो काम करती है, उससे भिन्न होती है। अर्थशास्त्रियो का ध्यान चूकि इस प्रकार के प्रश्नो पर केन्द्रित था, जसे यह कि श्रम के बाजार-भाव और उसके तथाकथित मूल्य में क्या अन्तर होता है, इस मूल्य का मुनाफे की दर से और श्रम के साधनो द्वारा उत्पादित मालो के मूल्य से क्या सम्बध होता है, इत्यादि, इत्यादि, – इसलिये उनको यह कभी पता न चला कि अपने विश्लेषण के दौरान में वे न सिफ श्रम के बाजार-भाव से उसके तथाकथित मूल्य पर पहुच गये हैं, बल्कि श्रम का यह मूल्य खुद श्रम-शक्ति के मूल्य में परिणत हो गया है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र खुद अपने विश्लेषण के परिणामो के बारे में सजग न हो पाया, "श्रम का मूल्य", "श्रम का स्वाभाविक दाम" आदि परिकल्पनाओ को उसने आखें बद करके विचाराधीन मूल्य-सम्बध की अतिम और पर्याप्त अभिव्यजना के रूप में स्वीकार कर लिया था, और जैसा कि हम बाद को देखेंगे, इसके फलस्वरूप वह एक अजीब उलझावे और असगतियो में फस गया था और साथ ही अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियो को, जो सिद्धात‌त केवल दिखावटी बातो की ही पूजा करते हैं, उसने उनके छिछलेपन के उपयोग के लिये एक मजबूत आधार दे दिया था।

आइये, अब हम यह देखें कि श्रम-शक्ति का मूल्य और दाम इस रूपातरित अवस्था में अपने को मजदूरी के रूप में कसे पेश करते ह।

हम जानते ह कि श्रम शक्ति के दैनिक मूल्य का हिसाब लगाने के लिये हम मजदूर के जीवन की एक खास अवधि मानकर चलते हैं और उसके अनुरूप काम के दिन की भी एक खास लम्बाई मान ली जाती है। मान लीजिये कि प्रचलित श्रम का दिन १२ घण्टे का और श्रम-शक्ति का दनिक मूल्य ३ शिलिग है, जो मुद्रा के रूप में एक ऐसे मूल्य की अभिव्यजना है, जिसमें ६ घण्टे का श्रम निहित है। जब मजदूर को ३ शिलिग मिलते हैं, तो वह १२ घण्टे तक काम करने वाली अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पा जाता है। अब यदि एक दिन की श्रम शक्ति के इस मूल्य को खुद एक दिन के श्रम का मूल्य मान लिया जाये, तो यह सूत्र सामने आता है कि १२ घण्टे के श्रम का मूल्य ३ शिलिग है। इस प्रकार, श्रम-शक्ति का मूल्य श्रम

के मूल्य को, या—यदि उसे मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, तो—उसके आवश्यक दाम को निर्धारित करता है। दूसरी ओर, यदि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से भिन्न है, तो श्रम का दाम भी उसके तथाकथित मूल्य से उसी तरह भिन्न होता है।

श्रम का दाम चूंकि केवल श्रम शक्ति के दाम का ही एक अयुक्तियुक्त रूप होता है, इसलिये जाहिर है कि इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि श्रम का मूल्य उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य से सदा कम होगा, क्योंकि खुद श्रम शक्ति के मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये जितना काम करना आवश्यक होता है, पूजीपति श्रम शक्ति से सदा इससे ज्यादा काम लेता है। ऊपर जो मिसाल दी गयी है, उसमें १२ घण्टे तक काम करने वाली श्रम शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है। इतने मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये ६ घण्टे आवश्यक होते है। पर, दूसरी ओर, श्रम शक्ति जो मूल्य पैदा कर देती है, वह ६ शिलिंग के बराबर होता है, क्योंकि असल में तो वह १२ घण्टे काम करती है और वह कितना मूल्य पैदा करेगी, यह खुद उसके मूल्य पर नहीं, बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी देर तक काम करती रहती है। इस प्रकार हम एक ऐसे नतीजे पर पहुच जाते हैं, जो पहली दृष्टि में बेतुका प्रतीत होता है,—वह यह कि ६ शिलिंग का मूल्य पैदा करने वाले श्रम का मूल्य ३ शिलिंग होता है।[1]

हम आगे यह भी देखते है कि ३ शिलिंग का वह मूल्य, जिसके द्वारा काम के दिन के केवल एक भाग की—अर्थात ६ घण्टे के श्रम की—ही उजरत चुकायी जाती है, १२ घण्टे के पूरे दिन के मूल्य अथवा दाम के रूप में सामने आता है, और इन १२ घण्टो में इस तरह वे ६ घण्टे भी शामिल होते है, जिनमें मजदूर ने बिना उजरत के काम किया है। इस प्रकार, मजदूरी रूप इस बात के प्रत्येक चिह्न को मिटा देता है कि काम के दिन के आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम में, मजदूरी पाने वाले और मजदूरी न पाने वाले श्रम में विभाजन हो जाता है। सारा श्रम मजदूरी पाने वाले श्रम के रूप में सामने आता है। हरी-बेगार की प्रथा में, मजदूर खुद अपने लिये जो श्रम करता है और उसे अपने मालिक के लिये जो बेगार करनी पड़ती है, उन दोनों के बीच स्थान और समय का बहुत ही स्पष्ट अंतर होता है। गुलामी की प्रथा में काम के दिन के जिस हिस्से में गुलाम केवल अपने जीवन निर्वाह के साधनो के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है और इसलिये जिस हिस्से में वह महज अपने लिये काम करता है, उस हिस्से का श्रम भी मालिक के लिये किया गया श्रम ही प्रतीत होता है। गुलाम का सारा श्रम मजदूरी न पाने वाला प्रतीत होता है।[2] इसके विपरीत, मजदूरी-श्रम में अतिरिक्त श्रम, या मजदूरी न पाने

---

[1] देखिये *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० ४०, जहा मैंने यह कहा है कि उस पुस्तक के पूजी से सम्बंध रखने वाले भाग मे इस समस्या को हल किया जायेगा कि "केवल श्रम-काल के द्वारा निर्धारित होने वाले विनिमय मूल्य के आधार पर उत्पादन हमे इस नतीजे पर कैसे पहुचा देता है कि श्रम का विनिमय-मूल्य श्रम की पैदावार के विनिमय मूल्य से कम होता है?'

[2] स्वतंत्र व्यापार के समर्थको के लन्दन के '*Morning Star* नामक पत्र की सरलता मखता की सीमा तक पहुच जाती है। आदमी जितना नैतिक क्रोध बटोर सकता है, वह सारा बटोरकर उसने अमरीकी गृह-युद्ध के दिनो मे बार-बार यह कहा कि Confederate States (दक्षिण राज्यो) मे हब्शियो को एकदम मुफ्त मे काम करना पड़ता है। उसे देखना यह चाहिये था कि अमरीका के इन राज्यो मे एक हब्शी मजदूर पर रोजाना कितना खर्च किया जाता है और उसके मुकाबले मे लन्दन के ईस्ट एण्ड मे रहने वाले एक स्वतंत्र मजदूर का दैनिक खर्चा कितना बैठता है।

वाला श्रम भी मजदूरी पाने वाला लगता है। वहा गुलाम खुद अपने लिये जो श्रम करता है, सम्पत्ति का सम्बध उसपर पर्दा डाल देता है, यहा मुद्रा का सम्बध मजदूरी लेकर श्रम करने वाले मजदूर के मजदूरी न पाने वाले श्रम को आखो से छिपा देता है।

इससे हम यह समझ सकते ह कि श्रम शक्ति के मूल्य तथा दाम के इस रूपान्तरण का, उनके इस तरह मजदूरी का या खुद श्रम के मूल्य तथा दाम का रूप धारण कर लेने का कितना निर्णायक महत्व होता है। यह दृश्य-रूप वास्तविक सम्बध को अदृश्य कर देता है, और सच पूछिये तो वह उस सम्बध को ठीक उल्टा करके हमें दिखाता है। मजदूर और पूजीपति दोनो की तमाम वैधिक धारणाए, उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली से सम्बधित तमाम रहस्यमयी बातें, स्वतत्रता के विषय में उसकी समस्त भ्रातिया और अप्रामाणिक अर्थशास्त्री अपने मत की वकालत करने के लिये जितनी पतरेबाजिया दिखाते ह, वे सब की सब इस दृश्य रूप पर ही आधारित ह।

यदि इतिहास ने मजदूरी के रहस्य की तह तक पहुचने में बहुत समय लगा दिया है, तो, दूसरी ओर, इस दृश्य रूप की आवश्यकता को, उसके raison d'etre (अस्तित्व के कारण) को, समझने से अधिक सहज काम और कोई नहीं है।

पूजी और श्रम के बीच जो विनिमय होता है, वह शुरू में अन्य सब मालो के क्रय विक्रय के समान ही हमारे सामने आता है। खरीदार मुद्रा की एक निश्चित रकम देता है, विक्रेता मुद्रा से भिन्न स्वरूप की कोई वस्तु देता है। क़ानूनदा की चेतना को इसमें अधिक से अधिक एक भौतिक अतर दिखाई देता है, जो उसके कानूनी पर्याय का काम करने वाले इन सूत्रो में व्यक्त होता है कि 'Do ut des, do ut facias, facio ut des, facio ut facias" ("म इसलिये देता हू कि तुम भी दे सको, मै इसलिये देता हू कि तुम बना सको, मै इसलिये बनाता हू कि तुम दे सको, म इसलिये बनाता हू कि तुम भी बना सको")।

और देखिये। विनिमय-मूल्य और उपयोग-मूल्य चूकि अपने में असम्मेय मात्राए होती ह, इसलिये "श्रम का मूल्य" और "श्रम का दाम" की शब्दावली "कपास का मूल्य" और "कपास का दाम" से अधिक अविवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होती। इसके अलावा, मजदूर को अपना श्रम दे देने के बाद उजरत मिलती है। भुगतान के साधन का काम करती हुई, मुद्रा पेशगी दे दी गयी वस्तु के मुल्य अथवा दाम को मूर्त रूप देती है। इस विशिष्ट उदाहरण में वह पेशगी दे दिये गये श्रम के मूल्य अथवा दाम को मूत रूप देती है। अन्तिम बात यह है कि मजदूर पूजीपति को जो उपयोग-मूल्य देता है, वह, वास्तव में, उसकी श्रम शक्ति नहीं, बल्कि श्रम शक्ति का काय होता है। वह किसी खास तरह का—जसे दर्जीगीरी, मोचीगीरी या कताई का—उपयोगी श्रम होता है। यह बात साधारण दिमाग की पहुच के बाहर है कि इसके साथ साथ यही श्रम मूल्य पदा करने वाला सार्वत्रिक तत्व भी होता है और इस तरह उसमें एक ऐसा गुण होता है, जो और किसी माल में नहीं होता।

आइये, हम अपने को जरा उस मजदूर की स्थिति में रखकर विचार करें, जिसको, मान लीजिये, १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ घण्टे के श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य मिलता है। मान लीजिये कि यह मूल्य ३ शिलिग के बराबर है। इस मजदूर के लिये १२ घण्टे का उसका श्रम असल में ३ शिलिग की रकम खरीदने का साधन होता है। वह आम तौर पर जीवन निर्वाह के जिन साधनो का उपयोग करता है, उनके साथ-साथ उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य भी बदल सकता है। यह ३ शिलिग से बढ़कर ४ शिलिग या ३ शिलिग से घटकर २ शिलिग हो सकता है। या अगर उसकी श्रम शक्ति का मल्य स्थिर रहता है, तो माग और पूर्ति के बदलते हुए सम्बधो

के फलस्वरूप उसके दाम में घटा-बढ़ी हो सकती है। यह बढ़कर ४ शिलिंग हो सकता है या घटकर २ शिलिंग हो सकता है। पर मजदूर सदा १२ घण्टे का श्रम ही देता है। इसलिये अपने श्रम का जो सम-मूल्य उसे मिलता है, उसकी मात्रा में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन उसे अनिवार्य रूप से उसके १२ घण्टे के काम के मूल्य अथवा दाम का परिवर्तन प्रतीत होता है। ऐडम स्मिथ को, जो काम के दिन को एक स्थिर मात्रा मानते थे[1], इस बात ने गुमराह कर दिया, और वह कहने लगे कि जीवन निर्वाह के साधनों के मूल्य में हालांकि उतार-चढ़ाव आ सकते हैं और इसलिये काम के एक ही दिन से हालांकि मजदूर को कभी अधिक और कभी कम मुद्रा मिल सकती है, परन्तु फिर भी श्रम का मूल्य स्थिर रहता है।

दूसरी ओर, जरा पूंजीपति की स्थिति पर विचार कीजिये। वह कम से कम मुद्रा देकर ज्यादा से ज्यादा काम लेना चाहता है। इसलिये व्यावहारिक रूप में उसको केवल इस एक बात में दिलचस्पी होती है कि *श्रम शक्ति के दाम में और श्रम-शक्ति का कार्य* जो मूल्य पैदा कर देता है, उसमें कितना अन्तर है। परन्तु उधर वह सभी मालों को सस्ते से सस्ते दामों पर खरीदने की कोशिश करता है और दूसरों की आंखों में धूल झोंककर माल खरीदते समय मूल्य से कम दाम देने और माल बेचते समय मूल्य से अधिक दाम लेने को ही वह अपने मुनाफे का कारण समझता है। इसलिये वह यह कभी नहीं देख पाता कि यदि "श्रम का मूल्य" नाम की कोई वस्तु सचमुच होती और यदि पूंजीपति को सचमुच श्रम का मूल्य देना पड़ता, तो पूंजी का अस्तित्व ही असम्भव हो जाता और उसकी मुद्रा हरगिज पूंजी न बन पाती।

इसके अतिरिक्त, मजदूरी के उतार-चढ़ाव में भी कुछ ऐसी बातें दिखाई देती हैं, जिनसे यह लगता है कि श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति के कार्य का – स्वयं श्रम का – मूल्य अदा किया जा रहा है। इन बातों को दो बड़ी श्रेणियों में बांटा जा सकता है (१) काम के दिन की लम्बाई के बदलने के साथ-साथ मजदूरी का भी बदल जाना। इससे हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि किसी मशीन को दिन भर के लिये किराये पर लेने की अपेक्षा चूंकि सप्ताह भर के लिये किराये पर लेने में ज्यादा खर्च होता है, इसलिये इससे यह साबित होता है कि किराये के रूप में मशीन का मूल्य नहीं, बल्कि मशीन के कार्य का मूल्य दिया जाता है। (२) एक ही तरह का काम करने वाले विभिन्न मजदूरों की मजदूरी में व्यक्तिगत भेद। यह व्यक्तिगत भेद गुलामी की व्यवस्था में भी होता है, पर वहां हम उसकी वजह से किसी धोखे में नहीं पड़ते। वहां तो बिना किसी लाग लपेट के, खुले-आम और साफ तौर पर, खुद श्रम शक्ति की बिक्री होती है। किन्तु गुलामी की व्यवस्था में यदि श्रम शक्ति औसत से ज्यादा अच्छी है, तो उसका लाभ, और यदि वह औसत से कम अच्छी है, तो उसकी हानि गुलाम के मालिक को होती है, जब कि मजदूरी की व्यवस्था में खुद मजदूर को हानि लाभ होता है। इसका कारण यह है कि जहां मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को खुद बेचता है, वहां गुलाम की श्रम शक्ति को कोई तीसरा व्यक्ति बेचता है।

जहां तक बाकी बातों का सम्बंध है, "श्रम का मूल्य तथा दाम", या "मजदूरी" नामक दृश्य रूप में और इस रूप में व्यक्त होने वाले मौलिक सम्बंध – अर्थात श्रम-शक्ति के मूल्य तथा दाम – में वही अन्तर पाया जाता है, जो अन्य तमाम दृश्य घटनाओं और उनके गुप्त सार-तत्व के बीच होता है। दृश्य घटनाएं सीधे तौर पर और स्वयंस्फूर्त ढंग से चिन्तन की प्रचलित प्रणालियों के रूप में प्रकट होती हैं, उनके गुप्त सार-तत्व का विज्ञान के द्वारा पता लगाना पड़ता है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र वस्तुओं के वास्तविक सम्बंध को लगभग छू लेता है, परन्तु वह सचेतन ढंग से उसकी स्थापना नहीं कर पाता। और जब तक वह अपनी पूंजीवादी केंचुल को उतारकर नहीं फेंक देता, वह ऐसा नहीं कर सकता।

---

[1] काम के दिन में जो घटा-बढ़ी हो सकती है, उसका ऐडम स्मिथ ने कार्यानुसार मजदूरी की चर्चा करते हुए केवल संयोगवश कुछ जिक्र कर दिया है।

बीसवा अध्याय

समयानुसार मजदूरी

मजदूरी खुद भी अनेक प्रकार के रूप धारण करती है, हालाकि अर्थशास्त्र की साधारण पुस्तको में इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जाता। इन पुस्तको को प्रश्न के केवल भौतिक रूप में ही दिलचस्पी होती है, और वे रूप मे प्रत्येक भेद को अनदेखा कर देती है। किंतु इन तमाम रूपो का विवेचन तो केवल विशेष रूप से मजदूरी का अध्ययन करने वाले ग्रथो में ही किया जा सकता है। इस पुस्तक में उसका स्थान नहीं है। फिर भी यहा पर मजदूरी के दो मौलिक रूपो का सक्षिप्त वर्णन तो करना ही होगा।

पाठक को याद होगा कि श्रम शक्ति की बिक्री सदा एक निश्चित अवधि के लिये होती है। इसलिये श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य, साप्ताहिक मूल्य आदि जिस परिवर्तित रूप में सामने आते है, यह समयानुसार मजदूरी, अर्थात् दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी आदि का रूप है।

दूसरी बात हमें यह देखनी चाहिये कि १७ वें अध्याय में श्रम शक्ति के दाम और अतिरिक्त मूल्य के सापेक्ष परिमाणो में होने वाले परिवर्तनो से सम्बधित जिन नियमो का जिक्र किया गया है, वे एक साधारण रूपातरण के द्वारा मजदूरी के नियमो में बदल जाते है। इसी प्रकार, श्रम शक्ति का विनिमय-मूल्य और यह मूल्य जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ की जिस राशि में बदल दिया जाता है, इन दोनो के बीच जो अतर होता है, वह अब नाम मात्र की मजदूरी और वास्तविक मजदूरी के अतर के रूप में पुन प्रकट होता है। सारभूत रूप के विषय में हम जिन बातो की पहले ही चर्चा कर आये है, उनको अब दृश्य रूप के विषय में दुहराना निरर्थक है। इसलिये हम यहा पर समयानुसार मजदूरी के कुछ विशेष लक्षणों तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

मजदूर को अपने दैनिक अथवा साप्ताहिक श्रम के एवज में मुद्रा की जो रकम[1] मिलती है, वह उसकी नाम मात्र की मजदूरी, या मूल्य के रूप में अनुमानित मजदूरी, होती है। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि काम के दिन की लम्बाई के अनुसार, अर्थात मजदूर सचमुच जितना श्रम रोजाना देता है, उसके अनुसार, एक ही दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी से श्रम के बहुत अलग-अलग दाम व्यक्त हो सकते है, यानी श्रम की एक ही मात्रा के लिये मुद्रा की बहुत अलग अलग रकमें दी जा सकती है।[2] इसलिये, समयानुसार मजदूरी पर विचार करते हुए हमें एक बार फिर

---

[1] खुद मुद्रा का मूल्य हम यहा पर सदा स्थिर मानकर चल रहे है।

[2] "श्रम का दाम वह रकम होती है, जो श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज मे दी जाती है।" (Sir Edward West *'Price of Corn and Wages of Labour* [सर एडवर्ड वेस्ट, 'अनाज का दाम और श्रम की मजदूरी'], London, 1826 पृ० ६७।) वेस्ट ने ही गुमनाम

यह समझना चाहिये कि दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी आदि की कुल रकम और श्रम के दाम में भेद होता है। तब इस दाम का—अर्थात् श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज में दिये गये मुद्रा-मूल्य का—कैसे पता लगाया जाये? जब श्रम शक्ति के औसत दैनिक मूल्य को काम के दिन के घंटों की औसत संख्या से भाग दिया जाता है, तो हमें श्रम का औसत दाम मालूम हो जाता है। मिसाल के लिये, यदि श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो कि ६ घण्टा के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है, और यदि काम का दिन १२ घण्टों का है, तो १ घण्टे का दाम $\frac{३}{१२}$ शिलिंग या ३ पेंस बैठता है। इस प्रकार, काम के घण्टे का जो दाम हमें मालूम हो जाता है, वह श्रम के दाम को मापने की इकाई का काम करता है।

इसलिये इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम के दाम के बराबर गिरते जाने पर भी यह मुमकिन है कि दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी आदि ज्यों की त्यों बनी रहें। मिसाल के लिये, यदि प्रचलित काम का दिन १० घण्टे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घण्टे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेंस बैठता है। जैसे ही काम का दिन बढ़कर १२ घण्टे का हो जाता है, वैसे ही यह दाम घटकर ३ पेंस, और जैसे ही काम का दिन १५ घण्टे का हो जाता है, वैसे ही काम के एक घण्टे का दाम केवल २$\frac{२}{५}$ पेंस ही रह जाता है। परन्तु इस सब के बावजूद दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसके विपरीत, यह भी मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर रहे या यहां तक कि कम हो जाये, पर दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी बढ़ जायें। मिसाल के लिये, यदि काम का दिन १० घण्टे का है और श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घण्टे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेन्स बैठता है। यदि व्यवसाय में तेजी आने के फलस्वरूप मजदूर १२ घण्टे रोज काम करने लगता है, पर श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहता है, तो उसकी दैनिक मजदूरी बढ़कर ३ शिलिंग ७$\frac{१}{५}$ पेंस हो जायेगी, हालांकि श्रम के दाम में कोई तबदीली नहीं आयेगी। यदि श्रम के विस्तार में वृद्धि होने के बजाय उसकी तीव्रता में वृद्धि हो जाये, तो उसका भी यही नतीजा होगा।[1] इसलिये नाम-मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी में वृद्धि होने के साथ साथ

पुस्तक *Essay on the Application of Capital to Land. By a Fellow of the University College of Oxford* ('भूमि पर पूंजी के उपयोग के विषय में एक निबंध। ग्रोक्सफोर्ड के यूनिवर्सिटी-कालेज के एक फैलो द्वारा') (London, 1815) लिखी है। अर्थशास्त्र के इतिहास में यह एक युगान्तरकारी पुस्तक है।

[1] "श्रम की मजदूरी श्रम के दाम और इस बात पर निर्भर करती है कि कितना श्रम किया गया है... यदि श्रम की मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, तो उसका लाजिमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम का दाम भी बढ़ गया है। श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहते हुए भी यदि मजदूर के समय का अधिक पूर्ण उपयोग किया जाता है और वह पहले से अधिक मेहनत करता है, तो श्रम की मजदूरी में काफी वृद्धि हो सकती है।" (वेस्ट, उप० पु०, पृ० ६७,

यह मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर बना रहे या उसमें गिराव आ जाये। किसी मजदूर-परिवार का मुखिया जो श्रम करता है, जब उसकी मात्रा में परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम के फलस्वरूप वृद्धि हो जाती है, तब परिवार की आय भी इसी तरह बढ़ जाती है, हालांकि श्रम का दाम ज्यों का त्यों रहता है। इसलिये, नाम-मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी को घटाने से अलग भी श्रम के दाम को कम करने के कुछ तरीके हैं।[1]

एक सामान्य नियम के रूप में इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दैनिक श्रम, साप्ताहिक श्रम आदि की मात्रा पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी श्रम के दाम पर निर्भर करती है, जो खुद या तो श्रम शक्ति के मूल्य के साथ घटता-बढ़ता रहता है और या श्रम शक्ति के दाम तथा मूल्य में जो अंतर होता है, उसके साथ बदलता रहता है। दूसरी ओर, यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी दैनिक या साप्ताहिक श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है।

समयानुसार मजदूरी मापने की इकाई, अर्थात काम के एक घण्टे का दाम वह भागफल होता है, जो एक दिन की श्रम शक्ति के मूल्य को काम के औसत दिन के घण्टों की संख्या से भाग देने पर निकलता है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है और श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो ६ घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है। इन परिस्थितियों में, काम के एक घण्टे का दाम होगा ३ पेंस, और एक घण्टे में मूल्य पैदा होगा ६ पेन्स का। अब यदि मजदूर से १२ घण्टे से कम (या सप्ताह में ६ दिन से कम) काम लिया जाता है, – मिसाल के लिये, यदि उससे केवल ६ या ८ घण्टे काम लिया जाता है, तो श्रम के इस दाम के अनुसार उसे केवल २ शिलिंग या १ शिलिंग ६ पेंस रोजाना ही

६८, ११२।) मुख्य प्रश्न यह है कि "श्रम का दाम कैसे निर्धारित होता है।" परन्तु महज कुछ पिटी पिटायी बातों को दुहराकर वेस्ट इस प्रश्न को टाल देते हैं।

[1] अठारहवीं सदी के औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के उस कट्टर प्रतिनिधि ने भी यह बात महसूस की है जिसने *Essay on Trade and Commerce* ('व्यापार और व्यवसाय पर निबंध') लिखा है। इस रचना का हम अक्सर उद्धृत कर चुके हैं। परंतु इस लेखक ने सवाल को कुछ गड़बड़ ढंग से पेश किया है। उसने लिखा है "खाने पीने की वस्तुओं और जीवन के लिये आवश्यक अन्य चीजों के दाम से श्रम का दाम निर्धारित नहीं होता" (दाम से उसका मतलब नाम मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी से है), "बल्कि श्रम की मात्रा निर्धारित होती है। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के दाम को घटाकर बहुत कम कर दो, तो जाहिर है कि श्रम की मात्रा भी उसी अनुपात में कम हो जायेगी। कारखानों के मालिक जानते हैं कि श्रम के दाम की नाम मात्र की राशि में परिवर्तन करने के अलावा भी उसे बढ़ाने और घटाने के अनेक तरीके हैं।" (उप० पु०, पृ० ४८, ६१।) एन० डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी रचना *Three Lectures on the Rate of Wages* ['मजदूरी की दर के विषय में तीन भाषण'] (London 1830) में वेस्ट की रचना का, बिना उनका नाम लिये हुए, उपयोग किया है। उसमें उन्होंने लिखा है "मजदूर की दिलचस्पी मुख्यतया मजदूरी की रकम में होती है" (पृ० १५), – यानी, सीनियर के कथनानुसार, मजदूर की दिलचस्पी मुख्यतया उसमें होती है, जो उसके हाथ में आता है, न कि उसने जो उसे देना पड़ता है, अर्थात् उसकी दिलचस्पी मजदूरी की नाम मात्र की रकम में होती है, न कि श्रम की मात्रा में।

मिलेंगे।[1] चूकि हम जो कुछ मानकर चल रहे ह, उसके अनुसार मजदूर को महज अपनी श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर मजदूरी रोज कमाने के लिये औसतन ६ घण्टे रोजाना काम करना चाहिये और चूकि वह काम के हर घण्टे में केवल आधा घण्टा खुद अपने लिये और आधा घण्टा पूजीपति के लिये काम करता है, इसलिये यह बात साफ है कि यदि उससे १२ घण्टे से कम काम लिया जाये, तो वह अपने लिये ६ घण्टे की पदावार का मूल्य नहीं हासिल कर सकता। इसके पहले के अध्यायो में हम मजदूर से अत्यधिक काम लेने के हानिकारक परिणामो को देख चुके हैं। यहा हम यह देखते ह कि मजदूर से अपर्याप्त समय तक काम लेन के फलस्वरूप उसको क्यो तकलीफ होती है।

यदि घण्टे की मजदूरी इस तरह निश्चित की जाये कि पूजीपति दिन भर की या पूरे सप्ताह की मजदूरी देने का जिम्मा न ले, बल्कि वह जितने घण्टे मजदूर से काम कराये, केवल उतने ही घण्टो की मजदूरी उसे देनी पडे, तो श्रम का दाम मापने की इकाई के रूप में घण्टे की मजदूरी का शुरू-शुरू में जिस आधार पर हिसाब लगाया गया था, पूजीपति उससे कम समय तक मजदूर से काम ले सकता है। यह इकाई चूकि $\frac{\text{श्रम शक्ति का दनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित सख्या के घण्टो का काम का दिन}}$ के अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिये जब काम के दिन में घण्टो की कोई निश्चित सख्या नहीं रहती, तब यह इकाई अर्थहीन हो जाती है। सवेतन और अवेतन श्रम के बीच जो सम्बध होता है, वह नष्ट हो जाता है। अब पूजीपति मजदूर के पास वह श्रम काल भी नहीं छोडता, जो उसके अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक होता है, और फिर भी एक निश्चित मात्रा का अतिरिक्त मूल्य उससे निकाल लेता है। अब पूजीपति काम की सारी नियमितता खतम कर सकता है और अपनी सुविधा, सनक और क्षणिक हित के अनुसार जब चाहे, तब मजदूर से भयानक सीमा तक अत्यधिक काम ले सकता है और जब चाहे, तब सापेक्ष अथवा निरपेक्ष रूप से काम को बद कर सकता है। "श्रम का सामान्य दाम" देने के बहाने अब वह तदनुरूप मुआवजा दिये बिना काम के दिन को असाधारण रूप से लम्बा कर सकता है। यही कारण है कि १८६० में जब लदन के मकान बनाने के धधे से सम्बन्धित मजदूरो पर पूजीपतिया ने इस तरह की घण्टे की मजदूरी लादने की कोशिश की, तो उन्होने उनके खिलाफ सवथा विवेक सगत विद्रोह किया। जब कानून के द्वारा काम का दिन सीमित कर दिया जाता है, तो इस तरह की बुराई का अन्त हो जाता है, हालाकि उसका, जाहिर है, काम की उस कमी पर कोई

[1] मजदूर के काम मे इस तरह की असाधारण कमी का जो प्रभाव होता है, वह कानून के द्वारा अनिवाय रूप से और आम तौर पर काम के दिन में कमी कर देने के प्रभाव से बिलुकुल भिन्न होता है। पहले प्रकार की कमी का काम के दिन की निरपेक्ष लम्बाई से काई सम्बध नही होता। उस प्रकार की कमी जैसे ६ घण्टे के दिन मे हो सकती है, वैसे ही १५ घण्टे के दिन मे भी हो सकती है। पहली सूरत म श्रम के सामान्य दाम का १५ घण्टे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है, दूसरी सूरत मे रोजाना औसतन ६ घण्टे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है। इसलिये यदि एक सूरत में केवल ७$\frac{१}{२}$ घण्टे काम लिया जाय और दूसरी सूरत मे केवल ३ घण्टे, तो नतीजा एक ही होता है।

असर नहीं पडता, जो मशीनो की प्रतियोगिता के कारण, काम पर लगे हुए मजदूरो के स्तर में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप और आशिक अथवा सामान्य सकटो से पदा होती है।

यह मुमकिन है कि दनिक या साप्ताहिक मजदूरी के बढते जाने पर भी श्रम का दाम नाम मात्र के लिये स्थिर बना रहे और फिर भी अपने सामान्य स्तर के नीचे गिर जाये। जब कभी श्रम का (फी घण्टे के हिसाब से) दाम स्थिर रहते हुए काम का दिन प्रचलित सीमा से अधिक लम्बा कर दिया जाता है, तब हर बार यही चीज होती है। यदि $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{काम का दिन}}$ — इस भिन्न में हर बढता है, तो अश और भी तेजी से बढता है। श्रम-शक्ति का मूल्य चूकि उसकी घिसाई पर निभर करता है, इसलिये जब श्रम-शक्ति से काम लेने की अवधि बढती है, तो यह मूल्य भी बढ जाता है, और वह उस अवधि की तुलना में अधिक द्रुत अनुपात के साथ बढता है। इसलिये उद्योग की बहुत सी ऐसी शाखाओ में, जिनमें आम तौर पर समयानुसार मजदूरी का नियम है, पर काम के समय की कोई कानूनी सीमा नहीं है, स्वयस्फूत ढग से यह प्रथा प्रचलित हो गयी है कि काम के दिन को एक खास बिदु तक, मिसाल के लिये, दसवें घण्टे के पूरे होने तक ही सामान्य दिन समझा जाता है (उसके लिये "normal working-day' ["काम का सामान्य दिन"], 'the day's work" ["दिन भर का काम"] या the regular hours of work ["काम के नियमित घण्टे"] नामो का प्रयोग किया जाता है)। इस बिदु के आगे का समय ओवरटाइम माना जाता है, और माप की इकाई के रूप में घण्टे का प्रयोग करते हुए इस समय के लिये कुछ बेहतर मजदूरी (extra pay) दी जाती है, हालाकि अक्सर वह सामान्य मजदूरी से बहुत थोडी ही अधिक होती है।[1] यहा काम का सामान्य दिन काम के वास्तविक दिन के एक भाग के रूप में होता है। और अक्सर पूरे साल यही हालत रहती है कि वास्तविक दिन सामान्य दिन से लम्बा होता है। काम के

[1] "(लैस बनाने के उद्योग मे) ओवरटाइम काम की उजरत की दर $\frac{१}{२}$ पेनी और $\frac{३}{४}$ पनी से लेकर २ पेस प्रति घण्टा तक होती है। इस तरह के काम से मजदूरा के स्वास्थ्य तथा काय शक्ति को जो हानि पहुचती है, उसकी तुलना मे यह दर बहुत ही कम होती है इस प्रकार जो थोडी सी रकम मिलती है, वह अक्सर अतिरिक्त भोजन पर खच कर देनी पडती है।" (*Child Empl Com II Rep* ['बाल सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोट'], पृ० XVI [सोलह], नोट ११७।)

मिसाल के लिये, कागज की रगीन छपाई के धधे मे उसपर फैक्टरी-कानून के लागू हाने के पहले यही स्थिति थी। उसपर अभी हाल मे ही फैक्टरी कानून लागू हुआ है। Children s Employment Commission (बाल सेवायोजन आयोग) के सामने बयान देते हुए मि० स्मिथ ने कहा था "हम खाने के लिये नही रुकते और बराबर काम करते चले जाते है, जिससे १०$\frac{१}{२}$ घण्टे का दिन भर का काम तीसरे पहर के साढे चार बजे तक पूरा हा जाता है, और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम का काम होता है। और ऐसा बहुत कम होता है, जब ६ बजने के पहले हमने काम बद कर दिया हो। इस तरह, असल मे हम पूरे साल ओवरटाइम काम करते रहते हैं।" (*Child Emp Com I Rep* ' ['बाल-सेवायाजन आयोग की पहली रिपाट'], पृ० १२५।)

दिन को एक सामान्य सीमा के आगे खींचने से श्रम के दाम में होने वाली वृद्धि अनेक ब्रिटिश उद्योगों में ऐसा रूप धारण कर लेती है कि तथाकथित सामान्य समय में श्रम का दाम बहुत कम होने के कारण मजदूर को, यदि वह पर्याप्त मजदूरी कमाना चाहता है, मजबूर होकर बेहतर मजदूरी का ओवरटाइम काम करना पड़ता है।[1] जब काम के दिन पर क़ानून के द्वारा सीमा लगा दी जाती है, तो इन सुविधाओं का अन्त हो जाता है।[2]

---

[1] मिसाल के लिये, स्कोटलैण्ड के कपड़ा सफेद करने के कारखाना मे यह बात पायी जाता है। 'स्कोटलैण्ड के कुछ भागा मे यह धधा" (१८६२ में फैक्टरी कानून लागू होने के पहले) "ओवरटाइम की प्रणाली के अनुसार चलाया जाता था, अर्थात् काम का नियमित समय १० घण्टे प्रति दिन था, जिसके लिये १ शिलिंग २ पेंस प्रति दिन की नाम-मात्र की मजदूरी दी जाती थी, और तीन या चार घण्टे का रोजाना ओवरटाइम होता था, जिसके लिये ३ पेन्स प्रति घण्टा की दर पर मजदूरी दी जाती थी। इस प्रणाली का नतीजा यह हुआ था कि कोई आदमी साधारण समय तक काम करके ८ शिलिंग प्रति सप्ताह से अधिक नही कमा सकता था बिना ओवरटाइम के इन लोगो के लिये उचित मजदूरी कमाना असम्भव था।" (*'Rept of Insp of Factories* April 30th 1863 ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० १०।) "वयस्क पुरुषा का अधिक समय तक काम करने के एवज मे अपेक्षाकृत ऊची दर पर जो मजदूरी मिलती है, उसका मोह इतना प्रबल होता है कि मजदूर उसका सवरण नही कर सकते।" (*Rept of Insp of Fact* April 30th 1848 ['फैक्टरी के इस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८४८'], पृ० ५।) लदन शहर के जिल्दसाजी के व्यवसाय में १४ से १५ वर्ष तक की बहुत सी कम उम्र लडकिया से काम लिया जाता है, और वह भी ऐसे शर्तनामा के मातहत, जिनमे श्रम के कुछ खास घण्टे निश्चित कर दिये जाते हैं। फिर भी ये लडकिया हर महीने के अन्तिम दिनो मे रात क १०, ११, १२ या १ बजे तक अपने से अधिक उम्र की मजदूरिनो और पुरुषो के साथ मिल जुलकर काम करती रहती है। मालिक उनको अतिरिक्त वेतन और रात के भोजन का लालच देकर इसके लिये तैयार कर लेते है।" यह रात का भोजन लडकिया पास के शराबखानो म खाती है। इस तरह जो भयानक दुराचार फैलता है, उसका इन 'young immortals ('अल्पवयस्क अमर आत्माओ") पर (देखिये *Children s Employment Comm V Rept* [बाल सेवायोजन आयोग की ५ वी रिपोर्ट'], पृ० ४४, अक १९१) जो घातक प्रभाव पडता है, उसकी कुछ हद तक इस बात से क्षतिपूर्ति हो जाती है कि अन्य पुस्तका के साथ साथ इन लडकिया को बहुत सी बाइबिला और अन्य धार्मिक पुस्तका की भी जिल्द बाधनी पडती है।

[2] देखिये *Reports of Insp of Fact 30th April 1863* ('फैक्टरी इस्पेक्टरा का रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'), पृ० १०। लदन के मकान आदि बनाने का धधा करने वाले मजदूरा ने परिस्थिति के अत्यन्त यथार्थ ज्ञान का परिचय देते हुए १८६० की बडी हडताल और तालाबन्दी के दौरान मे यह ऐलान कर दिया था कि वे घण्टा के हिसाब से केवल दो शर्तों पर मजदूरी स्वीकार करेगे (१) यह कि एक घण्टे के काम के दाम के साथ साथ यह भी तै हो जाना चाहिये कि काम का सामान्य दिन ९ और १० घण्टे का रहेगा और नौ घण्टे के दिन म एक घण्टे के लिये जो मजदूरी दी जायेगी, दस घण्टे के दिन के एक घण्टे के

यह बात आम तौर पर सभी लोग जानते है कि उद्योग की किसी शाखा में काम का दिन जितना लम्बा होता है, उसमें मजदूरी की दर उतनी ही नीची होती है।[1] फक्टरी इस्पेक्टर ए० रेडग्रेव ने इसके उदाहरण के रूप में १८३९ से १८५९ तक २० वर्षों का तुलनात्मक सिहावलोकन किया है। उससे पता चलता है कि इन बीस वर्षों में जिन फक्टरियो पर १० घण्टे का कानून लागू हो गया था, उनमें मजदूरी की दर बढ गयी थी, और जिन फक्टरियो में रोज चौदह-चौदह, पद्रह पद्रह घण्टे काम चलता रहता था, उनमें मजदूरी गिर गयी थी।[2]

हम ऊपर इस नियम का जिक्र कर चुके है कि "यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दनिक या साप्ताहिक मजदूरी इस बात पर निभर करती है कि कितना श्रम खच किया गया है।" इससे पहला निष्कष यह निकलता है कि श्रम का दाम जितना कम होगा, श्रम की मात्रा उतनी ही अधिक होगी या काम के दिन को उतना ही अधिक लम्बा होना पडेगा, अयथा मजदूर को जरा सी औसत मजदूरी भी नहीं मिल पायेगी। श्रम के दाम का बहुत कम होना यहा श्रम काल को बढाने की प्रेरणा का काम करता है।[3]

दूसरी ओर, काम का समय बढा दिये जाने से श्रम के दाम में गिराव आ जाता है, और उसके साथ-साथ दनिक या साप्ताहिक मजदूरी भी कम हो जाती है।

श्रम के दाम के $\frac{\text{श्रम शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित सख्या के घण्टो का दिन}}$ से निर्धारित होने से पता चलता है कि यदि काम के दिन को महज लम्बा कर दिया जाता है और किसी तरह उसकी क्षति पूर्ति

लिये उससे अधिक ऊची दर की मजदूरी देनी होगी, और (२) यह कि काम के दिन की सामाय सीमा के आगे का प्रत्येक घण्टा ओवरटाइम का घण्टा माना जायेगा और उसके एवज मे अपेक्षाकृत ऊची उजरत देनी होगी।

[1] "यह एक बहुत उल्लेखनीय बात है कि जहा लम्बे घण्टा का कायदा है, वहा कम मजदूरी देन का भी कायदा होता है" (*Reports of Insp of Fact* 31st Oct 1863 ['फक्टरी-इस्पेक्टरो की रिपार्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'], प० ९)। "जिस काम के एवज मे महज जरा सा भोजन मिल जाता है, वह काम प्राय बहुत ज्यादा देर तक चलता है" (*Public Health Sixth Report 1864* ['सावजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोट, १८६४'], प० १५)।

[2] *Reports of Inspectors of Fact* 30th April 1860 ('फैक्टरी इस्पक्टरा की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६०'), प० ३१, ३२।

[3] मिसाल के लिये, इगलैण्ड मे हाथ से कीले बनाने वालो को श्रम का दाम कम हान के कारण अपनी अत्यल्प साप्ताहिक मजदूरी कमाने के लिये रोजाना पद्रह घण्टे काम करना पडता है। 'वे दिन के बहुत से घण्टो (सुबह के ६ बजे से रात के ८ बजे) तक काम करते है। और ११ पेस से लेकर १ शिलिग तक कमान के लिये मजदूर को पूरे समय सख्त मेहनत करनी पडती है। औजारा की घिसाई, ईधन का खच और जो लोहा जाया हो जाता है, कुछ रकम उसके एवज मे इस मजदूरी मे से काट ली जाती है। इस सब म कुल मिलाकर $2\frac{1}{2}$ पस या ३ पेस चले जाते है।" ('*Children s Employment Com III Report*' ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोट'], प० १३६, अक ६७१।) इतनी ही देर तक काम करके औरते सप्ताह मे केवल ५ शिलिग कमाती है। (उप० पु०, पृ० १३७, अक ६७४।)

नहीं होती, तो उसके फलस्वरूप श्रम का दाम कम हो जायेगा। लेकिन जिन बातों के कारण पूंजीपति काम के दिन को लम्बा करने में सफल होता है, वे ही बातें पहले उसे इस बात की इजाजत देती ह और अंत में फिर उसको इसके लिये विवश कर देती ह कि वह श्रम के दाम को नाम मात्र के लिये उस समय तक कम करता चला जाये, जब तक कि घण्टों की पहले से बढ़ी हुई संख्या का कुल दाम और इसलिये दैनिक अथवा साप्ताहिक मजदूरी भी कम न हो जाये। यहा दो बातो का हवाला देना काफी होगा। यदि एक आदमी $१\frac{१}{२}$ या २ आदमियों का काम करने लगता है, तो श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है, हालांकि मण्डी में श्रम शक्ति की पूर्ति ज्यो की त्यो बनी रहती है। इस प्रकार मजदूरो के बीच जो प्रतियोगिता आरम्भ हो जाती है, उससे पूंजीपति को श्रम के दाम को जबर्दस्ती नीचे गिराने और, दूसरी ओर, श्रम के दाम के गिर जाने से काम के समय को और भी बढ़ाने का अवसर मिल जाता है।[1] किंतु शीघ्र ही असामान्य मात्राओ में, अर्थात औसत सामाजिक मात्रा से अधिक मात्राओं में, अवेतन श्रम से काम लेने के इस अधिकार का यह फल होता है कि खुद पूंजीपतियों के बीच भी प्रतियोगिता छिड जाती है। माल के दाम का एक भाग श्रम के दाम का होता है। श्रम के दाम के अवेतन हिस्से को माल के दाम में गिनने की जरूरत नहीं होती। वह खरीदार को मुफ्त भेंट किया जा सकता है। यह पहला कदम है, जो प्रतियोगिता के कारण उठाया जाता है। प्रतियोगिता के अनिवार्य फल के रूप में दूसरा क़दम यह उठाया जाता है कि काम के दिन का विस्तार करने से जो असामान्य अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, उसका भी कम से कम एक हिस्सा माल की बिक्री के दाम से अलग कर दिया जाता है। इस तरह माल असामान्य रूप से कम दाम पर बिकने लगता है। शुरू में इक्के दुक्के यह बात होती है, फिर यह एक स्थायी चीज बन जाती है। माल की बिक्री का यह गिरा हुआ दाम भविष्य के लिये बहुत ही कम मजदूरी देकर अत्यधिक समय तक काम लेने का एक स्थायी आधार बन जाता है, हालांकि शुरू में वह ठीक इन्हीं बातो से पैदा हुआ था। इस पूरी क्रिया की ओर यहा पर हमने संकेत भर किया है, क्योंकि प्रतियोगिता का विश्लेषण हमारे विषय के वर्तमान भाग का अंश नहीं है। फिर भी एक क्षण के लिये हम पूंजीपति को खुद अपनी बात कहने का अवसर देंगे। "बर्मिंघम में मालिको के बीच ऐसी भयानक प्रतियोगिता चल रही है कि उनमें से बहुतो को मालिकों के रूप में ऐसी ऐसी हरकतें करनी पडती ह, जिनको किसी दूसरी स्थिति में करते हुए उनको शर्म आती। और फिर भी वे कुछ ज्यादा पैसा नहीं कमा पाते (and yet no more money

---

[1] मिसाल के लिये, यदि कोई मजदूर प्रचलित लम्बे घण्टो तक काम करने से इनकार कर दे, तो "शीघ्र ही उसके स्थान पर ऐसा आदमी नौकर रख लिया जायेगा, जो कितनी भी देर तक काम करने को तैयार होगा, और इस तरह पहले आदमी को नौकरी से जवाब मिल जायेगा।" (*Reports of Inspectors of Fact* 30th April 1848 ['फैक्टरी इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट ३० अप्रैल, १८४८], गवाहियां पृ० ३६, अंक ५८।) "यदि एक आदमी दो आदमियों का काम करने लगता है, तो श्रम की अतिरिक्त पूर्ति के कारण श्रम का दाम घट जाने के फलस्वरूप मुनाफे की दर सामान्यतया ऊंची हो जायेगी।" (Senior, उप० पु०, पृ० १५।)

is made)। बस केवल जनता को लाभ होता है।"[1] पाठक को लन्दन के उन दो तरह के रोटी वालो की याद होगी, जिनमें से एक तरह के रोटी वाले अपनी रोटी पूरे दाम पर बेचते थे (इस [तरह के रोटीवाले the "fullpriced" bakers ["पूरे दाम वाले नानबाई"] कहलाते थे) और दूसरी तरह के रोटी वाले सामान्य दाम से कम लेते थे (इस तरह के रोटी वाले "the underpriced' ["कम दाम वाले"] या 'the undersellers" ["कम दाम पर बेचने वाले"] कहलाते थे)। 'Fullpriced" ("पूरे दाम वालो") ने ससदीय जाच समिति के सामने प्रतिद्वद्वियो की भर्त्सना करते हुए कहा था कि "अब ये लोग केवल इसी तरह जीवित ह कि पहले जनता को धोखा देते ह और फिर १२ घण्टे की मजदूरी देकर अपने मजदूरो से १८ घण्टे का काम कराते ह यह प्रतियोगिता मजदूरो के अवेतन श्रम (the unpaid labour) के सहारे चलायी जा रही थी और आज भी वह उसी के सहारे चलायी जा रही है रोटी वालो में आपस में जो प्रतियोगिता चल रही है, उसके कारण रात का काम बन्द करने में कठिनाई हा रही है। आटे के भाव के अनुसार रोटी की जो लागत बैठती है, जो नानबाई (underseller) उससे भी कम दाम पर अपनी रोटी बेचता है, उसे यह कमी मजदूरो से ज्यादा काम लेकर पूरी करनी पडती है यदि म अपने मजदूरो से केवल १२ घण्टे काम लेता हू और मेरा पडोसी १८ से २० घण्टे तक काम लेता है, तो रोटी के भाव के मामले में वह लाजिमी तौर पर मुझसे बाजी मार जायेगा। यदि मजदूर ओवरटाइम की उजरत माग सकते, तो यह स्थिति सुधर जाती Undersellers (कम दामो पर रोटी बेचने वालो) ने जिन लोगो को नौकर रख रक्खा है, उनमें एक बडी सख्या विदेशियो और लडके लडकियो की है। उनको जो भी मजदूरी मिल जाती है, वे मजबूरन उसी को स्वीकार कर लेते ह।"[2]

यह विलाप इसलिये भी दिलचस्प है कि उससे यह जाहिर हो जाता है कि पूजीपति के मस्तिष्क में उत्पादन के सम्बधो का केवल दिखावटी रूप ही प्रतिबिम्बित होता है। पूजीपति यह नहीं जानता कि श्रम के सामान्य दाम में भी अवेतन श्रम की एक निश्चित मात्रा शामिल होती है और सामान्यतया यह अवेतन श्रम ही उसके लाभ का स्रोत होता है। अतिरिक्त श्रम-काल नामक परिकल्पना का उसके लिये कोई अस्तित्व ही नहीं है, क्योकि वह काम के सामान्य दिन में शामिल होता है, जिसके बारे में पूजीपति का ख़याल है कि मजदूर को मजदूरी देकर उसने उसकी पूरी कीमत चुका दी है। लेकिन पूजीपति के लिये ओवरटाइम का—काम के दिन

---

[1] *Children s Employment Com III Rep*" ('बाल सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोट'), गवाहिया, पृ० ६६, अक २२।

[2] *Report &c Relative to the Grievances Complained of by the Journeymen Bakers* ('रोटी बनाने वाले मजदूरा की शिकायता से ताल्लुक रखने वाली रिपोट, इत्यादि'), London 1862, पृ० LII (बावन), और इसी पुस्तिका के गवाहिया वाले अश मे अक ४७६, ३५६, २७। बहरहाल जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है और जैसा कि खुद उनके प्रवक्ता बेनेट ने भी स्वीकार किया है, fullpriced (पूरे दाम लेने वाले नानबाई) भी अपने मजदूरो से "आम तौर पर रात को ११ बजे काम शुरू करवाते हैं अगले दिन सुबह के ८ बजे तक उनसे काम लेते रहते हैं फिर वे सारे दिन काम में लगे रहते हैं उनका काम रात के ७ बजे खतम हाता है"(उप० पु०, पृ० २२)।

को श्रम के साधारण दाम के अनुरूप सीमाओं से आगे खींचकर ले जाने का—ज़रूर अहसास है। जब उसका अपने कम दाम पर बेचने वाले प्रतिद्वन्द्वी से मुक़ाबला होता है, तो वह इस बात पर भी ज़ोर देने लगता है कि इस ओवरटाइम काम के लिये अतिरिक्त मज़दूरी (extra pay) दी जानी चाहिये। मगर यहां भी उसको यह मालूम नहीं होता कि जिस तरह श्रम के साधारण घण्टे के दाम में कुछ अवेतन श्रम शामिल होता है, उसी तरह इस अतिरिक्त मज़दूरी में भी कुछ ऐसा श्रम शामिल होता है, जिसके लिये उजरत नहीं दी जाती। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन के एक घण्टे का दाम ३ पेंस होता है, जो आध घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है, जब कि ओवरटाइम काम के एक घण्टे का दाम ४ पेंस होता है, जो $\frac{2}{3}$ घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है। पहली सूरत में पूंजीपति काम के घण्टे के आधे भाग को मुफ्त में हस्तगत कर लेता है, दूसरी सूरत में वह एक तिहाई भाग पर मुफ्त में अधिकार कर लेता है।

इक्कीसवां अध्याय

कार्यानुसार मजदूरी

जिस तरह समयानुसार मजदूरी श्रम शक्ति के मूल्य अथवा दाम के एक परिवर्तित रूप के सिवा और कुछ नहीं होती, उसी तरह कार्यानुसार मजदूरी समयानुसार मजदूरी के परिवर्तित रूप के सिवा और कुछ नहीं होती।

कार्यानुसार मजदूरी में पहली दृष्टि में ऐसा मालूम होता है, मानो मजदूर से जो उपयोग मूल्य खरीदा गया है, वह उसकी श्रम शक्ति का कार्य – अर्थात् उसका जीवित श्रम – नहीं है, बल्कि पैदावार में पहले से निहित श्रम है, और जैसे कि इस श्रम का दाम समयानुसार मजदूरी की प्रणाली के समान नीचे लिखे भिन्न $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घण्टों का काम का दिन}}$ के अनुसार नहीं, बल्कि उत्पादक की काम करने की क्षमता से निर्धारित होता है।[1]

इस दिखावटी रूप में जिन लोगों को विश्वास है, उनको पहला धक्का इस बात से लगना चाहिये कि उद्योग की समान शाखाओं में दोनों तरह की मजदूरी साथ-साथ पायी जाती है। मिसाल के लिये, "लन्दन के कम्पोजिटर आम तौर पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली

---

[1] "कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली श्रमजीवी मनुष्य के इतिहास के एक विशेष युग का द्योतक है। उसकी स्थिति पूंजीपति की इच्छा पर निर्भर रहने वाले और महज रोजनदारी पर काम करने वाले मजदूर और उस सहकारी कारीगर के बीच, जिसके अनतिदूर भविष्य में कारीगर और पूंजीपति दोनों को अपने रूप में मिलाकर एक कर देने की सम्भावना है। कार्यानुसार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर मालिक की पूंजी पर काम करते हुए भी वास्तव में खुद अपने मालिक होते हैं।" (John Watts *Trade Societies and Strikes Machinery and Co operative Societies* [जान वाट्स, 'व्यापार-समितियां और हड़तालें, मशीन और सहकारी समितियां'], Manchester 1865 पृ० ५२, ५३।) इस नन्ही सी पुस्तिका को मैंने इसलिये उद्धृत किया है कि पूंजीवादी व्यवस्था की वकालत में दी जाने वाली जितनी अति-साधारण दलीलें बरसों पहले सड़ गयी हैं, यह पुस्तिका उन सब का माना कहना कच्चा है। यही मि० वाट्स इसके पहले ओवेनवाद की तिजारत किया करते थे और १८४२ में उन्होंने "*Facts and Fictions of Political Economists* ('अर्थशास्त्रियों के तथ्य एवं कपोल-कल्पनाएं') शीर्षक से एक और पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने अन्य बातें कहने के अलावा यह घोषणा भी की थी कि "सम्पत्ति डाकाज़नी है" (property is robbery")। पर यह बहुत पुरानी बात है।

के मुताबिक़ काम करते ह और समयानुसार मजदूरी अपवाद-स्वरूप होती है, जब कि देहात के कम्पोजिटरो को दिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है और वहा कार्यानुसार मजदूरी अपवाद होती है। लन्दन के बन्दरगाह के जहाज बनाने वाले ठेके पर या कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के मुताबिक काम करते ह, जब कि बाकी सभी स्थानो मे जहाज बनाने वालो को दिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है।[1]

लन्दन की जीनसाजी की दूकानो में अक्सर एक से काम के लिये फ्रासीसी मजदूरा को कार्यानुसार और अंग्रेज मजदूरो को समयानुसार मजदूरी दी जाती है। नियमित रूप से काम करने वाली जिन फक्टरियो में शुरू से आखिर तक कार्यानुसार मजदूरी का दौर-दौरा है, उनमें भी कुछ खास ढग के काम इस प्रकार की मजदूरी के लिये अनुपयुक्त होते ह और इसलिय उनकी उजरत समय के अनुसार दी जाती है।[2] लेकिन इसके अलावा यह बात भी स्वत स्पष्ट है कि मजदूरी देने के रूप में जो भेद होता है, उससे मजदूरी के भौतिक स्वरूप में कोई फक नहीं पडता, हालाकि उसका एक रूप दूसरे रूप की अपेक्षा पूजीवादी उत्पादन के विकास के लिये अधिक सुविधाजनक होता है।

मान लीजिये कि काम के साधारण दिन में १२ घण्टे होते ह, जिनमें से मजदूर को ६ घण्टो की उजरत मिलती है और ६ घण्टो की नहीं। मान लीजिये कि इस तरह के एक दिन में ६ शिलिग का मूल्य पैदा होता है और इसलिये एक घण्टे के श्रम से ६ पेन्स का मूल्य तयार होता हे। फज कीजिये कि अनुभव के द्वारा हम यह जानते ह कि जो मजदूर औसत मात्रा की

---

[1] T J Dunning *Trades Unions and Strikes*' (टी० जे० डन्निग, 'ट्रेड-यूनियनें और हडताले'), London, 1860 पृ० २२।

[2] मजदूरी के इन दोना रूपो का एक ही समय में और साथ साथ योग करन से मालिको का धोखा देने का कितना बडा मौका मिलता है, इसका एक उदाहरण देखिये। "एक फक्टरा में ४०० व्यक्ति नौकर हैं। उनमें से आधे कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली पर काम करते ह, और उनको प्रत्यक्षत ज्यादा देर तक काम करने मे दिलचस्पी होती है। बाकी २०० का दिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है, पर वे भी दूसरे २०० मजदूरो के समान ही देर तक काम करते हैं और ओवरटाइम काम के लिये उनको कोई अतिरिक्त मजदूरी नही मिलती इन २०० व्यक्तिया का आधे घण्टे राज का काम एक व्यक्ति के ५० घण्टे के काम के बराबर, या एक व्यक्ति के सप्ताह भर के श्रम के $\frac{५}{६}$ के बराबर होता है, जिससे मालिक सरासर फायद में रहता है।' (*Reports of Insp of Fact 31st Oct 1860* ['फैक्टरी इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६०'], पृ० ९।) 'अत्यधिक काम लेने का आजकल भा बहुत काफी चलन है, और *अधिकतर स्थाना मे खुद कानून ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है* कि अपराधी के लिये पकडे जाने और सजा पा जाने का कोई खतरा नही रहता। मैं पुरानी बहुत सी रिपोर्टो मे यह दिखा चुका हू कि इससे उन मजदूरा को क्या हानि पहुचती ह, जिनको कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के मुताबिक नौकर नही रखा गया है और जिनका साप्ताहिक मजदूरी मिलती है।" (लेओनार्ड हार्नर की रिपोर्ट, *Reports of Insp of Fact* 30th April 1859 ['फैक्टरी इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८५९'], पृ० ८, ९।)

तीव्रता और निपुणता के साथ काम करता है और जो इसलिये किसी वस्तु के उत्पादन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम लगाता है, वह १२ घण्टे में २४ अदद तैयार करता है, जो या तो अलग-अलग वस्तुए होते ह और या किसी एक सतत इकाई के मापे जाने लायक अश होते ह। इन २४ अदद का मूल्य उनमें निहित स्थिर पूजी के अश को घटा देने के बाद ६ शिलिंग होता है और एक अदद का मूल्य ३ पेंस बठता है। मजदूर को हर अदद के लिये $१\frac{१}{२}$ पेंस मिलते ह, और इस तरह वह १२ घण्टे में ३ शिलिंग कमा लेता है। जिस तरह समयानुसार मजदूरी में हम चाहे यह मान लें कि मजदूर ६ घण्टे अपने लिये काम करता है और ६ घण्टे पूजीपति के लिये, और चाहे यह मान लें कि वह हर घण्टे में आधा घण्टा अपने लिये और आधा घण्टा पूजीपति के लिये काम करता है, उससे कोई फर्क नहीं पडता, उसी तरह कार्यानुसार मजदूरी में चाहे हम यह कहे कि हर अदद की आधी उजरत मजदूर को दे दी गयी है और आधी नहीं दी गयी, और चाहे यह कहे कि श्रम-शक्ति का मूल्य केवल १२ अदद के दाम में निहित है और बाकी १२ अदद में अतिरिक्त मूल्य निहित है, बात एक ही रहती है।

कार्यानुसार मजदूरी का रूप समयानुसार मजदूरी के रूप के समान ही अयुक्तिसगत है। हमारे उदाहरण में दो अदद माल की कीमत उनके उत्पादन में खच कर दिये गये उत्पादन के साधनो का मूल्य घटा देने के बाद ६ पेंस होती है, क्योकि वे एक घण्टे की पदावार होते ह। परन्तु मजदूर को उनके एवज में केवल ३ पेन्स ही मिलते ह। कार्यानुसार मजदूरी वास्तव में मूल्य के किसी सम्बध को स्पष्टतापूवक अभिव्यक्त नहीं करती। इसलिये, यहा माल के किसी अदद का मूल्य उसमें निहित श्रम काल के द्वारा नहीं नापा जाता, बल्कि, इसके विपरीत, मजदूर ने जो श्रम-काल खच किया है, वह इस बात से नापा जाता है कि उसने कितने अदद माल तैयार किया है। समयानुसार मजदूरी में श्रम को उसकी तात्कालिक अवधि के द्वारा मापा जाता है, कार्यानुसार मजदूरी में उसे उन उत्पादित वस्तुओ की मात्रा से मापा जाता है, जिनमें वह श्रम एक निश्चित समय के भीतर समाविष्ट हो गया है।[1] खुद श्रम-काल का दाम अन्त में इस समीकरण के द्वारा निर्धारित होता है एक दिन के श्रम का मूल्य=श्रम शक्ति का दनिक मूल्य। इसलिये, कार्यानुसार मजदूरी केवल समयानुसार मजदूरी का ही एक परिवर्तित रूप होती है।

आइये, अब कार्यानुसार मजदूरी की चरित्रगत विशेषताओ पर थोडा निकट से विचार करें।

यहा श्रम के गुणगत स्तर पर काम खुद नियत्रण रखता है, क्योकि कार्यानुसार पूरा दाम उसी वक्त मिलेगा, जब काम औसत निपुणता का होगा। इस दृष्टि से कार्यानुसार मजदूरी वेतन में कटौती करने और पूजीवादी धोखेबाजी में बहुत मददगार साबित होती है।

कार्यानुसार मजदूरी के रूप में पूजीपति को श्रम की तीव्रता की एक अचूक माप मिल जाती है। केवल वही श्रम-काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल माना जाता है और

---

[1] 'Le salaire peut se mesurer de deux manieres ou sur la duree du travail, ou sur son produit' ("मजदूरी को दो तरह से मापा जा सकता है या तो श्रम की अवधि के द्वारा और या श्रम की पैदावार के द्वारा") (*"Abrege elementaire des principes de l Economie Politique*, Paris 1796 पृ० ३२)। इस गुमनाम रचना के लेखक है जी० गानियर।

उसी रूप में उसकी उजरत दी जाती है, जो मालों की एक खास प्रमात्रा में निहित होता है। यह खास प्रमात्रा अनुभव के द्वारा पहले ही से तै हो जाती है। इसलिये, लन्दन के दर्जियों की अपेक्षाकृत बड़ी वर्कशापों में कोई खास काम—उदाहरण के लिये, एक वासकट—एक घण्टा या आधा घण्टा कहलाता है, और एक घण्टे की मजदूरी ६ पेंस होती है। अभ्यास से यह मालूम हो जाता है कि एक घण्टे की औसत पैदावार कितनी होती है। नये फैशन का या मरम्मत आदि का काम होता है, तो मालिक और मजदूर के बीच में इस प्रश्न को लेकर झगड़ा शुरू हो जाता है कि अमुक विशिष्ट काम एक घण्टे के बराबर है या नहीं, और जब तक यह प्रश्न भी अनुभव के आधार पर तै नहीं हो जाता, तब तक यह झगड़ा चलता ही रहता है। लन्दन की फर्नीचर बनाने वाली वर्कशापों आदि में भी यही चीज होती है। यदि मजदूर में औसत दर्जे की योग्यता नहीं होती और यदि इसके फलस्वरूप वह प्रति दिन एक निश्चित अल्पतम मात्रा में काम नहीं कर पाता, तो उसे काम से बर्खास्त कर दिया जाता है।[1]

यहां काम के स्तर पर और उसकी तीव्रता पर चूंकि खुद मजदूरी के रूप का नियंत्रण लगा रहता है, इसलिये श्रम पर निगाह रखने के काम का अधिकांश अनावश्यक हो जाता है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी उस आधुनिक "घरेलू श्रम" की नींव डाल देती है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, और साथ ही एक पद-सोपान के अनुसार संगठित शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था कायम कर देती है। इस व्यवस्था के दो बुनियादी रूप होते हैं। कार्यानुसार मजदूरी से एक तरफ तो पूंजीपति और मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के बीच कुछ परजीवियों को डाल देने और "श्रम के शिक्मी" बना देने (sub letting of labour) में सहायता मिलती है। पूंजीपति श्रम का जो दाम देता है और इस दाम का जो हिस्सा सचमुच मजदूर तक पहुंचने दिया जाता है, उनके बीच के अन्तर से ही इन शिकमियों का पूरा मुनाफा निकलता है।[2] इंगलैण्ड में यह व्यवस्था Sweating system" ("प्रस्वेदन प्रणाली") कहलाती है, जो बड़ा अर्थपूर्ण नाम है। दूसरी तरफ, कार्यानुसार मजदूरी से पूंजीपति को मजदूरों के मेट के साथ फी अदद के हिसाब से मजदूरी का करार करने का मौका मिल जाता है। हस्तनिर्माण में यह मेट मजदूरों के किसी दल का मुखिया होता है, कोयला खानों में वह कोयला खोदने वाला होता है और फैक्टरी में यह करार खुद मशीन पर काम करने वाले मजदूर के साथ हो

---

[1] "उसको (कताई करने वाले को) कपास की निश्चित मात्रा सौंप दी जाती है, और उसे एक निश्चित समय के भीतर उसके एवज में एक निश्चित वजन और एक निश्चित दर्जे की बारीकी का सूत या लच्छी तैयार करके देनी पड़ती है। उसके बदले में उसे फी पौण्ड के हिसाब से कुछ रकम मिल जाती है। यदि उसके काम में कोई दोष नजर आता है, तो उसका खमियाजा मजदूर को भुगतना पड़ता है। यदि पैदावार मात्रा में एक निश्चित समय के लिये निर्धारित अल्पतम मात्रा से कम होती है, तो कताई करने वाले को बर्खास्त कर दिया जाता है और कोई अधिक योग्य मजदूर रख लिया जाता है।" (Ure उप० पु०, पृ० ३१७।)

[2] "जब काम कई हाथों से गुजरता है, जिनमें से हर हाथ मुनाफे में हिस्सा बटाता है, मगर काम केवल आखिरी हाथ करता है, तब मजदूरिन के पास जो मजदूरी पहुंचती है, वह अनुपात में बहुत ही कम रह जाती है।" ("Child Emp Com II Report" ['बाल नियोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट'], पृ० LXX [सत्तर], अंक ४२४।)

जाता है। क़रार में जो दाम त होता है, उसके एवज़ में मेट ख़ुद मजदूरो को नौकर रखता है और उनको मजदूरी देता है। यहा पूजी द्वारा श्रम का शोषण मजदूर द्वारा मजदूर के शोषण से सम्पन्न होता है।[1]

कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में स्वभावतया यह बात ख़ुद मजदूर के व्यक्तिगत हित में होती है कि वह अपनी श्रम शक्ति से ज्यादा से ज्यादा जोर लगाकर काम ले। इससे पूजीपति को श्रम की सामान्य तीव्रता को बहुत आसानी से बढाने में मदद मिलती है।[2] इसके अलावा, काम के दिन की लम्बाई को बढ़ाना भी मजदूर के व्यक्तिगत हित में होता है, क्योंकि उसके साथ-साथ उसकी दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी बढती जाती है।[3] इसकी धीरे-धीरे इसी प्रकार

---

[1] वतमान व्यवस्था के वकील वाटस तक ने यह लिखा है "कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली मे बडा सुधार हो जाये, यदि एक काम मे लगे हुए सभी मजदूरा मे से प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार करार में साझीदार बना दिया जाये और मौजूदा तरीका खतम हो जाये, जिसमे एक आदमी अपने निजी लाभ के वास्ते अपने सहयोगिया से कमर-तोड काम लेता है।" (उप० पु०, पृ० ५३।) इस प्रणाली की ज़िल्लत के बारे मे देखिये '*Child Emp Com Rep III*' ('बाल सेवायोजन आयाग की तीसरी रिपोट'), पृ० ६६, अक २२, पृ० ११, अक १२४, प० *XI* (ग्यारह), अक १३, ५३, ५६, इत्यादि।

[2] यह बात स्वयस्फूत ढग से तो होती ही है, उसको बनावटी ढग से भी बढावा दिया जाता है। मिसाल के लिये, लन्दन के इजीनियरिग के व्यवसाय मे बहुधा यह तरकीब काम मे लायी जाती है कि "औरा से ज्यादा शारीरिक बल तथा फुर्ती वाले एक आदमी को कई मजदूरा के मुखिया के रूप मे छाट लिया जाता है और सामान्य मजदूरी के अलावा उसे हर तीन महीन या किसी दूसरी अवधि के बाद अतिरिक्त मजदूरी देकर इसके लिये राजी कर लिया जाता है कि वह ज्यादा से ज्यादा सख्त मेहनत करेगा, ताकि साधारण मजदूरी पाने वाले बाकी मजदूर भी उसके बराबर काम करने की कोशिश करे हम इसपर काई टीका टिप्पणी नही करते। पर इससे यह बात काफी साफ हो जानी चाहिये कि मालिक ट्रेड यूनियनो के खिलाफ अक्सर इस तरह की जो शिकायते किया करते ह कि वे मजदूरा का लगन के साथ काम नही करने देते और अपनी पूरी निपुणता और कायक्षमता का प्रयोग नही करने देत (stinting the action superior skill and working power) उनके पीछे असल म क्या चीज होती है।" (Dunning उप० पु०, प० २२, २३।) इसका लेखक चूकि खुद एक मजदूर और एक ट्रेड-यूनियन का सेक्रेटरी है, इसलिय समझा जा सकता है कि उसकी बात मे कुछ अतिशयोक्ति होगी। परन्तु पाठक इसकी जे० सी० मौटन की highly respectable ('अत्यन्त प्रतिष्ठित') रचना 'खेती का विश्वकोष' के *Labourer* ('मजदूर') शीषक लेख से तुलना करके देख सकते हैं, जहा किसाना को इस प्रणाली का जाची परखी प्रणाली के रूप मे उपयाग करने की सलाह दी गयी है।

[3] "जिनको कार्यानुसार मजदूरी मिलती है, उन सब का काम की कानूनी सीमाम्रा का अतिक्रमण करने मे फायदा रहता है। जिन औरता से बुनकरा और अटेरन वानो का काम लिया जाता है व खास तौर पर ओवरटाइम काम करने के लिये तैयार रहती है। (*Rept of Insp of Fact 30th April 1858* [फैक्टरी इस्पेक्टरा की रिपाट, ३० अप्रैल १८५८'], पृ० ९।) 'इस प्रणाली से (कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली से) मालिक को

की प्रतिक्रिया होती है, जिस प्रकार की प्रतिक्रिया का हम समयानुसार मजदूरी के सम्बंध में वर्णन कर चुके हैं। यदि कार्यानुसार मजदूरी स्थिर रहती है तब भी काम के दिन के और लम्बा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम के दाम में अनिवार्य रूप से जो गिराव आ जाता है, वह इस सब से अलग रहता है।

समयानुसार मजदूरी की प्रणाली में कुछ अपवादों को छोड़कर कुछ तरह के काम के लिये सदा एक सी मजदूरी दी जाती है, पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में हालांकि श्रम काल का दाम पैदावार की एक निश्चित मात्रा के द्वारा मापा जाता है, फिर भी दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी मजदूरों के व्यक्तिगत भेदों के साथ-साथ घटती-बढ़ती जायेगी, एक मजदूर एक निश्चित समय में केवल अल्पतम मात्रा में पैदावार तैयार करेगा, दूसरा औसत मात्रा पैदा कर देगा और तीसरा औसत से ज्यादा पैदा कर देगा। इसलिये, जहां तक मजदूरों की वास्तविक आय का सम्बंध है, वह अलग अलग मजदूरों की अलग अलग निपुणता, शक्ति, क्रियाशीलता, काम में जुटने की क्षमता आदि के अनुसार कम या ज्यादा अनेक प्रकार की हो सकती है।[1] जाहिर है, इससे पूंजी और मजदूरी के बीच पाये जाने वाले सामान्य सम्बंधों में कोई परिवर्तन नहीं होता। एक तो पूरी वर्कशाप में अलग अलग व्यक्तिगत भेद एक दूसरे का पलड़ा बराबर कर देते हैं और इस तरह एक निश्चित समय में वर्कशाप औसत पैदावार तैयार कर देती है, और सब मजदूरों को मिलाकर जो मजदूरी दी जाती है, वह उद्योग की उस खास शाखा की औसत मजदूरी होती है। दूसरे, मजदूरी और अतिरिक्त मूल्य के बीच का अनुपात ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि हर अलग-अलग मजदूर अतिरिक्त श्रम की जो मात्रा देता है, वह उसको मिलने वाली मजदूरी के अनुरूप होती है। परन्तु कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में व्यक्तित्व के विकास की अधिक सम्भावना रहती है, और उससे एक ओर तो उस व्यक्तित्व का और उसके साथ-साथ मजदूरों की स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा आत्म नियंत्रण की भावना का विकास होता है और दूसरी ओर उनके बीच प्रतियोगिता बढ़ जाती है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में जहां एक तरफ अलग-अलग व्यक्तियों की मजदूरी को औसत मजदूरी के ऊपर उठाने की प्रवृत्ति होती है, वहां उसमें इस औसत को नीचे गिराने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। परन्तु जहां कहीं बहुत दिनों से कार्यानुसार मजदूरी की एक खास दर परम्परा से निश्चित हो गयी है और इसलिये उसे नीचे गिराना विशेष रूप से कठिन प्रतीत

बड़ा लाभ होता है ... नौजवान बर्तन बनाने वालों को चार या पांच बरस तक कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के अनुसार नौकर रखा जाता है, पर मजदूरी की दर बहुत नीची होती है। इस प्रणाली से प्रत्यक्ष रूप में ऐसे मजदूरों को इन पूरे चार पांच वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है ... बर्तन बनाने वालों के बुरे स्वास्थ्य का यह भी एक बड़ा कारण है।" (*Child Empl Com I Rept'* ['बाल सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट'], पृ० *XIII* [तेरह]।)

[1] "जब किसी धंधे में मजदूरी कार्यानुसार दी जाती है, तो ... मजदूरी की मात्रा में बहुत काफी फर्क हो सकता है ... लेकिन जहां दिन के हिसाब से काम लिया जाता है, वहां आम तौर पर एक सी दर होती है ... जिसे मालिक और नौकर दोनों उस धंधे में काम करने वाले साधारण मजदूरों की मजदूरी का मानदण्ड मानते हैं।" (Dunning उप० पु०, पृ० १७।)

होता है, ऐसी असाधारण परिस्थितियों में मालिक लोग कभी कभी इस तरकीब का सहारा लेते ह कि वे कार्यानुसार मजदूरी को जबर्दस्ती समयानुसार मजदूरी में बदल देते ह। मिसाल के लिये, १८६० में कोवेण्टरी के फीते बुनने वाले मजदूरो ने इसी कारण एक बडी हडताल की थी।[1] अन्तिम बात यह है कि पिछले अध्याय में हमने जिस घण्टेवार प्रणाली का वणन किया था, कार्यानुसार मजदूरी उसका एक मुख्य आधार-स्तम्भ है।[2]

---

[1] "Le travail des Compagnons artisans sera reglé a la journee ou a la piece Ces maitres artisans savent a peu pres combien d ouvrage un compagnon artisan peut faire par jour dans chaque metier, et les payent souvent a proportion de l'ouvrage qu ils font ainsi cet compagnons travaillent autant qu ils peuvent pour leur propre interêt, sans autre inspection" ('मजदूर कारीगरो को दिन के हिसाब से या काय के हिसाब से काम करना होगा मालिको को मालूम होता है कि प्रत्येक धधे मे एक मजदूर कारीगर रोजाना कितना काम कर सकता है, और इसलिये उसकी तनख्वाह अक्सर वह जितना काम करता है, उसके अनुसार तै होती है, इसलिये मजदूर कारीगर खुद अपना हित साधन करने के उद्देश्य से भरसक मेहनत करते हैं और उनपर निगाह रखने की कोई जरूरत नही होती")। (Cantillon, '*Essai sur la Nature du Commerce en general*, Amsterdam का सस्करण, 1756 पृ० १८५ और २०२। इस पुस्तक का पहला सस्करण १७५५ मे प्रकाशित हुआ था।) कैंतिलो न, जिनसे क्वेजने, सर जेम्स स्टीवट और ऐडम स्मिथ ने बहुत-कुछ उधार लिया है, इसी पुस्तक में कार्यानुसार मजदूरी का केवल समयानुसार मजदूरी के एक परिवर्तित रूप की तरह पश किया था। कैंतिलो की रचना के फ्रासीसी सस्करण के मुखपष्ठ मे कहा गया है कि वह अंग्रेजी सस्करण का अनुवाद है, लेकिन अंग्रेजी सस्करण *The Analysis of Trade, Commerce etc, by Philip Cantillon late of the city of London Merchant*' ('व्यापार, व्यवसाय आदि का विश्लेषण। – लन्दन नगरी के सौदागर फिलिप कैंतिलो द्वारा लिखित') पर न सिर्फ बाद की तारीख (१७५९) पडी हुई है, बल्कि उसकी अन्तवस्तु से भी यह प्रमाणित होता है कि यह इस पुस्तक का बाद का और सशोधित सस्करण है। उदाहरण के लिये, फ्रासीसी सस्करण मे ह्यूम का अभी तक कोई जिक्र नही है, जब कि, दूसरी ओर, अंग्रेजी सस्करण मे पेटी की लगभग सारी चर्चा काट दी गयी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से अंग्रेजी सस्करण कम महत्वपूर्ण है, लेकिन उसमे इगलैण्ड के वाणिज्य, सोना चादी के व्यवसाय आदि के बारे मे ऐसी बहुत सी ब्यौरे की बात मिलती हैं, जो फ्रासीसी पाठ मे नही हैं। इसलिये अंग्रेजी सस्करण के मुख पष्ठ पर जो यह लिखा है कि यह रचना "taken chiefly from the manuscript of a very ingenious gentleman deceased and adapted etc' ("मुख्यतया एक बहुत ही चतुर, मृत व्यक्ति की हस्तलिपि मे सशोधन करके तैयार की गयी है, इत्यादि"), वह विशुद्ध कल्पना की उपज प्रतीत होता है। उस ज़माने में इस तरह का बहुत चलन था।

[2] Combien de fois n avons nous pas vu dans certains ateliers embaucher beaucoup plus d ouvriers que ne le demandait le travail a mettre en main? Souvent dans la prevision d'un travail aleatoire quelquefois meme imaginaire on admet des ouvriers comme on les paie aux pieces on se dit qu on ne court aucun risque parce que toutes les partes de temps seront a la charge

अभी तक जो कुछ बताया जा चुका है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्यानुसार मजदूरी ही मजदूरी का वह रूप है, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से सबसे अधिक मेल खाता है। यद्यपि यह रूप कदापि नया नहीं है, – फ्रांस और इंगलैण्ड के मजदूर सम्बंधी क़ानूनों में १४ वीं शताब्दी में ही समयानुसार मजदूरी के साथ कार्यानुसार मजदूरी का भी सरकारी तौर पर जिक्र हो चुका है, – तथापि यह अपने लिये अपेक्षाकृत बड़ा कार्य-क्षेत्र केवल उसी काल में जीत पाता है, जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है। आधुनिक युग के तूफ़ानी यौवन-काल में, विशेषकर १७९७ से १८१५ तक, कार्यानुसार मज़दूरी ने काम के दिन की लम्बाई को बढ़ाने और समयानुसार मजदूरी को नीचे गिराने के लीवर का काम लिया। इस काल में मजदूरी में जो उतार-चढ़ाव आते रहे, उनके बारे में बहुत महत्वपूर्ण सामग्री इन सरकारी प्रकाशनों में मिलती है *"Report and Evidence from the Select Committee on Petitions respecting the Corn Laws"* ('अनाज के क़ानूनों के विषय में आयी हुई दरख़ास्तों पर विचार करने के लिये नियुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट, गवाहियों सहित') (१८१३ १४ का संसदीय अधिवेशन) और *"Report from the Lords' Committee, on the State of the Growth, Commerce, and Consumption of Grain, and all Laws relating thereto"* ('अनाज की उपज, वाणिज्य और उपभोग सम्बंधी स्थिति तथा अनाज सम्बंधी तमाम कानूनों की स्थिति पर विचार करने के लिये नियुक्त की गयी लार्ड्स-समिति की रिपोर्ट') (१८१४ १५ का अधिवेशन)। इन रिपोर्टों में इसका लिखित प्रमाण मिल जाता है कि जकोबिन विरोधी युद्ध के आरम्भ से ही श्रम का दाम लगातार गिरता जा रहा था। उदाहरण के लिये, बुनाई के उद्योग में कार्यानुसार मजदूरी इतनी ज्यादा गिर गयी थी कि हालांकि काम का दिन पहले से बहुत ज्यादा लम्बा कर दिया गया था, फिर भी दैनिक मज़दूरी पहले से कम ही बैठती थी। "सूती कपड़े की बुनाई करने वाले मजदूर की असली कमाई अब पहले से बहुत कम होती है, पहले साधारण मजदूर की तुलना में उसका दर्जा बहुत ऊंचा था, अब उसकी श्रेष्ठता लगभग पूरी तरह समाप्त हो गयी है। सच तो यह है कि निपुण और साधारण मजदूर की मजदूरी के बीच आजकल जितना कम अंतर रह गया है, उतना पहले कभी नहीं था।"[1] कार्यानुसार मजदूरी के द्वारा श्रम की तीव्रता और विस्तार में जो वृद्धि हुई थी, उससे खेतिहर सर्वहारा को कितना कम लाभ हुआ, इसका एक उदाहरण ज़मींदारों तथा काश्तकारों की हिमायत करने वाली एक पुस्तक से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है "खेती की क्रियाओं में से अधिकतर

---

des inoccupes ("यह अक्सर देखने में आता है कि कुछ खास वर्कशापों में, मालिकों के हाथ में जो काम होता है, उसके लिये जितने मज़दूरों की आवश्यकता होती है, वे उससे ज्यादा मजदूरों को नौकर रख लेते हैं। बहुधा संभावित कार्य की आशा में (जो सर्वथा काल्पनिक आशा भी सिद्ध हो सकती है) अधिक मजदूरों को नौकर रख लिया जाता है। इन मजदूरों को चूंकि कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है, इसलिये मालिक को किसी तरह का नुकसान नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी समय जाया होगा उसका पूरा खमियाज़ा बेकार बैठे मजदूरों को भुगतना पड़ेगा)। (H Gregoir *Les Typographes devant le Tribunal correctionnel de Bruxelles* Bruxelles 1865 पृ० ९।)

[1] *Remarks on the Commercial Policy of Great Britain* ('ब्रिटेन की वाणिज्य-नीति पर कुछ टिप्पणियां'), London 1815 पृ० ४८।

क्रियाएं बहुधा उन लोगो के द्वारा सम्पन्न होती ह, जिनको दिन भर के लिये या कार्यानुसार मजदूरी पर नौकर रखा जाता है। इन लोगो की साप्ताहिक मजदूरी १२ शिलिंग के लगभग होती है, और हालांकि यह माना जा सकता है कि कार्यानुसार मजदूरी पर काम करने वाले आदमी को चूंकि अधिक श्रम करने की प्रेरणा मिलती रहती है, इसलिये वह साप्ताहिक मजदूरी पर काम करने वाले आदमी की अपेक्षा १ शिलिंग या २ शिलिंग ज्यादा कमा लेता होगा, परन्तु उसकी कुल आमदनी का हिसाब लगाने पर पता चलता है कि साल भर में उसे जितने दिन बेकार रहना पडता है, उन दिनो का नुकसान इस लाभ से कहीं ज्यादा होता है इसके अलावा, आम तौर पर हम यह भी पायेंगे कि इन लोगो की मजदूरी का जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो के दाम के साथ एक विशेष अनुपात होता है, जिसके फलस्वरूप दो बच्चो वाला मजदूर बिना चच की ओर से सार्वजनिक सहायता लिये अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है।"[1] ससद ने जो तथ्य प्रकाशित किये थे, उनका हवाला देते हुए माल्थूस ने उस समय कहा था "म यह स्वीकार करता हू कि कार्यानुसार मजदूरी की प्रथा का चलन जितना बढ गया है, उसे देखकर मुझे भय होता है। दिन में १२ या १४ घण्टे, या उससे भी ज्यादा देर तक सचमुच कडी मेहनत करते जाना किसी भी मनुष्य के लिये हानिकारक सिद्ध होगा।"[2]

जिन कारखानो पर फैक्टरी-कानून लागू ह, उनमें कार्यानुसार मजदूरी एक सामान्य नियम बन जाती है, क्योकि वहा पूजी केवल श्रम की तीव्रता को बढाकर ही काम के दिन को अधिक लाभदायक बना सकती है।[3]

जब श्रम की उत्पादकता बदल जाती है, तो पदावार की वही प्रमात्रा पहले से भिन्न श्रम काल का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी भी घटती बढ़ती रहती हे, क्योकि वह पहले से निश्चित एक श्रम काल की मुद्रा के रूप में अभिव्यजना होती है। ऊपर हमने जो उदाहरण दिया था, उसमें १२ घण्टे में २४ अदद तयार हो जाते थे और १२ घण्टे की पदावार का मल्य ६ शिलिंग था, श्रम शक्ति का दनिक मूल्य ३ शिलिंग था, श्रम के एक घण्टे का दाम ३ पेंस था और फी अदद मजदूरी $१\frac{१}{२}$ पेंस थी। एक अदद में आधे घण्टे का श्रम समाविष्ट हो जाता था। अब यदि श्रम की उत्पादकता दुगुनी हो जाये और उसके फलस्वरूप १२ घण्टे के काम के दिन में २४ के बजाय ४८ अदद तयार होने लगें और अन्य सब परिस्थितिया ज्यो की त्यो रहे, तो कार्यानुसार मजदूरी $१\frac{१}{२}$ पेंस से घटकर $\frac{३}{४}$ पेनी रह जायेगी, क्योकि

---

[1] *'A Defence of the Landowners and Farmers of Great Britain* ('ब्रिटेन के ज़मीदारो और काश्तकारा की सफाई'), London 1814, पृ० ४,५।

[2] Malthus *Inquiry into the Nature and Progress of Rent* (माल्थूस, 'लगान के स्वरूप एव प्रगति की समीक्षा'), London 1815।

[3] "फैक्टरिया मे काम करने वाले मजदूरा का शायद ८० प्रतिशत भाग उन लागा का है, जिनको कार्यानुसार मजदूरी मिलती है।" (*'Reports of Insp of Fact* 30th April 1858 ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८५८'], प० ६।)

अब हर अदद श्रम के $\frac{१}{२}$ घण्टे के बजाय केवल $\frac{१}{४}$ घण्टे का ही प्रतिनिधित्व करेगा। २४ बार १$\frac{१}{२}$ पेंस = ३ शिलिंग, और इसी तरह ४८ बार $\frac{३}{४}$ पेनी = ३ शिलिंग। दूसरे शब्दों में, एक ही समय में तयार हो जाने वाले अददों की सख्या जिस अनुपात में बढ़ती जाती है[1] और इसलिये एक अदद पर खच होने वाला श्रम-काल जिस अनुपात में घटता जाता है, उसी अनुपात में कार्यानुसार मजदूरी भी घटती जाती है। कार्यानुसार मजदूरी में इस तरह जो परिवतन होता है, वह यहा तक केवल नाम-मात्र का परिवतन है। परन्तु उसके कारण पूंजीपति और मजदूर के बीच हमेशा सग्राम चलता रहता है। यह सग्राम या तो इसलिये चलता है कि पूंजीपति इसका बहाना बनाकर असल में श्रम का दाम कम कर देता है, और या इसलिये कि श्रम की उत्पादक शक्ति के बढने के साथ-साथ उसकी तीव्रता भी बढ़ जाती है, या इसलिये कि मजदूर कार्यानुसार मजदूरी के दिखावटी स्वरूप को हकीकत मान बठता है, यानी वह यह समझने लगता है कि पूंजीपति उसकी श्रम शक्ति की नहीं, बल्कि उसकी पैदावार की क़ीमत देता है, और इसलिये जब उसकी मजदूरी तो कम कर दी जाती है, पर माल जिस दाम पर बिकता है, उसमें कोई कमी नहीं आती, तब वह विद्रोह का झण्डा लेकर खडा हो जाता है। "मजदूर लोग बहुत ध्यान पूवक कच्चे माल के दाम पर और तयार माल के दाम पर निगाह रखते ह, और इस प्रकार वे अपने मालिक के मुनाफे का बिल्कुल ठीक-ठीक अनुमान लगा लेते ह।"[2]

---

[1] "उसकी कताई की मशीन की उत्पादक शक्ति बिल्कुल ठीक ठीक माप ली जाती है, और इस उत्पादक शक्ति के बढने के साथ साथ काम की मजदूरी की दर घटती जाती है, हालांकि वह उसी अनुपात मे नही घटती।" (Ure उप० पु०, प० ३१७।) इस अंतिम सफाई के रूप मे लिखे गये वाक्याश को खुद उरे ने ही बाद को काट दिया था। वह यह मानते हैं कि म्यूल के लम्बा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम मे कुछ वद्धि हो जाती है। इसलिये, उत्पादकता जिस अनुपात मे बढती है, उस अनुपात मे श्रम मे कमी नही आती। उरे ने आगे लिखा है "इस वद्धि से मशीन की उत्पादक शक्ति मे पाचवें हिस्से का इजाफा हो जायेगा। जब यह चीज़ होगी, तो कताई करने वाले मजदूर को उसके काम की मजदूरी उस दर पर नही मिलेगी, जिस दर पर पहले मिलती थी, लेकिन इस दर मे चूंकि पाचवें हिस्से के अनुपात मे कमी नही आयेगी, इसलिये यदि किन्ही भी घण्टो के काम को लिया जायेगा, तो इस सुधार के फलस्वरूप मजदूर की कमाई कुछ बढ जायेगी।" लेकिन "उपर्युक्त कथन मे एक सशोधन करने की आवश्यकता है कताई करने वाला अल्प वयस्क मजदूरों से जो मदद लेता है, उसके एवज मे उसे अपनी ६ पेंस की अतिरिक्त आमदनी मे से कुछ अतिरिक्त रकम दे देनी होगी, और साथ ही वयस्क मज़दूरों के एक हिस्से को काम से जवाब मिल जायेगा' (उप० पु०, प० ३२१), जिससे जाहिर है कि मज़दूरी मे किसी तरह वृद्धि नहीं हो सकती।

[2] H Fawcett, "*The Economic Position of the British Labourer* (एच० फौसेट, 'ब्रिटिश मजदूर की आर्थिक स्थिति'), Cambridge and London 1865 प०, १७८।

पूंजीपति इस तरह के हर दावे के जवाब में ठीक ही कहता है कि जो लोग इस तरह की बातें करते हैं, उन्होंने मजदूरी के स्वरूप को बिल्कुल नहीं समझा है।[1] वह बड़ी चीख़-पुकार शुरू कर देता है कि यह उद्योग की प्रगति पर कर लगाने की अनधिकृत चेष्टा है, और साफ़-साफ़ यह घोषणा कर देता है कि श्रम की उत्पादकता से मजदूर का क़तई कोई सम्बंध नहीं है।[2]

---

[1] २६ अक्तूबर १८६१ के लन्दन के '*Standard*' में रोचडेल के मजिस्ट्रेटों के सामने जान ब्राइट एण्ड कम्पनी नाम की एक फ़र्म के मुकदमे की रिपोर्ट छपी है। इस फ़र्म ने "कालीन बुनने वालों की ट्रेड-यूनियन के एजेण्टों पर धमकी देने के लिये मुकदमा दायर किया था। ब्राइट कम्पनी के हिस्सेदारों ने कुछ नयी मशीनें लगा ली थीं। पहले जितने समय में और जितना श्रम लगाकर १६० गज कालीन तैयार होता था, अब ये नयी मशीनें उतने ही समय में और उतना ही श्रम (!) लगाकर २४० गज कालीन तैयार कर डालती थीं। यांत्रिक सुधारों में अपनी पूंजी लगाकर मालिक लोग जो मुनाफ़ा कमा रहे हैं, उसमें हिस्सा बंटाने का मजदूरों को कोई अधिकार नहीं है। चुनांचे, ब्राइट कम्पनी ने तै किया कि मजदूरी की दर $1\frac{1}{2}$ पेंस फ़ी गज से घटाकर १ पेनी फ़ी गज कर दी जाये, ताकि मजदूर एक निश्चित परिणाम में श्रम करके अब भी ठीक पहले जितना ही कमा सकें। लेकिन नाम के लिये तो मजदूरी की दर में कमी हो ही रही थी, और यह कहा गया था कि मजदूरों को इसकी पहले से कोई सूचना नहीं दी गयी थी, जो अन्याय की बात है।"

[2] "ट्रेड-यूनियनें मजदूरी की दर को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती हैं और इसलिये सुधरी हुई मशीनों से जो लाभ होता है, उसमें हिस्सा बंटाने की कोशिश करती हैं। (यह कितनी भयानक बात है!) वे पहले से ऊंची मजदूरी की मांग करती हैं, क्योंकि श्रम पहले से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वे यांत्रिक सुधारों पर कर लगाने की कोशिश करती हैं।" (*On Combination of Trades*' ['व्यावसायिक संघों के विषय में'], नया संस्करण, London, 1834, पृ० ४२।)

बाईसवा अध्याय

मजदूरी के राष्ट्रगत भेद

१७ वें अध्याय में हमने अनेक प्रकार के उन योगो पर विचार किया था, जिनसे श्रम शक्ति के मूल्य के परिमाण में तबदीली आ सकती है। ये तबदीलिया या तो उसके निरपेक्ष परिमाण में आ सकती हैं और या उसके सापेक्ष परिमाण में – अथवा अतिरिक्त मूल्य की तुलना में उसके परिमाण में – आ सकती हैं। दूसरी ओर, श्रम का दाम जीवन निर्वाह के साधनो की जिस प्रमात्रा में मूर्त रूप धारण करता है, उसमें इस दाम की तबदीलियो से स्वतन्त्र या उससे भिन्न घटा-बढी हो सकती है।[1] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जब श्रम शक्ति का मूल्य या क्रमश उसका दाम मजदूरी के बोधगम्य रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो इस साधारण सी बात के फलस्वरूप ये सारे नियम मजदूरी के उतार-चढाव के नियमो में बदल जाते ह। एक देश के भीतर मजदूरी के इस उतार-चढाव में जो कुछ नाना प्रकार के योगो के एक क्रम के रूप में सामने आता है, वह अलग अलग देशो में राष्ट्रीय मजदूरी के समकालीन भेद के रूप में प्रकट हो सकता है। इसलिये, अलग अलग राष्ट्रो की मजदूरी की तुलना करते हुए, हमें उन सभी तत्वो पर विचार करना चाहिये, जिनसे श्रम शक्ति के मूल्य के परिमाण में होने वाले परिवतन निर्धारित होते ह। उसके लिये हमें जीवन निवाह के लिये आवश्यक मुख्य वस्तुओ के स्वाभाविक एव ऐतिहासिक रूप से विकसित दाम और विस्तार पर, मजदूरो की शिक्षा के खर्चे पर विचार करना चाहिये, यह देखना चाहिये कि स्त्रियो और बच्चो के श्रम की क्या भूमिका रहती है, श्रम की उत्पादकता का खयाल रखना चाहिये तथा उसके विस्तार तथा तीव्रता पर विचार करना चाहिये। बहुत ही सतही ढग की तुलना करने के लिये भी पहले अलग अलग देशो में एक से धधो की औसत दनिक मजदूरी को काम के समान दिन की मजदूरी में परिणत कर देना आवश्यक होता है। जब अलग अलग देशो की दनिक मजदूरी एक ही प्रकार के काम के दिन की मजदूरी में परिणत हो जाती है, तो फिर समयानुसार मजदूरी को पुन कार्यानुसार मजदूरी में बदलना पडता है, क्योकि केवल कार्यानुसार मजदूरी के द्वारा ही श्रम की उत्पादकता और तीव्रता दोनो की माप की जा सकती है।

हर देश में श्रम की एक खास औसत तीव्रता होती है, जिससे कम तीव्रता होने पर किसी भी माल के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक समय खर्च होने लगता है।

---

[1] "मजदूरी" (यहा लेखक मजदूरी की मुद्रा अभिव्यजना की चर्चा कर रहा है) "के एवज म अगर किसी सस्ती वस्तु की पहले स अधिक मात्रा मिलने लगती है, तो यह कहना सही नहीं है कि मजदूरी बढ गयी है।" (डैविड बुकानन, ऐडम स्मिथ की रचना "Wealth of Nations" ['राष्ट्रो का धन'] के अपने सस्करण में, १८१४, खण्ड १, पृ० ४१७, नोट।)

इसलिये इस औसत तीव्रता से कम तीव्रता का श्रम साधारण स्तर का श्रम नहीं गिना जाता है। किसी भी खास देश में केवल श्रम काल की अवधि के द्वारा श्रम के मापे जाने पर महज उसी वक्त कुछ असर पडता है, जब श्रम की तीव्रता राष्ट्रीय औसत से अधिक हो जाती है। ससार-व्यापी मण्डी में, जिसके अलग अलग देश अभिन्न अग ह, ऐसा नहीं होता। श्रम की औसत तीव्रता हर देश में अलग अलग होती है,—कहीं ज्यादा, तो कहीं कम। इन राष्ट्रीय औसतो की एक श्रेणी भी बन जाती है, जिसकी मापने की इकाई सार्वत्रिक श्रम की औसत इकाई होती है। इसलिये, कम तीव्रता के राष्ट्रीय श्रम की तुलना में अधिक तीव्रता का राष्ट्रीय श्रम उतने ही समय में अधिक मूल्य पदा कर देता है, जो अपने को अधिक मुद्रा में अभिव्यक्त करता है।

परन्तु जब मूल्य का नियम अतरराष्ट्रीय क्षेत्र पर लागू होता है, तब उसमें यह परिवर्तन और अधिक हो जाता है, क्योंकि दुनिया की मण्डी में अधिक उत्पादक राष्ट्रीय श्रम साथ ही उस वक्त तक अधिक तीव्रता का श्रम माना जाता है, जब तक कि अधिक उत्पादक राष्ट्र प्रतियोगिता के कारण अपने मालो का दाम घटाकर उनके मूल्य के स्तर पर ले आने के लिये विवश नहीं हो जाता।

किसी देश में पूजीवादी उत्पादन का जितना विकास हो चुका होता है, वहा श्रम की राष्ट्रीय तीव्रता और उत्पादकता उसी अनुपात में अन्तरराष्ट्रीय स्तर के ऊपर उठ जाती हैं।[1] जब अलग अलग देशो में एक ही समय में एक ही किस्म के मालो की अलग अलग मात्राए तैयार होती ह, तो उनका अतरराष्ट्रीय मूल्य असमान होता है, जो अलग अलग दामो में, अर्थात् अतरराष्ट्रीय मूल्यो के अनुरूप मुद्रा की भिन्न भिन्न रकमो में, व्यक्त होता है। इसलिये जिस राष्ट्र में उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली अधिक विकसित होती है, उसमें कम विकसित पूजीवादी प्रणाली वाले राष्ट्र की तुलना में मुद्रा का सापेक्ष मूल्य कम होगा। अत इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाम-मात्र की मजदूरी—यानी मुद्रा के रूप में श्रम शक्ति का सम-मूल्य—पहली प्रकार के राष्ट्र में दूसरी प्रकार के राष्ट्र की तुलना में अधिक ऊची होगी। पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वास्तविक मजदूरी पर—अर्थात मजदूर को मिलने वाले जीवन निर्वाह के साधनो पर—भी यह बात लागू होती है।

लेकिन अलग अलग देशो में मुद्रा के मूल्य में इस प्रकार का जो तुलनात्मक अतर पाया जाता है, उससे अलग भी अक्सर यह देखने में आता है कि पहली प्रकार के राष्ट्र में दूसरी प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दनिक या साप्ताहिक मजदूरी अधिक ऊची होती है, जब कि श्रम का सापेक्ष दाम, अर्थात अतिरिक्त मूल्य और पदावार के मूल्य दोनो की तुलना में श्रम का दाम, पहली प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दूसरी प्रकार के राष्ट्र में अधिक ऊचा होता है।[2]

---

[1] हम अन्यत्र यह पता लगायेंगे कि उत्पादकता से सम्बध रखने वाली किन बातो से उद्योग की अलग अलग शाखाओ के लिये इस नियम मे कुछ परिवर्तन हो जाता है।

[2] जेम्स ऐण्डसन ने ऐडम स्मिथ के मत का खण्डन करते हुए कहा है "इसी प्रकार यह बात भी उल्लेखनीय है कि हालाकि गरीब देशो मे, जहा धरती की उपज और गल्ला आम तौर पर सस्ते होते हैं, श्रम के दिखावटी दाम प्राय नीचे होते हैं, फिर भी वे अन्य देशो की अपेक्षा अधिकाशतया असल में ऊचे होते है। कारण कि श्रम का वास्तविक दाम वह मजदूरी नही होती, जो मजदूर को रोजाना दी जाती है, हालाकि दिखावटी दाम वही होती है। श्रम

१८३३ के फक्टरी आयोग के एक सदस्य, जे० डब्ल्यू० कौवेल कताई के व्यवसाय की बहुत ध्यानपूर्वक जाच पडताल करने के बाद इस नतीजे पर पहुचे थे कि "योरपीय महाद्वीप की अपेक्षा इगलण्ड में पूजीपति के दृष्टिकोण से मजदूरी कम वस्तुत है, हालाकि मजदूर के दृष्टिकोण से वह अधिक है।" (Ure, पृ० ३१४।) अग्रेज फक्टरी इस्पेक्टर एलेक्जाण्डर रेडग्रेव ने अपनी ३१ अक्तूबर १८६६ की रिपोर्ट में योरपीय राज्यो के आकडो के साथ इगलण्ड के आकडो का मुकाबला करके यह साबित किया है कि अपेक्षाकृत कम मजदूरी और लम्बे श्रम-काल के बावजूद पदावार के अनुपात में योरपीय श्रम अग्रेजी श्रम से अधिक महगा पडता है। ओल्डेनबुर्ग में स्थित एक सूती फक्टरी के अग्रेज मनेजर का कहना है कि उनके यहा शनिवार समेत काम का समय सुबह ५ ३० बजे से रात के ८ बजे तक है, मगर जमन मजदूर अग्रेज निरीक्षकों की देखरेख में काम करते हुए भी उतनी पैदावार नहीं तैयार कर पाते, जितनी पदावार अग्रेज मजदूर १० घण्टे में तयार कर देते ह, और जमन निरीक्षको की मातहती में तो वे और भी कम पदावार तयार करते ह। यहा इगलण्ड की अपेक्षा मजदूरी बहुत कम है, बहुत से स्थानो में तो वह ५० प्रतिशत कम है, लेकिन मशीनो के अनुपात में मजदूरो की सख्या यहा बहुत अधिक है, कुछ विभागो में तो यह अनुपात ५ ३ का है। मि० रेड्ग्रेव ने रूस की सूती फक्टरिया के विषय में बहुत विस्तृत सूचना दी है। उनको ये तथ्य एक अग्रेज मनेजर से प्राप्त हुए थे, जो अभी हाल तक रूस में नौकर था। इस रूसी धरती पर, जहा सभी प्रकार के कलक खूब फलते फूलते ह, इगलण्ड की फक्टरियो के प्रारम्भिक काल की तमाम विभीषिकाए आज भी अपने पूरे जोर के साथ दिखाई देती ह। मनेजर लोग, जाहिर है, यहा भी अग्रेज ह, क्योंकि रूसी पूजीपति खुद फैक्टरी व्यवसाय में किसी मसरफ का नहीं होता। इन फैक्टरियो में दिन रात लगातार कमरतोड काम लिया जाता है और सारी शर्म और हया को ताक पर रखकर मजदूरो को बहुत ही कम मजदूरी दी जाती है, मगर इस सब के बावजूद रूसी फक्टरी-उत्पादन केवल इसीलिये जिन्दा है कि विदेशी प्रतियोगिता पर रोक लगा दी गयी है। अत में म मि० रेडग्रेव की तयार की हुई वह तुलनात्मक तालिका दे रहा हू, जिसमें बताया गया है कि योरप के अलग अलग देशो में हर फक्टरी के पीछे और कताई करने वाले हर मजदूर के पीछे तकुओ की औसत सख्या कितनी है। मि० रेडग्रेव ने खुद लिखा है कि उन्होने ये आकडे कुछ वष पहले जमा

का वास्तविक दाम वह है, जो मालिक को किसी निश्चित मात्रा का काम कराने के लिये सचमुच खच करना पडता है, और इस दृष्टि से धनी देशो मे गरीब देशो की अपेक्षा श्रम लगभग सभी जगह सस्ता होता है, हालाकि अनाज के और खाने पीने की अन्य वस्तुओ के दाम गरीब देशो म धनी देशो की अपेक्षा बहुत कम होते है दिन के हिसाब से श्रम का दाम इगलैण्ड की अपेक्षा स्कोटलण्ड में बहुत कम है इगलैण्ड मे कार्यानुसार मजदूरी आम तौर पर कम है।" (James Anderson *Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry &c* [जेम्स ऐण्डरसन, 'राष्ट्रीय उद्योग की भावना पैदा करने के साधनो के विषय मे कुछ टिप्पणिया आदि'] Edinburgh 1777, पृ० ३५०, ३५१।) इसके विपरीत अगर मजदूरी कम होती है, तो श्रम महगा हो जाता है। "इगलैण्ड की अपेक्षा आयरलैण्ड म श्रम अधिक महगा है क्योंकि वहा मजदूरी उतनी ही कम है।" (*Royal Commission on Railways Minutes* ['रेलो सम्बन्धी शाही आयोग का मत'] 1867, प्रश्न २०७४।)

किये थे और तब से अब तक इगलण्ड में फैक्टरियो का आकार और तकुओ की प्रति मजदूर सख्या पहले से बढ गयी है। लेकिन उन्होंने यह फर्ज कर लिया है कि योरप के जिन देशो के आकडे तालिका में दिये गये ह, उन देशो में भी लगभग इसके समान प्रगति हो गयी है और इस तरह तुलनात्मक अध्ययन के लिये तालिका के आकडो का अब भी पहले जसा ही महत्व है।

प्रति फक्टरी तकुओ की औसत सख्या

इगलण्ड, प्रति फक्टरी तकुओ का औसत	१२,६००
फ्रास, " " " " "	१,५००
प्रशिया " " " " "	१,५००
बेल्जियम, " " " " "	४,०००
सैक्सोनी, " " " " "	४,५००
आस्ट्रिया, " " " " "	७,०००
स्विटजरलण्ड, " " " " "	८,०००

प्रति मजदूर तकुओ की औसत सख्या

फ्रास,	एक व्यक्ति के पीछे	१४ तकुए
रूस,	" " " "	२८ "
प्रशिया,	" " " "	३७ "
बवेरिया,	" " " "	४६ "
आस्ट्रिया,	" " " "	४९ "
बेल्जियम,	" " " "	५० "
सक्सोनी,	" " " "	५० "
स्विटजरलण्ड,	" " " "	५५ "
जमनी के छोटे राज्य,	" " " "	५५ "
ब्रिटेन,	" " " "	७४ "

मि० रेडग्रेव ने लिखा है "यह तुलना इसलिये और ब्रिटेन के प्रतिकूल पडती है कि वहा ऐसी फक्टरियो की सख्या बहुत बडी है, जिनमें कताई के साथ-साथ शक्ति द्वारा बुनाई भी की जाती है (हालाकि तालिका में से बुनकरो की सख्या घटायी नहीं गयी है), और विदेशो में जो फक्टरिया ह, वे मुख्यतया कताई की फक्टरिया ह। यदि कडाई के साथ केवल एक ही प्रकार की चीजो का मुकाबला करना सम्भव होता, तो मेरे डिस्ट्रिक्ट में मुझे ऐसी बहुत सी सूत की कताई करने वाली फैक्टरिया मिल जातीं, जिनमें २,२०० तकुए लगे हुए म्यूलो की केवल एक आदमी (minder) और उसके दो सहायक देखरेख करते ह और रोजाना २२० पौण्ड सूत तयार कर देते ह, जो लम्बाई में ४०० मील के बराबर होता है।" (*'Reports of Insp of Fact, 31st Oct, 1866"* ['फक्टरियो के इस्पेक्टरो की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६६'], पृ० ३१–३७, विभिन्न स्थानो पर।)

यह बात सुविदित है कि एशिया और पूर्वी योरप में भी अंग्रेज कम्पनियां रेलें बना रही हैं और इस काम के लिये उन्होंने देशी मजदूरों के साथ-साथ कुछ अंग्रेज मजदूरों को भी नौकर रखा हुआ है। इस प्रकार, उनको व्यावहारिक आवश्यकता से विवश होकर श्रम की तीव्रता के राष्ट्रगत भेदों का खयाल रखना पड़ा है, पर इससे उनका कोई नुकसान नहीं हुआ है। उनके अनुभव से प्रकट होता है कि हालांकि मजदूरी का स्तर श्रम की औसत तीव्रता के न्यूनाधिक अनुरूप होता है, फिर भी श्रम का सापेक्ष दाम आम तौर पर उसकी उल्टी दिशा में घटता बढ़ता है।

एच० केरी ने अपनी एक शुरू की आर्थिक रचना 'मजदूरी की दर पर एक निबंध'[1] में यह साबित करने की कोशिश की है कि अलग अलग राष्ट्रों में मजदूरी वहां के काम के दिन की उत्पादकता के अनुलोम अनुपात में होती है। और इस अंतर्राष्ट्रीय सम्बंध से केरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मजदूरी हर जगह श्रम की उत्पादकता के अनुपात में घटती-बढ़ती है। अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का हमने जो पूरा विश्लेषण किया है, उस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह निष्कर्ष कितना बेतुका है। यदि केरी ने अपनी सदा की रीति के अनुसार आंखें मूंदकर और सतही ढंग से आंकड़ों की पचमेल खिचड़ी में कड़छी चलाते रहने के बजाय खुद अपने पूर्वावयवों को प्रमाणित किया होता, तो भी यह निष्कर्ष बेतुका ही रहता। सबसे बढ़िया बात यह है कि केरी का यह दावा नहीं है कि परिस्थिति सचमुच वही है, जो उनके सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिये। कारण कि राज्य के हस्तक्षेप ने स्वाभाविक आर्थिक सम्बंधों को विकृत कर दिया है। इसलिये केरी की राय में अलग अलग देशों की राष्ट्रीय मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमें यह मानकर चलना चाहिये कि हर देश में मजदूरी का जो हिस्सा करों के रूप में राज्य के कोषागार में चला जाता है, वह मजदूर को ही मिलता है। मि० केरी को एक कदम आगे बढ़कर यह क्यों नहीं सोचना चाहिये कि ये "राज्य के खर्चे" कहीं पूंजीवादी विकास के "स्वाभाविक" फल तो नहीं हैं? इस प्रकार का तर्क उनको शोभा देता है, क्योंकि आखिर उन्होंने तो शुरू में यह घोषणा की थी कि पूंजीवादी उत्पादन के सम्बंध प्रकृति और विवेक के शाश्वत नियमों पर आधारित हैं और उनकी स्वतंत्र और सुमेल कार्रवाइयों में राज्य के हस्तक्षेप से केवल गड़बड़ ही पैदा होती है, और बाद को यह आविष्कार कर डाला था कि दुनिया की मण्डी पर इंगलैण्ड का जो शैतानी प्रभाव पड़ रहा है (और जो प्रभाव, लगता है, पूंजीवादी उत्पादन के प्राकृतिक नियमों से उत्पन्न नहीं होता), उसके कारण राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है, अर्थात् उसके कारण प्रकृति तथा विवेक के इन नियमों की राज्य द्वारा संरक्षण की — alias (यानी) संरक्षण प्रणाली की — आवश्यकता होने लगी है। इसके अलावा उन्होंने यह आविष्कार भी किया था कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के जिन प्रमेयों में वर्तमान सामाजिक विग्रहों और विरोधों को सूत्रबद्ध किया गया है, वे एक वास्तविक आर्थिक क्रिया की भावगत उपज नहीं हैं, बल्कि, इसके विपरीत, इंगलैण्ड में तथा अन्यत्र पूंजीवादी उत्पादन के जो वास्तविक विरोध

---

[1] *Essay on the Rate of Wages with an Examination of the Causes of the Differences in the Condition of the Labouring Population throughout the World* ('मजदूरी की दर पर एक निबंध, जिसमें संसार भर में श्रमजीवी आबादी की अवस्था में पाये जाने वाले भेदों के कारणों का भी विवेचन किया गया है'), Philadelphia, 1835।

पाये जाते ह, वे रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्तो का फल हैं। और, अन्त में, मि० केरी ने आविष्कार किया है कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के सहज सौंदर्य तथा माधुर्य को जो चीज आखिर में नष्ट कर देती है, वह है वाणिज्य। मि० केरी एक कदम और आगे बढे होते, तो शायद यह आविष्कार भी कर डालते कि पूजीवादी उत्पादन में केवल एक ही चीज बुरी है, और वह है पूजी। इस व्यक्ति में आलोचनात्मक क्षमता का इतना भयानक अभाव और साथ ही नकली पाण्डित्य का ऐसा बाहुल्य था कि अपने सरक्षणवादी धर्मद्रोह के बावजूद केवल वही इस योग्य था कि बस्तियात जसे आदमी की और स्वतत्र व्यापार के समथक, आजकल के अन्य सभी आशावादियो की सुमेल बुद्धि का गुप्त स्रोत बन जाये।

भाग ७

पूजी का संचय

मूल्य की यह प्रमात्रा, जो पूजी की तरह काम करने वाली है, पहला कदम यह उठाती है कि मुद्रा की एक रकम उत्पादन के साधनो और श्रम-शक्ति में बदल देती है। यह रूपान्तरण मण्डी में, परिचलन के क्षेत्र के भीतर, होता है। दूसरा कदम – यानी उत्पादन की प्रक्रिया – उस वक्त पूरा होता है, जब उत्पादन के साधन उन मालो में बदल जाते ह, जिनका मूल्य अपने सघटक भागो के मूल्य से अधिक होता है और इसलिये जिनमें शुरू में पेशगी लगायी गयी पूजी और साथ ही कुछ अतिरिक्त मूल्य भी निहित होता है। उसके बाद इन मालो को परिचलन में डालना पडता है। उनको बेचकर उनका मूल्य मुद्रा के रूप में वसूल करना पडता है, फिर इस मुद्रा को नये सिरे से पूजी में बदलना पडता है, – और वही क्रम फिर आरम्भ हो जाता है। यह वृत्ताकार गति, जिसमें बारी-बारी से एक सी अवस्थाओ में से गुजरना पडता है, पूजी का परिचलन कहलाती है।

सचय की पहली शर्त यह है कि पूजीपति अपना सारा माल बेचने में कामयाब हुआ हो और इस तरह उसे जो मुद्रा मिली हो, उसके अधिकाश को उसने पूजी में बदल डाला हो। आगे के पृष्ठो में हम यह मानकर चलेगे कि पूजी का परिचलन अपने सामान्य ढग से होता है। इस क्रिया का विस्तृत विश्लेषण दूसरी पुस्तक में मिलेगा।

जो पूजीपति अतिरिक्त मूल्य पदा करता है, – अर्थात् जो प्रत्यक्ष रूप में मजदूरो का अवेतन श्रम चूसता है और उसे मालो में जमा देता है, वह इसमें सन्देह नहीं कि इस अतिरिक्त मूल्य को सबसे पहले हस्तगत करता है, लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि आखिर तक यह अतिरिक्त मूल्य उसी के हाथ में रहता है। अतिरिक्त मूल्य में से इस पूजीपति को अन्य पूजीपतियो को, जमींदारो आदि को हिस्सा देना पडता है, जो सामाजिक उत्पादन के सब्लेप में अन्य प्रकार के कार्यों को पूरा करते ह। इसलिये अतिरिक्त मूल्य बहुत से भागो में बट जाता है। ये टुकडे अलग-अलग कोटियो के व्यक्तियो के हिस्से में पडते ह और विभिन्न प्रकार के रूप धारण कर लेते ह, जिनमें से प्रत्येक रूप दूसरे से स्वतत्र होता है। ये रूप ह मुनाफा, सूद, सौदागर का नफा, लगान, इत्यादि। अतिरिक्त मूल्य के इन परिवर्तित रूपो पर केवल तीसरी पुस्तक में ही विचार करना सम्भव होगा।

इसलिये, एक ओर तो हम यह मान लेते ह कि पूजीपति ने जो माल तयार किया है, उसको वह उसके मूल्य पर बेचता है, और परिचलन के क्षेत्र में पूजी जो नये नये रूप धारण

कर लेती हैं या इन रूपो के पीछे पुनरुत्पादन की जो ठोस परिस्थितिया छिपी रहती ह, उनकी तरफ हम कोई ध्यान नहीं देते। दूसरी ओर, हम पूजीवादी उत्पादक को पूरे अतिरिक्त मूल्य का मालिक मानकर चलते ह, या शायद यह कहना बेहतर होगा कि उसके साथ और जितने लोग लूट में हिस्सा बटाते ह, हम उसे उन सबका प्रतिनिधि मान लेते है। अतएव, सबसे पहले हम सचय पर एक अमूत दृष्टिकोण से, अर्थात् उसे उत्पादन की वास्तविक क्रिया की एव विशेष अवस्था मात्र समझकर उसपर विचार करते ह।

जहा तक सचय होता है, यहा तक यह आवश्यक है कि पूजीपति ने अपना माल बेच दिया हो और उसकी बिक्री से जो मुद्रा प्राप्त होती है, उसे पूजी में बदल डाला हो। इसके अलावा, अतिरिक्त मूल्य के अनेक टुकडो में बट जाने से न तो उसके स्वरूप में कोई परिवतन आता है और न ही वे परिस्थितिया, जिनमें अतिरिक्त मूल्य सचय का एक तत्व बन जाता है, बदल जाती है। औद्योगिक पूजीपति अतिरिक्त मूल्य के जिस भाग को अपने पास रख लेता है या जिसको दूसरो को दे देता है, उसका अनुपात कुछ भी हो, अतिरिक्त मूल्य पर सबसे पहले वही अधिकार करता है। इसलिये, जो कुछ सचमुच होता है, हम उसके सिवा और कुछ मानकर नहीं चल रहे ह। दूसरी ओर, सचय की क्रिया के सरल एव मौलिक रूप पर परिचलन की घटना से, जिसका सचय फल होता है, और अतिरिक्त मूल्य के बट जाने से एक पर्दा सा पड जाता है। इसलिये इस क्रिया का ठीक-ठीक विश्लेपण करने के लिये आवश्यक है कि हम कुछ समय के लिये उन तमाम घटनाओ को अनदेखा कर दें, जिनसे इस क्रिया के आतरिक यत्र की काय विधि पर आवरण पड जाता है।

तेईसवा अध्याय

साधारण पुनरुत्पादन

समाज में उत्पादन की प्रक्रिया का रूप कुछ भी हो, यह आवश्यक है कि वह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया हो और एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उन्हीं अवस्थाओं में से गुजरे। जिस तरह कोई समाज कभी उपभोग करना बन्द नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह कभी उत्पादन करना भी बन्द नहीं कर सकता। इसलिये, यदि उत्पादन प्रक्रिया पर एक सम्बद्ध इकाई के रूप में और एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में विचार किया जाये, जो हर बार नये सिरे से आरम्भ हो जाती है, तो उत्पादन की प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया साथ ही पुनरुत्पादन की भी प्रक्रिया होती है।

जो बातें उत्पादन के लिये आवश्यक होती हैं, वे ही पुनरुत्पादन के लिये भी आवश्यक होती हैं। उस वक्त तक कोई समाज लगातार उत्पादन नहीं कर सकता,—दूसरे शब्दों में, उस वक्त तक कोई समाज पुनरुत्पादन नहीं कर सकता,—जब तक कि वह अपनी पैदावार के एक भाग को बार-बार उत्पादन के साधनों में, अथवा नयी पैदावार के तत्त्वों में, नहीं बदलता जाता। यदि अन्य सभी बातें ज्यों की त्यों रहें, तो केवल एक ही तरीका है, जिससे समाज अपने धन का पुनरुत्पादन कर सकता है और उसे एक स्तर पर कायम रख सकता है। वह तरीका यह है कि वह सदा उत्पादन के साधनों का स्थान भरता जाये, अर्थात साल भर में जितने श्रम के औजार, कच्चा माल तथा सहायक पदार्थ खर्च हो जाते हैं, उतनी ही मात्रा में ये सारे पदार्थ हर बार नये तैयार करता जाये। इन पदार्थों को वर्ष की बाकी पैदावार से अलग करके नये सिरे से उत्पादन की प्रक्रिया में झोंक देना होता है। इसलिये, हर साल की पैदावार का एक निश्चित भाग उत्पादन के क्षेत्र की सम्पत्ति होता है। इस भाग के लिये पहले से ही यह तै होता है कि उसका उत्पादक ढंग से उपभोग किया जायेगा, और वह अधिकतर ऐसी वस्तुओं की शक्ल में होता है, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं।

यदि उत्पादन का रूप पूंजीवादी है, तो पुनरुत्पादन का रूप भी वही होगा। जिस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन में श्रम प्रक्रिया पूंजी के आत्म विस्तार का एक साधन मात्र होती है, उसी प्रकार पूंजीवादी पुनरुत्पादन में वह पेशगी लगाये गये मूल्य का पूंजी के रूप में—अर्थात स्वयं अपना विस्तार करने वाले मूल्य के रूप में—पुनरुत्पादन करने का साधन मात्र होती है। कोई आदमी पूंजीपति का आर्थिक भेस केवल इसीलिये भर सकता है कि उसकी मुद्रा लगातार पूंजी की तरह काम करती रहती है। उदाहरण के लिये, यदि इस साल १०० पौण्ड की रकम पूंजी में बदली गयी है और उससे २० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पैदा हुआ है, तो अगले वर्ष और

उसके बाद आने वाले वर्षों में भी उसको बार-बार यही क्रिया दोहरानी पड़ेगी। अतिरिक्त मूल्य पेशगी लगायी गयी पूंजी की नियतकालिक वृद्धि की शकल में, अथवा क्रियारत पूंजी के नियतकालिक फल की शक्ल में, पूंजी से उत्पन्न होने वाली आय का रूप धारण कर लेता है।[1]

यदि यह आय केवल पूंजीपति के उपभोग की वस्तुएं मुहैया करने के ही काम में आती है और जिस तरह वह एक नियत अवधि में पैदा होती है, यदि उसी तरह एक नियत अवधि के भीतर खर्च कर दी जाती है, तो अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए यह साधारण पुनरुत्पादन होता है। और यद्यपि इस प्रकार का पुनरुत्पादन पुराने पैमाने की उत्पादन की क्रिया की एक पुनरावृत्ति मात्र होती है, तथापि महज यह पुनरावृत्ति अथवा निरंतरता ही उत्पादन की क्रिया को एक नया स्वरूप दे देती है। या शायद यह कहना बेहतर होगा कि एक अलग-थलग, विरल क्रिया के रूप में उत्पादन की प्रक्रिया में जो कुछ दृष्ट विशेषताएं होती हैं, वे इस पुनरावृत्ति अथवा निरंतरता के कारण ग़ायब हो जाती हैं।

---

[1] Mais ces riches qui consomment les produits du travail des autres, ne peuvent les obtenir que par des echanges S'ils donnent cependant leur richesse acquise et accumulée en retour contre ces produits nouveaux qui sont l'objet de leur fantaisie, ils semblent exposes a epuiser bientot leur fonds de reserve ils ne travaillent point, avons nous dit et ils ne peuvent meme travailler on croirait donc que chaque jour doit voir diminuer leurs vieilles richesses, et que lorsqu'il ne leur en restera plus rien ne sera offert en echange aux ouvriers qui travaillent exclusivement pour eux Mais dans l'ordre social la richesse a acquis la propriete de se reproduire par le travail d'autrui, et sans que son proprietaire y concoure La richesse comme le travail, et par le travail donne un fruit annuel qui peut être detruit chaque annee sans que le riche en devienne plus pauvre Ce fruit est le *revenu* qui nait du *capital* ["लेकिन ये धनी लोग, जो दूसरों के श्रम से उत्पादित वस्तुओं को खर्च करते हैं, विनिमय (माल की खरीद) के सिवा और किसी तरह इन वस्तुओं को नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु, यदि वे अपनी पसन्द की इन नयी वस्तुओं के एवज में अपना पहले से कमा कर इकट्ठा किया हुआ धन देने लगते हैं, तो उनके सुरक्षित कोष के तेजी से खतम हो जाने का खतरा पैदा हो जाता है। यह मैं कह चुका हूं कि ये लोग खुद काम नहीं करते और यहां तक कि वे काम करने की योग्यता भी नहीं रखते। इसलिये खयाल हो सकता है कि उनके धन का कोष धीरे धीरे खाली होता जायेगा, और जब उसमें कुछ भी नहीं रहेगा, तब उनके पास ऐसी कोई चीज नहीं बचेगी, जिसको देकर वे मजदूरों को खास तौर पर केवल [अपने लिये] काम करने को तैयार कर सकें लेकिन हमारी समाज-व्यवस्था में धन में दूसरों के श्रम की सहायता से अपना पुनरुत्पादन करने का गुण पैदा हो गया है, और इस श्रम में] धन के मालिक को कोई हिस्सा नहीं लेना पड़ता। श्रम की भांति और श्रम की सहायता से धन में भी हर साल फल लगता है, जिसे हर साल नष्ट कर देने पर भी धन के मालिक का कोई नुकसान नहीं होता। पूंजी से जो आय उत्पन्न होती है वही यह फल है"।] (Sismondi *Nouv Princ D'Econ Pol*, Paris 1819 खण्ड १, पृ० ८१-८२।)

एक निश्चित अवधि के लिये श्रम शक्ति का खरीदा जाना उत्पादन की प्रक्रिया की भूमिका होता है, और वह निश्चित अवधि जब-जब पूरी हो जाती है, यानी जब-जब उत्पादन का निश्चित काल, जैसे एक सप्ताह या एक महीना, समाप्त हो जाता है, तब-तब यह भूमिका फिर से दोहरायी जाती है। लेकिन मजदूर को उस वक्त तक उजरत नहीं मिलती, जब तक कि वह अपनी श्रम शक्ति को खर्च नहीं कर देता और उसके मूल्य को ही नहीं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य को भी मालो का मूर्त रूप नहीं दे देता। इस तरह वह केवल अतिरिक्त मूल्य ही नहीं पैदा करता, जिसको हमने फिलहाल पूंजीपति के निजी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला कोष मान रखा है, बल्कि अस्थिर पूंजी नाम का वह कोष भी पहले ही से पैदा कर देता है, जिसमें से खुद उसकी उजरत आती है और जो बाद को मजदूरी की शक्ल में उसके पास लौट आता है, और उससे केवल उसी समय तक काम लिया जाता है, जब तक कि वह इस कोष का पुनरुत्पादन करता रहता है। इसी से अर्थशास्त्रियो का वह सूत्र निकला है, जिसका हमने अठारहवें अध्याय में जिक्र किया था और जिसमें मजदूरी को खुद पैदावार के एक हिस्से के रूप में पेश किया गया है।[1] मजदूरी की शकल में मजदूर के पास जो चीज फिर लौट आती है, वह उस पैदावार का एक हिस्सा है, जिसका वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है। यह सच है कि पूंजीपति उसे मुद्रा की शकल में उजरत देता है, परंतु यह मुद्रा केवल मजदूर के श्रम की पैदावार का परिवर्तित रूप ही होती है। जिस समय वह उत्पादन के साधनो के एक हिस्से को पैदावार में परिवर्तित करता है, उसी दौरान में उसकी पहले की पैदावार का एक भाग मुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाता है। मजदूर की इस सप्ताह या इस वर्ष की श्रम शक्ति की कीमत उसके पिछले सप्ताह या पिछले वर्ष के श्रम के द्वारा अदा की जाती है। यदि हम एक अकेले पूंजीपति और एक अकेले मजदूर के बजाय पूंजीपतियो के पूरे वर्ग और मजदूरो के पूरे वर्ग को लें, तो मुद्रा के हस्तक्षेप से पैदा होनेवाला भ्रम तत्काल गायब हो जाता है। पूंजीपति वर्ग मजदूर-वर्ग को मुद्रा के रूप में लगातार कुछ ऐसे आर्डर-नोट देता रहता है, जिनके जरिये मजदूर-वर्ग अपने द्वारा तैयार किये गये उन मालो का एक हिस्सा हासिल कर सकता है, जिनको पूंजीपति-वर्ग ने हस्तगत कर रखा है। मजदूर उसी ढंग से इन आर्डर नोटो को लगातार पूंजीपति वर्ग को लौटाते रहते है, और इस तरह उनको खुद अपनी पैदावार का वह भाग मिल जाता है, जो उनके हिस्से में आया है। इस पूरे लेन देन पर पैदावार के माल-रूप और माल के मुद्रा रूप का आवरण पड़ा रहता है।

अत अस्थिर पूंजी केवल उस कोष की अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप है, जिसमें से मजदूरो को जीवन के लिये आवश्यक वस्तुए दी जाती है। या यू कहिये कि इस विशिष्ट ऐतिहासिक रूप में वह श्रम कोष प्रकट होता है, जिसकी मजदूर को अपना तथा अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिये आवश्यकता होती है और जिसका, सामाजिक उत्पादन की प्रणाली कुछ भी हो, उसको खुद ही उत्पादन और पुनरुत्पादन करना पड़ता है। यदि यह श्रम कोष बराबर उस मुद्रा के रूप में उसके पास लौटता रहता है, जिसके द्वारा मजदूर के

---

[1] "मुनाफे की तरह मजदूरी को भी असल मे तैयार पैदावार का ही एक हिस्सा समझना चाहिये।" (Ramsay उप० पु०, प० १४२।) 'पैदावार का वह हिस्सा, जो मजदूरी की शक्ल म मजदूर को मिलता है।' (J Mill *Elements* &c [जेम्स मिल, 'अर्थशास्त्र के तत्व'], Parissot द्वारा फ्रासीसी अनुवाद, Paris 1823 पृ० ३४।)

श्रम की उजरत अदा की जाती है, तो इसका कारण यह है कि उसने जो पैदावार पैदा की थी, वह पूजी के रूप में लगातार उससे दूर हटती जाती है। लेकिन इस सब से इस तथ्य में कोई अ तर नहीं आता कि पूजीपति मजदूर को जो कुछ पेशगी देता है, वह पदावार के रूप में साकार बना हुआ खुद मजदूर का ही श्रम होता है।[1] मान लीजिये, एक किसान है, जिसे अपने साम त को बेगार देनी पडती है। वह सप्ताह में ३ दिन खुद अपनी जमीन पर अपने उत्पादन के साधनो से काम करता है। बाकी ३ दिन उसे अपने साम त के खेतो पर बेगार करनी पडती है। अपने श्रम कोष का वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, लेकिन यहा पर उसका कभी यह रूप नहीं होता कि उसके श्रम की उजरत कोई और व्यक्ति मुद्रा की शकल में पेशगी दे देता हो। लेकिन इसके साथ-साथ उसे साम त के लिये बेगार का जो अवेतन श्रम करना पडता है, वह भी स्वेच्छा से किये गये सवेतन श्रम का रूप कभी नहीं लेता। यदि एक रोज यकायक साम त इस किसान की जमीन, ढोरो और बीज पर, — सक्षेप में कहिये, तो उसके उत्पादन के साधना पर, — खुद कब्जा कर ले, तो उस दिन से किसान को मजबूर होकर अपनी श्रम-शक्ति साम त के हाथ बेचनी पडेगी। तब, अय बातो के ज्यो की त्यो रहते हुए, किसान पहले की तरह ही सप्ताह में ६ दिन श्रम करेगा — ३ दिन खुद अपने लिये और ३ दिन अपने साम त के लिये, जो इस दिन से मजदूरी देने वाला पूजीपति बन जायेगा। पहले की ही भाति अब भी वह उत्पादन के साधनो को उत्पादन के साधना की तरह खच करेगा और उनके मूल्य को पैदावार में स्थानातरित कर देगा। पहले की ही भाति अब भी पैदावार का एक निश्चित भाग पुनरुत्पादन में लगाया जायेगा। लेकिन जिस क्षण बेगार मजदूरी में बदल जाती है, उसी क्षण से श्रम कोष, जिसका उत्पादन और पुनरुत्पादन किसान पहले की तरह अब भी खुद ही करता है, साम त द्वारा मजदूरी के रूप में पेशगी दी गयी पूजी का रूप धारण कर लेता है। पूजीवादी अथशास्त्री का सकुचित मस्तिष्क असली वस्तु को उस रूप से अलग नहीं कर पाता, जिसमें वह वस्तु प्रकट होती है। वह इस तथ्य की ओर से आख मूद लेता है कि पृथ्वी पर कुछ इने गिने स्थान ही ह, जहा आज भी श्रम कोष पूजी के रूप में दिखाई देता है।[2]

यह सच है कि अस्थिर पूजी का पूजीपति के कोष में से निकालकर पेशगी दिये गये मूल्य का रूप केवल उसी समय समाप्त होता है[3], जब हम पूजीवादी उत्पादन पर हर बार नये

---

[1] "जब पूजी मजदूर को उसकी मजदूरी पेशगी देने के काम मे आती है, तब उससे श्रम के जीवन निर्वाह के कोष मे कोई वद्धि नही होती।" (माल्थूस की रचना '*Definitions in Pol Econ* ['अथशास्त्र की परिभाषाए'] के काजेनोवे के सस्करण म काजेनोव का फुटनोट, London 1853 पृ० २२)।

[2] "दुनिया मे कुल जितने मजदूर ह, उनमे से एक चौथाई से भी कम की मजदूरी पूजीपति पेशगी देते हैं।" (Rich Jones "*Textbook of Lectures on the Pol Econ of Nations* [रिचड जोस, 'राष्ट्रा के अथशास्त्र सम्बधी भाषणा की पाठय पुस्तक'], Hertford, 1852 पृ० ३६।)

[3] "बनाने वाले को" (यानी, मजदूर को) "हालाकि उसका मालिक पेशगी मजदूरी दे देता है, फिर भी असल मे इसमे मालिक का कुछ खर्चा नही होता, क्योकि इस मजदूरी का मूल्य, मय कुछ मुनाफे के, प्राय उस वस्तु के बढे हुए मूल्य मे सुरक्षित रहता है, जिसपर मजदूर का श्रम खच होता है।" (A Smith उपयुक्त रचना, पुस्तक २, अध्याय ३, पृ० ३११।)

सिरे से शुरू हो जाने वाली एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में विचार करते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया का कहीं पर और कभी श्रीगणेश भी तो हुआ होगा। इसलिये हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से तो यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि कभी पूजीपति के पास दूसरों के अवेतन श्रम के बिना ही किसी प्रकार मुद्रा का संचय हो गया होगा और इसी तरह उसमें श्रम शक्ति के खरीदार के रूप में मण्डी में प्रवेश करने की सामर्थ्य पैदा हुई होगी। यह जैसे भी हुआ हो, इस क्रिया की केवल निरंतरता ही, अर्थात केवल साधारण पुनरुत्पादन ही कुछ और बड़े चमत्कारपूर्ण परिवर्तन पैदा कर देता है, जिनका न केवल अस्थिर पूजी पर, बल्कि कुल पूजी पर भी प्रभाव पड़ता है।

यदि १,००० पौण्ड की पूजी से हर साल २०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पैदा होता हो और यदि यह अतिरिक्त मूल्य हर साल खर्च कर दिया जाता हो, तो यह बात साफ है कि ५ वर्ष में जो अतिरिक्त मूल्य खर्च होगा, वह ५ × २०० पौण्ड या १,००० पौण्ड के बराबर होगा। यानी वह उस रकम के बराबर होगा, जो शुरू में पेशगी लगायी गयी थी। यदि अतिरिक्त मूल्य का केवल एक भाग, — मान लीजिये, केवल आधा भाग, — खर्च होता है, तो यही बात १० वर्ष में होगी, क्योंकि १० × १०० पौण्ड = १,००० पौण्ड। इससे यह सामान्य नियम निकलता है कि अगर शुरू में लगायी गयी पूजी को हर साल खर्च कर दिये जाने वाले अतिरिक्त मूल्य से भाग दिया जाये, तो हमें पुनरुत्पादन की अवधि मालूम हो जाती है, यानी हमें यह पता लग जाता है कि पूजीपति अपनी शुरू में लगायी हुई पूजी को कितने वर्षों में खर्च कर डालता है, या कितनी अवधि के पूरा हो जाने पर शुरू में लगायी गयी पूजी गायब हो जाती है। पूजीपति समझता है कि वह दूसरों के अवेतन श्रम की पैदावार को — अर्थात अतिरिक्त मूल्य को — खर्च कर रहा है और अपनी मूल पूजी उसने ज्यों की त्यों बचा रखी है। लेकिन वह जो कुछ समझता है, उससे तथ्यों में परिवर्तन नहीं आ सकता। एक निश्चित अवधि बीत जाने के बाद उसके पास जो पूजीगत मूल्य होता है, वह उस अतिरिक्त मूल्य के जोड़ के बराबर होता है, जो उसने इन वर्षों में हस्तगत किया है, और इस अवधि में वह जो मूल्य खर्च कर डालता है, वह उसकी मूल पूजी के बराबर होता है। यह सच है कि तब उसके पास जो पूजी होती है, उसका परिमाण पहले जितना ही होता है, और उसका एक भाग, जैसे मकान, मशीनें आदि उस वक्त भी मौजूद थे, जब उसने अपना व्यवसाय आरम्भ किया था। लेकिन यहां हमारा सम्बंध इस पूजी के भौतिक तत्वों से नहीं, बल्कि उसके मूल्य से है। जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के मूल्य के बराबर उधार लेकर अपनी सारी सम्पत्ति का सफाया कर डालता है, तब यह बात स्पष्ट होती है कि उसकी सम्पत्ति उसके क़र्ज़ की कुल रक़म के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती। पूजीपति पर भी यही बात लागू होती है। जब वह अपनी मूल पूजी का सम-मूल्य खर्च कर डालता है, तब उसकी बची हुई पूजी का मूल्य उस अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जिसे उसने बिना उजरत दिये हुए हस्तगत कर लिया था। तब उसकी पुरानी पूजी के मूल्य का एक कण भी बाक़ी नहीं रहता।

इसलिये, किसी भी प्रकार के संचय से अलग, उत्पादन की प्रक्रिया की केवल निरंतरता ही, — दूसरे शब्दों में, केवल साधारण पुनरुत्पादन ही कभी न कभी प्रत्येक पूजी को अनिवार्य रूप से संचित पूजी अथवा पूजीकृत अतिरिक्त मूल्य में बदल देता है। यदि पूजी शुरू में मालिक के व्यक्तिगत श्रम से कमायी गयी हो, तब भी वह भाज नहीं, तो कल ऐसा मूल्य बन जाती

है, जिसपर बिना सम-मूल्य दिये अधिकार कर लिया गया है, वह दूसरो का अवेतन श्रम बन जाती है, जो या तो मुद्रा में और या किसी अन्य वस्तु में भौतिक रूप प्राप्त कर लेता है।

हमने ४–६ अध्यायो में यह देखा था कि मुद्रा को पूजी में बदलने के लिये केवल मालो का उत्पादन और परिचलन ही काफी नहीं होता। हमने देखा था कि इसके लिये एक तरफ मूल्य अथवा मुद्रा के मालिक को और दूसरी तरफ मूल्य पैदा करने वाले पदार्थ के मालिक को, – एक तरफ उत्पादन और जीवन निर्वाह के साधनो के मालिक को और दूसरी तरफ उसको, जिसके पास श्रम शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, – ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के सामने खडा होना पडता है। इसलिये, असल में श्रम का श्रम की पदावार से अलग हो जाना, वयक्तिक श्रम शक्ति का श्रम के लिये आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियो से अलग हो जाना ही पूजीवादी उत्पादन का वास्तविक आधार और प्रस्थान बिन्दु था।

लेकिन जो शुरू में केवल एक प्रस्थान बिन्दु था, वह महज क्रिया की निरन्तरता के फलस्वरूप, केवल साधारण पुनरुत्पादन द्वारा, पूजीवादी उत्पादन, का एक अनोखा, हर बार नये सिरे से पैदा होने वाला और इस तरह एक स्थायी परिणाम बन जाता है। एक तरफ, उत्पादन की प्रक्रिया भौतिक धन को बराबर पूजी में, पूजीपति के लिये और अधिक धन पैदा करने के साधनो में और विलास के साधनों में बदलती रहती है। दूसरी तरफ, मजदूर जब इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है, तो उसकी वही दशा होती है, जो इस प्रक्रिया में प्रवेश करने के समय थी, यानी, तब भी वह दूसरो के लिये धन का स्रोत होता है, पर खुद उसके पास ऐसी कोई चीज नहीं होती, जिससे वह इस धन को अपना बना सके। उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करने के पहले ही वह अपने श्रम से हाथ धो चुका था, उसने अपनी श्रम-शक्ति बेच डाली थी, पूजीपति ने उसके श्रम को हस्तगत करके उसका अपनी पूजी में समावेश कर लिया था। इसलिये उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में उसका श्रम जिस पैदावार में साकार होता है, उसपर भी मजदूर का कोई अधिकार नहीं होता। उत्पादन की प्रक्रिया चूकि साथ ही वह क्रिया भी होती है, जिसके द्वारा पूजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, इसलिये मजदूर की पदावार बराबर न सिर्फ मालो में, बल्कि पूजी में रूपान्तरित होती रहती है। वह ऐसा मूल्य बनती जाती है, जो मूल्य पदा करने वाली शक्ति को सोख लेता है, वह जीवन निर्वाह के ऐसे साधनो का रूप धारण कर लेती है, जिनसे मजदूर का शरीर खरीद लिया जाता है, वह उत्पादन के ऐसे साधनो का रूप धारण कर लेती है, जो उल्टे उत्पादको पर हुक्म चलाने लगते ह।[1] इसलिये, मजदूर लगातार भौतिक एव वस्तुगत धन पदा करता रहता है, परन्तु यह धन पूजी के रूप में होता है, वह एक ऐसी परायी शक्ति के रूप में होता है, जो मजदूर को अपना ताबेदार बना लेती है और उसका शोषण करती है, और पूजीपति उतने ही लगातार ढग से श्रम-शक्ति पदा करता रहता है, परन्तु यह श्रम शक्ति धन के एक वयक्तिक स्रोत के रूप में होती है, जो उन वस्तुओ से अलग हो जाता है, जिनकी मदद से और जिनके रूप में ही यह स्रोत काम में आ सकता है, – सक्षेप में, पूजीपति लगातार श्रमजीवी को पैदा करता

[1] "यह उत्पादक श्रम का एक बहुत ही अनोखा गुण है। जिस किसी वस्तु का उत्पादक ढग से उपभोग किया जाता है, वह पूजी है, और वह उपभोग के जरिये पूजी बनती है।" (James Mill, उप० पु०, पृ० २४२।) मगर जेम्स मिल इस "बहुत ही अनोखे गुण" की तह तक कभी न पहुच पाये।

जाता है, मगर यह श्रमजीवी मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूर के रूप में होता है।[1] यह अनवरत पुनरुत्पादन, मजदूर की नस्ल को क़ायम रखने की यह क्रिया पूंजीवादी उत्पादन का conditio sine qua non (अपरिहार्य शर्त) होती है।

मजदूर दो तरह से उपभोग करता है। उत्पादन करते समय वह अपने श्रम के द्वारा उत्पादन के साधनों का उपभोग करता है और उनको शुरू में लगायी गयी पूंजी के मूल्य से अधिक मूल्य की पैदावार में बदल देता है। यह उसका उत्पादक उपभोग है। यह क्रिया साथ ही उसकी श्रम-शक्ति के उपभोग की भी क्रिया होती है। उसकी श्रम-शक्ति का यह पूंजीपति उपभोग करता है, जिसने श्रम-शक्ति को खरीद रखा है। दूसरी ओर, मजदूर को उसकी श्रम शक्ति के एवज में जो मुद्रा मिलती है, उसको वह जीवन निर्वाह के साधनों में बदल डालता है। यह उसका व्यक्तिगत उपभोग है। इसलिये, मजदूर का उत्पादक उपभोग और उसका व्यक्तिगत उपभोग बिल्कुल अलग-अलग होते हैं। उत्पादक उपभोग में वह पूंजी की चालक शक्ति का काम करता है, और उसपर पूंजीपति का अधिकार होता है, व्यक्तिगत उपभोग में अपने ऊपर उसका खुद अपना अधिकार होता है, और वह उत्पादन की प्रक्रिया के क्षेत्र के बाहर अपने जीवन के लिये आवश्यक कुछ काम करता है। एक का परिणाम यह होता है कि पूंजीपति जिन्दा रहता है, दूसरे के फलस्वरूप मजदूर जिन्दा रहता है।

काम के दिन पर विचार करते हुए हमने देखा था कि मजदूर को अक्सर मजबूर होकर अपने व्यक्तिगत उपभोग को उत्पादन की प्रक्रिया का एक अंग मात्र बना देना पड़ता है। ऐसी हालत में मजदूर अपनी श्रम शक्ति को कायम रखने के हेतु जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का ठीक उसी तरह उपभोग करता है, जिस तरह से भाप से चलने वाला इंजन कोयले और पानी का और पहिया तेल का उपभोग करते हैं। तब उसके उपभोग के साधन उत्पादन के किसी साधन के लिये आवश्यक उपभोग के साधन होते हैं, तब उसका व्यक्तिगत उपभोग प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक उपभोग होता है। किन्तु यह एक ऐसी बुराई प्रतीत होती है, जो बुनियादी तौर पर पूंजीवादी उत्पादन के साथ नहीं जुड़ी हुई है।[2]

जब हम एक अकेले पूंजीपति और एक अकेले मजदूर पर नहीं, बल्कि पूरे पूंजीपति-वर्ग और पूरे मजदूर-वर्ग पर विचार करते हैं, यानी जब हम उत्पादन की किसी एक अलग प्रक्रिया

---

[1] "यह निश्चय ही सच है कि शुरू-शुरू में किसी उद्योग के चालू होने से बहुत से गरीबों को नौकरी मिल जाती है, मगर उनकी गरीबी दूर नहीं होती और अगर यह उद्योग कायम रहता है, तो वह बहुत से नये लोगों को गरीब बना देता है।" (*Reasons for a Limited Exportation of Wool* ['ऊन का सीमित निर्यात करने के कारण'], London 1677, पृ० १६।) "अब काश्तकार बिल्कुल बेतुके ढंग से यह दावा करता है कि वह गरीबों को पालता पोसता है। इसमें शक नहीं कि वह उन लोगों को गरीबी में रखता है।" (*'Reasons for the Late Increase of the Poor Rates or a Comparative View of the Prices of Labour and Provisions* ['मुहताजों की सहायता के लिये लगाये गये कर में इतनी देर के बाद वृद्धि करने के कारण, या श्रम तथा खाने पीने की वस्तुओं के दामों का तुलनात्मक अध्ययन'], London 1777 पृ० ३१।)

[2] रास्सी यदि सचमुच 'उत्पादक उपभोग" के रहस्य को समझने में सफल हुए होते, तो वह इसके विरुद्ध इतने जोरों से शोर न मचाते।

पर नहीं, बल्कि अपने वास्तविक सामाजिक पैमाने पर पूरे जोर से चालू पूंजीवादी उत्पादन पर विचार करते है, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने आता है। अपनी पूजी के एक भाग को श्रम शक्ति में बदलकर पूजीपति अपनी पूरी पूजी के मूल्य में वृद्धि कर देता है। वह एक पथ दो काज करता है। उसे मजदूर से जो कुछ मिलता है, उससे तो वह मुनाफा कमाता ही है, वह खुद मजदूर को जो कुछ देता है, उससे भी मुनाफा कमाता है। श्रम शक्ति के एवज में दी गयी पूजी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ में बदल दी जाती है, जिनके उपभोग से मौजूदा मजदूरो की मास पेशियो, स्नायुओ, हड्डियो और मस्तिष्क का पुनरुत्पादन होता है और नये मजदूर पैदा किये जाते है। इसलिये, जो नितान्त आवश्यक है, उसकी सीमाओ के भीतर मजदूर-वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग श्रम-शक्ति के एवज में पूजी द्वारा दिये गये जीवन निर्वाह के साधनो को पुन नयी श्रम-शक्ति में बदल देता है, ताकि पूजी उसका शोषण कर सके। मजदूर-वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग उत्पादन के उस साधन का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है, जिसके बिना पूजीपति का काम नहीं चल सकता, – अर्थात् वह स्वय मजदूर का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है। इसलिये, मजदूर का व्यक्तिगत उपभोग चाहे वर्कशाप के भीतर होता हो या उसके बाहर, चाहे उत्पादन की क्रिया का एक भाग हो या न हो, वह हर हालत में पूजी के उत्पादन और पुनरुत्पादन का ही एक तत्व होता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे मशीनो की सफाई चाहे मशीनो के चलते हुए की जाये और चाहे मशीनो के रुक जाने पर, वह पूजी के उत्पादन और पुनरुत्पादन का ही एक अग होती है। इस बात से इसमें कोई फर्क नहीं आता कि मजदूर अपने जीवन निर्वाह के साधनो का पूजीपति को खुश करने के लिये नहीं, बल्कि खुद अपने मतलब से उपभोग करता है। लद्दू जानवर के सामने जो चारा डाला जाता है, उसे खाने में यदि जानवर को मजा आता है, तो इससे इस बात में कोई फर्क नहीं पडता कि उसका चारा खाना उत्पादन की क्रिया का एक आवश्यक अग है। मजदूर-वर्ग को जीवित रखना और उसका पुनरुत्पादन पूजी के पुनरुत्पादन की एक आवश्यक शर्त है और हमेशा रहेगा। लेकिन पूजीपति पूरे भरोसे के साथ इस काम को मजदूर की जीवित रहने और अपनी नस्ल को बढाने की नैसर्गिक प्रवृत्तियो के सहारे छोड सकता है। उसको केवल इतनी ही फिक्र रहती है कि मजदूर के व्यक्तिगत उपभोग को घटाकर जहा तक मुमकिन हो, केवल नितान्त आवश्यक उपभोग तक ही सीमित कर दिया जाये, और वह निश्चय ही दक्षिणी अमरीका के उन बेरहम खान-मालिको की कभी नकल नहीं करता, जो अपने मजदूरो को कम पौष्टिक भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन जबर्दस्ती खिलाना ज्यादा पसन्द करते है।[1]

---

[1] "दक्षिणी अमरीका की खानो मे काम करने वाले मजदूरो का दैनिक काम (जो शायद दुनिया मे सबसे भारी काम है) यह है कि वे १८० से २०० पौण्ड तक वजन की धातु को ४५० फुट की गहराई से अपने कधो पर लादकर खान के अन्दर से जमीन की सतह तक लाते है। पर ये लोग केवल रोटी और सेम की फलियो पर जिन्दा रहते है। वे खुद तो महज रोटी ही खाना पसन्द करते, मगर उनके मालिको को चूकि यह पता है कि इनसान महज रोटी खाकर इतनी सख्त मेहनत नही कर सकते, इसलिये वे मजदूरो के साथ घोडो जैसा व्यवहार करते है और उनको जबर्दस्ती सेम की फलिया खिलाते है। बेशक फलियो मे रोटी की अपेक्षा वह चूना (चूने का फासफेट) ज्यादा होता है, जिससे हड्डिया बनती है।" (Liebig उप० पु०, खण्ड १, पृ० १९४, नोट।)

अत पूजीपति और उसका सिद्धातकार प्रतिनिधि, अर्थशास्त्री, दोना मजदूर के व्यक्तिगत उपभोग में केवल उसी भाग को उत्पादक समझते हैं, जो मजदूर-वर्ग को जिंदा रखने के लिये आवश्यक होता है और इसलिये जिसके बिना पूजीपति को शोषण करने के लिये श्रम शक्ति नहीं मिल सकती, इस भाग के आगे मजदूर जो कुछ अपने मजे के लिये खर्च करता है, वह अनुत्पादक उपभोग की मद में आता है।[1] यदि पूजी के सचय से मजदूरी में वृद्धि और मजदूर के उपभोग में कुछ इजाफा हो जाये, पर उसके साथ-साथ पूजी के द्वारा श्रम शक्ति के उपभोग में कोई वृद्धि न हो, तो नयी पूजी का अनुत्पादक ढग से उपभोग होने लगेगा।[2] असल में, जहा तक खुद मजदूर का सम्बध है, उसका व्यक्तिगत उपभोग अनुत्पादक होता है, क्योंकि उससे एक जरूरतमद व्यक्ति के अतिरिक्त और किसी चीज का पुनरुत्पादन नहीं होता, पर पूजीपति और राज्य के लिये उसका व्यक्तिगत उपभोग उत्पादक उपभोग होता है, क्योंकि उससे उस शक्ति का उत्पादन होता है, जो उनके धन को उत्पन्न करती है।[3]

इसलिये, जब मजदूर-वर्ग प्रत्यक्ष रूप से श्रम-क्रिया में व्यस्त नहीं होता, सामाजिक दृष्टि से तब भी वह श्रम के साधारण औजारो की तरह ही पूजी का उपाग होता है। कुछ खास सीमाओ के भीतर उसका व्यक्तिगत उपभोग तक उत्पादन की प्रक्रिया का एक तत्व मात्र होता है। किंतु उत्पादन की प्रक्रिया इसका पूरा खयाल रखती है कि ये सचेतन औजार उसको बीच मझधार में छोडकर अलग न हो जायें। इसके लिये वह उनकी पैदावार को, जसे ही वह बनकर तयार होती है, उनके ध्रुव से हटा कर पूजी के प्रति-ध्रुव पर पहुचा देती है। व्यक्तिगत उपभोग से, एक तरफ, श्रम के इन सचेतन औजारो के जिंदा रहने और पुनरुत्पादन के साधन मिल जाते ह, दूसरी ओर, व्यक्तिगत उपभोग जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ को नष्ट करके श्रम की मण्डी में मजदूर के हमेशा मौजूद रहने का पक्का प्रबध कर देता है। रोमन गुलाम को जजीरो से बाधकर रखा जाता था, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर को उसके मालिक के साथ अदृश्य धागा से बाध दिया जाता है। मजदूरो के मालिको के लगातार होने वाले परिवर्तनो और करार के fictio juris (कानूनी झूठ) के जरिये मजदूर की आजादी का दिखावटी ढोग कायम रखा जाता है।

पुराने वक्तो में जब कभी पूजी को इसकी आवश्यकता होती थी, वह कानून बनाकर स्वतत्र मजदूर पर अपना स्वामित्व का अधिकार जमा देती थी। उदाहरण के लिये, १८१५ तक इगलण्ड

---

[1] James Mill उप० पु०, प० २३८।

[2] "यदि श्रम का दाम इतना अधिक बढ जाये कि पूजी की वृद्धि के बावजूद और अधिक श्रम से काम लेना असम्भव हो जाये, तो मैं कहूगा कि पूजी की इस प्रकार की वृद्धि का अब भी अनुत्पादक ढग से उपभोग होगा।" (Ricardo उप० पु०, पृ० १६३।)

[3] "जिसे सचमुच उत्पादक उपभोग कहा जा सकता है, वह केवल वह उपभोग है, जिसम पजीपति पुनरुत्पादन करने के उद्देश्य से धन का उपभोग करते हैं या धन को" (यहा धन से उसका मतलब उत्पादन के साधना से है) "नष्ट करते हैं जो व्यक्ति मजदूर का नाकर रखता है, उसके लिये और राज्य के लिये मजदूर एक उत्पादक उपभोगी हाना है, लेकिन अगर बिल्कुल सही-सही देखा जाये, ता खुद अपने लिये वह उत्पादक उपभोगी नहीं होना।" (Malthus, *Definitions etc* [माल्थूस, 'परिभाषाए, इत्यादि'], प० ३०।)

के मशीन बनाने वाले कारीगरो को देश छोडकर जाने की सख्त मनाही थी। जो कोई इस प्रतिबध को भग करता था, उसको भयानक कष्ट उठाना पडता था और कठोर दण्ड का भागी बनना पडता था।

मजदूर-वग के पुनरुत्पादन पे साथ-साथ निपुणता का सचय होता चलता है, जिसे हर पीढी अपने बाद में आने वाली पीढी को सौंपती जाती है।[1] जसे ही कोई सकट आता है और इस बात का खतरा पदा होता है कि पूजीपति को निपुण मजदूर अब और नहीं मिलेंगे, वसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पूजीपति इस प्रकार के निपुण वर्ग के अस्तित्व को किस हद तक उत्पादन के उन तत्वो में गिनता है, जिनपर उसको स्वामित्व का अधिकार प्राप्त है, और किस हद तक वह सचमुच उसको अपनी अस्थिर पूजी की वास्तविकता समझता है। जब अमरीका में गृह-युद्ध छिड गया और उसके साथ-साथ जब कपास का अकाल पडा, तब, जसा कि सब जानते ह, लकाशायर की सूती मिलो के अधिकतर मजदूरों को काम से जवाब मिल गया। उस वक्त मजदूर-वर्ग और समाज के अन्य हलको, दोनो ही क्षेत्रो से यह आवाज उठी कि "फालतू" मजदूरो को देश छोडकर उपनिवेशो को या सयुक्त राज्य अमरीका को चले जाने के लिये राज्य की ओर से सहायता मिलनी चाहिये या राष्ट्रीय पैमाने पर सभी लोगो से चन्दा करके उनको मदद दी जानी चाहिये। इसपर *The Times*" ने २४ माच १८६३ को मानचेस्टर के चेम्बर्स आफ कामस के एक भूतपूव अध्यक्ष, एडमण्ड पोटर का एक पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र को हाउस आफ कामन्स में ठीक ही कारखानेदारो का घोषणा-पत्र कहा गया था।[2] यहा पर हम इस पत्र से कुछ ऐसे विशिष्ट अश छाटकर उदधृत कर रहे ह, जिनमें बिना शम हया के श्रम शक्ति पर पूजी के स्वामित्व के अधिकार का दावा किया गया है।

"उस आदमी को" (जिस आदमी की रोजी छूट गयी है) "बताया जा सकता है कि सूती मिलो में काम करने वाले मजदूरो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी है और सच तो यह है कि उसमें शायद एक तिहाई की कमी करना आवश्यक हो गया है, और उसके बाद जो दो तिहाई मजदूर बचेंगे, उनके लिये एक स्वस्थ ढग की माग होगी जनमत उनके परावास के पक्ष में है मालिक इसके लिये राजी नहीं हो सकता कि उसके लिये श्रम की पूर्ति का स्रोत ही खतम कर दिया जाये, उसके विचार से यह सुझाव गलत भी और दोषपूर्ण भी हो सकता है लेकिन यदि सावजनिक कोष का परावास में सहायता देने के लिये ही उपयोग किया जाना है, तो मालिक को अपनी बात कहने और शायद इसका विरोध करने का हक भी है।" इसके आगे मि० पोटर ने यह बताया है कि सूती व्यवसाय कितना लाभदायक है, किस प्रकार इस "धधे ने आयरलण्ड और इगलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टो की फालतू आबादी को खींच लिया

---

[1] "केवल एक ही चीज है, जिसके बारे मे हम कह सकते है कि वह पहले से सचित होती जाती है और तैयार की जाती है। वह है मजदूर की निपुणता निपुण श्रम का सचय और सग्रह, यह अति महत्वपूर्ण क्रिया, जहा तक अधिकतर मजदूरा का सम्बध है, बिना किसी पूजी के ही सम्पन्न हो जाती है।' (Th Hodgskin *Labour Defended &c*' [टामस होजस्किन, 'श्रम का समथन, इत्यादि'], प० १३।)

[2] "उस खत को कारखानेदारो का घोषणा पत्र समझा जा सकता है।" (Ferrand "*Motion on the Cotton Famine* [फेर्राण्ड, कपास के अकाल पर प्रस्ताव'], हाउस आफ कामन्स, २७ अप्रैल १८६३।)

है," वह कितना विस्तार प्राप्त कर चुका है, किस प्रकार १८६० में इंगलण्ड के कुल निर्यात माल का $\frac{५}{१३}$ भाग इस धंधे का तैयार किया हुआ था और किस तरह कुछ वर्षों के बाद, जब मण्डी का विस्तार हो जायेगा और खास कर जब हिंदुस्तानी मण्डी का विस्तार हो जायगा और कपास ६ पेंस फी पौण्ड के भाव पर बहुतायत के साथ मिलने लगेगी, तब यह धंधा फिर से विस्तार प्राप्त कर लेगा। इसके बाद मि० पोटर ने लिखा है "किसी न किसी दिन एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में आवश्यक मात्रा फिर मिलने लगेगी मैं जो सवाल करना चाहता हूं, वह यह है क्या यह धंधा इस लायक है कि उसे जिंदा रखा जाये? क्या वह इस लायक है कि इन मशीनों को (यहां उसका मतलब श्रम करने वाली जीवित मशीनों से है) अच्छी हालत में रखा जाये, और उनसे हाथ धो बैठना क्या हद दर्जे की मूर्खता नहीं होगी? मैं तो समझता हूं कि यह बड़ी भारी मूर्खता होगी। मैं यह मानता हूं कि मजदूर किसी की सम्पत्ति नहीं हैं ('I allow that the workers are not a property"), वे लंकाशायर की या मालिकों की सम्पत्ति नहीं हैं। लेकिन वे इन दोनों की शक्ति तो हैं, वे एक ऐसी मानसिक एवं प्रशिक्षित शक्ति हैं, जिसका स्थान एक पीढ़ी तक नहीं भरा जा सकता, हालांकि जिन मशीनों पर वे काम करते हैं (the mere machinery which they work), उनमें से बहुत सी ऐसी हैं, जिनको लाभपूर्वक बारह महीने के अन्दर ही हटाकर उनकी जगह नयी और पहले से बेहतर मशीनें लगायी जा सकती हैं।[1] श्रम शक्ति को विदेश चले जाने के लिये प्रोत्साहन दीजिये या इसकी अनुमति (!) दे दीजिये, – फिर पूंजीपति का क्या होगा? (Encourage or allow the working-power to emigrate, and what of the capitalist?") मजदूरों में जो सर्वोत्तम लोग हैं, उनको हटा दीजिये, – अचल पूंजी का भारी मात्रा में मूल्य ह्रास हो जायेगा और चल पूंजी उस खराब किस्म के श्रम के साथ संघर्ष करने को राजी नहीं होगी, जो बहुत थोड़ी मात्रा में मिलेगा हमसे कहा जाता है कि मजदूर इसे" (परावास का) "चाहते हैं। उनके लिये ऐसी चाह करना तो बहुत स्वाभाविक है सूती व्यवसाय की काय

---

[1] पाठक यह नहीं भूले होंगे कि साधारण परिस्थितियों में, जब मजदूरी कम करने का सवाल सामने आता है, तब यही पूंजी सर्वथा दूसरा राग अलापने लगती है। तब मालिक लोग एक स्वर में यह कहते हैं कि "फ़ैक्टरी के मजदूरों को यह तथ्य अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि उनका श्रम वास्तव में एक हीन कोटि का निपुण श्रम है और दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिये इससे अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम निपुणता रखने वाले किसी विशेषज्ञ से थोड़ी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इससे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मजदूर के श्रम तथा निपुणता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं' (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि इन मशीनों को १२ महीने के अन्दर ही हटाकर उनकी जगह पर नयी मशीनें लगायी जा सकती हैं), 'और यह निपुणता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है, और कोई भी साधारण खेत मजदूर उसे प्राप्त कर सकता है" (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि यह निपुणता ३० वर्ष में भी नहीं प्राप्त की जा सकती)। (देखिये इसी पुस्तक में पीछे पृष्ठ ४७८।)

कारी शक्ति को छीनकर (by taking away its working power) या मजदूरी के खर्चे में, मान लीजिये, पाचवें हिस्से की–या पचास लाख की–कमी करके इस धधे का विस्तार कम कर दीजिये, उसे दबाकर छोटा कर दीजिये और फिर देखिये कि मजदूरो के ऊपर जो वर्ग है,–यानी छोटे छोटे दूकानदार,– उनका क्या हाल होता है? और जमीन के लगान का, झोपडो के किरायो का क्या हाल होता है? फिर यह भी पता लगाइये कि इस सबका छोटे काश्तकारो पर, खाते-पीते गृहस्थो पर और जमींदारो पर क्या असर होता है? और तब बताइये कि क्या देश के सभी वर्गों के लिये इससे अधिक आत्मघाती सुझाव कोई और हो सकता है कि राष्ट्र की कल कारखानो में काम करनेवाली आबादी के सर्वोत्तम भाग का निर्यात करके और उसकी सबसे अधिक उपजाऊ उत्पादक पूजी और धन बढाने के साधनो के एक भाग के मूल्य को नष्ट करके राष्ट्र को निबल बना दिया जाये। मेरी तो यह सलाह है कि (पचास या साठ लाख पौण्ड स्टर्लिंग के) एक ऋण का प्रबध किया जाये उसे सम्भवतया दो या तीन वर्षों पर फलाया जा सकता है, और उसकी व्यवस्था करने के लिये विशेष कानून बनाकर सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टो के सरक्षको के बोर्डों में कुछ विशेष नये कमिश्नर जोड दिये जायें और इस तरह मजदूरो के लिये किसी धधे का या किसी प्रकार के श्रम का इन्तजाम किया जाये, ताकि जिन लोगो को ऋण दिया जाये, उनका कम से कम नैतिक स्तर कायम रहे जमींदारो या मालिको के लिये इससे बुरी बात और क्या हो सकती है (can anything be worse for landowners or masters) कि उनके सबसे अच्छे मजदूर उनसे छिन जायें और बाकी का एक दीर्घ एव आरेचक परावास के फलस्वरूप और एक पूरे प्रान्त में पूजी तथा मूल्य के आरेचन के परिणामस्वरूप नैतिक मनोबल टूट जाये और वे निराशा के गर्त में डूब जायें?"

कारखानेदारो के विशिष्ट प्रवक्ता, पोटर, ने दो किस्म की "मशीनो" में भेद किया है। दोनो ही प्रकार की मशीनें पूजीपति की सम्पत्ति होती ह, पर उनमें से एक प्रकार की मशीनें सदा फक्टरी में खडी रहती ह, जब कि दूसरी प्रकार की मशीनें रात के समय और इतवार के दिन फैक्टरी के बाहर, झोपडियो में रहती हैं। एक किस्म निर्जीव मशीनो की होती है, दूसरी जीवित मशीनो की। निर्जीव मशीनें न सिफ रोज ब रोज घिसती जाती ह और उनका मूल्य ह्रास होता जाता है, बल्कि उनका एक बडा भाग निरन्तर होनेवाली प्राविधिक प्रगति के कारण इतनी जल्दी पुराना पड जाता है कि चन्द महीनो के बाद ही उनको हटाकर नयी मशीनें लगाने में फायदा नजर आने लगता है। इसके विपरीत, जीवित मशीनो से जितनी ज्यादा देर तक काम लिया जाता है और एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को विरासत के रूप में मिलने वाली दक्षता जितनी अधिक सचित होती जाती है, ये मशीनें उतनी ही अधिक उपयोगी बनती जाती ह। "*The Times* ने सूती कपडे के इस सेठ को यह जवाब दिया था

"मि० एडमण्ड पोटर सूती मिलो के मालिको के असाधारण एव सर्वोच्च महत्व से इतने अधिक प्रभावित ह कि इस वग को जीवित रखने तथा उसके धधे को अमर बनाने के उद्देश्य से वह श्रमजीवी वग के पाच लाख लोगो को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक विशाल नतिक मुहताजखाने में बन्द करके रखना चाहते ह। मि० पोटर ने प्रश्न किया है कि क्या यह धधा इस लायक है कि उसे जिन्दा रखा जाये? हम उत्तर देते ह कि हा, निस्सन्देह वह इस लायक है कि उसे ईमानदारी के तरीको से जिन्दा रखा जाये। मि० पोटर फिर सवाल करते ह कि क्या यह इस लायक है कि इन मशीनो को अच्छी हालत में रखा जाये? इस सवाल का जवाब देने में हमें हिचकिचाहट होती है। "मशीनो" से मि० पोटर का मतलब मानव-मशीनो से है, क्योंकि इसके

आगे वह यह कहते ह कि इन मशीनो का सयथा अपनी सम्पत्ति के रूप में उपयोग करने का उनका कोई इरादा नहीं है। हमें यह बात स्वीकार करनी पडती है कि हम इसे न तो उपयुक्त और न सम्भव ही समझते ह कि मानव-मशीनो को अच्छी हालत में रखा जाये, — यानी जब तक कि उनकी फिर जरूरत नहीं होती, तब तक के लिये उनको तेल वेल लगाकर कहीं बन्द कर दिया जाये। मानव-मशीनें यदि निष्क्रिय रहती ह, तो उनमें आप चाहे जितना तेल लगायें और उनको चाहे जितना घिसे-माजे, वे मोरचा जरूर खायेंगी। इसके अलावा, जसा कि हम अभी देख चुके ह, मानव मशीनो में अपने आप भाप भर जायेंगी और फिर वे या तो फट पडेंगी या हमारे बडे-बडे शहरो में पागल होकर मार-पीट करने लगेंगी। जसा कि मि० पोटर का कहना है, मजदूरो के पुनरुत्पादन में कुछ समय लग सकता है, लेकिन जब मशीनो पर काम करने वाले निपुण कारीगर और पूजीपति दोनो हमारे देश में मौजूद हैं, तो हमें लगन से काम करने वाले परिश्रमी और उद्योगी व्यक्ति हमेशा मिल सकते ह, जिनमें से हम इतनी बडी सख्या में निपुण मजदूर तैयार कर सकते ह, जिसकी हमें कभी आवश्यकता नहीं होगी। मि० पोटर का कहना है कि एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में व्यवसाय में नयी जान पड जायेगी, और इसलिये वह हमसे चाहते ह कि कायकारी शक्ति को विदेशो को चले जाने के लिय प्रोत्साहन या अनुमति (!) न दी जाये। उनका कहना है कि यह बहुत स्वाभाविक बात है कि मजदूर विदेशो को जाना चाहते ह, परन्तु मि० पोटर की राय है कि इन लोगा की इच्छा के बावजूद राष्ट्र को चाहिये कि इन पाच लाख मजदूरो को, उनके ७ लाख आश्रिता समेत, सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टो में बन्द करके रखे। और इसके लाजिमी नतीजे के तौर पर मि० पोटर की, जाहिर है, यह भी राय है कि इन लोगो के असन्तोष को राष्ट्र को बलपूवक दबा देना चाहिये और उनको भीख के जरिये और इस उम्मीद के सहारे जिन्दा रखना चाहिये कि हो सकता है कि किसी दिन सूती मिलो के मालिको को उनकी जरूरत हो अब इन द्वीपा के महान जनमत के मदान में उतरने का और इस "कार्यकारी शक्ति" की उन लोगा से रक्षा करने का समय आ गया है, जो उसके साथ लोहे, कोयले और कपास के समान व्यवहार करना चाहते ह" (to save this *working power*" from those who would deal with it as they would deal with iron and coal, and cotton")[1]

परतु *The Times*" का लेख केवल अपनी चतुराई (jeu d'esprit) दिखाने के लिये लिखा गया था। "महान जनमत" भी असल में मि० पोटर के ही मत का था। वह भी यहा सोचता था कि फक्टरी-मजदूर फक्टरी के अस्थावर उपकरणो का ही एक भाग होते ह। चुनाचे, मजदूरो के परावास पर रोक लगा दी गयी।[2] उनको उस "नतिक मुहताजखाने" में, सूती

---

[1] *The Times*, २४ माच १८६३।

[2] ससद ने परावास की सहायता के लिये एक पाई भी खच करने की इजाजत नही दी, बल्कि कुछ ऐसे कानून पास कर दिये, जिनमे नगरपालिकाओ को मजदूरा को अधभूखी हालत में रखन — यानी साधारण मजदूरी से भी कम देकर उनका शोषण करने — का अधिकार द दिया गया था। दूसरी ओर, इसक ३ वष बाद जब पशुओ मे बडे पमाने पर बीमारी फली, तो ससद ने अपनी सारी रूढिया को यकायक ताडकर फेंक दिया और करोडपति जमीदारा की क्षतिपूर्ति करन के लिये झट से करोडा की रकम खच करने की इजाजत दे दी, हालाकि मास का भाव बढ जाने के कारण इन जमीदारा के काश्तकारा का तो बिलकुल काई नुकसान नहीं हुआ। १८६६ में ससद का अधिवशन आरम्भ हाने के समय इन भू-स्वामिया न बैला की भाति जिस तरह डकराना शुरू कर दिया था, उसम प्रकट हाता था कि आदमी हिन्दू न हान पर भी 'सबला' गऊ माता की पूजा कर सकता है और जुपिटर न हात हुए भी कभी-कभी बैल बन सकता है।

व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टो में, बन्द कर दिया गया, और आज वे पहले की तरह ही लकाशायर के सूती मिलो के मालिको की "शक्ति" (the strength) बने हुए है।

इसलिये, पूजीवादी उत्पादन खुद ही श्रम-शक्ति और श्रम के साधनो के बीच पाये जाने वाले अलगाव को पुन पैदा कर देता है। इस तरह वह मजदूर के शोषण के लिये आवश्यक परिस्थितियो का पुनरुत्पादन करता रहता है और उनको स्थायी बना देता है। वह सदा मजदूर को इसके लिये मजबूर करता है कि यदि वह जिन्दा रहना चाहता है, तो अपनी श्रम-शक्ति बेचे, उधर पूजीपति को वह यह अवसर देता है कि श्रम शक्ति को खरीदकर वह अपना धन बढ़ाये।[1] अब मण्डी में पूजीपति और मजदूर का ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में खडा होना कोई सयोग की बात नहीं रह जाती। खुद उत्पादन की क्रिया ही मजदूर को बार-बार श्रम शक्ति के विक्रेता के रूप में मण्डी में झोकती जाती है और उसकी पदावार को एक ऐसे साधन में बदलती जाती है, जिसके जरिये कोई और आदमी मजदूर को खरीद सकता है। वास्तव में तो मजदूर पूजी के हाथ अपने को बेचने के पहले से ही पूजी की सम्पत्ति होता है। उसको समय-समय पर जिस तरह अपने आप को बेचना पडता है, जिस तरह अपने मालिको को बदलना पडता है और श्रम-शक्ति के बाजार-भाव में जिस तरह के उतार-चढाव आते रहते है,—ये सारी बातें मजदूर की आर्थिक दासता[2] के कारणो का भी काम करती है और उसके आवरण का भी।[3]

---

[1] "L ouvrier demandait de la subsistence pour vivre, le chef demandait du travail pour gagner ["मजदूर रोटी कपडा चाहता है, ताकि जिन्दा रह सके, मालिक श्रम चाहता है, ताकि मुनाफा कमा सके"]। (Sismondi, उप० पु०, पृ० ९१।)

[2] इस दासता का एक बबर ढग से भद्दा रूप डरहम नामक काउण्टी म देखने को मिलता है। यह उन चन्द काउटियो में से है, जिनमे ऐसी परिस्थितिया पायी जाती है, जिनके फलस्वरूप काश्तकार को खेतिहर मजदूर पर स्वामित्व का अधिकार निर्विवाद रूप मे नही मिला हुआ है। खानो के उद्योग के कारण काश्तकारो के लिये काम करना या न करना कुछ हद तक खेतिहर मजदूरा की इच्छा पर निभर करता है। अन्य स्थाना मे जो प्रथा पायी जाती है, उसके विपरीत इस काउण्टी के काश्तकार केवल ऐसे फाम लगान पर लेते है, जिनकी जमीन पर मजदूरो की झोपडिया भी बनी होती है। झोपडी का किराया मजदूरी का हिस्सा होता है। ये झोपडिया "hind s houses' ("खेत मजदूरा के घर") कहलाती है। वे कुछ सामन्ती ढग की हरी-बेगार के एवज मे मजदूरो को किराये पर उठा दी जाती है। मजदूर और काश्तकार के बीच एक करार हो जाता है, जो bondage ('बधक") कहलाता है। इसमे अन्य बाता के अलावा यह शत भी होती है कि जिन दिनो मजदूर कही और नौकरी करने जायेगा, उन दिना वह अपने स्थान पर किसी और का, जैसे अपनी बेटी को, छोड जायेगा। मजदूर खुद bondsman ("क्रीतदास") कहलाता है। यहा जिस प्रकार का सम्बध स्थापित होता है, उससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मजदूर द्वारा किया जान वाला व्यक्तिगत उपभोग किस प्रकार एक बिल्कुल नये दृष्टिकोण से पूजी के हित मे किया गया उपभोग, अर्थात् उत्पादक उपभोग, बन जाता है। "यह बात देखने में बहुत अजीब लगती है कि नौकर और क्रीतदास का पाखाना तक उसके सामन्त के काम मे आता है, जो सब चीजो का पहले से ही हिसाब लगा लेता है और सामन्त अपने शौचगृह के अलावा आस-पास मे कोई और शौचगृह नही बनन देता। वह अपने जमीदाराना हका मे जरा भी कमी करने के मुकाबले में यह ज्यादा पसन्द करता है कि किसी के बगीचे के लिये थोडी-बहुत खाद अपने पास से दे दे।" ('*Public Health Report VII, 1864* ['सावजनिक स्वास्थ्य की ७ वी रिपोट, १८६४'], पृ० १८८।)

[3] पाठक यह नही भूल हागे कि जहा बच्चा आदि से काम कराने का सवाल होता है, वहा अपना श्रम अपनी मर्जी स बेचन की रस्म पूरी करने की भी जरूरत नहीं रहती।

इसलिये, पूजीवादी उत्पादन एक निरतर चलने वाली सम्बद्ध क्रिया के रूप में, या पुनरुत्पादन की क्रिया के रूप में, केवल मालो का या केवल अतिरिक्त मूल्य का ही उत्पादन नहीं करता, बल्कि वह पूजीवादी सम्बध का, एक तरफ पूजीपति का तथा दूसरी तरफ मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूर का भी उत्पादन और पुनरुत्पादन करता है।[1]

---

[1] 'पूजी के लिये मजदूरी का और मजदूरी के लिये पूजी का अस्तित्व आवश्यक है। उनमे से प्रत्येक दूसरे के अस्तित्व के लिये जरूरी है, और दोना एक दूसरे को जन्म देते ह। क्या किसी सूती मिल मे काम करने वाला मजदूर सूती सामान के सिवा और कुछ नही पैदा करता? नही, वह पूजी पैदा करता है। वह उन मूल्यो को पैदा करता है, जिनसे उसके श्रम पर पूजी को नया अधिकार प्राप्त हो जाता है, और इस अधिकार के द्वारा वह नये मूल्य पैदा करता है।" (Karl Marx, *'Lohnarbeit und Kapital* [काल मार्क्स, 'मजदूरी और पूजी'], *Neue Rheinische Zeitung*, अक २६६, ७ अप्रैल १८४६, में, '*Neue Rheinische Zeitung* मे उपर्युक्त शीर्षक से जो लेख प्रकाशित हुए थे, वे मेरे कुछ भाषणा के अश थे। मैंने ये भाषण इसी विषय पर १८४७ मे ब्रूसेल्स की "Arbeiter Verein' ('मजदूर परिषद') के सामने दिये थे, और फरवरी की क्राति के कारण उनका प्रकाशन बीच म ही रुक गया था।

चौबीसवा अध्याय

अतिरिक्त मूल्य का पूजी में रूपान्तरण

अनुभाग १ – उत्तरोत्तर बढते हुए पैमाने का पूजीवादी उत्पादन। मालो के उत्पादन के सम्पत्ति सम्वधी नियमो का पूजीवादी हस्तगतकरण के नियमो मे वदल जाना

अभी तक हम इसकी छान-बीन करते आये ह कि पूजी से अतिरिक्त मूल्य कसे उत्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि अतिरिक्त मूल्य से पूजी कैसे पदा होती है। अतिरिक्त मूल्य को पूजी के रूप में इस्तेमाल करना, उसे पुन पूजी में बदल देना, पूजी का सचय कहलाता है।[1]

आइये, पहले हम किसी एक पूजीपति के दृष्टिकोण से इस क्रिया पर विचार करें। मान लीजिये कि सूत की कताई का व्यवसाय करने वाले किसी पूजीपति ने १०,००० पौण्ड की पूजी लगा रखी है। उसके पाच में से चार हिस्से (८,००० पौण्ड) कपास, मशीनो आदि पर और एक हिस्सा (२,००० पौण्ड) मजदूरी पर खच हुए ह। मान लीजिये, वह साल भर में २,४०,००० पौण्ड सूत तयार करता है, जिसका मूल्य १२,००० पौण्ड के वराबर होता है। अतिरिक्त मूल्य की दर चूकि १०० प्रतिशत है, इसलिये जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, वह ४०,००० पौण्ड सूत की अतिरिक्त अथवा शुद्ध पदावार में – यानी कुल पदावार के छठे भाग में – निहित होता है, जिसका मूल्य २,००० पौण्ड होता है, जो सूत को बेचकर प्राप्त होगा। अब २,००० पौण्ड तो २,००० पौण्ड होते ह। मुद्रा की इस रकम में अतिरिक्त मूल्य का न तो कोई चिह्न दिखाई देता है और न ही उसकी जरा भी बू आती है। जब हमें यह मालूम होता है कि अमुक मूल्य अतिरिक्त मूल्य है, तब हम यह भी जान जाते है कि यह अतिरिक्त मूल्य उसके स्वामी को कसे प्राप्त हुआ था, लेकिन उससे न तो मूल्य के और न मुद्रा के स्वरूप में कोई परिवतन होता है।

यदि तमाम परिस्थितिया पहले जसी रहती ह, तो २,००० पौण्ड की इस अतिरिक्त रकम को पूजी में बदलने के लिये सूत की कताई का व्यवसाय करने वाला पूजीपति उसके पांच में से चार हिस्से (१,६०० पौण्ड) कपास आदि खरीदने पर खच करेगा और एक हिस्सा (४०० पौण्ड) अतिरिक्त मजदूरो को खरीदने में लगायेगा, जिनको मण्डी में जीवन के लिये आवश्यक वे वस्तुए

---

[1] "पूजी का सचय – आय के एक भाग का पूजी की तरह इस्तमाल किया जाना।" Malthus *Definitions* &c [माल्थुस, "परिभाषाए, आदि'], Cazenove का सस्करण, पृ० ११।] ' आय का पूजी मे वदल दिया जाना।" (Malthus, "*Princ of Pol Econ* [माल्थुस 'अथशास्त्र के सिद्धात'], दूसरा सस्करण, London 1836, पृ० ३२०।)

मिल जायेंगी, जिनका मूल्य उसके मालिक ने उनको पेशगी दे दिया है। उसके बाद २,००० पौण्ड की नयी पूजी कताई की मिल में काम करने लगेगी, और अब उससे ४०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा।

पूजी मूल्य शुरू में मुद्रा रूप में लगाया गया था। इसके विपरीत, अतिरिक्त मूल्य शुरू में कुल पदावार के एक खास हिस्से का मूल्य होता है। यदि यह कुल पैदावार बेच दी जाती है और मुद्रा में बदल दी जाती है, तो पूजी-मूल्य पुन अपना मूल रूप प्राप्त कर लेता है। इसके आगे पूजी-मूल्य और अतिरिक्त मूल्य दोनो मुद्रा की दो रकमें होते ह और उनको हूबहू एक ही ढग से पूजी में बदला जाता है। पूजीपति इन दोनो ही रकमो को उन मालो की खरीद पर खच करता है, जिनकी सहायता से वह नये सिरे से अपने सामान का निर्माण शुरू कर सकता है और इस बार जिनकी सहायता से वह पहले से बडे पमाने पर सामान तयार कर सकता है। लेकिन वह इन मालो को तभी खरीद सकता है, जब वे उसे मण्डी में तयार मिल जायें।

खुद उसके सूत का केवल इसलिये परिचलन होता है कि साल भर में उसकी जितनी मात्रा तयार होती है, वह उसे मण्डी में ले जाता है, जिस तरह बाकी तमाम पूजीपति भी अपना अपना माल वहा ले जाते ह। लेकिन मण्डी में आने के पहले ये तमाम माल उस सामान्य वार्षिक पदावार के हिस्से थे, वे हर किस्म की वस्तुओ की उस कुल राशि के भाग थे, जिसमें अलग अलग पूजियो का जोड, अर्थात समाज की कुल पूजी वष भर के अन्दर रूपान्तरित कर दी गयी था और जिसका हर अलग-अलग पूजीपति के हाथ में केवल एक अशेषभाजक भाग ही था। मण्डी में जो सौदे होते ह, उनसे केवल इस वार्षिक पैदावार के अलग अलग हिस्सो की अदला-बदली ही सम्पन्न होती है, वे एक हाथ से निकलकर दूसरे हाथ में चले जाते ह, लेकिन उनसे न तो कुल वार्षिक पदावार में कोई वृद्धि हो सकती है और न ही उत्पादित वस्तुओ के स्वरूप में कोई परिवतन हो सकता है। अतएव, कुल वार्षिक पदावार का क्या उपयोग किया जा सकता है, यह पूरी तरह केवल उसकी अपनी सरचना पर ही निभर करता है और परिचलन पर किसी तरह भी निभर नहीं करता।

वार्षिक पदावार से सबसे पहले तो वे तमाम वस्तुए (उपयोग-मूल्य) मिलनी चाहियें, जिनके द्वारा पूजी के उन भौतिक सघटको का स्थान भर जाना है, जो साल भर में खच हो गये ह। इनको घटा देने पर शुद्ध अथवा अतिरिक्त पैदावार बच जाती है, जिसमें अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। और इस अतिरिक्त पदावार में कौनसी चीजें शामिल होती ह? क्या उसमें केवल वे ही चीजें शामिल होती ह, जिनका काम पूजीपति-वग की आवश्यकताओ और इच्छाओ को पूरा करना होता है और इसलिये जो पूजीपतियो के उपभोग कोष का भाग होती ह? यदि ऐसा होता, तो अतिरिक्त मूल्य का प्याला एकदम खाली हो जाता और उसमें तलछट तक न बचती, और साधारण पुनरुत्पादन के सिवा और कुछ कभी न होता।

सचय करने के लिये अतिरिक्त पदावार के एक भाग को पूजी में बदलना आवश्यक होता है। लेकिन, कोई अलौकिक चमत्कार हो जाये, तो बात दूसरी है, वरना केवल उन्हीं वस्तुओ को पूजी में बदला जा सकता है, जिनको श्रम क्रिया में इस्तेमाल किया जा सकता है (अर्थात जो वस्तुए उत्पादन के साधन होती ह), और इसके अलावा उन वस्तुओ को भी पूजी में बदला जा सकता है, जो मजदूर के भरण-पोषण के लिये उपयुक्त ह (अर्थात् जो वस्तुए जीवन निर्वाह के साधन होती ह)। चुनाचे, शुरू में लगायी गयी पूजी का स्थान भरने के लिये उत्पादन तथा जीवन निर्वाह के साधनो की जिस मात्रा का उत्पादन करना आवश्यक था,

उसके अलावा वार्षिक अतिरिक्त श्रम का एक भाग उत्पादन तथा जीवन निर्वाह के साधनो की एक अतिरिक्त मात्रा के उत्पादन पर खर्च किया गया होगा। सक्षेप में यू कहिये कि यदि अतिरिक्त मूल्य को पूजी में बदला जा सकता है, तो इसका एक मात्र कारण यह है कि जिस अतिरिक्त पदावार का यह मूल्य होता है, उसमें पहले से ही नयी पूजी के भौतिक तत्व मौजूद होते है।[1]

अब इन तत्वो को यदि सचमुच पूजी की तरह काम करना है, तो पूजीपति-वर्ग के पास अतिरिक्त श्रम होना चाहिये। यदि पहले से काम में लगे हुए मजदूरो के शोषण का विस्तार अथवा तीव्रता नहीं बढती, तो अतिरिक्त श्रम शक्ति का पता लगाना आवश्यक होता है। पूजीवादी उत्पादन के यत्र में इसके लिये पहले से ही व्यवस्था कर दी गयी है, क्योकि उसमें मजदूर-वर्ग को मजदूरी पर निर्भर करने वाले एक ऐसे वर्ग में परिणत कर दिया गया है, जिसकी साधारण मजदूरी न केवल उसके जीवन निर्वाह के लिये, बल्कि इस वर्ग की वृद्धि के लिये भी पर्याप्त होती है। मजदूर-वर्ग हर वर्ष अलग-अलग आयु के मजदूरो की शकल में इस अतिरिक्त श्रम शक्ति को तैयार कर देता है। पूजी को बस इतना ही करना होता है कि इस अतिरिक्त श्रम शक्ति का वार्षिक पदावार में शामिल उत्पादन के साधनो के साथ समावेश कर दे, और ऐसा करते ही अतिरिक्त मूल्य का पूजी में रूपान्तरण सम्पन्न हो जाता है। यदि ठोस दृष्टिकोण से देखा जाये, तो सचय का अर्थ यह होता है कि उत्तरोत्तर बढते हुए पमाने पर पूजी का पुनरुत्पादन हो। साधारण उत्पादन जिस वृत्त में घुमता है, उसका रूप बदल जाता है, और यदि सिस्मोदी के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो वह एक कुतल में बदल जाता है।[2]

आइये, अब हम अपने उदाहरण की ओर लौट चलें। वह बिल्कुल उस पुरानी कहानी की तरह है कि इब्राहीम के इसहाक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, इसहाक़ के याकूब नामक पुत्र, और यह वश-परम्परा इसी तरह बढती गयी। मूल पूजी १०,००० पौण्ड की थी, उससे २,००० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पदा हुआ। उसका पूजीकरण हो जाता है। २,००० पौण्ड की नयी पूजी से ४०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है, और उसका भी पूजीकरण हो जाता है और वह एक नयी अतिरिक्त पूजी में बदल दिया जाता है। फिर उसकी बारी आती है, और उससे ८० पौण्ड का नया अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न हो जाता है। और इसी तरह यह क्रम चलता रहता है।

---

[1] हम यहा पर निर्यात व्यापार की ओर कोई ध्यान नही देते, जिसके द्वारा कोई भी राष्ट्र विलास की वस्तुओ को या तो उत्पादन के साधनो में] और या जीवन निर्वाह के साधनो में] बदल सकता है और इसकी उल्टी बात भी कर सकता है। हम जिस विषय की छान बीन कर रहे है, उसको उसकी समग्रता मे तथा समस्त विघ्नकारी गौण परिस्थितियो से अलग करके अध्ययन करने के लिये हमें पूरी दुनिया को एक राष्ट्र समझना और यह मानकर चलना चाहिये कि हर जगह पूजीवादी उत्पादन कायम हो गया है और उसने उद्योग की प्रत्येक शाखा पर अधिकार कर लिया है।

[2] सिस्मोदी ने सचय का जो विश्लेषण किया है, उसमे एक बडा दोष यह है कि वह बहुधा केवल "आय का पूजी मे रूपान्तरण" शब्दो का प्रयोग करके ही सतोष कर लेते है और इस क्रिया की भौतिक परिस्थितियो की तह मे नही जाते।

अतिरिक्त मूल्य के जिस भाग का पूजीपति उपभोग कर डालता है, उसकी ओर हम यहा ध्यान नहीं दे रहे ह। इसी तरह फिलहाल इस बात से भी हमारा कोई सम्बध नहीं है कि नयी पूजी मूल पूजी में जोड दी जाती है या उसे अलग करके उससे स्वतन्त्र रूप से काम लिया जाता है। फिलहाल हम इस बात की भी कोई परवाह नहीं करते कि जिस पूजीपति ने इस अतिरिक्त पूजी का सचय किया है, वह खुद उसका उपयोग करता है या उसे किसी और पूजीपति को दे देता है। हमें केवल यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि नव निर्मित पूजी के साथ साथ मूल पूजी भी अपना पुनरुत्पादन करना और अतिरिक्त मूल्य पदा करना जारी रखती है और यह बात समस्त सचित पूजी तथा उससे उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त पूजी के लिये भी सच होती है।

मूल पूजी का १०,००० पौण्ड पेशगी लगाकर निर्माण किया गया था। यह रकम उसके मालिक के पास कहा से आयी थी? अर्थशास्त्र के समस्त प्रवक्ता एक स्वर से उत्तर देते ह "यह रकम मालिक को खुद उसके और उसके पूर्वजो के श्रम से मिली है।"[1] और सचमुच केवल उनकी यह मान्यता ही मालो के उत्पादन के नियमो के अनुरूप प्रतीत होती है।

परन्तु २,००० पौण्ड की अतिरिक्त पूजी पर यह बात लागू नहीं होती। वह कसे पदा हुई, यह हम अच्छी तरह जानते ह। उसके मूल्य में एक परमाणु भी ऐसा नहीं है, जो अवेतन श्रम से न उत्पन्न हुआ हो। उत्पादन के वे साधन, जिनके साथ अतिरिक्त श्रम शक्ति का समावेश किया जाता है, और जीवन के लिये आवश्यक वे वस्तुए, जिनसे मजदूरो का भरण पोषण होता है, वे सभी अतिरिक्त पदावार के सघटक भागो के सिवा और कुछ नहीं होतीं। वे उस सालाना खिराज का ही हिस्सा होती ह, जो पूजीपति-वग हर साल मजदूर-वग से वसूलता है। जब इस खिराज के एक हिस्से से पूजीपति-वग अतिरिक्त श्रम शक्ति खरीदता है, तब यदि वह उसके पूरे दाम भी दे डालता है और यहा सम-मूल्य का सम-मूल्य के साथ ही विनिमय होता है, तब वह पुराना चकमा ही इस्तेमाल किया जाता है, जिसके द्वारा प्रत्येक विजेता जीते हुए देश के लोगो की मुद्रा लूटकर फिर उसी से उनका माल खरीद लेता था।

यदि अतिरिक्त पूजी उसी व्यक्ति को नौकर रखती है, जिसने उसे उत्पन्न किया है, तो इस उत्पादक को न केवल मूल पूजी के मूल्य में वृद्धि करने का अपना काम जारी रखना पडता है, बल्कि उसे अपने पहले के श्रम की पदावार को उसकी लागत से अधिक श्रम देकर खरीदना पडता है। यदि इस चीज पर पूजीपति-वग और मजदूर-वग के बीच होने वाले लेन देन के रूप में विचार किया जाये, तो इससे कोई फक नहीं पडता कि अतिरिक्त मजदूरो को पहले से काम में लगे हुए मजदूरा के अवेतन श्रम के द्वारा नौकर रखा जाता है। यह भी हो सकता है कि पूजीपति अतिरिक्त पूजी को ऐसी मशीन में बदल डाले, जो इस पूजी के पदा करने वाले को काम से जवाब दे दे और उनकी जगह पर कुछ बच्चो को नौकर रख ले। हर हालत में, मजदूर-वग एक वष के अतिरिक्त श्रम से उस पूजी का सजन कर देता है, जिसे अगले वष नये श्रम को नौकर रखना है।[2] इसी को पूजी से पूजी पदा करना कहते ह।

---

[1] Le travail primitif auquel son capital a dû sa naissance' ["वह आदिम श्रम, जिससे उसकी पूजी का जन्म हुआ है"], Sismondi उप० पु०, Paris सस्करण, ग्रथ १, पृ० १०९।)

[2] "पूजी श्रम को नौकर रखे, इसके पहले श्रम पूजी को उत्पन्न करता है।" (E G Wakefield "*England and America* [ई० जी० वेकफील्ड, 'इगलैण्ड और अमरीका'], London 1833 खण्ड २, पृ० ११०।)

२,००० पौण्ड की पहली अतिरिक्त पूजी का सचय होने के लिये पहले यह आवश्यक था कि पूजीपति के पास उसके "आदिम श्रम" के फलस्वरूप १०,००० पौण्ड का मूल्य हो, जिसे वह व्यवसाय में लगा दे। इसके विपरीत, ४०० पौण्ड की दूसरी अतिरिक्त पूजी के सचय के लिये केवल इतना ही आवश्यक था कि २,००० पौण्ड पहले से सचित हो गये हो, जिसका ये ४०० पौण्ड पूजीकृत अतिरिक्त मूल्य होते ह। बस इसी समय से उत्तरोत्तर बढते हुए पमाने पर जीवित अवेतन श्रम को हस्तगत करने की एकमात्र शत यह बन जाती है कि भूतकाल में किये गये अवेतन श्रम पर स्वामित्व हो। पूजीपति जितना सचय कर चुका होता है, भविष्य में वह उतना ही अधिक सचय कर सकता है।

जिस हद तक कि वह अतिरिक्त मूल्य, जिससे अतिरिक्त पूजी न० १ तयार होती है, मूल पूजी के एक भाग से श्रम शक्ति के खरीदे जाने का नतीजा होता है,—और यह खरीदारी मालो के विनिमय के नियमो के अनुसार हुई थी और कानूनी दृष्टि से इस खरीदारी के लिये इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिये था कि मजदूर को खुद अपनी कार्य क्षमता को स्वतन्त्रतापूवक बेचने का अधिकार हो और मुद्रा अथवा मालो के मालिक को अपने मूल्यो को बेचने का अधिकार हो, जिस हद तक कि दूसरी अतिरिक्त पूजी महज पहली अतिरिक्त पूजी का नतीजा और इसलिये उपर्युक्त परिस्थितियो का परिणाम होती है, जिस हद तक कि प्रत्येक अलग अलग सौदा अनिवाय रूप से मालो के विनिमय के नियमो के अनुसार होता है, अर्थात् पूजीपति सदा श्रम शक्ति खरीदता है और मजदूर सदा उसे बेचता है और—हम यह भी माने लेते ह कि—श्रम शक्ति अपने वास्तविक मूल्य पर खरीदी और बेची जाती है —जिस हद तक कि ये सारी बातें सच ह, उस हद तक यह बात भी स्पष्ट है कि हस्तगतकरण के नियम, अथवा निजी सम्पत्ति के नियम, जो मालो के उत्पादन तथा परिचलन पर आधारित होते ह, खुद अपने आन्तरिक एव अनिवाय द्वन्द्व के फलस्वरूप अपने बिल्कुल उल्टे नियमो में बदल जाते ह। हमने शुरू किया था एक ऐसी क्रिया से, जिसमें सम मूल्यो का विनिमय हुआ था, वह अब इस तरह बदल जाती है कि केवल दिखावटी विनिमय ही होता है। इसका कारण एक तो यह है कि श्रम शक्ति के साथ जिस पूजी का विनिमय होता है, वह खुद दूसरो के श्रम की पदावार का एक हिस्सा होती है, जिसे उसके एवज में कोई सम मूल्य दिये बग़ैर ही हस्तगत कर लिया गया है। और, दूसरे, उसका कारण यह है कि उत्पादक को न केवल इस पूजी का स्थान भरना पडता है, बल्कि उसके साथ साथ कुछ अतिरिक्त पूजी भी पैदा करनी पडती है। इस तरह, पूजीपति और मजदूर के बीच विनिमय का जो सम्बध कायम रहता है, वह परिचलन की क्रिया से सम्बधित एक आभास मात्र, एक रूप मात्र बनकर रह जाता है, जिसका इस लेन-देन के मूल तत्व से तनिक भी सम्बध नहीं होता और जो उसे केवल एक रहस्यमय आवरण से ढक देता है। श्रम शक्ति की बारम्बार होने वाली खरीद और बिक्री अब रूप मात्र रह जाती ह, वास्तव में जो कुछ होता है, वह यह है कि पूजीपति बार-बार बिना कोई सम-मूल्य दिये हुए दूसरो के पहले से भौतिक रूप में परिवर्तित श्रम के एक भाग पर अधिकार करता जाता है और जीवित श्रम की पहले से अधिक मात्रा के साथ उसका विनिमय करता जाता है। शुरू में हमें लगता था कि सम्पत्ति का अधिकार आदमी के अपने श्रम पर आधारित होता है। कम से कम इस तरह की कोई बात मान लेना जरूरी था, क्योकि केवल समान अधिकार वाले मालो के मालिक ही एक दूसरे के सामने आते थे और केवल एक ही तरीका था, जिससे कोई आदमी दूसरे आदमी के मालो का मालिक बन सकता था, और वह यह कि वह खुद अपने

मालो को हस्तातरित कर दे, और उसके इन मालो का स्थान केवल श्रम के द्वारा ही भरा जा सकता था। लेकिन अब यह मालूम होता है कि पूजीपति के लिये सम्पत्ति का अर्थ यह होता है कि उसे दूसरो के अवेतन श्रम को या उस श्रम की पदावार को हस्तगत करने का हक मिल जाता है, और मजदूर के लिये यह कि उसके लिये खुद अपनी पदावार को हस्तगत करना असम्भव हो जाता है। जो नियम ऊपर से देखने में श्रम और सम्पत्ति के एकात्म्य से उत्पन्न हुआ था, श्रम और सम्पत्ति का अलगाव उसका एक अनिवार्य फल बन गया है।[1]

इसलिये,* ऊपर से देखने में भले ही यह लगता हो कि हस्तगतकरण की पूजीवादी प्रणाली मालो के उत्पादन के मौलिक नियमो के बिल्कुल खिलाफ जाती है, पर असल में यह प्रणाली इन नियमो के अतिक्रमण से नहीं, बल्कि उनके लागू किये जाने से पदा होती है। उत्तरोत्तर अवस्थाओ के जिस अनुक्रम की चरम परिणति पूजीवादी सचय है, उसके सक्षिप्त सिहावलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

पहले तो हम यह देख चुके ह कि जब शुरू-शुरू में मूल्यो की एक निश्चित मात्रा पूजी में बदली गयी थी, तो यह परिवतन सवथा विनिमय के नियमो के अनुसार हुआ था। क़रार करने वाले दो पक्षो में से एक ने अपनी श्रम-शक्ति बेची थी, दूसरे ने उसे खरीदा था। पहले को उसके माल का विनिमय-मूल्य मिल गया था, जब कि उसका उपयोग-मूल्य, अर्थात श्रम, दूसरे के स्वामित्व में चला गया था। उत्पादन के साधनो पर दूसरे पक्ष का स्वामित्व होता है, इन्हीं साधनो की भाति उसके स्वामित्व में आये हुए श्रम की मदद से वह इस साधनो को नयी पैदावार में बदल देता है, इस नयी पैदावार पर भी उसी को ही स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होता है।

इस पदावार के मूल्य में एक तो उत्पादन के उन साधनो का मूल्य शामिल होता है, जो खच कर दिये गये ह। उपयोगी श्रम उत्पादन के इन साधनो को उनका मूल्य नयी पदावार में स्थानातरित किये बग़ैर खर्च नहीं कर सकता। लेकिन बिक्री के योग्य बनने के लिये श्रम शक्ति में उद्योग की उस शाखा को उपयोगी श्रम दे सकने की क्षमता होनी चाहिये, जहा उससे काम लिया जाने वाला है।

इसके अलावा, नयी पदावार के मूल्य में श्रम-शक्ति के मूल्य का सम-मूल्य और कुछ अतिरिक्त मूल्य शामिल होता है। यह इसलिये कि एक निश्चित समय के लिये,—जसे एक दिन, एक सप्ताह आदि के लिये,—बेची गयी श्रम-शक्ति का मूल्य कम और इस समय में उस श्रम शक्ति के उपयोग से पदा होने वाला मूल्य अधिक होता है। लेकिन, जसा कि हर बिक्री और खरीद के समय होता है, मजदूर को उसकी श्रम शक्ति का विनिमय मूल्य मिल गया है और उसने बदले में अपनी श्रम शक्ति का उपयोग-मूल्य किसी और को सौंप दिया है।

---

[1] दूसरा का श्रम की पैदावार पर पूजीपति का स्वामित्व "केवल हस्तगतकरण के उस नियम का परिणाम है, जिसका मूल सिद्धात इसके विपरीत यह था कि हर मजदूर का खुद अपने श्रम की पैदावार पर अनन्य अधिकार होता है।" (Cherbuliez "*Richesse ou Pauvreté*", Paris 1841, पृ० ५८, किन्तु वहा इसके द्वन्द्वात्मक विपयय को ढग से विकसित नहीं किया गया है।)

* आगे का अश (पृ० ६५६ पर "परिवर्तित हो जाते है" तक) अंग्रेजी पाठ मे, जिसके अनुसार हिन्दी पाठ है, चौथे जमन सस्करण के अनुसार जोड दिया गया है।—सम्पा०

इस तथ्य से कि श्रम शक्ति नामक इस विशिष्ट माल में श्रम देने का और इसलिये मूल्य पदा करने का एक विचित्र उपयोग मूल्य होता है, मालो के उत्पादन के सामान्य नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता। इसलिये, यदि पदावार में महज मजदूरी की शकल में पेशगी दिये गये मूल्यो के जोड का ही पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य भी जुड जाता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि बेचने वाले के साथ धोखा हुआ है, – क्योंकि उसे तो वास्तव में अपने माल का मूल्य मिल जाता है, – इसका कारण तो केवल यह है कि खरीदार ने इस माल का उपयोग किया है।

विनिमय के नियम के अनुसार, एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने वाले माला में केवल विनिमय-मूल्यो की समानता आवश्यक होती है। विनिमय का नियम शुरू से ही उनके उपयोग-मूल्यो में असमानता को पूर्वाधार मान लेता है, और इस नियम का इन मालो के उपभोग से कोई सम्बध नहीं होता, क्योंकि वह तो उस वक्त तक आरम्भ नहीं होता, जब तक कि यह लेन-देन पूरा नहीं हो जाता।

इसलिये, बिल्कुल शुरू-शुरू में मुद्रा का पूजी में जो रूपातरण होता है, वह पूरी तरह माला के उत्पादन के आर्थिक नियमो तथा उनसे व्युत्पन्न सम्पत्ति के अधिकार के अनुसार होता है। फिर भी उसके निम्नलिखित परिणाम होते ह

१) पदावार पर मजदूर का नहीं, पूजीपति का अधिकार होता है,

२) इस पैदावार के मूल्य में पेशगी लगायी गयी पूजी के मूल्य के अलावा कुछ अतिरिक्त मूल्य भी शामिल होता है। इस अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में मजदूर का श्रम खच होता है, मगर पूजीपति का कुछ भी खच नहीं होता, और फिर भी यह पदावार पूजीपति की विधि-सगत सम्पत्ति बन जाती है,

३) मजदूर के पास उसकी श्रम शक्ति बनी रहती है, और यदि उसे खरीदार मिल जाये, तो वह उसे फिर बेच सकता है।

साधारण पुनरुत्पादन इस पहली क्रिया की एक नियतकालिक पुनरावृत्ति मात्र होता है। उसके द्वारा मुद्रा हर बार पूजी में रूपातरित कर दी जाती है। इससे सामान्य नियम का अतिक्रमण नहीं होता, इसके विपरीत, उसे निरतर काय करने का अवसर मिल जाता है। "उत्तरोत्तर होने वाले अनेक विनिमय कार्यों ने केवल अतिम को प्रथम विनिमय काय का प्रतिनिधि बना दिया है" (Sismondi, *Nouveaux Principes, etc*, पृ० ७०।)

फिर भी हम यह देख चुके ह कि जहा तक कि इस पहली क्रिया को एक अलग थलग क्रिया समझा जाता है, वहा तक साधारण पुनरुत्पादन उसपर एक सवथा उल्टे स्वरूप की छाप डाल देने के लिये पर्याप्त सिद्ध होता है। "राष्ट्रीय आय को जो लोग आपस में बाटते ह, उनमें से कुछ को (मजदूरो को) हर वष नया श्रम करके इस पदावार पर अधिकार प्राप्त करना पडता है, दूसरा ने (पूजीपतियो ने) शुरू में कुछ काय करके पहले से ही इस पदावार पर स्थायी अधिकार प्राप्त कर लिया है" (Sismondi, उप० पु०, पृ० ११०, १११)। यह बात निश्चय ही महत्त्वपूण है कि केवल श्रम का क्षेत्र ही एकमात्र ऐसा नहीं है, जहा ज्येष्ठाधिकार का सिद्धात बडे-बडे चमत्कारपूण कृत्य कर डालता है।

यदि साधारण पुनरुत्पादन के स्थान पर विस्तारित पमाने का पुनरुत्पादन होने लगता है, सचय होने लगता है, तो उससे भी स्थिति में कोई अतर नहीं पडता। पहले में पूजीपति सारा

अतिरिक्त मूल्य खर्च कर डालता है, दूसरे में वह उसके केवल एक भाग को खच करके और बाकी को मुद्रा में बदलकर अपने पूजीवादी गुणो का परिचय देता है।

अतिरिक्त मूल्य उसकी सम्पत्ति होता है, उसपर कभी किसी और का अधिकार नहीं रहा है। यदि वह उसे उत्पादन में लगा देता है, तो जब वह पहले दिन मण्डी में आया था, तब उसने जिस तरह अपने कोष में से धन निकालकर खच किया था, उसी तरह वह आज भी उसे अपने कोष में से निकालकर खच करता है। इस बात से जरा भी फ्क नहीं पडता कि वतमान उदाहरण में यह कोष उसके मजदूर के अवेतन श्रम से प्राप्त हुआ है। यदि 'क' नामक मजदूर द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य से 'ख' नामक मजदूर को नौकर रखा जाता है, तो पहली बात तो यह है कि इस अतिरिक्त मूल्य को तैयार करने के कारण ऐसा नहीं हुआ है कि 'क' को उसके माल का उचित दाम न मिला हो या उसमें एक पाई की भी कटौती की गयी हो, और दूसरी बात यह है कि इस सौदे से 'ख' का तनिक भी सम्बध नहीं है। 'ख' जो कुछ मागता है और जिसे मागने का उसे अधिकार है, वह यही है कि पूजीपति उसको उसकी श्रम शक्ति का मूल्य अदा करे। "दोनो पक्षो को लाभ होता है मजदूर को इस तरह कि किसी भी तरह का श्रम करने के पहले ही" (कहना यो चाहिये उसके अपने श्रम से कोई फल निकलने के पहले ही) "उसे अपने श्रम का फल पेशगी मिल जाता है" (यो कहिये उसे दूसरो के अवेतन श्रम का फल मिल जाता है), "और मालिक (la maitre) को इसलिये कि यह मजदूर जो श्रम करता है, उसका मूल्य उसकी मजदूरी से अधिक होता है" (यो कहना चाहिये अपनी मजदूरी के मूल्य से अधिक मूल्य का उत्पादन करता है) (Sismondi, उप० पु०, प० १३५)।

यह सच है कि जब हम पूजीवादी उत्पादन पर उसके नवीकरण के निरन्तर प्रवाह की दृष्टि से विचार करते ह और जब हम एक अलग पूजीपति तथा एक अलग मजदूर के बजाय एक दूसरे के मुकाबले में खडे हुए पूरे पूजीपति-वर्ग और पूरे मजदूर-वग पर विचार करते हैं, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने आता है। लेकिन इस तरह विचार करते समय हमें मालो के उत्पादन के सिलसिले में एक सर्वथा पराये मापदण्ड का प्रयोग करना होगा।

मालो के उत्पादन में केवल एक दूसरे से स्वतत्र विक्रेता और ग्राहक आपस में मिलते ह। उनके पारस्परिक सम्बध उनके आपसी क़रार के समाप्त होने के साथ-साथ खतम हो जाते ह। यदि वह सौदा दोहराया जाता है, तो एक नया करार करना पडता है, जिसका पहले करार से कोई सम्बध नहीं होता, और केवल सयोगवश ही वही विक्रेता फिर उसी ग्राहक से जा भिड़ता है।

इसलिये, यदि मालो के उत्पादन का या उससे सम्बद्ध किसी क्रिया का स्वय उसी के *आर्थिक नियमों के आधार पर निर्णय होना है, तो हमें प्रत्येक विनिमय-काय पर अलग अलग* विचार करना पडेगा, और उसके पहले जो विनिमय-काय हुआ था और उसके बाद जो विनिमय काय होने वाला है, उन दोनो से उसे अलग करके देखना होगा। और चूकि क्रय और विक्रय व्यक्तियों के बीच होते ह, इसलिये उनके पीछे समाज के पूरे वर्गों के सम्बधो को देखना अनुचित होगा।

इस वक्त जो पूजी काम कर रही है, वह नियतकालिक पुनरुत्पादनो और पूववर्ती सचय क्रियाओं के चाहे जितने लम्बे क्रम से गुजर चुकी हो, उसका आदिम कौमाय सदा ज्यों का त्यों रहता है। जब तक कि हर अलग-अलग विनिमय-कार्य में विनिमय के नियमों का पालन

किया जाता है, तब तक हस्तगतकरण की प्रणाली में सम्पूर्ण क्रान्ति हो जाने पर भी सम्पत्ति के उन अधिकारो में ज़रा भी अतर नहीं पडता, जो मालो के उत्पादन के अनुरूप होते ह। चाहे हम उस समय को लें, जब पदावार पर पैदा करने वाले का अधिकार था और यह पदा करने वाला सम-मूल्य के साथ सम-मूल्य का विनिमय करते हुए केवल अपने श्रम से ही अपना धन बढ़ा सकता था, और चाहे हम उस समय को लें, जब पूजीवाद के अतगत सामाजिक धन अधिकाधिक उन लोगो की सम्पत्ति बनता जाता है, जो लगातार और बार-बार दूसरो के अवेतन श्रम को हस्तगत कर लेने की स्थिति में होते हैं,—हर हालत में ये ही अधिकार क़ायम रहते ह।

जैसे ही "स्वतत्र" मजदूर खुद अपनी श्रम शक्ति को माल की तरह बेचने लगता है, वैसे ही यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है। किन्तु इसी समय से यह भी होता है कि मालो के उत्पादन का सामान्यकरण हो जाता है और यह उत्पादन का प्रतिनिधि रूप बन जाता है, इसी समय से ही यह होता है कि हर पैदावार शुरू से ही बिक्री के लिये बनायी जाती है और जितना भी धन पदा होता है, उस सब को परिचलन के क्षेत्र से गुजरना होता है। जिस समय और जिस स्थान पर मजदूरी पर किया जाने वाला श्रम, अर्थात् मजदूरी मालो के उत्पादन का आधार बन जाती है, केवल उस समय और उस स्थान पर ही मालो का उत्पादन पूरे समाज पर हावी हो पाता है, मगर तभी और उसी स्थिति में वह अपनी गुप्त क्षमतायें व्यक्त कर पाता है। यदि कोई यह कहता है कि मजदूरी के हस्तक्षेप से माला के उत्पादन में अपमिश्रण हो जाता है, तो वह तो यह कहने के समान है कि यदि मालो के उत्पादन में अपमिश्रण नहीं होना है, तो उसका विकास नहीं होना चाहिये। मालो का उत्पादन अपने अतर्निहित नियमो के अनुसार विकास करता हुआ जिस हद तक पूजीवादी उत्पादन में परिवतित हो जाता है, उसी हद तक मालों के उत्पादन के सम्पत्ति के नियम भी पूजीवादी हस्तगतकरण के नियमो में परिवतित हो जाते हैं।[1]

हम यह देख चुके ह कि साधारण पुनरुत्पादन की सूरत में भी हर प्रकार की पूजी, उसका मूल स्रोत चाहे कुछ भी रहा हो, सचित पूजी में, पूजीकृत अतिरिक्त मूल्य में, परिवतित हो जाती है। लेकिन उत्पादन की बाढ में शुरू-शुरू में लगायी गयी पूजी प्रत्यक्ष रूप से सचित होने वाली पूजी के मुकाबले में,—यानी उस अतिरिक्त मूल्य अथवा अतिरिक्त पदावार के मुकाबले में, जो पुन पूजी में रूपातरित कर दिया जाता है,—एक लुप्यमान मात्रा (गणित के अथ में, magnitudo evanescens) बन जाती है, इस बात से कोई अतर नहीं पडता कि यह पूजी जमा करने वाले के हाथ में रहकर या दूसरो के हाथो में रहकर काम करती है। इसीलिये अथशास्त्र में पूजी को सामान्य रूप से ऐसा "सचित धन" (रूपान्तरित अतिरिक्त मूल्य अथवा रूपातरित आय) कहा गया है, "जिससे पुन अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का काम लिया जाता है"[2], और पूजीपति को अथशास्त्र में "अतिरिक्त मूल्य का

---

[1] इसलिये, जब प्रूधो मालो के उत्पादन पर आधारित सम्पत्ति के शाश्वत नियमा को लागू करके पूजीवादी सम्पत्ति को खतम कर देने का इरादा जाहिर करते है, तब हम यदि उनकी चतुराई को देखकर आश्चयचकित रह जाते है, तो कोई अस्वाभाविक बात नही है।

[2] "पूजी, यानी वह सचित धन, जिससे मुनाफा कमाया जाता है" (Malthus उप० पु०)। "पूजी उस धन को कहते हैं, जो आय म से बचाकर मुनाफा कमाने के लिये इस्तेमाल किया

मालिक"[1] कहा गया है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की वर्तमान पूंजी संचित अथवा पूंजीकृत ब्याज होती है, कारण कि ब्याज अतिरिक्त मूल्य का एक अंश मात्र ही होता है।"

अनुभाग २ – उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने के पुनरुत्पादन के विषय में अर्थशास्त्र की गलत धारणा

संचय की – या अतिरिक्त मूल्य के पूंजी में पुनः रूपांतरण की – आगे छान-बीन करने के पहले हमें प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों द्वारा पैदा की गयी एक अस्पष्टता का निवारण करना पड़ेगा।

पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य का एक भाग देकर जिन मालों को खुद अपने उपभोग के लिये खरीदता है, वे उत्पादन तथा मूल्य के सृजन के काम में नहीं आते। इसी तरह वह अपनी प्राकृतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो श्रम खरीदता है, वह भी उत्पादक श्रम नहीं होता। अतिरिक्त मूल्य को पूंजी में रूपांतरित करने के बजाय वह इन मालों को और इस श्रम को खरीदकर अतिरिक्त मूल्य को उल्टे आय के रूप में खर्च कर डालता है या उसका उपभोग कर डालता है। जैसा कि हेगेल ने ठीक ही कहा है, सामंती काल के पुराने अभिजात वर्ग के जीवन का प्रचलित ढंग यह था कि "जो कुछ हाथ में हो, उसे खर्च कर डालो", यह बात व्यक्तिगत नौकर चाकर रखने के रूप में खास तौर पर प्रकट होती थी। जीवन के इस ढंग से वास्ता पड़ने पर पूंजीवादी अर्थशास्त्र के लिये इस सिद्धान्त की घोषणा करना अत्यन्त आवश्यक था कि पूंजी का संचय करना प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिये यह अनवरत रूप से प्रचार करना आवश्यक था कि जो आदमी अपनी आय का एक अच्छा हिस्सा अतिरिक्त उत्पादक मजदूरों को नौकर रखने पर खर्च नहीं करता और इस तरह उनके जरिये लागत से ज्यादा आमदनी नहीं कमाता और जो इसके बजाय अपनी सारी आय खुद खा जाता है, वह कभी संचय नहीं कर सकता। दूसरी ओर, अर्थशास्त्रियों को जन-साधारण के उस पूर्वग्रह से भी लड़ना पड़ा, जो पूंजीवादी उत्पादन को धन-अपसंचय के साथ गड़बड़ा देता है[3] और जो समझता

जाता है" (R Jones *An Introductory Lecture on Political Economy* [आर० जोंस, 'अर्थशास्त्र के विषय में एक प्रारम्भिक भाषण'], London 1833 पृ० १६)।

[1] "अतिरिक्त मूल्य या पूंजी के स्वामी' (*The Source and Remedy of the National Difficulties A Letter to Lord John Russell* ['राष्ट्रीय कठिनाइयों का कारण और उनका उपचार। – लार्ड जान रसेल के नाम एक पत्र'], London 1821)।

[2] "बचायी हुई पूंजी के प्रत्येक अंश पर लगने वाले चक्रवृद्धि ब्याज के साथ पूंजी की ऐसी वृद्धि हुई है कि संसार का वह सारा धन, जिससे कुछ आय होती है, बहुत समय पहले से पूंजी का ब्याज बन गया है।' (लंदन का *Economist* १६ जुलाई १८५६।)

[3] "आजकल का कोई अर्थशास्त्री केवल अपसंचय के अर्थ में बचत शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता, और इस संकुचित तथा अपर्याप्त कारवाई के आगे राष्ट्रीय धन के सम्बंध में इस शब्द के केवल उसी प्रयोग की कल्पना की जा सकती है जिसमें जो कुछ बचाया जाता है, उसका

है कि सचित धन या तो वह होता है, जिसे उसके वतमान रूप में नष्ट कर दिये जाने से—यानी खच कर दिये जाने से—बचा लिया जाता है, और या वह होता है, जिसको परिचलन के क्षेत्र से हटा लिया जाता है। यदि मुद्रा को परिचलन से हटा लिया जायेगा, तो पूजी के रूप में उसके आत्म विस्तार की तनिक भी सम्भावना नहीं रहेगी, और मालो के रूप में धन का अपसचय करना तक परले दर्जे की मूखता होगी।[1] बहुत बडे परिमाणो में मालो का सचय या तो उस समय होता है, जब अति-उत्पादन होने लगता है, और या उस समय होता है, जब परिचलन बीच में रुक जाता है।[2] यह सच है कि जन-साधारण के दिमाग पर इस दृश्य का बडा प्रभाव पडता है कि एक तरफ धनिको ने बहुत सारा सामान क्रमिक उपभोग करने के लिये जमा कर रखा है[3] और दूसरी तरफ बिक्री के मालो के रिजव स्टाक जमा किये जा रहे ह। यह बाद वाली चीज उत्पादन की सभी प्रणालियो में होती है, और जब हम परिचलन का विश्लेषण करने बठेंगे, तब हम एक क्षण के लिये उसपर भी विचार करेंगे।

इसलिये, प्रामाणिक अथशास्त्र का यह दावा बिल्कुल सही है कि अनुत्पादक मजदूरो के बजाय उत्पादक मजदूरो द्वारा अतिरिक्त पैदावार का उपभोग सचय की क्रिया की एक चरित्रगत विशेषता है। लेकिन इसी बिंदु पर गलतिया भी शुरू हो जाती ह। ऐडम स्मिथ ने सचय को उत्पादक मजदूरो द्वारा अतिरिक्त पैदावार के उपभोग के सिवा कुछ और न समझने का फशन बना दिया है। यह तो यह कहने के समान है कि अतिरिक्त मूल्य का पूजीकरण केवल अतिरिक्त मूल्य को श्रम शक्ति में बदल देना है। मिसाल के लिये, देखिये कि रिकार्डो क्या कहते ह "हमें यह समझ लेना चाहिये कि किसी भी देश की समस्त पदावार खच कर दी जाती है। लेकिन उसका उपभोग क्या वे लोग करते ह, जो पुनरुत्पादन करते ह, या वे, जो किसी और मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं करते, इस बात से बहुत ही बडा फक पड जाता है। जब हम यह कहते ह कि आय बचा ली जाती है और पूजी में जोड दी जाती है, तब वास्तव में हमारा यह मतलब होता है कि आय का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह पूजी में जोड दिया जाता है, उसका उपभोग अनुत्पादक मजदूरो के बजाय उत्पादक मजदूर करते ह। यदि कोई यह समझता है कि अनुपभोग से पूजी में वृद्धि होती है, तो इससे बडी गलती कोई और नहीं हो सकती।"[4] हा, उससे बडी गलती कोई और नहीं ही सकती, जो रिकार्डो तथा बाद के सभी अथशास्त्रियो

कोई भिन्न उपयोग किया जाता है, जो कि उसके द्वारा पोषित श्रम के विभिन्न प्रकारो के बीच पाये जाने वाले वास्तविक भेद पर आधारित होता है" (Malthus उप० पु०, पृ० ३८, ३९)।

[1] मिसाल के लिये, बालजाक ने, जिन्होंने हर प्रकार के लोभ का बहुत ही गहरा अध्ययन किया था, बुड्ढे सूदखोर गोवसेक के बारे मे लिखा है कि जब उसने माला का बटोरना शुरू किया था, तब वह एकदम सठिया गया था।

[2] "माला का जमा हो जाना विनिमय का न होना अति उत्पादन का होना' (Th Corbet उप० पु०, प० १०४)।

[3] इस ग्रथ म नेकर ने objets de faste et de somptuosite की चर्चा की है, जिन में से le temps a grossi l accumulation और जो les lois de propriete ont rassembles dans une seule classe de la societe (Oeuvres de M Necker Paris और Lausanne 1789 ग्रथ १, प० १९१)।

[4] Ricardo उप० पु०, प० १६३, नोट।

ने ऐडम स्मिथ की यह बात दुहरायी है कि "माल का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि यह पूजी में जोड़ दिया जाता है, उसका उपभोग उत्पादक मजदूर करते है"। इस मत के अनुसार तो यह सारा अतिरिक्त मूल्य, जो पूजी में बदल जाता है, अस्थिर पूजी बन जाता है। असल में यह नहीं होता, बल्कि मूल पूजी की भाति अतिरिक्त मूल्य भी स्थिर पूजी और अस्थिर पूजी में, उत्पादन के साधनो और श्रम-शक्ति में विभाजित हो जाता है। श्रम शक्ति वह रूप है, जिसमें अस्थिर पूजी उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में पायी जाती है। इस प्रक्रिया में खुद श्रम शक्ति का उपभोग तो पूजीपति कर डालता है, और अपना काम करने के दौरान में, यानी श्रम करने के दौरान में, उत्पादन के साधनो का श्रम शक्ति उपभोग कर डालती है। साथ ही, श्रम शक्ति को खरीदने के लिये दी गयी मुद्रा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं में बदल दी जाती है, जिनका "उत्पादक श्रम" नहीं, बल्कि "उत्पादक श्रमजीवी" उपभोग करता है। ऐडम स्मिथ बुनियादी तौर पर गलत विश्लेषण करके इस बेतुके नतीजे पर पहुच जाते हैं कि यद्यपि प्रत्येक अलग अलग पूजी स्थिर और अस्थिर भागों में बट जाती है, तथापि पूरे समाज की पूजी केवल अस्थिर पूजी में परिणत हो जाती है, अर्थात वह महज मजदूरी अदा करने पर खर्च की जाती है। उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि कपड़े की किसी मिल का मालिक २,००० पौण्ड की रकम को पूजी में बदल देता है। उसका एक भाग वह बुनकरों को खरीदने में लगाता है और दूसरा भाग ऊनी धागा, मशीनें आदि खरीदने पर खर्च करता है। परन्तु वह जिन लोगो से धागा और मशीनें खरीदता है, उनको अपने माल की बिक्री से जो मुद्रा मिलती है, उसका एक भाग वे श्रम पर खर्च करते है, और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते है, — यहा तक कि अन्त में जाकर २,००० पौण्ड की पूरी रकम मजदूरी देने में खर्च हो जाती है, अर्थात अन्त में उस पूरी पैदावार का, जिसका प्रतिनिधित्व २,००० पौण्ड की यह रकम करती थी, उत्पादक मजदूर उपभोग कर डालते है। यह स्पष्ट है कि इस युक्ति का सारा तत्व इन शब्दों में निहित है "और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते है"। ये शब्द हमें धोबी का कुत्ता बना देते है। सच पूछिये, तो ऐडम स्मिथ ठीक उसी जगह पर अपनी छान-बीन बन्द कर देते है, जहा कठिनाइया आरम्भ होती है।[1]

जब तक हम केवल वर्ष भर की कुल पैदावार के दृष्टिकोण से उसपर विचार करते है, तब तक पुनरुत्पादन की वार्षिक क्रिया को आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन इस पैदावार के प्रत्येक सघटक को अलग अलग माल के रूप में मण्डी में लाना होता है, और बस यहीं से कठिनाई आरम्भ हो जाती है। अलग अलग पूजियो और व्यक्तिगत आमदनियो की गतिया एक दूसरे को काटती हुई चलती है और आपस में घुल मिल जाती है और सामान्य स्थान-परिवर्तन में — समाज के धन के परिचलन में — खो जाती है। इससे देखने वाले की आखें चकाचौंध हो जाती है, और उसे बहुत ही जटिल समस्याओ को हल करना पड़ता है। दूसरी पुस्तक के तीसरे भाग

---

[1] जब जान स्टुअर्ट मिल के पूर्वज इस प्रकार का विश्लेषण करते है, तब उसमे इतनी त्रुटिया होने पर भी मिल अपने 'तर्कशास्त्र' के बावजूद उसको कभी पकड नही पाते, हालाकि विज्ञान के पूजीवादी दृष्टिकोण से भी उसमें सशोधन की भारी आवश्यकता है। एक शिष्य की रूढिवादिता के साथ वह सदा अपने गुरू के उलझे हुए विचारो की ही नकल करते है। चुनाचे उन्होने लिखा है "पूजी स्वय अन्त में जाकर पूर्णतया मजदूरी बन जाती है, और जब पैदावार की बिक्री के द्वारा उसका स्थान भर दिया जाता है, तब वह फिर मजदूरी बन जाती है।'

में मैं तथ्यो के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करूगा। फिजिश्रोक्रेटो का यह एक बडा गुण है कि उन्होने अपनी "*Tableau économique*" ('आर्थिक तालिका') में सबसे पहले वार्षिक पैदावार को उस शकल में पेश करने की कोशिश की थी, जिस शकल में वह परिचलन की प्रक्रिया में से गुजरने के बाद हमारे सामने आती है।[1]

बाकी, यह बात स्वत स्पष्ट है कि पूजीपति वर्ग का हित-साधन करते हुए अर्थशास्त्र ऐडम स्मिथ के इस सिद्धान्त से लाभ उठाने से नहीं चूका है कि अतिरिक्त पैदावार का जो भाग पूजी में रूपातरित हो जाता है, वह सारे का सारा मजदूर-वर्ग द्वारा खर्च कर दिया जाता है।

अनुभाग ३ – अतिरिक्त मूल्य का पूजी तथा आय मे विभाजन। – परिवर्जन का सिद्धान्त

पिछले अध्याय में हम अतिरिक्त मूल्य (या अतिरिक्त पैदावार) को केवल पूजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष मानकर चले थे। इस अध्याय में हम अभी तक उसको केवल सचय का कोष मानकर चले है। किन्तु वह न तो केवल पूजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष होता है और न केवल सचय का कोष होता है, वह तो ये दोनो काम करता है। उसके एक भाग को पूजीपति आय[2] के रूप में खर्च कर देता है। दूसरा भाग पूजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है, यानी दूसरे भाग का सचय हो जाता है।

यदि अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि पहले से निश्चित हो, तो इन दोनो भागो में एक जितना बडा होगा, दूसरा उतना ही छोटा होगा। यदि अन्य बातें ज्यो की त्यो रहती हैं, तो

---

[1] पुनरुत्पादन तथा सचय की क्रियाओं का ऐडम स्मिथ ने जो वर्णन किया है, उसमें वह अपने पूर्वजो और विशेष कर फिजिश्रोक्रेटो से न केवल जरा भी आगे नही बढ पाये हैं, बल्कि यहा तक कि वह कई प्रकार से उनसे पीछे ही रह गये हैं। हमारी पुस्तक के मूल पाठ में जिस भ्राति का जिक्र किया गया है, उससे सम्बधित एक सचमुच आश्चर्यजनक रूढि ऐडम स्मिथ एक विरासत के रूप में अर्थशास्त्र के लिये छोड गये हैं। वह रूढि यह है कि मालो का दाम मजदूरी, मुनाफे (ब्याज) और लगान से – यानी मजदूरी और अतिरिक्त मूल्य से – मिलकर बनता है। इस रूढि से आरम्भ करते हुए, स्तोर्च बडे भोलेपन के साथ यह स्वीकार करता है कि "आवश्यक दाम को उसके सरलतम तत्वो मे परिणत करना असम्भव है" (Storch, उप० पु०, Petersbourg का सस्करण, 1815 ग्रथ २, पृ० १४१, नोट)। खूब है यह अर्थशास्त्र का विज्ञान भी, जो घोषित कर देता है कि माल को उसके सरलतम तत्वो में परिणत करना असम्भव है। तीसरी पुस्तक के सातवें भाग मे इस मामले की ओर छान बीन की जायेगी।

[2] पाठक ने इस बात की ओर ध्यान दिया होगा कि शब्द "revenue' ("आय") का दोहरे अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। एक तो जिस हद तक कि अतिरिक्त मूल्य पूजी से पैदा होने वाला नियतकालिक फल है, उस हद तक उसे आय कहा जाता है, दूसरे, इस फल के उस भाग को यह नाम दिया जाता है, जिसका पूजीपति नियतकालिक ढग से उपभोग कर डालता है, या जो उस कोष में जुड जाता है, जिससे पूजी के निजी उपभोग की पूर्ति होती है। शब्द का इस दोहरे अर्थ में मैने इसलिये प्रयोग किया है कि वह अग्रेज और फ्रासीसी अर्थशास्त्रियो की भाषा से मेल खाता है।

सचय का परिमाण इन भागो के अनुपात से निर्धारित होगा। परन्तु इन दो भागो का विभाजन तो केवल अतिरिक्त मूल्य का मालिक, केवल पूंजीपति, ही करता है। यह विभाजन वह अपनी इच्छानुसार करता है। मजदूर से वह जो खिराज वसूल करता है, उसके एक भाग का वह सचय करता है, और इस भाग के बारे में कहा जाता है कि पूंजीपति ने उसे बचा लिया है। कारण कि वह उसे खा नहीं जाता, अर्थात वह पूंजीपति के काम को सम्पन्न करता है और अपना धन बढाता है।

पूंजीपति का इसके सिवा कोई और ऐतिहासिक मूल्य नहीं है कि वह मूर्तिमान पूंजी होता है। और इसके सिवा उसका उस ऐतिहासिक अस्तित्व पर भी कोई अधिकार नहीं है, जिसपर, परिहासपूर्ण लिचनोव्स्की के शब्दों में, "कोई तारीख नहीं पडी है"। और केवल इसी हद तक उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की क्षणिक आवश्यकता में खुद पूंजीपति के क्षणिक अस्तित्व की आवश्यकता भी निहित होती है। लेकिन जिस हद तक कि वह मूर्तिमान पूंजी है, उस हद तक उसे कार्य क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा उपयोग-मूल्यो और उनका भोग करने की इच्छा से नहीं, बल्कि विनिमय मूल्य और उसमें वृद्धि करने की इच्छा से प्राप्त होती है। उसके सिर पर मूल्य से खुद अपना विस्तार कराने का भूत सवार रहता है, और वह निर्मम होकर मनुष्य जाति को केवल उत्पादन के हेतु उत्पादन करने के लिये विवश करता है। इस प्रकार, वह बलपूर्वक समाज की उत्पादक शक्तियो का विकास कराता है और उन भौतिक परिस्थितियो को जन्म देता है, जो कि एकमात्र वास्तविक समाज के उच्चतर रूप के लिये आधार बनती है। यह वह समाज होगा, जिसका मूल सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण एव स्वतत्र विकास का नियम होगा। पूंजीपति केवल मूर्तिमान पूंजी के रूप में ही आदर का पात्र होता है। इस रूप में कजूस की तरह उसको भी सदा धन के रूप में धन का मोह रहता है। लेकिन कजूस का मोह जहा मात्र उसकी मानसिक विलक्षणता होता है, वहा पूंजीपति का मोह सामाजिक यत्र का एक प्रभाव होता है, जिसका पूंजीपति महज एक पहिया होता है। इसके अतिरिक्त, पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि किसी भी खास औद्योगिक उद्यम में जो पूंजी लगी हुई है, उसमें लगातार वृद्धि होती जाये, और प्रतियोगिता के कारण पूंजीवादी उत्पादन के अतर्निहित नियमो का प्रत्येक अलग अलग पूंजीपति बलपूर्वक अमल में आने वाले बाह्य नियमो के रूप में अनुभव करता है। प्रतियोगिता पूंजीपति को अपनी पूंजी को सुरक्षित रखने के वास्ते उसका लगातार विस्तार करते रहने के लिये विवश कर देती है। लेकिन उत्तरोत्तर सचय के सिवा उसके सामने विस्तार करने का और कोई तरीका नहीं है।

इसलिये, जिस हद तक कि पूंजीपति का कार्यकलाप केवल पूंजी का ही एक कर्म है,— और पूंजी उसके व्यक्तित्व के द्वारा चेतना तथा इच्छा शक्ति प्राप्त कर लेती है,— उस हद तक उसका अपना निजी उपभोग भी सचय के क्षेत्र पर डाका मारकर ही सम्भव हो सकता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे दोहरे खतान वाले बही खातो में पूंजीपति का निजी खर्च उसके हिसाब में नामे बाजू में डाल दिया जाता है। सचय करना सामाजिक धन की दुनिया को जीतना है। पूंजीपति जिस मानव-समुदाय का शोषण करता है, सचय करना उसकी सख्या में वृद्धि करना है, और इस प्रकार सचय का अर्थ पूंजीपति के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो ढग के प्रभुत्व का विस्तार करना है।[1]

[1] पूंजीपति के उस पुराने ढग के, पर हर बार नये सिरे से सामने आने वाले प्रतिरूप— सूदखोर—का अपना विवेचन का विषय बनाते हुए लूथर ने बहुत ही समुचित रूप में यह दिखाया

परन्तु मूल पाप हर जगह अपना चमत्कार दिखाता है। जसे जसे पूजीवादी उत्पादन, सचय और धन का विकास होता जाता है, वसे वसे पूजीपति केवल पूजी का अवतार नहीं रह जाता। उसे खुद अपने भीतर के मनुष्य के साथ सहानुभूति होती है और उसको जो शिक्षा मिलती है,

---

है कि धनी बनने की इच्छा का एक तत्व शक्ति का प्रेम भी होता है। लूथर ने लिखा है "मूति-पूजका ने विवेक की सहायता से यह समझ लिया था कि सूदखोर पक्का चार और हत्यारा होता है। लेकिन हम ईसाई लोग सूदखोरो का इतना आदर करते है कि उनके पैसे के कारण लगभग उनकी पूजा करने लगते है जो कोई किसी और का पोपण खा जाता हे, छीन लेता है और चुरा लेता है, वह (जहा तक उसका बस चलता है) उतनी ही बडी हत्या करता है, जितनी बडी हत्या वह करता है, जा किसी आदमी को भूखा मारता है या उसका सत्यानाश कर देता है। सूदखोर हत्या करता है और फिर भी अपनी गद्दी पर सुरक्षित बैठा रहता है, जब कि होना यह चाहिये था कि वह फासी पर टगा होता और उसन जितने पैसे चुराये है, उतने ही कव्वे उसकी बोटिया नोचते। पर,' जाहिर है, यह तभी सम्भव था, जब उसके बदन पर इतना मास होता कि इतनी बडी सख्या मे कव्वे अपनी चाचे उसमें गडाकर हिस्सा बटा सकते। मगर हम लोग तो छाटे चोरा का फासी पर लटकाने में लगे हुए है छोटे चोरा को हम काठ मे डालकर रखते है, पर बडे चोर सोने और रेशम से लद हुए अकडकर चलते है इसलिये इस पृथ्वी पर इनसान का (शैतान के बाद) सूदखोर या कुसीदी से बडा दुश्मन और कोई नही है। कारण कि सूदखोर तो सब इनसानो के ऊपर राज करने वाला परमात्मा बनना चाहता है। तुर्क, सिपाही और अत्याचारी भी बुरे होत है, परन्तु उनके लिये जरूरी हाता है कि लोगो को जिदा रहने दें, और वे खुद तसलीम कर लेते है कि वे बुरे आदमी है, और कभी कभी तो वे कुछ इनसानो पर रहम भी करते है, बल्कि कहना चाहिये कि उनको रहम करना पडता है। लेकिन जहा तक सूदखोर और अथ पिशाच का सम्बध है, यदि उसका बस चले, तो वह सारी दुनिया को भूख और प्यास, गरीबी और अभाव से मार डाले, ताकि ससार मे जो कुछ है, वह सब उसी का हो जाये और फिर वह परमात्मा की तरह हरेक को भीख बाटा करे और हर आदमी सदा के लिये उसका दास बन जाये। वह बढिया लबादे ओढना चाहता है, सोने की मालाए और अगूठिया पहनना चाहता है, अपना मुह धोना चाहता है। वह चाहता है कि लोग उसे भला आदमी समझे और धर्मात्मा मानें सूदखोरी भेडिये के समान एक भयानक राक्षस है, जो हर एक को तबाह कर देता है। ऐसी तबाही तो कोई कैकस, गेरिओन और ऐण्टस भी नही ढा सकता। और फिर भी वह खूब सज धज कर निकलता है और चाहता है कि लोग उसे बडा धर्मात्मा समझें और उनको यह न मालूम होने पाये कि उनके सारे बैल कहा गायब हो गये है, और वे यह न जान पायें कि यही राक्षस उनके सारे बैलो को पीछे से पकडकर अपनी खोह मे घसीट ले गया है। लेकिन एक दिन इन बैला की और इस राक्षस के कैदिया की चीखें हरक्यूलीज को सुनाई देगी और वह खडी चट्टाना और पहाडिया मे घुसकर कैकस को ढढ निकालेगा और इस बदमाश स बैला का छुडाकर एक बार फिर उनको मुक्त करेगा। कारण कि कैकस का मतलब है वह बदमाश, जो सूदखारी करता है और ऊपर से धमात्मा बनता है और जो हर एक के यहा चोरी करता है, डाका डालता है और सब कुछ खा जाता है, और यह कभी तसलीम नही करता कि वह सब कुछ खा गया है, बल्कि समझता है कि इस बात का किसी को पता नही लग पायेगा, क्योकि बैला का पीछे

यह धीरे-धीरे उसे उन लोगो पर हसना सिखा देती है, जो सन्यास के लिये बडा उत्साह दिखाते है। वह धीरे धीरे सीख जाता है कि सन्यास पुराने ढग के कजूसो का एक पूर्वग्रह मात्र है। पुराने ढग का पूजीपति जहा व्यक्तिगत उपभोग को अपने स्वाभाविक क्रम का अतिक्रमण करने वाला पाप तथा सचय का "परिवर्जन" समझता था, वहा आधुनिक ढर्रे पर चलने वाला पूजीपति सचय को सुख का "परिवर्जन" समझने की योग्यता रखता है।

> Zwei Seelen wohnen, ach! in seiner Brust,
> die eine will sich von der andren trennen"

("अफसोस कि उसके हृदय में दो आत्माओ का निवास है और एक सदा दूसरे को त्यागने का प्रयत्न किया करती है।")[1]

जब इतिहास में पूजीवादी उत्पादन का उदय होता है,—और हर पूजीवादी नये रईस को व्यक्तिगत रूप में इस ऐतिहासिक अवस्था से गुजरना पडता है,—तब लालच और धनी बनने का मोह, इन दो भावनाओ का जोर रहता है। परन्तु पूजीवादी उत्पादन की प्रगति केवल भोग और विलास के ससार का ही सृजन नहीं करती, वह सट्टेबाजी और ऋण व्यवस्था के रूप में यकायक धनी बन बठने के हजारो स्रोत खोल देती है। जब विकास एक खास अवस्था पर पहुच जाता है, तो एक प्रचलित मात्रा की फजूलखर्ची "अभागे" पूजीपति के लिये एक व्यावसायिक आवश्यकता बन जाती है। यह अतिव्ययिता साथ ही धन प्रदर्शन भी होती है, इसलिये उससे साख बनती है और उधार मिलने में आसानी होती है। अब विलास पूजीपति के दिखावा क़ायम रखने के खर्चे का एक अग बन जाता है। इसके अतिरिक्त, पूजीपति का धन कजूस के धन की तरह उसके व्यक्तिगत श्रम और नियन्त्रित उपभोग के अनुपात में नहीं बढता, बल्कि वह इस अनुपात में बढता है कि पूजीपति दूसरो की श्रम शक्ति को कितना चूसता है और मजदूरों को किस हद तक जीवन के सारे सुख और आनन्द का परिवर्जन कर देने के लिये मजबूर कर देता है। इसलिये, यद्यपि पूजीपति की अतिव्ययिता में कभी मुक्त हस्त सामन्त की अतिव्ययिता की सचाई नहीं होती, बल्कि, इसके विपरीत, उसके पीछे से सदा अत्यन्त घृणित धन-तृष्णा और एक एक पाई का हिसाब रखने की भावना झाका करती है, तथापि सचय के साथ साथ पूजीपति का खर्च भी बढता जाता है और यह जरूरी नहीं रहता कि एक के कारण दूसरे पर कोई सीमा लग जाये। लेकिन इस विकास के साथ-साथ पूजीपति के हृदय में सचय की भावना और भोग की भावना के बीच फॉस्ट के मन के सघर्ष के समान सघर्ष छिड जाता है।

की तरफ से पकडकर खोह में खीचा गया है और यदि उनके खुरा के निशानो को कोई देखेगा, तो वह यही समझेगा कि कुछ बैल खोह के अन्दर से बाहर लाकर छोड दिये गये है। इस तरह सूदखोर दुनिया को धोखा देना चाहता है, ताकि लोग समझें कि उसने ससार का बडा उपकार किया है और ये सारे बैल उसी न दिये है, जब कि सचाई यह है कि वह अकेला उन सबको चीर फाडकर खा जाता है और जब हम रहजना, हत्यारो और सेंधमारो को तरह-तरह की यातनाए देते है और उनका सिर काट देते है, तब इन तमाम सूदखोरा को तो हमें और भी ज्यादा यातनाए देनी चाहिये, जान से मार डालना चाहिये खोज खोजकर मारना चाहिये, शाप देना चाहिये और उनका सिर धड से अलग कर देना चाहिये ' (Martin Luther उप० पु०)।

[1] गेटे की रचना 'फास्ट' देखिये।

१७९५ में प्रकाशित एक रचना में डा० आइकिन ने लिखा है "मानचेस्टर के व्यवसाय के इतिहास को चार कालों में बांटा जा सकता है। पहला काल वह था, जब कारखानेदारो को अपनी जीविका कमाने के लिये कडी मेहनत करनी पडती थी।" वे लोग अपना धन बढाने के लिये मुख्यतया उन मा-बापो को लूटा करते थे, जिनके बच्चे उनसे यहा काम सीखते थे। मा-बाप काम सीखने की ऊची फीस देते थे, जब कि सीखतर बच्चे भूखों मरते थे। दूसरी ओर, मुनाफा औसतन कम होता था और सचय करने के लिये हद दर्जे की कृपणता बरतनी पडती थी। ये कारखानेदार कजूसो की तरह रहते थे और अपनी पूजी का पूरा सूद तक भी खर्च नहीं करते थे। "दूसरा काल वह है, जब कारखानेदार थोडा धन बटोरने में तो कामयाब हो जाते थे, पर मेहनत अब भी उतनी ही सख्त करते थे,"—क्योंकि, जैसा कि दासो से काम लेने वाला हर आदमी अच्छी तरह जानता है, श्रम का प्रत्यक्ष शोषण करने में काफी श्रम खर्च होता है,—"और पहले जैसा ही सादा जीवन बिताते थे तीसरा काल वह है, जब भोग विलास शुरू हो गया और व्यवसाय को तेज करने के लिये राज्य के प्रत्येक ऐसे नगर में, जहा मण्डी लगती थी, हरकारे भेजकर माल के आर्डर मगवाये जाने लगे यह सम्भव है कि १६९० के पहले यहा ३,००० पौण्ड या ४,००० पौण्ड की ऐसी बहुत कम पूजिया थीं या बिल्कुल नहीं थीं, जो व्यवसाय के द्वारा अर्जित की गयी हो। किन्तु १६९० के लगभग या उसके थोडे बाद की बात है कि व्यवसाइयो के पास काफी रुपये आ गये और वे लकडी और पलस्तर के मकानो के स्थान पर ईंटों के आधुनिक मकान बनवाने लगे थे।" यहा तक कि १८ वीं सदी के शुरू के हिस्से में भी, अगर मानचेस्टर का कोई कारखानेदार अपने मेहमानो के सामने थोडी सी विदेशी शराब भी खोलकर रख देता था, तो उसके सारे पडोसी उगली उठाने और कानाफूसी करने लगते थे। मशीनो के अभ्युदय के पहले शाम को शराबखाने में, जहा कारखानेदार इकट्ठा हुआ करते थे, किसी कारखानेदार का खर्चा एक गिलास शराब के लिये छ पेंस और तम्बाकू के लिये एक पेनी से ज्यादा नहीं बैठता था। १७५८ के पहले—और उसके आते-आते एक पूरा युग बीत चुका था—सचमुच व्यवसाय में लगा हुआ कोई व्यक्ति खुद अपनी घोडा गाडी के साथ कभी नहीं दिखाई देता था। "चौथा काल,"—यानी १८ वीं सदी के अन्तिम ३० वर्ष,—"वह है, जिसमें खर्च और भोग विलास बहुत बढ जाते है, और व्यवसाय के सहारे चलते है, जिसे इस बीच हरकारो और आढतियों के जरिये योरप के हरेक हिस्से में फैला दिया गया था।"[1] यदि डा० आइकिन अपनी कब्र से उठकर आजकल के मानचेस्टर को देख पाते, तो वह क्या कहते?

सचय करो, सचय करो! पूजीपति के लिये तो मूसा का और बाक़ी तमाम पैग़म्बरो का बस यही सदेश है। "उद्योग वही सामग्री देता है, जिसका बचत सचय कर देती है।"[2] इसलिये, बचत करो, बचत करो, अर्थात् अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार के अधिक से अधिक बडे हिस्से को पूजी में बदल डालो! सचय के लिये सचय करो! उत्पादन के लिये उत्पादन करो!—इस सूत्र के द्वारा प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने पूजीपति वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका को

[1] Dr Aikin *Description of the Country from 30 to 40 miles round Manchester* (डा० आइकिन, 'मानचेस्टर के ३०—४० मील के इर्द गिर्द के देहात का वर्णन'), London 1795 पृ० १८२ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] A Smith उप० पु०, पुस्तक ३, अध्याय ३।

व्यक्त किया था और धन के जन्मकाल की प्रसव पीडा के बारे में एक क्षण के लिये भी कभी अपने को धोखा नहीं दिया था।[1] परन्तु इतिहास के तकाजे के सामने रोने धोने से क्या होता है? प्रामाणिक अर्थशास्त्र के लिये यदि सर्वहारा अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का एक यन्त्र मात्र है, तो पूंजीपति उसकी दृष्टि में केवल इस अतिरिक्त मूल्य को अतिरिक्त पूंजी में परिणत कर देने का यन्त्र है। अर्थशास्त्र पूंजीपति के ऐतिहासिक कर्म को अत्यन्त गम्भीर दृष्टि से देखता है। उसके हृदय में भोग की इच्छा और धन की तृष्णा के बीच जो भयानक संघर्ष चला करता है, उसे किसी तरह शान्त करने के लिये माल्थस ने १८२० के लगभग एक ऐसे श्रम विभाजन का प्रस्ताव किया था, जिसमें सचमुच उत्पादन में लगे हुए पूंजीपति को तो संचय करने का काम दिया गया था, और अतिरिक्त मूल्य में हिस्सा बटाने वाले अन्य लोगों – जमींदारों, सरकारी अधिकारियों, पैसा पाने वाले पादरियों आदि – को खर्च करने का काम सौंपा गया था। माल्थस ने लिखा है कि यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि "खर्च करने की भावना और संचय करने की भावना (the passion for expenditure and the passion for accumulation) को अलग-अलग रखा जाये।"[2] मगर पूंजीपति बहुत दिन से जीवन का आनन्द ले रहे थे और अनुभवी तथा व्यावहारिक आदमी थे। उन्होंने सुना तो लगे चीख पुकार मचाने। उनके एक प्रवक्ता ने, जो रिकार्डो के शिष्य थे, कहा कि यह क्या हो रहा है? क्या मि० माल्थस यह चाहते हैं कि लगान और किराये बढ़ा दिये जायें, ऊंचे कर लगाये जायें इत्यादि, ताकि अनुत्पादक उपभोगी सदा उद्यमी व्यक्तियों को अंकुश लगा-लगाकर उनसे काम कराते रहें? उत्पादन, निरन्तर बढ़ते हुए पैमाने का उत्पादन – यह सूत्र तो ठीक है, लेकिन "इस प्रकार की क्रिया से उत्पादन में तेजी आने के बजाय वह और दब जायेगा। और न ही यह बात उचित है (nor is it quite fair) कि अनेक ऐसे व्यक्तियों को केवल दूसरों को कोंचने के लिये निकम्मा बनाकर रखा जाये, जिनका स्वभाव ऐसा है (who are likely, from their characters) कि यदि उनसे जबर्दस्ती काम कराया जाये, तो वे सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं।"[3] औद्योगिक पूंजीपति की रोटी का मक्खन हटाकर उसे कोंचना इस लेखक को अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी मजदूर को "सदा मेहनती बनाये रखने के लिये" उसकी मजदूरी को कम से कम कर देना वह बहुत आवश्यक समझता है। और यह इस बात को कभी नहीं छिपाता कि अतिरिक्त मूल्य का रहस्य अवेतन श्रम को हस्तगत करने में निहित है। "मजदूरों की ओर से बढ़ी हुई मांग का इससे अधिक और कुछ

---

[1] यहां तक कि जे० बी० से ने भी लिखा है: Les epargnes des riches se font aux dépens des pauvres ("धनी लोग गरीबों का गला काटकर पैसा बचाते हैं")। सिस्मांदी के शब्द हैं: "रोमन सर्वहारा लगभग पूर्णतया समाज के खर्चे पर पलता था... आधुनिक समाज के बारे में हम एक तरह से यह कह सकते हैं कि वह सर्वहारा के खर्चे पर पलता है, श्रम की उजरत में से जो कुछ काट लिया जाता है, समाज उसी के सहारे जिन्दा रहता है।" (Sismondi: *Études etc.*, ग्रंथ १, पृ० २४।)

[2] Malthus, उप० पु०, पृ० ३१९, ३२०।

[3] *"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand &c."* ('मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों की समीक्षा, इत्यादि'), पृ० ६७।

अर्थ नहीं होता कि वे खुद अपनी पैदावार का पहले से कम हिस्सा अपने वास्ते चाहते हैं और पहले से अधिक हिस्सा अपने मालिक के पास छोड देने को राजी हैं। और अगर यह कहा जाये कि इससे तो 'glut' (प्रचुरता) पैदा हो जायेगी, क्योंकि " (मजदूरों के द्वारा) "उपभोग कम हो जायेगा, तो इसका मै केवल यही जवाब दे सकता हू कि 'glut' (प्रचुरता) मोटे मुनाफो का ही दूसरा नाम है।"[1]

परन्तु यह पण्डिताऊ झगडा कि मजदूर को चूसकर जो लूट मचायी जाये, उसको अधिक से अधिक सचय करने के दृष्टिकोण से औद्योगिक पूजीपति और हाथ पर हाथ रखकर खाने वाले धनी के बीच किस तरह बाटा जाये, जुलाई की क्रान्ति का सामना होने पर जल्दी जल्दी दबा दिया गया। उसके थोडे समय बाद लियो के शहरी सर्वहारा ने क्रान्ति का शख बजाया और इगलण्ड का देहाती सर्वहारा खलिहानो और अनाज के गोलो में आग लगाने लगा। इग्लिश चैनल के इस ओर ओवेनवाद फैलने लगा, उस ओर से साइमोवाद और फूरियेवाद का प्रसार होने लगा। अब अप्रामाणिक अर्थशास्त्र के उदय की घडी आ पहुची थी। जिस दिन नस्साऊ डब्लयू० सीनियर ने मानचेस्टर में यह आविष्कार किया था कि पूजी का मुनाफा (मय ब्याज के) काम के दिन के बारह घटो में से केवल अतिम घण्टे की पैदावार होता है, उसके ठीक एक वर्ष पहले वह दुनिया के सामने एक और आविष्कार की घोषणा कर चुका था। उसने बडे गर्व के साथ कहा था "उत्पादन के एक औजार के रूप में पूजी शब्द के स्थान पर मै परिवर्जन शब्द का प्रयोग करता हू।"[2] अप्रामाणिक अर्थशास्त्र के आविष्कारो का यह एक बेमिसाल नमूना है! यहा एक आर्थिक परिकल्पना के स्थान पर एक चाटुकारितापूर्ण शब्द रख दिया गया है—voila tout (और बस)। सीनियर ने लिखा है "जब जगली आदमी धनुष बनाता है, तब वह उद्योग तो करता है, परन्तु परिवर्जन नहीं करता।" इससे पता

---

[1] उप० पु०, पृ० ५६।

[2] Senior *Principes fondamentaux de l Écon Pol* Arrivabene का अनुवाद, Paris 1836 पृ० ३०८।—पुराने प्रामाणिक अर्थशास्त्र के मतावलम्बियो के लिये इस बात का सहन करना असम्भव था। उन्होने लिखा "इसके" (श्रम और मुनाफा—इस शब्दावली के) "स्थान पर मि० सीनियर श्रम और परिवर्जन—इस शब्दावली का प्रयोग करते है। जो अपनी आय को रूपान्तरित कर देता है, वह उस भोग का परिवर्जन कर देता है, जो उसे इस आय को खर्च कर देने पर प्राप्त होता। मुनाफा पूजी से नही, पूजी के उत्पादक ढग के उपयोग से पैदा होता है।" (John Cazenove उप० पु०, पृ० १३०, नोट।) इसके विपरीत, जान स्टुअर्ट मिल एक तरफ तो रिकार्डो के मुनाफे के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं और दूसरी तरफ सीनियर के "परिवर्जन की उजरत" के सिद्धान्त को भी अपना लेते हैं। सभी प्रकार के द्वन्द्व का स्रोत, हेगेलीय विरोध उनके लिये जितना अरुचिकर है, बेतुके विरोधो से उनको उतना ही आनन्द प्राप्त होता है। इस अप्रामाणिक अर्थशास्त्री के दिमाग मे यह साधारण सा विचार कभी नही आया कि प्रत्येक मानव-कार्य को उसके उल्टे कार्य का "परिवर्जन" समझा जा सकता है। भोजन करना उपवास का परिवर्जन है, चलना निश्चल खडे रहने का परिवर्जन है, काम करना काहिली का परिवर्जन है, काहिली काम का परिवर्जन है, इत्यादि, इत्यादि। इन महानुभावो को कभी-कभार स्पिनोजा की इस उक्ति पर भी विचार करना चाहिये कि Determinatio est Negatio (निर्धारण निषेध है)।

चलता है कि समाज के शुरू के रूपों में श्रम के औजार पूंजीपति के परिवजन के बिना ही क्यों और कैसे तैयार हो गये थे। "समाज जितना विकास करता जाता है, परिवजन की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती है,"[1] – यह परिवजन उनको करना पड़ता है, जो दूसरों के श्रम के फलों को हस्तगत करने का श्रम करते हैं। श्रम क्रिया को सम्पन्न करने के लिये जितनी बातें आवश्यक हैं, वे सब यकायक पूंजीपति के परिवजन के कृत्य बन जाती हैं। यदि अनाज सारा खा नहीं लिया जाता, बल्कि उसका एक भाग बो दिया जाता है, तो यह पूंजीपति का परिवजन है। यदि शराब को उठने के लिये रख दिया जाता है, तो यह भी पूंजीपति का परिवजन है।[2] जब कभी पूंजीपति "मजदूर का उत्पादन के औजार उधार (!) देता है," – यानी जब कभी वह उत्पादन के औजारों का – भाप के इंजनों, कपास, रेल, खाद, घोड़ों और दूसरी तमाम चीजों का उपभोग खुद नहीं कर लेता, – या, अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियों की बचकानी भाषा में, जब कभी वह इन तमाम चीजों का "मूल्य" विलास की वस्तुओं तथा उपभोग की चीजों पर जाया नहीं कर देता, बल्कि इसके बजाय उनके साथ श्रम-शक्ति का समावेश करके इस श्रम-शक्ति से अतिरिक्त मूल्य निकालने के लिये उनका उपयोग करता है, तब हर बार वह खुद अपने घर में डाका डालता है।[3] एक वर्ग के रूप में पूंजीपति यह कमाल कैसे करेंगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन करने के लिये अप्रामाणिक अर्थशास्त्र आज तक तैयार नहीं हुआ। उसके लिये बस इतना ही काफी है कि इस आधुनिक विष्णु भक्त – पूंजीपति – के प्रायश्चित और आत्म-ताड़ना के प्रताप से संसार आज भी किसी तरह हिचकोले खाता हुआ चला जा रहा है। न केवल संचय के लिये, बल्कि "महज पूंजी को सुरक्षित रखने के लिये भी उसका उपभोग कर डालने के प्रलोभन से लगातार संघर्ष करना पड़ता है।"[4] अतएव,

---

[1] Senior उप० पु०, पृ० ३४२।

[2] "जब तक किसी को अतिरिक्त मूल्य कमाने की आशा नहीं होगी, तब तक वह यह हरगिज नहीं करेगा कि अपनी पैदावार का या उसके सम-मूल्य का तुरंत उपभोग कर डालने के बजाय, मिसाल के लिये, अपना गेहूं बो डाले और उसे बारह महीने तक जमीन में गड़ा रहने दे या अपनी शराब को बरसों तक तहखाने में डाले रखे।" (Scrope *Political Economy* [स्क्रोप, 'अर्थशास्त्र'] A Potter का संस्करण, New York 1841 पृ० १३३-१३४।)

[3] 'La privation que s impose le capitaliste en pretant ses instruments de production au travailleur au lieu d'en consacrer la valeur a son propre usage en la transforment en objets d utilite ou d agrement ["अपने उत्पादन के औजारों का खुद अपने लिये उपयोग न करके और उनका मूल्य उपयोगी वस्तुओं या विलास की वस्तुओं में न बदलकर पूंजीपति उनको मजदूर को उधार देकर जो कष्ट उठाता है।'] (G de Molinari उप०पु०, प० ३६।) – यहां "उधार देना" शब्दों का एक मंगल भाषण के रूप में प्रयोग किया गया है। अप्रामाणिक अर्थशास्त्र की अनुमोदित पद्धति का प्रयोग करते हुए इस मंगल भाषण के द्वारा उस मजदूर का, जिसका शोषण किया जाता है, उसे औद्योगिक पूंजीपति के साथ एकाकार कर दिया गया है, जो शोषण करता है और जिसको दूसरे पूंजीपति मुद्रा उधार देते हैं।

[4] "La conservation d un capital exige un effort constant pour resister a la tentation de le consommer (Courcelle Seneuil, उप० पु०, पृ० ५७)।

साधारण मानवता का तकाजा है कि पूजीपति को इस शहादत से और इस प्रलोभन से मुक्ति दिला दी जाये, जिस प्रकार हाल में दास प्रथा का अन्त करके ज्योर्जिया के दासो के मालिक को इस दुविधा से छुटकारा दिला दिया गया था कि अपने हब्शियो को कोडे मार-मार वह जो अतिरिक्त पैदावार तयार कराता है, उसे फिजूलखर्ची के जरिये लुटा दे या उसके एक हिस्से को पुन नये हब्शियो और नयी जमीन में परिणत कर डाले।

समाज के अत्यन्त भिन्न प्रकार के आर्थिक रूपो में केवल साधारण पुनरुत्पादन ही नहीं, बल्कि अलग अलग मात्रा में उत्तरोत्तर बढते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होता है। हर बार पहले से अधिक उत्पादन और अधिक उपभोग होता है और इसलिये हर बार पहले से अधिक पैदावार को उत्पादन के साधनो में बदलना पडता है। किन्तु जब तक मजदूर के उत्पादन के साधन और उनके साथ-साथ उसकी पैदावार तथा जीवन निर्वाह के साधन पूजी की शकल में उसके मुकाबले में नहीं खडे हो जाते, तब तक यह क्रिया पूजी के सचय के रूप में या किसी पूजीपति के काय के रूप में सामने नहीं आती।[1] रिचर्ड जोन्स ने, जिनकी कुछ वर्ष पहले ही मृत्यु हुई है और जिन्होंने हेलीबरी कालिज में माल्थूस के उत्तराधिकारी के रूप में अर्थशास्त्र के आचार्य का पद ग्रहण किया था, दो महत्वपूर्ण तथ्यो के प्रकाश में इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। भारत की आबादी का अधिकाश चूकि किसानो का है, जो खुद अपनी जमीन जोतते बोते है, इसलिये उनकी पैदावार, उनके श्रम के औजार और जीवन निर्वाह के साधन कभी "आय में से बचाये हुए (saved from revenue) किसी ऐसे कोष का रूप (the shape) धारण नहीं करते, जो इस कारण पहले से सचय की किसी क्रिया (a previous process of accumulation") में से गुजर चुका हो।"[2] दूसरी ओर, उन प्रान्तो में, जहा अग्रेजी शासन ने पुरानी व्यवस्था को सबसे कम गडबड किया है, खेती के सिवा कोई और काम करने वाले मजदूर प्रत्यक्ष रूप में ऐसे रईसो के यहा नौकर है जिनको खेती की अतिरिक्त पैदावार का एक भाग खिराज या लगान के रूप में मिलता है। इस पैदावार का एक भाग ये रईस जिन्स की शक्ल में खर्च कर जाते है, दूसरा भाग उनके उपयोग के वास्ते मजदूरो द्वारा विलास की वस्तुओ तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ में बदल दिया जाता है, बाकी भाग मजदूरो की मजदूरी का काम करता है, जो अपने श्रम के औजारो के खुद मालिक होते है। यहा उत्पादन और उत्तरोत्तर बढते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन बराबर होता चलता है, लेकिन उसके लिये उस विचित्र सन्त के, क्षुब्ध मुखाकृति वाले उस सूरमा सरदार के, उस "परिव्राजक" पूजीपति के हस्तक्षेप की कभी आवश्यकता नहीं पडती।

---

[1] "राष्ट्रीय पूजी की प्रगति मे आय के जिन विशिष्ट प्रवर्गों से सबसे अधिक सहायता मिलती है, वे अपनी प्रगति की भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे बदलते रहते है और इसलिये इस प्रगति की दृष्टि से भिन्न भिन्न स्थिति रखने वाले राष्ट्रो में इस प्रकार के आय के प्रवर्ग बिल्कुल अलग-अलग होते है समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे मजदूरी और लगान की तुलना में मुनाफा सचय का एक महत्वहीन स्रोत होता है जब राष्ट्रीय उद्योग की शक्तियो का सचमुच बहुत काफी विकास हो जाता है, तब कही मुनाफा सचय के एक स्रोत के रूप में तुलनात्मक महत्व प्राप्त करता है।" (Richard Jones *Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations* [रिचर्ड जोन्स, 'राष्ट्रो के अर्थशास्त्र पर भाषणो की पाठ्य-पुस्तक'], पृ० १६, २१।)

[2] उप० पु०, पृ० ३६ और उसके आगे के पृष्ठ।

अनुभाग ४ – अतिरिक्त मूल्य के पूजी तथा आय के सानुपातिक विभाजन से स्वतन्त्र किन बातो से सचय की राशि निर्धारित होती है? – श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा। – श्रम की उत्पादकता। – व्यवसाय मे लगी हुई पूजी और खर्च कर दी गयी पूजी का बढता हुआ अन्तर। – पेशगी लगायी गयी पूजी का परिमाण

यदि यह पहले से निश्चित हो कि अतिरिक्त मूल्य किस अनुपात में पूजी तथा आय में विभाजित हो जाता है, तो यह स्पष्ट है कि सचित पूजी का परिमाण अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण पर निर्भर करेगा। मान लीजिये कि ८० प्रतिशत का पूजीकरण और २० प्रतिशत का उपभोग हो जाता है। तब यदि कुल अतिरिक्त मूल्य ३,००० पौण्ड है, तो सचित पूजी २,४००, और यदि वह १,५०० पौण्ड है, तो सचित पूजी १,२०० पौण्ड होगी। इसलिये, जिन तमाम बातो से अतिरिक्त मूल्य की राशि निर्धारित होती है, उन्हीं से सचय का परिमाण भी निर्धारित होता है। इन तमाम बातो का हम सक्षेप में एक बार फिर वर्णन किये देते है, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उनसे सचय के विषय में कुछ नये दृष्टिकोणो से विचार करने में सहायता मिलती है।

पाठक को यह याद होगा कि अतिरिक्त मूल्य की दर मुख्यतया श्रम शक्ति के शोषण की मात्रा पर निर्भर करती है। अर्थशास्त्र इस तथ्य को इतना अधिक महत्व देता है कि श्रम की बढी हुई उत्पादकता के फलस्वरूप सचय में जो तेजी आ जाती है, उसे अर्थशास्त्र कभी कभी मजदूर के बढ़े हुए शोषण के फलस्वरूप आयी हुई तेजी समझ बैठता है।[1] अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन से सम्बध रखने वाले अध्यायो में हम बराबर यह मानकर चले थे कि मजदूरी कम से कम श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर जरूर होती है। किन्तु व्यवहार में मजदूरी को जबर्दस्ती

---

[1] "रिकार्डो ने लिखा है 'समाज की अलग अलग अवस्थाओ में पूजी का सचय – या श्रम से काम लेने' (अर्थात उसका शोषण करने) 'के साधनो का सचय – अधिक या कम तेज होता है, और हर हालत मे वह लाजिमी तौर पर श्रम की उत्पादक शक्तियो पर निर्भर करता है। सामान्यतया श्रम की सब से अधिक उत्पादक शक्तिया वहा होती है, जहा उपजाऊ भूमि की बहुतायत होती है।' यदि पहले वाक्य मे श्रम की उत्पादक शक्तियो से लेखक का अर्थ किसी भी उपज के उस अशेषभाजक भाग की अल्पता से है, जो उन लोगो को मिल जाता है, जिनके हाथ के श्रम से वह उपज पैदा हुई है, तो यह वाक्य लगभग एक सा है, क्योकि बचा हुआ अशेषभाजक भाग उस कोष का होता है, जिससे यदि मालिक चाहे (if the owner pleases) तो पूजी का सचय किया जा सकता है। परन्तु यह बात आम तौर पर ऐसे स्थानो पर नही होती, जहा बहुत अधिक उपजाऊ भूमि होती है।" (*Observations on Certain Verbal Disputes &c* [कुछ शाब्दिक विवादो के विषय मे कुछ टिप्पणिया, इत्यादि'], पृ० ७४, ७५।)

इस मूल्य के भी नीचे गिरा देने के प्रयत्नो का इतना अधिक महत्व होता है कि हम जरा रुककर इस विषय पर विचार किये बिना नहीं रह सकते। वस्तुत कुछ सीमाओ के भीतर इस प्रकार के प्रयत्न मजदूर के आवश्यक उपभोग के कोष को पूजी के सचय के कोष में परिणत कर देते ह।

जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है "मजदूरी में कोई उत्पादक शक्ति नहीं होती, मजदूरी उत्पादक शक्ति का दाम होती है। श्रम के साथ-साथ मजदूरी का मालो के उत्पादन में कोई भाग नहीं होता, जसे औजारो के साथ-साथ औजारो के दाम का उसमें कोई भाग नहीं होता। यदि श्रम को बिना खरीदे हासिल करना सम्भव होता, तो मजदूरी के बगैर ही काम चल सकता था।"[1] लेकिन यदि मजदूरो के लिये केवल हवा खाकर जिन्दा रहना मुमकिन होता, तो उनको किसी भी दाम पर खरीदा नहीं जा सकता था। इसलिये, गणित की दृष्टि से, मजदूरो की लागत की सीमा यह है कि वह शून्य के बराबर हो जाये, पर यह सीमा सदा पहुच के बाहर रहती है, हालाकि हम सदा उसके अधिकाधिक निकट पहुच सकते ह। पूजी की सदा यह प्रवृत्ति होती है कि श्रम की लागत को जबदस्ती इस शून्य की तरफ धकेलने की कोशिश करे। जब १८ वीं सदी का एक लेखक, जिसको हम पहले भी अवसर उदधृत कर चुके है और जिसने *Essay on Trade and Commerce'* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध') लिखा है, यह घोषणा करता है कि इगलैण्ड की ऐतिहासिक भूमिका अग्रेजो की मजदूरी को जबदस्ती घटाकर फ्रासीसियो और डच लोगो के स्तर पर पहुचा देना है, तब वह वास्तव में अग्रेजी पूजीवाद की आत्मा के गूढतम रहस्य को खोलकर रख देता है। अन्य बातो के अलावा, इस लेखक ने बडे भोलेपन के साथ यह भी लिखा है "परन्तु यदि हमारे यहा के गरीब लोग" (यह मजदूरो का पारिभाषिक नाम है) "विलास का जीवन व्यतीत करेंगे, तो जाहिर है कि श्रम अनिवाय रूप से महगा हो जायेगा जब हम इसपर विचार करते हैं कि कारखानो में काम करने वाली आबादी विलास की कसी कसी वस्तुओ का उपभोग करती है, जसे ब्राडी, जिन, चाय, चीनी, विदेशी फल, तेज बियर, पटसन के छपे हुए कपडे नसवार, तम्बाकू, आदि, आदि"।[3] इस लेखक ने नोर्थेम्पटनशायर के एक

---

[1] J Stuart Mill, *Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy'* (जान स्टुअट मिल, 'अथशास्त्र के कुछ अनिर्णीत प्रश्ना पर निबध'), London, 1844 पृ० ६०।

[2] *An Essay on Trade and Commerce* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध'), London 1770 पृ० ४४। इसी प्रकार, दिसम्बर १८६६ और जनवरी १८६७ के *'The Times* ने अग्रेज खानो के मालिको के हृदय के कुछ भावा को प्रकाशित किया है। इन लेखो मे बेल्जियम के उन खान मजदूरो के सुखी जीवन का वणन किया गया है, जो उससे अधिक न तो मागते थे और न पाते थे, जो उनके लिये अपने "मालिको' के हित मे जीवित रहने के वास्ते बिल्कुल जरूरी था। बेल्जियम के मजदूरा को बहुत सारे कष्ट उठाने पडते है, मगर यह तो हद है कि *'The Times* मे उनकी आदश मजदूरो के रूप में चर्चा की जाये! १८६७ के फरवरी महीने के शुरू मे *The Times* को इसका जवाब मिला मारशियेन में बेल्जियन खान मजदूरो ने हडताल कर दी, जिसे गोलिया से दबाया गया।

[3] उप० पु०, पृ० ४४, ४६।

कारखानेदार की रचना को उदधृत किया है, जिसने आकाश की ओर देखकर आह भरते हुए कहा था "इगलण्ड की अपेक्षा फ्रास में श्रम एक तिहाई अधिक सस्ता है, क्योंकि वहा गरीब लोग सख्त मेहनत करते ह और मोटा खाते हैं तथा मोटा पहनते ह। उनका मुख्य भोजन रोटी, फल, वनस्पति, जड़ें और सुखायी हुई मछली है। वे मास बहुत कम खाते ह, और जब गेहू महगा हो जाता है, तब वे रोटी भी बहुत कम खाने लगते ह।"[1] हमारे निबधकार ने इसके आगे लिखा है "इसके साथ हम यह भी जोड सकते हैं कि ये लोग या तो पानी पीते ह और या हल्की शराबें और इसलिये बहुत कम पैसा खर्च करते हैं यह हालत पैदा कर देना बहुत कठिन तो है, पर अव्यावहारिक नहीं, क्योंकि आखिर फ्रास और हालण्ड दोनों जगह यह हालत पैदा कर दी गयी है।"[2] इसके बीस वर्ष बाद एक अमरीकी मक्कार ने, बेंजामिन टॉम्पसन (alias [उर्फ] काउण्ट रमफोर्ड) नामक एक यांकी ने, जिसे काउण्ट की उपाधि देकर अभिजात वर्ग में शामिल कर दिया गया था, मानव कल्याण से प्रेरित होकर इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया, जिनसे भगवान और इनसान दोनों को बड़ा सतोष हुआ होगा। इन महाशय के *Essays*" ('निबन्ध') असल में पाकशास्त्र की पुस्तक है, जिसमें मजदूरों के साधारण, महगे भोजन के स्थान पर सस्ती वस्तुए प्रयोग करने के तरह-तरह के अनेक नुसखे दिये हुए ह। इस विचित्र दार्शनिक का एक विशेष रूप से सफल नुसखा इस प्रकार है "५ पौण्ड जौ का सत्तू, साढे ७ पेंस का, ५ पौण्ड मक्का, सवा ६ पेंस की, लाल हेरिंग मछली, ३ पेंस की, नमक, १ पेनी का, सिरका, १ पेनी का, काली मिर्च और मसाले, २ पेंस के। कुल मिलाकर हुए पौने २१ पेंस। इससे ६४ आदमियों के लिये शोरबा तैयार हो जायेगा, और जौ तथा मक्का के साधारण दामों के आधार पर यह शोरबा चौथाई पेनी प्रति २० आउंस के हिसाब से दिया जा सकेगा।"[3]

---

[1] नार्थेम्पटनशायर के इस कारखानेदार ने यहा पर मासूम चालबाजी की है। जिस आदमी का दिल इतना भरा हुआ हो, वह अगर थोडी चालाकी भी कर जाये, तो उसे क्षमा दिया जा सकता है। यहा पर उसने कहने के लिये इगलैण्ड और फ्रास के कारखानों मे काम करने वाले मजदूरों की तुलना की है, पर वास्तव मे ऊपर उदधृत किये गये शब्दों मे उसने फ्रास के खेतिहर मजदूरों का वर्णन किया है, और अपने उलझे हुए ढग से उसने यह बात स्वीकार भी कर ली है।

[2] उप० पु०, पृ० ७०, ७१।—**तीसरे जर्मन सस्करण का नोट** तब से अब तक चूकि ससार की मण्डी मे प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी है, इसलिये मामला और आगे बढ गया है। ससद के सदस्य, मि० स्टेपलटन ने अपने निर्वाचकों के सामने भाषण करते हुए कहा है 'यदि चीन एक बडा औद्योगिक देश बन जाये, तो मेरी समझ मे नही आता कि कारखानो मे काम करने वाली योरप की आबादी अपने प्रतियोगियो के जीवन स्तर पर पहुचे बिना कैसे उनसे प्रतियोगिता कर पायेगी" (*The Times*, ३ सितम्बर १८७३, पृ० ८)। अत अग्रेजी पूजी का वाछित लक्ष्य अब योरपीय नहीं बल्कि चीनी मजदूरी है।

[3] Benjamin Thompson *Essays Political Economical and Philosophical &c* (बेंजामिन टॉम्पसन, निबंध – राजनीतिक, आर्थिक एव दार्शनिक इत्यादि), ३ खण्ड London 1796–1802 खण्ड १, पृ० २९४। सर एफ० एम० ईडेन ने अपनी पुस्तक *The State of the Poor or an History of the Labouring Classes in England &c*

पूजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ खाने-पीने की वस्तुओ में इतनी ज्यादा मिलावट होने लगी कि टौम्पसन का आदर्श अनावश्यक बन गया।[1]

१८ वीं सदी के अन्त में और १६ वीं सदी के पहले दस वर्षों में अग्रेज काश्तकारो और जमींदारो ने जबदस्ती मजदूरी को उसकी निरपेक्ष रूप से अल्पतम सीमा पर पहुचा दिया। वह इस तरह कि वे खुद तो खेतिहर मजदूरो को मजदूरी की शकल में अल्पतम से भी कम देने लगे, और बाकी पसा मजदूरो को चच की ओर से सावजनिक सहायता के रूप में मिलने लगा। मजदूरी की दरें "कानूनी ढग से" निश्चित करने में अग्रेज जमींदार कसे मसखरेपन से काम लेते हैं, इसकी एक मिसाल देखिये "मि० बक ने बताया है कि नोरफोक के जमींदारो ने जिस समय मजदूरी की दर निश्चित की थी, उस समय वे रात का खाना खा चुके थे। पर बेक्स के जमींदारो ने १७६५ में जब स्पीनहैमलड में मजदूरी की दर त की, तो उस समय, मालूम पडता है, उनका यह खयाल था कि मजदूरो को रात का खाना नहीं खाना चाहिये वहा उन्होने यह फसला किया कि जिन दिनो एक गलन या आधा पेक वाली ८ पौण्ड ११ औंस की डबल रोटी का भाव १ शिलिग हो, उन दिनो एक मजदूर की (साप्ताहिक) आय ३ शिलिग होनी चाहिये, और डबल रोटी का भाव बढने के साथ-साथ मजदूरी भी बढती रहनी चाहिये, पर जब रोटी का भाव १ शिलिग ५ पेंस के ऊपर चढने लगे, तब उसके २ शिलिग पर पहुचने तक मजदूरी को बराबर घटाते जाना चाहिये। २ शिलिग का भाव हो

('गरीबा की अवस्था, या इगलैण्ड के श्रमिक वर्गों का इतिहास, इत्यादि') मे वडे जोरदार ढग से मुहताजखानो के निरीक्षका को सलाह दी है कि उन्ह यह रमफोड मार्का भिखारिया का शोरवा इस्तेमाल करना चाहिये, और साथ ही उन्होने शिकायत के अन्दाज मे अग्रेज मजदूरा को आगाह किया है कि "वहुत से गरीब लोग, खास कर स्कोटलैण्ड मे, महीना जई का सत्तू और जौ का सत्तू केवल पानी मे घोलकर और नमक मिलाकर पीते जाते है और उसी के सहारे जिन्दा रहते हैं और वहुत आराम से जिन्दा रहते है" ('and that very comfortably) (उप० पु०, खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय २, पृ० ५०३)। १६ वी सदी मे भी इसी प्रकार की वातें सुनने को मिलती है। "(अग्रेज खेतिहर मजदूरो ने) आटे का अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद मिश्रण खाने से इनकार कर दिया है स्कोटलैण्ड में, जहा लोग ज्यादा शिक्षित हैं, शायद यह पूवग्रह नही पाया जाता" (Charles H Parry M D *The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws Considered* [चार्ल्स एच० पैरी, एम० डी०, 'अनाज सम्बधी वतमान कानूना की आवश्यकता के प्रश्न का विवेचन'], पृ० ६६)। किन्तु इन्ही पैरी की यह भी शिकायत है कि ईडेन के समय (१७६७) म अग्रेज मजदूर की जो हालत थी, उसके मुकाबले म अब (१८१५ मे) उसकी हालत वहुत ज्यादा खराब हो गयी है।

[1] जीवन निर्वाह के साधनो मे मिलावट की जाच करने के लिए जो अन्तिम ससदीय आयोग नियुक्त किया गया था, उसकी रिपोर्टों से पता चलता है कि इगलैण्ड में दवाइया तक में मिलावट की जाती है, और यह वात अपवाद नही, वल्कि नियम सी वन गयी है। मिसाल के लिये, लन्दन के ३४ दवाफरोशा के यहा से अफीम के ३४ नमूने खरीदे गये, ता पता चला कि उनमें से ३१ मे पोस्त की डाडी, गेहू या आटा, गाद, मिट्टी, रेत आदि मिले हुए थे। कुछ नमूना में तो अफीम का एक कण भी नहीं था।

जाने पर मजदूर के भोजन में $\frac{१}{५}$ की कमी आ जानी चाहिये।"[1] १८१४ में हाउस आफ लार्डस की जांच समिति के सामने जब ए० बेनेट नामक एक बड़ा काश्तकार, जो मजिस्ट्रेट, गरीबों की मदद के क़ानून का संरक्षक और मजदूरी का नियामक भी था, गवाही देने के लिये आया, तो उससे यह प्रश्न किया गया कि "क्या मजदूर के दैनिक श्रम के मूल्य का कोई भाग गरीबों की सहायता के लिये कर लगाकर जमा किये गये कोष में से अदा किया जाता है?" उत्तर "हां, एक भाग उसमें से अदा किया जाता है। इस तरह हर परिवार की साप्ताहिक आय एक गैलन वाली डबल रोटी (जिसका वजन ८ पौण्ड ११ औंस होता है) और ३ पेंस प्रति व्यक्ति तक कर दी जाती है हमने यह मान लिया है कि प्रति सप्ताह एक गैलन वाली डबल रोटी परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिये एक हफ्ते के वास्ते काफी होती है, और ३ पेंस कपड़ों के लिये होते हैं, और यदि कपड़े चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता के कोष से मिल जाते हैं, तो ये ३ पेंस काट लिये जाते हैं। यह प्रथा विल्टशायर के पूरे पश्चिमी भाग में और, मैं समझता हूं, पूरे देश में प्रचलित है।" उस काल के एक पूंजीवादी लेखक ने लिखा है "वर्षों से उन्होंने (काश्तकारों ने) अपने देशवासियों के एक सम्मानित भाग को मुहताजखाने की सहायता लेने के लिये विवश करके पतन के गढ़े में धकेल दिया है काश्तकार अपने लाभ में तो वृद्धि करता जाता है, पर अपने श्रमजीवी आश्रितों को जरा भी संचय नहीं करने देता।"[3] हमारे जमाने में अतिरिक्त मूल्य और इसलिये पूंजी के संचय कोष के निर्माण में मजदूर के आवश्यक उपभोग कोष पर सीधे डाके की क्या भूमिका है, यह तथाकथित घरेलू उद्योग से साफ हो गया है (देखिये इस पुस्तक का पन्द्रहवां अध्याय, अनुभाग ८, ग)। इस विषय से सम्बंधित कुछ और तथ्य हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि उद्योग की सभी शाखाओं में स्थिर पूंजी के उस भाग के लिये, जिसमें श्रम के औजार शामिल होते हैं, यह आवश्यक होता है कि वह मजदूरों की एक खास संख्या के लिये (जो व्यवसाय विशेष के आकार से निर्धारित होती है) पर्याप्त हो, फिर भी इसका सदा यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह उसी अनुपात में बढ़ता जायेगा, जिस अनुपात में मजदूरों की संख्या में वृद्धि होती जायेगी। मान लीजिये कि किसी फैक्टरी में १०० मजदूर ८ घण्टे रोजाना काम करके काम के ८०० घण्टे देते हैं। यदि पूंजीपति इस राशि को ड्योढ़ा कर देना चाहता है, तो वह ५० मजदूरों को और नौकर रख सकता है। परन्तु तब उसको न सिर्फ मजदूरों की

---

[1] G B Newnham *(barrister at law)* *A Review of the Evidence before the Committee of the two Houses of Parliament on the Corn Laws* (जी० बी० न्यूनैम (बैरिस्टर), 'अनाज सम्बंधी कानूनों के विषय में संसद के दोनों सदनों की समिति के सामने दी गयी गवाहियों की समीक्षा'), London 1815 पृ० २०, नोट।

[2] उप० पु०, पृ० १९ २०।

[3] Ch H Parry उप० पु०, पृ० ७७, ६९। उधर जमींदारों ने न केवल इसकी व्यवस्था कर ली थी कि जैकोबिन विरोधी युद्ध में, जिसे उन्होंने इंगलैण्ड के नाम पर चलाया था, उनका जितना खर्चा हुआ था, उसकी पूरी 'क्षति-पूर्ति" हो जाय, बल्कि उन्होंने अपने धन में बेशुमार इजाफा कर लिया था। 'अठारह वर्ष में उनके लगान पहले से दुगने, तिगुने, चौगुने और यहां तक कि छ गुने बढ़ गये थे (उप० पु०, पृ० १००, १०१)।

मद में, बल्कि श्रम के औजारो की मद में भी कुछ नयी पूजी लगानी पडेगी। लेकिन यह भी मुमकिन है कि वह १०० मजदूरो से ८ घण्टे के बजाय १२ घण्टे रोजाना काम लेने लगे। तब श्रम के जो औजार पहले से मौजूद थे, वे ही काफी होगे। अतर केवल यह होगा कि वे पहले से ज्यादा तेजी के साथ खर्च हो जायेंगे। इस प्रकार श्रम-शक्ति के पहले से अधिक तनाव से उत्पन्न अधिक श्रम से अधिक पदावार और अधिक मूल्य का उत्पादन हो सकता है (अर्थात सचय की विषय-वस्तु में) वृद्धि हो सकती है, पर उसके लिये पूजी के स्थिर भाग में तदनुरूप वृद्धि न करनी पडे।

निस्सारक उद्योगो – खानो आदि – में पेशगी लगायी जाने वाली पूजी में कच्चा माल शामिल नहीं होता। इन उद्योगो में श्रम की विषय वस्तु किसी पूर्वकालिक श्रम की पदावार नहीं होती, बल्कि वह प्रकृति से मुफ्त में मिल जाती है, जसे धातुए, खनिज पदाथ, कोयला, पत्थर इत्यादि। ऐसे उद्योगा में स्थिर पूजी में प्राय केवल श्रम के औजार ही शामिल होते ह, जो बिना किसी कठिनाई के पहले से अधिक श्रम का अवशोषण कर सकते ह (जसा कि उस समय होता है, जब मजदूरो से दो पालियो में दिन के साथ-साथ रात में भी काम कराया जाता है)। अय बातो के समान रहते हुए, जितना अधिक श्रम खर्च किया जायेगा, पदावार की राशि तथा मूल्य उसके अनुलोम अनुपात में बढते जायेंगे। जसा कि उत्पादन के पहले दिन देखा गया था, उपज के वे मूल निर्माता, जो अब पूजी के भौतिक तत्वो के सृजनकर्ता बन गये ह, – अर्थात् मनुष्य और प्रकृति, – अब भी साथ-साथ काम करते ह। श्रम शक्ति की प्रत्यास्थता के प्रताप से स्थिर पूजी में पहले से कोई वृद्धि किये बिना भी सचय के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है।

खेती में जब तक पहले से अधिक बीज और खाद मुहैया नहीं किये जाते, तब तक पहले से ज्यादा जमीन को जोता-बोया नहीं जा सकता। परन्तु जब एक बार बीज और खाद की व्यवस्था कर दी जाती है, तो धरती को केवल यात्रिक ढग से तयार करने का भी पैदावार पर आश्चयजनक प्रभाव पडता है। इस तरह, जितने मजदूर पहले काम करते थे, उतने ही मजदूर अब भी पहले से अधिक मात्रा में श्रम करके धरती की उवरता को बढा देते ह, और इसके लिये श्रम के औजारो पर कोई नयी रक़म नहीं खच करनी पडती। एक बार फिर हम यह देखते हैं कि किसी नयी पूजी के हस्तक्षेप के बिना मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर प्रभाव डालकर सचय में तुरत वृद्धि कर सकता है।

अन्त में, जो कारखानो का उद्योग कहलाता है, उसमें जब जब पहले से अधिक श्रम से काम लेना होता है, तब हर बार तदनुरूप पहले नये कच्चे माल का प्रबध करना पडता है, लेकिन उसके लिये श्रम के नये औजार अनिवाय रूप से आवश्यक नहीं होते। और चूकि कारखानो के उद्योग को कच्चा माल और श्रम के औजार की सामग्री निस्सारक उद्योगो तथा खेती से मिलती है, इसलिये उसे उस अधिक पदावार से भी लाभ पहुचता है, जिसे निस्सारक उद्योगो तथा खेती मे नयी पूजी लगाये बिना ही तयार कर दिया है।

इस सब का सामाय परिणाम यह निकलता है कि धन के दो मूल स्रष्टाओ का – अर्थात् श्रम शक्ति और भूमि का – अपने साथ समावेश करके पूजी विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेती है, जिसके द्वारा वह अपने सचय के तत्वो को उन सीमाओ से भी आगे तक परिवद्धित कर सकती है, जो लगता है कि स्वय उसके परिमाण के कारण इन तत्वो पर लग गयी थीं, या जो पहले से उत्पादित उत्पादन के उन साधनो के मूल्य तथा राशि के कारण उनपर लग गयी थीं, जिनमें यह पूजी निहित होती है।

पूजी के सचय का एक और महत्वपूर्ण तत्व सामाजिक श्रम की उत्पादकता की मात्रा होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के साथ उत्पादित वस्तुओ की राशि बढ जाती है, जिसमें एक खास मूल्य और इसलिये एक खास परिमाण का अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर ज्यो की त्यो रहे या यदि वह गिरती भी जाये, तो जहा तक उसके गिरने की गति श्रम की उत्पादक शक्ति के बढने की गति की अपेक्षा मन्द रहती है, वहा तक अतिरिक्त पैदावार की राशि बढती ही जाती है। इसलिये यदि इस पैदावार का आय तथा अतिरिक्त पूजी में पहले के ही अनुपात में विभाजन होता रहे, तो भी यह मुमकिन है कि पूजीपति का उपभोग बढ जाये, पर सचय के कोष में कोई कमी न आये। बल्कि यह भी सम्भव है कि उपभोग कोष में कुछ कमी आ जाये और सचय-कोष के तुलनात्मक परिमाण में कुछ वृद्धि हो जाये और फिर भी मालो के सस्ते हो जाने के फलस्वरूप पूजीपति को पहले के समान या उनसे भी अधिक भोग के साधन मिलते रहे। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, असल मजदूरी के बढते जाने पर भी श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ मजदूर पहले से सस्ता होता जाता है और इसलिये अतिरिक्त मूल्य की दर ऊपर उठती जाती है। असल मजदूरी कभी श्रम की उत्पादक शक्ति की वृद्धि के अनुपात में नहीं बढती। इसलिये, अस्थिर पूजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य पहले से अधिक श्रम शक्ति को और इसलिये पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देता है। स्थिर पूजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब पहले से अधिक उत्पादन के साधनो में, अर्थात पहले से अधिक श्रम के औजारो, श्रम की सामग्री और सहायक सामग्री में, निहित होता है। और इसलिये स्थिर पूजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब उपयोग-मूल्य और मूल्य दोनो के उत्पादन के पहले से अधिक तत्वो को और इसलिये पहले से अधिक श्रम के अवशोषको को प्रस्तुत करता है। इसलिये, यदि अतिरिक्त पूजी का मूल्य ज्यों का त्यो रहे या यहा तक कि कुछ कम भी हो जाये, तो भी पहले से ज्यादा तेज सचय होता है। न केवल पुनरुत्पादन का पमाना भौतिक दृष्टि से बढ जाता है, बल्कि अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में अतिरिक्त पूजी के मूल्य की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के विकास का उस मूल पूजी पर भी प्रभाव पडता है, जो पहले से उत्पादन की क्रिया में लगी हुई है। कार्यरत स्थिर पूजी का एक भाग मशीनो आदि का, अर्थात् श्रम के ऐसे औजारो का होता है, जो जब तक काफी लम्बा समय नहीं बीत जाता, तब तक खच नहीं होते, और इसलिये उस समय तक उनका पुनरुत्पादन करना या उसी प्रकार के औजारो के द्वारा उनका रिक्त स्थान भरना आवश्यक नहीं होता। लेकिन श्रम के औजारों का एक भाग हर साल नष्ट हो जाता है, या अपने उत्पादक काय की अतिम सीमा पर पहुच जाता है। इसलिये, प्रति वप इन औजारो के नियतकालिक पुनरुत्पादन का या उनके रिक्त स्थान को उसी प्रकार के औजारो से भरने का समय आ जाता है। यदि श्रम के इन औजारों के खच होने के दौरान में श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है (और वह विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की अबाध प्रगति के साथ लगातार बढ़ती जाती है), तो अधिक काय-क्षम और (उनकी बढ़ी हुई काय-क्षमता को देखते हुए) अधिक सस्ती मशीनें पुराने औजारो और उपकरणो का स्थान ले लेती है। श्रम के जो औजार पहले से इस्तेमाल में आ रहे है, उनमें जो तफसीली सुधार बराबर होते रहते है, उनके अलावा पुरानी पूजी का तब अधिक उत्पादक रूप में पुनरुत्पादन होता है। स्थिर पूजी के दूसरे भाग का—कच्चे माल और सहायक पदार्थों का—पुनरुत्पादन एक

साल से कम में ही हो जाता है, खेती से पैदा होने वाले कच्चे माल और सहायक पदार्थों का प्राय हर वर्ष पुनरुत्पादन होता है। इसलिये हर बार जब उत्पादन में पहले से उन्नत तरीके इस्तेमाल किये जाते है, तब उनका नयी पूजी पर और पहले से कायरत पूजी पर लगभग एक साथ प्रभाव पडता है। रसायन विज्ञान में जब कभी कोई प्रगति होती है, तो उससे न केवल उपयोगी पदार्थों की सख्या में और पहले से ज्ञात पदार्थों को उपयोग में लाने के तरीको में वृद्धि हो जाती है और इसी प्रकार पूजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके विनियोजन-क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। उसके साथ-साथ लोग उत्पादन और उपभोग की क्रियाओ के मलोत्सग को फिर से पुनरुत्पादन की क्रिया के चक्र में डाल देने के तरीके सीख जाते ह, जिससे पेशगी पूजी लगाये बिना ही पूजी की नयी सामग्री का सृजन हो जाता है। जिस प्रकार केवल श्रम शक्ति के तनाव में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप प्राकृतिक धन से पहले से अधिक लाभ उठाया जाने लगता है, उसी प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी पूजी को विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देते है, जो इस बात से स्वतत्र होती है कि सचमुच कार्य में लगी हुई पूजी का परिमाण कितना है। साथ ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मूल पूजी के उस भाग पर भी प्रभाव पडता है, जो अपने नवीकरण की अवस्था में प्रवेश कर चुका है। मूल पूजी का यह भाग अपना नया रूप धारण करते समय मुफ्त में ही उस सामाजिक प्रगति का अपने में समावेश कर लेता है, जो उस समय सम्पन्न हो रही थी, जिस समय उसकी पुरानी शकल का उपयोग हो रहा था। जाहिर है, उत्पादक शक्ति के इस विकास के साथ-साथ कायरत पूजी का आशिक मूल्य-ह्रास हो जाता है। इस मूल्य ह्रास का जिस हद तक प्रतियोगिता पर उग्र प्रभाव पडता है, उस हद तक उसका बोझा मजदूर के कधे बरदाश्त करते ह, क्योकि पूजीपति उसका पहले से अधिक शोषण करके अपनी क्षति पूति करने की कोशिश करता है।

श्रम उत्पादन के जिन साधनो को खर्च कर डालता है, उनका मूल्य वह अपनी पदावार में स्थानातरित कर देता है। दूसरी ओर, श्रम की एक निश्चित मात्रा उत्पादन के जिन साधनो को गतिमान बनाती है, उनके मूल्य तथा राशि में श्रम की उत्पादकता के बढने के साथ-साथ वृद्धि होती जाती है। यद्यपि श्रम की एक सी मात्रा अपनी पदावार में सदा एक सा नया मूल्य जोडती है, फिर भी श्रम की उत्पादकता के बढने के साथ-साथ उस पुराने पूजी मूल्य में वृद्धि होती जाती है, जो श्रम के द्वारा पैदावार में स्थानातरित कर दिया जाता है।

मिसाल के लिये, हो सकता हे कि एक अग्रेज कताई करनेवाला और एक चीनी कताई करनेवाला दोनो एक सी तीव्रता के साथ समान समय तक काम करते रहे। तब वे दोनो एक सप्ताह तक बराबर मूल्यो का सृजन करेगे। परन्तु, इस समानता के बावजूद, एक विशाल स्वसचालित यत्र पर काम करनेवाले अग्रेज मजदूर की सप्ताह भर की पदावार के मूल्य और उस चीनी मजदूर की सप्ताह भर की पदावार के मूल्य में, जिसके पास केवल एक चर्खा है, बहुत बडा अन्तर होगा। जितने समय में चीनी मजदूर एक पौंड कपास कातता है, उतने ही समय में अग्रेज कई सौ पौण्ड कपास कात डालता है। उसकी पदावार का मूल्य उन पुराने मूल्यो की सकडो गुनी बडी राशि के कारण बढ जाता है, जो इस पैदावार में एक नये उपयोगी रूप में पुन प्रकट होते ह और जो इसलिये एक बार फिर पूजी की तरह कार्य कर सकते ह। जसा कि फ्रेडरिक एगेल्स ने हमें बताया है, "१७८२ में इगलण्ड में ऊन की तीन साल की पूरी फसल मजदूरो के अभाव के कारण ज्यो की त्यो पडी थी, और यदि नव आविष्कृत मशीने

उसकी सहायता को न आतीं और उसे कात न डालतीं, तो वह उसी तरह पड़ी रहती।"[1] मशीनों के रूप में निहित श्रम, जाहिर है, प्रत्यक्ष रूप से तो एक भी मजदूर को पैदा नहीं कर सका, परन्तु उसके कारण मजदूरों की पहले से कम संख्या के लिये अपेक्षाकृत कम नये जीवित श्रम के साथ न केवल उसका उत्पादक ढंग से उपभोग करना और उसमें नया मूल्य जोड़ना सम्भव हो गया, बल्कि वे ऊन के धागे आदि के रूप में उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखने में भी कामयाब हुए। साथ ही उसके कारण ऊन के पहले से अधिक पुनरुत्पादन की प्रेरणा मिली और अधिक पुनरुत्पादन होने लगा। जीवित श्रम में यह स्वाभाविक गुण होता है कि वह नया मूल्य उत्पन्न करने के साथ-साथ पुराना मूल्य भी स्थानांतरित कर देता है। इसलिये जब उत्पादन के साधनों की कार्य-क्षमता, विस्तार तथा मूल्य में वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप जब उत्पादक शक्ति के विकास के साथ-साथ संचय होता है, तो श्रम एक निरन्तर बढ़ते हुए पूंजी-मूल्य को नित नये रूप में क़ायम रखता है और उसे अजर अमर बना देता है।[2] श्रम

---

[1] Friedrich Engels *Die Lage der arbeitenden Klasse in England* (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'इंगलैण्ड के मजदूर-वर्ग की हालत'), पृ० २०।

[2] प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने चूंकि श्रम क्रिया का और मूल्य पैदा करने की क्रिया का सही सही विश्लेषण नहीं किया है, इसलिये, जैसा कि रिकार्डो की रचनाओं में देखा जा सकता है, वह पुनरुत्पादन के इस महत्त्वपूर्ण तत्व को कभी नहीं समझ पाया है। मिसाल के लिये, रिकार्डो ने लिखा है कि उत्पादक शक्ति में चाहे जैसा परिवर्तन आ जाये, "दस लाख व्यक्ति उद्योग में सदा उतना ही मूल्य पैदा करते हैं।" यह बात बिल्कुल सही है, बशर्ते कि इन व्यक्तियों के श्रम का विस्तार और तीव्रता पहले से निश्चित हो। मगर फिर भी यह मुमकिन है (और कुछ निष्कर्ष निकालते समय रिकार्डो यह बात अनदेखी कर जाते हैं) कि यदि दस लाख व्यक्तियों का श्रम भिन्न भिन्न स्तर की उत्पादकता का हो, तो वे उत्पादन के साधनों की बहुत भिन्न राशियों को पैदावार में रूपांतरित करेंगे और इसलिये अपनी अपनी पैदावार में मूल्य की भिन्न भिन्न राशियों को सुरक्षित रखेंगे, जिसके फलस्वरूप उनकी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में भी बहुत अन्तर होगा। यहां चलते चलते हम यह भी बता दें कि रिकार्डो ने इसी उदाहरण के द्वारा जे० बी० से को यह समझाने की वृथा कोशिश की थी कि उपयोग मूल्य (जिसे रिकार्डो ने यहां wealth [धन] या भौतिक सम्पदा कहा था) और विनिमय-मूल्य में क्या अन्तर होता है। जे० बी० से ने उत्तर दिया है: Quant a la difficulte qu'eleve Mr Ricardo en disant que par des procedes mieux entendus un million de personnes peuvent produire deux fois trois fois autant de richesses, sans produire plus de valeurs, cette difficulte n est pas une lorsque l on considere ainsi qu on le doit la production comme un echange dans lequel on donne les services productifs de son travail de sa terre et de ses capitaux pour obtenir des produits C est par le moyen de ces services productifs que nous acquerons tous les produits qui sont au monde Or nous sommes d autant plus riches nos services productifs ont d autant plus de valeur qu ils obtiennent dans l echange appele production une plus grande quantite de choses utiles" [' डि० रिकार्डो यह ऐतराज करते हैं कि उन्नत कार्यप्रणालियों के द्वारा दस लाख व्यक्ति पहले से दुगुना या तिगुना धन पैदा कर सकते हैं

यहां यह स्वाभाविक शक्ति उस पूंजी का नैसर्गिक गुण प्रतीत होने लगती है, जिसमें इस

श्रम का समावेश हो जाता है। यह उसी तरह की बात है, जसे सामाजिक श्रम] की उत्पादक शक्तिया पूजी के नैसगिक गुणो का रूप धारण कर लेती ह और जसे पूजीपतियो द्वारा अतिरिक्त श्रम का निरतर हस्तगतकरण पूजी के निरतर विस्तार का रूप धारण कर लेता है।

हालाकि उसके मूल्य में कोई वद्धि नही होती। इस ऐतराज़ के जवाव मे हमारा कहना यह कि जव हम उत्पादन पर एक ऐसे विनिमय के रूप मे विचार करते है, जिसमें मनुष्य पैदावार प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने श्रम, अपनी भूमि और अपनी पूजी की उत्पादक सेवाए दे देता है, – और वास्तव मे हमें उत्पादन पर इसी रूप मे विचार करना चाहिये, – तव यह कठिनाई गायव हो जाती है। दुनिया में जितनी तरह की उत्पादित वस्तुए है, उन सव का हम इन उत्पादक सेवाओ के द्वारा ही प्राप्त करते है। अब उत्पादन नामक विनिमय में इन सेवाओ के द्वारा हम उपयोगी वस्तुओ की पहले से जितनी बडी मात्रा प्राप्त करने मे सफल होते है, हम उतने ही अधिक धनी बन जाते है।"] (J B Say '*Lettres a M Malthus* Paris, 1820 पृ० १६८, १६९।) से यहा पर जिस "कठिनाई" को दूर करने की कोशिश कर रहे है, – वास्तव मे उसका अस्तित्व केवल से के लिये ही है, रिकार्डो के लिये नही, – वह यह है कि जब श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ जाने के फलस्वरूप उपयोग मूल्यो की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है, तब उनके विनिमय मूल्य में वृद्धि क्यो नही हो जाती? और उनका उत्तर यह है कि उपयोग मूल्य को विनिमय-मूल्य कहने लगिये, यह कठिनाई दूर हो जायेगी। विनिमय-मूल्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका विनिमय से कोई न कोई सम्बध जरूर होता है। इसलिये, यदि उत्पादन को पैदावार के साथ श्रम तथा उत्पादन के साधनो के विनिमय का नाम दे दिया जाये, तो यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाती है कि उत्पादन से जितना अधिक उपयोग-मूल्य तैयार होगा, आप को उतना ही अधिक विनिमय मूल्य मिल जायेगा। दूसर शब्दो में, काम के एक दिन मे, मिसाल के लिये, मोज़े बनानेवाले किसी पूजीपति को जितना अधिक उपयोग मूल्य, यानी जितने अधिक मोज़े मिलने लगते है, मोजो के रूप में उसका धन उतना ही बढ जाता है। परन्तु यहा पर यकायक से को यह याद आता है कि जब मोज़ा की "पहले से अधिक मात्रा" पैदा होने लगती है, तब उनका "दाम" (जिसका, ज़ाहिर है, उनके विनिमय मूल्य से कोई सम्बध नही होता!) गिर जाता है, "parce que la concurrence les (les producteurs) oblige a donner les produits pour ce qu ils leur coutent ("क्योकि प्रतियोगिता उत्पादको को विवश कर देती है कि वे अपनी पैदावार उसकी लागत के बराबर दामा मे दे दें")। परन्तु यदि पूजीपति अपना माल लागत पर बेच देता है तो उसका मुनाफा कहा से आता है? उसकी परवाह मत करो! से जवाब देते है कि यदि पहले एक निश्चित सम मूल्य के एवज़ में एक जोडी मोज़े मिलते थे, तो अब उत्पादकता के बढ जाने के फलस्वरूप हरेक को उसी सम-मूल्य के एवज़ मे दो जोडी मोज़े मिल जाते है। इस तरह वह जिस परिणाम पर पहुच जाते है, वह रिकार्डो की ठीक वही प्रस्थापना है, जिसका वह खण्डन करना चाहते थे। चिन्तन के क्षेत्र मे यह महान प्रयास करने के बाद से विजयोल्लास के साथ माल्थूस को सम्बोधन करते हुए कहते ह Telle est monsieur la doctrine bienliee sans laquelle il est impossible, je le declare d expliquer les plus grandes difficultes de l economie politique et notamment comment il se peut qu une nation soit plus riche lorsque ses produits diminuent

पूजी की वद्धि हो जाने पर व्यवसाय में लगी हुई पूजी और खच कर दी गयी पूजी का अतर पहले से बढ जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम के ऐसे औजारो के मूल्य में और भौतिक राशि में वृद्धि हो जाती है, जसे मकान, मशीनें, नालियो के पाइप, काम करनेवाले पशु और ऐसा हर उपकरण, जो बार बार दुहरायी जानेवाली उत्पादन क्रियाओ में कम या ज्यादा समय तक इस्तेमाल होता है या जो किसी खास ढग का उपयोगी प्रभाव पदा करने के काम में आता है, पर जो खुद केवल धीरे-धीरे ही घिसता है और इसलिये जो अपना मूल्य सिफ थोडा थोडा करके ही खोता है और इसलिये इस मूल्य को केवल थोडा थोडा करके ही पदावार में स्थानातरित करता है। श्रम के ये औजार जिस अनुपात में पैदावार में नया मूल्य जोडे बगर ही मूल्य के निर्माताओ का काम करते हैं, अर्थात जिस अनुपात में वे पूरे के पूरे इस्तेमाल में आते ह, पर खच केवल आशिक रूप में होते हैं, उस अनुपात में वे उसी प्रकार की मुफ्त सेवा करते ह, जिस प्रकार की मुफ्त सेवा प्राकृतिक शक्तिया – पानी, भाप, हवा, बिजली आदि – करती ह। भूतकालिक श्रम पर जब जीवित श्रम अधिकार कर लेता है और उसमें आत्मा का सचार कर देता है, तब वह इस प्रकार की मुफ्त सेवा करने लगता है, और सचय की उत्तरोत्तर बढती हुई अवस्थाओ के साथ-साथ इस मुफ्त की सेवा में भी वृद्धि होती जाती है।

भूतकालिक श्रम चूकि सदा पूजी का भेस धारण किये रहता है, अर्थात् चूकि 'क', 'ख', 'ग' आदि का निष्क्रिय श्रम ग़ैर-मजदूर 'क्ष' के हाथो में पहुचकर सक्रिय बन जाता है, इसलिये पूजीवादी लोग और अर्थशास्त्री सदा भूतकालिक मृत श्रम की सेवाओ की प्रशसा किया करते हैं। स्कोटलैण्ड की महान प्रतिभा मैक्कुलक के मतानुसार तो उसको ब्याज, मुनाफ

---

de valeur quoique la richesse soit de la valeur ["सो जनाब, यह है वह सुगठित सिद्धात, जिसके अभाव में, – मैं कहता हू, – अथशास्त्र की मुख्य कठिनाइयो को स्पष्ट करना असम्भव है, और सबसे बडी बात यह कि जिसके अभाव मे इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है कि हालाकि धन मूल्य होता है, फिर भी यह कैसे सम्भव होता है कि किसी राष्ट्र की पैदावार का मूल्य गिर जाने पर भी उसका धन बढ जाता है।'] (उप० पु०, पृ० १७०।) से ने अपनी रचना '*Lettres* मे इस प्रकार की कुछ और भी हाथ की सफाई दिखायी है। उसपर टिप्पणी करते हुए एक अग्रेज अथशास्त्री ने लिखा है 'जिसे मोसिये से अपना सिद्धात कहते ह और जिसे हेटफोड मे पढाने के लिये उन्होंने माल्थूस पर जोर डाला है, क्योकि योरप के अनेक भागो में वह पहले ही से पढाया जा रहा है, उसमे आम तौर पर बस इसी बनावटी ढग से बात (those affected ways of talking) कही गयी हैं। से ने लिखा है Si vous trouvez une physionomie de paradoxe a toutes ces propositions voyez les choses qu'elles expriment et j ose croire qu elles vous paraitront fort simples et fort raisonnables ('यदि तुम्हारा यह विचार है कि इन तमाम प्रस्थापनाओ मे विरोधाभास झलकता है, तो मैं कहूगा कि जरा उन वस्तुओ पर गौर कीजिये, जिनको ये प्रस्थापनाए व्यक्त करती ह, और मेरा खयाल है कि आपको हर चीज अत्यत सरल और अत्यत विवेक-सगत प्रतीत होगी')। निस्सदेह, और इसी क्रिया के फलस्वरूप ये सारी प्रस्थापनाए और कुछ भी नवीन होने लगें, पर मौलिक नही प्रतीत होगी।' (*An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand &c* [माग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तो का विवेचन, इत्यादि'], पृ० ११६, ११०।)

आदि की शकल में एक खास उजरत मिलनी चाहिये।[1] इसलिये, उत्पादन के साधनो के रूप में भूतकालिक श्रम जीवित श्रम-क्रिया को जो जोरदार और निरन्तर बढती जाने वाली सहायता देता है, उसके बारे में कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के उस रूप का विशेष गुण है, जिस रूप में वह अवेतन श्रम की तरह खुद मजदूर से अलग कर दिया जाता है, अर्थात कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के पूजीवादी रूप का विशेष गुण है। जिस प्रकार दासा का मालिक यह नहीं सोच सकता कि कभी कोई ऐसा मजदूर भी हो सकता है, जो दास न हो, उसी प्रकार पूजीवादी उत्पादन के व्यावहारिक अभिकर्ता और बाल की खाल निकालने वाले उनके विचारक यह नहीं सोच सकते कि उत्पादन के कुछ साधन ऐसे भी हो सकते ह, जिन्होने यह विग्रहपूण सामाजिक चेहरा न लगा रखा हो।

यदि श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा पहले से निश्चित हो, तो जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा, उसकी कुल राशि इस बात से निर्धारित होगी कि कितने मजदूरो का एक साथ शोषण किया गया है। और मजदूरो की सख्या परिवत्तनशील अनुपात में ही सही, पर वह पूजी के परिमाण के अनुरूप होती है। इसलिये, उत्तरोत्तर सम्पन्न होने वाली सचय क्रियाओ के द्वारा पूजी जितनी बढ जाती है, उतना ही वह कुल मूल्य बढ जाता है, जो उपभोग कोष और सचय-कोष में विभाजित किया जाता है। इसलिये तब पूजीपति ज्यादा आनन्द का जीवन बिता सकता है और साथ ही पहले से अधिक "परिवजन" का प्रमाण दे सकता है। और अन्तिम बात यह है कि पेशगी लगायी गयी पूजी की राशि के साथ-साथ उत्पादन का पैमाना जितना विस्तार करता जाता है, उत्पादन की सारी कमानिया पहले की अपेक्षा उतनी ही ज्यादा लचक के साथ काम करने लगती ह।

अनुभाग ५ – तथाकथित श्रम-कोष

इस अन्वेषण के दौरान में यह बताया जा चुका है कि पूजी का कोई स्थायी परिमाण नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक धन का एक ऐसा लचकदार भाग होती है, जिसका परिमाण नये अतिरिक्त मूल्य का आय तथा अतिरिक्त पूजी में विभाजन होने के साथ-साथ लगातार बदलता रहता है। इसके अलावा, यह बात भी साफ हो चुकी है कि जब कायरत पूजी का परिमाण पहले से निश्चित होता है, तब भी पूजी में निहित श्रम शक्ति, विज्ञान और भूमि (आर्थिक दृष्टि से भूमि से हमारा मतलब श्रम के लिये आवश्यक उन तमाम तत्वो से है, जो मनुष्य से स्वतत्र प्रकृति से मिल जाते ह) उसकी ऐसी लोचदार शक्तिया बन जाती ह, जो कुछ सीमाओ के भीतर उसे एक ऐसा काय-क्षेत्र प्रदान कर देती ह, जिसका विस्तार स्वय पूजी के अपने परिमाण से स्वतत्र होता है। इस अन्वेषण में हमने परिचलन की क्रिया के उन तमाम प्रभावो को अनदेखा कर रखा है, जिनके कारण पूजी की एक सी राशि में बहुत भिन्न भिन्न मात्रा की काय-क्षमता पदा हो सकती है। और चूकि हम पूजीवादी उत्पादन की सीमाओ

---

[1] जिस समय सीनियर ने wages of abstinence ("परिवजन की मजदूरी") के अपने आविष्कार का एकस्वकरण कराया था, उसके बहुत दिन पहले मैक्कुलक wages of past labour ("भूतकालिक श्रम की मजदूरी") के अपने आविष्कार का एकस्वकरण करा चुके थे।

को स्वीकार करके चल रहे थे, अर्थात चूकि हम सामाजिक उत्पादन का एक ऐसा रूप स्वीकार करके चल रहे थे, जिसका विशुद्ध स्वयस्फूत ढग से विकास हुआ था, इसलिये हमने इस प्रश्न की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया था कि इस समय उत्पादन के जितने साधन और जितनी श्रम शक्ति मौजूद है, क्या उनका प्रत्यक्ष रूप में और सुनियोजित ढग से उपयोग करते हुए कोई अधिक विवेकसगत व्यवस्था की जा सकती है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र को सामाजिक पूजी को एक निश्चित कार्य-क्षमता की एक निश्चित मात्रा समझने का सदा बडा शौक रहा है। परन्तु इस पूवग्रह की उस घोर कूपमण्डूक, १६ वीं शताब्दी की साधारण पूजीवादी बुद्धि के उस नीरस, पण्डिताऊ, चमडे की जबान वाले भविष्यवक्ता जेरेमी बेन्थम ने सब से पहले रूढि के रूप में स्थापना की थी।[1] बेन्थम का दार्शनिकों में वही स्थान है जो कवियों में मार्टिन टपर का है। दोनो का निर्माण केवल इगलण्ड में ही सम्भव था।[2] बेन्थम की दृष्टि के प्रकाश में उत्पादन की क्रिया की साधारणतम घटनाए,—मसलन उसका यकायक फल जाना और यकायक

---

[1] उदाहरण के लिये देखिये Jeremy Bentham की रचना "*Theorie des Peines et des Recompenses*, d Et Dumont द्वारा फासीसी भाषा में अनुवादित, तीसरा सस्करण, Paris, 1826 ग्रथ २, पुस्तक ४, अध्याय २।

[2] बेन्थम एक विशुद्ध अग्रेजी चीज है। किसी काल मे और किसी देश मे ऐसी तुच्छ और साधारण बातें इतने घोर आत्म-सतोष और गव के साथ पेश नही की गयी थी। यहा तक कि जमन दार्शनिक क्रिश्चियन वोल्फ भी इसके अपवाद नही है। उपयोगिता का सिद्धान्त बेन्थम का आविष्कार नहो था। हेलवेटियस तथा अन्य फासीसियो ने जो बात १८ वीं शताब्दी म इतने ओजपूण ढग से कही थी, उसे बेन्थम ने अपने नीरस ढग से दुहरा भर दिया है। कुत्ते के लिये क्या चीज़ उपयोगी है, इसका पता लगाने के लिये कुत्ते के स्वभाव का अध्ययन करना पडेगा। खुद इस स्वभाव का उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर पता नही लगाया जा सकता। इसी बात को मनुष्य पर लागू करते हुए जो कोई समस्त मानव कार्यों, गतिया, सम्बधा इत्यादि की आलोचना करना चाहता है, उसे पहले सामान्य मानव स्वभाव का अध्ययन करना चाहिये और फिर यह देखना चाहिये कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में मानव स्वभाव में क्या परिवतन हो जाता ह। लेकिन बेन्थम इस सारे किस्से को एकबारगी निपटा देते हैं। अत्यन्त शुष्क भोलेपन के साथ वह आधुनिक दूकानदार को, खास कर अग्रेज दूकानदार को, सामान्य मानव मान लेते ह। इस विचित्र ढग के सामान्य मानव और उसके ससार के लिये जो कुछ उपयोगी है, वही निरपेक्ष रूप से सब के लिये उपयोगी है। और फिर बेन्थम भूत, वतमान और भविष्य तीनो कालो को इस मापदण्ड से माप डालते हैं। उदाहरण के लिये, ईसाई धम 'उपयोगी" है, क्योंकि वह धम के नाम पर ठीक उन्ही बुराइयो पर रोक लगा देता है, जिनपर ताजीरात फौजदारी न कानून के नाम पर रोक लगा रखी है। इसके विपरीत, *कला की आलोचना* "हानिकारक" है, क्योंकि वह भद्र जनो को मार्टिन टुपर के काव्य का आनन्द लेने से रोकती है और उसमें विघ्न डालती है, इत्यादि। और इस तरह की बकवास लिख-लिखकर इस साहसी व्यक्ति ने, जिसका मूल मत्र यह है कि 'nulla dies sine lineâ ("बिना कुछ पक्तिया लिखे कोई दिन नही जाना चाहिये"), किताबो के पहाड खडे कर दिये हैं। यदि मुझमें अपने मित्र हाइनरिख हाईने जैसी हिम्मत होती, तो मैं कहता कि मि० जेरेमी पूजीवादी मूखता के महान प्रतिभाशाली उदाहरण हैं।

सिकुड जाना और यहा तक कि खुद सचय भी, – सर्वथा कल्पनातीत बातें बन जाती ह।[1] खुद बेन्थम ने और माल्थूस, जेम्स मिल, मैक्कुलक आदि ने भी इस रूढि का वकीलो की दलील के रूप में और खास तौर पर यह साबित करने के लिये प्रयोग किया था कि पूजी का एक भाग, अर्थात अस्थिर भाग, या वह भाग, जो श्रम-शक्ति में परिणत कर दिया जाता है, एक स्थिर मात्रा होता है। इन लोगो ने यह किस्सा गढ रखा था कि अस्थिर पूजी की सामग्री, अर्थात् अस्थिर पूजी मजदूर के लिये जीवन निर्वाह के साधनो की जिस राशि का प्रतिनिधित्व करती है, वह, या तथाकथित श्रम कोष, सामाजिक धन का एक बिल्कुल अलग भाग होती है, जिसके परिमाण को प्राकृतिक नियमो ने निर्धारित कर रखा है और जिसमें कभी कोई परिवतन नहीं होता। सामाजिक धन के जिस भाग को स्थिर पूजी की भूमिका अदा करनी है, या इसी बात को यदि भौतिक रूप में व्यक्त किया जाये, तो जिस भाग को उत्पादन के साधनो की भूमिका अदा करनी है, उसे गतिमान बनाने के लिये जीवित श्रम की एक निश्चित राशि की आवश्यकता होती है। यह राशि कितनी बडी होगी, यह प्रौद्योगिक परिस्थितियो पर निभर करता है। परन्तु न तो यह ही पहले से निश्चित होता है कि श्रम शक्ति की इस राशि को प्रवाहमान बनाने के लिये कितने मजदूरो की आवश्यकता होगी (यह सख्या हर अलग-अलग श्रम शक्ति के शोषण की मात्रा के साथ बदलती रहती है) और न ही इस श्रम-शक्ति का दाम पहले से निश्चित होता है, केवल उसके दाम की अल्पतम सीमा पहले से निश्चित होती है, और उसमें भी बहुत परिवतन होता रहता है। इस रूढि की तह में जो तथ्य निहित ह, वे इस प्रकार ह एक ओर तो सामाजिक धन का गर-मजदूरो के भोग के साधना और उत्पादन के साधनो में जो विभाजन होता है, मजदूर को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता।[2] दूसरी ओर, केवल बहुत अनुकूल और अपवाद-स्वरूप परिस्थितियो में ही मजदूर धनी की "आय" में कमी करके इस तथाकथित श्रम-कोष में वृद्धि कर सकता है।

---

[1] "अथशास्त्री बहुधा यह समझते है कि पूजी की एक खास मात्रा और मजदूरा की एक खास सख्या सदा एक सी शक्ति के उत्पादक यत्र हाती है, या वे सदा एक खास ढग की एक सी तीव्रता के साथ काम करती है जो यह मानते है कि वस्तुए उत्पादन के एकमात्र तत्त्व है वे यह सिद्ध करते है कि उत्पादन को कभी बढाया नही जा सकता, क्योकि उसको वढाने की यह एक अनिवाय शत होती है कि खाद्य-पदाथ, कच्चा माल और औजार पहले से वढा दिये गये हो, इसका वस्तुत यह अथ होता है कि जब तक उत्पादन में पहले से वद्धि नही हो गयी हो, तब तक उत्पादन में वृद्धि नही की जा सकती या, दूसरे शब्दो में, वृद्धि करना असम्भव है।" (S Bailey, *'Money and its Vicissitudes* [एस० बेली, 'मुद्रा और उसके उतार-चढाव'], पृ० ५८ और ७०।) बेली ने मुख्यतया परिचलन की क्रिया के दृष्टिकोण से बेन्थम की रुढि की आलोचना की है।

[2] जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक *Principles of Political Economy* ('अथशास्त्र के सिद्धात') में कहा है "श्रम के जो प्रकार सचमुच आदमी को थका देने वाले और सचमुच अप्रिय हाते हैं, उनके लिये अन्य प्रकारो की अपक्षा अच्छी मजदूरी नही, वल्कि प्राय सदा ही सबसे कम मजदूरी मिलती है कोई धधा जितना अरुचिकर होता है, उसकी उजरत निश्चित रूप से उतनी ही कम होती है कष्ट और आय के बीच अनुलोम अनुपात नही होता, जैसा कि किसी भी न्यायपूण समाज-व्यवस्था मे होगा, बल्कि आम तौर पर उनके बीच प्रतिलाम अनुपात का सम्बध हाता है।" यहा गलतफहमी से वचने के लिये मैं यह भी कह दू कि यद्यपि जान स्टुअर्ट मिल जसे व्यक्ति इस बात के दापी हैं कि उनकी परम्परागत आर्थिक रूढिया और उनकी आधुनिक

श्रम-कोष की पूजीवादी सीमाओ को उसकी स्वाभाविक एव सामाजिक सीमाओ के रूप में पेश करने पर कसी मूर्खतापूर्ण पुनरुक्ति सामने आती है, यह प्रोफेसर फौसेट के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।[1] उन्होने लिखा है "किसी देश की चल पूजी उसका मजदूरी का कोष होती है। इसलिये यदि हम इसका हिसाब लगाना चाहते ह कि प्रत्येक मजदूर को कितनी औसत नकद मजदूरी मिलेगी, तो हमें बस इतना ही करना है कि इस पूजी की कुल रकम को श्रमजीवी जन सख्या से भाग दे दें।"[2] मतलब यह हुआ कि विभिन्न मजदूरो को जो अलग अलग मजदूरिया सचमुच दी जाती ह, पहले हम उन सबको जोड लेते ह और फिर इस बात की पुष्टि करते ह कि यह कुल रकम "श्रम कोष" के कुल मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे भगवान ने और प्रकृति ने निर्धारित करके हमें दे दिया है। और फिर, अत में, हम इस रकम को मजदूरो की सख्या से भाग देकर यह पता लगा लेते ह कि हर मजदूर को कितनी औसत मजदूरी मिलती है। बहुत ही धूर्ततापूर्ण झासा है यह! पर इसके बाद एक ही साल में मि० फौसेट को यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई कि "इगलण्ड में हर वष जो कुल धन बचता है, वह दो भागो में बाट दिया जाता है। एक भाग हमारे उद्योगो को कायम रखने के लिये पूजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है, और दूसरे भाग का विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है इस देश में हर साल जो धन बचता है, उसका केवल एक अश ही हमारे अपने उद्योगो में लगाया जाता है, और सम्भवत यह अश बडा नहीं होता।"[3]

इस प्रकार, हर वष अग्रेज मजदूर से छल करके जो प्रतिवष बढती हुई अतिरिक्त पदावार ले ली जाती है,—क्योकि उसके एवज में उसे कोई सम-मूल्य नहीं मिलता,—वह इगलण्ड में नहीं, बल्कि विदेशो में पूजी की तरह इस्तेमाल की जाती है। परतु इस तरह जो अतिरिक्त पूजी विदेशो को भेज दी जाती है, उसके साथ-साथ भगवान तथा बेंथम द्वारा आविष्कृत "श्रम-कोष" का एक भाग भी विदेश चला जाता है।[4]

प्रवत्तियो के बीच एक विरोध पाया जाता है, तथापि उनको पूजीवादी अथ व्यवस्था की वकालत करने वाले अप्रमाणिक अथशास्त्रियो के रेवड मे शामिल कर देना बहुत गलत होगा।

[1] H Fawcett, Professor of Political Economy at Cambridge *The Economic Position of the British Labourer* (एच० फौसेट, कैम्ब्रिज मे अथशास्त्र के प्रोफेसर, 'ब्रिटिश मजदूर की आर्थिक स्थिति'), London 1865 पृ० १२०।

[2] म यहा पाठक को यह याद दिला दू कि "अस्थिर पूजी" और "स्थिर पूजी" का परिकल्पनाओ का सबसे पहले मैंने प्रयोग किया था। इन परिकल्पनाओ के बीच जो मौलिक अतर है, उसे अथशास्त्र ने ऐडम स्मिथ के समय से ही उस औपचारिक अतर के साथ गडुमडु कर रखा है, जो अचल पूजी और चल पूजी के बीच पाया जाता है और जो परिचलन की क्रिया से उत्पन्न होता है। इस विषय की और विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये देखिये दूसरी पुस्तक का भाग २।

[3] H Fawcett उप० पु०, प० १२२, १२३।

[4] कहा जा सकता है कि इगलण्ड से हर वष न केवल पूजी का, बल्कि परावासियो के रूप मे मजदूरो का भी विदेशो को निर्यात होता है। किन्तु मूल पाठ में परावासियो की निजी सम्पत्ति का कोई प्रश्न नहीं है, उनम से अधिकतर मजदूर नहीं होते। उनका अधिकाश तो काश्तकारो के बेटा का होता है। हर वष विदेश जाने वाले लोगो की सख्या का देश की जन सख्या की वार्षिक वृद्धि के साथ जो अनुपात होता है, उसकी तुलना म हर वष जो अतिरिक्त पूजी व्याज पर उठायी जाने के लिये विदेशो को भेज दी जाती है, उसका वार्षिक सचय के साथ कहा अधिक ऊचा अनुपात होता है।

पचीसवा अध्याय

पूजीवादी सचय का सामान्य नियम

अनुभाग १ – पूजी की सरचना के ज्यो की त्यो रहते हुए सचय के साथ-साथ श्रम-शक्ति की माग का बढ जाना

इस अध्याय में हम इस विषय पर विचार करते ह कि पूजी की वृद्धि का श्रमजीवी वग की अवस्था पर क्या प्रभाव पडता है। इस अन्वेषण का सबसे महत्वपूण तत्व पूजी की सरचना और उसमें सचय की क्रिया के दौरान में होने वाले परिवतन ह।

पूजी की सरचना के दो अथ लगाये जा सकते ह। यदि मूल्य के पक्ष को लिया जाये, तो पूजी की सरचना इस बात से निर्धारित होती है कि वह स्थिर पूजी – अथवा उत्पादन के साधनो के मूल्य – और अस्थिर पूजी – अथवा श्रम शक्ति के मूल्य या मजदूरी की कुल रकम – के बीच किस अनुपात में बटी हुई है। यदि पूजी की सामग्री के पक्ष को लिया जाये और उसपर इस दृष्टि से विचार किया जाये कि उत्पादन की क्रिया में उसकी क्या भूमिका है, तो सारी पूजी उत्पादन के साधनो और जीवित श्रम शक्ति में बटी रहती है। इस दृष्टि से पूजी की सरचना इस बात से निर्धारित होती है कि एक तरफ तो उत्पादन के जो तमाम साधन इस्तेमाल किये जा रहे हं, उनकी कुल राशि और दूसरी तरफ इन साधनो का इस्तेमाल करने के लिये जितना श्रम आवश्यक होता है, उसकी राशि के बीच क्या सम्बध है। पहली प्रकार की सरचना को मने पूजी की मूल्य-सरचना और दूसरी प्रकार की सरचना को पूजी की प्राविधिक सरचना का नाम दिया है। दोनो के बीच एक कडा सह-सम्बध होता है। इस सह-सम्बध को व्यक्त करने के लिये मैं पूजी की मूल्य-सरचना को, जिस हद तक कि वह पूजी की प्राविधिक सरचना से निर्धारित होती है और उसके परिवत्तन को प्रतिबिंबित करती है, पूजी की साघटनिक सरचना कहता हू। जब कभी म बिना किसी और विशेषण के केवल पूजी की सरचना का जिक्र करता हू, तब मेरा मतलब सदा साघटनिक सरचना से होता है।

उत्पादन की किसी खास शाखा में जो बहुत सी अलग अलग पूजिया लगायी जाती ह, उनकी न्यूनाधिक रूप में एक दूसरे से भिन्न प्रकार की सरचना होती है। उनकी अलग अलग प्रकार की सरचनाओ का औसत निकालने पर हमें पता चलता है कि उत्पादन की इस शाखा में जो कुल पूजी लगी हुई है, उसकी सरचना क्या है। अन्तिम बात यह है कि उत्पादन की

तमाम शाखाओं की औसत सरचनाओं का औसत निकालने पर हमें यह मालूम हो जाता है कि किसी देश की कुल सामाजिक पूजी की सरचना क्या है, और आगे के अन्वेषण में हम अन्त में जाकर केवल इसी सरचना पर विचार करेंगे।

पूजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके अस्थिर अश में—या श्रम शक्ति पर खच किये गये भाग में—भी वृद्धि होती है। जो अतिरिक्त मूल्य अतिरिक्त पूजी में बदल दिया गया है, उसके एक भाग को सदा अनिवाय रूप से अस्थिर पूजी में, या अतिरिक्त श्रम-कोष में, पुन रूपातरित करना होता है। यदि हम यह मान लें कि अय बातों के ज्यों की त्यो रहते हुए पूजी की सरचना भी ज्यो की त्यो रहती है (अर्थात उत्पादन के साधनो की एक खास मात्रा को गतिमान बनाने के लिये श्रम शक्ति की सदा एक सी राशि की आवश्यकता होती है), तब यह स्पष्ट है कि श्रम की माग और मजदूरो के जीवन निर्वाह-कोष की माग उसी अनुपात में बढ़ती जायेगी, जिस अनुपात में पूजी बढती है, और जिस तेजी से पूजी बढती है, उसी तेजी से वह भी बढती जायेगी। चूंकि पूजी हर साल कुछ अतिरिक्त मूल्य पदा करती है, जिसका एक भाग हर साल मूल पूजी में जुड जाता है, चूकि कायरत पूजी का परिमाण बढ़ने के साथ साथ खुद इस वृद्धि की मात्रा में भी हर साल वृद्धि होती जाती है और, अन्त में, चूकि धनी बनने के किसी विशेष उत्साह से प्रेरित होकर, जैसे नयी मण्डियों के खुलने पर या नव विकसित सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप पूजी लगाने के नये क्षेत्र तयार हो जाने पर, कभी कभी केवल अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पदावार के पूजी तथा आय के बीच विभाजन के अनुपात में परिवतन करके ही यकायक सचय के पमाने का विस्तार कर दिया जाता है, इसलिये यह मुमकिन है कि सचय होने वाली पूजी की आवश्यकताए श्रम शक्ति की या मजदूरो की सख्या की वृद्धि से आगे निकल जायें, मजदूरो की माग पूर्ति से ज्यादा हो जाये और इसलिये मजदूरी चढ जाये। बल्कि असल में तो यह होना अनिवाय है, बशर्ते कि ऊपर हमने जिन बातो को मान लिया था, वे ज्यो की त्यो रहें। कारण कि हर वष चूकि पिछले वष की अपेक्षा अधिक मजदूर नौकर रखे जाते ह, इसलिये देर या सबेर एक ऐसी अवस्था का आना अनिवाय है, *जब सचय की आवश्यकताए श्रम की प्रचलित पूर्ति से आगे निकलना आरम्भ करती हैं* और इसलिये जब मजदूरी ऊपर चढ जाती है। इस बात को लेकर इगलण्ड में पन्द्रहवीं सदी में बराबर और अठारहवीं सदी के पहले पचास वर्षों में बडी चीख-पुकार हुई थी। मजदूरी पर काम करने वाला वग किन न्यूनाधिक अनुकूल परिस्थितियो में अपना भरण-पोषण तथा पुनरुत्पादन करता है, इससे पूजीवादी उत्पादन के मौलिक स्वरूप में कोई फक नहीं आता। जिस तरह साधारण पुनरुत्पादन स्वय पूजी के सम्बध का—अर्थात एक ओर पूजीपतियों और दूसरी ओर मजदूरी पर काम करने वालो के सम्बध का—भी लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, उसी तरह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने का पुनरुत्पादन, अथवा सचय, पूजी के सम्बध का उत्तरोत्तर बढते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन करता है, और एक छोर पर अधिकाधिक बडी सख्या में या अधिकाधिक बडे आकार के पूजीपति पदा होते जाते ह और दूसरे छोर पर मजदूरो की सख्या बढ़ती जाती है। ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन, जिसके लिये अनिवाय हो कि वह पूजी के आत्म विस्तार के हित में उस पूजी के साथ हर बार अपना पुन समावेशन करती जाये, जिसके लिये पूजी से मुक्ति पाना सम्भव न हो और जिसकी दासता पर केवल इस बात का आवरण पडा हो कि उसको बहुत से अलग अलग पूजीपतियों के हाथ अपने को बेचना पडता है,—ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन, वास्तव में, स्वय पूजी

के पुनरुत्पादन का एक आवश्यक अग होता है। अतएव, पूजी का सचय सर्वहारा की वृद्धि है।[1]

प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने इस तथ्य को ऐसी अच्छी तरह से समझा था कि, जैसा कि हम ऊपर भी बता चुके है, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो आदि सचय को और उत्पादक मजदूरो द्वारा अतिरिक्त पैदावार के समस्त पूजीकृत भाग के उपभोग को, या उसके अतिरिक्त मजदूरो में रूपातरित कर दिये जाने को, एक चीज समझ बठे थे। जान बैलेर्स ने १६९६ में ही यह कहा था कि "यदि किसी के पास एक लाख एकड जमीन और एक लाख पौण्ड मुद्रा तथा एक लाख ढोर हो, पर मजदूर एक भी न हो, तो यह धनी व्यक्ति मजदूर के सिवा और क्या हो सकता है? और चूकि मजदूरो के कारण ही आदमी धनी बनता है, इसलिये मजदूर सख्या में जितने अधिक होगे, धनी आदमियो की सख्या भी उतनी ही बढ जायेगी गरीबो का श्रम धनियो की खानो का काम करता है।"[2] इसी प्रकार बर्नार्द दे मदेवील ने भी अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में यह लिखा था कि "जहा सम्पत्ति भली भाति सुरक्षित है, वहा गरीबो के बिना जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मुद्रा के बिना जीवन व्यतीत करना ज्यादा आसान होगा, क्योकि गरीब न होगे, तो काम कौन करेगा? जिस प्रकार उनको (गरीबों को) भूखो नहीं मरने देना चाहिये, उसी प्रकार उनको इतना अधिक भी नहीं दिया जाना चाहिये कि वे कुछ बचा सके। यदि निम्नतम वग का कोई व्यक्ति कभी-कभार असाधारण परिश्रम करके और अपना पेट काटकर उस अवस्था से ऊपर उठने में कामयाब हो जायें, जिसमें वह पला था, तो उसके रास्ते में किसी को रुकावट नहीं डालनी चाहिये, नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक परिवार के लिये सबसे अधिक

[1] Karl Marx उप० पु०। *A egalite d oppression des masses plus un pays a de proletaires et plus il est riche* ["यदि जनता के उत्पीडन की मात्रा ज्या की त्या रह, तो किसी देश में सवहारा की सख्या जितनी अधिक होगी, वह देश उतना ही अधिक धनी होगा"] (Colins *L Economie Politique Source des Revolutions et des Utopies pretendues Socialistes* Paris, 1857, ग्रथ ३, पृ० ३३१)। हमारा "सवहारा" आर्थिक दष्टि से मजदूरी पर काम करन वाले उस मजदूर के सिवा और कोई नही है, जो पूजी को पैदा करता है और उसमे वद्धि करता है और जिसको जब वह, पेक्वेयर के शब्दो में, "श्रीमान पूजी" के आत्म विस्तार की जरूरतो के लिये अनावश्यक हा जाता है, ता तुरन्त उठाकर सडका पर फेंक दिया जाता है। "आदिम जगल का रोगी सवहारा" रोश्चेर की एक सुन्दर कल्पना है। आदिम जगलवासी आदिम जगल का मालिक होता है, और वह जगल का अपनी सम्पत्ति के रूप मे उसी आजादी के साथ इस्तमाल करता है, जिस आजादी के साथ वनमानुस उसका इस्तेमाल करता है। इसलिये उसे सवहारा कहना उचित नहीं है। उसे सवहारा उसी हालत में कहा जा सकता है, जब वह जगल का शोषण न करता हो, बल्कि उल्टे जगल उसका शोषण करता हो। जहा तक उसके स्वास्थ्य का सम्बध है, उसकी स्थिति न केवल आधुनिक सवहारा से बेहतर होती है, बल्कि उपदश और कठमाला से ग्रस्त ऊपरी वर्गो से भी बेहतर होती है। लेकिन जाहिर है कि जब श्री विल्हेल्म रोश्चेर "आदिम जगल" की चचा करते है, तब उनका मतलब असल में केवल लूनेबुग की अपनी वनभूमि से होता है।

[2] John Bellers उप० पु०, प० २।

बुद्धिमत्तापूर्ण भाग यही है कि वह मितव्ययिता से काम ले, परन्तु सभी धनी राष्ट्रों का हित इस बात में है कि गरीबों का अधिकतर भाग लगभग कभी भी खाली हाथ न बठने पाये और फिर भी जो कुछ उसे मिले, उसे लगातार खच करता जाये　　जो लोग रोजाना श्रम करके अपनी जीविका कमाते ह　　उनको काम करने की प्रेरणा केवल अपने अभाव से ही मिलती है, जिसको कुछ कम कर देना तो दूरदर्शिता है, पर बिलकुल दूर कर देना सरासर मूर्खता है। इसलिये एक ही चीज है, जो श्रम करने वाले आदमी को मेहनती बना सकती है,- वह है मुद्रा की एक परिमित मात्रा। कारण कि उसे यदि बहुत कम मात्रा में मुद्रा दी गयी, तो अपने स्वभाव के अनुसार वह या तो हतोत्साहित हो जायेगा और या विद्रोह कर उठेगा, और यदि उसे बहुत अधिक मुद्रा दे दी गयी, तो वह और काहिल बन जायेगा　　ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात स्पष्ट है कि किसी भी ऐसे स्वतत्र राष्ट्र में, जहा दास रखने की इजाजत नहीं है, सब से अधिक सुनिश्चित प्रकार का धन मेहनती गरीबों की विशाल सख्या के रूप में होता है। कारण कि एक तो वे समुद्री बेडो और सेनाओ के लिये अक्षय भण्डार का काम करते हैं और, दूसरे, उनके बिना न तो किसी प्रकार का भोग विलास हो सकता है और न ही किसी देश की पदावार मूल्यवान हो सकती है। समाज को" (जिसका अर्थ, जाहिर है, काम न करने वाले लोग ही ह) "सुखी बनाने के लिये और जनता को बुरी से बुरी हालत में भी सतुष्ट रखने के लिये जरूरी है कि उसकी बडी सख्या को गरीबी के साथ साथ जहालत में भी रखा जाये। ज्ञान हमारी इच्छाओ के आकार और सख्या दोना में वद्धि कर देता है, और आदमी जितनी कम वस्तुओ की इच्छा करता है, उसकी आवश्यकताओ को उतनी ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।"[1] मंदेवील एक ईमानदार व्यक्ति थे, और उनका दिमाग साफ था। पर इस समय तक वह यह नहीं समझ पाये थे कि सचय की प्रक्रिया का यन्त्र स्वय पूजी के साथ-साथ "मेहनती गरीबो" की सख्या में, अर्थात उन मजदूरो की सख्या में भी वृद्धि करता जाता है, जो अपनी श्रम शक्ति को बढती हुई पूजी की आत्म विस्तार करने की बढती हुई शक्ति में परिणत कर डालते ह और जो इसके फलस्वरूप खुद अपनी पैदावार के साथ, जिसका मूर्त रूप पूजीपति होते ह, अपने अधीनता के सम्बध को अजर अमर बना देते ह। अधीनता के इस सम्बध की चर्चा करते हुए सर एफ० एम० ईडेन ने अपनी रचना 'गरीबो की हालत, या इगलण्ड के श्रमजीवी वर्गों का इतिहास' में कहा है कि "हमारी धरती की प्राकृतिक उपज निश्चय ही हमारे जीवन निर्वाह के लिये पूरी तरह पर्याप्त नहीं है। हमें न तो पहनने को कपडे मिल सकते ह, न रहने को घर मिल सकते हैं और न ही खाने को भोजन मिल सकता है, जब तक कि अतीत में श्रम न किया गया हो। समाज के कम से

---

[1] Bernard de Mandeville *The Fable of the Bees* (बर्नार्द दे मंदेवील, 'मधुमक्खिया की उपकथा'), ५ वा सस्करण, London 1728 टिप्पणिया, पृ० २१२, २१३, ३२८। 'सयत जीवन व्यतीत करना और हमेशा रोजी के लिये जुटे रहना गरीबो के लिये विवेक सगत सुख का" (जिससे लेखक का, बहुत सम्भव है, यही अर्थ है कि काम के दिन बहुत लम्बे हो और बहुत कम खाने पहनने को मिले) "और राज्य के लिये" (अर्थात जमीदारो, पूजीपतियो और उनके राजनीतिक पदाधिकारियो तथा अभिकर्ताओ के लिये) "समृद्धि और शक्ति का प्रत्यक्ष माग है। (*An Essay on Trade and Commerce* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबध'] London 1770 पृ० ५४।)

कम एक भाग को तो निरतर काम में लगाये रखना चाहिये कुछ और लोग ह, जो हालांकि 'न तो मेहनत और न कताई करते हैं,' फिर भी उद्योग की उपज के मालिक होते हैं। इन लोगो को केवल सभ्यता और व्यवस्था के कारण ही मेहनत करने से छुटकारा मिला हुआ है ये लोग विशिष्ट रूप से नागरिक सस्थाओ की सृष्टि होते ह,[1] जिन्होने यह सिद्धान्त मान रखा है कि विभिन्न व्यक्ति श्रम करने के अलावा कुछ अन्य उपायो से भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते ह जिन व्यक्तियो के पास स्वतन्त्र आय के साधन ह उनको यह विशेष सुविधा खुद अपने किसी गुण से प्राप्त नहीं हुई है, बल्कि वह लगभग पूणतया दूसरो के परिश्रम से उनको मिली है। समाज के सम्पन्न भाग और श्रमजीवी भाग के बीच जो विशेष अन्तर पाया जाता है, वह यह नहीं है कि सम्पन्न भाग भूमि या मुद्रा का स्वामी होता है, बल्कि वह यह है कि उसे दूसरो से श्रम कराने का अधिकार ('the command of labour') प्राप्त होता है यह योजना (ईडेन द्वारा अनुमोदित योजना) सम्पत्तिवान व्यक्तियो का उन लोगो पर, जो उनके लिये काम करते ह, पर्याप्त प्रभाव और अधिकार कायम कर देगी (परन्तु वह बहुत ज्यादा अधिकार उनको हरगिज नहीं देगी), और यह योजना मजदूरो को निकृष्ट दास नहीं बना देगी, बल्कि उनको ऐसी सहज एव उदार अधीनता की स्थिति ('a state of easy and liberal dependence) में रखेगी, जो जसा कि मानव-स्वभाव और उसके इतिहास का ज्ञान रखने वाले सभी लोग मानेंगे, उनके अपने सुख के लिये आवश्यक है।"[2] यहा चलते-चलते यह भी कह दिया जाये कि ऐडम स्मिथ के अठारहवीं सदी के शिष्यो में से एक सर एफ० एम० ईडेन ही ऐसे ह, जिन्होने कोई महत्वपूण पुस्तक लिखी है।[3]

---

[1] यहा पर ईडेन को खुद अपने से यह प्रश्न करना चाहिये था कि फिर ये "नागरिक सस्थाए" किसकी सृष्टि है? उनका दृष्टिकोण कानूनी भ्रम का दृष्टिकोण है। इसलिये वह कानून का उत्पादन के भौतिक सम्बधो की उपज नही मानते, बल्कि, इसके विपरीत, उत्पादन के सम्बधो को कानून की उपज मानते है। मोतेस्क्यू की भ्रातिमूलक Esprit des lois ("कानून की आत्मा") को लिगुएत ने एक वाक्य से पराजित कर दिया था। उसने कहा था L esprit des lois c'est la propriete ("कानून की आत्मा तो सम्पत्ति है")।

[2] Eden *The State of the Poor, or an History of the Labouring Classes in England* (ईडेन, "गरीबा की हालत, या इगलैण्ड के श्रमजीवी वर्गो का इतिहास'), खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय १, पृ० १, २, और भूमिका, पृ० XX (बीस)।

[3] यदि पाठक इस बात पर मुझे माल्थूस की याद दिलायेंगे, जिनकी रचना *Essay on Population* ('जन सख्या पर निबध) १७९८ मे प्रकाशित हो गयी थी, तो मै उनका यह याद दिलाऊगा कि यह पुस्तिका अपनी पहली शक्ल में देफो, सर जेम्स स्टीवर्ट, टाउनसेण्ड, फ्रैंकलिन, वलेस आदि की स्कूली लडका जैसी, बहुत सतही ढग की नकल के सिवा और कुछ नही है और उसमे एक भी ऐसा वाक्य नही है, जा माल्थूस के दिमाग की उपज हो। इस पुस्तिका के प्रकाशन से जो सनसनी पैदा हुई थी, उसका एकमात्र कारण दलगत स्वार्थ थे। ब्रिटेन मे अनेक व्यक्तिया ने वडे जोश के साथ फ्रासीसी क्रान्ति का समथन किया था। इसलिये, जब अठारहवी सदी मे धीरे धीरे "जन-सख्या के सिद्धान्त" को विकसित किया गया और उसके बाद जब एक सामाजिक सकट के काल में ढोल पीटकर और तुरही बजाकर यह घोषणा की गयी कि यह

सचय की जिन परिस्थितियो को हम अभी तक मानकर चल रहे थे, वे मजदूरो के लिय सब से अधिक अनुकूल परिस्थितिया ह। उनके रहते हुए मजदूरो का पूजी के साथ अधानता का जो सम्बध होता है, वह सहनीय रूप, या, ईडेन के शब्दो में "सहज और उदार" रूप, धारण

सिद्धात कौदोर्सेत आदि की सीख के जहर को मारने के लिये एक अचूक दवा का काम करता है, तो अग्रेज अभिजात तत्र ने उसका मानव विकास की समस्त आकाक्षाओ को नष्ट कर देने वाली एक महान शक्ति के रूप मे विजयोल्लास के साथ स्वागत किया। माल्थूस को अपनी सफलता पर बहुत आश्चय हुआ, और वह झट से अपनी पुस्तक मे सतही ढग से एकत्रित की गयी सामग्री ठूसने और नया मसाला भरने मे जुट गये, जिसको उहोने खोजकर नही निकाला था, बल्कि दूसरो की पुस्तको से उठा लिया था। इसके अलावा यह बात भी याद रखनी चाहिये कि यद्यपि माल्थस इगलैण्ड के राजकीय चच के पादरी थे, फिर भी उहोने ब्रह्मचारी का जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर रखी थी कैम्ब्रिज के प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय का फैलो होने के लिये यह एक जरूरी शत थी। Socios collegiorum maritos esse non permittimus sed statim postquam quis uxorem duxerit socius collegii desinat esse ["हम अपने कालिजो मे विवाहित लोगो को फैलो नही होने देते। कोई फैलो विवाह कर लेता है, तो वह फैलो नही रहता"](*"Reports of Cambridge University Commission* ["कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट"], पृ० १७२)। इस बात मे माल्थूस अय प्रोटेस्टेंट पादरियो से श्रेष्ठ है, जिहोने पादरियो के ब्रह्मचारी रहने के नियम को ताक पर उठाकर रख दिया है और बाइबिल की सीख के अनुसार यही अपना विशिष्ट कतव्य समझा है कि "उपजाऊ बनो और नस्ल को बढाओ"। और जो इस उत्साह के साथ इस कतव्य का पालन कर रहे है कि जन-सख्या की वृद्धि में उनकी देन अशोभनीय सीमा तक पहुच गयी है। और इसके साथ-साथ वे मजदूरो को "जन सख्या के सिद्धात" के उपदेश सुनाते रहते है। यह बात काफी अथ रखती है कि मनुष्य का आर्थिक पतन, आदिपुरुष आदम का यह सेब, यह "urgent appetite ("उग्र भूख") और, जैसा कि पादरी टाउनसेंड ने हास्यपूण ढग से कहा है, 'the checks which tend to blunt the shafts of Cupid ("वे प्रतिबध, जो कामदेव के बाणो को कुठित कर देते है"),- इस नाजुक सवाल पर प्रोटेस्टेंट धमशास्त्र के—या कहना चाहिये, प्रोटेस्टेंट चच के—पादरियो ने अपना एकाधिकार जमा रखा है। एक वेनिसवासी ईसाई साधु ओर्तेस को छोडकर, जो एक मौलिक एव चतुर लेखक है, 'जन-सख्या के सिद्धात" के अधिकतर प्रचारक प्रोटेस्टेंट पादरी है। उदाहरण के लिये, ब्रुकनर की रचना *Theorie du Systeme animal* Leyde 1767 देखिये, जिसमे जन-सख्या के आधुनिक सिद्धात के पूरे विषय का अत्यत विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और जिसमे इस विषय से सम्बधित विचार केवेजने तथा उनके शिष्य, बडे मिराबो के बीच अस्थायी विवाद से उधार लिय गय है। उसके बाद, यदि उस धारा के कम महत्वपूण पादरी लेखको की चर्चा न भी की जाय, तो भी पादरी वैलेस, पादरी टाउनसेंड, पादरी माल्थूस और उनके शिष्य, पादरी शिरोमणि टामस चाल्मस का नाम लेना अत्यत आवश्यक है। पहले अथशास्त्र का अध्ययन किया करते थे होब्स, लॉक और ह्यूम जैसे दार्शनिक, टामस मोर, टैम्पिल, सुली, दे विट्ट, नथ, ला, वैंडरलिण्ट, कैतिलो और फ्रैंकलिन जैसे व्यवसायी लोग तथा राजनीतिज्ञ और इस क्षेत्र म विशेष सफलता पाने वाले पेटी, बार्बो,

कर लेता है। पूजी के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक उग्र रूप धारण करने के बजाय इन परिस्थितियो में पराधीनता का यह सम्बध केवल अधिक विस्तार प्राप्त कर लेता है, अर्थात पूजी का शोषण और शासन का क्षेत्र स्वय पूजी के आकार तथा उसकी प्रजा की सख्या के बढने के

मैंदेवील और क्वेज़ने जैसे डाक्टर। यहा तक कि १८ वी सदी के मध्य मे भी अपने काल के प्रमुख अथशास्त्री, पादरी मि० टुकर ने धन देवता के क्षेत्र में टाग अडाने के लिये क्षमा-याचना की थी। बाद को, और सच पूछिये, तो जन सख्या के इस सिद्धान्त के सामने आने के साथ साथ, प्रोटेस्टेंट पादरियो के लिये अपने जौहर दिखाने की घडी आ पहुची। पेटी जन-सख्या को धन का आधार समझते थे और ऐडम स्मिथ की तरह वह भी पादरियो का विरोध करने मे कभी नही हिचकिचाते थे। उन्होने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा लगता है, जैसे उनको पहले से ही यह अन्देशा था कि पादरी लोग उनके क्षेत्र मे अनाडियो की तरह टाग अडायेंगे। उन्होने कहा है कि "धम सबसे अधिक उस समय फलता-फूलता है, जब पादरी लोग सबसे अधिक दबे रहते है, जैसा कि कभी कानून के बारे में कहा गया था कि वह उस वक्त सबसे ज्यादा पनपता है, जब वकीलो के करने के लिये कम से कम काम होता है।" इसलिये, पेटी ने पादरियो को सलाह दी है कि यदि उन्होने एक बार सदा के लिये सन्त पाल का अनुसरण न करने और ब्रह्मचय का कष्ट न उठाने का निश्चय कर लिया है, तो उन्हे कम से कम इतना तो ख्याल करना चाहिये कि "देश मे जितने पादरियो का गुज़ारा हो सकता है, उससे ज्यादा पादरी न पैदा हो जायें (not to breed more Churchmen), यानी यदि इगलैण्ड और वेल्स में बारह हजार पादरियो के लिये स्थान है, तो पाल पोसकर २४,००० पादरी तैयार कर देना खतरे से खाली नही है (it will not be safe to breed up 24 000 ministers), क्योकि तब बारह हजार की जीविका का कोई प्रबध न होगा और उनको किसी न किसी ढग से जीविका कमाने की फिक्र पड जायेगी, और उसका सबसे आसान तरीका उनको यही दिखाई देगा कि जनता को यह समझाने की कोशिश करे कि जीविका कमा पाने वाले वे बारह हजार पादरी लोगो की आत्माओ मे विष घोल रहे है या उनको आध्यात्मिक दृष्टि से भूखा मार रहे है और उनको स्वग का माग दिखाने के बजाय गुमराह कर रहे है" (पेटी, 'करो और अनुदानो के विषय में एक प्रबध', London 1667, पृ० ५७।) ऐडम स्मिथ के बारे मे उनके काल के प्रोटेस्टेंट पादरियो की राय निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। नोरविच के बिशप डा० होर्न ने "*A Letter to A Smith, L L D On the Life Death, and Philosophy of his Friend David Hume By one of the People called Christians* ['ऐ० स्मिथ, एल० एल० डी०, के नाम उनके मित्र, डेविड ह्यूम के जीवन, मृत्यु एव दशन के विषय में एक पत्र। ईसाई कहलाने वाले लोगो मे से एक के द्वारा लिखित'] (चौथा सस्करण, Oxford 1784) मे ऐडम स्मिथ को इस बात के लिये फटकारा है कि उन्होने मि० स्ट्रैहेन के नाम प्रकाशित एक पत्र में 'अपने मित्र डेविड" (अर्थात् ह्यूम) की "स्मृति को अमर बना दिया था" और दुनिया को बताया था कि किस प्रकार "मृत्युशय्या पर भी ह्यूम लुसियन की रचनाए पढकर और ताश खेलकर अपना दिल बहलाया करते थे," और उन्होने ह्यूम के बारे मे यह तक लिखने की भी जुरअत की थी कि "मैंने उनके जीवन काल मे तथा उनकी मृत्यु के बाद सदा यह समझा है कि मानव दुबलताओ के स्वरूप को देखते हुए जहा तक सम्भव हो सकता है, ह्यूम एक पूणतया बुद्धिमान एव सदाचारी मनुष्य

साथ साथ केवल विस्तार में ही बढ़ता है। पूजी के प्रजाजनो की अतिरिक्त पदावार बराबर बढ़ती जाती है और लगातार अतिरिक्त पूजी में रूपान्तरित होती रहती है। परन्तु उसका एक अपेक्षाकृत बडा भाग भुगतान के साधनो की शक्ल में खुद उन्हीं के पास लौट आता है, जिससे वे अपने भोग और आनन्द के क्षेत्र का विस्तार कर सकते है, कपडो, फर्नीचर आदि के अपने उपभोग कोष में कुछ वृद्धि कर सकते है और कुछ मुद्रा आरक्षित कोष के रूप में बचा सकते है। परतु जिस प्रकार यदि दास को पहले से कुछ अच्छा कपडा, भोजन आदि मिलने लगता है और उसके साथ मालिक के बरताव में कुछ सुधार हो जाता है तथा उसके पास कुछ अधिक सम्पत्ति (peculium) हो जाती है, तो उससे दास का शोषण समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार इन बातो से मजदूर का शोषण खतम नहीं होता। पूजी के सचय के फलस्वरूप श्रम के दाम में जो वृद्धि हो जाती

की परिकल्पना के मूत रूप थे।" बिशप महोदय आगबबूला होकर चिल्ला उठते है "श्रीमान, क्या आपने यह कोई सही काम किया है कि एक ऐसे व्यक्ति के चरित्र तथा आचरण का 'पूर्णतया बुद्धिमान एव सदाचारी' व्यक्ति के चरित्र एव आचरण के रूप मे हमारे सामने पेश किया है, जिसको लगता है, जैसे उन तमाम बातो से चिढ थी जिनको हम धर्म कहते हैं, जिसमे इस चिढ ने एक असाध्य रोग का रूप धारण कर लिया था, और जिसने मनुष्यों के हृदय में धर्म की भावना को दबाने, कुचलने और जड से मिटा देने के लिये अपनी एडी चोटी का जोर लगा दिया था, और जिसका यदि बस चलता, तो लोग धर्म का नाम तक भूल जाते?" (उप० पु०,प० ८) "परन्तु सत्य के प्रेमियो को हतोत्साहित नही होना चाहिये। अनीश्वरवाद बहुत दिनो तक जिन्दा नही रह सकता" (पृ० १७)। ऐडम स्मिथ "के मन में इतना घोर पाप (the atrocious wickedness) भरा हुआ था कि उन्होने सारे देश में अनीश्वरवाद का प्रचार किया (मिसाल के लिये *Theory of Moral Sentiments* ['नैतिक भावनाओ का सिद्धान्त'] का उल्लेख किया जा सकता है)। मोटे तौर पर, डाक्टर, आपका उद्देश्य अच्छा है, परन्तु मैं समझता हू, इस बार आपको सफलता नही मिलेगी। आप श्री डेविड ह्यूम का उदाहरण देकर हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि निराशा की एकमात्र दवा (cordial) और मृत्यु भय का सही इलाज अनीश्वरवाद है आपको चाहिये कि बाबुल के ध्वसावशेषों को देखकर मुसकराया करे और सख्तजान फिरऔन को लाल सागर तक पहुचने के लिये बधाई दें" (उप० पु०, प० २१, २२)। ऐडम स्मिथ के कालिज के दिनो के एक परम्परानिष्ठ मित्र ने उनकी मृत्यु के बाद लिखा है "स्मिथ के हृदय में ह्यूम के लिये बडा स्नेह था और ह्यूम इसके पात्र भी थे परन्तु इस स्नेह ने उनको ईसाई नही रहने दिया ऐडम स्मिथ जब कभी किन्ही ऐसे ईमानदार व्यक्तियो से मिलते थे, जो उनको अच्छे लगते थे, तो वे लगभग जो कुछ भी कहते थे, वह उसपर तुरन्त विश्वास कर लेते थे। यदि वह सुयोग्य एव चतुर होरोक्स के मित्र होते, तो वह इस बात पर भी विश्वास कर लेते कि आकाश मे मेघा का एक टुकडा न होने पर भी चन्द्रमा कभी कभी आखो से ओझल हो जाता है अपने राजनीतिक सिद्धान्तो मे वह प्रजातत्रवाद के निकट पहुच गये थे" (*The Bee* By James Anderson ['मधुमक्खी'। जेम्स ऐण्डरसन द्वारा लिखित] १८ खण्ड, Edinburgh 1791 93 तीसरा खण्ड, पृ० १६६ १६५)। पादरी टामस चालमस को सन्देह है कि ऐडम स्मिथ ने "अनुत्पादक मजदूरो' की कोटि का केवल प्रोटेस्टेंट पादरियो के लिये आविष्कार किया था, हालांकि वे परमात्मा के बगीचे मे बडे सवाब का काम करते हैं।

हैं, उसका असल में केवल इतना ही मतलब होता है कि मजदूर ने अपने लिये सोने की जो जजीर गढकर तयार की है, उसकी लम्बाई तथा वजन इतना अधिक बढ गये हैं कि अब उसको पहले जितना कसकर बाधने की जरूरत नहीं है। इस विषय पर जितना वाद विवाद हुआ है, उसमें मुख्य तथ्य यानी पूजीवादी उत्पादन का differentia specifica (वह विशिष्ट गुण, जो उसे अन्य उत्पादन व्यवस्थाओ से अलग करता है) प्राय अनदेखा कर दिया गया है। आजकल श्रम शक्ति इस उद्देश्य से नहीं बेची जाती कि वह अपनी सेवा अथवा अपनी पदावार के द्वारा खरीदार की व्यक्तिगत आवश्यकताओ को पूरा करेगी। खरीदार का उद्देश्य तो अपनी पजी में वृद्धि करना होता है, उसका उद्देश्य ऐसे मालो का उत्पादन करना होता है, जिनमें जितने श्रम के उसने दाम दिये ह, उससे ज्यादा श्रम लगा हो और इसलिये जिनके मूल्य में एक ऐसा भाग हो, *जिसके एवज में उसको कुछ भी न देना पडा हो और जो फिर भी मालो की बिक्री होने पर उसे प्राप्त हो जाता हो।* अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन, उत्पादन की इस प्रणाली का निरपेक्ष नियम है। श्रम शक्ति उसी हद तक बिक्री के योग्य होती है, जिस हद तक कि वह उत्पादन के साधनो को पूजी के रूप में सुरक्षित रखती है, खुद अपने मूल्य का पूजी के रूप में पुनरुत्पादन कर देती है और अपने अवेतन श्रम को अतिरिक्त पूजी के स्रोत के रूप में सौंप देती है।[1] इसलिए, श्रम शक्ति की बिक्री जिन शर्तों पर होती है,वे मजदूर के लिये चाहे कम और चाहे ज्यादा अनुकूल हो, उनमें यह बात अवश्य शामिल होती है कि श्रम शक्ति की निरन्तर और बार-बार बिक्री होती रहनी चाहिये और समस्त प्रकार के धन का पूजी के रूप में सदा बढते हुए पमाने पर पुनरुत्पादन होना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके ह, मजदूरी का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे पाने के लिये मजदूर को सदा एक निश्चित मात्रा में अवेतन श्रम करना पडता है। इस बात के अलावा कि श्रम का दाम गिर जाने की हालत में भी मजदूरी में वृद्धि हो सकती है, इत्यादि, इस प्रकार की वृद्धि का अच्छी से अच्छी परिस्थिति में भी कुल मिलाकर केवल इतना ही अर्थ होता है कि मजदूर को जो अवेतन श्रम करना पडता है, उसमें थोडी परिमाणात्मक कमी आ जाती है। पर यह कमी कभी उस बिन्दु तक नहीं पहुच सकती, जहा उससे पूरी व्यवस्था के लिये ही खतरा पदा हो जाये। मजदूरी की दर के सवाल को लेकर जो भयानक झगडे छिड जाते ह, उनके अलावा (और ऐडम स्मिथ ने पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस प्रकार के झगडो में, कुल मिलाकर, सदा मालिक का ही पलडा भारी रहता है), पूजी के सचय से श्रम के दाम में जो वृद्धि होती है, उसके कारण निम्नलिखित दो वैकल्पिक परिस्थितियो में से एक सामने आती है।

या तो श्रम का दाम ऊपर चढता जाता है, क्योंकि उसके ऊपर चढने से सचय की प्रगति में कोई बाधा नहीं पडती। इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं है, क्योंकि, ऐडम स्मिथ के शब्दो

---

[1] "कारीगर और खेत-मजदूर, दोना मे से कोई भी हो, उससे काम लेने की सीमा एक ही बात से निश्चित होती है, वह बात यह है कि मालिक को कारीगर या खेत मजदूर की मेहनत के फल से मुनाफा कमाने की कितनी सम्भावना दिखाई देती है। यदि मजदूरी की दर ऐसी है कि उसके कारण मालिक का मुनाफा पूजी के औसत मुनाफे के स्तर से भी नीचे रह जाता है, तो वह इन खेत मजदूरो या कारीगरो से काम लेना बन्द कर देगा या केवल इस शर्त पर उनसे काम लेगा कि वे मजदूरी म कटौती मजूर कर ले।" (John Wade उप० पु०, पृ० २४१।)

में, "इनके (मुनाफो के) घट जाने के बाद भी न केवल यह सम्भव है कि पूजी में वृद्धि होता जाये, बल्कि यह भी मुमकिन है कि उसमें पहले से ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि होने लगे बड़े मुनाफे वाली छोटी पूजी की अपेक्षा छोटे मुनाफे वाली बडी पूजी आम तौर पर ज्यादा तेजी से बढती है" (उप० पु०, खण्ड २, पृ० १८९)। इस सूरत में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अवेतन श्रम में जो कमी आती है, उससे पूजी के क्षेत्र के विस्तार में कोई बाधा नहीं पडती।—और या, दूसरी ओर, यह हो सकता है कि श्रम के दाम की वृद्धि के कारण सचय की गति धीमी पड जाये, क्योंकि उससे नफा कमाने की आशा से पहले जो पूजी के सचय की प्रेरणा मिलती थी, वह कुठित हो जाती है। सचय की दर धीमी पड जाती है, परन्तु उसके धीमी पड जाने पर दर कम होने का मुख्य कारण खतम हो जाता है, अर्थात पूजी तथा शोषण-योग्य श्रम शक्ति के बीच जो विषमता पदा हो गयी थी, वह नहीं रहती। पूजीवादी उत्पादन क्रिया का यत्र अस्थायी रूप से जिन बाधाओं को खडा करता है, उनको खुद ही मिटा देता है। श्रम का दाम कम होकर फिर उस स्तर पर आ जाता है, जो पूजी के आत्म विस्तार की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है, चाहे वह स्तर मजदूरी में वृद्धि होने के पहले वाले सामान्य स्तर से नीचा हो, या ऊचा हो, या उसके बराबर हो। इस प्रकार हम देखते ह कि पहली सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जन सख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की गति में कमी आ जाने के कारण पूजी आवश्यकता से अधिक नहीं हो जाती, बल्कि, इसके विपरीत, पूजी के अत्यधिक हो जाने के कारण शोषण योग्य श्रम शक्ति अपर्याप्त हो जाती है। दूसरी सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जन-सख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की गति के बढ जाने के कारण पूजी अपर्याप्त नहीं हो जाती, बल्कि, इसके विपरीत, पूजी में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उसके कारण शोषण-योग्य श्रम शक्ति, या कहना चाहिये कि उसका दाम आवश्यकता से अधिक हो जाता है। पूजी के सचय का यह निरपेक्ष उतार चढ़ाव ही शोषण-योग्य श्रम शक्ति की कुल राशि के सापेक्ष उतार-चढाव के रूप में प्रतिबिम्बित होता है और इसलिये श्रम शक्ति की स्वतन्त्र गतिविधि का परिणाम जसा लगता है। गणित की भाषा में कहा जाये, तो सचय की दर परतत्र चर नहीं होती, बल्कि स्वतत्र चर होती है, और मजदूरी की दर स्वतन्त्र चर न होकर परतन्त्र चर होती है। चुनाचे, जब औद्योगिक चक्र सकट की अवस्था में होता है, तब मालो के दामो में जो आम गिराव आता है, वह मुद्रा के मूल्य के ऊपर चढ जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है, और समृद्धि की अवस्था में मालो के दामो में जो आम उभार आता है, वह मुद्रा के मूल्य के गिर जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है। तथाकथित Currency School ("चलार्थ मत") के अर्थशास्त्रियो ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि जब दाम ऊचे होते है, तब बहुत कम मुद्रा परिचलन में होती है, और जब दाम नीचे होते ह, तब बहुत ज्यादा मुद्रा चालू रहती है। इन लोगो के अज्ञान तथा तथ्यो की ग़लत समझ[1] का मुक़ाबला केवल उन अर्थशास्त्रियो के अज्ञान और नासमझी से ही किया जा सकता है, जो सचय से सम्बधित उपरोक्त घटनाओ का यह अर्थ लगाते ह कि समाज में मजदूरो की सख्या कभी तो आवश्यकता से कम हो जाती है और कभी आवश्यकता से अधिक रह जाती है।

---

[1] देखिये Karl Marx *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* (कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० १६६ और उसके आगे के पृष्ठ।

जन-सख्या के तथाकथित "प्राकृतिक नियम" की तह में पूजीवादी उत्पादन का जो नियम सचमुच काम करता है, वह केवल यह है कि पूजी के सचय और मजदूरी की दर का सह-सम्बध पूजी में रूपान्तरित अवेतन श्रम और इस अतिरिक्त पूजी को गतिमान बनाने के लिये आवश्यक अतिरिक्त सवेतन श्रम के सह-सम्बध के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव, यह दो ऐसी मात्राओ का सम्बध नहीं है, जो एक दूसरे से स्वतत्र ह, यानी यह एक ओर पूजी की मात्रा और दूसरी ओर श्रमजीवी जन-सख्या का सम्बध नहीं है, बल्कि, अगर इसकी तह तक जाइये, तो पता चलता है कि यह उसी श्रमजीवी जन-सख्या के केवल अवेतन और सवेतन श्रम का सम्बध है। मजदूर-वर्ग जो अवेतन श्रम करता है और जिसका पूजीपति-वर्ग सचय करता जाता है, उसकी मात्रा यदि इतनी तेजी से बढने लगती है कि उसको पूजी में रूपान्तरित करने के लिये सवेतन श्रम में असाधारण वृद्धि करना जरूरी हो जाता है, तो मजदूरी की दर बढ जाती है और अन्य बातो के ज्यो की त्यो रहते हुए अवेतन श्रम उसी अनुपात में घट जाता है। परन्तु जसे ही वह घटते घटते उस बिंदु पर पहुच जाता है, जहा पूजी का पोषण करने वाले अतिरिक्त श्रम का सामान्य मात्रा में मिलना बन्द हो जाता है, वसे ही उल्टी क्रिया आरम्भ हो जाती है तब आय के पहले से छोटे भाग का पूजीकरण होने लगता है, सचय धीमा पड जाता है और मजदूरी की दर का ऊपर चढना रुक जाता है। इसलिये, मजदूरी की दर केवल उन्हीं सीमाओ के भीतर ऊपर चढ सकती है, जिनके भीतर न सिर्फ पूजीवादी व्यवस्था की बुनियादें सुरक्षित रहती हैं, बल्कि साथ ही इस व्यवस्था का उत्तरोत्तर बडे पमाने पर पुनरुत्पादन होता रहता है। पूजीवादी सचय का नियम, जिसे अथशास्त्रियो ने एक तथाकथित प्राकृतिक नियम में बदल दिया है, वास्तव में केवल इतना ही कहता है कि खुद सचय के स्वरूप के कारण श्रम के शोषण की मात्रा में कोई ऐसी कमी नहीं आ सकती और श्रम के दाम में कोई ऐसी वृद्धि नहीं हो सकती, जिससे पूजीवादी सम्बधो के उत्तरोत्तर बढते हुए पमाने पर निरन्तर पुनरुत्पादन के लिये कोई गम्भीर खतरा पदा हो जाये। उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली में, जहा भौतिक धन मजदूर के विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये नहीं होता, बल्कि, इसके विपरीत, जहा मजदूर पहले से मौजूद मूल्यो के आत्म विस्तार की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये विद्यमान होता है,—ऐसी प्रणाली में और कुछ नहीं हो सकता। जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मनुष्य पर स्वय उसके मस्तिष्क की पदावार शासन करती है, उसी प्रकार पूजीवादी उत्पादन में स्वय उसके हाथ की पदावार उसपर शासन करती है।[1]

---

[1] "अब यदि हम फिर अपन पहले विवेचन पर लौट आयें, जिससे यह ज्ञात हुआ था कि पूजी स्वय केवल मानव-श्रम का फल होती है, तो यह बात कतई समझ में नही आती कि मनुष्य पर पूजी का, खुद उसकी पैदावार का आधिपत्य कायम हो सकता है और वह उसके आधीन बन सकता है, और चूकि वास्तव मे निर्विवाद रूप से यही बात हो गयी है, इसलिये बरबस यह सवाल दिमाग में आता है कि मजदूर, जो पूजी का मालिक था, क्योकि उसने पूजी को पैदा किया था, उसका गुलाम कैसे बन गया?" (Von Thunen *Der isolierte Staat*, भाग २, अनुभाग २, Rostock 1863 पृ० ५, ६।) ठूनेन इसके लिये प्रशसनीय हैं कि उन्होने यह प्रश्न किया। परन्तु इस प्रश्न का उन्होने जो उत्तर दिया है, वह बिल्कुल बचकाना है।

अनुभाग २ – सचय की प्रगति और उसके साथ चलने वाली सकेंद्रण की क्रिया के साथ-साथ पूजी के अस्थिर अश की मात्रा मे सापेक्ष कमी

स्वय अर्थशास्त्रियो के मतानुसार, मजदूरी में वद्धि न तो सामाजिक धन के वास्तविक विस्तार के कारण और न ही उस पूजी के परिमाण के कारण होती है, जो पहले से काम कर रही है, बल्कि वह केवल सचय की निरतर प्रगति और इस प्रगति की तेजी के कारण होती है (ऐडम स्मिथ ['राष्ट्रो का धन'], पुस्तक १, अध्याय ८)। अभी तक हमने इस प्रक्रिया की केवल एक विशेष अवस्था पर ही विचार किया है। यह अवस्था यह है, जिसमें पूजी की सरचना के स्थिर रहते हुए पूजी की वृद्धि होती है। लेकिन यह प्रक्रिया इस अवस्था से आगे बढ जाती है।

जब एक बार पूजीवादी व्यवस्था का सामान्य आधार स्थापित हो जाता है, तो सचय के दौरान में एक ऐसा बिदु आता है, जब सामाजिक श्रम की उत्पादकता का विकास सचय का सब से अधिक शक्तिशाली लीवर बन जाता है। ऐडम स्मिथ ने लिखा है "जिस कारण से श्रम की मजदूरी बढ़ जाती है, उसी कारण से, – अर्थात पूजी की वृद्धि से, – श्रम की उत्पादक शक्तिया भी बढने लगती ह और श्रम की पहले से छोटी मात्रा पहले से अधिक मात्रा में काम निबटाने लगती है।"

प्राकृतिक परिस्थितियो के अलावा, जसे भूमि की उवरता आदि, और स्वतत्र रूप से तथा अलग अलग काम करने वाले उत्पादको की निपुणता के अलावा (जो उनकी पदावार की मात्रा की अपेक्षा उसकी गुणात्मक श्रेष्ठता में ज्यादा अभिव्यक्त होती है), किसी भी समाज में श्रम की उत्पादकता की मात्रा इस बात में व्यक्त होती है कि एक मजदूर एक निश्चित समय में श्रम शक्ति के पहले जितने तनाव के साथ काम करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से कितने अधिक उत्पादन के साधनो को पदावार में बदल देता है। इस प्रकार, वह उत्पादन के जिन साधनों को रूपातरित कर देता है, उनकी राशि उसके श्रम की उत्पादकता के साथ साथ बढ़ती जाती है। *परतु उत्पादन के ये साधन दोहरी भूमिका अदा करते ह।* कुछ साधनो की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढने के कारण होती है, कुछ की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढने के लिये आवश्यक होती है। उदाहरण के लिये, हस्तनिर्माण में श्रम का विभाजन हो जाने और मशीनो के प्रयोग के कारण उतने ही समय में पहले से ज्यादा कच्चा माल इस्तेमाल किया जाता है और इसलिये पहले से ज्यादा मात्रा में कच्चा माल और सहायक पदाथ श्रम प्रक्रिया में प्रवेश कर जाते ह। यह बढ़ती हुई श्रम उत्पादकता का परिणाम होता है। दूसरी ओर, अधिक सख्या में मशीनें, बोझा ढोने के पशु, रासायनिक खाद, पानी बाहर निकालने के पाइप आदि श्रम की उत्पादकता की वृद्धि के लिय आवश्यक होते ह। मकानो, भट्टियो, परिवहन के साधनो आदि में सकेद्रित उत्पादन के साधनो के लिय भी यही बात सच है। परतु चाहे उत्पादन के साधनो की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढ़ने का कारण हो और चाहे वह उसका परिणाम हो, उत्पादन के साधनो में समाविष्ट होने वाली श्रम शक्ति की तुलना में इन साधनो का जो विस्तार होता है, उसके द्वारा श्रम की बढ़ती हुई उत्पादकता अभिव्यक्त होती है। अतएव, उत्पादकता में जो वृद्धि होती है, वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम की राशि उत्पादन के उन साधनों की राशि की तुलना में घट जाती है, जिनको वह श्रम गतिमान बनाता है, या यू कहिये कि वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम प्रक्रिया के वस्तुगत तत्व की तुलना में पर्यायवतक तत्व में कमी आ जाती है।

पूजी की प्राविधिक सरचना में इस तरह जो परिवर्तन आता है, उत्पादन के साधनो में जान डालने वाली श्रम शक्ति की कुल राशि की तुलना में इन साधनो की कुल राशि में जो वृद्धि हो जाती है,—वह पुन पूजी की मूल्य रचना में प्रतिबिंबित होती है। वह इस तरह कि पूजी का अस्थिर सघटक अश कम हो जाता है और स्थिर अश बढ जाता है। मिसाल के लिये, मुमकिन है कि शुरू में किसी पूजी का ५० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनो में लगाया गया हो और ५० प्रतिशत श्रम शक्ति पर खर्च किया गया हो, पर बाद को, श्रम की उत्पादकता का विकास हो जाने पर, उसका ८० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनो पर खच होने लगे और २० प्रतिशत श्रम शक्ति पर, और आगे भी इसी तरह का परिवर्तन हो सकता है। अस्थिर पूजी की तुलना में स्थिर पूजी की उत्तरोत्तर वृद्धि के इस नियम की मालो के दामों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर हर कदम पर (जसा कि ऊपर बताया जा चुका है) पुष्टि होती जाती है, उसके लिये हम चाहे भिन्न भिन्न आर्थिक युगो को और चाहे एक ही युग में अलग-अलग राष्ट्रो की तुलना करे। दाम का जो तत्व केवल उत्पादन के साधनो के मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है या जो केवल खच कर डाली गयी पूजी के स्थिर अश का प्रतिनिधित्व करता है, उसका सापेक्ष परिमाण सचय की प्रगति के अनुलोम अनुपात में होता है, जब कि दाम के उस दूसरे तत्व का सापेक्ष परिमाण (या पूजी के अस्थिर अश का सापेक्ष परिमाण), जिसके द्वारा श्रम की उजरत दी जाती है, सचय की प्रगति के प्रतिलोम अनुपात में होता है।

किन्तु पूजी के स्थिर अश की तुलना में उसके अस्थिर अश में जो कमी आती है, या पूजी की मूल्य सरचना में जो परिवर्तन आ जाता है, उससे केवल यही प्रकट होता है कि पूजी के भौतिक सघटको की सरचना में लगभग क्या परिवर्तन हो गया है। मिसाल के लिये, कताई में आजकल जो पूजी-मूल्य इस्तेमाल होता है, यदि उसका $\frac{७}{८}$ भाग स्थिर है और $\frac{१}{८}$ अस्थिर है, जब कि, उसके मुकाबले में, १८ वीं सदी के आरम्भ में उसका आधा भाग स्थिर और आधा भाग अस्थिर हुआ करता था, तो, दूसरी ओर, अठारहवीं सदी के आरम्भ में कताई के श्रम की एक निश्चित मात्रा कच्चे माल, श्रम के औजारो आदि की जितनी बडी राशि को उत्पादक ढग से खच कर देती थी, आज वह उनकी उससे कई सौ गुनी राशि को खच कर डालती है। इसका कारण केवल यह है कि श्रम की उत्पादकता के बढने के साथ-साथ न केवल उसके द्वारा खच कर दिये गये उत्पादन के साधनो की राशि बढ़ती जाती है, बल्कि उनकी राशि की तुलना में उनका मूल्य घटता जाता है। इसलिये, उनका मूल्य निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ़ जाता है, पर उनकी राशि के अनुपात में नहीं बढता। अतएव स्थिर पूजी उत्पादन के साधनो की जिस राशि में रूपान्तरित कर दी जाती है और अस्थिर पूजी श्रम शक्ति की जिस राशि में बदल दी जाती है, इन दो राशियो के अन्तर में जितनी अधिक वृद्धि हो जाती है, उसकी अपेक्षा स्थिर तथा अस्थिर पूजी के अन्तर में बहुत कम वृद्धि होती है। दूसरे प्रकार का अन्तर पहले प्रकार के अन्तर के साथ-साथ बढता है, पर उससे कम मात्रा में।

परन्तु यदि सचय की प्रगति से पूजी के अस्थिर अश का सापेक्ष परिमाण कम हो जाता है, तो यह कदापि नहीं होता कि ऐसा होने से उसके निरपेक्ष परिमाण में वृद्धि होने की सारी सम्भावना खतम हो जाती हो। मान लीजिये कि एक पूजी-मूल्य पहले ५० प्रतिशत स्थिर और ५० प्रतिशत अस्थिर पूजी में बाटा गया था और बाद को वह ८० प्रतिशत स्थिर और २० प्रतिशत अस्थिर पूजी में बाट दिया जाता है। यदि इस बीच में मूल पूजी, जो, मान लीजिये,

६,००० पौण्ड थी, बढकर १८,००० पौण्ड हो गयी है, तो जाहिर है कि उसका अस्थिर सघटक भी बढ गया होगा। पहले वह ३,००० पौण्ड था, तो अब वह ३,६०० पौण्ड हो गया होगा। परन्तु जहा पहले श्रम की माग में २० प्रतिशत की वृद्धि करने के लिये पूजी में २० प्रतिशत की वृद्धि काफी थी, अब उसके लिये मूल पूजी को तिगुना करना पडेगा।

चौथे भाग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार सामाजिक श्रम की उत्पादकता के विकास के लिये बडे पमाने की सहकारिता का पहले से विद्यमान होना आवश्यक होता है, किस प्रकार इस तरह की सहकारिता के आधार पर ही श्रम का विभाजन और सयोजन सगठित किया जा सकता है और उत्पादन के साधनो का एक विशाल पैमाने पर सकेद्रण करके उनकी बचत की जा सकती है, किस प्रकार केवल इसी आधार पर श्रम के ऐसे औजारो का जन्म होता है, जिनका स्वरूप ही ऐसा होता है कि उनका सामूहिक ढग से ही उपयोग किया जा सकता है, जैसे कि मशीनो की सहति से काम लिया जा सकता है, किस प्रकार इस आधार पर प्रकृति की विराट शक्तियो को उत्पादन की सेवा में लगा देना सम्भव होता है और किस प्रकार इस आधार पर उत्पादन की प्रक्रिया को विज्ञान के प्रौद्योगिक उपयोग का रूप दिया जा सकता है। मालो के उत्पादन के आधार पर, जहा उत्पादन के साधनो पर व्यक्तियो का निजी स्वामित्व होता है और जहा इसलिये कारीगर या तो औरो से अलग तथा स्वतत्र रूप से माल तैयार करता है और या अपनी श्रम-शक्ति को माल के रूप में बेच देता है, क्योंकि उसके पास स्वतत्र उद्योग के साधन नहीं होते, – ऐसी परिस्थिति में बडे पैमाने की सहकारिता केवल अलग अलग पूजियो की वृद्धि में ही मूर्त रूप धारण कर सकती है, या यू कहिये कि वह केवल उसी अनुपात में अमल में आ सकती है, जिस अनुपात में सामाजिक उत्पादन के साधन और जीवन निर्वाह के साधन पूजीपतियो की निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाते ह। मालो के उत्पादन के आधार पर बडे पमाने का उत्पादन केवल पूजीवादी रूप में ही सम्भव है। इसलिये उत्पादन की विशिष्टतया पूजीवादी प्रणाली के लिये मालो के अलग अलग उत्पादको के पास पूजी का कुछ सचय पहले से ही आवश्यक होता है। अत हमें यह मानकर चलना पडा था कि यह सचय दस्तकारी के पूजीवादी उद्योग में रूपान्तरित होने के दौरान में हो जाता है। इसे आदिम सचय कहा जा सकता है क्योकि यह विशिष्टतया पूजीवादी उत्पादन का ऐतिहासिक परिणाम नहीं, बल्कि उसका ऐतिहासिक आधार होता है। यह खुद किस तरह आरम्भ होता है, यहा पर इसकी छान-बीन करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं है। यहा तो इतना जान लेना ही काफी है कि आदिम सचय प्रस्थान बिन्दु का काम करता है। परन्तु इस आधार पर श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढाने के जितने तरीके निकाले जाते ह, वे इसके साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पदावार का उत्पादन बढाने के भी तरीके होते ह, जो खुद सचय का सजनात्मक तत्व होता है। और इसलिये वे पूजी से पूजी का उत्पादन करने के, या उसका पहले से तेज गति से सचय करने के भी तरीके होते ह। अतिरिक्त मूल्य का पूजी में जो निरतर पुन रूपान्तरण होता रहता है, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करने वाली पूजी के परिमाण की वृद्धि का रूप धारण कर लेता है। यह चीज खुद उत्पादन के पमाने को बढाने का आधार बन जाती है, यह चीज श्रम की उत्पादन-शक्ति को बढाने के उन नये-नये तरीको का आधार बन जाती है, जो उसके साथ-साथ निकलते रहते ह, यह चीज अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में तेजी लाने का आधार बन जाती है। इसलिये, अगर एक खास मात्रा तक पूजी का सचित हो जाना उत्पादन की विशिष्टतया पूजीवादी प्रणाली की एक आवश्यक शर्त प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर यह

प्रणाली खुद पूजी के सचय को और तेज कर देती है। इसलिये, पूजी के सचय के साथ-साथ उत्पादन की विशिष्टतया पूजीवादी प्रणाली विकसित होती जाती है और उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के विकास के साथ-साथ पूजी का सचय बढता जाता है। ये दोनो आर्थिक तत्व एक दूसरे को जो प्रोत्साहन देते रहते हैं, उसके मिश्र-अनुपात में वे पूजी की प्राविधिक सरचना में वह परिवतन पैदा कर देते हैं, जिससे उसका अस्थिर सघटक स्थिर सघटक की तुलना में सदा अधिकाधिक कम होता जाता है।

प्रत्येक अलग अलग पूजी में उत्पादन के साधनो का बडा या छोटा सकेन्द्रण होता है, और उसके अनुसार उस पूजी को छोटी या बडी श्रम-सेना से काम लेने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक सचय नये सचय का साधन बन जाता है। पूजी का काम करने वाले धन की राशि के बढ़ने के साथ-साथ सचय अलग अलग पूजीपतियो के हाथो में इस धन के सकेन्द्रण को बढ़ाता जाता है और उसके द्वारा बडे पमाने के उत्पादन का और पूजीवादी उत्पादन की विशिष्ट पद्धतियो के आधार का विस्तार करता जाता है। बहुत सी अलग अलग पूजियो के विकास के फलस्वरूप सामाजिक पूजी का विकास होता है। अन्य बातो के समान रहते हुए अलग अलग पूजिया और उनके साथ-साथ उत्पादन के साधनों का सकेन्द्रण उस अनुपात में बढ़ता है, जिस अनुपात में ये पूजिया सामाजिक पूजी का अशेपभाजक भाग होती ह। इसके साथ-साथ मूल पूजियो के कुछ हिस्से अलग होकर नयी और स्वतत्र पूजियो के रूप में काम करने लगते ह। अन्य कारणो के अलावा पूजीवादी परिवारो में होने वाला सम्पत्ति का बटवारा भी इस क्रिया में बहुत बडी भूमिका अदा करता है। इसलिये पूजी के सचय के साथ-साथ पूजीपतियो की सख्या में भी न्यूनाधिक वृद्धि होती जाती है। इस सकेन्द्रण की, जो प्रत्यक्ष रूप से सचय के आधार पर होता है, या कहना चाहिये कि जो वही चीज है, जो सचय है, दो विशेषताए होती ह। पहली यह कि अन्य बातो के ज्यो की त्यो रहते हुए अलग अलग पूजीपतियो के हाथो में उत्पादन के सामाजिक साधनो का बढता हुआ सकेन्द्रण इस बात से सीमित होता है कि सामाजिक धन में कितनी वृद्धि हुई है। दूसरी बात यह है कि सामाजिक पूजी का जो भाग उत्पादन के प्रत्येक अलग अलग क्षेत्र में होता है, वह बहुत से पूजीपतियो के बीच बट जाता है, जो एक दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले, मालो के स्वतत्र उत्पादको के रूप में एक दूसरे के मुकाबले में खडे होते हैं। अतएव, सचय और उसके साथ-साथ होने वाला सकेन्द्रण न केवल बहुत से बिदुओ पर बिखर जाते हैं, बल्कि नयी पूजियो के निर्माण तथा पुरानी पूजियो के उपविभाजन से प्रत्येक कायरत पूजी की वृद्धि भी होती जाती है। इसलिये, सचय एक ओर तो उत्पादन के साधना और श्रम से काम लेने के अधिकार के बढते हुए सकेन्द्रण के रूप में सामने आता है, और, दूसरी ओर, यह बहुत सी अलग अलग पूजियो के पारस्परिक प्रतिकपण के रूप में प्रकट होता है।

समाज की कुल पूजी का जो इस तरह बहुत सी अलग अलग पूजियो में विभाजन हो जाता है, या उसके अशो के बीच जो पारस्परिक प्रतिकर्षण की क्रिया चलती है, पारस्परिक आकर्षण उसका प्रतिकार करता है। इस आकपण से हमारा अय उत्पादन के साधनो के और श्रम से काम लेने के अधिकार के उस साधारण सकेन्द्रण से नहीं है, जो वही चीज होता है, जो सचय है। यह पहले से निर्मित पूजियो का सकेन्द्रण, उनकी व्यक्तिगत स्वतत्रता का अन्त, पूजीपति द्वारा पूजीपति का अपहरण, बहुत सी छोटी छोटी पूजियो का इनी गिनी बडी पूजियो में परिणत होना है। यह क्रिया पहली क्रिया से इस बात में भिन्न होती है कि इसके लिये केवल पहले से विद्यमान एव

कार्यरत पूजी के वितरण में परिवर्तन होना आवश्यक होता है। इसलिये उसका कार्य-क्षेत्र सामाजिक धन की निरपेक्ष वृद्धि से या सचय की निरपेक्ष सीमाम्रो से सीमित नहीं होता। इस क्रिया में तो पूजी एक स्थान पर इस कारण एक विशाल राशि के रूप में एक हाथ में जमा हो जाती है कि दूसरे स्थान पर वह बहुत से हाथो से निकल गयी है। सचय और सकेन्द्रण से बिल्कुल अलग यह केन्द्रीयकरण की क्रिया है।

पूजियो के केन्द्रीयकरण के नियमो का, या पूजी द्वारा पूजी के आकर्षण के नियमो का यहा पर विकास नहीं किया जा सकता। कुछ तथ्यो की ओर सकेत भर कर देना ही पर्याप्त होगा। प्रतियोगिता की लडाई मालो को सस्ता करके लडी जाती है। Caeteris paribus (अन्य बातों के समान रहते हुए) मालो का सस्तापन श्रम की उत्पादकता पर निर्भर करता है, और वह खुद उत्पादन के पमाने पर निर्भर करती है। इसलिये बडी पूजिया छोटी पूजियो को हरा देती है। पाठक को यह भी याद होगा कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का विकास होने पर पूजी की उस अल्पतम मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जो सामान्य परिस्थितियो में व्यवसाय चालू रखने के लिये आवश्यक होती है। इसलिये अपेक्षाकृत छोटी पूजिया उत्पादन के प्राय उन क्षेत्रों में घुस जाती है, जिनपर आधुनिक उद्योग केवल कहीं कहीं या अपूर्ण ढग से ही अधिकार कर पाया है। यहा परस्पर विरोधी पूजियो की सख्या के अनुलोम अनुपात में और उनके परिमाणों के प्रतिलोम अनुपात में प्रतियोगिता चलती है। उसका फल सदा यह होता है कि बहुत से छोटे छोटे पूजीपति तबाह हो जाते हैं और उनकी पूजिया कुछ हद तक तो उनके विजेताम्रो के हाथों में चली जाती हैं और कुछ हद तक गायब हो जाती हैं। इसके अलावा, पूजीवादी उत्पादन का विकास होने पर बिल्कुल नयी शक्ति का जन्म हो जाता है,—वह है साख प्रणाली। शुरू में* ऋण व्यवस्था सचय के एक साधारण सहायक के रूप में चुपचाप समाज में घुस आती है और समाज की सतह पर हर जगह छोटी या बडी मात्राम्रो में मुद्रा के ससाधनो को अदृश्य धागों से खींचकर अलग अलग या सम्बद्ध पूजीपतियो के हाथो में इकट्ठा कर देती है। परन्तु शीघ्र ही ऋण व्यवस्था प्रतियोगिता के सघर्ष में एक नये और खौफनाक हथियार का काम करने लगती है, और अन्त में तो वह अपने को पूजियो के केन्द्रीयकरण के एक विशाल सामाजिक यत्र में रूपान्तरित कर देती है।

जिस अनुपात में पूजीवादी उत्पादन तथा सचय का विकास होता जाता है, उसी अनुपात में केन्द्रीयकरण के दो सबसे शक्तिशाली लीवरो का—प्रतियोगिता और साख प्रणाली का—भी विकास होता जाता है। इसके साथ-साथ सचय की प्रगति के फलस्वरूप उस सामग्री की वृद्धि हो जाती है, जिसका केन्द्रीयकरण किया जा सकता है, अर्थात् अलग-अलग पूजियो की वृद्धि हो जाती है। उधर पूजीवादी उत्पादन का विस्तार उन विराट औद्योगिक उद्यमो के लिये, जिनको खडा करने के वास्ते यह जरूरी होता है कि पहले से पूजी का केन्द्रीयकरण हो गया हो, एक ओर अगर सामाजिक माग पदा कर देता है, तो दूसरी ओर उनके लिये प्राविधिक साधन भी तयार कर देता है। इसलिये आज अलग-अलग पूजियो के पारस्परिक आकर्षण की शक्ति और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति जितनी मजबूत है, उतनी पहले कभी नहीं थीं। लेकिन केन्द्रीयकरण की क्रिया का विस्तार

---

*यहा से ("शुरू में ऋण-व्यवस्था" से) पृ० ७०४ पर "सचित हो गयी होगी" वाक्यांश तक अंग्रेजी पाठ का और अन्त हिन्दी पाठ का चौथे जर्मन सस्करण के अनुसार बदल दिया गया है।—सम्पा०

और तेजी यदि किसी हद तक इस बात से निर्धारित होती है कि पूजीवादी धन कितना बढ गया है और आर्थिक यन्त्र श्रेष्ठता के किस स्तर पर पहुच गया है, तो आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रगति इस बात पर हरगिज निर्भर नहीं करती कि सामाजिक पूजी के परिमाण में कितनी सकारात्मक वृद्धि हो गयी है। केन्द्रीयकरण और सकेन्द्रण की क्रियाओ का यही एक विशिष्ट भेद है, क्योकि सकेन्द्रण केवल परिवर्द्धित पैमाने के पुनरुत्पादन का ही दूसरा नाम है। केन्द्रीयकरण महज पहले से मौजूद पूजियो के वितरण में कुछ परिवतन के द्वारा सम्पन्न हो सकता है, वह केवल सामाजिक पूजी के सघटको के परिमाणात्मक विन्यास में कुछ परिवतनो के द्वारा हो सकता है। ऐसी सूरत में बहुत से व्यक्तियो के हाथो से निकलकर पूजी एक बडी राशि में एक हाथ में सचित हो सकती है। यदि उद्योग की किसी खास शाखा में लगी हुई तमाम अलग अलग पूजिया एक अकेली पूजी में एकीकृत हो जायें, तो उस शाखा में केन्द्रीयकरण अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है।[1] कोई विशेष समाज केन्द्रीयकरण की चरम सीमा पर केवल उस वक्त पहुचेगा, जब समस्त सामाजिक पूजी या तो किसी एक अकेले पूजीपति के हाथ में, या किसी एक अकेली कम्पनी के हाथ में एकीभूत हो जायेगी।

केन्द्रीयकरण औद्योगिक पूजीपतियो को अपनी कार्रवाइयो का पमाना बढाने के योग्य बनाकर सचय के काय को पूरा करता है। यह लक्ष्य चाहे सचय के द्वारा प्राप्त हो और चाहे केन्द्रीयकरण के द्वारा, केन्द्रीयकरण चाहे बलपूवक अधिकारकरण की उस क्रिया के द्वारा सम्पन्न हो, जिसमें कुछ पूजिया अन्य पूजियो के लिये आकषण का ऐसा केन्द्र बन जाती है कि वे उनका व्यक्तिगत ससजन भग कर देती है और उनके बिखरे हुए टुकडो को अपनी ओर खींच लेती है, और चाहे अनेक ऐसी पूजियो का एकीकरण, जो या तो पहले से मौजूद है और या जिनका निर्माण हो रहा है, स्टाक-कम्पनिया बनाने के अपेक्षाकृत अधिक सहज मार्ग पर चलकर सम्पन्न हो, दोनो सूरतो में आर्थिक परिणाम एक सा होता है। हर जगह औद्योगिक सस्थापनो का परिवर्द्धित पमाना बहुत से सस्थापनो के सामूहिक श्रम का अधिक व्यापक रूप में सगठन करने के लिये, उसकी भौतिक चलक शक्तियो का अधिक व्यापक विकास करने के लिये,—दूसरे शब्दो में, प्रचलित ढग से कार्यान्वित की जाने वाली अलग अलग उत्पादन क्रियाओ को अधिकाधिक सामाजिक रूप से सयुक्त और वज्ञानिक ढग से व्यवस्थित उत्पादन-क्रियाओ का रूप देने के लिये प्रस्थान-बिदु का काम करता है।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि सचय की क्रिया, अर्थात वृत्ताकार रूप से कुन्तलाकार रूप धारण करते हुए पुनरुत्पादन के द्वारा पूजी की क्रमिक वृद्धि की क्रिया केन्द्रीयकरण की तुलना में बहुत धीमी क्रिया होती है। केन्द्रीयकरण के लिये तो केवल इतना ही आवश्यक होता है कि सामाजिक पूजी के अभिन्न अगो के परिमाणात्मक समूहन में हेर फेर कर दे। यदि दुनिया को उस वक्त का इन्तजार करना पडता, जब कि सचय के द्वारा कुछ अलग अलग पूजिया रेल बनाने के योग्य हो जातीं, तो आज भी दुनिया में रेलो का अभाव ही होता। दूसरी ओर, केन्द्रीयकरण ने स्टाक कम्पनिया बनवाकर आन की आन में यह काम पूरा कर दिया। इस प्रकार, सचय के

---

[1] चौथे जर्मन सस्करण का नोट इगलैण्ड और अमरीका के नवीनतम "ट्रस्ट" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अभी से यह प्रयत्न कर रहे है कि उद्योग की किसी एक शाखा में कम से कम तमाम बडी कम्पनिया को जोडकर एक ऐसी विशाल स्टाक-कम्पनी कायम कर दी जाये, जिसे व्यावहारिक एकाधिकार प्राप्त हो।—फ्रे० ए०

प्रभावो में तेजी लाकर और उनकी तीव्रता को बढ़ाकर केन्द्रीयकरण साथ ही पूजी की प्राविधिक सरचना में होने वाले उन क्रातिकारी परिवतनो में भी तेजी ला देता है और उनका विस्तार कर देता है, जिनके फलस्वरूप पूजी के अस्थिर अश में कमी आ जाती है और स्थिर अश में वृद्धि हो जाती है और इस तरह श्रम की सापेक्ष माग घट जाती है।

केन्द्रीयकरण पूजी की जिन राशियो का रातोरात एकीकरण कर देता है, वे पूजी की अय राशियो की ही तरह अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार करती हैं। अतर केवल यह होता है कि ये राशिया अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार ज्यादा तेजी से करती हैं और इस तरह सामाजिक सचय का एक नया एव शक्तिशाली लीवर बन जाती ह। इसलिये, आजकल अगर कभी सामाजिक सचय की प्रगति की चर्चा की जाती है, तो अव्यक्त रूप से यह भी मान लिया जाता है कि केन्द्रीयकरण का प्रभाव भी उसमें शामिल है।

सामान्य सचय के दौरान में जिन अतिरिक्त पूजियो का निर्माण होता है (देखिये चौबीसवा अध्याय, अनुभाग १), वे मुख्यतया नये आविष्कारो और नयी खोजो से और आम तौर पर सभी प्रकार के औद्योगिक सुधारो से लाभ उठाने के साधनो का काम करती ह। किन्तु पुरानी पूजी के लिये भी आखिर वह घडी आ ही जाती है, जब उसे सिर से पर तक अपना नवीकरण करना पडता है, जब उसे अपनी पुरानी केचुल उतारकर फेंक देनी पडती है और जब उसका भी अपने परिष्कृत प्राविधिक रूप में नवजन्म होता है, जिस रूप में पहले से कम मात्रा का श्रम पहले से अधिक परिमाण की मशीनो और कच्चे माल को गतिमान बना देने के लिये पर्याप्त होता है। इसके फलस्वरूप आवश्यक रूप से श्रम की माग में जो निरपेक्ष कमी आ जाती है, वह स्पष्टतया उतनी ही बडी होगी, जितनी कि कायाकल्प की इस क्रिया में से गुजरने वाली ये पूजिया केन्द्रीयकरण की क्रिया के द्वारा पहले ही से बडी-बडी राशियो में सचित हो गयी होंगी।

इसलिये, एक तरफ तो सचय के दौरान में निर्मित अतिरिक्त पूजी अपने परिमाण की तुलना में अधिकाधिक कम मजदूरो को अपनी ओर आकर्षित करती है। दूसरी तरफ, पुरानी पूजी, जिसका एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उसकी सरचना में परिवतन करके पुनरुत्पादन किया जाता है, अधिकाधिक सख्या में अपने पुराने मजदूरो को अपने पास से हटाता जाती है।

अनुभाग ३—सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या या औद्योगिक रिजर्व सेना का उत्तरोत्तर बढता हुआ उत्पादन

शुरू में ऐसा लगता था कि पूजी के सचय के दौरान में उसका केवल परिमाणात्मक विस्तार ही होता है। परन्तु, जसा कि हम ऊपर देख चुके ह, पूजी का सचय उसकी सरचना में उत्तरोतर होने वाले गुणात्मक परिवतनो के द्वारा सम्पन्न होता है, वह इस तरह सम्पन्न होता है कि पूजी के स्थिर सघटक में लगातार वृद्धि होती जाती है और उसका अस्थिर सघटक लगातार घटता जाता है।[1]

---

[1] तीसरे जमन सस्करण का नोट मार्क्स की प्रतिलिपि मे यहा पर यह पार्श्व टिप्पणी मिलती है "बाद मे विस्तार के साथ विवेचन करने के लिये यहा यह बात ध्यान म

उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली, श्रम की उत्पादक शक्ति का तदनुरूप विकास और इसके फलस्वरूप पूंजी की सांघटनिक संरचना में पैदा हो जाने वाला परिवर्तन – ये सारी बातें केवल उसी गति के साथ सामने नहीं आतीं, जिस गति के साथ संचय की प्रगति होती है, या सामाजिक धन में वृद्धि होती है। उनका कहीं अधिक तीव्र गति से विकास होता है, क्योंकि साधारण संचय या समाज की कुल पूंजी में होने वाली निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ यह कुल पूंजी जिन अलग अलग पूंजियों का जोड़ है, उनका केंद्रीयकरण भी होता जाता है, और क्योंकि अतिरिक्त पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में जो परिवर्तन आता है, उसके साथ-साथ मूल पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। इसलिये, संचय की प्रगति के साथ-साथ अस्थिर पूंजी के साथ स्थिर पूंजी का अनुपात बदल जाता है। शुरू में यदि, मान लीजिये, १ १ का अनुपात था, तो उत्तरोत्तर २ १, ३ १, ४ १, ५ १, ७ १ इत्यादि का अनुपात होता जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि जैसे-जैसे पूंजी में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसके कुल मूल्य के $\frac{१}{२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{३}$, $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{५}$, $\frac{१}{६}$, $\frac{१}{८}$ इत्यादि भाग ही श्रम-शक्ति में रूपान्तरित किया जाता है और दूसरी ओर $\frac{२}{३}$, $\frac{३}{४}$, $\frac{४}{५}$, $\frac{५}{६}$, $\frac{७}{८}$ इत्यादि भाग उत्पादन के साधनों में बदल दिया जाता है। चूंकि श्रम की मांग कुल पूंजी की मात्रा से नहीं, बल्कि केवल उसके अस्थिर संघटक की मात्रा से निर्धारित होती है, इसलिये कुल पूंजी के बढ़ने के साथ-साथ यह मांग उसके अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसा कि हमने पहले मान रखा था, बल्कि वह उत्तरोत्तर घटती जाती है। कुल पूंजी के परिमाण की तुलना में यह मांग कम हो जाती है, और जैसे-जैसे कुल पूंजी का परिमाण बढ़ता जाता है, वैसे वैसे यह मांग अधिकाधिक तेज रफ्तार के साथ घटती जाती है। कुल पूंजी में वृद्धि होने पर उसका अस्थिर संघटक या उसमें समाविष्ट श्रम भी बढ़ता है, पर लगातार घटते हुए अनुपात में बढ़ता है। वे अंतर्कालीन अवधियां छोटी हो जाती हैं, जिनमें संचय केवल एक निश्चित प्राविधिक आधार पर उत्पादन का साधारण विस्तार करता है। मजदूरों की अतिरिक्त संख्या को काम में लगाने के लिये, या यहां तक कि पुरानी पूंजी के अनवरत रूपान्तरण के कारण पहले से काम में लगे हुए मजदूरों को काम पर लगाये रखने के लिये भी कुल पूंजी के पहले से तेज गति के संचय की आवश्यकता होती है और जरूरी होता है कि संचय की गति उत्तरोत्तर अधिक तेज होती जाये,– हम केवल इतना ही नहीं पाते हैं। इस बढ़ते हुए संचय और केंद्रीयकरण के फलस्वरूप पूंजी की संरचना में नये परिवर्तन हो जाते हैं और उसके स्थिर संघटक की तुलना में उसका अस्थिर संघटक और भी तेज गति से घटने लगता है। कुल पूंजी की पहले से तेज वृद्धि के साथ साथ उसके अस्थिर संघटक में जो यह पहले से तेज तुलनात्मक कमी आती है और जो कमी कुल पूंजी की वृद्धि की गति से अधिक तीव्र गति से बढ़ती है, वह दूसरे ध्रुव पर इसका उल्टा रूप धारण कर लेती है, और लगता है, जैसे श्रमजीवी जन संख्या में निरपेक्ष वृद्धि होती जा रही

रखो यदि पूंजी का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तो व्यवसाय की उसी शाखा में बड़ी पूंजी लगाने पर बड़ा मुनाफा होगा और छोटी पूंजी लगाने पर छोटा मुनाफा होगा। यदि परिमाणात्मक विस्तार से गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाता है तो उसके साथ साथ ज्यादा बड़ी पूंजी के मुनाफे की दर भी बढ़ जायेगी।" – फ्रे० ए०

की मात्रा बढने के साथ-साथ, उत्पादन के पैमाने का विस्तार होने तथा पूजी जिन मजदूरो को गतिमान बनाती है, उनकी सख्या के बढने के साथ-साथ, इन मजदूरो के श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने के साथ-साथ और धन के सभी स्रोतो की व्यापकता एव पूर्णता में वृद्धि होने के साथ-साथ पूजी और भी बडे पैमाने पर पहले से अधिक मजदूरो को अपनी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ उनको पहले से ज्यादा जोर से अपने से दूर धकेलने लगती है, इसके साथ-साथ पूजी की साघटनिक सरचना में और उसके प्राविधिक रूप में पहले से ज्यादा तेजी के साथ परिवतन होने लगते ह और उत्पादन के क्षेत्रो की एक बढती हुई सख्या कभी एक साथ और कभी बारी-बारी से इस परिवतन की लपेट में आने लगती है। इसलिये, श्रम करने वाली जन सख्या पूजी के सचय के साथ-साथ उन साधनो को भी पदा करती जाती है, जो खुद इस जन-सख्या को तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बना देते ह और जो उसे सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या में परिणत कर देते है, और इन साधनो को वह सदा एक बढते हुए परिमाण में पदा करती जाती है।[1]

बनाने के धधे मे काम करने वालो की सख्या १८५१ मे ४,९४९ थी और १८६१ में ४,६८६ रह गयी थी, – अन्य कारणा के अलावा इस कमी का एक कारण यह भी था कि लोग गैस की रोशनी इस्तेमाल करने लगे थे। कघे बनाने के धधे में काम करने वालो की सख्या १८५१ मे २,०३८ और १८६१ में १,४७८ थी। आराकशा की तादाद १८५१ मे ३०,५५२ थी और १८६१ में ३१,६४७, – यह थाडी सी वद्धि लकडी काटने की मशीनो की सख्या मे वद्धि आ जाने के कारण हुई थी। कीलें बनाने के उद्योग मे १८५१ मे २६,९४० व्यक्ति काम करते थे और १८६१ मे २६,१३०, – यह कमी मशीनो की प्रतियागिता के कारण आ गयी थी। टिन और ताम्बे की खानो में काम करने वाला की सख्या १८५१ में ३१,३६० थी और १८६१ मे ३२,०४१। दूसरी ओर, सूत की कताई और बुनाई के उद्योग मे काम करने वालो की सख्या १८५१ मे ३,७१,७७७ थी और १८६१ मे ४,५६,६४६ तक पहुच गयी थी, कोयले की खाना मे काम करने वाला की तादाद १८५१ मे १,८३,३८९ थी और १८६१ में २,४६,६१३ तक पहुच गयी थी। "१८५१ के बाद से मजदूरा की सख्या में सबसे अधिक वृद्धि आम तौर पर उद्योग की ऐसी शाखाओ मे हुई है, जिनमें अभी तक मशीना का प्रयाग सफलतापूवक नही किया जा सकता है।" (*Census of England and Wales for 1861* ['इगलैण्ड और वेल्स की १८६१ की जन-गणना'], खण्ड ३, London, 1863 पृ० ३६।)

[1] [**चौथे जमन सस्करण में जोडा गया नोट** अस्थिर पूजी के सापेक्ष परिमाण में जा उत्तरोत्तर कमी आती जाती है और मजदूरी पर काम करने वाला के वग की स्थिति पर उसका जो प्रभाव पडता है, उनने नियम का प्रामाणिक मत के कुछ प्रमुख अथशास्त्रिया ने कुछ कुछ आभास तो पाया है, पर पूरी तरह समझा नही है। इस मामले मे सबस बडी सेवा जान बाटन ने की थी, हालाकि दूसरे लोगा की तरह उन्होने भी स्थिर तथा अचल और अस्थिर तथा चल पूजी को गड्डमड्ड कर दिया है। बाटन ने लिखा है "श्रम की माग चल पूजी की वद्धि पर निभर करती है, अचल पजी की वद्धि पर नही। यदि यह बात सच होती कि इन दो प्रकार की पूजिया के बीच हर समय और हर परिस्थिति मे एक सा अनुपात रहता है, तो निश्चय ही उससे यह निष्कष निकलता कि काम पर लगे मजदूरा की सख्या राज्य के धन के अनुपात में होती है। परन्तु इस प्रकार की प्रस्थापना में तो सम्भाव्यता का आभास तक नही है। धधा का जैसे जसे विकास होता है, सस्कृति का जैसे-

जन-सख्या का यह नियम उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट नियम है, और सचतो यह है कि उत्पादन की प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रणाली के जन-सख्या के अपने विशेष नियम होते ह, जो केवल उसी प्रणाली की सीमाओ के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य होते ह। जन सख्या का निरपेक्ष नियम केवल पौधो और पशुओ पर लागू होता है, और यह भी केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि मनुष्य ने उनके मामले में हस्तक्षेप नहीं किया है।

परतु यदि श्रमजीवियो की एक अतिरिक्त जन-सख्या पूजीवादी आधार पर धन के सचय अथवा विकास की अनिवार्य उपज है, तो यह अतिरिक्त जन-सख्या उलट कर पूजीवादी सचय का लीवर भी बन जाती है,—नहीं, बल्कि कहना चाहिये कि यह उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त बन जाती है। यह अतिरिक्त जन-सख्या एक औद्योगिक रिजर्व सेना का रूप धारण कर लेती है, जिसपर पूजी का ऐसा परमाधिकार होता है कि मानो स्वय पूजी ने ही उसे अपने खर्चे से पाल-पोसकर तयार किया हो। जन सख्या म सचमुच कितनी वृद्धि होती है, उसकी सीमाओ से स्वतत्र होकर यह अतिरिक्त जन-सख्या पूजी के आत्म विस्तार की बदलती हुई आवश्यकताओ के लिये मानव-सामग्री की एक ऐसी राशि का सृजन कर देती है, जिसका सदव ही शोषण किया जा सकता है। सचय और उसके साथ श्रम की उत्पादकता का जो विकास होता है, उनके साथ-साथ पूजी की यकायक विस्तार करजाने

जैसे विस्तार होता है, वैसे वैसे चल पूजी की तुलना में अचल पूजी का अनुपात बढता जाता है। अग्रेज़ी मलमल के एक थान के उत्पादन मे जो अचल पूजी इस्तेमाल होती है, उसका परिमाण उसी प्रकार की हिदुस्तानी मलमल के एक थान के उत्पादन म इस्तेमाल होने वाला अचल पूजी के परिमाण से कम से कम सौगुना और सम्भवतया हज़ार गुना बडा होता है, और उसमे इस्तेमाल होने वाली चल पूजी का अनुपात सौ गुना या हज़ार गुना कम होता है यदि वष भर की पूरी बचत अचल पूजी मे जोड दी जाये, तो भी उससे श्रम की माग में कोई वद्धि नही होगी।" (John Barton, *Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society* [जान बार्टन, 'समाज के श्रमजीवी वर्गों की दशा को प्रभावित करने वाली परिस्थितिया के विषय म कुछ विचार'], London 1817, पृ० १६, १७।) "जिस कारण से देश की शुद्ध आय बढ सकती है, उसी कारण से साथ ही यह भी हो सकता है कि जन-सख्या अनावश्यक बन जाये और मजदूर की हालत खराब हो जाये।" (Ricardo उप० पु०, पृ० ४६६।) पूजी की वृद्धि होने पर (श्रम की) "माग घटती जायेगी।" (उप० पु०, पृ० ४८०, नोट।) "पूजी की जो राशि श्रम के जीवन निर्वाह के लिये इस्तेमाल होती है, वह पूजी की कुल राशि में कोई परिवतन न आने पर भी घट बढ सकती है यह सम्भव है कि पूजी की प्रचुरता के बढने के साथ साथ काम पर लगे मजदूरो की सख्या मे बार बार भारी उतार चढाव आने लगें और उसके फलस्वरूप लोगा को बहुत कष्ट उठाना पडे। (Richard Jones *"An Introductory Lecture on Pol Econ* [रिचर्ड जोन्स, 'अर्थशास्त्र पर एक प्रारम्भिक भाषण'] London, 1833 पृ० १३।) (श्रम की) "माग सामान्य पूजी के सचय के अनुपात म नही बढेगी इसलिये राष्ट्रीय पूजी का जो भाग पुनरुत्पादन मे लगाया जाने वाला है, उसमे होने वाली प्रत्येक वृद्धि का समाज की प्रगति के साथ साथ मजदूर की दशा पर अधिकाधिक कम प्रभाव पडता है।" (Ramsay उप० पु०, पृ० ६०, ६१।)

की शक्ति भी बढ़ जाती है। यह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि पहले से काम में लगी हुई पूजी की प्रत्यास्थता में वृद्धि हो जाती है, यह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि समाज का निरपेक्ष धन बढ जाता है, जिसका पूजी केवल एक प्रत्यास्थतापूर्ण भाग होती है, यह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि हर प्रकार की विशेष उत्तेजना के फलस्वरूप साख प्रणाली इस धन के एक असाधारण अश को फौरन अतिरिक्त पूजी के रूप म उत्पादन को सौंप देती है, यह इसलिये भी बढ जाती है कि उत्पादन की क्रिया के लिये जो प्राविधिक परिस्थितियां आवश्यक होती ह, –मशीनें, परिवहन के साधन इत्यादि, – वे खुद अब यह सम्भव बना देती ह कि अतिरिक्त पदार्थ को तीव्रतम गति से उत्पादन के अतिरिक्त साधनो में रूपान्तरित कर दिया जाये। सचय की प्रगति के साथ सामाजिक धन की बाढ़ सी आ जाती है, और उसे अतिरिक्त पूजी में बदला जा सकता है। यह धन मानो पागल होकर या तो उत्पादन की पुरानी शाखाओ में घुसने की कोशिश करता है, जिनकी मडी का यकायक विस्तार हो जाता है, और या वह उन नवनिर्मित शाखाओ में, जैसे रेलो आदि में, प्रवेश कर जाता है, जिनकी आवश्यकता पुरानी शाखाओ के विकास के फलस्वरूप पदा होती है। ऐसी तमाम सूरतो में इस बात की आवश्यकता होती है कि अन्य क्षेत्रो में उत्पादन के पमाने को कोई हानि पहुचाये बिना निर्णायक बिदुओ पर बहुत बडी सख्याओ में मनुष्यो को झोका जा सके। ये मनुष्य जनाधिक्य से प्राप्त होते ह। आधुनिक उद्योग जिस चरित्रगत क्रम में से गुजरता है, – अर्थात वह औसत दर्जे की क्रियाशीलता, बहुत तेज उत्पादन, सकट और ठहराव के कालो के जिस दशवर्षीय चक्र (जिसके बीच बीच में अपेक्षाकृत छोटे प्रदोलन आते रहते हैं) में से गुजरता है, – वह इस बात पर निर्भर करता है कि अतिरिक्त जन सख्या की औद्योगिक रिजर्व सेना का निर्माण, न्यूनाधिक अवशोषण और पुनर्निर्माण बराबर होता रहे। उधर औद्योगिक चक्र की विभिन्न अवस्थाए अतिरिक्त जन सख्या में नयी भर्ती करती चलती ह और उसके पुनरुत्पादन का एक अत्यन्त क्रियाशील अभिकर्ता बन जाती ह।

आधुनिक उद्योग का यह विचित्र क्रम मानव इतिहास के किसी भी पुराने युग में नहीं देखा गया था, और पूजीवादी उत्पादन के बाल्यकाल में भी उसका होना असम्भव था। उस काल में पूजी की सरचना में बहुत ही धीरे-धीरे परिवतन होता था। इसलिये, जिस गति से पूजी का सचय होता था, लगभग उसी गति से श्रम की मांग में भी तदानुरूप वृद्धि होती जाती थी। अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक काल की तुलना में उन दिनो हालांकि सचय की प्रगति बहुत धीमी थी, फिर भी वह शोषण के योग्य श्रमजीवी जन-सख्या की प्राकृतिक सीमाओं से आगे नहीं बढ पाती थी, और इन सीमाओ को केवल जबरदस्ती ही तोडा जा सकता था, जिसका जिक्र हम आगे करेंगे। उत्पादन के पमाने का एक दम जो विस्तार होता है, वह उसके उतने ही आकस्मिक सकुचन की भूमिका होता है। और यह सकुचन फिर विस्तार के प्रेरक का काम करता है। परन्तु यदि काम में जोत देने के लिये मानव-सामग्री का अभाव हो, यदि जन-सख्या की निरपेक्ष वृद्धि से स्वतत्र रूप से मजदूरो की सख्या में वृद्धि न हो गयी हो, तो विस्तार करना असम्भव होता है। यह वृद्धि उस सरल क्रिया के द्वारा सम्पन्न होती है, जो मजदूरो के एक भाग को लगातार "मुक्त करती" जाती है। यह वृद्धि उन तरीक़ो के जरिये होती है, जिनसे काम में लगे हुए मजदूरो की सख्या को बढ़े हुए उत्पादन के अनुपात में घटा दिया जाता है। अतएव, आधुनिक उद्योग की गति का पूरा रूप इस बात पर निर्भर करता है कि यह श्रमजीवी जन सख्या के एक भाग को लगातार बेकार या अर्ध-बेकार मजदूरो में बदलती जाती है। अर्थशास्त्र का छिछलापन

इस बात से प्रकट होता है कि वह साख के विस्तार तथा सकुचन को, जो औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तनों का एक चिह्न मात्र होता है, उनका कारण समझता है। जिस तरह आकाश के नक्षत्र एक बार एक निश्चित प्रकार की गति में आ जाने के बाद सदा उसी गति को दोहराते रहते है, उसी तरह जब सामाजिक उत्पादन एक बार क्रमानुसार आने वाले विस्तार और सकुचन की इस गति में फस जाता है, तो वह उसी को दोहराता रहता है। प्रभाव अपनी बारी आने पर कारण बन जाते हैं, और इस पूरी क्रिया के, जो कि सदा अपनी आवश्यक परिस्थितियों का पुनरुत्पादन करती रहती है, आकास्मिक उतार-चढ़ाव नियतकालिकता का रूप धारण कर लेते है। जब एक बार यह नियतकालिकता सुदृढ़ हो जाती है, तब अर्थशास्त्र भी यह समझ जाता है कि सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या का उत्पादन – अर्थात पूंजी के आत्म विस्तार की औसत आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से अतिरिक्त जन सख्या का उत्पादन – आधुनिक उद्योग की एक आवश्यक शर्त है।

एच० मेरीवेल ने, जो पहले आक्सफोर्ड में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे और बाद में अग्रेज़ी सरकार के औपनिवेशिक दफ्तर में कर्मचारी हो गये थे, लिखा है "मान लीजिये कि ऐसा कोई सकट आने पर राष्ट्र आदोलित हो उठता है और कुछ लाख बेकार मजदूरों से परावास के द्वारा छुटकारा पाना चाहता है। उसका क्या परिणाम होगा? उसका परिणाम यह होगा कि पहली बार श्रम की माग के पुन पैदा होते ही श्रम की कमी महसूस होने लगेगी। पुनरुत्पादन चाहे जितना तेज़ क्यों न हो, वयस्क श्रम का स्थान भरने में हर सूरत में एक पीढ़ी का समय गुज़र जाता है। अब हमारे कारखानेदारों का मुनाफा मुख्यतया इस बात पर निर्भर करता है कि जिस समय मांग ज्यादा होती है, समृद्धि के उस क्षण से लाभ उठाने और कम माग वाले व्यवधान की क्षति-पूर्ति करने की उनमें कितनी शक्ति है। यह शक्ति उनको मशीनों और हाथ के श्रम से काम लेने के अधिकार से प्राप्त होती है। इसके लिये यह ज़रूरी है कि उनके पास हमेशा काम करने के लिये मज़दूर तयार रहें और वे जब ज़रूरत हो, तब अपनी कारवाइयों को तेज़ कर सकें, और मण्डी की हालत के अनुसार जब चाहें, तब फिर उनको मद कर सकें। इस बात के अभाव में कारखानेदार सम्भवतया प्रतियोगिता की दौड में अपनी उस श्रेष्ठता को क़ायम नहीं रख सकते, जिसपर देश के धन की नींव खडी है।"[1] यहा तक कि माल्थूस भी यह बात स्वीकार करते हैं कि आधुनिक उद्योग के लिये जनाधिक्य का होना आवश्यक है, हालाकि अपने सकुचित ढग के अनुसार वह जनाधिक्य का यह कारण बताते है कि श्रमजीवी जन-सख्या निरपेक्ष दृष्टि से बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, – तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बनने के कारण नहीं। उन्होंने लिखा है "मुख्यतया कारखानों और वाणिज्य पर निर्भर करने वाले देश के श्रमजीवी वर्ग में, विवाह के विषय में विवेकशीलता का जो अभ्यास पाया जाता है, उससे देश को हानि पहुंच सकती है जन-सख्या का स्वरूप ही ऐसा होता है कि किसी विशेष मांग के फलस्वरूप १६ या १८ वर्ष के पहले मण्डी में मज़दूरों की सख्या को नहीं बढ़ाया जा सकता, और मुमकिन है कि बचत के द्वारा आय को इससे कहीं अधिक तेज़ी के साथ पूंजी में बदला जा सके। प्रत्येक देश में यह सम्भव है कि श्रम के जीवन निर्वाह के कोष की मात्रा जन-सख्या की अपेक्षा अधिक

---

[1] H Merivale "*Lectures on Colonisation and Colonies*" (एच० मरीवेल, 'उपनिवेशकरण तथा उपनिवेशों पर भाषण'), London 1841 and 1842 खण्ड १, पृ० १४६।

तेजी से बढ़ती जाये।"[1] इस प्रकार यह प्रमाणित करने के बाद कि मजदूरो की सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या का निरन्तर उत्पादन पूजीवादी सचय के लिये अत्यत आवश्यक है, अर्थशास्त्र ने एक चिरकुमारी का अत्यत समुपयुक्त रूप धारण करके अपने 'beau ideal" ("आदर्श प्रेमी") – पूजीपति – के मुह से उन बेकार मजदूरो को सम्बोधन करते हुए, जो खुद अतिरिक्त पूजी का सृजन करने के कारण बेकार हो गये है, निम्नलिखित शब्द कहलवाये है "उस पूजी को बढाकर, जिसके सहारे तुम्हारी परवरिश होती है, हम कारखानेदार तो तुम लोगो के लिये जो कुछ सम्भव है, सब कुछ कर रहे है, बाक़ी तुमको करना चाहिये, और वह यह कि अपनी सख्या को जीवन निर्वाह के साधनो के अनुरूप कर लो।"[2]

जन-सख्या की स्वाभाविक वृद्धि के फलस्वरूप श्रम शक्ति की जो मात्रा पूजीवादी उत्पादन के लिये तयार होती रहती है, उससे पूजीवादी उत्पादन को कदापि सतोष नहीं हो सकता। खूब खुलकर खेलने के लिये उसको एक ऐसी औद्योगिक रिजर्व सेना की जरूरत होती है, जो इन प्राकृतिक सीमाओ से स्वतत्र हो।

अभी तक हम यह मानकर चलते रहे है कि अस्थिर पूजी में जो घटा-बढ़ी होती है, वह काम में लगे हुए मजदूरो की सख्या की घटा-बढ़ी के पूरी तरह अनुरूप होती है।

परन्तु यह सम्भव है कि पूजी के अधीन काम करने वाले मजदूरो की सख्या तो ज्यो की त्यो रहे या यहा तक कि गिर भी जाये, परन्तु अस्थिर पूजी की मात्रा फिर भी बढ़ती रहे। यह उस समय होता है, जब मजदूर व्यक्तिगत रूप से पहले से अधिक श्रम करने लगता है और इसलिये उसकी मजदूरी बढ़ जाती है, हालाकि श्रम का दाम ज्यो का त्यो रहता है या यहा तक कि गिर भी जाता है, परन्तु श्रम की राशि की वृद्धि की तुलना में ज्यादा धीरे धीरे गिरता है। ऐसी हालत में अस्थिर पूजी की वृद्धि इस बात की सूचक होती है कि पहले से अधिक श्रम हो रहा है, परन्तु वह इस बात की सूचक नहीं होती कि पहले से अधिक सख्या में मजदूरो से काम लिया जा रहा है। इसमें प्रत्येक पूजीपति का परम स्वार्थ होता है कि यदि लागत लगभग एक सी बैठती है, तो मजदूरो की एक अपेक्षाकृत बडी सख्या की अपेक्षा छोटी सख्या से ही एक निश्चित मात्रा का श्रम करा लिया जाये। जब मजदूरो की अपेक्षाकृत बडी सख्या से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब स्थिर पूजी का खर्चा श्रम की जो राशि हरकत में आती है, उसके अनुपात में बढ़ जाता है। पर जब छोटी सख्या से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब इस खर्चे में उससे बहुत कम वृद्धि होती है। उत्पादन का पैमाना जितना अधिक विस्तृत होता है, यह स्वार्थ उतना ही अधिक बलवान होता है। पूजी के सचय के साथ-साथ यह भावना भी अधिकाधिक बल पकडती जाती है।

[1] Malthus "*Principles of Political Economy*' (माल्थूस, 'अर्थशास्त्र के सिद्धात'), पृ० २१५, ३१६, ३२०। इस रचना मे माल्थूस ने अत मे सिस्मादी की सहायता से पूजीवादी उत्पादन की त्रिमूर्ति का आविष्कार किया है। वह त्रिमूर्ति है अति उत्पादन, अति-जन सख्या और अति उपभोग, जो three very delicate monsters, indeed (तीनो निश्चय ही बडे विचित्र राक्षस) है। देखिये एगेल्स की रचना '*Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*', उप० पु०, पृ० १०७ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] Harriet Martineau, '*A Manchester Strike*' (हैरियेट मार्टिनो, 'मान्चेस्टर की हड़ताल'), London 1832 पृ० १०१।

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली और श्रम की उत्पादक शक्ति का विकास, – जो सचय का कारण भी है और परिणाम भी, – पूजीपति को इस योग्य बना देता है कि वह पहले जितनी ही अस्थिर पूजी लगाकर, पर हर अलग-अलग श्रम-शक्ति का पहले से अधिक (विस्तीर्ण या गहन) शोषण करके पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जैसे-जैसे पूजीपति निपुण मजदूरो के स्थान पर अनिपुण, परिपक्व श्रम-शक्ति के स्थान पर अपरिपक्व, पुरुषो के स्थान पर स्त्रियो को और वयस्को के स्थान पर लडके-लडकियो तथा बच्चो को नौकर रखता जाता है, वैसे-वैसे वह पहले जितनी ही पूजी लगाकर उत्तरोत्तर श्रम-शक्ति की पहले से बडी राशि खरीदता जाता है।

इसलिये, एक ओर तो सचय की प्रगति के साथ-साथ पहले से बडी अस्थिर पूजी नये मजदूरो को भर्ती किये बिना ही पहले से अधिक श्रम को गतिमान बनाती है, दूसरी ओर, पहले जितनी मात्रा की अस्थिर पूजी श्रम शक्ति की पहले जितनी राशि का ही इस्तेमाल करते हुए पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देती है, और, तीसरे, वह ज्यादा ऊचे दर्जे की श्रम शक्ति को जवाब देकर नीचे दर्जे की श्रम शक्ति से पहले से बडी सख्या में काम लेता है।

अत सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या के उत्पादन की क्रिया, या मजदूरो को बेरोजगार बनाने की क्रिया, उत्पादन क्रिया की उस प्राविधिक क्रान्ति से भी अधिक तेज गति के साथ चलती है, जो सचय की प्रगति के साथ-साथ होती रहती है और जिसकी गति सचय के कारण और तेज हो जाती है, और इस क्रान्ति के साथ-साथ पूजी के स्थिर अश की तुलना में उसका अस्थिर अश जितनी तेजी से घटता है, सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या के उत्पादन की क्रिया उससे भी ज्यादा तेजी के साथ चलती है। उत्पादन के साधनो का विस्तार और कार्य-क्षमता जसे-जसे बढती जाती है, जसे-जसे यदि मजदूरो को नौकर रखने के साधनो के रूप में उनकी क्षमता घटती जाती है, तो इस चीज में इस तथ्य से फिर यह सशोधन हो जाता है कि श्रम की उत्पादकता जितनी बढ जाती है, पूजी अपनी मजदूरो की माग की अपेक्षा श्रम की पूर्ति को उतनी ही ज्यादा तेजी से बढा लेती है। मजदूर-वर्ग का काम पर लगा हुआ भाग जो अत्यधिक श्रम करता है, उससे रिजर्व भाग की सख्या और बढ जाती है, दूसरी ओर, रिजर्व भाग अपनी प्रतियोगिता के द्वारा नौकरी में लगे हुए भाग पर अब पहले से अधिक दबाव डालता है, और उसके फलस्वरूप इस भाग को अत्यधिक श्रम करने तथा चुपचाप पूजी का हुक्म बजाने के लिये मजबूर कर देता है। मजदूर-वर्ग के एक भाग से अत्यधिक काम कराके दूसरे भाग को जबदस्ती बेकार बनाये रखना और एक भाग को जबर्दस्ती खाली हाथ बठाकर दूसरे भाग से अत्यधिक काम लेना – यह अलग अलग पूजीपतियो का धन बढाने का साधन बन जाता है,[1] और साथ ही उससे औद्योगिक रिजर्व सेना के उत्पादन में तेजी आती है, और वह

---

[1] यहा तक कि १८६३ के कपास के अकाल के दिनो में भी हम यह पाते हैं कि कपास की कताई करने वाले ब्लैकबन के कारीगरो की एक पुस्तिका मे मजदूरो से अत्यधिक काम लेने की प्रथा की सख्त निन्दा की गयी है। फैक्टरी कानूनो के फलस्वरूप इस प्रथा का बेशक केवल वयस्क पुरुषो पर ही प्रभाव पडता था। पुस्तिका मे लिखा है "इस मिल के वयस्क कारीगरो से १२ से १३ घटे तक रोजाना काम करने के लिये कहा गया है, और उधर सैकडो ऐसे आदमी बेकार पडे है, जो अपने बाल-बच्चो को जिन्दा रखने के लिये और अपने भाइयो को अत्यधिक श्रम के कारण असमय मृत्यु का ग्रास बन जाने से बचाने के लिये हर रोज थोडे

सामाजिक सचय की प्रगति के अनुरूप पमाना प्राप्त कर लेता है। सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या के निर्माण में इस तत्व का कितना बडा महत्व है, यह बात इगलैण्ड के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। इगलण्ड के पास श्रम की बचत करने के अतिविशाल प्राविधिक साधन है। फिर भी, यदि कल सुबह से आम तौर पर केवल विवेकसगत मात्रा में मजदूरो से श्रम कराया जाये और पूरे काम को आयु तथा लिग भेद के अनुसार मजदूर-वग के अलग अलग हिस्सो में बाट दिया जाये, तो इस समय इगलैण्ड में जितनी श्रमजीवी जन-सख्या मौजूद है, वह राष्ट्रीय उत्पादन को उसके वतमान पमाने पर चलाने के लिये सवथा अपर्याप्त सिद्ध होगी। इस समय के "अनुत्पादक" मजदूरो में से ज्यादातर को तब "उत्पादक" मजदूरो में बदल देना पडेगा।

यदि मजदूरी के सामान्य उतार चढाव की सामान्य क्रियाओ की समग्रता पर विचार किया जाये, तो हम देखते ह कि औद्योगिक रिजव सेना का विस्तार और सकुचन ही आम रूप से उनका नियमन करते ह, और ये विस्तार और सकुचन औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवतनो के अनुरूप होते है। इसलिये, मजदूरी के उतार-चढाव की ये क्रियाए इस बात से निर्धारित नहीं होतीं कि श्रमजीवियो की निरपेक्ष सख्या में कितनी घटा बढ़ी हो गयी है, बल्कि

समय तक काम करने के लिये भी राजी होगे " पुस्तिका में आगे लिखा है "हम यह प्रश्न करना चाहेगे कि क्या कुछ मजदूरा से ओवरटाइम काम कराने की प्रथा के द्वारा मालिका और नौकरो के बीच सद्भावना पैदा होगी ? जिनसे ओवरटाइम काम लिया जाता है, वे भी इसे उतना ही बडा अयाय समझते है, जितना वे कारीगर समझते है, जिन्हे जबर्दस्ती बेकार बनाकर (condemned to forced idleness) रखा जाता है। हमारे इलाके मे लगभग इतना काम है कि यदि उसका ठीक ठीक बटवारा किया जाये, तो सभी कारीगरा को आशिक रोजगार मिल सकता है। जब हम मालिको से यह प्राथना करते है कि उन्हे मजदूरा के एक हिस्से से ओवरटाइम काम कराने के बजाय, जिसके कारण बाकी मजदूरो को काम के अभाव म दान के सहारे जिन्दा रहना पडता है, आम तौर पर हर रोज कम घण्टे काम लेने की प्रथा पर चलना चाहिये और खास तौर पर जब तक हम लोगा के लिये फिर से अच्छे दिन नही आ जाते, तब तक इसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिये, तब हम बिल्कुल न्यायोचित माग करते है।" ("*Reports of Insp of Fact, Oct 31, 1863*' ['फैक्टरिया के इस्पेक्टरा की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'], पृ० ८।) "*Essay on Trade and Commerce*' ('व्यापार और वाणिज्य पर निबध') के लेखक ने अपनी सामान्य एव अचूक पूजीवादी सहज बुद्धि से यह बात भली भाति समझ ली है कि काम से लगे मजदूरा पर सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या का क्या असर होता है। उसने लिखा है "इस राज्य के लोगा मे जो काहिली (idleness) पायी जाती है, उसका एक और कारण यह है कि यहा श्रम करने वाले मजदूरा की पर्याप्त सख्या का अभाव है - जब कभी कारखाना की बनी चीजा की असाधारण माग के कारण श्रम की कमी महसूस होती है, तब मजदूर खुद अपना महत्त्व महसूस करने लगते है और उसे मालिको को भी महसूस कराना चाहते है, - यह बडे आश्चर्य की बात है, मगर इन लोगा की प्रवृत्तिया इतनी दूषित हो गयी है कि ऐसा होने पर अक्सर मजदूरा का कोई दल मालिक को तग करने के लिये इकट्ठा हो जाता है और वे सब मिलकर पूरा दिन काहिली म बिता देते ह।" (*Essay, &c*" ['व्यापार और वाणिज्य पर निबध'], पृ० २७, २८।) ये लोग, असल मे, अपनी मजदूरी बढ़वाना चाहते थे।

वे इस बात से निर्धारित होती ह कि सक्रिय तथा रिजर्व सेना के बीच मजदूर-वर्ग का सक्रिय विभाजन किस अनुपात में हुआ है, अतिरिक्त जन-सख्या की सापेक्ष मात्रा में वृद्धि हो गयी है या कमी आ गयी है और किस हद तक उसका उद्योग में अवशोषण हो जाता है या उसे किस हद तक फिर उद्योग से निकाल दिया जाता है। दशवर्षीय चक्रो और नियतकालिक अवस्थाओं वाले इस आधुनिक उद्योग के लिये, जिसके ये चक्र तथा अवस्थाए सचय का विकास होने पर अधिकाधिक शीघ्रता के साथ एक दूसरे का अनुसरण करने वाले अनियमित प्रदोलनो के कारण और भी जटिल बन जाती ह, वह सचमुच एक बडा सुदर नियम होगा, जो यह नहीं कहता कि श्रम की माग और पूर्ति का नियमन पूजी के बारी-बारी से होने वाले विस्तार और सकुचन से होता है,—और यह कि जब पूजी का विस्तार होता है, तब श्रम की मण्डी में तुलनात्मक दृष्टि से कम श्रम दिखाई देने लगता है, और जब पूजी का सकुचन होता है, तब मण्डी फिर श्रम से अटी हुई मालूम होने लगती है,—बल्कि जो इसके बजाय यह दावा करता है कि खुद पूजी की गति जन-सख्या के निरपेक्ष परिवर्तनो पर निर्भर करती है। परन्तु अर्थशास्त्री इसी रूढि से चिपके हुए ह। उनके मतानुसार, मजदूरी पूजी के सचय के फलस्वरूप बढ़ती है। मजदूरी बढ जाती है, तो उससे काम करने वाली आबादी को पहले से ज्यादा तेजी के साथ अपनी सख्या को बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलता है, और यह चीज उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि श्रम की मण्डी फिर नहीं अट जाती और इसलिये जब तक कि श्रम की पूर्ति की तुलना में पूजी फिर अपर्याप्त नहीं हो जाती। तब मजदूरी गिर जाती है और तस्वीर का दूसरा रुख हमारे सामने आता है। मजदूरी के गिरते जाने के फलस्वरूप काम करने वाला आबादी थोडी-थोडी करके नष्ट होती जाती है, जिससे मजदूरो की तुलना में पूजी की मात्रा फिर ज्यादा हो जाती है, या, जसा कि कुछ दूसरे इसे व्यक्त करते हैं, मजदूरी के गिरते जाने और मजदूर के शोषण में तदनुरूप वृद्धि होते जाने के फलस्वरूप सचय में फिर तेजी आ जाती है और उधर इसके साथ-साथ कम मजदूरी मजदूर-वर्ग की वृद्धि पर प्रतिबध लगाये रहती है। इसके बाद फिर वह समय आता है, जब श्रम की पूर्ति उसकी माग से कम हो जाती है, मजदूरी बढने लगती है, और वह पूरा क्रम फिर शुरू हो जाता है। विकसित पूजीवादी उत्पादन की गति की यह कितनी सुदर विधि है! इसके पहले कि मजदूरी के बढ़ जाने के फलस्वरूप सचमुच काम करने के योग्य आबादी में कोई ठोस वृद्धि हो, वह समय कई बार आ आकर गुजर जायेगा, जिसमें यह औद्योगिक सग्राम चलाया जा चुका होगा और लडाई लडकर जीती जा चुकी होगी।

१८४६ और १८५६ के बीच इगलण्ड के खेतिहार डिस्ट्रिक्टो में मजदूरी में थोडी सी वृद्धि हुई, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्वहीन थी, हालाकि यह सही है कि उसके साथ-साथ अनाज के दाम गिर गये थे। मिसाल के लिये, विल्टशायर में साप्ताहिक मजदूरी ७ शिलिंग से ८ शिलिंग हो गयी थी, डोरसेटशायर में ७ शिलिंग या ८ शिलिंग से ६ शिलिंग हो गयी थी, और इसी तरह अन्य स्थानो में भी। यह इस बात का परिणाम था कि युद्ध की आवश्यकताओ और रेलो, फक्टरियों, खानो आदि के विस्तार के कारण खेतिहरो की अतिरिक्त जन सख्या असाधारण परिमाण में गावो को छोड छोडकर चली गयी थी। मजदूरी जितनी नीची होती है, इस प्रकार की महत्वहीन वृद्धि उसके अनुपात में उतनी ही ऊची प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये, यदि साप्ताहिक मजदूरी २० शिलिंग हो और वह बढ़कर २२ शिलिंग हो जाये, तो उसमें १० प्रतिशत की वृद्धि होगी, परन्तु यदि वह केवल ७ शिलिंग हो और

बढकर ९ शिलिग हो जाये, तो उसमें २८$\frac{४}{७}$ प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी, जो बहुत प्रभावपूर्ण प्रतीत होगी। चुनाचे हर तरफ काश्तकार लोग चीख पुकार मचा रहे थे, और मजदूरी की इन दरो के बारे में, जिनके सहारे आदमी केवल आधा पेट खाकर ही जिन्दा रह सकता था, लन्दन के "*Economist* ने पूर्ण गम्भीरता के साथ कहा था कि खेतिहर मजदूरो की मजदूरी में "a general and substantial advance" ("आम तौर पर और पर्याप्त वृद्धि") हो गयी है।[1] तब काश्तकारो ने क्या किया? क्या उन्होने इसके लिये इन्तजार किया कि इस शानदार उजरत के नतीजे के तौर पर खेतिहर मजदूरो की तादाद इतनी ज्यादा बढ़ जायेगी और उनकी नस्ल इतनी अधिक फले फूलेगी कि रूढ़िवादी आर्थिक मस्तिष्क के आदेशानुसार उनकी मजदूरी फिर अपने आप लाजिमी तौर पर गिर जायेगी? नहीं, काश्तकारो ने पहले से ज्यादा मशीनें इस्तेमाल करना शुरू कर दिया, और देखते ही देखते मजदूर फिर इस अनुपात में अनावश्यक बन गये, जो काश्तकारो तक के लिये सतोषजनक था। अब "पहले से ज्यादा पूजी" पहले से अधिक उत्पादक रूप में खेती में लगा दी गयी थी। इसके फलस्वरूप श्रम की माग न केवल सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी गिर गयी।

उपर्युक्त आर्थिक कपोल कल्पना मजदूरी के आम उतार-चढाव का, या मजदूर-वर्ग – अर्थात कुल श्रम शक्ति – और कुल सामाजिक पूजी के अनुपात का नियमन करने वाले नियमो को उन नियमो के साथ गडबडा देती है, जिनके अनुसार काम करने वाली आबादी का उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रो में बटवारा होता है। मिसाल के लिये, यदि कुछ अनुकूल परिस्थितियो के फलस्वरूप उत्पादन के किसी खास क्षेत्र में सचय में विशेष रूप से तेजी आ जाती है और इस क्षेत्र के मुनाफे औसत मुनाफो से ऊचे होने के कारण नयी पूजी को इस क्षेत्र की ओर आकर्षित करते है, तो जाहिर है कि वहा श्रम की माग बढ़ जायेगी और उसके साथ मजदूरी भी बढ़ जायेगी। ऊची मजदूरी के कारण काम करने वाली आबादी का भी पहले से बडा भाग इस क्षेत्र की ओर खिच आयेगा, और यह चीज उस वक्त तक जारी रहेगी, जब तक कि यह क्षेत्र श्रम शक्ति से अट नहीं जाता और जब तक कि मजदूरी आखिर फिर अपने औसत स्तर पर या मजदूरो का अत्यधिक दबाव होने के कारण उसके भी नीचे नहीं पहुच जाती। तब न सिर्फ उद्योग की इस विशेष शाखा में मजदूरो का आगमन रुक जायेगा, बल्कि उसके स्थान पर इस शाखा से मजदूरो का गमन आरम्भ हो जायेगा। यहा अर्थशास्त्री को यह खयाल होता है कि इस बिदु पर पहुचकर वह यह बात पूरी तरह समझ जाता है कि ऐसा क्यो और किस कारण से होता है कि मजदूरी बढ़ जाने पर मजदूरो की सख्या में निरपेक्ष वृद्धि हो जाती है और मजदूरो की सख्या में निरपेक्ष वृद्धि होने पर मजदूरी घट जाती है। परन्तु वास्तव में वह उत्पादन के केवल एक खास क्षेत्र की श्रम की मण्डी में आने वाले स्थानीय प्रदोलनो को ही देखता है, – वह केवल उन्हीं घटनाओं को देखता है, जो पूजी की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुसार पूजी लगाने के अलग अलग क्षेत्रो में काम करने वाली आबादी के विभाजन के साथ घटती है।

ठहराव और औसत समृद्धि के काल में औद्योगिक रिजर्व सेना सक्रिय श्रमिक सेना के गले का पत्थर बन जाती है, अति उत्पादन और अधाधुध तेजी के जमाने में वह सक्रिय श्रमिकों की मागों और दावो को रोक कर रखती है। इसलिये, सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या वह धुरी

---

[1] *Economist*", २१ जनवरी १८६०।

है, जिसके सहारे श्रम की माग श्रौर पूर्ति का नियम काम करता है। वह इस नियम के कार्य क्षेत्र को शोषण की क्रिया श्रौर पूजी के प्रभुत्व के लिये सर्वथा सुविधाजनक सीमाश्रो तक सीमित कर देती है।

इस स्थान पर हमें फिर वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्रियो के एक बडे शानदार कारनामे पर विचार करना होगा। पाठकों को याद होगा कि जब नयी मशीनों का इस्तेमाल शुरू करके या पुरानी मशीनो का विस्तार करके अस्थिर पूजी के एक भाग को स्थिर पूजी में बदल दिया जाता है, तो वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाला अर्थशास्त्री इस क्रिया का, जो पूजी को "अचल बना देती है" श्रौर साथ ही मजदूरों को रोजगार से मुक्त कर देती है, बिल्कुल उल्टा अर्थ लगाता है श्रौर कहता है कि यह क्रिया तो मजदूरो के लिये पूजी को मुक्त कर देती है। वर्तमान व्यवस्था के इन वकीलो की धृष्टता पूरी तरह केवल अब स्पष्ट होती है। जिनको मुक्ति मिल जाती है, उनमें सिर्फ वे ही मजदूर शामिल नहीं होते, जिनको मशीनें श्राते ही काम से निकलवा देती है, बल्कि उनमें श्राने वाली पीढियो के वे लोग *भी शामिल होते है, जो इन मजदूरो का भविष्य में स्थान लेंगे*, श्रौर उनमें मजदूरों का वह नया जत्था भी शामिल होता है, जिसको व्यवसाय का पुराने श्राधार पर सामान्य विस्तार होने पर नियमित रूप से काम मिलता जाता। अब इन तमाम लोगो को "मुक्ति मिल जाती है" श्रौर अपने लिये कार्य-क्षेत्र की तलाश करने वाला पूजी का हर नया टुकडा उनका इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। वह पूजी चाहे इन मजदूरो को अपनी श्रोर खींचे, चाहे किन्हीं श्रौर मजदूरो को, यदि वह परिमाण में केवल उन मजदूरो को ही मण्डी से निकाल ले जाने के लिये काफी है, जिनको मशीनो ने मण्डी में पटक दिया था, तो श्रम की सामान्य माग पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पडेगा। यदि यह पूजी इससे कम सख्या में मजदूरो को नौकर रखती है, तो फालतू मजदूरों की सख्या बढ़ जायेगी, यदि वह इससे अधिक सख्या में मजदूरो को नौकर रख लेती है, तो इन मजदूरों की सख्या "मुक्त कर दिये गये" मजदूरो की सख्या से जितनी ज्यादा होगी, श्रम की सामान्य माग में केवल उतनी ही वृद्धि होगी। अत अपने लिये कार्य-क्षेत्र तलाश करने वाली अतिरिक्त पूजी से किसी श्रौर परिस्थिति में श्रम की सामान्य मांग को जो बढ़ावा मिलता, उसका असर यहा पर हर हालत में उस हद तक खतम हो जायेगा, जिस हद तक कि मशीन मजदूरों को काम से जवाब दिलवा देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूजीवादी उत्पादन का यत्र ऐसा प्रबन्ध करता है कि पूजी की निरपेक्ष वृद्धि होने पर उसके साथ-साथ श्रम की सामान्य मांग में तदनुरूप वृद्धि नहीं होती। श्रौर वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाला अर्थशास्त्री कहता है कि इससे उन समस्त दु खो, यातनाश्रो श्रौर सम्भावित मौतों की क्षति-पूर्ति हो जाती है, जिनका पहाड विस्थापित मजदूरो पर सक्रमण काल में टूट पडता है, जब कि ये मजदूर उद्योगों से निकाले जाकर श्रौद्योगिक रिज़र्व सेना में भर्ती होने के लिये मजबूर कर दिये जाते है! श्रम की माग श्रौर पूजी की वृद्धि — ये दोनों एक चीज नहीं हैं, न ही श्रम की पूर्ति श्रौर मजदूर-वर्ग की वृद्धि एक चीज हैं, यहां ऐसा नहीं है कि दो स्वतत्र शक्तियां एक दूसरे पर प्रभाव डाल रही हों। *Les des dont pipés* (यहां तो पासा हमेशा एक के ही पक्ष में पडता है)। पूजी एक ही समय में दोनों तरफ अपने हाथ दिखाती है। यदि, एक श्रोर, उसके सचय से श्रम की मांग बढ़ जाती है, तो, दूसरी श्रोर, वह मजदूरों को "मुक्त करके" उनकी पूर्ति को बढ़ा देती है, श्रौर साथ ही बेकार मजदूरों का दबाव काम से लगे मजदूरों को पहले से अधिक श्रम करने के लिये मजबूर कर देता है

और इसलिये कुछ हद तक श्रम की पूर्ति को मजदूरो की पूर्ति से स्वतन्त्र कर देता है। इस आधार पर श्रम की पूर्ति और माग का नियम जिस तरह काय करता है, उससे पूजी की निरकुशता सम्पूर्ण हो जाती है। अत जसे ही मजदूरो को इस रहस्य का पता चलता है कि वे जितना अधिक काम करते हैं, दूसरो के लिये जितनी अधिक दौलत पदा करते ह और उनके श्रम की उत्पादकता जितनी अधिक बढती जाती है, पूजी के आत्म विस्तार के एक साधन के रूप में उनका काय किस तरह खुद उनके लिये ही उतना ज्यादा खतरनाक बनता जाता है, जसे ही मजदूरो को यह मालूम होता है कि खुद उनके बीच जो प्रतियोगिता चलती रहती है, उसकी तीव्रता की मात्रा पूरी तरह इस बात पर निभर करती है कि उनपर सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या का कितना दबाव पड रहा है, और इसलिये जसे ही वे अपने वर्ग को पूजीवादी उत्पादन के इस स्वाभाविक नियम के सत्यानाशी प्रभाव से मुक्त करने या उसके प्रभाव को कमजोर करने के लिये ट्रेड यूनियनो आदि के जरिये, काम से लगे मजदूरो और बेकार मजदूरो के बीच नियमित सहकारिता का सगठन करने का प्रयत्न करते ह, वैसे ही पूजी और उसका चाटुकार-अर्थशास्त्र-यह चिल्लाने लगते ह कि पूर्ति और माग के "शाश्वत" और मानो "पावन" नियम का उल्लघन किया जा रहा है। काम से लगे हुए मजदूरो और बेकार मजदूरों का प्रत्येक सहयोग इस नियम के "निर्विघ्न रूप से" काय करने में बाधा डालता है। मगर, दूसरी ओर, प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण (मिसाल के लिये, उपनिवेशो में) औद्योगिक रिजव सेना के निर्माण में बाधा पडती है और इसलिये मजदूर-वग पूरी तरह पूजीपति-वग के अधीन नहीं बनता, वसे ही पूजी, मय अपने मुसाहब अर्थशास्त्र के, पूर्ति और माग के इस "पावन" नियम के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और जोर-जबर्दस्ती तथा राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा उसको अमल में आने से रोकने की कोशिश करने लगती है।

अनुभाग ४—सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या के विभिन्न रूप। पूजीवादी सचय का सामान्य नियम

सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या हर सम्भव रूप में मिलती है। हर मजदूर, जिस समय वह केवल आशिक रूप से रोजगार से लगा होता है या पूरी तरह बेकार होता है, इसी श्रेणी में गिना जाता है। औद्योगिक चक्र की बदलती हुई अवस्थाए सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या पर अपनी छाप डालती ह। कभी सकट का काल आता है, तो वह बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है, फिर मदी का जमाना आता है, तो वह दीघ-स्थायी बन जाती है। पर यदि हम बार-बार सामने आने वाले इन व्यापक एव नियतकालिक रूपो की ओर ध्यान न दें, तो सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या हमेशा तीन रूपों में दिखाई देती है बहते हुए, अव्यक्त और निष्प्रवाह रूप में।

आधुनिक उद्योग के केंद्रों में—फक्टरियो, कारखानों, लोहे के कारखानों, खानों आदि में—कभी मजदूरो को काम से जवाब मिल जाता है, कभी पहले से बडी सख्या में फिर रख लिया जाता है, और इस तरह काम से लगे हुए मजदूरो की सख्या कुल मिलाकर बढ़ती जाती है, हालाकि उत्पादन के पैमाने के अनुपात में यह बराबर कम होती जाती है। यह अतिरिक्त जन-सख्या का बहता हुआ रूप होता है।

स्वसचालित फक्टरियो में और उसी भाति उन सभी बडी वर्कशापो में भी, जहा मशीनें व्यवस्था में प्रवेश कर गयी हैं या जहा केवल आधुनिक ढग का श्रम विभाजन होता है, लडकों को बहुत बडी सख्या में नौकर रखा जाता है। वे प्रौढ होने के समय तक वहा नौकर रहते हैं। जब एक बार यह अवस्था आ जाती है, तब उनमें से बहुत ही कम ऐसे होते ह, जिनको उद्योग की उन्हीं शाखाओ में काम मिलता है, और उनमें से अधिकतर को प्रौढ होते ही नियमित रूप से बर्खास्त कर दिया जाता है। इन मजदूरो का यह अधिकतर भाग बढती हुई अतिरिक्त जन-सख्या का भाग बन जाता है, जो उद्योग की इन शाखाओ के विस्तार के साथ-साथ परिमाण में बढता जाता है। उनमें से कुछ देश छोडकर चले जाते ह, वे वास्तव में देश छोडकर चली जाने वाली पूजी का ही अनुसरण करते ह। इसका एक नतीजा यह होता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो की आबादी ज्यादा तेजी से बढती है, जसा कि हम इगलैण्ड में देख सकते हैं। यह बात कि मजदूरो की सख्या में जो स्वाभाविक वृद्धि होती है, उससे पूजी के सचय की आवश्यकताए पूरी नहीं होतीं और फिर भी वह हमेशा उनसे ज्यादा रहती है,—यह विरोध स्वय पूजी की गति के भीतर निहित है। पूजी सदा लडको को पहले से बडी सख्या में और वयस्को को पहले से छोटी सख्या में नौकर रखना चाहती है। यह विरोध इस विरोध से अधिक भयानक नहीं है कि एक तरफ तो मजदूरो की कमी का रोना रोया जाता है और उसी के साथ-साथ, दूसरी तरफ, हजारो आदमी बेकार रहते ह, क्योंकि श्रम विभाजन उनको उद्योग की एक खास शाखा के साथ बाधे रखता है।[1]

इसके अलावा, पूजी इतनी तेजी के साथ श्रम शक्ति का उपभोग करती है कि मजदूर की आधी उम्र भी नहीं बीतने पाती, और उसका लगभग सारा सत निकल जाता है। तब वह या तो बेकारो की पात में शरीक हो जाता है और या सीढी पर नीचे उतरकर उसे पहले से निम्न स्तर का कोई काम करने के लिये मजबूर होना पडता है। सबसे कम आयु तक जिन्दा रहने वाले लोग हमें आधुनिक उद्योग के मजदूरो में ही मिलते ह। मानचेस्टर के स्वास्थ्य अफसर, डा० ली ने बताया कि "मानचेस्टर में मध्यवर्ग के लोगो की मत्यु औसतन ३८ वष की आयु में होती है, जब कि श्रमजीवी वग के लोग औसतन १७ वष की उम्र में ही मौत का शिकार हो जाते ह। लिवरपूल में मध्यवर्ग के लोग औसतन ३५ वष की आयु में और श्रमजीवी वग के लोग १५ वष की आयु में मर जाते ह। इससे प्रकट होता है कि खाते-पीते वर्गों की जीवन अवधि (a lease of life) कम भाग्यशाली नागरिकों की जीवन अवधि की दुगनी से भी अधिक होती है।"[2] ऐसी परिस्थिति में सर्वहारा के

---

[1] १८६६ के अन्तिम छ महीनों मे लन्दन के अस्सी-नब्बे हजार मजदूरों की रोजी छिन गयी थी, पर इसी छमाही की फैक्टरी रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि "यह कहना पूरी तरह सच नहीं प्रतीत होता कि माग हमेशा ठीक उसी समय पूर्ति को पैदा कर देती है, जिस समय उसकी आवश्यकता होती है। श्रम की पूर्ति इस तरह नहीं पैदा हो सकी है, क्योंकि पिछले वर्ष बहुत सारी मशीनें मजदूरों के अभाव के कारण बेकार पडी रही ह।" (*Rep of Insp of Fact 31st Oct 1866* [फैक्टरियों के इन्सपेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६६], पृ० ८१।)

[2] स्वास्थ्य-सम्मेलन, बिर्मिघम, १४ जनवरी १८७५ का उद्घाटन भाषण, शहर के मेयर और आजकल (१८८३ में) व्यापार-मंत्री के पद पर जे० चैम्बरलेन द्वारा।

इस हिस्से की सख्या में इस प्रकार की निरपेक्ष वृद्धि होनी चाहिये कि उसके अलग-अलग सदस्यो के बहुत तेजी से मरते खपते रहने के बावजूद इस हिस्से की कुल सख्या बराबर बढती जाये। इसलिये, जरूरी है कि बहुत जल्दी-जल्दी मजदूरो की एक पीढी का स्थान दूसरी पीढी लेती जाये (आबादी के अन्य वर्गों पर यह नियम लागू नहीं होता)। यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि मजदूरो के बच्चो का बहुत जल्दी विवाह हो जाता है। आधुनिक उद्योग में मजदूरो को जिन परिस्थितियो में रहना पड़ता है, उनका यह लाजिमी नतीजा होता है। दूसरे, यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि बच्चो के शोषण के परिणामस्वरूप मजदूरो को बच्चे पैदा करने में अपना फायदा दिखाई देने लगता है।

जैसे ही पूजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार कर लेता है, वैसे ही और जिस हद तक वह ऐसा करता है, उस हद तक खेतिहर श्रमजीवी जन सख्या की माग निरपेक्ष रूप से कम हो जाती है और, दूसरी ओर, खेती में लगी हुई पूजी का तेजी से सचय होने लगता है, परतु अन्य उद्योगो की तरह यहा पर मजदूरो के प्रतिकर्षण की आकर्षण की वृद्धि के द्वारा क्षति-पूर्ति नहीं होती। इसलिये खेतिहर आबादी का एक भाग हमेशा शहरी सर्वहारा में अथवा उद्योगो में काम करने वाले मजदूरो में सम्मिलित हो जाने को विवश होता है और इस रूपातरण के लिये अनुकूल परिस्थितिया खोजा करता है। (यहा पर उद्योगो से हमारा मतलब खेती के अलावा तमाम उद्योगो से है)।[1] इस प्रकार, सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या का यह स्रोत लगातार बहता रहता है। परतु शहरो की ओर लगातार जो धारा बहती रहती है, उसके लिये जरूरी है कि खुद देहात में हमेशा अव्यक्त अतिरिक्त जन-सख्या बनी रहे, जिसका विस्तार केवल उसी समय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जब इस धारा के द्वार असाधारण चौड़ाई तक खोल दिये जाते है। इसीलिये खेतिहर मजदूर को सदा कम से कम मजदूरी मिलती है, और उसका एक पर सदा कगाली के दलदल में फसा रहता है।

तीसरे प्रकार की सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या, निष्प्रवाह अतिरिक्त जन सख्या, सक्रिय श्रमिक सेना का ही एक भाग होती है, परतु उसको बहुत ही अनियमित रूप से काम मिलता है। अत उसके रूप में पूजी के लिये सदा उपलब्ध श्रम शक्ति का एक अक्षय भण्डार तैयार हो जाता है। इन श्रमिको का जीवन-स्तर मजदूर-वर्ग के औसत सामान्य जीवन-स्तर के नीचे गिर जाता है, और इस कारण श्रमिको का यह हिस्सा तुरत ही पूजीवादी शोषण की विशेष शाखाओ का व्यापक आधार बन जाता है। इस हिस्से की विशेष बात यह होती है कि उसे ज्यादा से

---

[1] १८६१ की जन गणना म इगलैण्ड और वेल्स के जिन ७८१ शहरो का जिक्र है, उनमें "१,०६,६०,६६८ व्यक्ति रहते थे, जब कि गावो में और देहाती बस्तियो के लोगो की सख्या ६१,०५,२२६ थी। १८५१ की जन गणना में ५८० शहरो का शहर के रूप में जिक्र किया गया था, और उनकी तथा इर्द गिर्द के देहात की आबादी लगभग बराबर थी। परन्तु उसके बाद के दस वर्षों म जहा गावो और देहात की आबादी में ५ लाख का इजाफा हुआ, वहा ५८० शहरो की आबादी मे पद्रह लाख (१५,५४,०६७) की वृद्धि हुई। देहाती बस्तियो की आबादी ६ ५ प्रतिशत बढ गयी, शहरो की आबादी १७ ३ प्रतिशत बढ गयी। वृद्धि की दर के इस अन्तर का कारण यह है कि लोग देहात छोडकर शहरो मे चले आये थे। आबादी मे कुल जितनी वृद्धि हुई है, उसका तीन चौथाई भाग शहरो की आबादी में का है।" (*Census &c* ['जन गणना, इत्यादि'], पृ० ११ और १२।)

ज्यादा देर तक काम करना पड़ता है और कम से कम मजदूरी मिलती है। इसके प्रधान रूप का हम 'घरेलू उद्योग' शीर्षक से पहले ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं। इस हिस्से में आधुनिक उद्योग और खेती के फालतू मजदूर बराबर भर्ती होते रहते हैं, उसमें खास तौर पर उद्योग की उन पतनोन्मुख शाखाओं के मजदूर भर्ती होते हैं, जिनमें दस्तकारी हस्तनिर्माण के सामने मिटती जा रही है और हस्तनिर्माण को मशीनें कुचलती जा रही हैं। जैसे-जैसे सचय के विस्तार और तेजी के साथ अतिरिक्त जन-संख्या बढ़ती जाती है, वैसे वैसे यह हिस्सा भी बढ़ता जाता है। परंतु इसके साथ-साथ मजदूर-वर्ग का यह एक ऐसा तत्व है, जो खुद अपना पुनरुत्पादन करता रहता है, जो अपने को हमेशा जिन्दा रखता है और जो मजदूर-वर्ग की सामान्य वृद्धि में उसके अन्य तत्वों की अपेक्षा ज्यादा बड़ा हिस्सा लेता है। सच पूछिये, तो न सिर्फ जन्म और मृत्यु की संख्या का, बल्कि परिवारों के निरपेक्ष आकार का भी मजदूरी की दर की ऊंचाई के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है, अर्थात् उनका अलग अलग कोटि के मजदूरों को जीवन निर्वाह के जो साधन मिलते हैं, उनकी मात्रा के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है। पूंजीवादी समाज का यह नियम जंगलियों के सम्बन्ध में और यहां तक कि सभ्य उपनिवेशियों के सम्बन्ध में भी बिल्कुल बेतुका प्रतीत होगा। उससे उन पशुओं के अथाधुंध और सीमाहीन पुनरुत्पादन की याद आती है, जिनमें से हरेक अलग अलग बहुत कमजोर होता है और इसलिये जो हमेशा दूसरे पशुओं के शिकार बनते रहते हैं।[1]

अंत में हम सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या की सबसे नीचे की तलछट पर आते हैं, जो कंगाली की दुनिया में रहती है। आवारा लोगों, अपराधियों, वेश्याओं और एक शब्द में कहें, तो "खतरनाक" वर्गों के अलावा समाज के इस स्तर में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक, वे, जो काम कर सकते हैं। इंगलैण्ड में कंगालों के आंकड़ों पर एक सतही नजर डालने पर भी यह बात साफ हो जाती है कि कंगालों की संख्या हर संकट के साथ बढ़ जाती है और व्यवसाय में नयी जान पड़ने पर हर बार घट जाती है। दूसरे, इस स्तर में अनाथ और मुहताज बच्चे शामिल होते हैं। ये औद्योगिक रिजर्व सेना में भर्ती होने के उम्मीदवार होते हैं, और जब बहुत समृद्धि का काल आता है, जैसा, मिसाल के लिये, १८६० में आया था, तब ये बहुत जल्दी से और बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों की सक्रिय सेना में भर्ती हो जाते हैं। तीसरे, इस स्तर में वे लोग आते हैं, जिनका मनोबल टूट चुका है, जो पतन के गर्त में बहुत गहरे गिर गये हैं और जो काम करने के अयोग्य हैं। ये बहुधा वे लोग होते हैं, जिनमें श्रम विभाजन के कारण यह क्षमता नहीं

---

[1] "गरीबी प्रजनन के लिये अनुकूल प्रतीत होती है" (ऐडम स्मिथ)। बल्कि रसिक और परिहास प्रिय पादरी गालियानी का तो यह तक विचार है कि यह एक विशेष रूप से बुद्धिमत्तापूर्ण ईश्वरीय विधान है। Iddio af che gli uomini che esercitano mestieri di prima utilità nascono abbondantemente ["इसी का यह नतीजा है कि जो लोग प्राथमिक उपयोगिता के धंधों में काम करते हैं, वे खूब बच्चे पैदा करते हैं"] (Galiani उप० पु०, प० ७८)। "तबाही यदि अकाल और महामारी की चरम सीमा तक बढ़ जाये, तो भी आबादी का बढ़ना रुकता नहीं, बल्कि उल्टे वह और बढ़ जाती है।" (S Laing, *National Distress*" [एस० लैंग, 'राष्ट्रीय विपत्ति'], 1844 पृ० ६६।) अपने कथन को आंकड़ों से प्रमाणित करने के बाद लैंग ने आगे लिखा है "यदि सभी लोगों को सुख और चैन से रहने का अवसर मिले, तो पृथ्वी शीघ्र ही जनहीन हो जायेगी।"

रहती कि जो काम उनको मिल सकता है, उसको कर सकें, और जो अपनी अक्षमता के सामने सिर झुका देते ह, ये वे लोग होते ह, जिनकी आयु मजदूर की सामान्य आयु से आगे निकल गयी है, इनमें उद्योग के मारे हुए लोग – अपग, रोगी, विधवाए आदि – भी शामिल होते हैं, जिनकी सख्या खतरनाक मशीनो, खानो, रासायनिक कारखानो आदि की वृद्धि के साथ-साथ बढती जाती है। कगाली सक्रिय श्रमिक सेना का अस्पताल और औद्योगिक रिजर्व सेना के गले का पत्थर होती है। सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या पैदा होती है, तो उसके साथ-साथ कगाल भी पैदा होते जाते ह। जैसे सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या का होना आवश्यक है, वसे ही कगालो का होना भी आवश्यक है। अतिरिक्त जन-सख्या के साथ-साथ कगाली का होना भी पूजीवादी उत्पादन की और धन के पूजीवादी विकास की एक आवश्यक शत है। यह पूजीवादी उत्पादन के faux frais (अनुत्पादक व्यय) का भाग है, परन्तु पूजी इस खर्च को – या उसके अधिकतर भाग को – अपने कधों से हटाकर मजदूर-वग के और निम्न मध्य वग के कधो पर डाल देने का तरीक़ा जानती है।

सामाजिक धन, कायरत पूजी, उसके विकास का विस्तार तथा तेजी और इसलिये सवहारा की निरपेक्ष सख्या तथा उसके श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ती जाती ह, औद्योगिक रिजव सेना का भी उतना ही विस्तार होता जाता है। जिन कारणो से पूजी के विस्तार की शक्ति बढती है, उन्हीं कारणो से पूजी के इस्तेमाल के लिये सदा तैयार रहने वाली श्रम शक्ति भी बढती जाती है। इसलिये, औद्योगिक रिजर्व सेना का सापेक्ष परिमाण धन की सभावी क्रिया शक्ति के साथ-साथ बढ़ता जाता है। परन्तु सक्रिय श्रमिक सेना के अनुपात में यह रिजव सेना जितनी बडी होती है, उतनी ही विशाल एक समेकित अतिरिक्त जन-सख्या तयार होती जाती है, जिसकी ग़रीबी उसकी मेहनत की यातना के प्रतिलोम अनुपात में होती है। और, अन्त में, मजदूर-वग का यह कगाल स्तर और औद्योगिक रिजर्व सेना जितने बडे होते हैं, सरकारी काग़ज़ो में उतने ही अधिक मुहताज दज होते हैं। यह पूजीवादी सचय का निरपेक्ष सामान्य नियम है। अन्य सभी नियमो की तरह यह नियम भी जब व्यवहार में आता है, तब उसमें ऐसी बहुत सी बातो के फलस्वरूप कुछ सशोधन हो जाता है, जिनका यहा विश्लेपण करने की जरूरत नहीं है।

अब अर्थशास्त्र के उन पण्डितो की मूखता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, जो मजदूरो से यह कहा करते हैं कि उनको अपनी सख्या को सदा पूजी की आवश्यकताओ के अनुरूप बनाते रहना चाहिये। पूजीवादी उत्पादन और सचय का यन्त्र तो स्थायी रूप से इस व्यवस्थापन को अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रभावित करता रहता है। इस अनुकूलन की पुस्तक का पहला शब्द यह है कि एक सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या अथवा औद्योगिक रिजव सेना पदा कर दी जाती है, उसका आखिरी शब्द है श्रमिको की सक्रिय सेना के लगातार बढ़ते हुए हिस्सो की ग़रीबी और उनके गले में लटका हुआ मुहताजी का पत्थर।

जिस नियम के अनुसार सामाजिक श्रम की उत्पादकता के विकास के फलस्वरूप उत्तरोत्तर कम मानव-शक्ति खच करके उत्पादन के साधनो की अधिकाधिक बडी मात्रा को गतिमान बनाना सम्भव होता है, वह नियम पूजीवादी समाज में, जहा मजदूर उत्पादन के साधनो से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मजदूर से काम लेते ह, बिल्कुल उल्टा रूप धारण कर लेता है। पूजीवादी समाज में यह नियम इस प्रकार व्यक्त होता है कि श्रम की उत्पादकता जितनी ज्यादा होती है, उत्पादन के साधनो पर मजदूरो का दबाव उतना ही बढ़ जाता है और इसलिये

मजदूरो के अस्तित्व की शर्त का पूरा होना उतना ही मुश्किल हो जाता है, अर्थात अपना श्रम शक्ति को दूसरे का धन बढ़ाने के लिये, या पूजी के आत्म विस्तार के लिये बेचना उनके लिये उतना ही कठिन हो जाता है। अत यह तथ्य कि उत्पादन के साधन और श्रम की उत्पादकता उत्पादक जन सख्या की अपेक्षा ज्यादा तेजी से बढ़ती है, पूजीवादी समाज म इस उल्टे रूप में व्यक्त होता है कि श्रमजीवी जन सख्या उन परिस्थितियो की अपेक्षा सदा ज्यादा तेजी से बढती है, जिनमें पूजी इस वृद्धि का अपने आत्म विस्तार के लिये उपयोग कर सकती है।

भाग ४ में सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का विश्लेषण करते हुए हमने यह देखा था कि पूजीवादी समाज के भीतर श्रम की सामाजिक उत्पादकता को बढाने के सारे तरीके अलग अलग मजदूर का गला काटकर अमल में आते है, उत्पादन का विकास करने के सारे साधन उत्पादको पर आधिपत्य जमाने तथा उनका शोषण करने के साधनो में बदल जाते ह, वे मजदूर का अग भग करके उसको मनुष्य का एक अपखण्ड बना देते ह, उसको किसी मशीन का उपाग मात्र बना देते है, मजदूर के लिये उसके काम का सारा आकर्षण खतम कर देते हैं तथा उसे एक घृणित श्रम में परिणत कर देते ह, जिस हद तक श्रम क्रिया में विज्ञान का एक स्वतत्र शक्ति के रूप में समावेश होता जाता है, उसी हद तक उत्पादन के विकास के ये साधन मजदूर को श्रम क्रिया की बौद्धिक क्षमताओ से दूर करते जाते है, मजदूर जिन परिस्थितियों में काम करता है, वे उनको विकृत कर देते ह, वे श्रम क्रिया के दौरान में मजदूर को एक ऐसी निरकुशता के आधीन बना देते ह, जो अपनी तुच्छता के कारण और भी अधिक घृणित होती है, वे उसके पूरे जीवन-काल को श्रम-काल में बदल देते ह और उसकी पत्नी और बच्चो को भी पूजी के रथ के नीचे कुचले जाने के लिये ला पटकते ह। लेकिन अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के सारे तरीके साथ ही सचय के भी तरीके होते है, और सचय का जब कभी विस्तार होता है, तो वह इन तरीको को और विकसित करने का साधन बन जाता है। अत इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस अनुपात में पूजी का सचय होता जाता है, उसी अनुपात में मजदूर की हालत,—उसको चाहे ज्यादा मजदूरी मिलती हो, चाहे कम,—बिगडती जाती है। अन्त में, यह नियम, जो सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या या औद्योगिक रिजर्व सेना का सचय के विस्तार और तेजी के साथ सदा सतुलन स्थापित किया करता है, मजदूर को पूजी के साथ इतनी मजबूती के साथ जड देता है, जितनी मजबूती के साथ वल्कन की बनायी हुई कील भी प्रोमीथियस को चट्टान के साथ नहीं जड सकी थीं। पूजी के सचय के साथ-साथ इस नियम के फलस्वरूप गरीबी का भी सचय होता जाता है। इसलिये, यदि एक छोर पर धन का सचय होता है, तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर,—यानी उस वर्ग के छोर पर, जो खुद अपने श्रम की पैदावार को पूजी के रूप में तयार करता है,—गरीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक पतन का सचय होता जाता है।

पूजीवादी सचय के इस आत्म विरोधी स्वरूप[1] की अर्थशास्त्रियो ने अनेक प्रकार से व्याख्या

[1] "De jour en jour il devient donc plus clair que les rapports de production dans lesquels se meut la bourgeoisie n ont pas un caractere un un caractere simple mais un caractere de duplicite que dans les memes rapports dans lesquels se produit la richesse la misere se produit aussi que dans les mêmes

की है, हालाकि वे लोग उसे बहुधा ऐसी घटनाओ के साथ गडवडा देते है, जो कुछ हद तक तो जरूर इस चीज से मिलती-जुलती है, पर फिर भी जो बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न कोटि की घटनाए होती है और जिनका सम्बध पूजीवाद से पहले की उत्पादन प्रणालियो से है।

वेनिस का सन्यासी ओर्तेस १८ वीं शताब्दी के महान अर्थशास्त्रियो में गिना जाता है। वह पूजीवादी उत्पादन के इस आत्म विरोधी स्वरूप को सामाजिक धन का सामान्य एव स्वाभाविक नियम मानता है। उसने लिखा है "किसी भी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था में अच्छी बातें और बुरी बातें सदा एक दूसरे का सतुलन कायम रखती है (il bene ed il male economico in una nazione sempre all, istessa misura) कुछ लोगो के पास धन की जितनी बहुतायत होती है, दूसरो के पास धन का ठीक उतना ही अभाव होता है (la copia dei beni in alcuni sempre eguale alla mancanza di essi in altri), थोडे से लोगो के पास यदि बेशुमार दौलत होती है, तो उसके साथ-साथ सदा बहुत से अन्य लोगो के पास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ का भी सर्वथा अभाव होता है। किसी भी राष्ट्र का धन उसकी जन-सख्या के अनुपात में होता है, और उसकी गरीबी उसके धन के अनुपात में होती है। कुछ लोगो की मेहनत दूसरो को काहिल बना देती है। गरीब और बेकार लोग धनी और सक्रिय लोगो का लाजिमी नतीजा होते है," इत्यादि, इत्यादि[1]। ओर्तेस के यह लिखने के

---

rapports dans lesquels il y a developpement des forces productives il y a une force productive de repression que ces rapports ne produisent la richesse bourgeoise c est a dire la richesse de la classe bourgeoise qu en aneantissant continuellement la richesse des membres integrants de cette classe et en produisant un proletariat toujours croissant ["दिन ब दिन यह बात अधिकाधिक स्पष्ट [illegible] है कि उत्पादन के जिन सम्बधो के भीतर पूजीपति वर्ग घूमता रहता है, उनका [illegible] अखण्ड और न ही सरल स्वरूप होता है, बल्कि उनका दोहरा स्वरूप होता है, [illegible] धन पैदा होता है, उतनी ही अधिक गरीबी भी पैदा होती जाती है, और [illegible] उत्पादन की शक्तियो का विकास होता है, उतना ही दमन पैदा करने वाली एक [illegible] का विकास होता जाता है, ये सम्बध पूजीवादी धन का, अर्थात पूजीपति वर्ग [illegible] उत्पादन करते हैं, तो केवल इसी तरह कि वे इस वर्ग के अलग-अलग [illegible] धन को लगातार नष्ट करते चलते है और एक ऐसे सर्वहारा को [illegible], जिसकी सख्या लगातार बढती जाती है।"] (Karl Marx, *Misere de la [illegible]sophie*, पृ० ११६।)

[1] G Ortes, *Della Economia Nazionale libri* [illegible] Custodi [illegible] मे, देखिये उसका Parte Moderna (आधुनिक भाग), ग्रथ [illegible] पृ० ६, ६- [illegible] २५ इत्यादि। इसी पुस्तक के पृ० ३२ पर ओर्तेस ने लिखा [illegible] fuoco di [illegible] sistemi inutili per la felicita de popoli mi limitero [illegible] della loro infelicita ("काल्पनिक व्यवस्थाए [illegible], जिनसे [illegible] सुखी बनाने मे जरा भी सहायता नही मिलेगी, मैं [illegible] अध्ययन करने तक ही सीमित रखूगा")।

लगभग दस वर्ष बाद अंग्रेजी चर्च के पादरी टाउनसेण्ड ने बड़ी ही क्रूरता का परिचय देते हुए धन की आवश्यक शर्त के रूप में ग़रीबी का गुणगान किया। उन्होंने लिखा "यदि (लोगों को) कानूनी ढंग से (श्रम करने के लिये) बाध्य किया जाये, तो उसमें बहुत परेशानी उठानी पड़ती है, जोर जबदस्ती करनी पड़ती है, और बहुत हो-हल्ला मचता है, परन्तु भूख न केवल शान्तिपूर्ण और खामोश ढंग से एक निरंतर दबाव का काम करती है, बल्कि यह उद्योग और परिश्रम करने की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रेरणा के रूप में लोगों से जबदस्त ढंग की मेहनत कराती है।" इसलिये, सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि किसी तरह मजदूर-वर्ग के लिये भूख को एक स्थायी चीज बना दिया जाये, और टाउनसेण्ड का खयाल है कि इसके लिये जन-संख्या के सिद्धांत ने, जो कि ग़रीबों में खास तौर पर सक्रिय रहता है, समुचित व्यवस्था कर दी है। उन्होंने लिखा है "मालूम होता है कि ग़रीबों का किसी हद तक अदूरदर्शी (improvident) होना भी प्रकृति का ही नियम है" (ग़रीब इसलिये अदूरदर्शी हैं कि वे किसी धनी के घर में नहीं पैदा हुए), "ताकि कुछ लोग हमेशा ऐसे भी हों (that there may always be some), जो समाज के सबसे नीचे, सबसे गंदे और सबसे ज्यादा जिल्लत वाले कामों को पूरा करें। इससे मानव-सुख के भण्डार (the stock of human happiness) की भारी वृद्धि हो जाती है, और अधिक सुकुमार (the more delicate) व्यक्तियों को न केवल कठिन परिश्रम से छुटकारा मिल जाता है, बल्कि अपनी अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार वे जिन धंधों के लिये उपयुक्त होते हैं, उनको उनका निर्बाध अनुसरण करने की स्वतंत्रता मिल जाती है संसार में भगवान तथा प्रकृति ने जो व्यवस्था कायम कर रखी है, यह (ग़रीबों का कानून) उसके माधुर्य एवं सौंदर्य को और उसकी समिति तथा व्यवस्था को नष्ट कर सकता है।"[1] यदि वेनिस का वह संन्यासी यह समझता था कि जिस नियति ने ग़रीबी को एक शाश्वत चीज

[1] *A Dissertation on the Poor Laws By a Well wisher of Mankind (The Rev J Townsend) 1786* ['ग़रीबों के कानूनों पर एक प्रबंध। मानवता के एक शुभचिन्तक (रेवरेंड जे० टाउनसेंड) द्वारा लिखित, १७८६'], १८१७ में लंदन में पुनः प्रकाशित, पृ० १५, ३९, ४१। इस "सुकुमार" पादरी की ऊपर उद्धृत की गयी रचना से तथा पुस्तिका '*Journey through Spain* ('स्पेन की यात्रा') से भी माल्थूस ने अक्सर पूरे के पूरे पृष्ठ नकल किये हैं, लेकिन खुद इस पादरी ने अपने मत का अधिकांश सर जेम्स स्टीवर्ट से उधार लिया है हालांकि उधार लेते हुए उसने उनके विचारों में हेर-फेर कर दिया है। मिसाल के लिये, स्टीवर्ट ने लिखा था कि "दास प्रथा में" (काम न करने वालों के हित में) "मानवता को मेहनती बनाने का तरीका था—जबदस्ती तब मनुष्यों से इसलिये जबर्दस्ती काम कराया जाता था" (यानी उनसे इस कारण दूसरों के हित में मुफ्त काम कराया जाता था) "कि वे दूसरों के दास थे, अब मनुष्यों को इसलिये काम करना पड़ता है" (यानी उनको इस कारण काम न करने वालों के हित में मुफ्त काम करना पड़ता है) "कि वे जरूरतों के दास होते हैं।' लेकिन यह लिखने के बाद स्टीवर्ट ने मुफ्त की खाने वाले उस मोटे पादरी की तरह इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला था कि मजदूरों को सदा उपवास करते रहना चाहिये। इसके विपरीत, उनकी इच्छा यह थी कि मजदूरों की जरूरतें बराबर बढ़ती जायें और उनकी जरूरतों की बढ़ती हुई संख्या से उनको "अधिक सुकुमार" व्यक्तियों के लिये श्रम करने की प्रेरणा मिलती रहे।

बना दिया है, उसी में ईसाइयो की दानवृत्ति, ब्रह्मचर्य, मठो श्रौर पवित्र स्थानो के ग्रस्तित्व का raison d'etre (श्रौचित्य) निहित है, तो यह धर्म याजक प्रोटेस्टेंट पादरी यह समझता है कि नियति के इस विधान के कारण उन तमाम क़ानूनो को अनुचित घोषित कर देना चाहिये, जिनके मातहत गरीबो को थोडी सी सावजनिक सहायता पाने का अधिकार मिल जाता था।

स्तोच ने लिखा है "सामाजिक धन बढता है, तो उससे समाज का यह उपयोगी वग उत्पन्न हो जाता है वह सब से ज्यादा थका देने वाले, सबसे गदे श्रौर सबसे अधिक घृणित काम करता है,—श्रौर सक्षेप में कहा जाये, तो जीवन में जो कुछ भी अरुचिकर श्रौर दासोचित है, उसे वह अपने कधो पर सभाल लेता है श्रौर इस प्रकार अन्य वर्गों के लिये अवकाश, चित्त की प्रसन्नता श्रौर चरित्र की रूढ़िगत (c'est bon!) [ख़ूब!] गरिमा को सम्भव बनाता है।"[1] उसके बाद स्तोच अपने से प्रश्न करते ह कि जब इस पूजीवादी सभ्यता के साथ-साथ इतनी गरीबी फैलती है श्रौर श्राम जनता का ऐसा पतन होता है, तब बबरता की तुलना में उसे प्रगति का सूचक क्यो समझा जाता है? इस प्रश्न का स्तोच के पास केवल एक ही जवाब है। वह यह कि पूजीवाद में मनुष्यो को सुरक्षा प्राप्त होती है!

सिस्मोदी ने लिखा है "उद्योग तथा विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप हरेक मजदूर उसके उपभोग के लिये जितना श्रावश्यक होता है, वह रोजाना उससे कहीं ज्यादा पदा कर सकता है। लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी है कि उसका श्रम वैसे तो धन पदा करता है, परन्तु इस धन का यदि वह खुद उपभोग करने लगे, तो वह उसको श्रम करने की योग्यता को पहले से कम कर देगा।" सिस्मोदी के विचार से, "लोग" (अर्थात काम न करने वाले) "सम्भवत कला के समस्त विकास श्रौर कारखानो की बनी तमाम चीजा के श्रानन्द से वचित रहना ही ज्यादा पसन्द करेगे, यदि इन चीजो के एवज में उन्हें मजदूरा की तरह लगातार मेहनत करनी पडे श्राजकल मेहनत श्रौर उसके मुश्रावजे के बीच में एक दीवार खडी हो गयी है। जो श्रादमी काम करता है, बाद को फिर वही श्रादमी श्राराम नहीं करता, बल्कि एक क्योकि काम करता है, इसलिये दूसरा श्राराम करता है अतएव श्रम की उत्पादक शक्तिया के लगातार बढ़ते जाने का केवल यही परिणाम हो सकता है कि जो काम नहीं करते, उन धनियो के विलास श्रौर भोग में वृद्धि होती जाये।"[2]

अन्त में, उस हृदयहीन पूजीवादी मतवादी, देस्तुत दे त्रेसी को सुनिये, जिसने साफ-साफ श्रौर दो-टूक कह दिया है कि "ग़रीब राष्ट्रो में जनता सुख से रहती है; धनी राष्ट्रो में वह श्राम तौर पर ग़रीबी का जीवन बिताती है।"[3]

---

[1] Storch, उप० पु०, ग्रथ ३, पृ २२३।

[2] Sismondi उप० पु०, पृ० ७९, ८०, ८५।

[3] Destutt de Tracy उप० पु०, पृ० २३१ Les nations pauvres c'est la ou le peuple est a son aise et les nations riches c'est la ou il est ordinairement pauvre

अनुभाग ५ – पूजीवादी सचय के सामान्य नियम के उदाहरण

(क) इगलैण्ड में १८४६ से १८६६ तक

पूजीवादी सचय का अध्ययन करने के लिये आधुनिक समाज का और कोई काल इतना उपयोगी नहीं है, जितना पिछले २० वर्ष का काल है। लगता है, जैसे इस काल को कहीं पर फोरचुनेटस की थली पडी हुई मिल गयी थी। लेकिन अन्य सब देशों की अपेक्षा सब से अच्छा उदाहरण फिर इगलैण्ड में ही मिलता है। वह इसलिये कि दुनिया की मण्डी में उसका सर्वप्रमुख स्थान है, वही एक ऐसा देश है, जहा पूजीवादी उत्पादन का पूर्ण विकास हुआ है, और अंतिम कारण यह कि १८४६ से वहा स्वतत्र व्यापार का स्वर्ण-युग कायम हो गया है, जिसके फलस्वरूप अप्रामाणिक अर्थशास्त्र का आख़िरी सहारा भी टूट गया है। इगलण्ड में उत्पादन ने जो प्रचण्ड प्रगति की है, – और उसमें भी इन बीस वर्षों के काल का उत्तरार्ध पूर्वार्ध से जिस तरह बहुत आगे निकल गया है, – उसकी ओर भाग ४ में पर्याप्त सकेत किया जा चुका है।

यद्यपि पिछले पचास वर्षों में इगलण्ड की जन-सख्या में बहुत बडी निरपेक्ष वृद्धि हुई है, तथापि उसकी सापेक्ष वृद्धि, या वृद्धि की दर, लगातार कम होती गयी है, जसा कि जन गणना से ली गयी निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है

इगलण्ड और वेल्स की जन सख्या
में हर वर्ष की औसत प्रतिशत वृद्धि
(दशकों के अनुसार)

१८११ – १८२१	१ ५३३	प्रतिशत
१८२१ – १८३१	१ ४४६	"
१८३१ – १८४१	१ ३२६	"
१८४१ – १८५१	१ २१६	"
१८५१ – १८६१	१ १४१	"

दूसरी ओर, यह देखिये कि धन में कितनी वृद्धि हुई है। यहा हमारी जानकारी का सबसे पक्का आधार है उन मुनाफों, जमीन के लगान आदि का उतार-चढाव, जिसपर आय-कर लगता है। इगलण्ड में जिन मुनाफों पर आय-कर लगता है (इनमें काश्तकारों और कुछ अन्य लोगों के मुनाफे शामिल नहीं ह), उनमें १८५३ और १८६४ के बीच ५० ४७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, जिसका वार्षिक औसत ४ ५८ प्रतिशत बठता है।[1] इसी काल में जन-सख्या की वृद्धि १२ प्रतिशत रही है। जमीन के जिस लगान या किराये पर कर लगता है (जिसमें मकानों, रेलों, खानों, मीन-क्षेत्रों आदि का लगान और किराया भी शामिल है), उसमें १८५३ से १८६४

---

[1] "*Tenth Report of the Commissioners of H M Inland Revenue* ('महामहिम सम्राट के कमिश्नरों की दसवी रिपोर्ट। अतर्देशीय आय'), London 1866 पृ० ३८।

तक ३८ प्रतिशत – या ३$\frac{५}{१२}$ प्रतिशत सालाना – की वृद्धि हुई थी। इस मद में सबसे अधिक वृद्धि निम्नलिखित कोटियो में हुई है

	१८५३ की अपेक्षा १८६४ में कितनी अधिक वार्षिक आय हुई	वार्षिक वृद्धि
मकान	३८ ६० प्रतिशत	३ ५० प्रतिशत
पत्थर की खानें	८४ ७६ "	७ ७० "
खानें	६८ ८५ "	६ २६ "
लोहे के कारखाने	३९ ९२ "	३ ६३ "
मीन क्षेत्र	५७ ३७ "	५ २१ "
गस के कारखाने	१२६ ०२ "	११ ४५ "
रेले	८३ २९ "	७ ५७ "[1]

यदि हम १८५३ से १८६४ तक के इस काल के चार-चार वर्षों के तीन चौकडो की एक दूसरे के साथ तुलना करें, तो हम पाते ह कि आय की वृद्धि की दर लगातार बढती जाती ह। मिसाल के लिये, मुनाफो से होने वाली आय में १८५३ से १८५७ तक हर साल १ ७३ प्रतिशत की, १८५७ से १८६१ तक २ ७४ प्रतिशत की और १८६१ से १८६४ तक ९ ३० प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। सयुक्तागल राज्य में आय कर की मद में आने वाली कुल आय १८५६ में ३०,७०,६८,८९८ पौण्ड, १८५९ में ३२,८१,२७,४१६ पौण्ड, १८६२ में ३५,१७,४५,२४१ पौण्ड, १८६३ में ३५,९१,४२, ८९७ पौण्ड, १८६४ में ३६,२४,६२,२७९ पौण्ड और १८६५ में ३८,५५,३०,०२० पौण्ड थी।[2]

पूजी के सचय के साथ-साथ उसके सकेन्द्रण और केन्द्रीयकरण की क्रियाए भी चलती रही थीं। यद्यपि इगलण्ड में खेती के कोई सरकारी आकडे नहीं ह (आयरलैण्ड में ह), तथापि १०

---

[1] उप० पु०, पृ० ३८।

[2] ये आकडे तुलना करने के लिये तो ठीक हैं, पर निरपेक्ष दृष्टि से वे झूठे हैं, क्योंकि हर साल शायद १०,००,००,००० पौण्ड की आय की सरकार को कोई सूचना नही मिलती। अन्तर्देशीय आय के कमिश्नर अपनी रिपोर्टों में हर बार सुनियोजित ढग से राज्य को ठगे जाने की शिकायत करते हैं और यह शिकायत करते हैं कि व्यापारी तथा औद्योगिक वग तो खास तौर पर ऐसा करते हैं। मिसाल के लिये, एक रिपोट में कहा गया है "एक सम्मिलित पूजी वाली कम्पनी ने अपने हिसाब मे दिखाया कि उसे ६,००० पौण्ड का ऐसा मुनाफा हुआ है, जिसपर आय कर लगना चाहिये, आपरीक्षक ने इस रकम को बढाकर ८८,००० पौण्ड कर दिया, और अन्त म कम्पनी ने इसी रकम के आधार पर कर दिया। एक और कम्पनी ने हिसाब मे १,९०,००० पौण्ड का मुनाफा दिखाया था, पर अत मे उसे यह स्वीकार करना पडा था कि असल में यह रकम २,५०,००० पौण्ड होनी चाहिये थी।" (उप० पु०, पृ० ४२।)

काउटियो में लोगो ने स्वेच्छा से खेती के आंकडे दिये हैं। इनसे पता चलता है कि १८५१ से १८६१ तक १०० एकड से कम के फार्मों की सख्या ३१,५८३ से कम होकर २६,५६७ रह गयी थी, जिसका मतलब यह है कि ५,०१६ फाम बडे फार्मों में मिल गये थे।[1] १८१५ से १८२५ तक १०,००,००० पौण्ड से अधिक की कोई व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति उत्तराधिकार कर की मद में नहीं आयी थी, लेकिन १८२५ और १८५५ के बीच ऐसी ८ भू-सम्पत्तिया और १८५६ तथा जून १८५९ के बीच, अर्थात् $४\frac{१}{२}$ वर्षों में, ऐसी ४ भू-सम्पत्तिया उत्तराधिकार कर की मद में आयीं।[2] लेकिन केन्द्रीयकरण का सबसे अच्छा उदाहरण १८६४ और १८६५ की आय-कर की अनुसूची D (फार्मों आदि के सिवा अन्य प्रकार के मुनाफो पर लगने वाला आय-कर) का सक्षिप्त विश्लेषण करने पर देखा जा सकता है। सबसे पहले म यह बता दू कि इस मद में ६० पौण्ड से अधिक की प्रत्येक आय को income tax (आय कर) देना पडता है। इगलण्ड, स्कोटलैण्ड और आयरलैण्ड में इस प्रकार की आयो का कुल जोड १८६४ में ६,५८,४४,२२२ पौण्ड और १८६५ में १०,५४,३५,५७९ पौण्ड था।[3] जिन व्यक्तियो पर कर लगा, १८६४ में उनकी कुल सख्या ३,०८,४१६ थी, जब कि देश की आबादी २,३८,९१,००९ थी, और १८६५ में उनकी सख्या ३,३२,४३१ थी, जब कि देश की आबादी २,४१,२७,००३ थी। नीचे की तालिका में दिखाया गया है कि इन दो वर्षों में इन आयो का बटवारा किस तरह हुआ था

	५ अप्रल १८६४ को समाप्त होने वाला वर्ष		५ अप्रल १८६५ को समाप्त होन वाला वर्ष	
	मुनाफो से होने वाली आय	व्यक्तियो की सख्या	मुनाफो से होने वाली आय	व्यक्तियो की सख्या
कुल आय	९,५८,४४,२२२ पौण्ड	३,०८,४१६	१०,५४,३५,७३८	३,३२,४३१
इसमें से	५,७०,२८,२८९ "	२३,३३४	६,४५,५४,२९७	२४,२६५
— " —	३,६४,१५,२२५ "	३,६१९	४,२५,३५,५७६	४,०२१
— " —	२,२८,०९,७८१ "	८३२	२,७५,५५,३१३	९७३
— " —	८७,४४,७६२ "	९१	१,१०,७७,२३८	१०७

[1] *Census, &c* (जनगणना आदि') खण्ड ३, पृ० २९। जान ब्राइट के इस कथन का आज तक खण्डन नही हुआ है कि १५० जमीदार आधे इगलैण्ड के मालिक ह और १२ जमीदार स्काटलैण्ड की आधी भूमि के स्वामी है।

[2] *Fourth Report &c of Inland Revenue* (महामहिम सम्राट के कमिश्नरो की चौथी रिपोट। अन्तर्देशीय आय), London 1860 पृ० १७।

[3] ये शुद्ध आय की रकमें है, अर्थात उनमें से कुछ ऐसी रकमें घटा दी गयी ह जिनको काट देने की कानूनी अनुमति मिली हुई है।

१८५५ में सयुक्तागल राज्य में ६,१४,५३,०७९ टन कोयला निकला था, जिसका मूल्य १,६१,१३,१६७ पौण्ड था, १८६४ में वहा ९,२७,८७,८७३ टन कोयला निकला, जिसका मूल्य २,३१,९७,९६८ पौण्ड था। सयुक्तागल राज्य में १८५५ में ३२,१८,१५४ टन अशुद्ध लोहा निकाला गया था, जिसका मूल्य ८०,४५,३८५ पौण्ड था, १८६४ में वहा ४७,६७,९५१ टन अशुद्ध लोहा निकाला गया, जिसका मूल्य १,१९,१९,८७७ पौण्ड था। १८५४ में सयुक्तागल राज्य में रेल की कुल जितनी लाइनें इस्तेमाल होती थीं, उनकी लम्बाई ८,०५४ मील थी, और उनमें २८,६०,६८,७९४ पौण्ड की चुकती पूजी लगी हुई थी, १८६४ तक रेलो की लम्बाई १२,७८९ मील हो गयी थी और चुकती पूजी ४२,५७,१९,६१३ पौण्ड पर पहुच गयी थी। १८५४ में सयुक्तागल राज्य के आयात और निर्यात का कुल जोड २६,८२,१०,१४५ पौण्ड था, १८६५ तक वह ४८,९९,२३,२८५ पौण्ड हो गया था। निर्यात की गति इस तालिका से स्पष्ट हो जाती है

१८४६ – ५,८८,४२,३७७ पौण्ड	१८६० – १३,५८,४२,८१७ पौण्ड
१८४९ – ६,३५,९६,०५२ "	१८६५ – १६,५८,६२,४०२ "
१८५६ – ११,५८,२६,९४८ "	१८६६ – १८,८९,१७,५६३ "[1]

इन चद उदाहरणो के बाद यह बात समझ में आ जाती है कि ब्रिटिश जनता के रजिस्ट्रार जनरल ने इतने विजयोल्लास के साथ यह क्यो कहा था कि "देश की जन सख्या तेजी से बढी है, पर वह उतनी तेज़ी से नहीं बढी है, जितनी तेज़ी से उद्योग और धन का विकास हुआ है।"[2]

आइये, अब इस उद्योग के प्रत्यक्ष अभिकर्ताओ, या इस धन के उत्पादको – अर्थात् मजदूर-वग – की ओर ध्यान दें। ग्लडस्टन ने कहा है "इस देश की सामाजिक अवस्था की यह एक सबसे अधिक शोचनीय विशेषता है कि जिस समय जनता की उपभोग करने की शक्तिया कम हो रही थीं और जिस समय श्रमजीवी वग तथा कारीगरो की गरीबी और कष्ट बढ रहे थे, उसी समय ऊपरी वर्गों में लगातार धन का सचय होता जा रहा था और उनकी पूजी लगातार बढती जा रही थी।"[3] इस बगुलाभगत मत्री ने १३ फरवरी १८४३ को हाउस आफ कामन्स में यह कहा था।

---

[1] इस समय, यानी माच १८६७ में, फिर हिन्दुस्तानी और चीनी मडिया अग्रेजी सूती सामान की गाठो से अटी हुई हैं। १८६६ मे सूती मिलो के कारीगरो की मजदूरी मे ५ प्रतिशत की कटौती हुई थी। १८६७ मे इसी प्रकार की एक कटौती के परिणामस्वरूप प्रेस्टन में २०,००० मजदूरो की हडताल भी हुई। [**चौथे जमन सस्करण का नोट** यह उस सकट की भूमिका थी, जो उसके शीघ्र बाद ही फट पडा। – **फ्रे० ए०**]

[2] *Census &c* ('जनगणना, आदि'), खण्ड ३, पृ० ११।

[3] १३ फरवरी १८४३ को हाउस आफ कामन्स मे ग्लैड्स्टन का भाषण। *The Times* 14th February 1843 ('टाइम्स', १४ फरवरी १८४३)। – "इस देश की सामाजिक अवस्था की यह एक सबसे अधिक शोचनीय विशेषता है कि हम आज यह देखते है और इसमें तनिक भी सन्देह की गुजाइश नही है कि जहा जनता की उपभोग करने की शक्तिया में इस समय कमी आ गयी है और गरीबी और कष्ट का दबाव बढता जा रहा है, वहा उसके साथ साथ ऊपरी वर्गो मे धन का लगातार सचय हो रहा है, उनकी भोग विलास की प्रवृत्तिया बढती जा रही है और उनके भोग विलास के साधना में वृद्धि हो गयी है।' (*Hansard* 13th February 1843 ['हैंसड', १३ फरवरी १८४३]।)

उसके बीस वर्ष बाद उसने १६ अप्रैल १८६३ को बजट पेश करते हुए अपने भाषण में यह कहा कि "१८४२ से १८५२ तक देश की कर लगाने योग्य आय में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई १८५३ से १८६१ तक के ८ वर्षों में वह १८५३ के आधार से २० प्रतिशत ऊपर उठ गयी! यह तथ्य इतना आश्चर्यजनक है कि उसपर सहसा विश्वास नहीं होता धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि पूरी तरह सम्पत्तिवान वर्गों तक सीमित है उससे श्रमजीवी जन-सख्या को अप्रत्यक्ष लाभ पहुचना चाहिये, क्योंकि इससे सामान्य उपभोग के माल सस्ते हो जाते हैं। इधर धनी अधिकाधिक धनी होते जा रहे हैं, उधर गरीबों की गरीबी कम होती जा रही है। बहरसूरत, मैं यह दावा नहीं करता कि दरिद्रता की चरम सीमाए कुछ कम हो गयी हैं।"[1] कहा तो ग्लैडस्टन इतने ऊंचे उड़ रहे थे और कहा यकायक इतने नीचे आ गिरे! यदि मजदूर वर्ग अब भी "गरीब" बना हुआ है, यदि उसकी गरीबी केवल उसी अनुपात में कम हुई है, जिस अनुपात में वह धनी वर्ग के लिये "धन और शक्ति की मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि" करता जाता है, तो जाहिर है कि सापेक्ष दृष्टि से वह अब भी उतना ही गरीब है। यदि गरीबों की चरम सीमाए पहले से कम नहीं हुई हैं, तो जाहिर है कि वे बढ़ गयी हैं, क्योंकि उधर धन की चरम सीमाए बढ गयी हैं। जहा तक जीवन-निर्वाह के साधनों के सस्ते होने का प्रश्न है, सरकारी आकड़ो से, मिसाल के लिये, London Orphan Asylum (लन्दन अनाथालय) के हिसाब से पता चलता है कि यदि १८६० से १८६२ तक के तीन वर्षों के औसत की १८५१-१८५३ के औसत से तुलना की जाये, तो दामों में १० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। अगले तीन साल में, यानी १८६३-६५ में, मांस, मक्खन, दूध, चीनी, नमक, कोयला और जीवन निर्वाह के कई अन्य आवश्यक साधनों के दाम उत्तरोत्तर बढते गये।[2] ग्लैड्स्टन ने अगला बजट पेश करने के समय, ७ अप्रैल १८६४ को, जो भाषण दिया, उसमें अतिरिक्त मूल्य कमाने की कला और "गरीबी" की चाशनी के साथ मिली हुई जनता की खुशी का महाकवि पिंडार जैसा प्रशस्ति-गान किया गया है। उसमें उन्होंने कंगाली के कगार पर खड़े जन-साधारण की चर्चा की है, व्यवसाय की उन शाखाओं का जिक्र किया है, जिनमें "मजदूरी नहीं बढी है," और अन्त में मजदूर-वर्ग की खुशी का निचोड़ इन शब्दों में पेश किया है "दस में से नौ आदमियों के लिए मानव-जीवन किसी तरह जिन्दा रहने के संघर्ष का नाम है।"[3] प्रोफेसर फौसेट को चूंकि ग्लैडस्टन की तरह

---

[1] १६ अप्रैल १८६३ को हाउस आफ कामन्स में ग्लैड्स्टन का भाषण। *Morning Star*, April 17th ('मार्निंग स्टार', १७ अप्रैल)।

[2] सरकारी प्रकाशन *Miscellaneous Statistics of the United Kingdom* ('संयुक्त राज्य के विविध आकड़े') में सरकारी विवरण देखिये, भाग ६, London 1866 पृ० २६०–२७३, विभिन्न स्थानों पर। अनाथालयों आदि के आकड़ो के बजाय यदि मंत्रियों की पत्रिकाओं के उन लेखों को पढ़ा जाये, जिनमें राजकुमारों और राजकुमारियों के विवाह के लिये दहेज की सिफारिश की गयी है, तो उनसे भी इस बारे में काफी जानकारी मिल सकती है। कारण कि इन लेखों में जीवन निर्वाह के साधनों की बढी हुई महंगाई को हमेशा ध्यान में रखा जाता है।

[3] ७ अप्रैल १८६४ को हाउस आफ कामन्स में ग्लैड्स्टन का भाषण। – *Hansard* में यह अंश इस प्रकार है "फिर – और यह बात और भी अधिक व्यापक रूप में सत्य है – ज्यादातर लोगों के लिये मानव-जीवन किसी तरह जिन्दा रहने के संघर्ष के सिवा और क्या है?" –

सरकारी हित अहित का कोई ख्याल नहीं था, इसलिये उन्होने साफ-साफ यह कह दिया है कि "जाहिर है, म इससे इनकार नहीं करता कि (पिछले दस वर्षों में) पूजी की जो वृद्धि हुई है, उसके फलस्वरूप नक़द मजदूरी में इजाफा हुआ है, लेकिन ऊपर से देखने में जो यह लाभ हुआ है, वह काफी हद तक बेकार साबित हुआ है, क्योंकि जीवन के लिये आवश्यक बहुत सी वस्तुए अधिकाधिक महगी होती जा रही ह" (प्रोफेसर फौसेट का ख्याल है कि बहुमूल्य धातुओ के मूल्य में गिराव आ जाने के कारण इन वस्तुओ के दाम बढते जा रहे ह) "धनी तेजी के साथ और भी धनी बनते जा रहे ह (the rich grow rapidly richer), जब कि औद्योगिक वर्गों की सुख-सुविधाओ में कोई प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती उनको (मजदूरो को) जिन व्यापारियो का कर्जा देना होता है, वे उनके एक तरह से गुलाम बन जाते हैं।"[1]

काम के दिन और मशीनो सम्बन्धी अध्यायो में पाठक देख चुके हैं कि ब्रिटिश मजदूर वर्ग ने किन परिस्थितियो में सम्पत्तिवान वर्गों के लिये "धन और सत्ता की मदोन्मत कर देने वाली वद्धि" की थी। वहा हमने मजदूर के केवल सामाजिक काय पर विचार किया था। लेकिन सचय के नियम का पूरी तरह स्पष्टीकरण करने के लिये हमें इसपर भी विचार करना चाहिये कि वकशाप के बाहर उसकी क्या हालत है और भोजन तथा निवास-स्थान की दृष्टि से उसकी क्या दशा है। स्थानाभाव के कारण हम यहा पर केवल औद्योगिक सवहारा के सबसे कम मजदूरी पाने वाले हिस्से पर, और खेतिहर मजदूरो पर ही विचार करेंगे, ये दोनो हिस्से मिलकर मजदूर-वग का अधिकाश हो जाते ह।

लेकिन उसके पहले दो शब्द सरकारी मुहताजो के बारे में, या मजदूर वग के उस भाग के बारे में कह दिये जायें, जो जिन्दा रहने की शर्त पूरी करने में (यानी अपनी श्रम शक्ति बेचने में) असमर्थ है और जो सावजनिक भीख के सहारे एडिया रगड रहा है। १८५५ में

ग्लैड्स्टन के १८६३ और १८६४ के बजट भाषणा मे जो इतनी सारी परस्पर विरोधी बात दिखाई देती है, उनके लिये एक अग्रेज लेखक ने बोयलियो (Boileau *Oeuvres* खण्ड १, London 1780, पृ० ५३) की निम्न पक्तिया उद्धृत की है

> Voila l homme en effet Il va du blanc au noir
> Il condamne au matin ses sentiments du soir
> Importun a tout autre a soi meme incommode
> Il change a tout moment d esprit comme de mode'

> ("यह देखो, वह इसान कि जो पल भर मे रग बदलता है।
> सध्या की अपनी बातो का प्रात ही खडन करता है।
> वन शील विनय की मूर्ति स्वय के हित का अनहित करता है।
> हर घडी बदलते फैशन सा मन को हर घडी बदलता है।)

(*The Theory of Exchanges &c*' ('मुद्रा के बाजारो का सिद्धान्त, इत्यादि'), London, 1864 पृ० १३५।)

[1] H Fawcett, उप० पु०, पृ० ६७-८२। जहा तक फुटकर दूकानदारो पर मजदूरो की बढती हुई निर्भरता का सम्बध है, वह इस बात का नतीजा है कि मजदूरो की नौकरी के मामले म अक्सर उतार-चढाव आता रहता है और बीच-बीच मे उनकी नौकरी छूट जाती है।

इगलैण्ड[1] में मुहताजो की सरकारी सूची में ८,५१,३६९ व्यक्ति दज थे, १८५६ में ८,७७,७६७ और १८६५ में ९,७१,४३३। कपास के अकाल के कारण १८६३ में उनकी सख्या बढ़कर १०,७९,३८२ और १८६४ में १०,१४,९७८ हो गयी थी। १८६६ के सक्ट का लदन पर सबसे अधिक भयानक प्रभाव पडा था। उसने ससार की मण्डी के इस केन्द्र में, जिसकी जन-सख्या पूरे स्कोटलण्ड राज्य की जन-सख्या से अधिक है, मुहताजो की सख्या को इतना ज्यादा बढ़ा दिया कि १८६५ की तुलना में १८६६ में उनकी तादाद १९.५ प्रतिशत अधिक हो गयी और १८६४ की तुलना में २४.४ प्रतिशत बढ गयी, और १८६६ की तुलना में १८६७ के शुरू के महीनो में तो मुहताजो की सख्या में और भी अधिक वद्धि हो गयी। मुहताजो के आकडो का विश्लेषण करने पर दो बातें सामने आती ह। एक तो यह कि मुहताजा की सख्या में जो उतार चढाव आता रहता है, उसमें औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवतन प्रतिबिंबित होते ह। दूसरी यह कि जसे-जसे पूजी के सचय के साथ-साथ वग सघर्ष का और इसलिये श्रमजीवियो की वग-चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वसे मुहताजो की वास्तविक सख्या के बारे में सरकारी आकडे अधिकाधिक भ्रामक बनते जाते ह। उदाहरण के लिये, पिछले दो साल से अग्रेजी पत्र-पत्रिकाए (*The Times* , *Pall Mall Gazette*" आदि) इसका बडा शोर मचा रही ह कि मुहताजो के साथ बबर व्यवहार किया जाता है, परतु असल में यह चीज बहुत पुरानी है। फ्रे० एगेल्स ने १८४४ में ठीक इन्हीं विभीषिकाओ का वणन किया था और उन्होंने बताया था कि उस जमाने में भी "सनसनीखेज खबरे" छापने वाले अखबारों ने कुछ समय के लिये इसी तरह का ढोंग रचा था और इन चीजो के बारे में बहुत शोर मचाया था। लेकिन पिछले दस वर्षों में लदन में "भूख से मर जाने वालो" ('deaths by starvation) की सख्या में जो भयानक वृद्धि हुई है, उससे इस बात में जरा भी सन्देह नहीं रहता कि मजदूरी पेशा लोग मुहताजखानो की दासता से, जहा लोगों को उनकी गरीबी की सजा दी जाती है, कितना डरते ह और उनका यह डर कितनी तेजी से बढता जा रहा है।[2]

(ख) ब्रिटिश औद्योगिक मजदूर-वग का बहुत कम मजदूरी पाने वाला हिस्सा

१८६२ के कपास के अकाल के दिनो में प्रिवी काउसिल ने डा० स्मिथ को लकाशायर और चेशायर के दुखी कारीगरो की पोषण सम्बधी स्थिति की जाच करने का काम दिया था। इसके पहले, अनेक वर्षों के निरीक्षण के बाद, डा० स्मिथ इस नतीजे पर पहुचे थे कि "भूख से जो बीमारिया पदा हो जाती ह (starvation diseases), उनको दूर रखने के लिये" जरूरी है कि औसत ढग की स्त्री के दनिक भोजन में कम से कम ३,९०० ग्रेन

---

[1] यहा वेल्स को हर जगह इगलैण्ड में शामिल कर लिया गया है।

[2] ऐडम स्मिथ के दिनो के मुकाबले म अब जमाना कितनी तरक्की कर गया है, इसका एक सबूत यह है कि ऐडम स्मिथ तक कभी-कभी "manufactory ("हस्तनिर्माणशाला') के लिये "workhouse" ('मुहताज-खाना') शब्द का प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिये, श्रम विभाजन सम्बधी अध्याय के शुरू म उन्होंने लिखा था "धधे की हर अलग अलग शाखा में काम करने वालो को अक्सर एक ही मुहताज-खाने में इकट्ठा किया जा सकता है।"

कार्बन और १८० ग्रेन नाइट्रोजन हो और औसत ढंग के पुरुष के दैनिक भोजन में कम से कम ४,३०० ग्रेन कार्बन और २०० ग्रेन नाइट्रोजन हो, इसका मतलब यह है कि स्त्रियों को उतने पोषक पदार्थ मिलने चाहिये, जितने २ पौण्ड वजन की गेहूं की अच्छी डबल रोटी में होते हैं, और पुरुषों के भोजन में उससे $\frac{१}{९}$ अधिक पोषक पदार्थ होने चाहियें, इस प्रकार, वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को सप्ताह में औसतन कम से कम २८,६०० ग्रेन कार्बन और १,३३० ग्रेन नाइट्रोजन मिलने चाहियें। डा० स्मिथ का यह अनुमान उस समय बड़े आश्चर्यजनक ढंग से व्यवहार में प्रमाणित हो गया, जब अभाव और दरिद्रता ने सूती मिलों के कारीगरों के उपभोग को कम करते-करते अल्पतम सीमा पर पहुंचा दिया और जब यह पता चला कि यह सीमा वही थी, जिसपर डा० स्मिथ अपने अध्ययन के फलस्वरूप पहुंचे थे। दिसम्बर १८६२ में सूती मजदूरों का औसत उपभोग प्रति सप्ताह २६,२११ ग्रेन कार्बन और १,२९५ ग्रेन नाइट्रोजन पर पहुंच गया था।

१८६३ में प्रिवी कौंसिल ने अंग्रेज मजदूर-वर्ग के सब से कम पोषण पाने वाले हिस्से की जांच करने का आदेश दिया। प्रिवी कौंसिल के मेडिकल अफसर डा० साइमन ने इस काम के लिये उपरोक्त डा० स्मिथ को चुना। उनकी जांच के क्षेत्र में एक तरफ यदि खेतिहर मजदूर आ गये थे, तो दूसरी तरफ वह रेशम की बुनाई करने वाले मजदूरों, सीने पिरोने का काम करने वाली औरतों, चमड़े के दस्ताने बनाने वालों, मोजे बनाने वालों, दस्ताने बनाने वालों और जूते बनाने वालों तक फैला हुआ था। मोजे बनाने वालों को छोड़कर ये तमाम औद्योगिक मजदूर शहरों के रहने वाले थे। जांच के लिये यह नियम बना लिया गया था कि प्रत्येक कोटि में से केवल सबसे अधिक स्वस्थ परिवारों को, जिनकी दशा औरों से अच्छी है, छांटा जायेगा।

और इस जांच का सामान्य परिणाम यह निकला कि "घर के अन्दर काम करने वाले कारीगरों की जितनी कोटियों की जांच की गयी, उनमें से केवल एक ही कोटि ऐसी थी, जिसको मात्र पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड (अर्थात जितनी नाइट्रोजन भूख से पैदा होने वाली बीमारियों को दूर रखने के लिये आवश्यक थी) से जरा सी अधिक नाइट्रोजन मिल जाती थी, एक और कोटि लगभग अनुमानित मानदण्ड तक पहुंच जाती थी और दो के पोषण में नाइट्रोजन और कार्बन दोनों की कमी थी—और एक कोटि के पोषण में तो ये दोनों तत्व बहुत ही कम थे। इसके अलावा, जहां तक उन खेतिहर परिवारों का सम्बंध है, जिनकी जांच की गयी, उनके बारे में यह पता चला कि उनमें से बीस प्रतिशत से अधिक को कार्बन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड से कम मिलता है, एक तिहाई से अधिक को नाइट्रोजन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड से कम मिलता है और तीन काउण्टियों (बर्कशायर, औक्सफोर्डशायर और सोमरसेटशायर) के औसत ढंग के स्थानीय भोजन में नाइट्रोजन वाले पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं होते।"[1] जहां तक खेतिहर मजदूरों का सम्बंध था, संयुक्तांगल राज्य के सबसे धनी भाग—यानी इंगलैण्ड—के खेतिहर मजदूरों को सबसे खराब भोजन मिलता था।[2] खेतिहर मजदूरों में अपर्याप्त भोजन का सबसे घातक प्रभाव मुख्यतया स्त्रियों और बच्चों पर पड़ता था, क्योंकि समझा जाता था कि "पुरुष को तो खाना ही चाहिये,

[1] *Public Health Sixth Report 1864* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० १३।

[2] उप० पु०, पृ० १७।

क्योकि उसे काम करना है।" जिन शहरी मजदूरो की जाच की गयी, उनकी हालत और भी खराब निकली। "इन लोगो को इतना बुरा भोजन मिलता है कि उनमें घोर अभाव के मारे हुए लोगा की सख्या निश्चय ही बहुत बडी होगी।"[1] (यह सब पूजीपति के "अभावा" का ही सूचक है! अर्थात उसके मजदूरो के केवल जिन्दा रहने के लिये जीवन निर्वाह के जितने साधन नितान्त आवश्यक है, पूजीपति उनको भी खरीदने के लिये अपने मजदूरो को काफी मजदूरी नहीं देता और "इस सुख से वचित रहता है"।)

डा० स्मिथ द्वारा निर्धारित अल्पतम मानदण्ड की तुलना में और सूती मिला के मजदूरों को सबसे ज्यादा मुसीबत के जमाने में जितना भोजन मिलता था, उसके मुकाबले में विशुद्ध रूप से शहरी में रहने वाले मजदूरो की ऊपर गिनायी गयी कोटियो को कितना पोषण मिलता था, यह नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जाता है

स्त्री और पुरुष दोनो	प्रति सप्ताह औसतन कितना कार्बन मिलता था	प्रति सप्ताह औसतन कितना नाइट्रोजन मिलता था
उन पाच धधो के मजदूरो को, जो मकानो के अन्दर बठकर किये जाते थे, कितना पोषण मिलता था	२८,८७६ ग्रेन	१,१९२ ग्रेन
लकाशायर के बेकार कारीगरो को कितना पोषण मिलता था	२८,२११ "	१,२९५ "
डा० स्मिथ के मतानुसार लकाशायर के कारीगरो को पोषण की कम से कम कितनी मात्रा मिलनी चाहिये थी (यह हिसाब पुरुषो और स्त्रियो की सख्या को बराबर मानकर लगाया गया था)	२८,६०० "	१,३३० "

जितने प्रकार के औद्योगिक मजदूरो की हालत की जाच की गयी, उनमें से आधा को, या $\frac{६०}{१२५}$ को, बियर की एक बूद भी नहीं मिलती थी, २८ प्रतिशत को दूध नहीं मिलता था। मजदूर-परिवारो को प्रति सप्ताह औसतन जितना द्रव पोषण मिलता था, उसकी मात्रा सबसे कम सीने पिरोने का काम करने वाली औरतो में थी, जिनको सात औंस द्रव पोषण मिलता था, और सबसे ज्यादा मोजे बनाने वाला में थी, जिनको २४$\frac{३}{४}$ औंस द्रव पोषण मिलता था। जिन्हें दूध नहीं मिलता था, उनका अधिकतर भाग लन्दन की सीने पिरोने का काम करने वाली औरतो का था। प्रति सप्ताह सब से कम रोटी का उपभोग सीने पिरोने का काम करने वाली औरतें करती थीं, जो औसतन केवल ७$\frac{३}{४}$ पौण्ड रोटी इस्तेमाल करती थीं,

[1] उप० पु०, पृ० १३।

[2] उप० पु०, परिशिष्ट, पृ० २३२।

और सबसे अधिक रोटी जूते बनाने वालो के यहा खर्च होती थी, जो औसतन $११\frac{१}{२}$ पौण्ड रोटी का हर हफ्ते उपयोग करते थे, यदि तमाम मजदूरो का औसत निकाला जाये, तो सप्ताह में एक वयस्क मजदूर ६६ पौण्ड रोटी का उपभोग करता था। चमडे के दस्ताने बनाने वाले सबसे कम शक्कर (शीरा, राब आदि की शकल में) खाते थे। वे प्रति सप्ताह ४ औंस शक्कर इस्तेमाल करते थे। मोजे बनाने वाले सबसे ज्यादा – ११ औंस शक्कर – इस्तेमाल करते थे। और सभी प्रकार के मजदूरो का औसत निकालने पर प्रति सप्ताह और प्रति वयस्क मजदूर का ८ औंस शक्कर का खर्च बठता था। मक्खन (चर्बी आदि) का औसत साप्ताहिक खर्च ५ औंस प्रति वयस्क मजदूर था। मास (सुअर का मास इत्यादि) के साप्ताहिक खर्च का औसत रेशम की बुनाई करने वालो में सबसे कम था – $७\frac{१}{४}$ औंस, और चमडे के दस्ताने बनाने वालो में सबसे ज्यादा था – $१८\frac{१}{४}$ औंस, विभिन्न प्रकार के तमाम मजदूरो का औसत निकाला जाये, तो हर वयस्क मजदूर प्रति सप्ताह १३६ औंस मास खच करता था। एक वयस्क मजदूर हर सप्ताह अपने भोजन पर कुल कितना पसा खच करता था, इसका औसत निकालने पर प्रत्येक कोटि के लिये निम्नलिखित सख्याए सामने आती हैं रेशम बुनने वाला २ शिलिंग $२\frac{१}{२}$ पेन्स खर्च करता था, सीने पिरोने का काम करने वाली औरत २ शिलिंग ७ पेंस, चमडे के दस्ताने बनाने वाला २ शिलिंग $९\frac{१}{२}$ पेन्स, जूते बनाने वाला २ शिलिंग $७\frac{३}{४}$ पेंस और मोजे बनाने वाला २ शिलिंग $६\frac{१}{४}$ पेन्स। मैक्लेजफील्ड के रेशम बुनने वाले मजदूरो में से प्रत्येक केवल १ शिलिंग $८\frac{१}{२}$ पेन्स प्रति सप्ताह भोजन पर खर्च करता था। सबसे खराब हालत सीने पिरोने का काम करने वाली औरतों, रेशम की बुनाई करने वालो और चमडे के दस्ताने बनाने वालो की थी।[1]

डा० साइमन ने सामान्य स्वास्थ्य की अपनी रिपोर्ट में इन तथ्यो की चर्चा करते हुए कहा है "जिस डाक्टर ने भी ग़रीबो के कानून के मातहत लोगो का इलाज किया है या जिसे अस्पतालो के वार्डों या बाह्य रोगी-कक्षो का थोडा बहुत अनुभव है, वह इस बात की पुष्टि कर सकता है कि बहुत से रोग दोषपूर्ण भोजन के कारण पैदा होते ह, या उग्र रूप धारण कर लेते ह परन्तु, मेरी राय में, यहा एक अत्यत महत्वपूर्ण सफाई सम्बधी सदर्भ को याद रखना जरूरी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भोजन के अभाव को लोग बहुत अनिच्छापूर्वक सहन करते ह, और आम तौर पर भोजन में कमी उस वक्त आती है, जब उसके पहले अन्य प्रकार के अभाव आ चुके होते ह। इसके बहुत पहले कि भोजन की कमी स्वास्थ्य की दृष्टि से चिता का विषय बन जाये और देहव्यापार विज्ञान विशारद नाइट्रोजन और कार्बन के उन कणो को गिनने की सोचें, जो जीवन और भुखमरी के बीच सीमा-रेखा

[1] उप० पु०, पृ० २३२, २३३।

का काम करते ह,—इसके बहुत पहले घर का सारा भौतिक सुख चला जाता है, कपड़े और ईंधन की कमी भोजन की कमी से भी ज्यादा भयानक रूप धारण कर लेती है, मौसम की निष्ठुरताओं से बचने के बहुत कम साधन रह जाते ह, रहने का स्थान इतना कम हो जाता है कि भीड के कारण बीमारिया पैदा होने या बढ़ने लगती हैं, घर का सारा फर्नीचर और बरतन भाडे चले जाते हैं, और यहा तक कि सफाई रखना भी बहुत महगा या बहुत मुश्किल काम प्रतीत होने लगता है,—और यदि इस हालत पर पहुच जाने के बाद भी आत्म-सम्मान सफाई रखने की कोशिश करता है, तो ऐसी हर कोशिश के लिये पेट और भी काटा जाता है। घर सब से कम किराये वाले मुहल्लो में लिया जाता है, ये वे मुहल्ले होते ह, जहां सफाई सम्बन्धी निरीक्षणो का सब से कम असर हुआ है, जहा गन्दे पानी की निकासी का सब से कम इन्तजाम है, जहा सब से कम सफाई होती है, जहा सार्वजनिक अनुत्रास को रोकने का सब से कम प्रबध है, जहा पानी का सब से कम या सब से खराब इन्तजाम है, और यदि शहर का मामला है, तो जहा सब से कम रोशनी और हवा मयस्सर होती है। जब गरीबी इस हद तक पहुच जाती है कि खाने की तंगी होने लगती है, तब स्वास्थ्य के लिये इन तमाम खतरो का पैदा हो जाना लगभग अनिवार्य हो जाता है। और जहा ये सारे खतरे मिलकर जिन्दगी के लिये एक बहुत भयानक चीज बन जाते ह, वहा अकेली भोजन की कमी ही अत्यन्त चिन्ताजनक बात होती है ये बाते ऐसी ह, जिनके बारे में सोचकर बहुत दुख होता है, —खास तौर पर इसलिये कि यहा जिस गरीबी की चर्चा है, वह काहिला की गरीबी नहीं है, जिसका अपना औचित्य होता है। यह तो हर जगह मेहनत करने वालो की गरीबी है। सच पूछिये, तो जहा तक मकानो के अन्दर बैठकर काम करने वालो का सम्बन्ध है, सब से कम भोजन प्राय उन लोगो को मिलता है, जिनको सब से ज्यादा देर तक काम करना पडता है। जाहिर है कि इस तरह के काम को केवल एक सीमित अर्थ में ही आत्म निर्भर व्यक्तियो का काम समझा जा सकता है और यह नाम-मात्र की आत्म निर्भरता प्राय मुहताजी के सक्षिप्त या लम्बे मार्ग का ही काम करती है।"[1]

मजदूर-वर्ग के सब से ज्यादा मेहनती हिस्सों की भुखमरी और पूजीवादी सचय पर आधारित, धनी लोगो के असस्कृत अथवा सुसस्कृत अपव्ययी उपभोग के बीच जो अन्तरग सम्बध होता है, वह हमें केवल उसी समय दिखाई देता है, जब हमें आर्थिक नियमो का ज्ञान होता है। "गरीबो के रहने की व्यवस्था" की बात दूसरी है। जिसमें पूर्वाग्रह नहीं है, ऐसा प्रत्येक पर्यवेक्षक जानता है कि उत्पादन के साधनो का जितना अधिक केन्द्रीयकरण होता है, मजदूरो की उतनी ही बडी सख्या को थोडे से स्थान के भीतर भर दिया जाता है, और पूजीवादी सचय जितनी तेजी से होता है, मेहनत करने वालो के रहने के मकान उतने ही खराब होते ह। धन की वृद्धि होने के साथ-साथ जब शहरो का "सुधार" (improvements) किया जाता है—बेढगे मकानो को गिरा दिया जाता है, बैको, गोदामो आदि के लिये महल खडे किये जाते ह, व्यावसायिक यातायात के लिये, धनियो की बडी-बडी गाडियो और ट्राम-गाडियों आदि के लिये सडकें चौडी की जाती ह,—तब गरीबो को उनके बुरे घरो से निकालकर और भी बुरे तथा और भी अधिक भीड से भरे बिलो में छिपने के लिये मजबूर कर दिया जाता है। दूसरी ओर, हर कोई जानता है कि मकानो का किराया उनकी अच्छाई के प्रतिलोम अनुपात

[1] उप० पु०, पृ० १४, १५।

में होता है, और मकान किराये पर उठाकर लोगो को लूटने वाले गरीबी की खानो से जितना कम खर्च करके जितना ज्यादा मुनाफा कमाते ह, उतने कम खर्च से उतना ज्यादा मुनाफा पोतोसी की चादी की खानो के मालिक भी नहीं कमा पाते थे। पूजीवादी सचय का आत्म विरोधी स्वरूप और इसलिये आम तौर पर पूजीवादी सम्पत्ति-सम्बधो का भी आत्म विरोधी स्वरूप[1] यहा इतने स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है कि इस विषय की सरकारी रिपोर्टें तक "सम्पत्ति तथा उनके अधिकारो" की तीव्र एव परम्पराद्रोही आलोचनाओ से भरी हुई ह। उद्योग के विकास, पूजी के सचय और शहरो के विकास तथा "सुधार" के साथ-साथ यह बुराई ऐसा भयानक रूप धारण कर लेती है कि १८४७ और १८६४ के बीच केवल छूत की बीमारियो के डर से, जो कि "सभ्रात लोगो" को भी नहीं छोडती ह, ससद ने सफाई के बारे में कम से कम १० क़ानून बनाये और लियरपूल, ग्लासगो आदि कुछ शहरो के सहमे हुए पूजीपतियो ने अपनी नगर-पालिकाओ के जरिये जोरदार क़दम उठाये। फिर भी डा० साइमन ने अपनी १८६५ की रिपोट में कहा है "यदि मोटे तौर पर देखा जाये, तो हम कह सकते ह कि इगलड में इन बुराइयो पर कोई नियत्रण नहीं है।" १८६४ में प्रिवी काउसिल के आदेश पर खेतिहर मजदूरो के रहने के स्थानो की जांच की गयी, १८६५ में शहरो के ज्यादा ग़रीब वर्गों के रहने के घरो की जाच की गयी। डा० जूलियन हण्टर के इस प्रशसनीय काय के निष्कर्ष हमें *Public Health*' ('सार्वजनिक स्वास्थ्य') की सातवीं (१८६५) और आठवीं (१८६६) रिपोर्टों में मिलते हैं। खेतिहर मजदूरो का म बाद को जिक्र करूगा। शहरी मजदूरो की क्या हालत थी, इसके विषय में मं पहले डा० साइमन की एक सामान्य टिप्पणी उदधृत करूगा। उन्होंने लिखा है "यद्यपि मेरा सरकारी दृष्टिकोण केवल भौतिक बातो से ही सम्बध रखता है, तथापि साधारण मानवता का तकाजा है कि इस बुराई के दूसरे पहलुओ को अनदेखा न किया जाये जब रहने के घरो में बहुत ज्यादा भीड हो जाती है, तब उसके परिणामस्वरूप अनिवाय रूप से सारा सकोच इस बुरी तरह खतम हो जाता है, देहो और दहिक व्यापारो की ऐसी अशोभनीय गडबड पदा हो जाती है और दहिक एव लगिक नग्नता का ऐसा उद्घाटन होता है कि उसे मनुष्योचित न कहकर पाशविक कहना ज्यादा सही होगा। ऐसे घातक प्रभावो से प्रभावित होना पतन के गढे में गिर जाना है, और जिनपर ये प्रभाव लगातार काम करते रहते ह, उनके लिये यह गढा अधिकाधिक गहरा होता जाता है। जो बच्चे ऐसे घरो में पदा होते ह, वे बहुधा जन्म लेते ही इस गढ़े में गिर पडते ह। और यदि कोई यह चाहता है कि ऐसी परिस्थितियो में रहने वाले व्यक्ति अन्य बातो में कभी सभ्यता के उस वातावरण तक पहुचने की चेष्टा करेंगे, जिसका मूल शारीरिक एव नतिक स्वच्छता है, तो उसके मन की इच्छा हरगिज-हरगिज पूरी नहीं हो पायेगी।""

---

[1] "श्रमजीवी वग के रहने के स्थानो के सम्बन्ध मे जैसे ऐलानिया ढग से और जितनी बेशर्मी के साथ सम्पत्ति के अधिकारा की वेदी पर व्यक्तियों के अधिकारो का बलिदान किया गया है, वैसा अन्यत्र कही नही हुआ। हर बडे शहर को नर-बलि देने का स्थान समझा जा सकता है, जहा लोभ के देवता की भेंट के रूप में हजारा को हर साल आग में जलना पडता है।" (S Laing, उप० पु०, पृ० १५०।)

- *Public Health eighth report 1866* ('सावजनिक स्वास्थ्य की आठवी रिपोट, १८६६'), पृ० १४, नोट।

भीड से भरे हुए ऐसे घरो के मामले में, जो इनसानो के रहने के लिये सवथा अनुपयुक्त ह, पहला नम्बर लन्दन का है। डा० हण्टर ने लिखा है "दो बातें बिल्कुल स्पष्ट ह। एक यह कि लन्दन में लगभग दस-दस हजार व्यक्तियो की कोई २० ऐसी बडी-बडी बस्तिया हैं, जिनकी हालत इतनी खराब है कि वैसी हालत मने इगलण्ड में और कहीं नहीं देखी, और वह लगभग पूणतया रहने के बुरे स्थानो के कारण है। दूसरी बात यह है कि २० वष पहले की तुलना में आज इन बस्तियो के घरो में कहीं ज्यादा भीड है और वे कहीं अधिक टूट फट गये ह।"[1] "कोई अतिशयोक्ति न होगी, यदि हम यह कहे कि लन्दन और न्यूकसल के कुछ हिस्सो में लोग नरक का जीवन बिताते ह।"[2]

इसके अलावा, लन्दन का जितना "सुधार" होता जाता है, उसकी पुरानी सडके और मकान जितने नष्ट होते जाते ह, राजधानी में कारखानो की सख्या तथा मनुष्यो की भीड जितनी बढती जाती है और, अन्त में, भूमि के लगान के साथ-साथ मकानो का किराया जितना ज्यादा होता जाता है, उतना ही वहा के मजदूर-वग का अपेक्षाकृत खाता-पीता भाग तथा छोटे दूकानदार और निम्न मध्य वग के अन्य तत्व भी रहने के घरो के मामले में इसी प्रकार की नारकीय परिस्थितियो के शिकार होते जाते हैं। "किराये इतने बढ गये ह कि मेहनत करने वाले बहुत कम आदमी ऐसे हैं, जो एक से ज्यादा कमरे किराये पर ले सकते हैं।"[3] लन्दन में लगभग कोई मकान ऐसा नहीं है, जिसके ऊपर कई एक *middlemen*" ('बिचवइयो") का बोझा न हो। कारण कि लन्दन में जमीन का दाम उसकी वार्षिक आय की तुलना में हमेशा बहुत ज्यादा होता है और इसलिये हर खरीदार यह सट्टा लगाता है कि कुछ समय बाद वह जमीन के लिये जूरी के दाम (jury price) वसूल करने में कामयाब हो जायेगा (जब जमीन पर जबदस्ती अधिकार कर लिया जाता है, तब जूरी उसका दाम निर्धारित करती है) या पडोस में कोई बडा कारखाना बन जाने के कारण जमीन के मूल्य में असाधारण वृद्धि हो जायेगी। इसका नतीजा यह हुआ है कि "पट्टो के अन्तिम अशो" को खरीदने का बाकायदा एक व्यापार चल पडा है। "जो भद्र लोग यह धधा करते ह, वे जो कुछ करते ह, उनसे उसी की आशा की जानी चाहिये–जब तक कियायेदार उनकी मुट्ठी में

[1] उप० पु०, पृ० ८६।–इन वस्तियो के बच्चो का जिक्र करते हुए डा० हण्टर ने लिखा है "गरीबो की घनी बस्तियो के इस युग के आरम्भ होने के पहले बच्चो को किस तरह पाला जाता था, यह बताने वाला अब कोई जिन्दा नही है। और बच्चो की इस मौजूदा पीढी से, जो ऐसी परिस्थितियो में बडी हो रही है, जैसी परिस्थितिया इस देश मे पहले कभी नही देखी गयी थी, जो आधी आधी रात तक हर उम्र के अधनगे, नशे मे चूर, गदी बातें करने वाले झगडालू व्यक्तियो के साथ बैठी रहती है और जो इस तरह भविष्य मे "खतरनाक वर्गों" में अपनी गिनती कराने के लिये अभी से शिक्षा प्राप्त कर रही है,–इस पीढी से भविष्य म किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जानी चाहिये, अभी से यह बताने के लिये भविष्यवक्ता होने की आवश्यकता नहीं है।" (उप० पु०, प० ५६।)

[2] उप० पु०, पृ० ६२।

[3] *Report of the Officer of Health of St Martins in the Fields 1865* ('सेंट मार्टिन्स इन दि फील्ड्स के स्वास्थ्य अफसर की रिपाट, १८६५')।

रहते हैं, तब तक वे उनसे जितना वसूल कर सकते हैं, करते हैं और अपने उत्तराधिकारियों के वास्ते कम से कम उनके पास छोडते हैं।"[1]

किराया हफ्तेवार वसूला जाता है, इसलिये इन भद्र पुरुषो को इसका कोई खतरा नहीं रहता कि उसका किराया मारा जायेगा। शहर में रेल की लाइनें बिछ जाने के कारण लन्दन के पूर्वी भाग में हाल में "यह दृश्य देखने में आया है कि शनिवार की रात को बहुत से परिवार अपने इने गिने सामान की पोटली सिर पर रखे हुए इधर-उधर घूम रहे हैं और सिवाय मुहताजखाने के और कोई स्थान उनके सिर छिपाने के लिये नहीं है।"[2] मुहताजखानो में पहले से ही भीड लगी हुई है, और ससद जिन "सुधारो" की अनुमति दे चुकी है, वे अभी आरम्भ ही हुए हैं। यदि मजदूरो के पुराने घर गिरा दिये जाते हैं, तो वे अपने पुराने मुहल्लो को छोडते नहीं, ज्यादा से ज्यादा वे उसकी सीमा पर जाकर बस जाते हैं और यथासम्भव उसके नजदीक ही रहते हैं। "जाहिर है कि वे अपने कारखानो के ज्यादा से ज्यादा नजदीक रहने की कोशिश करते हैं। एक मुहल्ले के रहने वाले उस मुहल्ले के या अधिक से अधिक अगले मुहल्ले के आगे नहीं जाते और दो कमरो के बजाय एक-एक कमरे में ही रहना शुरू कर देते हैं, और यहा तक कि एक कमरे में भी काफी सारे लोग रहने लगते हैं विस्थापित लोगो को पहले से ज्यादा किराया देने पर भी वैसा घर नहीं मिलता, जैसा कि मामूली सा घर वे छोड आये हैं स्ट्रैण्ड के आधे मजदूरो को काम पर जाने के लिये दो-दो मील पैदल चलना पडता है।"[3] यही स्ट्रैण्ड लन्दन की एक मुख्य और बडी सडक है, जिसको देखकर आगन्तुक लन्दन की समृद्धि से सहज ही प्रभावित हो जाता है, पर यह इस बात का भी एक अच्छा उदाहरण है कि इस शहर में इनसानो को कैसे ठसाठस भर दिया गया है। स्वास्थ्य-अफसर ने हिसाब लगाया था कि इस सडक के एक मुहल्ले में ५८१ व्यक्ति प्रति एकड भरे हुए हैं, हालांकि टेम्स नदी का आधा पाट भी इस हिसाब में शामिल है। यह बात स्वत स्पष्ट है कि सफाई का प्रत्येक ऐसा क़दम, जो रहने के अयोग्य मकानो को गिराकर मजदूरो को एक मुहल्ले से भगा देता है,—और लन्दन में अभी तक यही होता रहा है,—उसका महज यही नतीजा होता है कि किसी और मुहल्ले में मजदूरो की और भी ज्यादा भीड हो जाती है। डाक्टर हण्टर ने लिखा है "या तो यह क्रिया एक बेहूदगी होने के नाते अपने आप बन्द हो जायेगी और या जनता की दया (!) प्रभावपूर्ण ढग से बढ़ जायेगी और वह इस जिम्मेदारी को समझेगी—जिसे अब बिना किसी अतिशयोक्ति के राष्ट्रीय जिम्मेदारी कहा जा सकता है—कि जिन लोगो के पास पूजी नहीं है और जो इस कारण खुद अपने लिये आश्रय का प्रबध नहीं कर सकते, पर जो अपने आश्रयदाताओ को क़िस्तो के रूप में पुरस्कृत कर सकते हैं, उनके लिये आश्रय का प्रबध करना समाज का काम है।"[4] लीजिये, इस पूजीवादी न्याय की प्रशसा कीजिये! जब जमीन के मालिक की, मकान के मालिक की या व्यवसायी आदमी की सम्पत्ति "नगर-सुधार" के लिये,—जैसे रेल की लाइन

[1] *Public Health eighth report 1866* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की आठवी रिपोर्ट, १८६६'), पृ० ९१।

[2] उप० पु०, पृ० ८८।

[3] उप० पु०, पृ० ८८।

[4] उप० पु०, पृ० ८९।

बिछाने के लिये, या नयी सड़कें वग़ैरह बनाने के लिये, – छीन ली जाती है, तो उसको न सिर्फ़ पूरा मुआवज़ा मिलता है, बल्कि मानव एवं ईश्वरीय नियम का यह भी तक़ाज़ा है कि उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल जो "परित्याग" करना पड़ा है, उसके एवज़ में उसे मोटे मुनाफ़े के द्वारा दिलासा भी दिया जाये। पर मज़दूर को उसके बाल-बच्चों और चीज़-बसत के साथ सड़क पर फेंक दिया जाता है, और यदि वह उन मुहल्लों में भीड़ बढ़ाता है, जहां मर्यादा का पालन करना आवश्यक होता है, तो सफ़ाई के नाम पर उसके विरुद्ध क़ानूनी कारवाई की जाती है।

१९ वीं सदी के शुरू में लन्दन को छोड़कर इंगलैण्ड में १,००,००० निवासियों का एक भी शहर नहीं था। केवल ५ शहरों में ५०,००० से ज़्यादा आबादी थी। अब २८ शहर ऐसे हैं, जिनकी आबादी ५०,००० से अधिक है। "इस परिवर्तन का फल यह हुआ है कि न केवल शहरी लोगों के वर्ग में भारी वृद्धि हो गयी है, बल्कि पुराने, बहुत घने बसे हुए छोटे-छोटे क़स्बे अब केन्द्रीय भाग हो गये हैं और उनके इर्द गिर्द हर तरफ़ मकान बन गये हैं, इस तरह इन पुराने केन्द्रों में ताज़ा हवा आने के लिये कोई रास्ता नहीं रह गया है। अब उनमें रहना धनियों को अच्छा नहीं लगता, इसलिये वे उनको छोड़ छोड़कर शहरों के बाहरी छोर के अधिक सुखकर स्थानों में बसते जा रहे हैं। इन धनियों के स्थान पर जो लोग रहने को आये हैं, वे इन बड़ी-बड़ी हवेलियों में प्रति परिवार एक कमरे के हिसाब से रहते हैं (और साथ ही दो या तीन किरायेदार भी अपने साथ रख लेते हैं)। इस तरह एक ऐसी आबादी वहां बस गयी है, जिसके लायक ये मकान नहीं हैं और न ही जिसके लिये ये बनाये गये थे। और यह आबादी ऐसे वातावरण में रहती है, जो वयस्कों को सचमुच पतन के गढ़े में ढकेल देता है और बच्चों को चौपट कर देता है।"[1] किसी औद्योगिक अथवा व्यापारी नगर में जितनी तेज़ी के साथ पूंजी का संचय होता है, शोषण-योग्य मानव-सामग्री भी उतनी ही तेज़ी के साथ बह बहकर उस नगर में आने लगती है और इन मज़दूरों के रहने के लिये जल्दी-जल्दी जो प्रबंध किया जाता है, वह उतना ही अधिक ख़राब होता जाता है।

नरक जैसे घरों के मामले में लन्दन के बाद दूसरा नम्बर टाइन-नदी-के-तट-पर स्थित न्यूकैसल का है, जो कोयले और लोहे के एक ऐसे क्षेत्र का केन्द्र है, जहां उत्पादिता बराबर बढ़ती जा रही है। यहां कम से कम ३४,००० व्यक्ति एक एक कोठरी में रहते हैं। न्यूकैसल और गेटसहेड में अधिकारियों ने मकानों की एक बड़ी संख्या को गिरवा दिया है, क्योंकि उनसे पूरी बस्ती के लिये ख़तरा पैदा हो गया था। नये मकान बन रहे हैं, परन्तु बहुत धीरे धीरे, जब कि व्यवसाय बड़ी तेज़ी से तरक्की कर रहा है। चुनांचे १८६५ में इस शहर में ऐसी ज़बर्दस्त भीड़ थी, जैसी इसके पहले कभी नहीं देखी गयी थी। एक भी कोठरी किराये के लिये ख़ाली नहीं थी। न्यूकैसल ज्वर अस्पताल के डा० एम्बेलटन ने बताया है "इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि टाइफ़स ज्वर के फैलने और इतने समय तक जारी रहने का प्रधान कारण यह है कि शहर में लोगों का जमाव बहुत ज़्यादा घना है और रहने के मकान बहुत गंदे हैं। बहुत से मज़दूर जिन कोठरियों में रहते हैं, वे चारों ओर से बन्द और गंदे हातों या आंगनों में स्थित हैं और स्थान, रोशनी, हवा और सफ़ाई की दृष्टि से वे अपर्याप्तता और अस्वास्थ्यप्रदता का नमूना हैं। ये कोठरियां किसी भी सभ्य समाज के लिये कलंक का टीका

---

[1] उप० पु०, पृ० ५५ और ५६।

ह। रात को उनमें पुरुष, स्त्रिया श्रौर बच्चे सब ठसे हुए पडे रहते हैं। जहा तक पुरुषो का सम्बध है, दिन-पाली वाले सोकर उठते ह, तो रात-पाली वाले उनकी जगह पर सोने के लिये श्रा जाते ह, श्रौर रात-पाली वाले जागते हैं, तो दिन-पाली वाले श्रा जाते ह, श्रौर कुछ समय तक यह क्रम इसी तरह चलता रहता है श्रौर बीच में एक बार भी नहीं टूटता, जिससे बिस्तरो को ठण्डा होने के लिये भी समय मुश्किल से ही मिलता है। पूरी हवेली में पानी का इतजाम बहुत खराब होता है, श्रौर शौच-स्थानों की दशा तो उससे भी बुरी होती है,—वे गदे होते ह, उनमें साफ हवा के श्राने की व्यवस्था नहीं होती श्रौर यहा से बीमारिया फैलती हैं।"[1] इस तरह की कोठरियो का किराया ८ पेंस से लेकर ३ शिलिंग प्रति सप्ताह तक होता है। डा० हण्टर ने लिखा है "टाइन-नदी के-तट पर-स्थित-न्यूकसल नगर में हमारे देशवासियो की सब से श्रच्छी नस्ल के लोग रहते ह, पर रहने के स्थान तथा पास-पडोस की बाह्य परिस्थितियो के कारण ये पतन के गर्त में गिरकर बहुधा जगलियो की सी श्रवस्था को पहुच जाते ह।"[2]

पूजी श्रौर श्रम में चूकि एक ज्वार भाटा सा श्राता रहता है, इसलिये यह मुमकिन है कि किसी भी श्रौद्योगिक नगर में रहने के मकानो की हालत श्राज थोडी सहनीय हो जाये श्रौर कल को फिर वहा नरक बन जाये। या यह भी सम्भव है कि श्राज नगर के सार्वजनिक श्रधिकारी सब से श्रधिक भयानक बुराइयो को दूर करने की मन में ठाने श्रौर कल को फटे हाल श्रायरलण्ड-वासी या जर्जर श्रग्रेज खेतिहर मजदूर टिड्डी दल की तरह श्राकर नगर में भर जायें। ये लोग तहखानो श्रौर कोठो में भर दिये जाते ह, या जो श्रभी तक मजदूरो के रहने का घर था, उसे सराय या भटियारखाने में तबदील कर दिया जाता है, जिस के निवासी उसी तेजी के साथ बदलते रहते ह, जिस तेजी के साथ तीस-साला जग के जमाने में फौजी सिपाहियो के ठहरने के स्थानो के निवासी बदला करते थे। इसका एक उदाहरण है ब्रैडफोर्ड (यार्कशायर)। वहा कुछ समय पहले नगर पालिका के कूपमण्डूक श्रधिकारी नगर का सुधार करने में व्यस्त थे। इसके श्रलावा, १८६१ में ब्रैडफोर्ड में १७५१ मकान खाली पडे थे। परन्तु तभी व्यापार में नयी जान पडी, जिसका हब्शियों के मित्र, कुछ कुछ उदारपथी मि० फोस्टर ने हाल में इतना ढोल पीटा है। श्रौर व्यापार में नयी जान पडने के साथ-साथ नित घटती बढती "रिज़र्व सेना" श्रथवा "सापेक्ष श्रतिरिक्त जन-सख्या" की लहरो ने श्रा-श्राकर नगर को श्राप्लावित कर दिया। डा० हण्टर को एक बीमा-कम्पनी के एजेंट से रहने के स्थानो की एक सूची[3] प्राप्त हुई थी। उसमें जितने भयानक तहखाने श्रौर कोठरिया दर्ज थीं, उनमें

---

[1] उप० पु०, प० १४६।

[2] उप० पु०, पृ० ५०।

[3] किराया वसूलने वाले एजेंट की सूची (ब्रैडफोर्ड)

मकान

वल्कन स्ट्रीट, न० १२२	१ कोठरी	१६ व्यक्ति
लमले स्ट्रीट, न० १३	१ "	११ "
बौवर स्ट्रीट, न० ४१	१ "	११ "
पोर्टलैण्ड स्ट्रीट न० ११२	१ "	१० "

मुख्यतया अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूर रहते थे। इन लोगो का कहना था कि अगर उन्हें रहने के लिये बेहतर जगह मिल सके, तो वे उसके लिये खुशी-खुशी ज्यादा किराया देन को तैयार ह। पर इसके पहले कि उनके लिये किसी बेहतर जगह का बन्दोबस्त हो, वे तो पतन के गढे में गिर जाते ह, सबके सब बीमार पड जाते ह, और उधर ससद का वह कुछ-कुछ उदारपथी सदस्य फोस्टर स्वतत्र व्यापार के वरदानो और बटे हुए ऊन की चीजा का व्यवसाय करने वाले ब्रडफोड के प्रतिष्ठित नागरिको के मोटे मुनाफो पर हर्ष के आसू बहाने में व्यस्त रहता है। ब्रैडफोड में गरीबो के कानून के मातहत जो डाक्टर तैनात ह, उनमें से एक का नाम है डा० बेल। उन्होने ५ सितम्बर १८६५ की रिपोट में यह मत प्रकट किया है कि उनके इलाके में बुखार के रोगियो की जो इतनी मौते हो रही ह, उसका मुख्य कारण उनके रहने की कोठरिया हैं। उन्होने लिखा है "१,५०० घन फुट के एक छोटे से तहखाने में दस व्यक्ति रहते हैं विसेट स्ट्रीट, ग्रीन एयर प्लेस और लेज में २२३ मकान ह, जिनमें

हार्डी स्ट्रीट, न० १७	१ "	१० "
नौथ स्ट्रीट, न० १८	१ "	१६ "
नौथ स्ट्रीट, न० १७	१ "	१३ "
वाइमर स्ट्रीट, न० १६	१ "	८ वयस्क
जौवेट स्ट्रीट, न० ५६	१ "	१२ व्यक्ति
जाज स्ट्रीट, न० १५०	१ "	३ परिवार
राइफिल कोट		
मेरीगेट, न० ११	१ "	११ व्यक्ति
माशल स्ट्रीट, न० २८	१ "	१० "
माशल स्ट्रीट, न० ४६	३ कोठरिया	३ परिवार
जाज स्ट्रीट, न० १२८	१ कोठरी	१८ व्यक्ति
जाज स्ट्रीट, न० १३०	१ "	१६ "
एडवड स्ट्रीट, न० ४	१ "	१७ "
जाज स्ट्रीट, न० ४६	१ '	२ परिवार
योक स्ट्रीट, न० ३४	१ "	२ "
साल्ट पाई स्ट्रीट (सब से नीचे की मजिल)	२ कोठरिया	२६ व्यक्ति

तहखाने

रीजेंट स्क्वायर	१ तहखाना	८ व्यक्ति
एकर स्ट्रीट	१ '	७ '
३३, राबटस कोट	१ '	७ "
बेक प्रेट स्ट्रीट, एक ठठेरे की दूकान	१ "	७ "
२७, एबनेज़ेर स्ट्रीट	१	६ '
		(१८ वष स अधिक उम्र का एक भी पुरुष नही था)

(उप०, पु० पृ० १११।)

१४५० व्यक्ति रहते ह, और उनके लिये कुल ४३५ बिस्तर और ३६ पाखाने हैं हर एक बिस्तर के पीछे—और फटे-पुराने गदे चीथडो या लकडी की छीलन का ढेर भी बिस्तर कहलाता है—३ ३ व्यक्तियों का औसत पडता है, बहुत से बिस्तरो को ५ और ६ व्यक्ति इस्तेमाल करते ह। और मुझे बताया गया कि कुछ लोगो को किसी तरह का भी बिस्तर मयस्सर नहीं होता। ये अपने रोजमर्रा के कपडो को पहने हुए नगे तख्तो पर सो रहते ह। युवक और युवतिया, विवाहित और अविवाहित, सब इसी तरह इकट्ठे सोते ह। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कोठरिया अधेरी, सीलन भरी, गदी और बदबूदार होती ह, वे इनसानो के रहने के लिये हरगिज उपयुक्त नहीं ह। बीमारी और मौतें केन्द्रो से उन लोगो के बीच फैलती हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति बेहतर है, पर जिन्होंने इन विषले कीटाणुओ को समाज में पनपने और फलने की अनुमति दे रखी है।"[1]

रहने के घरों की तगी और गदगी के मामले में तीसरा नम्बर ब्रिस्टल का है, "उस ब्रिस्टल का, जो योरप का सबसे धनी नगर है, पर जहा भयानकतम दरिद्रता (blankest poverty) और रिहायशी मकानियत के अभाव का बोलबाला है।"[2]

(ग) खानाबदोश आबादी

अब हम एक ऐसे वर्ग पर विचार करना चाहते ह, जिसका जन्म कृषि में हुआ है, पर जिसका धधा मुख्यतया उद्योग प्रधान है। यह वर्ग पूजी की पदल सेना है, जिसे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार कभी इस बिंदु पर झोक देती हैं, तो कभी उस बिंदु पर। जब यह सेना एक बिंदु से दूसरे बिंदु को कूच नहीं करती, तो कहीं पर अस्थायी "पडाव" डाल देती है। खानाबदोश मजदूरो को मकान बनाना, नालिया बनाना, ईंटें तयार करना, चूना फूकना, रेल की लाइन बिछाना आदि अनेक प्रकार के कामो के लिये इस्तेमाल किया जाता है। ये लोग महामारियो के द्रुतगामी दस्ते की तरह होते ह, जो जहा भी अपना पडाव डालता है, उसी स्थान के आस-पडोस में चेचक, टाइफस ज्वर, हैजा, स्कारलट ज्वर आदि रोग फला देता है।[3] जिन उद्यमो में—जसे रेलें आदि—बहुत अधिक पूजी लगानी पडती है, उनमें ठेकेदार मजदूरो की अपनी सेना के लिये लकडी के झोपडो आदि का प्राय खुद ही बन्दोबस्त कर देता है। इस तरह स्थानीय बोर्डों के नियन्त्रण के बाहर और सफाई की किसी भी प्रकार की व्यवस्था से विहीन पूरे गाव के गाव अस्थायी रूप से खडे हो जाते ह। ठेकेदार की खूब बन आती है। वह दोहरे ढग से मजदूर का शोषण करता है एक तो उद्योग के सैनिको के रूप में, दूसरे, किरायेदारो के रूप में। लकडी के एक झोपडे में १,२ अथवा ३ खाने ह, इसके अनुसार उसमें रहने वाले को, वह चाहे] खुदाई का काम करता हो, चाहे और कोई काम, १ शिलिंग, ३ शिलिंग या ४ शिलिंग प्रति सप्ताह किराया देना पडता है।[4] यहा एक उदाहरण काफी होगा। सितम्बर

---

[1] उप० पु०, पृ० ११४।

[2] उप० पु०, पृ० ५०।

[3] *Public Health Seventh Report 1865* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवी रिपोर्ट, १८६५'), प० १८।

[4] उप० पु०, पृ० १६५।

१८६४ में डा० साइमन ने रिपोर्ट दी थी कि सवेनग्रोक्स की सावजनिक Nuisances Removal Committee (अनुत्रास अपनयन समिति) के अध्यक्ष ने गृह-मन्त्री, सर जार्ज ग्रे के पास यह शिकायत भेजी थी "लगभग बारह महीने पहले इस इलाके में चेचक का एक भी बीमार कहीं देखने को नहीं मिलता था। पर उसके कुछ समय पहले यहा लेवीशेम से टनब्रिज तक रेल की लाइन बिछाने का काम शुरू हुआ। इस सम्बध में मुख्य काम इस नगर के बिल्कुल पास होना था। इसके अलावा, यहा पूरे काम का डिपो खोल दिया गया था, जिसकी वजह से यहा लाजिमी तौर पर बहुत बडी सख्या में लोगो को नौकर रखा गया। इन सब के लिये कस्बे के घरो में स्थान मिलना असम्भव था, इसलिये जहा जहा काम होना था, वहा ठेकेदार मि० जे ने इन मजदूरो के रहने के लिये झोपडो की लाइन खडी कर दी। इन झोंपडो में न तो साफ हवा के आने की कोई व्यवस्था थी और न ही गन्दे पानी के बाहर निकलने का कोई इतजाम था। इसके अलावा, लाजिमी तौर पर उनमें बहुत भीड थी, क्योकि हालाकि हर झोपडे में केवल दो कोठरिया थीं, पर उसमें रहने वाले हर मजदूर को, उसका अपना परिवार चाहे जितना बडा क्यो न हो, कुछ किरायेदारो को जगह देनी पडती थी। हमें जो डाक्टरी रिपोर्ट मिली है, उसके मुताबिक इसका नतीजा यह हुआ कि झोपडियो की खिडकियों के ठीक नीचे ठहरे हुए गदे पानी और पाखानो से उठने वाली जहरीली बदबू से बचने के लिये इन ग़रीब लोगो को खिडकिया बन्द करके सोना पडता था और इसलिये सारी रात उनका दम घुटता रहता था। आखिर एक डाक्टर ने, जिसे इन झोपडो को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था, सावजनिक अनुत्रास अपनयन समिति से शिकायत की। उसने रहने के स्थान के रूप में इन झोपडो की अत्यन्त कठोर शब्दो में निन्दा की और इस बात का भय प्रकट किया कि अगर सफाई का बन्दोबस्त करने के लिये कोई कारवाई नहीं की जाती, तो इसके बहुत खतरनाक नतीजे हो सकते ह। लगभग एक वष हुए मि० जे ने वायदा किया था कि वह अपना एक झोपडा इसके लिये अलग कर देंगे कि अगर उनके किसी मजदूर को कोई छूत की बीमारी हो जाये, तो उसको फौरन इस झोपडे में हटा दिया जाये। पिछली २३ जुलाई को उन्होंने यह वायदा फिर दोहराया, परन्तु हालाकि इस तारीख के बाद मि० जे के झोपडो में चेचक के कई केस हो चुके ह और उसी बीमारी से दो मौतें भी हो चुकी ह, पर फिर भी अपना वायदा पूरा करने के लिये उन्होंने आज तक कोई क़दम नहीं उठाया है। ९ सितम्बर को सजन मि० केल्सन ने मुझे रिपोट दी कि इन्हीं झोपडों में चेचक के और कई केस हो गये ह, और उन्होंने बताया कि इन झोंपडों की हालत अत्यन्त लज्जाजनक है। आपकी (गृह-मन्त्री की) जानकारी के लिये म यह और जोड़ दू कि हमारे इलाके में और घरों से अलग एक मकान है, जो बीमारो का घर कहलाता है और जो इलाके के उन निवासियो के लिये सुरक्षित रहता है, जिनको छूत की बीमारियां हो जाती ह। पिछले कई महीनों से यह मकान लगातार ऐसे बीमारों से भरा रहता है और इस समय भी भरा हुआ है। म यह भी बता दू कि एक परिवार में पांच बच्चे चेचक और बुखार से मर गये ह। इस साल हमारे इलाके में पहली अप्रल से पहली सितम्बर तक, पांच महीने के अन्दर, कम से कम १० व्यक्ति चेचक से मर चुके हैं, जिनमें से चार उपयुक्त झोंपडों के रहने वाले थे। और इस रोग से अभी तक कुल कितने लोग बीमार हो चुके है, इसकी सही सख्या का पता लगाना असम्भव है, हालांकि यह मालूम है कि उनकी

तादाद काफ़ी बड़ी है। कारण कि हर परिवार इस रोग के समाचार को जहां तक सम्भव होता है, छिपाकर रखने का प्रयत्न करता है।'[1]

कोयला-खानों तथा अन्य प्रकार की खानों में काम करने वाले मजदूर ब्रिटिश सर्वहारा के सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले हिस्सों में आते हैं। उनको अपनी मजदूरी की क्या कीमत चुकानी पड़ती है, यह हम पहले एक पृष्ठ पर देख चुके हैं।[2] यहां पर मैं केवल उनके रहने के स्थानों पर एक सरसरी नजर डालना चाहता हूं। सामान्यतया, जो भी किसी खान का उपयोग करता है, वह चाहे उसका मालिक हो, चाहे उसने ठेके पर मालिक से खान ले रखी हो, वह सदा अपने मजदूरों के लिये कुछ झोंपड़े बनवाता है। मजदूरों को रहने के लिये झोंपड़े और आग जलाने के लिये कोयला "मुफ्त में" मिल जाते हैं,–अर्थात् ये वस्तुएं उनकी मजदूरी का एक ऐसा हिस्सा होती हैं, जो उनको चीजों की शकल में दे दिया जाता है। जिनको इस तरह के झोंपड़ों में रहने की जगह नहीं मिलती, उनको प्रति वर्ष ४ पौण्ड मुआवजे के तौर पर मिल जाते हैं। खानों वाले इलाक़ों की आबादी बहुत तेजी से बढ़ती है। उसमें एक तो खुद खान-मजदूर होते हैं, दूसरे, वे तमाम कारीगर, दूकानदार आदि होते हैं, जो खान-मजदूरों के इर्द गिर्द इकट्ठे हो जाते हैं। भूमि के लगान की दरें बहुत ऊंची होती हैं, क्योंकि जहां भी आबादी घनी होती है, वहां आम तौर पर ऐसा ही होता है। इसलिये मालिक यह कोशिश करता है कि खान के मुंह के बिल्कुल नजदीक, कम से कम रकबे में केवल इतने झोंपड़े बनाकर खड़ा कर दे, जो उसके मजदूरों और उनके परिवारों को ठसाठस भरने के लिये जरूरी हों। यदि पड़ोस में नयी खानें खुल जाती हैं या पुरानी खानें फिर काम करने लगती हैं, तो आबादी का दबाव बढ़ जाता है। झोंपड़े बनाने में केवल एक ही बात का महत्व होता है। वह यह कि पूंजीपति को हर ऐसे खर्च से, जो नितान्त अपरिहार्य नहीं है, "परिवर्जन" करना पड़ता है। डा० जूलियन हण्टर ने बताया है: "नौथम्बरलैण्ड और डरहम की कोयला-खानों से सम्बंधित कोयला निकालने वालों तथा अन्य मजदूरों को जिस तरह के घरों में रहना पड़ता है, कुल मिलाकर शायद उनसे

---

[1] उप० पु०, पृ० १८, नोट।–चैपेल-आं-ले-फ़िथ यूनियन के सहायता अफ़सर ने रजिस्ट्रार जनरल को निम्नलिखित रिपोर्ट दी है: "डवहोल्स में चूने की राख (चूने के भट्ठों से फेंके हुए कचरे) के एक बड़े टीले को कई जगहों पर थोड़ा थोड़ा खोद डाला गया है। इस तरह जो गढ़े बन गये हैं, उनको रहने के स्थान की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उस टीले के पड़ोस में आजकल जो रेल की लाइन बिछायी जा रही है, उसपर काम करने वाले मजदूर तथा अन्य लोग इन गढ़ों में रहते हैं। ये गढ़े बहुत छोटे और सीलन से भरे हैं। उनमें न तो गन्दा पानी बाहर निकलने के लिये नालियां हैं और न ही उनके आस पास पाखाने हैं। और साफ़ हवा के अन्दर आने का इन गढ़ों में कोई भी रास्ता नहीं है। सिर्फ़ छत में एक सूराख होता है, जो धुआं बाहर निकालने की चिमनी की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इसका नतीजा यह है कि कुछ समय से इन (गढ़ों में रहने वालों) में चेचक फैली हुई है और उनमें से कुछ की उससे मृत्यु भी हो गयी है।" (उप० पु०, नोट २।)

भाग ४ के अन्त में जो विस्तृत विवरण हमने दिया है, उसका सम्बंध विशेष रूप से कोयला खानों के मजदूरों से है। धातु की खानों के मजदूरों की हालत और भी खराब है। इसके बारे में देखिये १८६४ के Royal Commission (शाही आयोग) की रिपोर्ट, जो बहुत ही ईमानदारी के साथ तैयार की गयी है।

ज्यादा खराब और महगे घर सिफ मौनमाउथशायर के इसी प्रकार के इलाकों को छोडकर इगलैण्ड में और कहीं नहीं मिल सकते सब से ज्यादा खराब बात यह है कि एक एक कोठरी के अन्दर अनेक व्यक्ति रहते ह, जमीन के जरा से टुकडे पर बहुत सारे घर खडे कर दिये जाते ह, पानी का अभाव है, पाखाने नहीं ह और अक्सर एक घर के ऊपर दूसरा घर खडा कर दिया जाता है या एक घर को कई परिवारो के रहने के लिये flats (कक्षों) में बाट दिया जाता है जिसने खान पट्टे पर ले रखी है, वह ऐसा व्यवहार करता है, जसे पूरी बस्ती वहा रहती नहीं है, बल्कि उसने वहा महज पडाव डाल रखा है।"[1]

डाक्टर स्टीवेन्स ने लिखा है "मुझे जो हिदायतें मिली थीं, उनके मुताबिक मैंने डरहम यूनियन के अधिकतर कोयला-खानो वाले गावो का निरीक्षण किया बहुत थोडे अपवादो को छोडकर इन सभी गावो के बारे में आम तौर पर यह कहना सही होगा कि उनके निवासियो की स्वास्थ्य रक्षा के लिये कोई भी क़दम नहीं उठाया जाता सभी कोयला-मजदूर बारह महीने के लिये ठेकेदार (lessee") या मालिक के वास्ते काम करने के लिये बधे होते ह ('bondage' ['अधीनता'] शब्द की तरह 'bound' ['बधे होना'] भी कृषि-दास प्रथा के जमाने का शब्द है) यदि कोयला-मजदूर किसी प्रकार का असतोष व्यक्त करते हं या किसी अन्य बात से अपने निरीक्षक को नाराज कर देते ह, तो उनके नाम के आगे निशान लगा दिया जाता है या कुछ लिख दिया जाता है, और साल खतम होने पर जब फिर मजदूरी को बाधा जाता है, तो ऐसे तमाम मजदूरो को निकाल दिया जाता है मुझे लगता है कि इन घने बसे हुए जिलो में जो हालत है, truck-system (जिन्स-मजदूरी प्रणाली) का कोई अश उससे खराब नहीं हो सकता। कोयला खान के मजदूर को मजबूरन एक ऐसा घर किराये पर लेना पडता है, जो चारो ओर से बीमारियो के प्रभावो से घिरा होता है। वह खुद अपनी मदद नहीं कर सकता, और इसमें काफी सन्देह मालूम होता है कि उसके मालिक के सिवा कोई और उसकी कुछ सहायता कर सकता है (क्योंकि हर दृष्टि से वह कृषि दास होता है) (he is, to all intents and purposes a serf), और उसका मालिक हर चीज के लिये पहले अपना बही-खाता देखता है, और उसका क्या नतीजा होता है, यह पहले से निश्चित रहता है। कोयला-मजदूर को अक्सर पानी भी मालिक की तरफ से मिलता है, और वह अच्छा हो या खराब, उसे उसके पैसे देने पडते ह, या कहना चाहिये कि पानी के पैसे उसकी मजदूरी में से काट लिये जाते ह।"[2]

जब पूजी का "जनमत" से या यहा तक कि स्वास्थ्य अफसरो से भी कोई झगडा होता है, तो उसे आशिक रूप में खतरनाक और आशिक रूप में पतन के गढ़े में गिराने वाली इन परिस्थितियो को, जिनके भीतर वह मजदूर के रिहायशी तथा श्रम सम्बन्धी जीवन को बन्द करके रखती है, उचित सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी दलील यह होती है कि उसके मुनाफे के लिये ये परिस्थितिया आवश्यक हं। जब पजी फक्टरी में खतरनाक मशीनों से मजदूरो की रक्षा करने के लिये या खानो आदि में साफ हवा तथा सुरक्षा का प्रबध करने के लिये किसी भी प्रकार के कदम का "परिवजन" करती है, तब भी वह यही दलील देती है। यहां खान-मजदूरो के रहने के स्थाना के बारे में भी वही बात है। प्रिवी काउंसिल के मडिकल अफसर,

---

[1] *Public Health Seventh Report 1865* (सावजनिक स्वास्थ्य की सातवी रिपार्ट, १८६५'), प० १८०, १८२।

[2] उप० पु०, पृ० ५१५, ५१७।

डा० साइमन ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है "रहने के मकानो की जो बहुत ही खराब व्यवस्था है, उसकी सफाई में यह कहा जाता है कि खानें आम तौर पर ठेके पर उठा दी जाती ह और ठेकेदार की दिलचस्पी की मियाद (जो कोयला-खानो में आम तौर पर २१ साल होती है) इतनी कम होती है कि अपने मजदूरो के लिये और व्यापारियो तथा विभिन्न धन्धो के अन्य लोगो के लिये, जो खानो की ओर खिच आते हैं, रहने का अच्छा प्रबध करने में वह अपना कोई हित नहीं देखता। कहा जाता है कि यदि ठेकेदार इस मामले में थोडी उदारता दिखाना भी चाहे, तो भी वह कुछ नहीं कर सकता, क्योकि जमीन की सतह के ऊपर एक साफ-सुथरा और आरामदेह गाव बसाने के अधिकार के एवज में, जिसमें जमींदार की जमीन की सतह के नीचे से धन बाहर लाने वाले मजदूर रह सकें, जमींदार भूमि के लगान के तौर पर ठेकेदार से इतना अधिक अतिरिक्त पसा माग लेता है कि गाव बसाना उसके बूते के बाहर हो जाता है, और यदि ठेकेदार के अलावा कोई और आदमी मजदूरो के वास्ते मकान बनाना चाहे, तो (यदि जमींदार साफ-साफ इसकी मनाही नहीं कर देता, तो) यह अत्यधिक ऊचा दाम उसे भी कुछ नहीं करने देता। इस दलील का गुण-दोष विवेचन करना इस रिपोट की सीमाओ से बाहर जाना होगा। न ही यहा इस प्रश्न पर विचार करने की ही आवश्यकता है कि यदि मजदूरो के वास्ते रहने का अच्छा प्रबध किया जाये, तो उसका खर्चा अन्त में किसके—जमींदार के, ठेकेदार के, मजदूर के या समाज के—मत्थे पडेगा। परन्तु इस रिपोट के साथ जो और रिपोर्टें (डा० हण्टर, डा० स्टीवेन्स आदि की रिपोर्टें) नत्थी हैं, उनमें ऐसे लज्जाजनक तथ्य दिये गये ह कि इस परिस्थिति का इलाज करना जरूरी है जमींदारी के हक का एक ऐसा बेजा फायदा उठाया जा रहा है, जिससे एक बहुत बडी सार्वजनिक बुराई पदा हो गयी है। खान के मालिक के रूप में जमींदार पहले एक औद्योगिक बस्ती को अपनी जमीन पर मेहनत करने के लिये बुलाता है, और फिर वह खुद जिन मजदूरो को वहा इकट्ठा करता है, उनके लिये जमीन की सतह के मालिक के रूप में अच्छे मकानो में रहना असम्भव बना देता है। उधर ठेकेदार (पूजीवादी शोषक) का भी इसमें कोई आर्थिक हित नहीं है कि वह इस अजीब सौदे का विरोध करे, क्योकि वह अच्छी तरह जानता है कि यदि यह सौदा बहुत महगा पडता है, तो उसके लिये नहीं, बल्कि मजदूरो के लिये महगा पडता है, और मजदूरो में इतनी शिक्षा नहीं है कि वे अपने स्वास्थ्य सम्बधी अधिकारो के महत्त्व को जान पायेंगे, और उनको चाहे गदे से गदा रहने का स्थान दिया जाये और चाहे कीचड जसा पानी पिलाया जाये, वे इस के कारण कभी हडताल करने को तयार नहीं होगे।"[1]

(घ) मजदूर-वर्ग के सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले हिस्से पर सकटो का प्रभाव

नियमित ढग के खेतिहर मजदूरो की चर्चा करने के पहले मैं एक उदाहरण द्वारा यह दिखाना चाहता हू कि सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूरो पर भी, अर्थात् मजदूर-वर्ग के अभिजात स्तर पर भी, औद्योगिक सकटो का क्या असर होता है। पाठको को याद होगा कि १८५७ में एक बहुत बडा सकट आया था। यह इस प्रकार का सकट था, जिसके साथ एक नियत अवधि पूरी हो जाने पर औद्योगिक चक्र सम्पूर्ण हो जाता है। अगला औद्योगिक चक्र १८६६

[1] उप० पु०, पृ० १६।

एक बडे पत्थर पर बैठा हुआ था और एक बडे हथौडे से बफ जमे हुए ग्रेनाइट पर टुकडे-टुकडे होने तक चोट करता जाता था। जरा ध्यान दीजिये कि उसे पाच बुशेल गिट्टी तैयार करनी पडती थी, तब कहीं उसका दिन भर का काम समाप्त होता था और उसे एक दिन की मजदूरी मिलती थी–तीन पेंस और कुछ खाने का सामान। आगन के एक दूसरे हिस्से में एक छोटा और लकडी का कमजोर सा मकान था। जब हमने उसका दरवाजा खोला, तो देखा कि उसके अन्दर कुछ लोग एक दूसरे के कधे से कधा सटाये हुए बठे है, ताकि उन्हे एक दूसरे के बदन और सास से गरमी मिलती रहे। ये लोग पुराने रस्सो का सन चुन रहे थे और साथ ही इसपर बहस करते जा रहे थे कि भोजन की विशिष्ट मात्रा के सहारे सब से ज्यादा देर तक कौन काम कर सकता है,–क्योकि इन लोगो के बीच सहन-शक्ति सम्मान की चीज थी। इस एक मुहताजखाने में सात हजार आदमियो को सहायता मिलती थी पता लगा कि छ या आठ महीने पहले इनमें से सैकडो आदमी सब से ऊची मजदूरी पाने वाले कारीगर थे इन लोगो की सख्या दुगनी हो जाती, यदि हम इनके साथ उन लोगो को और शामिल कर लेते, जिनका बचाया हुआ पसा तो सारा खतम हो गया है, पर फिर भी जो सावजनिक सहायता नहीं लेना चाहते, क्योकि अभी उनके पास गिरवी रखने के लिये कुछ सामान है। मुहताजखाने से निकलकर म उन सडको का चक्कर लगाने लगा, जहा अधिकतर छोटे-छोटे इकमजिले मकान थे, जो पोपलर के आस-पास बहुत बडी सख्या में है। मेरा पथ-प्रदशक बेकारो की समिति का एक सदस्य था पहले म लोहे का काम करने वाले एक मजदूर के घर पर गया, जो सत्ताईस हफ्ते से बेकार था। यह व्यक्ति अपने परिवार के साथ पीछे के एक नन्हे से कमरे में बठा हुआ था। कमरे में कोई भी फर्नीचर न हो, ऐसा नहीं था। आग भी जल रही थी। यह इसलिये जरूरी थी कि छोटे बच्चो के नगे पर पाले के शिकार न हो जायें, क्योकि उस रोज जोरो की ठण्ड थी। आग के सामने एक ट्रे में पुराने रस्सो का सन पडा हुआ था, जिसे इस आदमी की बीवी और बच्चे सावजनिक कोष से मिलने वाली सहायता के एवज में चुन रहे थे। पुरुष खुद मुहताजखाने के आगन में पत्थर तोडता था, जिसके बदले में उसे कुछ भोजन और तीन पेंस प्रति दिन मिलते थे। वह रात के खाने के लिये घर लौटा था और, जैसा कि उसने हमें उदास ढग से मुस्कराते हुए बताया, उसे खूब भूख लगी हुई थी। और उसका रात का खाना था डबल रोटी के कुछ टुकडे और चरबी और बिना दूध की एक प्याली चाय हमने अगले दरवाजे पर दस्तक दी, तो उसे एक प्रौढ महिला ने खोला, जो चुपचाप हमें पीछे की ओर एक छोटी बठक में ले गयी, जहा उसका पूरा परिवार खामोश बठा हुआ तेजी से बुझती हुई आग को टकटकी बाधकर देख रहा था। इन लोगो के चेहरो पर और उनके इस छोटे से कमरे में ऐसी घोर निराशा और हताशा छायी हुई थी, जिसे म दोबारा देखना पसन्द नहीं करूगा। महिला ने अपने लडको की ओर इशारा करके कहा 'छब्बीस हफ्ते से इन लोगो को काम नहीं मिला है, जनाब, और हमारा सारा पैसा खच हो गया है। जब समय अच्छा था, तब इनके बाप ने और मने बीस पौंड बचाये थे, सोचा था, जब हम काम करने के योग्य नहीं रहेगे, तब यह पसा काम आयेगा, पर यह भी सब खच हो गया है। देखिये इसे,'–उसने तीव्र स्वर में कहा और बक की पासबुक निकालकर हमारे सामने कर दी, जिसमें जमा की गयी और निकाली गयी सारी रकमें बहुत साफ-साफ दिखायी गयी थीं और जिससे हम देख सकते थे कि यह थोडा सा धन पहले-पहल कसे पाच शिलिंग जमा करने के साथ शुरू हुआ था और किस तरह वह धीरे धीरे बढ़कर बीस पौंड हो गया था, और फिर वह किस तरह खत्म होने लगा था, और यहा तक कि रकमें पौण्ड

में सम्पूण होने वाला था। परतु फक्टरियो के इलाको में क्पास के अकाल ने पहले ही सकट की सी परिस्थिति पैदा कर दी। उसके कारण बहुत सी पूजी अपने सामान्य क्षेत्र से निकलकर मुद्रा की मण्डी के बडे केन्द्रो में आ गयी, और इसलिये सकट ने इस बार विशेष रूप से वित्तीय रूप धारण कर लिया। १८६६ में यह सकट इस प्रकार आरम्भ हुआ कि लन्दन के एक बडे बक का दिवाला निकल गया और उसके बाद फौरन ही अनगिनत ठग-कम्पनिया ठप्प हो गयीं। लन्दन में उद्योग की जिन बडी शाखाओ पर यह विपत्ति आयी, उनमें से एक थी लोहे के जहाज बनाने की शाखा। इस धधे के मालिको ने व्यवसाय की तेजी के दिनो में न केवल अधाधुध अति उत्पादन किया था, बल्कि इसके अलावा उन्होंने आगे के लिये भी बडे-बडे सौदे कर रखे थे। उन्हें यह आशा थी कि उतनी ही बडी रकमें उन्हे आगे भी उधार मिल जायेंगी। पर अब इसकी भयानक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। यह प्रतिक्रिया इस उद्योग में तथा लन्दन के अन्य उद्योगो में इस समय तक (यह मार्च १८६७ के अन्त की बात है) जारी है।[1] मजदूरो की क्या दशा है, इसका कुछ आभास कराने के लिये मै नीचे '*Morning Star*' के एक सवाददाता की रिपोर्ट उद्धृत कर रहा हू, जिसने १८६६ के अन्त में और १८६७ के आरम्भ में उन मुख्य केन्द्रो की यात्रा की थी, जहा लोगो को सब से अधिक कष्ट था "पूर्वी क्षेत्र के पोपलर, मिलवाल, ग्रीनविच, डेप्टफोड, लाइमहाउस और कनिगटाउन नामक क्षेत्रो में कम से कम १५,००० मजदूर और उनके परिवार बिल्कुल कगाली की हालत में रह रहे है, और ३,००० निपुण मिस्त्री (६ महीने तक कगाली में रहने के बाद) मुहताजखाने के आगन में पत्थर तोड रहे है मुहताजखाने के फाटक तक पहुचने में मुझे बडी कठिनाई हुई, क्योकि उसे एक भूखी भीड ने घेर रखा था ये लोग टिकट पाने के इन्तजार में थे, परन्तु टिकटो के वितरण में अभी देर थी। आगन एक बडे चौक की तरह था, जिसके चारो ओर एक खुला हुआ शेड था। आगन के मध्य में खड्जे थे, जिनपर बर्फ जम गयी थी। मध्य में ही, थोडी-थोडी जगहो को टट्टिया लगाकर घेर दिया गया था। वे भेडो के बाडे जसे लगते थे। अच्छे मौसम में वहीं लोग काम करते थे। पर जिस रोज मै वहा पहुचा, उस रोज इन बाडो में इतनी बर्फ जमी हुई थी कि उनके भीतर कोई बैठ नहीं सकता था। लेकिन खुले शेड में लोग पत्थर तोडकर गिट्टी बनाने में व्यस्त थे। हर आदमी

---

[1] "लन्दन के गरीबो मे आम भुखमरी (Wholesale starvation of the London Poor) पिछले कुछ दिनो मे लन्दन की दीवारो पर बडे-बडे पोस्टर लगाये गये है, जिनमें यह विचित्र घोषणा पढने को मिलती है 'मोटे बैल ! भूखे इनसान ! मोटे बैल अपने शीश महल से धनियो के विलास गृहो में उनका पेट भरने के लिये गये है, जब कि भूखे इनसान अपने टूटे फूटे भोपडो में तडप-तडपकर जान दे रहे हैं।' इस प्रकार की अशुभ घोषणा वाले ये पोस्टर थोडी थोडी देर बाद दीवारो पर चिपकाये जाते हैं। जैसे ही एक बार लगाये गये पोस्टरो को फाड-फूड दिया जाता है या ढक दिया जाता है, वैसे ही उन्ही स्थानो पर या उसी प्रकार के अन्य सार्वजनिक स्थानो पर नये पोस्टर नजर आने लगते ह यह सब देखकर उन गुप्त क्रान्तिकारी दलो की याद आती है, जिन्होने फ्रासीसी जनता को १७८६ की घटनाओ के लिये तैयार किया था इस समय, जब कि अग्रेज मजदूर मय अपने बाल-बच्चो के ठण्ड और भूख से जान दे रहे है, करोडो के मूल्य का अग्रेजी सोना—जो कि अग्रेजी श्रम की उपज है—रूसी, स्पेनी, इटालवी और अन्य विदेशी उद्यमो में लगाया जा रहा है।"—*Reynolds Newspaper* January 20th 1867।

एक बडे पत्थर पर बैठा हुआ था और एक बडे हथौडे से बफ जमे हुए ग्रेनाइट पर टुकडे-टुकडे होने तक चोट करता जाता था। जरा ध्यान दीजिये कि उसे पाच बुशेल गिट्टी तयार करनी पडती थी, तब्र कहीं उसका दिन भर का काम समाप्त होता था और उसे एक दिन की मजदूरी मिलती थी – तीन पेंस और कुछ खाने का सामान। आगन के एक दूसरे हिस्से में एक छोटा और लकडी का कमजोर सा मकान था। जब हमने उसका दरवाजा खोला, तो देखा कि उसके अन्दर कुछ लोग एक दूसरे के कधे से कधा सटाये हुए बठे ह, ताकि उन्हे एक दूसरे के बदन और सास से गरमी मिलती रहे। ये लोग पुराने रस्सा का सन चुन रहे थे और साथ ही इसपर बहस करते जा रहे थे कि भोजन की विशिष्ट मात्रा के सहारे सब से ज्यादा देर तक कौन काम कर सकता है,— क्योकि इन लोगो के बीच सहन शक्ति सम्मान की चीज थी। इस एक मुहताजखाने में सात हजार आदमियो को सहायता मिलती थी पता लगा कि छ या आठ महीने पहले इनमें से सकडो आदमी सब से ऊची मजदूरी पाने वाले कारीगर थे इन लोगो की सख्या दुगनी हो जाती, यदि हम इनके साथ उन लोगो को और शामिल कर लेते, जिनका बचाया हुआ पसा तो सारा खतम हो गया है, पर फिर भी जो सावजनिक सहायता नहीं लेना चाहते, क्योकि अभी उनके पास गिरवी रखने के लिये कुछ सामान है। मुहताजखाने से निकलकर म उन सडको का चक्कर लगाने लगा, जहा अधिकतर छोटे छोटे इकमजिले मकान थे, जो पोपलर के आस पास बहुत बडी सख्या में ह। मेरा पथ प्रदशक बेकारो की समिति का एक सदस्य था पहले म लोहे का काम करने वाले एक मजदूर के घर पर गया, जो सत्ताईस हफ्ते से बेकार था। यह व्यक्ति अपने परिवार के साथ पीछे के एक नन्हे से कमरे में बठा हुआ था। कमरे में कोई भी फर्नीचर न हो, ऐसा नहीं था। आग भी जल रही थी। यह इसलिये जरूरी थी कि छोटे बच्चो के नगे पर पाले के शिकार न हो जायें, क्योकि उस रोज जोरो की ठण्ड थी। आग के सामने एक ट्रे में पुराने रस्सो का सन पडा हुआ था, जिसे इस आदमी की बीवी और बच्चे सावजनिक कोष से मिलने वाली सहायता के एवज में चुन रहे थे। पुरुष खुद मुहताजखाने के आगन में पत्थर तोडता था, जिसके बदले में उसे कुछ भोजन और तीन पेंस प्रति दिन मिलते थे। वह रात के खाने के लिये घर लौटा था और, जैसा कि उसने हमें उदास ढग से मुस्कराते हुए बताया, उसे खूब भूख लगी हुई थी। और उसका रात का खाना था डबल रोटी के कुछ टुकडे और चरबी और बिना दूध की एक प्याली चाय हमने अगले दरवाजे पर दस्तक दी, तो उसे एक प्रौढ महिला ने खोला, जो चुपचाप हमें पीछे की ओर एक छोटी बठक में ले गयी, जहा उसका पूरा परिवार खामोश बैठा हुआ तेजी से बुझती हुई आग को टकटकी बाधकर देख रहा था। इन लोगो के चेहरों पर और उनके इस छोटे से कमरे में ऐसी घोर निराशा और हताशा छायी हुई थी, जिसे मैं दोबारा देखना पसन्द नहीं करूगा। महिला ने अपने लडको की ओर इशारा करके कहा 'छब्बीस हफ्ते से इन लोगो को काम नहीं मिला है, जनाब, और हमारा सारा पसा खच हो गया है। जब समय अच्छा था, तब इनके बाप ने और मने बीस पौंड बचाये थे, सोचा था, जब हम काम करने के योग्य नहीं रहेगे, तब यह पसा काम आयेगा, पर वह भी सब खच हो गया है। देखिये इसे,' – उसने तीव्र स्वर में कहा और बैंक की पासबुक निकालकर हमारे सामने कर दी, जिसमें जमा की गयी और निकाली गयी सारी रकमें बहुत साफ साफ दिखायी गयी थीं और जिससे हम देख सकते थे कि यह थोडा सा धन पहले-पहल कसे पाच शिलिंग जमा करने के साथ शुरू हुआ था और किस तरह वह धीरे धीरे बढ़कर बीस पौंड हो गया था, और फिर वह किस तरह खत्म होने लगा था, और यहा तक कि रकमें पौण्ड

के बजाय शिलिंग में लिखी जाने लगी थीं, और आखिरी इन्दराज के बाद तो पासबुक कोरे काग़ज़ की तरह मूल्यहीन बनकर रह गयी थी। इस परिवार को मुहताजख़ाने से सहायता मिलती थी, जो दिन भर में केवल एक बार ज़रा सा भोजन पेट में डाल लेने के लिये काफ़ी होती थी इसके बाद हम लोहे का काम करने वाले एक मज़दूर की पत्नी से मिले, जिसका पति मुहताजख़ाने के आंगन में काम कर चुका था। भोजन के अभाव के कारण यह स्त्री बीमार पड़ी थी और अपने कपड़े पहने हुए एक गद्दे पर लेटी थी। उसने अपने ऊपर दरी का एक टुकड़ा ओढ़ रखा था, क्योंकि सभी बिस्तर गिरवी रखे जा चुके थे। दो दुखियारे बच्चे उसकी देखभाल कर रहे थे, हालांकि ख़ुद उनको भी मां के समान ही देखभाल की आवश्यकता थी। उन्नीस हफ़्ते की बेकारी ने इन लोगों की यह दशा कर दी थी। मां हमें अपने बीते हुए दिनों का दुखभरा इतिहास सुनाती हुई इस तरह कराहती थी, जैसे उसका यह विश्वास अब बिल्कुल मर गया हो कि भविष्य में उसका दुख कभी दूर हो जायेगा हम बाहर निकले, तो एक नौजवान दौड़ता हुआ हमारे पीछे आया और बोला कि 'ज़रा मेरे घर भी चलिये और बताइये कि क्या आप मेरी कुछ मदद कर सकते हैं।' उसके घर में उसकी जवान बीवी, दो सुन्दर बच्चों, गिरवी की दूकान के टिकटों के ढेर और एक ख़ाली कमरे के सिवा और कुछ न था।"

१८६६ के संकट के बाद जो विपत्ति आयी, उसके बारे में अनुदार दल के समर्थक एक अख़बार का निम्नलिखित उद्धरण देखिये। यहां पाठक को यह नहीं भूलना चाहिये कि इस उद्धरण में लन्दन के पूर्वी छोर का ज़िक्र है, जो न केवल लोहे के जहाज़ बनाने के उपर्युक्त उद्योग का केन्द्र है, बल्कि एक तथाकथित "घरेलू उद्योग" का भी केन्द्र है, जिसके मज़दूरों को हमेशा बहुत कम मज़दूरी मिलती है। अख़बार ने लिखा है "राजधानी के एक भाग में कल एक ख़ौफ़नाक दृश्य देखने को मिला। यद्यपि पूर्वी भाग के हज़ारों बेकारों ने अपने काले झण्डों के साथ कोई सामूहिक जलूस नहीं निकाला था, परन्तु फिर भी नरमुण्डों की वह धारा दिल पर बहुत असर डालती थी। हमें याद रखना चाहिये कि ये लोग कैसे घोर कष्ट में हैं। वे भूखों मर रहे हैं। बस इतनी ही, पर कितनी भयानक बात है। उनकी संख्या ४०,००० है हमारा आंखों के सामने, इस सुन्दर राजधानी के एक भाग में, और दुनिया ने अभी तक धन का जो सब से बड़ा भण्डार देखा है, ठीक उसकी बग़ल में, उससे बिल्कुल सटे हुए एक इलाके में ४०,००० निस्सहाय, भूखे नर-नारी भरे हुए हैं। अब ये हज़ारों लोग दूसरे इलाकों में घुसते आ रहे हैं। हमेशा अधभूखे रहने वाले ये लोग चीख़-चीख़कर अपनी दर्द कहानी हमारे कानों तक पहुंचाते हैं, भगवान को पुकारते हैं। अपने गन्दे और तंग घरों से वे चीख़ चीख़कर हमसे कह रहे हैं कि उनको कोई काम नहीं मिलता और उनके लिये भीख मांगना भी व्यर्थ है। सार्वजनिक कर देते-देते स्थानीय कर-दाता ख़ुद मुहताजी की हद तक पहुंच गये हैं।" – (*Standard*", 5th April, 1867।)

अंग्रेज़ पूंजीपतियों में बेल्जियम को श्रमजीवी वर्गों का स्वर्ग मानने का एक चलन सा है, क्योंकि वहां "श्रम की स्वतंत्रता", या, जो कि एक ही बात है, "पूंजी की स्वतंत्रता" को न तो मज़दूर यूनियनों की निरंकुशता सीमित कर सकी है और न ही फ़ैक्टरी-क़ानून उसपर कोई प्रतिबंध लगा सके हैं। इसलिये आइये, थोड़ा बेल्जियमवासी मज़दूर के "सुखी जीवन" पर भी विचार करें। इस "सुखी जीवन" के रहस्यों को जितनी अच्छी तरह स्वर्गीय एम० दुचपेतियो जानते थे, शायद उतनी अच्छी तरह और कोई नहीं जानता था। ये महाशय बेल्जियम के जेलख़ानों और दान पर चलने वाली संस्थाओं के इंस्पेक्टर-जनरल तथा बेल्जियम के आंकड़े तैयार करने वाले केन्द्रीय

"इस प्रकार हम देखते हैं कि जगी बेडे के मल्लाह या सिपाही के भोजन की बात तो एक तरफ, कदी के औसत स्तर तक भी बहुत कम परिवार पहुच पाते हैं। १८४७-१८४९ में अलग अलग जेलखानो में प्रत्येक कैदी पर जो खर्च हुआ, उसका सामान्य औसत ६३ सातीम बठता है। इस रकम का यदि मजदूर के दैनिक खर्च से मुकाबला किया जाये, तो १३ सातीम का अतर दिखाई पडता है। इसके अलावा, हम यह भी याद रखें कि यदि जेलखाने के खच में प्रबध तथा निगरानी का खर्च शामिल होता है, तो, दूसरी ओर, कैदियो को रहने के स्थान का किराया नहीं देना पडता, जेल की दूकान से वे जो चीजें खरीदते हैं, उनका दाम उनके खच में नहीं गिना जाता, और क्योंकि जेलखाने में बहुत से आदमी साथ रहते हैं और भोजन-सामग्री तथा उपभोग की अन्य वस्तुए चूंकि सब थोक खरीदी जाती ह, या उनका ठेका दे दिया जाता है, इसलिये कैदियों के जीवन निर्वाह का खच वैसे भी आम तौर पर बहुत कम हो जाता है फिर यह कैसे होता है कि मजदूरो की एक बडी सख्या, बल्कि हम कह सकते ह कि उनका बहुमत कैदियों से भी कम खर्चे में जिदा रहता है? इसके लिये मजदूर कुछ ऐसे उपायो का प्रयोग करता है, जिनके रहस्य को केवल वही जानता है। वह अपने दनिक भोजन में कमी कर देता है। गेहू की जगह पर मोटे अनाज की रोटी खाता है। मास कम खाता है या बिल्कुल छोड देता है। मक्खन और चटनी-मसालों का प्रयोग कम कर देता है या बिल्कुल बन्द कर देता है। एक या दो कोठरियो से ही सन्तोष करता है, जिनमें लडके और लडकिया पास-पास और अक्सर एक ही चटाई पर सोते ह। वह कपडो पर, धुलाई पर पैसे बचाता है। वह मर्यादा और शिष्टता की परवाह न करके पसे बचाता है। यह इतवार को अपना दिल बहलाने के लिये कहीं बाहर नहीं जाता। सक्षेप में, यह कि मजदूर और उसके परिवार के लोग तरह-तरह के अत्यन्त कष्टदायक अभावों को सहन करते ह और इस तरह अपना खच कम करते हैं। और जब वे एक बार कमखर्ची की इस चरम सीमा पर पहुच जाते ह, तो फिर यदि भोजन के दाम जरा भी चढ़ जाते ह, या काम बन्द हो जाता है, या कोई बीमार पड जाता है, तो मजदूर का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह सम्पूर्ण तबाही के निकट पहुच जाता है। उसके क़र्जे बढने लगते ह, उसको सामान उधार नहीं मिलता, अत्यन्त आवश्यक कपडे और फर्नीचर गिरवी रख दिये जाते है, और अन्त में परिवार को मुहताजो की सूची में अपना नाम दर्ज करा लेना पडता है।" (Ducpetiaux, उप० पु०, पृ० १५१, १५४, १५५।) सच तो यह है कि "पूजीपतियो के इस स्वर्ग" में जीवन निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनो के दामो में तनिक सा भी परिवर्तन होते ही मरने वालों की तादाद और अपराधों की सख्या में परिवर्तन हो जाता है! (देखिये Maatschappij का घोषणा-पत्र "*De Vlamingen Vooruit!*", Brussels, 1860, पृ० १५, १६।) सारे बेल्जियम में कुल मिलाकर ६,३०,००० परिवार रहते ह। सरकारी आकडो के अनुसार, उनमें से ९०,००० धनियो के परिवार ह, जिनके नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज ह। ये ९०,००० परिवार = ४,५०,००० व्यक्ति। १,९०,००० परिवार शहरों और गावों के निम्न मध्य वर्ग के ह, जिनके अधिकतर भाग का जीवन-स्तर लगातार गिरता और सर्वहारा के स्तर पर पहुचता जा रहा है। यह हिस्सा = १९,५०,००० व्यक्ति। अन्त में, ४,५०,००० परिवार मजदूर-वर्ग के ह, जो = २२,५०,००० व्यक्ति, जिनमें से प्रथम श्रेणी के परिवार वह महान सुख भोगते ह, जिसका डुक्पेतियो ने वर्णन किया है। ४,५०,००० मजदूर-परिवारों में से २,००,००० से अधिक परिवार मुहताजों की सूची में दर्ज ह।

(च) ब्रिटेन का खेतिहर सवहारा

पूजीवादी उत्पादन और सचय का आत्मविरोधी स्वरूप जितने कठोर रूप में इगलण्ड की खेती (जिसमें पशुपालन भी शामिल है) के विकास और खेतिहर मजदूरों के पतन की शक्ल में सामने आता है, वैसा और कहीं पर सामने नहीं आता। अग्रेज खेतिहर मजदूर की वतमान दशा पर विचार करने के पहले म गुजरे हुए जमाने पर एक सरसरी नजर डालना चाहता हू। इगलण्ड में आधुनिक खेती १८ वीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हुई थी, हालाकि भू-सम्पत्ति में उसके बहुत पहले कान्ति हो गयी थी, और यह कान्ति ही उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का आधार थी।

आयर यग सतही ढग के विचारक है, किन्तु पयवेक्षण में वह बहुत सावधानी से काम लेते ह। १७७१ के खेतिहर मजदूर की स्थिति के बारे में यदि हम उनके दिये हुए विवरण को देखें, तो हम यह पाते हैं कि १५ वीं शताब्दी की बात तो जाने दीजिये, – वह "शहर और देहात के अग्रेज मजदूर का स्वण-युग" कहलाती है, – १४ वीं शताब्दी के अतिम दिनो के मुकाबले में भी, "जब कि मजदूर खूब अच्छी तरह खा पहन सकता था और कुछ पसे जमा कर सकता था",[1] १७७१ के मजदूर की हालत बहुत ही पतली थी। लेकिन हमें इतने पीछे जाने की जरूरत नहीं है। १७७७ की एक बहुत उपयोगी रचना में हमें मिलता है "बडा काश्तकार उठता-उठता उसके (भद्र पुरुष के) स्तर तक पहुच गया है, जब कि गरीब मजदूर गिरता गिरता लगभग जमीन से लग गया है। यदि हम उसकी वतमान दशा का केवल चालीस वष पहले की उसकी दशा से मुक़ाबला करें, तो उसकी शोचनीय अवस्था पूणतया स्पष्ट हो जायेगी जमींदार और काश्तकार दोनो ने मिलकर मजदूर को दबा रखा है।"[2] इसके बाद इस रचना में विस्तार के साथ यह प्रमाणित किया गया है कि १७३७ और १७७७ के बीच खेतिहर मजदूरों की असल मजदूरी में लगभग चौथाई, या २५ प्रतिशत की कमी आयी। डा० रिचड प्राइस ने भी लिखा है कि "आधुनिक नीति ऊपरी वर्गों के अधिक अनुकूल है, और कुछ समय बाद इसका यह परिणाम हो सकता है कि पूरे राज्य में केवल कुलीन लोग और भिखारी, या धनी लोग और उनके गुलाम, ये दो ही वग रह जायें।"[3]

---

[1] James E Thorold Rogers (ऑक्सफोड विश्वविद्यालय मे अथशास्त्र के प्रोफेसर), *'A History of Agriculture and Prices in England* ('इगलैण्ड में खेती का और दामा का इतिहास'), Oxford, 1866, खण्ड १, पृ० ६९०। यह पुस्तक बडे अध्यवसाय और परिश्रम का फल है। अभी तक उसके दो खण्ड प्रकाशित हुए हैं। उनमें केवल १२५९ से १४०० तक का ही विवरण है। दूसरे खण्ड मे सिफ आकडे दिये गये हैं। इस काल के "दामा के इतिहास" पर यह पहली प्रामाणिक रचना है।

[2] *'Reasons for the Late Increase of the Poor Rates or a comparative view of the prices of labour and provisions* ('मुहताजो की सहायता के लिये लगाये गये करा मे इतनी देर के बाद वृद्धि करने के कारण, या श्रम के तथा खाने-पीने की वस्तुओ के दामा का तुलनात्मक अध्ययन'), London 1777 पृ० ५, ११।

[3] Dr Richard Price *'Observations on Reversionary Payments* (डा० रिचड प्राइस, 'प्रतिवर्ती भुगताना के विषय मे कुछ विचार'), छठा सस्करण, W Morgan द्वारा प्रकाशित, London, 1803 खण्ड १, पृ० १५८, १५९। प्राइस ने पृ० १५९ पर लिखा

इन तमाम बातो के बावजूद, १७७० से १७८० तक अंग्रेज खेतिहर मजदूर की भोजन और रहने के स्थान के मामले में और साथ ही आत्म-सम्मान तथा मनोरंजन आदि की दृष्टि से जो स्थिति थी, उसे एक ऐसा आदर्श माना जा सकता है, जिसतक वह उसके बाद फिर कभी नहीं पहुच सका। उसकी औसत मजदूरी, यदि उसे गेहू के पाइंटो में व्यक्त किया जाय, तो १७७० से १७७१ तक ६० पाइंट थी, जब कि ईडेन के काल में (१७६७ में) वह सिर्फ ६५ पाइंट और १८०८ में ६० पाइंट रह गयी थी।[1]

जैकोबिन विरोधी युद्ध में जमीन के मालिको, काश्तकारो, कारखानेदारो, सौदागरो, साहूकारो, शेयर बाजार के दलालो, फौज के ठेकेदारो आदि ने असाधारण रूप से धन बटोरा था। उसके अंतिम दिनो में खेतिहर मजदूर की क्या हालत थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। कुछ हद तक तो बैंक-नोटो का मूल्य ह्रास हो जाने के कारण और कुछ हद तक इसलिये कि इस मूल्य-ह्रास से स्वतंत्र रूप से भी जीवन-निर्वाह के प्राथमिक साधनो के दाम बढ़ गये थे,–इन दोनो कारणो से खेतिहर मजदूरो की नाम मात्र की मजदूरी में वृद्धि हो गयी थी। परन्तु असल मजदूरी में क्या परिवर्तन आया था, इसका बहुत आसानी से पता लगाया जा सकता है, और उसके लिये अनावश्यक विस्तार में जाने की कोई जरूरत नहीं है। १८१४ में भी गरीबो का कानून और उसका अमली रूप १७९५ के समान ही था। पाठको को यह याद होगा कि देहाती इलाको में इस क़ानून को कैसे अमल में लाया जाता था। मजदूर को किसी तरह केवल जिन्दा रहने के लिये जिस रकम की आवश्यकता थी, उसमें और उसकी नाम मात्र की मजदूरी में जितना अन्तर होता था, वह चच कोष से दी जाने वाली भीख के द्वारा पूरा कर दिया जाता था। काश्तकार जो मजदूरी देता था और सार्वजनिक कोष से जो कमी पूरी की जाती थी, उनके अनुपात से दो बातें प्रगट होती हैं। एक तो यह बात सामने आती है कि मजदूरो की मजदूरी अल्पतम सीमा के कितने नीचे गिर गयी थी। दूसरे, यह स्पष्ट होता है कि खेतिहर मजदूर किस हद तक मजदूर और मुहताज का मिश्रण बन गया था, या वह किस हद तक अपने गाव या कस्बे का अर्ध दास बन गया था। आइये, एक ऐसी काउण्टी को लें, जो सभी काउण्टियो में पायी जाने वाली औसत परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व करता है। १७९५ में नोर्थेम्पटनशायर में औसत साप्ताहिक मजदूरी ७ शिलिंग ६ पेंस थी। ६ व्यक्तियो के परिवार का कुल वार्षिक खर्चा ३६ पौण्ड १२ शिलिंग ५ पेंस बैठता था। उनकी कुल आय २९ पौण्ड १८ शिलिंग होती थी। सार्वजनिक कोष से ६ पौण्ड १४ शिलिंग २ पेंस की कमी पूरी की जाती थी। १८१४ में इसी काउण्टी में साप्ताहिक मजदूरी १२ शिलिंग २ पेंस हो गयी थी। ५ व्यक्तियो के परिवार का कुल वार्षिक खर्चा ५४ पौण्ड १८ शिलिंग ४ पेंस बैठता था। उनकी कुल आय होती थी ३६ पौण्ड २ शिलिंग। सार्वजनिक कोष

है "दिन भर के श्रम का दाम इस समय १५१४ के दाम के चौगुने या अधिक से अधिक पांचगुने से ज्यादा नहीं है। परन्तु अनाज का दाम तब से सातगुना हो गया है और मांस तथा कपड़े का दाम लगभग पन्द्रहगुना ज्यादा हो गया है। इसलिये, रहन सहन के खर्चे में जो इजाफा हो गया है, श्रम का दाम उसके अनुपात में नहीं बढ़ा है, बल्कि वह इससे इतना दूर है कि पहले उसका इस खर्चे के साथ जो अनुपात था, अब उसका आधा भी प्रतीत नहीं होता।'

[1] Barton, उप० पु०, पृ० २६। १८ वीं सदी के अंतिम दिनो के लिये देखिये Eden उप० पु०।

से १८ पौण्ड १६ शिलिंग ४ पेंस की कमी पूरी की जाती थी।[1] १७९५ में कमी मजदूरी के $\frac{१}{४}$ से भी कम थी, १८१४ में मजदूरी के आधे से भी ज्यादा की कमी रह जाती थी। यह बात स्वत स्पष्ट है कि ईडेन के काल में भी खेतिहर मजदूर के झोपडे में जो थोडा सा आराम दिखाई देता था, वह ऐसी परिस्थितियों में १८१४ तक गायब हो गया था।[2] तभी से काश्तकार के पास जितनी तरह के जानवर होते ह, उनमें से मजदूर पर – या instrumentum vocale (अमूक औजार) पर – सबसे ज्यादा जुल्म हो रहा है, उसे सबसे खराब भोजन मिलता है और उसके साथ सबसे अधिक पाशविक व्यवहार किया जाता है।

जब तक कि "१८३० के स्विंग उपद्रवो ने हमारे सामने (अर्थात, शासक वर्गों के सामने) जलते खलिहानो के प्रकाश में यह बात स्पष्ट नहीं कर दी कि खेतिहर इगलण्ड की सतह के नीचे भी वसी ही गरीबी और वसा ही भयानक, विद्रोही असतोष सुलग रहे ह, जसे औद्योगिक इगलण्ड की सतह के नीचे सुलग रहे ह"[3], तब तक चुपचाप यही हालत चलती रही। इसी समय सडलर ने हाउस आफ कामस में बोलते हुए खेतिहर मजदूरो को "सफेद चमडी वाले गुलामो" ("white slaves) का नाम दिया था, और एक बिशप ने यही नाम हाउस आफ लाडस में दोहराया था। उस काल के सबसे उल्लेखनीय अर्थशास्त्री, ई० जी० वेकफील्ड ने लिखा है "दक्षिणी इगलण्ड का किसान न तो स्वतत्र मनुष्य है और न ही दास है, वह मुहताज है।"[4]

अनाज सम्बधी कानूनो के मसूख होने के ठीक पहले जो जमाना आया, उसने खेतिहर मजदूरो की हालत पर नयी रोशनी डाली। एक ओर तो मध्य वर्गीय प्रचारको का हित यह प्रमाणित करने में था कि अनाज सम्बधी कानूनो से उन लोगो की बहुत कम रक्षा हुई है, जो सचमुच अनाज पैदा करते ह। दूसरी ओर, भू स्वामी अभिजात वग फक्टरी व्यवस्था की जो तीव्र निन्दा कर रहा था और ये सवथा भ्रष्ट, हृदयहीन और कुलीन कहलाने वाले आवारा लोग कारखानो में काम करने वाले मजदूरो के साथ जो दिखावटी सहानुभूति प्रकट कर रहे थे तथा फैक्टरी-कानून बनवाने के लिये जिस "कूटनीतिक उत्साह" का प्रदर्शन कर रहे थे, उसे देख देखकर औद्योगिक पूजीपति-वग क्रोध से आगबबूला हो रहा था। अग्रेजी की एक पुरानी कहावत है कि "जब चोरो में खटपट हो जाती है, तब भले लोगो की बन आती है।" और सचमुच, इस प्रश्न को लेकर कि शासक वग के इन दो गुटो में से कौनसा मजदूरो का अधिक लज्जाजनक ढग से शोषण करता है, उनके बीच जो झगडा छिड गया था और जिसके सिलसिले में इतना शोर मचाया जा रहा था और इतना तश दिखाया जा रहा था, उससे दोनो की असलियत सामने आ गयी थी। फैक्टरियो के खिलाफ अभिजात-वर्गीय लोकोपकारियो के इस आदोलन के प्रधान सेनापति शफ्टेसबरी के अर्ल थे, जो लाड ऐशले भी कहलाते थे। चुनाचे १८४५ में "*Morning Chronicle*" खेतिहर मजदूरो की दशा पर प्रकाश डालने

---

[1] Parry उप० पु०, पृ० ८६।

[2] उप० पु०, प० २१३।

[3] S Laing, उप० पु०, पृ० ६२।

[4] *England and America* ('इगलैण्ड और अमरीका'), London, 1833, खण्ड १, प० ४७।

वाले जो लेख प्रकाशित करता था, उनमें इन महोदय की अक्सर चर्चा रहती थी। यह पत्र उन दिनो देश का सबसे महत्वपूर्ण उदारपथी पत्र था। उसने अपने विशेष प्रतिनिधियो को खेतिहर इलाको की जाच करने के लिये भेजा। उन्होंने केवल सामान्य विवरण लिखकर या आकडे जमा करके ही सतोष नहीं किया, बल्कि उन्होंने मजदूरो के जिन परिवारो के बयान लिये, उनके तथा इन परिवारो के जमींदारो के नाम भी छाप दिये। निम्नलिखित सूची में दिखाया गया है कि ब्लनफोर्ड, विमबोन और पूल के पडोस में तीन गावो में मजदूरों को कितनी मजदूरी मिलती थी। ये गाव मि० जी० बैंक्स और शाफ्टेसबरी के अर्ल की सम्पत्ति थे। पाठक देखेंगे कि बैंक्स की तरह ही अग्रेज धर्म-सुधारको का यह नेता, "low church" का यह पोप भी मकान के किराये के नाम पर मजदूरो की मजदूरी का एक बडा हिस्सा खुद हडप जाता था। (देखिये पृ० ७५७।)

अनाज सम्बधी कानूनो के मसूख हो जाने से इगलण्ड की खेती को आश्चर्यजनक प्रोत्साहन मिला।[1] इस युग की विशेषताए थीं बहुत बडे पैमाने पर पानी की निकासी का बन्दोबस्त, बाधकर खिलाने और चारे की फसलो की बनावटी खेती के नये तरीका का प्रयोग, यान्त्रिक ढग से खाद देने के उपकरणो का इस्तेमाल, चिकनी मिट्टी वाली भूमि को नये तरीके से तैयार करना, रासायनिक खादो का पहले से अधिक प्रयोग, भाप के इजन और हर प्रकार की नयी मशीनो का इस्तेमाल और आम तौर पर पहले से अधिक गहन खेती। राजकीय कृषि परिषद के अध्यक्ष मि० पुसी ने ऐलान किया है कि नयी मशीनो के इस्तेमाल से खेती का (सापेक्ष) खर्चा लगभग आधा कम हो गया है। दूसरी ओर, धरती की असली उपज तेजी से बढी। नये तरीके के लिये यह बिल्कुल जरूरी था कि फी एकड पहले से ज्यादा पूजी लगायी जाये, जिसके फलस्वरूप खेतो का सकेद्रण और तेजी के साथ होने लगा।[2] साथ ही १८४६ और १८५६ के बीच खेती के रक्बे में ४,६४,११६ एकड का इजाफा हो गया। इसमें पूर्वी काउण्टियो का वह बडा इलाका शामिल नहीं है, जहा पहले सिर्फ खरगोशो को पालने के अहाते और घटिया किस्म की चरागाहे थीं पर जो बाद को अनाज के शानदार खेतो में

---

[1] भू-स्वामी अभिजात वर्ग ने इसके लिये राज्य के कोष से बहुत सारा धन बहुत सस्ते सूद पर उधार ले लिया, जिसे काश्तकारो को सूद की बहुत ऊची दर के साथ अदा करना पड़ रहा है। जाहिर है, यह काम भू-स्वामी अभिजात वर्ग ने ससद के जरिये किया था।

[2] मध्य वर्गीय काश्तकारो की सख्या मे कितनी कमी आ गयी है, यह खास तौर पर जन गणना की इस मद के आकडो से मालूम किया जा सकता है 'काश्तकार का बेटा, पोता, भाई, भतीजा, बेटी, पोती, बहिन, भतीजी," या, एक शब्द मे, उसके अपने परिवार के सदस्य, जो उसके लिये काम करते हैं। १८५१ में २,१६,८५१ व्यक्ति इस मद मे आते थे, १८६१ मे उनकी सख्या केवल १,७६,१५१ रह गयी। १८५१ से १८७१ तक २० एकड से कम के फार्मों की सख्या में ६०० से अधिक की कमी हो गयी, ५० एकड से ७५ एकड तक के फार्मों की सख्या ८,२५३ से ६,३७० रह गयी और १०० एकड से कम के बाकी सब फार्मों का भी यही हाल हुआ। दूसरी ओर, इन्ही बीस वर्षों मे बडे फार्मों की सख्या बढ गयी। ३०० एकड से ५०० एकड तक के फार्मों की तादाद ७,७७१ से बढकर ८,४२० हो गयी, ५०० एकड से ऊपर के फार्म २,७५५ से बढकर ३,६१४ और १००० एकड से ऊपर के फार्म ४६२ से बढकर ५८२ हो गये।

(क) बच्चों की संख्या	(ख) परिवार में सदस्यों की संख्या	(ग) पुरुषों की साप्ताहिक मजदूरी		(घ) बच्चों की साप्ताहिक मजदूरी		(च) पूरे परिवार की साप्ताहिक आय		(छ) साप्ताहिक किराया		(ज) किराया कटने के बाद साप्ताहिक आय		(झ) प्रति व्यक्ति साप्ताहिक आय	
		शिलिंग	पेन्स	शिलिंग	पेन्स	शिलिंग	पेन्स	शिलिंग	पेन्स	शिलिंग	पेन्स	शिलिंग	पेन्स
पहला गाव													
२	४	८	०	–		८	०	२	०	६	०	१	६
३	५	८	०	–		८	०	१	६	६	६	१	३ १/२
२	४	८	०	–		८	०	१	०	७	०	१	९
२	४	८	०	–		८	०	१	०	७	०	१	९
६	८	७	०	१ २	६ ०	१०	६	२	०	८	६	१	० १/४
३	५	७	०	–		७	०	१	४	५	८	१	१ १/२
दूसरा गाव													
६	८	७	०	१ १	६ ६	१०	०	१	६	८	६	१	० ३/४
६	८	७	०	–		७	०	१	३ १/२	५	८ १/२	०	८ १/२
८	१०	७	०	–		७	०	१	३ १/२	५	८ १/२	०	७
४	६	७	०	–		७	०	१	६ १/२	५	५ १/२	०	११
३	५	७	०	–		७	०	१	६ १/२	५	५ १/२	१	१
तीसरा गाव													
४	६	७	०	–		७	०	१	०	६	०	१	०
३	५	७	०	२ २	० ६	११	६	०	१०	१०	८	२	१ १/२
०	२	५	०	–		५	०	१	०	४	०	२	०[1]

[1] लन्दन का *Economist*, २९ मार्च १८४५, पृ० २९०।

बदल गया था। हम यह पहले ही बता चुके ह कि इसके साथ-साथ खेती में काम करने वाले व्यक्तियो की कुल सख्या घट गयी। जहा तक खास खेत-मजदूरो का सम्बध है, १८५१ में हर उम्र के खेतिहर मजदूरो और मजदूरिनो की कुल सख्या १२,४१,३९६ थी और १८६१ में वह घटकर ११,६३,२१७ रह गयी थी।[1] इसलिये, अग्रेज रजिस्ट्रार-जनरल ने ठीक ही कहा है कि "१८०१ के बाद से काश्तकारों और खेत मजदूरो की सख्या में जो वृद्धि हुई है, वह खेती की उपज की वृद्धि के अनुपात में कुछ भी नहीं है"[2], परन्तु यह व्यनुपात एकदम अन्तिम काल में अधिक देखने में आया, जब कि खेतिहर जन सख्या में ठोस कमी होने के साथ-साथ खेती का रकबा बढ गया, पहले से अधिक गहन खेती होने लगी, जमीन के साथ समाविष्ट और उसके विकास में लगी हुई पूजी का अभूतपूर्व सचय हुआ, धरती की उपज में ऐसी वद्धि हुई, जिसकी इगलण्ड की खेती के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं मिलती, जमींदारा की जमाबदिया फूलकर गुबारा हो गयीं और पूजीवादी काश्तकारो का धन बढ़ने लगा। इसके साथ साथ यदि हम यह भी याद करें कि इस काल में मडियो का – जसे शहरो का – अविराम विस्तार हुआ और स्वतत्र व्यापार का राज्य रहा, तो secundum artem (सद्धान्तिक दृष्टि से) यह सोचना अस्वाभाविक न होगा कि post tot discrimina rerum (इतने दिनो बाद आखिर) खेतिहर मजदूर हर्षोन्मुक्त कर देने वाली परिस्थितियो में रहने लगा होगा।

लेकिन प्रोफेसर रौजस इस नतीजे पर पहुचे हैं कि खेत मजदूर के १४ वीं शताब्दी के उत्तराध तथा १५ वीं शताब्दी के पूवजो की बात तो जाने दीजिये, आज के अग्रेज खेत मजदूर की हालत १७७० से १७८० तक के पूवजो की तुलना में भी असाधारण रूप से खराब हो गयी है, "किसान फिर कृषि दास बन गया है," और कृषि-दास भी ऐसा, जिसको पहले से खराब भोजन और पहले से खराब कपडा मिलता है।[3] खेतिहर मजदूरो के निवास स्थाना के सम्बध में अपनी युगान्तरकारी रिपोर्ट में डा० जूलियन हण्टर ने कहा है "hind (खेत मजदूर का नाम, जो कृषि दास प्रथा के काल से विरासत में मिला है) "का खर्चा इस आधार पर निर्धारित किया जाता है कि वह कम से कम कितनी रकम में जिन्दा रह सकता है उसे कितनी मजदूरी और आश्रय मिलना चाहिये, इसका हिसाब इस आधार पर नहीं लगाया जाता कि उसकी मेहनत से कितना मुनाफा हासिल किया जा सकता है। खेता के हिसाब किताब में उसे तो शून्य मान लिया जाता है[4] और उसके (जीवन निर्वाह के)

---

[1] गडरियो की सख्या १२,५१७ से बढकर २५,५५९ हो गयी।

[2] Census (जन गणना), उप० पु०, पृ० ३६।

[3] Rogers उप० पु०, पृ० ६९३, पृ० १०। मि० रौजस उदारपथी मत के अर्थशास्त्री और कोबडेन और ब्राइट के व्यक्तिगत मित्र हैं, और इसलिये यह सम्भव नही है कि वह laudator temporis acti (प्राचीन काल के पुजारी) हो।

[4] *Public Health Seventh Report* ('सावजनिक स्वास्थ्य की सातवी रिपोर्ट'), London 1865 पृ० २४२। इसलिये, ज्यो ही यह सुनायी देता है कि मजदूर पहले से कुछ ज्यादा कमा लेता है, त्यो ही अगर जमीदार अपना किराया बढा देता है, या काश्तकार अगर इस बहाने से कि 'मजदूर की पत्नी का कुछ काम मिल गया है,' उसकी मजदूरी कम कर देता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (उप० पु०।)

साधनो को हमेशा एक स्थिर मात्रा माना जाता है।"[1] "जहा तक उसकी आय के और घटा दिये जाने का सवाल है, वह कह सकता है कि nihil habeo nihil curo (मेरे पास न तो कुछ है, और न म परवाह करता हू)। उसे भविष्य का कोई भय नहीं है, क्योंकि अब उसके पास केवल उतना ही है, जितना उसे जिन्दा रखने के लिये जरूरी है। वह उस शून्य पर पहुच गया है, जहा से काश्तकार का हिसाब आरम्भ होता है। अब तो भविष्य कैसा भी हो, वह न तो समृद्धि में हिस्सा बटा सकता है और न विपत्ति में।"[2]

१८६३ में उन अपराधियो के पोषण और श्रम सम्बधी स्थिति की सरकारी जाच हुई, जिनको काले पानी की और कडी कैद की सजा मिली हुई थी। इस जाच के नतीजे दो बडे पोथो (Blue books) में दर्ज हैं। अन्य बातो के अलावा उनमें कहा गया है कि "इगलण्ड के जेलखानो में दण्डित बन्दियो के भोजन की इसी देश के मुहताजखानो में मुहताजो तथा स्वतत्र खेत-मजदूरो के भोजन के साथ विस्तारपूर्वक तुलना करने पर निश्चय ही यह बात सामने आती है कि बन्दियो को दूसरे दोनो वर्गों से बहुत अच्छा भोजन मिलता है",[3] जब कि "कडी कैद भोगने वाले एक साधारण बन्दी को जितना श्रम करना पडता है, वह साधारण खेत-मजदूर द्वारा किये जाने वाले श्रम का लगभग आधा होता है"[4] गवाहो के बयानो के कुछ उल्लेखनीय अश सुनिये। एडिनबरा जेलखाने के गवनर जान स्मिथ ने कहा – न० ५०५६ – "इगलण्ड में जेलखानो का भोजन साधारण खेत-मजदूरो के भोजन से बेहतर होता है।" न० ५० – "यह बिलकुल सच है कि स्कोटलण्ड के साधारण खेत-मजदूरो को बहुत मुश्किल से ही कभी जरा सा मास मिलता है।" उत्तर न० ३०४७ – "क्या आपको किसी ऐसे कारण की जानकारी है, जिससे इन लोगो को साधारण खेत-मजदूरो की अपेक्षा बहुत अच्छा भोजन देना जरूरी है?" – "जी नहीं।" न० ३०४८ – "क्या आपके विचार से कुछ और प्रयोगो के द्वारा यह पता लगाने की कोशिश करनी चाहिये कि सावजनिक निर्माण कार्यों में जिन कैदियो से काम लिया जा रहा है, उनके लिये क्या ऐसे भोजन की व्यवस्था नहीं की जा सकती, जो स्वतत्र मजदूरो के भोजन से मिलता-जुलता हो?"[5] " वह (खेत मजदूर) कह सकता है कि 'म सख्त मेहनत करता हू और फिर भी मुझे खाने को काफी नहीं मिलता, पर जब म जेल में था, तो पेट भरकर खाता था, मगर यहा से ज्यादा मेहनत नहीं करनी पडती थी। इसलिये यहा रहने से तो यही बेहतर है कि फिर जेल चला जाऊ'।"[6] रिपोट के पहले खण्ड के साथ जो तालिकाए नत्थी हैं, उनका निचोड निकालकर मने यह तुलनात्मक तालिका तयार की है

---

[1] उप० पु०, पृ० १३५।

[2] उप० पु०, पृ० १३४।

[3] *Report of the Commissioners relating to Transportation and Penal Servitude* ('काले पानी और कडी कैद के सम्बध मे जाच कमिशनरो की रिपोट'), London 1863, पृ० ४२, न० ५०।

[4] उप० पु०, प० ७७। *'Memorandum by the Lord Chief Justice'* ('लार्ड चीफ जस्टिस का स्मृति पत्र')।

[5] उप० पु०, खण्ड २, गवाहो के बयान (पृ० ४१८, २३६)।

[6] उप० पु०, खण्ड १, परिशिष्ट, पृ० २८०।

भोजन की साप्ताहिक मात्रा

	नाइट्रोजनी अंश की मात्रा	ग़ैर-नाइट्रो-जनी अंश की मात्रा	खनिज पदार्थ की मात्रा	कुल जोड़
	औंस	औंस	औंस	औंस
पोटलण्ड का क़ैदी	२८.९५	१५०.०६	४.६८	१८३.६९
जहाजी बेड़े का मल्लाह	२९.६३	१५२.९१	४.५२	१८७.०६
फ़ौजी सिपाही	२५.५५	११४.४९	३.९४	१४३.९८
बग्घी बनाने वाला कारीगर	२४.५३	१६२.०६	४.२३	१९०.८२
कम्पोज़िटर	२१.२४	१००.८३	३.१२	१२५.१९
खेतिहर मजदूर	१७.७३	११८.०६	३.२९	१३९.०८[1]

१८६३ के डाक्टरी-कमीशन ने सबसे ख़राब भोजन पाने वाले वर्गों के खाने की जो जांच की थी, उसके सामान्य परिणामों से पाठक पहले ही परिचित हो चुके हैं। उनको याद होगा कि खेतिहर मजदूरों के अधिकतर परिवारों का भोजन उस अल्पतम मात्रा से भी कम होता है, जो "भूख से पैदा होने वाली बीमारियों को दूर रखने के लिये" आवश्यक है। कौनवाल, डेवन, सोमरसेट, विल्ट्स, स्टैफ़र्ड, ऑक्सफ़ोर्ड, बर्क्स और हेर्ट्स जैसे तमाम विशुद्ध रूप से देहाती डिस्ट्रिक्टों में ख़ास तौर पर यह बात देखने में आती है। डा० ई० स्मिथ ने कहा है : "ख़ुद मजदूर को जितना पोषण मिलता है, वह औसत मात्रा से कुछ अधिक होता है, क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा ... भोजन का ज्यादा बड़ा हिस्सा खाता है, ... ताकि वह मेहनत कर सके, अधिक ग़रीब डिस्ट्रिक्टों में लगभग सारा मांस और सुअर का नमकीन गोश्त भी उसी के हिस्से में आता है ... मजदूर की बीवी और बच्चों को, उनके तेज़ विकास के काल में भी, लगभग प्रत्येक काउण्टी में अपर्याप्त भोजन मिलता है, जिसमें ख़ास तौर पर, नाइट्रोजन की बहुत कमी होती है।"[2] जो नौकर नौकरानियां ख़ुद काश्तकार के घर में रहते हैं, उनका काफ़ी अच्छा पोषण होता है। परन्तु उनकी संख्या, जो १८५१ में २,८८,२७७ थी, १८६१ तक केवल २,०४,९६२ रह गयी थी। डा० स्मिथ ने लिखा है : "खेतों में स्त्रियों के काम करने से और जो भी बुराई पैदा होती हो, ... वर्तमान परिस्थिति में वह परिवार के लिये लाभदायक है, क्योंकि उससे आय में वह वृद्धि हो जाती है, जिससे जूते और कपड़े आ जाते हैं, किराया दे दिया जाता है और इसलिये जिसकी वजह से भोजन भी बेहतर मिलने लगता है"[3] इस जांच से एक बहुत ही उल्लेखनीय निष्कर्ष यह निकला था कि संयुक्त राज्य के अन्य भागों के खेत-मजदूरों की तुलना में इंगलैण्ड के खेतिहर

[1] उप० पु०, पृ० २७४, २७५।

[2] *Public Health Sixth Report* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'), 1864, पृ० २३८, २४९, २६१, २६२।

[3] उप० पु०, पृ० २६२।

मजदूर को सबसे खराब भोजन मिलता है ("is considerably the worst fed)। इस सम्बन्ध में नीचे दी गयी तालिका देखिये

औसत ढंग का वयस्क खेतिहर व्यक्ति सप्ताह में कार्बन
और नाइट्रोजन की कितनी मात्रा खाता है

	कार्बन (ग्रेन में)	नाइट्रोजन (ग्रेन में)
इंगलैण्ड	४६,६७३	१,५६४
वेल्स	४८,३५४	२,०३१
स्कोटलैण्ड	४८,६८०	२,३४८
आयरलैंड	४३,३६६	२,४३४[1]

[1] उप० पु०, पृ० १७। अंग्रेज खेतिहर मजदूर को आयरलैंडवासी खेत-मजदूर के मुकाबले में केवल चौथाई दूध और आधी रोटी खाने को मिलती है। "*Tour in Ireland*" ('आयरलैण्ड की यात्रा') शीर्षक अपनी रचना में आर्थर यंग ने इस शताब्दी के आरम्भ में ही इस बात का जिक्र किया था कि आयरलैण्डवासी खेत-मजदूरों को बेहतर भोजन मिलता है। कारण बहुत साधारण था। आयरलैण्ड का ग़रीब काश्तकार इंगलैण्ड के धनी काश्तकार की अपेक्षा बहुत सहृदय होता है। जहां तक वेल्स का सम्बन्ध है, हमने ऊपर जो कुछ कहा है, वह केवल दक्षिण-पश्चिमी भाग पर लागू नहीं होता। वेल्स के तमाम डाक्टर इस बात से सहमत हैं कि आबादी की शारीरिक हालत के बिगड़ने पर तपेदिक, ग्रंथियों की सूजन आदि रोगों से मरने वालों की संख्या में बहुत तेज़ी से वृद्धि होने लगती है, और सभी डाक्टरों की राय है कि आबादी की शारीरिक हालत गरीबी के कारण बिगड़ती है। "अनुमान है कि उस (खेत-मजदूर) के जीवन-निर्वाह पर पांच पेंस रोजाना खर्च होते हैं, लेकिन बहुत से डिस्ट्रिक्टों में काश्तकार का" (जो ख़ुद बहुत गरीब होता है) "इससे बहुत कम खर्च होता है नमक लगा हुआ जरा सा मांस या सुअर का गोश्त, जो सूखकर और नमक लगकर महोगनी की लकड़ी जैसा हो गया है और जिसको हजम करने में जितनी ताकत लग जाती है, उतनी उसको खाने से बदन में नहीं आती, यह जरा सा मांस आटा या सत्तू और गंदना घास के बने शोरबे या दलिये में मांस की ख़ुशबू पैदा करने के लिये डाल दिया जाता है, और दिन के बाद दिन बीतते चले जाते हैं, और मजदूर को रोज यही भोजन मिलता है।" उद्योगों के विकास का उसके लिये यह परिणाम हुआ कि इस सख्त ठण्डे और नम जलवायु में रहते हुए भी उसने "घर का कता गाढ़ा पहनना बन्द कर दिया और उसकी जगह सस्ता और तथाकथित सूती कपड़ा पहनने लगा" और शराब या बियर पीना बन्द करके तथाकथित चाय पीने लगा। "खेतिहर कई घण्टे तक हवा और पानी में काम करने के बाद अपने झोपड़े में जाकर आग तापने के लिये बैठ जाता है। आग या तो जोणक से जलायी जाती है और या कोयले के चूरे की मिट्टी में सानकर छोटे छोटे गोले बना लिये जाते हैं और उनको जलाया जाता है, जिनसे कार्बोनिक और सलफ्यूरिक अम्ल का ढेरों धुआं निकला करता है। झोपड़े की दीवारें गारे और पत्थरों की बनी होती हैं, फर्श उसी नंगी मिट्टी का होता है, जो झोपड़ा बनने के पहले भी इसी हालत में थी। छत की जगह पर भारी फूस का एक ढीला सा छप्पर बंधा रहता है। झोपड़े को गरम रखने के लिये हरेक सूराख बन्द कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप सारा वातावरण जहरीली बदबू से भरा रहता है। इस वातावरण में मिट्टी

भोजन की साप्ताहिक मात्रा

	नाइट्रोजनी अश की मात्रा	गर-नाइट्रो जनी अश की मात्रा	खनिज पदार्थ की मात्रा	कुल जोड
	औंस	औंस	औंस	औंस
इग्लैण्ड का कैदी	२८ ६५	१५० ०६	४ ६८	१८३ ६६
जहाजी बेडे का मल्लाह	२६ ६३	१५२ ६१	४ ५२	१८७ ०६
फौजी सिपाही	२५ ५५	११४ ४६	३ ६४	१४३ ६८
गाडी बनाने वाला कारीगर	२४ ५३	१६२ ०६	४ २३	१६० ८२
कम्पोजिटर	२१ २४	१०० ८३	३ १२	१२५ १६
खेतिहर मजदूर	१७ ७३	११८ ०६	३ २६	१३६ ०८[1]

१८६३ के डाक्टरी कमीशन ने सबसे खराब भोजन पाने वाले वर्गों के खाने की जो जाच
ी, उसके सामान्य परिणामो से पाठक पहले ही परिचित हो चुके ह। उनको याद होगा
ेतिहर मजदूरो के अधिकतर परिवारो का भोजन उस अल्पतम मात्रा से भी कम होता
तो "भूख से पदा होने वाली बीमारियो को दूर रखने के लिये" आवश्यक है। कौनवाल,
, सोमरसेट, विल्टस, स्टफर्ड, ऑक्सफोड, बर्क्स और हेर्ट्स जसे तमाम विशुद्ध रूप
ाती डिस्ट्रिक्टो में खास तौर पर यह बात देखने में आती है। डा० ई० स्मिथ ने कहा
"खुद मजदूर को जितना पोषण मिलता है, वह औसत मात्रा से कुछ अधिक होता है,
 वह परिवार के अन्य सदस्यो की अपेक्षा भोजन का ज्यादा बडा हिस्सा खाता
 ताकि वह मेहनत कर सके, अधिक गरीब डिस्ट्रिक्टो में लगभग सारा मास और
 का नमकीन गोश्त भी उसी के हिस्से में आता है मजदूर की बीवी और बच्चो
 उनके तेज विकास के काल में भी, लगभग प्रत्येक काउण्टी में अपर्याप्त भोजन मिलता
जिसमें खास तौर पर नाइट्रोजन की बहुत कमी होती है।"[2] जो नौकर नौकरानिया खुद
कार के घर में रहते ह, उनका काफी अच्छा पोषण होता है। परन्तु उनकी सख्या, जो
१ में २,८८,२७७ थी, १८६१ तक केवल २,०४,६६२ रह गयी थी। डा० स्मिथ ने
 है "खेतो में स्त्रियो के काम करने से और जो भी बुराई पदा होती हो, वतमान
यति में वह परिवार के लिये लाभदायक है, क्योकि उससे आय में वह वृद्धि हो जाती है,
 जूते और कपडे आ जाते ह, किराया दे दिया जाता है और इसलिये जिसकी वजह से
 भी बेहतर मिलने लगता है"[3] इस जाच से एक बहुत ही उल्लेखनीय निष्कर्ष यह निकला
कि सयुक्त राज्य के अन्य भागो के खेत-मजदूरो की तुलना में इंगलण्ड के खेतिहर

---

[1] उप० पु०, पृ० २७४, २७५।

[2] *Public Health Sixth Report* ('सावजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'),
, पृ० २३८, २४६, २६१, २६२।

[3] उप० पु०, पृ० २६२।

मजदूर को सबसे खराब भोजन मिलता है ("is considerably the worst fed)। इस सम्बध में नीचे दी गयी तालिका देखिये

औसत ढग का वयस्क खेतिहर व्यक्ति सप्ताह में कार्बन
और नाइट्रोजन की कितनी मात्रा खाता है

	कार्बन (ग्रेन में)	नाइट्रोजन (ग्रेन में)
इगलैण्ड	४६,६७३	१,५६४
वेल्स	४८,३५४	२,०३१
स्कोटलैण्ड	४८,६८०	२,३४८
आयरलैण्ड	४३,३६६	२,४३४[1]

[1] उप० पु०, पृ० १७। अग्रेज खेतिहर मजदूर को आयरलैण्डवासी खेत मजदूर के मुकाबले मे केवल चौथाई दूध और आधी रोटी खाने को मिलती है। *"Tour in Ireland"* ('आयरलैण्ड की यात्रा') शीर्षक अपनी रचना मे अथर यग ने इस शताब्दी के आरम्भ मे ही इस बात का जिक्र किया था कि आयरलैण्डवासी खेत-मजदूरो को बेहतर भोजन मिलता है। कारण बहुत साधारण था। आयरलैण्ड का गरीब काश्तकार इगलैण्ड के धनी काश्तकार की अपेक्षा बहुत सहृदय होता है। जहा तक वेल्स का सम्बध है, हमने ऊपर जो कुछ कहा है, वह केवल दक्षिण पश्चिमी भाग पर लागू नही होता। वेल्स के तमाम डाक्टर इस बात से सहमत है कि आबादी की शारीरिक हालत के बिगडने पर तपेदिक, ग्रथियो की सूजन आदि रोगो से मरने वालो की सख्या मे बहुत तेजी से वृद्धि होने लगती है, और सभी डाक्टरो की राय है कि आबादी की शारीरिक हालत गरीबी के कारण बिगडती है। "अनुमान है कि उस (खेत मजदूर) के जीवन-निर्वाह पर पाच पेस रोजाना खर्च होते है, लेकिन बहुत से डिस्ट्रिक्टो में काश्तकार का" (जो खुद बहुत गरीब होता है) "इससे बहुत कम खर्च होता है *नमक लगा हुआ जरा सा मास या सुअर का गोश्त*, जो सूखकर और नमक लगकर महोगनी की लकडी जैसा हो गया है और जिसको हजम करने मे जितनी ताकत लग जाती है, उतनी उसको खाने से बदन मे नही आती, यह जरा सा मास आटा या सत्तू और गदना घास के बने शोरबे या दलिये मे मास की खुशबू पैदा करने के लिये डाल दिया जाता है, और दिन के बाद दिन बीतते चले जाते है, और मजदूर को रोज यही भोजन मिलता है।" उद्योगो के विकास का उसके लिये यह परिणाम हुआ कि इस सख्त ठण्डे और नम जलवायु मे रहते हुए भी उसने "घर का बना गाढा पहनना बन्द कर दिया और उसकी जगह सस्ता और तथाकथित सूती कपडा पहनने लगा" और शराब या बियर पीना बन्द करके तथाकथित चाय पीने लगा। "खेतिहर कई घण्टे तक हवा और पानी में काम करने के बाद अपने झोपडे मे जाकर आग तापने के लिये बैठ जाता है। आग या तो जीणक से जलायी जाती है और या कोयले के चूरे को मिट्टी मे सानकर छोटे छोटे गोले बना लिये जाते है और उनको जलाया जाता है, जिनसे कार्बोनिक और सलफ्यूरिक अम्ल का ढेरो धुआ निकला करता है। झोपडे की दीवारे गारे और पत्थरो की बनी होती है, फर्श उसी नगी मिट्टी का होता है, जो झोपडा बनने के पहले भी इसी हालत में थी। छत की जगह पर भारी फूस का एक ढीला सा छप्पर बधा रहता है। झोपडे को गरम रखने के लिये हरेक सूराख बन्द कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप सारा वातावरण जहरीली बदबू से भरा रहता है। इस वातावरण मे मिट्टी

डा० साइमन ने अपनी स्वास्थ्य सम्बधी सरकारी रिपोर्ट में कहा है "हमारे खेतिहर मजदूरो के पास रहने का स्थान कितना कम और कैसा खराब है, इसका प्रमाण डा० हण्टर की रिपोर्ट के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जाता है। और अनेक वर्षों से इस मामले में मजदूर की हालत धीरे धीरे बिगडती ही जा रही है। अब घर के वास्ते स्थान पाने में उसको जितनी अधिक कठिनाई होती है, उतनी कठिनाई उसे शायद कई सदियो से नहीं हुई थी, और अब यदि उसे कोई स्थान मिलता भी है, तो उसको आवश्यकताओ को देखते हुए वह इतना

के कच्चे फर्श पर बैठा हुआ या लेटा हुआ मजदूर अपने बीवी बच्चा के साथ खाना खाता है और सोता है। उसकी एकमात्र पोशाक उसकी पीठ पर ही सूखती है। जिन दाइयो या डाक्टरा ने बच्चे पैदा करने के लिये इन झोपडो में रात का कोई हिस्सा बिताया है, उन्होंने बताया है कि किस तरह उनके पैर फर्श के कीचड मे धस गये थे और किस तरह उनको सास लेने के लिये दीवार मे सूराख करना पडा था (जो, जाहिर है, बहुत आसान काम था)। जीवन के विभिन्न स्तरा से सम्बध रखने वाले अनेक गवाहो ने यह बताया कि अपर्याप्त पोषण पाने वाले (underfed) किसान को हर रात इस गदे वातावरण में बितानी पडती है। और इसका जो नतीजा होता है, उसके फलस्वरूप क्षीणदेह तथा रोगी लोगो की जो आबादी देहात मे नजर आती है, उसके अस्तित्व के प्रमाणा का कोई अभाव नही है कारमार्थेनशायर और काडिगनशायर के सहायता अधिकारियो के बयानो से भी बिल्कुल इसी तरह की हालत जाहिर होती है। इसके अलावा वहा "एक और भी भयकर महामारी फैली हुई है, वह यह कि वहा मर्खो की तादाद बहुत बडी है"। अब जलवायु के बारे मे भी कुछ बता दिया जाये। "साल मे ८ या ६ महीने पूरे देश मे तेज दक्षिण पश्चिमी हवा चलती है, जो अपने साथ मूसलाधार पानी लाती है। यह पानी मुख्यतया पहाडिया की पश्चिमी ढाला पर बरसता है। कुछ परिरक्षित स्थाना को छोडकर पड बहुत कम है, और जहा उनकी रक्षा करने के लिये कोई चीज नही है, वहा हवा उनको एकदम तोड मरोड डालती है। झोपडे आम तौर पर किसी पुश्ते की गोद मे या किसी घाटी या गढे म दुबके रहते है, और हद दर्जे की छोटी भेडो तथा देशी गाया के अलावा और कोई पशु चरागाहो पर नही ठहर पाता लडके-लडकिया पूव के ग्लामौगन और मौनमाउथ के खाना वाले डिस्ट्रिक्टा को चले जाते है। कारमार्थेनशायर ही वह जगह है, जहाँ खाना मे काम करने वाला का जन्म होता है, और पगु हो जाने पर भी वे यही रहते है। इसलिये, यहा की आबादी बहुत मुश्किल से ही अपनी तादाद का कायम रख पाती है। चुनाचे काडिगनशायर की आबादी के आकडे देखिये

	१८५१	१८६१
पुरुष	४५,१५५	४४,४४६
स्त्रिया	५२,४५६	५२,६५५
	६७ ६१४	६७,४०१'

(डा० हण्टर की रिपोर्ट, *Public Health Seventh Report 1865* ['सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट, १८६५], London 1865 पृ० ४६८–५०२, विभिन्न स्थाना पर।)

अनुपयुक्त होता है, जितना अनुपयुक्त स्थान शायद उसे कई सदियो से नहीं मिला था। पिछले बीस या तीस वर्षों में खास तौर पर यह बुराई बहुत बढ गयी है, और घर के मामले में खेत-मजदूर की हालत इस समय बहुत ही शोचनीय है। उसका श्रम जिन लोगो को दौलतमद बनाता है, वे ही भले कभी कभार उसपर थोडी दया दिखा दें, पर वैसे मजदूर इस मामले में बिल्कुल असहाय होता है। वह जिस जमीन को जोतता है, उसपर उसे रहने के लिये कोई स्थान मिलेगा या नहीं, वह स्थान मनुष्यो के रहने के लायक होगा या सुअरो के, और वह अपने घर के पास एक छोटा सा बगीचा लगा पायेगा या नहीं, जो कि उसके गरीबी के बोझे को बहुत हलका कर देता है,—यह सब इसपर निभर नहीं करता कि वह जिस प्रकार का अच्छा स्थान चाहता है, उसका उचित किराया देने की उसमें इच्छा तथा योग्यता है या नहीं, बल्कि यह सब दूसरो की इच्छा पर निर्भर करता है। उनको अधिकार मिला हुआ है कि "वे अपनी सम्पत्ति के साथ जो चाहें, कर सकते ह।" यह सब इसपर निभर करता है कि दूसरे लोग अपने इस अधिकार का किस प्रकार प्रयोग करते ह। कोई फाम कितना भी बडा क्यो न हो, ऐसा कोई कानून नहीं है कि उसके आकार के अनुपात में मजदूरो के रहने के लिये घर बनवाना जरूरी हो (अच्छे घरो की तो बात ही जाने दीजिये), न ही कोई कानून यह कहता है कि जिस धरती के लिये मजदूर की मेहनत उतनी ही आवश्यक है, जितनी धूप और बारिश, उसपर मजदूर का भी किंचित मात्र अधिकार होता है एक बाहरी तत्व हमेशा उसके विरोधी पलडे को भारी रखता है वह बाहरी तत्व है गरीबो के कानून की बस्ती तथा प्रभायता सम्बधी धाराए।[1] इन धाराओ के प्रभाव का यह फल होता है कि प्रत्येक गाव या कस्बे का आर्थिक हित यही होता हे कि अपने यहा बसे हुए मजदूरो की सख्या को कम से कम रखे। कारण कि दुर्भाग्यवश कठोर परिश्रम करने वाले मजदूर तथा उसके परिवार को खेतो पर काम करके सुरक्षित भविष्य तथा स्थायी स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती, बल्कि यह उसके लिये प्राय अत में मुहताजी की स्थिति में पहुच देने का छोटा या लम्बा रास्ता साबित होता है,—इस पूरे रास्ते के दौरान में मुहताजी की यह मजिल उनके इतनी नजदीक होती है कि कोई भी बीमारी या थोडी देर की बेकारी आती है, तो मजदूर को फौरन सावजनिक सहायता मागनी पडती है, और इसलिये प्रत्येक गाव या कस्बे के लिये खेतिहर मजदूरो के वहा बसने का मतलब यह होता है कि उसे मुहताजो की सहायता के कोष के वास्ते ज्यादा कर देना पडता है जमीन के बडे-बडे मालिक[2] यदि बस इतना तै कर लेते हे कि उनकी जमीनो पर मजदूरो के मकान नहीं बनने पायेंगे, तो उनकी जमींदारिया उसी समय से मुहताजो की सहायता करने की आधी जिम्मेदारी मे मुक्त हो जाती ह। अग्रेजी विधान और कानून की दृष्टि से जमीन पर इस प्रकार का प्रतिबधरहित स्वामित्व कहा तक उचित है और वे इस बात की कहा तक अनुमति देते ह कि जमींदार अपनी सम्पत्ति का

---

[1] १८६५ मे इस कानून मे कुछ सुधार किया गया। पर शीघ्र ही अनुभव से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इस तरह के पैबद लगाने से कोई लाभ नही है।

[2] इसके आगे जो कुछ लिखा है, उसको समझने के लिये हमे यह याद रखना चाहिये कि close villages (बन्द गाव) व है, जिनके मालिक एक या दो बडे जमीदार हैं, और open villages (खुले गाव) वे हैं, जिनके मालिक बहुत से छोटे छोटे जमीदार है। मकानो का व्यवसाय करने वाले लोग इन खुले गावो मे ही झोपडे और सराय आदि बनवा सकते ह।

इच्छानुसार उपयोग करते हुए जमीन के जोतने-बोने वालो के साथ विदेशियो जसा व्यवहार करे और चाहे, तो अपने इलाके से उन्हें जलावतन कर दे,—यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर म यहा विचार करने की जरूरत नहीं समझता कारण कि बेदखल करने का वह (अधिकार) केवल सद्धान्तिक ही नहीं है। बहुत बडे पमाने पर यह अधिकार अमल में लाया जाता है और इस तरह अमल में लाया जाता है कि जहा तक रहने के लिये घर का सवाल है, खेतिहर मजदूर का जीवन मुख्यतया इसी अधिकार के प्रयोग पर निभर करता है यह बुराई कितनी फली हुई है, यह बताने के लिये केवल उस सामग्री का हवाला देना ही काफी है, जो डा० हण्टर ने पिछली जन-गणना से एकत्रित की है। उससे पता चलता है कि स्थानीय रूप से घरो की माग बहुत बढ़ जाने के बावजूद इगलण्ड के ८२१ अलग-अलग गावो या क़स्बो में पिछले दस वष से घर नष्ट किये जा रहे ह। इसका प्रमाण यह है कि जिन लोगो को (जिस गाव या कस्बे में वे काम करते ह, उस गाव या कस्बे के लिये) जबदस्ती अयत्रवासी बना दिया जाता है, वे चाहे जसे लोग रहे हो, १८६१ में इन गावो और क़स्बो में १८५१ की तुलना में ५ $\frac{१}{३}$ प्रतिशत अधिक आबादी ४ $\frac{१}{२}$ प्रतिशत कम निवास-स्थान में भरी हुई थी। डाक्टर हण्टर का कहना है कि जब आबादी को उजाडने की क्रिया पूरी हो जाती है, तब उसके फलस्वरूप एक नुमायशी गाव (show-village) तयार हो जाता है, जिसमें झोपडो की सख्या बहुत कम रह जाती है, और उन लोगो के सिवा, जिनकी गडरिया, मालियों या आखेट-रक्षको के रूप में जरूरत होती है और जिनके साथ नियमित नौकरो के रूप में अच्छा व्यवहार किया जाता है, वहा और कोई नहीं रह पाता।[1] लेकिन जमीन को जोतना-बोना जरूरी होता है, और आप देखेंगे कि अब जो मजदूर इस गाव की जमीन पर काम करने के लिये नौकर रखे गये ह, वे अपने मालिक के किरायेदार नहीं ह, बल्कि पडोस के, सम्भवतया तीन मील दूर के किसी खुले गाव से *यहा काम करने के लिये आते ह। जब बन्द गावो में इन लोगो के घरो को नष्ट कर दिया* गया था, तो इस खुले गाव के छोटे मालिको ने उन्हें अपने घरो में आश्रय दिया था। जो गाव उपर्युक्त अवस्था के निकट पहुच रहे ह, उनमें जो झोपडे अभी तक खडे हैं, वे भी प्राय अपनी खराब हालत और मरम्मत के अभाव के द्वारा यह व्यक्त करते रहते ह कि अत में उनका क्या हाल होने वाला है। इन घरो को प्राकृतिक अपक्षय की विभिन्न अवस्थाओ में देखा

[1] इस प्रकार का नुमायशी गाव देखने में बहुत अच्छा लगता है, पर वह उतना ही अवास्तविक होता है, जितने अवास्तविक वे गाव थे, जिनको कैथेरिन द्वितीय ने क्राइमिया जाते हुए रास्ते में देखा था। हाल ही में अक्सर गडरिया को भी show villages (नुमायशी गावा) से बहिष्कृत कर दिया गया है। मिसाल के लिये, मार्केट हारबोरो के नजदीक ५०० एकड का भेडा का फाम है, जहा केवल एक आदमी काम करता है। गडरिये को इन फले हुए मैदाना को, लीसेस्टर और नौर्थेम्पटन की सुन्दर चरागाहा को, पैदल चलकर न पार करना पडे, इस ख्याल से उसे फाम पर ही एक झोपडा दे दिया जाता था। अब उसे घर किराये पर लेने के लिये १ शिलिंग अलग से मिलता है, और उसकी कुल मजदूरी १२ से १३ शिलिंग हो गयी है, पर उसे घर दूर किसी खुले गाव में लेना पडता है।

जा सकता है। पर जब तक घर साबित रहता है, तब तक मजदूर को भी उसको किराये पर लेने की इजाजत रहती है, और अक्सर उसे इस बात की बहुत खुशी होती है कि वह इस टूटे-फूटे मकान को अच्छे मकान का भाडा देकर किराये पर ले सकता है। परन्तु इस घर की कोई मरम्मत नहीं होगी, न ही उसमें कोई सुधार किया जायेगा, हा, उसमें रहने वाला निधन मजदूर अपने खर्चे से कोई मरम्मत या सुधार कराना चाहे, तो करा सकता है। और जब आखिर घर कतई तौर पर किसी के रहने के लायक नहीं रहता,–जब वह कृषि दास प्रथा के निम्नतम स्तर के दृष्टिकोण से भी रहने के अयोग्य हो जाता है,–तब, तब क्या चिन्ता है, एक झोपडा और गिरा दिया जायेगा और मुहताजो की सहायता के लिये जो कर देना पडता है, वह कुछ हल्का हो जायेगा। बडे मालिक इस तरह अपनी जमीनो पर बस्तियो को उजाड-उजाडकर घरो के बोझ से हल्के होते जाते ह, उधर जो कस्बा या खुला गाव सबसे नजदीक होता है, निकाले हुए मजदूर वहा रहने के लिये पहुच जाते ह। मने कहा "सबसे नजदीक", पर इसका मतलब यह भी हो सकता है कि जिस फार्म पर मजदूर को रोज मेहनत मशक्कत करनी पडती है, उससे यह जगह तीन या चार मील दूर हो। रोज की उस मशक्कत में तब छ या आठ मील रोजाना पदल चलने की मशक्कत और जुड जायेगी,–और इस तरह जुड जायेगी, जैसे कुछ नहीं हुआ है,–क्योकि बिना इतना पैदल चले तो मजदूर अपनी रोटी कमा नहीं सकता। और यदि उसकी बीवी और बच्चे भी फार्म पर कुछ काम करते ह, तो अब उनके लिये भी वही कठिनाई पदा हो जायेगी। और फिर ऐसा भी नहीं है कि इस दूरी के कारण उसे केवल पदल चलने की ही मशक्कत करनी पडती हो। खुले गाव में झोपडे बनाकर किराये पर उठाने वाले मुनाफाखोर जमीन की छोटी छोटी कतरनें खरीद लेते ह, फिर उनपर सस्ते से सस्ते दडबे बनाकर ज्यादा से ज्यादा घनी बस्ती खडी कर देते हैं। और इन अति निकृष्ट निवास-स्थानो में (जिनमें खुले देहात के पास होने पर भी शहरो के सबसे खराब मकानो के कुछ सबसे भयानक दुर्गुण होते ह) इगलण्ड के खेतिहर मजदूरो को भर दिया जाता है [1] परन्तु, दूसरी ओर, हमें भी यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जब

---

[1] "(खुले गावो में, जिनमे, जाहिर है, सदा बहुत अधिक भीड भरी रहती है) मजदूरा के घर आम तौर पर लाइनो मे बनाये जाते हैं, और उनका पिछवाडा जमीन के उस टुकडे के छोर से मिला रहता है, जिसको मकान बनाने वाला अपना टुकडा कह सकता था, और इस कारण मजदूरा के घरा मे सामने से तो कुछ रोशनी और हवा आ सकती है, पर और किसी तरफ से नही आ सकती।" (डा० हण्टर की रिपोट, उप० पु०, पृ० १३५।) अक्सर गाव का मोदी या बियर बेचने वाला ही मकान भी किराये पर उठाता है। ऐसी स्थिति मे खेतिहर मजदूर के ऊपर काश्तकार के अलावा एक और मालिक चढ्ढी गाठ लेता है। मजदूर को इस आदमी का खरीदार भी बनना पडता है और किरायेदार भी। "मजदूर को जो थोडी सी चाय, शक्कर, आटा, साबुन, मोमबत्तिया और बियर चाहिये, वह सब उसे मुहमागे दामा पर १० शिलिंग प्रति सप्ताह की अपनी मजदूरी मे से खरीदनी पडती है, जब कि उसमे से ४ पौण्ड सालाना किराये के कट जाते हैं।" (उप० पु०, पृ० १३२।) सच पूछिये, तो ये खुले गाव इगलैण्ड के खेतिहर मजदूरो के वग के जेलखाने हैं, जहा उन्ह बामशक्कत कैद काटनी पडती है। बहुत से झोपडे महज भटियारखाने हैं, जिनमे आस-पडोस के सारे ऐरे-गैरे आकर ठहरते हैं और चले जाते हैं। देहाती मजदूर और उसका परिवार खराब से खराब

मजदूर को उसी जमीन पर रहने को कोई स्थान मिल जाता है, जिसे वह जोतता-बोता है, तब घर के मामले में ग्राम तौर पर उसकी स्थिति वैसी हो जाती है, जैसी उसके उत्पादक उद्योग को देखते हुए होनी चाहिये। यहा तक कि राजकुमारो की जागीरो पर भी मजदूर का झोपडा खराब से खराब ढग का हो सकता है। कुछ जमींदार ह, जो मजदूर और उसके परिवार के लिये गदे से गदे ग्रस्तबल को भी बहुत ग्रच्छा समझते ह, मगर जब किराये का सवाल आता है, तो उसकी खाल उतार लेने में भी सकोच नहीं करते।[1] मुमकिन है कि यह केवल एक कमरे का झोपडा हो, जिसमें न तो अगीठी हो, न पाखाना हो, न कोई खिडकी हो, जोहड के सिवा पानी का भी कोई इतजाम न हो, और कोई बगीचा भी न हो, —मगर मजदूर लाचार है, वह इस अन्याय के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता और अनुत्रास निवारण के कानून (the Nuisances Removal Acts) कोरे कागज के टुकडे बनकर रह गये ह, क्योंकि इन कानूनो का अमल में आना बहुत हद तक उन मकान-मालिको पर ही निर्भर करता है, जिनसे इस मजदूर ने यह दडबा किराये पर ले रखा था न्याय का तकाजा है कि अब सुदर, किन्तु अपवाद-स्वरूप दृश्यो की ओर से ध्यान हटाकर उन तथ्यों की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया जाये,

---

हालत मे रहते हुए भी सचमुच बडे ही आश्चयजनक ढग से अपनी ईमानदारी तथा चरित्र की शुद्धता को सुरक्षित रखते है। पर इन भटियारखानो में पहुचकर वे भी एकदम चौपट हो जाते है। मकानो के किराये से अपनी थैलिया भरने वाला, छोटे जमीदारो और खुले गावो को देखकर छि छि करने का अभिजात वर्गीय रक्त शोषको मे, जाहिर है, बडा चलन है। पर वे अच्छी तरह जानते है कि उनके "बन्द गाव" और "नुमायशी गाव" खुले गावो के जन्म स्थान है, और वे उनके बिना कायम नही रह सकते। "यदि छोटे मालिक न होते, तो अधिकतर मजदूरो को, जिन फार्मों पर वे काम करते है, उनके पेडो के नीचे सोना पडता।' (उप० पु०, पृ० १३५) "खुले" और "बन्द" गावो की यह व्यवस्था सभी मध्यदेशीय काउण्टियो मे और सारे पूर्वी इगलैण्ड मे पायी जाती है।

[1] "वह मालिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढग से मुनाफा कमाता है, जो किसी आदमी को १० शिलिंग प्रति सप्ताह पर नौकर रखता है और फिर उस गरीब मजदूर से ४ पौण्ड या ५ पौण्ड सालाना उस घर के किराये के वसूल कर लेता है, जिसकी कीमत स्वतंत्र मण्डी में २० पौण्ड भी नही होगी। लेकिन इस घर की कीमत जबदस्ती बढा दी जाती है, और वह इसलिये कि उसका मालिक किसी भी समय अपने किरायेदार से यह कह सकता है कि 'या तो मेरे घर में रहो और या कही और जाकर नौकरी तलाश करो, और याद रखो कि मै तुम्हे चरित्र प्रमाणपत्र भी नही दूगा' मान लीजिये कि कोई आदमी थोडा ज्यादा कमाने के उद्देश्य से रेल की लाइन बिछाने का काम करना चाहता है या पत्थर की खान मे नौकरी करना चाहता है। तब फिर वही मालिक उससे कहेगा 'या तो जितनी मजदूरी म देता हू, उतनी लेकर मेरे यहा काम करो और या एक हफ्ते का नोटिस देकर मेरे घर से निकल जाओ, और अपना सुअर भी साथ लेते जाओ, और तुम्हारे बगीचे मे जो आलू लगे हुए ह, उनको भी जिस भाव पर बने, बेच डालो।' और यदि मालिक का हित इसमे हो, तो वह (यानी काश्तकार) काम छोडने की सजा के रूप मे मजदूर से थोडा ज्यादा किराया वसूल कर सकता है।" (डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३२।)

जिनकी इस समय देश में बहुतायत है और जो इगलण्ड की सभ्यता के माथे पर कलक का टीका है। यह सचमुच बहुत ही दुख की बात है कि मौजूदा घरो की हालत क्या है, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सभी योग्य पर्यवेक्षको का समान रूपसे यह मत है कि मकानो की अपर्याप्त सख्या के मुकाबले में उनकी मौजूदा हालत भी अपेक्षाकृत कम फौरी बुराई है। देहाती मजदूरो के घरो में जो अत्यधिक भीड भरी रहती है वह, वर्षों से न केवल सफाई की ओर ध्यान देने वाले लोगो के लिये, बल्कि उन लोगो के लिये भी चिन्ता का विषय बनी हुई है, जो मर्यादित तथा नतिक जीवन चाहते है। कारण कि देहाती इलाकों में महामारियो के प्रसार की रिपोर्टें देने वाले व्यक्तियो ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है,—और उसके लिये इस हद तक एक सी शब्दावली का प्रयोग किया है कि उन सब की रिपोर्टें एक साचे में ढली हुई मालूम होने लगती है,—कि इस सिलसिले में इस भीड का अत्यधिक महत्व होता है, क्योंकि जब एक बार कोई बीमारी कहीं पर घुस आती है, तो इस भीड के कारण उसको फलने से रोकना लगभग असम्भव हो जाता है। और यह बात बार-बार कही जा चुकी है कि देहात के जीवन में जो अनेक स्वास्थ्यप्रद बातें है, उनके बावजूद इस भीड से न सिर्फ छूत की बीमारियो के फैलने में मदद मिलती है, बल्कि वे रोग भी फलते है, जो सक्रामक नहीं है। एक और बुराई है, जिसके बारे में वे लोग खामोश नहीं रहे है, जिन्होने हमारी देहाती आबादी के बहुत अधिक भीड से भरे इन स्थानो में रहने की निन्दा की है। जहा पर इन लोगो को मुख्यतया केवल स्वास्थ्य को पहुचने वाली हानि का खयाल था, वहा पर भी उनको अवसर एक तरह से मजबूर होकर कुछ और सम्बधित बातो का भी जिक्र करना पडा है। उनकी रिपोर्टों में बताया गया है कि बहुधा वयस्क पुरुष और वयस्क स्त्रिया, विवाहित और अविवाहित, सब के सब सोने के लिये एक ही कमरे में ठसाठस भर जाते है (huddled)। इन रिपोर्टों में यह बात प्रमाणित कर दी गयी है कि उन्होने जिस प्रकार की परिस्थितियो का वर्णन किया है, उनमें मर्यादा का अतिक्रमण होना और नैतिकता का नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है।[1] उदाहरण के लिये, मेरी पिछली वार्षिक रिपोर्ट के परिशिष्ट में डा० ओर्ड ने बकिघमशायर के विग नामक स्थान में महामारी के रूप में बुखार के फैलने के विषय में अपनी रिपोर्ट देते हुए बताया है कि इस स्थान में सबसे पहले एक नौजवान विग्रेव से बुखार लेकर आया था। 'अपनी बीमारी

[1] "जब भाई-बहन बडे हो जाते है, तो नव विवाहित दम्पतियो को बराबर देखते रहना उनके लिये हितकारी नही हो सकता, और हम यहा पर विशिष्ट घटनाओ का तो जिक्र नही कर सकते, लेकिन यह कहने के लिये हमारे पास पर्याप्त तथ्य मौजूद है कि सगोत्र सम्भोग के अपराध में जो लडकी भाग लेती है, उसे तरह-तरह की मुसीबत सहनी पडती है और कभी कभी तो उसकी मौत तक हो जाती है।" (डा० हण्टर, उप० पु०, प० १३७।) देहाती पुलिस के एक सदस्य ने, जिसने अनेक वर्षो तक लन्दन के सबसे खराब इलाको म खुफिया का काम किया है, अपने गाव की लडकियो के बारे मे कहा है "मैंने अनेक वर्षो तक पुलिस में काम किया है और लन्दन के सबसे खराब मुहल्ला में खुफिया का भी काम किया है, पर इन लडकियो जैसी बेहयाई और बेशर्मी मैंने कभी नही देखी थी ये सब सुअरो की तरह रहते है। बहुत सी जगहा में बडे बडे लडके-लडकिया और मा-बाप सब एक कमरे में सोते है।" (*'Child Empl Com Sixth Report, 1867* ['बाल सेवायोजन आयोग की छठी रिपोर्ट १८६७'] परिशिष्ट, पृ० ७७, अक १५५।)

के शुरू के दिनो में वह नौ अन्य व्यक्तियो के साथ एक कमरे में सोता रहा। नतीजा यह हुआ कि चौदह दिन के भीतर इनमें से कई व्यक्तियो को बीमारी ने घेर लिया, कुछ सप्ताह के भीतर नौ में से पाच को बुखार हो आया और एक मर भी गया ' सेण्ट जौज्स अस्पताल के डा० हारवे से, जो महामारी के दिनो में अपने धधे से सम्बध रखने वाले किसी निजी काम से विग गये थे, मुझे निम्नलिखित सूचना मिली, जो उपर्युक्त रिपोट से हू-ब हू मेल खाती है ' एक युवती को बुखार था। रात को वह उसी कमरे में लेट रही, जिसमें उसके मा बाप, उसका हरामी बच्चा, दो लडके (उसके भाई) और उसकी दो बहनें,—दोनो मय एक एक हरामी बच्चे के,—यानी कुल मिलाकर दस व्यक्ति लेटे हुए थे। कुछ सप्ताह पहले इस कमरे में १३ व्यक्ति सोते थे।''"[1]

डा० हण्टर ने न केवल विशुद्ध रूप से खेतिहर डिस्ट्रिक्टो में, बल्कि इगलण्ड की सभी काउण्टियो में कुल ५,३७५ घरो की जाच की थी। इनमें से २,१९५ में सोने का केवल एक ही कमरा था (जो अक्सर उठने-बैठने के काम में भी आता था), २,९३० में केवल दो कमरे सोने के लिये थे और २५० में दो से ज्यादा थे। म नीचे एक दर्जन काउण्टियो में से चुने हुए कुछ नमूने पेश करता हू।

(१) बेडफोर्डशायर

रेसलिगवर्थ। सोने के कमरो की लम्बाई लगभग १२ फुट और चौडाई १० फुट है, हालाकि बहुत से इससे भी छोटे ह। छोटे एकमजिले घरो को अक्सर तख्ते लगाकर सोने के दो कमरो में बाट दिया जाता है, एक बिस्तर प्राय ५ फुट छ इच ऊची रसोई में डाल दिया जाता है। किराया ३ पौण्ड सालाना है। पाखाने किरायेदारो को खुद अपने बनाने पडते हैं, मालिक केवल एक गढे की व्यवस्था कर देता है। ज्यो ही कोई किरायेदार एक पाखाना बना देता है, त्यो ही आस-पडोस के सारे आदमी उसको इस्तेमाल करने लगते ह। रिचडसन नामक एक परिवार का घर इतना सुदर था कि उस जैसा दूसरा मकान मिलना ही मुश्किल है। "उसकी प्लास्तर की दीवारें जगह-जगह पर इस तरह बाहर को निकल आयी थीं, जैसे अभिवादन करने के लिये झुकती हुई महिला की पोशाक बाहर को निकल आती है। घर का एक कोना उतल था, दूसरा अवतल था, और इस दूसरे कोने पर, दुर्भाग्य से, एक चिमनी टिकी हुई थी, जो हाथी की सूड की तरह मुडी हुई, मिट्टी और लकडी की एक नली थी। चिमनी को गिरने से रोकने के लिये एक लम्बे डडे की टेक लगा दी गयी थी। दरवाजा और खिडकी समचतुर्भुजाकार थे।" १७ घरो की जाच की गयी, उनमें से केवल ४ में एक से अधिक सोने के कमरे थे, और ये चारो घर भीड से भरे हुए थे। जिन घरो में एक एक सोने का कमरा था, उनमें ३ वयस्क और ३ बच्चे, ६ बच्चो के साथ एक विवाहित दम्पति या ऐसी ही सख्या में कोई दूसरे लोग रहते थे।

डण्टन। किराये ऊचे ह — ४ पौण्ड से ५ पौण्ड तक। पुरुष की साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग है। परिवार सूखी घास की चीजें बनाकर घर का किराया अदा करने की आशा रखता है। किराया जितना ऊचा होता है, उसे अदा करने के वास्ते उतने ही अधिक लोगो को मिलकर काम करना पडता है। छ वयस्क व्यक्ति, जो सोने के एक कमरे में ४ बच्चों के साथ रहते

---

[1] *Public Health Seventh Report, 1865* ('सावजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोट, १८६५'), पृ० ९–१४, विभिन्न स्थानो पर।

ह, इतनी जगह के लिये ३ पौण्ड १० शिलिंग किराया देते हैं। डण्टन में सबसे सस्ता घर बाहर से १५ फुट लम्बा और १० फुट चौडा है और ३ पौण्ड सालाना पर उठा हुआ है। जितने घरो की जाच की गयी, उनमें से केवल एक में सोने के २ कमरे थे। गाव के कुछ बाहर एक घर है, जिसमें "रहने वाले लोग घर की दीवार के पास ही पाखाना फिरने बठ जाते ह"। इस घर के दरवाजे का नीचे का हिस्सा ६ इच की ऊचाई तक एकदम सडकर खतम हो गया है। रात के समय इस सूराख को बडी होशियारी के साथ कुछ ईंटें चटाई से ढककर बन्द कर दिया जाता है। आधी खिडकी, शीशे और चौखटे समेत, प्रत्येक नश्वर वस्तु की भाति काल का ग्रास बन गयी है। बिना किसी फर्नीचर के इस घर में ३ वयस्क और ५ बच्चे भरे हुए ह। और बिगलेसवेड यूनियन के बाकी हिस्सो के मुकाबले में डण्टन की हालत कोई खास खराब नहीं है।

(२) बकशायर

बीनहैम। जून १८६४ की बात है कि एक पुरुष, उसकी पत्नी और ४ बच्चे एक cot (एकमजिले घर) में रहते थे। बेटी नौकरी से लौटी, तो स्कालट ज्वर साथ ले आयी। वह मर गयी। एक बच्चा बीमार हो गया, और वह भी चल बसा। जिस समय डा० हण्टर को बुलाया गया, उस समय मा और एक बच्चा टाइफस ज्वर में पडे हुए थे। बाप और एक बच्चा घर के बाहर सोते थे, लेकिन बीमारो को बाकी लोगो से अलग करने की कठिनाई यहा भी दिखाई दी, क्योंकि ज्वर-ग्रस्त परिवार के घरेलू कपडे इस गरीब गाव के भीड भरे बाजार में धुलाई के लिये पडे हुए थे। "एच०" के घर का किराया १ शिलिंग प्रति सप्ताह है। सोने का एक कमरा है, जिसमें मिया, बीवी और ६ बच्चे रहते ह। एक घर ८ पेंस प्रति सप्ताह पर उठा हुआ है, यह १४ फुट ६ इच लम्बा और ७ फुट चौडा है, रसोई ६ फुट ऊची है। सोने के कमरे में न तो खिडकी है, न अगीठी है, न ही कोई दरवाजा या किसी और तरह का छेद है, हा, दालान में जरूर एक रास्ता खुलता है। बगीचा भी नहीं है। इस घर में कुछ समय तक एक पुरुष अपनी दो वयस्क बेटियो और एक वयस्क बेटे के साथ रहता था। बाप और बेटा बिस्तर पर सोते थे, लडकिया रास्ते में। इस घर में रहते हुए दोनो लडकियो के एक एक बच्चा हुआ, लेकिन एक लडकी प्रसव के लिये मुहताजखाने गयी थी और उसके बाद घर लौट आयी थी।

(३) बकिंघमशायर

१,००० एकड भूमि पर ३० घर ह, जिनमें लगभग १३० – १४० व्यक्ति रहते ह। ब्रडेनहैम नामक गाव का रकबा १,००० एकड है। १८५१ में उसपर ३६ घर बने हुए थे, जिनमें ८४ पुरुष और ५४ स्त्रिया रहती थीं। स्त्रियो और पुरुषो की सख्या का यह अन्तर कुछ हद तक १८६१ में दूर हो गया, जब कि पुरुषो की तादाद ६८ और स्त्रियो की ८७ हो गयी। यानी १० साल में पुरुषो में १४ और स्त्रियों में ३३ की वृद्धि हो गयी। इस बीच मकानो की तादाद में एक की कमी हो गयी।

विस्लो। इस गाव का अधिकतर भाग नया और अच्छे ढग से बना हुआ है। घरो की माग बहुत ज्यादा मालम होती है, क्योंकि बहुत ही खराब किस्म के एकमजिले घरो का किराया भी १ शिलिंग से १ शिलिंग ३ पेन्स तक प्रति सप्ताह है।

वाटर ईटन। यहां आबादी को बढ़ते हुए देखकर जमींदारों ने लगभग २० प्रतिशत मकानों को नष्ट कर दिया है। एक गरीब मजदूर को काम करने के वास्ते ४ मील पैदल चलकर जाना होता है। उससे प्रश्न किया गया कि क्या उसे अपने काम के स्थान के नजदीक कोई घर नहीं मिल सकता। उसने जवाब दिया "नहीं, वे लोग इतने मूर्ख नहीं हैं कि इतने बड़े परिवार वाले आदमी को घर किराये पर देंगे।"

टिंक्स एण्ड (विल्सो के पास)। सोने का एक कमरा, जिसमें ४ वयस्क व्यक्ति और ४ बच्चे रह रहे थे, ११ फुट लम्बा और ६ फुट चौड़ा था, और उसके सबसे ऊंचे हिस्से की ऊंचाई ६ फुट ५ इंच थी। एक और कमरा ११ फुट ३ इंच लम्बा, ६ फुट चौड़ा और ५ फुट १० इंच ऊंचा था, जिसमें ६ व्यक्तियों ने आश्रय ले रखा था। जेल में एक कैदी के लिए कम से कम जितना स्थान आवश्यक समझा जाता है, इनमें से प्रत्येक परिवार के पास उससे कम स्थान था। किसी घर में एक से अधिक सोने का कमरा नहीं था। किसी में पिछवाड़े की तरफ दरवाजा नहीं था। पानी की बहुत कमी थी। साप्ताहिक किराया १ शिलिंग ४ पेंस से २ शिलिंग तक था। १६ घरों को देखा गया, उनमें केवल १ पुरुष ऐसा मिला, जो १० शिलिंग प्रति सप्ताह कमा लेता था। ऊपर जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, उनमें प्रत्येक व्यक्ति को हवा की उतनी ही मात्रा मिलती थी, जितनी उसे उस स्थिति में मिलती, जब कि उसे रात भर एक ४ फुट लम्बे, ४ फुट चौड़े और ४ फुट ऊंचे बक्स में बन्द करके रखा जाता। परन्तु जो घर बहुत पुराने पड़ गये थे, उनमें, उनके बनाने वालों की इच्छा के विपरीत, हवा आने के कुछ रास्ते खुल जाते थे।

(४) कम्ब्रिजशायर

गम्बलिंगे कई जमींदारों की सम्पत्ति है। इस गांव में जितने खराब cots (एकमंजिले घर) हैं, उतने खराब और कहीं नहीं हैं। सूखी घास की बुनाई यहां बहुत होती है। गम्बलिंगे में "एक प्राणघातक थकान, गन्दगी के सामने आत्मसमर्पण कर देने की एक निराशा भरी भावना" छायी हुई है। उसके बीच के भाग में यदि लापरवाही का राज है, तो उत्तर और दक्षिण के छोर के भागों में सड़ांध का राज है, जहां घर सड़-गलकर टूटते जा रहे हैं। अन्यत्रवासी जमींदार इस गरीब गांव का सारा खून चूसे ले रहे हैं। किराये बहुत ऊंचे हैं। ८ या ६ व्यक्ति सोने के एक कमरे में भर दिये जाते हैं, दो जगहों पर देखा गया कि एक छोटी सी कोठरी है, उसमें ६ वयस्क रह रहे हैं, जिनमें से हरेक के पास एक एक, दो-दो बच्चे हैं।

(५) एस्सेक्स

इस काउण्टी के बहुत से गांवों में रहने वालों की संख्या और घरों की संख्या साथ-साथ कम होती जा रही है। किन्तु कम से कम २२ गांव ऐसे हैं, जिनमें घरों के गिरा दिये जाने से आबादी का बढ़ना नहीं रुका है और न ही इन गांवों से लोगों का निष्कासन हुआ है, जो आम तौर पर "गांव छोड़कर शहर चले जाने" के नाम से होता है। फिंग्रिंगहो नामक गांव में, जिसका रकबा ३,४४३ एकड़ है, १८५१ में १४५ घर थे, जब कि १८६१ में यहां केवल ११० घर रह गये। लेकिन लोग गांव छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, और यहां तक कि इस परिस्थिति में भी उनकी संख्या में वृद्धि हो गयी। रम्सडेन क्रग्स में १८५१ में २५२ व्यक्ति ६१ घरों में रहते

थे, पर १८६१ में २६२ व्यक्ति ठूस ठासकर ४६ घरो में भर दिये गये। बेसिलडेन में १८५१ में १५७ व्यक्ति १,८२७ एकड के रकबे पर ३५ घरो में रहते थे, दस वष बाद पता चला कि वहा १८० व्यक्ति २७ घरो में रह रहे है। फिगरिगहो, दक्षिणी फानब्रिज, विडफोड, बेसिलडेन, और रम्सडेन क्रैग्स नामक गावो में १८५१ में १,३६२ व्यक्ति ८,४४६ एकड के रकबे में बने हुए ३१६ घरो में रहते थे, १८६१ में देखा गया कि उसी रकबे पर १,४७३ व्यक्ति २४६ घरो में रह रहे है।

(६) हियरफोडशायर

"किरायेदारो को निकालने की भावना" से इस छोटी सी काउण्टी को जितना नुकसान पहुचा है, उतना इगलैण्ड की और किसी काउण्टी को नहीं पहुचा। नडबाई नामक गाव में आम तौर पर सभी घरो में भीड भरी हुई है। उनमें सोने के केवल २ कमरे होते है। उनके मालिक प्राय काश्तकार है। वे बडी आसानी से उनको ३ पौण्ड या ४ पौण्ड सालाना किराये पर उठा देते है, और अपने मजदूरो को मजदूरी देते है ९ शिलिग प्रति सप्ताह।

(७) हटिंगडन

हार्टफोर्ड में १८५१ में ८७ घर थे। उसके थोडे ही समय बाद १,७२० एकड रकबे के इस छोटे से गाव के १९ घर नष्ट कर दिये गये। आबादी १८३१ में ४५२, १८५१ में ३८२ और १८६१ में ३४१ थी। १४ घरो को जाकर देखा गया। प्रत्येक में एक एक सोने का कमरा था। एक में एक विवाहित दम्पत्ति, ३ वयस्क बेटे, १ वयस्क बेटी और ४ बच्चे,—कुल मिलाकर १० व्यक्ति रह रहे थे। एक और कमरे में ३ वयस्क और ६ बच्चे रहते थे। इनमें से एक कमरा, जिसमें ८ व्यक्ति सोते थे, १२ फुट १० इच लम्बा, १२ फुट २ इच चौडा और ६ फुट ९ इच ऊचा था, कमरे के अन्दर की तरफ उभरी हुई दीवारो आदि में जो स्थान चला गया था, उसको न घटाते हुए प्रति व्यक्ति के पीछे १३० घन-फुट स्थान का औसत बठता था। १४ सोने के कमरो में ३४ वयस्क और ३३ बच्चे रहते थे। इन घरो के साथ बगीचे तो कभी कभार ही होते है, पर उनमें रहने वाले बहुत से लोगो को १० शिलिग या १२ शिलिग फी rood ($\frac{१}{४}$ एकड) के लगान पर जमीन के छोटे छोटे टुकडे साग-सब्जी उगाने के लिये मिल जाते है। ये टुकडे घरो से दूर होते है, और घरो में पाखाने नहीं होते। परिवार को या तो "जाकर जमीन के इन टुकडो में पाखाना फिरना पडता है," और या "एक ऐसी कोठरी इस्तेमाल करनी पडती है, जिसमें अलमारी की दराज जसा एक कठौता रखा रहता है, जिसे सप्ताह में एक बार उठाकर पाखाना वहा फेंक आना पडता है, जहा इसकी जरूरत होती है।" जापान में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ का परिचलन इससे अधिक स्वच्छता के साथ सम्पन्न होता है।

(८) लिक्नशायर

लैंगटौफ्ट। यहा राइट के घर में एक आदमी अपनी पत्नी, सास और पाच बच्चो के साथ रहता है। घर में सामने की तरफ एक रसोई है, सामान रखने की कोठरी है और रसोई के ऊपर सोने का कमरा है। रसोई और सोने का कमरा १२ फुट २ इच

लम्बे और ६ फुट ५ इच चौडे ह। पूरी निचली मजिल २१ फुट २ इच लम्बी और ६ फुट ५ इच चौडी है। सोने का कमरा दुछत्ता की तरह का है। उसकी दीवारें ऊपर उठने के साथ-साथ एक दूसरे की ओर झुकती जाती ह, जिससे कमरे की शक्ल तिकोने जसी हो गयी है। सामने की तरफ एक खिडकी बाहर को निकली हुई है। इस आदमी से पूछा गया "यह यहा क्यो रहता है? क्या बगीचे की वजह से?" "नहीं, वह तो बहुत छोटा है।" "फिर क्या किराया कम है?" "नहीं, किराया बहुत ज्यादा है—१ शिलिंग ३ पेंस प्रति सप्ताह।" "तब क्या काम की जगह यहा से नजदीक पडती है?" "नहीं, वह तो यहा से ६ मील दूर है, जिसके कारण मजदूर को रोजाना १२ मील पदल आना जाना पडता है। वह यहा सिर्फ इसलिये रहता है कि यह cot (एकमजिला घर) किराये पर उठ रहा था," और किसी भी किराये पर, किसी भी दशा में और किसी भी स्थान पर अपने लिये अलग एक cot—घर—चाहता था। लगटौफ्ट के १२ घरो के आकडे नीचे देखिये। इन १२ घरा में १२ सोने के कमरे थे, जिनमें ३८ वयस्क और ३६ बच्चे रहते थे।

लगटौफ्ट के बारह घर

घर	सोने के कमरा की सख्या	वयस्को की सख्या	बच्चो की सख्या	कुल कितने व्यक्ति रहते हैं	घर	सोने के कमरो की सख्या	वयस्को की सख्या	बच्चो की सख्या	कुल कितने व्यक्ति रहते ह
घर न० १	१	३	५	८	घर न० ७	१	३	३	६
" २	१	४	३	७	" ८	१	३	२	५
" ३	१	४	४	८	" ९	१	२	०	२
" ४	१	५	४	९	" १०	१	२	३	५
" ५	१	२	२	४	" ११	१	३	३	६
" ६	१	५	३	८	" १२	१	२	४	६

(९) कट

१८५९ में केनिंग्टन में रहने वालो की सख्या बहुत ही ज्यादा बढ़ गयी थी। उस साल वहा डिफ्टीरिया का रोग फैला, और गाव के डाक्टर ने ज्यादा गरीब लोगो की हालत की डाक्टरी जाच की। उसको पता चला कि इस स्थान में, जहा बहुत अधिक मजदूरो से काम लिया जा रहा था, बहुत से पुराने cots (एकमजिले घर) तोड डाले गये ह और उनकी जगह पर नये नहीं बनाये गये ह। एक मुहल्ले में चार घर थे, जो birdcages (चिडिया के पिजडे) कहलाते थे, उनमें से हरेक में ४ कमरे थे, जिनकी लम्बाई चौडाई ऊचाई नीचे दी गयी है

रसोई ९ फुट ५ इच लम्बी, ८ फुट ११ इच चौडी और ६ फुट ६ इच ऊची,

सामान रखने की कोठरी ८ फुट ६ इच लम्बी, ४ फुट ६ इच चौडी और ६ फुट ६ इच ऊची,

सोने का कमरा ८ फुट ५ इच लम्बा, ५ फुट १० इच चौडा और ६ फुट ३ इच ऊचा,

सोने का कमरा ८ फुट ३ इच लम्बा, ८ फुट ४ इच चौडा और ६ फुट ३ इच ऊचा।

(१०) नौर्थेम्पटनशायर

ब्रिनवर्थ, पिकफोर्ड और फ्लूर। इन गावो में जाडो के मौसम में २०–३० आदमी काम के अभाव में गलियो में बेकार घूम रहे थे। अनाज और टूरनीप के खेतो को काश्तकार हमेशा उतना नहीं जोतते, जितना उनको जोतना चाहिये। इसलिये जमींदार ने अपने लिये यह बेहतर पाया है कि अपने सारे खेतो को इकट्ठा करके २ या ३ थोक बना दे। इसी से यह बेकारी फल गयी थी। एक ओर जमीन मजदूरो की माग करती है, दूसरी ओर बेकार मजदूर भूखी नजरो से जमीन को ताकते ह। गरमियो में इनसे इतना काम कराया जाता है कि उनका सारा सत निकल जाता है, जाडो में उनको भूखो मरने के लिये छोड दिया जाता है। कोई आश्चय नहीं, यदि यहा के लोग अपनी बोली में कहते ह कि "the parson and gentlefolk seem frit to death at them"[1]।

उदाहरण के लिये, फ्लूर में सबसे छोटे आकार के सोने के कमरो में चार-चार, पाच-पाच और छ-छ बच्चो के साथ विवाहित दम्पत्ति रह रहे थे या ५ बच्चो के साथ ३ वयस्क रहते थे, या पति-पत्नी का जोडा अपने दादा और ६ बच्चो के साथ रह रहा था, और बच्चे सब स्कालट ज्वर में पडे हुए थे, इत्यादि, इत्यादि। दो घरो में सोने के दो दो कमरे थे। उनमें से एक में ८ वयस्को का और दूसरे में ९ वयस्को का परिवार रहता था।

(११) विल्टशायर

स्ट्रेट्टन। ३१ घरो को देखा गया। ८ में सोने का केवल एक कमरा था। इसी गाव के पेंटिल नामक स्थान में एक cot (एकमजिला घर) था, जो १ शिलिग ३ पेंस प्रति सप्ताह के किराये पर उठा हुआ था और जिसमें ४ वयस्क और ४ बच्चे रहते थे। छोटे-बडे पत्थर के टुकडो के ऊबड-खाबड फश से लेकर घिसे पुराने छप्पर की छत तक इस घर में दीवारो के सिवा और कोई चीज सही-सलामत न थी।

(१२) वोरसेस्टरशायर

यहा घरो को उतने अधाधुध ढग से नहीं गिराया गया है। फिर भी १८५१ और १८६१ के बीच प्रत्येक घर के निवासियो की औसत सख्या ४.२ से बढ़कर ४.६ हो गयी है।

बडसे। यहा बहुत से घर और उनके छोटे छोटे बगीचे ह। कुछ काश्तकारो का कहना है कि "the cots are a great nuisance here, because they bring the poor" ("ये cots [एकमजिले घर] हमारे लिये निरी मुसीबत ह, क्योकि उनके लालच से गरीब गुरबा यहा आकर भीड लगाते ह")। एक भद्र पुरुष ने कहा "और इन घरो से गरीबो का कोई लाभ भी नहीं होता। यदि आप ५०० मकान बनायेंगे, तो वे भी बहुत जल्दी किराये पर चढ जायेंगे, और सच पूछिये, तो जितने मकान बनते जाते ह, उतना ही इन लोगो की माग बढती जाती है" (इन सज्जन की राय में घरो से उनमें रहने वालो का जन्म होता है, जो उसके

[1] "पादरी और बडे लोगो का तो उन्हे देखते ही दम निकल जाता है।"

बाद प्रकृति के एक नियम के अनुसार "निवास के साधनो" पर दबाव डालने लगते ह।) डाक्टर हण्टर ने कहा है "जाहिर है, कोई ऐसा भी स्थान होना चाहिये, जहा से ये गरीब लोग यहा आते ह, और चूकि बडसे में बेकारा के भत्ते जसी कोई आवश्यक चीज भी नहीं है, इसलिये किसी दूसरे अनुपयुक्त स्थान से प्रतिकर्षण के फलस्वरूप वे यहा आते होगे। यदि उनमें से हर आदमी को अपने काम की जगह के नजदीक घर मिल जाता, तो जाहिर है कि वह बडसे को न पसन्द करता, जहा उसे जमीन के अपने टुकडे के लिये काश्तकार से दुगुनी रकम देनी पडती है।"

गाव छोडकर लोगो का लगातार शहरो में जाकर बसते जाना, खेतो के सकेद्रण, जोतने योग्य जमीन के चरागाहो में परिवर्तित हो जाने, मशीनो के उपयोग आदि के परिणामस्वरूप देहात में अतिरिक्त जनसख्या का लगातार बढते जाना और खेतिहर आबादी के घरो के गिरा दिये जाने के फलस्वरूप उसका बराबर बेदखल होते जाना—ये सारी बातें साथ-साथ होती ह। कोई इलाका मनुष्या से जितना ज्यादा खाली होता है, वहा "सापेक्ष अतिरिक्त जनसख्या" उतनी ही अधिक होती है, रोजगार के साधनो पर उसका दबाव उतना ही ज्यादा होता है, रहने के घरो की तुलना में खेतिहर आबादी उतने ही निरपेक्ष ढग से बढ जाती है और इसलिये गावो में स्थानीय ढग की अतिरिक्त आबादी तथा मनुष्यो का जानवरो की तरह ठूस ठूसकर भरना तथा बीमारियो को जन्म देना भी उतना ही अधिक बढ जाता है। बिखरे हुए, छोटे छोटे गावा और छोटे छोटे देहाती क़स्बा में लोगो का इस तरह जमाव हो जाना इस बात का नतीजा है कि जमीन की सतह से लोगो को जबदस्ती हटा दिया जाता है। हालाकि खेतिहर मजदूरा की सख्या बराबर घटती जाती है और उनकी पदावार की राशि बराबर बढती जाती है, फिर भी चूकि उनमें बेकारो की सख्या बराबर बढती जाती है, इस कारण उनमें मुहताजी पदा हो जाती है। उनकी मुहताजी अन्त में उनके घरो से निकाल दिये जाने का कारण बन जाती है और यह खास वजह होती है, जिससे उनको इतने खराब किस्म के घरो में रहना पडता है और जो उनकी प्रतिरोध की शक्ति को आखिरी तौर पर समाप्त कर देती है तथा उनको जमीन के मालिको और काश्तकारो का महज गुलाम बना देती है।[1] इस प्रकार, कम से कम मजदूरी पाना

---

[1] कम्मी का यह विधाता द्वारा निर्धारित काम इस स्थिति में भी उसे एक अनोखी गरिमा प्रदान कर देता है। वह दास नही है, बल्कि शान्ति काल का सैनिक है, और वह विवाहित मनुष्यो के लिये बनाये गये उन घरा मे स्थान पाने का अधिकारी है, जिनको जमीदार बनायेगा —वही ज़मीदार, जो कम्मी को उसी तरह श्रम करने के लिये बाध्य करता है, जिस तरह देश सैनिक को बाध्य करता है। जिस प्रकार सनिक को उसके काम का दाम बाज़ार भाव के अनुसार नही मिलता, उसी प्रकार कम्मी को भी नही मिलता। सैनिक की तरह उसे भी युवावस्था में ही पकड लिया जाता है, जब उसे किसी बात का ज्ञान नही होता और जब वह केवल अपने धधा से और अपने गाव से ही परिचित हाता है। सैनिक पर भर्ती का कानून और गदर का कानून जो असर डालते ह, वही असर बाल विवाह की प्रथा और बसने के विभिन्न कानूनो की प्रक्रियायें खेत मज़दूर पर डालती है।" (डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३२।) *कभी-कभी कोई ज़मीदार असाधारण रूप से कोमल-हृदय होता है*, तो उसे खुद अपने पैदा किये हुए अकेलेपन पर दुख होने लगता है। जब लाड लीसेस्टर को होल्खम की पूर्ति पर बधाई दी गयी, तो उन्हाने कहा "अपने इलाके मे अकेले खडे

उनके लिये एक प्राकृतिक नियम बन जाता है। दूसरी ओर, देहात में लगातार "सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या" रहने के बावजूद, जमीन के लिये हमेशा आबादी की कमी रहती है। यह बात स्थानीय रूप से न केवल उन्हीं जगहो में देखने में आती है, जहा से बहुत अधिक लोग शहरो में, खानो में या जहा रेल की लाइनें बिछायी जा रही ह, आदि आदि स्थानो पर काम करने चले गये ह। यह बात हर जगह देखने को मिलती है, फसल के समय और वसन्त तथा गरमियो में भी, – और सो भी बार-बार, – जब इगलण्ड की इतनी सुव्यवस्थित तथा गहन खेती को अतिरिक्त मजदूरो की आवश्यकता होती है। भूमि की जुताई-बुवाई की साधारण आवश्यकताओ की दृष्टि से सदा मजदूरो की बहुतायत तथा उसकी असाधारण अथवा अस्थायी आवश्यकताओ की दृष्टि से हमेशा मजदूरो की कमी रहती है।[1] इसीलिये सरकारी कागजो में हमें एक ही जगह पर मजदूरो की कमी

रहना काफी दुख की बात है। मैं चारो ओर नजर दौडाता हू, लेकिन अपने मकान के सिवा मुझे कही एक भी घर नजर नही आता। मानो मैं दुर्ग मे रहने वाला देव हू और अपने तमाम पडोसियो को हडप गया हू।"

[1] फ्रास में भी पिछले १० वर्षो से कुछ इसी तरह की चीज दिखाई दे रही है। वहा जिस अनुपात मे पूजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार करता जाता है, उसी अनुपात में वह "अतिरिक्त" खेतिहर आबादी को गावो से शहरो मे खदेडता जाता है। वहा भी रहने के घरो के मामले में तथा अन्य बातो मे मजदूरो की हालत बिगडने का मूल कारण अतिरिक्त जन-सख्या मे ही दिखाई देता है। जमीन के इस तरह छोटे छोटे टुकडे कर देने से फ्रास मे जो विशेष ढग का proletariat foncier' ("देहाती सर्वहारा") पैदा हो गया है, उसके बारे में अन्य पुस्तको के अलावा पहले उद्धृत की गयी कोलिन्स (Colins) की रचना *L'Economie Politique* और कार्ल मार्क्स की रचना *Der Achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte* (दूसरा सस्करण, Hamburg, 1869 पृ० ५६, इत्यादि) का अवलोकन कीजिये। १८४६ मे फ्रास की शहरी आबादी कुल आबादी की २४.४२ प्रतिशत और खेतिहर आबादी ७५.५८ प्रतिशत थी, १८६१ तक शहरी आबादी २८.८६ प्रतिशत हो गयी और खेतिहर आबादी ७१.१४ प्रतिशत रह गयी। पिछले पाच वर्षो मे खेतिहर आबादी और भी कम हो गयी है। पियेर दूपान ने १८४६ में ही अपनी *'Ouvriers'* ("रचनाए") मे यह कहा था

Mal vetus, loges dans des trous
Sous les combles dans les decombres
Nous vivons avec les hiboux
Et les larrons, amis des ombres

(गदे नाले से सटे हुए,
कडे-कचरे के ढेर बीच,
अधियारे के प्रेमी उलूक
रहते हैं सुख से चोर नीच
जिस जगह, वही हम दुखियारे!
मैले गदे चिथडे धारे!
टूटे-फूटे से दरबो मे
रहते हैं सारे के सारे!)

श्रौर मजदूरो के आधिक्य की परस्पर विरोधी शिकायतें एक साथ पढने को मिलती ह। मजदूरा की अस्थायी अथवा स्थानीय माग से मजदूरी की दर नहीं बढती, बल्कि उसका केवल यही असर होता है कि स्त्रियो और बच्चो को भी खेतो में झोक दिया जाता है और जिस आयु पर उनका शोषण आरम्भ हो जाता है, वह अधिकाधिक नीचे गिरती जाती है। और जैसे ही स्त्रिया और बच्चों का पहले से बडे पमाने पर शोषण होने लगता है, वसे ही यह चीज खुद पुरुष मजदूरो को फालतू बना देने और उनकी मजदूरी को बढने से रोकने का एक नया साधन बन जाती है। इगलण्ड के पूर्वी भाग में इस cercle vicieux (प्राण लेवा चक्र) का एक नया फल उत्पन्न हुआ है। वह है तथाकथित gang-system (टोलियो की प्रणाली), जिसका अब म सक्षेप में वणन करूगा।[1]

टोलियो की प्रणाली लगभग अनन्य रूप से लिकनशायर, हण्टिगडनशायर, कम्ब्रिजशायर, नोरफोक, सफोक और नोटिघमशायर में तथा कहीं कहीं पर पडोस की नोर्थेम्पटन, बडे फोड और रूटलण्ड नामक काउण्टियो में पायी जाती है। हम लिकनशायर को उदाहरण के रूप में लेगे। इस काउण्टी का एक बडा हिस्सा नयी जमीन का है, जहा पहले दलदल था। ऊपर जिन पूर्वी काउण्टियो का नाम लिया गया है, उन्हीं की भाति इसकी जमीन भी अभी हाल ही में समुद्र में से निकाली गयी है। पानी की निकासी के मामले में भाप के इजन ने बडे-बडे चमत्कार कर दिखाये ह। जहा कुछ समय पहले दलदल या रेतीले किनारे थे, वहा अब अनाज के विशाल खेत लहलहा रहे ह और इन टुकडो के लगान की दर और सब जमीनो की दर से ऊची है। मानव श्रम से एक्सहोल्म के द्वीप में तथा ट्रेण्ट नदी के तट पर बसे अन्य गावो में जो कछार की भूमि उपलब्ध हुई है, वहा भी आज इसी प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। जसे-जसे नये फार्म खुलते गये, वसे-वैसे न सिफ नये घर नहीं बने, बल्कि पुराने घरो को तोड-तोडकर गिरा दिया गया, और मजदूरा को मीलो दूर, खुले गावो से पहाडियो में चक्कर लगाती हुई लम्बी सडको को त करके यहा काम करने के लिये आना पडा। पुराने दिनो में शीत ऋतु की अनवरत बाढ से डरकर भागने वाले लोगो को केवल इन्हीं गावो में आश्रय मिलता था। ४०० से १,००० एकड तक के फार्मो पर जो मजदूर रहते ह (वे "confined labourers ["बन्द मजदूर"] कहलाते ह), उनसे खेती का केवल उसी तरह का काम लिया जाता है, जो स्थायी ढग का कठिन काम है और जिसे घोडो की मदद से करना पडता है। हर १०० एकड पर औसतन मुश्किल से एक घर होता है। मिसाल के लिए, भूतपूव दलदल में खेती करने वाले एक काश्तकार ने जाच-आयोग के सामने बयान देते हुए कहा था "म ३२० एकड जमीन पर खेती करता हू। यह सारी जमीन खेती-योग्य है। मेरे फाम पर एक भी झोपडा नहीं है। आजकल मेरे फाम पर केवल एक मजदूर काम करता है। ४ साईस भी फाम पर ही रहते ह। हल्का काम हम लोग टोलियो से करवाते हू।"[2] यहा की धरती के लिये बहुत सारे हल्के ढग के श्रम की आवश्यकता पडती है, जसे

[1] Sixth and last Report of the Children s Employment Commission ('बाल-सेवायोजन आयोग की छठी और अन्तिम रिपोट'), जा माच १८६७ क अत मे प्रकाशित हुई थी। इसमे केवल खेतिहर मजदूरा की टालिया की प्रणाली (gang system) का ही वणन है।

[2] *Children s Employment Commission Sixth Report* ('बाल-सेवायोजन आयाग की छठी रिपोट'), गवाह का बयान, न० १७३, पृ० ३७।

निराने, गोडने, खाद डालने, पत्थरों को हटाने इत्यादि के लिये। यह सारा काम टोलिया, या खुले गावो में रहने वाले मजदूरो के सगठित जत्थे करते ह।

हर टोली में १० से ४० या ५० व्यक्ति तक होते ह, जिनमें स्त्रिया, लडके और लडकिया (लडके लडकियो की आयु १३ से १८ वष तक होती है, हालाकि १३ वष की आयु होने पर लडको को प्राय जवाब दे दिया जाता है) तथा (६ से १३ वष तक के) बच्चे और बच्चिया दोनो होते ह। टोली का एक मुखिया (gang master) होता है, जो सदा कोई साधारण खेत-मजदूर ही होता है, आम तौर पर उनमें से कोई ऐसा बदमाश, निकम्मा, बेपेंदी का लोटा और शराबी आदमी इस काम के लिये छाटा जाता है, जिसमें थोडी उद्यमशीलता और योग्यता हो। वही टोली को भर्ती करता है, और टोली काश्तकार के मातहत नहीं, बल्कि इस मुखिया के मातहत ही काम करती है। मुखिया प्राय काश्तकार से काम का ठेका ले लेता है। उसकी आय, – जो प्राय एक साधारण खेतिहर मजदूर की आय से बहुत अधिक नहीं होती,[1] – लगभग पूरी तरह इस बात पर निभर करती है कि उसमें अपनी टोली से कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा श्रम करा लेने की कितनी योग्यता है। काश्तकारो का अनुभव है कि स्त्रिया केवल पुरुषो की देख रेख में ही दत्तचित होकर काम करती ह, लेकिन स्त्रियो और बच्चो को यदि एक बार काम में लगा दीजिये, तो फिर, – जसा कि फूरिये ने भी लिखा है, – वे अधाधुध काम करते जाते ह और अपने को एकदम खपा डालते ह, जब कि वयस्क पुरुष ज्यादा चालाक होता है और अपनी शक्ति को कम से कम खर्च करता है। टोली का मुखिया एक फाम से दूसरे फाम में घूमता रहता है और इस तरह अपनी टोली को साल में ६ – ८ महीने काम में लगाये रखता है। इसलिए मजदूरी करने वाले परिवारो के लिए किसी खास काश्तकार के यहा काम करने की अपेक्षा, जो केवल कभी-कभार बच्चो को नौकर रखता है, टोली के मुखिया के जरिये काम हासिल करने में अधिक लाभ तथा सुनिश्चितता रहती है। इससे खुले गावो में टोली के मुखिया का इतना जबदस्त असर कायम हो जाता है कि बच्चो को भी आम तौर पर उसके जरिये ही नौकर रखाया जा सकता है। बच्चो को व्यक्तिगत रूप से, अपनी टोली से अलग, काश्तकारो के यहा नौकर रखवाना मुखिया का दूसरा धधा होता है।

इस प्रणाली की "त्रुटिया" ये ह कि बच्चो और लडके-लडकियो से बहुत ज्यादा काम लिया जाता है, उनको रोजाना बहुत दूर चलकर काम पर जाना पडता है, क्योकि उनके घरो से फाम ५-५, ६-६ और कभी-कभी तो ७ ७ मील दूर होते ह, और टोली का जीवन बच्चो के आचार विचार के लिये बहुत घातक होता है। मुखिया को हालाकि कुछ इलाको में "the driver कहा जाता है और उसके पास सदा एक लम्बी छडी भी रहती है, फिर भी वह उसका इस्तेमाल बहुत कम करता है और उसके खिलाफ बुरे व्यवहार की शिकायतें बहुत कम सुनी जाती ह। वह एक जनवादी सम्राट या हैमेलिन के पाइड पाइपर की तरह होता है। इसलिये, उसके वास्ते अपनी प्रजा का स्नेह पात्र होना आवश्यक होता है। इस स्नेह का आधार वह आकषक यायावर जीवन होता है, जो उसकी देख-रेख में उसकी प्रजा को उपलब्ध होता है। एक अनगढ सी स्वतत्रता, जिन्दादिली से भरा हुआ शोर शराबा और अशिष्टता की तमाम सीमाओं को पार कर जाने वाली शोखी – इन बातो से टोली का जीवन आकषक बन जाता है। आम तौर

---

[1] लेकिन कुछ टोलियो के मुखिया पाच-पाच सौ एकड के काश्तकार या मकानो की पूरी लाइन के मालिक बन बैठे हैं।

पर मुखिया किसी शराबखाने में बठकर मजदूरो को मजदूरी बाटता है। उसके बाद वह घर लौटता है, तो शराब के नशे में लडखडाता हुआ चलता है। दायें-बायें दो मदनुमा औरतें उसको सभाले रहती ह, और उसके पीछे टोली के मजदूरो का जलूस होता है, जिसके पृष्ठ-भाग में शोर मचाते हुए और हसी-मजाक के गदे गीत गाते हुए बच्चे और लडके लडकिया चलते ह। गाव लौटने के समय टोली में, फूरिये के शब्दो में, "phanerogamie (मुक्त यौन सम्बधो) का राज्य रहता है। १३ और १४ वय की लडकियों का इसी आयु के अपने सहयोगी लडको के द्वारा गभवती बना दिया जाना बहुत सामान्य घटना होती है। जिन खुले गावो के निवासी इन टोलियो में भर्ती होते ह, वे पाप के केद्र (Sodoms and Gomorrahs) बन जाते ह।[1] इन गावो में अवध सतानो की जन्म सख्या राज्य के बाकी भाग की अपेक्षा दुगुनी है। इन पाठशालाओ में जिन बालिकाओ की दीक्षा होती है, उनका नैतिक चरित्र विवाहितावस्था में कसा रहता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। उनके बच्चे अक्सर तो मा की खिलाई हुई अफीम के शिकार हो जाते ह,—जो बच जाते ह, वे जन्म से ही इन टोलियो के रगरूट बन जाते है।

प्राय देखी जाने वाली जिस प्रकार की टोली का हमने ऊपर वणन किया है, वह सावजनिक टोली, सामान्य टोली या घूमती फिरती टोली (public, common, or tramping gang) कहलाती है। कारण कि कुछ निजी टोलिया (private gangs) भी होती ह। इनमें सामान्य टोली की भाति ही भर्ती होती है, पर आदमी कम होते हैं, और वे टोली के मुखिया के बजाय फाम के किसी बूढे नौकर के मातहत काम करते हैं, जो काश्तकार की दृष्टि में किसी और काम के लायक नहीं रह गया होता। इन टोलिया में खानाबदोशो की जिन्दादिली तो गायब हो जाती है, पर सभी पयवेक्षको का कहना है कि इनमें मजदूरी कम होती है और बच्चो के साथ व्यवहार ज्यादा खराब किया जाता है।

टोलियो की प्रणाली का चलन पिछले वर्षों में बराबर बढता गया है। जाहिर है कि टोलियो से इसलिये नहीं काम कराया जाता कि उससे टोली के मुखिया का लाभ होगा। उनसे बडे काश्तकारो का[3] और अप्रत्यक्ष ढग से जमींदारो का[4] धन बढाने के लिये काम कराया जाता है। काश्तकार के लिये, अपने मजदूरो की सख्या को सामान्य स्तर से कम रखने और फिर भी

[1] "लुडफोड की आधी लडकिया" (टोलियो में काम करने के लिये) "बाहर जाने के कारण खराब हो गयी हैं।" (उप० पु०, परिशिष्ट, प० ६, अक ३२।)

[2] "पिछले कुछ वर्षों में उनकी (टोलियो) की सख्या बहुत बढ गयी है। कुछ स्थानो में अभी हाल में ही उनका प्रयोग शुरू हुआ है। अन्य स्थानो मे, जहा टोलिया अनेक वर्षों से काम कर रही हैं, बच्चो से ज्यादा बडी सख्या में काम लिया जाता है और ज्यादा छोटे बच्चे नौकर रखे जाते हैं।" (उप० पु०, पृ० ७६, अक १७४।)

[3] "छोटे काश्तकार टोलिया से कभी काम नही लेते।" "बडी सख्या मे स्त्रिया और बच्चो से खराब जमीन पर नही, बल्कि ४० शिलिंग से ५० शिलिंग तक का लगान देने वाली जमीनो पर काम कराया जाता है।" (उप० पु०, पृ० १७, १४।)

[4] इनमे से एक महानुभाव को अपना लगान इतना प्रिय था कि वह जाच आयोग के सामने गुस्से से लाल होकर बोले कि इस प्रणाली के खिलाफ केवल उसके नाम के कारण इतना शोर मचाया जा रहा है। यदि इनको "टोलिया" न कहकर "खेतिहर तरुण-तरुणियो के आत्मनिभर औद्योगिक सघ" कहा जाये, तो सारा झगडा मिट जायेगा।

अतिरिक्त काम के लिये हमेशा अतिरिक्त मजदूरो को पा जाने और कम से कम पसा खच करके ज्यादा से ज्यादा काम लेने[1] तथा वयस्क पुरुषो को "अनावश्यक" बना देने का इससे बेहतर तरीका और कोई नहीं हो सकता था। ऊपर जो वणन किया गया है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि ऐसा क्यो है कि एक ओर तो यह स्वीकार किया जाता है कि खेतिहर मजदूरो के लिये रोजी का न्यूनाधिक अभाव रहता है, और दूसरी ओर यह भी ऐलान किया जाता है कि वयस्क पुरुषो की इतनी कमी हो गयी है और वे इतनी बडी सख्या में शहरों में चले गये ह कि टोलियो की प्रणाली अत्यत "आवश्यक" हो गयी है।[2] लिकनशायर में, जहा जमीन के झाड-झखाड को बडी मेहनत के साथ साफ कर दिया जाता है, पर मनुष्य-रूपी झाड झखाड हर तरफ फैले हुए नजर आते हैं, हम पजीवादी उत्पादन के ध्रुव और प्रति ध्रुव दोनो को देख सकते ह।[3]

---

[1] "टोलिया का काम दूसरे मजदूरा के काम से सस्ता होता है, इसीलिये उनसे काम लिया जाता है," — यह एक भूतपूव मुखिया का कथन है। (उप० पु०, पृ० १७, अक ४।) और एक काश्तकार ने कहा है "टोलिया की प्रणाली काश्तकार के लिये निश्चय ही सबसे सस्ती और बच्चा के लिये निश्चय ही सबसे अधिक घातक प्रणाली होती है।" (उप० पु०, पृ० १६, अक ३।)

[2] "इसमें कोई सन्देह नही कि आजकल टोलियो में बच्चा से जो काम कराया जाता है, उसमें से बहुत सा काम पहले पुरुषा और स्त्रियो से कराया जाता था। जहा बच्चो और स्त्रियो से काम लिया जाता है, वहा बेकार पुरुषा की सख्या पहले से बढ गयी है (more men are out of work)।" (उप० पु०, पृ० ४३, अक २०२।) दूसरी ओर, "कुछ खेतिहर डिस्ट्रिक्टो मे, खास कर जहा जोतने-बोने योग्य जमीन है, वहा परावास के फलस्वरूप और इस कारण कि रेलें बन जाने से बडे शहरा को चले जाने की सुविधा हा गयी है, श्रम के प्रश्न (labour question) ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया है कि मैं (यह "मैं" महाशय एक बडे श्रीमन्त के कारिन्दे हैं) समझता हू कि अब बच्चो से काम लेना हमारे लिये एकदम अनिवाय हो गया है।" (उप० पु०, पृ० ८०, अक १८०।) असल में, बाकी सभ्य ससार से बिल्कुल भिन्न, इगलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टो में the labour question ("श्रम का प्रश्न") the landlords and farmers question (जमीदारो और काश्तकारा का प्रश्न) होता है। यहा इस प्रश्न का अथ यह है कि इस बात के बावजूद कि खेतिहर लोग अधिकाधिक बडी सख्या मे गाव छोड छोडकर चले जा रहे हैं, देहात में पर्याप्त परिमाण मे सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या बनाये रखना और उसके द्वारा खेतिहर मजदूरो की मजदूरी को अल्पतम स्तर पर दबाये रखना किस प्रकार सम्भव है?

[3] Public Health Report ('सावजनिक स्वास्थ्य की रिपोट') म बच्चो की मृत्यु-सख्या की चर्चा करते हुए, चलते चलाते टोलियो की प्रणाली का भी जिक्र कर दिया गया है। परन्तु समाचारपत्रो को और इसलिये ब्रिटिश जनता को उसकी जानकारी नही है। दूसरी ओर, *Child Empl Com* (बाल-सेवायोजन आयोग') की अन्तिम रिपोट मे समाचारपत्रो को कुछ इस तरह का सनसनीखेज मसाला मिल गया था, जिसका अखबार हमेशा स्वागत करत हैं। उदारपथी पत्रो ने प्रश्न किया कि यह कैसे सम्भव हुआ कि ये तमाम भद्र पुरुष और भद्र महिलाए और राजकीय चच के मोटी तनखाह पाने वाले पादरी लोग, जिनसे लिकनशायर सदा भरा रहता है, — ये तमाम सहृदय लोग, जो खास "दक्षिणी सागर के द्वीपा के निवासियो की नैतिकता

(छ) आयरलण्ड

इस अनुभाग को समाप्त करने के पहले आयरलण्ड पर एक नजर डालना जरूरी है। पहले म यहा से सम्बधित मुख्य तथ्य आपके सामने रखता हू।

१८४१ में आयरलण्ड की जन सख्या ८२,२२,६६४ पर पहुच गयी थी, १८५१ तक वह घटकर केवल ६६,२३,६८५ रह गयी, १८६१ में वह ५८,५०,३०६ हो गयी और १८६६ में तो केवल ५५ लाख ही रह गयी, यानी वह लगभग १८०१ के स्तर पर पहुच गयी। यह कमी आरम्भ हुई थी १८४६ में, जब कि अकाल पडा था, और इस तरह बीस साल से कम समय में

को ऊपर उठाने के लिये" एकदम दूसरे ध्रुव के प्रदेश मे अपने मिशनरी भेजा करते है,—यह कैसे सम्भव हुआ कि ये तमाम लोग देखते रहे और इनकी आखो के सामने, उनकी जमीदारियो पर ऐसी भयानक व्यवस्था कायम हो गयी, अधिक सुसस्कृत पत्रो ने केवल इस बात पर दुख प्रकट करने तक ही अपने को सीमित रखा कि खेतिहर आबादी का इतना घोर पतन हो गया है कि लोग अपने बच्चो को चन्द पसो के बदले में ऐसी भयानक गुलामी में बेच देते हैं। सचाई यह है कि इन "नाजुक मिजाज" लोगो ने खेतिहर मजदूरो को जिस नरक मे रख छोडा है, उसमे यदि वे अपने बच्चो को खा भी जायें, तो कोई आश्चय की बात नही होगी। आश्चय की बात तो असल मे यह है कि ऐसी हालत मे रहते हुए भी उनका चरित्र बल अधिकाश रूप मे इतना कम क्षीण हुआ है। सरकारी रिपोर्टों से प्रमाणित हो जाता है कि जिन इलाको म टोलियो की प्रणाली पायी जाती है, उनमे भी मा बाप इस प्रणाली को हृदय से घृणा करते हैं। "गवाहो के बयानो मे इस तरह की काफी सामग्री मौजूद है, जिससे पता चलता है कि बहुत से बच्चो के मा-बापो को खुशी होगी, यदि कोई कानून बनाकर उनपर कोई ऐसी जिम्मेदारी डाल दी जाये, जिससे उनको उस दवाव और लालच का मुकाबला करने में मदद मिले, जिसका उनको बराबर सामना करना पडता है। उनपर कभी-कभी गाव के अफसर और कभी कभी मालिक इसके लिये दवाव डालते हैं कि उनको अपने बच्चो को ऐसी आयु म ही काम करने के वास्ते भेज देना चाहिये, जब कि स्कूल की हाजिरी देने में स्पष्ट ही उनका अधिक लाभ होगा, और मालिक तो यह धमकी भी देते हैं कि अगर वे नही मानेंगे, तो खुद उनको भी बर्खास्त कर दिया जायेगा मजदूरो का इस तरह जो समय और शक्ति जाया होते हैं, खुद उनको और उनके बच्चो को अत्यधिक और अलाभप्रद परिश्रम करने से जो कष्ट होता है, ऐसा प्रत्येक उदाहरण, जब कि मा बाप इस नतीजे पर पहुचे होगे कि उनके बच्चे का नैतिक पतन घरो की भीड के घातक प्रभाव अथवा सावजनिक टोली के जहरीले असर के कारण हुआ है,—ये सारी बात ऐसी हैं, जिन्होने श्रम करनेवाले गरीबो के मन में ऐसी भावनाए पैदा कर दी होगी, जिनको आसानी से समझा जा सकता है और जिनका यहा गिनाना अनावश्यक है। उनके मन में जरूर यह विचार आता होगा कि उनको इतना अधिक शारीरिक एव मानसिक कष्ट ऐसे कारणो से उठाना पडा है, जिनकी जिम्मेदारी उनपर कतई नही है और जिनको यदि उनके बस में होना, तो वे हरगिज बर्दाश्त न करते, और जिनके खिलाफ सघर्ष करना उनकी शक्ति के बाहर है।" (उप० पु०, पृ० XX [बीस], अक ८२, और पृ० XXIII [तेईस), अक ६६।]

ग्रायरलण्ड ग्रपनी ग्राबादी के $\frac{५}{१६}$ हिस्से को खो बैठा।[1] मई १८५१ से जुलाई १८६५ तक ग्रायरलण्ड से १५,६१,४८७ व्यक्ति विदेशो को चले गये, १८६१ से १८६५ तक ५ लाख से ग्रधिक लोग परावासी बन गये। बसे हुए घरो की तादाद में १८५१ से १८६१ तक, ५२,६६० की कमी ग्रा गयी। १८५१–१८६१ में १५ से ३० एकड तक के फार्मों की सख्या में ६१,००० की ग्रौर ३० एकड से ऊपर के फार्मों की सख्या में १,०६,००० की वृद्धि हो गयी, मगर सभी प्रकार के फार्मों की कुल सख्या में १,२०,००० की कमी ग्रा गयी। इन ग्राकडो का यह मतलब है कि यह पूरी कमी केवल १५ एकड से कम के फार्मों के मिट जाने से, ग्रर्थात उनका सकेंद्रण हो जाने से, ग्रायी थी।

तालिका (क)

पशु धन

वर्ष	घोडे		गायें		
	कुल सख्या	कमी	कुल सख्या	कमी	वृद्धि
१८६०	६,१६,८११	–	३६,०६,३७४	–	–
१८६१	६,१४,२३२	५,९९३	३४,७१,६८८	१,३८,३१६	–
१८६२	६,०२,८९४	११,३३८	३२,५४,८९०	२,१६,७९८	–
१८६३	५,७९,९७८	२२,९१६	३१,४४,२३१	१,१०,६९५	–
१८६४	५,६२,१५८	१७,८२०	३२,६२,२९४	–	१,१८,०६३
१८६५	५,४७,८६७	१४,२९१	३४,९३,४१४	–	२,३१,१२०

वर्ष	भेडें			सुग्रर		
	कुल सख्या	कमी	वृद्धि	कुल सख्या	कमी	वृद्धि
१८६०	३५,४२,०८०	–	–	१२,७१,०७२	–	–
१८६१	३५,५६,०५०	–	१३,९७०	११,०२,०४२	१,६६,०३०	–
१८६२	३४,५६,१३२	९९,९१८	–	११,५४,३२४	–	५२,२८२
१८६३	३३,०८,२०४	१४७,९८२	–	१०,६७,४५८	८६,८६६	–
१८६४	३३,६६,९४१	–	५८,७३७	१०,५८,४८०	८,९७८	–
१८६५	३६,८८,७४२	–	३,२१,८०१	१२,९९,८९३	–	२,४१,४१३

[1] ग्रायरलैण्ड की जनसख्या १८०१ मे ५३,१९,८६७, १८११ में ६०,८४,९९६, १८२१ में ६८,६९,५४४, १८३१ में ७८,२८,३४७ ग्रौर १८४१ मे ८२,२२,६६४ थी।

इन तालिकाओं से यह निष्कर्ष निकलता है

घोडे	गायें	भेडें	सुअर
निरपेक्ष कमी	निरपेक्ष कमी	निरपेक्ष वद्धि	निरपेक्ष वृद्धि
७२,३५८	१,१६,६२६	१,४६,६०८	२८,८१९[1]

तालिका (ख)

विभिन्न फसलों और घास के रकबे में कितनी वद्धि या कमी हुई

वर्ष	अनाज की फसलें	हरी फसलें		घास और तिपतिया घास		फ्लेक्स		जोती बोयी गयी कुल भूमि	
	कमी	कमी	वद्धि	कमी	वृद्धि	कमी	वृद्धि	कमी	वद्धि
	एकड	एकड	एकड	एकड	एकड	एकड	एकड	एकड	एकड
१८६१	१५,७०१	३६,९७४	–	४७,९६९	–	–	१९,२७१	८१,८७३	–
१८६२	७२,७३४	७४,७८५	–	–	६,६२३	–	२,०५५	१,३८,८४१	–
१८६३	१,४४,७१९	१९,३५८	–	–	७,७२४	–	६३,९२२	९२,४३१	–
१८६४	१,२२,४३७	२,३१७	–	–	४७,४८६	–	८७,७६१	–	१०,४९३
१८६५	७२,४५०	–	२५,२४१	–	६८,९७०	५०,१५९	–	२८,२१८	–
१८६१ से १८६५ तक	४,२८,०४१	१,०७,९८४	–	–	८२,८३४	–	१,२२,८५०	३,३०,८९०	–

[1] यदि हम और पीछे के आकडो को देखें, तो और भी खराब स्थिति सामने आती है। १८६५ मे भेडो की सख्या ३६,८८,७४२ थी, पर १८५६ म उनकी सख्या ३६,९४,२९४ थी। सुअरो की तादाद १८६५ मे १२,९९,८९३ थी, पर उसके पहले १८५८ मे वह १४,०९,८८३ थी।

आबादी में कमी आयी, तो स्वभावतया उसके साथ-साथ पदावार की राशि में भी कमी आ गयी। यहा पर १८६१ से १८६५ तक के उन ५ वर्षों पर ही विचार कर लेना काफी होगा, जिनके दौरान में ५ लाख से ज्यादा आदमी देश छोडकर चले गये थे और कुल आबादी में सवा तीन लाख से अधिक की कमी आ गयी थी।

अब आइये, खेती पर विचार करें, जिससे पशुओं और मनुष्यों के जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त होते हैं। निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि हर अलग अलग वर्ष की पदावार में उसके पहले वर्ष की तुलना में कितनी कमी आयी या कितनी वृद्धि हुई। 'अनाज की फसलें' शीर्षक में गेहू, जई, जौ, रई, फलियां और मटर शामिल हैं। 'हरी फसलें' शीर्षक में आलू, शलजम, चुकन्दर, गोभी, गाजर, गजरिका और उडद आदि शामिल हैं।

१८६५ के वर्ष में १,२७,४७० एकड नयी जमीन 'घास की जमीन' वाली मद में जुड गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि 'दलदल और अनधिकृत पडती जमीन' की मद के रकबे में १,०१,५४३ एकड की कमी आ गयी थी। यदि हम १८६५ की १८६४ के साथ तुलना करें, तो हम यह पाते हैं कि अनाज के उत्पादन में २,४६,६६७ क्वार्टर की कमी आ गयी थी, जिसमें से ४८,९९९ क्वार्टर की कमी गेहू में, १,६०,६०५ क्वार्टर की कमी जई में, २९,८९२ की कमी जौ में और इसी प्रकार अन्य अनाजों में आयी थी। आलुओं में ४,४६,३९८ टन की कमी आ गयी थी, हालांकि उनकी फसल का रकबा १८६५ में बढ गया था। [देखिये तालिका (ग), पृष्ठ ७८४-७८५।]

आयरलैण्ड की आबादी और खेती की पैदावार में जो उतार चढाव आता रहा है, उसे देखने के बाद अब हमें यह देखना चाहिये कि यहां के जमींदारों, बडे काश्तकारों और औद्योगिक पूंजीपतियों के धन में क्या उतार-चढाव आया है। यह उतार-चढाव आय कर के उतार-चढाव में प्रतिबिम्बित होता है। पाठकों को याद होगा कि अनुसूची "घ" (जिसमें काश्तकारों के अलावा बाकी सब के मुनाफे दिखाये जाते हैं) में तथाकथित "वृत्तियों के मुनाफे", अर्थात् वकीलों, डाक्टरों आदि की आय भी शामिल होती है और अनुसूची "ग" और "च" में, जिनमें ब्योरे की बातें नहीं दी जातीं, कर्मचारियों, अफसरों, राज्य से मुफ्त में तनख्वाह पाने वालों और राजकीय ऋणधारियों आदि की आय भी शामिल होती है।

अनुसूची "घ" के अनुसार आयरलैण्ड में १८५३ से १८६४ तक आय में औसत वार्षिक वृद्धि केवल ०.९३ प्रतिशत हुई थी, जब कि उन्हीं वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में आय में औसत वार्षिक वृद्धि ४.५८ प्रतिशत हुई थी। तालिका "च" बताती है कि १८६४ और १८६५ में (काश्तकारों को छोडकर बाकी सब लोगों के) मुनाफों का बटवारा किस प्रकार हुआ था।

इगलैण्ड एक पूर्णतया विकसित पूंजीवादी उत्पादन का और प्रधानतया एक औद्योगिक देश है। आयरलैण्ड की आबादी में जितनी बडी कमी आ गयी है, यदि उतनी बडी कमी इगलैण्ड की आबादी में आ जाती, तो उसका तो दम निकल जाता। लेकिन आजकल तो आयरलैण्ड महज इगलैण्ड का एक खेतिहर इलाका बना हुआ है, यद्यपि एक चौडा जलडमरूमध्य उसे इगलैण्ड से जुदा किये हुए है। वह इगलैण्ड को अनाज, ऊन, ढोर और उद्योग धधों तथा सेना के लिये रंगरूट देता है।

आयरलैण्ड की आबादी के उजड जाने के कारण वहां की बहुत सारी जमीन खेती से निकल

१८६४ की तुलना में १८६५ में अलग अलग फसलो के रकबे में, प्रति

फसल	फसल का रकबा (एकड)		रकबे की कमी या वद्धि, १८६५		प्रति एकड पैदावार	
	१८६४	१८६५	वृद्धि	कमी	१८६४	१८६५
गेहू	२,७६,४८३	२,६६,९८९	—	९,४९४	१३ ३ ह० वे०	१३ ० ह० वे०
जई	१८,१४,८८६	१७,४५,२२८	—	६९,६५८	१२ १ "	१२ ३ "
जौ	१,७२,७००	१,७७,१०२	४,४०२	—	१५ ९ "	१४ ९ "
वियर(Bere)	८,८९४	१०,०९१	१,१९७	—	१६ ४ "	१४ ८ "
रई					८ ५ "	१० ४ "
आलू	१०,३९,७२४	१०,६६,२६०	२६,५३६	—	४ १ टन	३ ६ टन
शलजम	३,३७,३५५	३,३४,२१२	—	३,१४३	१० ३ "	९ ९ "
चुकदर	१४,०७३	१४,८३९	३१६	—	१० ५ "	१३ ३ "
गोभी	३१,८२१	३३,६२२	१,८०१	—	९ ३ "	१० ४ "
फ्लेक्स	३,०१,६९३	२,५१,४३३	—	५०,२६०	३४ २ स्टोन (१४ पौंड)	२५ २ स्टोन
सूखी घास	१६,०९,५६९	१६,७८,४९३	६८,९२४	—	१ ६ टन	१ ८ टन

गयी है, धरती की पैदावार बहुत कम हो गयी है,[1] और हालाकि उस जमीन का रकबा पहले से बढ गया है, जिसपर ढोर पाले जाते ह, लेकिन फिर भी पशु प्रजनन की कुछ शाखाओ में निरपेक्ष ढग की कमी आ गयी है, और अन्य शाखाओ में नाम मात्र की वद्धि हुई है, और वह भी रुक-रुककर। किन्तु, इन सब बातो के बावजूद, आबादी की तादाद में कमी आने के साथ-साथ लगान और काश्तकारो के मुनाफे बढ़ते गये हैं, हालाकि ये मुनाफे उतने अनवरत ढग से नहीं बढ़े ह, जितने अनवरत ढग से लगान बढ़े ह। इसका कारण आसानी से समझ में आ जाता है। एक ओर यह हुआ है कि छोटी जोतो के बडी जोतो में मिल जाने से और खेती योग्य जमीन के चरागाहो में बदल दिये जाने से पूरी पदावार का एक ज्यादा बडा हिस्सा अतिरिक्त पदावार में बदल गया। अतिरिक्त पदावार बढ़ गयी, हालाकि कुल पदावार, जिसका अतिरिक्त पदावार एक अग होती है, घट गयी। दूसरी ओर, पिछले २० वर्षों में और विशेषकर आखिरी १० वर्षों में

[1] जब हम यह देखत हैं कि प्रति एकड पैदावार भी सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी है, तो हमे यह नही भलना चाहिये कि डेढ सौ वष से इगलैण्ड अप्रत्यक्ष ढग से आयरलैण्ड की धरती का निर्यात करता आ रहा है, और साथ ही उसन धरती के जोतन वालो के पास इसके भी कोई साधन नही छोडे हैं, जिनसे वे धरती में उन सघटक अशो की कमी को पूरा कर दत, जो खतम हो गये हैं।

तालिका (ग)

एकड पैदावार में और कुल पैदावार में कितनी वृद्धि या कमी हुई[1]

प्रति एकड पदावार में वृद्धि या कमी, १८६५		कुल पैदावार			
		कुल पैदावार की मात्रा		कुल पैदावार में वृद्धि या कमी	
वृद्धि	कमी	१८६४	१८६५	वृद्धि	कमी
		क्वाटर			
–	० ३ ह० वे०	८,७५,७८२	८,२६,७८३	–	४८,९९९ क्वाटर
० २ ह० वे०	–	७८,२६,३३२	७६,५९,७२७	–	१,६६,६०५ "
–	१ ० ह० वे०	७,६१,९०९	७,३२,०१७	–	२९,८९२ "
–	१ ६ ह० वे०	१५,१६०	१३,९८९		१,१७१ "
१ ९ ह० वे	–	१२,६८०	१८,३६४	५,६८४ क्वाटर	–
–	० ५ टन	४३,१२,३८८ टन	३८,६५,९९० टन	–	४,४६,३९८ टन
–	० ४ टन	३४,६७,६५९ "	३३,०१,६८३ "	–	१,६५,९७६ "
२ ८ टन	–	१,४७,२८४ "	१,९१,९३७ "	४४,६५३ टन	–
१ १ टन	–	२,९७,३७५ "	३,५०,२५२ "	५२,८७७ "	–
–	९ ० स्टोन	६४,५०६ स्टोन	३९,५६१ स्टोन	–	२४,९४५ स्टोन
० २ टन	–	२६,०७,१५३ टन	३०,६८,७०७ टन	४,६१,५५४ टन	–

[1] पुस्तक के मूल पाठ मे जो तथ्य दिये गये है, वे १८६० और आगे के वर्षों के *Agricultural Statistics, Ireland General Abstracts, Dublin* ('आयरलैण्ड के खेती के आकडे, सामान्य सक्षेपिकाए, डबलिन') और "*Agricultural Statistics Ireland Tables showing the estimated average produce &c, Dublin, 1866*' ('आयरलैण्ड के खेती के आकडे, औसत पैदावार आदि की तालिकाए, डबलिन, १८६६') मे लिये गये है। ये सारे आकडे सरकारी है और हर वष ससद के सामने पेश किये गये थे।

(दूसरे सस्करण का नोट १८७२ के सरकारी आकडो की १८७१ के आकडो से तुलना करने पर पता चलता है कि खेती के रकबे में १,३४,९१५ एकड की कमी हो गयी थी। हरी फसले – शलजम, चुकदर आदि – के रकबे में वृद्धि हो गयी थी। गेहू के रकबे में १६,००० एकड की कमी हो गयी थी, जई मे १४,००० एकड की, जौ और रई मे ४,००० एकड की, आलुओ मे ६६,६३२ एकड की, फ्लेक्स में ३४,६६७ एकड की और घास, तिपतिया घास, उरद तथा रैप-सीड मे ३०,००० एकड की कमी आ गयी थी। गेहू का रकबा पिछले ५ वर्षों म इस तरह घटता गया है १८६८ – २,८५,००० एकड, १८६९ – २,८०,००० एकड, १८७० – २,५९,००० एकड, १८७१ – २,४४,००० एकड और १८७२ – २,२८,००० एकड। १८७२ म स्थूल सख्याओ मे घोडा की सख्या म २,६०० की, सीगदार ढोरा म ८०,००० की और भेडा म ६८,६०९ की वृद्धि हो गयी है और सुअरा मे २,३६,००० की कमी आ गयी है।)

अनुबद्ध आयो पर

	१८६०	१८६१
अनुसूची "क" जमीन का लगान	१,३८,६३,८२६	१,३०,०३,५५४
अनुसूची "ख" काश्तकारो का मुनाफा	२७,६५,३८७	२७,७३,६४४
अनुसूची "घ" उद्योगो आदि का मुनाफा	४८,६१,६५२	४८,३६,२०३
समस्त अनुसूचिया – "क" से "च" तक	२,२६,६२,८८५	२,२६,६८,३६४

इगलैण्ड की मण्डी में मास, ऊन आदि का भाव बढ जाने के फलस्वरूप इस अतिरिक्त पैदावार का मुद्रा-मूल्य उसकी राशि से भी अधिक तेजी से बढ़ गया है।

उत्पादन के ये बिखरे हुए साधन, जो खुद उत्पादको के लिये रोजगार तथा जीवन निर्वाह के साधनो का काम करते है और दूसरे लोगो के श्रम का अपने साथ समावेश करके स्वय अपने मूल्य का विस्तार नहीं करते, वे उसी तरह पूजी की मद में नहीं आते, जिस तरह वह पैदावार माल की मद में नहीं आती, जिसे उसका पैदा करने वाला खुद खर्च कर डालता है। यदि एक तरफ आबादी के कम होने के साथ-साथ खेती में लगे हुए उत्पादन के साधनो में भी कमी आ गयी, तो दूसरी तरफ खेती में लगी हुई पूजी बढ गयी, क्योंकि उत्पादन के बिखरे हुए साधनो के एक भाग का सकेंद्रण हो गया और वह पूजी में बदल गया।

आयरलैण्ड में खेती के बाहर, उद्योग तथा व्यापार में जो पूजी लगी हुई है, उसका सचय पिछली दो दशाब्दियों में धीरे-धीरे हुआ है और सचय की इस क्रिया के दौरान में बार-बार और बहुत बडे-बडे उतार-चढाव आते रहे ह। मगर इस पूजी के अलग अलग सघटको का सकेंद्रण उतनी ही ज्यादा तेजी से हुआ है। और उसमें निरपेक्ष ढग की वृद्धि भले ही बहुत कम हुई हो, पर देश की घटती हुई आबादी के अनुपात में यह बहुत बढ गयी है।

अत यहा हम अपनी आखो के सामने और बडे पमाने पर एक ऐसी प्रक्रिया को सम्पन्न होते हुए देखते ह, जिससे बेहतर कोई चीज परपरानिष्ठ अर्थशास्त्र को अपनी इस रूढ़ि के समर्थन के लिये नहीं मिल सकती थी कि गरीबी निरपेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या से उत्पन्न होती है और जब आबादी का एक हिस्सा उजड जाता है, तो सतुलन फिर ठीक हो जाता है। इस सम्बध में आयरलैण्ड का यह प्रयोग १४ वीं शताब्दी के मध्य के उस प्लेग से कहीं अधिक महत्व रखता है, जिस की माल्थस के अनुयायी इतनी प्रशसा किया करते ह। यहा हम यह और बता दें कि यदि केवल स्कूल के मास्टर का भोलापन ही यह गलती कर सकता था कि उन्नीसवीं सदी की उत्पादन और आबादी की परिस्थितियो को १४ वीं सदी के मापदण्ड से मापने लगे, तो दूसरी ओर यह

तालिका (घ)

ग्राय-कर (पौण्ड स्टर्लिंग)

१८६२	१८६३	१८६४	१८६५
१,३३,९८,९३८	१,३४,९४,०९१	१,३४,७०,७००	१,३८,०१,६१६
२६,३७,८९९	२६,३८,८२३	२६,३०,८७४	२६,४६,०७२
४८,५८,८००	४८,४६,४९७	४५,४६,१४७	४८,५०,१९९
२,३५,९७,५७४	२,३६,५८,६३१	२,३२,३६,२९८	२,३९,३०,३४०[1]

भोलापन इस बात को ग्रनदेखा कर देता है कि प्लेग की महामारी ग्रौर उसमें ग्राबादी के नष्ट होने के बाद इगलिश चनेल के इस तरफ, इगलैण्ड में, जरूर खेतिहर ग्रावादी को मुक्तिदान प्राप्त हुग्रा था ग्रौर उसका घन बढ़ा था, पर चनेल के उस ग्रोर, फ्रास में, खेतिहर ग्राबादी पहले से ज्यादा भयानक गुलामी ग्रौर गरीबी में फस गयी थी।"

ग्रायरलण्ड मे १८४६ के ग्राकाल में १०,००,००० से ग्रधिक लोग मारे गये, लेकिन सिफ गरीब लोग ही इस ग्रकाल के शिकार हुए। देश के घन म उससे जरा भी कमी नहीं ग्रायी। ग्रगले बीस वर्षों के बहिर्गमन से, जिसकी रफ्तार ग्रब भी बराबर बढती ही जा रही है, तीस वष के युद्ध की भाति मनुष्यो के साथ-साथ उनके उत्पादन के साधनो में कमी नहीं ग्रायी। ग्रायरलण्डवासियो की वृद्धि ने गरीब लोगो को ग्रपने दुखी देश से उठाकर हजारो मील दूर ले जाने का एक बिल्कुल नया तरीका खोज निकाला। ग्रायरलण्ड के जो लोग ग्रमरीका में जाकर बस गये ह, वे हर साल उन लोगो के सफर-खच के लिये रुपये भेजते ह, जो ग्रायरलण्ड में छूट गये ह। हर साल जो जत्था विदेश जाता है, वह ग्रगले साल एक नये जत्थे को वहा खींचकर बुला

---

[1] *Tenth Report of the Commissioners of Ireland Revenue* ('ग्रायरलैण्ड की ग्राय के कमिश्नरो की दसवी रिपोट'), London 1866।

[2] ग्रायरलैण्ड को "जन-सख्या के सिद्धान्त" की दृष्टि से एक ग्रादश देश समझा जाता है। चुनाचे, थ० सैडलर ने ग्राबादी से सम्बधित ग्रपनी रचना प्रकाशित करने के पहले *'Ireland its Evils and their Remedies* ['ग्रायरलैंड, उसकी बुराइया ग्रौर उनका इलाज'] (दूसरा सस्करण, London, 1829) नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमे ग्रलग ग्रलग प्रान्तो की ग्रौर हर प्रात की ग्रलग ग्रलग काउण्टियो की तुलना करके सैडलर ने यह साबित किया है कि ग्रायरलैण्ड मे गरीबी ग्राबादी के ग्रनुपात में नही बढती, जैसा कि माल्थूस का कहना है, बल्कि वह उसके प्रतिलोम ग्रनुपात मे घटती-बढती है।

तालिका (च)

आयरलण्ड में (६० पौण्ड से अधिक के) मुनाफो से होनी वाली
अनुसूची "घ" की आय

	१८६४		१८६५	
	आय (पौण्ड)	कितने व्यक्तियो में बीच बट गयी	आय (पौण्ड)	कितने व्यक्तियो मे बीच बट गयी
कुल वार्षिक आय	४३,६८,६१०	१७,४६७	४६,६६,६७६	१८,०८१
६० पौण्ड से अधिक, किन्तु १०० पौण्ड से कम की वार्षिक आय	२,३८,६२६	५,०१५	२,२२,५७५	४,७०३
कुल वार्षिक आय का एक भाग	१६,७६,०६६	११,३२१	२०,२८,४७१	१२,१८४
कुल वार्षिक आय का बाकी भाग	२१,५०,८१८	१,१३१	२४,१८,६३३	१,१६४
इस भाग के अलग अलग अंश	१०,८३,६०६	६१०	१०,६७,६३७	१,०४४
	१०,६६,६१२	१२१	१३,२०,६६६	१८६
	४,३०,५३५	१०५	५,८४,४५८	१२२
	६,४६,३७७	२६	७,३६,४४८	२८
	२,६२,६१०	३	२,६४,५२८	३[1]

लेता है। इस प्रकार, परावास के इस काम में आयरलैण्ड का एक पैसा भी खर्च नहीं होता, उल्टे वह उसके निर्यात व्यापार की एक सबसे अधिक लाभदायक शाखा बन गया है। आखिरी बात यह है कि यह एक सुनियोजित क्रिया है, जिससे आबादी में केवल अस्थायी रूप से कमी नहीं आती, बल्कि हर साल जितने लोग नये पैदा होते हैं, उनसे अधिक लोग देश छोड़कर चले जाते हैं और इस तरह वर्ष प्रति वर्ष जन-संख्या का स्तर गिरता ही जाता है।

आयरलण्ड के जो मजदूर देश में ही रह गये और जो इस तरह अतिरिक्त जन-संख्या के

[1] अनुसूची "घ" की कुल वार्षिक आय इस तालिका में पिछली तालिका से कुछ भिन्न दिखायी गयी है, क्योंकि कानून के अनुसार उसमे से कुछ रकमे काट दी गयी हैं।

[2] १८५१ से १८७४ तक कुल २३,२५,९२२ व्यक्ति आयरलैण्ड छोड़कर चले गये।

अभिशाप से मुक्त हो गये, उनपर इसका क्या असर पडा? यही कि आज भी आयरलण्ड में सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या उतनी ही बडी है, जितनी १८४६ के पहले थी, मजदूरी भी पहले की तरह ही कम मिलती है, हा, मजदूरो पर अत्याचार बढ़ गया है और ग़रीबी के कारण देश में एक नया सकट पैदा हो रहा है। कारण बहुत सीधे-सादे ह। परावास के साथ-साथ खेती में क्रान्ति होती गयी है। जन-सख्या में जितनी निरपेक्ष ढग की कमी आयी है, उससे अधिक सापेक्ष अतिरिक्त जन-सख्या पदा हो गयी है। तालिका (ग) पर नजर डालिये, तो आप समझ जायेंगे कि खेती योग्य जमीन के चरागाहो में बदल दिये जाने का जितना असर इगलैण्ड में हुआ है, उससे ज्यादा असर आयरलैण्ड में हुआ होगा। इगलैण्ड में पशु प्रजनन के साथ साथ हरी फसलो की खेती बढती जाती है, आयरलण्ड में वह घटती जाती है। एक तरफ बहुत सारी जमीन, जो पहले जोती-बोयी जाती थी, बेकार पडी है या स्थायी रूप से घास के मदानो में बदल दी गयी है, दूसरी तरफ बहुत सी ऐसी बजर और दलदली जमीन, जो पहले किसी काम में नहीं आती थी, अब पशु प्रजनन का विस्तार करने के काम में आने लगी है। छोटे और मझोले काश्तकारो की सख्या—जो लोग १०० एकड से ज्यादा की खेती नहीं करते, उन सबको म इसी श्रेणी में रखता ह—अब भी काश्तकारो की कुल सख्या का $\frac{८}{१०}$ भाग है।[1] पूजी द्वारा सचालित खेती की प्रतियोगिता उनका एक एक करके ऐसा बुरी तरह सत्यानाश करती है, जसा इसके पहले कभी नहीं देखा गया था, और इसलिये इन लोगो में से मजदूरो के वग को लगातार नये रगरूट मिलते रहते ह। आयरलण्ड में बडा उद्योग एक है सन का कपडा बनाने का उद्योग। उसके लिये अपेक्षाकृत कम सख्या में वयस्क पुरुषो की आवश्यकता होती है, और हालाकि १८६१–६६ में कपास के दाम बढ़ जाने के बाद इस उद्योग का काफी विस्तार हो गया है, फिर भी इसमें कुल मिलाकर आबादी का एक अपेक्षाकृत महत्वहीन भाग काम करता है। आधुनिक ढग के अन्य बडे उद्योगो की तरह इस उद्योग में भी निरतर उतार-चढ़ाव आता रहता है और उसके फलस्वरूप वह भी खुद अपने क्षेत्र में लगातार अतिरिक्त जन सख्या उत्पन्न करता रहता है, इस उद्योग में काम करने वालो की निरपेक्ष सख्या में जब वद्धि होती है, तब भी सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या का उत्पादन नहीं रुकता। खेतिहर आबादी की गरीबी की बुनियाद पर कमीजें बनाने वाले दत्याकार कारखाने खडे हो गये ह, जिनके मजदूरो की विशाल सेनाए आम तौर पर देहात में बिखरी रहती ह। यहा फिर घरेलू उद्योग की वह प्रणाली हमारे सामने आती है, जिस प्रणाली के कम मजदूरी देने और अत्यधिक काम लेने के रूप में फालतू मजदूरो को पदा करने के अपने सुनियोजित तरीके ह। अन्तिम बात यह है कि हालाकि आबादी के कम हो जाने का यहा उतना घातक प्रभाव नहीं होता है, जितना किसी पूणतया विकसित पूजीवादी उत्पादन वाले देश में होता, फिर भी उसका घरेलू मण्डी पर लगातार असर पडता है। यहा परावास से जो कमी पैदा हो जाती है, वह न केवल श्रम की स्थानीय माग को घटा देती है, बल्कि छोटे दूकानदारो, कारीगरो, व्यापारी-पेशा लोगो की आय को भी आम तौर पर सीमित कर देती

---

[1] Murphy (मर्फी) की रचना *Ireland Industrial, Political and Social* ('आयरलैण्ड का औद्योगिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन') (१८७०) में दी गयी एक तालिका के अनुसार ९४ ६ प्रतिशत जोतें १०० एकड तक नहीं पहुचती, ५ ४ प्रतिशत १०० एकड से ऊपर है।

है। यही कारण है कि तालिका (च) में ६० पौण्ड और १०० पौण्ड के बीच की आमदनिया कम हो गयी ह।

आयरलैण्ड में खेतिहर मजदूरो की स्थिति का एक स्पष्ट चित्र आयरलैण्ड के ग़रीबो के कानून के इस्पेक्टरो की रिपोर्टों (१८७०) में मिलता है।[1] ये इस्पेक्टर एक ऐसी सरकार के कर्मचारी ह, जो केवल सगीनो के बल पर कायम है और देश में या तो ऐलानिया ढग से और या छिपे तौर पर सैनिक शासन के द्वारा जीवित रहती है। इसलिये उन्हें अपनी भाषा में ऐसी हर प्रकार की सावधानी बरतनी पडती है, जिसे इगलैण्ड के इस्पेक्टर उपेक्षा की दृष्टि से देखते ह। फिर भी वे अपनी सरकार को किसी प्रकार के भ्रम में नहीं रहने देते। उनका कहना है कि देहात में मजदूरी की दर, जो अब भी बहुत कम है, पिछले २० वर्षों में ५०–६० प्रतिशत बढ गयी है और इस समय वह औसतन ६ शिलिंग से ९ शिलिंग तक प्रति सप्ताह है। लेकिन इस दिखावटी बढती के पीछे असल में मजदूरी का गिराव छिपा हुआ है, क्योंकि इस बीच जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनो के दामो में जो उभार आ गया है, उसके मुक़ाबले में मजदूरी बहुत कम बढी है। इसके सबूत में नीचे की तालिका में आयरलैण्ड के एक मुहताजखाने के सरकारी हिसाब का एक अश देखिये

प्रति व्यक्ति औसत साप्ताहिक खच

वष समाप्त होने की तारीख	खाने-पीने की वस्तुओ और अन्य आवश्यक वस्तुओ पर	कपडो पर	कुल जोड
२९ सितम्बर १८४९	१ शिलिंग ३ $\frac{१}{४}$ पेंस	३ पस	१ शिलिंग ६ $\frac{१}{४}$ पेंस
२९ सितम्बर १८६९	२ शिलिंग ७ $\frac{१}{४}$ पेंस	६ पेंस	३ शिलिंग १ $\frac{१}{४}$ पेंस

इसलिये, २० वष पहले के मुकाबले में जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनों का दाम दुगुने से भी अधिक और कपडो का दाम ठीक-ठीक दुगुना हो गया है।

इस व्यनुपात के अलावा भी, केवल नकद मजदूरी की दरो की तुलना करने से भी एक ऐसा निष्कष निकाला जा सकता है, जो पर्याप्त रूप से सही न हो। अकाल के पहले खेतिहर मजदूरो की मजदूरी ज्यादातर जिन्स की शक्ल में दी जाती थी, केवल एक बहुत ही छोटा भाग नक्दी में दिया जाता था। आजकल नकद मजदूरी देने का नियम है। इससे यह निष्कष

[1] '*Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Agricultural Labourers in Dublin* ('डब्लीन मे खेतिहर मजदूरो की मजदूरी के विषय में गरीबो के कानून के इस्पक्टरो की रिपोर्टें'), Dublin 1870।— *Agricultural Labourers (Ireland) Return etc* ['खेतिहर मजदूर (आयरलैण्ड) विवरण, आदि'], 8 March 1861 London 1862 भी देखिये।

निकलता है कि असल मजदूरी कुछ भी हो, नकद मजदूरी में जरूर वृद्धि हुई होगी। "अकाल के पहले मजदूर खुद अपने झोपडे में रहता था, जिसके साथ एक रूड या आधी एकड या एकड भर जमीन भी होती थी, और वह उसपर आलू की कुछ फसल पदा कर सकता था। वह सुअर पाल सकता था और मुर्गिया रख सकता था लेकिन अब मजदूरो को रोटी खरीदनी पडती है और उनके पास ऐसा कोई कूडा-करकट भी नहीं होता, जिसे वे सुअर या मुर्गियो को खिला सकें, और इसलिये वे सुअर, मुर्गी या अण्डे बेचकर कुछ नहीं कमा सकते।"[1] असल में, खेतिहर मजदूर पहले सबसे छोटे काश्तकारो के समान होते थे और मोटे तौर पर मझोले और बडे फार्मों के, जिनपर उनको काम मिल जाता था, पृष्ठदल का काम करते थे। यह बात तो केवल १८४६ की दुघटना के बाद ही देखने में आयी है कि ये लोग विशुद्ध रूप से मजदूरी करने वालो के वग का, उस विशेष वर्ग का भाग बनते जा रहे ह, जिसका मजदूरी देने वाले अपने मालिको के साथ केवल मुद्रा का ही सम्बध होता है।

हम जानते ह कि १८४६ में उनके घरो की क्या हालत थी। तब से उनकी हालत और भी खराब हो गयी है। खेतिहर मजदूरो का एक भाग, हालाकि उसकी सख्या दिन प्रति दिन कम होती जा रही है, आज भी काश्तकारो की जमीन पर बने हुए, भीड से भरे उन घरो में रहता है, जिनकी भयानकता के सामने इगलण्ड के खेत-मजदूरो के खराब से खराब घर भी अच्छे लगेंगे। और अलस्टर के कुछ इलाको को छोडकर बाकी जगह आम तौर पर यही हालत है,—जसे दक्षिण की कोर्क, लिमेरिक, किलकेन्नी इत्यादि काउण्टियो में, पूव में विकलो वेक्सफोड आदि में, आयरलण्ड के मध्य में किग्स एण्ड क्वीन्स काउण्टी, डबलिन आदि में, उत्तर में डौन, एट्रीम, टिरोन इत्यादि में, पश्चिम में स्लिगो, रौसकौमन, मेयो, गैलवे आदि में। एक इस्पेक्टर ने लिखा है "खेतिहर मजदूरो के झोपडे ईसाइयत और इस देश की सभ्यता के माथे पर कलक का टीका है।"[2] इन दडबो को मजदूरो के लिये और भी आकषक बनाने के वास्ते, अति प्राचीन काल से उनके साथ जुडे हुए जमीन के टुकडो को भी सुनियोजित ढग से जब्त कर लिया जाता है। "केवल इस विचार ने कि जमींदारो और उनके कारिदो ने उनपर इस प्रकार का प्रतिबध लगा रखा है, मजदूरो के दिमागो में उन लोगो के विरुद्ध, जिनके बारे में उनका खयाल है कि वे लोग मजदूरो के साथ एक गुलाम नस्ल जसा व्यवहार करते ह, विरोध और असतोष की भावनाए पदा कर दी ह।"[3]

खेती में जो क्रान्ति हुई, उसने पहला काम यह किया कि श्रम के क्षेत्र में खडे झोपडो को नष्ट कर दिया। यह चीज बहुत ही बडे पमाने पर हुई, और इस तरह हुई, जैसे किसी ने ऊपर से इसका हुक्म दिया हो। चुनाचे बहुत से मजदूरो को गावो और शहरो में आश्रम खोजना पडा। वहा उनको कूडे करकट की तरह सबसे ज्यादा गदे मुहल्लों की अटारिया, दडबो, तहखानो और कोनो में भर दिया गया। यद्यपि अग्रेजो का मस्तिष्क जातीय पूवग्रहो से सकुचित रहता है, तथापि वे यह मानते ह कि आयरलैण्ड के लोगो का अपने घर-द्वार से एक अजीब लगाव होता है और उनके घरेलू जीवन में एक उल्लेखनीय हर्षोत्फुल्लता तथा निमलता होती है। परन्तु इन्हीं आयरलण्डवासियो के हजारो परिवारो को उनकी भूमि से उखाडकर यकायक पाप की नगरी में

[1] उप० पु०, पृ० २६, १।
[2] उप० पु०, पृ० १२।
[3] उप० पु०, पृ० १२।

बसा दिया गया। पुरुषो को पास-पड़ोस के फार्मों पर काम तलाशना पडता है और उनको सिर्फ रोजनदारी पर रखा जाता है, जिससे हमेशा काम छूट जाने का खतरा बना रहता है। चुनाचे, "इन लोगो को काम करने के लिये कभी-कभी बहुत दूर पदल चलकर जाना और वहां से लौटना पडता है, वे अक्सर भीग जाते हैं, बहुत कष्ट उठाते ह, और अन्त में बहुधा इसका यह परिणाम होता है कि वे बीमार पड जाते ह और उनको रोग तथा अभाव आ घेरते ह।"[1]

"देहात के अतिरिक्त मजदूर समझे जाने वाले लोग वर्ष प्रति वर्ष आकर क़स्बो में भर जाते ह।"[2] मगर फिर भी लोगो को यह देखकर आश्चर्य होता है कि "क़स्बो और गावो में अब भी मजदूरो का अतिरेक है, पर देहाती इलाक़ो में या तो मजदूरो की कमी है, या कमी होने की आशका है।"[3] सच तो यह है कि यह कमी केवल "फसल की कटाई के दिनो में, या वसन्त में, या ऐसे समय" दिखाई देती है, "जब खेती की क्रियाओ में तेजी आ जाती है, वर्ष के बाकी भागो में बहुत से मजदूर बेकार रहते ह"[4] सचाई यह है कि "अक्तूबर के महीने से, जब कि आलुओ की मुख्य फसल खोदकर निकाली जाती है, अगले वसन्त के शुरू होने तक इन लोगो के लिये कोई काम नहीं रहता।"[5] और जब खेती के कामो में तेजी आती है, तब भी उनको "खण्डित दिन की प्रणाली के अनुसार काम करना पडता है और तरह-तरह के कारणो से उनका श्रम बीच में रुक रुक जाता है।"[6]

खेती की क्रान्ति के ये परिणाम – अर्थात खेती योग्य जमीन का चरागाहों में बदल दिया जाना, मशीनो का प्रयोग करना, श्रम के उपयोग में हद से ज्यादा मितव्ययिता बरतना, इत्यादि – उन आदर्श जमींदारो के कारण और भी उग्र रूप धारण कर लेते ह, जो लगान की अपनी आय को दूसरे देशो में खर्च करने के बजाय आयरलैण्ड में अपनी जमींदारियो पर ही रहने की कृपा करते ह। इस दृष्टि से कि कहीं पूर्ति और माग का नियम भग न हो जाये, ये महानुभाव अपनी "श्रम-पूर्ति मुख्यतया अपने छोटे किसानों में से करते ह, जिनको बहुधा मजदूरी की ऐसी दरो पर जमींदार के लिये काम करने के वास्ते हाजिर हो जाना पडता है, जो अक्सर साधारण मजदूरो की मजदूरी की दरो से काफी कम होती ह, और जिनके बारे में इसका भी कोई खयाल नहीं रखा जाता कि बुवाई या कटाई के नाजुक दिनो में खुद अपना काम न कर पाने के कारण उनको क्या असुविधा या हानि होगी।"[7]

रोजगार पाने की अनिश्चितता और अनियमितता, बार-बार श्रम की मडी में मजदूरो का आधिक्य हो जाना और इस स्थिति का बहुत देर तक बने रहना – अतिरिक्त जनसख्या के ये सारे लक्षण आयरलण्ड के खेतिहर सर्वहारा की कठिनाइयो के रूप में गरीबो के कानून के इन्स्पेक्टरो की रिपोर्टों में हमारे सामने आते ह। पाठको को याद होगा कि इगलण्ड के खेतिहर सर्वहारा के सम्बन्ध में भी हमने इसी प्रकार का एक दृश्य देखा था। परन्तु दोनो में अन्तर यह

---

[1] उप० पु०, पृ० २५।
[2] उप० पु०, प २७।
[3] उप० पु०, पृ० २५।
[4] उप० पु०, पृ० १।
[5] उप० पु०, पृ० ३१, ३२।
[6] उप० पु०, पृ० २५।
[7] उप० पु०, पृ० ३०।

वच्ची दिन भर छोटे बच्चो को सभालती है। और हम लोग सुबह का नाश्ता ८ बजे करते ह। ८ बजे हम घर चले आते हैं। सप्ताह में एक बार हमें चाय मिल जाती है। बाकी रोज हम लपसी (stirabout) खाते ह, कभी जई के आटे की, कभी मक्का के आटे की, – जब जो चीज मिल जाये। जाडो में हम मक्का के आटे की अपनी लपसी में थोडी शक्कर और पानी मिला लेते ह। गरमियो में हमें कुछ आलू मिल जाते ह, जो हमने जमीन के एक छोटे से टुकडे में खुद लगा रखे ह। जब आलू खतम हो जाते ह, तो हम फिर लपसी खाना शुरु कर देते ह। कभी कभी सम्भव हुआ, तो थोडा सा दूध मिल जाता है। चाहे रविवार हो, चाहे कोई और दिन हो, बारहो महीनो हमारे जीवन का कम इसी तरह चलता रहता है। म रात को जब काम खतम करके घर लौटता हू, तो हमेशा बहुत थक जाता हू। कभी-कभार हमें जरा से मास के भी दर्शन हो जाते ह, लेकिन ऐसा दिन बडा दुलभ होता है। हमारे तीन बच्चे स्कूल जाते ह, जिनकी फीस हमें हर सप्ताह १ पेनी प्रति बच्चा देनी पडती है। मकान का किराया ६ पेंस प्रति सप्ताह है। आग जलाने के लिये पीट पर बहुत कम करने पर भी दो हफ्ते में १ शिलिंग ६ पेंस तो खच हो ही जाते ह।"[1] ऐसी है आयरलण्ड के मजदूरो की मजदूरी और ऐसा है उनका जीवन!

असल में, आजकल आयरलण्ड की गरीबी एक बार फिर इगलैड में लोगो की चर्चा का विषय बन गयी है। १८६६ के अत में और १८६७ के आरम्भ में आयरलण्ड के एक बडे भूस्वामी, लार्ड डफरिन ने "The Times' में इस समस्या का एक हल सुझाने का प्रयत्न किया था। 'Wie menschlich von solch grossem Herrn!' ("इतने बडे आदमी ने कितनी उदारता दिखायी है!")

तालिका (च) में हमने देखा था कि १८६४ में ४३,६८,६१० पौण्ड के कुल मुनाफे में से अतिरिक्त मूल्य बनाने वाले केवल तीन व्यक्तियो को २,६२,६१० पौण्ड मिले थे, लेकिन १८६५ में ४६,६६,६७६ पौण्ड के कुल मुनाफे में से "परिवजन" की कला के ये ही तीन महान आचाय २,७४,४४८ पौण्ड मार ले गये, १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले २६ व्यक्तियो ने ६,४६,३७७ पौण्ड कमाये थे, १८६५ में २८ ने ७,३६,४४८ पौण्ड कमाये, १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १२१ व्यक्तियो ने १०,६६,६१२ पौण्ड कमाये थे, १८६५ में १८६ ने १३,२०,६६६ पौण्ड कमाये, १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १,१३१ व्यक्तियो ने २१,५०,८१८ पौण्ड कमाये थे, जो साल भर के मुनाफो की कुल रकम का लगभग आधा होते थे, १८६५ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १,१६४ व्यक्तियो ने २४,१८,६३३ पौण्ड कमाये, जो साल भर के मुनाफो की कुल रकम का आधे से ज्यादा होते थे। लेकिन इगलैण्ड, स्कोटलण्ड और आयरलण्ड के मुट्ठी भर बडे-बडे भू-स्वामी वार्षिक राष्ट्रीय आय का इतना बडा भाग निगल जाते ह कि दूरदर्शी अंग्रेजी राज्य यह ठीक नहीं समझता कि लगान की आय के वितरण के बारे में भी उसी प्रकार के आकडे प्रकाशित किये जायें, जिस प्रकार के आकडे मुनाफो के वितरण के बारे में प्रकाशित किये जाते ह। इन बडे भू-स्वामियो में से एक लार्ड डफरिन भी ह। लगान की दर या मुनाफे भी कभी "बहुत ऊचे" हो सकते ह या उनके आधिक्य का जनता की गरीबी के आधिक्य से कोई सबध हो सकता है, – यह एक ऐसा विचार है, जो जितना "गलत" ("disreputable") है, उतना ही "कुख्यात" ("unsound") भी है।

---

[1] *Rept of Insp of Fact 31st Oct 1866* ('फैक्टरियो के इंस्पेक्टरो की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६६'), पृ० ६६।

इसलिये, लाड डफरिन अपने को तथ्यो तक सीमित रखते ह। तथ्य यह है कि आयरलण्ड की आबादी जसे-जैसे कम होती जाती है, वसे-वसे वहां की जमावदी फूलती जाती है। तथ्य यह है कि आबादी के उजडने से जमींदारो का लाभ होता है और इसलिये उससे भूमि को भी लाभ होता है, और जनता चूकि भूमि का उपाग है, इसलिये उससे जनता को भी लाभ होता है। चुनाचे, लाड डफरिन फरमाते ह कि आयरलैण्ड की आबादी अब भी जरूरत से ज्यादा है और बहिर्गमन या परवास की धारा अभी भी बहुत धीरे-धीरे बह रही है। पूर्णतया सुखी जीवन व्यतीत करने के लिये आयरलण्ड को तीन लाख से कुछ अधिक श्रमजीवियो को अभी कहीं भेज देना पडेगा। कोई आदमी यह न समझे कि लाड डफरिन, जिनकी कल्पना-शक्ति तो कवियोचित है ही, साग्रेडो के मत के डाक्टर हैं, जो जब कभी उसका कोई बीमार अच्छा नहीं होता था, तो उसकी फस्द खोल देता था और उस वक्त तक बराबर नश्तर लगाता जाता था, जब तक कि बीमार अपने खून के साथ-साथ अपनी बीमारी से भी छुटकारा नहीं पा जाता था। नहीं, लाड डफरिन तो सिफ यह चाहते ह कि एक बार और नश्तर लगाकर दस लाख में से केवल एक तिहाई को कहीं रवाना कर दिया जाये। वह बहुत थोडा ही चाहते हैं कि लगभग तीन लाख को निकाल बाहर किया जाये, हालाकि, असल में, बीस लाख को निकाले बिना आयरलण्ड में स्वर्ग की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका प्रमाण देना बहुत सहज है।

१८६४ में आयरलैण्ड में फार्मों की सख्या और विस्तार

(१) १ एकड से कम के फार्म		(२) १ एकड से ५ एकड तक के फार्म		(३) ५ एकड से ऊपर, पर १५ एकड तक के फार्म		(४) १५ एकड से ऊपर, पर ३० एकड तक के फाम	
सख्या	एकड	सख्या	एकड	सख्या	एकड	सख्या	एकड
४८,६५३	२५,३९४	८२,०३७	२,८८,९१६	१,७६,३६८	१८,३६,३१०	१,३६,५७८	३०,५१,३४३

(५) ३० एकड से ऊपर, पर ५० एकड तक के फाम		(६) ५० एकड से ऊपर, पर १०० एकड तक के फाम		(७) १०० एकड से ऊपर के फाम		(८) कुल रक़बा
सख्या	एकड	सख्या	एकड	सख्या	एकड	एकड
७१,९६१	२९,०६,२७४	५४,२४७	३९,८३,८८०	३१,९२७	८२,२७,८०७	२,६३,१९,९२४[1]

१८५१ से १८६१ तक केन्द्रीयकरण ने प्रधानतया पहली तीन कोटियो के—अर्थात १५ एकड तक के—फार्मों को नष्ट कर डाला। सबसे पहले उनका खात्मा जरूरी था। उसके फलस्वरूप ३,०७,०५८ काश्तकार "फालतू" हो गये, और यदि एक परिवार में केवल चार व्यक्ति के आधार पर भी हिसाब लगाया जाये, तो कुल १२,२८,२३२ व्यक्ति "फालतू" हो गये। यदि हम बहुत बढ़ा चढ़ाकर यह मान लें कि खेती में क्रान्ति पूरी हो जाने के बाद इनमें

[1] कुल क्षेत्रफल मे पीट वाले दलदल और बजर ज़मीन भी शामिल है।

से एक चौथाई को फिर काम मिल जायेगा, तो भी ६,२१,१७४ व्यक्ति बच जाते हैं, जिनको देश छोड़कर चले जाना पड़ेगा। जैसा कि इंगलैण्ड में बहुत दिनों से लोग जानते हैं, १५ एकड़ से ऊपर, पर १०० एकड़ तक की चौथी, पांचवीं और छठी कोटियां अनाज की पूंजीवादी खेती के लिये बहुत छोटी हैं और उनपर भेड़ पालना भी अब लगभग बन्द होता जा रहा है। इसलिये, पूर्वोक्त मान्यता के आधार पर ७,८८,७६१ व्यक्तियों को और आयरलैण्ड छोड़कर चले जाना पड़ेगा। इस तरह कुल १७,०६,५३२ व्यक्तियों को देश से निकालना पड़ेगा। और चूंकि l'appetit vient en mangeant (खाने के साथ-साथ भूख बढ़ती जाती है), इसलिये आयरलैण्ड की आबादी के ३५ लाख हो जाने पर भी भू-स्वामियों को खयाल आयेगा कि यह देश अभी तक दुखी रहता है, और यह इसीलिये कि उसकी आबादी जरूरत से ज्यादा है, और इसलिये वे कहेंगे कि आयरलैण्ड की आबादी को कम करने का काम जारी रहना चाहिये, ताकि यह देश अपनी सच्ची भूमिका अदा कर सके और इंगलैण्ड के लिये भेड़ों और पशुओं की चरागाह का काम कर सके।[1]

---

[1] इस ग्रंथ के तीसरे खण्ड के भू-सम्पत्ति वाले अनुभाग में मैं अधिक विस्तार के साथ यह बताऊंगा कि अलग-अलग जमींदारों और इंगलैण्ड की संसद, दोनों ने खेती की क्रांति को जबर्दस्ती पूरा करने के लिये तथा आयरलैण्ड की आबादी को घटाकर जमींदारों के मन पसन्द स्तर पर ले आने के लिये किस तरह खूब समझ-बूझकर अकाल तथा उसके परिणामों से अधिक से अधिक लाभ उठाया था। वहां मैं छोटे काश्तकारों और खेतिहर मजदूरों की हालत की भी एक बार फिर चर्चा करूंगा। इस समय केवल एक उद्धरण और देना काफी होगा। नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी निधनोत्तर रचना *'Journals Conversations and Essays relating to Ireland'* ['आयरलैण्ड से सम्बंधित डायरी, वार्तालाप और निबंध'] (२ खण्ड, London 1868 खण्ड दूसरा, पृ० २८२) में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा है "'हां,'—डाक्टर जी० ने कहा,—'हमारे यहां गरीबों का कानून भी है, जिससे जमींदारों को बड़ी भारी मदद मिलती है। उनकी सहायता के लिये एक और भी शक्तिशाली साधन परावास है आयरलैण्ड का हितैषी कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि (जमींदारों और छोटे केल्टिक काश्तकारों के बीच) यह युद्ध लम्बा खिंच जाये,—और यह तो कोई और भी कम चाहेगा कि इस युद्ध में काश्तकारों की जीत हो जितनी जल्दी यह युद्ध समाप्त हो जायेगा—जितनी जल्दी आयरलैण्ड चरागाहों का देश (grazing country) बन जायगा और जितनी जल्दी उसकी आबादी सिर्फ इतनी रह जायेगी, जितनी चरागाहों के एक देश की होनी चाहिये,—उतना ही सब वर्गों का भला होगा।'" १८१५ में इंगलैण्ड में जो अनाज सम्बंधी कानून बनाये गये थे, उनसे आयरलैण्ड को ब्रिटेन का स्वतंत्रतापूर्वक अनाज निर्यात करने का एकाधिकार मिल गया था। इसलिये, इन कानूनों से अनाज की खेती को बनावटी ढंग का बढ़ावा मिला था। १८४६ में अनाज सम्बंधी कानूनों को रद्द करके अकस्मात इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। अन्य तमाम कारणों के अलावा अकेली यह घटना ही आयरलैण्ड की खेती योग्य जमीन को चरागाहों में बदलने की क्रिया को, फ़ार्मों के सकेंद्रण की क्रिया को और छोटे कृषकों की बेदखलियों को जबर्दस्त बढ़ावा देने के लिये काफी थी। १८१५ से १८४६ तक आयरलैण्ड की भूमि की उर्वरता की प्रशंसा करने और यह घोषित करने के बाद कि स्वयं प्रकृति ने इस भूमि को गेहूं की खेती करने के लिये बनाया है, इंगलैण्ड के कृषि-रसायनिकों, अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने अकस्मात

इस निकम्मी दुनिया में जितनी अच्छी चीजें हैं, उन सब में कुछ न कुछ बुराई तो होती ही है। सो इस लाभदायक पद्धति में भी कुछ त्रुटिया ह। यदि आयरलण्ड में लगान चढ़ता जाता है, तो उधर अमरीका में आइरिश लोगो की सख्या भी उसी गति से बढती जाती है। भेडो और बलों ने जिसे जलावतन कर दिया है, वह आइरिश मानव महासागर के दूसरे किनारे पर आयरलैण्ड की अग्रेजी सरकार का तख्ता उलटने के लिये सघर्ष करने वाली फेनियन लीग के सदस्य के रूप में प्रकट होता है, और समुद्रो की बुढिया रानी – बरतानिया – के मुकाबले में एक महान तरुण प्रजातत्र अधिकाधिक भयावह रूप धारण करता जाता है।

Acerba fata Romanos agunt
Scelusque fraternae necis

(दुर्भाग्य रोमनो का पीछा कर रहा है, उन्होंने भ्रातृ हत्या का पाप किया है।)

यह आविष्कार किया कि आयरलैण्ड की भूमि तो चारा पैदा करने के सिवा और किसी काम की नही है। इग्लिश चैनेल के उस पार मोशिये लेग्रोस दे लावेगने ने यही बात दुहराने मे बडी मुस्तैदी दिखायी है। लावेगने जैसा कोई "गम्भीर" व्यक्ति ही इस बकवास के भुलावे मे आ सकता है।

भाग ८

तथाकथित आदिम संचय

छब्बीसवा अध्याय

आदिम सचय का रहस्य

हम यह देख चुके ह कि मुद्रा किस तरह पूजी में बदल दी जाती है, किस तरह पूजी से अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है और फिर अतिरिक्त मूल्य ने किस तरह और पूजी बना ली जाती है। लेकिन पूजी का सचय होने के लिये अतिरिक्त मूल्य का पदा होना आवश्यक है, अतिरिक्त मूल्य पैदा होने के लिये पूजीवादी उत्पादन का होना जरूरी है और पूजीवादी उत्पादन के अस्तित्व में आने के लिये आवश्यक है कि मालो के उत्पादको के हाथो में पूजी और श्रम शक्ति की काफी बडी राशिया पहले से मौजूद हो। इसलिये, ऐसा लगता है, जसे यह पूरी क्रिया एक अपचक्र के भीतर चलती रहती है, जिससे बाहर निकलने का केवल एक यही रास्ता है कि हम यह मान लें कि पूजीवादी सचय के पहले आदिम सचय (जिसे ऐडम स्मिथ ने previous accumulation ["पूवकालिक सचय"] कहा है) हुआ था, – यानी कभी एक ऐसा सचय हुआ था, जो उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का परिणाम नहीं था, बल्कि उसका प्रस्थान बिंदु था।

यह आदिम सचय अर्थशास्त्र में वही भूमिका अदा करता है, जो धम शास्त्र में मूल पाप अदा करता है। आदम ने सेब को चखा, इस कारण मनुष्य-जाति पाप के पक में फस गयी। उसकी व्युत्पत्ति बीते हुए जमाने की एक कथा सुनाकर स्पष्ट कर दी जाती है। इसी तरह, हमसे कहा जाता है कि बहुत, बहुत दिन बीते दुनिया में दो तरह के आदमी थे। एक ओर कुछ चुने हुए लाग थे, जो परिश्रमी थे, बुद्धिमान थे, और सबसे बडी बात यह कि मितव्ययी थे। दूसरी ओर थे काहिल और बदमाश, जो अपना सारा सत्त्व भोग विलास और दुराचरण में लुटाये दे रहे थे। धम शास्त्र का मूल पाप हमें यह निश्चित रूप से बता देता है कि आदमी को रोटी पाने के लिये एडी चोटी का पसीना एक क्यों करना पडता है। लेकिन अथशास्त्र के मूल पाप का इतिहास हमें बताता है कि कुछ ऐसे लोग भी क्यो होते ह, जिनके लिये रोटी पाने के लिये मेहनत करना आवश्यक नहीं है। खर, जाने दीजिये। सो, इस तरह पहली किस्म के लोगों ने धन सचय कर लिया और दूसरी क़िस्म के लोगो के पास अन्त में अपनी खाल के सिवा कुछ भी बेचने के लिये नहीं बचा। और इसी मूल पाप का यह नतीजा हुआ कि दुनिया में ज्यादातर आदमी ग़रीब हैं और दिन रात मेहनत करने के बावजूद आज भी उनके पास बेचने के लिये अपने तन के सिवा और कुछ नहीं है। और

यही कारण है कि थोडे से लोगो के पास सारा धन है, और हालाकि इन लोगो ने बहुत दिन पहले काम करना बद कर दिया था, पर फिर भी यह धन बराबर बढ़ता ही जाता है। सम्पत्ति की हिमायत में हमें हर रोज इस तरह की नीरस और बचकाना बकवास सुनायी जाती है। मिसाल के लिये, मोशिये थियेर में इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने एक राज नेता के समस्त गाम्भीर्य के साथ उस फ्रासीसी कौम के सामने यह बात दुहरायी थी, जो किसी समय एक बडी प्रतिभाशाली (spirituel) कौम थी। जसे ही कहीं पर सम्पत्ति का सवाल उठ खडा होता है, वैसे ही यह घोषणा करना हरेक आदमी का पुनीत कतव्य बन जाता है कि शिशु का बौद्धिक भोजन ही हर आयु और विकास की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य की सबसे अच्छी खुराक होता है। यह बात सर्वविदित है कि वास्तविक इतिहास में देश जीतने, दूसरो को गुलाम बनाने, डाकाजनी, हत्या और सक्षेप में कहें, तो बल-प्रयोग की प्रमुख भूमिका है। लेकिन अर्थशास्त्र के मधुर इतिहास में बाबा आदम के जमाने से केवल सुदर बातो की ही चर्चा है। उसके अनुसार तो सदा केवल न्यायोचित अधिकार और "श्रम" से ही धन एकत्रित हुआ है,—हा, "चालू साल" की बात हमेशा दूसरी रहती है। सच्ची बात यह है कि आदिम सचय जिन तरीको से हुआ है, वे और कुछ भी हो, सुदर हरगिज नहीं थे।

जिस तरह उत्पादन के साधन तथा जीवन निर्वाह के साधन खुद अपने में पूजी नहीं होते, उसी तरह मुद्रा और माल भी खुद अपने में पूजी नहीं होते। उनको तो पूजी में रूपातरित करना पडता है। परन्तु यह रूपान्तरण खुद केवल कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियो में ही हो सकता है। इन परिस्थितियो की केन्द्रीय बात यह है कि दो बहुत भिन्न प्रकार के मालो के मालिकों को एक दूसरे के मुकाबले में खडा होना चाहिये और एक दूसरे के सम्पक में आना चाहिये। एक तरफ होने चाहिये मुद्रा, उत्पादन के साधनो और जीवन निर्वाह के साधनो के मालिक, जो दूसरो की श्रम शक्ति को खरीदकर अपने मूल्यो की राशि को बढ़ाने के लिये उत्सुक हो। दूसरी तरफ होने चाहिये स्वतत्र मजदूर, जो खुद अपनी श्रम शक्ति बेचते हो और इसलिये जो श्रम बेचते हो। इन मजदूरो को इस दोहरे अर्थ में स्वतत्र होना चाहिये कि वे न तो दासो, कृषि-दासो आदि की भाति खुद उत्पादन के साधनो का एक अश हो और न ही खुद अपनी जमीन जोतने वाले किसानो की भाति उत्पादन के साधन उनकी सम्पत्ति हो, इसलिये, वे उत्पादन के हर प्रकार के साधनो से बिल्कुल मुक्त होते ह, और उनके सिर पर किसी भी प्रकार के खुद अपने उत्पादन के साधनो का बोझा नहीं होता। मालो की मण्डी में इस प्रकार का ध्रुवण हो जाने पर पूजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक मूल भूत परिस्थितिया तयार हो जाती है। पूजीवादी उत्पादन के लिये यह आवश्यक होता है कि मजदूर जिन साधनो के द्वारा अपने श्रम को मूत रूप दे सकते हैं, उनपर मजदूरो का तनिक भी स्वामित्व न रहे और इस प्रकार वे स्वामित्व से मजदूरो का बिल्कुल अलगाव हो जाये। जब एक बार पूजीवादी उत्पादन अपने परो पर खडा हो जाता है, तो फिर वह न सिफ इस अलगाव को कायम रखता है, बल्कि उसका बढते हुए पैमाने पर लगातार पुनरुत्पादन करता जाता है। इसलिये, पूजीवादी व्यवस्था के वास्ते रास्ता तयार करने वाली क्रिया केवल वही क्रिया हा सकती है, जो मजदूर से उसके उत्पादन के साधनो का स्वामित्व छीन ले, जो एक ओर तो जीवन निर्वाह और उत्पादन के सामाजिक साधनो को पूजी में और, दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादको को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में बदल डाले। अत तथाकथित आदिम सचय उत्पादक को उत्पादन के साधनो से अलग कर देने की ऐतिहासिक

क्रिया के सिवा और कुछ नहीं है। वह आदिम क्रिया इसलिये प्रतीत होती है कि वह पूजी और तदनुरूप उत्पादन प्रणाली के प्रागैतिहासिक काल की अवस्था होती है।

पूजीवादी समाज का आर्थिक ढाचा सामती समाज के आर्थिक ढाचे में से निकला है। जब सामन्ती समाज का आर्थिक ढाचा छिन्न भिन्न हो जाता है, तो पूजीवादी ढाचे के तत्व उन्मुक्त हो जाते ह।

प्रत्यक्ष उत्पादक, या मजदूर, केवल उसी समय अपनी देह को बेच सकता था, जब वह धरती से न बधा हो और किसी अन्य व्यक्ति का दास या कृषि दास न हो। इसके अलावा, श्रम शक्ति का स्वतत्र विक्रेता बनने के लिये, जो जहा श्रम शक्ति की माग हो, वहीं पर उसे बेच सके, यह भी आवश्यक था कि मजदूर को शिल्पी सघ के शासन से, सीखतर मजदूरो तथा मजदूर कारीगरो के लिये बनाये गये शिल्पी सघो के नियमों से और उनके श्रम के कायदो की रुकावटो से मुक्ति मिल गयी हो। अत वह ऐतिहासिक क्रिया, जो उत्पादकों को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में बदल देती है, एक ओर तो इन लोगो को कृषि दास प्रथा से तथा शिल्पी सघो के बधनो से आजाद कराने की क्रिया प्रतीत होती है, और हमारे पूजीवादी इतिहासकारो को उसका केवल यही पहलू नजर आता है। लेकिन, दूसरी ओर, इस तरह जिन लोगो को नयी स्वतत्रता मिलती है, वे केवल उसी हालत में खुद अपने विक्रेता बनते ह, जब पहले उत्पादन के सारे साधन उनसे छीन लिये जाते ह और पुरानी सामती व्यवस्था के अतगत उनको जीवन निर्वाह की जितनी प्रतिभूतिया मिली हुई थीं, जब वे उन सबसे वचित कर दिये जाते ह। और इस क्रिया की, इस सम्पत्ति अपहरण की कहानी मनुष्य जाति के इतिहास में रक्ताक्त एव आग्नेय अक्षरो में लिखी हुई है।

उधर इन नये शक्तिमानो को, औद्योगिक पूजीपतियो को, न केवल दस्तकारियो के शिल्पी सघो के उस्तादो को विस्थापित करना था, बल्कि धन के स्रोतो के स्वामी, सामती प्रभुओ का भी स्थान छीन लेना था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक पूजीपतियो को सामती प्रभुओ तथा उनके अन्यायपूर्ण विशेषाधिकारो के विरुद्ध और शिल्पी सघो तथा उत्पादन के स्वतत्र विकास एव मनुष्य द्वारा मनुष्य के स्वच्छद शोषण पर इन सघो द्वारा लगाये गये प्रतिबधो के विरुद्ध सफलतापूर्वक सघर्ष करके सामाजिक सत्ता प्राप्त हुई है। लेकिन उद्योग के धनी सरदारो को तलवार के धनी सरदारो का स्थान छीन लेने में यदि सफलता मिली, तो केवल इसलिये कि उन्होने कुछ ऐसी घटनाओ से लाभ उठाया, जिनकी उनपर कोई जिम्मेदारी न थी। और उन्होने ऊपर उठने के लिये उतने ही घटिया हथकण्डो का प्रयोग किया, जितने घटिया हथकण्डो का रोम के मुक्त दासो ने अपने स्वामियो का स्वामी बनने के लिये प्रयोग किया था।

जिस विकास क्रम के फलस्वरूप मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर और पूजीपति दोनो का जन्म हुआ है, उसका प्रस्थान बिंदु मजदूर की गुलामी था। प्रगति इस बात में हुई थी कि इस गुलामी का रूप बदल गया था और सामती शोषण पूजीवादी शोषण में रूपातरित हो गया था। इस विकास क्रम को समझने के लिये हमें बहुत पीछे जाने की जरूरत नहीं है। यद्यपि पूजीवादी उत्पादन की शुरुआत के कुछ स्वत स्फूर्त प्रारम्भिक चिह्न हमें इक्के-दुक्के ढग से भूमध्य-सागर के कुछ नगरों में १४ वीं या १५ वीं शताब्दी में भी मिलते ह, तथापि पूजीवादी युग का श्रीगणेश १६ वीं शताब्दी से ही हुआ है। पूजीवाद केवल उन्हीं स्थानो में प्रकट होता है, जहां कृषिदास प्रथा बहुत दिन पहले समाप्त कर दी गयी है और जहा

मध्ययुगीन विकास की सर्वोच्च देन, प्रभुसत्ता सम्पन्न नगर काफी समय से पतनोन्मुख अवस्था में ह।

आदिम सचय के इतिहास में, ऐसी तमाम क्रातिया युगातरकारी होती ह, जो विकासमान पूजीपति-वग के लिये लीवर का काम करती हैं। सब से अधिक यह बात उन क्षणो के लिये सच है, जब बडी सख्या में मनुष्यो को यकायक और जबर्दस्ती उनके जीवन-निर्वाह के साधनो से अलग कर दिया जाता है और स्वतत्र एव "अनाश्रित" सवहारा के रूप में श्रम की मण्डी में फेंक दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया का आधार है खेतिहर उत्पादक—किसान —की जमीन का उससे छीन लिया जाना। इस भूमि-अपहरण का इतिहास अलग-अलग देशो में अलग अलग रूप धारण करता है और हर जगह एक भिन्न क्रम में तथा भिन्न कालो में अपनी अनेक अवस्थाओ में से गुजरता है। उसका प्रतिनिधि रूप केवल इगलण्ड में देखने को मिलता है, जिसको हम यहा मिसाल की तरह पाठको के सामने पेश करेंगे।[1]

[1] इटली में, जहा पूजीवादी उत्पादन सबसे पहले शुरू हुआ था, कृषि-दास-प्रथा भी अन्य स्थानो की अपेक्षा पहले छिन्न भिन्न हो गयी थी। भूमि पर कोई रूढिगत अधिकार प्राप्त करने के पहले ही वहा का कृषि दास मुक्त कर दिया गया था। वह मुक्त हुआ तो तुरत ही स्वतत्र सवहारा में बदल गया और वह भी एक ऐसे सवहारा मे, जिसका मालिक उन शहरो मे बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो प्राय रोमन काल मे विरासत मे मिले थे। जब १५ वी शताब्दी के समाप्त होने के लगभग दुनिया की मण्डी मे क्राति आयी और उसने वाणिज्य के क्षेत्र मे उत्तरी इटली की श्रेष्ठता का अत कर दिया, तो एक उल्टा विकास-क्रम आरम्भ हुआ। तब शहरो के मजदूरो को बडी सख्या मे गावो में खदेड दिया गया, और उससे बागबानी के ढग की छोटे पैमाने की खेती को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

सत्ताईसवा अध्याय

खेतिहर आबादी की जमीनो का अपहरण

इगलण्ड में १४ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में कृषि दास प्रथा का वस्तुत अत हो गया था। उस समय –और १५ वीं शताब्दी में तो और भी अधिक परिमाण में–आबादी की प्रबल बहुसख्या[1] अपनी भूमि के मालिक स्वतत्र किसानो की थी, भले ही उनका स्वामित्व कसे भी सामती अधिकार के पीछे छिपा रहा हो। ज्यादा बडी जागीरो पर पुराने bailiff (कारिदे) का, जो खुद भी किसी समय कृषि-दास था, स्वतत्र कृषक ने स्थान ले लिया था। मजदूरी लेकर खेती में काम करने वाले मजदूरो का एक भाग किसानो का या, जो अवकाश के समय का उपयोग करने के लिये बडी जागीरो पर काम करने चले आते थे, और दूसरा भाग वेतन भोगी मजदूरो के एक स्वतत्र एव विशिष्ट वग का था, जिनकी सख्या सापेक्ष एव निरपेक्ष दृष्टि से बहुत कम थी। इन मजदूरो को एक तरह से किसान भी कहा जा सकता था, क्योकि मजदूरी के अलावा उनको अपने घरो के साथ-साथ ४ एकड या उससे ज्यादा खेती के लायक जमीन भी मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त, अन्य किसानो के साथ-साथ इन लोगो को भी गाव की सामूहिक भूमि के उपयोग का अधिकार मिला हुआ था, जिसपर उनके ढोर चरते थे और जिससे उनको इमारती लकडी, जलाने के लिये लकडी, पीट आदि मिल

---

[1] "उस समय खुद अपने हाथा अपने खेता को जोतन-बोन वाले और कम सामर्थ्य वाले छाटे मालिक किसान आजकल की अपेक्षा राष्ट्र के अधिक महत्वपूण भाग थे। यदि उस युग के आकडा का विवेचन करने वाले सबसे अच्छे लेखका पर विश्वास किया जाये, तो हम यह पाते हैं कि उन दिनो कम से कम १,६०,००० मालिक छोटी छोटी नि शुल्क जमीदारियो (freehold estates) के सहारे जीवन निर्वाह करते थे। अपने परिवारा के साथ ये लोग उस जमाने की कुल आबादी के सातवे हिस्से से ज्यादा रह होगे। इन छोटे जमीदारो की औसत आय लगभग ६० पौण्ड और ७० पौण्ड वार्षिक के बीच हाती थी। हिसाब लगाया गया था कि खुद अपनी जमीन जातने वाले व्यक्तिया की सख्या उन लोगा से अधिक थी, जो दूसरा की जमीन जोतते थे।" (Macaulay *History of England* (मकोले, 'इगलैण्ड का इतिहास') १० वा सस्करण, London, 1854 खण्ड १, प० ३३३ ३३४।) १७ वी शताब्दी की आखिरी तिहाई म भी इगलैण्ड के रहने वाला में पाच में से चार आदमी खेती का धधा करते थे। (उप० पु०, पृ० ४१३।) –मन मकोले को इसलिय उद्धृत किया है कि इतिहास का सुनियाजित ढग से तोड मराडकर पश करन वाले लेखक के रूप म वह इस प्रकार के तथ्या पर सदा कम से कम जोर देते हैं।

जाती थी।[1] योरप के सभी देशो में सामती उत्पादन का विशेष लक्षण यह है कि जमीन सामतो के अधीन किसानो की बडी से बडी सख्या में बटी रहती है। राजा की भाति, सामती प्रभु की शक्ति भी उसकी जमायदी की लम्बाई पर नहीं, बल्कि उसके प्रजाजनो की सख्या पर निभर करती थी, और उसकी प्रजा की सख्या भूमिपति किसानो की सख्या पर निभर करती थी।[2] इसलिये, यद्यपि इगलण्ड की जमीन नौर्मन विजय के बाद बडी-बडी जागीरो (baronies) में बट गयी थी, जिनमें से एक एक में अक्सर नौ-नौ सौ पुरानी ऐंग्लो-सेक्सन जमींदारिया शामिल थीं, फिर भी सारे देश में किसानो की छोटी छोटी भू-सम्पत्तिया बिखरी हुई थीं और बडी-बडी जागीरें (seignorial domains) केवल उनके बीच-बीच में जहा-तहा पायी जाती थीं। इन्हीं परिस्थितियो का और १५ वीं शताब्दी में खास तौर पर शहरो में जो समृद्धि पायी जाती थी, उसका यह फल था कि आम लोगो का धन खूब बढ गया था, जिसका चासलर फोर्तेस्क्यू ने अपनी रचना "*Laudes legum Angliae*" में बहुत जोरदार वणन किया है। लेकिन इन परिस्थितियो के कारण पूजीवादी धन का बढना असम्भव था।

जिस क्रान्ति ने उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली की नींव डाली, उसकी प्रस्तावना १५ वीं शताब्दी की आखिरी तिहाई में और १६ वीं शताब्दी के पहले दशको में लिखी गयी थी। इस काल में सामतो के भृत्यो और अनुगामियो के दल, जिनसे, सर जेम्स स्टीवर्ट के न्यायोचित शब्दो में, "हर घर और किला व्यय में भरा रहता था", भग कर दिये गये, और इसके फलस्वरूप स्वतत्र सवहारा मजदूरो की एक बहुत बडी सख्या श्रम की मण्डी में झोक दी गयी। यद्यपि यह सच है कि राज-शक्ति ने, जो खुद भी पूजीवादी विकास की उपज थी, अपनी अबाध प्रभुसत्ता कायम करने के लिये सघष करते हुए भृत्यो और अनुगामियो के इन दलो को बलपूवक जल्दी-जल्दी भग करा दिया था, तथापि इनके भग हो जाने का यही एक कारण नहीं था। इससे कहीं अधिक बडा सवहारा वग बडे-बडे सामतो ने, राजा और ससद के

---

[1] हमे यह कभी नही भूलना चाहिये कि कृषि-दास केवल अपने घर के साथ जुडे हुए जमीन के टुकडे का ही मालिक नही होता था, – हालाकि उसे इस जमीन के लिये अपने सामन्त को खिराज देना पडता था, – बल्कि अन्य लोगो के साथ-साथ उसका भी गाव की सामूहिक भूमि पर अधिकार माना जाता था। मिराबो ने लिखा है कि (फ्रेडेरिक द्वितीय के राज्यकाल में साइलीसिया में) le paysan est serf ("किसान कृषि-दास होता है")। परन्तु इन कृषि दासो का सामूहिक भूमि पर अधिकार होता था। On n a pas pu encore engager les Silesiens au partage des communes tandis que dans la Nouvelle Marche il n y a guere de village ou ce partage ne soit execute avec le plus grand succes ["साइलीसिया के लोगो को अभी तक सामूहिक भूमि का बाट लेने के लिये राजी नही किया जा सका है, हालाकि नैमार्क में मुश्किल से ही कोई ऐसा गाव होगा, जहा इस तरह का बटवारा अत्यधिक सफलता के साथ नही कर दिया गया है"]। (Mirabeau, '*De la Monarchie Prussienne*, Londres 1788 ग्रथ २, पृ० १२५, १२६।)

[2] इतिहास की हमारी सभी पुस्तकें प्राय पूजीवादी पूवग्रहो के साथ लिखी गयी हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा तो यूरोपीय मध्य युग का कहीं अधिक सच्चा चित्र हमें जापान में देखने को मिलता है, जहा भू-सम्पत्ति का विशुद्ध सामती ढग का सगठन और छोटे पैमाने की विकसित खेती पायी जाती है। मध्य युग को कोसकर "उदारपथी" कहलाने मे बहुत सुविधा रहती है।

विरुद्ध धृष्टतापूवक सघष करते हुए, किसानो को जबदस्ती उन जमीनो से खदेडकर, जिनपर उनका भी खुद सामन्तो के समान ही साम ती अधिकार था, और सामूहिक भूमि को छीनकर पैदा कर दिया। फ्लैण्डस में ऊन के उद्योग का तेज विकास होने और उसके साथ-साथ इगलण्ड में ऊन का भाव बढ जाने से इन बेदखलियो को प्रत्यक्ष रूप में बढावा मिला। पुराना अभिजात वग बडे-बडे साम ती युद्धो में मर-खप गया था। नया अभिजात वग अपने युग की स तान था, जिसके लिये पसा ही सबसे बडी ताकत था। इसलिये उसका नारा था कि खेती की जमीनो को भेडो के बाडो में बदल डालो! हैरिसन ने अपनी रचना "*Description of England, prefixed to Holinshed's Chronicles*" ('हौलिनशेड के वृत्तात के शुरू में जुडा हुआ इगलण्ड का वणन') में बताया है कि छोटे किसानो की जमीनों के छिन जाने के फलस्वरूप किस प्रकार देश चौपट हुआ जा रहा है। पर 'what care our great encroachers?" ("जमीन छीनने वाले बडे लोगो को इसकी क्या चि ता है?") किसानो के घर और मजदूरो के झोपडे गिरा दिये गये ह या सड गलकर गिर जाने के लिये छोड दिये गये है। हैरिसन ने लिखा है "यदि हर जागीर के कागज देखे जायें, तो शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कुछ जागीरो पर सत्रह, अठारह या बीस घर तक नष्ट हो गये ह और इगलण्ड में आजकल जितनी कम आबादी है, उतनी कम पहले कभी न थी म ऐसे अनेक शहरो और क़स्बो का वणन कर सकता हू, जो या तो बिल्कुल तबाह हो गये ह और या जिनका चौथाई या आधा भाग बरबाद हो गया है, हालाकि यह भी मुमकिन है कि जहा तहा एकाध शहर पहले से थोडा बढ गया हो, और म ऐसे क़स्बो के बारे में कुछ बता सकता हू, जिनको गिराकर भेडो के बाडे बना दिये गये ह और जिनकी जगहो पर अब केवल साम ती प्रभुओ के महल खडे ह।" इन पुराने इतिहासकारो की शिकायतो में कुछ अतिशयोक्ति हमेशा रहती है, पर तु उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उस जमाने में उत्पादन की परिस्थितियो में जो क्रान्ति आयी थी, उसका उस जमाने के लोगो के दिमाग़ो पर क्या असर पडा था। चासलर फोर्तेस्क्यू और टोमस मोर की रचनाओ की तुलना कीजिये, यह स्पष्ट हो जायेगा कि १५ वीं और १६ वीं शताब्दियो के बीच कितनी बडी खाई है। जसा कि थोनटन ने ठीक ही कहा है, अग्रेज मजदूर-वग को किसी सक्रमण काल से नहीं गुजरना पडा, बल्कि उसको तो यकायक स्वण युग से उठाकर सीधे लौह-युग में पटक दिया गया।

कानून बनाने वाले इस क्रा ति को देखकर भयभीत हो उठे। अभी तक वे सभ्यता के उस शिखर पर नहीं पहुचे थे, जहा "wealth of the nation" ("राष्ट्र के धन") को बढाना (अर्थात पूजी का निर्माण तथा जन-साधारण का निमम शोषण करना और उसकी ग़रीबी को लगातार बढ़ाते जाना) हर प्रकार की राजनीति की ultima Thule (पराकाष्ठा) समझा जाता है। हेनरी सातवें की जीवनी में बेकन ने लिखा है "उस समय (१४८९ में) सामूहिक जमीन को घेरकर अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेने का चलन बहुत बढ गया, जिसके फलस्वरूप खेती की जमीन (जिसे लोगो और उनके बाल-बच्चो के अभाव में जोतना-बोना सम्भव नहीं था) चरागाह में बदल दी गयी, जिसपर च द गडरिये बडी आसानी से ढोरो के रेवड की देखभाल कर सकते थे, और जिन जमीनो पर किसानो को एक निश्चित अवधि के लिये, जीवन भर के लिये या अस्थायी अधिकार मिला हुआ था (और अधिक्तर "yeomen" [स्वत त्र कृषक] इसी प्रकार की जमीनो पर रहते थे), वे सामन्तों की सीर बन गयीं। इससे लोगो का पतन होने लगा और (उसके फलस्वरूप)

शहरो, धम-सगठनो, दशाश व्यवस्था आदि का पतन होने लगा इस बुराई को दूर करने में राजा ने और उस काल की ससद ने बडी बुद्धिमानी से काम लिया उन्होने आबादी को उजाडने वाली इस अहाताबन्दी (depopulating inclosures) को और आबादी को उजाडने वाली इन चरागाहो की प्रथा (depopulating pasturage) को बन्द कर देने के लिये कदम उठाया।" हेनरी सातवें के राज्य-काल के १४८६ के एक कानून (अध्याय १६) के द्वारा "ऐसे तमाम काश्तकारो के मकानो" को गिराने पर प्रतिबध लगा दिया गया, जो कम से कम २० एकड जमीन के मालिक थे। हेनरी आठवें के राज्य काल का २५ वा कानून बनाकर यह प्रतिबध फिर से लगा दिया गया। इस क़ानून में अन्य बातो के अलावा यह भी कहा गया है कि बहुत से फाम और ढोरो के—विशेषकर भेडो के—बडे-बडे रेवड चन्द आदमियो के हाथो में सकेंद्रित हो गये ह, जिसके फलस्वरूप जमीन का लगान बहुत बढ गया है और खेती के रकबे (tillage) में कमी आ गयी है, बहुत से गिरजाघर और मकान गिरा दिये गये ह और अतिविशाल सख्या में लोगो से ऐसे तमाम साधन छीन लिये गये ह, जिनसे वे अपना और अपने बाल-बच्चो का पेट पाल सकते थे। चुनाचे इस कानून के जरिये आदेश दिया गया कि जीर्ण फार्मों को फिर से तयार किया जाये, और अनाज की खेती की जमीन तथा चरागाह की जमीन का अनुपात निश्चित कर दिया गया, इत्यादि इत्यादि। १५३३ के एक कानून में कहा गया है कि कुछ मालिको के पास २४,००० भेडें ह, और उसके जरिये यह प्रतिबध लगा दिया गया कि कोई व्यक्ति २,००० से अधिक भेडें नहीं रख सकता।[1] छोटे काश्तकारो और किसानो के सम्पत्ति अपहरण के विरुद्ध लोगो ने बहुत शोर मचाया और हेनरी सातवें के बाद डेढ सौ वष तक इस सम्पत्ति अपहरण को रोकने के लिये अनेक कानून भी बनाये गये। लेकिन दोना ही चीजें व्यथ सिद्ध हुईं। लोगो की शिकायतो और इन कानूनो के निकम्मेपन का क्या रहस्य था, यह बेकन ने हमें अनजाने में बता दिया है। उसने अपनी "*Essays, Civil and Moral* ('नागरिक और नतिक निबधावली') के २६ वें निबध में लिखा है कि "हेनरी सातवें ने एक बहुत ही गूढ और प्रशसनीय उपाय खोज निकाला था। वह यह कि काश्तकारो के फार्मों और घरो को एक निश्चित अनुमाप के अनुसार बनाया जाये, अर्थात उनको इस अनुपात में जमीन दी जाये, जिससे प्रजाजन दासत्व की स्थिति में न रहे, बल्कि सुविधाजनक समृद्धि में जीवन व्यतीत करे, और जिससे हल महज भाडे के मजदूरो के हाथो में न रहकर मालिको के हाथ में रहें" ("to keep the plough in the hands of the owners and not mere hirelings")।[2] पूजीवादी व्यवस्था के लिये, दूसरी

---

[1] टोमस मोर ने अपनी पुस्तक *Utopia* ('कल्पना लोक') मे कहा है कि इगलण्ड मे "तुम्हारी वे भेडें, जो कभी इतनी नम्र और विनीत और इतनी मिताहारी हुआ करती थी, अब मैं सुनता हू कि ऐसी सवभक्षी और इतनी जगली हो गयी हैं कि खद मनुष्यो को ही चबाकर निगल जाती है।" ('*Utopia* ['कल्पना-लोक'], Robinson का अनुवाद, Arber का सस्करण, London, 1869 पृ० ४१।)

[2] बेकन ने इस ओर भी सकेत किया है कि स्वतत्र और खाते पीते किसानो तथा अच्छी पदल सेना के बीच क्या सम्बध होता है। "राज्य की शक्ति और आचरण से इस बात का घनिष्ठ सम्बध था कि फार्मों को ऐसे आकार का रखा जाये, जो समथ मनुष्य को अभाव से बचाकर जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो, और इससे राज्य की जमीन का एक बडा भाग सचमुच

श्रोर, यह आवश्यक था कि जन साधारण पतन और लगभग दासत्व की स्थिति में हो, उनको भाडे के टट्टुओ में परिणत कर दिया जाये और उनके श्रम के साधनो को पूजी में बदल दिया जाये। परिवतन के इस काल में कानून बनाकर इस बात की भी कोशिश की गयी कि खेतिहर वेतन भोगी मजदूर के झोपडे के साथ ४ एकड जमीन का टुकडा जुडा रहे, और उसे अपने झोपडे में किरायेदार रखने की मनाही कर दी गयी। जेम्स पहले के राज्य-काल में फ्रण्ट मिल के रोजर क्रोकर को १६२७ में इस बात के लिये सजा दी गयी कि उसने फ्रण्ट मिल की अपनी जमींदारी में एक झोपडा बना लिया था, हालांकि उसके साथ ४ एकड जमीन का कोई टुकडा स्थायी रूप से नहीं जुडा हुआ था। इसके बाद, चार्ल्स पहले के राज्य-काल के समय, १६३८ में पुराने कानूनो को—खास कर ४ एकड जमीन वाले क़ानून को—अमल में लाने के लिये एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। यहा तक कि क्रोमवेल के समय में भी लदन के ४ मील के घेरे में उस समय तक कोई मकान नहीं बनाया जा सकता था, जब तक कि उसके साथ ४ एकड जमीन न हो। इतना ही नहीं, १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी यदि किसी खेतिहर मजदूर के झोपडे के साथ दो एक एकड जमीन का कोई टुकडा नहीं जुडा होता था, तो शिकायत कर दी जाती थी। आजकल यदि उसे अपने झोपडे के साथ एक छोटा सा बगीचा लगाने के लिये जरा सी जमीन मिल जाती है या वह अपने झोपडे से काफी दूर दो एक रूड जमीन लगान पर ले सकता है, तो वह अपने को बहुत सौभाग्यशाली समझता है। डा० हण्टर ने लिखा है "इस मामले में जमींदारों और काश्तकारो की मिली भगत रहती है। झोंपडे के साथ यदि दो एक एकड जमीन भी हो, तो मजदूर अत्यधिक स्वतत्र हो जायें।"-

---

काश्तकारो या मध्य वग के ऐसे लोगा (yeomanry) की काश्त और कब्जे म आ गया है, जिनकी हैसियत भद्र पुरपा और झोपडो में रहने वालो (cottagers) तथा किसाना के बीच की है कारण कि युद्ध सम्बधी सवश्रेष्ठ जानकारी रखने वाल लोगा का सामाय मत यह है कि युद्धो मे किसी भी सेना की मुख्य शक्ति पैदल सनिको की होती है। और अच्छी पैदल सेना भर्ती करने के लिय जरूरी होता है कि लोगो का लालन पालन दासत्व अथवा अभाव की अवस्था मे न होकर स्वतन्नता एव समृद्धि मे हुआ हो। इसलिये, यदि किसी राज्य मे केवल सामन्तो और भद्र पुरषो का ही खयाल रखा जाता है और काश्तकार तथा हल चलाने वाले महज उनके टहलुए और मजदूरा की तरह होते है या उनकी हैसियत केवल झापडा मे रहने वालो की होती है (जो आश्रय प्राप्त भिखारियो से अधिक कुछ नही होते), तो उस राज्य में घुडसवार सेना तो अच्छी बन सकती है, लेकिन अच्छे और टिकाऊ पैदल दस्ते कभी नही भर्ती किये जा सकते और फ्रास और इटली मे तथा अय कई विदेशी इलाको मे यही स्थिति है। वहा असल मे या तो अभिजात वग के लोग है और या किसान है यहा तक कि इन देशा को अपनी पदल पलटनो के लिय स्विटजरलैण्डवासिया मे से या किसी और देश के रहने वालो मे से भाडे के सिपाही भर्ती करन पडते है, और उसका यह नतीजा भी होता है कि इन देशा म रहने वाला की सख्या तो बहुत वडी हाती है, पर वहा सिपाही बहुत कम होते ह।" (*The Reign of Henry VII*, etc Verbatim reprint from Kennet s England [हेनरी सातवें का राज्य काल, इत्यादि'। केनेट के 'इगलण्ड' से शब्दश पुनमुद्रित], १७१६ वाला सस्करण, London, 1870, पृ० ३०८।)

"डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३४।—"(पुराने कानूना के अनुसार) जितनी जमीन हानी चाहिये थी, वह अब मजदूरा के लिये बहुत अधिक समझी जाती है, और लोगो का विचार है

लोगो की सम्पत्ति का बलपूवक अपहरण कर लेने की क्रिया को १६ वीं शताब्दी में रोमन चच के सुधार से और उसके फलस्वरूप चर्च की सम्पत्ति की लूट से एक नया और जबदस्त बढावा मिला। चच-सुधार के समय कैथोलिक चच इगलण्ड की भूमि के एक बहुत बडे हिस्से का सामती स्वामी था। जब मठो आदि पर ताले डाल दिये गये, तो उनमें रहने वाले लोग सवहारा की पातो में भर्ती हो गये। चच की जागीरे अधिकतर राजा के लुटेरे कृपा पात्रो को दे दी गयीं या नाम मात्र के दाम पर सट्टेबाजो, काश्तकारो और नागरिकों के हाथ बेच दी गयीं, जिहोंने सारे के सारे पुश्तनी शिकमीदारो को जमीन से खदेड दिया और उनकी जोतो को मिलाकर एक कर लिया। कानून ने अधिक गरीब लोगो को चच के दशाश में से एक भाग पाने का अधिकार दे रखा था, अब वह अधिकार भी छीन लिया गया।[1] रानी एलिजाबेथ इगलण्ड की यात्रा करने के बाद चिल्ला पडी थी कि "pauper ubique jacet" ("यहा तो सब कगाल ही कगाल ह")। उसके राज्य काल के ४३ वें वप में राष्ट्र को गरीबो की आर्थिक सहायता करने के लिये कर लगाकर सरकारी तौर पर यह मान लेना पडा कि देश में मुहताजी फली हुई है। "मालूम होता है कि इस कानून के रचयिताओं को यह बताने में सकोच होता था कि इस प्रकार का कानून बनाने की आवश्यकता क्यो हुई, क्योकि (परम्परागत प्रथा के विपरीत) इस कानून में किसी भी प्रकार की preamble (प्रस्तावना) नहीं है।" चाल्स प्रथम के राज्य काल में बनाये गये १६ वें कानून के चौथे अध्याय के द्वारा गरीबो की आर्थिक सहायता के इस कानून को एक चिरस्थायी कानून घोषित कर दिया गया, और असल में तो कहीं १८३४ में जाकर ही इस क़ानून ने एक नया और अधिक कडा रूप धारण किया।[3] चच सुधार के ये तात्कालिक परिणाम उसके

कि इतनी अधिक जमीन तो मजदूरो को छोटे काश्तकारो मे बदल देगी।" (George Roberts, *The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries* [जाज रौबटस, 'इगलैण्ड की दक्षिणी काउण्टियो के निवासियो का पिछली कई शताब्दियो का सामाजिक इतिहास'], London 1856 पृ० १८४-१८५।)

[1] "दशाश पर गरीबो का अधिकार प्राचीन काल के कानूनो के अनुसार स्थापित है।" (Tuckett, उप० पु०, खण्ड २, पृ० ८०४–८०५।)

[2] William Cobbett *A History of the Protestant Reformation* (विलियम कौबेट, 'प्रोटेस्टेंट चच सुधार का इतिहास'), पैराग्राफ ४७१।

[3] अन्य बातो के अलावा, निम्नलिखित उदाहरण से भी प्रोटेस्टेण्ट मत की "भावना" स्पष्ट हो जाती है। दक्षिणी इगलैण्ड के कुछ भू स्वामियो और खाते पीते काश्तकारो ने आपस मे मन्त्रणा करके एलिजाबेथ के काल मे बनाये गये गरीबो की आर्थिक सहायता के कानून की सही व्याख्या के विषय मे दस प्रश्न तैयार किये। और इन प्रश्नो को उन्होंने उस काल के एक विख्यात कानून दा, सार्जेण्ट स्निग (जो बाद का, जेम्स प्रथम के काल मे, जज नियुक्त हुए) के सामने पेश किया और उनकी राय मागी। "प्रश्न ९ यह था कि इस इलाके के कुछ अपेक्षाकृत अधिक धनी काश्तकारो ने एक धूततापूण उपाय निकाला है, जिससे इस कानून को (एलिजाबेथ के राज्य-काल के ४३ वें वप मे बनाये गये कानून को) अमल मे लाने के सारे झझट से बचा जा सकता है। उनका सुझाव है कि इस इलाके मे एक जेलखाना बनाया जाये और फिर आस-पडास के लोगो से यह कह दिया जाये कि यदि कुछ लोग इस इलाके के गरीबो के जीवन निर्वाह का ठेका लेना चाहते है, तो वे किसी निश्चित दिन अपने मुहरबद सुझाव दाखिल कर दें कि वे कम से कम कितने पैसो मे इन गरीबों की परवरिश की जिम्मेदारी हमारे कधो से ले सकते

अधिक स्थायी परिणाम नहीं थे। चच की सम्पत्ति भू-सम्पत्ति की परम्परागत व्यवस्था का धार्मिक आधार बनी हुई थी। उसके पतन के साथ ही इस व्यवस्था का कायम रहना भी असम्भव हो गया।[1]

है। साथ ही यह बात भी साफ कर दी जानी चाहिये कि जब तक कोई गरीब आदमी उपर्युक्त जेलखाने मे बन्द कर दिये जाने के लिये तैयार नही होगा, तब तक उन्हे यह अधिकार रहेगा कि उसे किसी भी तरह की आर्थिक सहायता न दें। इस योजना के प्रस्तावकों का विचार है कि आस पास की काउण्टियो मे ऐसे अनेक आदमी मिलेंगे, जो श्रम करने को तैयार नही हैं और जिनके पास इतने साधन या इतनी साख भी नही है कि श्रम किये बिना रहने के उद्देश्य से (so as to live without labour) कोई फार्म या जहाज ले सकें, और इसलिये जो, सम्भव है कि इस सम्बंध मे इलाके के सामने कोई बहुत लाभदायक सुझाव रखने को तैयार हो। यदि गरीबो मे से कोई आदमी ठेकेदार की देखरेख मे मर जाता है, तो इसका पाप ठेकेदार के सिर पर पडेगा, क्योकि इलाका तो उसे ठेकेदार को सौंपकर अपना कर्तव्य पूरा कर चुका होगा। लेकिन हमें डर है कि मौजूदा कानून (एलिजाबेथ के राज्य काल के ४३ वें वर्ष मे बनाया गया कानून) इस तरह का विवेकसगत कदम (prudential measure) उठाने की इजाजत नही देगा। मगर आपको मालूम होना चाहिये कि इस काउण्टी के और पडोस की 'ख' नामक के काउण्टी बाकी freeholders (माफीदार) अपने भाईबन्दो को एक ऐसे कानून का प्रस्ताव करन की सलाह देने के लिये बडी आसानी से तैयार हो जायेंगे, जिसमे किसी व्यक्ति को गरीबो को ताले मे बन्द करके उनसे काम लेने का ठेका देने की व्यवस्था हो और जिसके जरिये यह घोषणा कर दी जाये कि जो व्यक्ति इस तरह ताले म बन्द होकर काम करने से इनकार करेगा, वह किसी भी प्रकार की सहायता पाने का अधिकारी नही होगा। आशा की जाती है कि इस प्रकार का कानून गरीब लोगो को सावजनिक सहायता मागने से रोकेगा ('will prevent persons in distress from wanting relief) और इस तरह बस्तियो का सावजनिक खर्च कम हो जायेगा।" (R Blakey, '*The History of Political Literature from the Earliest Times* [आर० ब्लेकी, 'प्राचीनतम काल से अब तक के राजनीतिक साहित्य का इतिहास'], London 1855 खण्ड २, पृ० ८४–८५।) – स्कोटलैण्ड मे कृषि दास प्रथा का अन्त इगलैण्ड की अपेक्षा कुछ शताब्दी बाद हुआ था। यहा तक कि १६९८ मे भी साल्तून निवासी फ्लेचर ने स्काट ससद मे यह कहा था कि 'स्कोटलैण्ड मे भिखारियो की सख्या २,००,००० से कम नही समझी जाती। मैं सिद्धान्तत प्रजातन्त्रवादी हू और फिर भी मैं इसकी एक यही दवा सुझा सकता हू कि कृषि दास प्रथा को फिर मे चालू कर दिया जाये और जो लोग खुद अपने जीवन निर्वाह का कोई प्रबंध नही कर सकते, उन सब को दास बना दिया जाये।" ईडेन ने अपनी उपर्युक्त रचना (*The State of the Poor*) के प्रथम खण्ड, अध्याय १ के पृ० ६०–६१ पर लिखा है "कृषि दास प्रथा के चलन मे कमी आने का युग ही वह युग था, जब मुहताजो का जन्म हुआ था। कल कारखाने और वाणिज्य हमारे राष्ट्र के मुहताजो के दो जनक हैं।' हमारे उस सिद्धान्तत प्रजातन्त्रवादी स्काट की तरह ईडेन ने भी केवल यही एक गलती की है कि वह यह नही समझ पाये हैं कि खेतिहर मजदूर यदि सर्वहारा और अन्त में मुहताज बन गया, तो इसका कारण यह नही था कि कृषि दास प्रथा का अन्त कर दिया गया था, बल्कि इसका कारण यह था कि धरती पर खेतिहर मजदूर का कोई स्वामित्व नही रह गया था। – फ्रास मे यह सम्पत्ति अपहरण एक और ढग से सम्पन्न हुआ। इगलैण्ड मे जो काम गरीबो की सहायता के कानूनो ने किया था, वहा वही काम मूला के आर्डिनेंस (१५७१) ने और १६५६ के फरमान ने किया।

[1] यद्यपि प्रोफेसर रौजर्स पहले प्रोटेस्टेंट कट्टरता के गढ– ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय–में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे, तथापि उन्होने *History of Agriculture* ('खेती का इतिहास') की भूमिका मे इस तथ्य पर जोर दिया है कि चच-सुधार के फलस्वरूप साधारण लोग मुहताज बन गये हैं।

१७ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भी yeomanry—स्वतन्त्र किसानो का वर्ग—काश्तकारो के वर्ग से सख्या में अधिक था। क्रोमवेल की शक्ति का मुख्य आधार ये ही लोग थे, और यहा तक कि मकोले भी यह बात मानता है कि शराब के नशे में चूर जमींदारो और उनकी नौकरी करनेवाले, उन देहाती पादरियो की तुलना में, जिन्हें अपने मालिको की छोडी हुई रखैलो के विवाह की व्यवस्था करनी पडती थी, ये स्वतन्त्र किसान कहीं अधिक योग्य सिद्ध होते थे। १७५० के लगभग स्वतन्त्र किसानो के इस वर्ग (yeomanry) का लोप हो गया था,[1] और उसके साथ-साथ १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में खेतिहर मजदूरो की सामूहिक भूमि का भी आखिरी निशान तक गायब हो गया था। यहा हम खेती में होनेवाली क्रान्ति के विशुद्ध आर्थिक कारणो पर विचार नहीं कर रहे है। यहा तो हम केवल जोर-जबरदस्ती के तरीको की चर्चा कर रहे हैं।

स्टुअर्ट राजवंश के पुन सत्तारूढ हो जाने के बाद भू-स्वामियो ने क़ानूनी उपायो से एक ऐसा सत्ता-अपहरण किया, जो महाद्वीपीय योरप में हर जगह बिना किसी कानूनी औपचारिकता के सम्पन्न हुआ था। उन्होने भूमि की सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया, अर्थात् उन्होंने भूमि को राज्य के प्रति तमाम जिम्मेदारियो से मुक्त कर दिया, राज्य की "क्षति-पूर्ति" इस तरह की गयी कि किसानो पर और बाकी जनता पर कर लगा दिये गये, जिन जागीरो पर उनको पहले केवल सामन्ती अधिकार प्राप्त था, उनपर उनको आधुनिक ढग के निजी स्वामित्व का अधिकार मिल गया, और, अन्त में, उन्होने बन्दोबस्त के ऐसे कानून ("laws of settlement') बना दिये, जिनका mutatis mutandis (कुछ आवश्यक परिवर्तनो के साथ) अग्रेज खेतिहर मजदूरो पर वही प्रभाव हुआ, जो रूसी किसानो पर तातार बोरिस गोदुनोव के फरमान का हुआ था।

'Glorious Revolution" ("गौरवशाली क्रान्ति") के परिणामस्वरूप सत्ता ऑरेंज के विलियम के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य हडपने वाले जमींदारो और पूजीपतियो के हाथ में चली गयी।[2] उन्होने सरकारी जमीनो की बहुत ही बडे पैमाने पर लूट मचाकर नये युग का समारम्भ

[1] देखिये *A Letter to Sir T C Bunbury, Bart on the High Price of Provisions By a Suffolk Gentleman* ('खाद्य-वस्तुओ के ऊचे दामो के बारे मे सर टी० सी० बनबरी, बैरोनेट, के नाम एक पत्र—सफोक के एक भद्र पुरुष द्वारा लिखित'), Ipswich 1795 पृ० ४। यहा तक कि बडे फार्मों की प्रणाली के कट्टर समर्थक, *Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions* ('खाद्य-वस्तुओ के वर्तमान दामो और खेतो के आकार के सम्बन्ध की जाच, इत्यादि') (London, 1773) के लेखक ने भी (पृ० १३९ पर) यह लिखा है कि "स्वतन्त्र किसानो के उस वर्ग (yeomanry) के नष्ट हो जाने पर मुझे अत्यधिक दुख है, जिसने ही वस्तुत मे इस राष्ट्र की स्वाधीनता को सुरक्षित रखा था, और मुझे यह देखकर बडा अफसोस होता है कि उन लोगो की जमीनें अब एकाधिकारी प्रभुओ के हाथो मे चली गयी है, जो उनको छोटे काश्तकारो को लगान पर उठा देते है, और इन काश्तकारो के पट्टो के साथ ऐसी-ऐसी शर्तें लगी रहती है, जिनके फलस्वरूप उनकी दशा लगभग उन गुलामो के समान हो जाती है, जिन्हे मामूली सी गडबड के लिये जवाब देना पडता है।"

[2] इस पूजीवादी नायक के निजी नैतिक चरित्र के विषय में, अन्य बातो के अलावा, यह अश भी देखिये "१६९५ मे लेडी ओर्कनी को आयरलैण्ड मे जो बडी जागीर ईनाम मे दी गयी,

किया,–इसके पहले यह लूट कुछ छोटे पैमाने पर होती थी। ये सरकारी जागीरें ईनाम में दे दी गयीं, हास्यास्पद दामों पर बेच दी गयीं या यहा तक कि सीधे-सीधे जबदस्ती करके निजी जागीरो में मिला ली गयी।[1] और यह सब करते हुए कानूनी शिष्टाचार की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार जिन राजकीय जमीनो पर धोखाधडी के जरिये अधिकार कर लिया गया और चच की जिन जागीरो को लूट लिया गया वे जिस हद कि प्रजातत्रवादी क्रान्ति के समय फिर अपने नये मालिको के हाथो से नहीं चली गयीं, उस हद तक उन्हीं जमीनो से अग्रेज अल्पतत्र की वतमान बडी बडी जागीरो का आधार तैयार हुआ है।* पूजीपतियो ने इस क्रिया का, अय बातो के अलावा, इस उद्देश्य से भी समथन किया कि इससे जमीन के स्वतत्र व्यापार को बढावा मिलेगा, बडे फार्मों की प्रणाली के अनुसार आधुनिक ढग की खेती का क्षेत्र बढाया जा सकेगा, और इस तरह मजदूरी करने के लिये सदैव तयार रहने वाले स्वतत्र और सवहारा खेतिहर मजदूरो की सख्या में वृद्धि हो जायेगी। इसके अलावा, भूस्वामियो का यह नया अभिजात वग बक पतियो के नये वर्ग का– नवजात उच्च पूजी का–और उन बडे-बडे उद्योगपतियो का स्वाभाविक मित्र था, जो उस जमाने में अपनी सुरक्षा के लिये विदेशी माल पर लगायी जाने वाली चुगी पर निभर करते थे। इगलण्ड के पूजीपति-वग ने उतनी ही बुद्धिमानी के साथ अपने हितो की रक्षा की, जितनी बुद्धिमानी के साथ स्वीडेन के पूजीपति-वग ने अपने हितो की रक्षा की थी, हालाकि स्वीडिश पूजीपति वग ने इस क्रिया को उलटकर अपने आर्थिक मित्र–किसानो–के साथ मिलकर अभिजात वर्ग से शाही जमीनें फिर से छीन लेने में राजाओ की मदद की थी। चार्ल्स दसवें और चार्ल्स ग्यारहवें के राज्य काल में १६०४ से यह क्रिया आरम्भ हो गयी थी।

वह राजा के प्रेम का और इस महिला के प्रभाव का एक सावजनिक प्रमाण है समझा जाता है कि लेडी ओकनी का प्रीतिकर काय यह था कि उनको foeda labiorum ministeria (ओठो का असम्मानप्रद काय) करना पडता था।" (ब्रिटिश सग्रहालय मे Sloane Manuscript Collection [स्लोन का हस्तलिपियो का सग्रह], न० ४२२४। इस हस्तलिपि का शीषक है *The character and behaviour of King William Sunderland etc as represented in Original Letters to the Duke of Shrewsbury from Somers, Halifax Oxford Secretary Vernon etc* ['राजा विलियम, सण्डरलैण्ड, आदि, का चरित्र तथा व्यवहार–जिस प्रकार श्रयजबरी के डयूक के नाम सौमस, हैलिफैक्स, आक्सफाड, सेक्रेटरी वेनन आदि के मूल पत्रो मे उनका वणन मिलता है']। इस हस्तलिपि मे अजीव अजीव बातें पढने को मिलती हैं।)

[1] "शाही जागीरो का कुछ हद तक बिक्री के जरिये और कुछ हद तक ईनाम के जरिये जिस गरकानूनी ढग से हस्तातरण किया गया, वह इगलण्ड के इतिहास का एक कलकमय अध्याय है इस तरह राष्ट्र के साथ एक बडा भारी धोखा (a gigantic fraud on the nation) किया गया।" (F W Newman *Lectures on Political Economy* [एफ० डब्ल्यू० न्यूमैन, 'अथशास्त्र पर भाषण'], London 1851 पृ० १२६, १३०।) [इगलैण्ड के मौजदा बडे भू-स्वामियो के हाथ में ये जागीर किस तरह आयी, इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये *Our Old Nobility By Noblesse Oblige* ('हमारा पुराना अभिजात वग।–अभिजाताचार द्वारा लिखित'), London 1879।–फ्रे० ए०]

* मिसाल के लिये, बेडफोड के डयक वश के सम्बध में ई० बक की पुस्तिका देखिये। The tomtit of liberalism ("उदारतावाद की फुदकी"), लाड जान रसेल इसी वश की उपज थे।

सामूहिक सम्पत्ति, – जिसे हमें उस राजकीय सम्पत्ति से सदा अलग करके देखना चाहिये, जिसका अभी अभी वर्णन किया गया है, – एक पुरानी ट्यूटौनिक प्रथा थी, जो सामंतवाद की रामनामी ओढकर जीवित थी। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार १५ वीं शताब्दी के अंत में इस सामूहिक सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण आरम्भ हुआ था और १६ वीं शताब्दी में जारी रहा था और किस तरह उसके साथ-साथ आम तौर पर खेती की जमीनें चरागाहों की जमीनों में बदल दी गयी थीं। परन्तु उस समय यह क्रिया व्यक्तिगत हिंसक कार्यों के द्वारा सम्पन्न हो रही थी, जिनको रोकने के लिये कानून बना बनाकर डेढ सौ वर्ष तक बेकार कोशिशें होती रहीं। १८ वीं शताब्दी में जो प्रगति हुई, वह इस रूप में व्यक्त होती है कि कानून खुद लोगों की जमीनें चुराने का साधन बन जाता है, हालांकि बड़े-बड़े काश्तकार अपने छोटे-छोटे स्वतंत्र उपायों का प्रयोग भी जारी रखते हैं।[1] इस लूट का संसदीय रूप सामूहिक जमीन घेरने के कानूनों (Acts for enclosures of Commons) या उन अध्यादेशों की शक्ल में सामने आता है, जिनके द्वारा जमींदार जनता की जमीन को अपनी निजी सम्पत्ति घोषित कर देते हैं और जिनके द्वारा वे जनता की सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं। सर एफ० एम० ईडेन ने सामूहिक सम्पत्ति को उन बड़े जमींदारों की निजी सम्पत्ति साबित करने की कोशिश की है, जिन्होंने सामंती प्रभुओं का स्थान ले लिया है। मगर जब वह यह मांग करते हैं कि "सामूहिक जमीनों को घेरने के लिये संसद को एक सामान्य क़ानून बनाना चाहिये" (और इस तरह जब वह यह स्वीकार कर लेते हैं कि सामूहिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित करने के लिये आवश्यक है कि संसद में कानून बनाकर उसका हठात अपहरण कर लिया जाये), और इसके अलावा जब वह संसद से उन ग़रीबों की क्षति-पूर्ति करने के लिये भी कहते हैं, जिनकी सम्पत्ति छीन ली गयी है, तब वह वास्तव में अपने धूर्ततापूर्ण तर्क का खुद ही खण्डन कर डालते हैं।

एक ओर, स्वतंत्र किसानों का स्थान कच्चे आसामियों (tenants at will), साल-साल भर के पट्टों पर जमीन जोतने वाले छोटे काश्तकारों और जमींदारों की दया पर निर्भर रहने वाले दासों जैसे लोगों की भीड़ ने ले लिया। दूसरी ओर, राजकीय जागीरों की चोरी के साथ साथ सामूहिक जमीनों की सुनियोजित लूट ने ख़ास तौर पर उन बड़े फार्मों का आकार बढ़ाने में मदद दी, जो १८ वीं शताब्दी में पूंजीवादी फार्म[3] या सौदागारों के फार्म[4] कहलाते थे, और साथ ही

[1] "काश्तकार लोग झोपड़ों में रहने वाले मजदूरों को अपने बाल बच्चों के सिवा किसी और प्राणी को झोपड़ों में रखने की मनाही कर देते हैं। इसके लिये बहाना यह बनाया जाता है कि यदि मजदूर जानवर या मुर्गी आदि रखेंगे, तो वे काश्तकारों के खलिहानों से अनाज चुरा चुराकर उन्हें खिलायेंगे। काश्तकार लोग यह भी कहते हैं कि मजदूरों को गरीब बनाकर रखो, तो वे मेहनती बने रहेंगे, इत्यादि। लेकिन मुझे यकीन है कि असली बात यह है कि काश्तकार लोग इस तरह सारी सामूहिक जमीन केवल अपने अधिकार में रखना चाहते हैं।" (*A Political Inquiry into the Consequences of Enclosing Waste Lands* ['परती जमीन घेरने के परिणामों की एक राजनीतिक जांच'] London 1785 पृ० ७५।)

[2] Eden उप० पु०, भूमिका।

[3] Capital Farms ('पूंजीवादी फार्म") – यह नाम देखिये *Two letters on the Flour Trade and the Dearness of Corn By a person in business* ['आटे के व्यापार और अनाज की महंगाई के बारे में इस धंधे में लगे हुए एक व्यक्ति के दो पत्र'] (London, 1785, पृ० १९, २०) में।

[4] Merchant Farms ["सौदागरों के फार्म']– यह नाम *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions* ['खाद्य-वस्तुओं के वर्तमान ऊंचे

खेतिहर श्राबादी को कल कारखानो वाले उद्योगो में काम करने के लिये "उन्मुक्त करके" सवहारा में परिणत कर दिया।

लेकिन १८ वीं शताब्दी ने अभी तक १६ वीं शताब्दी की भांति पूरे तौर पर यह बात नहीं स्वीकार की थी कि राष्ट्र का धन और जनता की गरीबी—ये दोनों एक ही चीज ह। चुनाचे उस जमाने के आर्थिक साहित्य में "enclosure of commons" ("सामूहिक जमीनो को घेरने") के प्रश्न के सम्बध में हमें बडी गरम बहसें सुनने को मिलती ह। मेरे सामने जो ढेरों सामग्री पडी हुई है, उसमें से म केवल कुछ उद्धरण ही यहां पेश करूगा, जिनसे उस काल की परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड जायेगा।

एक व्यक्ति ने बडे क्रोध के साथ लिखा है "हेटफोर्डशायर के कुछ गावो में औसतन ५० एकड से १५० एकड तक के २४ फार्मों को तोडकर तीन फार्मों में इकट्ठा कर दिया गया है।"[1] "नौर्थेम्पटनशायर और लीसेस्टरशायर में बहुत बडे पमाने पर सामूहिक जमीनो को घेर लिया गया है, और इस घेरेबदी के फलस्वरूप जो नयी जमींदारिया कायम हुई ह, उनमें से अधिकतर को चरागाहो में बदल दिया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जिन जमींदारियो में पहले हर साल १,५०० एकड जमीन जोती जाती थी, उनमें अब ५० एकड जमीन भी नहीं जोती जाती पुराने रहने के घरो, खलिहानो, अस्तबलो आदि के ध्वसावशेष" ही अब यह बताते ह कि वहा कभी कुछ लोग रहा करते थे। "कुछ खुले खेतो वाले गावो में सौ घर और परिवार कम होते होते आठ या दस रह गये ह जिन गावो में केवल १५ या २० वष से ही घेराबन्दी हुई है, उनमें से अधिकतर में खुले खेतो के जमाने में जितने भूमिधर रहा करते थे, अब उनकी तुलना में बहुत कम किसान रह गये ह। यह कोई बहुत असाधारण बात नहीं है कि जो इलाका पहले २० या ३० काश्तकारो और इतने ही छोटे आसामियो (tenants) और मालिको के कब्जे में था, उसे ४ या ५ बडे जमींदारो ने घेरकर अपनी चरागाहो में बदल दिया है। और इस तरह इन सारे काश्तकारो, छोटे आसामियो और मालिको की और उनके परिवारो की और बहुत से अन्य परिवारो की, जो मुख्यतया इन लोगो के लिये काम किया करते थे और इनपर निभर करते थे,—इन सब की जीविका छट जाती है।" न केवल उस जमीन पर, जो परती पडी हुई थी, बल्कि उस जमीन पर भी, जिसे लोग सामूहिक ढग से जोता करते थे या जिसको कुछ खास व्यक्ति ग्राम-समुदाय को एक निश्चित लगान देकर जोतते थे, आस पडोस के जमींदार घेरेबन्दी के बहाने कब्जा कर लेते थे। "म यहा खुले खेता और ऐसी जमीनो के घेरे जाने का जिक्र कर रहा हू, जिनमें पहले ही काफी सुधार किया जा चुका

दामा के कारणो की एक जाच'] (London 1767, पृ० ११, फुटनोट) में मिलता है।— यह सुदर पुस्तक, जो विना किसी नाम के प्रकाशित हुई थी, रैवरेण्ड नथेनियल फोस्टर की रचना है।

[1] Thomas Wright, *A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms* (टोमस राइट, 'बडे फार्मों के एकाधिकार के विषय मे जनता मे एक सक्षिप्त निवेदन'), 1779, पृ० २, ३।

[2] Rev Addington, *Inquiry into the Reasons for or against Enclosing Open Fields* (रैवरेण्ड ऐडिंग्टन, 'खुले खेता को घेरने के पक्ष और विपक्ष की दलीला का विवेचन'), London, 1772, पृ० ३७, ४३, विभिन्न स्थानो पर।

है। घेरेबन्दी (enclosures) का समर्थन करने वाले लेखक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि इन गावो के सकुचित हो जाने से बड़े फार्मों की इजारेदारियो में इजाफा होता है, खाने-पीने की वस्तुओ के दाम चढ़ जाते हैं और आबादी उजड जाती है और यहा तक कि परती पडी हुई जमीनो की घेराबन्दी से (जिस तरह आजकल वह की जाती है) भी गरीबो के कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, क्योंकि उससे आंशिक रूप में उनकी जीविका के साधन नष्ट हो जाते हैं, और उसका केवल यही नतीजा होता है कि बडे बडे फार्म, जिनका आकार पहले ही से बहुत बढ गया था, और भी बडे हो जाते हैं।"[1] डा० प्राइस ने लिखा है "जब यह जमीन चन्द बडे-बडे काश्तकारो के हाथो में चली जायेगी, तब इसका आवश्यक रूप से यह परिणाम होगा कि छोटे काश्तकार" (जिनके बारे में डा० प्राइस पहले बता चुके हैं कि "छोटे छोटे मालिको और आसामियो की यह विशाल सख्या उस जमीन की उपज से, जो उसके दखल में होती है, सार्वजनिक भूमि पर चरने वाली अपनी भेडो की मदद से और मुर्गियो, सुअरो आदि के सहारे अपना तथा अपने परिवारो का पेट पालती है और इसलिये उसे जीवन-निर्वाह के किसी साधन को खरीदने की बहुत कम जरूरत पडती है") "ऐसे लोगो में परिणत हो जायेंगे, जिनको अपनी जीविका के लिये दूसरो के वास्ते मेहनत करनी पडेगी और जिनको जरूरत की हर चीज बाजार से खरीदनी पडेगी तब शायद श्रम पहले से अधिक होगा, क्योंकि लोगो के साथ पहले से ज्यादा जबदस्ती की जायेगी शहरो और कारखानो की सख्या बढ़ जायेगी, क्योंकि निवास-स्थान और नौकरी की तलाश में पहले से अधिक सख्या में लोग वहा पहुचेंगे। फार्मों के आकार को बढाने का स्वाभावत यही परिणाम होता है। और इस राज्य में अनेक वर्षों से असल में यही चीज हो रही है।"[2] घेरेबन्दी (enclosures) के परिणामों का साराश लेखक ने इन शब्दो में प्रस्तुत किया है "कुल मिलाकर निचले वर्गों के लोगो की हालत लगभग हरेक दृष्टि से पहले से ज्यादा खराब हो जाती है। पहले वे जमीन के छोटे-छोटे टुकडो के मालिक थे, अब उनकी हैसियत मजदूरो और भाडे के टट्टुओ की हो जाती है, और साथ ही उनके लिये इस अवस्था में अपना जीवन निर्वाह करना और अधिक कठिन हो जाता है।"[3] बल्कि सच तो यह है कि सामूहिक

---

[1] Dr R Price, उप० पु०, खण्ड २, पृ० १५५। फोस्टर, ऐडिंग्टन, केण्ट, प्राइस और जेम्स ऐण्डसन की रचनाओ को देखिये और चाटुकार मैक्कुलक ने अपने सूची पत्र *The Literature of Political Economy* ['अर्थशास्त्र का साहित्य'] (London, 1845) मे जिस तरह की टुच्ची बकवास की है, उसके साथ इन रचनाओ की तुलना कीजिये।

[2] Price, उप० पु०, पृ० १४७।

[3] Price, उप० पु०, पृ० १५९। इससे हमे प्राचीन रोम की याद आती है। वहा "धनियो ने अविभाजित भूमि के अधिकाश पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन परिस्थितियो को देखते हुए उनको इसका पूर्ण विश्वास था कि यह भूमि उनसे कभी वापिस नही ली जायेगी, और इसलिये उनकी जमीनो के आस-पास गरीबो की जो भूमि थी, उन्होने उसको भी या तो उसके मालिको की रजामन्दी से खरीद लिया था, या उसपर जबदस्ती अधिकार कर लिया था, और इस तरह अब वे इक्के-दुक्के खेतो के बजाय बहुत फैली हुई जागीरो को जोतते थे। फिर वे खेती और पशु-प्रजनन मे दासो से काम लेते थे, क्योंकि स्वतत्र मनुष्यो से काम कराने के लिये उनको सैनिक सेवा से हटाना पडता। दासो के स्वामी होने से उनका बडा लाभ होता था, क्योंकि दासो से सेना मे काम नही लिया जा सकता था और इसलिये वे खुलकर अपनी सन्तान

जमीनो के अपहरण का और उसके साथ-साथ खेती में जो क्रान्ति आ गयी थी, उसका खेतिहर मजदूरो पर इतना बुरा प्रभाव पडा था कि ईडेन के कथनानुसार भी १७६५ और १७८० के बीच उनकी मजदूरी आवश्यक अल्पतम मजदूरी से भी कम हो गयी थी और वे गरीबो के कानून के मातहत सावजनिक सहायता लेने लगे थे। ईडेन ने लिखा है कि "जीवन के लिये नितान्त आवश्यक वस्तुए खरीदने के लिये जो रकम जरूरी होती थी, खेतिहर मजदूरो की मजदूरी उससे अधिक नहीं होती थी।"

अब एक क्षण के लिये एक ऐसे आदमी की बात भी सुनिये, जो enclosures (घेरेबन्दी) का समयक और डा० प्राइस का विरोधी था। "यदि लोग खुले खेतो में व्यय का श्रम करते नहीं दिखाई देते, तो इसका यह मतलब नहीं है कि आबादी कम हो गयी है यदि छोटे काश्तकारो को दूसरो के वास्ते काम करने वाले मनुष्यो में परिणत करके उनसे पहले से अधिक श्रम कराया जाता है, तो इससे सारे राष्ट्र का लाभ होता है, और राष्ट्र को इसका स्वागत करना चाहिये" (पर, जाहिर है, कि जिन लोगो को इस प्रकार "परिणत किया गया है," वे इस राष्ट्र के सदस्य नहीं है) " क्योंकि जब इन लोगो से एक फाम पर सयुक्त श्रम कराया जाता है, तब पदावार ज्यादा होती है, कारखानो के वास्ते अतिरिक्त पदावार तयार हो जाती है और इस तरह जितना अधिक अनाज पदा होता है, उतनी ही अधिक कारखानो की वद्धि होती है, जो राष्ट्र के लिये धन की खान का काम करते है।"[1]

जब उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली की नींव डालने के लिये इसकी आवश्यकता होती है, तब "सम्पत्ति के पवित्र अधिकार" के अत्यन्त लज्जाहीन अतिक्रमण और व्यक्तियो पर अत्यन्त भोडे हमलो को भी अथशास्त्री जिस नि स्पृह भाव और जिस निरुद्विग्न मन के साथ देखता रहता

को बढा सकते थे और खूब बच्चे पैदा कर सकते थे। अतएव शक्तिशाली व्यक्ति सारा धन अपने पास खीचे ले रहे थे और देश दासो से भर गया था। दूसरी ओर, इटालियनो की सख्या बराबर कम होती जाती थी, क्योकि उनको गरीबी, कर और सैनिक सेवा खाये जा रही थी। यहा तक कि जब शान्ति के दिन आये, तब भी ये लोग निष्क्रिय ही बने रहे, क्योकि जमीन धनियो के कब्जे मे थी, जो उसे जुतवाने के लिये स्वतन्त्र मनुष्यो के बजाय दासो से काम लेते थे।" (Appian *Roman Civil Wars* [एप्पियन, 'रोम के गह युद्ध'], खण्ड १, ७।) इस अश मे लिसिनस के कानूनो के बनने के पहले के काल का वणन किया गया है। जिस सनिक सेवा ने रोम के जन साधारण की तबाही की क्रिया को इतना तेज कर दिया था, उसीने चार्लेमन के हाथो में स्वतन्त्र जमन किसानो को जबदस्ती कृषि दासो और क्रीत दासो मे रूपान्तरित कर देने के मुख्य साधन का काम किया।

[1] *An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions, &c* ('खाद्य वस्तुओ के वतमान दामो और खेतो के आकार के सम्बध की जाच, इत्यादि'), पृ० १२४, १२९। निम्नलिखित उद्धरण इसके उल्टे दष्टिकोण से लिखा गया है, पर उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है 'मजदूरो को उनकी झोपडो से खदेडकर नौकरी की तलाश मे शहरो में मारे-मारे फिरने के लिये मजबूर कर दिया जाता है, पर तब पहले से अधिक अतिरिक्त पैदावार तयार होती है, और इस प्रकार पूजी मे वद्धि होती है।" (*The Perils of the Nation* ['राष्ट्र के लिये सकट की बातें'], दूसरा सस्करण, London 1843 पृ० १४१।)

है, उसका एक उदाहरण सर एफ० एम० ईडेन ह, जो बडे दानवीर और साथ ही अनुदारदली भी ह। १५ वीं शताब्दी के अंतिम ततीस वर्षो से लेकर १८ वीं शताब्दी के अत तक जनता की सम्पत्ति का जिस तरह बलपूवक अपहरण होता रहा और उसके साथ-साथ जो चोग्यिा और अत्याचार होते रहे और जनता पर जो मुसीबत का पहाड टूटता रहा, उस सब का अध्ययन करने के बाद सर एफ० एम० ईडेन केवल इस सन्तोषजनक परिणाम पर ही पहुचते ह कि "खेती की जमीन और चरागाह की जमीन के बीच एक सही (due) अनुपात कायम करना जरूरी था। पूरी १४ वीं शताब्दी में और १५ वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में एक एकड चरागाह के पीछे २,३ और यहा तक कि ४ एकड खेती की जमीन हुआ करती थी। १६ वीं शताब्दी के मध्य के लगभग यह अनुपात बदलकर २ एकड चरागाह के पीछे २ एकड खेती की जमीन का हो गया, बाद को २ एकड चरागाह के पीछे १ एकड खेती की जमीन का अनुपात हो गया और आखिर ३ एकड चरागाह के पीछे १ एकड खेती की जमीन का सही अनुपात भी क़ायम हो गया।"

१६ वीं शताब्दी में, जाहिर है, इस बात को किसी को याद तक नहीं रह गयी कि खेतिहर मजदूर का सामूहिक जमीन से भी कभी कोई सम्बध था। अभी हाल के दिनो की बात जाने दीजिये, १८०१ और १८३१ के बीच जो ३५,११,७७० एकड मामूहिक जमीन खेतिहर आबादी से छीन ली गयी और ससद के हथकण्डो के जरिये जमींदारो के द्वारा जमींदारो को भेंट कर दी गयी, क्या उसके एवज में खेतिहर आबादी को एक कौडी का भी मुआवजा मिला है?

बडे पैमाने पर खेतिहर आबादी की भूमि के अपहरण की अंतिम क्रिया वह है, जिसका नाम है "clearing of estates" ("जागीरो को साफ करना"—अर्थात उनको जन विहीन बना देना)। इगलैण्ड में भूमि अपहरण के जितने तरीको पर हमने अभी तक विचार किया है, वे सब मानो इस "सफाई" के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुच जाते ह। पिछले एक अध्याय में हमने आधुनिक परिस्थितियो का वणन किया था और बताया था कि जहा उजाडे जाने के लिये स्वतत्र किसान नहीं रह गये ह, वहा झोपडो की "सफाई" शुरू हो जाती है, जिससे खेतिहर मजदूरा को उस भूमि पर, जिसे वे जोतत-बोते ह, रहने के लिये एक चप्पा जमीन भी नहीं मिलती। लेकिन "clearing of estates" ("जागीरो की सफाई") का असल में और सही तौर पर क्या मतलब होता है, यह हमें केवल आधुनिक रोमानी कथा-साहित्य की आदश भूमि, स्कोटलैण्ड के पवतीय प्रदेश में ही देखने को मिलता है। वहा इस क्रिया की विशेषता यह है कि वह बडे सुनियोजित ढग से सम्पन्न होती है, एक ही चोट में बडे भारी इलाके की सफाई हो जाती है (आयरलण्ड में जमींदारो ने कई कई गाव एक साथ साफ कर दिये ह, पर स्कोटलैण्ड में तो जमन रियासतो जितने बडे-बडे इलाके एक बार में साफ कर दिये जाते ह), और अंतिम बात यह कि गबन की हुई जमीनें एक विचित्र प्रकार की सम्पत्ति का रूप धारण कर लेती ह।

स्कोटलण्ड के पवतीय प्रदेश में रहने वाले केल्ट लोग कबीलो में सगठित थे। प्रत्येक कबीला जिस भूमि पर बसा हुआ था, उसका मालिक था। कबीले का प्रतिनिधि, उसका मुखिया, या "बडा आदमी," केवल नाम के लिये इस सम्पत्ति का मालिक होता था, जसे इगलण्ड की रानी नाम के लिये राष्ट्र की समस्त भूमि की स्वामिनी है। जब अग्रेज सरकार इन "बडे आदमियो" की आपसी लडाइयो को बद कराने में कामयाब हो गयी और स्कोटलण्ड के मैदानी भागो पर ये "बडे आदमी" लगातार जो चढाइया किया करते थे, जब वे भी रोक दी गयीं, तो इन क़बीलो के मुखियाओ ने डकती का अपना पुराना पुश्तनी पेशा छोड नहीं दिया, बल्कि

उसका केवल रूप बदल दिया। जो नाम मात्र का अधिकार था, उसे उन्होंने खुद अपनी मर्जी से निजी सम्पत्ति के अधिकार में बदल दिया, और इससे चूंकि उनका खुद अपने क़बीलों के लोगों के साथ टकराव हुआ, इसलिये उन्होंने इन लोगों को जबर्दस्ती जमीनों से भगाने का निश्चय कर लिया। प्रोफ़ेसर न्यूमन ने लिखा है "इस तरह तो इंगलैण्ड का राजा यह दावा कर सकता था कि उसे अपनी प्रजा को समुद्र में धकेल देने का अधिकार है।"[1] स्कोटलैण्ड में यह क्रांति जेम्स द्वितीय के पुत्र और पौत्र के समर्थकों के अंतिम विद्रोह के बाद आरम्भ हुई थी। सर जेम्स स्टीवर्ट और जेम्स ऐण्डरसन[3] की रचनाओं में हम उसके प्रथम चरण का अध्ययन कर सकते हैं। १८ वीं शताब्दी में अपनी जमीनों से खदेड़े हुए केल्ट लोगों को देश छोड़कर चले जाने की भी मनाही कर दी गयी, ताकि उनके सामने ग्लासगो तथा अन्य औद्योगिक नगरों में जाकर रहने के सिवा और कोई चारा न रह जाये।[4] १९ वीं शताब्दी में किस तरह के तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं,[5] इसके एक उदाहरण के रूप में केवल सदरलैण्ड की डचेज द्वारा की गयी "सफ़ाई"

---

[1] F W Newman, उप० पु०, पृ० १३२।

[2] स्टीवर्ट ने लिखा है "यदि आप इन जमीनों के विस्तार के साथ उनके लगान की तुलना करें" (यहां उसने लगान नामक आर्थिक परिकल्पना में उस खिराज को भी शामिल कर लिया है, जो कबीले के लोग अपने मुखिया को दिया करते थे), "तो आप पायेंगे कि लगान बहुत कम मालूम होता है। यदि आप लगान की तुलना इस बात से करेंगे कि फ़ार्म के सहारे कितने मनुष्यों का पेट पलता है, तो आप यह पायेंगे कि किसी अच्छे उपजाऊ प्रांत की एक जागीर पर जितने लोगों का लालन पालन होता है, स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में उतने ही मूल्य की जागीर से उससे शायद दस-गुने अधिक लोगों का जीवन निर्वाह होता है।" (J Steuart उप० पु०, खण्ड १, अध्याय XVI [सोलह], पृ० १०४।)

[3] James Anderson, '*Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry &c* (जेम्स ऐंडर्सन, 'राष्ट्रीय उद्योग की भावना पैदा करने के साधनों के विषय में कुछ टिप्पणियां, इत्यादि'), Edinburgh, 1777

[4] जिन लोगों की जमीनें जबर्दस्ती छीन ली गयी थीं, उनको १८६० में धोखा देकर कनाडा भेज दिया गया। कुछ लोग पहाड़ों में भाग गये और आस पास के द्वीपों को चले गये। पुलिस ने उनका पीछा किया। उसके साथ उनकी मार पीट भी हुई। पर आखिर वे भाग जाने में कामयाब हुए।

[5] १८१४ में ऐडम स्मिथ के टीकाकार बुकानन ने लिखा है "स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में सम्पत्ति की प्राचीन प्रणाली पर नित नये प्रहार हो रहे हैं जमींदार पुश्तैनी आसामी का कोई खयाल नहीं करता" (यहां पुश्तैनी आसामी नामक परिकल्पना का गलती से प्रयोग किया गया है), "बल्कि अपनी जमीन उसे देता है, जो सबसे ऊंचा लगान देने को तैयार होता है। यदि यह आदमी सुधारक होता है, तो वह तुरंत ही एक नये ढंग की खेती चालू कर देता है। पहले जमीन पर छोटे आसामियों या मजदूरों की एक बड़ी संख्या बिखरी रहती थी, और आबादी जमीन की उपज के अनुपात में होती थी। अब सुधरी हुई खेती और बढ़े हुए लगान की नयी प्रणाली के अनुसार कम से कम खर्चा करके ज्यादा से ज्यादा उपज पैदा की जाती है, और इस उद्देश्य से, जो मजदूर अनावश्यक होते हैं, उनको जमीन से हटा दिया जाता है और इस तरह आबादी को उस संख्या से घटाकर, जिसकी जमीन परवरिश कर सकती है, उस संख्या

का जिक्र देना काफी होगा। यह महिला अर्थशास्त्र में पारगता थी। इसलिये, अपनी जागीर की बागडोर सभालते ही उसने उसमें एक मौलिक सुधार करने का निश्चय किया और तै कर दिया कि वह अपनी पूरी काउण्टी को, जिसकी आबादी इसी प्रकार की अन्य कार्रवाइयो के फलस्वरूप पहले ही केवल १५,००० रह गयी थी, भेडो की चरागाह में बदल देगी। १८१४ से १८२० तक इन १५,००० निवासियो के लगभग ३,००० परिवारो को सुनियोजित ढग से उजाडा और खदेडा गया। उनके सारे गाव नष्ट कर दिये गये और जला डाले गये। उनके तमाम खेतो को चरागाहो में बदल दिया गया। उनको बेदखल करने के लिये अग्रेज सिपाही भेजे गये, जिनकी गावो के निवासियो के साथ कई बार मार-पिटाई हुई। एक बुढ़िया ने अपने झोपडे से निकलने से इनकार कर दिया था। उसे उसी में जलाकर भस्म कर दिया गया। इस प्रकार इस भद्र महिला ने ७,९४,००० एकड ऐसी जमीन पर अधिकार कर लिया, जिसपर बाबा आदम के जमाने से कबीले का अधिकार था। निकाले हुए ग्रामवासियो को उसने समुद्र के किनारे ६,००० एकड जमीन दे दी – यानी प्रति परिवार दो एकड। यह ६,००० एकड जमीन अभी तक बिल्कुल परती पडी हुई थी, और उससे उसके मालिको को जरा भी लाभ नहीं होता था। परन्तु डचेज के मन में अपनी प्रजा के लिये यकायक इस हद तक दया उमडी कि उसने इस जमीन को केवल २ शिलिग ६ पेन्स प्रति एकड के औसत लगान पर उनको उठा दिया और यह लगान उसने अपने कबीले के उन लोगो से वसूल किया, जो सदियो से उसके परिवार के लिये अपना खून बहाते आये थे। क़बीले की चुरायी हुई जमीन को उसने २९ बडे-बडे भेड पालने के फार्मों में बाट दिया, जिनमें से हरेक में केवल एक परिवार रहता था और जिनपर प्राय इगलण्ड से मगाये हुए खेत-मजदूरो को बसाया गया था। १८३५ के आते-आते १५,००० केल्ट नर-नारियो का स्थान १,३१,००० भेडो ने ले लिया था। आदिवासियों में से बचे खुचे लोग समुद्र के किनारे पर

पर ले आया जाता है, जिसको जमीन काम दे सकती है तब जिन आसामियो की बेदखली की जाती है, वे या तो पडोस के कस्बो मे जीविका की तलाश करते है, इत्यादि।" (David Buchanan, '*Observations on, &c , A Smith s Wealth of Nations*' [डैविड बुकानन, 'ऐडम स्मिथ की रचना 'राष्ट्रो का धन' पर कुछ टिप्पणिया, आदि'], Edinburgh, 1814 खण्ड ४, पृ० १४४।) "स्कोटलैण्ड के धनी लोग किसानो के परिवारो की सम्पत्ति का इस तरह अपहरण करते थे, जैसे झाडियो के जगल को साफ कर रहे हो, और वे गावो तथा उनमें रहने वाले लोगो के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते थे, जिस प्रकार का व्यवहार जगली जानवरो से परेशान हिदुस्तानी प्रतिहिसा की भावना से उन्मत्त होकर शेरो से भरे हुए जगल के साथ करते हैं इनसान की जानवर की एक खाल या एक लोथ के साथ अदला-बदली कर ली जाती है, बल्कि कभी-कभी तो इनसान को उससे भी सस्ता समझा जाता है अरे, सच पूछिये, तो यह उन मुगलो के इरादो से कही अधिक भयानक है, जिन्होने चीन के उत्तरी प्रान्तो में घुसने के बाद अपनी परिषद के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वहा के निवासियो को मार डाला जाये और भूमि को चरागाह में परिणत कर दिया जाये। स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश के बहुत से भू-स्वामियो ने खुद अपने देश मे और अपने देशवासियो का गला काटकर इस योजना को कार्यान्वित कर दिखाया है।" (George Ensor '*An Inquiry Concerning the Population of Nations*' [जार्ज एन्सर, 'राष्ट्रो की जन-सख्या के विषय मे एक जाच'], London 1818, पृ० २१५, २१६।)

पटक दिये गये, जहा वे मछलिया पकडकर जिन्दा रहने की कोशिश करने लगे। एक अग्रेज लेखक के शब्दो में, ये लोग जलस्थलचर बन गये थे और आधे धरती पर और आधे पानी में रहते थे, और फिर भी दोनो जगह अधजीवित अवस्था में ही रह पाते थे।[1]

लेकिन बहादुर गेल लोग कबीले के "बडे आदमियो" की जो रोमानी एव पवतीय ढग की पूजा किया करते थे, उसकी उन्हें अभी और भी महगी क़ीमत चुकानी थी। उनकी मछलियो की सुगधि "बडे आदमियो" की नाको तक भी पहुची। उनको उसमें मुनाफे की बू आयी और उन्होने समुद्र का किनारा लन्दन के मछलियो के बडे व्यापारियो को ठेके पर उठा दिया। बेचारे गेल लोगो को दोबारा उनके घरो से खदेडा गया।[2]

लेकिन अत में भेडो की चरागाहो का एक हिस्सा हिरनो के जगलो में बदल दिया जाता है। हर कोई जानता है कि इगलण्ड में बडे जगल नहीं हैं। बडे लोगो के बगीचो में पलने वाले हिरन लन्दन के नगर पिताओ जैसे मोटे, थलथल और पालतू ढोर हैं। इसलिये, "बडे आदमियो" के शिकार के शौक को पूरा करने के लिये अब एकमात्र उचित स्थान स्कोटलण्ड ही बचा है। १८४८ में सौमर्स ने लिखा था "स्कोटलण्ड के पवतीय प्रदेश में कुकरमुत्तों की तरह नये-नये जगल पैदा हो रहे ह। यहा, गक के इस तरफ, यदि ग्लेनफेशी का नया जगल है, तो वहा, दूसरी तरफ, आडवेरिकी का नया जगल है। इसी सीध में ब्लक मौण्ट भी है। यह विशाल बजर भूमि भी अभी हाल में तैयार की गयी है। पूव से पश्चिम तक – एबेरडीन के पास से लेकर ओबान के टीलो तक – अब जगलो की एक अनवरत पक्ति दिखाई देती है। उधर पवतीय प्रदेश के अन्य भागो में लौक आर्केग, ग्लेनगार्री, ग्लेनमौरिस्टन आदि के नये जगल खडे हो गये ह। जिन घाटियो में कभी छोटे काश्तकारो की बस्तिया बसी हुई थीं, उनमें भेडो को बसा दिया गया था और काश्तकारो को ज्यादा खराब और कम उपजाऊ जमीन पर भोजन तलाश करने के लिये खदेड दिया गया था। अब भेडो का स्थान हिरन ले रहे ह, और अब

---

[1] जब सदरलैण्ड की मौजूदा डचेज ने *Uncle Tom s Cabin'* ('टाम काका की कुटिया') की लेखिका श्रीमती बीचर स्टोव को लन्दन में एक शानदार दावत दी और इस तरह अमरीकी प्रजातत्र के हब्शी दासो के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करनी चाही, – हालाकि गृह यद्ध के समय, जब कि इगलैण्ड का प्रत्येक अभिजातवर्गीय हृदय दासा के मालिको के हिता की चिन्ता मे व्यग्र था, अभिजात वग के अपने अन्य सहयोगियो के साथ साथ सदरलैण्ड की डचेज भी अपनी इस सहानुभूति को भूल गयी थी, – तब मैंने '*New York Tribune* मे सदरलैण्ड के दासा से सम्बधित कुछ तथ्य प्रकाशित करवाये थे (जिनमें से कुछ केरी की रचना *The Slave Tra de* ['दासो का व्यापार'], Philadelphia 1853, पृ० २०३, २०४ पर उद्धत किये गये थे)। मेरे लेख को एक स्काट समाचारपत्र ने भी छापा, जिसके फलस्वरूप सदरलैण्ड परिवार के चाटुकारो और इस समाचारपत्र के बीच अच्छा-खासा वाद विवाद छिड गया।

[2] मछलियो के इस व्यापार का रोचक और विस्तृत विवरण मि० डेविड उर्कुहार्ट के '*Port folio New Series* ['पोर्टफोलियो – नवीन क्रम'] मे मिलेगा। – नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर की जो रचना ('*Journals Conversations and Essays relating to Ireland* London 1868) उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई थी और जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके ह, उसमे "सदरलैण्डशायर मे इस कारवाई को मनुष्य की स्मृति म एक सबसे अधिक लाभदायक सफाई" कहा गया है। (उप० पु०)

हिरण छोटे काश्तकारों का घर-द्वार छीनते जा रहे हैं। इन काश्तकारों को अब पहले से भी ज्यादा खराब जमीन पर जाकर बसना होगा और पहले से भी अधिक भयानक गरीबी में जीवन बिताना पड़ेगा। हिरनों के जंगलों[1] और मनुष्यों का सह अस्तित्व असम्भव है। दोनों में से एक न एक को हट जाना पड़ेगा। पिछले पचीस साल से जंगल संख्या और विस्तार में जिस तरह बढ़ रहे हैं, उसी तरह अगले पचीस साल तक उन्हें और बढ़ने दीजिये, तो पूरी की पूरी गेल जाति अपने देश से निर्वासित हो जायेगी पर्वतीय प्रदेश के भूस्वामियों में से कुछ के लिये हिरनों के जंगल बनाने की इच्छा ने एक महत्वाकांक्षा का रूप धारण कर लिया है कुछ शिकार के शौक़ के कारण यह काम करते हैं और दूसरे, जो अधिक व्यावहारिक ढंग के लोग हैं, केवल मुनाफा कमाने की दृष्टि से हिरनों का धंधा करते हैं। कारण कि बहुत सी पहाड़ियों को भेड़ों की चरागाहों के रूप में ठेके पर उठाने की अपेक्षा उनको हिरनों के जंगलों के रूप में इस्तेमाल करने में मालिकों को अधिक लाभ रहता है शिकार के लिये हिरनों का जंगल चाहने वाला शिकारी उसके लिये कोई भी रकम देने को तैयार रहता है। अपनी थैली के आकार के सिवा वह इस मामले में और किसी चीज का खयाल नहीं करता पर्वतीय प्रदेश के लोगों पर जो मुसीबतें ढायी गयी हैं, वे उन मुसीबातों से किसी तरह भी कम नहीं हैं, जिनका पहाड़ नौमन राजाओं की नीति के फलस्वरूप लोगों पर टूट पड़ा था। हिरनों के निवास-स्थानों का विस्तार अधिकाधिक बढ़ता जाता है, जब कि मनुष्यों को एक अधिकाधिक संकुचित घेरे में बन्द किया जा रहा है . जनता के एक के बाद दूसरे अधिकार की हत्या हो रही है अत्याचार दिन प्रति दिन बढ़ते ही जा रहे हैं लोगों को उनकी जमीनों से हटाना और इधर उधर बिखेर देना मालिकों के लिये एक निर्णीत सिद्धान्त और खेती की आवश्यकता बन गया है। वे इनसानों की बस्तियों का उसी तरह सफाया करते हैं, जिस तरह अमरीका या आस्ट्रेलिया में परती जमीन पर खड़े हुए पेड़ों या झाड़ियों को हटाया जाता है, और यह काय बहुत ही खामोशी के साथ और बड़े कामकाजी ढंग से किया जाता है, इत्यादि।"[2]

---

[1] स्कॉटलैण्ड के "deer forests (हिरनों के जंगलों) में एक भी पेड़ नहीं है। नंगी पहाड़ियां हैं, जिनसे भेड़ों को भगा दिया गया है और हिरनों को लाकर बसा दिया गया है, और इन पहाड़ियों का नाम रख दिया गया है "deer forests (हिरनों के जंगल)। इस तरह, पेड़ लगाने और वन-रोपण की भी कोई व्यवस्था नहीं है।

[2] Robert Somers *'Letters from the Highlands, or the Famine of 1847* (रोबर्ट सोमर्स, 'पर्वतीय प्रदेश के पत्र, अथवा १८४७ का अकाल'), London, 1848 पृ० १२–२८, विभिन्न स्थानों पर। ये पत्र शुरू में *The Times'* में प्रकाशित हुए थे। १८४७ में गेल कौम को जिस अकाल की विभीषिका से गुजरना पड़ा था, उसका अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने, जाहिर है, यह कारण बताया था कि आबादी बहुत ज्यादा बढ़ गयी थी। और यह भी नहीं, तो आबादी खाने पीने की वस्तुओं की मात्रा की तुलना में तो अवश्य ही बहुत बढ़ गयी थी। जर्मनी में clearing of estates ("जागीरों की सफाई"), या, वहां की भाषा में, 'Bauernlegen खास तौर पर ३० वर्षीय युद्ध के बाद हुई थी, और उसके फलस्वरूप १७९० में भी कुरसाखसेन में किसानों के विद्रोह हुए थे। विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी में इस तरह की सफाई हुई। प्रशिया के अधिकतर प्रान्तों में पहली बार फ्रेडेरिक

चर्च की सम्पत्ति की लूट, राज्य के इलाकों पर धोखेधड़ी से कब्ज़ा कर लेना, सामूहिक भूमि की डाकाज़नी, सामन्ती सम्पत्ति तथा क़बीलों की सम्पत्ति का अपहरण और आतंकवादी तरीकों का अंधाधुंध प्रयोग करके उसे आधुनिक ढंग की निजी सम्पत्ति में बदल देना — ये ही थे सुंदर

द्वितीय ने किसानों को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिलवाया था। साइलीशिया को जीतने के बाद उसने ज़मींदारों को झोपड़े और खलिहान आदि फिर से बनवाने और किसानों को ढोर और औज़ार देने के लिये मजबूर किया था। उसे अपनी सेना के लिए सिपाही और ख़ज़ाने के लिए कर देने वाले चाहिये थे। लेकिन बाकी बातों में फ़्रेडेरिक की वित्तीय प्रणाली और निरंकुश शासन — नौकरशाही तथा सामन्तवाद के उस गड़बड़झाले — के अन्तर्गत रहने वाले किसान कितना सुखमय जीवन बिताते थे, यह फ़्रेडेरिक द्वितीय के प्रशंसक मिराबो के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है: 'Le lin fait donc une des grandes richesses du cultivateur dans le Nord de l'Allemagne. Malheureusement pour l'espèce humaine, ce n'est qu'une ressource contre la misère et non un moyen de bien-être. Les impôts directs, les corvées, les servitudes de tout genre, écrasent le cultivateur allemand, qui paie encore des impôts indirects dans tout ce qu'il achète... et pour comble de ruine, il n'ose pas vendre ses productions où et comme il le veut; il n'ose pas acheter ce dont il a besoin aux marchands qui pourraient le lui livrer au meilleur prix. Toutes ces causes le ruinent insensiblement, et il se trouverait hors d'état de payer les impôts directs à l'échéance sans la filerie; elle lui offre une ressource, en occupant utilement sa femme, ses enfants, ses servants, ses valets, et lui-même: mais quelle pénible vie, même aidée de ce secours! En été, il travaille comme un forçat au labourage et à la récolte; il se couche à 9 heures et se lève à deux, pour suffire aux travaux; en hiver il devrait réparer ses forces par un plus grand repos; mais il manquera de grains pour le pain et les semailles, s'il se défait des denrées qu'il faudrait vendre *pour payer les impôts. Il faut donc filer pour suppléer à ce vide*... il faut y apporter la plus grande assiduité. Aussi le paysan se couche-t-il en hiver à minuit, une heure, et se lève à cinq ou six; ou bien il se couche à neuf, et se lève à deux, et cela tous les jours de la vie si ce n'est le dimanche. Ces excès de veille et de travail usent la nature humaine, et de là vient qu'hommes et femmes vieillissent beaucoup plutôt dans les campagnes que dans les villes.' ["अतः उत्तरी जर्मनी में फ़्लैक्स की खेती काश्तकार के लिये धन के एक प्रधान स्रोत का काम करती है। मनुष्य जाति के दुर्भाग्य से यह केवल ग़रीबी को दूर रखने का ही *काम कर सकती है, क्योंकि उसे सुख और समृद्धि का साधन नहीं समझा जा सकता।* प्रत्यक्ष कर, बेगार और तरह तरह की गुलामी मिलकर जर्मन कृषक का कचूमर निकाल देती हैं। इसके अलावा, वह जो चीज़ भी ख़रीदता है, उसपर उसे अप्रत्यक्ष कर भी देने पड़ते हैं... मुसीबत चूंकि कभी अकेले नहीं आती, इसलिये वह अपनी पैदावार को, जहां वह चाहे, वहां, और जिस तरह वह चाहे, उस तरह *नहीं बेच सकता।* अपनी ज़रूरत की चीज़ें वह उन व्यापारियों से नहीं ख़रीद सकता, जो उनको सबसे कम दामों पर बेचने को तैयार हैं। इन तमाम कारणों से धीरे-धीरे वह चौपट हो जाता है, और यदि चर्खा उसकी मदद न करे, तो वह प्रत्यक्ष कर भी न अदा कर पाये। चर्खा उसकी कठिनाइयों को कुछ

तरीके हैं, जिनके जरिये आदिम सचय हुआ था। इन तरीको के जरिये पूजीवादी खेती के लिये मैदान साफ किया गया, भूमि को पूजी का अभिन्न अग बनाया गया, और शहरी उद्योगो की आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक "स्वतत्र" और निराश्रय सर्वहारा को जन्म दे दिया गया।

हद तक हल करने मे मदद करता है, क्योकि उससे उसकी पत्नी को, उसके बच्चो को, उसके खेत मजदूरो को और खुद उसको भी एक उपयोगी धधा करने को मिल जाता है। लेकिन इस सहायता के बावजूद उसका जीवन कितना दयनीय होता है! गरमियो मे वह नाव खेने वाले गुलाम की तरह काम करता है और जमीन को जोतता है और फसल काटता है। रात को ६ बजे वह सोने के लिये लेटता है और सुबह को २ बजे उठ खडा होता है, क्योकि यदि वह देर करे, तो दिन का काम पूरा नही हो सकता। जाडो में उसे देर तक आराम करके अपनी शक्ति को पुन प्राप्त करना चाहिये। लेकिन राज्य के कर अदा करने के लिये उसे मुद्रा चाहिये, और मुद्रा प्राप्त करने के लिये उसे अपना सारा अनाज बेच देना चाहिये, और यदि वह अपना सारा अनाज बेच देता है, तो उसके पास रोटी खाने के लिये और अगली फसल बोने के लिये काफी बीज नही बचते। इस कमी को पूरा करने के लिये उसे कताई करनी चाहिये और उसमे खूब मेहनत करनी चाहिये। चुनाचे जाडो में किसान आधी रात को या एक बजे सोने के लिये लेटता है और ५ या ६ बजे उठ जाता है। या वह रात को ६ बजे सो जाता है और सुबह २ बजे ही उठकर काम में लग जाता है। इतना अधिक काम और इतनी कम नीद आदमी का सारा सत सोख लेती है, और यही कारण है कि शहरो की अपेक्षा गावो में लोग बहुत जल्दी बूढे हो जाते हैं"]। (Mirabeau, उप० पु०, ग्रथ ३, पृ० २१२ और उसके आगे के पृष्ठ।)

दूसरे सस्करण का नोट रोबर्ट सोमस की जिस रचना को हमने ऊपर उदधृत किया है, उसके प्रकाशन के १८ वर्ष बाद, अप्रैल १८६६ मे, प्रोफेसर लेओने लेवी ने Society of Arts (धधो की परिषद) के सामने भेडो की चरागाहो के हिरनो के जगलो में बदल दिये जाने के बारे में एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होने बताया था कि स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश को किस तरह उजाडा गया है। अन्य बातो के अलावा उन्होने इस भाषण मे यह भी कहा था "बस्तियो को उजाडकर भेडो की चरागाहो में बदल देना बिना कुछ खर्च किये आमदनी हासिल करने का सबसे सुविधाजनक उपाय था पर्वतीय प्रदेश मे यह अक्सर देखने में आता था कि भेडो की चरागाह का स्थान हिरनो के जगल ने ले लिया है। जिस तरह एक समय जमीदारो ने इनसानो को अपनी जागीरो से निकाल बाहर किया था, उसी तरह अब उन्होने भेडो को निकाल बाहर किया और अपनी जमीनो पर नये किरायेदारो को—जगली जानवरो और पक्षियो को—ला बसाया फोरफारशायर मे डेलहौजी के अर्ल की जागीर से चलना शुरू करके जान ओ'ग्रोट्स तक चलते जाइये, आप कभी जगलो के बाहर नही निकलेगे इनमे से बहुत से जगलो मे लोमडिया, बन बिलाव, मार्टन, गधमार्जार, वीजेल और पहाडी खरगोश बहुतायत से मिलते है, और खरहे, गिलहरिया और चूहे अभी हाल ही में इस

अट्ठाईसवा अध्याय

जिन लोगो की सम्पत्ति छीन ली गयी, उनके खिलाफ १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से खूनी कानूनो का बनाया जाना।—ससद में कानून बनाकर मजदूरी का जबर्दस्ती कम कर दिया जाना

यह सम्भव नहीं था कि सामन्ती चाकरो के दस्तो को भग करके और लोगो की जमीनो को जबर्दस्ती छीनकर जिस "स्वतत्र" सर्वहारा का निर्माण किया गया था, उसकी सख्या जिस तेजी के साथ बढ़ती जाती थी, वह उसी तेजी के साथ नवजात उद्योगो में काम पाती जाये।

इलाके मे पहुचे हैं। इस प्रकार, स्कोटलैण्ड के साख्यिकीय वणन में जिस भमि को बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की विस्तृत चरागाहो के रूप में पेश किया गया है, उसके विशाल खण्डो में अब किसी तरह की खेती या सुधार नही हो सकते, और अब वे वप में कुछ दिन केवल चन्द व्यक्तियो के शिकार खेलने के काम में आते हैं।"

२ जून १८६६ के लन्दन के *Economist* ने लिखा है "पिछले सप्ताह के एक स्काट पत्र में जो समाचार प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक इस प्रकार है ' सदरलैण्डशायर के भेडा के एक सर्वोत्तम फाम को, जिसके लिये अभी हाल में १,२०० पौण्ड वार्षिक लगान देने का प्रस्ताव आया था, मौजूदा पट्टे की अवधि की समाप्ति पर deer forest (हिरनो के जगल) में बदल दिया जायेगा।' यहा हम सामन्तवाद की आधुनिक प्रवृत्तियो को काम करते हुए देखते हैं वे अब भी लगभग नामन विजेता के समय की तरह ही काम कर रही हैं उस समय New Forest (नया जगल) बनाने के लिये छत्तीस गाव बरबाद कर दिये गये थे बीस लाख एकड़ जमीन, जिसमे स्कोटलैण्ड के कुछ सबसे अधिक उपजाऊ इलाके शामिल हैं, पूरी तरह उजाड दिये गये हैं। ग्लेन टिल्ट की प्राकृतिक घास पेथ की काउण्टी की सबसे अधिक पौष्टिक घास मान जाती थी। बेन ओल्डेर का हिरनो का जगल कभी बैडेनाओक के विस्तृत डिस्ट्रिक्ट मे सबसे अच्छी चरागाह समझा जाता था। ब्लैक मौण्ट के जगल का एक भाग काले चेहरो वाली भेडो के लिये स्कोटलैण्ड की सबसे अच्छी चरागाह माना जाता था। स्कोटलैण्ड में केवल शिकार खेलने के लिये कितना बडा इलाका उजाड दिया गया है, इसका कुछ आभास इस बात से हो सकता है कि इस इलाके का रकबा पेथ की पूरी काउण्टी से भी अधिक है। बेन ओल्डेर के जगल के साधनो से इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इन इलाको को जबदस्ती उजाड देने से कितना भारी नुकसान हुआ है। इस जगल की जमीन पर १५,००० भेडा को चराया जा सकता था, और यह स्कोटलैण्ड की जगलों वाली पुरानी जमीन के ३० वें हिस्से से अधिक नही थी इत्यादि जगलो की यह

दूसरी ओर, इन लोगो को उनके जीवन के परम्परागत ढग से यकायक अलग कर दिया गया था, और यह मुमकिन न था कि उनके नये ढग के जीवन के लिये आवश्यक अनुशासन भी उनमें उतने ही यकायक ढग से पैदा हो जाता। चुनाचे इन लोगो की एक विशाल सख्या भिखारियो, डाकुओ और आवारा लोगो में बदल गयी। यह कुछ हद तक उनकी अपनी प्रवृत्तियो का और कुछ हद तक परिस्थितियो का परिणाम था। अतएव १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनो में और १६ वीं शताब्दी में लगातार सारे पश्चिमी योरप में आवारागर्दी को रोकने के लिये अत्यन्त निर्मम क़ानून बनाये गये। वतमान मजदूर-वर्ग के पूर्वजो को इस बात का दण्ड दिया गया कि उनको दूसरो ने जबदस्ती आवारा और मुहताज बना दिया था। क़ानून उनके साथ ऐसा व्यवहार करता था, जसे वे अपनी इच्छा से अपराधी बन गये हो, और यह मानकर चलता था कि जो परिस्थितिया अब रह नहीं गयी थीं, उन्हीं में काम करते रहना केवल उनकी अपनी भलमनसाहत पर निर्भर करता था।

इगलैण्ड में हेनरी सातवें के राज्य-काल में इस तरह के क़ानूनो का बनना आरम्भ हुआ।

हेनरी आठवें के राज्य-काल में १५३० में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार ऐसे भिखारियो को, जो बूढ़े हो गये थे और काम करने के लायक़ नहीं रह गये थे, भीख मागने का लाइसेस मिल जाता था। दूसरी ओर, हट्टे-कट्टे आवारा लोगो को कोडे लगाये जाते थे और जेलखानो में डाल दिया जाता था। कानून के अनुसार, इन लोगो को गाडी के पीछे बाधकर उस वक्त तक कोडे लगाये जाते थे, जब तक कि उनके बदन से खून नहीं बहने लगता था, और उसके बाद उनसे कसम खिलवायी जाती थी कि वे अपने जन्म-स्थान को लौट जायेंगे या उस जगह चले जायेंगे, जहा वे पिछले तीन साल से रह रहे थे, और वहा "श्रम करेंगे" ("put themselves to labour")। यह भी कसी भयानक विडबना थी! हेनरी आठवें के राज्य-काल के २७ वें वर्ष में एक क़ानून के द्वारा यह पुराना क़ानून बहाल कर दिया गया, और कुछ नयी धाराए पहले से भी कडी बना दी गयीं। नये क़ानून के अनुसार यदि कोई आदमी दूसरी बार आवारागर्दी के अपराध में पकडा जाता था, तो उसको एक बार फिर कोडे लगाये जाते थे और आधा कान काट डाला जाता था, और तीसरी बार पकडे जाने पर तो उसे एक पक्के अपराधी और समाज के शत्रु के रूप में फासी दे दी जाती थी।

एडवड छठे के राज्य-काल के प्रथम वर्ष – १५४७ – में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार यदि कोई आदमी काम करने से इनकार करता था, तो उसे उस व्यक्ति की गुलामी करनी पडती थी, जिसने उसके खिलाफ यह शिकायत की थी कि वह अपना समय काहिली में बिताता है। गुलाम के मालिक को उसे रोटी और पानी, पतला शोरबा और बचा-बचाया मास खाने को देना होता था। वह उससे किसी भी तरह का काम ले सकता था, चाहे वह काम कितना ही घिनौना क्यो न हो, और इसके लिये कोडे का और जजीरो का इस्तेमाल कर सकता था। यदि गुलाम काम से चौदह दिन ग़ैर-हाजिर रहता था, तो उसे जीवन भर की गुलामी की सजा दी जाती थी और उसके माथे या गाल पर गुलामी का "S" निशान दाग दिया जाता था। यदि वह तीसरी बार काम से भाग जाता था, तो उसको एक घोर अपराधी

सारी ज़मीन अब इस तरह से अनुत्पादक हो गयी है, मानो वह जमन सागर के जल में डूब गयी हो इस तरह के बनावटी बियाबानो और रेगिस्तानो का और फैलने से रोकने के लिये कानूनो को निर्णायक रूप से हस्तक्षेप करना चाहिये।"

क़रार देकर फांसी दे दी जाती थी। अपनी किसी भी अन्य व्यक्तिगत सम्पत्ति या पशु की तरह, मालिक गुलाम को बेच सकता था, वसीयत में दे सकता था और किराये पर उठा सकता था। यदि गुलाम अपने मालिकों के खिलाफ कुछ करने की कोशिश करते थे, तो उनको भी फांसी दे दी जाती थी। स्थानीय मजिस्ट्रेट सूचना मिलते ही ऐसे बदमाशों को पकड़ मंगवाते थे। यदि यह देखा जाता था कि कोई आवारा आदमी तीन दिन से कुछ नहीं कर रहा है, तो उसे उसके जन्म-स्थान पर ले जाया जाता था और लोहा लाल करके उसकी छाती पर आवारागर्दी का "V" चिह्न दाग़ दिया जाता था और फिर जंजीरों से जकड़कर उससे सड़क कुटवायी जाती थी या कोई और काम लिया जाता था। यदि आवारा आदमी अपने जन्म-स्थान का ग़लत पता बताता था, तो उसे जीवन भर इस स्थान की, वहां के निवासियों की और वहां की कोर्पोरेशन की गुलामी करनी पड़ती थी और उसके माथे पर गुलामी का "S" चिह्न दाग़ दिया जाता था। सभी व्यक्तियों को आवारा आदमियों के बच्चों को उठा ले जाने और शागिर्द मजदूरों के रूप में उनसे काम लेने का अधिकार था — लड़कों से २४ वर्ष की आयु तक और लड़कियों से २० वर्ष की आयु तक। यदि ये बच्चे भाग जाते थे तो उनको उपरोक्त आयु तक अपने मालिकों की गुलामी करनी पड़ती थी, जो इच्छा होने पर उनको जंजीरों में बांधकर रख सकते थे, कोड़े लगा सकते थे, आदि। हर मालिक अपने गुलाम के गले में, बांहों में या टांगों में लोहे का छल्ला डाल सकता था, ताकि गुलाम को ज्यादा आसानी से पहचाना जा सके और वह भाग न सके।[1] क़ानून के अन्तिम भाग में कहा गया है कि कुछ गरीब लोगों को ऐसा कोई भी स्थान या व्यक्ति नौकर रख सकता है, जो उनको खाने-पीने को देने को राजी हो और जो उनके लिये कोई काम निकाल सके। "Roundsmen" के नाम से, इस प्रकार के ग्राम-दासों से इंगलैण्ड में १९ वीं शताब्दी के काफ़ी वर्ष बीत जाने तक काम लिया जाता था।

एलिज़ाबेथ के राज्य-काल में १५७२ में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार १४ वर्ष से अधिक आयु के ऐसे भिखारियों को, जिनके पास लाइसेंस न हो, बुरी तरह कोड़े लगाये जाते थे और उनका बायां कान दाग़ दिया जाता था। इस दण्ड से वे केवल उसी हालत में छूट सकते थे, जब कोई आदमी उनको दो साल के लिये नौकर रखने को तैयार हो जाये। दोबारा पकड़े जाने पर, यदि उनकी उम्र १८ वर्ष से अधिक होती थी और कोई आदमी उनको दो साल के लिये नौकर रखने को राजी नहीं होता था, तो उनको फांसी दे दी जाती थी। और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उनको हर हालत में घोर अपराधी क़रार देकर मार डाला जाता था। इसी प्रकार कुछ और क़ानून भी बनाये गये जैसे एलिज़ाबेथ के राज्य-काल का १८ वां क़ानून (१३ वां अध्याय) और १५९७ का एक और क़ानून।

---

[1] *Essay on Trade etc* ('व्यापार आदि पर निबंध') [१७७०] के लेखक ने कहा है "मालूम होता है कि एडवर्ड छठे के राज्य-काल में अंग्रेज लोग सचमुच पूरी गम्भीरता के साथ उद्योगों को प्रोत्साहन देने और गरीबों से काम लेने लगे थे। इसका प्रमाण है एक उल्लेखनीय क़ानून, जिसमें कहा गया है कि सभी आवारागर्द लोगों को दाग़ दिया जायेगा, इत्यादि।" (उप० पु०, प० ५।)

[2] टोमस मोर ने अपनी रचना *Utopia* ('कल्पना-लोक') में लिखा है "इस प्रकार अक्सर यह देखने में आता है कि कोई लालची और पेटू आदमी, जिसके लोभ की कोई सीमा नहीं होती और जो अपनी मातृभूमि के लिये शाप के समान होता है, वह कई हज़ार

जेम्स प्रथम के राज्य-काल में यह विधान था कि यदि कोई आदमी आवारागर्दी करते हुए और भीख मागते हुए पाया जाता था, तो उसे बदमाश और आवारा घोषित कर दिया जाता था। स्थानीय मजिस्ट्रेटो (justices of the peace in petty sessions) को

एकड जमीन को एक बाडे के भीतर घेर लेता है, वहा रहने वाले काश्तकारो को उनकी जमीना से निकाल देता है और या तो धोखे और फरेब से, या जबदस्त अत्याचार के द्वारा उनको वहा से खदेड देता है, और या उनको इतना तग करता है और इतने दुख देता है कि वे थककर अपना सब कुछ बेच देने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार किसी न किसी तरकीब से, किसी न किसी हेराफेरी से, इन गरीब, जाहिल, अभागे मनुष्यो को इसके लिये मजबूर कर ही दिया जाता है कि तमाम स्त्री-पुरुष, पति पत्निया, अनाथ बच्चे, विधवायें और गोद में बालक उठाये हुए दुखियारी माताए और उनका सारा परिवार,—जिसकी हैसियत बहुत छोटी और सख्या बहुत बडी होती है, क्योकि काश्तकारी में बहुत काम करने वाला की जरूरत पडती है,—ये सारे लोग अपना घर-द्वार छोडकर निकल जायें। मै कहना हू कि ये लाग बेचारे एक बार अपना परम्परागत घर छोडने के बाद सदा इधर-उधर भटकते ही रहते है और उन्हे अपना सिर छिपाने के लिए भी कोई जगह नही मिलती। उनके घर के भारे सामान का मूल्य बहुत कम होता है, हालाकि फिर भी वह अच्छे दामा में बिक सकता था, मगर यकायक उठाकर घर के बाहर फेंक दिये जाने पर उनको मजबूर होकर उसे मिट्टी के मोल बेच देना पडता है। और इस तरह उन्ह जो चन्द पैसे मिलते हैं, जब वे पैसे इधर-उधर भटकते-भटकते सब खच हो जाते हैं, तो फिर वे इसके सिवा और क्या कर सकते हैं कि चोरी कर और सवथा न्यायोचित ढग से फासी पर लटक जायें और या भीख मागते हुए घमें? और उस हालत में भी उनको आवारा करार देकर जेल में डाला जा सकता है, क्योकि वे इधर-उधर घूमते हैं और काम नही करते, हालाकि सचाई यह है कि वे काम पाने के लिये चाहे जितना गिडगिडायें, उनको कोई आदमी काम नही देता।" इन खदेडे जाने वाले गरीबो में से, जिनको, टॉमस मोर के *कथनानुसार, मजबूर होकर चोरी करनी पडती थी*, हेनरी आठवें के राज्य काल में "७२,००० छोटे-बडे चोर जार से मार डाले गये थे"। (Holinshed, *Description of England* [हालिनशेड, 'इगलैण्ड का वणन'], खण्ड १, पृ० १८६।) एलिजाबेथ के काल में "बदमाशो को बडी मुस्तैदी के साथ फासी पर लटकाया जाता था, और आम तौर पर कोई साल ऐसा नही बीतता था, जब तीन या चार सौ आदमी फासी की भेंट न चढ जाते हा।" (Strype, '*Annals of the Reformation and Establishment of Religion, and other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth s Happy Reign* [स्ट्राइप, 'चच सुधार और धम-स्थापना का तथा रानी एलिजाबेथ के परम सुखदायी राज्य-काल में इगलैण्ड के चच से सम्बधित अय विभिन घटनाओ का इतिहास'], दूसरा सस्करण, १७२५, खण्ड २।) इसी लेखक—स्ट्राइप—के कथनानुसार, सोमरसेटशायर में एक साल में ४० व्यक्तियो को फासी दी गयी, ३५ डाकुओ का हाथ जला दिया गया, ३७ को कोडे लगाये गये और १८३ को "पक्के आवारा" करार देकर छोड दिया गया। फिर भी इस लेखक की राय है कि कैदियो की यह बडी सख्या वास्तविक अपराधियो की सख्या का पाचवा हिस्सा भी नही थी, क्योकि मजिस्ट्रट इस मामले में बडी लापरवाही दिखाते थे और लोग बाग अपनी मूखता के कारण इन बदमाशो पर तरस खाते थे, और इगलैण्ड की अय काउण्टियो की हालत इस मामले में सोमरसेटशायर से बेहतर नही थी, बल्कि कुछ की हालत तो और भी खराब थी।

इस बात का अधिकार दे दिया गया था कि वे ऐसे लोगों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगवायें और पहले अपराध के वास्ते छ महीने और दूसरे अपराध के वास्ते २ वर्ष तक जेल में बन्द कर दें। स्थानीय मजिस्ट्रेट उनको जेल के अन्दर जब चाहें, तब, और जितने चाहें, उतने कोड़े लगवा सकते थे जो बदमाश ज्यादा खतरनाक समझे जाते थे और जिनके सुधार की कोई आशा नहीं की जाती थी, उनके बायें कन्धे पर बदमाशी का "R" चिह्न दागकर उनको सख्त काम में जोत दिया जाता था, और यदि वे इसके बाद भी भीख मागते हुए पकड़े जाते थे, तो उनको निर्ममता के साथ फांसी दे दी जाती थी। ये क़ानून १८ वीं शताब्दी के आरम्भ तक लागू रहे और केवल उस समय रद्द हुए, जब रानी ऐन के राज्य-काल का १२ वां क़ानून (२३ वां अध्याय) बनाया गया।

फ्रांस में भी इसी तरह के क़ानून बनाये गये थे। यहां १७ वीं शताब्दी के मध्य में पेरिस में "आवारा लोगों का राज्य" ("royaume des truands") क़ायम किया गया था। लुई सोलहवें का राज्य-काल आरम्भ होने के समय भी (१३ जुलाई १७७७ को) यह कानून बना दिया गया कि १६ से ६० वर्ष तक की आयु का प्रत्येक ऐसा पुरुष, जिसके पास जीवन निर्वाह का कोई साधन नहीं है और जो कोई धंधा नहीं करता, युद्ध के बेड़े में काम करने के लिये भेज दिया जायेगा। नेदरलैण्ड्स के लिये चार्ल्स पाचवें ने इसी तरह का एक क़ानून (अक्तूबर १५३७ में) बनाया था, और हालैण्ड के राज्यों तथा नगरों के (१० मार्च १६१४ के) पहले आदेश में और सयुक्त प्रान्तों के (२६ जून १६४६ के) प्लाकाट में भी इसी प्रकार का नियम बनाया गया था, इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार, खेती करने वाले लोगों की सब से पहले जबर्दस्ती जमीनें छीनी गयीं, फिर उनको उनके घरों से खदेड़ा गया, आवारा बनाया गया और उसके बाद उनको निर्मम और भयानक क़ानूनों का उपयोग करके कोड़े लगाये गये, दहकते लोहे से दागा गया, तरह-तरह की यातनाएं दी गयीं और इस प्रकार उनको मजदूरी की प्रणाली के लिये आवश्यक अनुशासन सिखाया गया।

केवल इतना ही काफी नहीं है कि समाज के एक छोर पर श्रम के लिये आवश्यक तमाम चीजें पूजी की शकल में केन्द्रित हो जाती है और दूसरे छोर पर मनुष्यों की वह विशाल संख्या एकत्रित हो जाती है, जिसके पास अपनी श्रम शक्ति के सिवा और कुछ बेचने को नहीं होता। न ही यह काफी है कि वे अपनी श्रम-शक्ति को स्वेच्छा से बेचने के लिये मजबूर होते है। पूजीवादी उत्पादन की प्रगति एक ऐसे मजदूर-वर्ग का विकास करती है, जो अपनी शिक्षा, परम्परा और अभ्यास के कारण उत्पादन की इस प्रणाली की आवश्यकताओं को प्रकृति के स्वतःस्पष्ट नियमों के समान समझने लगता है। जब पूजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का सगठन एक बार पूर्णतया विकसित हो जाता है, तो फिर वह सारे प्रतिरोध को खतम कर देता है। सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का निरन्तर उत्पादन श्रम की पूर्ति और माग के नियम को और इसलिये मजदूरी को एक ऐसी लीक में फसाये रखता है, जो पूजी की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। आर्थिक सम्बन्धों का भोंडा दबाव मजदूर को पूरी तरह पूजीपति के अधीन बना देता है। आर्थिक परिस्थितियों के अलावा कुछ प्रत्यक्ष बल प्रयोग अब भी किया जाता है, लेकिन केवल अपवाद के रूप में। साधारणतया मजदूर को "उत्पादन के प्राकृतिक नियमों" के भरोसे छोड़ा जा सकता है, अर्थात उसको पूजी पर निर्भरता के भरोसे छोड़ा जा सकता है, जो निर्भरता स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है और जो उन

परिस्थितियो के रहते हुए कभी नहीं मिट सकती। परन्तु पूजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक जन्म-काल में परिस्थिति इससे भिन्न होती है। अपने उभार के काल में पूजीपति-वर्ग को मजदूरी का "नियमन" करने के लिये, अर्थात् उसको जबर्दस्ती कम करके ऐसी सीमाओ के भीतर रखने के लिये, जो अतिरिक्त मूल्य बनाने के लिये सहायताजनक हो, काम के दिन को लम्बा करने के लिये और खुद मजदूर की सामान्य परवशता को बनाये रखने के लिये राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है और वह उसका प्रयोग भी करता है। तथाकथित आदिम सचय का यह एक अत्यन्त आवश्यक तत्व है।

१४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के जिस वर्ग का जन्म हुआ था, वह उस समय और अगली शताब्दी में भी आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा था। देहात में भूमि के स्वामी स्वतत्र किसानो के कारण और शहरो में शिल्पी सघो के कारण वह पूरी तरह सुरक्षित था। देहात में और शहरो में सामाजिक दृष्टि से मालिक और मजदूर की हैसियत में कोई विशेष फर्क नहीं था। पूजी के सम्बध में श्रम की अधीनता केवल औपचारिक ढग की थी,—अर्थात् खुद उत्पादन की प्रणाली ने अभी कोई विशिष्ट पूजीवादी रूप धारण नहीं किया था। स्थिर पूजी के मुकाबले में अस्थिर पूजी का पलडा बहुत भारी था। इसलिये पूजी के प्रत्येक सचय के साथ मजदूरो की माग बढती जाती थी, जब कि उनकी पूर्ति केवल धीरे-धीरे बढ़ रही थी। राष्ट्रीय पदावार का एक बडा हिस्सा, जो बाद को पूजीवादी सचय के कोष में परिणत हो गया, अभी तक मजदूर के उपभोग के कोष का ही भाग बना हुआ था।

इगलण्ड में मजदूरो के बारे में क़ानून बनाने की शुरुआत १३४९ में हुई थी, जब एडवर्ड तृतीय के राज्य काल में Statute of Labourers (मजदूरो का परिनियम) बनाया गया था (इन क़ानूनो का उद्देश्य शुरू से ही मजदूर का शोषण करना था और प्रत्येक काल में उनका स्वरूप समान रूप से मजदूर विरोधी रहा)।[1] १३५० में राजा जान के नाम से फ्रास में जो फरमान जारी हुआ था, वह भी इसी प्रकार का था। इगलैण्ड और फ्रास के क़ानून समानान्तर चलते हैं और उनका अभिप्राय भी एक सा रहता है। जहा तक मजदूर-क़ानूनों का उद्देश्य काम के दिन को लम्बा करना था, म इस विषय की पुन चर्चा नहीं करूगा, क्योकि उसपर पहले ही (दसवें अध्याय के अनुभाग ५ में) विचार किया जा चुका है।

Statute of Labourers (मजदूरों का परिनियम) हाउस आफ कामन्स के बहुत जोर देने पर पास किया गया था। एक अनुदार-दली लेखक ने बडे भोलेपन के साथ कहा है "पहले ग़रीब लोग इतनी ऊची मजदूरी मागा करते थे कि उद्योग और धन-सम्पदा के लिये खतरा पदा हो गया था। अब उनकी मजदूरी इतनी कम हो गयी है कि उद्योग और धन-सम्पदा के लिये फिर वैसा ही और शायद उससे भी बडा खतरा पैदा हो गया है, मगर यह

---

[1] ऐडम स्मिथ के अनुसार, "जब कभी विधान सभा मालिको और उनके मजदूरो के मतभेदो का नियमन करने का प्रयत्न करती है, तब सदा मालिक ही उसके परामर्शदाताओ का काम करते है।" लिगुएत ने कहा है L'esprit des lois c'est la propriété ("कानूनो की आत्मा है सम्पत्ति!")।

ख़तरा एक दूसरे रूप में सामने आता है।"[1] कानून बनाकर तै कर दिया गया कि शहर और देहात में कार्यानुसार मजदूरी और समयानुसार मजदूरी की क्या दरें रहनी चाहियें। खेतिहर मजदूरों के लिये निश्चय हुआ कि वे पूरे साल के लिये नौकर हुआ करेंगे, और शहरी मजदूरों के लिये तै हुआ कि वे किसी भी अवधि के लिये "खुली मण्डी में" अपनी श्रम शक्ति को बेचेंगे। कानून के द्वारा मजदूरी की जो दरें निश्चित कर दी गयी थीं, उनसे अधिक मजदूरी देने की मनाही कर दी गयी और ऐलान कर दिया गया कि इस अपराध के लिये सजा दी जायेगी। लेकिन निश्चित दर से अधिक मजदूरी लेने वालों के लिये देने वालों से अधिक कड़ी सजा का विधान किया गया था। (इसी प्रकार, एलिजाबेथ के राज्य काल में सीखतर मजदूरों का जो कानून बनाया गया था, उसकी १८ वीं और १९ वीं धाराओं में निश्चित दर से अधिक मजदूरी देने वालों के लिये दस दिन की क़ैद का विधान था, पर लेने वालों के लिये इक्कीस दिन की कैद निश्चित की गयी थी।) १३६० में एक क़ानून बनाकर इन सजाओं को और बढ़ा दिया गया और मालिकों को यह अधिकार दे दिया गया कि क़ानूनी दर पर श्रम लेने के लिये वे मजदूरों को मार-पीट भी सकते हैं। राजगीर और बढ़ई का काम करने वालों ने विभिन्न प्रकार के संयोजनों के द्वारा, आपस में करार करके या कसमें आदि खाकर अपने को एकजुट कर रखा था। इस तरह की तमाम चीजों को गैर-कानूनी क़रार दे दिया गया। १४ वीं शताब्दी से १८२५ तक, जब कि मजदूर-यूनियनों पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों को मंसूख किया गया, मजदूरों का संगठन करना एक भयानक अपराध समझा जाता था। १३४९ के मजदूरों के परिनियम तथा उसमें से फूटने वाली अनेक शाखा-प्रशाखाओं की मूल भावना इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि राज्य अधिकतम मजदूरी तो हमेशा निश्चित कर देता था, पर अल्पतम मजदूरी किसी हालत में निर्धारित नहीं करता था।

जैसा कि हमें मालूम है, १६ वीं शताब्दी में मजदूरों की हालत बहुत ज्यादा खराब हो गयी थी। नकद मजदूरी बढ़ी, पर उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में मुद्रा का मूल्य कम हो गया था या जिस अनुपात में मालों के दाम बढ़ गये थे। इसलिये, असल में, मजदूरी पहले से कम हो गयी थी। फिर भी मजदूरी को बढ़ने से रोकने वाले सारे कानून ज्यों के त्यों लागू रहे, और "जिनको कोई भी आदमी नौकर रखने को तैयार नहीं था", उनके पहले की तरह अब भी कान काटे जाते थे और उनको लाल लोहे से दाग़ा जाता था। एलिजाबेथ के राज्य काल के ५ वें वर्ष में सीखतर मजदूरों का जो क़ानून पास हुआ था, उसके तीसरे अध्याय के द्वारा स्थानीय मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे कुछ खास तरह के मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर सकते हैं और मौसम तथा मालों के दामों का खयाल रखते हुए उनमें हेर-फेर कर सकते हैं। जेम्स प्रथम ने श्रम के इन तमाम नियमों को बुनकरों, कताई करने वालों और प्रत्येक सम्भव कोटि के मजदूरों पर लागू कर दिया।[2] जार्ज द्वितीय ने

---

[1] '*Sophisms of Free Trade. By a Barrister*' ('स्वतंत्र व्यापार के कूट तर्कों का एक बैरिस्टर द्वारा विवेचन'), London 1850 पृ० २०६। इसके आगे वह बड़े तीखे ढंग से कहते हैं "मालिकों के हित में तो हम तत्काल हस्तक्षेप करने को तैयार हो गये थे, अब क्या काम करने वालों के हित में कुछ नहीं किया जा सकता?" (पृ० २३६)।

[2] जेम्स प्रथम के राज्य-काल के दूसरे कानून (अध्याय ६) की एक धारा से पता चलता है कि कपड़ा तैयार करने वाले कुछ कारखानेदारों ने स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में खुद अपने

मजदूरों के संगठनों पर प्रतिबंध लगाने वाले क़ानूनों को हस्तनिर्माणों पर भी लागू कर दिया।

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, उस काल में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली इतनी काफी मजबूत हो गयी थी कि मजदूरी का कानून बनाकर नियमन करना जितना अनावश्यक, उतना ही अव्यावहारिक भी हो गया था। लेकिन शासन करने वाले वर्ग इसके लिये तैयार नहीं थे कि जरूरत के वक्त इस्तेमाल करने के लिये भी उनके तरकश में ये पुराने तीर न रहें। इसलिये, जार्ज दूसरे के ८ वें कानून के अनुसार लंदन में और आस-पास दर्जीगीरी का काम करने वाले मजदूरों को २ शिलिंग ७$\frac{१}{२}$ पेन्स से अधिक मजदूरी देने की मनाही कर दी गयी थी। केवल सामान्य शोक के समय ही इससे अधिक मजदूरी दी जा सकती थी। जार्ज तीसरे के राज्य-काल के १३ वें वर्ष में बनाये गये एक कानून के ६८ अध्याय के मातहत रेशम की बुनाई करने वाले मजदूरों की मजदूरी का नियमन करने की जिम्मेदारी स्थानीय मजिस्ट्रेटों को दे दी गयी थी। उसके भी बाद, १७६६ में, उच्चतर न्यायालयों के दो निर्णयों के बाद कहीं यह प्रश्न तै हो पाया था कि स्थानीय मजिस्ट्रेटों का मजदूरी का नियमन करने का अधिकार ग़ैर-खेतिहर मजदूरों पर भी लागू होता है या नहीं। इसके भी बाद, १७६६ में, संसद ने एक कानून बनाकर यह आदेश दिया था कि स्काट खान-मजदूरों की मजदूरी का नियमन एलिजाबेथ के परिनियम और १६६१ तथा १६७१ के दो स्काट कानूनों

कारखानों में जबर्दस्ती सरकारी तौर पर मजदूरी की दरें निश्चित कर दी थीं। जर्मनी में, खास कर तीसवर्षीय युद्ध के बाद, मजदूरी को बढ़ने से रोकने के लिये कानून बनाना एक आम बात थी। "उजड़े हुए इलाकों में नौकरों और मजदूरों की कमी से भू-स्वामियों को बहुत कष्ट हो रहा था। चुनांचे तमाम गांववालों को आदेश दिया गया कि अविवाहित पुरुषों और स्त्रियों को कोठरियां किराये पर मत दो, बल्कि इन सब की अधिकारियों को सूचना दो। यदि ये लोग नौकरी करने को राजी नहीं होंगे, तो उनको जेल में डाल दिया जायेगा। अगर वे कोई और काम कर रहे हैं,—मान लीजिये, वे किसानों से रोजाना मजदूरी लेकर बुवाई कर रहे हैं या अनाज की खरीदारी और बिक्री कर रहे हैं,—तो भी यह नियम लागू होगा।" (*Kaiserliche Privilegien und Sanctionen für Schlesien* ['साइलीसिया के लिये सम्राट् के विशेष आदेश और आज्ञाएं'], खण्ड १,२५।) "छोटे छोटे जर्मन राजाओं के आदेशों में पूरी एक शताब्दी तक हमें बार-बार यह कटु शिकायत सुनने को मिलती है कि बदमाश और बदतमीज लोगों की भीड़ अपने फूटे हुए भाग्य पर सब्र करके नहीं बैठती और कानूनी मजदूरी से संतोष नहीं करती। राज्य ने जो दरें निश्चित कर दी थीं, कोई भू-स्वामी व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक मजदूरी नहीं दे सकता था। और फिर भी युद्ध के बाद नौकरी की शर्तें कभी कभी इतनी अच्छी होती थीं कि उसके सौ वर्ष बाद भी उतनी अच्छी शर्तों पर नौकरी नहीं मिलती थी। १६५२ में साइलीसिया के खेत मजदूरों को हफ्ते में दो बार खाने को मांस मिल जाता था, जब कि हमारी वर्तमान शताब्दी में ऐसे इलाके भी हैं, जहां खेत मजदूरों को वर्ष में केवल तीन बार ही मांस मिलता है। इसके अलावा, युद्ध के बाद मजदूरी भी अगली शताब्दी की तुलना में ऊंची थी।" (G. Freytag, *'Neue Bilder aus dem Leben des deutschen Volkes*, Leipzig 1862, पृ० ३४, ३५।)

के अनुसार ही होता रहेगा। इस बीच परिस्थिति में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया था, यह इगलैण्ड के हाउस ग्राफ कामन्स की एक अभूतपूर्व घटना से स्पष्ट हो जाता है। वहा चार सौ वर्षों से अधिक समय से अधिकतम मजदूरी निर्धारित करने वाले कानून बनाये जा रहे थे, जिनके द्वारा तै कर दिया जाता था कि मजदूरी किसी भी हालत में अमुक दर से ऊपर नहीं उठ पायेगी। पर इसी हाउस ग्राफ कामन्स में १७९६ में व्हाइटब्रेड ने खेतिहर मजदूरो के लिये एक अल्पतम मजदूरी निश्चित करने का प्रस्ताव किया। पिट ने इसका विरोध किया, मगर यह स्वीकार किया कि "गरीबों की हालत सचमुच बहुत खराब (cruel) है"। अन्त में, १८१३ में मजदूरी का नियमन करनेवाले क़ानून रद्द कर दिये गये। अब वे एक हास्यास्पद असगति प्रतीत होते थे, क्योकि पूजीपति अपने निजी कानूनो द्वारा अपनी फैक्टरी का नियमन करता था और खेतिहर मजदूरो की मजदूरी को गरीबो को मिलने वाली सार्वजनिक सहायता के द्वारा अपरिहार्य अल्पतम स्तर पर पहुचा सकता था। श्रम के परिनियमो की वे धाराए आज भी (१८७३ में) पूरी तरह लागू है, जिनका मालिको तथा मजदूरो के क़रार, नोटिस देने की आवश्यकता और इसी प्रकार की अन्य बातों से सम्बध है। इन धाराओ के अनुसार मालिक के करार तोडने पर उसके खिलाफ केवल दीवानी कारवाई ही की जा सकती थी, लेकिन, इसके विपरीत, करार तोडने वाले मजदूर के खिलाफ फौजदारी कारवाई हो सकती थी।

मजदूर-यूनियनो पर प्रतिबध लगाने वाले बर्बर कानून क्रुद्ध सर्वहारा के डर से १८२५ में रद्द कर दिये गये। फिर भी उनको केवल आशिक रूप में ही समाप्त किया गया। पुराने परिनियम के कुछ सुदर अश १८५९ तक लागू रहे। अन्त में, २९ जून १८७१ को ससद ने एक क़ानून के द्वारा मजदूर-यूनियनो को कानूनी स्वीकृति देकर इस प्रकार के क़ानूनो के अतिम अवशेषों को भी मिटा देने का ढोंग रचा। परन्तु असल में उसी तारीख को एक और क़ानून (an act to amend the criminal law relating to violence threats and molestation [वह कानून, जिसके द्वारा हिंसा, धमकियो और हमलो से सम्बधित कानून में सशोधन किया गया था]) बनाकर पुरानी परिस्थिति को एक नये रूप में पुन स्थापित कर दिया गया। इस ससदीय बाजीगरी के जरिये मजदूर हडताल या तालाबन्दी के समय जिन साधनो का प्रयोग कर सकता था, उनको सभी नागरिको पर सामान्य रूप से लागू होने वाले कानूनो के क्षेत्र से हटाकर कुछ असाधारण दण्ड सम्बधी क़ानूनो के अधीन कर दिया गया तथा इन क़ानूनो की व्याख्या करने का अधिकार स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में खुद मालिकों को ही प्राप्त हुआ। इसके दो वर्ष पहले इसी हाउस ग्राफ कामन्स में और इन्हीं मि० ग्लेडस्टन ने अपने सुपरिचित स्पष्टवादी ढग से मजदूर-वर्ग के खिलाफ बनाये गये असाधारण दण्ड सम्बधी तमाम कानूनो को रद्द करने के लिये एक बिल पेश किया था। परन्तु उस बिल को द्वितीय पठन के आगे नहीं बढ़ने दिया गया, और यह उस वक्त तक खटाई में पडा रहा, जब तक कि "महान उदार दल" ने अनुदार दल के साथ गठबधन करके उसी सर्वहारा का विरोध करने का साहस नहीं कर लिया, जिसके बल पर यह सत्ता प्राप्त करने में सफल हुआ था। "महान उदार दल" को इस विश्वासघात से भी सतोष नहीं हुआ। उसने अंग्रेज न्यायाधीशो को, जो शासक वर्गों की सेवा के लिये सदव प्रस्तुत रहते हैं, "षड्यन्त्र" और "साजिश" रोकने के लिये बनाये गये पुराने कानूनों को फिर से खोदकर निकालने और मजदूरों के सगठनों के खिलाफ इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। इस तरह हम देखते है कि इगलण्ड की ससद ने, ५०० वर्ष तक

अत्यन्त भद्दवादी निर्लज्जता के साथ खुद मजदूरो के खिलाफ पूजीपतियो की एक स्थायी यूनियन के रूप में काम करने के बाद, केवल अपनी इच्छा के विरुद्ध और जनता के दबाव से मजबूर होकर ही हडतालो और मजदूर-यूनियनो के खिलाफ बनाये गये क़ानूनो को रद्द किया था।

फ्रास के पूजीपति-वर्ग ने क्रान्ति की पहली आधी उठने के समय ही मजदूरो से सगठन का कुछ ही समय पहले प्राप्त अधिकार छीन लेने का दुस्साहस किया था। १४ जून १७६१ के एक अध्यादेश के द्वारा मजदूरो के तमाम सगठनो को "स्वतन्त्रता तथा मनुष्य के अधिकारो की घोषणा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न" क़रार दे दिया गया और ऐलान कर दिया गया कि ऐसे प्रत्येक प्रयत्न के लिये ५०० लिव्र जुर्माना किया जायेगा और अपराधी व्यक्ति से एक वष के लिये सक्रिय नागरिक के समस्त अधिकार छीन लिये जायेंगे।[1] यह कानून, जिसने राज्य की शक्ति का प्रयोग करके, पूजी और श्रम के सघर्ष को पूजी के लिये सुविधाजनक सीमाओ के भीतर सीमित कर दिया था, अनेक क्रातियो और राजवशो के परिवर्तनो के बावजूद जीवित रहा। यहां तक कि "आतक का शासन" भी उसे नहीं छू पाया। यह कानून केवल अभी हाल में रद्द हुआ है। इस पूजीवादी सत्ता विपयय के लिये जो बहाना बनाया गया, वह बहुत अयपूर्ण है। इस क़ानून के सम्बध में बनायी गयी प्रवर समिति की ओर से रिपोर्ट पेश करते हुए शपेलिये ने कहा था "यह मानते हुए भी कि आजकल जितनी मजदूरी मिलती है, उससे थोडी ज्यादा मिलनी चाहिये, और वह जिसको दी जाती है, उसके लिये पर्याप्त होनी चाहिये, ताकि वह व्यक्ति नितान्त परवशता की उस अवस्था में न पहुच जाये, जो

---

[1] इस कानून की पहली धारा इस प्रकार है L aneantissement de toute espece de corporations du meme etat et profession etant l une des bases fondamentales de la *constitution française il est defendu de les retablir de fait sous quelque* pretexte et sous quelque forme que ce soit ("समान सामाजिक स्तर और पशे के लोगा के हर प्रकार के सगठनो को नष्ट कर देना चूकि फ्रासीसी विधान का एक मूलाधार है, इसलिये ऐसे सगठना की किसी भी बहाने से और किसी भी रूप मे पुनर्स्थापना करने पर प्रतिबध लगा दिया जाता है")। चौथी धारा में कहा गया है कि यदि 'des citoyens attaches aux mêmes professions, arts et metiers prenaient des deliberations, faisaient entre eux des conventions tendantes a refuser de concert ou a n accorder qu a un prix determine le secours de leur industrie ou de leurs travaux les dites deliberations et conventions seront declarees inconstitutionnelles attentatoires a la *liberte et a la declaration des droits de l homme* &c" ("समान धधा, कलाओ या व्यवसाया मे लगे हुए नागरिक अपने उद्योग अथवा अपने श्रम के रूप मे सहायता देने से इनकार करने के उद्देश्य से या केवल एक निश्चित दाम के एवज मे बेचने के उद्देश्य से आपस में विचार विनिमय करेगे या कोई समझौता करेगे, तो उस प्रकार के प्रत्येक विचार विनिमय और समझौते को अवैध घोषित कर दिया जायेगा और उसे स्वतत्रता तथा मनुष्य के अधिकारो की घोषणा पर आक्रमण समझा जायेगा, इत्यादि")। असल मे पुराने मजदूर-कानूना की ही भाति इस कानून के द्वारा भी मज़दूर-सगठन को एक घोर अपराध करार दे दिया गया था। (*'Revolutions de Paris* Paris 1791, ग्रथ ३, पृ० ५२३।)

जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ के अभाव के कारण पदा हो जाती है और जो लगभग दासता के समान होती है," —यह सब मानते हुए भी मजदूरो को खुद अपने हितो के बारे में आपस में समझौता करने या कोई सयुक्त कार्रवाई करने की और इस तरह अपनी उस "नितान्त परवशता" को कम करने की इजाजत नहीं देनी चाहिये, "जो लगभग दासता के समान होती है," क्योकि ऐसा करके मजदूर असल में "अपने भूतपूर्व मालिको और वर्तमान उद्यमकर्ताओ" को हानि पहुचायेंगे" और क्योकि शिल्पी सघो के भूतपूर्व मालिको की निरकुशता का मिलकर विरोध करना—जरा बताइये तो, वह क्या है?—उन शिल्पी सघो की पुनर्स्थापना करना है, जिनको फ्रासीसी विधान ने भग कर दिया है।[1]

---

[1] Buchez et Roux, "*Histoire Parlementaire*, खण्ड १०, पृ० १९५।

उन्तीसवा अध्याय

पूजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति

इस विषय पर हम विचार कर चुके ह कि जिनको किसी भी कानून का सरक्षण नहीं प्राप्त था, ऐसे सर्वहारा व्यक्तियो के वर्ग को किस तरह जबदस्ती पदा किया गया था। हम उस बबर अनुशासन का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसके द्वारा इन लोगो को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में बदल दिया गया था। और हम यह भी देख चुके ह कि श्रम के शोषण की मात्रा को बढाकर पूजी के सचय में तेजी लाने के उद्देश्य से राज्य ने कितने निलज्ज ढग से अपनी पुलिस का इस्तेमाल किया था। अब केवल यह प्रश्न रह जाता है कि इन पूजीपतियो की शुरू में कसे उत्पत्ति हुई थी? कारण कि खेतिहर आबादी की सम्पत्ति के अपहरण से प्रत्यक्ष रूप में केवल बडे-बडे भू-स्वामियो का ही जन्म होता है। लेकिन जहा तक पूजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति का सम्बध है, हम उसके रहस्य का भी पता लगा सकते ह, क्योकि वह एक बहुत ही धीमी क्रिया थी, जिसमें कई शताब्दिया लग गयी थीं। छोटे छोटे स्वतत्र भू-स्वामियो की तरह कृषि-दासो को भी अनेक प्रकार की शर्तों पर भूमि मिली हुई थी, और इसलिये उनको बहुत भिन्न प्रकार की आर्थिक परिस्थितियो में कृषि दासता से मुक्ति प्राप्त हुई।

इगलण्ड में काश्तकार का पहला रूप bailiff (कारिन्दे) का था, जो खुद भी कृषि-दास था। उसकी स्थिति प्राचीन रोम के villicus की स्थिति से मिलती-जुलती थी, हालाकि उसका काय-क्षेत्र अधिक सीमित था। १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका स्थान एक ऐसे काश्तकार ने ले लिया, जिसको बीज, ढोर और औजार जमींदार से मिल जाते थे। उसकी हालत किसान की हालत से बहुत भिन्न नहीं थी। अतर केवल इतना था कि वह किसान की अपेक्षा मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो के श्रम का अधिक शोषण करता था। शीघ्र ही वह "metayer --या बटाई पर खेती करने वाला किसान--बन गया, जो एक तरह से आधा काश्तकार होता था। खेती में कुछ पूजी वह और कुछ जमींदार लगाता था। कुल उपज को दोनो क़रार में निश्चित अनुपात के अनुसार बाट लेते थे। इगलण्ड में यह रूप भी शीघ्र ही खत्म हो गया, और उसकी जगह वास्तविक काश्तकार ने ले ली, जो मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो को नौकर रखकर खुद अपनी पूजी का विस्तार करता है और अतिरिक्त पदावार का एक भाग जिन्स या मुद्रा के रूप में जमींदार को बतौर लगान के दे देता है।

१५ वीं शताब्दी में, जब तक स्वतत्र किसान और आशिक रूप में मजदूरी के एवज में और आशिक रूप में खुद अपने लिये काम करने वाला खेतिहर मजदूर खुद अपने श्रम से अपना धन बढ़ाते रहे, तब तक काश्तकार की आर्थिक हालत कभी बहुत अच्छी नहीं हुई और उसका उत्पादन का क्षेत्र भी बहुत नहीं बढ पाया। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम ततीस वर्षों में जो

कृषि क्रान्ति आरम्भ हुई और जो १६ वीं शताब्दी में (उसके अतिम दशक को छोडकर) लगभग बराबर जारी रही, उसने आम खेतिहर आबादी को जितनी जल्दी गरीब बनाया, उतनी ही जल्दी काश्तकार को धनी बना दिया।[1]

सामूहिक जमीन के अपहरण से उसे लगभग एक पसा खर्च किये बिना अपने पशुओ की सख्या बढाने का मौका मिला और पशुओ की बढी हुई सख्या से उसे अपनी धरती को उपजाऊ बनाने के लिये पहले से कहीं अधिक खाद मिलने लगी। १६ वीं शताब्दी में एक बहुत महत्वपूण तत्व इसके साथ जुड गया। उस जमाने में फार्मों के पट्टे बहुत लम्बी अवधि के लिये, और ६६ वष के लिये, लिखे जाते थे। बहुमूल्य धातुओ के मूल्य में और इसलिये मुद्रा के मूल्य में उत्तरोत्तर गिराव आते जाने से काश्तकारो की चादी हो गयी। ऊपर हम जिन विभिन्न कारणो की चर्चा कर चुके है, उन कारणो के अलावा इस कारण से भी मजदूरी की दर कम हो गयी। अब मजदूरी *का एक भाग फार्म के मुनाफे में जुड गया।* अनाज, ऊन, मास और सक्षेप में कहें, तो खेती की हर तरह की पदावार के दाम लगातार बढते जा रहे थे। उसका फल यह हुआ कि काश्तकार के किसी यत्न के बिना ही उसकी नकद पूजी में बहुत इजाफा हो गया। और उसे जो लगान देना पडता था, वह चूकि मुद्रा के पुराने मूल्य के अनुसार ही लिया जाता था, इसलिये वह असल में कम हो गया।[2] इस प्रकार, काश्तकार लोग अपने मजदूरो और जमींदारो, दोना

---

[1] हैरिसन ने अपनी रचना *Description of England* ('इगलैण्ड का वणन') में कहा है कि "पुराना लगान, सम्भव है, चार पौण्ड से वढकर चालीस पौण्ड हो गया हो, पर यदि वष के अत मे काश्तकार के पास छ या सात साल का लगान – पचास या सौ पौण्ड नहीं वच रहते, तो वह समझेगा कि उसे बहुत कम लाभ हुआ है।"

[2] १६ वी शताब्दी मे मुद्रा के मल्य-ह्रास का समाज के विभिन्न वर्गो पर क्या प्रभाव पडा, इसके विषय में *A Compendious or Briefe Examination of Certayne Ordinary Complaints of Divers of our Countrymen in these our Days By W S Gentleman* ['हमारे विभिन्न देशवासियो की वतमान काल की कुछ साधारण शिकायतो का सारभूत अथवा सक्षिप्त विवेचन।' – डब्लयू० एस०, जैटिलमैन, द्वारा लिखित।] (London 1581) दखिये। यह रचना सवाद के रूप मे लिखी गयी है। इसलिये बहुत समय तक लोगो का यह विचार रहा कि उसके रचयिता शेक्सपियर है, और यहा तक कि १७५१ में भी वह शेक्सपियर के नाम से प्रकाशित हुई थी। वास्तव मे उसके लेखक विलियम स्टैफ्ड थे। इस पुस्तक में एक स्थल है, जहा सूरमा सरदार (knight) इस प्रकार तक करता है

सूरमा सरदार "आप, मेरे पडोसी, जो काश्तकारी करते हैं, और आप, जो कपडे का व्यापार करते है, और आप भी, जो कसेरे है, तथा अय सब कारीगर, आप सब खूब कमा रहे है। क्योकि तमाम चीजें पहले के मुकाबले में जितनी महगी हो गयी हैं, आपने अपने सामान के दाम और अपनी सेवाओ के दाम, जिहे आप फिर बेच देते है, उतने ही बढा दिये है। लेकिन हमारे पास तो ऐसी कोई भी चीज बेचने के लिये नही है, जिसके दाम बढाकर हम उन चीजो के बढे हुए दामो की क्षति-पूर्ति कर लेते, जो हमे अवश्य ही फिर खरीदनी पडेंगी।" एक और स्थल है, जहा सूरमा सरदार डाक्टर से पूछता है "कृपा करके यह तो बताइये कि वे कौन लोग है, जिनका आप जिक्र कर रहे हैं। और सबसे पहले, वे लोग कौनसे है, जिनके धधे में, आपके विचार से, नुकसान नही हो सकता?" – डाक्टर "मेरा

का गला काटकर अधिकाधिक धनी बनते गये। अत कोई आश्चय नहीं, यदि १६ वीं शताब्दी के अत तक इगलण्ड में पूजीवादी काश्तकारो का एक ऐसा वग तयार हो गया था, जो उस काल की परिस्थितियो को देखते हुए काफी धनी था।[1]

मतलव उन लोगा से है, जो क्रय विक्रय करके जीविका कमाते हैं, क्याकि वे जितना महगा खरीदते हैं, उतना ही महगा बेचते हैं।" – **सूरमा सरदार** "और कौन लाग हैं, जो, आप कहते हैं, फायदे में रहगे?" – **डाक्टर** "वाह! अरे, वे सब लोग, जिनको पुराने लगान पर जमीन जोतने के लिये मिली हुई है, क्याकि वे लगान देते हैं पुरानी दर के मुताबिक और बेचते हैं नयी दर के अनुसार। यानी अपनी ज़मीन की उन्हे बहुत सस्ती कीमत देनी होती है और उसपर जो तमाम चीज़ें पैदा हाती हैं, उन्हे वे बहुत महगी बेचते हैं" – **सूरमा सरदार** "और, आपके कहने के मुताबिक, इन लोगा को जितना मुनाफा होता है, उससे ज्यादा जिनका नुकसान हो रहा है, वे लाग कौनसे हैं?" – **डाक्टर** "वे हैं ये सारे अभिजात वग के लोग, भद्र पुरुष और वे सब, जो या तो एक निश्चित लगान या एक निश्चित वेतन के सहारे रहते हैं, या जो ज़मीन का नही जातते, या जो क्रय-विक्रय नही करते।"

[1] फ्रास मे regisseur जो मध्य युग के शुरू के दिना में सामन्ती प्रभुआ का मुनीम, कारिदा और लगान जमा करने वाला गुमाश्ता भी था, शीघ्र ही homme d affaires (व्यवसायी व्यक्ति) बन गया, और नोच खसोट, धोखाधडी आदि के जरिये अपनी थैलिया भरकर पूजीपति बन बैठा। इन regisseurs में से कुछ गुमाश्ते तो खुद भी कभी अभिजात वग के थे। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित उद्धरण देखिये 'C est li compte que messire Jacques de Thoraine chevalier chastelain sor Besançon rent es seigneur tenant les comptes a Dijon pour monseigneur le duc et comte de Bourgoigne des rentes appartenant a la dite chastellenie depuis xxve jour de decembre MCCCLIX jusqu au xxviiie jour de decembre MCCCLX [बेसाका के दुगपति सरदार श्री जैक दे थारेन ने दिजा मे बगदी के डयक और काउण्ट की ओर से हिसाव किताव रखने वाले श्रीमन्त के सामने उपयुक्त जागीर मे २५ दिसम्बर १३५६ से दिसम्बर १३६० के अट्ठाईसवे दिन तक की लगान की वसूली की रिपोट पश की"]। (Alexis Monteil *Traite de Materiaux Manuscrits, etc* पृ० २३४, २३५।) यहा वह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रा में सर्वोत्तम भाग विचौलिये हडप जाते हैं। मिसाल के लिये, आर्थिक क्षेत्र मे, वित्त-प्रवधक, शेयर बाजार के सट्टेबाज, सौदागर और दूकानदार सारी मलाई खा जाते हैं, दीवानी के मामला मे वकील अपने मुवक्किला को मूड लेता है, राजनीति में प्रतिनिधि का मतदाताओं से और मत्री का राजा से अधिक महत्त्व होता है, धम में भगवान को "मध्यस्थ" – अथवा ईसा मसीह – पष्ठ भूमि मे डाल देता है, और ईसा मसीह का पादरी लोग पष्ठ-भूमि में धकेल देते हैं, क्याकि ईसा और उसकी "भेडो" के बीच उनकी मध्यस्थता अनिवाय होती है। इगलण्ड की तरह फ्रास मे भी सामतो की बडी बडी जागीरे असख्य छोटी छाटी जोता में बट गयी थी, मगर वहा वह बटवारा जनता के दृष्टिकोण से इगलैण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल परिस्थितिया में हुआ था। १४ वी शताब्दी म फार्मो – अथवा terriers – का जन्म हुआ। उनकी सख्या बराबर बढती गयी और १,००,००० से कहीं आगे निकल गयी। इन फार्मों

तीसवां अध्याय

कृषि-क्रान्ति की उद्योग में प्रतिक्रिया।—औद्योगिक पूंजी के लिये घरेलू मण्डी का जन्म

खेतिहर आबादी के सम्पत्ति-अपहरण और निष्कासन की क्रिया बीच-बीच में रुक जाती थी, पर वह हर बार नये सिरे से शुरू हो जाती थी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस क्रिया से शहरों को सर्वहारा मजदूरों की एक ऐसी विशाल संख्या प्राप्त हुई थी, जिसका संगठित शिल्पी संघों से तनिक भी सम्बंध न था और जिसके लिये इन शिल्पी संघों के बंधनों का कोई अस्तित्व न था। यह परिस्थिति इतनी सुविधाजनक थी कि वृद्ध ए० ऐण्डर्सन ने (जिनको जेम्स ऐण्डर्सन के साथ नहीं गडबडा देना चाहिये) तो अपने *"History of Commerce'* ('वाणिज्य का इतिहास') में यह मत प्रकट किया है कि इस चीज़ के पीछे जरूर भगवान का प्रत्यक्ष हाथ रहा होगा। यहां हमें फिर एक क्षण के लिये रुककर आदिम संचय के इस तत्त्व पर विचार करना होगा। स्वतंत्र, आत्म-निर्भर किसानों की संख्या कम हो जाने का केवल यही फल नहीं हुआ कि शहरों में औद्योगिक सर्वहारा की उसी तरह रेल-पेल होने लगी, जिस तरह ज्योफ़ी सेंट हिलेयर की व्याख्या के अनुसार जब अंतरिक्षीय पदार्थ का एक स्थान पर विरलन हो जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसका सघनन हो जाता है।[1] भूमि के जोतने वालों की संख्या तो पहले से कम हो गयी थी, पर उपज पहले जितनी ही या उससे भी अधिक होती थी, क्योंकि भू-सम्पत्ति के रूपों में क्रांति होने के साथ-साथ खेती के तरीकों में अनेक सुधार हो गये थे, पहले से अधिक सहकारिता का प्रयोग होने लगा था, उत्पादन के साधनों का सकेंद्रण हो गया था, इत्यादि,

---

को जो लगान देना पड़ता था, वह जिंस या मुद्रा के रूप में उनकी उपज के बारहवें हिस्से से लेकर पांचवें हिस्से तक होता था। इन फार्मों की हैसियत उनके मूल्य तथा विस्तार के अनुसार जागीरों और उप-जागीरों (fiefs arrière fiefs) आदि की होती थी। उनमें से बहुत से तो केवल कुछ ही एकड़ के फार्म थे। लेकिन इन काश्तकारों को अपनी भूमि पर रहने वालों के मुकदमे निपटाने का कुछ हद तक अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के अधिकारों की चार कोटियां थीं। ये छोटे-छोटे अत्याचारी खेतिहर आबादी पर कैसा जुल्म करते होंगे, यह आसानी से समझ में आ सकता है। मौन्तील ने बताया है कि फ्रांस में, जहां आजकल सब स्थानीय मजिस्ट्रेटों के केवल ४,००० अदालतें काफी हैं, एक समय १,६०,००० न्यायाधीश थे।

[1] ज्योफ़ी सेंट हिलेयर [Geoffroy Saint Hilaire] ने यह बात अपनी रचना *"Notions de Philosophie Naturelle"* (Paris 1838) में कही है।

और क्योंकि न केवल खेतिहर मजदूरो से पहले से अधिक तीव्र परिश्रम कराया जाता था,[1] बल्कि वे उत्पादन के जिस क्षेत्र में अपने लिये काम करते थे, वह अधिकाधिक सकुचित होता जाता था। इसलिये, जब खेतिहर आबादी के एक भाग को भूमि से मुक्त कर दिया गया, तो पोषण के भूतपूर्व साधनो का भी एक भाग मुक्त हो गया। ये साधन अब अस्थिर पूजी के भौतिक तत्वो में रूपान्तरित हो गये। किसान, जिसकी सम्पत्ति छिन गयी थी और जो अब दर दर की ठोकर खाता घूम रहा था – उसे अब अपने नये मालिक – औद्योगिक पूजीपति – से इन साधनो का मूल्य अनिवायत मजदूरी के रूप में प्राप्त करना था। जो बात जीवन निर्वाह के साधनो के लिये सच है, वही घरेलू खेती पर निभर करने वाले उद्योग के कच्चे माल के लिये भी सच है। यह कच्चा माल स्थिर पूजी का एक तत्व बन गया।

उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि वेस्टफालिया के उन किसानो के एक भाग को, जो फ्रेडेरिक द्वितीय के राज्य-काल में फ्लक्स की कताई किया करते थे, भूमि से खदेड दिया जाता है और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है, और उनका जो भाग वहा बच जाता है, वह बडे काश्तकारो के खेतो पर मजदूरी करने लगता है। साथ ही फ्लक्स की कताई और बुनाई के बडे-बडे कारखाने खुल जाते ह, जिनमें वे लोग मजदूरी करते ह, जो इस तरह "मुक्त" कर दिये गये ह। फ्लैक्स देखने में अब भी पहले जसा ही लगता है। उसका एक रेशा तक नहीं बदला, मगर अब उसकी देह में एक नयी सामाजिक आत्मा आकर बठ गयी है। अब वह कारखाने के मालिक की स्थिर पूजी का एक भाग बन गया है। पहले वह बहुत से छोटे छोटे उत्पादको के बीच बटा हुआ था, जो खुद उसकी खेती किया करते थे और अपने बाल बच्चा की मदद से थोडा थोडा करके उसे घर पर ही कात डालते थे। अब वह सारा एक पूजीपति के हाथो में केद्रित हो जाता है, जो दूसरे आदमियो से अपने लिये उसकी कताई और बुनाई कराता है। पहले फ्लक्स की कताई में जो अधिक श्रम खच होता था, वह अनेक किसान परिवारो की अधिक आय के रूप में साकार हो उठता था, या सम्भव है कि फ्रेडेरिक द्वितीय के काल में वह प्रशिया के राजा को दिये जाने वाले (pour le roi de Prusse) करो का रूप धारण कर लेता हो। पर अब वह च द पूजीपतियो के मुनाफे का रूप धारण कर लेता है। चर्खे और करघे, जो पहले सारे देहात में बिखरे हुए थे, अब मजदूरो और कच्चे माल के साथ च द बडी बडी श्रम-बारिको में एकत्रित कर दिये जाते ह। और ये चर्खे, करघे और कच्चा माल अब पहले की तरह कताई करने वालो तथा बुनाई करने वालो के स्वतत्र जीविका कमाने के साधन न रहकर इन लोगो पर हुक्म चलाने और उनका अवेतन श्रम चूसने के साधन बन जाते हैं।[2] बडी-बडी हस्तनिर्माणशालाओ और बडे-बडे फार्मों को देखकर कोई यह नहीं सोचेगा कि उत्पादन के बहुत से छोटे-छोटे केद्रो को एक में जोड देने से इनका ज म हुआ है और बहुत से छोटे छोटे स्वतत्र उत्पादको की सम्पत्ति

[1] इस बात पर सर जेम्स स्टीवर्ट ने जोर दिया है।

[2] पूजीपति का कहना यह है कि 'Je permettrai que vous ayez l honneur de me servir a condition que vous me donnez le peu qui vous reste pour la peine que je prends de vous commander ["मैं तुम्ह यह इज्जत बख्शूगा कि तुमसे अपनी सेवा कराऊगा, बशर्ते कि तुम्ह हुक्म देने में मुझे जा कष्ट होगा, उसके एवज म तुम्हारे पास जो कुछ बचा है, वह तुम मुझे सौप दो"]। (J J Rousseau, '*Discours sur l Economie Politique*) [Jeneva, 1756 पृ० ७०]।)

का अपहरण करके इनका निर्माण किया गया है। परन्तु जनता की सहज बुद्धि ने वास्तविकता को समझने में गलती नहीं की। क्रान्ति-केसरी मिराबो के काल में भी बडी बडी हस्तनिर्माणशालाए "manufactures reunies — या "कई वर्कशापो को जोडकर बनायी गयी सयुक्त वर्कशापें" — कहलाती थीं, जसे खेती के बारे में कहा जाता था कि कई खेत मिलाकर एक कर दिये गये ह। मिराबो ने कहा हे "हम केवल उन विशाल हस्तनिर्माणशालाओ की ओर ही ध्यान देते ह, जिनमें सकडो आदमी एक सचालक की देखरेख में काम करते ह और जिनको आम तौर पर manufactures reunies (कई वर्कशापो को जोडकर बनायी गयी सयुक्त वर्कशापें) कहा जाता है। उन हस्तनिर्माणशालाओ की ओर हम कोई ध्यान नहीं देते, जिनमें बहुत सारे मजदूर अलग अलग और अपने ही लिये काम करते ह। वे पहले ढग की हस्तनिर्माणशालाओ से एकदम दूर जा पडती ह। लेकिन उनको पृष्ठ भूमि में डाल देना एक बहुत बडी ग़लती है, क्योकि असल में ये दूसरे ढग की हस्तनिर्माणशालायें ही राष्ट्रीय समृद्धि का महत्वपूण आधार होती ह बडी वर्कशाप (manufacture reunie) से एक या दो उद्यमकर्ता असाधारण रूप से धनी बन जायेंगे, लेकिन मजदूर न्यूनाधिक मजदूरी पाने वाले मजदूर ही बने रहेंगे और व्यवसाय की सफलता में उनका कोई भाग नहीं होगा। छोटी और अलग से काम करने वाली वर्कशाप (manufacture separee) में, इसके विपरीत, कोई धनी नहीं बन पायेगा, लेकिन बहुत से मजदूर आराम से जीवन बिता सकेंगे। उनमें जो मितव्ययी और परिश्रमी होगे, वे थोडी सी पूजी जमा कर लेगे और सतानोत्पत्ति के समय के लिये, बीमारी के वक्त के लिये, अपने ऊपर खच करने के लिये या कोई चीज़-वसत खरीदने के लिये कुछ बचा लेंगे। मितव्ययी और परिश्रमी मजदूरो की सख्या बढ़ती जायेगी, क्योकि वे खुद अपने अनुभव से यह देखेंगे कि अच्छा आचरण और क्रियाशीलता मूलतया उनकी अपनी स्थिति में सुधार करने का साधन है, न कि मजदूरी में थोडा इजाफा कराने का, जिसका भविष्य के लिये कभी कोई महत्व नहीं हो सकता और जिसका एकमात्र परिणाम यही होता है कि आदमी थोडी बेहतर जिन्दगी बिताने लगता है, मगर फिर भी उसे रोज कुआ खोदकर पानी पीना पडता है बडी वर्कशाप कुछ व्यक्तियो का निजी व्यवसाय होती है, जो मजदूरो को रोजाना मजदूरी देकर उनसे अपने हित में काम कराते हे। इस प्रकार की वर्कशापो से इन व्यक्तियो को सुख मिल सकता है, लेकिन वे कभी इस लायक नहीं बन सकतीं कि सरकारें उनकी ओर ध्यान दें। स्वतत्र वर्कशाप केवल अलग अलग काम करने वाले मजदूरो की उन छोटी वर्कशापो को ही समझा जा सकता है, जिनके साथ प्राय छोटी छोटी जोतो की खेती भी जुडी रहती है।"[1] जब खेतिहर आबादी के एक भाग की सम्पत्ति छीन ली गयी और उसे जमीन से बेदखल कर दिया गया, तो उससे न केवल मजदूर, उनके जीवन निर्वाह के साधन तथा श्रम की सामग्री औद्योगिक पूजी के वास्ते काम करने को स्वतन्त्र हो गयीं, बल्कि घरेलू मण्डी भी तयार हो गयी।

सच तो यह है कि जिन घटनाओ ने छोटे किसानो को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में और उनके जीवन निर्वाह तथा श्रम करने के साधनो को पूजी के भौतिक तत्वो में बदल डाला

---

[1] Mirabeau उप० पु०, ग्रथ ३, पृ० २०–१०६, विभिन्न स्थानो पर। मिराबो यदि अलग अलग काम करने वाले मजदूरो की वर्कशापो को "सयुक्त" वर्कशापो की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक और उत्पादक समझते थे और 'सयुक्त' वर्कशापो को सरकार द्वारा बनावटी ढग से पैदा किया गया एक परदेशी पौधा मानते थे, तो उसका कारण यह है कि उस काल में योरपीय महाद्वीप के अधिकतर कारखानो की हालत कुछ इसी तरह की थी।

था, उन्हीं घटनाओ ने पूजी के लिये एक घरेलू मण्डी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल तयार करता था, और इन चीजो के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्राय किसान और उसके परिवार के लोग ही कर डालते थ। पर अब इस कच्चे माल ने और जीवन निर्वाह के इन साधनो ने मालो का रूप धारण कर लिया है। इन चीजो को बडे-बडे काश्तकार बेचते है, उनकी मण्डी है हस्तनिर्माणशालायें। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान – वे तमाम चीजें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिये कात बुनकर तयार कर लिया करता था, अब हस्तनिर्माणशालाओ की बनी चीजो में रूपान्तरित हो गयीं, और देहाती इलाके इन हस्तनिर्माणशालाओ के लिये तुरत मण्डियो का काम करने लगे। पहले स्वय अपने हित में उत्पादन करने वाले छोटे-छोटे कारीगर अपनी बनायी हुई चीजें बहुत से बिखरे हुए ग्राहको के हाथ बेच दिया करते थे। अब वे ग्राहक एक बडी मण्डी में केंद्रित हो जाते हैं, जिसकी आवश्यकताओ की पूर्ति औद्योगिक पूजी करती है।[1] इस प्रकार, जहा एक ओर आत्मनिर्भर किसानो की सम्पत्ति का अपहरण किया जाता है और उनको उनके उत्पादन के साधनो से अलग कर दिया जाता है, वहा, दूसरी ओर, इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार हस्तनिर्माण और खेती का सम्बद्ध-विच्छेद करने की क्रिया सम्पन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की अदरूनी मण्डी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिनकी उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली को आवश्यकता होती है।

फिर भी जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, वह इस रूपातरण को मूलभूत रूप से तथा पूरी तरह कार्यान्वित करने में सफल नहीं होता। पाठको को याद होगा कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, वह राष्ट्रीय उत्पादन के सारे क्षेत्र पर केवल आशिक रूप से ही अधिकार कर पाता है, और वह अपने अतिम आधार के रूप में सदा शहरी दस्तकारियो और देहाती इलाको के घरेलू उद्योग पर ही निभर करता है। यदि वह इन दस्तकारियो और इस घरेलू उद्योग को एक रूप में, कुछ खास शाखाओ में या कुछ खास बिदुओ पर नष्ट कर देता है, तो अयत्र वह उनको पुन जन्म दे देता है, क्योकि एक खास बिदु तक उसको कच्चा माल तयार करने के लिये इनकी आवश्यकता होती है। अतएव, हस्तनिर्माण ग्रामवासियो के एक नये वग को उत्पन्न कर देता है, जो खेती तो एक सहायक धधे के रूप में करता है, पर जिसका मुख्य धधा औद्योगिक श्रम करना होता है, जिसकी पदावार वह सीधे सीधे या सौदागरो के माध्यम से हस्तनिर्माण कराने वाले कारखानेदारो को बेच देता है। यह बात एक ऐसी घटना का कारण बन जाती है, – हालाकि वह उसका मुख्य कारण नहीं है, – जो इगलण्ड के इतिहास के विद्यार्थी

[1] "जब मजदूर का परिवार अपने अन्य कामो के बीच-बीच में खुद अपने उद्योग से बीस पौण्ड ऊन को चुपचाप अपने वष भर के कपडा में बदल डालता है, तब उसका लेकर कोई खास आडम्बर नहीं किया जाता। लेकिन इसी ऊन को जरा मण्डी मे ले आइये और उसे फैक्टरी में और वहा से आढती के पास और उसके यहा से दूकानदार के पास तक पहुचने भर दीजिये कि विशाल व्यापारिक क्रियाए आरम्भ हो जायेंगी और इस ऊन के मूल्य की बीस-गुनी अभिहित पूजी काय-रत हो जायेगी इस प्रकार मजदूर-वग को लूटकर फैक्टरियो से सम्बधित एक अभागी आबादी को, मुफ्तखोर दूकानदार वग को और वाणिज्य, मुद्रा और वित्त की एक झूठी व्यवस्था को जीवित रखा जाता है।' (David Urquhart, उप० पु०, पृ० १२०।)

को शुरू-शुरू में काफी उलझन में डाल देती है। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम ततीस वर्षों से ही वह लगातार यह शिकायत सुनता आता है, – हालांकि बीच-बीच में कुछ समय के लिये यह शिकायत सुनाई नहीं देती, – कि देहाती इलाकों में पूजीवादी खेती का प्रसार बढ़ता जा रहा है और उसके फलस्वरूप किसानो का वर्ग नष्ट होता जा रहा है। दूसरी ओर, यह सदा यह भी देखता है कि किसानो का यह वर्ग हर बार नया जन्म लेकर सामने आ जाता है, हालांकि उसकी सख्या कम होती जाती है और उसकी हालत हर बार पहले से ज्यादा खराब दिखाई देती है।[1] इसका मुख्य कारण यह है कि इगलण्ड कभी तो मुख्यतया अनाज पदा करने वाला देश बन जाता है और कभी मुख्यतया पशुओं का प्रजनन करने वाले देश का रूप धारण कर लेता है। और ये रूप बारी-बारी से सामने आते रहते है और उनके साथ-साथ किसानो की खेती का विस्तार भी घटता-बढ़ता रहता है। केवल, और अन्तिम रूप से, आधुनिक उद्योग ही पूजीवादी खेती का स्थायी आधार – मशीने – उसके लिये तयार करता है। वही खेतिहर आबादी के अधिकाश की सम्पत्ति का पूरी तरह अपहरण करता है। यही खेती और देहाती घरेलू उद्योग के अलगाव को सम्पूर्ण करता है और इस उद्योग की जडो को – कताई और बुनाई को – उखाडकर फेंक देता है।[2] और इसलिये, वही पहली बार औद्योगिक पूजी की ओर से पूरी घरेलू मण्डी पर विजय प्राप्त करता है।[3]

---

[1] क्रोमवेल का समय इसका अपवाद था। जब तक प्रजातन्त्र जीवित रहा, तब तक के लिए इगलैण्ड की आम जनता का प्रत्येक स्तर उस पतन के गर्त्त से ऊपर उठ आया था, जिसमे वह ट्यूडर राजाओं के शासन-काल मे डूब गया था।

टकेट्ट को इस बात का ज्ञान है कि आधुनिक ऊनी उद्योग का मशीनो का प्रयोग आरम्भ होने के साथ साथ वास्तविक हस्तनिर्माण से तथा देहाती एव घरेलू उद्योगो के विनाश से जन्म हुआ है। (Tuckett, *A History of the Past and Present State of the Labouring Population* [टकेट्ट, 'श्रम करने वाली आबादी की भूतपूर्व और वर्त्तमान हालत का इतिहास'], London, 1846 खण्ड १, पृ० १४४।) डैविड उर्कुहार्ट ने लिखा है "हल और जुए के बारे मे कहा जाता है कि उनका आविष्कार देवताओं ने किया है और उनका उपयोग वीर लोग करते है। परन्तु क्या करघे, चर्खे और लाठ के जनक इतने श्रेष्ठ कुल के नही थे? लाठ और हल तथा चर्खे और जुए का सम्बध विच्छेद कर दीजिये, – आपके देखते देखते फैक्टरिया और मुहताजखाने, जमी हुई साख और बदहवासी, एक दूसरे के शत्रु दो राष्ट्र – एक खेती करने वाला और दूसरा वाणिज्य और व्यवसाय करने वाला – आपके सामने खडे हो जायेंगे।" (David Urquhart उप० पु०, पृ० १२२।) परन्तु उर्कुहार्ट के बाद केरी आते है और शिकायत करने लगते है – और उनकी शिकायत बेबुनियाद नही प्रतीत होती – कि इगलैण्ड दूसरे हरेक देश को महज़ एक खेतिहर राष्ट्र बना डालने की कोशिश कर रहा है और उन सबके लिये कारखानो का सामान तयार करने वाला देश खुद बनना चाहता है। केरी दावा करते है कि तुर्की को इसी तरह बरबाद किया गया है, क्योंकि वहा "जमीन के मालिको और जमीन के जोतने वालो को हल और करघे तथा हथौडे और हेंगे के बीच स्वाभाविक मैत्री स्थापित करके अपने को शक्तिशाली बनाने की इगलैण्ड ने कभी अनुमति नही दी।" (*The Slave Trade* ['दासो का व्यापार'], पृ० १२५।) केरी के मतानुसार, उर्कुहार्ट ने खुद भी तुर्की की तबाही मे बहुत बडा हिस्सा लिया है, क्योंकि उसने वहा इगलैण्ड के हित में स्वतन्त्र व्यापार का प्रचार किया है। और सबसे बडा मज़ाक यह है कि केरी, जो कि रूस के बडे प्रशसक और प्रेमी हैं, खेती और घरेलू उद्योग के सम्बध विच्छेद की इस क्रिया को सरक्षण की उसी प्रणाली के द्वारा रोकना चाहते हैं, जिससे उसे प्रोत्साहन मिलता है।

[3] जिस प्रकार ईश्वर ने केन से उसके भाई एबेल के बारे मे पूछा था, उसी प्रकार लोकोपकारी अंग्रेज अर्थशास्त्री, जसे मिल, रौजर्स, गोल्डविन स्मिथ, फौसेट आदि, और उदारपथी

इकत्तीसवा अध्याय

औद्योगिक पूजीपति की उत्पत्ति

औद्योगिक[1] पूजीपति की उत्पत्ति उतने धीरे धीरे नहीं हुई, जितने धीरे धीरे पूजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति हुई थी। इसमें कोई शक नहीं कि शिल्पी सघो के बहुत से छोटे-छोटे उस्तादो ने और उससे भी बडी सख्या में छोटे-छोटे स्वतत्र दस्तकारो ने या यहा तक कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो ने भी अपने को छोटे-छोटे पूजीपतियो में बदल डाला था, और बाद में वे (धीरे धीरे मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो के शोषण को बढाकर और उसके साथ-साथ पूजी के सचय को तेज करके) पूर्ण प्रस्फुटित पूजीपति बन गये थे। पूजीवादी उत्पादन की बाल्यावस्था में भी बहुधा उसी प्रकार की घटनाए होती थीं, जिस प्रकार की घटनाए मध्ययुगीन नगरो की बाल्यावस्था में हुआ करती थीं, जहा पर यह प्रश्न कि गावो से भागकर आये हुए कृषि-दासो में से कौन मालिक बनेगा और कौन नौकर, अधिकतर इस बात से त होता था कि कौन गाव से पहले और कौन बाद को भागा था। यह क्रिया इतने धीरे धीरे चलती थी कि १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनो के महान आविष्कारो ने जिस ससार व्यापी मण्डी का निर्माण कर दिया था, उसकी आवश्यकताए उससे कदापि पूरी नहीं हो सकती थीं। परन्तु मध्य युग से पूजी के स्पष्टतया दो भिन्न रूप विरासत में मिले थे, जो बहुत ही भिन्न प्रकार के आर्थिक समाज-सघटनो के भीतर परिपक्व हुए थे और जिनको उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का युग आरम्भ होने के पहले वास्तविक पूजी समझा जाता था। ये दो रूप सूदखोर की पूजी और सौदागर की पूजी के थे।

"इस समय समाज का समस्त धन पहले पूजीपति के अधिकार में चला जाता है वह जमींदार को उसका लगान देता है, मजदूर को उसकी मजदूरी देता है, कर तथा दशाश वसूल करने वालो को उनका पावना देता है और श्रम की वार्षिक पदावार का एक बडा हिस्सा – और सच पूछिये, तो सबसे बडा और निरतर बढ़ता हुआ हिस्सा – वह खुद अपने लिये रख

कारखानेदार, जैसे जान ब्राइट आदि, अग्रेज भू स्वामियो से पूछते हैं कि "हमारे हजारो माफीदार कहा चले गये?" – लेकिन तब तुम लोग कहा से आये हो? उन्ही माफीदारो को नष्ट करके तुम पैदा हुए हो। – ये लोग एक कदम और आगे बढकर यह प्रश्न क्यो नही करते कि स्वतत्र बुनकर, कताई करने वाले और कारीगर कहा चले गये हैं?

[1] यहा "खेतिहर" शब्द के व्यतिरेक मे "औद्योगिक" शब्द का प्रयोग किया गया है। "निरपेक्ष" अर्थ मे तो काश्तकार भी उसी हद तक औद्योगिक पूजीपति होता है, जिस हद तक कारखानेदार होता है।

लेता है। पूजीपति के बारे में अब यह कहा जा सकता है कि वह समाज के समस्त धन का प्रथम स्वामी होता है, हालाकि किसी क़ानून ने उसको इस सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार नहीं दिया है यह परिवतन पूजी पर सूद लेने के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ है और यह कम विचित्र बात नहीं है कि योरप के सभी कानून बनाने वालो ने कानून बनाकर इस चीज को रोकने की कोशिश की थी, मिसाल के लिये, सूदखोरी के खिलाफ इसी उद्देश्य से कानून बनाये गये थे देश के समस्त धन पर पूजीपति का अधिकार स्थापित हो जाने से सम्पत्ति का अधिकार सम्पूणतया बदल गया है। और यह परिवतन किस कानून अथवा किन कानूनो के द्वारा सम्पन्न हुआ है?"[1] लेखक को याद रखना चाहिये था कि क्रान्तिया कानूनो के द्वारा सम्पन्न नहीं होतीं।

सूदखोरी और वाणिज्य के द्वारा जिस नक्द पूजी का निर्माण हुआ था, उसे देहात में सामन्ती विधान ने और शहरो में शिल्पी सघो के सगठन ने औद्योगिक पूजी नहीं बनने दिया था। जब सामन्ती समाज का विघटन हुआ और देहाती आबादी की सम्पत्ति छीन ली गयी तथा आशिक रूप में उसे जमीनो से खदेड दिया गया, तो ये बधन भी टूट गये। नये कारखानेदार समुद्र किनारे के बन्दरगाहो में या देश के भीतर ऐसे स्थानो पर जाकर जम गये, जो पुरानी नगरपालिकाओ और उनके शिल्पी सघो के नियन्त्रण के बाहर थे। इसीलिये इगलैण्ड में इन नयी औद्योगिक रोपणियो के साथ उन नगरो (corporate towns) का बडा कटु सघर्ष हुआ, जिनको नगरपालिकाओ के अधिकार प्राप्त थे।

अमरीका में सोने और चादी की खोज, आदिवासी आबादी का समूल नष्ट कर दिया जाना, गुलाम बनाया जाना और खानो में जिन्दा दफना दिया जाना, ईस्ट इण्डिया की विजय तथा लूट का श्रीगणेश, अफ्रीका का हब्शियो के व्यापारिक आखेट की भूमि बन जाना—इसी प्रकार की घटनाओ के द्वारा यह सकेत मिला था कि पूजीवादी उत्पादन का अरुणोदय हो रहा है। इन सुखद क्रियाओ का आदिम सचय में मुख्य भाग रहा है। उनके बाद तुरन्त ही योरपीय राष्ट्रो का वाणिज्य-युद्ध आरम्भ हो गया, जिसका क्षेत्र पूरा भूगोल था। वह शुरू हुआ स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध नेदरलण्डस के विद्रोह से, इगलण्ड के जकोबिन विरोधी युद्ध में उसने भयानक विस्तार प्राप्त किया और चीन के खिलाफ अफीम के युद्धो के रूप में वह आज भी जारी है, इत्यादि।

आदिम सचय के विभिन्न तत्व अब न्यूनाधिक रूप से काल क्रमानुसार खास तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, हालण्ड, फ्रास और इगलण्ड के बीच बट गये थे। इगलण्ड में १७ वीं शताब्दी के अन्त में उन सब को उपनिवेश प्रणाली, राष्ट्रीय ऋण, आधुनिक कर प्रणाली और सरक्षण प्रणाली के रूप में सुनियोजित ढग से जोड दिया गया। कुछ हद तक ये तरीक़े पाशविक बल पर निभर करते ह, जिसका उदाहरण है औपनिवेशिक व्यवस्था। लेकिन जिस तरह गरमखाने में पौधो का

---

[1] '*The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted* ('सम्पत्ति के स्वाभाविक तथा कृत्रिम अधिकारा का तुलनात्मक अध्ययन'), London 1832 पृ० ६८–६६। इस गुमनाम पुस्तक के लेखक थे टामस होजस्किन।

[2] १७६४ की बात है कि लीडस के छोटे छोटे कपडा तैयार करने वालो ने एक प्रतिनिधि मण्डल भेजकर ससद को यह दरख्वास्त दी थी कि कानून बनाकर सौदागारा को कारखानेदार बन जाने से रोक दिया जाय। (Dr Aikin *Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester,'* London 1795।)

विकास जल्दी से पूरा कर डालने की कोशिश की जाती है, उसी प्रकार सामंती उत्पादन-प्रणाली को पूंजीवादी प्रणाली में रूपान्तरित करने की क्रिया को जल्दी से पूरा कर डालने के लिये और उसको संक्षिप्त कर देने के उद्देश्य से इन सभी तरीकों में समाज के सकेन्द्रित एवं संगठित बल का – राज्य की सत्ता का – प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक ऐसे पुराने समाज के लिये, जिसके गर्भ में नये समाज का अंकुर बढ़ रहा है, बल-प्रयोग बच्चा जनवाने वाली दाई का काम करता है। बल-प्रयोग स्वयं एक आर्थिक शक्ति है।

डब्लयू० हौविट्ट ने, जिन्होंने ईसाई धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया है, ईसाई औपनिवेशिक व्यवस्था के बारे में लिखा है "ईसाई कहलाने वाली नस्ल ने संसार के प्रत्येक इलाके में और हर ऐसी कौम पर, जिसे वह जीतने में सफल हुई है, जैसे बर्बर और भयानक अत्याचार किये हैं, वैसे अत्याचार पृथ्वी के किसी भी युग में किसी और नस्ल ने, वह चाहे जितनी खूंखार, जाहिल और दया तथा लज्जा से विहीन क्यों न रही हो, नहीं किये हैं।"[1] हालैण्ड के औपनिवेशिक प्रशासन का इतिहास – और यह ध्यान रहे कि हालैण्ड १७ वीं शताब्दी का प्रमुख पूंजीवादी देश था – "विश्वासघात, घूसखोरी, हत्याकाण्ड और नीचता की एक अत्यन्त असाधारण कहानी है।" हालैण्ड वाले जावा में गुलामों के रूप में इस्तेमाल करने के लिये सेलेबीज में इनसानों की चोरी किस तरह किया करते थे, उससे उनके तरीकों पर काफी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोगों को इनसानों को चुराने की विशेष शिक्षा दी जाती थी। चोर, दुभाषिये और बेचने वाले इस व्यापार के मुख्य आढ़ती थे और देशी राजा मुख्य बेचने वाले थे। जिन युवक-युवतियों को चुराया जाता था, उनको जब तक वे दासों के समान काम करने के लायक नहीं होते और जहाजों में भरकर नहीं भेजे जाते, तब तक सेलेबीज के गुप्त कैदखानों में बन्द करके रखा जाता था। एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा है "मिसाल के लिये, यह एक शहर, मकेस्सर, गुप्त जेलखानों से भरा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे से अधिक भयानक है और जिनमें लोभ और अन्याय के शिकार वे अभागे इनसान भरे हुए हैं, जिनको उनके परिवारों से जबर्दस्ती अलग करके जंजीरों में जकड़ दिया गया है।" मलाका को जीतने के लिये डच लोगों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस देने का वायदा करके अपनी तरफ कर लिया था। उसने १६४१ में

---

[1] William Howitt, *Colonisation and Christianity A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans in all their Colonies* (विलियम हौविट्ट, 'उपनिवेशीकरण और ईसाई धर्म। योरपीय लोगों ने अपने सभी उपनिवेशों में वहां के मूलवासियों के साथ जो व्यवहार किया, उसका एक सुगम इतिहास'), London, 1838 पृ० ६। उपनिवेशों में दासों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता था, इसके बारे में चार्ल्स कौंत की रचना *Traité de la Legislation* (तीसरा संस्करण, Bruxelles 1837) में काफी जानकारी इकट्ठी कर दी गयी है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जहां कहीं पूंजीपति वर्ग बिना किसी रोक-थाम के दुनिया का अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार पुनर्निर्माण कर सकता है, वहां वह खुद अपने को और मजदूर को क्या बना डालता है, उनको इस रचना का विस्तार के साथ अध्ययन करना चाहिये।

[2] देखिये जावा द्वीप के भूतपूर्व लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर Thomas Stamford Raffles की रचना *The History of Java* ['जावा का इतिहास'], London 1817 [खण्ड २, परिशिष्ट, पृ० CXC (एक सौ नब्बे) – CXCI (एक सौ इक्यानवे)]।

उनको शहर में घुस जाने दिया। इन्होंने शहर में प्रवेश करते ही पहले उसी गवर्नर के मकान पर चढ़ाई की और उसे क़त्ल कर दिया, ताकि उसके विश्वासघात की क़ीमत के रूप में २१,८१५ पौण्ड न देने पड़ें। डच लोगों ने जहां कहीं कदम रखा, वहीं तबाही आ गयी और बस्ती उजाड़ हो गयी। १७५० में जावा के बाजूवांगी प्रांत की आबादी ८०,००० थी, १८११ तक वह केवल १८,००० रह गयी। कितना मधुर व्यवसाय था यह!

जैसा कि सुविदित है, अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हिंदुस्तान में राजनीतिक शासन तो था ही, इसके अलावा उसको चाय के व्यापार का, चीन के साथ सभी प्रकार का व्यापार करने का और योरप से माल लाने और योरप में माल ले जाने का एकाधिकार भी मिला हुआ था। परन्तु हिंदुस्तान के समुद्री किनारे के व्यापार और पूर्वी द्वीपों के पारस्परिक व्यापार और साथ ही हिंदुस्तान के अन्दरूनी व्यापार पर भी कम्पनी के ऊंचे कर्मचारियों का एकाधिकार था। नमक, अफ़ीम, पान और अन्य मालों के व्यापार का एकाधिकार धन की अक्षय खान का काम करता था। इन चीज़ों के दाम ख़ुद कम्पनी के कर्मचारी निश्चित करते थे और अभागे हिंदुओं को इच्छानुसार लूटते थे। इस प्राइवेट व्यापार में गवर्नर-जनरल भी भाग लेता था। उसके कृपा-पात्रों को इतनी अच्छी शर्तों पर ठेके मिल जाते थे कि वे, कीमियागरों से अधिक होशियार होने के कारण, मिट्टी से सोना बनाया करते थे। चौबीस घण्टे के अन्दर कुकुरमुत्तों की तरह ढेरों दौलत बटोर ली जाती थी, एक शिलिंग भी पेशगी के रूप में लगाना नहीं पड़ता था और आदिम संचय धड़ल्ले से चल निकलता था। वारेन हेस्टिंग्ज़ के मुक़दमे में इस तरह के अनेक मामले सामने आये थे। एक उदाहरण देखिये। सुलीवान नामक एक व्यक्ति को भारत के एक ऐसे भाग में, जो अफ़ीम के इलाके से बहुत दूर था, सरकारी काम पर भेजा जा रहा था। चलते समय उसे अफ़ीम का ठेका दे दिया गया। सुलीवान ने अपना ठेका बिन नामक एक व्यक्ति को ४०,००० पौण्ड में बेच दिया। बिन ने उसी रोज़ उसे ६०,००० पौण्ड में किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दिया, और इस आख़िरी ख़रीदार ने, जिसने सचमुच ठेके को कार्यान्वित किया, बताया कि इतने ऊंचे दाम देने के बाद भी वह ठेके से बहुत भारी मुनाफ़ा कमाने में कामयाब हुआ है। संसद के सामने पेश की गयी एक सूची के अनुसार, १७५७ से १७६६ तक कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों को हिंदुस्तानियों से ६०,००,००० पौण्ड उपहारों के रूप में प्राप्त हुए थे। १७६६ और १७७० के बीच अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान का सारा चावल ख़रीद लिया और उसे अत्यधिक ऊंचे दाम पाये बिना बेचने से इनकार करके वहां अकाल पैदा कर दिया।[1]

आदिवासियों के साथ सबसे बुरा व्यवहार, ज़ाहिर है, केवल निर्यात व्यापार के लिये लगाये गये बाग़ानों वाले उपनिवेशों में किया जाता था,—जैसे वेस्ट इण्डीज़ में,—और मैक्सिको तथा हिंदुस्तान जैसे धनी और घने बसे हुए देशों में भी, जो अंधाधुंध लूटे जा रहे थे। लेकिन जिनको सचमुच उपनिवेश कहा जा सकता था, उनमें भी आदिम संचय का ईसाई स्वरूप अक्षुण्ण था। प्रोटेस्टेण्ट मत के उन गम्भीर कलाविज्ञों ने—न्यू इंगलण्ड के प्यूरिटनों ने—१७०३ में अपनी assembly (परिषद) के कुछ अध्यादेशों के द्वारा अमरीकी आदिवासियों को मारकर उनकी खोपड़ी की त्वचा लाने या उन्हें ज़िन्दा पकड़ लाने के लिये प्रति आदिवासी ४० पौण्ड पुरस्कार

---

[1] १८६६ में अकेले उड़ीसा नामक प्रांत में दस लाख से अधिक हिंदू भूख से मर गये। पर फिर भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं बहुत ऊंचे दामों में भूखे लोगों के हाथों बेचकर सरकारी ख़ज़ाने को बढ़ाने की कोशिश की गयी।

की घोषणा की थी। १७२० में की खोपडी की त्वचा १०० पौण्ड पुरस्कार का ऐलान किया गया था। १७४४ में, जब मस्साचुसेट्स-बे ने एक खास कबीले को विद्रोही घोषित किया, तो निम्नलिखित पुरस्कारो की घोषणा की गयी १२ वर्ष या उससे अधिक आयु के पुरुषो को मार डालने के लिये प्रति खोपडी की त्वचा १०० पौण्ड (नयी मुद्रा में), पुरुषो को पकड लाने के लिये प्रति व्यक्ति १०५ पौण्ड, स्त्रियो और बच्चो को पकड लाने के लिये प्रति व्यक्ति ५५ पौण्ड, स्त्रियो और बच्चो को मार डालने के लिये प्रति खोपडी की त्वचा ५० पौण्ड। कुछ दशक और बीत जाने के बाद औपनिवेशिक व्यवस्था ने न्यू इगलण्ड मे उपनिवेशो की नींव डालने वाले इन piligrim fathers (पवित्र हृदय यात्रियो) के वशजो से बदला लिया, जो इस बीच विद्रोही बन बठे थे। अग्रेजो के उकसाने पर और अग्रेजो के पसे के एवज में अमरीकी आदिवासी अपने गडासो से इन लोगो के सिर काटने लगे। ब्रिटिश ससद ने घोषणा की कि विद्रोही अमरीकियो के पीछे शिकारी कुत्ते छोडकर और आदिवासियो से उनके सिर कटवाकर वह केवल "भगवान और प्रकृति के दिये हुए साधनों" का ही उपयोग कर रही है।

जिस तरह गरमखाने में पौधे जल्दी जल्दी बढकर तयार हो जाते ह, उसी तरह औपनिवेशिक व्यवस्था की छत्र-छाया में व्यापार और नौ-परिवहन बहुत तेजी से विकास करने लगे। लूथर ने जिनको "Gesellschaften Monopolia" ("एकाधिकारी कम्पनिया") कहा था, उन्होने पूजी के सकेंद्रण में शक्तिशाली साधनो का काम किया। उपनिवेशो में नवजात उद्योगो के लिये मण्डिया तयार हो गयीं, और मण्डियो पर एकाधिकार होने के कारण और भी तेजी से सचय होने लगा। योरप के बाहर खुली लूट-मार करके, लोगो को गुलाम बनाकर और हत्याए करके जिन खजानो पर कब्जा किया जाता था, वे सब मातृभूमि में पहुचा दिये जाते थे और वहा वे पूजी में बदल जाते थे। औपनिवेशिक व्यवस्था का पूण विकास सबसे पहले हालैण्ड ने किया था। वह १६४८ में ही वाणिज्य के क्षेत्र में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुच गया था। "ईस्ट इण्डिया के साथ जो व्यापार होता था और दक्षिण-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी योरप के बीच जो व्यापार चलता था," उसपर हालण्ड का "लगभग एकाधिकार था। कोई अन्य देश उसके मीन-क्षेत्रो, समुद्री जहाजो और उद्योगो का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। डच प्रजातत्र की कुल पूजी शायद बाकी सारे योरप की सयुक्त पूजी से ज्यादा थी।" (G Gulich, "*Geschichtliche Darstellung, etc*" Jena, 1830, खण्ड १, पृ० ३७१।) गुलीह को यहा यह और लिखना चाहिये था कि १६४८ के आते न आते हालण्ड के लोगो से जितना ज्यादा काम लिया जाता था, वे जसी ग़रीबी में रहते थे और उनपर जैसा पाशविक अत्याचार किया जाता था, बाकी सारा योरप मिलकर भी उसका मुकाबला नहीं कर सकता था।

आजकल औद्योगिक श्रेष्ठता का अर्थ वाणिज्य के क्षेत्र में भी श्रेष्ठता होता है। परन्तु जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का युग कहा जा सकता था, उस युग में, इसके विपरीत, जिसकी वाणिज्य के क्षेत्र में श्रेष्ठता होती थी, उसी को औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रधानता प्राप्त हो जाती थी। यही कारण है कि उस काल में औपनिवेशिक व्यवस्था ने इतनी बडी भूमिका अदा की। यह व्यवस्था एक नये और "विचित्र देवता" के समान थी, जो देव-स्थान की वेदी पर योरप के पुराने देवताओ के बिल्कुल बराबर में जाकर बैठ गया था और जिसने फिर एक दिन एक धक्के से उन सारे देवताओ को नीचे गिरा दिया था। इस व्यवस्था ने अतिरिक्त मूल्य कमाना ही मानवता का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य घोषित कर दिया था।

सार्वजनिक प्रत्यय – अथवा राष्ट्रीय ऋण – की प्रणाली ने, जिसका जन्म मध्य युग में हो

जेनोग्रा ग्रौर वेनिस में हो गया था, हस्तनिर्माण के युग में ग्राम तौर पर सारे योरप पर ग्रधिकार कर लिया था। ग्रौपनिवेशिक व्यवस्था ने ग्रपने समुद्री व्यापार ग्रौर व्यापारिक युद्धों के द्वारा इस प्रणाली के विकास में बनावटी ढंग से तेजी ला दी। चुनांचे, पहले पहल इस प्रणाली ने हालण्ड में जड जमायी। राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली ने, ग्रर्थात राज्य को—वह चाहे निरकुश राज्य हो, चाहे वैधानिक राज्य ग्रौर चाहे प्रजातान्त्रिक राज्य—उधार देने की प्रणाली ने पूरे पूंजीवादी युग पर ग्रपनी छाप डाल दी। तथाकथित राष्ट्रीय धन का केवल एक ही भाग है, जो ग्राधुनिक काल में सचमुच किसी देश की जनता के सामूहिक स्वामित्व में ग्रा जाता है,—वह है उसका राष्ट्रीय ऋण।[1] इसी के एक ग्रनिवार्य परिणाम के रूप में यह ग्राधुनिक सिद्धान्त सामने ग्राता है कि किसी राष्ट्र का ऋण जितना ग्रधिक बढता है, वह उतना ही ग्रधिक धनी होता जाता है। सार्वजनिक प्रत्यय पूंजी का ईमान बन जाता है। ग्रौर राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ "पवित्र ग्रात्मा" की निन्दा करने के ग्रक्षम्य ग्रपराध का स्थान राष्ट्रीय ऋण में विश्वास न रखने का ग्रपराध ले लेता है।

सार्वजनिक ऋण ग्रादिम संचय का एक सबसे शक्तिशाली साधन बन जाता है। वह मानो किसी जादुई छडी के इशारे से बंध्या मुद्रा में भी सन्तान पैदा करने की शक्ति उत्पन्न कर देता है ग्रौर इस प्रकार उसे पूंजी में बदल लेता है। ग्रौर इस परिवर्तन के लिये मुद्रा को उन तमाम झंझटों ग्रौर खतरों में डालने की भी कोई ग्रावश्यकता नहीं रहती, जिनका उसको उद्योग में या यहां तक कि सूदखोरी में लगाये जाने पर भी ग्रनिवार्य रूप से सामना करना पडता है। राज्य को कर्जा देने वाले ग्रसल में कुछ नहीं देते, क्योंकि वे जो रकम उधार देते हैं, वह सार्वजनिक बौंडों में रूपान्तरित कर दी जाती है, ग्रौर ये बौंड बडी ग्रासानी से बिक जाते हैं तथा इसलिये वे उन लोगों के हाथ में वही काम पूरा करते हैं, जो उतने ही मूल्य का नकद रुपया करता। इस प्रकार, इस प्रणाली का केवल यही परिणाम नहीं होता कि सरकारी बौंडों के वार्षिक ब्याज के सहारे काहिली में जीवन बिताने वालों का एक वर्ग उत्पन्न हो जाता है, सरकार तथा जनता के बीच ग्राढतियों का काम करने वाले वित्त-प्रबंधकों के पास बिना किसी कष्ट के दौलत इकट्ठी हो जाती है ग्रौर कर-वसूली का काम करने वालों, सौदागरों ग्रौर कारखानेदारों का जन्म भी हो जाता है, जिनको प्रत्येक राष्ट्रीय ऋण का एक भाग ग्राकाश से गिरी हुई पूंजी के रूप में मिलने लगता है। इसके ग्रलावा, राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के फलस्वरूप सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियां, हर प्रकार की विनिमयशील प्रतिभूतियों का लेन देन, बट्टे का व्यापार, ग्रौर संक्षेप में कहें, तो शेयर बाजार का सट्टा ग्रारम्भ हो जाता है ग्रौर थोडे से ग्राधुनिक बैंक-पतियों के ग्राधिपत्य की नींव पड जाती है।

राष्ट्रीय उपाधियों से विभूषित बडे-बडे बैंक ग्रपने जन्म के समय निजी हित में सट्टा खेलने वाले कुछ ऐसे व्यक्तियों के संघ मात्र थे, जो सरकारों की सहायता करने लगे थे ग्रौर जो राज्य से प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रताप से राज्य को मुद्रा उधार देने की स्थिति में थे। इसीलिये राष्ट्रीय ऋण के संचय का इन बैंकों की शेयर-पूंजी में उत्तरोत्तर होने वाली वृद्धि से ग्रधिक ग्रभ्रान्त प्रमाण ग्रौर कोई नहीं है। इन बैंकों का पूर्ण विकास १६६४ में हुग्रा, जब

[1] विलियम कौबेट ने कहा है कि इंगलैण्ड में सभी सार्वजनिक संस्थाग्रों का "शाही" संस्थाग्रों का नाम दिया जाता है, लेकिन इसकी क्षति-पूर्ति करने के लिये एक "राष्ट्रीय" ऋण (national debt) भी है।

कि इगलण्ड के बैंक की नींव पडी। इगलण्ड के बक ने सरकार को ८ प्रतिशत ब्याज पर मुद्रा उधार देकर श्रीगणेश किया। साथ ही उसको ससद ने इसी पूजी को बैंक-नोटो की शकल में फिर से जनता को उधार देकर मुद्रा ढालने की इजाजत दे दी। उसको इन नोटो के द्वारा हुडिया भुनाने, मालो के दाम पेशगी देने और बहुमूल्य धातुए खरीदने की भी इजाजत मिल गयी। बहुत समय नहीं बीता कि इस प्रत्यय-मुद्रा ने ही, जिसे खुद इस बक ने बनाया था, उस माध्यम का रूप धारण कर लिया, जिसके द्वारा इगलण्ड का बक राज्य को मुद्रा उधार देता था और राज्य की ओर से सरकारी ऋण का ब्याज अदा करता था। इतना भी काफी नहीं था कि बैंक एक हाथ से जितना देता था, उससे अधिक दूसरे हाथ से ले लेता था। इस तरह बराबर लेते रहने के बावजूद वह सदा राष्ट्र का शाश्वत लेनदार बना रहता था और राज्य को दी हुई उसकी एक एक पाई राष्ट्र के मत्थे चढी रहती थी। धीरे धीरे वह अनिवाय रूप से देश के सारे सोने चादी का भाण्डार-गृह और समस्त व्यापारिक प्रत्यय का आकपण केन्द्र बन गया। बक-पतियो, वित्त प्रबधकों, सरकारी बौण्डो के ब्याज के सहारे मजा मारने वालो, दलालो, शेयर-बाजार के सट्टेबाजो आदि के इस पूरे रेवड का यकायक जन्म हो जाने का उनके समकालीन लोगो पर क्या प्रभाव पडा था, यह उस काल की रचनाओ से—उदाहरण के लिये, बोलिगब्रुक की रचनाओ से—स्पष्ट हो जाता है।[1]

राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के साथ-साथ उधार की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का भी जन्म हुआ। इस प्रणाली के पीछे अक्सर किसी न किसी कौम के आदिम सचय का एक स्रोत छिपा रहता है। चुनाचे, वेनिस में चोरी की जिस पद्धति का विकास हुआ था, उसके नीच कृत्य हालैण्ड के पूजीगत धन का एक गुप्त स्रोत थे, क्योकि वेनिस अपने पतन के काल में हालण्ड को बडी बडी रकमें उधार दिया करता था। हालण्ड और इगलण्ड के बीच भी कुछ इसी तरह के सम्बध थे। १८ वीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते डच उद्योग धधे प्रगति की दौड में बहुत पीछे पड गये थे। वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में हालण्ड अब सबसे प्रधान राष्ट्र नहीं रह गया था। इसलिये १७०१ से १७७६ तक उसका एक मुख्य व्यवसाय विशेष कर यह था कि वह अपने महान प्रतिद्वद्वी, इगलैण्ड को पूजी की बडी-बडी रकमें उधार दिया करता था। आजकल इगलण्ड और सयुक्त राज्य अमरीका के बीच भी ऐसा ही सिलसिला चल रहा है। आज जो पूजी बिना किसी जन्म-प्रमाण-पत्र के सयुक्त राज्य अमरीका में प्रकट होती है, वह कल तक इगलण्ड में अग्रेज बच्चो के पूजीकृत रक्त के रूप में निवास करती थी।

राष्ट्रीय ऋण का आधार-स्तम्भ होती है सावजनिक आय। ब्याज आदि के रूप में हर साल जो भुगतान करने पडते है, वे इसी आय में से किये जाते है। इसलिये आधुनिक कर-प्रणाली राष्ट्रीय ऋण-प्रणाली की आवश्यक पूरक है। ऋण लेकर सरकार असाधारण ढग की मदा का खर्चा पूरा कर सकती है, जिसका बोझा करदाताओ को तत्काल अनुभव नहीं होता, लेकिन उसके फलस्वरूप करो में वद्धि करना आवश्यक हो जाता है। दूसरी ओर, एक के बाद

---

[1] Si les Tartares inondaient l Europe aujourd'hui il faudrait bien des affaires pour leur faire entendre ce que c est qu'un financier parmi nous ["यदि तातारी लोग आजकल योरप पर हमला करे, तो उन्हे यह समझाना बहुत ही कठिन होगा कि जिसे हम वित्त प्रबधक कहते है, वह क्या बला होता है"]। (Montesquieu, *Esprit des lois* ग्रथ ४, पृ० ३३, Londres का सस्करण, 1769।)

दूसरा ऋण लेते जाने के कारण चूकि सरकार पर बहुत सारा क़र्ज़ा चढ़ जाता है और उसकी वजह से करो में बहुत वृद्धि हो जाती है, इसलिये नये असाधारण ढग के ख़र्चों के लिये सरकार को मजबूर होकर हमेशा नये ऋण लेने पडते है। आधुनिक राजस्व-नीति की धुरी है जीवन निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनो पर कर लगाना (और इस तरह उनके दामो को बढा देना)। अतएव, आधुनिक राजस्व-नीति के भीतर करो के अपने आप बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति छिपी रहती है। अत्यधिक कर लगाना अब कोई आकस्मिक चीज न रहकर एक सिद्धान्त बन जाता है। चुनाचे, हालण्ड में, जहा इस प्रणाली का सबसे पहले श्रीगणेश किया गया था, महान देशभक्त दे विट्ट ने अपनी रचना "*Maxims*" ('सूत्रावली') में इस प्रणाली की मजदूरो को विनम्र, मितव्ययी और परिश्रमी बनाने—और उनपर कमर-तोड श्रम का बोझा लाद देने—की सबसे अच्छी प्रणाली के रूप में बहुत प्रशसा की है। लेकिन यह प्रणाली मजदूरो का जिस तरह सत्यानाश करती है, उससे हमारा यहा उतना सम्बध नहीं है, जितना इस बात से है कि उसके फलस्वरूप किसानो, दस्तकारों और सक्षेप में कहे, तो निम्न-मध्य वर्ग के सभी तत्वो की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है। इस विषय पर तो पूजीवादी अर्थशास्त्रियो में भी दो मत नहीं हैं। लोगो की सम्पत्ति का अपहरण करने के मामले में आधुनिक कर प्रणाली की कार्यक्षमता सरक्षण की प्रणाली के कारण और भी बढ़ जाती है, जो कि इस प्रणाली का एक अभिन्न अग होती है।

धन के पूजीकरण और जनता के सम्पत्ति अपहरण में सार्वजनिक ऋणो की प्रणाली ने और तदनुरूप राजस्व प्रणाली ने भी जो महत्वपूर्ण भाग लिया है, उसे ध्यान में रखते हुए कौबेट, डबलडे आदि अनेक लेखक ग़लती से इन प्रणालियो को आधुनिक काल में जनता की ग़रीबी का मूल कारण समझ बठे हैं।

सरक्षण की प्रणाली बनावटी ढग से कारख़ानेदारो को निर्मित करने, स्वतत्र कारीगरो की सम्पत्ति का अपहरण करने तथा उत्पादन और जीवन निर्वाह के राष्ट्रीय साधनो का पूजीकरण करने और मध्य युगीन उत्पादन प्रणाली तथा आधुनिक उत्पादन प्रणाली के बीच के सक्रमण-काल को जबदस्ती छोटा कर देने की एक तरकीब थी। इस आविष्कार पर किसका एकाधिकार है, इस प्रश्न को लेकर योरपीय राज्यो ने एक दूसरे को चीरना-फाडना शुरू कर दिया था, और जब एक बार इन राज्यो ने अतिरिक्त मूल्य बनाने वालो की सेवा करना स्वीकार कर लिया, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने न केवल अप्रत्यक्ष रूप से सरक्षण-कर लगाकर और प्रत्यक्ष रूप से निर्यात होने वाले माल पर प्रीमियम देकर स्वय अपनी जनता को मूडा, बल्कि अपने पराधीन देशो में भी हर प्रकार के उद्योग धधो को जबर्दस्ती नष्ट कर दिया। मिसाल के लिये, इगलण्ड ने आयरलैण्ड के ऊनी माल के हस्तनिर्माण के साथ यही किया। योरपीय महाद्वीप में, कोलबेर्ट का अनुकरण करते हुए, इस पूरी क्रिया को अत्यधिक सरल बना दिया गया। यहा आशिक तौर पर आदिम औद्योगिक पूजी प्रत्यक्ष रूप में राज्य के ख़ज़ाने से आयी। मिराबो चिल्ला उठता है "सप्तवर्षीय युद्ध के पहले सैक्सोनी की औद्योगिक समृद्धि का कारण खोजने के लिये बहुत दूर जाने की क्या जरूरत है? अरे, उसका कारण यह था कि राज्य ने १८,००,००,००० का ऋण लिया था!"[1]

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, उसकी सतान का—औपनिवेशिक

[1] Mirabeau, उप० पु०, ग्रथ ६, पृ० १०१।

व्यवस्था, सार्वजनिक ऋणो, भारी करो, सरक्षण प्रणाली, व्यापारिक युद्धो आदि का – आधुनिक उद्योग के बाल्य-काल में विराट पैमाने पर विकास हुआ। आधुनिक उद्योग के जन्म की पूव-सूचना के रूप में निर्दोप व्यक्तियो की एक बडी भारी सख्या की हत्या की गयी। जहाजी बेडे की तरह फक्टरियो के लिये भी लोगो को जबदस्ती भर्ती किया जाता था। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम ततीस वर्षों से लेकर सर एफ० एम० ईडेन के काल तक जिस खौफनाक ढग से खेतिहर आबादी की जमीनें छीनी गयी थीं, उसके ईडेन अभ्यस्त से हो गये थे। इस क्रिया से, जिसको वह पूजीवादी खेती की स्थापना के लिये और "खेती की जमीन तथा चरागाहो की जमीन के बीच उचित अनुपात कायम करने के लिये" नितान्त "आवश्यक" समझते थे, ईडेन साहब को बडा सतोष था और प्रसन्नता थी। लेकिन इतनी आर्थिक सूझ उनमें नहीं थी कि वह यह भी मान लेते कि हस्तनिर्माण प्रणाली के शोषण को फैक्टरी प्रणाली के शोषण में रूपान्तरित करने के लिये और पूजी तथा श्रम-शक्ति के बीच "सच्चा सम्बध" स्थापित करने के लिये बच्चो को चुराना और उनको गुलाम बनाकर रखना भी नितान्त आवश्यक है। ईडेन ने लिखा है "जनता को शायद इस प्रश्न की ओर ध्यान देना चाहिये कि क्या ऐसे किसी उद्योग से भी व्यक्तियो का या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है, जिसको सफलतापूवक चलाने के लिये इसकी आवश्यकता पडती हो कि झोपडो और मुहताजखानो से गरीब बच्चे पकडकर मगवाये जायें, रात के अधिकतर भाग में उनसे बारी-बारी से काम करवाया जाये तथा उनको उस विश्राम से भी वचित कर दिया जाये, जो वैसे तो सभी के लिये अपरिहाय होता है, पर जिसकी बच्चो को सबसे अधिक आवश्यकता होती है, और अलग अलग आयु की तथा विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तिया रखने वाली स्त्रियो और पुरुषो, दोनो को एक ही स्थान पर इस तरह इकट्ठा कर दिया जाये कि केवल एक दूसरे को देख देखकर ही उनका दुश्चरित्र और दुराचारी बन जाना अनिवार्य हो जाये।"[1]

फील्डेन ने लिखा है "डर्बीशायर और नोटिघमशायर की काउण्टियो में और विशेष रूप से लकाशायर में नव आविष्कृत मशीनें प्राय ऐसी नदियो के तट पर बनी हुई बडी फैक्टरियो में इस्तेमाल की गयी हैं, जिनसे पन चक्की चलायी जा सकती है। शहरो से बहुत दूर, इन स्थानो में यकायक हजारो मजदूरो की आवश्यकता होती थी। खास तौर पर लकाशायर उस समय तक बहुत ही कम आबादी वाला, एक उजाड स्थान था, वहा केवल अच्छी आबादी की ही कमी थी। सबसे अधिक माग चूकि छोटी छोटी, फुर्तीली उगलियों वाले नन्हे बच्चो के लिये रहती थी, इसलिये तत्काल ही लन्दन, बिर्मिंघम तथा अन्य स्थानों के सावजनिक मुहताजखानो से सीखतर बच्चो को मगवा भेजने की प्रथा प्रचलित हो गयी। ७ वष से लेकर १३ या १४ वष तक की आयु के ऐसे हजारो छोटे-छोटे निस्सहाय बच्चो को उत्तर में काम करने के लिये भेज दिया गया। प्रथा यह थी कि इन सीखतर बच्चो का मालिक उनको रोटी-कपडा देता था और फैक्टरी के नजदीक "सीखतरो के घरों" में उनको रखता था। उनकी देखरेख के लिये कुछ निरीक्षक नियुक्त कर दिये जाते थे, जिनका हित इस बात में होता था कि बच्चो से ज्यादा से ज्यादा काम लें, क्योंकि वे बच्चो से जितना अधिक काम ले पाते थे, उनको उतनी ही अधिक तनखाह मिलती थी। जाहिर है, इसका नतीजा होता था बेरहमी कारखानो वाले बहुत से डिस्ट्रिक्टो में और, मेरे खयाल में, खास तौर से उस

[1] Eden उप० पु० खण्ड १, पुस्तक २, अध्याय १, पृ० ४२१।

अपराधी काउण्टी में, जिससे मेरा सम्बध है (अर्थात लकाशायर में), इस निर्दोष, निस्सहाय बच्चो को, जिनको कारखानेदारो के सरक्षण में रख दिया गया था, अत्यत मम भेदी क्रूरताओ का शिकार बनना पडता था। उनसे इतना अधिक काम कराया जाता था कि अत्यधिक परिश्रम के कारण वे मानो मृत्यु के कगार पर पहुच जाते थे उनको कोडो से मारने, जजीरो में जकडकर रखने और यातनाए देने के नये-नये तरीक़े निकालने में क्रूरता ने बडी सूझ-बूझ का परिचय दिया था उनमें से बहुतो को काम के समय कोडो से पीटा जाता था और भूखा रखा जाता था, जिससे उनकी हड्डिया निकल आती थीं और यहा तक कि कुछ तो आत्महत्या तक कर लेते थे जनता की निगाह से छिपी हुई डर्बीशायर, नोटिघमशायर और लकाशायर की सुदर और मनोरम घाटिया दारुण और निजन यातना गृहो में और बहुतो के लिये तो वध-स्थलो में परिणत हो गयी थीं। कारखानेदारो को बेशुमार मुनाफे होते थे, लेकिन इससे उनकी भूख सतुष्ट होने के बजाय अधिकाधिक तीव्र होती जाती थी और इसलिये कारखानेदारो ने एक ऐसी तरक़ीब निकाली, जिससे उनको आशा थी कि उनके मुनाफे बराबर बढ़ते ही जायेंगे और उनका बढना कभी नहीं रुकेगा। उन्होंने उस प्रणाली का प्रयोग करना आरम्भ किया, जो "रात को काम करना" कहलाती थी। मतलब यह कि जब मज़दूरो का एक दल दिन में लगातार काम करते रहने के कारण थककर चूर हो जाये, तब तक एक दूसरा दल रात भर काम करने को तैयार हो जाये दिन-पाली वाले मजदूर तब उन्हीं बिस्तरो पर जाकर लेट रहते हैं, जिनपर से रात-पाली वाले उठकर आये ह, और रात पाली वाले उन बिस्तरो में शरण पाते हैं, जिनको दिन-पाली वाले सुबह को खाली कर देते हैं। लकाशायर की परम्परा है कि वहा बिस्तर कभी ठडे नहीं होते।"[1]

---

[1] John Fielden, *The Curse of Factory System*, London 1836 पृ० ५,६। फैक्टरी-व्यवस्था की इसके पहले की कलकपूण विशेषताओ के बारे मे देखिये Dr Aikin की रचना '*Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester* (London 1795 पृ० २१६) और Gisborne की रचना *Inquiry into the Duties of Men* ['मनुष्यो के कतव्या की विवेचना'] (१७६५, खण्ड २)।—जब भाप के इजन ने देहात मे जल प्रपातो के निकट स्थित फैक्टरियो को वहा से उखाडकर शहरो के बीचो बीच ला खडा किया, तो अतिरिक्त मूल्य बनाने वाले "परिवजनशील" पूजीपति को बच्चा के रूप मे पहले से तैयार मानव सामग्री मिल गयी —उसे गुलामो की तलाश मे मुहताजखाना के दरवाजे नही खटखटाने पडे।—जब ("plausibility [बगुलाभगती] के मती" पील के बाप) सर आर० पील ने १८१५ मे बच्चा के सरक्षण के लिये अपना विधेयक ससद मे पेश किया, तो Bullion Committee (कलधौत समिति) के प्रतिभाशाली सदस्य और रिकार्डो के अतरग मित्र, फ्रासिस हौनर ने हाउस आफ कामस मे भाषण देत हुए कहा था "यह काफी प्रसिद्ध बात है कि एक दिवालिया व्यक्ति की सम्पत्ति के साथ साथ इन बच्चा की (यदि इस शब्द का प्रयोग वाछनीय समझा जाये तो) एक टोली भी बिक्री के लिये पेश की गयी थी और सम्पत्ति के एक भाग के रूप मे उसका खुले आम विनापन किया गया था। Court of King s Bench (राज-न्यायालय) के सामने दो वष पहले एक अत्यत दारुण उदाहरण प्रस्तुत हुआ था। लन्दन के एक क्षेत्र के अधिकारिया ने कुछ बच्चा को सीखतर मजदूरा के रूप मे एक कारखानदार के यहा नौकर रखवा दिया था। वहा से वे एक दूसरे कारखानेदार के यहा भज दिये गये। उसने

इंगलैण्ड में सूती उद्योग ने बच्चों की दासता का आगमन किया था, पर संयुक्त राज्य अमरीका में उसने पुराने जमाने की न्यूनाधिक पितृसत्तात्मक दासता को एक व्यापारिक शोषण-व्यवस्था में रूपान्तरित कर देने के लिये बढ़ावा दिया। असल में, योरप में मजदूरी पर काम करने वालों की जो छद्म दासता स्थापित हो रही थी, उसके आधारस्तम्भ के रूप में नयी दुनिया में विशुद्ध दासता स्थापित करना आवश्यक था।[1]

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के "शाश्वत प्राकृतिक नियमों" की स्थापना करने के

यहां कुछ दयालु व्यक्तियों ने उनको एकदम भुखमरी (absolute famine) की हालत में देखा। इससे भी अधिक भयंकर एक उदाहरण मुझे देखने को मिला था, जब मैं एक संसदीय समिति के सदस्य के रूप में काम कर रहा था। वह यह कि कुछ ही वर्ष पहले लन्दन के एक गिरजे के साथ लंकाशायर के एक कारखानेदार का यह समझौता हो गया था कि हर बीस स्वस्थ बच्चों के साथ उसको एक पागल बच्चे को भी अपने यहां नौकर रखना होगा।"

[1] १७९० में अंग्रेजों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में हर स्वतंत्र मनुष्य के पीछे दस, फ्रांसीसियों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में चौदह और डच लोगों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में तेईस दास थे। (Henry Brougham, "*An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers* [हेनरी ब्रूघम, 'योरपीय शक्तियों की औपनिवेशिक नीति का विवेचन'], Edinburgh, 1803 खण्ड २, पृ० ७४।)

लिये, श्रम करने के लिये श्रावश्यक तमाम साधनो से मजदूर के सम्बध विच्छेद की क्रिया को पूरा करने के लिये, एक छोर पर उत्पादन तथा जीवन निर्वाह के साधनो को पूजी में रूपातरित करने के लिये और दूसरे छोर पर जन-साधारण को आधुनिक समाज की उस बनावटी पदावार में, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में, या "स्वतत्र मेहनतकश गरीबो" में, बदल डालने के लिये इतना सब कष्ट और दुख उठाना जरूरी था (tantae molis erat)।[1] यदि, औगियेर[2] के कथनानुसार, मुद्रा "अपने गाल पर रक्त का एक जन्मजात धब्बा लिये हुए ससार में आती है", तो हम कहेंगे कि जब पूजी ससार में आती है, तब उसके सिर से पर तक प्रत्येक छिद्र से रक्त और गदगी बहती रहती है।[3]

---

[1] Labouring poor ("मेहनतकश गरीबा") का इगलैण्ड के कानूना मे उसी क्षण से जिक्र होने लगता है, जिस क्षण से मजदूरी पर काम करन वाले मजदूरा का वग नजर आने लगता है। इस नाम का एक ओर तो 'idle poor' ("काहिल गरीबा"), भिखारियो आदि के व्यतिरेक मे प्रयोग किया जाता है, और दूसरी ओर उसका उन मजदूरा के मुकाबले मे इस्तेमाल किया जाता है, जिनके पास, उन कबूतरा की तरह, जिनके पर अभी काटे नही गये है, अब भी श्रम करने के कुछ साधन मौजूद है। कानूना की पुस्तका से यह नाम अथशास्त्र मे प्रवेश कर गया, और कुलपेपर, जे० चाइल्ड आदि की रचनाओ से वह ऐडम स्मिथ और ईडेन का मिला। इतना सब जाने के बाद हम खुद इसका निणय कर सकते ह कि जब execrable political cant monger ("घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर रचने मे सिद्धहस्त") एडमण्ड बक ने labouring poor ("मेहनतकश गरीब") नाम के प्रयोग को 'execrable political cant ("घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर") कहा था, तब उन्हाने कितने सदभाव का परिचय दिया था। यह खुशामदी आदमी जब अग्रेज धनिक-तत्र से तनखाह पाता था, तब वह फ्रासीसी क्राति के खिलाफ की जाने वाली कारवाइया की प्रशसा किया करता था, और उसी प्रकार जब अमरीकी उपद्रवो के शुरू मे वह उत्तरी अमरीका के उपनिवेशा से तनखाह पाता था, तब उसने इगलैण्ड के धनिक-तत्र के विरुद्ध उदारपथी होने का ढोग रचा था। असल मे, वह शत प्रति शत एक असस्कृत बुर्जोआ था। उसने लिखा था "वाणिज्य के नियम प्रकृति के नियम हैं और इसलिये वे ईश्वर के बनाये हुए नियम हैं।" (E Burke *Thoughts and Details on Scarcity* London 1800 पृ० ३१, ३२।) अत कोई आश्चय नही, यदि वह, ईश्वर तथा प्रकृति के नियमो के अनुसार, अपने को सदा सबसे ऊचे दामो मे बेचने को तैयार रहता था। जिन दिनो यह एडमण्ड बक उदारपथी था, उन दिनो का उसका एक अच्छा चित्र हमे रेवरेण्ड टकर की रचनाओ मे देखने को मिलता है। टकर पादरी था और अनुदार दली था। परन्तु फिर भी, जहा तक बाकी बातो का सम्बध है, वह एक स्वाभिमानी व्यक्ति और योग्य अथशास्त्री था। आजकल अथशास्त्र मे जैसी गहित असैद्धान्तिकता का बोलबाला है और "वाणिज्य के नियमा' मे जिसका अटूट विश्वास है, उसको देखते हुए हमारा यह परम कतव्य हो जाता है कि बक जैसे उन लोगा की असलियत को बार बार खोलकर रखे, जो अपने उत्तराधिकारियो से केवल एक ही बात मे भिन्न थे, और वह यह कि उनमें कुछ प्रतिभा थी।

[2] Marie Augier *Du Credit Public* Paris 1842।

[3] *Quarterly Reviewer* ने कहा है कि पूजी अशाति और सघप से दूर भागती है और बहुत भीरू होती है। यह बात सच है, परन्तु केवल इतना ही कहना प्रश्न को बहुत अपूण रूप मे प्रस्तुत करना

वत्तीसवा अध्याय

पूजीवादी सचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति

पूजी के आदिम सचय का – अर्थात् उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति का – आखिर क्या मतलब होता है? जहा तक कि आदिम सचय में दास और कृषि-दास तत्काल ही मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो में रूपान्तरित नहीं हो जाते और इसलिये जहा तक कि उसमें केवल रूप का परिवतन नहीं होता, वहा तक उसका केवल इतना ही अथ होता है कि प्रत्यक्ष रूप से अपने हित में उत्पादन करने वालो की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता है, अर्थात् खुद श्रम करने वाले की निजी सम्पत्ति नष्ट कर दी जाती है।

सामाजिक, सामूहिक सम्पत्ति की विरोधी, निजी सम्पत्ति केवल वहीं होती है, जहा श्रम के साधन और श्रम करने के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितिया व्यक्तियो की निजी सम्पत्ति होती ह। लेकिन ये व्यक्ति मजदूर ह या मजदूर नहीं ह, इसके अनुसार निजी सम्पत्ति का स्वरूप भी भिन्न होता है। पहली दृष्टि में सम्पत्ति के जो असख्य भिन्न भिन्न रूप नजर आते हैं, वे इन दो चरम अवस्थाओ के बीच की अवस्थाओ के अनुरूप होते हैं।

अपने उत्पादन के साधनो पर मजदूर का निजी स्वामित्व छोटे उद्योग का आधार होता है, चाहे वह छोटा उद्योग खेती से सम्बधित हो या हस्तनिर्माण से अथवा दोनो से। यह छोटा उद्योग सामाजिक उत्पादन के विकास और खुद मजदूर के स्वतत्र व्यक्तित्व के विकास की एक आवश्यक शर्त होता है। बेशक, उत्पादन की यह क्षुद्र प्रणाली दास प्रथा, कृषि-दास प्रथा और

है। जिस प्रकार पहले कहा जाता था कि प्रकृति शून्य से घृणा करती है, उसी प्रकार पूजी इसे बहुत नापसन्द करती है कि मुनाफा न हो या बहुत कम हो। पर्याप्त मुनाफा हो, तो पूजी बहुत साहस दिखाती है। करीब १० प्रतिशत मुनाफा मिले, तो पूजी को किसी भी स्थान पर लगाया जा सकता है। २० प्रतिशत का मुनाफा निश्चित हो, तो पूजी में उत्सुकता दिखाई पडने लगती है। ५० प्रतिशत की आशा हो, तो पूजी स्पष्ट ही दिलेर बन जाती है। १०० प्रतिशत का मुनाफा निश्चित हो, तो वह मानवता के सभी नियमो को पैरो तले रौंदने को तैयार हो जायेगी। और यदि ३०० प्रतिशत मुनाफे की आशा हो, तो ऐसा कोई भी अपराध नही है, जिसके करने मे पूजी को सकोच होगा, और कोई भी खतरा ऐसा नही है, जिसका सामना करने को वह तैयार नही होगी। यहा तक कि अगर पूजी के मालिक के फासी पर टाग दिये जाने का खतरा हो, तो भी वह नही हिचकिचायेगी। यदि अशान्ति और सघष से मुनाफा होता दिखाई देगा, तो वह इन दोनो चीजो को जी खोलकर प्रोत्साहन देगी। यहा जो कुछ कहा गया है, चोरी का व्यापार और दासो का व्यापार इसको पूरी तरह प्रमाणित करते हैं।" (T J Dunning *Trades Unions and Strikes* London 1860, पृ० ३५, ३६।)

पराधीनता की अन्य अवस्थाओ में भी पायी जाती है। लेकिन यह फलती फूलती है, अपनी समस्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और पर्याप्त एव प्रामाणिक रूप प्राप्त करती है केवल उसी जगह, जहा मजदूर अपने श्रम के साधनो का खुद मालिक होता है और उनसे खुद काम लेता है, यानी जहा किसान उस धरती का मालिक होता है, जिसे वह जोतता है, और दस्तकार उस औजार का स्वामी होता है, जिसका वह सिद्धहस्त ढग से प्रयोग करता है।

उत्पादन की इस प्रणाली के होने के लिये यह आवश्यक है कि जमीन छोटे छोटे टुकडो में बटी हुई हो और उत्पादन के अन्य साधन बिखरे हुए हो। जिस प्रकार इस प्रणाली के रहते हुए उत्पादन के इन साधनो का सकेन्द्रण नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि उसके अन्तर्गत सहकारिता, उत्पादन की हर अलग-अलग क्रिया के भीतर श्रम विभाजन, प्रकृति की शक्तियो के ऊपर समाज का नियत्रण तथा उनका समाज के द्वारा उत्पादक ढग से उपयोग और सामाजिक उत्पादक शक्तियो का स्वतत्र विकास हो सके। यह प्रणाली तो केवल एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था और केवल एक ऐसे समाज से ही मेल खाती है, जो सकुचित तथा न्यूनाधिक रूप में आदिम सीमाओ के भीतर ही गतिमान रहता है। जसा कि पेक्वेयर ने ठीक ही कहा है, इस प्रणाली को चिरस्थायी बना देना "हर चीज को सवत्र अल्पविकसित बने रहने का आदेश दे देना है"। अपने विकास की एक खास अवस्था में पहुचने पर यह प्रणाली स्वय अपने विघटन के भौतिक साधन पैदा कर देती है। बस उसी क्षण से समाज के गर्भ में नयी शक्तिया और नयी भावनाए जन्म ले लेती हैं। परन्तु पुराना सामाजिक सगठन उनको शृखलाओ में जकडे रहता है और विकसित नहीं होने देता। इस सामाजिक सगठन को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वह नष्ट कर दिया जाता है। उसका विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनो का सामाजिक दृष्टि से सकेंद्रित साधनो में रूपान्तरित हो जाना, अर्थात बहुत से लोगो की क्षुद्र सम्पत्ति का थोडे से लोगो की अति विशाल सम्पत्ति में बदल जाना, अधिकतर जनता की भूमि, जीवन निर्वाह के साधनो तथा श्रम के साधनो का अपहरण — साधारण जनता का यह भयानक तथा अत्यन्त कष्टदायक सम्पत्ति अपहरण पूजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है। उसमें नाना प्रकार के बल प्रयोग के तरीको से काम लिया जाता है। हमने इनमें से केवल उन्हीं पर इस पुस्तक में विचार किया है, जो पूजी के आदिम सचय के तरीको के रूप में युगान्तरकारी ह। प्रत्यक्ष रूप में अपने हित में उत्पादन करने वाला का सम्पत्ति अपहरण निमम ध्वस लिप्सा से और अत्यन्त जघन्य, अत्यन्त कुत्सित, क्षुद्रतम, नीचतम तथा अत्यन्त गर्हित भावनाओ से अनुप्रेरित होकर किया जाता है। अपने आप कमायी हुई सम्पत्ति का स्थान, जो मानो पथक रूप से श्रम करने वाले स्वतत्र व्यक्ति के श्रम के लिये आवश्यक तत्वो के साथ मिलकर एक हो जाने पर आधारित है, पूजीवादी निजी सम्पत्ति ले लेती हैं, जो कि दूसरे लोगो के नाम मात्र के लिये स्वतत्र श्रम पर — अर्थात मजदूरी पर — आधारित होती है।[1]

---

[1] 'Nous sommes dans une condition tout a fait nouvelle de la societe nous tendons a separer toute espece de propriete d avec toute espece de travail" ["हम इस समय पूणतया नयी सामाजिक परिस्थितियो मे रह रहे हैं हमारी प्रवत्ति यह है कि हम हर प्रकार की सम्पत्ति का हर तरह के श्रम से सम्बध विच्छेद कर देना चाहते हैं"]। (Sismondi '*Nouveaux Principes d Econ Polit*" खण्ड २, पृ० ४३४।)

रूपान्तरण की यह क्रिया जसे ही पुराने समाज को ऊपर से नीचे तक काफी छिन्न भिन्न कर देती है, मजदूर जसे ही सर्वहारा बन जाते ह और उनके श्रम के साधन पूजी में रूपान्तरित हो जाते हैं, पूजीवादी उत्पादन-प्रणाली खुद जैसे ही अपने पैरो पर खडी हो जाती है, वसे ही श्रम का और अधिक सामाजीकरण करने का प्रश्न, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों को सामाजिक ढग से व्यवहारित साधनो में और इसलिये सामूहिक साधनो में और भी अधिक रूपान्तरित कर देने का प्रश्न और साथ ही निजी सम्पत्ति के मालिको की सम्पत्ति का अधिक अपहरण करने का प्रश्न एक नया रूप धारण कर लेते ह। अब जिसका सम्पत्ति अपहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह खुद अपने लिये काम करने वाला मजदूर नहीं है, बल्कि वह है बहुत से मजदूरो का शोषण करने वाला पूजीपति।

यह सम्पत्ति-अपहरण स्वय पूजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियमो के अमल में आने के फलस्वरूप पूजी के *केन्द्रीयकरण* के द्वारा सम्पन्न होता है। एक पूजीपति हमेशा बहुत से पूजीपतियो की हत्या करता है। इस केन्द्रीयकरण के साथ-साथ, या यू कहिये कि कुछ पूजीपतियो द्वारा बहुत से पूजीपतियो के इस सम्पत्ति-अपहरण के साथ-साथ, अधिकाधिक बढते हुए पमाने पर श्रम क्रिया का सहकारी स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिये सचेतन ढग से विज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढग से जोता-बोया जाता है, श्रम के औजार ऐसे औजारो में बदलते जाते ह, जिनका केवल सामूहिक ढग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनो का सयुक्त, सामाजीकृत श्रम के साधनो के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनो का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है, सभी कौमें ससार व्यापी मण्डी के जाल में फस जाती हैं और इसलिये पूजीवादी शासन का स्वरूप अधिकाधिक अन्तरराष्ट्रीय होता जाता है। रूपान्तरण की इस क्रिया से उत्पन्न होने वाली समस्त सुविधाओ पर जो लोग जबर्दस्ती अपना एकाधिकार कायम कर लेते हैं, पूजी के उन बडे-बडे स्वामियो की सख्या यदि एक ओर बराबर घटती जाती है, तो, दूसरी ओर, गरीबी, अत्याचार, गुलामी, पतन और शोषण में लगातार वद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मजदूर-वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वग सख्या में बराबर बढता जाता है और स्वय पूजीवादी उत्पादन क्रिया का यत्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासन-बद्ध, एकजुट और सगठित करता जाता है। पूजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिये एक बन्धन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अन्तगत जन्मी है और फूली फली है। उत्पादन के साधनो का केन्द्रीयकरण और श्रम का सामाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिंदु पर पहुच जाते ह, जहा वे अपने पूजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड दिया जाता है। पूजीवादी निजी सम्पत्ति की मौत की घण्टी बज उठती है। सम्पत्ति अपहरण करने वालो को सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है।

हस्तगतकरण की पजीवादी प्रणाली, जो कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का फल होती है, पूजीवादी निजी सम्पत्ति को जन्म देती है। खुद मालिक के श्रम पर आधारित व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का इस प्रकार पहली बार निषेध होता है। परन्तु पूजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियमो की निर्ममता के साथ खुद अपने निषेध को जन्म देता है। यह निषेध का निषेध होता है। इससे उत्पादन के लिये निजी सम्पत्ति की पुनर्स्थापना नहीं होती, किन्तु उसे पूजीवादी युग की उपलब्धियो पर आधारित—अर्थात सहकारिता और भूमि तथा उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित—व्यक्तिगत सम्पत्ति मिल जाती है।

व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न होने वाली बिखरी हुई निजी सम्पत्ति के पूंजीवादी निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया स्वभावतया पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के सामाजीकृत सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया की तुलना में कहीं अधिक लम्बी, कठिन और हिंसात्मक होती है, क्योंकि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति तो व्यवहार में पहले से ही सामाजीकृत उत्पादन पर आधारित होती है। पहली क्रिया में जबरदस्ती अधिकार करने वाले चन्द व्यक्तियों ने आम जनता की सम्पत्ति का अपहरण किया था, दूसरी क्रिया में आम जनता जबरदस्ती अधिकार करने वाले चन्द व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण करती है।[1]

---

[1] "पूंजीपति-वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग-धंधों की उन्नति करता है, इससे आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मजदूरों का बिलगाव खतम हो जाता है और उसकी जगह एकता पर आधारित उनका क्रान्तिकारी संगठन पैदा हो जाता है। इस तरह, आधुनिक उद्योग-धंधों का विकास पूंजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस जमीन को ही खिसका देता है, जिसके आधार पर वह उत्पादन और पैदावार का अपहरण करता है। इसलिये, पूंजीपति वर्ग जो सबसे बड़ी चीज़ पैदा करता है, वह है खुद उसी की कब्र खोदने वाले लोगों का वर्ग। उसका खातमा और मजदूर-वर्ग की जीत, दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं ... पूंजीपति वर्ग के खिलाफ आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सब में केवल मज़दूर वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग-धंधों की चपेट में आकर नष्ट-भ्रष्ट और अन्त में गायब हो जाते हैं, मज़दूर वर्ग ही उनकी विशेष और बुनियादी पैदावार है। निम्न मध्यम वर्ग के लोग – छोटे कारखानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान, ये सब – अपनी मध्य वर्गीय हस्ती को बनाये रखने के लिये पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं ... वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं।" (Karl Marx und Friedrich Engels *Manifest der Kommunistischen Partei* [कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र'], London, 1848 पृ० ६, ११।)

तेतीसवा अध्याय

उपनिवेशीकरण का आधुनिक सिद्धान्त[1]

अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति के दो भिन्न प्रकारो को सिद्धान्ततः गडबडा देता है। इनमें से एक प्रकार की निजी सम्पत्ति उत्पादक के अपने श्रम पर आधारित होती है और दूसरी प्रकार की निजी सम्पत्ति अन्य लोगो के श्रम से काम लेने पर आधारित होती है। अर्थशास्त्र यह भूल जाता है कि दूसरी प्रकार की सम्पत्ति न केवल पहली प्रकार की सम्पत्ति का प्रत्यक्ष प्रतिवाद होती है, बल्कि वह एकमात्र उसकी कब्र पर ही खडी हो सकती है।

अर्थशास्त्र की मातृभूमि – पश्चिमी योरप – में आदिम सचय की क्रिया न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण हो चुकी है। यहा पूजीवादी शासन ने या तो प्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रीय उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है और या उन देशो में, जहा आर्थिक परिस्थितियो का कम विकास हुआ है, वह कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में समाज के उन सभी स्तरो का नियत्रण करने लगा है, जो वैसे तो उत्पादन की प्राचीन प्रणाली से सम्बध रखते ह, पर नयी प्रणाली के साथ-साथ क्रमिक पतनोन्मुख अवस्था में जीवित ह। पूजी के इस बने-बनाये तयार ससार पर अर्थशास्त्री क़ानून और सम्पत्ति की अपनी उन धारणाओ को लागू करता है, जो उसको पूर्व-पूजीवादी युग से विरासत में मिली ह, और जितने जोरो से तथ्य उसकी विचारधारा का खण्डन करते ह, वह इन धारणाओ को लागू करने में उतने ही अधिक व्यग्र उत्साह और पाखण्ड का प्रदर्शन करता है।

उपनिवेशो की बात दूसरी है। वहा हर जगह पूजीवादी शासन उस उत्पादक के प्रतिरोध से टकराता है, जो श्रम के लिये आवश्यक तत्वो का स्वामी होने के नाते उस श्रम का खुद धनी बनने के लिये, न कि पूजीपति का धन बढाने के लिये उपयोग करता है। इन दो सर्वथा विरोधी अर्थ व्यवस्थाओ का विरोध यहा पर व्यवहार में दोनो के सघर्ष के रूप में प्रकट होता है। जहा कहीं पूजीपति के पीछे उसकी मातृभूमि का बल होता है, वहा वह उत्पादक के स्वतत्र श्रम पर आधारित उत्पादन तथा हस्तगतकरण की प्रणालियो को जबदस्ती अपने रास्ते से हटा देने की चेष्टा करता है। जो स्वार्थ पूजी के चाटुकार, अर्थशास्त्री, को स्वदेश में यह घोषणा करने के लिये विवश कर देता है कि उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली और उसकी विरोधी प्रणाली,

---

[1] यहा हम असली उपनिवेशो की चर्चा कर रहे है, जहा की धरती अछूती थी और जिन्हे स्वतत्र आवासियो ने आबाद किया था। आर्थिक दृष्टि से सयुक्त राज्य अमरीका आज भी योरप का एक उपनिवेश ही है। इसके अलावा, वे पुराने बागान भी इस कोटि मे सम्मिलित है, जहा दास प्रथा का अन्त कर दिये जाने के फलस्वरूप पहले की परिस्थितिया एकदम बदल गयी है।

दोनो सिद्धात की दृष्टि से एक ही ह, यही स्वार्थ उपनिवेशो में उसे सच्ची बात कहने के लिये और उत्पादन की दोनो प्रणालियो के विरोध को स्वीकार करने के लिये (to make a clean breast of it) मजबूर कर देता है। इसी उद्देश्य से वह यह साबित करता है कि जब तक मजदूरो की सम्पत्ति का अपहरण नहीं किया जाता और तदनुसार उनके उत्पादन के साधनों को पूजी में नहीं बदल दिया जाता, तब तक श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति का विकास,— सहकारिता, श्रम विभाजन, बडे पमाने पर मशीनो का उपयोग आदि, सब असम्भव रहते ह। तथाकथित राष्ट्रीय धन को बढ़ाने के लिये अर्थशास्त्री जनता को बनावटी ढग से गरीब बनाये रखने के उपाय खोजता है। इसलिये, यहा पर उसका तर्कपूर्ण पक्ष-समथन का कवच सडी हुई लकडी की तरह थोडा थोडा करके टूटने और बिखरने लगता है।

ई० जी० वेकफील्ड को उपनिवेशो के बारे में कोई नयी बात खोजकर निकालने का श्रेय नहीं है,[1] उनको श्रेय इस बात का है कि उन्होंने उपनिवेशो में इस सत्य की खोज की है कि मातभूमि में पायी जाने वाली पूजीवादी उत्पादन की परिस्थितिया सचमुच कसी ह। जिस प्रकार सरक्षण की प्रणाली ने अपने प्रारम्भिक दिनो में[2] मातृभूमि में बनावटी ढग से पूजीपतियो को पैदा करने की कोशिश की थी, उसी प्रकार वेकफील्ड के उपनिवेशीकरण के सिद्धान्त ने, जिसे कुछ समय तक इगलैण्ड ने ससद में कानून बनाकर जबदस्ती लागू करने की कोशिश की थी, उपनिवेशो में मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूरो को बनावटी ढग से पदा करने की चेष्टा की। इसे वेकफील्ड ने "systematic colonization ("सुनियोजित उपनिवेशीकरण") का नाम दिया है।

उपनिवेशो में वेकफील्ड ने सबसे पहले यह पता लगाया कि मुद्रा, जीवन-निर्वाह के साधनों, मशीनो और उत्पादन के अन्य साधनो का स्वामी होने पर भी आदमी पर उस वक्त तक पूजीपति होने की छाप अकित नहीं होती, जब तक कि पूजीपति के साथ परस्पर सम्बद्ध, मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर भी वहा नहीं होता, यानी जब तक कि वहा एक और आदमी ऐसा नहीं होता, जो स्वेच्छा से अपने को बेचने के लिये मजबूर हो। वेकफील्ड ने पता लगाया कि पूजी कोई वस्तु नहीं है, बल्कि व्यक्तियो के बीच पाया जाने वाला एक ऐसा सामाजिक सम्बध है, जो वस्तुओ के माध्यम से स्थापित होता है।[3] इनको इस बात का बडा दुख है कि मि० पील इगलण्ड से पश्चिमी आस्ट्रेलिया के स्वान-नदी नामक स्थान को जाते समय अपने साथ ५०,०००

---

[1] आधुनिक उपनिवेशीकरण के विषय में वेकफील्ड ने जो दूरदर्शितापूण बातें कही ह उनको मिराबो (बडे) और फिज़िओक्रेट्स पहले ही कह चुके थे, और उनके भी पहले अग्रेज अथशास्त्रिया ने वे सब बातें कह दी थी।

[2] बाद को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के सघष मे सरक्षण प्रणाली एक अस्थायी आवश्यकता बन गयी। लेकिन उसका प्रयोजन कुछ भी हो, उसके परिणाम सदा एक जैसे ही होते हैं।

[3] "हब्शी हब्शी होता है। कुछ खास तरह की परिस्थितियो मे वह दास बन जाता है। म्यूल कपास कातने की एक मशीन होता है। केवल कुछ खास तरह की परिस्थितिया मे ही वह पूजी बन जाता है। जैसे सोना खुद अपने मे मुद्रा नही होता और चोनी खुद चीनी का दाम नही होती, वैसे ही इन परिस्थितिया के बाहर म्यूल भी पूजी नही होता पूजी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बध है। वह उत्पादन का एक ऐतिहासिक सम्बध है।" (Karl Marx '*Lohnarbeit und Kapital*, '*Neue Rheinische Zeitung* के अक २६६ में, ७ अप्रैल १८४९।)

पौण्ड की क़ीमत के जीवन निर्वाह और उत्पादन के साधन ले गये थे और साथ ही उन्होंने अपने साथ मज़दूर-वर्ग के ३,००० व्यक्ति—स्त्री, पुरुष और बच्चे—भी अपने साथ ले जाने की दूरदर्शिता दिखायी थी, मगर गन्तव्य स्थान पर पहुंचते ही यह हालत हो गयी कि "मि० पील के पास एक भी नौकर नहीं रह गया, जो उनका बिस्तर बिछा दे या नदी से पानी ले आये।"[1] बेचारे मि० पील! वह सब कुछ लेकर स्वान-नदी पहुंचे थे, मगर केवल इंगलैण्ड की उत्पादन प्रणाली साथ लाना भूल गये थे!

वेकफ़ील्ड के नीचे दिये गये आविष्कारों को समझने के लिये दो बातें पहले से ही कह देना आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि उत्पादन और जीवन निर्वाह के साधन जब तक प्रत्यक्ष रूप से अपने हित में उत्पादन करने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति रहते हैं, तब तक वे पूंजी नहीं होते। ये साधन केवल उन्हीं परिस्थितियों में पूंजी बनते हैं, जिनमें वे साथ ही मज़दूर का शोषण करने और उसको पराधीन बनाने के साधनों के रूप में भी काम में आते हैं। लेकिन अर्थशास्त्री के मस्तिष्क में उनकी यह पूंजीवादी आत्मा उनकी भौतिक देह से इतने अंतरंग रूप से जुड़ी रहती है कि अर्थशास्त्री उनको सभी परिस्थितियों में, यहां तक कि उन परिस्थितियों में भी, जब कि वे पूंजी की सर्वथा विरोधी अवस्था में होते हैं, पूंजी ही कहता है। वेकफ़ील्ड भी यही ग़लती करते हैं। इसके अलावा, यदि उत्पादन के साधनों के टुकड़े-टुकड़े करके उनको स्वयं अपने हित में काम करने वाले बहुत से स्वतंत्र मज़दूरों के बीच उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बांट दिया जाये, तो उसे वह पूंजी का समान बटवारा कहते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्री वही काम करता है, जो सामन्ती विधिवेत्ता ने किया था। सामन्ती विधिवेत्ता ने सामन्ती विधि से प्राप्त नामों की पर्चियां विशुद्ध मुद्रागत सम्बंधों पर चिपका दी थीं।

वेकफ़ील्ड ने लिखा है "यदि यह मानकर चला जाये कि समाज के सभी सदस्यों के पास पूंजी का समान भाग है, तो कोई व्यक्ति जितनी पूंजी का ख़ुद अपने हाथों से उपयोग कर सकता है, उससे अधिक पूंजी जमा करने की उसे इच्छा न होगी। अमरीका की नयी बस्तियों में कुछ हद तक इसी तरह की हालत है। वहां भूमि पर अधिकार करने की प्रबल इच्छा मज़दूरी पर काम करने वाले मज़दूरों के वर्ग को अस्तित्व में नहीं आने देती।"[2] इसलिये जब तक मज़दूर ख़ुद अपने लिये संचय कर सकता है,—और यह वह उस वक्त तक करता रहेगा, जब तक कि वह अपने उत्पादन के साधनों का ख़ुद मालिक रहता है,—तब तक पूंजीवादी संचय का होना और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व में आना असम्भव रहता है। कारण कि इन दो चीज़ों के लिये मज़दूरी पर काम करने वाले मज़दूरों के जिस वर्ग की आवश्यकता होती है, उसका उस समय तक अभाव रहता है। तब फिर पुराने योरप में मज़दूर से वे तमाम साधन कैसे छीने गये, जो उसके श्रम के लिये आवश्यक थे? अर्थात वहां पूंजी और मज़दूरी का सह अस्तित्व कैसे कायम किया गया? एक बिल्कुल मौलिक ढंग के सामाजिक करार के द्वारा। "पूंजी के संचय को प्रोत्साहन देने के लिये मनुष्य जाति ने एक सरल उपाय का उपयोग किया है।" ज़ाहिर है, असल में तो ऐडम स्मिथ के समय से ही यह पूंजी का संचय मनुष्य जाति के अस्तित्व के एकमात्र एवं अंतिम लक्ष्य के रूप में उसके कल्पना लोक में मण्डरा रहा था। वह

---

[1] E G Wakefield, '*England and America*' (ई० जी० वेकफ़ील्ड, 'इंगलैण्ड और अमरीका'), London, 1833 खण्ड २, पृ० ३३।

[2] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १७।

उपाय यह है कि "मनुष्य जाति ने अपने को पूजी के मालिको और श्रम के मालिको में विभाजित कर दिया है यह विभाजन सहकारिता और सयोजन का फल था।"[1] सक्षेप में, "पूजी के सचय" के सम्मान में मनुष्य जाति के अधिकतर भाग ने खुद अपनी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। अस्तु कोई भी यह सोचेगा कि आत्मत्याग की यह उन्मत्त भावना विशेष कर उपनिवेशो में सबसे अधिक खुलकर सामने आयेगी, क्योकि केवल उपनिवेशा में ही वे मनुष्य तथा वे परिस्थितिया पायी जाती हैं, जो सामाजिक करार को स्वप्न से वास्तविकता में परिणत कर सकती थीं। लेकिन तब स्वयस्फूत, अनियमित उपनिवेशीकरण पर भरोसा करने के बजाय उसके प्रतिपक्षी "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का सहारा क्यो लिया जाये? किन्तु किन्तु "अमरीकी सघ के उत्तरी राज्यो में आबादी का दसवा हिस्सा भी मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो की मद में आयेगा, इसमें सन्देह है इगलण्ड में आबादी का अधिकाश श्रमजीवी वग का है।"[2] लेकिन पूजी की विजय के लिये खुद अपनी सम्पत्ति का अपहरण करवा देने की भावना श्रमजीवी मनुष्या में इतनी कम है कि औपनिवेशिक समृद्धि का एकमात्र आधार – खुद वेकफील्ड के मतानुसार भी – दास प्रथा ही हो सकती है। वेकफील्ड के लिये सुनियोजित उपनिवेशीकरण केवल एक pis aller (काम-चलाऊ उपाय) है, क्योकि दुर्भाग्य से उनका वास्ता दासो के बजाय स्वतत्र मनुष्यो से पडा है। "स्पेन के जो लोग सैंट डोमिगो में पहले पहल जाकर बसे थे, वे स्पेन से अपने साथ मजदूरो को नहीं ले गये थे। लेकिन मजदूरो के अभाव में या तो उनकी सारी पूजी नष्ट हो जाती, या कम से कम घटते घटते शीघ्र ही इतनी अल्प मात्रा में रह जाती, जिसका प्रत्येक व्यक्ति अपने हाथो से उपयोग कर पाता था। अग्रेजो ने सबसे आखिर में जिस उपनिवेश – यानी स्वान नदी की बस्ती – की नींव डाली थी, वहा सचमुच यही बात देखने में आयी है। वहा पूजी – बीज, औजारो और पशुओ – की एक बडी भारी राशि उसका उपयोग करने वाले मजदूरो के अभाव के कारण नष्ट हो गयी है, और अब वहा बसे हुए किसी भी व्यक्ति के पास जितनी पूजी का वह अपने हाथो से उपयोग कर सकता है, उससे अधिक पूजी नहीं है।"[3]

हम यह देख चुके ह कि अधिकतर जनता की भूमि का अपहरण कर लेना ही उत्पादन की पूजीवादी प्रणाली का आधार है। इसके विपरीत, किसी भी स्वतत्र उपनिवेश का सार-तत्व इस बात में निहित होता है कि वहा की अधिकतर भमि उस समय भी सावजनिक सम्पत्ति होती है और इसलिये इस भूमि पर बसा हुआ प्रत्येक व्यक्ति उसके एक भाग को अपनी निजी सम्पत्ति और उत्पादन के व्यक्तिगत साधनो में बदल सकता है और फिर भी इसके बाद आकर बसने वालो के रास्ते में कोई बाधा नहीं पडती, – वे भी इसी क्रिया को दुहरा सकते ह।[4] उपनिवेशो की समृद्धि का और उनके सबसे बडे दुर्गुण का, – यानी उपनिवेशो में पूजी की स्थापना

---

[1] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १८।

[2] उप० पु०, पृ० ४२, ४३, ४४।

[3] उप० पु०, खण्ड २, प० ५।

[4] "यदि भमि को उपनिवेशीकरण का एक तत्व बनना है, तो उसके लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि भूमि परती पडी हो बल्कि उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह सावजनिक सम्पत्ति हो और उसे निजी सम्पत्ति में बदला जा सकता हो।" (उप० पु०, खण्ड २ पृ० १२५)

का जो विरोध होता है, उसका,— दोनों बातो का यही रहस्य है। "जहा जमीन बहुत सस्ती होता है और सभी मनुष्य स्वतत्र होते ह, जहा खुद अपने लिये जमीन का एक टुकडा चाहने वाला हर आदमी आसानी से उसे पा सकता है, वहा न केवल पदावार में मजदूर के हिस्से की दृष्टि से श्रम बहुत महगा पडता है, बल्कि सयुक्त श्रम तो किसी भी दाम पर कराना कठिन होता है।"[1]

जिस प्रकार उपनिवेशो में श्रम के लिये आवश्यक तत्वो से और उनकी जड–धरती–से अभी मजदूर का सम्बध विच्छेद नहीं होता, या अगर होता है, तो केवल कहीं-कहीं या बहुत ही छोटे पमाने पर, उसी प्रकार वहा न तो उद्योग से खेती का सम्बध विच्छेद होता है और न ही किसानो के घरेलू उद्योग का विनाश हो चुका होता है। तब फिर पूजी के लिये अदरूनी मण्डी कसे तयार होगी? "दासो और उनके मालिको को छोडकर, जिन्होंने विशिष्ट कामो में पूजी और श्रम को एक साथ जोड रखा है, अमरीका की आबादी का ऐसा कोई भाग नहीं है, जो विशुद्ध रूप से खेतिहर हो। धरती जोतने वाले स्वतत्र अमरीकी बहुत से अन्य धधे भी करते ह। वे जो फर्नीचर और औजार इस्तेमाल करते ह, उनका एक हिस्सा प्राय खुद बना लेते ह। अक्सर वे अपने घर भी खुद ही बनाकर खडे कर लेते हैं और अपने उद्योग की पदावार को खुद ही मण्डी में लेकर जाते ह, वह मण्डी चाहे कितनी भी दूर क्यो न हो। ये लोग कताई और बुनाई करते ह, साबुन और मोमबत्तिया बनाते ह और बहुत से तो जूते और कपडे भी अपने इस्तेमाल के लिये खुद ही तयार कर लेते ह। अमरीका में धरती को जोतना-बोना तो बहुधा किसी लोहार, किसी पनचक्की वाले या किसी दूकानदार का गौण धधा होता है।"[2] ऐसे अजीब लोगो के रहते हुए पूजीपतियो के "परिवर्जन" के लिये कौनसा क्षेत्र बचता है?

पूजीवादी उत्पादन का महान सौंदय इस बात में निहित है कि वह न केवल मजदूरी पर काम करने वाले व्यक्ति का लगातार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के ही रूप में पुनरुत्पादन करता जाता है, बल्कि पूजी के सचय के अनुपात सदा मजदूरी पर काम करने वाला की सापेक्ष दृष्टि से अतिरिक्त जन-सख्या का उत्पादन करता रहता है। चुनाचे श्रम की पूर्ति और माग का नियम सदा एक सही लीक में चलता है, मजदूरी का उतार-चढाव कभी पूजीवादी शोषण के लिये सुविधाजनक सीमाओ के बाहर नहीं निकल पाता, और अन्तिम बात यह है कि पूजीपति पर मजदूर की सामाजिक निर्भरता, जो पूजीवादी शोषण के लिये अपरिहाय रूप से आवश्यक होती है, सदा सुरक्षित रहती है। परनिर्भरता अथवा पराधीनता के इस स्पष्ट सम्बध को आत्मसतुष्ट अर्थशास्त्री स्वदेश में—उपनिवेश पर शासन करने वाले देश में—जरूर एक ऐसे स्वतत्र करार के सम्बध के रूप में पेश कर सकता है, जो खरीदार और बेचने वाले के बीच, समान रूप से स्वतत्र दो मालो के मालिको के बीच, पूजी नामक माल के मालिक और श्रम नामक माल के मालिक के बीच क़ायम होता है। लेकिन उपनिवेशो में यह सुन्दर कल्पना तुरत ही चकनाचूर हो जाती है। यहा शासक राज्य की अपेक्षा निरपेक्ष जन सख्या बहुत तेजी से बढ़ती है, क्योंकि बहुत से मजदूर पले पलाये वयस्क व्यक्तियो के रूप में इस दुनिया में प्रवेश करते ह। मगर फिर भी श्रम की मण्डी में श्रम की सदा कमी रहती है। श्रम की पूर्ति और माग का नियम टुकडे-टुकडे हो जाता है। एक ओर, पुरानी दुनिया यहा लगातार शोषण और "परिवजन"

[1] उप० पु०, खण्ड १, पृ० २४७।
[2] उप० पु०, प० २१, २२।

करने की इच्छा से आतुर पूजी को झोकती जाती है, दूसरी ओर, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर का मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के रूप में नियमित पुनरुत्पादन अत्यत धृष्ट एव आशिक रूप से अजेय बाधाओ से टकराता रहता है। ऐसी परिस्थिति में पूजी के सचय के अनुपात से अधिक मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो के उत्पादन का क्या होता है? आज जो मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर है, वह कल को खुद अपने लिये काम करने वाला स्वतत्र किसान या दस्तकार बन जाता है। वह श्रम की मण्डी से तो गायब हो जाता है, परतु मुहताजखाने में नहीं जाता। मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर इस तरह लगातार स्वतत्र उत्पादको में बदलते जाते ह, जो पूजी के लिये नहीं, बल्कि खुद अपने लिये काम करते हैं और जो पूजीवादी भद्र पुरुषो का धन बढ़ाने के लिये नहीं, बल्कि खुद धनी बनने के लिये काम करते ह। और इस अनवरत रूपान्तरण का श्रम की मण्डी पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। न केवल मजदूरो के शोषण की मात्रा सारी मर्यादा को त्यागकर सदा बहुत कम ही बनी रहती है, बल्कि, इसके अतिरिक्त, मजदूर चूकि पराधीनता के सम्बध से वचित रहता है, इसलिये उसके हृदय में मितव्ययी पूजीपति पर निर्भर रहने की तनिक भी इच्छा नहीं रहती। इसी से वे तमाम असुविधाए पैदा होती ह जिनका हमारे वेकफील्ड महोदय ने इतनी हिम्मत के साथ, इतने शब्द चातुर्य के साथ और इतने हृदयस्पर्शी ढग से वर्णन किया है।

वह शिकायत करते ह कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो की पूर्ति न तो स्थिर रहती है, न नियमित ढग से होती है और न ही पर्याप्त समझी जा सकती है। "श्रम की पूर्ति सदा ही न केवल बहुत कम, बल्कि बहुत अनिश्चित भी रहती है।"[1] "पूजीपति और मजदूर के बीच विभाजित होने वाली पैदावार यदि बहुत अधिक है, तो भी उसमें मजदूर का हिस्सा इतना बडा होता है कि वह शीघ्र ही पूजीपति बन जाता है जो असाधारण रूप से लम्बा जीवन पाते ह, उनमें से भी बहुत कम लोग धन की कोई बडी राशि जमा कर पाते ह।"[2] मतलब यह कि मजदूर पूजीपति को साफ तौर पर इसकी इजाजत नहीं देते कि वह उनके अधिकाश श्रम की कीमत देने के मामले में भी "परिवर्जन" का परिचय दे। यदि पूजीपति यह चतुराई करता है कि पूजी के साथ-साथ मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर भी योरप से मगा लेता है, तो भी उसका कोई फायदा नहीं होता। ये मजदूर भी जल्द ही "मजदूरी करना बद कर देते हैं। वे यदि श्रम की मण्डी में अपने भूतपूर्व मालिको के प्रतियोगी नहीं बनते, तो स्वतत्र भू-स्वामी बन जाते ह।"[3] जरा परिस्थिति की भयानकता पर तो विचार कीजिये! बेचारा पूजीपति अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा खर्च करके योरप से कुछ आदमियों को मगवाता है, वे वहा पहुचकर खुद उसी के प्रतिद्वद्वी बन जाते ह! यह सर्वनाश नहीं, तो और क्या है? कोई आश्चर्य नहीं, यदि वेकफील्ड को इस बात का बहुत दुख है कि उपनिवेशो में किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है और वहा के मजदूरो में पराधीनता या परनिर्भरता के लिये जरा भी स्नेह नहीं पाया जाता। वेकफील्ड के शिष्य मेरीवेल ने कहा है कि मजदूरी की दरें ऊची होने के कारण उपनिवेशो में "ऐसे मजदूर पाने की अत्यधिक चाह है, जो अधिक सस्ते हो और अधिक आज्ञाकारी हो। यानी वहां फौरन एक ऐसा वर्ग चाहिये, जिसका हुक्म पूजीपतियो को

[1] उप० पु०, खण्ड २, पृ० ११६।
[2] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १२१।
[3] उप० पु०, खण्ड २, पृ० ५।

न बजाना पडे, बल्कि जिसपर पूंजीपति खुद अपना हुक्म चला सकें प्राचीन एव सभ्य देशो में मजदूर स्वतत्र होते हुए भी प्रकृति के नियमानुसार पूंजीपति के आधीन रहता है, उपनिवेशो में बनावटी ढग से यह पराधीनता पैदा करनी होगी।"[1]

---

[1] Merivale, '*Lectures on Colonization and Colonies*', London 1841 और 1842 खण्ड २, पृ० २३५ ३१४, विभिन्न स्थानो पर। यहा तक कि स्वतत्र व्यापार के अनुग्र समयक, घटिया किस्म के अथशास्त्री मालिनारी ने भी यह लिखा है "Dans les colonies ou l'esclavage a ete aboli sans que le travail force se trouvait remplace par une quantite equivalente de travail libre, on a vu s operer la contre partie du fait qui se realise tous les jours sous nos yeux On a vu les simples travailleurs exploiter a leur tour les entrepreneurs d industrie exiger d'eux des salaires hors de toute proportion avec la part legitime qui leur revenait dans le produit Les planteurs ne pouvant obtenir de leurs sucres un prix suffisant pour couvrir la hausse de salaire, ont ete obliges de fournir l excedant d'abord sur leurs profits, ensuite sur leurs capitaux mêmes Une foule de planteurs ont ete ruines de la sorte, d'autres ont ferme leurs ateliers pour echapper a une ruine immi nente Sans doute il vaut mieux voir perir des accumulations de capitaux que des generations d hommes mais ne vaudrait il pas mieux que ni les uns ni les autres perissent? ["जिन उपनिवेशा मे दास प्रथा समाप्त कर दी गयी है, लेकिन बेगार के श्रम का स्थान स्वतत्र श्रम की उतनी ही मात्रा नही ग्रहण कर सकी है, वहा, जा कुछ हम रोजाना अपनी आखो के सामने होते हुए देखते है, उसका बिल्कुल उल्टा होता है। वहा हम यह पाते हैं कि साधारण मजदूर उल्टे उद्यमकर्ताओ का शोषण करने लगते है और उनको पैदावार का जितना हिस्सा सचमुच मिलना चाहिये, उससे बहुत अधिक मागने लगते हैं। बागानो के मालिक चूंकि अपनी चीनी इतने ऊचे दामो पर नही बेच पाते, जिनसे कि बढी हुई मजदूरी का पडता पूरा हो सके, इसलिये उनको मजबूर होकर उसे पहले अपने मुनाफे मे से और फिर अपनी पूजी तक मे से पूरा करना पडता है। इस तरह बागानो के बहुत से मालिक एकदम बरबाद हो गये हैं। दूसरो ने बरबादी से बचने के लिये चीनी बनाने के अपन कारखाने बन्द कर दिये हैं इसमे तो सदेह नही कि मनुष्यो की कई पीढिया के नष्ट हो जाने की अपेक्षा यह बेहतर है कि सचित पूजी जाया हो जाये।" (अहा, मि० मोलिनारी ने यहा कितनी उदारता दिखायी है!) "लेकिन इससे भी बेहतर क्या यह नही होता कि पूजी भी ज्यो की त्यो रहती और इसान भी जिन्दा रहते?"] (Molinari '*Etudes Economiques*', Paris, 1846 पृ० ५१, ५२।) मि० मोलिनारी, यह आप क्या कह रहे हैं! अगर योरप मे entrepreneur ("उद्यमकर्ता") मजदूर को पैदावार के उसके part legitime (न्यायोचित भाग) से वचित कर सकता है, और वेस्ट इण्डीज मे मजदूर उद्यमकर्ता से उसका part legitime (न्यायोचित भाग) छीन सकता है, तो फिर दस आदेशो का, मूसा तथा अन्य पैगम्बरो का और पूर्ति तथा माग के नियम का क्या होगा? और कृपया यह तो बताइये कि यह 'part legitime ("न्यायोचित भाग") कौनसा है, जिसे खुद आपके कथनानुसार योरप मे पूजीपति रोजाना देने मे इनकार कर देता है? मि० मोलिनारी इसके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं कि अन्य स्थानो में पूर्ति और माग का जो नियम अपने आप काम करता है, उसस वहा दूर उन उपनिवेशो मे, जहा मजदूर इतने

अच्छा, तो उपनिवेशो में जो यह शोचनीय स्थिति पदा हो गयी है, वेकफील्ड के मतानुसार, उसका क्या परिणाम हुआ है? उसका परिणाम हुआ है उत्पादको और राष्ट्रीय धन के "बिखर जाने की एक बबर प्रवत्ति"।[1] अब उत्पादन के साधन खुद अपने हित में काम करने वाले असख्य उत्पादको के बीच बट जाते ह, तो पूजी का केद्रीयकरण समाप्त हो जाने के साथ-साथ सयुक्त श्रम का समस्त आधार नष्ट हो जाता है। अब ऐसा कोई धधा नहीं किया जा सकता, जिसके पूरे होने में कई वर्ष लग जाने की आशका हो और जिसमें अचल पूजी की बडी राशि लगाना आवश्यक हो। योरप में पूजीपतियो को पूजी लगाने में एक क्षण के लिये भी हिचकिचाहट नहीं होती, क्योकि वहा मजदूर वग पूजी का एक सजीव उपाग मात्र है और उसकी सख्या हमेशा पूजी की आवश्यकता से अधिक रहती है, और वह सदा उसका हुक्म बजाने को तयार रहता है। लेकिन उपनिवेशो में क्या हालत है! वेकफील्ड वहा के बारे में हमें एक बहुत ही दुखद कथा सुनाते ह। वह कनाडा तथा न्यू याक राज्य के कुछ पूजीपतियो से बात कर रहे थे, जहां कि आवासियों का प्रवाह अक्सर रुक ही जाता है और कुछ "अनावश्यक" मजदूरा की तलछट छोड जाता है। भावनाओ पर तीक्ष्ण आघात करने वाली इस कथा का एक पात्र कहता है "हमारी पूजी ऐसे कई कामो के शुरू करने के लिये तयार बठी थी, जिनको पूरा करने के लिये काफी लम्बे समय की आवश्यकता थी। लेकिन हम इस तरह के कामो में ऐसे मजदूरों को साथ लेकर हाथ नहीं लगा सकते थे, जो, हम जानते थे, जल्दी ही हमें छोडकर चले जायेंगे। यदि हमें इसका विश्वास होता कि ये आवासी हमारे यहा ही काम करते रहेंगे, तो हम उनको तुरत नौकर रख लेते और काफी ऊचे दाम देकर रख लेते। और यह जानते हुए भी कि वे हमें छोडकर चले जायेंगे, हम उनको नौकर रख लेते, अगर हमें केवल इतना यकीन होता कि जब कभी जरूरत होगी, तब हमें नये मजदूर मिल जायेंगे।"

इगलण्ड की पूजीवादी खेती तथा उसके "सयुक्त" श्रम का अमरीकी किसानो की बिखरी हुई खेती के साथ मुकाबला करने के बाद वेकफील्ड अनजाने में हमें तसवीर का दूसरा पहलू भी दिखा देते ह। वह बताते ह कि अमरीका की साधारण जनता सुखी और स्वतत्र जीवन व्यतीत करती है और बडी उद्यमशील तथा अपेक्षाकृत सुसस्कृत है, जब कि "इगलण्ड का खेतिहर मजदूर दुखिया, अभागा (a miserable wretch) और कगाल होता है और उत्तरी अमरीका तथा कुछ नये उपनिवेशो को छोडकर और किस देश में खेती का काम करने के लिये नौकर रखे गये स्वतत्र मजदूरो की मजदूरी केवल जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक मजदूरी से बहुत अधिक होती है? इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इगलैण्ड में खेती में इस्तेमाल होने वाले घोडो को, मूल्यवान सम्पत्ति होने के नाते, अग्रेज किसानो की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा भोजन खाने को मिलता है।"[3] लेकिन never mind (कोई बात नहीं)! यहा पर फिर राष्ट्रीय समद्धि अपने स्वरूप के ही कारण जनता की गरीबी के साथ एकाकार हो गयी है।

'simple ("भोले") है कि पूजीपतियो का "शोषण" करने लगते है, पुलिस के जरिये काम ठीक-ठाक कराया जाये।

[1] Wakefield उप० पु०, खण्ड २, प० ५२।

[2] उप० पु०, पृ० १६१, १६२।

[3] उप० पु०, खण्ड १, पृ० ४७, २४६।

तो फिर उपनिवेशो के इस पूजीपति विरोधी नासूर का कैसे इलाज किया जाये? यदि लोग एक ही झटके में सारी धरती को सावजनिक सम्पत्ति से निजी सम्पत्ति में बदल देने को तयार हो जायें, तो निश्चय ही इस बीमारी की जड कट जायेगी, लेकिन साथ ही उपनिवेश भी नष्ट हो जायेंगे। असल में, कोई ऐसी तरकीब निकालनी है, जिससे एक पन्थ दो काज वाली बात हो जाये। सरकार को चाहिये कि पूर्ति और माग के नियम की अवहेलना करके अछूती धरती के लिये एक बनावटी दाम नियत कर दे। यह दाम इतना ऊचा होना चाहिये कि आवासी मजदूर को जमीन खरीदने लायक़ धन कमाने और इस प्रकार स्वतत्र किसान बनने के पहले एक लम्बे समय तक मजदूरी पर काम करना पडे।[1] इतने ऊचे दामो पर जमीन बेचकर कि उनके कारण मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो के लिये जमीन खरीदना लगभग असम्भव हो जाये, और पूर्ति तथा माग के पवित्र नियम का उल्लघन करके मजदूरो की मजदूरी में से जो धन चुराया जायेगा, उसके जमा होने से सरकार के पास एक कोष सचित हो जायेगा। उसका सरकार यह उपयोग करेगी कि ज्यो ज्यो यह कोष बढ़ता जायेगा, त्यो-त्यो वह योरप से कगाल लोगो को उपनिवेशो में मगाती जायेगी, ताकि इस तरह मजदूरो की मण्डी पूजीपतियो के हित में हमेशा माल से अटी रहे। ऐसा होने पर "tout sera pour le mieux dans le meilleur des mondes possibles" ("सब दुनियाओ से अच्छी इस दुनिया में हर चीज भलाई के लिये ही होगी")। यही है "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का महान रहस्य। वेकफील्ड ने विजयोल्लास के साथ कहा है कि इस योजना का प्रयोग करने पर "श्रम की पूर्ति अनिवाय रूप से स्थिर और नियमित हो जायेगी, क्योकि एक तो कोई भी मजदूर चूकि बहुत समय तक मजदूरी पर काम किये बिना जमीन नहीं प्राप्त कर सकेगा, इसलिये सभी आवासी मजदूरो को काफी समय तक मजदूरी पर सयुक्त श्रम करना होगा और इस तरह वे और अधिक मजदूरो को नौकर रखने के लिये पूजी तैयार कर

---

[1] C'est, ajoutez vous grace a l'appropriation du sol et des capitaux que l'homme qui n'a que ses bras trouve de l'occupation, et se fait un revenu c'est au contraire grace a l'appropriation individuelle du sol qu'il se trouve des hommes n'ayant que leurs bras Quand vous mettez un homme dans le vide vous vous emparez de l'atmosphere Ainsi faites vous quand vous vous emparez du sol C'est le mettre dans le vide de richesses pour ne le laisser vivre qu'a votre volonte ["तो आपका कहना यह है कि जमीन और पूजी पर कुछ व्यक्तियो का निजी स्वामित्व होने का ही यह फल है कि जिस मनुष्य के पास अपने हाथो के सिवा और कुछ नही है, उसे भी काम मिल सकता है और वह अपनी जीविका कमा सकता है मैं आपसे कहता हू कि बात इसकी उल्टी है। भूमि पर कुछ व्यक्तियो का निजी स्वामित्व होने का ही यह नतीजा है कि कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके पास उनके हाथो के सिवा और कुछ नही है जब आप किसी आदमी को शून्य में बन्द कर देते हैं, तब आप उसके लिये हवा पाना असम्भव बना देते हैं। जब आप जमीन पर कब्जा कर लेते हैं, तब भी आप यही करते है आप मनुष्य को एक ऐसे शून्य मे बन्द कर देते हैं, जिसमे जरा सा भी धन नही छोडा गया है, और यह आप इसलिये करते हैं कि वह आदमी सदा आपकी इच्छा का दास बना रहे"]। (Colins, *L'Economie Politique Source des Revolutions et des Utopies pretendues socialistes*, Paris 1857 खण्ड ३, पृ० २६८-२७१, विभिन्न स्थानो पर।)

देंगे, दूसरे, हर ऐसा मजदूर, जो मजदूरी पर काम करना बन्द करके भू-स्वामी बनना चाहेगा, उसको जमीन खरीदनी पडेगी, जिससे नये मजदूरो को उपनिवेश में लाने के लिये एक कोष जमा हो जायेगा।"[1] राज्य द्वारा नियत धरती के दाम को, जाहिर है, "पर्याप्त दाम" (sufficient price) होना चाहिये, –अर्थात वह इतना ऊचा दाम होना चाहिये कि उसके कारण "मजदूर उस वक्त तक स्वतन्त्र भू-स्वामी न बन पाये, जब तक कि उनका स्थान लेने के लिये नये मजदूर न आ जायें।" यह "पर्याप्त दाम" एक वक्रोक्ति तथा मगलभाषण के सिवा और कुछ नहीं है, जिसके पीछे वह मुक्ति धन छिपा हुआ है, जो मजदूर को मजदूरी की मण्डी को छोडकर खेती करने की अनुमति प्राप्त करने के एवज में पूजीपति को देना पडता है। पहले मजदूर को पूजीपति के लिये "पूजी" पदा करनी पडती है, ताकि वह उसके जरिये और अधिक मजदूरो का शोषण कर सके। फिर उसे अपने खर्च से अपना एक एवजी श्रम की मण्डी में बुलाना पडता है, जिसे सरकार उसके भूतपूव स्वामी – पूजीपति – के लाभाथ समुद्र पार कराके उपनिवेश में लाती है।

यह बहुत सारगभित बात है कि मि० वेकफील्ड ने "आदिम सचय" का जो तरीका विशिष्ट रूप से उपनिवेशो के लिये सुझाया है, उसका इगलण्ड की सरकार वर्षो से उपयोग कर रही है। जाहिर है, उसको इस मामले में भी उतनी ही बडी असफलता मिली है, जितनी बडी असफलता सर रोबट पील के बैंक-कानून के मामले में मिली थी। उसका परिणाम केवल यह हुआ कि परावास की धारा ब्रिटिश उपनिवेशो से मुडकर सयुक्त राज्य अमरीका की ओर बहने लगी। इस बीच योरप में पूजीवादी उत्पादन की प्रगति और सरकार के बढते हुए दबाव ने वेकफील्ड के नुस्खे को अनावश्यक बना दिया है। एक ओर तो अमरीका में वप प्रति वप मनुष्यो की जो बहुत धारा निरन्तर पहुच रही है, वह सयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी भाग में एक स्थिर तलछट छोडती जाती है। कारण कि योरप से आने वाली आवास की लहर जितनी तेजी के साथ मनुष्यो को वहा की श्रम की मण्डी में लाकर पटकती जाती है, उतनी तेजी के साथ पूव से पश्चिम की ओर जाने वाली परावास की लहर उनको वहा से हटा नहीं सकती। दूसरी ओर, अमरीकी गृह-युद्ध के साथ-साथ एक दत्याकार राष्ट्रीय ऋण देश के कधा पर आ पडा है और उसके साथ-साथ करो का बोझा बढ गया है, एक नीचतम वित्तीय अभिजात वग पदा हो गया है, सावजनिक भूमि का एक बहुत बडा भाग रेलो, खानो आदि से मुनाफा कमाने के उद्देश्य से स्थापित की जाने वाली सट्टेबाज कम्पनियो पर लुटा दिया गया है, –और सक्षेप में कहिये, तो पूजी का बहुत ही तेजी के साथ केन्द्रीयकरण हो रहा है। चुनाचे यह महान प्रजातन्त्र अब परावासी मजदूरो का स्वग नहीं रह गया है। हालाकि वहा अभी मजदूरी को कम करके और मजदूर की पराधीनता को बढाकर योरप के सामान्य स्तर पर नहीं पहुचाया जा सका है, फिर भी पूजीवादी उत्पादन वामन डगो से प्रगति कर रहा है। परती पडी हुई औपनिवेशिक भूमि को इगलण्ड की सरकार जिस लज्जाहीन ढग से अभिजात वग के लोगो तथा पूजीपतियो पर लुटा रही है, उसकी वेकफील्ड तक ने बडे जोरदार शब्दो में निन्दा की है। खास तौर पर आस्ट्रेलिया में[3] इस चीज ने सोने की खानो से आकृष्ट होकर आस्ट्रेलिया की ओर खिचने वाले मनुष्यो की अनवरत

---

[1] Wakefield उप० पु०, खण्ड २, पृ० १६२।

[2] उप० पु०, प० ४५।

[3] जब आस्ट्रेलिया अपने लिये खुद कानून बनाने लगा, तब उसने, जाहिर है, वहा बसे हुए लोगो के हित म कानून बनाये, लेकिन अग्रेज सरकार इससे पहले ही जमीन को लुटा चुकी थी,

धारा और इगलैण्ड के बने हुए माल के आस्ट्रेलिया में आने के कारण वहा के छोटे से छोटे दस्तकार को भी जिस प्रतियोगिता का सामना करना पड रहा था, उसके साथ मिलकर श्रमजीवियो की एक बहुत काफी बडी "सापेक्ष अतिरिक्त जन सख्या" पदा कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब भी आस्ट्रेलिया की डाक इगलण्ड पहुचती है, तो हर बार यह रोना सुना जाता है कि "आस्ट्रेलिया की श्रम की मण्डी मजदूरो से एकदम अटी हुई है" ("glut of the Australian labour-market") और वहा कुछ स्थानो में वेश्या वृत्ति का उसी अनियन्त्रित ढग से प्रसार हो रहा है, जिस अनियन्त्रित ढग से वह लन्दन के हेमारकेट नामक स्थान में फली हुई है।

लेकिन यहा पर उपनिवेशो की दशा से हमारा कोई सम्बध नहीं है। यहा हमारी दिलचस्पी केवल उस रहस्य तक ही सीमित है, जिसका पुरानी दुनिया के अर्थ शास्त्रियो ने नयी दुनिया में आविष्कार किया है और जिसकी वे खुले आम घोषणा कर रहे ह। और वह रहस्य यह है कि उत्पादन और सचय की पूजीवादी प्रणाली के और इसलिये पूजीवादी निजी सम्पत्ति के अस्तित्व में आने की बुनियादी शर्त यह है कि मनुष्य द्वारा खुद कमायी हुई निजी सम्पत्ति का विनाश कर दिया जाय, या, दूसरे शब्दो में, मजदूर की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाये।

और यह बात इन कानूनो के माग मे बाधा डालती थी। "१८६२ के नये भूमि कानून का पहला और मुख्य उद्देश्य लोगो को बसाने के लिये पहले से अधिक सुविधाए देना है।" (*The Land Law of Victoria*, by the Hon C C Duffy Minister of Public Lands) ['विक्टोरिया का भूमि कानून', सावजनिक भूमि क्षेत्रो के मत्री माननीय सी० जी० डफी द्वारा लिखित], London 1862 [पृ० ३]।)

'पूजी' के प्रथम खण्ड में उद्धृत रचनाओं की सूची

सूची का वर्गीकरण

११–लेखकों की सूची

BALZAC, Honore de *Scenes de la vie privee Gobseck* – ६६१

BARBON Nicholas *A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter In Answer to Mr Locke s Considerations about Raising the Value of Money* London 1696 – ४६, ५१, ५२, १४६, १६५, १६७

BARTON John *Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society* London, 1817 – ७०८, ७५४

BAYNES *The Cotton Trade etc* – ४६६

BECCARIA Cesare *Elementi di Economia Pubblica 'Scrittori Classici Italiani di Economia Politica Parte Moderna* में। Vol XI Milano 1804 – ४१३

BELLERS, John *Essays about the Poor Manufactures Trade, Plantations and Immorality* London, 1699 – १५१, १६७, ४८४, ५४१

– *Proposals for Raising a Colledge of Industry of All Useful Trades and Husbandry* London 1696 – १५६, ३७०, ४८४, ५५२, ६८६

BENTHAM, Jeremy *Theorie des Peines et des Recompenses (The Theory of Reward and Punishment)* 3rd edition Paris 1826 – ६८४, ६८६

BERKELEY, George *The Querist* London 1751 – ३८०, ४००

BIBLE, The Holy (Book of Revelation) – १०३

BIDAUT J N *Du Monopole qui s etablit dans les arts industriels et le commerce au moyen des grands appareils de fabrication Deuxieme livraison Du Monopole de la fabrication et de la vente* Paris 1828 – ३६४

BIESE Franz *Die Philosophie des Aristoteles* Berlin 1842 – ४६१

BLAKEY, Robert *The History of Political Literature from the Earliest Times* Vol II London, 1855 – ८०८

BLANQUI Jerome' Adolphe *Cours d Economie Industrielle Annee 1837–38* Paris 1838–39 – ३८२

– *Des classes ouvrieres en France pendant l annee 1848* Paris, 1849 – ३१५

BLOCK, Maurice *Les Theoriciens du Socialisme en Allemagne Extrait du Journal des Economistes Juillet et Aout 1872* Paris, 1872 – २५

BOILEAU Etienne *Reglements sur les arts et metiers de Paris rediges au 13ieme siècle et connus sous le nom du livre des metiers* Paris 1837 – ५४६

BOILEAU, Nicolas *Satire VIII* A M Morel docteur de Sorbonne *Oeuvres* t I Londres 1780 – ७३१

BOISGUILLEBERT Pierre de *Dissertation sur la nature des richesses de l argent et des tributs* Vol I *Economistes Financiers du XVIII ieme siecle* Paris, 1843 – १६२

BOXHORN M S *Institutiones Politicae* Leyden 1663 – ४८४

BROADHURST J *Treatise on Political Economy* London 1842 – ७०

BROUGHAM, Henry *An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers* Vol II Edinburgh 1803 – ८५१

BRUCKNER J *Theorie du systeme animal* Leyde 1767 – ६६२

BUCHANAN David *Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of Great Britain* Edinburgh 1844 – १४६

– *Adam Smith Wealth of Nations* With notes and an additional volu

C

H

HALLER, Carl Ludwig v *Restauration der Staatswissenschaften* Berne, 1816–34 –४४१

HANSSEN Georg *Die Aufhebung der Leibeigenschaft etc* Petersburg 1861 –२६७

HARRIS James *Dialogue Concerning Happiness* London, 1741 –४१३

HARRISON William John *Description of England Prefixed to Holinshed s Chronicles* London, 1587 –८०४, ८३४

HASSALL, A H *Adulterations Detected or plain instructions for the discovery of frauds in food and medicine* 2nd edition London 1861 –१९६, २८०

HEGEL, Georg Wilhelm Friedrich *Enzyklopadie der philosophischen Wissenschaften* Berlin, 1840 –७२, २०४, २७९

–*Grundlinien der Philosophie des Rechts* Berlin, 1840 –५९, १०७, १९२, ४११

HOBBES Thomas *Leviathan or the Matter Form and Power of a Commonwealth Ecclesiastical and Civil* London, 1839–44 –१९४

(HODGSKIN Thomas) *Labour Defended Against the Claims of Capital or the Unproductiveness of Capital Proved by A Labourer* London 1825 –४०२, ६४५

–*The Natural and artificial Rights of Property Contrasted* London 1832 –८४२

HODGSKIN, Thomas *Popular Political Economy* London 1827 –३८५, ३९९, ६०१

HOLINSHED Raphael *Chronicles of England, Scotland, and Ireland* London 1578 –८०४, ८२५

HOMER *Iliad* –७७

–*Odyssey* –४१३

HOPKINS, Thomas *On Rent of Land and its Influence on Subsistence and Population with Observations on the Operating Causes of the Condition of the Labouring Classes in Various Countries* London, 1828 –२५९

(HORNE George) *A Letter to Adam Smith LL D , on the Life Death and Philosophy of his Friend David Hume By one of the People called Christians* 4th edition Oxford 1784 –६९३

HORNER Leonard *A Letter to Mr Senior etc* London, 1837 –२५२

Suggestions for Amending the Factory Acts to Enable the Inspectors to Prevent Illegal Working, Now Becoming Very Prevalent In Factories Regulation Acts Ordered by the House of Commons to be printed 9th edition 1859 –२७१

Factories Reports of H M Inspectors भी देखिये।

HOUGHTON John *Husbandry and Trade Improved* Vols I–IV London 1727 –४८४

HOWITT, William *Colonisation and Christianity A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans in all their Colonies* London 1838 –८४३

HUME David *Essays* –१४२

HUNTER Julian *Public Health* 6th 7th 8th *Reports* London 1864 1865, 1866

HUTTON Charles *Course of Mathematics* Vols I–II London, 1841–43 –४२२

I

ISOCRATES *Busiris* –४१६

J

JACOB, William *An Historical Enquiry into the Production and Consumption of the Precious Metals* London 1831 –५४

–*A Letter to Samuel Whitbread Esq on the Protection Required by British Agriculture, etc* London 1815 –२४६

JONES, Richard *An Essay on the Distribution of Wealth and on the Sources of Taxation* London 1831 –३७३

—*An Introductory Lecture on Political Economy* London 1833 –६६०, ७०८

—*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations* Hertford 1852 –३४१, ३६४, ३७६, ६३६, ६७१

K

KOPP H *Entwicklung der Chemie in der neuren Zeit* Munchen 1871 74 –३५१

L

LABORDE Alexandre de *De l Esprit d Association dans tous les interets de la Communaute* Paris 1818 –५६७

LAING Samuel *National Distress its Causes and Remedies* London, 1844 –२२४, ७२०, ७३७

LANCELLOTTI, Secondo *Farfalloni de gli Antichi Historici* Venetia 1636 –४८४

LASSALLE Ferdinand *Die Philosophie Herakleitos des Dunkeln von Ephesus* Berlin 1858 –१२३

—*Herr Bastiat Schultze von Delitzch der okonomische Julian oder Kapital und Arbeit* Berlin 1864 –१५

LAW, John *Considerations sur le numeraire et le commerce* 'Collection des principaux economistes' मे। T I "Economistes Financiers du XVIIIieme siecle Paris,1843 –१०७

LE TROSNE Guillaume Fr *De l interet social, etc* 'Collection des principaux economistes' में। Te II 'Physiocrates' Paris 1846 –५१, ५४, १०७, १६७, १८०, १८१, १८२, १८४, १८७, २३६

LEVI Leone *Lecture before the Society of Arts* April 1866 –८२१

LIEBIG, Justus v *Ueber Theorie und Praxis in der Landwirtschaft* Braunschweig, 1856 –३७३, ६४३

—*Die Chemie etc* 7th edition Braunscweig 1862 –२६६, ५७०

LINGUET, N *Theorie des Lois Civiles ou Principes fondamentaux de la Societe* Vol II London 1767 –२६३, ३७६, ६६१, ८२७

LOCKE John *Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest and Raising the Value of Money Works* मे। Vol II 8th edition London 1777 –५०, १०६, १४४

LUCRETIUS *De Rerum Naturae* –२४१

LUTHER, Martin *An die Pfarrherrn wider den Wucher zu predigen* Wittenberg 1540 –२१८, ३५३, ६६६

M

MACAULAY Thomas Babington *History of England from the Accession of James the Second* 10th edition London 1854 –३१०, ८०२

MACCULLOCH John Ramsay *The Principles of political Economy with a Sketch of the Rise and Progress of the Science* 2nd edi

tion London 1830 –१७५, २१७, ५००, ५८५, ६८२

—*The Literature of Political Economy a Classified Catalogue of Select Publications in the Different Departments of that Science* London, 1845 –१६५, ८१३

—*A Dictionary, Practical Theoretical and Historical of Commerce and Commercial Navigation* London 1847 –१७२

MACLAREN James *A Sketch of the History of the Currency* London 1858 –११५

MACLEOD Henry Dunning *The Theory and Practice of Banking with the Elementary Principles of Currency Prices Credit and Exchanges* Vol I London 1855 –७६, १७६

MALTHUS Thomas Robert *An Essay on the Principle of Population* London, 1798 –५७१, ६६१

—*An Inquiry into the Nature and Progress of Rent and the Principles by which it is Regulated* London 1815 –२५७, ५६३ ६२५, ६६८, ६६१

—*Principles of Political Economy Considered with a View to Their Practical Application* 2nd edition London 1836 –२३६, ६५१, ६५६, ६६१, ६६८, ७११

—*Definitions in Political Economy* Edited by Cazenove London 1853 –६३६, ६४४, ६५१, ६५६

MANDEVILLE Bernard *The Fable of the Bees or Private Vices Publick Benefits* 5th edition London 1728 –४०१, ६६०

MARTINEAU Harriet *A Manchester Strike A Tale Illustrations of Political Economy* No VII London 1832 –७११

MARX, Karl *Misere de la Philosophie Reponse a la Philosophie de la Misere par M Proudhon* Paris and Brussels 1847 –६७, ८०४, ४०७, ४७४, ६०२, ७२३

— *Lohnarbeit und Kapital* 'Neue Rheinische Zeitung 1849 –६५०, ८५८

—*Zur Kritik der Politischen Oekonomie* Berlin 1859 –१५, २०, २२, ४६, ६१, ६२, ६७, १०३, १११, ११३, ११४, ११६, १३२, १४१, १४३, १५७, १५६, १६४, २१८, ६०४, ६६६

—*Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte* 2nd edition Hamburg 1869 –७७५

—*Address and Provisional Rules of the International Working Mens Association etc* London 1864 –४१, ४२, ४५

MARX Karl und ENGELS Friedrich *Manifest der Kommunistischen Partei* London 1848 –५५०, ८५६

(MASSIE Joseph) *An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest* London 1750 –५७६

MAURER Georg Ludwig v *Einleitung zur Geschichte der Mark Hof Dorf und Stadtverfassung* Munchen, 1854 –८६

—*Geschichte der Fronhofe etc* Vol IV 1863 –२६७

MEITZEN, August *Der Boden und die landwirtschaftlichen Verhältnisse des Preussischen Staates etc* 1866 –२६७,

MERCIER DE LA RIVIÈRE *L Ordre naturel et essentiel des* Societes politiques *Collection des principaux economistes* में । Paris 1846 –१२७, १५०, १६६, १७२, १८०, १८१, १८५, २२६

milton Edinburgh, 1855 –३६४, ६६०, ४७०, ५४८
STOLBERG Christain Graf zu *Gedichte aus dem Griechischen* uebersetzt Hamburg 1782 –४६२
STORCH H Fr *Cours d Economie Politique ou Exposition des Principes qui determinent la prosperite des nations* Vols II and III Petersburg 1815 Paris 1823 – १६८, २०७, ३६७ ४०७ ४०८ ६६३ ७२५
STRANGE W *Health* 1864 –२६१
STRYPE John *Annals of the Reformation and Establishment of Religion and Other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth s Happy Reign* 2nd edition 1725 –८२५

T

THIERS Adolphe *De la Propriete* Paris 1848 –५००
THOMPSON, Benjamin देखिये *Rumford*
THOMPSON William *An Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth Most Conducive to Human Happiness, Applied to the Newly Proposed System of Voluntary Equality of Wealth* London 1824 –४०६
THORNTON William Thomas *Over population and its Remedy* London, 1846 १६५, ३०५ ८०४
THUCYDIDES *History of the Peloponnesian War* –४१४
THÜNEN Johann Heinrich v *Der isolierte Staat etc* Rostock 1863 –६६७
TOOKE Thomas and NEWMARCH, W *A History of Prices and of the State of the Circulation from 1793 to 1856* London 1838 57 –३३६
TORRENS Robert *An Essay on the External Corn Trade* London, 1815 –२६६
— *An Essay on the Production of Wealth with an Appendix in which the Principles of Political Economy are Applied to the Actual Circumstances of this Country* London, 1821 –१८५, २०६
— *On Wages and Combination* London 1834 –४५६
(TOWNSEND Joseph) *A Dissertation on the Poor Laws By a Well Wisher of Mankind* London 1786, 1817 –७२४
TREMENHEERE H S *The Grievances Complained of by the Journeymen Bakers, etc* London, 1862 देखिये *Report etc Relative to the Grievances etc* –१६६, etc
TSCHERNYSCHEWSKY *Outlines of Political Economy According to Mill* Petersburg 1865 –२३
TUCKETT J D *A History of the Past and Present State of the Labouring Population Including the Progress of Agriculture Manufactures and Commerce Showing the Extremes of Opulence and Destitution among the operative classes with practical means for their employment and future prosperity* London, 1846 –४०६ ८०७, ८४०
TURGOT A R J *Reflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses Œuvres* भा Vol I Paris 1844 –२०४, ३५७, ५६८

U

URE Andrew *The Philosophy of Manufactures or an Exposition of the Scientific Moral and Commercial Economy of the Factory*

System of Great Britain 2nd edition London, 1835 –३४१, ३९६, ४१६, ४१७ ४३१, ४५७, ४७४, ४७९, ४९० ४९४, ४९५ ६२० ६२६, ६३०

URQUHART, David *The Portfolio, a Diplomatic Review* New series London 1843 etc –८१८ ८४०

— *Familiar Words as Affecting England and the English* London, 1855 –११८, ४११, ५६९, ८३९, ८४०

V

VANDERLINT Jacob *Money Answers All Things* London, 1734 –१४२, १५०, १६७ ३११, ३१४ ३५६, ३७६

VERRI Pietro *Meditazioni sulla Economia Politica* (1773) *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica Parte Moderna* से। Vol 15 Milano 1804 –५८ १०६, १५४ ३७४

VISSERING S *Handboek van Praktische Staatshuishoudkunde* Amsterdam 1860 1862 –५६७

W

(WADE John) *History of the Middle and Working Classes*, etc 3rd edition London 1835 –२७४, ३०९, ६९५

WAKEFIELD Edward Gibbon *England and America A Comparison of the Social and Political State of Both Nations* London 1833 –३०५, ६५४, ७५५ ८५९, ८६४, ८६६

— *A View of the Art of Colonisation* London 1849 –३७०

— *Notes to Adam Smith s Wealth of Nations* –६००

WARD John *The Borough of Stoke upon Trent* London 1843 –३०२

WATSON, Dr John Forbes *Paper Read Before the Society of Arts April 17, 1860* –४४३

WATTS John *Facts and Fictions of Political Economists, Being a Review of the Principles of the Science* Manchester, 1842 –६१७

—*Trade Societies and Strikes, etc* Manchester, 1865 –६१७

WAYLAND, F *The Elements of Political Economy* Boston, 1843 –१८७, २३४

(WEST, Sir Edward) *Essay on the Application of Capital to Land By a Fellow of the University College of Oxford* London 1815 –६०८, ६०९

—*Price of Corn and Wages of Labour with Observations upon Dr Smith s Mr Ricardo s and Mr Malthus s Doctrines upon these Subjects etc* London 1826 –६०७, ६०९

WILKS, Lieut Col Mark *Historical Sketches of the South of India, etc* London 1810 1817 –४०५

WILSON James देखिये *Murray*

WRIGHT, Thomas *A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms* London, 1779 –८१२

X

XENOPHON *Cyropaedia* –४१५

Y

YOUNG Arthur *Political Arithmetic Containing Observations on the Present State of Great Britain and the Principles of her Policy in the Encouragement of Agriculture* London, 1774 –१४१, २५९, ३११, ७५३

—*A Tour in Ireland with General Observations on the Present State of that Kingdom Made in the Years 1776 1777 and 1778 and Brought down to the end of 1779* 2nd edition London 1780 –७६१

२१—गुमनाम रचनाएं

३।—पत्र और पत्रिकाए

४।—ससदीय रिपोर्टें और अन्य सरकारी प्रकाशन

Factories Reports of H M Inspectors etc –२७१, २७२, etc , ३२५
— for the half year ending 31st December 1841 London 1842 –३१६
— *for 1844 and the quarter ending 30th April 1845* London 1845 –३२०, ३२१, ३३१, ४६४, ४६८
— *for the half year ending 30th April 1848* London 1848 –३२५, ३३७, ६१२, ६१४
— *for the quarter ending 31st October 1848* London 1849 –२५७, ३२०, ३२२, ३२४, ३२५, ३२६, ३३०, ३३६, ३४३, ५६०
— *for the half year ending 30th April 1849* London, 1849 –३३७, ३२८, ३२६, ३३० ३५३
(Half yearly Reports)
— *for 31st October 1849* London 1850 ३१६, ३२६
— *for 30th April 1850* London 1850 –३३१, ३४३
— *for 31st October 1850* London 1851 –३२६
— *for 30th April 1852* London 1852 –३३२
— *for 31st October 1853* London 1854 –१६६
— *for 30th April 1855* London 1855 –२५६
— *for 31st October 1855* London 1856 –३०५, ४८३, ५८६
— *for 31st October 1856* London 1856 –२७३, ३१४, ४३०, ४५४, ४६६, ४८६, ५०७, ६०६,
— *for 30th June 1857* London 1857 –४५२
— *for 31st October 1857* London 1857—58 –२७२, ३३५, ४५४, ४५५
— *for 30th April 1858* London 1858 –२७१, ६२१, ६२५
— *for 31st October 1858* London 1859 –२४५, ४४८ ४५३, ४६६, ४८६
— *for 30th April 1859* London 1859 –६१८
— *for 31st October 1859* London 1860 –३२०, ३४४
— *for 30th April 1860* London, 1860 –२७४, ३०४, ३१७, ३३५, ४२८, ४६६, ६१३
— *for 31st October 1860* London 1861 –२७२, ६१८
— *for 30th April 1861* London, 1861 –२७२
— *for 31st October 1861* London 1862 –३३३ ३४२, ४७० ४७१
— *for 31st October 1862* London 1863 –२७२, ३३५, ३३६, ३३७, ३४२, ४५२ ४५६, ४६८, ४७३, ४७६, ५०७, ५१५, ५४१
— *for 30th April 1863* London 1863 –२७२, ३३८, ३४३, ४८२, ५१६, ६१२
— *for 31st October 1863* London 1864 –४८३, ४६१, ५१६, ६१३, ७१३
— *for 30th April 1864* London 1864 –५१८
— *for 31st October (December) 1864* London 1865 –३३६ ३४०
— *for 31st October 1865* London 1866 –४६४, ४७६, ५०५, ५१८, ५२०, ५२६, ५३७, ५३८, ५३६, ५४४ ५४५, ५५३, ५५४
— *for 31st October (December) 1866* London, 1867 –४८३, ६३१, ७१८, ७६४
Hansard Parliamentary Debates Speech of Mr Gladstone on the Budget February 14 1843 London, 1843 –७२६
— Speech of Mr Gladstone on the Budget April 16 1863 London 1863 –४१ ४५, ७३०
— Speech of Mr Ferrand April 27 1863 London 1863 –३०२, ६४५
— Speech of Mr Gladstone April 7 1864 London 1864 –७३०
Health Reports देखिये *Public Health*

नामो की सूची

ग

थ

द

न

प

ल

व

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन सम्बन्धी आपके विचारों के लिए आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। हमारा पता है

२१, जूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।